॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

पहला सर्ग

ममता, अहंकार एवं संकल्प-विकल्प से रहित जीवन्मुक्त पुरुष जैसा जीवनयापन और आचरण करते हैं वैसा निर्वचन करने के लिए युक्ति का कथन।

इस निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध में श्रीरामजी की समाधि के प्रदर्शनव्याज से यह दर्शाया गया कि जो उत्तमअधिकारी पुरुष हैं उनके बार-बार किये गये श्रवण का जब परिपाक हो जाता है तब आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान का आविर्भाव होकर परमपद में तत्काल ही उनकी विश्रान्ति हो जाती है। अब ऐसे जो उत्तमअधिकारी हैं उनकी किसी प्रारब्ध के बल से कदाचित् समाधि टूट भी जाय, तो भी जिस रीति से उस परम पद में निरन्तर विश्रान्ति अनायास सिद्ध हो जा सकती है उस रीति से उत्तरोत्तर की भूमिकाओं में उन्हें चढ़ाने के लिए इस उत्तरार्ध प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में सबसे पहले 'अहं ममेति संविदन्' (卐) यह जो पूर्व प्रकरण के अन्त में कहा गया है उसको लेकर – हे महाराज, कल्पनाजनित देह-धारण आदि व्यवहार सब कल्पनाओं का परित्याग कर देने पर कैसे सिद्ध हो सकता है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे ब्रह्मन्, देह, प्राण आदि में जब पुरुष अहन्ता, ममता आदि कल्पनाएँ छोड़ देता है तब सब तरह की क्रियाओं की शान्ति हो जाने के कारण देह को ठीक-ठीक रखनेवाली तथा उसकी पोषक प्राण आदि चेष्टाएँ उस पुरुष में रहेगी ही नहीं। ऐसी दशा में उसका शरीर तत्काल ही गिर जायेगा, अतः आपने सर्वकल्पनात्यागी पुरुष के लिए जो व्यवहार आदि हमें बतलाये, वे कैसे हो सकते हैं ? ॥१॥

पुरुष का जीवन कल्पनाधीन नहीं है, जिससे कि कल्पनात्याग से शरीर त्याग का प्रसंग हो जाय, किन्तु जीवन भोगजनक प्रारब्ध के अधीन है। असल में विचार किया जाय, तो कल्पनात्याग ही जीवन के अधीन है, इसलिए अपने उपजीव्य जीवन का कल्पनात्याग कैसे बाध कर सकता है ? ऐसी दशा में कल्पनात्याग होने पर जीवन का न रहना ही विरुद्ध है, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

(卐) अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यते। असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं तदाचर।। नि.पू.१२६।१०२

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष जीवनसम्पन्न है उसीका कल्पनात्याग हो सकता है। जो जीवनसम्पन्न नहीं है उसका नहीं हो सकता। इस कल्पनात्याग का स्वरूप जिस प्रकार से जीवनविरुद्ध नहीं है उसी प्रकार से मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उसे आप सुनिये। वह कानों के लिए अत्यन्त ही मधुर है ॥२॥ भद्र, आत्मा को शरीर आदि के–जैसा छोटा जो मान बैठता है उसे ही कल्पना के स्वरूप को जाननेवाले विद्वान् कल्पना कहते हैं और आत्मा को आकाश के सदृश अपरिच्छिन्न जानकर अपने पारमार्थिक स्वरूप का निरन्तर जो अनुसन्धान करना है, उसे कल्पनात्याग कहते हैं ॥३॥ कल्पना के स्वरूप को जाननेवाले विद्वान आत्मा की परिच्छिन्न पदार्थों के सदृश भावना को ही कल्पना कहते हैं और आकाश के सदृश अपरिच्छिन्न परमार्थ स्वरूप की भावना को संकल्पत्याग कहते हैं ॥४॥ उत्तम महानुभाव लोग यह सम्पूर्ण देहादि दृश्य वस्तु परमार्थसत्य है– इस अभिमान को ही कल्पना कहते हैं और चूँकि दृश्य आकाश के कार्य भूतचतुष्टय का विकार है, इसलिए तत्त्वतः अकेला आकाशरूप अर्थ ही स्फुरित होता है, यों अर्थ के पर्यालोचन को संकल्प का त्याग कहते हैं। ये दोनों ही भ्रान्तपुरुष के अनुभव के विरुद्ध होने पर भी जीवन के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि जी रहे पुरुष की ही भ्रान्ति की निवृत्ति देखी जाती है, यह तात्पर्य है ॥५॥ हे रामजी, विषयों के स्मरण को आप संकल्प जानिये तथा यह भी जान लीजिये कि विषयों के अस्मरण को विद्वान् लोग शिवस्वरूप समझते हैं। वह स्मरण अनुभूत और अनुभूत यों दो तरह का कहा जाता है अर्थात् भूत और भावी दोनों तरह के विषयों का स्मरण होता है ॥६॥ हे महामते, अनुभूत व अननुभूत दोनों तरह की स्मृतियों का विस्मरण कर तथा अननुमिति आदि अन्य सब वृत्तियों का भी शीघ्र विस्मरण कर अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार में लीन होकर आप काष्ठ के तुल्य दृढ़ और निश्चल बनकर चिरकाल तक जीवित रहिये ॥७॥

व्यवहारकाल में तो स्मृतिमात्र का निरोध करना चाहिए, यह कहते हैं।

सब पदार्थों के विस्मरण से युक्त होकर प्रारब्ध प्राप्त कार्यों में आप स्थित रहिये, क्योंकि पूर्वजन्म के दृढ़ अभ्यासमात्र से होनेवाले स्तनपान आदि कर्मों से अर्धसुप्त बालक के स्पन्दन के सदृश पूर्वापर–स्मृति की आवश्यकता नहीं रहती ॥८॥ संकल्पशून्य प्रवाह से यानी किसी प्रयोजन एवं उद्देश्य के बिना ही एकमात्र पूर्व के संस्कार से कुम्हार का चक्र कृतकार्य होने पर भी जब तक वेग नष्ट नहीं हो जाता तब तक जैसे भ्रमण किया ही करता है, वैसे ही हे पापशून्य श्रीरामजी, आप भी अपने कर्मों में पूर्वजन्म के संस्कार के वश से चेष्टा करते रहिये ॥९॥ क्षीण चित्त से युक्त अतएव वासनाशून्य मन के संस्कार के वेग से अनुगत होकर हे श्रीरामजी, आप प्रवाहपतित ही अपने कर्मों में चेष्टा करते रहिये ॥१०॥ मैं ऊपर हाथ उठाकर बार–बार ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कह रहा हूँ लेकिन कोई उसे सुनता ही नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है अतः उसकी भावना तुम लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते ? ॥११॥ अहो, इस मोह का माहात्म्य तो देखो कि

यह सम्पूर्ण दुःखों को छुड़ानेवाला विचारनामक चिन्तामणि हृदय में स्थित रहते हुए भी सब मनुष्यों से त्यक्त हो रहा है ॥१२॥ दृश्य–दर्शन से निर्मुक्त जो आत्मतत्त्व है वही मुख्य असंकल्प है । हे श्रीरामजी, आप तन्मय ही हो जाइये । यही परम श्रेय है, इसका आप स्वयं अनुभव कर लीजिये ॥१३॥

हे श्रीरामजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि संकल्प की चेष्टा छोड़कर एकमात्र चुपचाप स्थित रहने से ही वह परम पद प्राप्त हो जाता है, जहाँ पर यह सम्पूर्ण हिरण्यगर्भ तक का भी साम्राज्य तृण की नाईं तुच्छ बन जाता है ॥१४॥

प्राक्तन संकल्पप्रयुक्त क्रियाओं के वेग से ही वेगक्षयपर्यन्त जो व्यवहार की सिद्धि होती है, उसमें पहले कहे गये दृष्टान्त को फिर कहते हैं ।

अपने एकमात्र गन्तव्यस्थान गृह आदि की ओर जाने के लिए तत्पर पथिक के पैर में स्पन्दन बिना संकल्प के ही प्रतिक्षण होते रहते हैं यानी उस पथिक के पैर अपने अभीष्ट स्थान की ओर जाने के लिए संकल्परहित ही होकर बे–रोक–टोक उठते जाते हैं, वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी संकल्पशून्य होकर ही अपने कर्मों में स्पन्दन करते चलिये ॥१५॥

'अवेदनमसंकल्पस्तन्मयेनैव भूयताम्' यह जो ऊपर कहा गया है उसका व्यवहारकाल में भी उपपादन करते हैं ।

हे श्रीरामजी, समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलों को, सोये हुए की नाईं, बिलकुल भूलकर प्रवाहपतित (प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए) कर्म के लिए संकल्पशून्य होकर स्पन्दन करते चलिये ॥१६॥ जैसे स्वतः संकल्प से निर्मुक्त एक छोटा–सा तृण वायु आदि के प्रवाह में पड़कर दूसरे तृण आदि के साथ संयोग और वियोगरूप कार्य में स्पन्दनशील बनता है वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी सुख और दुःख की कुछ भी भावना न करते हुए संकल्पनिर्मुक्त होकर प्रवाहपतित अपने कार्य में चेष्टाशील बने रहिये ॥१७॥ दूसरों के कौतुक के लिए नृत्य आदि कर रही–सी स्थित कठपुतली को जैसे नट के समान श्रृंगार आदि रस की भावना नहीं होती, वैसे ही प्रारब्धप्राप्त कर्म कर रहे आपको भी हृदय के भीतर कार्यों में, विषयसुख में मूर्ख की नाईं, रस की भावना (कौतुक बुद्धि) बिलकुल न हो ॥१८॥ समस्त इन्द्रियों के द्वारा विषयों के अनुभव आपको ऐसे नीरस मालूम पड़े, जैसे कि हेमन्त ऋतु में सिर्फ अपने आकारमात्र से दिखाई दे रही लताएँ ॥१९॥ बोधरूपी सूर्य जिसके रसका (भावना का) पान कर गया है, ऐसी पंचकोश संवलित चिदाभास, मनसहित प्राणवर्ग, ज्ञानेन्द्रियवर्ग, कर्मेन्द्रियवर्ग, ज्ञानकर्मेन्द्रियवर्ग सहित अन्तःकरण और शरीर– इन छः स्पन्दनयुक्त षट्वर्गों की सत्ता से युक्त आप यन्त्रगत स्पन्दन के समान ऐसे स्थित रहिये, जैसे लता से वेष्टित शिशिर ऋतु में नीरस वृक्ष स्थित रहता है ॥२०॥

भला नीरस षड्वर्ग का जीवन कैसे रह सकता है, इस आशंका पर कहते हैं ।

आवरणशून्य भूमानन्दस्वरूप चिति ही षड्वर्ग का जीवन की पुष्टि आदि में हेतुभूत आन्तरिक

रस है। स्वभावतः बाह्य विषय-रसों के आस्वाद में प्रवृत्त हुए भी षड्वर्गों को उधर से अपने यत्न से हटाकर उन्हें अपने जीवन की पुष्टि में हेतुभूत चितिरूपी आन्तरिक रस की ओर ले जा करके ऐसे जिलाये रहिये, जैसे हेमन्तऋतु बाहरी जल के अभाव में भी अपने आन्तरिक रस से ही वृक्षों को जिलाये रहती है ॥२१॥

इन्द्रियवृतियों को विषयों की ओर जाने से न रोकने में तथा उन्हें सरस बनाये रखने में क्या होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

यदि आपकी इन्द्रियवृत्तियाँ बाह्य विषयों की ओर लगी रहेगी तथा आप उन्हें सरस बनाये रखेंगे, तो चाहे आप विषयों का उपभोग करें या न करें, किन्तु आपका यह संसार के अनर्थों का समूह तो कभी भी शान्त न होगा ॥२२॥ संकल्पशून्य होकर यदि आप वायु, अग्निज्वाला, यन्त्र और जल के समान स्पन्द करते रहेंगे, तब तो आप अत्यन्त श्रेय के लिए समर्थ हो सकेंगे ॥२३॥ जन्मरूपी ज्वर के निवारण के लिए यही सबसे बढ़कर उत्तम उपाय है कि अपने कर्मों में जो कर्तृत्व अभ्यस्त हो, वह वासनारहित हो ॥२४॥ वासनाओं और संकल्पों से शून्य होकर प्रारब्ध-प्राप्त कार्यों के अनुसार बर्ताव कर रहे आप चाक के ऊपर भ्रमण करनेवाले सन्निवेश (घटादि रचना विशेष) की नाईं धीरे-धीरे उत्तरोत्तर उपशमशील होते हुए अपने कर्मों में स्पन्द करते रहिये ॥२५॥ कर्मफल में आपकी आसक्त बुद्धि न हो और कर्मों के त्याग में भी आपकी आसक्ति (कर्मत्याग के फल में आसक्ति) न हो। इन दोनों का आप त्याग कर दीजिये या आप इन दोनों का आश्रय कीजिये । फल में आसक्ति न करने पर कर्म करने या छोड़ देने में कुछ भी विशेषता नहीं रहती ॥२६॥

हे श्रीरामजी, अब इस विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है । संक्षेप में यही कह देता हूँ कि संकल्प ही मन का बन्धन है और उसका अभाव ही मुक्ति है ॥२७॥ यहाँ पर न कहीं कोई कार्य है और न कहीं कोई अकार्य (त्याज्य) है, किन्तु सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवस्वरूप ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी आप जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥२८॥ सांसारिक सब कार्य निष्क्रिय ब्रह्मरूप हैं और निष्क्रिय ब्रह्मभाव में स्थिति अवश्य करना चाहिए - यों देखते हुए आप परमार्थ चैतन्यरूप होकर सुखपूर्वक शान्त बैठे रहिये ॥२९॥ हे श्रीरामजी, विषयों के विस्मरण को ही चित्त का क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें अत्यन्त तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥३०॥

स्पन्दशून्य होकर चुपचाप बैठे रहना तो एकमात्र दुःखदायक ही होगा, जैसे कि आम-वात से जड़ बना दिया गया शरीर दुःखदायी होता है, इस शंका का वारण करते हैं।

सम, शान्त, शिव, सूक्ष्म, द्वैत एवं ऐक्य से वर्जित, व्यापक, अनन्त और शुद्ध परब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर कौन किसलिए खिन्न हो सकता है ? ॥३१॥ मरुभूमि में अंकुर की नाईं आपमें

संकल्प का उदय न हो तथा पत्थर के उदर में लता की नाईं आप में इच्छा भी उदित न हो ॥३२॥ संकल्पशून्य शान्त पुरुष को जीवित रहते या न रहते इस संसार में किये या न किये गये लौकिक या वैदिक कर्मों से इस लोक या परलोक के लिए कोई भी फल नहीं होता ॥३३॥

क्यों नहीं होता, इस शंका पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चूँकि आप कर्म और अकर्म इन दोनों के बाध की अवधि हैं यानी ये दोनों आपमें एकरूप से मिल चुके हैं, इसलिए कर्म अकर्मात्मक हुए सदा अभेदरूप आपके प्रातिभासिक कर्मरूप से विवर्तमान होने पर भी वस्तुतः आपमें कर्मता नहीं है और प्रातिभासिक कर्तारूप से विवर्तमान होने पर भी वस्तुतः कर्तृता नहीं है । मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य को कर्म और कर्तृत्व आदि में सत्यत्वबुद्धि रहती है उसीको कर्मफल मिलते हैं, सो तो आपमें है ही नहीं ॥३४॥

यही कारण है कि देहादि में 'अहं, मम' इस तरह का ज्ञान रखनेवाले को ही विधि और निषेध शास्त्रों के अधिकार से कर्मकृत बन्धन होता है, दूसरे को नहीं, यह जो पहले कहा जा चुका है, उसे ही फिर कहते हैं।

हे श्रीरामजी,'अहं', 'मम' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) यह भावना कर रहे आप सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकते तथा 'अहं', 'मम' यह भावना न कर रहे आप मुक्ति पा सकते हैं, अतः इनमें जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये ॥३५॥

हे श्रीरामजी, 'अहं', 'मम' यह सर्वथा नहीं है। जो है सो केवल परम शिव ही है। भूमानन्द शिव से अन्य यह दृश्यरूप प्रातिभासिक जगत तो अनिर्वचनीय (अवस्तु) ही है ॥३६॥

इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं ।

हे रामभद्र, जो कुछ यह जगत् दिखाई दे रहा है, वह सुवर्ण की कटक अंगद आदि रूपता के सदृश केवल प्रतीतिमात्र है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। आत्मा से भिन्न इसका अनुभव न करना ही इसका नाश है। आत्मा के अज्ञान का नाश होने के अनन्तर अवशिष्ट दृश्य–बाध का अधिष्ठान तो ज्ञान का अविषय ही है। इसी को अनुभवी लोग सत्य, एक और परम पुरुषार्थ कहते हैं ॥३७॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

सम्पूर्ण जगत् में शिवमयरूपता बतलाने के बाद कर्म के बीज का
अन्वेषण करके उसका समूल निवारण किया जाता है, यह वर्णन ।

'सर्वं शिवमयं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्' (सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवमय ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी, आप जैसे पहले थे वैसे ही स्थित रहिये) यह जो कहा गया है, उसका यहाँ उपपादन करने के लिए पहले प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, द्वैतता और एकता से रहित, मननशून्य, शान्त आत्मा ही अपने पारमार्थिक स्वभाव में तत्त्व–दृष्टि से अवस्थित है। जिस तरह मिट्टी की सेना मिट्टीमय है उसी तरह शिव का यह सारा संसार शिवमय है ॥१॥

जो–जो चिति से भास्य है वह सब चिति का विवर्त होने से चिन्मय–चिति–स्वरूप–ही है, उसे चार अन्तःकरणों में क्रमशः दर्शाते हैं।

काल, आकार, क्रिया, नाम और अर्थ से समन्वित मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि आदिरूप सब चिति से भास्य होने के कारण चिन्मय ही (🕭) है ॥२॥

इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय, इन्द्रियों से जनित ज्ञान तथा ज्ञान के जो विषय हैं उनमें भी चिद्व्याप्तिप्रयुक्त ही अपरोक्ष प्रकाश है, इसलिए उनमें भी विवेकी पुरुष शिवरूपता का ही अवलोकन करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

बाह्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदि के आलोचन तथा मनके क्रम यानी बाह्य सविकल्पक ज्ञान और उपादान बुद्धियाँ एवं उनके विषय सबके सब शिवरूपी पंकमय हैं।

यों सभी पदार्थों को शिवरूप देखने पर सम्पूर्ण त्रिपुटीरूप से एकमात्र शिव ही दिखाई देता है, शिव से अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु इस संसार में देखने में नहीं आती, यह कहते हैं।

चूँकि इस संसार की सभी वस्तुएँ अनन्त शिवस्वरूप पंक ही हैं, इसलिए कौन किससे प्रकाशित होता है ? ॥३॥

इसीको फिर स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, देश, काल, दिशा आदि तथा भाव और अभाव आदि विवर्त, ये सबके सब शिवपंकमयात्मक ही हैं ॥४॥

'अहं' और 'मम' (मैं और मेरा) इन दो रूपों से ही सम्पूर्ण विवर्तों का संग्रहकर फिर 'ये सभी वस्तुएँ चिति से व्याप्त हैं' इस तरह से उनमें चिति–व्याप्ति की भलीभाँति आलोचना करने पर एकमात्र चिति के ही साररूप से बच जाने के कारण उसमें स्थिति सुलभ हो जाती है, इसी अभिप्राय से कहते हैं।

चूँकि हे श्रीरामचन्द्रजी, सारभूत परमेश्वर से भिन्न 'अहं' 'मम' इत्यादि विवर्त कुछ भी नहीं है,

---

(🕭) सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि चिति का चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख होनेरूप जो मनन है वह चिति से व्याप्त ही है। तदनन्तर विषयों का अभिमान, अध्यवसाय, स्मरण, काम और संकल्प आदि जो वृत्तियाँ उदित होती हैं वे भी चिति से व्याप्त ही उदित होती हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है तथा चिति और चेत्य का सम्बन्धरूप काल,विषयों का आकार, उसकी क्रिया– इस प्रकार नाम और अर्थ के सहित जो सम्पूर्ण अन्तःकरण का संसरण है वह भी साक्षात् साक्षी से वेद्य होने के कारण शिवमय ही है, यह प्रत्येक विद्वान् को जान लेना चाहिए।

इसलिए संसक्तमति न होते हुए यानी स्त्री, पुत्र आदि विषयों में तनिक भी आसक्ति न रखते हुए आप शिला के उदर में प्रसिद्ध वाणी आदि चेष्टाशून्य मौन के समान स्थित (📖) रहिये ॥५॥

अनन्त कोटि जन्मों के संचित पाप और पुण्यरूपी कर्मों का अपरोक्षरूप से भान न होने के कारण शिवमयताअवलोकन द्वारा बाध सिद्ध तो हो नहीं सकता, इसलिए अन्ततोगत्वा जब तक मृत्यु न हो जाय तब तक चेष्टाशून्य होकर रहनारूप ही उनका त्याग एकमात्र उनके निवारण में उपाय है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष को कर्म करने से न तो कोई फल मिलने की अपेक्षा है और न नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के त्याग से प्रत्यवाय लगने की ही आशा है, जिससे कि चुपचाप स्थित रहना उससे न हो सकेगा, ऐसी सम्भावना करके श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, 'अहं' 'मम' इत्यादि दृश्यसमूह की असद्रूप से भावना कर रहे ज्ञानी पुरुष को कर्मों के त्याग से क्या अशुभ होता है तथा उनके अनुष्ठान से क्या शुभ होता है ? ॥६॥

सचमुच आपका नैष्कर्म्य सिद्ध हो जाय, यदि अज्ञानरूप मूल के साथ आप कर्मों का त्याग कर सकें। परन्तु मूल का त्याग करना तो अत्यन्त ही कठिन है, यह दिखलाने के लिए महाराज वशिष्ठजी–श्रीरामचन्द्रजी मुझसे 'कर्मों का मूल क्या है' इसका निश्चय कर पूछ रहे हैं या यों ही पूछ रहे हैं– इसकी परीक्षा करने के लिए हे श्रीरामजी, आपने कर्मों का स्वरूप कैसे निश्चित किया है, उनका फलात्मक विस्तार कैसा है, उनका मूल क्या है, उनमें नाश योग्य अंश और उसका उपाय आपने कैसा निश्चित किया है– यह पूछतें हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामजी, मैं आपसे पूछ रहा हूँ उसे शीघ्र कहिये। यदि वास्तव में आप जानते हों, तो कहिये, कर्म किसे कहते हैं ? ॥७॥ कर्म का विस्तार कैसा है, उसका मूल क्या है और उसके किस अंश का नाश किया जाता है ? यानी उसका नाशनीय अंश कौन है ? और वह किस तरह नष्ट होता है। यह भी अच्छी तरह कहिये ॥८॥

श्रीरामजी ने कहा : हे भगवान्, जो नाशनीय अंश है, उसका भलीभाँति मूलोच्छेदपूर्वक नाश कर देना चाहिए, केवल शाखा आदि को कतरकर नहीं ॥९॥

कर्म का स्वरूप और उसके नाश का प्रकार, जो अपने को अभिप्रेत है, श्रीरामजी बतलाते हैं।

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह अपने पुण्य और पापरूप कर्मों को नष्ट कर दे और मूल उखाड़कर नाश कर देने से वे बिलकुल नष्ट भी हो सकते हैं ॥१०॥

तीसरे प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, कर्मरूपी वृक्ष के मूल मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये। जिनको उखाड़ फेंकने से

(📖) क्योंकि अपरोक्ष चिति की व्याप्ति के द्वारा ही नाम और रूपात्मक समस्त प्रपंच शिवस्वरूप है, ऐसा निर्णय कर बाध द्वारा उस स्वरूप में अनायास अवस्थिति हो सकती है।

निर्मूल होकर यह वृक्ष फिर नहीं पनपता ॥११॥

इस लोक के कर्म का मूल शरीर ही पूर्वजन्म के कर्म का विस्ताररूप भी होता है, इस दूसरे प्रश्न का भी शरीर का ही कर्मवृक्षरूप से वर्णन करके समाधान देते हैं।

हे ब्रह्मन्, संसाररूपी जंगल में रोपा गया यह शरीर ही कर्मवृक्षरूप से उत्पन्न है । यह कर्मरूपी वृक्ष विचित्र हाथ, पैर आदि अंगरूपी शाखाओं से विराजमान है ॥१२॥ सुख-दुःखरूपी नानाविध फलों की पंक्तियों से समन्वित इस वृक्ष का पूर्व जन्म में किया गया भला या बुरा कर्म ही बीज है । क्षणिक तरूण अवस्था से यह कमनीय दिखाई देता है और वृद्धावस्थारूपी फूलों से हँसता है ॥१३॥ प्रत्येक क्षण में कालरूपी उग्र बन्दर हर्ष, विषाद, रोग, जरा आदि विकार की चेष्टाओं के द्वारा इसकी आकृति को नष्ट करता है । निद्रारूपी हेमन्त ऋतु के जठर में इसके स्वप्नरूपी पत्तों के निर्गम संकुचित हुए रहते हैं ॥१४॥ अपनी वृद्धावस्थारूपी शिशिर ऋतु के अन्त में इसके चेष्टारूप पत्तों के समूह शान्त और शीर्ण हो जाते हैं । जगत्-रूपी जंगल में उत्पन्न हुए इस वृक्ष के समीप में स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्गरूपी बहुत-से तृण पैदा हुए हैं ॥१५॥ हाथों और पैरों के पिछले हिस्से तथा ओष्ठ, कान और जीभ आदि इसके लाल-लाल कोमल पल्लवरूप अवयव हैं और हाथों एवं पैरों के तलवे कुछ कठोर होने से कम लालिमा लिये हुए इसके कुछ गोल तथा सुन्दर रेखाओं से युक्त चंचल पत्ते हैं ॥१६॥ भीतर में स्थित नाड़ियों तथा हड्डियों से लिप्त होने के कारण सुन्दर, कोमल और चिकनी मूर्ति लाल अंगुलियाँ ही इसके वायु से कम्पित हो रहे बाल पल्लव हैं ॥१७॥ काटने पर भी पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली कोमल, चिकनी, तीक्ष्ण अग्रभागों से युक्त दूज की चन्द्रकला के आकारवाली इसकी नख पंक्तियाँ ही गोल-गोल कलियाँ है ॥१८॥ इस तरह देह वृक्षरूप से उत्पन्न हुए पूर्व जन्म के कर्म की कर्मेन्द्रियाँ ही मूल है । *(इनमें वृक्षमूल के धर्म दिखलाते हैं)* इनमें जो छिद्रों से युक्त हैं, वे तो आसंग-कामादिरूपी साँपों से डँसे गये हैं और जो बिना छिद्रों के हैं उनमें भी बड़ी-बड़ी गाँठें पड़ गई हैं ॥१९॥

हे भगवान्, दृढ़ हड्डियों की गाँठों से बँधी, नाड़ियों में भरे गये अन्नरसों में डूबी हुई, वासनारूपी रस को पी जानेवाली तथा अपने रक्तरूप रस से परिपूर्ण; एड़ी के ऊपर की गाँठ से युक्त, दृढ़ अंगोंवाली, सुन्दर त्वचाओं से समन्वित और चिकनी उन कर्मेन्द्रियों के भी मूल आप ज्ञानेन्द्रियों को जानिये ॥२०,२१॥ ज्ञानेन्द्रियाँ देह से बाहर बहुत दूर विषय प्रदेशों में जाकर भी विषयों को पकड़ लेने में अत्यन्त समर्थ हैं, नेत्रगोलक आदि पांच तरह के स्थानों में वे आश्रित हैं और अपने-अपने विषय-वासनारूपी कीचड़ में निमग्न अतएव वासनायुक्त हैं तथा उन्हें निगृहीत करना शक्य नहीं है - काबू के बाहर है ॥२२॥ उन ज्ञानेन्द्रियों का भी महान् स्तम्भयुक्त मूल यह मन है, इसने तीनों लोक को व्याप्त कर रक्खा है तथा यही अनन्त

रूपादि रसद्रवों को पांच ज्ञानेन्द्रियों के स्रोतरूपी नाड़ियों के द्वारा खींचकर उनका उपभोग कर लेने के बाद फिर उन्हें फेंक देता है ॥२३॥

हे भगवान्, उस मन का मूल तत्त्वज्ञानी लोग चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख हुए चिदात्मक जीव को (चिदाभास को) कहते हैं। चेत्यांश का मूल अविद्याशबल (मायाशबल) चिति है। उस चिदाभासरूप चिति का भी मूल बिम्बभूत ब्रह्म है, जो सब मूलों का एक कारण है। हे ब्रह्मन्, चूँकि वह अशब्द, अनन्त, शुद्ध और सत्यस्वरूप है, इसलिए उस ब्रह्म का कोई दूसरा मूल नहीं है ॥२४,२५॥

हे महर्षे, इस तरह सम्पूर्ण कर्मों का मूल विषयों की ओर उन्मुख हुई चिति ही है। वह अहंकारादि के साथ तादात्म्यापन्न होकर 'मैं ही सब कुछ करती हूँ' यों कर्ता के स्वरूप की भावना करके क्रियात्मक स्पन्द बनकर उसके फल के लिए प्रवृत्त होती है ॥२६॥ हे मुने, सब कर्मों का आदि बीज यह जीव चेतन ही है, क्योंकि उसके रहने पर ही यह बड़ी-बड़ी टहनियोंवाला शरीररूपी सेमल का वृक्ष पैदा होता है ॥२७॥ यह जीवचैतन्य जिस समय अहंकार आदि से युक्त 'मैं ही चेतन कर्ता हूँ' इस तरह की उद्‌बुद्ध हुई शब्दार्थभावना से समन्वित होता है उसी समय कर्मों की बीजता को प्राप्त होता है, अन्यथा यह अपने सत् परम पदरूप से ही स्थित रहता है ॥२८॥

फिर इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं।

यह जीवचेतन जब चेतनशब्दार्थ की भावना से यानी चैतन्यात्मक 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' इस तरह की भावना से वेष्टित होता है तब कर्मों की बीजता को प्राप्त होता है, अन्यथा अपने परम सद्रूप पद से स्थित रहता है ॥२९॥

उक्त अर्थ की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए गुरुवाक्य को ही प्रमाणरूप से उपस्थित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अब उपसंहार करते हैं।

इसलिए हे मुनीश्वर, अपने शरीर आदि में अहंरूपता के आकार की भावना ही इस संसार में सब कर्मों की कारण है। यह जो मैंने कर्मों का मूल आपसे कहा है, सो आपने ही पहले मुझसे कहा था, अतः आपके वचन का अवलम्बन करके ही मैंने यह सब आपसे कहा है ॥३०॥

हे श्रीरामजी, यह जो आपने कर्मों का मूल मुझे सुनाया है, इसका त्याग चुपचाप बैठे रहने या देह का त्याग कर देने से नहीं हो सकता है और न तो कर्मों की निवृत्ति ही आपके द्वारा दिखलाये गये मार्ग से हो सकती है, इस अभिप्राय से महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, जब तक देहरूप उपाधि उपस्थित है तब तक वेदनात्मक इस सूक्ष्म कर्म का क्या त्याग और क्या अनुष्ठान हो सकता है ? ॥३१॥

देह के विद्यमान रहते बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यों के अध्यास को दूर करना अत्यन्त ही कठिन है, यह कहते हैं।

देह रहते बाह्य और आभ्यन्तर जिस-जिस की यह जीवचेतन भावना करता है उसी रूप

का यह शीघ्र हो जाता है, चाहे वह सत्याकार हो या विभ्रम से भरा हुआ बिलकुल असत्य ही क्यों न हो ? ॥३२॥ यदि भावना नहीं करता, तो यह अच्छी तरह इस संसार के भ्रम से मुक्त हो जाता है । वह भ्रम सत्य हो या असत्य इस विचार से क्या प्रयोजन है ? ॥३३॥ यह जीवचेतन ही वासना, इच्छा, मन, कर्म, संकल्प आदि नामवाले औपाधिक उत्पन्न भ्रमों से अपने अन्दर संसाररूप से विकसित होता है ॥३४॥

तब तो प्रतिबिम्ब की हेतु चित्तरूप उपाधि का ही प्रबोध से निरास करना चाहिए, इस शंका पर कहते हैं ।

देहरूपी घर के भीतर स्थित प्रबुद्ध हुए या अप्रबुद्ध हुए इस जीव का देहपर्यन्त चित्त रहेगा ही, उसका त्याग हो नहीं सकता ॥३५॥ जीवन धारण कर रहे प्राणियों के चित्त का भला कैसे त्याग हो सकता है । इसलिए चुपचाप बैठे रहने या देह के त्याग से सब कर्मों का कभी त्याग नहीं हो सकता, किन्तु यथा प्राप्त सब व्यवहारों को करते समय भी 'असंग, अद्वितीय, कूटस्थ चिन्मात्रस्वरूप मैं कुछ भी नहीं करता', इस निष्क्रिय आत्मस्वभाव की स्थिति से कर्मशब्दार्थ की भावना के उत्पन्न न होने पर यत्न के बिना भी कर्म और अकर्मरूपता का विकल्प छूट जाने से यह कर्म-त्याग स्वयं ही हो जाता है ॥३६॥

इससे भिन्न किसी दूसरे मार्ग से कर्म का त्याग अत्यन्त कठिन है, यह कहते हैं ।

इससे अन्य दूसरे कर्म त्याग का संभव न होने पर जो केवल अपने शरीर से कर्तव्यता त्यागरूप (शास्त्रविहित या लौकिक कर्मों को छोड़कर चुपचाप बैठनारूप त्याग) करता है, उसके द्वारा यह कुछ भी नहीं किया गया समझना चाहिए ॥३७॥ बोध होने के बाद दृश्य-प्रतिभास का स्वयमेव लय होने से जो जगत् का अत्यन्तअभाव होता है उसी को असंग त्याग और मोक्ष भी कहते हैं ॥३८॥

बोध से तो वेद्य का ही बाध होता है, वेदन का नहीं, फिर उसका बाध कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं ।

वेद्य (विषयों) के रहने पर ही वेदन होता है । किन्तु यदि सृष्टि के आदि में ही वेद्यदृष्टि उत्पन्न नहीं हुई, तो फिर वह वर्तमानकाल में तो है ही नहीं । इसलिए क्या और कहाँ वेदन है (📖) ? ॥३९॥ चिदाभासतारूप वेद्योन्मुखता का परित्याग कर जो वेदन का शुद्ध चिदात्मकरूप अवशिष्ट रहता है वह द्वैतवेदन नहीं है, क्योंकि वह कर्म-क्रिया नहीं है, जिससे कि 'विद्' धातु से भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर जो 'विद्' धातु का अर्थ होता है वह हो । किन्तु वह शांत ब्रह्म ही है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं ॥४०॥ चिदाभासात्मक जो चेतन है वह तो कर्म-क्रियारूप ही कहा गया है, क्योंकि बुद्धि आदि व्यापार द्वारा जल आदि में प्रतिबिम्बित आकाश

(📖) तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में वेद्यदृष्टि (विषयदृष्टि) न तो उत्पन्न हुई है और न विद्यमान ही है, क्योंकि उपाधि का बाध होने पर चिदाभास की अलग स्थिति नहीं रहती, यह भाव है ।

की नाईं वह विकास को प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि अनुभवी विद्वान लोग मोक्ष को चिदाभासशून्य ही कहते हैं। उन लोगों की विवेकी शिष्य के प्रति इसी तरह की उपदेशवाणी सुनाई देती है ॥४१॥

इस तरह यह सिद्ध हो गया है कि जब तक यह शरीर खड़ा है तब तक सुखपूर्वक व्यवहार होता ही रहेगा, इसी आशय से कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जब तक यह शरीर खड़ा है तब तक कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। जो लोग कर्मों की पूजा करते हैं वे लोग उसके मूल को नहीं छोड़ते ॥४२॥ अपने कर्म का मूल वासनात्मक मन सम्बन्धी चिदाभास संवित् ही है। उसका उच्छेद जब तक यह शरीर है तब तक ज्ञान के बिना हो नहीं सकता ॥४३॥

हे श्रीरामजी, यही चिदाभाससंवित् भीतर अन्य कर्मों के मूल काम, वासना आदि को पैदा करने में तत्पर और श्रेष्ठ है ॥४४॥

इसलिए मेरे द्वारा कहा गया ही सबसे बढ़िया कर्मत्याग में उपाय है, इस आशय से कहते हैं।

जो तत्त्वज्ञानी चिदाभासरूपी संवित् को मूल अज्ञान के साथ अपने यत्न से तत्त्व को समझकर स्वरूप से च्युत कर देता है वह उससे उत्पन्न तत्–तत् दृश्यदर्शनरूप वृत्तिअवच्छिन्न चिदाभासात्मक सूक्ष्म संवित् को अप्रतिसन्धानरूप मूलबाधक अपने यत्न से ही काट देता है अर्थात् उसे काटने के लिए पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है ॥४५॥ जो चिदाभास को शुद्ध आत्मदृष्टि से विचारकर विचलित कर देता है वह संसाररूपी वृक्ष का तत्त्वज्ञान के द्वारा सर्वबाधरूपी मूलोच्छेद कर डालता है ॥४६॥

हे श्रीरामजी, चूँकि चिति के अभाव से रहित, सजातीय और विजातीय भेदों से शून्य, दृश्य पदार्थों से हीन जो एक आकाश है वह तत्त्वदृष्टि से ब्रह्मरूप ही है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी लोग उसी को हम सब चेतनों का सार (पारमार्थिक रूप) कहते हैं ॥४७॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

द्वैत का अत्यन्त बाध हो जाने पर विद्वानों को जिस उपाय से आत्मतत्त्व अवेदनरूप और निष्क्रिय सिद्ध होता है, उस उपाय का वर्णन।

'अवेदनं विदुर्मोक्षम्' इत्यादि पूर्ववचन से जो कहा गया है उस विषय में श्री रामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुनीन्द्र, जो वेदन(ज्ञान) पदार्थ है उसे अवेदनरूप कैसे बनाया जा सकता है ? न तो असत्वस्तु की सत्ता हो सकती है और न सद्वस्तु का अभाव हो सकता है ॥१॥

(यद्यपि 'वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य' इत्यादि से अवेदन शब्दार्थ का निरूपण हो जाने से श्रीरामभद्र

को यह शंका नहीं होनी चाहिए, तथापि 'येन संविदसंवित्या' इस कथन से वेदन नाश ही असंवेदन कहा गया है यह बात 'तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते' इस वाक्य द्वारा प्रतिपादित अवेदन की ब्रह्मरूपता नहीं घटती, क्योंकि सत् असत् नहीं हो सकता, इसलिए शंका का अवसर है।)

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जिस समय यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि असत् वस्तु की उत्पत्ति और सद्वस्तु का विनाश नहीं होता, उस दशा में वेदन को अवेदन बनाना स्वयं ही सुलभ हो जाता है ॥२॥ संसारदशा में प्रसिद्ध यह वेदन शब्द और इसका अर्थ ये दोनों एक तरह से रज्जूसर्पभ्रम के सदृश मिथ्या हैं। मिथ्यासामग्री से मिथ्यारूप उत्पन्न हुए हैं और मृगजल के सदृश ये केवल दिखाई देते हैं ॥३॥ हे राघव, वेदनशब्द और उसके अर्थ का न जानना उत्तम है तथा उनका ज्ञान होना दुःख है, इसलिए आप अविनाशी तटस्थ आत्मस्वरूप को जानिये और त्रिपुटीभान के अन्तर्गतवृत्ति से युक्त चेतन के आभास को आत्मरूप मत समझिये ॥४॥ प्राणी के लिए सबसे बढ़कर दुःख पैदा करनेवाला वेदनशब्द और उसका अर्थ जानना है, इसलिए वेदनशब्द और उसके अर्थ का परिज्ञान समूल नष्टकर अपने असलस्वरूप में अवस्थित रहिये ॥५॥

व्यवहारकाल में उसका उच्छेद किस तरह करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटीभान जिस समय होता है, उस समय व्यावहारिक ज्ञानरूप शब्द और उसका अर्थ प्राप्त होता है उन दोनों की यथायोग्य सर्वार्थरूप कुटस्थ चैतन्य तथा सर्वशब्दरूप 'ओम्' शब्द में लक्षणाकर कूटस्थ चैतन्यमात्र ही आत्मा है और यही मोक्ष का आविर्भाव है, यों सुदृढ़ निश्चय कर ज्ञानी पुरुष समस्त विक्षेपात्मक प्रपंचों का परित्याग कर व्यवहार करे ॥६॥

इस प्रकार के ज्ञानरूप व्यवहार से ही ज्ञानी को पूर्वोत्तर शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता और उनका विनाश भी हो जाता है, यह कहते हैं।

विवेकी पुरुष को अपना शुभाशुभ कर्म विनष्ट कर देना चाहिए। यह विनाश 'शुभाशुभ कर्मों का आत्मा के साथ तनिक भी किसी समय सम्बन्ध नहीं है', इस प्रकार के बोधरूप तत्त्वज्ञान से स्वयं सिद्ध हो जाता है ॥७॥

मूलसहित कर्मों का विनाश करने से संसार अशेषरूप से शान्त हो जाता है। जब कि आत्मतत्त्व भलीभाँति विचारित एवं प्रत्यक्ष किया जाता है तब समूल कर्मों का विनाश हो जाता है ॥८॥ जैसे बिल्व की मज्जा भीतर बीज आदि का निर्माण करती है, परन्तु बीज आदि जैसे बिल्व से भिन्न नहीं रहते, वैसे ही चिद्रूप आत्मा भी अपने भीतर चित्तसंज्ञा एवं क्रिया, कारक आदि त्रिपुटी का निर्माण करता है, पर चित्त आदि उससे तनिक भी भिन्न नहीं है ॥९॥ भूलोक की रचना के अन्तर्गत जम्बूद्वीप आदि की रचना जैसे भूमि से पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाश के अन्तर्गत सब भूत और भुवन आदि सन्मात्र परब्रह्म चिदाकाश से तनिक भी पृथक् नहीं हैं ॥१०॥ जो जल है वही उसके अन्तर्गत द्रवत्व भी है। इसी तरह से चिति के अन्तर्गत विद्यमान चित्त्व एवं चित्त चिति से

पृथक् नहीं है, क्योंकि चित्त्व और चित्त शब्द के जो अर्थ हैं, वे केवल चैतन्यवाचक चितिधातु के ही अर्थ हैं ॥११॥ जैसे जल में द्रवत्व और तेज में प्रभा ग्रहकत्व–स्मर्तृत्व धर्मों से शून्य है, वैसे ही ब्रह्म में चित्त्व और चित्त ग्रहकत्व एवं स्मर्तृत्व धर्म से शून्य है ॥१२॥

चित्त्व और चित्त ग्रहकत्व और स्मर्तृत्व धर्म से शून्य कैसे है ? यह कहते हैं ।

'चेतयति इति चित्' (जो प्रकाशन करता है वह चित् है) इस व्युत्पत्ति से अर्थ का प्रकाश चिति का कर्म ही मालूम पड़ता है । परन्तु यह कूटस्थ चैतन्य में निर्मूल भ्रमसिद्ध यक्ष के समान किसी कारण के बिना मिथ्यारूप ही प्रतीत होता है, इसलिए चिति में उसकी उत्पत्ति ही नहीं है और न उसका अस्तित्व ही है ॥१३॥

इस रीति से चिंतनक्रिया के चेतन से पृथक् न सिद्ध होने पर विषय भी चेतन से पृथक् सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं ।

वायु और उसके स्पन्दन की नाईं जब चेतन और उसकी अर्थप्रकाशनरूप क्रिया अहेतुक है, तब स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में होनेवाला वह अर्थप्रकाश आत्मचेतनरूप ही है, भिन्न नहीं है ॥१४॥ सम्पूर्ण कर्मों का विस्तार यह देह ही है, उसका मूल अहंकार है और शाखाएँ संसार है । अचेतनरूप (चिदाभासरूप क्रिया से शून्य) मूलोच्छेदक अनहंकार से शाखाओं के सहित यह ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशून्य वायु ॥१५॥

यह नहीं समझना चाहिये कि चिदाभास के उच्छेद से जीव का स्वरूप नष्ट हो गया, किन्तु उसने तो ब्रह्मस्वरूप से अनन्तात्मा होकर अपने अनर्थरूप संसार का मूलोच्छेद कर परम पुरुषार्थ का सम्पादन कर लिया, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाभासात्मक क्रिया का उच्छेद करके पत्थर के समान निश्चल अनन्त परब्रह्म परमात्मरूप होकर संसार के मूल को ऐसे उखाड़ फेंकिये, जैसे वराह के मुख का अग्रभाग मोथा को समूल उखाड़ फेंकता है ॥१६॥ पूर्वोक्त रीति से ही कर्मबीज से मूल का त्याग किया जाता है, दूसरी रीति से नहीं । इसलिए हे राघव, आपके हृदय में सदा स्थित रहनेवाला वेदनात्मक कर्ममूल शान्त हो जाय ॥१७॥ इस कर्मबीज का मूल जब त्याग दिया जाता है तब जीव के लिए न चिदाभास की सत्ता रहती है और न दृश्यप्रपंच की ही सत्ता रहती है । ऐसी स्थिति में विदिततत्त्व शान्त ब्रह्मज्ञानी न किसी वस्तु का ग्रहण करते हैं और न किसी वस्तु का परित्याग ही करते हैं, क्योंकि उस समय उन्हें त्याग और ग्रहण का परिज्ञान ही नहीं रहता । अनन्तर वे आकाश के सदृश निर्मल एवं विशद हृदय से युक्त होकर ज्ञानी पुरुष मानसिक विकल्पों से शून्य होकर जैसी उनकी मूल स्थिति है उसी रीति से अवस्थित रहते हैं । जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसे करते हैं और नहीं भी करते हैं ॥१८–२०॥ जैसे नदी के प्रवाह में पतित तृण, काष्ठ आदि सब कुछ स्पन्दित होता है । वैसे ही ज्ञानियों की कर्मेन्द्रियाँ किसी प्रकार के मनोविकार के बिना अर्धसुप्त या बालक की नाईं

स्पन्दित होती हैं ॥२१॥ सबसे बढ़े-चढ़े ब्रह्मानंद के प्राप्त हो जाने पर भोगलम्पट करणवृत्तियाँ भी नीरस होकर अपने-अपने विषयों के प्रकाशन में असमर्थ-सी बनकर भीतर या बाहर कुछ भी नहीं कर पाती ॥२२॥ वह पूर्वोक्त विज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग है और यह त्याग आत्मबोध से स्वतः सिद्ध हो जाता है । इतर देहादि के स्पन्दनरूप कर्म के करने से या न करने से प्रयोजन ही क्या ? ॥२३॥ विषयों से विनिर्मुक्त, वासनाओं से शून्य, सुदृढ़रूप से स्थित, शान्त, एकरूप, कृत और अकृत के अनुसन्धान से रहित जो अवेदन है वही कर्मत्याग कहा जाता है ॥२४॥ दीर्घकाल से भूले गये कर्मों के सदृश विषयों का भलीभाँति पुनः-पुनः स्मरण न होना ही कर्मत्याग कहा जाता है । वह विस्मरण निरन्तर खम्भे के पेट के सदृश ठोस और एकरूप का होना चाहिए ॥२५॥ जो मिथ्या ज्ञानी पुरुष मूलत्याग के बिना केवल इन्द्रिय संयममात्ररूप करते हैं, उन अज्ञानी पशुओं को कर्मत्यागरूप पिशाचिका खा जाती है ॥२६॥ मूलसहित कर्मत्याग के द्वारा जो ज्ञानी शान्ति प्राप्त कर बैठे हैं उन्हें यहाँ कृत-अकृत कर्म से कोई मतलब नहीं रहता ॥२७॥ पूर्वोक्त रीति से चूँकि ज्ञानी-पुरुष कर्मबीजरूपी अंशों का समूल भलीभाँति उच्छेदकर निरन्तर एकमात्र निर्विकल्प समाधि में स्थित रहते हैं, इसलिए वे सुख का उपयोग करते हैं ॥२८॥ ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध प्राप्त कार्य में कुछ प्रवृत्त हुए-से दिखाई देते हैं, परन्तु ये घूर्णमान शराब के नशे में उन्मत्त पुरुष के सदृश तथा यन्त्र से संचालित काठ की मूर्तियों के सदृश उसके अभिमान से रहित रहते हैं ॥२९॥ विविध विषय-विलासों से परिपूर्ण मोक्षलक्ष्मी से ज्ञानी पुरुष ऐसे अपने देह आदि के भान को भूले रहते हैं, जैसे अत्यन्त आसक्तिरूप व्यसन से साधारण पुरुष अपने देह आदि के भान को भूले रहते हैं और किसी अनिर्वचनीय पंचम आदि भूमिकाओं में प्राप्त होकर अर्धसुप्त एवं अर्धप्रबुद्ध के सदृश रहते हैं ॥३०॥ जो मूलोच्छेदपूर्वक छोड़ा जाता है वही छोड़ा गया कहा जाता है और जो मूलोच्छेद के बिना त्याग है, वह शाखाच्छेदन के सदृश ही है ॥३१॥ मूल के छेदन के बिना केवल शाखाग्र से काटा गया कर्मरूपी वृक्ष फिर हजारों शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से दुःख के लिए बढ़ता ही रहता है ॥३२॥ हे भद्र, पूर्वोक्त अवेदनस्वरूप से ही कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरे से नहीं, इसलिए बतलाये गये क्रम से उसी के अभ्यास में तत्पर रहिये ॥३३॥ श्रीरामजी, जो कोई पुरुष उस प्रकार का कर्मत्याग न कर दूसरे अत्यागरूपी त्याग को करने में प्रवृत्त रहते हैं वे मानों गगन ताड़ने के लिए ही उद्यत रहते हैं ॥३४॥ आत्मबोध से कर्मत्याग स्वयं ही सिद्ध हो जाता है । इच्छारहित जीवन्मुक्तों की बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ भी अक्रियारूप ही हैं, क्योंकि उनका मूलभूतबीज जल चुका है । जिसके तन्तु जल चुके हैं ऐसा वस्त्र वस्त्र के सदृश दिखाई दे रहा भी वास्तविक वस्त्र नहीं है ॥३५॥ भोगासक्तिरूप रस की भावना से ही बुद्धिसहित इन्द्रियों के द्वारा निष्पादित कर्म ऐसे सफल होता है, जैसे रस्सी के द्वारा कूपकाष्ठ जल निकालना, सींचना आदिरूप रसभावना से धान पैदा कर सफल होता है । वह काष्ठ वृथा चेष्टा से जैसे व्यर्थ है वैसे ही अन्य शारीरिक

चेष्टारूप स्पन्द भी निष्फल है ॥३६॥ ज्ञान से कर्मत्याग के सिद्ध हो जाने पर वासनाशून्य जीवन्मुक्त पुरुष चाहे घर में रहे या जंगल में, धनादि सम्पत्ति के नाश से दरिद्र हो या धनादि सम्पत्ति की वृद्धि से अभ्युदय को प्राप्त हो, किन्तु है वह रहता सर्वत्र एक–सा ही ॥३७॥ शान्त पुरुष के लिए घर ही निर्जन दूरस्थ जंगल है तथा अशान्त पुरुष के लिए निर्जन महान् जंगल भी जनसमुदाय से ठसाठस भरी नगरी है ॥३८॥ परिशान्तमति तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए स्वप्न में भी निर्जन, निर्मल, विस्तृत और अति मनोहर वन भूमि हृदय के अन्दर ही विराजमान है ॥३९॥ ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए दृश्य प्रपंचवाले तत्त्वज्ञानी के लिए यह संसार ही स्पन्दन से शून्य, आकाशमयी, अशेष–विशेष पदार्थों से शून्य महाटवी है ॥४०॥ अनन्त संकल्पोंवाले तथा जगत् की स्थिति को हृदय में रखनेवाले अज्ञानी के लिए सम्पूर्ण सागरों सहित सारी पृथिवी हृदय के अन्दर ही विराजमान है ॥४१॥ अज्ञानी दीन मनुष्य के लिए विविध द्वन्द्वों से भरी हुई, अनेकविध कार्यों के आरम्भ से युक्त तथा अनेक तरह के आकारों से समन्वित ग्रह मण्डली हृदय के भीतर ही विराजमान है ॥४२॥

हे श्रीरामजी, अज्ञानी पुरुष के लिए विविध आवश्यक कार्यों से यानी धनोपार्जन, धनव्यय, दूरदेश में प्रवास, कलह आदि से सर्वदा ही लोभ, मोह, शोक, भय, आसक्ति आदि विकारों से पूर्ण छोटे–छोटे कसबों, बड़े–बड़े नगरों तथा देश–देशान्तरों एवं पर्वतों से युक्त यह सारी पृथिवी मलिन हृदय में जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित हो, वैसे प्रतिबिम्बित होती ही है ॥४३॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

अहन्ता ही संसार का मूल है। इसका आत्मबोध से अनहंभाव की भावना करने पर त्याग हो जाता है, यह वर्णन।

सम्पूर्ण दृश्यों का त्याग ही दृष्टा आत्मा का मोक्ष है। तेल खतम हो जाने पर दीप–निर्वाण के समान तत्त्वज्ञान से सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच के मूल अज्ञान का निर्वाण (नाश) हो जाने पर ही वह सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चेतन आत्मरूप तत्त्वबोध हो जाने पर जब अहन्तादि के सहित जगत् शान्त हो जाता है तब तेल समाप्त हो जाने पर जैसे दीप बुझ जाता है वैसे ही सब दृश्य प्रपंचों का त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं ॥१॥ कर्मों का त्याग वस्तुतः त्याग नहीं कहा गया है, बोध ही मुख्य त्याग कहा गया है। जिसमें जगत् का प्रतिभास नहीं है ऐसा परिशिष्ट मुख्य एक आत्मा ही सर्वत्यागरूपी मोक्ष है, यह अविनाशी तथा अहन्तादि विकारों से रहित है ॥२॥ 'पामरजन तक प्रसिद्ध यह देहादि दृश्य प्रपंच ही मैं हूँ' तथा 'देहादि से सम्बध्ध यह भोग्य जगत् मेरा है', इस तरह के तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यास रूप दो बन्धनों के, तेलरहित दीपक की नाईं, समूल शान्त हो जाने पर सर्वोत्तम बोध ही (एकमात्र चैतन्य ही आत्मा है, इस प्रकार का ज्ञान ही) शेष रह

जाता है, इसीका नाम परमनिर्वाण यानी मोक्ष है ॥३॥

उक्त अर्थ को व्यतिरेक से भी दृढ़ करते हैं।

'यह देहादिरूप मैं हूँ तथा स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं' इस प्रकार का अध्यासरूप संसार जिसका शान्त नहीं है उसे न ज्ञान है, न शान्ति है, न त्याग ही है और न निवृति यानी मोक्षरूप सुख ही है ॥४॥ यह स्त्री, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं , यह शरीर, इन्द्रिय आदि मैं हूँ, सिर्फ इतने अध्यास की जो निवृत्ति है वह अध्यस्त पदार्थों के बाध का अधिष्ठानरूप होने से बोधरूप तथा सर्वथा शान्त शिवस्वरूप है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥५॥ तत्त्वबोध के द्वारा अहमंश के क्षीण हो जाने पर *(हे श्रीरामजी, यह आप समझ लीजिए कि)* ममता का आधार सारा संसार ही विनाश को प्राप्त हो गया। *(सब जगत् का नाश होने पर सर्वस्व नाश की आशंका से डरे हुए पुरुष के प्रति समाधान देते हैं।)* और सच पूछिये तो यथार्थ में कहीं कुछ भी नष्ट नहीं हुआ। क्योंकि सर्वत्र आनन्दघन एक आत्मा ही स्थित है ॥६॥

अहंबुद्धि को नष्ट करने में बिलकुल सरल उपाय बतलाते हैं।

अहंकार की भावना करनेवाला जीव एकमात्र अहंकार की भावना न करने से ही बिना किसी विघ्न के (ॐ) शान्त हो जाता है। और यह मुक्ति सिर्फ इतने ही साधन से सिद्ध हो जाती है, इसके लिए अनेक साधनों के सम्पादन में व्यर्थ क्लेश क्यों किया जाय ? ॥७॥

अनहंबुद्धि भी तो अहंबुद्धि की नाईं द्वैतरूप होने के कारण अध्यास ही है, फिर वह किससे शान्त होती है, यदि यह पूछिये,तो इसका उत्तर यह है कि पंक के साथ कतकधूलि की नाईं अहंबुद्धि के साथ वह भी अपने-आप चिदात्मा में शान्त हो जाती है, यह उपपत्तिपूर्वक कहते हैं।

मैं देहादि नहीं हूँ, किन्तु चिन्मात्ररूप ही हूँ, इस बुद्धि को भी यदि आप द्वैतभ्रमबुद्धि ही कहें, तो यह परमार्थचित्स्वभाव को छोड़कर और कुछ नहीं है। क्योंकि चितिस्वरूप तो आकाश के समान विशद है, इसलिए इसमें भ्रम की स्थिति ही कहाँ रह सकती है ॥८॥

भ्रम, भ्रमसाधन, भ्रमफल एवं उनके आश्रय सभी ज्ञानमात्र के परिणाम हैं, इसलिए अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, यह कहते हैं।

न भ्रम है, न भ्रम का साधन है,न भ्रम का फल है और न भ्रम का आश्रय ही है, जो कुछ है, वह सब अज्ञान ही है, इसलिए जब आपको तत्त्वज्ञान हो जायेगा तब उसी से आप में उनकी सत्ता नहीं रहेगी ॥९॥ हे श्रीरामजी, यह जो प्रपंच दिखाई दे रहा है, वास्तव में उसे चिन्मात्र ही समझिये। स्वरूपतः विस्तृत प्रपंच असत् खरगोश के सींग के सदृश ही है, इसलिए आप जगत् के विषय में समस्त वाग्व्यवहार को छोड़कर चुपचाप बैठे रहिये, क्योंकि पूर्वोक्त प्रणाली से सब कुछ परिशिष्ट आत्मस्वरूप ही है ॥१०॥

(ॐ) अर्थात् 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस बुद्धि से रजत के अध्यासबाध में जैसे कोई विघ्न नहीं है।

जब-जब अहंभाव का उदय प्राप्त हो तब-तब उसी समय में अहंभाव विरोधिनी अनहंभावबुद्धि पैदा करना चाहिए, यह कहते हैं।

जिस कारणसामग्री से निमेषमात्र में शीघ्र अहंबुद्धि उत्पन्न होती है उस सामग्री से विरुद्ध तत्काल अनहंभाव का उत्पादन कर पुरुष किसी प्रकार के शोक से सन्तप्त नहीं होता ॥११॥

भद्र, इस तरह निरन्तर अत्यन्त सावधानी से पैदा किये गये अनहंभाव अहंभाव को शीघ्र आकाशपुष्प के सदृश निर्वचनीय बनाकर रण में धनुष चढ़ाये गये अर्जुनबाण के सदृश अपरांमुख हो ब्रह्मरूप लक्ष्य का दृढ़ अवलम्बन कर निरन्तर आप अवस्थित रहिये ॥१२॥

हे रामभद्र, इस रीति से निरन्तर अहन्ता की आकाशपुष्प आदि के सदृश भावना कर रहे आप समस्त सांसारिक भावनाओं से निर्मुक्त होकर संसारसागर से पार हो जाइये ॥१३॥ भद्र, स्वाभाविक अज्ञानजनित अहंभाव के ऊपर विजय पाने में जिसकी स्वयं वीरता नहीं है उस पशु की उत्तमपद प्राप्ति के लिए कोई चर्चा ही क्या हो सकती है, यह कहिये ॥१४॥ जिस उत्तम ज्ञानी पुरुष ने सबसे पहले काम, क्रोध आदि छः शत्रुओं के ऊपर विजय पा ली है, वही बड़े-बड़े अर्थों का भाजन हो सकता है; दूसरा मनुष्यरूपी गदहा नहीं ॥१५॥ जो पुरुष अपने अन्दर की मनोवृत्ति को जीत रहा है या जो जीत चुका है वह पुरुष विवेकज्ञान का पात्र गिना जाता है और वही 'पुरुष' इस शब्द से कहा जाता है यानी उसी पुरुष ने अपना जन्म सफल बनाया है ॥१६॥ भद्र, समुद्र में शिला के सदृश जो-जो विषय आपके लिए प्रारब्धवश प्राप्त हो जाये, उन सब विषयों से आप 'वह विषय मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की भावना करते हुए अपना सम्बन्ध ही हटा दीजिये ॥१७॥ 'मैं देहादि विषयरूप नहीं हूँ', ऐसा जानते हुए और अनेक तरह की युक्तियों से ज्ञानरूप सुख का अच्छी तरह अनुभव करते हुए भी क्यों आप अज्ञानी के सदृश मोह में फँसते हैं अर्थात् नहीं ही फँसना चाहिए ॥१८॥ युक्ति से विचारने पर जैसे सुवर्ण में कटक आदिरूपता केवल भ्रान्ति को छोड़कर कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है वैसे ही इस आत्मा में युक्ति से विचारने पर देहादि ज्ञेय वस्तु भ्रान्ति को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। आपकी वैसी भ्रान्ति केवल विषयों के विस्मरण से ही नष्ट हो जायेगी ॥१९॥

हजारों युक्तियों के प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है केवल 'देहादि मैं नहीं हूँ' अकेली इस भावना का अभ्यास कर लेने पर ही सब भ्रान्तियाँ निकल जायेगी, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, वायु में क्रिया के सदृश आपके भीतर जो-जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन-उन भावों के आप 'मैं भावरूप नहीं हूँ' इस तरह की भावनावृत्ति से अपने को अनाश्रय बना दीजिये ॥२०॥ जिस पुरुष ने सबसे पहले अहंभाव का त्यागकर लोभ, लज्जा, मद और मोह के ऊपर विजय नहीं पाई, वह पुरुष नास्तिकता, यथेष्टाचरण आदि के उत्पादक इस आध्यात्मशास्त्र का अनधिकारी है। उसे इसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए यदि वह प्रवृत्ति करेगा, तो नास्तिक एवं स्वेच्छाचारी ही बन

जायेगा ॥२१॥ पवन में स्पन्दन के सदृश आपमें जो अहन्ता स्थित है वह आपके परमात्मस्वरूप बन जाने पर वायु में स्पन्दन के सदृश आपसे पृथक् नहीं रह सकती ॥२२॥ कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्र के ज्ञान से परमात्मा में जब संसार एकरूप से मिल जाता है तब वह बहुत ही भला लगता है। ठीक ही है कि माला में भ्रान्ति से कल्पित सर्प आदि भयंकर अर्थ जब माला के ज्ञान से मालास्वरूप हो जाते है तब मालारूप से कण्ठ में धारण करने पर सुन्दर लगते ही है ॥२३॥

यदि आत्मज्ञान से जीव और जगत् की परमात्मरूप अवयवी के रूप में उत्पत्ति आपने मान ली, तो उसके बाद दूसरे भावविकार भी उत्पन्न होंगे ही, ऐसी स्थिति में उन विकारों से तथा जीवभाव, जगद्भाव एवं उनके ध्वंस आदि को लेकर द्वैतापत्ति भी होगी, इस शंका पर कहते हैं।

वस्तुतः परमात्मा न तो कभी उदित (उत्पन्न) होता है और न कभी अस्त ही और जब इस परमात्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब उससे भिन्न कौन भाव रहा और कौन अभाव रहा, कहने का तात्पर्य यह कि बाध से कल्पित की जो अधिष्ठानरूपता है, वह न तो उत्पत्तिरूप है और न नाशरूप है, किन्तु नित्यसिद्ध आत्मरूप है। और विकार आदि में हेतु तो क्रिया ही रहती है, ज्ञान नहीं, इसलिए जीव की परमात्मरूपता के बाद द्वैत कभी भी नहीं हो सकता ॥२४॥ तत्त्वज्ञान से ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञानरूप त्रिपुटी का बाध हो जाने पर त्रिपुटीजनित जीव का विनाश हो जाता है। इससे यही बात निकली कि 'त्वं' पद का लक्ष्य, पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप परब्रह्म जो 'तत्' पद के लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप स्वभाव में पहले से स्थित है, इसीका तत्त्वज्ञान विस्तार कर देता है, अपूर्व किसीका भी उत्पादन नहीं करता ॥२५॥

दीप के निर्वाण के समान आभास सहित अविद्या का फल निर्वाण अपूर्व ज्ञान का उत्पन्न हुआ। यह अवश्य ही मानना होगा, अन्यथा ज्ञान निष्फल हो जायेगा। इस पर कहते हैं।

ठीक है, यद्यपि निर्वाण ज्ञान का फल है तथापि वह अपूर्व उत्पन्न हुआ। यह कहना अत्यन्त अप्रसिद्ध है, क्योंकि अन्धकारशून्य सूर्य में अन्धकारनिवृत्ति के समान प्रपंचशून्य ब्रह्म में प्रपंच-निवृत्ति और नित्यशान्त में शान्ति कही गयी है। अतः अनर्थ निवृत्तिरूप ज्ञान का कोई अपूर्व फल नहीं हुआ। इसी तरह नित्यसिद्ध निरतिशयानन्द शिव में आनन्दप्राप्तिरूप फल भी कोई अपूर्व पदार्थ नहीं है। इस तरह ज्ञान का फल मानने पर द्वैतापत्ति नहीं आ सकती। यदि प्रत्यक् में (जीवात्मा में) बन्ध और ब्रह्म में आकाशादि पदार्थ सत्य होते, तो उनका निर्वाण दीपनिर्वाण के समान अपूर्व होता, लेकिन ऐसा है नहीं। रज्जु में सर्पनिर्वाण के समान प्रत्यगात्मा के बन्ध का निर्वाण भी वास्तव में अनिर्वाणरूप ही है। ब्रह्म भी वास्तव में आकाशादि सत्य पदार्थों से युक्त नहीं रहता, इसलिए उनकी निवृत्ति द्वैत को सिद्ध नहीं कर सकती ॥२६॥

अनहंभावना असह्य है, इसका खण्डन करते हैं।

जब शस्त्रों के आघात सहे जाते हैं, जब व्याधियों की पीड़ाएँ सही जाती है तब ' मैं नहीं हूँ' इतनी भावना को सहने में कौन–सा क्लेश हो रहा है ? ॥२७॥

जितने जगत् के पदार्थ है, उन सबका अविनाशी कारण देहादि में अहंभाव रखना ही है। ज्ञान द्वारा उसका निर्मूलन हो जाने पर यह जगत् तो अपने आप उखड़ जाता है ॥२८॥ निःसार भी मुख के बाष्प से जैसे परम स्वच्छ दर्पण मलिन हुआ प्रतीत होता है वैसे ही परमात्मारूपी दर्पण अहंकाररूपी निःसार भी मुखबाष्प से सारवत् मलिन हुआ प्रतीत होता है। अहंकाररूप निःसार बाष्प के शान्त होने पर तो परमात्मा निर्मल हो जाता है ॥२९॥ परमात्मारूप वायु में अहंकाररूप स्पन्द है। उसे शान्त होने पर अनिर्देश्य, अनाभास, अज और अविनाशी अद्वय चिदाकाशमात्र शेष रहता है ॥३०॥

बाह्य अनर्थों के अवलोकन में भी अहंकार ही हेतु है, यह कहते हैं।

अहंकार सामने उपस्थित द्रव्यों का चिति में प्रतिबिम्ब प्रदान करता है। उस अहंकार के शान्त हो जाने पर वह चिति निराभास, अनन्त, अज और अविनाशी परमात्मस्वरूप ही रह जाती है ॥३१॥ अहंकाररूपी मेघ के छिन्न–भिन्न हो जाने पर परमार्थरूप शरत्काल का आकाश, सर्वोत्तम, स्वच्छ असीम चिति लक्ष्मी से खूब सुन्दर भासित होने लग जाता है ॥३२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो विशुद्ध सुवर्णरूप चिरकालिक चैतन्य है, वह अहंकाररूप मल के सम्पर्क से जीवरूपी ताम्रभाव को प्राप्त हुआ है, परन्तु श्रवणादि उपायरूपी अग्नि में तपकर जब अहंकाररूपी मल से निर्मुक्त हो जाता है तब वही परमप्रकाशमय कान्तिमान् ब्रह्मरूपी सुवर्ण (*) बन जाता है ॥३३॥

यदि आप यह कहें कि अहंकार की निवृत्ति हो जाने पर किस नाम से मेरा उपदेश होगा, तो इस पर मेरा कहना यह है कि समुद्र में विलीन सैन्धव आदि पदार्थों की तरह तत्–तत् नाम की निवृत्ति से जैसी अव्यपदेश्यता होती है वैसी ही आपकी भी अव्यपदेश्यता होगी। उस समय आप अनिर्वचनीय ब्रह्मस्वरूप हो जाओगे, यह कहते हैं।

जैसे समुद्र में विलीन हुए पदार्थों का स्वरूप अव्यपदेश्यता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही अनहन्ता से ब्रह्म में विलीन हुई अहन्ता भी अव्यपदेश्यता को प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उस समय वह ब्रह्मरूप बन जाती है ॥३४॥

अहंकार निवृत्ति के बाद ब्रह्म आदि नाम से जो जीव का व्यवहार होता है वह भी अन्य पद के अर्थ की नाईं उसमें (जीवमें) अहंकाररूप अल्पत्व (छोटेपन का) नाशरूप जो बृहत्व (बड़प्पन) है, तत्स्वरूपप्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना करके ही होता है, वस्तुतः नहीं होता, यह कहते हैं।

तरंग आदि धर्मों से शून्य अपने स्वाभाविक स्वरूप से स्थित हुआ जल जैसे पूर्व के तरंग आदि रूप से भीतर सत्य–सा प्रतीत होकर तरंग आदि नामों से व्यवहृत होता है और

(*) देखिये यह श्रुति : 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।'

स्वाभाविक जलरूप से स्थित हुआ तरंग आदि नामों से व्यवहृत नहीं होता, वैसे ही अपने स्वरूप में स्थित आत्मा किसी नाम से व्यवहृत नहीं होता, परन्तु जब अहन्ता रहती है,तब वह अन्य पदार्थों के सदृश नामवाला सा बनकर स्थित रहता है और उन-उन लाक्षणिक नामों की कल्पना से व्यवहृत होता है ॥३५॥ अहंकार ही जन्ममरण रूप इस संसार का बीज है । भावना के मूल अज्ञान के नाश से जब यह अहंकाररूपी बीज दग्ध हो जाता है तब जगत् और बन्ध इत्यादि की कल्पना ही क्या रहती है ? ॥३६॥

इस संसार का बीज अहंकार ही है, इसका उपपादन करने के लिए 'यह कैसे उदित होता है' यह बतलाते हैं ।

सत्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, यानी त्रिकालअबाधित, अपरिच्छिन्न, निरतिशयानन्द अपरोक्ष चिदेकरस इन स्वभावों से युक्त परमात्मा में सत् आदि चारों स्वभावों के संकोचरूप नाम से कलंकित यानी मालिन्ययुक्त, समष्टि-अहन्ता ऐसी उदित होती है जैसी घटाकारपरिच्छेद से मिट्टी की स्वभाव विस्मृति ॥३७॥ इसलिए अहंकाररूपी बीज से यह दृश्यप्रपंच की सत्तारूपी बिम्ब लता उदित हुई है। जिसमें व्यष्टिभाव से अनन्त जगत्रूपी फल उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं ॥३८॥

इसीका विस्तृतरूप से वर्णन करते हैं।

इस अहमर्थरूपी मिर्च के बीज के भीतर पर्वतों, समुद्रों, पृथिवी और नदियों के सहित तथा बाह्य इन्द्रियों से होनेवाले पदार्थों के पर्यालोचन एवं मन के भीतर रहनेवाली काम-संकल्प आदिवृत्तिरूप एषणारूपी चमत्कृति उदित होती है ॥३९॥ अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब अहमर्थरूपी विकसित कुसुम की सुगन्ध हैं ॥४०॥ सुमेरु के परभाग में सद्रूप दिन उदित होते ही सद्रूप पदार्थ का प्रकाश और मनन जैसे करता है वैसे ही आत्मा में उदित होते ही यह अहंकार जगत् को प्रकट करता है ॥४१॥ प्रारम्भ होते ही दिन जैसे पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही प्रारम्भ होते ही अहंकारभावना क्षण भर में असत् जगत् का निर्माण कर देती है ॥४२॥ ब्रह्मरूपी जल में अहंकाररूपी तेल का बिन्दु पड़ते ही जो चारों ओर फैल जाता है वही शीघ्र यह त्रिलोकीरूपी चक्र बनकर स्थित हो जाता है ॥४३॥ जिस तरह खराब आँखें खुली रहकर असद्रूप जगत् को सत्यरूप से खूब अनुभव करती है । किन्तु बन्द हो जाते ही नहीं करती; अहो, उसी तरह उन्मेष मात्र से यह अहन्ता असद्रूप जगत् को सत्यरूप से अनुभव करती है ॥४४॥

इसीको दृढ़ करने के लिए फिर कहते हैं।

जैसे आँख की पुतली सुषुप्ति, मरण या मूर्च्छा में जब तिरोहित हो जाती है या जब मोक्ष में पूर्णतया विलीन हो जाती है अथवा समाधि में साक्षात्कार द्वारा जब नष्ट हो जाती है तब

सांसारिक पदार्थों का अनुभव नहीं कर पाती; वैसे ही अहमर्थ के प्रसृत होने पर ही यह संसार अनुभूत होता है, अन्यथा नहीं ॥४५॥ नित्य परमात्मज्ञान से अहमंश के बिलकुल निःशेष कर दिये जाने पर यह संसाररूपी मृगजल पूर्णरूप से शान्त हो जाता है ॥४६॥

साधन और फल दोनों अतिसुलभ हैं, यह दिखलाते हैं ।

स्वप्रकाश चिदात्मा की एकमात्र भावना से साध्य (♨) स्वतःसिद्ध (卐) आत्मरूप इस श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति में हे श्रीरामजी, आप निरंकुश खेद या अहंभावादि भ्रान्ति को प्राप्त न हों ॥४७॥

किसी दूसरे पुरुष आदि बाह्य साधन की अपेक्षा न होने से भी इसको अतिसुलभ बतलाते हैं ।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, किसी दूसरे सहायक आदि साधन के बिना स्वयत्नमात्र से साध्य अनहंभावना के सिवा मैं दूसरा आपका कोई कल्याणकारण नहीं देखता ॥४८॥

सम्पूर्ण उपदेश सिद्धान्तों का सार संक्षेपरूप से दिखलाते हुए अब उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, सबसे पहले व्यष्टि–अहंभाव को भूलकर चारों ओर से पर्वत, अंतरिक्ष, पृथिवी, समुद्र, वायु तथा उसके मार्ग आकाशरूप होकर सारे संसार को परिपूर्ण बना करके अपने विभव का विस्तार करते हुए आप समष्टिभाव से स्थित हो जाइये । तदनन्तर स्थावर–जंगम सारा संसार ब्रह्मरूप ही है, इस तरह के ज्ञान से समस्त प्रपंचों का बाध करके प्रपंचशून्य, इन्द्रियों, अन्तःकरण के मलों तथा कलाओं से वर्जित होते हुए स्वस्थ, शान्त, विशोक और निर्मलात्मा होकर स्थित हो जाइये, क्योंकि इस तरह अध्यारोप तथा अपवाद न्याय से निष्प्रपंच आत्मरूप से अवशिष्ट रह जाना ही सम्पूर्ण वेदान्त सिद्धान्तों का सार है ॥४९॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

जितेन्द्रिय पुरुषों में ही शास्त्रों का उपदेश सफल होता है, अजितेन्द्रियों में नहीं, इस विषय में भुशुण्ड द्वारा कथित विद्याधर कथा का वसिष्ठजी द्वारा वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी,सबसे पहले मन के सहित इन्द्रियों के स्वभाव को (विषयों की ओर उन्मुख हो रही प्रवृत्ति को) जीतकर पीछे नित्यानित्य वस्तु के विवेक आदि साधनों में जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसीके लिए शास्त्र के और आचार्य के उपदेश का सारा फल

(♨) जड़ पदार्थों की नाईं इसमें फलव्याप्ति की अपेक्षा नहीं है, अतः इसके साधन में अतिसुलभता है, यह इससे दिखलाया गया ।

(卐) इससे फल में भी उत्पादन आदि किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता न होने से अतिसुलभता दिखलाई गई है ।

शीघ्र सिद्ध होता है, दूसरे के लिए नहीं ॥१॥ जिस दग्धबुद्धि ने अपने भीतर विषयों की ओर दौड़नेवाली अपनी इन्द्रियों के स्वभाव को नहीं जीत लिया उसको परमपद की प्राप्ति ऐसे दुर्लभ है, जैसे बालू में से तेल निकालना दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि बालू निचोड़ने का श्रम जैसे निष्फल है, वैसे ही चिरकाल से अभ्यस्त हुए भी, इन्द्रियों के स्वभाव को जीते बिना श्रवण, मनन आदि बिलकुल निष्फल है ॥२॥ शुद्ध निर्मल वस्त्र आदि में तेल बिन्दु की नाईं शुद्ध विमल चित्तवाले मनुष्य में थोड़ा भी उपदेश प्रविष्ट हो जाता है और साधन चतुष्टय से रिक्त चित्तवालों में ऐसे नहीं प्रविष्ट हो पाता जैसे दर्पण के भीतर मोती नहीं प्रविष्ट हो पाता ॥३॥ इस विषय में विद्वान लोग इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। भुशुण्डजी ने बहुत दिन पहले मुझसे मेरू पर्वत के शिखरपर यह कहा था ॥४॥ बात बहुत पुरानी है, कभी मेरू शिखर के एकान्त कोटर में किसी अध्यात्म कथा के प्रस्ताव में श्रीभुशुण्डजी से मैंने यह पूछा था ॥५॥ मैंने भुशुण्डजी से पूछा था कि हे प्रिय, यह बतलाओ कि इस संसार में मुग्धबुद्धि तथा आत्मज्ञानशून्य दीर्घजीवी तुम किसे स्मरण करते हो ? हे श्रीरामजी, मेरे पूछने पर उन्होंने यह कहा ॥६॥

भुशुण्डजी ने कहा : हे भगवन्, लोकालोकान्तर पर्वत की चोटी पर बहुत दिन पहले एक विद्याधर रहता था। वह अजित इन्द्रियों से अत्यन्त खेद को प्राप्त अतएव विश्रान्तिरस से हीन, आत्मज्ञानशून्य, विचारवान् तथा आयुवृद्धि के हेतुभूत सदाचार से सम्पन्न था ॥७॥ अनेक तरह के तप, यम और नियम से अक्षीणायु (परिपूर्ण आयु) होकर पूर्व कालमें वह चार कल्पों तक स्थित रहा ॥८॥ तदनन्तर चौथे कल्प के अन्त में चिरकालतक तप, नियम आदि के अनुष्ठान से उसको ऐसे विवेक उदित हुआ। जैसे बादल के उदय से विदूरभूमि में वैदुर्यमणि ॥९॥

विवेकस्वरूप दिखलाते हैं।

पुनः-पुनः जन्म, पुनः-पुनः मृत्यु तथा पुनः-पुनः वृद्धावस्था न हो, क्योंकि इसका विचार करते हुए मैं लज्जित हो रहा हूँ। अतः जहाँ ये बिलकुल न हों, ऐसी एक स्थिर कौन-सी वस्तु हो सकती है ? ॥१०॥ यों विचार करके पांच प्राण, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा स्थूल देह इन अठारह अवयवों से युक्त अपनी पुरी को चिरकाल तक धारण करने से श्रान्त तथा संसार के रससे विरक्त वह महात्मा मेरे पास कुछ पूछने आया ॥११॥ मेरे समीप आकर बड़े आदर के साथ उसने नमस्कार किया। मैंने भी सत्कार से उसे बैठाया। अनन्तर प्रश्न का अवसर पाकर उसने यह अनिन्दित वचन कहा ॥१२॥

अपने खेद के हेतुभूत इन्द्रियादिकों के दोषों का विस्तार से आगे चलकर वर्णन करने की इच्छा कर रहे विद्याधर भूमिका बाँध रहे हैं।

विद्याधर ने कहा : हे भगवान्, अपने-अपने विषयों में शीघ्रानुप्रवेशी होने के कारण अत्यन्त कोमल, प्रवेश के बाद अत्यन्त परितापी और तदनन्तर उनका हिलाना-डुलाना अशक्य होने से

पत्थर से भी अधिक दृढ़ और बलवान्, छेदन और भेदन में दक्ष अपने शरीर के अन्दर प्रविष्ट हुए बाण आदि शस्त्र और इन्द्रियाँ तुल्य हैं ॥१३॥ हे मुने ये इन्द्रियाँ हृदय में रूढ़ हैं, तमोमय हैं, अन्धकार से भरे सघन जंगल के तुल्य हैं, काम आदि वानरों से व्याप्त हैं एवं प्राण,मन, देह और हृदयस्थ भूख आदि दुःखरूपी छः तरंगों से युक्त हैं । तरंगों से युक्त होती हुई भी दैवात् कहीं अंकुरित हुए शम–दमादि गुणरूपी जंगल की दाहक होने से ये विपत्ति देनेवाली तथा मलिन हैं । अतः इस तरह की इन्द्रियों को एवं उनके आश्रय मन को जीतकर प्राणी सुखी हो सकता है, सांसारिक इन भोगों से कदापि सुखी नहीं हो सकता । अतः मुझे विद्याधरों के भोगरूपी इन पदार्थों से कोई मतलब अब नहीं हैं । हे भगवन्, यही कारण है कि विरक्त जिज्ञासु होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ ॥१४॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

चिरकाल तक दिव्य भोग को भोगे हुए विद्याधर के द्वारा परीक्षित विषयों में उन्मुख इन्द्रियों की नीति का वर्णन ।

अतः चार साधनों से सम्पन्न मुझ ब्रह्मजिज्ञासु को हे ब्रह्मन्, आप ब्रह्मोपदेश दीजिये, यह कहते हैं ।

विद्याधर ने कहा : हे भगवन्, आप मुझे उस परमपावन पद का शीघ्र उपदेश दीजिये । जो पूर्णरूप से कृपणता का निवर्तक, दुःखरहित तथा निरतिशयानन्दरूप होने से अति उदार है, आयासहीन तथा क्षय एवं अतिशय से शून्य है, आदि और अन्त से रहित है ॥१॥ *(हे भगवान्, मैं त्रिविधताप से अत्यन्त सन्तप्त हूँ । अतएव सागर में डूबने की इच्छा कर रहे सन्तप्त सिरवाले पुरुष की नाईं अब मुझसे विलम्ब सहा नहीं जाता ।)*

यदि तुम्हारी ऐसी स्थिति है, तो फिर पहले ही क्यों नहीं आये ? इस पर कहते हैं ।

हे मुने, इतने काल तक जडात्मा बनकर मैं गाढ़ निद्रा में सोया हुआ था । अब मन की तीव्रतर वैराग्यरूपी प्रसन्नता से जाग गया हूँ ॥२॥ हे भगवन्, मैं मन के महाभयंकर रोग काम से पीड़ित हूँ, अज्ञान की वृत्तियों दुर्वासनाओं से क्षुब्ध हूँ । मेरे समस्त कर्म दुरुच्छेद्य हैं । अतः अनात्मा में आत्माभिमानाकार से स्थित मोह से मेरा शीघ्र उद्धार कीजिये ॥३॥

विद्याधर तो सम्पूर्ण विद्याओं के आश्रय होने से अपने विद्याबल से ही समस्त दुःखों को दूर करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि मणि–मन्त्र–रसायनादि की सिद्धियों तथा अणिमादि ऐश्वर्यों से वे युक्त रहते हैं, यह सुना जाता है, तो फिर यों श्रीसम्पन्न तुममें कामादि दुःख यातनाएँ तथा कातरता और कार्पण्यादि दोष क्यों आकर गिर पड़े ? जिससे कि श्रेष्ठ देवयोनि में उत्पन्न होने से अत्यन्त सबके मान्य होते हुए भी तुम आज निकृष्ट काकयोनि में पैदा हुए भी मेरी शरण आये हो

और मोह से अपने उद्धार का कारण मुझसे पूछ रहे हो ? इस आशंका पर कह रहे हैं।

सम्पूर्ण विद्याओं तथा अनेकविध सिद्धियों आदि श्रीसम्पत्तियों एवं अनेक प्रकार के गुणों से युक्त रहते विद्याधरों में भी अजितेन्द्रिय होने के कारण आत्मज्ञानशून्य होने से काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि दुःख यातनाएँ और कायरता दोष ऐसे शीघ्र गिरते हैं, जैसे लक्ष्मी के आधार विष तन्तुओं से युक्त उग्र पत्तोंवाले कमल के ऊपर तुषार गिरते हैं ॥४॥

ज्ञान का अभाव रहने पर धर्मानुष्ठान में अधिकार न होने से देवयोनियाँ मच्छरआदि योनियों के तुल्य ही हैं। यह सूचित करते हुए अपने वैराग्य के कारणभूत सर्वत्र दोषदर्शन का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

जीर्ण-शीर्ण जीव निरन्तर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। विषयलोलुप वे जीव कमल में मच्छरों के समान न तो धर्म के लिए कोई यत्न करते है न मोक्ष के लिए ही ॥५॥ अत्यन्त तुच्छ सुख के लिए हजारों बार पहले उपभुक्त हुए शब्दादि विषयों से धोखे की टट्टीरूप (ऐसी चीज जो दूसरों को धोखा देकर फँसाने के लिए हो) विषय-इन्द्रियसम्बन्ध द्वारा बार-बार ठगे गये हम बहुत दिनों से दुःखी हैं ॥६॥ कहीं एक जगह मन को स्थिर किये बिना मरुस्थल के सदृश क्षणभंगुर इन भोगों में भ्रमण कर रहे मेरे इस संसारपथ की न तो कहीं चरमसीमा है और न कहीं स्थिरता ही है ॥७॥ भोग की भूमियाँ आरम्भ में आपाततः रमणीय प्रतीत होती हैं। क्षण में ही विलीन हो जाती हैं, उनसे अनेक तरह के संसार उत्पन्न होते हैं, तत्काल ही उनमें विकार पैदा हो जाता है तथा उनका भीषण परिणाम होता है ॥८॥

बहुत अधिक पुण्यों से प्राप्त विद्याधर सम्पत्ति से ही तुम्हें विश्रान्ति क्यों नहीं मिल रही है ? इस आशंका पर कहते हैं।

हे तात, मैं इस तुच्छ विद्याधर सम्पत्ति से सन्तुष्ट नहीं हो रहा हूँ। मैं इसके साथ रमण करना नहीं चाहता, क्योंकि मान और अपमान ही इसमें बड़ी वस्तुएँ हैं। दुष्ट अहंकार से ग्रस्त जीवों के लिए ही यह अच्छी है और विवेकी पुरुषों के लिए सदा प्रतिकूल है ॥९॥

भुक्तभोगी होने के कारण सर्वत्र नीरसता दिखलाते हैं।

जहाँ कल्पवृक्ष-वल्ली द्वारा अनेक तरह की विभव-सम्पत्तियाँ प्रदान की जाती है, वैसी कुसुम के सदृश अत्यन्त कोमल चैत्ररथ की उद्यानभूमियाँ भी मैंने देख ली, यानी वहाँ के समस्त भोगों का उपभोग कर लिया। हे भगवन्, मेरु के कुंजों तथा विद्याधरों के नगरों में मैंने खूब विहार कर लिया। इतना ही नहीं, मैंने सर्वोत्तम अनेक जाति के विमानों एवं वायु के स्कन्धों की भूमियों में यानी शीतल-मन्द सुगन्ध हवा में भी इच्छानुसार विहार कर लिया। हे भगवन्, देवताओं की सेनाओं में, सुन्दर स्त्रियों की भुजलताओं में तथा हारादि से विभूषित कमनीय नायिकाओं के मनोहर विहारचमत्कारों से युक्त लोकपालों की नगरियों में चिरकालतक विश्राम भी मैंने खूब किया। हे तात, मैंने अब यह

भलीभाँति जान लिया कि इनमें कोई भी पदार्थ सुखदायक नहीं है। मानसिक दुःखरूपी विष की उष्णता से सबके सब दग्ध होकर भस्म हुए–जैसे मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥१०–१३॥

किस तरह के विवेकज्ञान से किस–किसका कैसे–कैसे परिज्ञान किया, इसको पहले चक्षु आदि इद्रियों में दिखलाते हैं।

रूप देखने में अति चपल, स्त्रियों के मुख देखने की स्पृहा रखनेवाले तथा बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाशयुक्त नेत्र ने अपने विषयों के सम्बन्ध द्वारा मन को दूषित करने के लिए मुझे भारी दुःख में ढकेल दिया है ॥१४॥ स्त्री के शरीर के यह वस्त्र, आभूषण सिन्दूर आदि ही सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाले हैं, रक्त–मांस आदि नहीं, इस तरह के विवेचन के बिना ही एकमात्र रूप के पीछे–पीछे दौड़ने का स्वभाव होने के कारण नेत्र अवस्तु में भी दौड़ जाता है ॥१५॥ तत्–तत् विषयों में आसक्ति रखने से दूषित हुआ रागान्ध यह चित्त, दीपक के रूप से मोहित प्रेमी पतंग की नाईं सर्वोत्कृष्ट मरण आदि अनर्थ के लिए अपने ईच्छित दुर्व्यसनों की ओर झुककर जब तक नानाविध वध, बन्धन, नरक आदि आपत्तियों के वश में पड़ा रहता है तब तक इसे कहीं भी शान्त नहीं मिलती ॥१६॥

नेत्रों में कहे गये भेदों को घ्राण आदि इन्द्रियों में भी दिखलाते हैं।

हे तात्, इस संसार में अनेकविध अनर्थों के लिए चारों ओर खूब दौड़ रहे इस घ्राण को अश्व की नाईं रोकने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥१७॥ अतिदोषयुक्त कोई प्रबल शत्रु जबर्दस्ती पकड़कर जैसे किसी पुरुष को दुर्गन्धपूर्ण जल बहानेवाले नगर के बड़े पनाले में 'तुम इसी में बराबर घूमते रहो' ऐसा आदेश देकर नियुक्त कर देता है, वैसे ही श्लेष्मादि दुर्गन्ध भरे जल बहा रहे अपने बिल में मुखश्वासानुसारी इस घ्राणेन्द्रिय ने मुझे नियुक्त कर दिया है ॥१८॥ तथा बहुत दिनों से भक्ष्याभक्ष्य के विचार से हीन इस जिह्वा ने पशुओं में सबसे बलवान् हाथियों और सबसे बुद्धिमान् सियारों से सुरक्षित दुःखों के पहाड़ों पर मुझे पर्याप्तरूप से घायल कर रक्खा है ॥१९॥ भगवन्, त्वगिन्द्रिय की स्पर्शलम्पटता को मैं ऐसे रोक नहीं सकता, जैसे ग्रीष्मकाल के प्रदीप्त सूर्य के ताप को ॥२०॥ हे मुने, सुन्दर शब्द का आस्वाद लेने की अभिलाषावाली श्रवण की शक्तियाँ मुझे विषम परिस्थिति में ऐसे ढकेल देती हैं, जैसे कोमल तृण खाने की इच्छाएँ हरिण को तृणों से ढके भयंकर कूप में ढकेल देती हैं ॥२१॥

तो क्या रूप से लेकर शब्दपर्यन्त सभी विषय तुम्हें दुर्लभ थे, जिससे कि उनके लिए तुम्हें अनर्थ प्राप्त हुआ। इस प्रकार नहीं यह कहते हैं।

मुनिवर, आनन्दजनक, नम्र सेवकजनों से प्रेरित, अतएव प्रणतप्राय वाद्य और गाने के शब्दों से मिली–जुली अनेक शुभ शब्दों की शोभाएँ सुन चुका हूँ ॥२२॥ अपने विषयों से सबका मन हरनेवाली तथा मनोहर शब्दोंवाले मणियों के आभूषणों से युक्त श्री, स्त्री, दिशाएँ और समुद्रों एवं

पर्वतों के मैंने अनेक तट देख लिये हैं ॥२३॥ विनीत स्त्रियों द्वारा लाये गये,मधुर आदि रसों के अनेक चमत्कारों से मनोरम, यथायोग्य मिलाने तथा पकाने आदि के चातुर्य के कारण गुणयुक्त सम्पादित षड्रसों का मैंने चिरकाल तक खूब स्वाद चखा है ॥२४॥ रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कान्ताओं, अनेक तरह के हारों, पुष्पशय्याओं तथा शीतल-मन्द-सुगन्ध युक्त पवन का भी मैंने भोगभूमियों में सर्वत्र निर्विघ्नतापूर्वक खूब स्पर्श किया है ॥२५॥ हे मुने, सुन्दर स्त्रियों के मुख, चन्दन, खस, अगुरु आदि औषधियाँ अनेक तरह के फूल तथा ढेर-के-ढेर कपूर,कस्तूरी आदि के मिश्रण इन सबकी मन्द-मन्द बह रही वायु से प्रेरित गन्धों का मैं बहुत अनुभव कर चुका हूँ ॥२६॥ हे मुने, मैंने शब्दादि विषयों का खूब श्रवण, स्पर्श और अवलोकन किया। विविध रसों का खूब आस्वाद लिया, तरह-तरह के फूलों को खूब सूँघा। महर्षे, पुनः पुनः इन विषयों का उपभोग करने से ये सबके सब विषय मेरे लिए सूखे काठ की नाईं बिलकुल नीरस हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में ये विषय तो मेरे लिए एक तरह से वान्ताशनप्राय (वमन को खाने के सदृश) बन गये हैं, अतः हे भगवन् मुझसे शीघ्र कहिये, अब मैं किसका सेवन करूँ ? ॥२७॥ तृण, गुल्म आदि से लेकर ब्रह्मापर्यन्त के परिणाम में दुःखदायक विषयों का मैंने हजारों वर्षों तक अच्छी तरह भोग किया, लेकिन हे भगवन्, फिर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥२८॥ चिरकाल तक निष्कपट राज्य करके, अनेक सुन्दरियों का भोग करके तथा शत्रुओं के सैन्य को खूब चूर्ण-चूर्ण करके भी हे भगवन्, मनुष्य अपूर्व कौन-सा पदार्थ पा जाता हैं ? मेरी समझ में तो उसे नई कोई चीज नहीं मिलती ॥२९॥ भगवन्, जिन हिरण्यकशिपु आदि राजाओं ने तीनों लोक का चिरकाल तक लगातार मनमाना भोग किया तथा जिनके विनाश का साधन इस संसार में कुछ नहीं था, वे सब भी शीघ्र ही भस्मपद को प्राप्त हो गये नामावशेष हो गये ॥३०॥

ऐसी स्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिये, यह कहते हैं।

जिसके प्राप्त हो जाने से फिर कोई दूसरा प्राप्त करने योग्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता, हे मुने, सो कष्टपूर्ण चेष्टा से भी उसकी प्राप्ति में मनुष्य को सदा प्रयत्नशील बनना चाहिये ॥३१॥

चिरकाल तक अनेकविध बड़े-बड़े भोगों का भोग करनेवाले पुरुषों में भी भोगकाल समाप्त हो जाने पर जिन लोगों ने भोग नहीं किया है ऐसे अन्य पुरुषों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं दीखती, यह कहते हैं।

जिन-जिन पुरुषों ने अत्यन्त रमणीय भोगों का चिरकाल तक इस संसार में खूब भोग किया, उन सब पुरुषों के मध्य में किसी के भी मस्तक के ऊपर पैदा हुआ कल्पतरु वृक्ष आज तक किसी से नहीं देखा गया, जिससे कि वह पुरुष उस कल्पतरु की छाया में सदैव पूर्णकाम होकर विश्राम करता रहे और न उसके पैर में आकाश में उड़नेवाला विमान आदि ही कोई पैदा हुआ देखा गया, जिससे कि वह सदा ही सर्वत्र विहार करता रहे ॥३२॥ दुःख से त्याज्य होनेवाली इस विषयरूपी

महाजंगल की पंक्तियों में बहुत दिन पहले ही इन इन्द्रियों ने मुझे ऐसे ठग लिया है, जैसे धूर्त बड़े-बड़े लड़के सुशील छोटे बच्चे को ठग लेते हैं ॥३३॥ शब्दादि विषयरूप भूत ही मन को बाहर खींचकर अपने-अपने भोगों के लिए श्रोत्र आदि भाव से स्थित हैं। इन कष्टदायक इन्द्रियनामवाले अपने विषयरूपी शत्रुओं को आज मैंने अच्छी तरह पहचान लिया। ये विषय और इन्द्रियरूपी शठ शिकारी शून्य संसाररूपी जंगल में सन्तप्त नररूपी मुझ मृग को धोखे से फँसाकर बार-बार आश्वासन दे देकर मार रहे हैं ॥३४,३५॥ जिनकी तालू के अन्दर भयंकर विष भरा रहता है ऐसे इन विषय और इन्द्रियरूपी साँपों से जो नहीं डँसे गये हों, ऐसे दो-तीन मनुष्य भी आज तक इस संसार में मुझे नहीं दीख पड़े ॥३६॥

इन्हें अवश्य जीतना चाहिये, यह दिखलाने के लिए इन्द्रियों का ही शत्रु की सेनारूप से वर्णन करते हैं।

हे तात, इस दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना को जीतने के लिए कमर कसकर जो खड़े है वे ही इस संसार में सर्वोत्कृष्ट योद्धा हैं। यह दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना भोगरूपी भयंकर हाथियों से युक्त है, तृष्णारूपी चंचल वागुरा (हिरन फँसाने का जाल) से युक्त है, लोभरूपी उग्र तलवारों से पूर्ण है, कोपरूपी बरछियों से अंकित है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसमूहरूपी रथों से व्याप्त है, अहंकररूपी सेनापति से सुरक्षित है, चेष्टारूपी घोड़ों से यह भरी है, कामरूपी कोलाहलों से युक्त है और यह शरीररूपी नगर के सीमान्त को चारों ओर से आक्रान्त कर स्थित है ॥३७-३९॥ मतवाले ऐरावत का मस्तक फाड़ देना बिलकुल सरल है, लेकिन हे मुनीश्वर, कुमार्ग में प्रवृत्त अपनी इन्द्रियों को रोक रखना सरल नहीं है ॥४०॥ हे साधो, तत्त्वज्ञानियों की भी अपने पौरुष, महत्त्व, महाधैर्य और विश्रान्तिसम्पत्ति की अवधि इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करना ही है ॥४१॥ मनुष्य तभी तक देवताओं की भी मान्यता को प्राप्त करता है जब तक कि तृण की नाईं अपनी कृपण इन्द्रियों से विषयों की ओर खींच नहीं लिया जाता ॥४२॥ हे भगवन्, जो मनुष्य जितेन्द्रिय और महासत्त्व सम्पन्न हैं वे ही पृथिवी के ऊपर मनुष्य हैं। शेष इन पुरुषों को तो मैं चलते-फिरते मांस के अनेक यन्त्र समझता हूँ ॥४३॥ हे मुने, मनरूपी सेनापति की इन्द्रियपंचकरूपी इस सेना को जीतने का यदि कोई उपाय हो, तो कृपाकर बतलाइये, ताकि मैं भलीभाँति इसे जीत सकूँ ॥४४॥

मुझे तो एक ही उपाय मालूम है, इसे कहते हैं।

भोगों की आशा के त्याग के सिवा इन इन्द्रियरूपी भयंकर रोगों की शान्ति के लिए न तो कोई औषधियाँ हैं, न कोई तीर्थ हैं और न कोई मन्त्र ही दीखते हैं ॥४५॥ विषयों की ओर दौड़ रही इन इन्द्रियों ने मुझे परम खेद में ऐसे पहुँचा दिया है, जैसे महाभयंकर जंगल में अकेले जा रहे पथिक को चोर खेद में पहुँचा देते हैं ॥४६॥

इसके बाद तुल्य विशेषणों द्वारा पल्वल आदि के साम्य से इन्द्रियों का वर्णन करते हैं।

कीचड़ों से पूर्ण, मलिन, महादुर्भाग्ययुक्त, दुर्गन्धसहित शेवालों तथा उसके तुल्य गन्दे पदार्थों से कुत्सित ये छोटी-छोटी तलैया और इन्द्रियाँ एक-सी हैं ॥४७॥ दुरतिक्रमणीय जाड्य और हिमों से गहन तथा अनेक तरह का आतंक पैदा करनेवाले ये जंगल और इन्द्रियसमुदाय एक-से हैं ॥४८॥ पंक से उत्पन्न तथा पंक के उत्पादक, छिद्रयुक्त, अत्यन्त दुर्लक्ष्य गुण (वासना और तन्तु) वाले, गाँठों से समन्वित और जड़ अंगोंवाले ये कमलनाल और इन्द्रिय समुदाय तुल्य हैं ॥४९॥ रुक्ष रत्नलुब्ध, तरंगों से युक्त और दुर्ग्रह ग्राहों से भयंकर, लवणसागर के जल और ये इन्द्रियसमुदाय एक - से हैं (ⓐ) ॥५०॥ बान्धवों को उद्वेग पहुँचानेवाले, अन्य शरीर धारण करानेवाले और करुणा से क्रन्दन करानेवाले ये मरण और इन्द्रियसमुदाय समान हैं ॥५१॥ अविवेकियों के शत्रु और विवेकियों के मित्र, गहन, निरवधि तथा जनविश्रान्तिशून्य ये कानन और इन्द्रियगण तुल्य हैं ॥५२॥ घन आस्फोटवाले असार, मलिन, जड़ और विद्युत् प्रकाशवाले (ⓑ) ये भयंकर मेघ और इन्द्रियसमुदाय तुल्य हैं ॥५३॥ क्षुद्र प्राणियों से गृहीत, महात्माओं से वर्जित तथा रज और तम से अभिभूत (卐) अपनी ये इन्द्रियाँ और कुपथ समान हैं ॥५४॥ नीचे गिराने में अत्यन्त निपुण, दोषाशीविषवाले (ⓒ) तथा रूखे लाखों कण्टकों से (ⓓ) युक्त जीर्ण गड्ढों के मुख और ये इन्द्रियाँ तुल्य हैं ॥५५॥ हे महामुने, अपने पेट पालने में प्रवीण, अनार्य, एकमात्र साहस में निरत और अन्धकार में विचरणशील ये राक्षस और इन्द्रियाँ तुल्य ही हैं ॥५६॥ भीतर में खोखले, असार, वक्र, गाँठयुक्त, एकमात्र जलाने में उपयोगी जीर्ण बाँस आदि की लकड़ियाँ और इन्द्रियाँ एक-सी है ॥५७॥ घनीभूत मोहादि के द्वारा चौर्य, कलह, द्यूत आदि दुर्व्यसनों में प्रबन्धनशील, दुष्टकूपों से गहन तथा महाअवकरों से (ⓔ) तुच्छ असज्जनों के नगर और ये इन्द्रियाँ समान हैं ॥५८॥ अनन्त घटादि पदार्थों में

(ⓐ) सुख स्पर्शवाला न होने के कारण लवणसागर का जल रुक्ष है तथा निष्ठुर होने के कारण ये इन्द्रियाँ भी रुक्ष हैं । रत्नों के लिए लोभी ये इन्द्रियाँ हैं तथा रत्नों से युक्त लवणसागर के जल हैं। काम, क्रोध आदि छः तरंगों से युक्त ये इन्द्रियाँ है तथा अपने तरंगों से युक्त लवणसागर के जल हैं। जिन्हें पकड़ लेना सहज नहीं है, ऐसे अनेक ग्राहों से भयंकर तो लवणसागर के जल है तथा दुराग्रहरूपी ग्राहों से भयंकर ये इन्द्रियाँ हैं ।

(ⓑ) बिजली के समान क्षणभर के लिए सुख का प्रकाश करनेवाली इन्द्रियाँ है तथा बिजली से जहाँ क्षण भर के लिए प्रकाश हो जाता है ऐसे तो ये हैं मेघ ।

(卐) धूलि और अन्धकार से अभिभूत कुपथ हैं और रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत इन्द्रियाँ हैं।

(ⓒ) भुजाओं के समान लम्बे-लम्बे विषधरोंवाले जीर्ण गड्ढों के मुख हैं तथा अनेकविध दोषरूपी साँपोंवाली ये इन्द्रियाँ हैं ।

(ⓓ) विषयरूपी लाखों रुक्ष काँटों से व्याप्त ये इन्द्रियाँ भी हैं ।

(ⓔ) ढेर-के-ढेर कतवारों (कूड़ा-करकटों) से परिपूर्ण होने के कारण असज्जनों के नगर

कारणभूत, भ्रमण और कीचड़ से युक्त ये कुम्हार के चाक और इन्द्रियाँ दोनों समान हैं ॥५९॥

हे आपत्ति से उबारनेवाले भगवन्, इस तरह इन्द्रियों के कारण आपत्ति के सागर में डूबे हुए इस मुझ अकिंचन शरणागत का आप दया करके उपदेश से उद्धार कीजिये, क्योंकि इस संसार में आपके जैसे जो कोई दयावान् बड़े तत्त्वज्ञानी रहते हैं उनकी शरणागति परमशोक नाशक होती है, यों सभी शास्त्र तथा सभी लोग बतलाते है ॥६०॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

ब्रह्म की ही सत्ता है, जगत्‌रूपी दुःख की सत्ता है ही नहीं, यह सारा जगत् अज्ञान के कारण प्रतीत हुआ है तथा अहंकाररूपी बीज से यह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ है- इन सबका वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : हे ब्रह्मन्, तदनन्तर विद्याधर के उन पवित्र वचन को सुनकर प्रश्न के अनुसार मैंने सुस्पष्ट पदों से युक्त वाणी से यह उत्तर दिया ॥१॥ हे विद्याधराधीश, हर्ष का विषय है कि आज तुम कल्याण के लिए भाग्यवशात् जाग गये हो चिरकाल के बाद संसाररूपी अन्धकारपूर्ण कूपकुहर से आज तुम निकलने की चाह कर रहे हो ॥२॥ जिस तरह अग्नि से व्याप्त सुवर्ण द्रव–सन्तति अत्यन्त सुन्दरता से युक्त होकर शोभने लगती है, उसी तरह विवेक से निबिड़रूप को व्याप्त हुई तुम्हारी यह पवित्र बुद्धि किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य से शोभित हो रही है ॥३॥ अतः मुझे विश्वास है कि यह तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणी के अर्थ का बिना किसी प्रयत्न के अवश्य ही आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेगी, क्योंकि निर्मल दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब बिना यत्न के ही पड़ता है ॥४॥ मैं जो कुछ यह कहूँगा, उन सबका तुम 'हाँ' कह करके ग्रहणकर लेना, तुम ग्रहण करने में ही समर्थ हो । मैंने इस विषय में चिरकालतक खूब अन्वेषण किया है, इसमें कुछ भी तुम विचार मत करो ॥५॥

सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच का विवेक हो जाने पर साक्षिरूप शुद्ध ब्रह्म ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है, यही सम्पूर्ण वेदान्तों का रहस्य है, इस बात का संक्षेपरूप से पहले उपदेश देते हैं ।

जो कुछ अहंकार आदि तुम्हारे हृदय में दृश्यरूप से प्रकाशित हो रहा है वह सब तुम नहीं हो । 'दृश्यों में ही कोई आत्मा है उसीको ढूँढ़कर मुझे प्राप्त करना चाहिए' इस तरह अपने हृदय में विचारकर आत्मा का चिरकालतक यदि तुम अन्वेषण करोगे, तो भी तुम आत्मा को प्राप्त नहीं करोगे, इसलिए दृश्यमात्रस्वरूप अज्ञान को छोड़कर तुम दृश्य प्रपंच के साक्षी आत्मा अपने को समझो ॥६॥

जैसे तुच्छ बने रहते हैं वैसे ही ये इन्द्रियाँ भी विषय-वासनारूपी कतवारों से परिपूर्ण होने के कारण अतितुच्छ बनी हैं ।

यह समझना अनुचित होगा कि द्रष्टा और दृश्यरूप सम्पूर्ण प्रपंच का त्याग हो जाने पर शून्यतापत्ति आ जायेगी, क्योंकि सुख–दुःख के वैषम्य के प्रयोजक कल्पित दोषांश की निवृत्ति से वास्तविक परम कल्याणस्वरूप ब्रह्मभाव से परिपूर्ण सभी पदार्थ अवस्थित रहते ही है, इस आशय से कहते हैं ।

न मैं हूँ, न तुम हो और न तो यह सारा संसार ही है, यदि ऐसा तुम निश्चय कर लेते हो, तो बस यह समझ लो कि यह समस्त दृश्यप्रपंच शिवस्वरूप है और न यह तुम्हारे सुख के लिए है और न दुःख के लिए है ॥७॥

ऊपर में जो दृश्यमात्र को अबोधस्वरूप बतला आये हैं, अब उसी का उपपादन करते हैं ।

क्या सुषुप्ति में अहंकारादिभाव से घनीभूत प्रसिद्ध जो अज्ञान है, उसीसे जाग्रत् और स्वप्न स्वरूप यह संसार सारा उत्पन्न हुआ है अथवा पिघले हुए कठिन लोह के समान विलीन हुए जाग्रदादिरूप इस संसार से सुषुप्तिकाल का अज्ञान उत्पन्न हुआ है, इसका बहुत विचार करने पर भी कोई विनिगमक हेतु न होने से कार्यकारणभाव की व्यवस्था हम नहीं समझ रहे हैं । अतः काठिन्य और द्रवावस्था में घृत के एकत्व की नाईं इन दोनों में एकत्व होने से सब कुछ एकमात्र अज्ञानस्वरूप है, यही हमने आखिर में निश्चय किया है ॥८॥

यह सारा जगत् ब्रह्म का विवर्त है, इस तरह इस जगत् में ब्रह्मविवर्तता का अवलोकन ही त्याग है । बाधित हुए जगत् को तुच्छ समझने से तो कोई भी ब्रह्मस्वरूप सिद्ध नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानरूपतापत्ति की भावना करने पर तो सम्पूर्ण पदार्थ ही ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं; यह कहते हैं ।

मृगजल के समान यह सारा विश्व अवस्तुरूप होने के कारण सद्रूप से प्रतीत होने पर भी असद्रूप है । जो कुछ भी भासित हो रहा है वह सब ब्रह्मरूप ही है अथवा यों कह सकते हैं कि यह सारा दृश्यप्रपंच कुछ भी नहीं है या कुछ है ही ॥९॥

उक्त अभिप्राय को विशदरूप से बतलाते हुए उसके प्रतिभास का भी खण्डन करते हैं ।

मृगजल के समान यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है अथवा कुछ है ही । प्रतिभास्य के अभाव से यहाँ प्रतिभास भी नहीं है (卐) अतः एकमात्र शिवस्वरूप ही यह सारा विश्व स्थित है ॥१०॥

इस अनन्तरूप जगत् का प्रातिस्विकरूप से निरास न हो सकने से उसके बीज के दाह से ही उसका निरास हो सकता है, यह कहने के लिए अहंकार का जगद्रूपी वृक्ष के बीजरूप से वर्णन करते हैं ।

हे विद्याधर, इस अहंकार को तुम विश्व का बीज समझो । क्योंकि एकमात्र इस अहंकार से ही

(卐) तात्पर्य यह है कि जैसे घट का अभाव रहने पर प्रकाश के रहते हुए भी घटप्रकाश नहीं रहता, वैसे ही प्रतिभास्य का अभाव रहने पर प्रतिभास भी नहीं रह सकता ।

पर्वत, सागर, पृथ्वी, नदी आदि के सहित यह जगद्रूपी पुराना वृक्ष उत्पन्न होता है ॥११॥ सूक्ष्म अहंकाररूपी बीज से वह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और इन्द्रियों के विषयों में आसक्तिरूपी रस से परिपूर्ण नीचे के वन उस वृक्ष के मूल हैं ॥१२॥ अश्विनी आदि सत्ताईस तारे इसकी प्रधान कलियाँ हैं, अन्य तारों के समूह इसके अन्य कलियों के समूह हैं, प्राणियों की धर्मादिवासनाएँ इसके फूलों के गुच्छों के समूह हैं और पूर्ण चन्द्र फलका गुच्छा है ॥१३॥ महान् लोगों के स्वर्ग आदि लोकवर्ग इसके महान् शाखा समूहों के गर्भप्रदेश है। मेरु, मन्दर, सह्य आदि पर्वत इसकी पत्तों की पंक्तियाँ हैं ॥१४॥ सातों समुद्र इसके आलबालपरिखा (चारों ओर के थाले) हैं, पाताल इसका मूल कोटर है, सत्ययुग आदि चारों युग इसके घुणसमूह (संधि स्थान) हैं तथा प्रत्येक युग के वर्ष, ऋतु और मास आदि इस वृक्ष के पोर (कीड़े) हैं ॥१५॥ अज्ञान ही इसकी उत्पत्ति की भूमि है, अनेक जीव इसके करोड़ों पक्षी हैं, भ्रान्तिज्ञान ही इस वृक्ष का स्तम्भ है यानी सम्पूर्ण शाखाओं के आधारभूत मध्यभाग है तथा तत्त्वबोध से प्रपंचनिवृत्तिरूपी मोक्ष ही इसे जलाने के लिए दावाग्नि है ॥१६॥ इन्द्रियों से अर्थों की उपलब्धि यानी विषयों का साक्षात्कार एवं मन से होनेवाले संकल्प और विकल्प आदि इस वृक्ष के अनेक तरह के सुगन्धप्रसार हैं। अव्याकृत आकाश इसका विपुल वन है तथा नेत्र, ओष्ट आदिका विकार ही इसके शुक्तिजाल-जैसे फूलों का खिलना है ॥१७॥ सब ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसों दिशाएँ उपशाखाएँ हैं, आत्मसंवित् इसके जीवन के लिए रस की धारा है और सूत्रात्मा ही इसका वात स्पन्द है ॥१८॥ प्रतिदिन उदय और अस्त में तत्पर चन्द्र और सूर्य की चंचल किरणें ही इसकी रम्यकुसुम मंजरियाँ हैं और सूर्य के साथ भ्रमण कर रहा अन्धकार ही भ्रमण कर रहे भ्रमर हैं ॥१९॥ इस तरह का यह संसाररूपी वृक्ष मूल से (जड़ से) पाताल को, मध्य से सभी दिशाओं को और अपने मस्तक से अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करके वस्तुतः असद्रूप होने पर भी सद्रूप-सा स्थित है। उस अनहंभावरूपी अग्नि से उसका अहंकाररूपी बीज भुन दिये जाने पर जब तक इस शरीर का पतन नहीं हो जाता तब तक जीवन्मुक्तिभोग के लिए प्रतिभास के विद्यमान रहते हुए भी इसके संसाररूपी वृक्ष का जन्मादि के द्वारा पुनः प्ररोह नहीं हो सकता यानी फिर यह अंकुरित नहीं हो सकता ॥२०॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

इस संसाररूपी वृक्ष का ज्ञान से उच्छेद तथा यह संसार संकल्पमण्डप के सदृश है, इसका वर्णन।

पूर्वोक्त संसाररूपी वृक्ष का पुनः वर्णन करते हैं।

भुशुण्डीजी ने कहा : हे विद्याधर, जिसका मूलभाग नीचे के सात लोकसहित यह पृथिवी है, इसकी आलबालसहित वेदि लोकालोकान्तर पर्वतों की कन्दराएँ हैं और जो दसों दिशाओं और

आकाश में तिरछे शाखाओं के विस्तार तथा उसकी ओर शाखाओं के प्रसार से एवं तत्-तत् स्थानों में प्राणियों के जहाँ-तहाँ घूमने से अतिचंचल है, इस तरह का यह संसाररूपी वृक्ष अहंकाररूपी बीज से उत्पन्न होता है । ज्ञानरूपी अग्नि से बीज के दग्ध हो जाने पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता ॥१,२॥ रत्न की परीक्षा की नाईं तत्त्वदृष्टि से यह क्या है, इसका अच्छी तरह विचार करके 'यह केवल ब्रह्म ही है' यह निश्चय करने पर वह अहंकार कदापि कहीं नहीं रहता, बस यही वह ज्ञान है । इसीसे अहंकार दग्ध होता है ॥३॥ शरीर आदि में अहंभावना करने से संसार का बीज अहंकार रहता है सर्वत्र अहंभाव करने से वह नहीं रहता, यही सर्वोत्तम ज्ञान है ॥४॥

सत् या असत् से जिसकी उत्पत्ति की ही संभावना नहीं है उसकी स्थिति ही कहाँ से हो सकती है, वह तो बहुत दूर कहीं भगा दी गई है, ऐसा कहते हैं ।

वस्तुतः जब सृष्टि के प्रारम्भ में ही इस सृष्टि के अभाव का योग है तब कहाँ से अहन्ता, कहाँ से त्वन्ता और कहाँ से हो सकता है द्वित्व एकत्व का भ्रम ?॥५॥

यह संसार तीनों काल में वस्तुतः है ही नहीं, इस पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिए संकल्पद्यूतमण्डप का आगे चलकर वर्णन करने की इच्छा कर रहे भुशुण्डजी महाराज पहले भूमिका बाँधते हैं ।

आगे चलकर वर्णित होनेवाले तथा पूर्व में वर्णित हो चुके मूलसहित संकल्प का त्याग करने के लिए उसका उपायक्रम बतलानेवाले गुरु के वाक्य सुन उस गुरु द्वारा कहे गये क्रम से जो अपने प्रयत्न द्वारा स्वयं यत्न करते हैं वे तत्त्वज्ञानप्राप्ति के बाद संकल्परहित कैवल्यनामक परमपद को जीत लेते हैं ॥६॥ जैसे पाचक अपने पाक शास्त्र का भलीभाँति अभ्यास कर लेने पर उस पाक शास्त्र में वर्णित विधि से ही नाना प्रकार के भक्ष्य-भोज्य पदार्थों एवं नाना तरह के रसायनों का पाक बनाने से क्षुधा, तृष्णा, रोग, जरा आदि के ऊपर विजय प्राप्त करता है वैसे ही विवेकी पुरुष गुरु-शास्त्रोक्त मार्ग से अपने प्रयत्न द्वारा ही कैवल्यपद को प्राप्त करता है, दूसरी रीति से नहीं ॥७॥

यह सारा संसार स्वप्न एवं इन्द्रजालादि के सदृश अज्ञात चिति का चमत्कारमात्र है, इस चिति से बाहर कुछ भी नहीं है, यह कहते हैं ।

हे विद्याधर, इस संसार को तुम यहाँ एकमात्र चितिका चमत्कार ही समझिए, उससे भिन्न कुछ नहीं । यह न तो दिशाओं में है, न बाहर है और न भीतर ही कहीं है ॥८॥

यह सारा प्रपंच चिति का एकमात्र चमत्कार ही है, इसका उपपादन करते हैं ।

संकल्प के एकमात्र आविर्भाव से ही यह संसाररूपी चित्र दिखाई देता है और उसके अभाव से इस तरह विलीन हो जाता है, जिस तरह कि चित्रकार के चित्त में चित्र ॥९॥

यह सारा संसार संकल्पमात्र कल्पित है, इस कथन को दृढ़ बनाने के लिए संसार में संकल्पद्यूतमण्डप के आकार की कल्पना करते हैं ।

हे विद्याधर, यह संसार मुक्ता और मणियों से विनिर्मित बड़े-बड़े खम्भों से युक्त तथा सुन्दरसुवर्ण से चित्रित लाखों योजन में बहुत दूर तक विस्तृत संकल्पकल्पित एक महामण्डप है ॥१०॥ यह हजारों मणिमय खम्भों से घिरा है, जिसके अग्रभाग में नीचे मुँह करके पिरोये गये सुमेरु की नाईं गुग्गुल लगे हुए हैं। यही कारण है कि कहीं-कहीं हजारों इन्द्रधनुष से व्याप्त-जैसा तथा कहीं-कहीं प्रलयकालीन संध्या के मेघों जैसा यह सुन्दर दिखता है ॥११॥ जिसके भीतर इधर-उधर निवास कर रहे स्त्री, बालक तथा पुरुषों की क्रीड़ा के लिए पाताल, स्वर्ग एवं अन्य लोकों के आकार की पिटारियाँ स्थापित की गई है, जो बीच-बीच में जहाँ-तहाँ अनेकविध नदियों, पर्वतों, जंगलों, हाथियों, घोड़ों, देवताओं, पक्षियों तथा मनुष्यों आदि की तरह-तरह की रचनाओं से युक्त है, वे पिटारियाँ कहीं प्राणियों तथा उनके उपभोग की वस्तुओं से ठसाठस भरी हैं, कहीं अन्धकार के विघातक मणियों, प्रदीपों, सूर्य और चन्द्र आदिकों के द्वारा व्यवहार चलने से शब्दयुक्त हैं एवं कहीं अन्धकारों तथा कहीं प्रकाशों से उनकी विचित्र तरह-तरह की संज्ञाएँ पड़ी हैं ॥१२,१३॥ क्रीड़ा लक्ष्मी के आकारभूत जिस मण्डप के भीतर स्त्रियों के श्रृंगार के लिए कर्णफूल आदि अलंकार प्रदान करनेवाले, सुगन्ध से रमणीय, चंचल मेघपंक्तिरूपी पल्लवों से युक्त अनेक कल्पवृक्ष लगाये गये हैं ॥१४॥ छोटे-छोटे बच्चों के निःश्वास से भी उड़ जानेवाले जहाँ पर कुलपर्वत गेंद बनाये गये हैं और शरत्काल के मेघ ही जिनके हाथ में चँवर धरा दिये गये हैं ॥१५॥

हे विद्याधर, जिस मण्डप में कल्प के अन्तकाल के मेघों ने पंखों के स्थान दखल कर लिये हैं। जहाँ यह सम्पूर्ण भूतल जुआँ खेलने का एक मेज है, जहाँ तारों के सहित आकाश चाँदनी है ॥१६॥ जिस मण्डप के भीतर आकाशरूप चौक में जहाँ संसार के आविर्भाव और तिरोभाव प्रतिरूप दाँव लगाये जा रहे हैं और खेलनेवाले ब्रह्मादि मण्डपस्वामियों के जिस जुएँ में चार प्रकार के जीवसमुदायोंरूपी शारिफलों (शतरंज के मोहरों) का बार-बार जन्म-मरण आदि के द्वारा भ्रमण हो रहा है तथा सूर्य, चन्द्र आदि नवग्रह ही जहाँ पाशे है ॥१७॥ इस तरह संकल्प करनेवाले का संकल्प ही अन्तःकरण में चिरकाल की भावना से जैसे सामने स्थित दृश्य के तुल्य एक तरह से सत्यता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही विधाता के संकल्पों से सुसमुत्थित यह जगद्रूपी मण्डप चिति का एकमात्र चमत्कारस्वरूप चित्रकार के चित्त में बनाये गये चित्र के तुल्य है ॥१८,१९॥ जो कुछ यहाँ स्फुरित हो रहा है वह सब असत्यरूप ही है। वह प्रतिभास से सत्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थरूप से तो बिलकुल है ही नहीं। यह असत् ही उत्पन्न हुआ है; न जाने कहाँ से माया के हाथी, घोड़े की नाईं यहाँ उत्पन्न हो गया है ॥२०॥ जैसे सुवर्ण में कटक आदि है वैसे ही जिसने अपने उदरकोटर में संसार को धारण कर रखा है ऐसा यह चिति का चमत्कार ही सब कुछ है तथा संकल्प-विकल्प न करने से ही इसका नाश होता है ॥२१॥ इस तरह इस संसार की उत्पत्ति और नाश तत्त्वज्ञानियों की अपनी इच्छा के अत्यन्त

ही अधीन है यानी तत्त्वज्ञानियों के अपने ऐच्छिक विकल्पों से इसका आविर्भाव तथा अविकल्पों से तिरोभाव होना अत्यन्त ही अपने अधीन है इसलिए हे विद्याधर, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो। जो पुरुष अन्न पानादि ऐहिक भोगसामग्रियों में तथा दान, यज्ञ आदि पारलौकिक भोगसामग्रियों में फलों की अनभिसन्धि को प्राप्त हो चुका है यानी जो पुरुष इसलोक तथा परलोक के कर्मफलों की इच्छा से शून्य हो चुका है वह कर्मों का कभी त्याग नहीं करता यानी फलप्राप्ति की इच्छा से शून्य होकर वह कर्म करता ही चलता है। हे विद्याधर, ऐसे उस पुरुष का यह अन्तिम जन्म समझिए ॥२२॥

विवेकज्ञानप्राप्ति से ही तुम्हें मुक्ति अवश्य मिल सकती है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ, यों पुनर्जन्मादि की संभावना से भयभीत हुए उस विद्याधर को आश्वासन देते हैं।

हे शुद्धबुद्धे, अपने पतन के हेतुभूत अविवेक पद की अपेक्षा न करके तीनों जगत् को पवित्र करनेवाली इस दूसरी पुण्यमय विवेक पदवी को तुम प्राप्त हो चुके हो, अतः इस मन से तो तुम फिर अधःपतन में नहीं गिर सकते हो, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। इसलिए तुम वाणी और मन की चेष्टा से शून्य निर्मल चिन्मात्रपद का अवलम्बन करके मन आदि इस दृश्यसमूह का परित्याग कर दो ॥२३॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

चिति के अधीन जगत् का उदय, ध्वंस, सत्ता, स्फूर्ति तथा परिवर्तन है और
यह सारा विश्व चिन्मात्र चिति का स्फुरण है – यह वर्णन ।

'हेम्नीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः'। चिच्चमत्कार एवायमविकल्पन संक्षयः ॥ (नि.प्र.उत्त. सर्ग ८।२१) यह जो कहा गया है सो, इन दोनों का अनुभव कराने की इच्छा कर रहे भुशुण्डजी अविकल्प की रीति का सबसे पहले उपदेश दे रहे हैं।

हे निष्पाप विद्याधर, विषयों तथा विषयों में रहनेवाले क्रिया, गुण, दोष आदि के प्रकाशक चिद्रूप का तनिक भी स्मरण न करते हुए तुम निर्मल जल में प्रविष्ट सूर्य की किरणों की नाईं सर्वविध तापशून्य प्रकाशमात्रावशेष होकर बैठे रहो ॥१॥

'संसारोदरकोटरः' चिच्चमत्कार एवायम्' इसका भी उपपत्तिपूर्वक अनुभव कराते हैं।

जाड्यदुःखपरिणामित्वादिरूप अपना चिति का असादृश्य रहने पर भी तत्सदृश यह सारा दृश्य प्रपंच चेतना के कारण ही चेतन के भीतर, समुद्र में अग्नि के सदृश विद्यमान है, अन्यत्र नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि अन्यत्र यह विद्यमान होता, तो उससे असम्बद्ध चेतना के द्वारा इसका प्रकाश कभी नहीं होता और ऐसा कोई पदार्थ है नहीं, जो अचेत्यमान सिद्ध हो सके तथा चेतना सक्रिया भी

नहीं है, इससे कि अन्यत्र विषयों में जाकर चैतन्य प्रदान कर सके। यदि वह चेतना सर्वगत मान ली जाती है, तब तो हे विद्याधर, हमारी प्रतिज्ञा सिद्ध हो चुकी, यह तुम समझ लो ॥२॥

इस तरह सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच की देशतः स्थिति चिति के अन्दर सिद्धकर अब उसे कालतः सूचित करते हुए चिति की कार्यता सिद्ध करते हैं।

चिति अपनी चेतनाशक्ति से सचेतन और अचेतन पदार्थों की पूर्व के ही समान हेतु (विवर्तोपादान) ऐसे हैं, जैसे कि अग्निज्वाला के विनाश और उत्पत्ति का हेतु पवन है। तात्पर्य यह है कि चिति का विवर्त ही चिति का चमत्कार है ॥३॥

इसमें 'अहम्' इस सचेतनांश के त्याग द्वारा ही सचेतन और अचेतन दोनों अंशों के त्याग की सिद्धि हो जाने से चिन्मात्र की अवस्थिति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं।

अहम्पदार्थ कुछ नहीं है, यों अहंकार के आस्पद अंश का बाध करके प्रत्यक् चिद्रूप को शेष रखकर विकल्प के हेतुओं के क्षय से ही विकल्पनिर्मुक्त पूर्णचिति में तुम्हारी विश्रान्ति हो जाय। शेष बचे प्रारब्ध का क्षय होने पर तो जिस रूप से स्थित रह सकते हो, उसी रूप से तुम स्थित रहो ॥४॥

जल से पूर्ण दूध का जल नष्ट हो जाने पर भी जो रूप शेष रहता है उसी के समान तुम्हारा अनुपम ब्रह्मरूप ही शेषरूप रहता है, यह कहते हैं।

जैसे स्वच्छ जलसमूह के बाहर और भीतर सब जगह जल–ही–जल दीखता रहता है वैसे ही समस्त पदार्थों के बाहर और भीतर चिद्रूप से तुम्हीं स्थित दीखते हो ॥५॥

हे विद्याधर, यह अहंपदार्थ बिलकुल नहीं है, यों अहंकार का त्यागकर यदि तुम्हारा चिद्रूप चिति में पूर्ण ऐक्य को प्राप्त हो जाय, तो बताओ तो सही, तुम्हारे सिवा भला ऐसी प्रकाशित कौन–सी दूसरी वस्तु है, जिससे कि किसी अन्य के साथ ब्रह्मरूप तुम्हारी उपमा दी जाय ? ॥६॥ सुर और असुरों से व्याप्त पाताल, पृथिवी और स्वर्ग की नाईं स्थित एवं प्रीति, हर्ष, क्रोध, युद्ध, जय, पराजय आदि नाना भावों से तथा पलायन, अनुधावन आदि अत्यन्त वेगपूर्वक दौड़ने आदि भावों से व्याप्त तत्–तत् अनुरूप क्रियाकाल से व्याकुल हुआ–सा रंगमय चित्र में लिखित जगत्, दीवार में लिखित मुनिशरीर की नाईं, जैसे व्यापारशून्य ही स्थित रहता है वैसे ही मायाशबल चितिरूपी चित्रकार के द्वारा विरचित यह जगद्रूपी चित्र भी शुद्ध चिदाकाशरूपी दीवार में विकारशून्य अद्वयात्मरूप से ही संस्थित है, जगत्भाव से नहीं ॥७,८॥ अचेतन या चेतन (मिथ्या जगद्रूप या परमार्थ सद्ब्रह्मरूप) जो ही अपने–आप चिति में चित्रित होता है वही सब चेतनरूप हो जाता है। ये दोनों तुम्हारे अधीन हैं, अब इनमें जो तुम चाहो, सो करो–तुम्हारी इच्छा हो, तो समाधि लगाओ या न हो, तो उससे विरक्त हो जाओ ॥९॥ अज्ञानियों की अपेक्षा तत्त्वज्ञानियों में सिर्फ यही विशेषता रहती है कि जैसे मरुस्थल में महानदी आदि के रूप से दिखाई दे रही सूर्य की किरणें मज्जन, मरण आदि का भय उत्पन्न हो जाने पर उनको तैर जाने का कोई समुचित उपाय न सूझने

से मरुस्थल का ज्ञान न रखनेवालों को तट के इधर ही रोक रखती हैं, जिन महापुरुषों को मरुस्थल का असली ज्ञान हो चुका है उन्हें नहीं। उन्हें तो स्वच्छ भासती हैं; वैसे ही एक के विज्ञान से तत्त्वतः सबका विज्ञान हो जाने पर तत्त्वज्ञानियों को, चिदाकाश में स्फुरित हो रही ये चिति की चमत्कृतियाँ कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाती। उन्हें तो बिलकुल स्वच्छ मालूम पड़ती हैं, किन्तु अज्ञानियों को तो अवश्य ही बाधा पहुँचाती हैं ॥१०॥

अज्ञानियों को तो बाधा पहुँचाती ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

तिमिर रोग से आक्रान्त नेत्रोंवाले पुरुषों को आकाश में जैसे केशोण्ड्रक आदि स्फुरित होते हैं, वैसे ही संसार में ही अवस्थित रहनेवाले अज्ञानी पुरुषों को यह जगद्रूप स्फुरित होता है *(ज्ञानी पुरुषों को नहीं, वे तो सबको ब्रह्मरूप से ही देखते है)* ॥११॥

मरुस्थल में सूर्य की किरणों की नाईं यह जो ऊपर का दृष्टान्त बतलाया गया है उसका दूसरी रीति से भी वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं।

हे विद्याधर, यों 'तुम और मैं' इत्याकरक अवबोधस्वरूप यह जगत् आभासमात्र यानी पूर्ववर्णित चिति का एकमात्र चमत्कार ही है, अतः यह अज्ञानियों की दृष्टि से ही उत्पन्न हुआ है, ज्ञानियों की दृष्टि से नहीं। एकमात्र सूर्य की किरणों से जिसकी रचना हुई है ऐसे गन्धर्वनगर के समान इस व्यवहारभूमि में दीवारआदि जगत् है। जगद्रूप से तो यह सब आकाश में लता की नाईं बिलकुल सत्य नहीं है। *(अतः यह जगत् चिति का निरोधक नहीं है। हे विद्याधर, मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस तरह चिति की अपरिच्छिन्नता सिद्ध हो चुकी है)* ॥१२॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

निर्विकार और कारणशून्य ब्रह्म ही यह सब स्थित है,यह जगत् कभी कहीं नहीं था, यह वर्णन ।

ब्रह्म में जगत् का अपलाप सिद्ध करने के निमित्त उसकी जड़ता का खण्डन करने के लिए जड़रूप से अभिमत जगत् की चिद्रूपता का अनुभव कराते हैं।

हे विद्याधर,चेतन से भिन्न माने गये इस जगत् के स्फुरण को तुम चेतन से ही उत्पन्न जानो क्योंकि चेतनता स्फुरणरूप ही होती है (🔔)। जैसे जल में प्रतिबिम्बित अग्नि जल से भिन्न नहीं है वैसे ही यह जगत् भी चेतन से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। अतः चैतन्य और जाड्य ये दोनों तनिक भी भिन्न नहीं हैं यानी जल की शीतलता से अलग प्रतिबिम्बभूत अग्नि की गरमी की नाईं चैतन्य से तनिक भी अलग जाड्यनाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है ॥१॥

(🔔) तात्पर्य यह है कि यदि वह जगद्रूप स्फुरित होता है, तो फिर वह चेतन ही है, चेतन से इतर नहीं है ।

एकमात्र जाड्य के अपलाप से ही जगत् का अपलाप सिद्ध करके विक्षेपशून्य होकर स्थित रहो, यह कहते हैं।

इसलिए हे विद्याधर, ज्ञान और अज्ञान में अभेद होने से परिच्छेदशून्य चित्रकार के चित्त में बने हुए चित्रस्थ उसके ज्ञान या गन्धर्वनगर के अधिष्ठान आकाश के मध्य के समान स्वस्थ स्थित रहो ॥२॥

'प्रलयकाल में भी अचिद्रूप जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में स्थित रहता ही है' जो श्रुति और स्मृति में वचन मिलते हैं वे मायाशबल के सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण असत्यपदार्थों में भी ब्रह्मसत्ता की आरोप दृष्टि से ही व्यवहृत हुए मिलते हैं, जैसे कि भविष्य में उत्पन्न होनेवाले जल के स्वल्प फेन में वर्तमानकाल में उपस्थित जल की सत्ता से सत्ताव्यवहार मिलता है, इसी अभिप्राय से कहते हैं।

सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म में अचित्त्व उसी तरह रहता है, जिस तरह अक्षुब्ध निर्मल जल में भविष्यत् फेनलव ॥३॥

वास्तविक दृष्टि से तो माया के असत्त्व होने के कारण निर्विकार अद्वितीय वस्तु में किसी तरह का क्षोभ और उसका हेतु न होने से जड़ सृष्टि की उत्पत्ति की संभावना ही नहीं है, यह कहते हैं।

कारण के बिना जैसे जल में फेन का लेश उदित नहीं होता, वैसे ही कारण के बिना ब्रह्म से सर्ग आदि भी उदित नहीं होता ॥४॥ तथा इस सृष्टिरचना में अकारण ब्रह्म में कोई कारण नहीं है। जगत् आदि कुछ भी इससे न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है ॥५॥ कारण का अत्यन्त अभाव होने से जगत् आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। मरुस्थल में जल की नाईं सामने देखा गया भी यह जगत् सर्वथा है ही नहीं ॥६॥ अज, शान्त और अनन्त ब्रह्म ही सब कुछ है, अंतःकरण का अभाव होने से यह निश्चित हो गया है कि सर्गबुद्धि भी नहीं है। चूँकि यह जगत् इत्यादि कुछ भी नहीं है, इसलिए यह सिद्ध है कि एकमात्र अखण्डित ब्रह्म ही सब कुछ है ॥७॥ इसलिए हे विद्याधर, तुम शिला के उदर के समान तथा आकाशकोश के सदृश हो। ब्रह्मैकघनस्वरूप होने के कारण तुम अज और अवयवरहित भी हो ॥८॥ हे विद्याधर, तुम ज्ञानरूप हो, किसी एक विशेषरूप का निश्चय न होने से सबमें अनुगत सत्तासामान्यस्वरूप होने के कारण तुम किंचिद्रूप तो अवश्य ही हो तथा विशेष का बाध होने पर सत्तासामान्य की भी निवृत्ति हो जाने से एवं एकरूप का निश्चय हो जाने से किंचिद्रूप भी नहीं हो। हे विद्याधर, बुद्धि तथा चिदाभासशून्य इस आत्मा में अपने–आप शान्त हो जाओ ॥९॥

प्रयोजन की अपेक्षा न चाहने से भी यह सृष्टि नहीं है, यह कहते हैं।

अज परमात्मा के नित्यानन्दस्वरूप होने के कारण कार्यसम्पादन करनेवाला कोई कारण नहीं है क्रिया निमित्त कोई फल नहीं है। इसलिए सृष्टि आदि का संभव न होने पर जो कुछ है, वह सब अज शिवस्वरूप ही है ॥१०॥

इस तरह तत्त्वदृष्टि से नित्यमुक्तता की सिद्धि का उपपादन करके इसका स्वीकार न करने पर मूर्खों में नित्यबद्धता की प्रसक्ति अनिवार्य होगी यानी मूर्ख सब नित्यबद्ध अवश्य रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं, यह कहते हैं।

अपनी मूर्खता में विलास करनेवाले जिन जीवों की दृष्टि में अजन्मा चिद्रूप नहीं है उनके लिए सृष्टि के नाश या उत्पत्ति के विषय में क्या विचार किया जाय। तात्पर्य यह है कि अनिर्मोक्ष दोष की सत्ता बनी रहने से उनके विषय में मोक्षोपाय की चिन्ता बिलकुल व्यर्थ है ॥११॥

अर्धप्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि से जैसी संसार की स्थिति रहती है, उसे कहते हैं।

जहाँ-जहाँ पर ब्रह्म है वहाँ-वहाँ जगत् के शब्दार्थरूप से शून्य इस तरह अनेकों जगत् हैं ही ॥१२॥ तृण, काष्ठ, जल और दीवार में सर्वत्र ही परब्रह्म स्थित है तथा सभी जगहों में सृष्टि का समूह परस्पर गुँथा हुआ स्थित है ॥१३॥

तब तो ऐसी दशामें ब्रह्म का मिथ्यासर्ग ही स्वभाव कहिये, हानि क्या है इस आशंका पर 'नहीं' यह कहते हैं।

ब्रह्म का क्या स्वभाव (♠) है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्त परम ब्रह्मतत्त्व में स्वत्व और अस्वत्व दोनों का रहना अत्यन्त असंभव है ॥१४॥

व्यावर्तक में 'स्व' शब्द का असंघटन कहकर 'भाव' शब्द का असंघटन भी दिखलाते हैं।

अभाव की अपेक्षा रखनेवाले 'भाव' का भी सम्भव न होने से अनन्त परब्रह्म में स्वभाव आदि दुरुक्तियाँ अपना पैर नहीं जमा सकती ॥१५॥

व्यावर्त्य पदार्थ की प्रसिद्धि न रहने से भी 'स्व' और 'अभाव' इन दोनों पदों का संघटन नहीं बैठता, यह कहते हैं।

नित्य, अनन्त परब्रह्म में अस्वत्व और अभाव इन दोनों का अत्यन्त सम्भव न होने से स्वतःसिद्ध अव्यावर्तक स्वत्व और भावों में व्यवहृत स्वभाव शब्द का प्रयोग लोक में नहीं बैठता। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वभाव शब्द का जो तात्त्विक अर्थ है वह लोक में बिलकुल नहीं घटता ॥१६॥

जिस तरह ब्रह्म में सृष्टि आदि की सिद्धि न होने से वह अद्वय सिद्ध होता है उसी तरह प्रत्यगात्मा जीव में भी अहन्ता आदि की सिद्धि न होने से वह अद्वय सिद्ध होता है, यों दोनों तरह से विचार होने पर अखण्डता ही सिद्ध होती है, इस आशय से कहते हैं।

हे साधो, बुद्धि से विचारकर देखने पर तो अहन्ता कहीं उपलब्ध नहीं होती है। बच्चे के सामने वेताल के सदृश असद्रूप ही यह कहीं से आ टपकी है ॥१७॥ अहन्ता के शब्दार्थों से मुक्त जो

(♠) अपना जो व्यावर्तक धर्म है उसे स्वभाव कहते हैं। उस स्वभाव की धर्मता अस्वभाव के व्यावर्तकरूप से ही कहनी पड़ेगी, इसलिए यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म का क्या स्वभाव है, क्योंकि उसमें स्वत्व-अस्वत्व नहीं है।

उपलब्ध होता है वह परब्रह्म ही है तथा अहन्ता के शब्दार्थों से युक्त जो उपलब्ध होता है वह शास्त्र और आचार्य के अनुभव से परीक्षा करके तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो विलीन हो जाता है ॥१८॥

इस दृष्टि से जैसे जाड्य चित्स्वभाव को प्राप्त है वैसे ही जीव और जगत् का भेद भी अभेदस्वरूपता को ही प्राप्त है, यही दिखलाने के लिए सुवर्ण और कटक में अभेद दृष्टान्त पहले अनेक बार कहे जा चुके हैं, इसी अभिप्राय से अब उपसंहार भी करते हैं।

जगत् और ब्रह्मदृष्टि में जो भेद प्रतीत हो रहा है वास्तव में वह अभेद ही है। जगत् और ब्रह्म ये दोनों पर्यायशब्दों के अर्थविलास के तुल्य हैं। 'राहू का सिर' इस व्यपदेश के सदृश संकल्पमात्र ही इस भेद को विद्वानों ने कहा है, सत्य नहीं कहा है। जैसे सुवर्ण और कटक में अभेद है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म इन दोनों में अभेद है ॥१९॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

इन्द्रियों को जीतकर पूर्ण ब्रह्म परमात्मा में मन की स्थिति तथा
देह आदि दृश्य पदार्थों में अनात्मभावना दृढ़ करनी चाहिए, यह वर्णन ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, वस्त्रों से न ढके अपने शरीर में लगे हुए शस्त्रों के आघात और तरुणी के स्तन आदि अंगों का अनुभव करके भी जो बुद्धिमान् पुरुष बिलकुल समभाव में स्थित है वही परमपद में स्थित है। तात्पर्य यह कि जब तक वैसी स्थिति नहीं आ जाती तब तक मनुष्य को इन्द्रियों के ऊपर विजयप्राप्त करने की दृढ़ चेष्टा और आत्मनिष्ठा से विरत नहीं होना चाहिए ॥१॥

इसी अर्थ को स्पष्टरूप से कहते हैं।

बड़े धैर्य के साथ अपने पुरुष प्रयत्न के द्वारा मनुष्य को तब तक इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए, जब तक कि शस्त्र और कान्ता, आदि बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हो रहे विकारों को मिथ्यात्व बुद्धि से दूर फेंककर एकमात्र स्वात्मसुख विश्रान्तिरूप सुषुप्तता नहीं उदित हो जाती ॥२॥

मानसिक पीड़ाओं का संस्पर्श न होना ही दृढ़ तत्त्वज्ञान का लक्षण है, यह कहते हैं।

यथार्थ परमात्मतत्त्व को जाननेवाले पुरुष को सामने उपस्थित भी मानसिक पीड़ाएँ (卐) तनिक भी ऐसे नहीं लिप्त कर पाती जैसे कमल को जल नहीं लिप्त कर पाते ॥३॥ आकाश के सदृश स्वच्छ विविध प्रकार के चमकते हुए शस्त्रों तथा देदीप्यमान अनेक स्त्रियों के असंवित् में – शरीर में खूब संलग्न हो जाने पर भी (चिपक जाने पर भी) उन्हें असंलग्न–सा जो

(卐) जैसे कि शुक्ति में यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति ही है, यह यथार्थ ज्ञान हो जाने पर उस शुक्ति में रजत के लाभ या हानि जनित किसी तरह की मानसिक पीड़ा नहीं देखी जाती, यह भाव है ।

शान्तात्मा देखता है, वही यथार्थ में देखता है यानी उसीको सचमुच यथार्थ में साक्षात्कारी ज्ञानवान् समझना चाहिए ॥४॥ जैसे विष अपने ही स्वरूप में घुण (कीड़ा) आदि विकारभाव को प्राप्त होता है और वह घुणता भी विष से अन्य कोई पदार्थ नहीं होती, वैसे ही अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए ब्रह्म भी स्वतत्त्व के एकमात्र परिज्ञान से नष्ट हो जानेवाली जीवरूपता को यानी जीवाकार विवर्तन को प्राप्त होता है। कहने का मतलब यह कि जीवता कोई ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है ॥५,६॥ अमरणस्वभाव जड़ विष अपने विषस्वभाव को न छोड़ते हुए ही जैसे मरणस्वभाव कीटरूप जीव होता है वैसे ही ब्रह्मचिति भी अपने रूप का त्याग न करती हुई मरणस्वभाव जड़रूप को प्राप्त हो जाती है ॥७॥

घुण की नाईं उत्पन्न हुए जीव की तरह यह सारा संसार भी उत्पन्न हुआ है यह कहते हैं।

विष में कीट के समान ब्रह्म में ब्रह्म से अनन्य होते हुए भी उससे अन्य सदृश भासमान यह सृष्टिरूप दुष्ट घुण भी कहीं से आविर्भूत हुआ है। यद्यपि यह उसी में स्थित उसी का रूप है तथापि उससे अन्य और उसमें स्थित नहीं सा भासता है ॥८॥

कृमि में जैसे विषस्वभावदृष्टि से जन्म और मरण नहीं होते, परन्तु आत्मस्वभावदृष्टि से तो होते ही हैं, वैसे ही जीव में भी ब्रह्मस्वभावदृष्टि से जन्म और मरण नहीं होते, किन्तु जीवस्वभावदृष्टि से तो होते ही हैं, यह कहते हैं।

जैसे विष अपने विषरूपी स्वभाव को न छोड़कर ही अपने अन्दर क्रमशः कृमि होता है तथा विषदृष्टि से न जन्म लेता है और न मरता ही है, किन्तु कृमिदृष्टि से मरता है, जन्म भी लेता है, वैसे ही यह आत्मा ब्रह्म भी ब्रह्मस्वरूप से न जन्म लेता है और न मरता है, किन्तु जीवस्वभाव से जन्म लेता और मरता भी है ॥९॥ देह, इन्द्रिय आदि विषय पदार्थों में अहन्ता-ममता की आसक्ति से अपने स्वरूप को तिरोहित न करके मनुष्य श्रवण, मनन आदि प्रयत्न द्वारा निष्पादित आत्मसाक्षात्कार ज्ञान के प्रयोजनभूत अपने से ही इस भवसागर को गाय के खुर के समान तैर जाता है, न कि मुझे इस संसारसागर से दैव (प्रारब्ध) पार लगायेगा, इस प्रयत्न की उपेक्षा करके ॥१०॥

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों का बाध हो जाने पर परिशिष्ट बचे परम दरिद्ररूपी एक आत्मस्वरूप में भला विश्रान्ति सुख की संभावना ही कैसे ? इस प्रसक्त अवहेलना का निवारण करते हैं।

सम्पूर्ण भावों को मात कर देनेवाली समस्त पदार्थों की सार सुखरूपावस्था तथा सांसारिक सभी तापों की निवृत्ति हो जाने से आन्तरिक शीतलता जिसमें विद्यमान है ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वरूप में हे विद्याधर, किस तरह की अवहेलना हो सकती है ? ॥११॥

जीव के मन, अहंकार आदि कलंक की निवृत्ति में उपाय बतलाते हैं।

जागतिक सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता के भीतर सन्मात्रब्रह्मरूप से भावित निर्मल आत्मा में मन,

अहंकार, बुद्धिआदिरूप भला कौन–सा कलंक रह सकता है ? ॥१२॥ जैसे घट, पट आदि पदार्थों को तुम तटस्थरूप से देख रहे हो, वैसे ही हे विद्याधर, अहन्ता आदि का अभिमान छोड़ करके शरीर को पहले तटस्थरूप से देख लेने के बाद तुम अहन्ता, मन, बुद्धि और ज्ञान आदि को भी तटस्थरूप से ही देखते रहो ॥१३॥ तदनन्तर हे विद्याधर, सर्वसाक्षिस्वरूप होकर तुम बाह्य जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों तथा आन्तरिक मन, बुद्धि आदि का अनुभव न करते हुए अपनी स्वाभाविक स्थिति से बैठे रहो ॥१४॥

उस स्थिति में सम्पूर्ण गुण, दोष आदि के विक्षेपों के हेतुओं की शान्ति रहती है, यह कहते हैं।

उस ज्ञानरूप अवस्था में सम्पत्ति या विपत्ति तथा उससे उत्पन्न सुख या दुःख किसी कारण से भी इस संसार में किसी को कभी भी कोई गुण या दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस दशा में कर्तृता के न रहने से भोक्तृता भी नहीं रहती (📖) ॥१५॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

अहंभाव भ्रान्तिमात्र है, जगत् का भ्रम चिति का विवर्त है,
उसकी मूल अविद्या है तथा अविद्या के नाश का क्रम क्या है–इन सबका वर्णन ।

अविद्या ही अहंभावरूपी सूक्ष्मप्रपंचभाव है। उसी की स्थूलरूपता होती है। इस रीति से समस्त विकल्पों के चिति का विवर्तमात्ररूप होने से सबमें एकता दिखलाते हैं।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, आकाश में ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ यों अपने मन से एक दूसरे आकाश की कल्पना कर लेना ही जैसे एक ही आकाश में भेद की भ्रान्ति है, वैसे ही अज्ञात आत्मा में सूक्ष्मप्रपंचात्मक सद्रूप अहंभाव की कल्पना करना एकमात्र भ्रान्ति है ॥१॥

दृष्टान्त में कल्पना करनेवाला तो कोई तीसरा ही पुरुष प्रतीत होता है वह तीसरा कौन है, यह पूछने पर उसे बतलाते हैं।

आकाश में ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ है। इस भ्रान्तिका कल्पक जैसे अहंभाव है वैसे ही अविद्या से आच्छादित होने से असत्–सा प्रतीत हो रहा अतएव शब्दादि से अव्यहार्य आत्मरूप सद्वस्तु ही कल्पक है ॥२॥ जैसे आकाश में अद्वितीय आकाशात्मा ही है, दूसरे आकाश को तो कल्पक पुरुष का संकल्पअवच्छिन्न चिद्रूप अपने संकल्पात्मक शरीर की ही उस रूप में कल्पना करके जानता है वैसे ही चूँकि अविद्या उपहित चिदात्मा अपने अविद्या रूप शरीर की 'मैं और यह' इत्यादि अभिमन्ता और अभिमन्तव्यरूप से कल्पना करके अवभासता है। इसलिए अज्ञान से अन्य न अहंभाव है और न अनहंभाव ही है ॥३॥ इसलिए हे विद्याधर, प्रत्येक को यह समझ लेना चाहिए

(📖) देखो यह श्रुति क्या कह रही है – 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्'।

कि वह चिद्रूप ऐसा है कि जहाँ परमाणु के आगे महामेरु की नाईं आकाश भी अति स्थूल है। सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठानभूत वह ब्रह्म परमसूक्ष्म है । उसी अतिसूक्ष्म ब्रह्मचिति की कल्पना आकाशादि यह स्थूल जगत्-रूप है ॥४॥

उस ब्रह्म की परम सूक्ष्मरूपता का उपपादन करते हैं।

आकाश से भी अत्यन्तसूक्ष्म अज्ञानरूपी अनादि विवर्त है, जो कि आत्मचिति अत्यन्त स्थूल है उस तरह का परमसूक्ष्म चेतन ही 'मैं, 'यह' इत्यादिरूप अनादि वासना से उत्तरोत्तर स्थूल हुए अपने स्वभाव की कल्पना करके जो सब पदार्थों को जानता है वही यह सब सृष्टिरूप से स्थित है ॥५॥ जैसे आवर्त आदि विकार जलद्रव के प्रसार हैं, वैसे ही आत्मा में अहन्ता आदि आध्यात्मिक तथा आकाश आदि आधिभौतिक यह जगत् आत्मचेतन विस्तृत विवर्तरूप है ॥६॥ चिति के विवर्त का अभाव ही प्रलय है, जो निश्चल जलद्रव की नाईं, स्पन्दनशून्य पवन के आकार के सदृश तथा आकाशहृदय के तुल्य है ॥७॥ इस तरह देश, काल आदिजगत् तथा इसके अवान्तर हजारों कार्यरूपी प्रसारों में भी एकमात्र घन, शून्य और निराभास चिति के विवर्त के सिवा अन्य कोई पारमार्थिकरूप उपपन्न नहीं है ॥८॥

इसमें उपपत्ति दिखलाते हैं।

चिति का ही विवर्त होने से काल, आकाश, नौका,जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत् और स्वप्न में यह जगत् उदित के सदृश भासता है ॥९॥

चिति का जगत् के आकार में परिणामस्वरूप वास्तविक प्रसार क्यों नहीं है, इस पर कहते हैं।

आकाश से भी अत्यन्त अधिक स्वच्छ होने तथा संचलन आदि सब तरह विकारों से शून्य होने से चिति का विस्तार और संकोच वास्तव में नहीं होता *(अतएव इस संसार की उत्पत्ति और नाश एकमात्र ज्ञान से ही सिद्ध है)* ॥१०॥

सुख-दुःख आदि भोगों के अनुभवरूप तथा देह आदि में अहंभावरूप विकार तो चिदात्मा में दिखाई देते हैं, यदि यह कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा विषयजनित सुख-दुःख आदि भोगों का अनुभव नहीं करता और न इस आत्मा में यह तथा 'मैं' यह व्यवहार ही रहता है । किन्तु जल में द्रवत्व के समान अद्वितीय आत्मा भीतर अपने कूटस्थ स्वभाव में स्थित हैं। तात्पर्य यह है कि भोगादि विभ्रम चिदाभास को ही होते हैं, कूटस्थ आत्मा को नहीं होते ॥११॥ संकल्पशून्य आत्मा चिन्ता, लज्जा, हर्ष, भय, स्मृति, कीर्ति तथा इच्छा आदि मन की वृत्तियों के हेतु बाह्य विषयों को ऐसे नहीं देखता, जैसेकि अन्धकार में साँप के पैर ॥१२॥ हे विद्याधर, ब्रह्मरूपी चन्द्रबिम्ब से स्फुरित जीव चिदाभासरूपी ज्योत्सना के अंशभूत चाक्षुष आदि ज्ञानमय अमृत का द्रवरूपी जो यह सर्ग है वह परमेश्वर से भिन्न नहीं है, क्योंकि इस सृष्टि के आधारभूत दिशा (देश) और काल इन दोनों का निरवयव

और निष्क्रिय ब्रह्म में रहना संभव नहीं है। दिशा के रहने पर ही मूर्तद्रव्य की क्रिया से सर्गकाल की कल्पना की जा सकती है और वह क्रिया पहले से तो उपस्थित है नहीं। एवं काल के रहने पर ही दिशा आदि की उत्पत्ति की कल्पना की जा सकती है, लेकिन प्रलय में वह भी नहीं है, कारण कि क्रिया के अतिरिक्त उसका कोई साधक नहीं है। पूर्ण कूटस्थ में तो क्रिया का योग है ही नहीं। ऐसी स्थिति में उन दोनों के अभाव में किसी अन्य का अवकाश नहीं है, इस तरह यह सिद्ध है कि ब्रह्म से अतिरिक्त किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं है ॥१३॥ इस तरह भगवान् परमेश्वर के अपने से अभिन्न जगत् के आकार में सर्वसाधारण सच्चिदानन्दात्मरूप ने खूब चमकते हुए स्फुरित होने पर देह आदि किसी एक स्थान में विशेष अभिमान करके उसके अनुकूल या प्रतिकूल हेय या उपादेय कल्पना द्वारा अहंकारात्मा ही अन्य की नाईं स्फुरित होता है। इस तरह जल में आवर्तसमूह की नाईं यह सम्पूर्ण जगत्, जीव, बन्ध मोक्ष आदि की कल्पना जो कि एकमात्र भ्रान्त चित्त ही है, अणुमात्र भी और कुछ नहीं है ॥१४॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक इन दोनों का रूपक द्वारा एकीकरण करके उपपादन करते हैं।

मज्जन और उन्मज्जन के शब्दों से तथा विवर्तावर्तरूपी भ्रमणों से पूर्ण बराबर बह रही यह सृष्टिरूपी मृगजल की नदी स्फुरित हो रही है, जो कि तत्त्वसाक्षात्कार से शीघ्र ही चिरकाल के लिए क्षीण हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे मृगतृष्णा की नदी मरुभूमि के साक्षात्कार से शीघ्र नष्ट हो जाती है वैसे ही यह सृष्टि भी परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार से शीघ्र ही सदा के लिए क्षीण हो जाती है ॥१५॥ जैसे आवर्तों से जल या दूर से धूमसमूह निबिड़ मेघरूप से भासता है वैसे ही ब्रह्म और मन इन दोनों के मध्य में तीसरी यह सृष्टि विषयरूप होने से जड़ और सत्यरूप से स्फुरित होने के कारण अजड़रूप से भासती है ॥१६॥ आरी से लकड़ी चीरने पर जैसे आवर्त आदि भासते हैं वैसे ही देश–कालादि से शून्य परमात्मा में यह सृष्टि जड़ और अजड़रूप से भासती है ॥१७॥ मिथ्या होने से अपने स्वरूप से अत्यन्त कोमल तथा अधिष्ठान सत्ता से पत्थर की नाईं अति दृढ़ इस संसार रूपी कदलीस्तम्भ का स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बित कदलीस्तम्भ से तनिक भी असाम्य विवेकदृष्टि से देखने पर नहीं मिलता। यदि कुछ मिलता भी है तो सिर्फ वह संकल्पकल्पित पल्लव विलक्षणता ही। कहने का तात्पर्य यह कि संकल्पकल्पित विलक्षण पल्लव के सिवा और कुछ तनिक भी वैसा दृश्य इन दोनों में नहीं मिलता ॥१८॥

पट के ऊपर विरचित चित्रगत राज्य के सादृश्य से अब इस जगत् का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, यह रमणीय सारा संसार पट के ऊपर विरचित चित्रगत महाराज्य के सदृश्य प्रकाशयुक्त, सुन्दर और विकल्प से विस्फूर्जित है। हे विद्याधर, चित्रगत महाराज्य के सदृश ही यह भी परामर्श को न सहनेवाला (卐) है। इसके अन्दर हजारों पैर, मस्तक, नेत्र, हस्त,

(卐) परामर्श यानी विचार, इसको नहीं सहनेवाला यह संसार है अर्थात् विचार करनेपर तनिक भी

मुख तथा इनसे इच्छित और वितर्कित वस्तुएँ एवं नाना प्रकार के पर्वत, चतुर्विध प्राणियों के शरीर, दिशाएँ और अनेक नदियाँ परमात्मा के माप से प्रदेशमात्र के समान परिच्छिन्न हैं। अनेक प्रकार के रंजक द्रव्यों से रंजित चित्रगत महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी अनेक प्रकारके कामादि रूप रंगों से रंजित है। विरुद्ध वर्णवाले मार्जनद्रव्य से परिमार्जन कर देना ही एकमात्र जिसका नाश है ऐसे चित्रलिखित महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी केवल तीव्र वैराग्यमात्र से ही परिमार्जित होता है। हे विद्याधर, सुर, असुर, गन्धर्व, विद्याधर तथा बड़े नाग आदि से युक्त जड़ात्मक पवन स्पन्दनशील तथा द्रष्टाचेतन से चेतित चित्रलिखित महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी सुर, असुर, गन्धर्व आदि से युक्त सूत्रात्मा से स्पन्दनशील तथा ब्रह्मचेतन से चेतित है ॥१९-२२॥ अर्थशून्य तथा बाध्य होने से असत्यस्वरूप स्पन्दनात्मक विकल्पांश में यानी विकल्पात्मक वृत्ति जिसमें उदित होती है ऐसे मन में प्रतिबिम्बभाव से पतित संवित् भ्रान्ति में ऐसे प्रसरणशील होती है, जैसे जल में तैलबिन्दु ॥२३॥

कैसे प्रसरणशील होती है, यह कहते हैं।

मन को क्षोभित करनेवाले कामवासना आदि जालसमूहों से निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्तरूप विकारों से समन्वित पुत्र, स्त्री आदि में फैल रहे स्नेह से मिश्रित मिथ्या होने के कारण उत्पन्न न हुए ही इन शब्द-स्पर्श आदि विषयों के बार-बार आस्वादनों के द्वारा जो संवित् प्रसरणशील होती है चित्रगत महाराज्यरूप से वर्णित यह संसार है ॥२४॥ इस रीति से यह आदिचिति ही अहंभावादि विकल्पों से बहिर्मुखी हो जीवभाव को प्राप्त करके भी परमात्मा से तनिक भी ऐसे भिन्न नहीं है, जैसे कि जलरूपता से भिन्न तोयता (जलत्व) नहीं है। तात्पर्य यह है कि भेदक उपाधियों के विकल्पमात्र होने से 'जीव' और 'ब्रह्म' शब्द का 'जल' और 'तोय' शब्द की नाईं एक अर्थ में पर्यवसान है॥२५॥

उपाधि के अनुप्रवेश द्वारा नाम और रूपों का व्याकरण करनेवाले अहमर्थ जीव के ब्रह्ममात्र होने से जीव का भोग्य सर्गशब्दार्थ भी एकमात्र ब्रह्म ही है, यह कहते हैं।

यह चिद्रूपी सूर्य स्वात्मा ही है। यह उपाधि में प्रवेश द्वारा 'अहम्' इत्यादि नाम को प्राप्त होकर 'सर्ग' इस नाम से कहा जाता है। इसलिए यह सिद्ध है कि वास्तव में चेतन से अन्य न कोई सृष्टि है और न कोई इस सृष्टि का रचयिता ही है॥२६॥

'राहु का सिर' यहाँ पर जैसे राहु और उसके सिर में अभेद सिद्ध है यानी जो राहु है वही तो उसका सिर है, इसी तरह जगत् और चित् में अभेद सिद्ध है। इन दोनों में एकमात्र अविद्याके कारण ही भेद की प्रतीति हो रही है। इसका दृष्टान्त देकर उपपादन करते हैं।

जैसे स्पन्दरूप अपनी सत्ता में वस्तुतः जलद्रव स्पन्दरहित ही है उसमें स्पन्द की प्रतीति तो

टीक नहीं सकता तथा चित्र भी दूसरे द्वारा हुए उपमर्दन को नहीं सह सकता।

एकमात्र विकल्प ही है, (ﬠ) वैसे ही आकाशादि प्रपंच की रचना में चिदात्मा न आकाशादिरूप से स्थित है, न इन सबका कर्ता है और न आकाशादि पदार्थों को अपने से भिन्न समझता ही है ॥२७॥

जलद्रव की भेदकल्पना में देश और कालका भेद नियामक है । पूर्वकाल और पूर्व–देश में स्थित जल उत्तरकाल और उत्तरदेश में उपलब्ध होता है । उत्तरदेश की प्राप्ति भी क्रियापूर्वक ही बाण आदि में देखी गई है, इसी तरह जल में भी द्रवणक्रियाभेद की कल्पना कर सकते हैं । परन्तु अद्वितीय ब्रह्म में तो देश और काल किसी का भेद नहीं है, अतः आकाश आदि भेदक कल्पना में कोई निमित्त न होने से जलद्रव का साम्य बहुत दूर चला गया यदि यह कोई शंका करे, तो उसका समाधान देते हैं ।

सृष्टिरूप होने से, देश, काल आदि के निर्माणपूर्वक ही चिदात्मा के आकाशादि विकल्पज्ञान का हम वर्णन कर रहे हैं, इसलिए जलद्रव का साम्य कहीं दूर चला गया, यह कोई नहीं कह सकता । (ﬡ) ॥२८॥

इस तरह विकल्पों के मन, अहंकार और बुद्धि आदि से साध्य होने के कारण आकाश आदि सृष्टिभेद के विकल्प समय में इनके असिद्ध होने से विकल्प की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? यह आशंका भी अनुपपत्ति आदि हजारों दोषों से पूर्ण एकमात्र अविद्या का स्वीकार कर लेने से ही अनायास परिहृत हो सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

(ﬠ) जलं स्पन्दते' (जल स्पन्दित होता है) इस स्थल पर थोड़ा विचार किया जाय । क्या जल ही स्पन्दरूप से स्थित रहता है या अन्य कुछ ? जल से भिन्न अन्य कोई स्पन्दनरूप से स्थित रहता है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि अन्य किसी की यहाँ उपलब्धि नहीं होती । यदि यही मान लिया जाय कि वहाँ कोई अन्य ही स्पन्दित होता है तब तो उस स्पन्दन को जल की ही अपेक्षा है, यह नियम नहीं रह सकता । अतः दूसरा ही स्पन्दित होता है, यह प्रतीति होने लगेगी और साथ-साथ यह भी नहीं कह सकते कि वह नियम समवाय के बल पर सिद्ध है, क्योंकि सम्बन्ध की अनवस्था होने से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । अब रही बात प्रथम पक्ष की । इस पक्ष में जलस्पन्द का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि स्पन्दात्मा स्पन्द नहीं करता, कारण कि यदि वह स्पन्द करे, तो उस स्पन्द में कर्तृत्वापत्ति आ जायेगी । इसलिए यह सिद्ध है कि जल द्रव अपनी स्पन्दात्मिका सत्ता में स्पन्दशून्य ही स्थित रहता है ।

(ﬡ) आकाश आदि सृष्टि के विकल्प की असंभावना के ऊपर जो आक्षेप किया जा रहा है, सो क्या आकाश आदि की सर्गात्मकदशा में आक्षेप किया जा रहा है या ब्रह्मदशा में ? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मदशा में आक्षेप किया जा रहा है तब तो यह आपत्ति में इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मभाव में हम किसी तरह का कोई विकल्प स्वीकार करने को तैयार नहीं है । यदि यह कहा जाय कि सर्गात्मकदशा में आक्षेप किया जा रहा है, तो इस पर हमारा यह कहना है कि सर्गात्मकदशा में तो यह कहना ही पड़ेगा कि वह सृष्टिकाल प्रलयकाल से पूर्व है । इस तरह कालविभाव और संसारासंसार देश भेद का भी कल्पना द्वारा निर्माण करके हम चिदात्मा के

हे विद्याधर, मन, अहंभाव, बुद्धि आदि जो कुछ भी विकल्पज्ञान है उस सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुषप्रयत्न से शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥२९॥

किस-किस पौरुष से वह कितनी नष्ट होती है, यह बतला रहे हैं।

विनय, प्रणाम, दान, सम्मान आदि के द्वारा वशीभूत हुए तत्त्वज्ञानियों के साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीत करने के कारण प्रथम भूमिकापर्यन्त अभ्यस्त हुई उत्कट वैराग्य आदि चार साधनों की सिद्धि से पुत्र, स्त्री, धन आदि में ममताभ्यास के हेतुभूत इस अविद्या का आधा भाग नष्ट हो जाता है, श्रवण, मनन आदि शास्त्रविचारों से इस अविद्या का विक्षेप शक्तिरूप चौथा अंश-जो प्रमाण और प्रमेय की सम्भावना आदिरूप तथा देहादि में अहन्तारूप है-नष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार से उसका बचा हुआ आवरणशक्तिरूप चौथा भाग भी सूर्योदय के बाद अन्धकार की नाईं धीरे-धीरे क्रमशः नष्ट हो जाता है ॥३०॥ पूर्वोक्त रीति से भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा समकाल में और क्रमशः चार भागों में विभक्त अविद्या के नष्ट कर दिये जाने पर जो अवशिष्ट रहता है वह नामरूपरहित सन्मात्र ही परमपुरुषार्थ है ॥३१॥

संक्षेप से कही गई बात को विस्तार से सुनने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, अविद्या का आधा भाग आत्मज्ञानी विद्वानों के साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीतों से, एक चतुर्थांश शास्त्रों के विचारों से एवं दूसरा चतुर्थांश आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से कैसे नष्ट हो जाता है ? कृपाकर कहिये ॥३२॥ तदनन्तर हे मुनिनाथ, 'समकाल में' और 'क्रमशः' यह क्यों कहा जाता है ? तथा 'वह नामार्थरहित सन्मय ही है' - यहाँ पर यमयट्' प्रत्यय से असदंश को लेकर सत् और असत् जो कहा गया है, उसमें असदंश क्या है, सो दयाकर कहिये ॥३३॥

प्रश्नक्रम के अनुसार महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारसागर को तैर जाने की इच्छा रखनेवाले विरक्त सज्जन पुरुष को आत्मज्ञानी विद्वान् तथा अन्य मुमुक्ष के साथ अपनी बुद्धि से यह विचार करना चाहिए कि यह संसार क्या है इसका परिणाम, मूल और सार क्या है तथा इसे तैर जाने का कौन-सा उपाय है ? ॥३४॥ संसारसागर से पार हो जाने की इच्छा रखनेवाले विद्वान् को चाहिये कि वह जहाँ-कहीं से विरक्त, मत्सररहित, आत्मज्ञानी सज्जन पुरुष को यत्नपूर्वक ढूँढ़कर उसकी आराधना करे ॥३५॥ हे वेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, यह आप भलीभाँति जान लीजिये कि सज्जन पुरुष का समागम हो जाने पर अविद्या का आधा भाग

आकाशादि विकल्पज्ञान का वर्णन कर रहे हैं, अतः किसी को सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है कि जलद्रव का साम्य बिलकुल कहीं दूर चला गया। इस विषय में वार्तिककार की यह उक्ति भी स्मरणीय है : अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥

तो अन्य सब भूमिकाओं में ज्येष्ठ तथा साधनचतुष्टय सम्पत्ति से श्रेष्ठ शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका प्रतिष्ठा के उदय से ही क्षय को प्राप्त हो गया ॥३६॥ हे श्रीरामजी, अविद्या का आधा भाग तो सिर्फ सज्जन पुरुषों के सम्पर्क से ही नष्ट हो जाता है । बाकी बचे दो चतुर्थ भागों में से एक भाग को बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रार्थों के पर्यालोचन से तथा दूसरे को अपने आत्म-साक्षात्काररूप यत्न से नष्ट कर देना चाहिए ॥३७॥ संसारबन्धन से मुक्त होने की कहीं एक उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गई, तो उस मुमुक्षु पुरुष को वैराग्य आदिसम्पत्ति ही भोगों तथा उनके साधनों से दूर हटा देती है और भोगों के नष्ट होने से अविद्या का चतुर्थ अंश अपने यत्न से ही नष्ट हो जाता है ॥३८॥ सज्जनों की संगति, शास्त्रों की चर्चा और अपने प्रयत्न–इन सबकी एक साथ प्राप्ति होने पर समकाल में यानी एक ही कालमें तथा एक-एक की प्राप्ति होने पर क्रमशः अविद्यारूपी मल क्षीण हो जाता है ॥३९॥ अविद्या का क्षय हो जाना ही जिसका एकमात्र अपना स्वरूप है ऐसा जो अविद्या के नाश के बाद अकिंचिद्रूप या किंचिद्रूप शेष रहता है वह परमार्थभूत नामार्थरहित, असत् और सत् भी (🕮) कहा गया है ॥४०॥

हे श्रीरामजी, यह परिशिष्टवस्तु, आनन्दैकघन, जरादिविकारशून्य अनन्त, एक ब्रह्म ही है। जीव और जगद्रूप तो विकल्प का स्फुरण होने से सर्वथा अविद्यमान ही है । इसलिए हे श्रीरामजी, आप अपने को परमात्मतत्त्वरूप जानकर प्रमाण, प्रमेय आदि त्रिपुटी के मोह से शून्य होते हुए ब्रह्म ही होकर के सर्वातिशायी बृहत् होने से सब ओर से व्याप्त होकर विहार करते हुए शोकशून्यस्थित रहिये ॥४१॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

माया के कार्य में देश आदि की अपेक्षा का अभाव तथा
परमाणु के उदर में इन्द्र के राज्य की कल्पना का विस्तार-यह वर्णन ।

'देश कालादि निर्माणपूर्वकं वेदनं विदुः' इत्यादि जो पूर्व सर्ग में कहा गया है, उसका उपपादन करने के लिए इन्द्र-त्रसरेणु आख्यान कहने के पहले भूमिका बाँधते हैं ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, इस मायिक विस्तृत जगद्रूप के धारण में देश और काल की अपेक्षा इस तरह नहीं है, जिस तरह आकाश में फैले हुए प्रकाश के धारण में खम्भों की अपेक्षा नहीं है ॥१॥ शान्त, पवन के अन्दर स्थित सुगन्ध या प्रकाश से भी अति सूक्ष्म, लघु और स्वच्छ यह त्रिलोकी मन के मनन की रचनामात्र है ॥२॥ हे साधो, चिति के चमत्कारमात्ररूप से दृढ़ इस जगद्रूपी अणु की अपेक्षा वायु के अन्तर्गत सौरभ भी मेरु की नाईं स्थूल है, इसमें तनिक भी सन्देह

(🕮) अर्थक्रियाव्यवहार के योग्य न रहने से वह 'असत्' तथा अबाध्य परम पुरुषार्थरूप होने से वह 'सत्' कहा गया है ।

नहीं है । क्योंकि वायु के अन्दर स्थित सुगन्ध या सौरभ का तो अन्य पुरुष भी अपनी घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करते हैं, परन्तु यह संसार की सृष्टि तो जिस पुरुष के मन में उदित होती है वही इसका ऐसे अनुभव करता है, जैसे मनोराज्य के पदार्थ का मनोराज्य साक्षी द्वारा या अपने स्वप्न का स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वयं अनुभव करता है ॥३,४॥ पूर्वसिद्ध देश और काल की अपेक्षा न रखनेवाले तथा दूसरे के अनुभव में न आने से परम सौम्यरूप इसी विषय का एक बहुत पुराना इतिहास विद्वान लोग उदाहरणरूप में कहा करते हैं जो कि त्रसरेणु के उदर में बहुत दिन पहले इन्द्र को अनुभूत हुआ था ॥५॥ कभी कहीं किसी एक कल्पवृक्ष में (सब तरह की कल्पनाओं के आधारभूत मायाशबलब्रह्म में युग की सन्धिरूप शाखा में) ब्रह्माण्डरूप गूलर का फल पैदा हुआ ॥६॥

उस फल का वर्णन करते हैं ।

वह फल अन्य फलों से विलक्षण था । वह सुर और असुर आदि अनेक विविध भूतों के समूहरूपी मच्छरों की भनभनाहट से युक्त था तथा अनेक शैलरूपी कीलों से जड़ित दृढ़ पाताल स्वर्ग और भूमण्डलरूप दुर्घर्ष कपाटों से समन्वित था ॥७॥ वह फल चिति की चमत्कृति रूप विचित्र रचनाशक्ति से सुन्दर, बहुत बड़ा, वासनारूपी रस से स्थूल, अनेकविध शब्दादि विषयोंके अनुभवरूपी सुगन्ध से समन्वित तथा चित्त के आस्वाद से मनोहर था ॥८॥ पूर्वोक्त महान् ब्रह्मरूपी कल्पतरु में आविर्भूत सूक्ष्म जगत्‌की सत्तारूपी करोड़ों लताओं के अन्तर्गत वह फल लगा था और अहंकाररूपी महान् वृंत से युक्त वह फल साक्षी चेतन से उज्ज्वल था ॥९॥ ज्ञानरूपी विकसित मुखवाला, अनेक नदी और समुद्ररूपी नाड़ियोंसे आवृत पंचतन्मात्ररूपीकोश में स्थित, ऊपर में तैर रहे नक्षत्रोंरूपी हिमकणों से परिपूर्ण, महाकल्प के अवसान में पककर गिरने में उन्मुख, तदनन्तर मूर्खरूपी कौवों या विवेकी जनरूपी कोकिलों से भक्ष्यमाण गिरने पर शान्ति को प्राप्त तथा कहीं पर वासनामात्र शेषस्वरूप नाश या ब्रह्मभाव को प्राप्त होनेवाला वह फल था ॥१०,११॥ उस गूलर के भीतर तीनों भुवन का स्वामी देवताओं का ईश इन्द्र ऐसे रहता था, जैसे क्षौद्रकुम्भ के भीतर स्थित मधुमक्खियों का स्वामी ॥१२॥ अपने अन्तःकरण में आत्मा का निरन्तर विचार करनेवाला पूर्वापरवेत्ताओं में श्रेष्ठ वह महात्मा गुरु के उपदेश तथा अपने अभ्यास से अविद्यारूपी आवरण से रहित हो गया था ॥१३॥ इसके बाद अपने पराक्रम से सुशोभित नारायण आदि जब कहीं क्षीर-सागर में शयन कर रहे थे तब अकेले उस सुरेश्वर ने शस्त्रों की ज्वालारूपी अग्नि को धारण करनेवाले बड़े-बड़े पराक्रमी असुरों के साथ युद्ध किया और बाद में उनसे पराजित होकर वह शीघ्र युद्धभूमि से भागा ॥१४,१५॥ और शत्रु उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे । शत्रुओं के पीछा करने पर दसों दिशाओं में बड़े वेग से भागते हुए उसने कहीं पर भी अपने विश्राम का स्थान ऐसे नहीं प्राप्त किया जैसे पापी पुरुष उत्तम परलोक नहीं प्राप्त करता ॥१६॥ इसके पश्चात् जब उसके शत्रुओं की दृष्टि इधर-उधर कहीं थोड़ी देर के लिए भ्रान्त हो गयी तब अपने छिपने का किंचित्

अवसर पाकर वह अपने स्थूलाकार संकल्प को अपने अन्तःकरण के अन्दर ही सूक्ष्मभूत में विलीन करके अत्यन्त अणु बनकर बाहर सूर्य की किरणों के कोश में स्थित किसी एक त्रसरेणु के भीतर अपने संविद्रूप प्रवेश संकल्प से ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे पद्मकोश के भीतर मधुकर प्रविष्ट हो जाता है ॥१७,१८॥ वहाँ जाते ही वह शीघ्र विश्राम करने लगा । चिरकाल के बाद उसने वहाँ शान्ति प्राप्त की । तदनन्तर बहुत दिनों तक वहीं पड़े रहने के कारण वह अपने संग्राम को भूल गया, जिससे बाहर निकलने की उसकी स्मृति भी समाप्त हो गई । वहाँ पर उसने अपने रहने के लिए एक घर की कल्पना की और तत्काल ही उसका अनुभव किया । उस अपने कल्पित घर के भीतर पद्मासन के ऊपर बैठकर उसने ऐसे रमण किया, जैसे कि अपने स्वर्गलोक में स्थित प्रसिद्ध सिंहासन के ऊपर बैठकर रमण करता था ॥१९,२०॥ उस गृह के भीतर स्थित इन्द्र ने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जहाँ पर चहारदीवारियों से घिरे मणि–मुक्ता और प्रवालों से विरचित अनेक मन्दिर चमचमा रहे थे ॥२१॥ उसके बाद उस नगर के भीतर पहुँचकर इन्द्र ने एक देश देखा, जिस देश के भीतर अनेक प्रकार के पर्वत, ग्राम, गौशालाएँ, नगर और बहुत–से जंगल विराजमान थे ॥२२॥ इसके अनन्तर उसी तरह के संकल्प से युक्त इन्द्र ने भूलोक का अवलोकन किया जो, अनेक पर्वतों, समुद्रों, भूमियों, नदियों, राजाओं तथा उनकी राज्यसीमाओं से युक्त और क्रिया एवं काल आदि की कल्पनाओं से समन्वित था ॥२३॥ इसके पश्चात् वैसे ही संकल्प से युक्त इन्द्र ने तीनों जगत् का अनुभव किया, जो पाताल, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य, पर्वत आदि अनेक पदार्थों से युक्त था ॥२४॥ तदनन्तर अनेक तरह के भोगों से परिपूर्ण वह इन्द्र देवताओं के अधीशपन के पद पर देवलोक में अधिष्ठित हो गया और कुछ काल बीत जाने के बाद उसे कुन्द नामक एक महापराक्रमी पुत्र पैदा हुआ ॥२५॥ तत्पश्चात् अनिन्दित वह इन्द्र जीवन के अन्त में इस पांचभौतिक शरीर का त्याग कर, तैलरहित दीपक की नाईं, निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो गया ॥२६॥ उसका पुत्र कुन्द तीनों लोक का राजा हुआ और पुत्र उत्पन्न करके समय से जीवन का अन्त आने पर वह भी परम पद को प्राप्त हो गया ॥२७॥ उस कुन्द का भी लड़का अपने पिता के ही समान बहुत वर्षों तक राज्य करके अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठाकर जीवन के अन्त में परमपावन पद को प्राप्त हो गया ॥२८॥ हे सुन्दर, इस तरह उस सुरेश के हजारों पुत्र–पौत्र आदि हो गये । आज भी उनके उस राज्य में अंशक नाम का राजा राजसिंहासन पर स्थित है ॥२९॥

हे विद्याधर, इस रीति से जैसा कि मैंने तुमसे वर्णन किया, सूर्य प्रकाश से पवित्र उस त्रसरेणु के आकाश प्रदेश में कहीं, क्षत, गलित, हत या सर्वथा नष्ट हो जाने पर भी इन्द्र के संकल्पित त्रसरेणु के अन्दर स्थित जगत् में उस अमरेश्वर का वंश ही इन्द्र के राज्य का अब भी पालन कर रहा है ॥३०॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

उस कुल में उत्पन्न इन्द्र की बिस तन्तु में जगत् की रचना तथा सब तरह के विचारकर देखने पर ब्रह्मदृष्टि आकाश की इन्द्रता का वर्णन।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, पूर्वोक्त उस इन्द्र के कुल में उत्तम गुणों से पूर्ण श्रीसम्पन्न कोई इन्द्र हुआ। उस देवलोक में उसका वह अन्तिम शरीर था ॥१॥ कुछ दिनों के बाद उस देवलोक में इन्द्र के वंश में उत्पन्न हुए लड़के को बृहस्पति की उपदेशवाणी से आत्म-तत्त्वसाक्षात्कार ज्ञान की प्राप्ति हुई ॥२॥ तदनन्तर वेद्यवस्तु का ज्ञान प्राप्त करानेवाले तथा प्रारब्धानुसार प्राप्त कार्यों का सम्पादन करनेवाले देवताओं के उस अधीश्वर ने समस्त जगत् का राज्य किया ॥३॥ उसने दानवों के साथ युद्ध किया, अपने शत्रुओं को जीता तथा अज्ञान को पार कर चुके मनवाले उस राजा ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये ॥४॥ उसने अपने किसी कार्यवश कमलदण्ड के कोमलतन्तु के अन्दर चिरकाल तक निवास किया। उस बिसतन्तु के भीतर कल्पित ब्रह्माण्ड में राज्य करना तथा युद्ध में जय-पराजय प्राप्त करना आदि भिन्न-भिन्न सैकड़ों वृत्तान्तों का भी उसने खूब अनुभव किया, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥५॥ ज्ञान-बल युक्त उस राजा को कभी अचानक ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं भलीभाँति ध्यान लगाकर मायाशबलित ब्रह्म का स्वभाव देखूँ ॥६॥ इसके बाद उसने एकान्त में स्थित होकर बाहर और भीतर के सम्पूर्ण विक्षेप कारणों के त्याग से शान्तबुद्धि होते हुए समाधि लगा करके सर्वविध शक्तियों से सम्पन्न, सर्ववस्तुमय, सर्वत्र व्याप्त, सब तरह से सर्वदा सर्वरूप और सबके साथ, सर्वगामी परब्रह्म को देखा, जो अनेक हाथ और पैरों से युक्त था, चारों तरफ जिसकी आँखें, मस्तक और अनेक मुख थे, सभी ओर अनेक श्रोत्रेन्द्रियों से युक्त तथा लोक में सबको आवृत करके जो स्थित था ॥७-९॥ वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से निर्मुक्त होता हुआ भी उनके रूप आदि गुणों के ग्रहण करने की शक्तियों से समन्वित था। परमार्थ में सबसे अलग रहता हुआ भी वह व्यवहार में सबको धारण किये हुए था। निर्गुण रहने पर भी वह सम्पूर्ण गुणों का भोक्ता था ॥१०॥ समस्त प्राणियों के बाहर-भीतर स्थित अचर तथा चर, सूक्ष्म होने से अविज्ञेय एवं दूरस्थ होने पर भी वह समीप में ही स्थित था ॥११॥ सर्वत्र चन्द्र-सूर्यमय, सर्वत्र पृथिवीमय,सर्वत्र पर्वतमय, सर्वत्र सागरमय, सर्वत्र चित्सार, गुरुरूप, सर्वत्र आकाशमय, सर्वत्र संसृतिमय,सर्वत्र जगन्मय, सर्वत्र मोक्षरूप, सर्वत्र आद्यचिन्मय, सर्वत्र सर्वपदार्थमय तथा सर्वत्र वह सबसे रहित था ॥१२-१४॥ घट, पट, वट, शकट, दीवार, वानर, तेज, गृह, आकाश, वृक्ष, पर्वत, वायु, जल और अग्नि आदि सब पदार्थों में तथा परमाणु के एक अंशमात्र में भी नानाप्रकार के प्राणियों के शारीरिक आचारों तथा मानसिक विचारों से युक्त एवं स्वर्ग, नरक आदि के गमनागमनादि से समन्वित उसने तीनों जगत् को देखा ॥१५,१६॥ मिर्च के भीतर तीक्ष्णता तथा आकाश के भीतर शून्यता की नाईं तीनों जगत् सदसद्रूप (आविर्भावकालात्मक एवं तिरोभावकालात्मक) चिन्मय परमात्मा में विद्यमान हैं ॥१७॥ इस तरह जीवभाव से शून्य शुद्ध

ज्ञान से देखता हुआ वह इन्द्र पूर्ववासना कल्पित उसी शरीर से क्रमशः वैसे ही ध्यानवान् हो गया ॥१८॥ महामति उदारबुद्धि उस इन्द्र ने ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मायाशबलितब्रह्म में देर तक देखते हुए हम लोगों के द्वारा अनुभूयमान इस ब्रह्माण्ड को देखा ॥१९॥ तदनन्तर हम लोगों के इस ब्रह्माण्ड में पाताल, भूमि आदि लोकों के क्रम से इन्द्र–लोक के भीतर मन से विचरण करता हुआ वह इन्द्र के समीप पहुँचा। वहाँ इन्द्र को देखते ही 'मैं इन्द्र हूँ' इस संस्कार के उद्‌बुद्ध होने तथा पूर्व में किये गये सैकड़ों वृत्तान्तों से शोभित अनेक भुवनों का राज्य किया ॥२०॥

हे विद्याधर कुलाधीश, इस रीति से उस त्रसरेणु के अन्तर्गत इन्द्र के कुल में उत्पन्न वह इस ब्रह्माण्ड में भी देवों का राजा बनकर स्थित है, यह तुम जान लो ॥२१॥ इस ब्रह्माण्ड का इन्द्र बन जाने के बाद, उसने हृदय में बीज के सदृश संस्काररूप से स्थित पूर्वकाल के ज्ञानयोगाभ्यासरूप योग से बिसतन्तु के भीतर स्थित अपने प्राक्तन वृत्तान्तों का स्मरण किया ॥२२॥

सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म में सर्वत्र सबका सद्भाव होने से इस तरह के सैकड़ों इन्द्र विद्यमान हैं, यह कहते हैं।

त्रसरेणु के उदर में बिसतन्तु के भीतर अपना निवास बनाकर कान्तिमान् जैसे यह इन्द्र कहा गया है, वैसे ही इधर–उधर उस तरह के सैकड़ों हजारों व्यवहार चिदाकाश में हो चुके हैं और हो भी रहे हैं ॥२३,२४॥ हे विद्याधर, जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तब तक प्रबल यह दृश्यरूप नदी अविच्छिन्नरूप से चिरकाल तक बहती ही रहती है और चौथी भूमिका से लेकर छठी भूमिकाओं तक उस ब्रह्मपद के अर्धरूढ़ तथा अर्ध अनारूढ़ होनेपर बहुत दूर तक लम्बी–चौड़ी फैली हुई यह माया–मायारूप से अनुभव में आ जाती है। एकमात्र विलास में ही तत्पर रहनेवाली यह माया केवल सत्य परमात्म साक्षात्कार से विलय को प्राप्त होती है ॥२५,२६॥

चूँकि यह माया है, इससे इसके वैचित्र्य में कोई विशेष हेतु ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है, यह कहते हैं।

हे अनघ, यह माया जिस किसी कारण से जहाँ कहीं यथा कथंचित् उत्पन्न हुई दिखाई देती है, अतः इसकी विचित्रताओं के विषय में विशेष चिन्ता नहीं करना चाहिए ॥२७॥

अथवा एकमात्र अहंकाराध्यास ही इसके वैचित्र्य में निश्चित हेतु है, यह कहते हैं।

मेघ से वृष्टि के सदृश अहंभावरूप चमत्कार से कुहरे के जैसी यह माया उत्पन्न होती है और आत्मा के साक्षात्कार मात्र से क्षण भर में ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥२८॥ चूँकि सर्वसाक्षिब्रह्म का रूप परमार्थतः समस्त विकल्पों से रहित ही है, इसीलिए अहंकार के वश से विस्तृत हुए मानस विकल्पों तथा द्रष्टा, दर्शन, दृश्यह्लइस त्रिपुटीरूप इन्द्रिय के विकल्पों से मुक्तस्वभाव (जाग्रदावस्था से शून्य) होने के कारण वासनामय स्वाप्निक पदार्थों से रहित है। शून्यरूप एकमात्र आकाश की तरह पूर्ण अवभासवाला एक चिद्रूप आत्मतत्त्व ही परिशिष्ट है ॥२९॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

जगत् की भ्रान्ति का बीज तथा स्वरूप अहंभाव है, इसके परिमार्जन से जगत् के अभाव द्वारा शुद्ध परमात्मा के शेष रह जाने से कृतार्थता सिद्ध हो जाती है, यह वर्णन ।

'अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात्' यह जो ऊपर कहा गया है, इसमें उपपादकरूप से इन्द्र और त्रसरेणु की आख्यायिकाकी योजना करते हैं।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, जहाँ पर अहन्ता रहती है वहाँ पर जगत् पहले ही से (📖) आकर ऐसे बैठा रहता है, जैसे त्रसरेणु के भीतर परमाणु के अन्दर इन्द्र का साम्राज्य आदि प्रपंच ॥१॥ आकाश के वर्ण के सदृश आविर्भूत इस जागतिक भ्रम का अभिमानकर्ता अहंभाव ही आद्य मूल कहा गया है ॥२॥ वासनारूपी रस से सींचे गये अहंभावरूपी बीजकण से ब्रह्मरूपी पर्वत के ऊपर अव्याकृत आकाशरूपी जंगल में यह त्रिलोकरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है ॥३॥ इस वृक्ष के सभी तारे पुष्प समूह हैं, मेघमिहिकारूपी वन से ढके समस्त पर्वत इसके पल्लव हैं, गंगा आदि सब नदियाँ इसकी नाड़ियों के प्रवाह हैं तथा हे विद्याधर, वासनारूपी बीजांशों से परिपूर्ण अनेकविध भोग ही तो इसके सुन्दर फल हैं ॥४॥

अब अहंकार का महाजलरूप से तथा जगत् का उसके कार्यभूत तरंग आदि रूप से वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, यह जगत् अहंकाररूपी जल का स्पन्द (विलास) कहा गया है। चिति के वैषयिक सुखरूपी माधुर्य से परिपूर्ण वासनाओं का प्रसार ही इसका द्रव है ॥५॥ तारों के समूहरूपी सीकरों की मूसलाधार वृष्टि करनेवाला तथा आकाश के कारण अनन्त सरोवरों से परिपूर्ण यह जगत् अहंकाररूपी महाजल का विलास है। नाना प्रकार के अनेक पर्वतोंरूपी तरंगों से समन्वित इसमें सम्पत्तियों और विपत्तियों के अनेक आवर्त उठते-रहते हैं ॥६॥ इसमें चित्रलिखित रेखाओं की नाईं तीनों लोक के जनसमूहरूपी रेखाएँ आविर्भूत हो रही हैं तथा सूर्य और चन्द्र आदि के प्रकाशों के कारण वह फेनयुक्त हो गया है। इसमें अनेकों ब्रह्माण्डरूपी बुलबुलों के उद्भेद उपस्थित है तथा कपाट की नाईं मोक्षद्वार को रोक रखनेवाले मोह से यह अभिवृद्ध है ॥७॥ भूपीठरूपी दृढ़ समुद्रफेन के पिण्ड से युक्त, अनेक जीवों के कारण जलकाकों से समन्वित तथा उनके नाना प्रकार के वेगपूर्वक ऊपर, नीचे, तिरछे भ्रमणों के कारण यह मज्जन और उन्मज्जनरूप है ॥८॥ यह जरा-मरण और मोहादिरूपी तरंगों के समूहरूप चमत्कार से परिपूर्ण है तथा उत्पत्ति और विनाशशील देहादि पदार्थरूपी बिन्दुओं के वृन्द से अत्यन्त सुन्दर है ॥९॥

(📖) अभिनव स्वप्नप्रपंच में भी मैं पूर्वसिद्ध जगत् को ही देख रहा हूँ। यह सबको अनुभव भी है, इस अभिप्राय से 'पूर्वमागत्य तिष्ठति' यह उक्ति है।

अब दूसरी रीति से जगत् का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, तुम इस जगत् को अहंकाररूपी पवन का स्पन्द समझो तथा यह भी जान लो कि यह जगत् अहंकाररूपी कमल की सुगन्ध है ॥१०॥ पवन तथा उसके स्पन्द, जल और उसके द्रवत्व एवं अग्नि तथा उसकी उष्णता के सदृश यह अहंकार और जगत् सदा अभिन्नरूप है ॥११॥

परस्पर बीजता का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, अहंकार के अन्दर यह जगत् तथा उस जगत् के अन्दर अहंकार स्थित है । ये दोनों परस्पर एक दूसरे को उत्पन्न करनेवाले तथा परस्पर एक दूसरे के अधीन स्थितिवाले हैं ॥१२॥

यही कारण है कि अहंकार के परिमार्जन से जगत् का परिमार्जन हो जाता है, यह कहते हैं।

जो मनुष्य जगत् के बीज इस अहंकार को अनहंभावरूप ज्ञान से नष्ट कर देता है मानों वह मल से परिपूर्ण जगद्रूपी चित्र को उसी ज्ञानरूपी जल से बिलकुल धो डालता है ॥१३॥

तत्त्वदृष्टि से अहंकार को असद्रूप देखना ही इसका परिमार्जन है।

इसलिए हे विद्याधर, परमार्थ में यह अहंभाव कुछ नहीं है। अवस्तुरूप होने से खरगोश के सींग के समान बिना कारण ही यह उदित है ॥१४॥

यह कैसे, इस पर कहते हैं।

सर्वत्र, व्याप्त, अनन्त, संकल्पों के उल्लेखों से शून्य ब्रह्म में अहंकार का कोई कारण ही नहीं है, अतः वह कभी भी सद्रूप नहीं है ॥१५॥ कारण रहते भी लोक में अवस्तु के लिए वह कुछ नहीं कर सकता, प्राकृत सर्ग आदि में तो कारण का संभव ही नहीं है । इसलिए वन्ध्या स्त्री के पुत्र की नाईं अहंभाव आदि कहीं पर हैं ही नहीं ॥१६॥ अहंभावादिरूप बीज के अभाव से यह जगत् भी नहीं है और इस जगत् के अभाव से कैवल्यरूपी निर्वाण ही चिन्मात्र अवशिष्ट है । अतः हे विद्याधर, शान्त ब्रह्मस्वरूप होकर तुम सुखपूर्वक बैठे रहो ॥१७॥ इस प्रकार उपपत्ति में प्रतिष्ठित जगत् और अहंकार के अभाव से बाह्यरूप, आलोक आदि संसार तथा आभ्यान्तर मानसिक संसार सब तुम्हारे शान्त हो चुके । इन तीनों से अतिरिक्त हेय कोई दुःख अब तुम्हें नहीं है, अतः हे विद्याधर, तुम शान्त बैठे रहो ॥१८॥ जो नहीं है वह तो सर्वथा नहीं है ही अतः विक्षेपादि दुःखरहित शान्त ब्रह्मरूप ही तुम हो । हे विद्याधर, इसमें सन्देह नहीं कि अब तुम अच्छी तरह प्रबुद्ध हो चुके हो, अब फिर तुम निर्मूल भ्रान्ति को मत अपनाओ ॥१९॥ बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यप्रपंच के कल्पनारूपी कलंक से शून्य अतएव शुद्ध, शिव, शान्त, नित्य ईश्वररूप ही तुम हो । हे विद्याधर, अध्यारोपदृष्टि से आकाश भी पर्वत के सदृश होता है तथा अपवाददृष्टि से तो ब्रह्माण्ड भी परमाणुरूप आकाश ही हो जाता है ॥२०॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

इस उपदेश को सुनकर विद्याधर की समाधि में लीनता तथा अनहंभाव की प्रशंसा द्वारा कथा की समाप्ति का वर्णन ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे मुने, मैं यों कह ही रहा था कि उस विद्याधर नायक का समस्त दृश्यज्ञान शान्त हो गया नीर क्षीर के समान समाधिरूपी चित्त के परिणाम से युक्त हो गया यानी समाधि में लीन हो गया ॥१॥ तदनन्तर बार–बार मैंने उसे इधर–उधर से जगाया, लेकिन परम निर्वाणपद को प्राप्त वह फिर शब्दादि विषयों की ओर न गिरा ॥२॥ हे महर्षे, मुख्य अधिकारी होने के कारण मेरे सिर्फ उतने उपदेश से ही प्रबोधवान् होकर वह परमपदरूप स्थान को प्राप्त हो गया। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि किसी और अधिक अतिशयशाली यत्न से नहीं ॥३॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने पूर्वोक्त अर्थ में विद्याधर के चित्त का उदाहरण देकर वर्णन में शीघ्रता होने के कारण भुशुण्डजी की उक्ति को छोड़ करके भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के प्रति कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए पहले मैंने आपसे कहा था कि शुद्ध चित्त में उपदेश ऐसे फैलता है, जैसे कि जल में तैलबिन्दु ॥४॥

वह कौन–सा उपदेश है ? यह पूछने पर उसको कहते हैं।

हे श्रीरामजी, आपके चिदेकरस प्रत्यगात्मा में अहंकार का अंश बिलकुल नहीं है, अतः आप अपनी शान्ति के लिए असद्रूप इसकी भावना कभी मत कीजिये, बस यही मेरी सर्वोत्तम सारसंग्रहभूत उपदेश वाणी है और कुछ अन्य नहीं ॥५॥ यही अभव्य पुरुष के चित्त में पड़कर ऐसे नहीं ठहर पाती, जैसे कि उलटे चिकने साफ दर्पण में निर्मल मुक्ताफल नहीं ठहर पाता ॥६॥ परन्तु भव्य शान्तपुरुष के मन में जाकर शीघ्र लग जाती है और खूब चिपक जाती है तथा उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर यह सम्पूर्ण मोहरूपी जंगल को जलाने में समर्थ विचारनामक अग्निशिखा ऐसे पैदा करती है, जैसे कि सूर्यकान्त मणि के भीतर प्रविष्ट होकर सूर्य की किरण अग्निशिखा पैदा करती है ॥७॥ इस संसार के दुःखरूपी सेमर के वृक्ष का महान् बीज अहंभावना ही है तथा उस अहंभावना के समान ही 'यह मेरा है' यह भावना भी इस वृक्ष की मूल है, क्योंकि रागादिरूपी शाखाओं के प्रसार की कारण वही है ॥८॥

उसीको बतला रहे हैं।

बीजावस्था के स्थान में तो अहंभाव, इसके कार्यभूत वृक्ष के स्थान में ममभाव (यह मेरा है, यह भाव) तथा इस वृक्ष की शाखाओं के स्थान में इच्छा प्रवृत्त होती है, जो कि इदमर्थरूप अनेक अनर्थों तथा संसार को प्रदान करनेवाली है ॥९॥

इस तरह अपने पूर्वकथन का प्रकृत सम्मति से समर्थन करके फिर भुशुण्डीजी की कथा का ही

अनुसरण करते हुए महाराज वसिष्ठजी विद्याधर की कथा का उपसंहार करते हैं।

हे मुनिश्रेष्ठ, इस तरह मूढ़ भी कभी–कभी चिरंजीवी होते हैं, अतः दीर्घायु का कारण तत्त्वज्ञान है, यह कोई नियम नहीं है ॥१०॥

परन्तु शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष के ज्ञान में चिरकालिक अभ्यास ही कारण है, यह नियम तो है ही, इस आशय से कहते हैं।

चिरकाल के अभ्यास से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे महानुभाव तो थोड़ा भी उपदेश पाकर अभयप्रद परम पद को (ज्ञान को) प्राप्त कर लेते हैं ॥११॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरु पर्वत के शिखर पर इस तरह मुझसे कहकर विहंगों के अधिपति मुक्तात्मा भुशुण्डीजी ऐसे चुप हो गये, जैसे कि ऋष्यमूक पर्वत के ऊपर मतंग ऋषि के आश्रम में उनके शाप के भय से मूक होकर मेघ चुप हो जाते हैं ॥१२॥ हे श्रीराम, तदनन्तर उस सिद्ध भुशुण्डीजी से पूछकर उनकी आज्ञा से मैं उस विद्याधर के पास उक्त संवाद के विषय में पूछताछ करने के लिए चला गया। वहाँ से सारी बातें ठीक–ठीक जानकर मैं फिर मुनिमण्डलमण्डित अपने आश्रम में आ गया ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आज मैंने आपसे काकभुशुण्डीजी के द्वारा कही गई कथा से प्रतिपादित विद्याधर की परम विश्रान्ति, जो तत्त्व ज्ञान के कारण तत्काल ही उत्पन्न हुई थी, सुनाई। हे रामचन्द्रजी, इस वर्णित मेरे विहंगेन्द्र भुशुण्डजी के समागम के अनन्तर इस कल्प के ग्यारह दिव्य युग बीत चुके हैं ॥१४॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

अनहंभावरूप अग्नि से अहंभावरूप बीज के दग्ध हो जाने पर
देहादिसंसार का पूर्णरूप से बाध हो जाने के बाद यह संसार बिलकुल मिथ्या भासने लगता है, यह वर्णन।

सम्पूर्ण संसृति का मूल काम ही है, इसलिए अनहंभाव द्वारा सबसे पहले उसी की निवृत्ति कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इस तरह अनहंभाव के ज्ञान से शुभ और अशुभ फल देनेवाली तथा संसाररूप फल से परिपूर्ण इच्छा अन्तःकरण में ही शान्त हो जाती है, यह निश्चित है ॥१॥

काम का उपरम हो जाने पर लोभ आदि दोषों के क्षय से वैराग्य आदि सम्पत्ति द्वारा सम्पूर्ण मानसिक दुःखों का क्षय हो जाता है, यह कहते हैं।

अनहंभावज्ञान के अभ्यास से ढेला, पत्थर और सुवर्ण को एक–सा समझनेवाला मनुष्य सांसारिक पीड़ाओं से शान्त होकर फिर किसी की इच्छा नहीं करता ॥२॥

साधन सम्पन्न पुरुष को श्रवण आदि के द्वारा ज्ञानोदय होने पर ब्रह्म से अतिरिक्त अहमर्थ का, बाधसे असत्त्व ही पर्यवसित होता है, इस आशय से कहते हैं।

श्रवण आदि के द्वारा ज्ञाननिर्मथन के अभ्यास से अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्र के पुटक से अग्निज्वाला की नाईं आविर्भूत परब्रह्म साक्षात्काररूपी बोध के बल से फेंका गया अहमादि दृश्य पदार्थरूपी पाषाण, अग्नियन्त्र द्वारा फेंके गये पाषाण की तरह, उड़कर शीघ्र ही न जाने कहाँ चला जाता है ॥३॥

अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति में आरूढ़ हुआ ब्रह्म ही अज्ञान, अहंकार आदि के निरास में समर्थ है, इस आशय से कहते हैं।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटक से आविर्भूत ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीर के बल से फेंका गया अहमादि दृश्यपदार्थरूपी पाषाण न जाने कहाँ शीघ्र उड़कर चला जाता है ॥४॥

अज्ञान और अहंकार की नाईं व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूल देह का भी निवर्तक ब्रह्म ही है, इस आशय से कहते हैं।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटक से आविर्भूत हुए ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीर के बल से फेंका गया शरीरयन्त्ररूपी पाषाण उड़कर न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥५॥

अथवा अनहंभावनावृत्ति में प्रतिफलित चिति से ही अहन्ता का नाश होता है, यही पक्ष रहे, इस आशय से कहते हैं।

अहमर्थरूप हिम अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्नि से भीतर विलीन होकर मानों उड़ करके न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥६॥ अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्नि की ज्वाला से ब्रह्मविद्या के अधिकारी उत्कृष्ट ब्राह्मण आदि वर्ण तथा परिपाक के कारण पाण्डुवर्ण शरीररूपी पत्ते से अहंभावरूप रस अन्तःकरण में ही गल कर न जाने शीघ्र कहाँ चला जाता है ॥७॥

अथवा बाधित अहन्तादि की शून्यता नहीं है, किन्तु ब्रह्मता ही है, इस आशय से कहते हैं।

शरीररूपी पत्ते से भलीभाँति पिया गया अहंभावरूपी रसासव अनहन्तारूपी सूर्य की किरण द्वारा अपने कारणभूत सूक्ष्मरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥८॥

तत्त्वज्ञान के बिना तो कहीं कभी किसी अवस्था में भी देह या अहंकार का आत्यंतिक उच्छेद नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर एक दूसरे के बीज होने के कारण परस्पर में उनकी भीतर सत्ता है, अतः जगद्भाव से इन दोनों की सर्वत्र उत्पत्ति है, यह कहते हैं।

तत्त्वज्ञान के बिना स्थूल, सूक्ष्म, निराकार, रूपान्तर को प्राप्त सुप्त, प्रबुद्ध, भस्मीभूत, घृत, आनीत, निमग्न, दूरस्थ या निकट में रहकर शयन, कर्दम, शैल, गृह, आकाश, स्थल तथा जल में जहाँ-तहाँ कहीं भी स्थित शरीररूपी वटधाना (बटबीज), जिसके भीतर अहंभावरूपी नवीन अंकुर उद्भूत है, क्षणभर में ही शीघ्र सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो जानेवाले इस संसाररूपी

शाखासमूह का विस्तार कर देती है ॥९–११॥

इस तरह अहंभावरूपी वटबीज के भीतर शरीररूपी महान् वृक्ष भी स्थित है, यह समझना चाहिए, यह कहते हैं।

अहन्तारूपी वटबीज के भीतर महान् शरीररूपी वृक्ष स्थित होकर जहाँ–तहाँ संसाररूपी शाखासमूह का खूब विस्तार करता रहता है ॥१२॥

वटादिबीज के दृष्टान्त से ही पूर्वोक्त अर्थ का अनुभव कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह प्रसिद्ध है कि जैसे बीज के भीतर सैकड़ों शाखाओं से विराजमान दलों, पुष्पों और फलों से समन्वित वृक्ष हैं, क्योंकि उसके रहने से ही तो अंकुरादि के रूप में निकलते हुए उसे सब लोग अपनी आँखों से देखते हैं वैसे ही अहंकाररूपी सूक्ष्म बीज के भीतर समस्त दृश्यों से युक्त यह देह है, इसे सूक्ष्मबुद्धिरूपी अपनी आँखों से विद्वान् पुरुषों ने ही देखा है ॥१३॥

इस तरह अविचार के फल सर्वत्र अनिर्मोक्ष को बतलाकर अब विचार के फल मोक्ष को बतलाते हैं।

श्रवण आदि विचारों से तत्त्वबोध होने पर चिदाकाशमात्र शरीरधारी जीवनमुक्त पुरुष के अहन्ता को न प्राप्त किये हुए विद्यमान भी शरीर से या निरतिशयानन्द पद में प्रतिष्ठित हुए विदेहयुक्त पुरुष के बोधरूपी महाग्नि से दग्ध हुए असद्भूत अहन्तारूपी बीज के जठर से यह संसाररूपी वृक्ष फिर कहीं नहीं पैदा होता ॥१४॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

सर्वत्र आकाश में पवन द्वारा उड़ाये जा रहे मृत जीव के मन में स्थित अनन्त जगत् का वर्णन ।

'देहोऽस्त्यहन्त्वकणिकान्तरशेषदृश्यसंवित्परीत इति बुद्धिदृशैव दृष्टम्' यह जो ऊपर कहा गया है, उसमें कैसे और किस तरह की बुद्धिदृष्टि है ? इन दोनों का मृत जीव के वासनामय अनन्त जगत् के व्युत्पादन द्वारा समर्थन करने के लिए भूमिका रचते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पामर मन ही, बुद्धि, अहंकार आदि समस्त वस्तुओं के नाश को मरणरूप से समझते हैं, वह वास्तव में मरण स्वरूप नहीं है। यदि वैसा मान लिया जाय, तो कृतहानि आदि दोषों की प्राप्ति अवश्य होने लगेगी। किन्तु मनुष्यादि शरीरों में आत्मभाव के कारण प्रारब्ध का क्षय होने पर उसके अनुरूप संकल्प के तिरोभाव के बाद देवादिशरीर में अहंभावादि के जनक कर्म की उत्पत्ति हो जाने पर उसके अनुरूप अपने दूसरे संकल्प का, उसके भोजक अदृष्ट क्षयपर्यन्त स्थिर रहना ही, मरण कहलाता है यानी अपने सम्पूर्ण संकल्पों का रूपान्तर में स्थित रहना ही मृत्यु है ॥१॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, इस तरह तत्–तत् जीवों के संकल्प से कल्पित जगत् के भीतर स्थित हुए भी ये मन्दराचल और सुमेरु आदि दिशाओं में वायु द्वारा सर्वत्र इधर–उधर उड़ाये जा रहे, नदियों में प्रतिबिम्बित पर्वतों की नाईं, मेरे आगे दिखाई दे रहे हैं, आप भी देखिये न ॥२॥ केले के स्तम्भ के भीतर–भीतर छील–छीलकर देखने से प्राप्त दल के समान एक दूसरे के ऊपर–ऊपर स्थित हुए समान अदृष्टवाले जीवों के परस्पर मिले हुए तथा भिन्न अदृष्टवालों के न मिले हुए भी आकाश में अनेक संसार अवस्थित दिखाई देते हैं ॥३॥

उक्त अर्थ की असंभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, 'पश्यमे पुरः उह्यन्त' इस वाक्य का पूर्ण अर्थ मैं कुछ भी नहीं जान रहा हूँ। अतः कृपाकर मुझे ठीक–ठीक समझाइये ॥४॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यह तो लोक और वेद में सब जगह प्रसिद्ध ही है कि मृत प्राणियों के प्राण आकाश में उत्क्रमण करते हैं। तो ऐसी दशा में यदि प्राण हैं, तो उनके भीतर चित्त और चित्त के भीतर विविधाकार जगत् भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि बीज के अन्दर वृक्ष *(इसकी आप संभावना कर सकते हैं)* ॥५॥

ठीक है, रहें, किन्तु वे दिशाओं में वायु द्वारा इधर–उधर कैसे पहुँचाये जाते हैं ? इस पर कहते हैं।

पुरुष के मर जाने पर उसके शरीर से उत्क्रान्त हुऐ प्राणवायु बाह्याकाश में पूर्ण पवनों के साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे स्वरूपतः द्रुत होने के नदियों के जल समुद्र के साथ मिल जाते हैं ॥६॥ अतः आकाशवायु से विशेषतः आकृष्ट हुए उन प्राणों के अन्तर्गत एकमात्र संकल्परूप से स्थित अनेक जगत् भी इधर–उधर खूब भ्रमण करते हुए जो दिखाई दे रहे हैं वे ही मानों वायु द्वारा इधर–उधर उड़ाये जा रहे प्रतीत हो रहे हैं ॥७॥ स्फुरित हो रहे संकल्पों से परिपूर्ण प्राणवायु के सहित पवनों से इन सब दिशाओं को मैं चारों ओर से परिपूर्ण देख रहा हूँ ॥८॥ यहाँ मैं देख रहा हूँ कि इस संकल्प कल्पित आँगन में मेरे सामने ये अनेक मन्दराचल और सुमेरु पर्वत उड़ रहे हैं । हे श्रीरामजी, आप भी अपनी बुद्धिदृष्टि से देखिये ॥९॥ आकाश में विद्यमान वायु के भीतर मृत प्राणियों के प्राण, उन प्राणों में उनका मन और उसी मन में जगत् को हे श्रीरामजी आप ऐसे स्थित जानिये, जैसे तिल में तैल स्थित रहता है ॥१०॥

इतने बड़े वजनदार ये जगत् भला वायु द्वारा कैसे उड़ाये जा रहे है, इस पर कहते हैं।

आकाशवायु के द्वारा आकाशवायु के समान (लघु) मनोमय प्राण जैसे उड़ाये जा रहे हैं वैसे ही मन के अंगभूत ये अनेक जगत् भी उड़ाये जा रहे हैं ॥११॥ चार प्रकार के प्राणियों के तथा आकाश, पृथिवी आदि समूहों के सहित अप्रतिष्ठित ये तीनों लोक भी एक देश से

दूसरे देश में ऐसे सर्वत्र मेरे सामने उड़ाये जा रहे हैं, जैसे कि गन्ध ॥१२॥ हे रघुनन्दन, अपने स्वप्न में देखे गये नगरसमूह के तुल्य ये संकल्पकल्पित जगत् बुद्धिचक्षु से ही सामने दिखाई देते हैं, चर्मचक्षु से नहीं ॥१३॥ आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म संकल्पकल्पित ये मनोमय जगत् सब जगह सर्वदा ही हैं और कल्पनामात्र सार होने से तनिक भी कहीं नहीं पहुँचाये जाते हैं ॥१४॥ यद्यपि वे सब कल्पनामात्रसार होने से असत्यरूप ही हैं, अतः कहीं इधर उधर नहीं उड़ाये जाते, तथापि वे उन तत्–तत् जीवों के भोग्यरूप अपने अपने स्वर्ग, नरक, पृथिवी आदि लोकों में उनका दृढ़भाव होने के कारण एवं सुख, दुःख आदि भोगों की क्रिया में समर्थ होने के कारण सत्यरूप ही है क्योंकि उनकी सत्यता के सम्पादक अधिष्ठान चिदंश तो सर्वगामी ही है । इसलिए हे रघुनन्दन, जिस तरह मेरी दृष्टि से श्रवण आदि अर्थक्रिया में समर्थ मेरे सामने आप सत्यरूप दिखते हैं उसी तरह ये भी दिखते हैं ॥१५॥ सामने स्थित प्राणरूप नदी में वेग में प्रतिबिम्बित नगरों की ही नाईं वासनामात्र होने से अनाविर्भूत तथा आविर्भूत हुए ये अनेक जगह इधर–उधर पहुँचाये जाते हैं और नहीं भी पहुँचाये जाते ॥१६॥ हे राघव, जैसे वायु में स्थित सुगंध इधर–उधर ले जायी जाती हैं वैसे ही प्राणवायु में स्थित आकाशात्मक जगत् भी इधर–उधर ले जाये जाते हैं ॥१७॥

यही कारण है कि तीनों जगत् के भ्रमरूप से चित्त में स्पन्दन और भेद रहने पर भी आत्मा में स्पन्दन और भेद नहीं है, यह कहते हैं ।

घट को देशान्तर में पहुँचा देने पर भी जैसे घट के अन्तर्गत आकाश में कोई भेद नहीं है, वैसे ही स्पन्दनमय चित्त में तीनों जगत् का भ्रम रहने पर भी आत्मा में स्पन्दन और भ्रम नहीं है ॥१८॥ जैसे मृत प्राणियों के प्राण में स्थित जगत् संकल्पमात्र होने से असद्रूप है, इसी तरह हे श्रीरामजी, आपका भी यह जगत् असद्रूप ही है । एकमात्र भ्रान्ति ही उदित हुई–सी है । परमार्थ में तो वह भ्रान्ति भी न तो नष्ट होती है और न उदित ही होती है । अर्थात् तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो वह भ्रान्ति भी एकमात्र ब्रह्मरूपिणी ही है ॥१९॥

व्यवहार दृष्टि से जगत् और इसकी भ्रान्ति दोनों यदि वायु के भीतर उड़ते हुए ही उदित हैं, तो फिर हम लोग इस पृथिवी को निश्चलरूप से कैसे देख रहे हैं ? इस आशंका पर कहते हैं ।

जगत् और इसकी भ्रान्ति ये दोनों उदित नहीं हैं, यह तो परमार्थ में निश्चित ही है । अथवा व्यवहार दृष्टि से यदि उदित हैं, तो भी वायु द्वारा किये गये इस पृथिवी के तत्–तत् भ्रमण, परिवर्तन आदि को इसके भीतर बैठे हुए हम लोग ऐसे नहीं देख रहे हैं, जैसे कि नौका में उत्पन्न हो रहे स्पन्द को उसके भीतर बैठे हुए मनुष्य नहीं देखते ॥२०॥

इसीको पुनः स्पष्टरूप से बतलाते हैं ।

जैसे अंग में संलग्न नौका के भीतर स्थित मनुष्यों तथा उसमें जटित कील आदिकों को उसकी

गति लक्षित नहीं होती, वैसे ही पृथिवी के भीतर स्थित पार्थिव देहादिमय होते हुए भी हम लोगों को इसकी गति लक्षित् नहीं होती ॥२१॥

इस तरह 'पश्येमे पुरः उद्यन्त इव मन्दरमेरवः' इस अपनी उक्ति का श्रीरामचन्द्रजी से उपपादन करके, उपर्युपर्यन्तरन्तः कदलीदलपीठवत्' इस उक्ति में भी छोटे में बड़े के समावेश को पहले बड़े में अल्पत्व की कल्पना करके दिखलाते हैं।

छोटे-से वृक्ष स्तम्भ में विचित्र व्यूहरचनापूर्वक निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील शिल्पकार की बुद्धि से अल्पत्व की कल्पना द्वारा जैसे योजनों दूर तक विस्तीर्ण हुआ घर अनुभूत होता है, वैसे ही भीतर-भीतर अत्यन्त सूक्ष्म भी परमाणु में यह संसार बुद्धि से कल्पना द्वारा अनुभूत होता है ॥२२॥

अथवा परमाणु आदि में बृहद्रूप की कल्पना करके उसमें बृहत् जगत् के समावेश का अनुभव नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

तुच्छ विचारवान् पुरुष छोटी-सी भी वस्तु को बहुत बड़ी मान बैठता है, जैसे कि रत्नों के भण्डार में प्रविष्ट हुई धनसम्बन्धशून्य मूषिकाएँ (चूहियाँ) रत्नों को बहुत नहीं मानतीं, किन्तु सिर्फ एक अंजलीभर अन्न को ही वहाँ अपने बड़े भाग्य से प्राप्त हुआ बहुत समझती हैं अथवा छोटे-छोटे बच्चे पहने हुए अपने बहुमूल्य आभरणों को भी अधिक आदर की दृष्टि से नहीं देखते, किन्तु मृग या पक्षी के आकार के बने हुए नवीन नानाविध रंगों से रंगें गये चमकते हुए मिट्टी के पिण्ड को ही अपने खेलने की बहुत बड़ी चीज समझते हैं जिससे कि वे उस मिट्टी के खिलौने से लुब्ध होकर अपने बहुमूल्य आभरणों को भी उसके बदले में दे डालते हैं ॥२३॥

छोटे में बड़े का समावेश वस्तुतः नहीं हो सकता, भ्रान्ति से तो हो ही सकता है, इस आशय से कहते हैं।

अज्ञान से आवृत चिति के जगन्नामक भ्रम में असद्रूप ही पदार्थ में जीवित को यह लोक, मृत को परलोक तथा उनमें धर्माधर्म फल की जो कल्पना है वह वृद्धिदशा को प्राप्त चित्त की संकल्परूप एकमात्र भावना ही है। इसका तात्पर्य यह है कि भावना को वस्तु का अन्यथा भाव रोक नहीं सकता ॥२४॥

मूर्खों को भीतर-भीतर जगद्भ्रम की भावना बनी रहे, कोई हानि नहीं, परन्तु आप-जैसे सर्वज्ञ महानुभावों को भला भीतर-भीतर एक जगत् के पीछे दूसरा जगत् विद्यमान है, यह भ्रान्ति कैसे, इस शंका पर कहते हैं।

यह वस्तु हेय है और यह वस्तु उपादेय है, इस तरह की भेदभरी अज्ञता जिसके अन्दर उपस्थित है, सर्वज्ञ होते हुए भी उस पुरुष की, व्यवहार चलाने के लिए जब तक प्रारब्ध का बिलकुल क्षय नहीं हो जाता तब तककुछ-न-कुछ, मूढ़ता उसके पीछे लगी ही रहती है ॥२५॥

यही कारण है कि सर्वज्ञ रहते हुए भी समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ को अपने अवयवों की नाईं

भीतर में ही तीनों जगत् का दर्शन होता है, यह कहते हैं ।

जैसे सचेतन लौकिक व्यष्टिपुरुष अपने हाथ, पैर आदि अवयवों का अपने भीतर ही अवलोकन करता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ भी अपने ही भीतर व्याप्त तीनों जगत् का अवलोकन करता है ॥२६॥

परन्तु माया उपहित ईश्वर ही इस तरह देखता है, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, संविदात्मक, परमाकाश अनन्त, अज एवं अविनाशी ईश्वर है । उसी माया उपहित परमाकाशरूप ईश्वर के अवयवस्वरूप ये समस्त जगत् है ॥२७॥

प्रलयकाल में ईश्वर अपने अन्तर्गत समस्त जगत् को कैसे देखता है । इस आशंका पर कहते हैं ।

यदि लोहे का गोला सचेतन हो, तो वह भी अपने अन्दर सूक्ष्मरूप से स्थित छूरे, सुई, कैंची आदि अपने भावी विकार को जैसे देख सकता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक ईश्वर भी अपने में लीन किये समस्त संस्कारों से समन्वित होकर तीनों जगत् के भ्रम को देखता है ॥२८॥ अधिष्ठान सद्रूप की प्रधानता से चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूप के प्राधान्य की विवक्षा से अचितिरूप मिट्टी का पिण्ड सकोरा आदि को जैसे अपना अंग मानता है वैसे ही सृष्टिजीवरूप ईश्वर भी जगत् को अपना अंग मानता है ॥२९॥ उपहित के प्राधान्य से चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूप के प्राधान्य से अचितिरूप अंकुर अपनी देह में जैसे वृक्षत्व मानता है, वैसे ही वृक्ष शब्दार्थ से रहित ब्रह्म इन तीनों लोकों को अपने में ही बाधित मानता है (卐) ॥३०॥

परिणामदृष्टि से जीव और ईश्वर के सृष्टि और सृष्टि के अभावकाल में जगत् के अवलोकन में दृष्टान्त कहकर विवर्तदृष्टि से भी कहते हैं ।

जैसे चिति या अचितिरूप दर्पण बिम्बित या प्रतिबिम्बित नगर को अपने भीतर जानता है वैसे ही ब्रह्म भी तीनों जगत् को जीव और ईश्वर की उपाधि से उपहित दृष्टि से जानता है तथा अनुपहित शुद्ध दृष्टि से नहीं भी जानता है (*) ॥३१॥

इस तरह श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्नों का समाधान देकर प्रासंगिक सभी बातें समाप्तकर, नाहन्त्वजगती भिन्ने पवनस्पन्दने यथा' इस पूर्व प्रस्तुत अर्थ का प्रकारान्तर से समर्थन करने के लिए अनुसन्धान करते हैं ।

हे श्रीरामजी, देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही ये तीनों जगत् हैं और अहंकार भी इन देश,

---

(卐) विशेषता यही है कि जीवसंस्कारउपहितरूप से वृक्षशब्दादिसहित ब्रह्म अपने को मानता है तथा जीवसंस्कार से अनुपहित ईश्वररूप से वह अपने को वृक्ष शब्दादि के अर्थ से रहित यानी अनादि सिद्ध विद्या से बाधित मानता है ।

(*) देखिये श्रुति–'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि।

कालादि के साथ अभेद सम्बन्धाभिमान रखने के कारण देश, कालादि रूप ही है, अतः देश-कालादिरूप जगत् और अहंकार इन दोनों में भेद नहीं है ॥३२॥

इसीका अनुभव कराने के लिए श्रुति और मैंने मिट्टी के पिण्ड और लोहे के गोले आदि दृष्टान्त यद्यपि अचेतन है, तथापि उनमें चेतनत्वका आरोप करके एक देश के साम्य से उनका उपन्यास किया है, यह कहते हैं।

कल्पित जडात्मक लोहे आदि के उपमानरूप से जो मैंने उपदेश दिया है, वहाँ उपमा के केवल एक अंश से उपमेय के साथ सधर्मता, समानता है ॥३३॥ जो कुछ यह स्थावर-जंगमरूप जगत् दिखाई दे रहा है वह सब अपनी वास्तविक ब्रह्मभावरूप परमसूक्ष्मता का त्याग न कर रहे जीव का विवर्तरूप स्थूल शरीर ही है ॥३४॥

यही कारण है कि अधिष्ठानदृष्टि से समस्त विवर्तों का ज्ञान से बाध होने पर सब ओर शुद्धात्मा का प्रसार करनेवाले पूर्ण पद में किसी तरह से तनिक भी जीव जगत् का भेद नहीं है, यह कहते हैं।

सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान से बाध होने पर शुद्ध संस्पन्दन प्रदान करनेवाले आत्मपद में निःसंग पाषाणकोष की नाईं तनिक भी भेद नहीं है ॥३५॥

परन्तु ज्ञान से समस्त पदार्थों का बाध न होने पर तो सर्वदा सर्वत्र सम्पूर्ण विकल्पों के रूप से ही चिति विवर्तित होती है, यह कहते हैं।

अबाध दशा में जो-जो विकल्पांश जहाँ-तहाँ जैसे-जैसे जब-जब जिस-जिस रूप से मूढ़ों से दिया जाता है वह उसी रूप से चिति ही विवर्तित होती है ॥३६॥

मन में भी चिति का अनुप्रवेश रहने से ही विचित्र संकल्पों की सामर्थ्य होती हैं, स्वतः नहीं, इसलिए यह निश्चित है कि चिति में ही सम्पूर्ण विवर्त की स्वतन्त्रता निहित है, यह कहते हैं।

आकाश में अंकुर की नाईं चिति का अभाव रहने पर मन में किसी तरह का संकल्प नहीं उठता। चिति के उसमें अधिष्ठित रहने से ही नाना प्रकार से संकल्प मन में उठते रहते हैं, इसलिए हे श्रीरामजी, आप यह जान लीजिये कि इस संसार में जितनी कल्पनाएँ मन में उदित होती हैं वे सबकी सब चिति स्वरूप ही है ॥३७॥ अज्ञानी के हृदय में जो-जो विकल्पश्री उदित होती है वह सब चिदाकाश के सर्वगामी और अनन्त होने से सद्रूप नहीं है ॥३८॥ अज्ञानी में जिस तरह विकल्पश्री उदित होती है उस तरह प्रबुद्ध में वह उदित नहीं होती, यह निश्चित है। चिदाकाश के सर्वव्यापक तथा देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य होने के कारण वह सद्रूप नहीं है ॥३९॥

यदि विकल्पश्री असद्रूप ही है, तो फिर बाल-गोपाल तक सभी को सत्य-सी इसकी प्रतीति कैसे होती है, इस आशंका पर कहते हैं।

जाग्रत काल की कल्पनाएँ ही सत्य प्रतीत होती हैं, यह बात नहीं है, किन्तु स्वप्नकाल आदि

की भी सभी कल्पनाएँ सत्यरूप प्रतीत होती हैं। यह बात बालक तक जानते हैं। परन्तु हे श्रीरामजी, स्वप्न में भ्रान्ति आदि में उपलब्ध हुए गज, रजत आदि पदार्थ किसी के भी द्वारा अपने भीतर सत्यरूप से गृहीत नहीं होते ॥४०॥

सत्यस्वरूप यह संसार भला असत्यरूप कैसे होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

जाग्रत् और स्वप्न के संकल्प, वासनामय सुषुप्ति तथा इन दोनों में प्रतिबिम्बित चिद्रूप भोक्ता जीव–ये दोनों पदार्थ सत्यकूटस्थ चिति के द्वारा अपने स्वरूप में चित्र की नाईं चित्रित हुए हैं, इसलिए चित्र संसार के सदृश यह संसार अधिष्ठानसत्ता से सत्यस्वरूप अनुभूत होता हुआ भी असत्यरूप जीव की ही दृष्टि में सत्यरूप हैं, अधिष्ठान सत् की दृष्टि में नहीं, क्योंकि उसके साथ तो उसका स्पर्श नहीं है। तात्पर्य यह कि जैसे चित्र में प्रतिबिम्बित या स्वप्न में देखे गये घोड़े, चित्र या स्वप्न के पुरुषों के ही चढ़ने के काम में आते हैं, इन दोनों के बाहर रहनेवाले सत्य पुरुष के चढ़ने के काम नहीं आते वैसे ही असत्पुरुष के लिए ही यह असद्रूप संसार भी है, सत्पुरुष के लिए नहीं है ॥४१॥ अथवा 'ब्रह्म वा इदमग्र् आसीत्' इत्यादि श्रुति से सत्यपुरुष में ही यह असद्रूप संसार, अपने अबोध के कारण, भले ही बना रहे, तथापि वह पुरुष तो नित्यमुक्त ही कहा गया है क्योंकि जिस तरह तत्त्वज्ञान के पहले सत्यस्वरूप वह ब्रह्म अपनी सत्यता को जगत् में संक्रमितकर स्वयं सत्यत्वनाम को प्राप्त होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान के बाद भी वह बाधित हुए जगत् से अपनी सत्ता को अपने ही में उपसंहार करके उसके असत्य नाम को भी स्वयं प्राप्त होता है। इसीलिए यह निश्चित है कि अधिष्ठानमात्र के परिशेष से अन्य दूसरी कोई प्रपंच की असत्यता कदापि नहीं कही जा सकती, क्योंकि आतिवाहिक देह के सहित अकेले एकमात्र अपने ज्ञान का परिक्षय होने पर पूर्णतारूप विकास से युक्त प्रत्यगात्मा ही शिवस्वरूप शेष रह जाता है ॥४२॥

यही कारण है कि अज्ञानदृष्टि से ही ये जगत् इधर–उधर उड़ाये जा रहे है, तत्त्वदृष्टि से नहीं यह जो पहले कहा है, उसका अब उपसंहार करते हैं।

इसलिए सेमल की रुई के समान आकाश में ये जगत् इधर–उधर वायु द्वारा उड़ाये जा रहें हैं, यह उक्ति भी अज्ञानियों की दृष्टि से ही है। परमार्थ में तो कल्पनामात्र होने से न तो ये जगत् हैं और न पत्थर की तरह इधर–उधर वायु द्वारा उड़ाये जा रहें हैं ॥४३॥ इस वर्णित रीति से अखिल पदार्थ–समूहों का ज्ञेयभूत अज्ञात प्रत्यगात्मरूप, परमार्थतः सर्वत्र व्याप्त तथा शून्याकाश के सदृश चिदाकाश में अविद्या द्वारा अनन्त जगत् स्थित हैं। वे कितने तो कुछ जीवों के भोजक अदृष्ट का साम्य होने पर जाग्रतअवस्था में ब्रह्माण्ड की एकता से परस्पर मिले हुए रहते हैं एवं अदृष्ट का वैषम्य होने पर तो ब्रह्माण्डभेद और स्वप्नावस्था में परस्पर मिले हुए नहीं भी रहते हैं ॥४४॥

उन्हींको विशेषरूप से कहते हैं।

ब्रह्म के सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण गुण, वस्तु, क्रिया और जात्यादि से अनन्तरूप,

नानाविध कार्यों का आरम्भ किये हुए दिगन्तों में संस्थित जनों से परिपूर्ण, चंचल जलाशय के भीतर प्रतिबिम्बित नगर के समान क्षणभंगुर अतएव अपने अन्तःकरण में स्थित, सम्पूर्ण सामग्रियों से भरे देव, गंधर्व आदि के नगरों के समान ये सब संसार हैं ॥४५॥ अनुवृत्त वस्तु के (ब्रह्म के) स्वरूप से निरन्तर स्थैर्ययुक्त भी व्यावृत्तभावविकारों के कारण क्षणभंगुर एवं जाग्रत्अवस्था में व्यक्ताक्ष (इन्द्रियों से प्रकट हुए) भी निमीलित (तत्त्वतः अप्रकट) तथा आत्मज्योति से प्रकाशयुक्त होने पर भी उसके अज्ञानरूपी तम से आवृत होने के कारण चारों ओर अन्धकार से आवृत हुए ये संसार चिद्रूपी समुद्र के तरंगों के विवर्तनरूप हैं ॥४६॥

पृथक्रूप से स्थित हुए इनके एकत्र मिलकर रहने में तथा एकत्र मिले हुए इनके पृथक्रूप से स्थित रहने में क्रमशः दो द्रष्टान्त कहते हैं।

जैसे नदीरूपी पात्र में पृथक्रूप से स्थित हुए भी जल सागर में बिलकुल मिले हुए रहते हैं तथा आकाश में एक ही समय में उदित हुए भी सब तारों के प्रकाश 'यह इसका प्रकाश है' इस तरह से विवेचन करने में अशक्य होने के कारण एक में सर्वथा मिले हुए भी एक के चलने पर दूसरे के न चलने में पृथक् स्थित हुए रहते हैं, वैसे ही पृथक्-पृथक्रूप से स्थित हुए भी ये सब संसार आत्मा में एकरूप से स्थित हैं ॥४७॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

जीव का स्वरूप, उसका तत्त्व, समष्टि-व्यष्टि शरीरों की कल्पना तथा
स्थान एवं कारणों की भिन्नता से भोग भेद - इन सबका वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, जीव का जो स्वरूप है यानी शास्त्रीय व्यवहार में उपयोगी तथा जैसा पारमार्थिक उसका रूप है, उसकी स्थूल देह की जैसी कल्पना होती है, जिस रीति से उसकी परमात्मरूपता है तथा जो उसका स्थान हो, वह सब हमसे कहिए ॥१॥

मोक्षशास्त्र में जो समष्टिजीव प्रसिद्ध है, उसका परिशोधन हो जाने पर वह ब्रह्म के साथ अभिन्न बन जाने में योग्य हो जाता है, यह पहले बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अनन्त व्यापक जो चेतन ब्रह्म है, वही अपने संकल्प से प्राण द्वारा 'जीव' (📖) यों व्यवहृत होकर तथा चक्षु आदि द्वारा दूसरा 'चित्' नामवाला होकर

(📖) 'हन्ताहमिमास्तिस्रमो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि' इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित निजी संकल्प द्वारा अपने से प्रकाशित होनेवाले सूक्ष्म भूतरूप उपाधि में प्रवेश से उसके स्तम्भक प्राणों के धारण से तथा 'जीव प्राणधारणे' इस धातु के अर्थ के अनुगम से प्राण के द्वारा परब्रह्म का जीवशब्द से व्यवहार किया गया है, यह भाव है।

जीवशब्द से कहा जाता है ॥२॥

उसका पारमार्थिक स्वरूप बतलाते हैं।

भद्र, जो परम अणुरूप नहीं है, जो स्थूल नहीं है, जो न शून्यस्वरूप है, जो शून्य आकाश के अन्तर्गत है, जो चिन्मात्र, अनुभवस्वरूप है और सर्वत्र व्यापक है, वही जीव कहलाता है ॥३॥ जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं से भी सूक्ष्म है, जो गुरुतर वस्तुओं में सबसे बढ़-चढ़कर गुरुतर (स्थूलतम) है, जो तुच्छरूप नहीं है और जो सर्वात्मक है, उसीको पण्डित लोग जीव कहते हैं ॥४॥

जीव की सर्वव्यापकता को अनुभव पर चढ़ाते हैं।

जिस-जिस पदार्थ का जो असाधारण स्वरूप है, उस-उस पदार्थ में उस-उस रूप से स्थित उसी जीव को ही आप जानिए, इसलिए उस-उस पदार्थ के रूप में जीव ही भासमान होता है क्योंकि बार-बार देखने पर तत्-तत् पदार्थों के आकार में ही उसका अनुभव होता है, यह अकाट्य नियम है। तात्पर्य यह है कि घट और चक्षु का सम्बन्ध होने पर चक्षु के द्वारा निकला हुआ अन्तःकरण स्ववृत्ति में सम्बद्ध घटावच्छिन्न जीवचैतन्य को ही 'यह घट प्रकाशित होता है' इस रूप से घटस्वभाव के तादात्म्यरूप से ही अनुभव कराता है ॥५॥ हे श्रीरामजी, अतएव समष्टिजीव जहाँ पर जिस रूप से संकल्प करता है, वहाँ पर उस रूप का हो जाता है, क्योंकि समष्टिजीव जो संकल्प करता है, वह सत्य ही होता है और व्यष्टिजीव जैसा रहता है, वैसा ही संकल्प करता है ॥६॥

ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकला कि जो चित्रविचित्र समस्त वस्तुओं का समष्टिजीव को भास होता है, वह भासरूप सर्ग पवन के स्पन्द की नाईं समष्टिजीव का स्वानुभव सिद्ध स्वभाव है, न कि बालक की यक्षभ्रान्ति के सदृश उपदेशाभ्यास से उत्पन्न है, यह कहते हैं।

जैसे पवन की संचलन क्रिया स्वभाव सिद्ध है, वैसे ही समष्टिजीव का चित्रविचित्र वस्तुओं का अनुभवात्मक सर्ग (संसार) स्वभाव ही है, यह अपने अनुभव से निर्णय कर लेना चाहिए, बालक की यक्षभ्रान्ति के सदृश इसका इस उपदेश से साधन करना नहीं चाहते ॥७॥

इसलिए मुक्ति, सुषुप्ति और महाप्रलय-काल में बाह्य आभ्यन्तर सभी पदार्थ चेतन में, जीवभाव के रहते भी, शान्त हो जाते हैं, यह कहते हैं।

जैसे संचलन क्रिया के न होने से अपना अस्तित्व रहते भी वायु असद्रूप बन जाता है, वैसे ही चित्र-विचित्र पदार्थों का प्रकाश न होने से मुक्ति आदि अवस्थाओं में अपना अस्तित्व रहते भी जीव ब्रह्मरूप बन जाता है ॥८॥

अब जीव किस-किस तरह के आकारों को ग्रहण करता है, इसको बतलाने के लिए सबसे पहले अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए तथा समस्त कल्पनाओं के मूलस्तम्भस्वरूप समष्टि अहंकार के अध्यास का दिग्दर्शन कराते हैं।

जो समष्टिजीव है, वह असल में चैतन्यघन का ही स्वरूपभूत है और 'अहम्' रूप से स्फुरित होता है, इसी से देश, काल, क्रिया और द्रव्य की असीम शक्ति का निर्माण (आविर्भाव) कर वह अवस्थित रहता है ॥९॥

अब सूक्ष्मभूतों के संस्कारों की उत्पत्तिरूप समष्टिचित्त की कल्पना बतलाते हैं।

अनन्तर देश, काल, क्रिया और द्रव्य से युक्त (संस्काररूप से थोड़ा-सा आविर्भाव होने के कारण युक्त) एवं उनसे अयुक्त (स्थूलरूप से भलीभाँति आविर्भाव न होने के कारण अयुक्त) स्वयं असत्य होती हुई भी सत्य वस्तु के सदृश स्फुरित हो रही, केवल असत्य स्वरूपवाली समष्टिचित्तरूपता के कारण तथा सूक्ष्मतम जल का सम्बन्ध होने के कारण हिम परमाणु के सदृश, असदाकार परमाणुरूपता का आत्मा में अवलोकन करता है यानी आत्मा को परिच्छिन्न समझ बैठता है। अपनी आत्मरूपता के विषय में, स्वप्न में अपने मरण के सदृश तथा स्वप्न में बाघ आदि रूपता के दर्शन से प्रतीयमान अपने हाथ, पैर आदि अवयवों की अन्यरूपता के सदृश उसकी (समष्टि चित्तरूप विष्णुरूपता की) भावना करता हुआ चेतन सत्ता को भूलकर उसी की कल्पना के पीछे-पीछे दौड़ता रहता है ॥१०-१२॥ अनन्तर इस तरह का जाना गया उक्त चेतन अपने स्वरूप में तत्काल स्थूलरूपता का (पंचीकरण से स्थूलता सम्पादन कर स्थूल समष्टि विराट्रूप होकर स्थूलरूपता का) अनुभव करता है और उसमें अपने समष्ट्यात्मक द्रवस्वभाव मन को चन्द्रबिम्ब के सदृश समझने लग जाता है, यही उसकी बुद्धिसमष्टिरूप ब्रह्मरूपता है ॥१३॥

विराट् देह में उसके भोग की उपपत्ति के लिए समष्टिरूप मन से आदित्यादि रूप पाँच इन्द्रियों और उनके स्थलभेद की कल्पना को कहते हैं।

अनन्तर चन्द्रबिम्बस्वरूप अपने स्वरूप में काकतालीय न्याय के सदृश अकस्मात् उत्पन्न हुई भिन्न-भिन्न पांच इन्द्रियों के रूप में यह स्वयं प्रकाशित होने लगता है ॥१४॥ इसके बाद पाँच इन्द्रियों के अलग-अलग पांच स्थानों के रूप में यह अपना अनुभव करता है और उनके स्थानभूत अलग-अलग रूप आदि के उपभोगद्वारों का भी अनुभव करता है ॥१५॥ पीछे आदित्य, दिशा, जल, वायु और पृथिवीरूप पाँच इन्द्रिय-स्थानरूप अवयवों से युक्त होकर रूप आदि पाँच विषयों का उपभोग कर रहा विराट पुरुष बन जाता है, यह विराट् पुरुष अनेक मानसिक विकल्पों के कारण अनन्त आकार की कल्पनाओं द्वारा अनन्त आकारों के विज्ञान से युक्त रहता है, इसका स्वरूप अव्यक्त है तथा समस्त विकारों से शून्य है ॥१६॥

उनके मनोमयरूप होने पर भी स्वतःसिद्ध ज्ञानैश्वर्य से एवं सब शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण वह जीव और ईश्वर दोनों रूप है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यह मनोमयरूप से उदित हुआ हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम परब्रह्म से आविर्भूत है, अतः आकाश के समान विशद, शान्त, नित्य, आनन्दस्वरूप एवं प्रकाशमय है ॥१७॥ समस्त प्राणियों का

समष्टिरूप अद्वय विराट् पुरुष परम परमेश्वररूप है और पंचभूतात्मा न होने पर भी पंचभूतात्मा के सदृश भासमान है ॥१८॥

ईश्वररूप होने से वह अपने आविर्भाव और तिरोभाव में बिलकुल स्वतन्त्र है, यह कहते हैं।

सर्वशक्ति–सम्पन्न होने से वह शीघ्र ही स्वयं आविर्भूत होता है, स्वयं विलीन हो जाता है, स्वयं विस्तार को प्राप्त होता है तथा स्वयं ही संकोच को भी प्राप्त हो जाता है ॥१९॥ अपने संकल्प से कल्पित अनेक कल्पों में तथा क्षणभर में वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं उदित होता है तथा पुनः पुनः उदित हो होकर वह फिर–फिर शान्त भी हो जाता है ॥२०॥ केवल मनोमात्रस्वरूपात्मक यह जीव ही सबके उपादानभूत ईश्वररूप प्रकृति का शरीर है और यही व्यष्टिरूप से सब जीवों का पुर्यष्टक (सूक्ष्म) शरीर भी कहा गया है ॥२१॥ यही अव्यक्त अनन्त आकाशात्मा परमेश्वर पिपीलिकादि सूक्ष्म देहों में सूक्ष्म, स्थूल पदार्थों में स्थूल, सबके बाहर और भीतर व्यक्तअव्यक्त, परमार्थ में किंचिद्रूप न होने पर भी व्यवहार में किंचिद्रूप यानी परिच्छिन्नरूप है ॥२२॥ हे श्रीरामजी, मूर्त एवं अमूर्तस्वरूप पंचज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियसहित प्राण, षष्टेन्द्रिय मन और अहंकार ये आठ उस पुरुष के अंग हैं ॥२३॥ उसीने अपने चार मुखों से शब्दार्थों की कल्पना से युक्त इन चारों वेदों का गान किया है। उसीने शास्त्रीय सदाचार आदि की मर्यादा इस ढंग से स्थापित की है कि आज भी ज्यों–की–त्यों व्यवस्थितरूप से चली आ रही है ॥२४॥ अनन्त आकाश इस पुरुष का मस्तक है, पृथिवी इसके पैर का तलवा है, मध्याकाश इसका उदर (♠) है तथा यह ब्रह्माण्ड इसका शरीर है ॥२५॥ अनन्त लोक इस विराट् पुरुष के पार्श्व के अवयव हैं, जल रक्त हैं, समस्त पर्वत मांसपेशियाँ हैं और निरन्तर बह रही ये नदियाँ इसकी नाड़ियाँ हैं ॥२६॥ ये सब समुद्र रक्तसंचय की पेशियाँ हैं, सभी द्वीप छः कोशों के वेष्टन हैं, दिशाएँ बाहु हैं और ये चमकते तारे (📖) रोमसमूह हैं ॥२७॥ आवह, प्रवह आदि उनचास पवन इसी प्राणवायु, मार्तण्डमण्डल इसकी क्रूर आँखें और बडवानल इसका चित्त है ॥२८॥ चन्द्रमण्डल ही इस विराट् पुरुष का जीव, श्लेष्मा, वीर्य, बल, चर्बी और संकल्पात्मक मन है तथा ब्रह्म ही साररूप आत्मा है ॥२९॥

बीजादिभाव भी मन का ही होता है, यह कहते हैं।

चन्द्ररूपी मन ही शरीररूपी वृक्ष का मूल, कर्मरूपी वृक्ष का बीज तथा सम्पूर्ण भाव पदार्थों का उत्पादन करने एवं अन्नादिरूप से वर्धन करने से आनन्द का कारण है ॥३०॥

वही विराट् शरीर में जीव है, क्योंकि अन्नरूप उसी से समष्टि प्राणों का धारण होता है, इस

(♠) देखिये यह श्रुति–'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' ।

(📖) यद्यपि छान्दोग्य श्रुति में 'लोमानि बहिः' यह कहा गया है तथापि दूसरी श्रुति के अनुरोध से यहाँ 'तारका' यह उक्ति हैं ।

आशय से कहते हैं।

जो यह चन्द्रमण्डल है वही सम्राट जीव कहलाता है। अन्नमय व्यष्टि शरीरों का वह बीज है, प्राणहेतुक सम्पूर्ण कर्मों का मूल है और व्यष्टि मन का वही कारण (१) है ॥३१॥

उसीको फिर स्पष्टरूप से कहते हैं।

इस चन्द्ररूपी विराट् जीव से इन तीनों लोकों में सब जीव कर्म, मन, विषयभोग तथा मोक्ष प्रवृत्त होते हैं ॥३२॥ इस चन्द्ररूपी विराटजीव के संकल्पस्वरूप ही ये ब्रह्मा (२) विष्णु और भगवान् शंकर आदि देवता हैं तथा उसी के चित्त के चमत्काररूप ये सुर, असुर और पक्षी आदि नाना प्रकार के जीव-समुदाय हैं ॥३३॥

चित्तउपहित चिति के विवर्तरूप से चित्त की चमत्कारता को प्रकट करते हैं।

सृष्टि के आदि में चन्द्रमा की अत्यन्तसूक्ष्म अमृत कलात्मता को साक्षीरूप से जान रहा विराट् प्रजापति जब देवतादि के शरीराकार का संकल्प करता है, तब शीघ्र वह चतुर्मुखादि शरीरभाव में ही स्वयं सिद्ध की नाईं स्थित हो जाता है, तात्पर्य यह कि वह सत्यसंकल्पवाला होने से शीघ्र संकल्पितरूप में ही परिणत हो जाता है ॥३४॥ इसलिए, हे रघुद्वह, इस चन्द्रमण्डल को ही आप सम्पूर्ण जीवसमष्टिरूप विराट् जीव का स्थान और अपंचीकृत पंचभूतावयवयुक्त शरीर समझिये इसी का जाग्रदवस्थारूप से सबको अनुभव होता है ॥३५॥

चन्द्ररूपी विराट् जीव से व्यष्टि जीव का प्रसार जो पहले कहा गया है उसका उपपादन करते हैं।

चन्द्रमारूपी विराट्जीव से प्राणियों के जीवन के साधनभूत अन्न आदि सब पदार्थ, जो औषधियों में चन्द्रकलाओं के प्रसाररूप हैं, सर्वत्र प्रसृत होते हैं ॥३६॥ वे ही जीवित प्राणियों के शरीरों में जीव होकर जीते हैं और मन हो करके अनेक जन्मों के कारणभूत कर्म किया करते हैं ॥३७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह नानाविध आचारों से युक्त असंख्य विराट् के शरीर तथा असंख्य महाकल्प बीत चुके हैं, आगे चलकर होंगे और इस समय हैं भी ॥३८॥ हे श्रीरामजी, ब्रह्म से अभिन्न, अतएव अवधिशून्य एवं महान् व्यष्टि और समष्टि के देहसम्बन्ध से युक्त इस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्ता से ही 'तद्विवर्तो विराट् पुरुषः' इस वर्णित रीति से सब देश और सब कालों में परम विराट पुरुष इस मायावृत ब्रह्म में अवस्थित रहता है ॥३९॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

---

(१) इसमें 'चन्द्रमा मनसो भूत्वा हृदयं प्राविशत्' यह श्रुति प्रमाण है।

(२) ब्रह्मा आदि के शरीर भी चन्द्ररूपी अमृत के परिणाम ही हैं। देखिये इस विषय में श्रुति क्या कह रही है - सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

बीसवाँ सर्ग

वासना, कर्म और इच्छा के अनुसार संकल्पों के सर्जन से व्यष्टिजीवों की समष्टि के साथ समता का वर्णन।

ब्रह्म विराट् पुरुष के सत्यसंकल्प के अनुसार ही विवर्त धारण करता है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, पंचभूतात्मा विराट् पुरुष स्वयं जिस-जिस तरह की कल्पना करता है, उस-उस तरह से ब्रह्मरूप आकाश भी विवर्तभाव को धारण कर लेता है ॥१॥ चूँकि ब्रह्म पूर्व की उपासना से मिश्रित वासना से सृष्टि के आरम्भ में पंचभूतात्मक विराट्-स्वरूप बनकर उपासना के फलभूतपंचमहाभूतात्मक विषय-समष्टि का उपभोग करने में तत्पर हुआ है, अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत् को विराट् पुरुष का एक संकल्प ही मानते हैं ॥२॥ अतः मिट्टी आदि हेतुओं से उत्पन्न सकोरे आदि मिट्टी के स्वभाव से ही ओत-प्रोत रहते हैं, यह देखा गया है, अतः समस्त जगत् के पदार्थों का कारण विराट् होने से जगत् भी विराट् के स्वभाव से ओत-प्रोत है ॥३॥ जैसे विराट् पुरुष (समष्टिजीव) समस्त जगत् का निर्माण करता है, वैसा ही व्यष्टिजीव भी अपने में समस्त जगत् का निर्माण करता है क्योंकि मानसिक वृत्ति के अनुसार जब व्यष्टि जीव को बाह्याकार विज्ञान उत्पन्न होता है, तब व्यष्टिजीव भी समष्टिजीव के अनुसार तत्-तत् पदार्थों के स्वरूपज्ञान से युक्त रहता ही है ॥४॥ भद्र, तुच्छ से तुच्छ कीटादि तक और बड़े से बड़े रुद्र तक इस तरह का जगत्-रूपी भ्रम जो उत्पन्न हुआ है, वही यह सृष्टि है। जैसे छोटे से बीज में बड़ा वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही छोटे से छोटे अणुरूप आत्मा में यह विशाल पर्वतरूप भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥५॥

ऐसा भले ही हो, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

कीट तक और रुद्र तक जितने व्यष्टिजीव हैं, वे सब अपने में जगत् का निर्माण करते हैं और ये सब परम सूक्ष्म शरीर के रहते भी अनन्त आत्मस्वरूप को समझकर ही, न कि समझे बिना निर्माण करते हैं ॥६॥ जैसे विराट् आत्मा में इस समस्त जगत् का विस्तार कल्पनावश हुआ है, वैसे ही सभी इन मच्छर आदि सूक्ष्म भूतों में जगत् का विस्तार हुआ है ॥७॥ भद्र, परमार्थतः न स्थूल है और न कुछ कहीं सूक्ष्म ही है, परन्तु भ्रान्ति से जहाँ कहीं जो कुछ बन जाता है, वहाँ वह तत्क्षण ही अनुभूत हो जाता है ॥८॥

व्यष्टिमन और व्यष्टिमन से उपहित जीव - इन दोनों का तो विराट् कारण है, अतः उनकी समानता कैसे ? इस पर कहते हैं।

मन चन्द्रमा से उत्पन्न हुआ है और मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, समष्टि जीव से व्यष्टिजीव उत्पन्न हुआ है अथवा समष्टिजीव और व्यष्टिजीव दोनों की सत्ता एक ही है, अतः भेद का अवसर ही नहीं है, इसलिए उसमें कारणत्व का प्रसंग कैसे हो सकता है ? ॥९॥

इस तरह उपाधिरूप मन की कारणता का निरास कर अब उपहितजीव के प्रति कारणता का निरास करने के लिए उपाधि का स्वरूप बतलाते हैं।

सबसे पहले हिमकण के सदृश तथा शुक्र (वीर्य) रूप उपाधि से युक्त जीव होता है, यह मुनियों का मत है। इस शुक्रोपहित जीव से ही माता–पिता के मैथुन काल में अचल पूर्णानन्द ब्रह्म का भोगाकार वृत्ति में प्रतिबिम्ब पड़ने से रतिरूप आनन्द प्रवृत्त होता है, इसी आनन्द की एक मात्रा को लेकर दूसरे प्राणी अपने–अपने आनन्द का निर्वाह करते हैं। इस अर्थ की प्रतिपादक श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है ॥१०॥ उसी ब्रह्म के आभासरूप आनन्द का, जो शुक्रयुत जीवात्मक चैतन्य में स्थित् है, वीर्यरूप स्वभाव के द्वारा अनुभव करता है, उसी में तादात्म्याध्यासरूप तन्मयता धारण कर चिति तद्रूप बन जाती है ॥११॥ अनन्तर यह जीव चिति उस वीर्य में पंचभूतात्मक देहरूपता को धारण करती है, यही इसकी उपहितता है, ऐसी स्थिति में उसमें न तो कोई कारणता है और न कोई कार्यरूपता ही है ॥१२॥

यदि उपाधियुक्त स्वरूप में कोई भी कारण नहीं है, तो वह जीवों का अनागन्तुक स्वरूप स्वभावरूप ही माना जायेगा, स्वभाव तो किसी का चला जाता नहीं, ऐसी स्थिति में जीवों की मुक्ति ही नहीं होगी, इस प्रकार की आशंका कर कहते हैं।

आप जो इस औपाधिक रूप के विषय में कहते हैं कि वह अनागन्तुक जीव का स्वभाव ही है, वह आपका कथन किसी अर्थ से पूर्ण नहीं है यानी वह कोई मूल्य ही नहीं रखता, क्योंकि स्व और स्वभाव में कोई प्रतियोगी और व्यवच्छेद है ही नहीं। सारांश यह है कि स्वशब्दार्थ से युक्त जो भाव है, यही तो स्वभावशब्द का अर्थ है, यहाँ स्वशब्द का अर्थ यदि शुद्धआत्मा मान लिया जाय, तो शुद्ध वस्तु अद्वितीय है, अतः न तो वह प्रतियोगी है और न उसका कोई व्यवच्छेद ही है, इसलिए अव्यावर्तक (किसी से भिन्नता न करनेवाले) स्वशब्दार्थ से भिन्न भावशब्दार्थ का निरूपण न हो सकने के कारण स्वशब्दार्थविशिष्ट भावशब्दार्थ का (स्वभावार्थ का) साधन करना ही नहीं बन सकता ॥१३॥

यदि स्वशब्द का अर्थ उपाधि से युक्त आत्मा मान लिया जाय, तो भी यह स्वशब्दार्थ से पृथक् भावशब्दार्थ नहीं पा सकता, जिससे कि स्वशब्दार्थ से भावशब्दार्थ में कोई विशेष बात आ जाय, यह कहते हैं।

उपाधि से युक्त जीव भी स्वयं उपहित–स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें जीवत्वरूप उपहितरूपता ही विराजमान है अतः उपहितरूप को छोड़कर और कोई दूसरारूप, जो कि भावशब्द का अर्थभूत तथा स्वविशेष्यता के लिए योग्यता रखता हो, भीतर या बाहर यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। यही रूप– जैसे 'वायु बहती है' यहाँ पर क्रियारूप ही वायु का विकल्पवृत्ति से भेद मानकर 'बहती है' कहा जाता है वैसे ही 'जीवो जीवत्वम्' आदि द्वारा – धर्मधर्मिभावरूप भेद मानकर कहा जाता है ॥१४॥

यदि नित्य या अनित्य स्वभावभूत जीवस्वरूप नहीं है, तब वह है क्या चीज, जो संसार में फँस जाती है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह चीज अनिर्वचनीय अज्ञान से आवृत ब्रह्म ही है यानी अपने विपरीत स्वरूप का अवलोकन ही उक्त चीज है और यही संसार में फँसती है, यह कहते हैं ।

जैसे कुहरे से आच्छादित वस्तु का स्वरूपतः ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, वैसे ही नीहार के सदृश स्वरूप–आच्छादन करनेवाले अज्ञान से आवृत आत्मा का भी स्वरूपतः ज्ञान न होकर जो विपरीत अवलोकन है, वही जीव का स्वरूप है, इसी से विषयात्मक वस्तुओं की ओर उसकी प्रवृत्ति झुकी हुई रहती है । जड़ इन्द्रिय आदिरूप अपने को मानकर जैसे जन्मान्ध पुरुष मार्ग को नहीं देखता, वैसे ही वह अपने स्वरूप को नहीं देखता ॥१५॥ जगत् के रूप में वर्धित अविद्याशक्ति के प्रभाव से तिरस्कृत अतएव अपनी एकता की द्वैतरूप में (द्रष्टा–द्रश्यरूप में) कल्पना कर उसीमें अभिनिवेश करके जीवात्मा बैठा रहता है । इसीलिए पवन जैसे अपनी स्पन्दनशक्ति नहीं देखता, वैसे ही अविद्याशक्ति से आवृत वह आत्मा अपने स्वरूप को नहीं देखता ॥१६॥

इसीलिए विद्या से अविद्या का विनाश सम्भव होने के कारण अनिर्मोक्ष दोष नहीं आ सकता, यह कहते हैं ।

मिथ्या विषयरूप, असत् तथा 'अयम्' रूप अज्ञानरूपी सबसे बड़ी गाँठ का जो भेदन है, वही मोक्ष है, यह मुनियों द्वारा कहा गया है ॥१७॥ इसलिए हे श्रीरामजी, सबसे पहले आप अज्ञानरूप घनमेघ से छुटकारा पाये हुए चैतन्य प्रकाशरूप बन जाइए, फिर अपने को अहंकार की उपाधि से परिच्छिन्न न समझिए यानी शोधित त्वंपदार्थरूप हो जाइए, फिर मूर्त, अमूर्त और मूल अज्ञान के बाध से युक्त निरन्तर उदितस्वभाव होकर नामशून्य, आनन्दैकरसघन एकमात्र चेतनरूप (शोधित तत्पदार्थरूप) हो जाइए और इस प्रकार होकर आप चारों ओर से पूर्ण बनकर स्थित रहिए ॥१८॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

शुभ और अशुभ दो तरह की ज्ञानबन्धुता है, इनमें शुभ ग्राह्य है और अशुभ हेय है, इसका यत्नपूर्वक लक्षणों द्वारा वर्णन ।

इन दोनों में पहले हेय ज्ञानबन्धुता का वर्णन करने के लिए भूमिका रचते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मनुष्य को सदा ज्ञानी (卐) ही होना चाहिए, ज्ञानबन्धु (ॐ) नहीं होना चाहिए । मैं अज्ञानी को अच्छा समझता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धुता को

(卐) ज्ञानी का लक्षण आगे चलकर बतलाया जायेगा ।

(ॐ) ज्ञान के बहाने सत्कर्मों में श्रद्धा के त्याग से भोगों में लम्पट बनाकर जो अपने को और दूसरे को अनर्थों के द्वारा बाँध देता है, वह ज्ञानबन्धु कहा गया है ।

अच्छा नहीं समझता ॥१॥

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन कहा जाता है तथा ज्ञानबन्धु होने में कौन फल मिलता है और ज्ञानी होने में कौन फल मिलता है, यह सब आप कृपाकर मुझे बतलाइए। प्रश्न करने का मेरा आशय यह है कि किस स्वरूप को प्राप्त करके मनुष्य ज्ञानबंधु होता है और किस स्वरूप को प्राप्त करके ज्ञानी कहा जाता है तथा इन दोनों के फल क्या हैं ? यह सब भलीभाँति मुझे बतलाइये ॥२॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जो शास्त्रों को केवल अपने भोग के लिए शिल्पी की तरह पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, परन्तु स्वयं जो ज्ञान के उपायभूत साधनचतुष्टय के सम्पादन और मनन आदि में प्रयत्न नहीं करता वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥३॥ जिसका शास्त्राभ्यासजनित शाब्दिक बोध भोग-व्यवहारों में वैराग्योपरम आदि फलों से फलित नहीं दीखता वह तत्त्वकथाओं द्वारा दूसरों को ठगने के लिए चातुर्यपूर्ण बोधरूपी शिल्पकारी से अपना जीवन-निर्वाह करनेवाला होने से ज्ञानबन्धु कहा गया है ॥४॥ एकमात्र भोजन, वस्त्र आदि से सन्तुष्ट होकर भोजन आदि की प्राप्ति को ही जो शास्त्राध्ययन का फल मानते हैं, उस शास्त्रार्थ कथा का अभिनय करनेवालों को नटादि शिल्पियों के समान ही समझना चाहिए ॥५॥

शुभानामक दूसरी ज्ञानबन्धुता को लक्षण बतलाकर दिखलाते हैं।

जो शास्त्रार्थज्ञान के उचित, किये जानेवाले वेदान्तश्रवण में चित्तशुद्धि द्वारा अनुकूल निष्काम अग्निहोत्र आदि धर्मों में अथवा श्रुतिबोधित अपने अधिकार और कुलाचार आदि के उचित (📖) सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है वह तत्त्वज्ञान का निकटवर्ती होने के कारण ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥६॥

अनात्मशास्त्रों के अभ्यास में तत्पर हुए भी पुरुष तत्-तत् अर्थज्ञानों से सम्बद्ध होते दिखाई देते हैं, उनके तुल्य ये श्रीरामचन्द्रजी न हों, इसलिए आत्मज्ञान में विशेषता दर्शाते हैं।

आत्मज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं, आत्मज्ञान से भिन्न जो अन्य ज्ञान हैं वे सब जगत् और जीव के अधिष्ठानभूत ब्रह्म के बोधरूप न होने से ज्ञानावभास ही हैं ॥७॥

अतएव उस तरह के ज्ञानावभास की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहनेवालों में अशुभ ज्ञानबन्धुता ही है, यह कहते हैं।

दुष्ट अभिमान आदि दोष तथा पारलौकिक अनर्थरूप फल के लिए कष्ट चेष्टापूर्वक कर्म करते हुए जो आत्मज्ञान को न प्राप्त कर अन्य ज्ञानलेश की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहते हैं वे अशुभज्ञानबन्धु कहे गये हैं ॥८॥

इसलिए जब तक सप्तमभूमिका की स्थिरता नहीं हो जाती तब तक मुमुक्षु को सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहना चाहिए, यह कहते हैं।

(📖) इसमें 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

बाह्य और आभ्यन्तर विषयों की अनेक वृत्तिरूप अज्ञान, इन वृत्तियों के कारण एवं आश्रय प्रमाता तथा इनके शब्दादि विषय और इन विषयों के प्रकाश–इन सबकी आत्यन्तिक शान्ति से होनेवाली पूर्णानन्दैकरस, स्वप्रकाश, ब्रह्मात्मैक्य की प्रतिष्ठा के बिना सिर्फ अवान्तर भूमिकाओं के लाभ से ''अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ' इस तरह सन्तुष्टबुद्धि होकर उत्तरोत्तर भूमिकाओं में पहुँचानेवाले प्रयत्नों से मुमुक्षु पुरुष को यहाँ शिथिल नहीं हो जाना चाहिए । हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सम्पूर्ण विद्याओं में कुशल होते हुए भी अध्यात्मशास्त्र को छोड़ करके अन्य शास्त्रों में चातुर्यपूर्ण आसक्ति से ज्ञान की उपेक्षा द्वारा या अनधिकारी पुरुषों में ज्ञानोपदेश देने के कौशल के प्रदर्शन के द्वारा ज्ञानबन्धुता को प्राप्तकर उस ख्यातिलाभ आदि के द्वारा भोगरूपी सांसारिक रोगों में रमण न कीजिये ॥९॥

तब मुमुक्षु को किस तरह रहना चाहिए, इस पर कहते हैं ।

इस संसार में मुमुक्षु पुरुष को अपने आहार की (हित, मित और मेध्य भोजन की) प्राप्ति के लिए श्रुति–स्मृति तथा शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित अनिन्द्य कर्म करना चाहिए तथा वह आहार भी अपने प्राणों के धारण के लिए ही करना चाहिए एवं प्राणों का धारण तत्त्वजिज्ञासा के लिए करना चाहिए और ऐसे तत्त्व की जिज्ञासा करनी चाहिए, जिससे कि फिर जन्म, मरण आदि दुःख की प्राप्ति न हो ॥१०॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

सबसे पहले अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों से ज्ञानियों के लक्षणों का वर्णन तथा
प्रसंग से जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन ।

निष्क्रिय ज्ञान और उसका फल पहले बतलाया गया है, अब 'ज्ञानी चैव किमुच्यते', 'ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम्' (ज्ञानी किसे कहते हैं और ज्ञानी बन जाने पर क्या फल होता है) इन प्रश्नों का उत्तर कहने के लिए सबसे प्रथम ज्ञानी के लक्षण कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, क्रमशः एक–एक के पीछे दूसरी–तीसरी भूमिकाओं के ऊपर चढ़ने से परिपक्व हुए तत्त्वज्ञान से ज्ञातव्य ब्रह्ममात्र में दृढ़ निष्ठा हो जाने के कारण जो पुरुष प्रारब्ध फल को भोग करते हुए भी शब्द आदि विषयों को और शब्दादि विषयाकारों मे एवं काम–संकल्पादि वृत्तियों में परिणत अन्तःकरण को वस्तुसत् नहीं समझता, *(क्योंकि तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण उनकी केवल अनुवृत्तिमात्र ही रहती है)* वह ज्ञानी कहलाता है ॥१॥ जो ज्ञानी पुरुष अन्तःकरण के भोग्य विषयों में तथा उसकी चक्षु आदि द्वारा निर्गत ज्ञानात्मक वृत्तियों में साक्षीरूप से स्थित चैतन्यमात्र को यथार्थरूप जानकर बाधित दृश्य को वासनात्मना भी नहीं

देखता वह ज्ञानी है अथवा जिस तत्त्व के ज्ञात होने से चित्त की समस्त वासनाएँ निकल जाती हैं, उस तत्त्व को भलीभाँति जानकर स्थित हुए जिसकी सब प्राणियों के यथेष्ट व्यवहारों में भी अनुज्ञा (सम्मति) ही देखी जाती हो अर्थात् अपना धन आदिका अपहरण करनेवाले चोरों की प्रवृत्ति का भी जो अनुमोदन करता हो, वह ज्ञानी है ॥२॥ स्वाभाविक एकमात्र स्वात्मलाभ से युक्त जिस पुरुष की व्यवहारों में भीतर से शीतलता बुद्धिमानों द्वारा अनुभूत होती है वह ज्ञानी कहा जाता है ॥३॥

पुनर्जन्म का कारण जो अनादि अज्ञान है उसका निवर्तक तत्त्वज्ञान है, दूसरा नहीं, यह कहते हैं।

जो बोध पुनर्जन्म का हेतु नहीं है वही ज्ञानशब्द के लिए योग्य है, इसको छोड़कर दूसरा जो शब्दज्ञान का चातुर्य है वह केवल अन्न-वस्त्र प्रदान करनेवाला है, इसलिए इस तरह का ज्ञान शिल्पज्ञान के सदृश 'जीविका' शब्द के लिए योग्य है, न कि ज्ञान शब्द के लिए ॥४॥ प्रारब्ध के प्रवाह में जो भी कार्य आ जाय, उसके लिए जो मनुष्य काम और संकल्प को छोड़कर तत्पर रहता है और शरत्काल के आकाश के सदृश जिसका हृदय आवरणशून्य प्रकाशमान रहता है वही ज्ञानी कहा जाता है ॥५॥

ये जो ज्ञानी के लक्षण बतलाये गये हैं उनकी युक्तिपूर्णता बतलाने के लिए तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण द्वैतवासनाओं की निवृत्ति कर देता है, इसका समर्थन करते हैं और इसी समर्थन के लिए असत्य अविद्यारूपता ही आखिर में बच जाने के कारण जगत् में न तो किसी तरह की हेतुता है और न सत्ता ही है, यह बतलाते हैं।

ये जो जगत् के नानाविध पदार्थ हैं वे किसी तरह के कारण के बिना ही उत्पन्न होते हैं और चूँकि कारण के अभाव रहते भी उत्पन्न हैं, इसलिए उनका अस्तित्व है ही नहीं। ये सब अविद्यमान ही विद्यमान की नाईं स्थित हैं ॥६॥

आगे के वृद्धि आदि भावविकारों में भी कारण के न रहने से ही असत्त्व समझना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

कारण के न रहने से अविद्यमान भी वे आविर्भाव, तिरोभाव, सत्ता, असत्ता, उत्पत्ति, नाश आदि विकारों से युक्त होकर विद्यमान-से हुए स्थित हैं, पीछे सृष्टिकाल में कारण के व्यापारों से वे परस्पर कारणता को प्राप्त होते हैं। यह बात सृष्टि के प्रारम्भ में नहीं हो सकती, क्योंकि प्रलय में बीज और अंकुर दोनों का भी अभाव है ॥७॥

इस समय दिखाई दे रहा भी बीज सद्रूप अंकुर का कारण है या असद्रूप अंकुर का कारण है ? सद्रूप अंकुर का कारण तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि सत् को कारण की अपेक्षा ही नहीं रहती, असद्रूप का भी कारण नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

खरगोश के सींग आदि तथा मृगतृष्णा जल के समान विचार से अलभ्य इस जगत् का कारण

कैसा होगा ? जो पुरुष असत् खरगोश के सींग आदि के कारण की खोज करते हैं, वे वन्ध्यापुत्र के या उसके पौत्र के कन्धे के ऊपर मानों आरोहण करते हैं ॥८,९॥

द्वैत का निष्कारण अस्तित्व मानने पर अनिर्मोक्ष–प्रसक्ति एवं मोक्षशास्त्र में अप्रमाण्य आ जायेगा, इसलिए इन दोनों दोषों की निवृत्ति करने के लिए किसी कारण की अवश्य कल्पना करनी चाहिए, यदि यह कहिए, तो इस पर यही समाधान हो सकता है कि एकमात्र ज्ञान से निवृत्त होनेवाला मिथ्याभूत अज्ञान ही कारण है, यही कल्पना करना चाहिए, दूसरे किसी सद्रूप की नहीं, क्योंकि सद्रूप वस्तु की ज्ञान से निवृत्ति न हो सकने के कारण आपका अनिर्मोक्ष–प्रसंग ज्यों–का–त्यों बना रहेगा, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, मिथ्याभूत जो पदार्थ हैं उनका यही एकमात्र कारण है, जिसका कि नाम अनावलोकन यानी अज्ञान है और इस अज्ञान का ज्ञान–क्षण में तत्काल ही विनाश हो जाता है ॥१०॥

संसार अज्ञान का कार्य है और तत्त्वसाक्षात्कार क्षण में ही वह विनष्ट हो जाता है, इन दोनो बातों का अनुभव कराते हैं।

हे श्रीरामजी, यह जीव–जड़ अहंकार, देह आदि को स्वभिन्न जानकर तत्काल ही तद्रूपत्व के अध्यास–संस्कारों के उद्बोध से उनको आत्मा समझ बैठता है, वह यही इसका संसार है और जब अपने को सभी उपाधियों से विनिर्मुक्त चैतन्य–स्वरूप समझता है तब यही जीव सम्पूर्ण जगत् के सारभूत निरतिशय आनन्दरूप होकर बैठ जाता है, यही इसका मोक्ष है (📖) ॥११॥

उपर्युक्त श्लोक के पूर्वार्ध का विवरण करते हैं।

पूर्वोक्त रीति से अचेतन को यानी अहंकारादि शून्यरूपता को ही अपनी आत्मा में जान रहा यह जीव जागरूक होकर परमात्मरस के आवेश से परमात्मरूपता को ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे कि हेमन्त ऋतु में एक तरह से सोया हुआ आम वसन्त ऋतु में रसावेश के कारण पल्लवित एवं पुष्पित होने के बाद प्रबुद्ध–सा होकर सहकारशब्दवाच्यता को प्राप्त होता है ॥१२॥

उत्तरार्ध का भी विवरण करते हैं।

(📖) अथवा अचेतन यानी बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास इन तीनों से रहित कूटस्थ अद्वितीय चैतन्मात्रस्वरूप अपने को समझकर जीव ब्रह्मस्वरूप बनकर स्थित रहता है और अपने को चेतनरूप यानी बुद्धि, स्थूल देह एवं चिदाभासरूप समझकर तो जीव ही बनकर बैठता है यानी पूर्णभाव को प्राप्त नहीं करता। चेतन शब्द के जो तीन अर्थ (बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास हैं, वे व्युत्पत्तिभेद से किये गये हैं – (१) जीवः चेत्यते अनेन, (२) जीवः चेत्यते अस्मिन् और (३) चेत्यते इति चेतनम्। अथवा यह जीव अचेतनरूप घटादि विषयों में चक्षु आदि की वृत्तियों से जनित फलसम्बन्ध से शून्य होकर अपने को स्वप्रकाशचैतन्यरूप समझता हुआ परमात्मा बन जाता है और उससे शून्य न हुआ जीव ब्रह्मभावापन्न नहीं होता।)

परन्तु चेतन को अपनी आत्मा में जानता हुआ यह जीव तो जीव ही बनकर जीवनों से जीर्ण बन जानेवाले नानाविध योनियों के जन्मों में जर्जर होकर अवस्थित रहता है ॥१३॥

यही कारण है कि तत्त्ववेत्ताओं की चेष्टाएँ अभिमानरहित होने से अस्पन्दरूप ही हुआ करती हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यह आप जान लीजिये कि जो पराद्रष्टि को प्राप्त हो चुके हैं उनकी दृश्य-दर्शनाभिमानशून्य चेष्टाएँ, जल के नीचे की ओर बहने की नाईं प्रारब्ध कर्म का एकमात्र अनुसरण करनेवाली, अतः वे सदा अस्पन्दरूप ही रहती हैं ॥१४॥

जैसे दग्ध पट का दर्शन पटदर्शनरूप कभी नहीं होता किन्तु भस्मदर्शनरूप ही होता है, वैसे ही बाधित दृश्य श्री का दर्शन दृश्यातीत ब्रह्मदर्शनरूप ही होता है, अतः उनको द्वैतवेदन नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

दृश्य-सौंदर्य के पारदर्शी जो परादृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं उन्हें विद्यमान भी विस्तृत दृश्य प्रपंच का ज्ञान नहीं होता ॥१५॥

दृश्यदर्शन के अभाव में भी जल दृष्टान्त दिये गये हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जो यहाँ ब्रह्मरूपी सर्वोत्कृष्ट दृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं, उनका स्पन्दन भी, जलकी नाईं, दृश्यप्रपंच का ज्ञान होने से स्पन्दनशून्य ही रहता है ॥१६॥

इसीलिए उन्हें कर्मबन्धन के सम्बन्ध का अभाव रहता है, यह कहते हैं।

चूँकि दृश्यदर्शन के अभिमान से वेष्टित वे नहीं होते, इसीलिए मुक्तबन्धन वृषभ के समान वे सांसारिक कर्मबन्धन के सम्बन्ध से शून्य रहते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रारब्धानुसार प्राप्त कर्मों में ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसे वृक्षों के पत्तों में पवन ॥१७॥

पारलौकिक कर्मों की अपेक्षा तो उनसे बहुत दूर ही रहती है, इस आशय से कहते हैं।

जो इस संसार के पारदर्शी महानुभाव सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं, वे कर्मों की उस तरह प्रशंसा नहीं किया करते, जिस तरह गंगाजी के तट पर निवास करनेवाला कूप की प्रशंसा नहीं करता ॥१८॥

अज्ञ पुरुषों के लिए तो एकमात्र कर्म ही शरण है, यह कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामजी, जो मूर्ख सांसारिक विषयवासनाओं में बँधे हुए रहते हैं, वे श्रुति एवं स्मृति से प्रतिपादित उचित कर्म की प्रशंसा किया करते हैं तथा तत्त्वज्ञान के अभाव से उसी कर्म के द्वारा फल का भोग पाते हैं ॥१९॥

क्या उनके लिए एकमात्र कर्म ही शरण है, इस आशंका पर कहते हैं।

अज्ञानियों की इन्द्रियाँ अधःपतन (卐) के हेतुभूत अर्थों के ऊपर इस प्रकार गिरती हैं, जिस

(卐) तात्पर्य यह कि सत्कर्म का अवलम्बन न रहने से अज्ञानियों का इन्द्रियों के द्वारा

प्रकार नीचे गिरे हुए मांस के ऊपर गीध गिरता है । इसलिए हे श्रीरामजी, विद्वान् को चाहिए कि वह अपनी उन सभी इन्द्रियों का मन से निग्रह करके आत्मज्ञान के समापन में लग जाय और उसीमें सदा तत्पर हो अवस्थित रहे ॥२०॥

जले हुए तथा न जले हुए पट में अवयवसाम्य की नाईं बाधितअबाधित जगत् के अवयवसाम्य का भान अज्ञानियों की तरह यद्यपि तत्त्वज्ञानियों को भी होता रहे, तथापि तत्त्वज्ञानियों के लिए तो वह एकमात्र ब्रह्मरूप ही है, इस आशय से कहते हैं ।

जैसे कटक, केयुर आदि रचनाविशेषरूप अर्थों से भिन्न सुवर्ण नहीं रहता, वैसे ही सृष्टिरूप अर्थ से रहित ब्रह्म भी नहीं रहता यों ज्ञानी–अज्ञानी को मान–साम्य है । किन्तु तत्त्वज्ञानी को सृष्टि आदि शब्दार्थ से रहित एकमात्र शिवरूप ही वह भासित होता है ॥२१॥

सृष्टिशब्दार्थ से रहित होने में प्रलय दृष्टान्त है, यह कहते हैं ।

जिस तरह कल्प के अन्त में एकमात्र अंधकार के रहते ब्रह्मघन में निर्विभाग और निराभास ही सृष्टि रहती है उसी तरह तत्त्वज्ञानियों को असद्रूप भी यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही भासता है ॥२२॥

प्रलय में स्पन्दन की सत्ता नहीं है, यों असम्भावना करनेवाले के प्रति दृष्टान्त कहते हैं ।

जैसे आकाश में इधर–उधर चल रहे मेघों के उदर में उदर के अवयवों की अविभाग से उनकी अस्पन्दमयी तथा दिशाओं के विभाग से स्पन्दमयी–स्वानुभव चैतन्यरूप ही सत्ता, विरुद्ध धर्मों का एक काल में सम्भव होने के कारण, मानी जाती है वैसे ही प्रलयकाल में भी भूतों की ईश्वर की स्पन्दमयी सत्ता है, यह सम्भावना करना चाहिए ॥२३॥

वहाँ पर चिदाभास का स्पन्दन है, इसमें भी दृष्टान्त कहते हैं ।

जैसे तालाब आदि के भीतर स्थित तरल जल तथा उसके अंशों का स्पन्दन द्वैताद्वैतमय है, क्योंकि तरलता के कारण भेद और अभेद का निर्वचन करना अत्यन्त कठिन है, वैसे ही ब्रह्म में तत्–तत् जीवरूप आभास भी ब्रह्मसंविदात्मक ही है ॥२४॥

निरवयव ब्रह्म में अवयवयुक्त जगत् के सद्भाव में भी दृष्टान्त देते हैं ।

जैसे निरवयव आकाश में दिशाभेदरूप आकाश के अवयवों की अभिन्न सृष्टि भासती है, वैसे ही अवयवरहित ब्रह्मरूप आत्मा में यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्न रूप से विद्यमान है ॥२५॥

इसी रीति से पूर्वोक्त अहंकार और जगत्–ये दोनों एक–दूसरे के अन्दर स्थित हैं, यह समझ लेना चाहिए, यह कहते हैं ।

इसी रीति से जगत् के अन्तर्गत अहंकार और अहंकार के अन्तर्गत जगत् ये दोनों परस्पर एक दूसरे में, केले के पत्तों के स्तर के समान, वेष्टित हैं ॥२६॥

अधःपतन हो ही जाता है । देखिये श्रुति क्या कहती है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अहंकारात्मक जीव अपने भीतर स्थित जगत् को बाहर देखता है, इसमें भी दृष्टान्त देते हैं।

जैसे हिमालय पर्वत अपने छिद्रों से निकले हुए जल को बाहर मानसरोवर आदि रूप में स्थित देखता है वैसे ही यह जीव भी अपने अन्तर्गत जगत् को इन्द्रियों तथा मानसिक वृत्तियों से बाहर स्थित-सा देखता है ॥२७॥ जैसे आपाततः भ्रान्ति से सुवर्णपिण्ड में भूत और भावी कटक, केयूर आदि आकार दिखाई पड़ते हैं, किन्तु सुवर्णमात्र दृष्टि करने पर दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही यह जीव बिना कारण के यानी एकमात्र भ्रान्ति से अपने को जगद्रूप से देखता है ॥२८॥

यही कारण है कि जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानियों की जन्म-मरणादिरूप सांसारिक स्थितियाँ अन्य दृष्टि से विद्यमान रहती हुई भी नहीं ही रहती हैं, यह कहते हैं।

इस जगत् के पारावारदर्शी जीवन्मुक्त महापुरुष जीवन धारण करते हुए भी वस्तुतः जीवन धारण नहीं करते एवं मरे हुए नहीं रहते भी वे मरे हुए-जैसे तथा उपस्थित रहते हुए भी नहीं-से रहते प्रतीत होते हैं ॥२९॥ जैसे घर के अन्दर स्थित भी पुरुष गोशाला आदि में आसक्तचित्त हो गृह कार्यों को नहीं देखता, वैसे ही ब्रह्म में आसक्तचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुष देहयात्रा के निर्वाह के लिए कर्मों को करते हुए भी उन्हें नहीं देखता ॥३०॥

प्रासंगिक बातें समाप्तकर अब प्रस्तुत का अनुसन्धान कर रहे हैं।

जैसे ब्रह्माण्ड के हृदय में विराट्जीव चन्द्रमा स्थित है, वैसे ही प्रत्येक व्यष्टिदेह में हिमकण के सदृश वीर्यरूप जीव स्थूल में स्थूल एवं लघु में लघु रूप से स्थित है ॥३१॥

उस जीव के देहधारण का प्रकार बतलाते हैं।

पिता के हृदय में वीर्यरूप से अवस्थित अहंकारात्मा जीव माता की त्रिकोणाकार योनि में पिता के द्वारा निषिक्त होकर त्रिकोणाकार परिच्छिन्न कल्पना को प्राप्त होता है। तदनन्तर उस योनि में स्थित रक्त से मिल करके कललबुद्बुद् तथा पिण्ड आदि आकार-क्रम से आविर्भूत हो असद्रूप शरीर में सद्आकार 'अहम्' इत्याकारक अभिमान को चेतन होने के कारण मानने लग जाता है ॥३२॥ इस प्रकार त्रिकोणाकारोपलक्षित माता के गर्भ में, एकमात्र शुक्र ही, जिसमें सत् यानी अस्थि, स्नायु आदि कठिनांशरूप से स्थित रहता है ऐसे अपने कर्मों द्वारा निर्मित शरीर में कोशाकार कृमि की नाईं बद्ध होकर 'मैं जीव हूँ' इत्याकारक अभिमान से युक्तगत इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह फूलों में सुगन्ध ॥३३॥

उसमें भी, चन्द्रकलाओं के चन्द्रबिम्ब की नाईं, हृदय में स्थित वीर्यकणों के भीतर अहंभाव की स्फुर्तियों की विशेषरूप से व्याप्ति होती है और उसके द्वारा सारे शरीर में सामान्यतः अहंभाव का विस्तार होता है, यह सब अपने एकमात्र अनुभव से ही सिद्ध है, यह कहते हैं।

वीर्य कणों के अन्दर स्थित संवित् पैर से लेकर मस्तक तक सारे शरीर में अहंभावरूप से इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्डमण्डप में चन्द्रमा की किरण ॥३४॥

उसके बाह्य पदार्थों के अवलोकन में द्वार बतलाते हैं ।

इन्द्रियों के छिद्ररूपी पनाले से बाहर निकला हुआ आभाससहित अन्तःकरणात्मक ज्ञानरूपी जल तीनों लोकों में स्थित सन्निकृष्ट बाह्य पदार्थों को ऐसे व्याप्त कर लेता है जैसे धूम्र मेघरूप से सारे आकाश को ॥३५॥

समस्त देह की अपेक्षा वीर्य में इसका विशेषाभिमान अनुभवसिद्ध है, यह बतलाते हैं ।

यद्यपि समस्त शरीर में बाहर और भीतर सर्वत्र वह ज्ञान रहता है, तथापि इस वीर्य में इसको सबसे अधिक अहमभिमान रहता है ॥३६॥

यही कारण है कि हार्दिक संकल्पपूर्वक ही सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों के व्यवहार प्रवृत्त होते हैं यह कहते हैं ।

इसी हेतु से संकल्पात्मक यह जीव हृदय के अन्दर रहकर जिस किसी वस्तु का संकल्प करता है, शीघ्र उसी रूप से बाहर स्पष्ट प्रसृत होने लग जाता है ॥३७॥

और इसी कारण से उस जीव का वह अहंभाव चित्त की ब्रह्माकार स्थिति के बिना हजारों अन्य उपायों से भी शांत नहीं होता, यह कहते हैं ।

यथास्थित यानी स्वभावसिद्ध चित्तवर्जित स्थिर ब्रह्मैकरसस्थितिरूपी ज्ञानदशा को छोड़कर और किसी भी दूसरी स्थिति से 'अहम्' इत्याकारक भ्रम शांत नहीं होता ॥३८॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा निरंतर चिंतन की जा रही भी अपनी ब्रह्मचिंता अहंभाव की आत्यंतिक शांति के लिए उत्तरोत्तर भूमिकाओं में निर्विकल्प समाधि के परिपाक क्रम से चरम भूमिका तक आकाश के समान आपको बना देनी चाहिए । अतः इतने से ही संतुष्ट होकर आप बैठ मत जाइये ॥३९॥

तो क्या आप जैसे महानुभावों को भी वह वैसी ही सम्पादनीय है, इस पर नहीं यह कहते हैं ।

ब्रह्मज्ञानी लोग इस संसार में बाह्य तथा मानसिक दृश्य–दर्शन के अभिमान से शून्य कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से रहित एवं भाव्य और भावन से वर्जित ऐसे व्यवहार करते है, जैसे काष्ठ के पुरुष ॥४०॥ जिसके अंदर तुच्छ प्रपंच की भावना नहीं है, वह जीते–जी आकाश के समान विशाल, श्रृंखला आदि के बंधन से निर्मुक्त हुए की नाईं, स्पष्ट रूप से मुक्त कहा जाता है ॥४१॥

शुक्रांश के सम्बंध के वश से ही समस्त शरीर में अहंभाव का सम्बंध भी रहता है यह कहते हैं ।

वीर्यकणों के अंदर स्थित संवित् पैर से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर में अहंभाव रूप से इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में सूर्य की प्रभा ॥४२॥

चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप से तत्–तत् स्थानों में सम्बंध भी शुक्रात्मभूत ही जीव का रहता है, यह कहते हैं ।

चक्षु इन्द्रिय और चक्षुगोलक, स्वादेन्द्रिय और जिह्वास्थान, श्रवणेन्द्रिय और श्रवणस्थान–

इत्यादि सब वीर्य में स्थित वह संवित् ही होती है, इसीलिए स्त्री आदि का दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि होने पर पहले की रूपादि पाँच वासनाएँ बांध कर समस्त इन्द्रियों के द्वारा जननिक कामोद्दीपन से उनमें निमग्न हो जाती है ॥४३॥ अज्ञानावृत चिति की विपरीत भावना ही सबसे पहले मन बनती है, फिर वीर्य में अहंभावरूप एक देश के द्वारा सारे शरीर में व्याप्त होकर तत्-तत् इन्द्रियभाव से इस तरह उदित होती है, जिस तरह पृथिवी में सर्वगामी भी रस अंकुर के रूप से वसन्त ऋतु में उदित होता है ॥४४॥

इसीलिए उसके प्रतिकूल यथार्थ भावना के बिना उस जीव के दुःखों का उपरम नहीं होता, यह कहते हैं।

जो पुरुष इस संसार में उत्पन्न मन, अहंकार, देहादि जगत्-पदार्थों में 'वाचारम्भणं विकारो नामघेयम् नेह नानास्ति किंचन, अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा दिखलाई गई अभावरूप की भावना नहीं करता, फिर मोक्ष के अनुकूल यत्न से रहित उस पुरुषरूपी गदहे के जन्मादि अनन्त दुःखों की शान्ति कभी नहीं होती ॥४५॥

सारे सांसारिक पदार्थों में ब्रह्मरूप की भावना कर रहे पुरुष को तो बाह्य सर्वस्व का त्याग होने पर भी प्रारब्ध के कारण आकृष्ट हुए मनुष्यों के द्वारा भोजन, वस्त्र आदि के मिल जाने से तथा अपने भीतर स्वानन्दामृत-तृप्ति रहने से वैराजपद तक साम्राज्य सुख है ही, यह कहते हैं।

जिस किसीके द्वारा वस्त्र आदि से ढक दिया गया, जिस किसी के द्वारा खिला दिया गया तथा जहाँ कहीं सो जानेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष सम्राट् के समान शोभित होता है ॥४६॥ समग्र ब्रह्माकार वासनाओं से अथवा जले हुए वस्त्रों के तन्तुओं के आकार के सदृश जागतिक समस्त वासनाओं से युक्त हुआ भी तत्त्वज्ञानी पुरुष वासनारहित ही रहता है तथा अन्तःशून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा वह आकाश के सदृश प्राणवायु से समन्वित रहता है ॥४७॥ षष्ठ आदि भूमिकाओं में प्रविष्ट होने के कारण आसन, शयन या यान में स्थित, निर्वाणदशा को प्राप्त अतएव मानसिक चिन्ताओं से सर्वथा अलग हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष निद्रालु की नाईं, अनेक तरह के यत्नों से जगाने पर भी नहीं जागता ॥४८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वत्र व्याप्त भी संविन्मात्र वह पुरुष शरीर के स्फुटसार में (वीर्य में) इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह पद्मकोश में गन्ध ॥४९॥

इस तरह व्यष्टि और समष्टि जीव-भावादि के वर्णन को परम प्रस्तुत विषय में संयोजित करके अपने उपदेशरूप सर्वस्व को संक्षिप्त करते हुए महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संविद्मात्र ही जीव कहा गया है और उसी के विस्तार को तत्त्वज्ञानी लोग 'जगत्' समझते हैं यानी यह जो जगत् है, वह एकमात्र संविद्रूप जीव का विस्तार ही है। जब यह जीव आत्मनिष्ठ हो जाता है तब अजगद्रूप अपने परम पद को प्राप्त हो जाता है, बस यही सर्वोत्कृष्ट उपदेशस्थिति है ॥५०॥

दृढ़ वैराग्य होना ही साधन–रहस्य है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, समस्त सांसारिक विभव आदि भाव पदार्थों में विरक्त हो जाइये तथा पाषाण के समान अपने हृदय को बना करके ऐश्वर्य–प्राप्ति के लिए आप जिसरूप से तैयार हो रहे हैं वैसा ही सन्नद्ध रहिये ॥५१॥

'पाषाण के समान अपने हृदय को बना करके' यह जो ऊपर कहा है, उसे और साफरूप से कह रहे हैं।

हे साधो, राघव, जैसे अचित्त्वशरीर पत्थर के हृदय का पोलापन अचिद्रूप होने से ही चिति के निवेश के लिए अवकाशअभावरूप अपोलापन प्रसिद्ध है वैसे चिन्मात्रशरीर आपका दहराकाशरूप हृदय सौर्षिय (हृदय पोलापन) चिद्रूप होने से ही अचिति के निवेश के लिए अवकाशअभावरूप चिति से निबिड़ित (सघन) अपोलापन की नाईं हो जाय (🔔) ॥५२॥

यही कारण है कि स्फटिक पत्थर में प्रतिबिम्बित मनुष्यों के व्यवहार कर्मों के सदृश ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में प्रतीति साम्य रहने पर भी सत्यत्व वासनाभावकृत विशेष है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी– दोनों के सम्पूर्ण भाव और अभाव रूप कर्मों में एकमात्र वासनाभाव के सिवा और कोई दूसरा विशेष नहीं रहता ॥५३॥ और इस तरह स्फटिक पत्थर में द्रष्टापुरुष की दृष्टि की नाईं चैतन्य की जो सत्ता है वही वासनाओं से दीपित होकर जगद्रूप हो जाती है और वासनाओं के अभाव से निमिषित यानी शान्त हो करके तो अपरिच्छिन्न परमतत्त्व–मोक्षरूप हो जाती है, जिसका दूसरा कोई नाम ही नहीं है ॥५४॥

इसलिए एकमात्र चिति की सत्ता ही नित्य है, यह कहते हैं।

यह सारा दृश्य प्रपंच पहले नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर पुनः उत्पन्न होता है । परंतु हे श्रीरामचन्द्रजी, जो न तो कभी नष्ट हुआ, न उत्पन्न ही हुआ और सद्रूप है वही आप हैं ॥५५॥ हे श्रीरामजी, इस तरह के बोध से मूलअज्ञान का नाश होने पर अन्वेषण करने पर भी कहीं जगत्भ्रान्ति अस्तित्व नहीं रखती, और मृगतृष्णा जैसे जल प्रदान नहीं करती, वैसे ही यह संसार में अंकुर नहीं प्रदान करती ॥५६॥ आत्मपदार्थ के साक्षात्कार से काटी गई अहंभावना दिखाई देने पर भी भीतर में संसार को इस तरह उत्पन्न नहीं कर पाती, जिस तरह दग्ध कर दिया गया बीज अंकुर उत्पन्न नहीं कर पाता ॥५७॥

(🔔) अथवा हे साधो श्रीरामचन्द्रजी, आज तक चिदात्मा के अभिमान से शून्य होने के कारण अचित्त्व शरीर हुए आपका–अचिद्रूप अज्ञान से स्फटिक पत्थर के अन्दर कल्पित आकाश की नाईं–करोड़ों घनादिरूप भोग सामग्रियों के लाभ से भी परिपूर्ण नहीं हो रहा कामरूपी मन–छिद्र अब नित्यनिरतिशयानन्द पूर्णात्मा के लाभ से पूर्ण काम हो जाने के कारण, बाधित हुए वास्तविक स्फटिकछिद्र की नाईं, एकमात्र आनन्दघन हो जाय, यह आशय है ।

इसीलिए विहित कर्मों का अनुष्ठान करने या न करने पर तत्त्वज्ञानियों के लिए कोई विशेष बात नहीं निकलती, यह कहते हैं।

वीतराग, मानसिक विकारों से रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष चाहे कर्म करे या न करे, इससे उसमें कोई नयी बात नहीं आती, वह तो सर्वदा ही संकल्पशून्य एवं नित्यमुक्त होकर अपनी आत्मा में ही स्थित रहता है ॥५८॥

मनयुक्त हठयोगी लोग शान्ति आदि गुणों के कारण अपनी आत्मा में क्यों नहीं स्थित रहते ? इस आशंका पर कहते हैं।

जो हठयोग से शान्त बने योगी लोग रहते हैं वे भी चित्त की उपशान्ति हो जाने पर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं क्योंकि उनकी भोगवासनाएँ बिलकुल मूल से छिन्न हुई नहीं रहतीं, इसमें कारण यह पड़ जाता है कि सम्पूर्ण वासनाओं का आधारभूत उनका चित्त तो बना ही रहता है ॥५९॥

चित्त, देह आदिरूप से जीव की जो एकरूपता है, वही ब्रह्म से जीव को भिन्न बनानेवाली और उसको संताप देनेवाली है और उसके अभाव में तो यह जीव ब्रह्म से अभिन्न एवं संतापशून्य ही बना रहता है, यह कहते हैं।

जीव ज्ञानी (शोधित त्वंपदार्थ), मूर्तिशून्य, (चित्त, देह आदि स्वरूप न हुआ) एवं शुद्ध चैतन्यप्रकाशरूप बनकर ही परमात्मा के साथ एकता प्राप्त करने के लिए योग्य हो जाता है। वही जीव अन्य होता हुआ भी उस परमात्मा से ऐसे अनन्य है, जैसे मध्याह्नकाल में सूर्य का प्रकाश सूर्य से अनन्य है ॥६०॥

आत्मा के उसी मूर्तिशून्य केवल चिदालोकस्वरूप का अनुभव कराते हैं।

पुरुष के शरीर से बहुत दूरी पर स्थित सूर्य, चन्द्र आदि मण्डलतक चक्षु आदि के द्वारा गये हुए चित्त की जो वृत्ति है, उसका मध्य में विच्छेद न रहने के कारण देह से लेकर सूर्यादिमण्डल पर्यन्त अविच्छिन्नरूप से अपरोक्ष चिति उसमें अभिव्यक्त है ही। यह वृत्ति देहप्रदेश तथा चन्द्रप्रदेश में यद्यपि विषयसहित है, तथापि मध्यभाग में उसका निर्विषयक जो रूप प्रसिद्ध है उसी रूप को परमात्मा का पूर्ण रूप समझना चाहिए (📖) ॥६१॥

निर्विषयक चिति का ही यह जगत् एक मायिक चमत्कार है, यह कहते हैं।

असीम और अनभिव्यक्त सुन्दर चिदाकाशरूप कपूर जो अपने भीतर स्वयं चमत्कार करता है, उसी को वह जगद्रूप से जानता है ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह से यह संसार तत्त्वज्ञानी पुरुष को सांसारिक भ्रम के दूर हो जाने से प्रकाशमय, उपेक्षित दीप की नाईं, निर्वाण को प्राप्त अक्षय (परिपूर्ण) ब्रह्मरूप ही भासता है और अज्ञानी को तो परमार्थतः आकाश के उदर में स्थित

(📖) देखिये यह श्रुति - 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्'।

भी यह संसार सर्वनियन्ता परमेश्वर की समस्त नियन्त्रण व्यवस्थाओं से तथा भोगप्रीतियों से अनुगत ही भासता है । कहने का तात्पर्य यह कि यह जगत् भिन्न–भिन्न दृष्टिरूप ही है ॥६३॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

मरुभूमि के महावन में महाराज वसिष्ठ के साथ मंकिनामक ब्राह्मण का समागम तथा वैराग्य आ जाने से तत्त्वजिज्ञासु हुए उसका उपदेश, यह वर्णन ।

'नीरसो भव भावेषु सर्वेषु विभवादिषु' इससे जो वैराग्य की दृढ़ता के लिए आवश्यकता बतलाई गई है उसको खूब स्थिर करने के लिए मंकि ब्राह्मण का उपाख्यान आरम्भ करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, भलीभाँति आँखों के सामने दिखाई दे रहे इस स्वाभाविक अज्ञानादिरूप संसार से तत्त्वबोध द्वारा निकलकर आप मंकि के सदृश उत्तम लक्षणों से युक्त और वैराग्य की वासना से समस्त सांसारिक वासनाओं से निर्मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त हो जाइये ॥१॥ बहुत दिन पहले की बात है, प्राचीन काल में एक उत्तमव्रती मंकि नामक ब्राह्मण हुए थे, हे श्रीरामचन्द्रजी उन्होंने मेरे उपदेश देने पर कैसे निर्वाण पद की प्राप्ति की, उसे आप सुनिये ॥२॥ किसी समय पहले आपके पितामह अज ने किसी यज्ञादि रूप कार्य से मुझे निमन्त्रण दिया था, इसलिए आकाशमण्डल से इस पृथिवी पर मैं आया ॥३॥ आपके पितामह की नगरी अयोध्या में आ रहा मैं पृथिवी पर विचरते हुए महान् आतपों से युक्त किसी एक बड़े महाजंगल में पहुँच गया ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह महाजंगल अविच्छिन्नरूप से धूलि उड़ने के कारण धूसर हो रहा था, वहाँ पर तप्त हुई रेत खूब चमक रही थीं, उसका और छोर कहीं नहीं दिखाई दे रहा था तथा वह कहीं–कहीं निकृष्ट ग्रामों से चिह्नित था ॥५॥ धूलि आदि के उड़ने से अक्षुब्ध हुए आकाश, झंझावात, धूप, मृगतृष्णा के जल और तप्त हुई पृथिवी की शान्ति से शोभायमान, विस्तृत, शून्य तथा दुर्गम होने के कारण जानेवालों के द्वारा किये गये महान् प्रयत्नों से युक्त निर्मल ब्रह्म सत्ता की नाईं वह महाजंगल था ॥६॥ मोह पैदा करनेवाली मृगतृष्णा–सी अविद्या के सदृश, भ्रम के कारण जड़ता को प्राप्त, बहुत दूर तक फैला हुआ, प्राणियों के संचार से शून्य तथा दिग्भ्रमरूपी कुहरा से वह व्याप्त था ॥७॥ उस महाजंगल में पहुँचने के बाद ज्यों ही मैं इधर–उधर विहार करने में प्रवृत्त हो रहा था, त्यों ही श्रम के मारे एक पथिक को कुछ कहते देखा ॥८॥

वह पथिक कह रहा था : अहो, जैसे दुर्जन पापी का समागम परिताप के लिए ही होता है वैसे ही प्रचण्ड तापयुक्त यह सूर्य भी अत्यन्त खेद पहुँचाने के लिए ही उदित हुआ है ॥९॥ सभी अंग एक तरह से गलते जा रहे हैं, इस ताप में मानों अग्नि प्रदीप्त हो रही है तथा संकुचित हो रहे

पल्लवोंवाली वनराजियाँ सन्तप्त हो रही हैं ॥१०॥ इसलिए छोटे-से इस अगले गाँव में प्रविष्ट होकर कुछ देर तक रहूँ। यहीं पर जल्दी थकावट मिटाकर फिर शीघ्रगामी मैं अपना रास्ता पकड़ लूँगा ॥११॥ ऐसा विचारकर जब वह आगे स्थित किरातों के एक छोटे-से गाँव में प्रवेश करने की इच्छा कर रहा था, तब तक मैंने उससे यह बात पूछ दी (☙) ॥१२॥ हे अकिंचन पुरुषों के संचारयोग्य मार्ग का परिज्ञान न रखनेवाले मरुमार्ग के, महाजंगल के पथिक, हे शुभकृते मेरे मित्र, *(यहाँ मेरे दर्शन से सभी दुःखों के मूल का क्षय हो जाने के कारण)* तुम्हारा स्वागत हो ॥१३॥ हे निम्नमार्ग के पथिक (🕭) पूर्व के गाँवों में अन्न-पान-आश्रय आदि के लाभ द्वारा कुछ विश्रान्तिसुख पा जाने पर भी अतिथियों का सत्कार करनेवाले पुरुषों से शून्य गाँव में रहकर इस मनुष्यदेहरूपी देश में आगे चलकर चिरकाल तक विश्रान्ति नहीं प्राप्त कर सकोगे (卐) ॥१४॥ पामरजनों के निवासस्थान गाँव में (🕮) विश्रान्तिसुख नहीं मिलता। हे श्रीरामजी, यह निश्चित है कि नमक का पानी (🕯) पीने से तृष्णा और बढ़ती जाती है, उससे प्यास नहीं बुझती ॥१५॥ ये सब पुलिन्द जाति के जन्तु लोग जंगली एक छोटे-से गाँव में रहते हैं, जनपद के स्पन्द से बहुत डरते हैं तथा उटपटांग मार्ग मे इधर-उधर मृगों की तरह घूमते-फिरते हैं (⚐) ॥१६॥ पत्थर की बनी मूर्तियों की नाईं वे विचारों में स्फुरित नहीं होते यानी मूढ़ होते हैं, अनुभूतियों में खूब जलते हैं तथा दुराचार से वे कतई नहीं डरते (☟) ॥१७॥ काम और अर्थ में ही इनका सम्पूर्ण पौरुष परिनिष्ठित रहता है तथा मुग्ध बुद्धि वे आपातरमणीय कर्मों में ही रमण किया करते हैं ॥१८॥ दोनों कुल की

(☙) अर्थात् मैंने उसका भाग्योदयकाल जानकर उसके सम्पूर्ण श्रम का मूलोच्छेद करने के लिए आगे कही जानेवाली बातें पूछ दीं।

(🕭) हे अधराध्वग, इस सम्बोधन से उस समय महाराज वसिष्ठजी का आकाशमार्ग से गमन सूचित होता है।

(卐) यह ऊपरी अर्थ है। इसका मनोगत अर्थ यह है - हे अधरकर्म के पथिक, कर्मोपासना से लब्ध होनेवाले इस दक्षिणायन-उत्तरायन मार्गरूपी पथमें, स्वर्ग आदि भूमियों में कुछ-कुछ विश्रान्ति को प्राप्त करते हुए भी जन्मसमूहरहित मोक्ष की नाईं चिरकाल तक विश्रान्ति न प्राप्त कर सकोगे।

(🕮) वास्तविक अर्थ यह है : कामद्वेष, आदिकों के निवासस्थान कर्तृ-करण संघात के आलय देव-मनुष्य आदि देह में विश्रान्तिसुख नहीं मिलता।

(🕯) नमकीन विषयों के सेवन से विषयाभिलाषा और बढ़ती जाती है। सुनिये ययाति ने क्या कहा है-'न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥'

(⚐) वास्तविक अर्थ यह है- ये काम आदि पल्लव की नाईं स्नेह-राग से युक्त है, विवेक स्पन्द से सदा डरते हैं तथा अशास्त्रीय मार्ग में खूब घूमते हैं।

(☟) विवेकज्ञान होने पर वे काम आदि स्फुरित नहीं होते, तत्त्वज्ञान का अनुभव हो जाने पर ये जलने लगते हैं तथा दुराचार से कभी तनिक भी भय नहीं करते।

विशुद्धता से विस्तृत, शीतल, उदार, ब्रह्मानन्दैकरसशालिनी प्रज्ञा इन लोगों में ऐसे विश्वास नहीं करती, जैसे मरुस्थल में मेघ माला ॥१९॥ अन्धकारावृत गुहा में अजगर होना अच्छा है, पत्थर के भीतर कीट होना अच्छा है तथा मरुस्थल में पंगु मृग होना अच्छा है, परन्तु ग्रामीणजन का (📖) साथ अच्छा नहीं है ॥२०॥ निमेषमात्र के लिए आस्वाद में मधुर, क्षणभर में ही बिगाड़ कर देनेवाले तथा प्राण लेने में सदा तैयार रहनेवाले ये ग्रामीणजन, मधुमिश्रित विषकण के समान हैं ॥२१॥ धुलिधूसर, तृण, पर्ण तथा वन में व्यग्र गाँव में होनेवाले ये अधार्मिक जनरूपी पवन जीर्ण-शीर्ण घरों में संचार करते हैं ॥२२॥

हे अनघ श्रीरामजी, इस तरह मेरे कहने के बाद मेरा आशय जानकर 'ये मेरा अवश्य उद्धार करेंगे' इसलिए मेरे वाक्य से भलीभाँति आश्वासन पाकर अमृतरूपी जल से स्नान किये हुए के सदृश उस मंकि ने मुझसे यह कहा ॥२३॥

उस पथिक ने कहा : भगवन्, आप कौन हैं ? आप पूर्णात्मा आत्मज्ञानी कोई महात्मा प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि आप अनाकुल होकर इस लोक को ऐसे देख रहे हैं, जैसे कोई पथिक ग्रामयात्रा को देखता हो ॥२४॥

पूर्णात्मा को ही हेतुओं के विर्तक द्वारा प्रकट करते हैं।

भगवान् क्या आपने अमृत का पान किया है या आप सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर है अथवा विराट् पुरुष है ? आप सब अर्थों से रिक्त होते हुए भी परिपूर्ण चन्द्रमा की नाईं शोभते हैं ॥२५॥ सांसारिक दोष दुःखों से शून्य हैं, निरतिशयानन्द होने से आप जीवन्मुक्तों के गुणों से परिपूर्ण हैं, देह आदि का कुछ भी अनुसन्धान न रहने से आप मदघूर्णित से मदोन्मत्त के समान है, आप स्थिर-से हैं, समष्टि में अपवाद तथा अध्यारोप दृष्टि से आप सब कुछ होते हुए भी नहीं है एवं व्यष्टि में अपवाद और अध्यारोप दृष्टि से आप सब कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ हैं ही ॥२६॥

इस प्रकार का मैं हूँ, यह तुमने कैसे जाना, यदि यह कहिये, तो इसका उत्तर यह है कि 'आपके रूप के अवलोकन से ही', यह सूचित करते हुए कहते हैं।

हे मुने, शान्त, रमणीय, प्रदीप्त, प्रतिघातरहित, सर्वथा निवृत्त तथा समस्त सामर्थ्ययुक्त जो रूप (✍) रहता है वैसा यह आपका रूप क्यों भासता है ? ॥२७॥ आप पृथिवी पर स्थित हुए भी समस्त लोकों के ऊपर आकाश में स्थित-से हैं। आस्थाशून्य रहते हुए भी आप मेरे समान लोगों का उद्धार करने में सघन आस्था से युक्त-से मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥२८॥ चन्द्रमा की नाईं विशुद्ध आपका अमृतमय मन चन्द्रमा की किरणों की तरह पदार्थों में प्रसृत नहीं है और न औषधि, वनस्पति, सोम, घी, दूध, अन्न आदि पदार्थों के रूप से उपभोग के योग्य

(📖) अज्ञानीजन का - यह तात्पर्यार्थ है ।

(✍) इसमें यह श्रुति प्रमाण है-'रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे'।

हैं जिससे नष्ट हो जायेगा। अतः आपका मन सदा ही परिपूर्ण स्थित है। तात्पर्य यह कि चन्द्रमा से भी बढ़कर आपका मन है ॥२९॥

और दूसरा भी चन्द्रमा के साथ साम्य तथा विशेषता बतलाते हैं।

मुने, आप कलावान्, कलंकशून्य, भीतर से शीतल, प्रकाशमय, समरूप तथा रसायनप्रवाह पूर्ण, पूर्ण चन्द्रमा के सदृश भासते हैं (क) ॥३०॥

इसी तरह हिरण्यगर्भ के साथ आपका सादृश्य तथा उससे बढ़कर आपमें विशेष गुण है, यह कहते हैं।

अंकुर में काण्ड आदि फलपर्यन्त स्थित वृक्ष के रूप की नाईं हे भगवान्, सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमानता आदि गुणों से सम्पन्न आपकी आत्मा में ही यह संसारमण्डल सृष्टि योग्यरूप से स्थित मैं देखता हूँ। परन्तु इस संसारमण्डल की सृष्टि के लिए सत् और असद्भाव को मैं आपकी इच्छा में ही स्थित जानता हूँ। यदि आप चाहें तो आप भी संसार की सृष्टि अवश्य कर सकते हैं, परन्तु आप चाहते नहीं, बस यही तो आपमें हिरणयगर्भ से बढ़कर एक विशेष गुण है ॥३१॥

इस तरह प्रशंसा द्वारा अभिमुख किये गये महाराज वसिष्ठजी को अपनी वैराग्य आदि साधनसम्पत्ति से उपदेशयोग्यता दर्शाने के लिए अपने गोत्र, नाम आदि का बखान करता है।

हे महाभाग, मैं शाण्डिल्य गोत्र में उत्पन्न मंकि नामधारी ब्राह्मण हूँ। तीर्थयात्रा करने की इच्छा से बहुत दूर तक जाकर मैंने अनेक तीर्थों के दर्शन किये। अनन्तर अब मैं बहुत देर से अपने घर को जाने के लिए उद्यत हूँ ॥३२,३३॥ हे मुने, इस ब्रह्माण्ड के उदर में बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर भूतों को देखकर विरक्तमन मुझे घर जाने की इच्छा नहीं होती ॥३४॥ भगवन्, इस दीन के ऊपर दया करके अपना नाम, गोत्र आदि कथनपूर्वक ठीक-ठीक इसे परिचय दीजिये (ख) क्योंकि महात्माओं के चित्तरूपी सरोवर गम्भीर और निर्मल रहते हैं ॥३५॥ अपने दर्शन से ही मित्र बना लेनेवाले (आपके सदृश) महात्माओं के सामने सभी प्राणी, कमलों की नाईं, विकसित और आश्वासित हो जाते हैं ॥३६॥ कुछ विवेकसम्पन्न हुआ भी मेरा यह मन अज्ञानजनित प्रबल सन्देह बना रहने से बिना गुरुउपदेश के सिर्फ एकमात्र अपने विचारकौशल से संसार के भ्रम से उत्पन्न दुःख को समूल नष्ट करने में समर्थ नहीं है, यह मैंने बार-बार मनन करके निश्चय कर लिया, इसलिए पूर्ववर्णित मेरा उद्धार करने में सामर्थ्य रखनेवाले आप रहस्यज्ञान के अनुकूल उपदेश की अनुकम्पाओं से मोहजनित मेरे संशयों का उच्छेद कर दुःखनाश करने योग्य इस मेरे मन को बना दीजिये ॥३७॥

(क) पूर्ण चन्द्रमा में भी कलंक रहता है, परन्तु आप कलंकशून्य हैं, यह एक आपमें अधिक गुण है।

(ख) कृपया सत्य आत्मा का मुझे उपदेश दीजिये, यह वास्तविक अर्थ है।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबुद्धे, मैं ब्रह्मलोकवासी वसिष्ठमुनि हूँ। राजर्षि अज के याजनादिरूप किसी काम से आ रहा मैं इस मार्ग में उपस्थित हूँ ॥३८॥ हे पथिक, विषाद मत करो, तुम मनीषियों के रास्ते पर अब आ गये हो, लगभग तुम संसारसागर के दूसरे किनारे लग चुके हो ॥३९॥

मैं मनीषियों के रास्ते पर आ गया हूँ, इसमें कौन-सा मेरा परिचायक चिह्न है ? इस पर कहते हैं।

ज्ञानाधिकार प्राप्ति के भाग्य से हीन मनुष्य की वैराग्यविभव से उदार ऐसी मति, उक्ति तथा शान्तस्वरूप आकृति नहीं हो सकती ॥४०॥ जैसे धीरे-धीरे शाणपर घिसने से मणि निर्मलरूपता को प्राप्त होती है वैसे ही काषायों के परिपाक से चित्त विवेकता को प्राप्त होते हैं ॥४१॥ हे विप्र, तुम क्या जानना चाहते हो और कैसे संसार को छोड़ना चाहते हो, क्योंकि शिष्य गुरु से उपदिष्ट अर्थ को बार-बार परिशीलन करके ज्ञातांश को फिर प्रश्नावधारण आदि कर्मों से चूँकि सफल बनाता है, वह मैं समझता हूँ, अतः तुम्हें जो अपना अज्ञात और जिज्ञासितांश हो, वह कहो ॥४२॥ चूँकि शिष्य रागादिमलशून्य वासना से युक्त रहता है, इसीलिए वह उत्तम वैराग्य आदि तीन साधनों से सम्पन्न मानस तथा नित्यअनित्य एवं सारअसार के विवेक में निपुण मति युक्त होता है। वही गुरुजनों के उपदेशरूपी तेज से शोकशून्य आत्मतत्त्व पद प्राप्त करने के योग्य है, दूसरा नहीं। इसलिए जन्मादि सम्पूर्ण दुःखों से तैर जाने की इच्छायुक्त बुद्धिवाले तुमसे सम्भाषण आदि करके मैंने अच्छी तरह समझ लिया है कि तुम मेरे उपदेश के अधिकारी अवश्य हो, इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ। अतः तुम अपना पूर्वोत्तर वृत्तान्त मुझसे बतलाओ ॥४३॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि के दोषों के सहित सांसारिक अपने दुःखसमूह का मंकि द्वारा वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों मेरे कहने पर उस ब्राह्मण मंकि ने मेरे चरणों पर लोटकर आनन्दजलपरिपूर्ण आँखों से युक्त हो मुझे मार्ग में ले चलते हुए यह कहना आरम्भ किया ॥१॥ मंकि ने कहा : हे भगवन्, संशय के उच्छेद के लिए उपदेश देने में कुशल साधु पुरुष के अन्वेषण में तत्पर हो मैंने दसों दिशाओं में, दृष्टियों की नाईं, खूब भ्रमण किया, परन्तु संशय का विनाशक कोई सज्जन पुरुष मुझे न मिला ॥२॥ आज आपको पा जाने से सुर, असुर, पशु, पक्षी आदि समस्त देहों के सारभूत ब्राह्मणदेहों में श्रेष्ठ अपने इस ब्राह्मण शरीर का फल ज्ञानाधिकारसम्पत्ति से मैंने पा लिया। हे भगवन्, दोषप्रद सांसारिक दशाओं को देखते-देखते खिन्न हो गया हूँ ॥३॥

हेतुओं के साथ खेद का ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

बार-बार जन्म और बार-बार मरणरूप संसार सदा दुःख के भ्रम से युक्त है ॥४॥

सदा दुःखभ्रमयुक्त ही यह संसार है, यह कैसे ? क्योंकि सुख भी तो संसार में अनुभूत होते हैं, इस आशंका पर कहते हैं।

संसार के सभी सुख भी आखिर में अवश्य दुःखदायी होने से अत्यन्त दुःसह दुःखरूप ही है । इसलिए हे मुने, मैं सांसारिक सुखों की अपेक्षा दुःखों को ही अच्छा समझता हूँ। जलचरों से जल की शीतलता जैसे निरन्तर अभ्यास के कारण सह ली जाती है वैसे ही अविच्छिन्न दुःखपरम्परा भी सुख के अभाव के अधिक अभ्यास के कारण दुःखपूर्वक मनुष्यों से सह ली जाती है, यह भाव है ॥५॥

अथवा अत्यन्त प्रबलदुःख का अनुबन्धी होने के कारण कोदो (एक प्रकार का मोटा अन्न) खाकर जीवन धारण करने में मनुष्यों को जो दुःख है उसकी अपेक्षा विष मिले हुए मिष्ठान्न भोजन के आस्वादजनित सुखो में कम दुःख है । विष मिले हुए उपभोगजनित सुखों में बुद्धिमान् को अधिक द्वेषबुद्धि रखना ही उचित है, यह कहते हैं।

हे सौम्य, आखिर में दृढ़ दुःखदायी होने से ये सुख ही मुझे ऐसे दुःखदायी हो रहे हैं, जैसे कि मानों मेरे लिए दुःख ही सुख हो गया हो। दाँत, केश और नाड़ियों के साथ अब मेरी अवस्था भी जीर्ण हो गयी ॥६॥ उत्तरोत्तर भोगों के उत्कर्ष स्थान में अभिलाषाएँ बाँधकर बैठी हुई मेरी बुद्धि परम पुरुषार्थ के साधन में किसी तरह का अभी उद्योग नहीं कर रही है तथा मेरा मन भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे रागरूपी पल्लवों से पल्लवित तथा अतीतकाल के करोड़ों बीत चुके भोगों के लिए शोक, मोह आदि कुत्सित संकल्पों के उपस्थित रहने से विवेकज्ञानशून्य हो गया है, यही कारण है कि वह अपने-अपने दोषादि के साक्षी के विवेक द्वारा प्रकाशित नहीं होता ॥७॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

हे मुने, मेरा यह मन पीपल आदि के उड़ रहे सूखे पत्तों आदि के संचय से गन्दे गाँवों के मध्य भाग की नाईं हो गया है तथा मेरी जीविका भी नानाविध भोगवासनारूपी दुर्गन्धों को अपने अंग में धारण करनेवाली गीधतुल्य इन इन्द्रियों द्वारा निकृष्ट गन्दे गाँव की स्थिति-सी हो गयी है ॥८॥ करंज आदि काँटेदार वृक्षलता के समान मेरी बुद्धि महाभयानक तथा कुटिल है एवं आयासयुक्त अज्ञानान्धकार से आच्छादित निरन्तर विषयों की चिन्ता से ब्रह्मसाक्षात्काररूपी प्रकाश के बिना ही मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थ में ऐसे गँवा दी, जैसे दीपक आदि के प्रकाश को प्राप्त किये बिना अन्धकार से आवृत रात को आँखें व्यर्थ में गँवा देती हैं। हे मुने, शुष्कलता के सदृश यह तृष्णा न फूलती है, न फलती है और न विवेकरूपी रस को ही कुछ ग्रहण करती है, बार-बार व्यर्थ होने से यह नष्ट होकर भी नष्ट नहीं होती ॥९,१०॥

तुम्हारा कर्मों से ही उद्धार क्यों नहीं हो सकता, इस आशंका पर कहते हैं।

जो कुछ मैंने नित्य-नैमित्तक कर्म किया है वह पूर्वजन्म के दुष्कर्म की राशि में निमग्न हो

गया तथा भोगवासनारूपी बीज तो उत्तरोत्तर अनर्थ के हेतुभूत काम्यनिषिद्ध कर्म में ही मुझे प्रवृत्त करता है ॥११॥ पुत्र, कलत्र, बान्धव, चाकर आदि में आसक्ति रखने से यह जीवन भी जीर्ण हो चला, परन्तु हे भगवन्, मैं संसारसागर के पार न पहुँचा तथा भयदायिनी मेरी भोगों की आशा दिनों–दिन बढ़ती ही जाती हैं ॥१२॥ गड्ढे में उत्पन्न हुए कण्टक वृक्ष की नाईं, पुत्र, मित्र, पशु, धन आदि से कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण स्वरूप घर में चिन्तारूपी ज्वर से विकार पैदा करनेवाली लक्ष्मी से समुत्पन्न महाविपत्तियाँ मैंने निःसन्देह गँवा दीं ॥१३॥ प्रचुर धन आदि से सम्पन्न तथा शस्त्र आदिकों के द्वारा घायल न हुए पुरुष को भी यह लक्ष्मी बार–बार लुभाकर बहुत दूर तक खींच जाकर के शत्रुओं तथा चोरों आदि के अधीन में पहुँचाती हुई सारी सम्पत्तियों के नाश एवं अस्त्र–शस्त्रों के आधातादि के द्वारा आखिर में दुःखप्रद बनकर धोखा देने में ऐसे समर्थ रहती है, जैसे सर्प के मस्तकमणि से प्रकाशमय हो रहा अन्धकारयुक्त गड्ढा, हृदय के भीतर रत्न लेने की स्फुरित हुई अभिलाषावाले तथा अपने अन्दर स्थित सर्प को न देखनेवाले पुरुष को अपने भीतर घुसाकर साँप के डँसने आदिरूप धोखा देने में समर्थ रहता है ॥१४॥ यह मेरा चित्त हजारों आशारूपी तरंगों से अस्वच्छ, चारों ओर इधर–उधर खूब दौड़–धूप लगाने पर भी अर्थ प्राप्ति से शून्य है, इसी से सूखे समुद्र के सदृश दुष्कर होने से भाग्यहीन तथा एकमात्र इन्द्रियों के वशीभूत हुए मुझे विवेकी लोग अपने समीप नहीं फटकने देते – मेरी उपेक्षा करते हैं ॥१५॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं।

कण्टकयुक्त, अपवित्र स्थान में रहनेवाला भीलावा के वृक्ष के समान असत् होने पर भी बड़े – बड़े कर्मों का आरम्भ करनेवाला, अर्जुनवात के समान सदा ही भ्रमणकारी मेरा यह मन मेरे अनेक बार मर जाने पर भी मरण को प्राप्त नहीं हुआ यानी इच्छितार्थ शून्य हो एकमात्र दुःख के लिए ही दौड़ता–फिरता है ॥१६॥

शास्त्रों तथा सज्जनों की संगति आदि उपायों से मन को रोक रखो, यदि ऐसा कहें, तो इस पर मेरा यह कहना है कि ज्ञानफलविवेकरूपी सूर्य के उदय से अज्ञानरूपी रात जब तक बीत नहीं जाती, तब तक शास्त्र तथा सज्जनों के सम्पर्करूपी चन्द्रमा एवं तारे आत्यन्तिक मनका भ्रम दूर करने में समर्थ नहीं हो सकते, इस आशय से कहते हैं।

हे मुनिवर, शास्त्र एवं सज्जन महानुभावों की संगतिरूप चन्द्रमा और तारों को धारण करनेवाली, अहंकाररूपी उल्लसित हो रहे बालकल्पित यक्ष से युक्त यह मेरी अज्ञानरूपी रात अभी तक क्षीण नहीं हुई है, क्योंकि अज्ञानान्धकाररूपी मतवाले हाथी के लिए सिंह तथा कर्मरूपी तृण के लिए अग्नि एवं वासनारूपी रात का विनाशक विवेकरूपी सूर्य का अर्थात् वासनारूपी रात के लिए सूर्यरूप विवेक का अभी उदय नहीं हो पाया है ॥१७,१८॥ हे भगवन्, यही कारण है कि चित्तरूपी

मतवाले हाथी ने अवस्तु को ही वस्तुवत् मान लिया है। हे मुने, ये इन्द्रियाँ मुझे काट खा रही हैं, न जाने मेरी क्या दशा होगी ? ॥१९॥ सेवादि के द्वारा वश में लाये गये प्राज्ञों या अन्यान्य उपायों से मैंने भवसागर तैर जाने के लिए जिस शास्त्रदृष्टि का आश्रय नहीं किया, वह शास्त्रदृष्टि भी वासना में आसक्त करानेवाली होकर दृष्टिविघात की नाईं मुझे अन्धा बनाने के लिए ही है ॥२०॥ इसलिए इस तरह चारों ओर से अनर्थों के कारण भयंकर भारी मोह में फँसे मेरे लिए संसारसागर से उद्धार पाने में कल्याणकारक जो कर्तव्य हो, सो कृपाकर कहिये, मैं आपसे विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ ॥२१॥ हे भगवन्, शरत्काल के सदृश निर्मल, स्वच्छज्ञान, विवेकादि ज्योतिर्गणमण्डित साधु गुरु के प्राप्त होने पर आकाशतुल्य शिष्य के मोहरूपी कुहरे शान्त हो जाते हैं तथा सारी दिशाएँ-जैसे आशाएँ (मनोरथ) धूलि आदि मलों-जैसे रागादि-मलों से रहित हो जाती हैं, यह लोक में प्रसिद्ध साधुजनों के द्वारा कही गयी वाणी संसार के शान्तिदायक आपके उपदेश से मेरे लिए सत्य हो ॥२२॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

अविद्या से उत्पन्न संवेदन आदि चार संसार के बीज हैं और
परमात्मा का तत्त्वज्ञान ही संसार और उन बीजों का विनाशक है, यह वर्णन।

इस तरह मंकि मुनि ने अपने संसाररूपी अनर्थ का वर्णन कर जब उसके निरास का उपाय पूछा तब 'उसके बीजों को जाने बिना संसार निरास के उपाय प्राप्त नहीं किये जा सकते' इस अभिप्राय से संसार के चार बीजों का महाराज वसिष्ठजी उपदेश देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे मुने, संवेदन, भावन, वासना और कलना ये चार ही इस संसार में अनर्थ पैदा करनेवाले हैं। ये जितने शब्दों के अर्थ हैं, वे मिथ्याभूत अर्थों का ही अवलम्बन करते हैं और स्वयं भी मिथ्या हैं, इसलिए वे सब एकमात्र अविद्या में ही स्फुरित होते हैं। पहले पहले इन्द्रियों से जो विषयों का उपभोग होता है, यह उपभोग ही संवेदन कहलाता है, विषयों को जानने पर उनका जो बार-बार चिन्तन होता है, वह चिन्तन 'भावन' कहलाता है, बार-बार चिन्तन करने पर चित्त में एक तरह का जो दृढ़ विषयलांछन उत्पन्न हो जाता है, वही विषयलांछन वासना कहलाती है और उस वासना से मरणकाल में भावी शरीर के लिए जो स्मरण होता है, उसको कलना कहते हैं ॥१॥

जो ये चार संसार के बीज हैं, उनमें आदि के दो तो अत्यन्त अनर्थरूप है और अन्तिम के दो उनके पीछे-पीछे चलने के कारण अनर्थरूप हैं, यह कहते हैं।

मुनिवर, वेदन और भावन- ये दो तो समस्त दोषों के आश्रय हैं यानी अत्यन्त ही अनर्थरूप हैं, तथापि भावन में तो उस प्रकार सब आपत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, जिस प्रकार पुष्प, पल्लव आदि से

समृद्ध लताएँ मधुमास के लतारस में विद्यमान रहती हैं ॥२॥ यह अतिगहन जो संसारमार्ग है, उस पर वासना के आवेश से चल रहे जीव के प्रति ही चित्र–विचित्र अर्थों के समूह से परिपूर्ण टेढ़े–मेढ़े अनेक वृत्तान्त आते–जाते रहते हैं ॥३॥

इसीलिए विवेकी पुरुष का विषयों में दोषभावना और ब्रह्मभावना से इन बीजों का विनाश हो जाने पर वासना के साथ–समस्त संसार नष्ट हो जाता है यह कहते हैं।

विवेकी पुरुष का संसारसम्भ्रम तो, वसन्त के अन्त में पृथिवी के रस के सदृश, धीरे–से वासना के साथ नष्ट हो जाता है ॥४॥

वासना ही आगे का संसार भी बनाती है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार वसन्त ऋतु की रसलेखा वन में फैलनेवाली कदली का विस्तार करती है, उसी प्रकार इस संसाररूपी कण्टकपूर्ण गुल्म का वासना ही विस्तार करती है ॥५॥ जैसे पृथ्वी में मधुमास का रस वन बनकर स्थित रहता है, वैसे ही चिति में (अज्ञानाश्रय जीव–चैतन्य में) वासनारूपी रस संसाररूप अन्धकार बनकर उदित होता है ॥६॥

परमार्थ वस्तु का अपलाप करनेवाले अज्ञान को बतलाने के लिए पहले परमार्थ वस्तु का कथन करते हैं।

द्वैतरहित निर्मल चैतन्यमात्र वस्तु को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ जगत् में नहीं है, क्योंकि चैतन्य की सत्ता और चैतन्यप्रकाश इन दोनों से ही जगत् की सत्ता और जगत् का प्रकाश होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध बात है। जैसे आकाश शून्यरूपता को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, वैसे ही असीम आत्मा में स्वतः सत्ता–स्फूर्ति को छोड़कर दूसरी कोई चीज प्रसिद्ध नहीं है ॥७॥ इस तरह चारों ओर निरन्तर प्रकाशित हो रहा 'चिन्मात्ररूप वेदनात्मा देह–इन्द्रिय आदि से भिन्न नहीं है, इस प्रकार उसकी सत्ता का भान न करानेवाली अनादि जो प्रतिभारूप भ्रान्ति है, वह भ्रान्ति ही आवरणशक्ति की प्रधानता से अविद्या, विक्षेपशक्ति की प्रधानता से भ्रम और फलरूप से वस्तुतः संसाररूप हुई है ॥८॥

अविद्या से साधित वस्तु का परिणाम दिखलाते हैं।

बालक को वेताल की तरह, सत् की नाईं भासित हो रहा असद्रूप यह संसार परमात्मतत्त्व के अज्ञान से सिद्ध है। अतः वह परमात्मतत्त्व के ज्ञानरूप प्रकाश से ही क्षणभर में नष्ट हो जाता है ॥९॥

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियों का बाध हो जाने पर सभी ज्ञानों में एकता आ जाती है, यह दिखलाते हैं।

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियों का आत्मतत्त्व के ज्ञान से बाध हो जानेपर सम्पूर्ण दृश्य, पदार्थों के ज्ञान बोधरूप से ऐसे एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे धरातल के सम्पूर्ण नदियों

के प्रवाह सागर में जाकर समुद्ररूप से एकता को प्राप्त हो जाते हैं ॥१०॥

'चिन्मात्रादमलाच्छून्याद्दते किंचिन्न विद्यते' यह जो कहा है इसका दृष्टांतों से उपपादन करते हैं ।

जैसे मिट्टी के बर्तन मिट्टी से शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते, वैसे ही सत्‌चिन्मात्रमय सांसारिक विषय भी चिति से शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते ॥११॥

विचार करने पर चिन्मयरूप से स्फुरित हो रहे पदार्थों की चिदैकरसता ही अन्त में चलकर प्राप्त हो जाती है, इस आशय से कहते हैं ।

जो वस्तु तत्त्वज्ञान से ज्ञात होती है वह ज्ञानस्वरूप ही कही जाती है, क्योंकि विरुद्धरूप होने से ज्ञान का अभाव ज्ञानरूप से नहीं जाना जाता । इसलिए ज्ञेय और ज्ञान, ये दोनों एकरूप हैं ॥१२॥

यदि द्रष्टा आदि त्रिपुटी के बोध से आध्यासिक अभेद कोई कहे, तो उसके मिथ्याभूत होने से एकमात्र अधिष्ठान ज्ञानैकरसता ही उसमें सिद्ध हो सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों में प्रत्येक में एकमात्र बोध (ज्ञान) ही सार है, इसलिए उससे अन्य, आकाश में फूल की नाईं, कुछ भी नहीं है ॥१३॥

जो एक जाति के पदार्थ हैं, वे ही एक दूसरे में मिल जाने पर एकरूप हो जाते हैं, यह बात जल के साथ जल के मिल जाने पर देखी गई है, इस स्थिति में जगत् जब जगदनुभवरूप है और सभी अनुभव जब एकरूप हैं, तब तो अन्त में चैतन्य की एकता ही सिद्ध हुई, यह कहते हैं ।

जल आदि एक जाति के पदार्थ अपनी जाति के दूसरे जल आदि के साथ मिल जाने पर एकता को प्राप्त करते हैं, यह बात सिद्ध है । इसलिए अनुभव भी परस्पर मिल जाने से एकरूप हो जा सकते हैं, अतः चिदेकत्व निश्चय सिद्ध है ॥१४॥

काष्ठ आदि दृश्य पदार्थों का स्फुरण के साथ अभेद न मानने पर खरगोश के सींग के समान उनका अत्यन्त असत्त्व ही हो जायेगा, यह कहते हैं ।

यदि लकड़ी, पत्थर आदि को बोधरूप न माना जाय, तो उनका खरगोश के सींग के सदृश, कभी ज्ञान ही, नहीं हो सकेगा ॥१५॥

अपने सिद्धान्त में तो दोष नहीं है, यह कहते हैं ।

यद्यपि अपने सिद्धान्त से यह दृश्यप्रपंच एकमात्र बोधरूप अतएव बोध से अनन्य ही सिद्ध है, तथापि अज्ञान के कारण अन्य के सदृश होकर बोध से प्रकाशित होता है ॥१६॥

ऐसी स्थिति में 'जगत् बोधरूप ही है, बोधानतिरिक्त (बोधरूप) प्रकाशवाला होने से जो जिससे अनतिरिक्त (अभिन्न) प्रकाशवाला होता है, वह तद्रूप ही होता है, जैसे वायु का स्पंदन वायुरूप होता है' यह अनुमान फलित हुआ, यह कहते हैं ।

जैसे वायु स्पन्दनरूप है और समुद्र जलरूप है, वैसे ही समस्त जगत् में स्थित यह समस्त विस्तृत दृश्य भी बोधरूप ही है ॥१७॥

यदि यह शंका हो कि क्रिया और क्रियावान् एवं अवयव और अवयवी इन दोनों का तो समवायसम्बन्ध से केवल सम्मेलन ही मात्र होता है, न कि उनकी आत्यन्ति एकता होती है, तो इसका समाधान यह है कि लाख और लकड़ी का बाहर से मिश्रण करने पर भी भेद के अनुभव में मिश्रण दिखाई नहीं देता और इस स्थल में मिश्रण दिखाई पड़ता है इसलिए दोनों में विषमता है और समवायसिद्ध भी नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

इन लाख, लकड़ी आदि के परस्पर मिश्रित हो जाने पर भी जैसे भेद का अनुभव होने के कारण उनकी एकता नहीं है, वैसे यहाँ पर नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर ऐक्यरूप मिश्रण दिखाई देने से इनमें ऐक्य ही मानना चाहिए ॥१८॥ दूध और जल की नाईं अन्योन्य एक रूप बन जाना ही एकता है । द्रष्टा और दृश्य पदार्थों का भी अन्योन्य ज्ञानरूप ऐक्य विद्यमान है ही लाख और काठ की नाईं अन्योन्य संयोगमात्र नहीं है ॥१९॥

उपर्युक्त युक्तियों से जब यह सिद्ध हो चुका कि सब दृश्य चिन्मात्रस्वरूप हैं और तत्पदार्थ चिति अपरिच्छिन्न (व्यापक) होने के कारण नित्य मुक्त है, तब त्वंपदार्थ की अहंरूप से परिच्छिन्न बुद्धि ही संसार की कारण और परिच्छिन्न बुद्धि का परित्याग मुक्ति का कारण फलित हो जाता है, यह कहते हैं ।

भद्र, 'अहम्' बुद्धि ही बन्धरूप संसार को पैदा करती है और अहम्बुद्धिका अभाव मुक्ति को पैदा करता है । जब इतने बन्धन को अपने अधीन रख सकते हैं, तब भला अशक्ति ही किस बात की ? ॥२०॥

इसी विषय का उपपादन करते हैं ।

एक चन्द्र में दो चन्द्रमा की बुद्धि या मृगतृष्णा में जलबुद्धि के समान यह असत् अहंकार क्या उत्पन्न हुआ है ? उत्पन्न हुआ ही नहीं है ॥२१॥

अहन्ता त्याग होने पर ममता स्वयं ही त्यक्त हो जाती है, यह कहते हैं ।

'यह मेरा है' यह ममता ही बन्धन प्रदान करती है और 'मैं नहीं हूँ' यह ममता का अभाव मुक्ति प्रदान करता है । जब इतनी वस्तु अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान ही कहाँ रहा ? ॥२२॥

असल में असत्य अहंकार अन्दर बैठ कर सत्य आत्मा को वैसे नहीं ढक सकता, जैसे कि (भीतर बैठकर बैर) कुण्ड को ढक सकता है या वैसे न परिच्छिन्न बना सकता है, जैसे कि घड़ा आकाश को परिच्छिन्न बना सकता है, इसे कहते हैं ।

जो कुण्डबदरन्याय है यानी जैसी कुण्डे (प्याले) की और बैर की स्थिति है या जैसी घट और आकाश की स्थिति है, तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्ध से बैर कुण्डे के अन्दर प्रविष्ट होकर उसको दबा सकता है या घड़ा आकाश को छोटा बना सकता है वह सम्बन्ध भी आत्मा के साथ नहीं है, जो कि अत्यन्त भिन्न अहंकारकल्पना की सामर्थ्य रखता है, ऐसी स्थिति में वास्तविक ऐक्य ही है,

वह ऐक्य अन्योन्य वेदनरूप है यानी चन्द्र में द्वैतपन की नाईं भेद से अविद्या द्वारा कल्पित भेदरूप आत्मा का जो स्वप्रकाश के बल से स्फुरण है, वह अन्योन्य वेदन-सा हो जाता है ॥२३॥ जड़ और ज्ञान की वास्तविक एकता है और वही आत्मरूप है, यों जो जैमिनिमतावलम्बी लोग मानते हैं, उनके मत में भी वह ऐक्य जड़वस्तुगत जड़ और ज्ञानगत अजड़ होगा, यों किसी एक रूप को वह कभी छोड़ ही नहीं सकता, ऐसी स्थिति में जड़ अंश में उसका स्फुरण न होते हुए भी चिदंश में स्फुरित हो रहा वह अन्योन्यवेदनरूप निर्विषयक ऐक्य आ ही जाता है ॥२४॥

क्यों किसी एक रूप को नहीं छोड़ता ? इस पर कहते हैं।

जो अजड़ वस्तु है, वह जड़ता कभी धारण नहीं कर सकती, क्योंकि धर्म (स्वभाव) कभी भी छुटनेवाले होते नहीं। जो आत्मतत्त्व अजड़ है उसे आपने जड़रूप अंशान्तर से देखा, पर वह तो कोई दूसरी ही चीज है, उसकी अजड़ के साथ एकता है ही नहीं, ऐसी स्थिति में जड़ और बोध की एकता कैसे हो सकती है ? ॥२५॥

जब ऐसी ही स्थिति है, तब आत्मवादी लोग एक दूसरे के विरुद्ध तरह-तरह के आत्मा के स्वरूप क्यों मानते हैं, इस पर कहते हैं।

सैकड़ों कुत्सित विकारों से, वासनाओं से तथा अभिमानों से भरे लोग बाह्यदृष्टियों से ही आत्मतत्त्व की समीक्षा करते-करते ऐसे नीचे-से-नीचे की ओर दौड़ते हुए जाते हैं जैसे पर्वत से च्युत हुई पाषाण शिला नीचे से नीचे की ओर दौड़ती हुई जाती है ॥२६॥ इसीलिए स्व-स्व वासनारूपी वायुओं द्वारा इधर-उधर उड़ाये गये उपनिषद्दृष्टि से च्युत पुरुषरूपी तिनकों के ऊपर वे सब दुःख गिरते हैं, जो कि लोक में तथा शास्त्रों में वर्णित हैं। कितने गिरते हैं, इस विषय में कोई कह ही नहीं सकता ॥२७॥

उसीका वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं।

अपनी वासना और अपने-अपने अभिमान के अनुसार राग आदि रसों से रंगे गये लोग करतल से ताड़ित गेंद के सदृश इधर-उधर खूब घूम-फिरकर नरकों में गिरते हैं वहाँ पर दीर्घकाल तक तरह-तरह की यातनाओं के क्लेशों से सब ओर से जर्जर होकर कालान्तर में स्थावर, कृमि, कीट आदि जन्म लेकर अन्य-से हो जाते हैं, फिर मनुष्यजन्म उनके लिए दुर्लभ ही बना रहता है ॥२८॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

भावनाजनित रागादि दोषों से अनर्थों का आना तथा
विवेकजनित तत्त्वज्ञान से रागादि दोषों के विनाश द्वारा उनका निकल जाना : यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, स्थावर आदि योनिरूप संसारमार्ग में गिरे हुए जीव के ऊपर, मेघ के आने पर लाखों कीटों के आगमन के सदृश, छेदन, भेदन, दहन, क्षुधा आदिरूप

लाखों बातें आती-रहती हैं ॥१॥

इन सारे वृत्तान्तों में एकमात्र भावना ही मूल है, यह कहते हैं।

ये जितने संसार के पदार्थ हैं, वे सब एक दूसरे से सम्बन्ध कुछ नहीं रखते, जैसे कि जंगल में बिखरे हुए पत्थर के टुकड़े। परन्तु उन सबको मिलानेवाली (गुँथने में हेतु) जंजीर के सदृश भावना ही है ॥२॥

भावना में मूल कारण रागादि दोषों से दूषित, पक्की वासनाओं से भरा विवेक शून्य चित्त है, यह आशय लेकर कहते हैं।

लोक में यह चित्त एक तरह से वसन्तकाल का भयंकर अरण्य है, अनेक तरह के वृत्तान्तरूपी वृक्षों को लेकर अन्धकार पैदा करने के लिए गहन-सा बन स्थित है, राग आदि दोषरूपी जल से सींचा भी गया है ॥३॥ अहो, महान् आश्चर्य है कि वासना के बल से पराधीन होकर ये अज्ञानी भूत सब चित्रविचित्र सुख-दुःखों का जन्मों में अनुभव करते हैं ॥४॥ अहो, यह वासना अतिविषम है,जिसके वश से मनुष्य मिथ्याभूत द्रष्टा आदि त्रिपुटीरूप अर्थों से अपने भीतर यह संसारभ्रम का अनुभव करने लग जाते हैं॥५॥

यही कारण है कि संसार-भ्रम को तैर गये तत्त्ववेत्ता पुरुष सुखी रहते हैं, यों उनकी प्रशंसा करते हैं।

भद्र, ज्ञानी और चन्द्र इन दोनों में क्या अन्तर है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी आह्लाद देनेवाला है, अमृत से पूर्ण है, शुद्ध है, ज्ञानरूप प्रकाश करता है और सभी अर्थों में शान्त है ॥६॥

अविवेकी की निन्दा करते हैं।

अज्ञानी (मूर्ख) और बालक में क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि जो अज्ञानी है, वह पूर्वापरका (आगे-पीछे का) कुछ भी विचार किये बिना जिस किसी की भी इच्छा करने लगता है, उसकी कोई मर्यादा ही नहीं है ॥७॥ भद्र, कहो मछली और मूर्ख (अज्ञानी) में क्या अन्तर है ? ये दोनों मरणपर्यन्त पकड़े हुए अभिलाषारूपी विषयों को नहीं छोड़ते, *(मछली के पक्ष में बंसी में लगाया गया आमिष और मूर्ख के पक्ष में रागादिविषयरूप आमिष समझना चाहिए)* चाहे वह शुभ हो या अशुभ ॥८॥ शरीर, नारी, धन, आदि जितने ये पदार्थ हैं, वे सब शुष्क बालू से बनाये गये कसोरे के सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाले हैं ॥९॥

अब श्रोता के चित्त को लक्ष्य कर कहते हैं।

हे चित्त, ब्रह्मा से लेकर गुल्म (एक प्रकार का पौधा) तक सैकड़ों योनियों में कल्पपर्यन्त घूम रहे तुम्हें शम को प्राप्त किये बिना शान्ति नहीं मिल सकती ॥१०॥ केवल विवेकमात्र से संसार की गन्ध ऐसे निकल नहीं सकती जैसे केवल अपने पैर रखने की जगह पर दृष्टि रखनेवाला गमनकर्ता पुरुष मार्ग की विषमता नहीं निकाल सकता ॥११॥ यदि तुम्हारा चित्त विवेक और अवधान से युक्त नहीं है, तो उसे कामरूप पिशाच अपने वश में कर लेगा। परन्तु जो सावधान और सदा जागरुक

है, उसके चित्त का वह कामरूप पिशाच क्या करेगा ? ॥१२॥

अहंकारयुक्त जगत् केवल विवेक और अप्रमाद से शून्य ज्ञान का विस्तारमात्र है, दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं।

जैसे चक्षु का प्रसरणरूप व्यापार केवल रूपका अवलोकनमात्र ही है, इससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है, वैसे ही अहंकारयुक्त जगत अविवेक और प्रमादयुक्त संवित का प्रसरणरूप व्यापारमात्र ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥१३॥ हे कामादि शत्रुओं के नाशक, जैसे आँख का आवरण सभी रूप के प्रकाश की शान्ति है, वैसे ही बहिर्मुख ज्ञान का आवरण यानी बाह्य ज्ञानों को आत्माकी ओर लगाना समस्त दृश्यों की शान्ति है॥१४॥ भद्र, जैसे पवन शीघ्र स्पन्दन का विस्तार करता है, वैसे ही विशुद्ध संवित् अविवेकजनित कुछ साधारण स्फुरणरूप व्यापार से अज्ञातस्वस्वरूप चिदाकाश में अहंकारयुक्त असद्रूप जगत का विस्तार करती है ॥१५॥ यह जगत असल में असत्य है, परन्तु सत्य की नाईं प्रतीत होता है, वास्तव में ब्रह्मचिति अन्यका निर्माण न करती हुई यों ही जगत-रूप में स्फुरित होती है। जगत् असत्य है, इसमें दृष्टान्त यही है कि जैसे मिट्टी या सोने में कल्पित घड़ा या कड़ा मिट्टी या सोने से अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता, वैसे ही आत्मा में कल्पित यह जगत् आत्मा से अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि जगत् सत्य होता, तो आत्मा से अलग होकर उपलब्ध होता॥१६॥

जो अलग हो प्राप्त नहीं होता, उसकी अलग सत्ता नहीं रहती, यह सोने आदि में नियम बताते हैं।

जैसे आकाश शून्यमात्र है, जैसे वायु स्पन्दनमात्र है, जैसे तरंग आदि जलमात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी संविन्मात्र है ॥१७॥ जैसे जल में प्रतिबिम्बित पर्वत या पर्वततुल्य तरंग जलरूप ही है, वैसे ही आत्मा में प्रतीत ये तीनों जगत् शान्त, आकाशरूप तथा सभी तरह के भेदों से शून्य संवित्स्वरूप (आत्मस्वरूप) ही हैं ॥१८॥

इस प्रकार जगत् के स्वरूप को जान रहे ज्ञानी को सांसारिक सन्ताप की प्राप्ति कभी नहीं होती, यह कहते हैं।

सभी तरह के विकारों से निर्मुक्त अतएव परमशान्त ज्ञानी पुरुष के अन्दर ऐसी सबसे उत्तम शीतलता उत्पन्न हो जाती है, जिसकी तुलना में ये अनेक चन्द्रमा भी प्रदीप्त अग्नि के कणों के सदृश प्रतीत होने लगते हैं ॥१९॥

उसमें दूसरे किसी अन्य प्रकाश की प्रसक्ति भी नहीं है, यह कहते हैं।

जब यह जगत् अत्यन्त शान्त व्यापक प्रकाशरूप शिवस्वरूप शून्य हो गया, तब उसमें दूसरा प्रकाश ही कौन ? वह किस क्रिया या साधन से कैसे उत्पन्न किया जा सकता है ? ॥२०॥

वही सब पदार्थों का किसी काल में बाधित न होनेवाला स्वरूप है, यह कहते हैं।

ब्रह्मशब्द से जो सत्ता कही जाती है, वह सत्ता ही सब पदार्थों का निजी स्वरूप है, उसमें किसी तरह की बाधा नहीं है और समस्त जगत् तन्मय है अतएव वह अव्ययरूप है ॥२१॥

तब कौन स्वरूप बाधित होता है, इस शंका पर कहते हैं।

जो ये नाम–रूपात्मक पदार्थ हैं, उनमें बाध देखा जाता है, परन्तु उनका बाध या उनकी उत्पत्ति आदि विकृतियाँ जो दिखाई देती है, उनके विषय में विचार करने पर भी आकाशपुष्प के सदृश हमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे तुच्छ हैं॥२२॥

असली बात यह है कि वह सब रूप केवल मन की कल्पना है, अतः मनके शान्त हो जानेपर वह स्वयं अपने–आप विलीन हो जाता है, इसलिए तुम चुपचाप बैठे रहो, यह कहते हैं।

जैसे बड़ा पत्थर अपने स्थान में चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठा रहता है, वैसे ही तुम भी मन को हटाकर चुपचाप शान्तिपूर्वक अपने प्रमातारूप में स्थित रहो। मन के चले जाने पर प्रमातारूप आत्मा नहीं चला जाता, क्योंकि उस मन के चले जाने पर नामरूपात्मक मनन (विकल्प) एवं चक्षु आदि प्रमाण चले जाते हैं, परंतु प्रमातारूप आत्मा न मनन है और न चक्षु आदि प्रमाणरूप ही है, वह तो असीम, अज और अविनाशी ब्रह्मरूप है ॥२३॥ भद्र, आकाश के सदृश निर्मल आत्मा के अन्दर मन को विलीन कर स्थित हुए योगी को नाम और रूप की प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि नामरूपकी प्रतीति तो अपने स्वरूप में स्थिति के लिए अभ्यास जब दृढ़ नहीं रहता, तब स्वप्न के सदृश मन में उत्पन्न होती है॥२४॥

जगत् केवल मन का ही संकल्प है, यह किस तरह जाना जा सकता है ?

भद्र, यह जो हिरण्यगर्भ का मन है, वही जगद्रूपी चित्र का निर्माण करता है, इसके पास न रंग है, न चित्रनिर्माण की कूँची है और न तो कोई चित्र का आधार ही है । इतना होने पर भी उस चित्र को अपने–आप देखने लग जाता है। क्या कहीं किसीने स्वप्न में मन के सिवा किसी दूसरे को कर्ता और कार्य देखा है ? ॥२५॥ मनोराज्य के सदृश मन जिस किसीका निर्माण करता है, वहाँ सर्वत्र उन–उन वस्तुओं की प्रतीति बनकर स्वयं ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार नामरुपात्मक प्रपंच के : मन से भिन्न कोई अन्य चीज–न होने से कौन, कहाँ किस प्रकार जगत् का निर्माण कर सकता है ? ॥२६॥

यों सुख–दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय कल्पना का विनाश हो जानेपर शून्यरूप या आत्मरूप हो जाते हैं, यह कहते हैं।

'मैं सुखी हूँ' इस तरह भासमान सुख, 'मैं दुःखी हूँ' इस तरह भासमान दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय सब मनकी कल्पना के शान्त हो जाने पर आत्मरूप हो जाते हैं या शून्यरूप बन जाते हैं॥२७॥

स्वप्नपर्वत की नाईं पार्थिव विषय भी पार्थिवरूप नहीं है, यानी मिथ्या हैं यों भावना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

जितने पदार्थ हैं, वे सब यद्यपि परमार्थ में चिदाकाशरूप ही हैं, तथापि उनमें स्वप्न के पदार्थ के सदृश पार्थिवरूपता मिथ्या ही स्थित है॥२८॥

ऐसी स्थिति में जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं ।

अहन्ता की लकीर जब ब्रह्मसत्ता में आ जाती है, तभी संसारभ्रमरूप विकार पैदा करती है और जब वह लकीर हट जाती है, तभी वह शान्ति प्रदान करती है तथा अपनी स्वरूपावस्था को प्राप्त हो जाती है॥२९॥ जैसे सुवर्णनिर्मित कटकशब्दार्थ यानी कड़ा तुम्हें सुवर्ण से पृथक् भासता है, पर वह सत्य नहीं है, वैसे ही आत्मा से जनित अहन्ता शान्तात्मा परमात्मा से पृथक् भले ही भासे, पर वह सत्य नहीं है ॥३०॥ कर्तारूप आत्मा वास्तव में चारों ओर से जब परिपूर्णभाव से लक्षित हो जाता है, तब शान्त ही रहता है । उसमें किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है वह शून्य, मोक्षरूप, मनरहित, मौनी, अकर्तारूप और शीतल है ॥३१॥ जैसे किसी यन्त्र से बनाई गयी प्रतिमा वासनाशून्य होने के कारण स्पन्दनशून्य है, यानी स्पन्दन के अभिमान से रहित है, वैसे ही आत्मा भी वास्तव में वासनाशून्य होने के कारण स्पन्दनशून्य ही है । अतः व्यवहार कर रहा भी ज्ञानी अपने असलरूप में ही स्थित रहता है ॥३२॥

शरीर की चहल-पहल दशा में भी आत्मा में चहल-पहल नहीं होती, इस बात की संभावना में दूसरा दृष्टान्त देते हैं ।

जैसे झूले में सोये हुए बालक के अंग चहल-पहल करते ही नहीं, वैसे ही आत्मतत्त्वदर्शी विद्वान् में अपने स्वरूपानुभव के सिवा चहल-पहल कोई है ही नहीं ॥३३॥

ज्ञानी का निरन्तर चल रहा जो स्व-स्वरूप ज्ञान है, वही देह आदि का ज्ञान है, यह क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं ।

भद्र, आशा, चेष्टा, स्नेह और प्रार्थना आदि से शून्य तथा बाह्यवृत्तियों से रहित जो अखण्ड स्व-स्वरूप परिज्ञान है, वह शान्त अनन्त आत्मस्वरूप ही है, अतः उसे शरीर आदि का परिज्ञान कहना कैसे संभव है ? ॥३४॥

उक्त स्वस्वरूपानुसन्धान में द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटी रहती ही नहीं, इसलिए भी उसको शरीर का परिज्ञान नहीं होता, यह कहते हैं ।

समस्त अभिलाषाओं से मुक्त ज्ञानी पुरुष को, जो द्रष्टा, दृश्य और ज्ञानरूप त्रिपुटीरहित निराकार वस्तु को देख रहा है, शरीर का अनुसन्धान कैसे हो सकता है ? ॥३५॥ सर्वान्वित अपेक्षा यानी सभी विषयों की अभिलाषा ही दृढ़ बन्धन है और सभी तरह की इच्छाओं का परित्याग ही मुक्ति है । ऐसी स्थिति में जो पूर्णकामता में विश्रान्त हो चुका है, वह क्या चाहेगा ? ॥३६॥ इस शरीर की पार्थिवरूपता होने पर भी यह अपने स्वप्न में शरीरांगों के सदृश असत् और केवल भ्रममात्रस्वरूप ही है, अतः अपने शरीर के लिए भी किस बुद्धिमान् को कहाँ,

किससे, किसकी इच्छा हो सकती है ? ॥३७॥

अब उपसंहार करते हैं।

ज्ञानी पुरुष केवल अपने स्वरूप में ही स्थिति रखता है, इस स्थिति में उसकी सारी इच्छाएँ विलीन हुई रहती हैं, सारी उत्कण्ठाएँ चली गयी रहती है और शरीर का भान भी नहीं रहता ॥३८॥

मुख्य अधिकारी होने के कारण सिर्फ एक बार उपर्युक्त विषयों के श्रवण से ही मंकि की मोहनिवृत्ति हो गई, यह कहते हैं।

इस तरह के मेरे उपदेश को सुनते ही उस मंकि ब्राह्मण ने अपने असीम महान मोह को भी उसी समय, पूर्णरूप से ऐसे छोड़ दिया, जैसे सर्प अपनी केंचुल को छोड़ देता है ॥३९॥ प्रारब्धवश से जो कुछ भी समय–समय पर कर्तव्य आ जाता था, उसे वह वासना छोड़कर करता हुआ सौ वर्षों के बाद उसी पर्वत पर समाधि में स्थित हो गया ॥४०॥ आज भी उस पर्वत पर पाषाण के सदृश निश्चल होकर वह स्थित है। उसके चक्षु आदि समस्त करण शान्त हो चुके हैं। कदाचित् दूसरों द्वारा जगाये जाने पर वह योगी समाधि से बाहर भी हो जाता है ॥४१॥

हे श्रीरामभद्र, आप इस मंकि ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत उपाय का अवलम्बन कर ज्ञान में उन्नतिशील विवेकी मन से स्वात्मानन्द में विहार करने के लिए शान्ति प्राप्त कीजिए। आपकी बुद्धि रागयुक्त बनकर, जलरहित शरत् के मेघों के सदृश, विवेक रहित हो दीन न बन जाय ॥४२॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

चित्त का स्पन्दन होने पर आत्मा में स्पन्दन का भ्रम हो जाता है,
इससे जगत् की सारी विभूतियाँ उत्पन्न होती है, चित्त की शान्ति से आत्मा में
स्पन्दनभ्रम की शान्ति होती है और इससे अपने असली स्वरूप में अवस्थान होता है – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, आप लौकिक पचड़ों से परे हो जाइए, अपनी आत्मा को शान्त बनाइए और जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसका अनुसरण करते चलिए। हे सौम्य, जैसे स्फटिक पत्थर से बनाया गया चाँदनी में स्थित प्रतिमापुरुष सत् है तो भी उसमें दृष्टि का निरोध न होने से असत् के तुल्य ही रहता है वैसे ही आप सत् होते हुए भी आत्मा की अद्वैतदृष्टि का निरोध न करने के कारण असत् के सदृश ही बने रहिए ॥१॥ यह जो असीम आत्मा है, वह जब तक ज्ञान नहीं रहता, तब तक स्वयं एक होता हुआ भी सबके रूप में यानी अनेक रूपों में स्थित है, परन्तु ज्ञान हो जाने पर न तो वह एक है और न सर्वात्मक अनेक है यानी न वह व्यष्टिरूप है और न समष्टिरूप ही है, क्योंकि ज्ञानकाल में सभी बाधित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में उसमें अनेकरूपता की कल्पना ही कहाँ रही ? ॥२॥

प्रत्येक शरीर की उत्पत्ति और विनाश तथा सात बित्ते के नाप से आत्मा का नाप अनुभव में आता है, अतः आत्मा की नानारूपता मान ली जाय, इसमें कौन-सी आपत्ति है ? इस पर कहते हैं ।

जो चेतन आत्मवस्तु है, वह परिपूर्ण, आदि-अन्त से रहित, व्यापक तथा आकाश के तुल्य निर्मल है, इसलिए शरीर की उत्पत्ति एवं नाश होने पर उसकी उत्पत्ति या विनाश कैसे हो सकता है ? उसका क्या बन-बिगड़ सकता है ? ॥३॥ भद्र, चिति के चमत्काररूप इस चंचल मन की एकमात्र चपलता के कारण ही ये सब जड़ संसार के खेल स्फुरित होते हैं और उसकी चंचलता न रहने से आत्मा में ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जैसे जल में तरंग ॥४॥ भद्र, शुभ्र मेघों में कल्पित वस्त्ररूपता वस्तुतः जैसे पहनने के काममें नहीं आती, वैसे ही इस देह में कल्पित आत्मरूपता भी वस्तुतः कुछ काम में नहीं आती ॥५॥ श्रीरामजी, आप अनेक तरह के प्रपंच को देनेवाली अवस्तु में यानी मिथ्या पदार्थों में डूबिये मत। मुख्य भव्य अनन्त वस्तु की मुक्तिरूप अनन्तसुख के लिए उपासना कीजिए ॥६॥

वह कौन वस्तु है, जिसकी भावना करनी चाहिए, इस पर कहते हैं ।

चित्‌रूपी अनन्त आकाश ही असली वस्तु है, उसका किसी तरह नाप नहीं हो सकता । जिनका आत्मा एकरूप बन गया है, उनके लिए यही सबसे बढ़-चढ़कर उत्तम वस्तु है। श्रीरामजी, इसी एक वस्तु में आपका चित्त सदा रमण करे ॥७॥

उसका क्या फल है, इस पर कहते हैं ।

इस प्रकार के निश्चय से युक्त हुए आप ही अज्ञानरूप बन्धन से निर्मुक्त निरंजन हैं। उक्त निश्चय ध्याता, ध्यान और ध्येय से शून्य (त्रिपुटीशून्य) है, त्रिकाल में बाधित होनेवाला नहीं है। ध्याता, ध्यान और ध्येय-इनमें कोई भी सत्य नहीं है यानी त्रिकालाबाधित नहीं है ॥८॥

दर्शनादि त्रिपुटी उसकी बाधक कैसे ? क्योंकि वह त्रिपुटी भी ध्यान-त्रिपुटी के ही समान है, इस शंका पर कुछ विशेष कहते हैं।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन चित्त की ही विभूतियाँ है, तात्पर्य यह कि दर्शन प्रमाण से उत्पन्न तथा वस्तु के अधीन है, पुरुष के अधीन नहीं, इसलिए वृत्ति से अभिव्यक्त परमार्थ चिति की उसमें प्रधानता तथा अज्ञान की बाधकता (निवर्तकता) ही विद्यमान है, इस परिस्थिति में द्रष्टा आदि परमार्थ भी चैतन्य की ही विभूति ठहरी । ध्यान न तो प्रमाणजन्य है और न वस्तु के ही अधीन है, किन्तु पुरुष की इच्छा का अनुसरण करनेवाला है । इस स्थिति में ध्यान आदि क्रियाविशेषरूप होने के कारण अविद्या की विभूतिरूप ही हैं, अतः ध्याता आदि बाधित हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि जो जो जड़ वस्तु है, वह सब ज्ञान से भिन्न (पृथक्) दिखाई नहीं देती अतः जितने दृश्य हैं, वे सब दर्शन का ही अनुसरण करनेवाले हैं । ध्येय तो ध्यान के

बिना भी अलग रहता है, अतः वह ध्यानानुसारी नहीं होता, यह विशेष है ॥९॥

सबसे विशेष तो यह है कि ज्ञान निर्विकारी है, यह कहते है।

जैसे प्रतिपदा के चन्द्रमा के उदित होने पर समुद्र क्षुब्ध होता है और जैसे प्रलयकाल की वायु बहने पर समुद्र सूख जाता है, वैसे आत्मतत्त्व न क्षुब्ध होता है और न सूख जाता है, वह सदा एकरूप और सौम्य रहता है ॥१०॥

तब चिति की विभूति द्रष्टा आदि त्रिपुटी कैसे ? इस प्रश्न पर एकमात्र विवर्तभाव से यह उत्तर देते हैं।

जैसे नाव पर यात्रा कर रहे पुरुष को तीरस्थ स्थिर वृक्ष, पर्वत आदि कम्पित हो रहे-से प्रतीत होते हैं अथवा जैसे शुक्ति में रजत-बुद्धि होती है, वैसे ही चिति में यह देह आदि अन्तःकरण को प्रतीत होते हैं ॥११॥

इस रीति से देहदृष्टि चित्त की कल्पना करती है, देह और चित्त की दृष्टि जीव की कल्पना करती है और जीवदृष्टि देह-चित्त की कल्पना करती है, यों सभी शुद्ध चैतन्य में ही विवर्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे देह आदि चित्त के हैं वैसे ही चित्त भी देहादि का है, इसी तरह जीव भी है, इस परिस्थिति में परम ब्रह्मपद में द्वैत ही कहाँ रहा ? ॥१२॥

ब्रह्मदृष्टि से तो सब एक ही हैं, यह कहते हैं।

आत्मतत्त्व के ज्ञान से तो यह सब केवल शान्त ब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा जगत् आदि पदार्थ कुछ भी नहीं है, और न कोई दूसरी भ्रान्ति ही है ॥१३॥ हे श्रीरामजी, जैसे आकाश में अरण्य नहीं रहता अथवा जैसे बालू में तेल नहीं रहता या जैसे चन्द्रबिम्ब में बिजली नहीं रहती, वैसे ही चित्त में देह आदि कुछ नहीं रहते ॥१४॥ हे सत्यज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, यह जगत् की भ्रान्ति अविद्यमान ही है, अतः इससे आप भय मत कीजिये। यही बात परम सत्य है, यह आप जानिये ॥१५॥ भद्र, अभी तक जो आपको भ्रम रहा कि जगत्-वस्तु की ही सत्ता है और ब्रह्म सत्ता है ही नहीं, वह आज ही मेरे उपदेश से शान्त हो गया। अब दूसरा बन्धन देनेवाला क्या रहा अर्थात् कुछ नहीं ॥१६॥ थाली, पुरवा, घड़ा आदि जैसे केवल मिट्टी ही है, वैसे ही यह जगत् केवल चित्त ही है। यह विचार से तो क्षीण हो चुका है ॥१७॥ हे श्रीरामजी, अब आप मेरे सौम्य उपदेश से अहंकार से पहले अलग हो जाइए, फिर सम्पत्तियों में इच्छा, हर्ष और आपत्तियों में विषाद से रहित हो जाइए, वैभवों के उत्कर्ष और अपकर्ष में (बढ़ने-घटने पर) भी एक-से रहिए। कभी भी मेरे उपदेश का विस्मरण कर यानी अपने स्वरूपस्थिति की दृढ़ता का परित्याग कर स्थिर मत बैठिये ॥१८॥

तत्त्वज्ञान के बाद यदि प्रमाद हो जाय या प्रबल प्रारब्ध रह जाय, तो उससे हर्ष-शोक भी होते रहेंगे और उनके कारण फिर संसार भी होगा ही ? इस पर नहीं, यह उत्तर देते हैं।

हे अपने कुलरूप आकाश के चन्द्रमा श्रीरामजी, यदि आप ब्रह्मात्मा की एकतारूप वस्तु को भलीभाँति जानकर अवस्थित हैं, तो चित्त में सन्ताप पहुँचानेवाले हर्ष शोक, इच्छा आदि दोषों को छोड़कर रहिये या उनका अनुसरण करते रहिये, आपको फिर संसार आ ही नहीं सकता ॥१९॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

बीजरूप और कार्यरूप तथा जन्म के हेतुभूत पुरुषकर्मों के,
जो अदृष्टरूप निमित्त से सम्बद्ध हैं, स्वरूप का पुनः वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे विभो, बीजरूप तथा कार्यरूप पुरुष के कर्मों का, जो जन्मरूप संसार अनर्थ के उत्पादक तथा दैव से (अदृष्ट) सम्बद्ध हैं, स्वरूप मुझसे फिर कहिए यानी यद्यपि आपने इन कर्मों का तत्त्व पहले यत्र-तत्र कहा है परन्तु फिर भी एक साथ मिलाकर कहिए ॥१॥

सबसे पहले दैव का तत्त्व कर्म है, कर्म का तत्त्व पुरुष है, पुरुष का तत्त्व मनोरूप चितिस्पन्दन है और चितिस्पन्दन का तत्त्व चिदात्मा है। यही चिदात्मा प्राथमिक संकल्परूप चितिस्पन्दन से समष्टि-व्यष्टि मनरूप बन जाता है, जिसका कि 'बहुस्यां प्रजायेय' इस श्रुति में उल्लेख है। इसके बाद लोक में देहाकार के अध्यास से (भ्रम से) पुरुष हो जाता है। फिर कर्म करते-करते पुण्य - पापरूप अदृष्टात्मक दैवरूपता प्राप्तकर पुण्य-पाप का भोग करने के लिए घट आदि रूप एवं घटादिगत गुणक्रियारूप से घटत्वादिसामान्यरूप बन जाता है, इसी से जगत्-रूप विवर्त में आ जाता है, इन सब बातों से सार यह निकला कि दैव, कर्म आदि कारणशब्दरूप और घट से लेकर घटत्वधर्मपर्यन्त कार्यरूप जो कुछ है, वह सब तत्त्वदृष्टि से चितिस्पन्द के ही अलग-अलग नाम हैं, इस अभिप्राय को लेकर भगवान् वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, घट से लेकर घटत्वतक कार्यरूप और दैव, कर्म आदि कारणरूप जो कुछ भी है वह सब चिति का स्पन्दन ही है, और यही लोक में पुरुषरूप बन गया है ॥२॥ भद्र, संवित् के (चिति के) स्पन्दन के बिना पुरुष का रूप और कर्म कैसे हो सकता है ? संवित् का स्पन्दन ही घट, पट, वट आदि का स्वरूप है। इसी ने समस्त जगत् को उत्पन्न किया है ? यही कारण है कि पुरुष के कर्म आदि और घट-पटादि के अस्तित्व या परिज्ञान आदि चिति के अस्तित्व और प्रकाश के ही बदौलत होते हैं, यह सभी को विदित है। यदि इन सबको संवित् का यानी चिति का विवर्त न माना जाय, तो न उनका अस्तित्व मालूम पड़ सकता है और न उनका प्रकाश ही हो सकता है, ऐसी स्थिति में उनका स्वरूप कैसा होगा ? अर्थात् असत् ही होगा, यह भाव है ॥३॥

यद्यपि सभी पदार्थ चिति के स्पन्दनरूप ही हैं तथापि उनके वैचित्र्य में और विनाश में कारण कहते हैं।

सारे जगत् की यह विचित्र शोभा वासनायुक्त संवित् के स्पन्दन से उत्पन्न होती है और वासना से निर्मुक्त हुए संवित् के स्पन्दन से निवृत्त होती है ॥४॥ महात्माओं का यह निश्चय है कि संवित्ति का (चितिका) स्पन्दन यदि वासनारहित है, तो वह अस्पन्दन ही है। लोक में स्पन्दनशील भी तरंग आदि जब भँवर आदि के द्वारा अपने अन्दर समाविष्ट कर लिये जाते हैं, तब उनमें स्पन्दन का परिज्ञान नहीं होता, फलतः उनकी अस्पन्दनशीलता ही तर्कित होती है ॥५॥

अतएव चिति का स्पन्दन ही पुरुष आदि आकाररूप है और चितिमें स्पन्दन की निवृत्ति ही निराकारता है, ऐसी स्थिति में विमर्श करने पर स्पन्द और पुरुष में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, इस सृष्टि में संवित् और संवित्–स्पन्दमय पुरुष एवं कर्म (स्पन्द) दोनों में कल्पानांश को छोड़कर तनिक भी भेद नहीं है ॥६॥ भद्र, जैसे संकल्प से जनित जल और तरंग का भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही संकल्पजनित पुरुष और कर्म का (संवित्स्पन्दनका) भेद नहीं है ॥७॥ हे श्रीरामजी, कर्म ही पुरुष है और पुरुष में ही कर्मरूपता है, आप इन दोनों की हिम और शीतता की नाईं अभिन्नरूपता ही जानिए ॥८॥ भद्र, जो हिम है वही जैसे शीतता है और जो शीतता है, वही जैसे हिम है, वैसे ही जो कर्म है वही पुरुष है और जो पुरुष है वही कर्म है, इसलिए किये जानेवाले पुण्य–पाप भावि देह और उस देह से जो भोग्य होनेवाला है इन दोनों की पूर्वावस्था है ॥९॥

एवं यह जो कहा गया था कि दैव, कर्म आदि एक ही वस्तु के भिन्न नाम हैं, यह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं।

दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित् के स्पन्दनरूप रस के ही पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए संवित्स्पन्दन से पृथक् कर्म आदि तनिक भी अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते ॥१०॥ स्पन्दन के कारण ही संवित् जगत् की बीज हो जाती है और स्पन्दन के प्रभाव से अबीजरूप हो जाती है। उसीके अन्दर सूक्ष्मरूप से अंकुर श्री भी स्थित है, अतः वही बाहर निकलकर स्थूल अंकुररूप हो जाती है ॥११॥ असीम चित्स्वभाव ही ऐसा है कि कहीं पर अपने स्वभाववश देश–काल क्रम में स्थित स्पन्दन से शून्य हो जाता है और कहीं पर स्पन्दनरूप बन जाता है ॥१२॥ यद्यपि संवित् का स्पन्दन वास्तव में अकारण है, तथापि यहाँ वासना से युक्त होकर देह आदि अंकुरों का वह कारणरूप बीज बन जाता है ॥१३॥

अवान्तर बीजों के रूप में स्थित वही संवित्–स्पन्दन सर्वत्र कारण है, उसी स्पन्दन की विशेष–विशेष कार्यों की व्यवस्था के लिए अवान्तर बीजों के रूपों में स्थिति है, इस आशय से कहते हैं।

अन्यान्य अवान्तर तृण, वल्ली, लता, गुल्म आदि के बीजों की जो व्यवस्थित अंकुर आदि कार्य

करने की प्रवृत्ति है, उसमें भी वही संवित्स्पन्द कारण है, उसका अन्य कोई बीज नहीं है ॥१४॥

यदि बीज के अन्दर रहनेवाली शक्ति ही अंकुर है, यों मानें, तो भी शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

बीज और अंकुर में, अग्नि और उष्णता के सदृश, कोई भेद नहीं है। हे श्रीरामजी, आप बीज को ही अंकुर जानिये और कर्म ही को मानव जानिये ॥१५॥ स्पन्दनशील हो रही चिति ही भूमि में वट आदि वृक्षों के अंकुर को स्थूल पदार्थ, सूक्ष्म पदार्थ, कठिन पदार्थ एवं मृदु पदार्थ जल में बुलबुलों की नाईं बनाती है ॥१६॥ चिति के बिना ऐसा कौन शक्तिमान् है, जो इस पृथ्वीतल से, अत्यन्त मृदु अंकुर से वज्र के सदृश दृढ़ प्रवाल आदि को निकाल सके ॥१७॥

यही न्याय रजवीर्य से शरीर सम्पादन में भी लगाना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जैसे लता में स्थित रस पुष्प और फल का विस्तार करता है, वैसे ही यह चिति प्राणियों के वीर्यरस में स्थित होकर इन असीम जंगम वस्तुओं का विस्तार करती है ॥१८॥ श्रीरामजी, भला, बतलाइये तो सही कि यदि सर्वत्रस्थित यह संवित् अत्यन्त बलवती न होती तो, इन देव, असुर एवं राजाओं के निर्माण में कौन शक्तिशाली होता ? ॥१९॥ भद्र, स्थावर तथा जंगम पदार्थों का यही एक आदिम संवित्स्फुरण कारण है। और इसका कोई कारण नहीं है ॥२०॥ बीज, अंकुर आदि विकल्पों का परस्पर; क्रिया, पुरुष एवं दैव का परस्पर तथा ऊर्मि, वीचि और तरंगों का परस्पर तनिक भी भेद नहीं है एवं अधिष्ठान में भी कुछ भेद नहीं है ॥२१॥

इस तरह के वेदसंमत अभेद को जो पुरुष नहीं देखता, उसकी निन्दा करते हैं।

भद्र, ऐसा होने पर भी पुरुष और कर्म में तथा बीज और अंकुर में जिस पुरुष को भेद वास्तविक भासता हो, उस महान् पण्डितपशु को निरन्तर नमस्कार ही करना चाहिए ॥२२॥

वासना के सम्बन्ध से जनित संसारबीजता वासना के विनाश से नष्ट हो जाती है, यह कहते हैं।

जन्म के कारण संवित्स्पन्दन में जो भीतर का वासनारस है, वही बाहर अंकुर फेंकता है, इसलिए उस वासनारस को असंगरूप अग्नि से आप जला दीजिये ॥२३॥ पण्डित लोग कहते हैं कि पुरुष कुछ करे चाहे कुछ भी न करे, परन्तु उसका शुभ-अशुभ कार्यों में मन से जो आसक्त न होना है, वही असंग है ॥२४॥

यदि वासना ही संग है और वासना का उच्छेद ही असंग है, यह मानें, तो तत्त्वज्ञान के अभ्यास से ही वासना को जला दीजिए, यह कहते हैं।

भद्र, अथवा वासना का उच्छेद ही असंग है, यह भी पण्डितों का मत है, इसलिए आप उसी का (वासनोच्छेदरूप असंग का ही) जिस किसी युक्ति से भीतर सम्पादन कीजिए ॥२५॥ वह युक्ति चाहे पहले कही गई राज-योगरूपा हो या हठयोगरूपा हो, परन्तु पुरुष प्रयत्न से दीर्घकालतक

वह अभ्यस्त होनी चाहिए। आप अपनी वासना का उच्छेद जिस युक्ति से सरल समझते हों, उसी से उसका उच्छेद कर डालिए क्योंकि यह वासनांकुर का उच्छेद ही परम कल्याण है ॥२६॥

समस्त वासनाओं का चिद्ग्रन्थिरूप अहंकार ही मूल है, अतः उसी का आप विनाश कीजिए, यह कहते हैं।

श्रीरामभद्र, पुरुष प्रयत्न से आप जिस तरह की युक्ति जानते हों, उस तरह की दृढ़ अभ्रान्त युक्ति से अहंकाररूपी अंश का त्याग कर दीजिए, क्योंकि यह अहंकारांश का त्याग ही वासना का क्षय है ॥२७॥ वासनाक्षयनामक इस निरहंकाररूप संसारतरण में अपने पुरुषार्थ के सिवा दूसरी कोई गति है ही नहीं ॥२८॥

अनादि अनन्त प्रत्यगात्मरूप चैतन्य की सत्ता से ही बीज, अंकुर आदि की सत्ता है, स्वतः नहीं, यह कहते हैं।

असल में यहाँ सबसे मुख्य तो संवित् की ही एकमात्र सत्ता है, वही अंकुर है, वही बीज है, वही कर्म है, वही पुरुष है और वही पुण्य-पापरूप दैव है ॥२९॥ सबसे प्रथम न तो कोई चिति के सिवा दूसरा बीज है, न अंकुर है, न पुरुष है, न कर्म है और न दैव आदि ही कुछ है, केवल चिति का ही यह सब कुछ विलास है ॥३०॥

जब बीज आदि की स्वतः सत्ता स्थिर नहीं होती, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि एकमात्र चिदात्मा ही असत्यभूत बीजादि के आकारों में जगद्रूप बनकर विलास करता है, यह कहते हैं।

हे साधो, न तो कोई बीज है और न कोई अंकुर ही है। इसी तरह न तो कोई कर्म है और न कोई पुरुष ही है। जैसे नाटक का पात्र समय-समय पर देव, नर, दानव आदि नामों की शोभा धारण कर नृत्य करता हैं, वैसे ही एकमात्र चित्स्वभाव ही इन बीज, अंकुर आदि नामों की शोभा धारण कर विलास करता है ॥३१॥ हे अविकार श्री रामचन्द्रजी, उक्त प्रकार के निश्चय को अपने मन में स्थिर कर पुरुष, कर्म आदि मिथ्या विचार-जनित शंका का बिलकुल परित्याग कर वासनाशून्य, समस्त विकल्पों से रहित एवं चैतन्यमय बन जाइए। फिर आप अपनी अभिमत इच्छा के अनुसार समाधिस्थ होकर या व्यवहाररत होकर स्थित रहिए। इससे आपका कुछ भी बिगड़ेगा नहीं, यह सार है ॥३२॥

इसीका स्पष्टीकरण करते हुए उपसंहार करते हैं।

हे रामभद्र, सब इच्छाओं से निर्मुक्त एवं अशेष शंका से रहित होकर सब कर्म करते हुए भी आप चैतन्यमात्र में स्थित रहिए। एकमात्र अपनी आत्मा में ही रमण कीजिए। समस्त कामनाओं से परिपूर्ण होकर आप निर्भय हो जाइए और परमशान्ति का अवलम्बन कर सब ओर चमकने लग जाइये ॥३३॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

व्यवहारकाल में जो भी कुछ कर्तव्य आ जाय उसे निभाते हुए अपने स्वरूप में सदा स्थिर रहना चाहिए, यों रामजी के प्रति महाराज वसिष्ठजी का उपदेश।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्री रामभद्र, शत्रु, मित्र आदि सबके लिए प्रारब्ध से जो कुछ कार्य आ जाय, उसे यथायोग्य करते हुए भी आप निरन्तर अन्तर्मुख ही रहिए। राग छोड़ दीजिए, वासनाओं से परे हो जाइए और सर्वत्र निर्मल शान्त चैतन्यमात्र की भावना कीजिए ॥१॥ भद्र, आकाश के सदृश विशद हो जाइए । प्राज्ञ बनिए । एक चिन्मात्र में अपनी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) बनाइए । सम, सौम्य एवं पूर्णानन्द से युक्त हो जाइए तथा अपने अन्तःकरण को ब्रह्मसदृश आनन्दरस में सराबोर कीजिए ॥२॥ रामजी, प्रारब्धवश प्राप्त हुए छोटे-बड़े शोक, आपत्ति, घोर संकट, अवट (गर्त) आदि सभी प्रसंगों में भीतर दुखी होकर देशधर्मों के अनुसार एवं क्रमानुसार रुदन-अश्रुपात आदि पर्यन्त दुःखों का और शीतोष्ण आदि से युक्त वस्त्रादिभोगरूप सुखों का अनुभव करते चलिए ॥३,४॥

संक्षेप से जिस अर्थ को कहा, उसी को विस्तारपूर्वक कहते हैं।

कमनीय (रमणीय) विषयों की प्राप्ति के अवसरों में, उत्सवों में एवं उदयकाल में आप सौम्य (शान्त) मूर्ति होकर ऐसे आनन्द मनाइए, जैसे कि भोगवासनाओं से आक्रान्त कर्मठ मूढ पुरुष ॥५॥ वासनाओं से आक्रान्त मूढ़ पुरुषों के सदृश अधार्मिक प्राणियों को मृत्यु के हेतु संग्राम आदि में डालकर जैसे तृण को अग्नि जला डालती है वैसे जला दीजिए ॥६॥ प्रारब्ध कर्मों के अनुसार प्राप्त हुए धर्मअविरोधी धन आदि के उपार्जन आदि कार्यों का बगुले के सदृश ऐसे अखिन्न होकर चिन्तन और अर्जन कीजिए, जैसे वासनायुक्त कर्मठ पुरुष ॥७॥ हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, वासनायुक्त मूढ़जन के सदृश आप बलपूर्वक समस्त शत्रुओं का ऐसे विनाश कर दीजिए, जैसे वायु जलशून्य बादलों का विनाश कर देती है ॥८॥ वासना से आक्रान्त कर्मकुशल मनुष्यों के सदृश करुणापात्र जनों में उदारता का और महात्माओं के विषय में निन्दा न करने का अवलम्बन कीजिए तथा अपनी आत्मा में मन को रमने दीजिए ॥९॥ हर्ष करने योग्य स्थानों में हर्षित होइए, दुःख करनेयोग्य स्थानों में दुःखी बनिये, दीनों पर दया कीजिए और वीरों में वीर बनकर रहिए ॥१०॥

कुछ करने पर मूढ़जनों को तो दोष लगता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष को कुछ करने पर दोष नहीं लगता, यह कहते हैं।

हे अनघ, जो पुरुष अपनी वृत्तियों को आत्मा के अन्दर लगाकर स्थित रहता है, सदा आनन्द में मग्न रहता है, अपनी आत्मा में ही आराम करता है तथा जो शान्ति और औदार्य से युक्त है, वह कर्ता नहीं होता, इसलिए पूर्वोक्त विषयों में आप कभी कर्ता नहीं होंगे और न उनसे आपको दोष ही लगेगा ॥११॥ हे साधो श्रीरामजी, आत्मा की भावना से निरन्तर अन्तर्मुख वृत्ति बना कर स्थित

हुए आपके ऊपर यदि इन्द्र की भी वज्रधारा गिर जाय, तो भी वह व्यर्थ हो जायेगी ॥१२॥

समस्त संकल्प–विकल्पों से निर्मुक्त अपनी संविन्मात्ररूप अन्तरात्मा में, स्वेच्छा से जो स्थित रहता है, वह आत्मारामी महान् ईश्वर ही है ॥१३॥ ऐसे पुरुष को शस्त्र छेदते नहीं, अग्नि जलाती नहीं, जल भिगाते नहीं और पवन सुखाता नहीं ॥१४॥ जिसमें चित्त भलीभाँति प्रकाशित होता है, ऐसे नित्य निरतिशयानन्दरूप, जन्मशून्य, जरा–मरणरहित, स्वात्मा का दृढ़ खम्भेवाले मन्दिर की नाईं अवलम्बन कर निश्चल होकर स्थित रहिए ॥१५॥ हे रामभद्र, जगद्रूपी वृक्ष के पदार्थरूपी पुष्पों की सुगन्धशोभा के सदृश सारभूत स्वस्थ ब्रह्मसंवित्ति का (आत्मज्ञानका) अवलम्बन कर समस्त बाह्यवृत्तियों को सदा अन्तर्मुख बनाकर स्थित रहिए ॥१६॥ अन्तर्मुखता से निरन्तर बाहर के कार्यों का सम्पादन कर रहे भी प्राणियों में वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि पत्थरों में नहीं होती ॥१७॥ भद्र, कछुए के अंगों के सदृश भीतर और बाहर के सब वृत्तियों से विरत होकर सारे कर्म करते हुए भी आप अपने मन को भीतर लीन कर दीजिए ताकि फिर वह बाहर न निकलने पावे ॥१८॥ अन्दर की सुख–दुःखादिवृत्ति से शून्य, बाहर की घटादिवृत्ति से युक्त–से तथा प्रायः आधे जगे हुए चित्त से आप कार्य करते चलिए ॥१९॥ जैसे बालक एवं मूक आदि का विज्ञान अंदर की वासना से रहित होता है, वैसे ही अन्दर की वासना से शून्य अतएव आकाश के सदृश निर्मल हुआ चित्त कार्य कर रहे आपको बन्धनकारक नहीं होगा ॥२०॥ भद्र, आप समस्त चिन्ताओं को तिलांजलि देकर ऐसे चित्त से युक्त रहिए, जो कि निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से बाधित हो चुका हो, कुछ कुछ बाहर की ओर प्रतिभासरूप से निकल सकता हो तथा भीतर से मर गया हो ॥२१॥ हे निष्पाप रामजी, ज्ञान से चित्त का विनाश हो जाने पर बची हुई संकल्परूपी कलंक से निर्मुक्त विशुद्ध ब्रह्मचिति में बैठकर आप कुछ कीजिये या न कीजिये दोनों एक–से हैं ॥२२॥ जागते हुए, व्यवहार करते हुए या जाते हुए भी आप सोये हुए पुरुष के सदृश वृत्ति के कारण न तो अभीष्ट का ग्रहण करें या न अनिष्ट का परिहार ही करें ॥२३॥ जाग्रत की अवस्था में भी यदि आप सब प्रकार की उपाधियों का विलयकर सुषुप्ति अवस्थावाले हो जाते हैं तो सुषुप्ति अवस्था में भी आप जाग्रत अवस्थावाले ही हैं क्योंकि अज्ञान आवरण उस समय रहेगा ही नहीं । जाग्रत और सुषुप्ति को अलग करनेवाले अज्ञान और अज्ञानकार्य का बाध हो जाने पर ये दोनों अवस्थाएँ एक हो जाती हैं और एकता हो जाने पर जो सन्मात्ररूप बच जायेगा, वही निर्विकार सन्मात्र–स्वरूप आप हैं ॥२४॥ इस तरह धीरे–धीरे अभ्यास के द्वारा आप आदि–अन्त से रहित ऐसा पद प्राप्त कीजिए, जो समस्त शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों से रहित तथा सब वस्तुओं से परे हैं ॥२५॥ न तो द्वैतात्मक जगत् है और न एकात्मक ही जगत् है, इस तरह के निश्चय से युक्त होकर आप आकाश के सदृश विशद् आशय (मन) वाले होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कीजिए ॥२६॥

समस्त द्वैत का अपलाप हो जाने पर तो आपका भी अहंकार (वसिष्ठजी का अहंभाव) रहेगा

नहीं, इस स्थिति में आपके वक्तापन आदि व्यवहार कैसे, इसी आशय से श्री रामभद्र पूछते हैं।

श्री रामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिशार्दूल गुरुवर, यदि ऐसी बात है, तो अहम्भावरूप वसिष्ठनाम के आप ही यहाँ स्थित है क्या ? यानी आपके व्यवहार कैसे, यह कहिये, क्योंकि द्वैत के अपलाप से आपमें भी अहम्भाव तो रहा नहीं ॥२७॥

वसिष्ठजी को तो अहम्भाव आदि हैं ही नहीं, परन्तु हमारी और श्रोताओं की अज्ञान-दृष्टि के ही कारण उन्होंने उसका अवलम्बन किया था, जब सबको तत्त्वज्ञान हो चुका तब तो मेरे प्रश्न का मौन ही उत्तर है, इस आशय से वसिष्ठजी की चुपचाप स्थिति कहतें हैं।

वाल्मीकि मुनि ने कहा : जब श्रीरामजी ने ऐसा प्रश्न किया, तब वक्ताओं में अग्रणी महाराज वसिष्ठजी आधे मुहूर्त तक चुपचाप स्थित रहे। उनकी ऐसी चेष्टा स्पष्ट विदित हो रही थी ॥२८॥ महाराज वसिष्ठजी तो मौन धारणकर स्थित रहे और इधर सभ्य महाजन अब क्या होगा, इस संशय-सागर में पड़ गये, यह देखकर श्रीरामभद्र फिर कहने लगे ॥२९॥

अब गुरुजी के पास उत्तर देने की युक्ति रही ही नहीं, यों मान रहे श्रीरामभद्र कहते हैं।

भगवन्, मेरे-जैसे आप चुपचाप क्यों स्थित हैं ? जगत् में शिष्यों का ऐसा कोई तर्क ही नहीं है, जो विद्वान गुरुओं के लिए उत्तरयोग्य न हो ॥३०॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे अनघ, मुझमें कहने की शक्ति नहीं है, इसलिए उत्तर-युक्ति न रही, यह बात नहीं है, किन्तु यह प्रश्न चरम सीमा का होने के कारण चुपचाप स्थित रहना ही इसका उत्तर है ॥३१॥

प्रश्न की चरम सीमा बतलाने के लिए भूमिका बाँधते है।

भद्र, प्रश्नकर्ता दो तरह के होते हैं एक तो तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। इनमें अज्ञानी प्रश्नकर्ता को अज्ञ बनकर उत्तर देना पड़ता है और ज्ञानी को ज्ञानी बनकर ॥३२॥ हे महामते, इतने समय तक तो आप तत्पद को (ब्रह्मात्मा को) जानते ही नहीं थे, इसलिए आप सविकल्प उत्तरों के ही पात्र रहे ॥३३॥ अब तो आप तत्त्वज्ञ बन गये और परम पद में स्थिति भी आपने प्राप्त कर ली, इसलिए स्पष्ट है कि विकल्पवाले उत्तरों के योग्य नहीं रहे ॥३४॥ हे वक्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यह जितना वाणीरूप भाषण है, वह चाहे सूक्ष्म अर्थवाला हो, चाहे परम अर्थवाला हो, चाहे थोड़ा हो अथवा अधिक हो, परन्तु हे साधो, वह सब प्रतियोगी, भेद, संख्या, मुख्यभूत अर्थ, साधन, वाचन बोध, प्रमाण आदि की कल्पनाओं से ऐसे मिला-जुला रहता है जैसे जालों के अंदर सूर्यकिरणें त्रसरेणुओं से (सूक्ष्म रजकणों से) मिली-जुली रहती है ॥३५,३६॥ हे मनोरम, जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसके लिए कलंकपूर्ण उत्तर होता नहीं, क्योंकि जितनी वाणियाँ हैं, वे सब कलंकपूर्ण ही हैं, आप तो तत्त्वज्ञ बनकर स्थित हैं ॥३७॥ हे भद्र, ज्ञानी शिष्य के सम्मुख मुझे जो यथावत् सत्य है, उसे ही कहना चाहिए, परन्तु समस्त कलंकों से निर्मुक्त यथावत् सत्य तो काठ की तरह मौन

ही है ॥३८॥ भद्र, जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञान के पूर्व अज्ञान से उपदेशवाणी के योग्य है, वह कल्पनाकर ससंकल्प बनता है यानी वाणी के व्यवहाररूप संकल्प का विषय हो जाता है और विचार से ज्ञात हो जाने पर मौन यानी वाणी का अविषय हो जाता है, यों विद्वानों का निश्चय है, इसलिए तत्त्वज्ञानी हुए आपको अब यह मौन ही मैंने सुन्दर उत्तर दिया ॥३९॥ हे प्रिय, वक्ता पुरुष जिस रूप का होता है, उसी रूप का कथन करता है, मैं तो तत्त्वसाक्षात्कार से बोधित होनेवाली जो वस्तु (ब्रह्मरूप) है, तन्मय बनकर वाणी से परे परमपद में स्थित हूँ ॥४०॥ जो वाणी से अतीत पद में बैठा है, वह वाणीरूप मल को कैसे ग्रहण करेगा ? इसलिए मैं अवाच्य (कहने के अयोग्य वस्तु) नहीं कहता, क्योंकि वाणी संकल्परूप कलंक से युक्त ही रहती है ॥४१॥

श्री रामजी ने कहा : भगवन्, वाणी में जो–जो भिन्नता, विरोधिता आदि से होनेवाले दोष प्रवृत्त होते हैं, उनका अनादरकर यानी उनमें तात्पर्य न रखकर भागत्यागलक्षणा द्वारा मुझसे कहिए कि आप कौन हैं ? ॥४२॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ, जब आप भागत्यागलक्षणा से कुछ कहलाने के लिए उद्यत हैं, तब आप यथार्थरूप से स्थित इस विषय को सुनिये कि आप कौन है, मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है ॥४३॥ हे तात, जो 'अहम्' यह वस्तु है, वह यह निरामय (विकारशून्य चैतन्याकाश) ही है । वह बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों से रहित है और समस्त कल्पनाओं से परे हैं ॥४४॥ मैं स्वच्छ चिदाकाशरूप हूँ, आप चिदाकाशरूप हैं और सम्पूर्ण यह जगत् भी आकाशरूप ही है, अधिक क्या कहें, समस्त केवल आकाश ही है ॥४५॥ विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा में मैं विशुद्ध साक्षीरूप आत्मा ही हूँ, मुझमें भेदज्ञान की दृष्टि ही नहीं है और न प्रत्यागात्मा से भिन्न कुछ अणुमात्र भी कहने की इच्छा रखता हूँ ॥४६॥

तब अज्ञानियों को बोध देने के लिए तथा प्रतिवादियों पर विजय पाने के लिए निरहंकारी विद्वानों की प्रवृत्ति कैसे होगी, इस पर कहते हैं ।

शिष्यों का सन्देह दूर करने के लिए या प्रतिवादियों पर विजय पाने के लिए उद्यमशील विद्वान श्रुति, युक्ति आदि प्रमाणों के द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में तत्पर होकर बाधित का भी आहार्यारोप कर अहन्तारूप एक ही आत्मा को बढ़ाते हैं और उनका अनेक शाखाओं में विस्तार करते हैं, परन्तु अज्ञानी के सदृश मोहित नहीं होते ॥४७॥

इतनी बात से विद्वानों का पाण्डित्य बतलाना ही परमपद है, यह नहीं जानना चाहिए, किन्तु कोई दूसरा ही है, यह कहते हैं ।

यद्यपि जी रहा है और यद्यपि व्यवहार भी कर रहा है, तथापि परम शान्तिरूप ब्रह्म में विश्रान्त पुरुष की मुर्दे के सदृश जो स्थिति है, वही परमपद कहलाती है ॥४८॥

परमपद का ही विशेषरूप से वर्णन करते हैं ।

भद्र, जो बाहर के साधनों से निर्मुक्त है, जो अन्दर के साधनों से शून्य है, जो कर्तापन एवं भोक्तापन से रहित है, जो सुखरूप नहीं है, जो दुःखरूप नहीं है, जो अन्यरूप नहीं है, जो शान्त और सम है तथा जो सबका आदि है, वही स्वप्रकाश-निरतिशय आनन्दरूप शिवपद है ॥४९॥

परमपद को स्वप्रकाशस्वरूप क्यों मानना चाहिए, उसे विषयसुख के सदृश भोग्य ही क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं।

यह जो अहम्भाव है, वह मुक्ति का अभाव है अर्थात् मुक्ति का पूर्वकालिक अभाव है। इसलिए अहम्भाव से मुक्ति की भावना कहाँ होगी ? अभाव से किसी प्रतियोगी का अनुभव तो हो नहीं सकता। मुक्तरूपता द्वारा भी मुक्ति की भावना नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्तरूपता और मुक्ति तो एक ही है, इसलिए दोनों पक्षों में जन्मान्ध पुरुष चित्र देखता है, यही न्याय आ जाता है ॥५०॥

वृक्ष, मृग आदि में चहल-पहल हो या न हो, पर पर्वत की शिला निश्चल स्थित होने से जैसे जड़ है, वैसे ही अहंकार प्राण आदि में चहल-पहल हो या न हो, पर परमपद निश्चल स्थित है, अतः उसे जड़ क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं।

अहंकारादि का स्पन्दन (चहल-पहल) या अस्पन्दन होने पर भी जो पाषाण के सदृश जिसका निश्चल अवस्थान है, वह अजड़ का ही है, जड़ का नहीं है, यह आप जानिए। वही परमपद, अजर (क्षीणता आदि दोषों से रहित) मोक्ष है ॥५१॥

अतः अन्तिम स्थिति में वह स्वप्रकाशरूप ही फलित होता है, यह कहते हैं।

जैसे लौकिक आत्मा में प्रसिद्ध ज्ञातापन लोकैषणावर्जित ज्ञातापुरुष के द्वारा स्वयं ही अनुभूत होता है, वैसे ही परमप्रकाशरूप निर्वाणपद स्वतः ही अनुभूत होता है, दूसरे के द्वारा नहीं ॥५२॥ वहाँ पर (परमपद में) न अहन्ता है, न त्वत्ता है, न अहन्ता का अभाव है, न अन्यरूपता है। वह निर्वाणपद केवल विशुद्ध शिवरूप कैवल्य ही है ॥५३॥

उसका दूसरे से प्रकाश होना ही संसार है, यह कहते हैं।

इस चेतन का यानी निर्वाणरूप स्वप्रकाशपद का विषयों की ओर झुक जाना ही परप्रकाश (विषयसम्बन्धरूप क्रिया) कहा गया है और यही संसार है, यह भयानक महान् कष्ट को देनेवाला बन्धन है ॥५४॥

विषय सम्बन्ध के अभाव से प्राप्त अचेतनता तो मोक्ष में इष्ट ही है, यह कहते हैं।

चेतन की विषयों की ओर प्रवृत्ति न होना ही अचेतनता है, इसी को आप मोक्ष जानिए। मोक्ष ही अविनाशी शान्त परमपद है ॥५५॥

मोक्ष में विषयों की स्थिति का निवारण करते हैं।

भद्र, देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न, शान्तस्वरूप ही जब मोक्ष स्थित है, उस शान्तरूप में चेत्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में कौन किसका, किस तरह प्रकाश करेगा ? ॥५६॥

इस तरह केवल अन्तर्मुखतामात्र से स्वतः सिद्ध मुक्ति का उपपादन कर अब बर्हिमुखतामात्र से ही जगत् का विस्तार होता है, इसका उपपादन करते हैं।

हे श्रोतागण भूपसमूह, जैसे स्वप्न के संसार में चेतनगत तत्–तत् वासनानुसारी संकल्प चेतनरूप होता हुआ भी चेतनरूपताका परित्याग कर चेतनभिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही यह आत्मा जब बहिर्मुख होता है, तब वही प्रपंचरूप होकर अन्य जड़ के सदृश भासने लग जाता है ॥५७॥ इसी तरह ये जो मन, बुद्धि, अहंकार आदि हैं, वे सब अन्तर्मुखदशा में चेतनरूप हैं और मन, बुद्धि आदि शब्दार्थों में भावना करने पर यानी बहिर्मुखदशा में चेतनभिन्न जड़रूप हैं ॥५८॥

इसी रीति से आन्तर और बाह्य जितना जगत् है, वह सब चैतन्यैकरस ही सिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थिति में चिति की बहिर्मुखतारूप जो भेदबुद्धि है, वही केवल व्यर्थ और अनर्थ की हेतु है, इसे कहते हैं।

यह विस्तृत जितना बाह्य–आभ्यन्तर जगत् है, वह सब सम, स्वच्छ एवं अभिन्न संविद्रूप ही है, इसमें जो भेदबुद्धि की जाती है, वह अनर्थ के लिए ही विकसित होती है ॥५९॥

समस्त दृश्यों का विनाश हो जाने पर अन्त में बच जानेवाला संविन्मात्रस्वरूप जो आत्मा है, वह शून्यरूप नहीं है, किन्तु निरतिशयानन्दरूप ही है, यह विद्वानों का अनुभव है, यह कहते हैं।

अन्त में अवशिष्ट विशुद्ध संविन्मात्रस्वरूप आत्मा में और शून्य में क्या अन्तर है, यह हम लोग नहीं जान सकते। जो अन्तर है, उसे तो विद्वान् कहते हैं कि वह वाणी का विषय नहीं है, स्वानुभववेद्य है अर्थात् निरतिशयानन्दरूप है, उसका वर्णन कैसा कर सकते हैं ? ॥६०॥

तब विवेकियों की यौक्तिक दृष्टि से जगत् कैसा है। इसे कहते हैं।

जैसे आँख के प्रणिधानरूप (एकाग्रता) प्रयत्न से अन्धकार में कुछ सद्–असद्रूप आभास दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्म में जो आभास दिखाई देता है वह आभास ही यह जगत् है ॥६१॥ यह मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार निश्चयकर वासनानिर्मुक्त हो उत्तमशान्ति से सम्पन्न हो गया हूँ। आप भी यदि वासना को कहीं न बाँध लें, तो चिदाकाशरूप ही होकर स्थित हैं ॥६२॥ यह चिदाकाशरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार के निश्चय से युक्त जो भी दूसरा पुरुष है वह तत्त्वज्ञ ही है। वह व्यवहार से अज्ञानी के सदृश विद्यमान होता हुआ भी चैतन्यस्वरूप ही है और देहादि की स्थिति होने पर भी उन्हें असत्–सा मानकर स्वयं शान्त ही रहता है ॥६३॥

क्या जीवों की अविद्या को चिदात्मा नष्ट कर देता है या जड़ ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि चिदात्मा तो अविद्या का साधक है, इसलिए उससे विरोध ही नहीं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सारा जड़ अविद्या का कार्य है, इसलिए अविद्या का जड़ भी विरोधी नहीं है, इस आशंका पर कहते हैं।

'मैं अज्ञानी हूँ', इस प्रकार का साक्षी ज्ञान ही अज्ञान की सिद्धि करता है। यद्यपि जीवों

की संसाररूप अविद्यात्मक अग्नि 'मैं संसारी हूँ' इस तरह से साक्षिज्ञान से रक्षित अज्ञानरूप वायु से जलती रहती है तथापि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस तरह के प्रबुद्ध जीवों की अन्तिम साक्षात्कार वृत्तिरूप में परिणत साक्षि–रक्षित अज्ञानवायु से मानों नष्ट हो जाती है, तीसरे किसी की अपेक्षा नहीं करती ॥६४॥

क्या मुक्त पुरुष जगत् को जानते हैं या नहीं ? यदि जानते हैं, तो संसारी और मुक्त दोनों में कोई विशेष नहीं रहा । दूसरे पक्ष में यानी नहीं जानते हैं, तो इस पक्ष में एक आत्मा के अज्ञान का परिहार करते हुए आपने जगत् के अनन्त अज्ञान स्वीकृत कर लिये । सूखे काठ के जैसे स्थित उन पुरुषों में मुक्तत्व ही कैसा ? इस पर कहते हैं ।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द आत्मा के स्वरूपभूत हुए उन मुक्त पुरुषों की सांसारिक ज्ञानों से रहित दुःखरूप क्षोभ से शून्य जो स्थिति है वही मोक्ष है और वही अविनाशी पद है । इनमें अनन्त अज्ञानों की आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि एक ही के विज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाने के कारण उनमें किसी तरह के अज्ञान की प्राप्ति ही नहीं है और भ्रमात्मक ज्ञान का अभाव भी आत्मरूप ही है, इसलिए उसमें तत्त्वज्ञान से कोई विलक्षणता ही नहीं रही ॥६५॥

जब मूलअज्ञान रहता है तभी उसके बल से बाह्य अर्थों के अज्ञान मूर्खता के सम्पादक होते हैं। मूलअज्ञान का नाश हो जाने पर तो बाह्य अर्थों के अज्ञान मुनित्व के सम्पादक हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं ।

आत्मज्ञान के द्वारा सांसारिक पदार्थों का अज्ञान प्राप्तकर पुरुष मुनि बन जाता है, परन्तु आत्मा के अज्ञान द्वारा सांसारिक पदार्थों का अज्ञान प्राप्त कर पुरुष पशु तथा वृक्ष बन जाता है ॥६६॥

ब्रह्मज्ञान और जगद्भ्रम सभी अज्ञानरूप ही हैं, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति तो अज्ञान नहीं है, जिससे मुक्ति न हो, इस आशय से कहते हैं ।

'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान तथा यह जगत् सब अविद्यामय असत्य भ्रम है । यह ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति से, दीपक से अन्धकार की नाईं, निकल जाता है ॥६७॥

तब जीवन्मुक्तों की मुक्तता ही न रही, क्योंकि उन्हें चक्षु आदि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों का विज्ञान होता है, यही दृष्ट है, इस पर कहते हैं ।

जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष है उसकी समस्त इन्द्रियाँ हैं पर वे संकल्पशून्य हैं और सविकल्प ज्ञान से रहित हैं । इसलिए शान्तबुद्धि यह महात्मा बाह्य और आन्तर किसीका अनुभव नहीं करता ॥६८॥ जिस तरह सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न का विलय हो जाता है उसी तरह तत्त्वज्ञान होने पर समाधि में समस्त दृश्य विलीन हो जाता है और भीतर केवल आत्मा ही लक्षित होता है ॥६९॥

समस्त दृश्य क्यों विलीन हो जाता है इस प्रश्न पर वे भ्रान्तिरूप है, यह उत्तर देते हैं ।

जैसे आकाश में नीलरूप विलीन हो जाता है । वैसे ही पृथिवी आदि रूप समस्त दृश्य आत्मा

में विलीन हो जाता है। जैसे आकाश में नीलरूप केवल भ्रान्ति छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है उसी तरह आत्मा में पृथिवी आदिरूप भ्रान्ति छोड़कर और कुछ नहीं है, इसलिए नीलरूप जैसे आकाश है वैसे ही पृथिवी आदिरूप के प्रति आत्मा है ॥७०॥

अतएव बाधित अर्थ की वासना वासना ही नहीं है, ऐसी स्थिति में ज्ञानी वासनारहित ही है, यह कहते हैं।

जिस पुरुष को यह बुद्धि रहती है कि यह सब असत् ही है वह वासना से युक्त होता हुआ भी समस्त वासनाओं से रहित ही है ॥७१॥

चित्र-विचित्र भुवन, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, विहित, निषिद्ध अनेक कर्म एवं विहित निषिद्धकर्मफलों की भोगस्थिति तथा ईश्वर इन सबका जहाँ पर अस्तित्व है ऐसे इस अद्भूत जगत् को आप कैसे असत्, अनृत और संकल्पस्वरूप पूर्वोक्त युक्तियों से मानकर खण्डित करते हैं? संकल्प, मनोरथ आदि स्थलों में तो उस तरह के पदार्थ है नहीं, ऐसी आशंका कर वहाँ पर भी (संकल्प आदि स्थलों में भी) अद्भूत अर्थसत्ता का दिग्दर्शन कराते हैं।

हे भव्य श्रीरामजी, संकल्पजनित पदार्थों में स्वप्न, माया, इन्द्रजाल जैसे चित्रविचित्र अद्भुत अर्थ विद्यमान हैं, वैसे ही ये सब संसार अद्भुत ही हैं। प्रत्यक्षतः दिखाई देनेवाले स्वप्न आदि अर्थों में क्या आस्था बाँधकर बैठे रहना अच्छा है एवं संसार में भी आस्था बाँधकर बैठे रहना क्या अच्छा है? ॥७२॥

जब आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सत्ता हो, तब तो समस्त सुख-दुःख के भोग के लिए पुण्य-पाप की व्यवस्था हो सकती है। आत्मा में जब कर्तृत्व-भोक्तृत्व का संभव ही नहीं, तब पुण्य-पाप की व्यवस्था ही क्या? इस पर कहते हैं।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व का ही जब आत्मा में असम्भव है तब न दुःख है, न सुख है, न पुण्य है, न पाप है और न किसी का कुछ बिगड़ा ही है ॥७३॥ जिस अहंकार में हम लोगों को यह ममताबुद्धि होती है उसका भी कहीं अस्तित्व नहीं है। इसलिए समस्त शून्यरूप अवलम्बनरहित एवं दो चन्द्रमा या स्वप्ननगर के सदृश मिथ्या है ॥७४॥ भद्र, समस्त द्वैत से शून्य तत्त्ववेत्ता पुरुष चाहे व्यवहार में रहे या काष्ठपाषाण के सदृश निश्चल होकर समाधि में स्थित रहते हुए, चाहे लकड़ी के सदृश मौन धारण करे। सभी स्थिति में वह ब्रह्मरूपता प्राप्त करता ही है ॥७५॥

इस तरह मायिक विवर्तवाद के सिद्धान्त को लेकर आरोपित जगत् के अपवाद से तत्त्ववेत्ता पुरुष की परमपुरुषार्थ में निष्ठा बतलाई, परन्तु दूसरे तार्किक जो जुदे-जुदे सिद्धान्त की कल्पना करते हैं उनके पास जगत् के उत्पत्ति आदि व्यवहार में एवं परम पुरुषार्थरूप परमार्थ में कोई युक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

भद्र, यह शिवस्वरूप जो अन्तरात्मा है वह प्राण, बुद्धि, मन, देह आदि के साथ एकरूप

बनकर अनेकरूप भिन्न स्वभाव तथा संसार के अनेक अर्थों से आक्रान्त प्रत्यक्षतः दिखाई देता है, इस आत्मा में दिखाई दे रही अनेकरूपता, भिन्न स्वभावता आदि का निराकरण कर दुःखरहित निरतिशय अद्वितीय आत्मा में आनन्दरूपता बचानी है । इसमें अध्यारोप अपवादप्रणाली को छोड़कर दूसरी कोई युक्ति है नहीं । कल्याणरूप अन्तरात्मा को सदा शान्तस्वरूप माना जाय, तो भी निर्विकार अन्तरात्मा का–संचलन एवं परिच्छिन्न स्वभावयुक्त चित्तस्वरूपता धारणकर देह, इन्द्रिय आदि अनेक–अनेक तरह के भावों द्वारा–जो संसार में आना है, इसमें अध्यारोप अपवादप्रणाली को छोड़कर किसी के पास और कोई युक्ति नहीं है । इन सब बातों को सिद्ध करने के लिए आत्मा को परिच्छिन्न, परिणामी एवं सावयव मान लिया जाय, तो भी इस आत्मा को जिन अवयवों को लेकर सावयव स्वीकार करेंगे, इसमें कोई युक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि यदि अवयवों को चेतनरूप मानेंगे, तो कभी उनका एकमत न होगा, ऐसी स्थिति में अवयवों का विच्छेद हो जाने के कारण अवयवी का विनाश ही प्राप्त है । यदि अवयवों को जड़ मानेंगे, तो अवयवी भी जड़ हो जायेगा । ऐसी स्थिति में अनित्य आत्मा पूर्व के पुण्य–पापों का भोग कैसे करेगा ? इसी तरह आत्मा को जगत् का कारण मानकर शान्त एवं निर्विकार कोई मान ले, तो भी इसकी जगत् बनाने में अनुकूल संकल्पात्मक चित्तरूपता आदि में अध्यारोप अपवाद को छोड़कर और कौन–सी युक्ति हो सकती है ? इसलिए विवर्तदृष्टि ही एकमात्र सब वादियों के लिए शरण है ॥७६॥

यद्यपि स्वभावतः आत्मा शान्त ही है तथापि प्रलय के बाद चित्तत्व, एकत्व, अनेकत्व, सावयवत्व आदि विलक्षण–विलक्षण धर्मों से युक्त पदार्थों का आर्विभाव होगा ही, क्योंकि प्रलय के समय ब्रह्म में सारे पदार्थ लीन होकर बैठे हैं । इसलिए उन पदार्थों का अपना–अपना जो विचित्र स्वभाव है वह तो ब्रह्म में से कहीं गया नहीं, इस पर कहते हैं ।

श्रीरामजी, अर्थों की विचित्रता का कारणभूत जो स्वभाव है वह परमात्मा में अर्थों के कारण आया है या स्वतःसिद्ध है ? अर्थों के कारण आया है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि दूसरे स्थान से आनेवाले अन्याधीन धर्म को दूसरे का स्वभाव माना नहीं जा सकता । दूसरी बात यह है कि जो स्वभावतः असंग और अद्वय है, ऐसे निर्मल परमात्मा में दूसरे का विचित्र स्वभावरूप मल किसी तरह सम्बद्ध हो ही नहीं सकता । जितने ये पदार्थ हैं वे प्रलयकाल में स्वतन्त्ररूप से अपना अस्तित्व नहीं रखते, जिससे कि प्रलय के बाद अपने–अपने स्वभाव के बल से ही चित्र–विचित्ररूप में आविर्भूत हो सकें, इसलिए इस स्वभाव को अनागन्तुक ही कहना चाहिए । परन्तु यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्ष में ब्रह्म के सर्वगत होने के कारण सब पदार्थ सभी तरह की विचित्रताओं से परिपूर्ण होने लगेंगे ब्रह्म के सर्वगत होने पर 'इस वस्तु का यही स्वभाव है' इसकी व्यवस्था करनेवाला कौन रहेगा ? प्रत्येक वस्तु में सभी तरह की विचित्रताओं को मान लेंगे, तो इस संसार

से विचित्रता का नाम ही उठ जायेगा। सर्वसाधरण धर्म में न तो विचित्रता रहती है और न वह किसी का पार्थक्यकारक ही होता है। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण जगत् की एकरूपता हो जायेगी ॥७७॥

सबके अनुभव पर चढ़ी हुई जगत्–विचित्रता का यदि युक्ति के अभाव में आप खण्डन करते हैं, तो ज्ञान का भी आप खण्डन क्यों नहीं करते, क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञान तो कहीं होता नहीं। ऐसी स्थिति में शून्यवाद ही आ गया, इस पर कहते हैं।

विषयों के खण्डन के प्रसंग में जो पुरुष यह कहता है कि ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है, वह अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि ज्ञान के अस्तित्व का खण्डन करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने आपका ज्ञान रखता है, इसलिये ज्ञान की सत्ता नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं ? और खण्डन करनेवाला पुरुष अपने से भिन्न ज्ञान और विषय का खण्डन करेगा, अपना तो करेगा नहीं, जब सभी ज्ञान उसी की आत्मा है, तब स्वभिन्न विषय का खण्डन करते हुए वह ज्ञान को आखिर बचा ही लेता है। जो निषेध किया जाता है वह किसी आधार पर ही किया जाता है, निराधार निषेध नहीं किया जाता है। इससे ज्ञान करनेवाला एवं जानने योग्य विषय दोनों का स्वयंप्रकाश, ज्ञाता और ज्ञेय से शून्य आधारभूत आत्मा में ही निषेध करना चाहिए, यही उसकी आत्मा है। ऐसी स्थिति में अविनाशी स्वात्मा में ही ग्राह्य–ग्राहकदृष्टि के असम्भवप्रतिपादन में पर्यवसान से खण्डनकर्ता के मत में समस्त प्रतिषेधों के आधारभूत कोई अज वस्तु सिद्ध हो गई और यही वस्तु परब्रह्म है ॥७८॥

हे श्रीरामजी, आप ब्रह्मज्ञानियों द्वारा प्रेमपूर्वक सेवित तथा छोड़ने लायक नहीं जो अज, अविनाशी, कल्याणरूप, परमार्थसत्यभूत, नित्यसिद्ध, निर्मल, शान्त, सम शिवपद है, तद्रूप ही बनकर स्थित हो जाइये। व्यवहार में साधारणजनों के सदृश यद्यपि आप खाइये, पीजिये, खेलिये, तो भी आप मुक्त ही हैं, क्योंकि आपको दृश्य प्रपंचरूप बन्धन है ही नहीं ॥७९॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से अविद्याजनित नानात्वभ्रान्ति की शान्ति द्वारा
धीर पुरुष परमब्रह्म में स्थिर हो जाता है, उस दृष्टि का वर्णन।

जब तक अहम्भाव परित्यक्त नहीं होता, तब तक ब्रह्मविचार भी नहीं हो सकता, फिर ब्रह्मलाभ तो दूर ही है, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अहम्भाव ही सब अविद्याओं की मूलभूत अविद्या है, यही मोक्षस्थान को आवृत करनेवाली है। जो मूढ़ पुरुष हैं, वे उसी अविद्या से परमपद की अन्वेषणा करते हैं, यही उनकी उन्मत्तों की–सी चेष्टा है ॥१॥ भद्र, जैसे धूम्रज्ञान अग्निज्ञान का हेतु पर्याप्त

है, वैसे ही अज्ञान से उत्पन्न अहन्ता ही अज्ञान की सत्ता में हेतु पर्याप्त है, जो तत्त्वज्ञानी शान्तपुरुष है, उसे ममता या अहन्ता नहीं रहती ॥२॥ हे श्रीरामजी, इस अहन्तारूपी मल का सर्वथा त्यागकर निर्मल हो चिदाकाश की नाईं मोक्षस्वरूप ज्ञानी पुरुष सांसारिक सर्वविध सन्तापों से शून्य स्थित रहता है। चाहे वह सदेह रहे या बिना देह का ॥३॥

अहन्ता के दूर चले जाने से ज्ञानी पुरुष निर्मल और विक्षेपशून्य परिपूर्ण हो जाता है, यह वर्णन करते हैं।

जैसा अहन्ता से रहित ज्ञानीपुरुष सुशोभित होता है वैसा न तो शरत्काल का आकाश, न प्रशान्त सागर और न परिपूर्ण चन्द्रमा का मध्यभाग ही शोभित होता है ॥४॥ जैसे चित्रलिखित युद्ध में परस्पर प्रहार कर रही भी सेनाएँ क्षुब्ध-सी प्रतीत होने पर भी अक्षुब्ध ही रहती है, वैसे ही व्यवहार में निरत भी ज्ञानी पुरुष में समता (अक्षुब्धता) ही रहती है ॥५॥ जो ज्ञानी पुरुष है उसकी वासना वासना ही नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण स्वरूप बन गया है। जैसे जले हुए वस्त्र में तन्तुओं की रेखाएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु असल में तन्तुओं की रेखाएँ हैं ही नहीं, वैसे ही व्यवहार से ज्ञानी में अनुमित वासना बाधित होने के कारण वासनारूप नहीं है। जैसे समुद्र के तरंग जल से अन्य कुछ नहीं हैं वैसे ही परमात्मा से इतर कुछ भी नहीं है ॥६॥ जैसे तैर रहे तरंगों से युक्त समुद्र पूर्णरूप से जल ही है, वैसे ही दृश्य से वर्द्धित ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥७॥

ज्ञानी पुरुष में भीतर-बाहर सबकी वासनाएँ बाधित हो चुकी हैं, इसमें क्या प्रमाण ? इस शंका पर अक्षोभ, शम आदि ही प्रमाण हैं, इस आशय से कहते हैं।

जो पुरुष भीतर के मानसिक तरंगों से क्षुब्ध नहीं होता और बाहर के तरंगों से भी क्षुब्ध नहीं होता, जो शान्ति से शोभित है और जो सदा प्रसन्न रहता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥८॥ ज्ञानस्वरूप अज्ञात आत्मा में अहन्ता की सृष्टि के रूप से ज्ञानरूप आत्मा ही ऐसे भासित होता है जैसे जल में जल तरंगरूप से भासित होता है, इसलिए इस अनेकता का रूप ही क्या ? ॥९॥ जैसे आकाश में स्फुरित हो रहे नीहारधूम्र के हाथी, रथ आदि आकार दिखाई देते हैं, परन्तु वे आकार नीहारधूम्र से पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमपद में ये सर्ग भी हैं अर्थात् परमपद से भिन्न यह सृष्टि नहीं है ॥१०॥

अब महाराज वसिष्ठजी सभी श्रोताओं को सम्बोधित कर कहते हैं।

हे उपस्थित विद्वानों, आप लोग किसी तरह का विषाद न करें, किन्तु मेरे कथन के अनुसार विषाद के हेतु सम्पूर्ण प्रपंच संवित् की एकमात्र भ्रान्ति (विवर्त) है, यों विचारकर भ्रान्ति और उसके विषय की तत्त्वतः परीक्षा करने पर निःस्वरूप सिद्ध होने के कारण उनकी किसी तरह प्राप्ति न हो सकने से तेजस्वी होते हुए आप लोग सबके ऊपर अपना स्थान जमाइये। क्योंकि मेरे उपदेश से सचमुच आप लोग वस्तुतत्त्व को जान गये हैं। तात्पर्य यह है कि आप लोगों

में अब अज्ञता नहीं रही ॥११॥

किस तरह की वह संविद्-भ्रान्ति अज्ञानियों द्वारा अनुभूत होती है, यह कहते हैं।

जैसे अंकुर अपनी आत्मा में ही वासनात्मक वृक्ष, पत्र, फल आदि का अनुभव करता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष वस्तुतः आत्मस्वरूप होता हुआ भी आकाश के सदृश स्वच्छ और विशाल अपनी आत्मा का जगत् और अहंकाररूप से भलीभाँति अनुभव करता है ॥१२॥

उसमें किस तरह का विचार होता है, यह कहते हैं।

बाह्य रूपालोक की सत्ता तथा आन्तरिक मन की सत्ता ये सब अधिष्ठानरूप से सत्य होती हुई भी अपने स्वरूप से ऐसे सत्य नहीं हैं, जैसे भ्रमणशील हो रहे अलात की ज्वालार्चि में दण्डच्क्रादिरूपता या विधुर पुरुषों के चित्त में कल्पित कामिनी महिलाएँ अपने स्वरूप से सत्य नहीं हैं ॥१३॥ इसलिए हे श्रोताओं, यह सारा संसार जैसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थित है, जैसे अपने कार्यों का आरम्भ करता है, जैसे सुख-दुःख का अनुभव करता है, जैसे नष्ट होता है और जिस तरह के इसके देश-काल हैं इन सब बातों का उत्पत्ति-स्थिति आदि प्रकरणों में कही गयी युक्तियों से निश्चय कर यानी ये सब मिथ्या हैं, यह निश्चय कर अजर होते हुए शान्तरूप से आप लोग स्थित रहिये ॥१४॥ इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए व्यवहार कर रहा भी मुक्त पुरुष मुर्दे के सदृश अन्यता का अनुभव नहीं करता, किन्तु अपनी आत्मा में चित्त का समर्पण कर स्वस्वरूप का ही अनुभव करता है ॥१५॥ जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं उनकी अहन्ता मनोजनित वासना से रहित ही है। वह अहन्ता देहनाश-पर्यन्त जो जगत् धारण करती है और उसका भोक्ता जब तक जीवन धारण करता है, वह सब चिद्रूप जीव ही है उसमें तनिक भी जड़ता नहीं है, यही परमपद है ॥१६॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यही निकला कि जीव जगत् की जड़रूप से सत्ता मान लेना ही अनर्थ है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे समुद्र में जहाजों के भार-वहन के लिए आधारभूत जलसत्ता ही केवल कारण है वैसे ही संसाररूपी फन्दे से बँधे गये मनुष्यों को दुःखरूपी भार ढोने के लिए जीव-जगत् की जड़रूपसत्ता ही कारण है ॥१७॥ जो मृत पुरुष के द्वारा प्राप्त किया जानेवाला स्वर्ग है, वह क्या जीवित पुरुष द्वारा किसी तरह प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् मृत पुरुष लभ्य स्वर्ग जैसे जीवित पुरुष का जीवन अपराध से मानों आश्रय नहीं लेता, वैसे ही मोक्ष सत्ता अज्ञानी पुरुष का अज्ञानगत जड़तानुभव के अपराध से मानों आश्रय नहीं लेती ॥१८॥

मोक्षरूप परमपुरुषार्थ मानने की आवश्यकता क्या है ? सांकल्पिक स्वर्ग आदि फलों मे से किसी एक को नित्य पुरुषार्थ रूप मान लीजिये, इस पर कहते हैं।

जो-जो पदार्थ संकल्प से सिद्ध होता है, वह सब संकल्प से हीन नष्ट भी होता है।

इसलिए जहाँ इस संकल्प का सम्भव नहीं है, वही अक्षय पद मोक्ष सत्य है ॥१९॥ न तो अन्य कोई है और न मैं ही हूँ, इस तरह की अनहंभावना से आप निर्भय हो जाइये। अज्ञदृष्टि यद्यपि इस अनहंभावना को भयावह समझकर ग्रहण नहीं कर सकती, तथापि परमार्थ दृष्टि उसे सत्य अमृतरूप समझकर ग्रहण ऐसे कर सकती है, जैसे अज्ञदृष्टि से भयंकर विष समझकर छोड़े गये अमृत को परमार्थ दृष्टि ग्रहण करती है ॥२०॥

इसमें सत्यता का उपपादन करते हैं।

जड-देहादि से लेकर चित्तपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर विचारकर देखने से अहंरूप उपलब्ध नहीं होता। अतः जड़ देहादिरूप 'मैं नहीं हूँ' एकमात्र यही सत्यता है ॥२१॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण शान्ति की सीमारूपी मोक्षता अहंकार की शान्ति ही है। जैसे जमे हुए घी के पिघल जाने पर घी का कुछ नाश नहीं होता, वैसे ही अहन्ता का नाश होने पर आत्मा का अणुमात्र भी कुछ नाश नहीं होता। अहन्ता के नाश से सर्वनाश हो जायेगा, यों विचारकर भय नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

विचार करने से जिन पुरुषों के सम्पूर्ण विशेष शान्त हो चुके हैं उनके लिए अहन्ता का नाश करनेवाली केवल मुक्तता उदित होती है। उनका वस्तुतः कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥२२॥ इस मुक्ति में, भोगों का त्याग, विचार, इन्द्रिय, तथा मनका निग्रहरूप पौरुष इन तीनों के सिवा और कोई दूसरा उपयोगी नहीं है, यह निश्चय करके हे अज्ञ, मुमुक्षुओं, आत्मभिन्न सबका त्यागकर शीघ्र अपनी आत्मा की ही शरण में जाओ ॥२३॥ इस प्रकार अहन्ता के नाशक सम्पूर्ण द्वैतनाशपूर्वक जो ब्रह्मभाव से मन की स्थिति है, उसी को श्रुतियाँ और विद्वान् लोग मोक्ष कहते हैं और वह मोक्ष तत्त्वज्ञान के बिना कभी भी नहीं होता। सर्वोत्तम ज्ञान भी यही है कि यह जगद्भ्रम परमार्थ कभी नहीं हो सकता, यह मोक्षशास्त्र में प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि यह जगत् तो एकमात्र भ्रम है, सद्रूप आत्मा ही परमार्थ है। चूँकि इस ज्ञान में 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति से कराया जा रहा भी विश्वास पुरुष के प्रबल रागादि दोष के कारण तथा जगत् में दृढ़ सत्यत्वभ्रम हो जाने के कारण जम नहीं पाता, इसीलिए चिरकाल तक जीव को संसारबन्धन बार-बार हुआ करता है ॥२४॥ इसलिए शास्त्रों में दृढ़ विश्वास करके 'जगत् और अहन्ता-ये दोनों असत् हैं, इसको' श्रवण, मनन आदि के अभ्यास द्वारा भलीभाँति जानकर अपने धन, जन, स्त्री तथा शरीर आदि में आसक्तिशून्य हो परमार्थ तत्त्व को जानकर उपाधि से परिच्छिन्न चिदाकाश जीव और जगत् चिन्मात्रस्वरूप हो जाता है। वही इस जीव की मुक्ति है, यही इसका उपाय है। इस ज्ञान से भिन्न किसी दूसरे ज्ञान से इसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती ॥२५॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

अचिद्रूप वस्तु असत् हो या सत्, सभी चिति से ग्रस्त है, इसलिए कुछ भी नष्ट नहीं होता, इस विषय में निर्वाण की स्थिति का वर्णन।

नित्य निरतिशयानन्द से पूर्ण अद्वय चिदाकाशरूप निर्वाणस्थिति का अनुभव कराने के लिए दृश्यानुभव दृश्यभावना के अभ्यास के अधीन है, इस पूर्वोक्त का स्मरण कराते हैं।

महराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, अपने भीतर जिस किसी असद्रूप वस्तु या अवस्तु की भावना की जाती है, तत्काल उसीका सर्वात्मक चिदाभास में अनुभव होने लग जाता है ॥१॥ वही बाह्य पदार्थों के अनुभवरूप से दृढ़ अभ्यास होने के पहले बाहर में जगत् के रूप से मानों स्फुरित होता है, इस विषय में अपना स्वप्न ही दृष्टान्त है ॥२॥

ठीक है, ऐसा ही रहे, किन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

यह सारा संसार चिति का ही रूप (कल्पित आकार) है। वह चिति आकाश से भी स्वच्छ है। चूँकि घृत जैसे अपनी आत्मा में ही काठिन्य को धारण करता है वैसे ही चिति जगत्-रूप आकार को धारण करती है, इसलिए यह सब चिद्रूप ही है। चिति से भिन्न और कुछ भी कहीं नहीं है ॥३॥

ऐसा ही सही, इससे भी प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

न तो नाश है, न अस्तितता है, न अनर्थ है, न जन्म है, न मरण है, न आकाश है, न शून्यता है और न अनेकता ही है, किन्तु अधिष्ठानरूप से सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥४॥

जगत् तथा अहंकार आदि के जड़ांश का तत्त्वज्ञान द्वारा हुआ नाश तो सभी को इष्ट है ही, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इस पर कहते हैं।

इस जगत् और अहन्ता आदि का नाश इष्ट होने पर भी वस्तुतः कुछ भी नहीं बिगड़ता, क्योंकि असद्रूप स्वप्नादि का भी तो नाश इष्ट है, उससे क्या बिगड़ सकता है ? क्योंकि नाश का स्वरूप ही क्या रहा ? ॥५॥ मिथ्या अवभासित हो रहे असत् संकल्प नगर का नाश ही क्या (मिथ्या) है ? ठीक इसी तरह असद्रूप जगत् और अहंकार आदि का नाश ही क्या ? असत् का वस्तुतः नाश नहीं है ॥६॥ यदि यह जगत् असद्रूप है, तो फिर अनर्थरूप से इसका वर्णन करके इसकी निन्दा तथा हेयरूप से इसका निर्णय शास्त्रों में क्यों किया जाता है ? यदि यह आप आशंका करें, तो यह आपकी आशंका एक तरह से ठीक ही है, क्योंकि अवस्तुभूत पदार्थों के विषय में न तो किसी प्रकार की निन्दा की और न उनके फल, विचार या किसी तरह के निर्णय की ही सम्भावना है। कहिये, आकाश के फलों की कोई कभी निन्दा या उसके विषय में किसी तरह का निर्णय करता है ? बस, ठीक इसी तरह इसे भी जान लीजिये ॥७॥

तब क्या वे शास्त्र सब व्यर्थ है ? इस पर 'नहीं' यह कहते हैं।

स्वाभाविक स्वरूपस्थिति की सिद्धि के लिए असद्रूप होते हुए भी सत् की नाईं कल्पना करके निन्दा आदि के द्वारा शास्त्रों में वैराग्य एवं विवेक से लेकर तत्त्व साक्षात्कार पर्यन्त उपायों की कल्पना की गई है - यही सब शास्त्रों में निर्णय है, इसलिए हे श्री रामजी, जो ये सब वस्तुएँ सत्-सी प्रतीत हो रही हैं, इन्हें सद्रूप से भावना न करते हुए यानी इन्हें आप मिथ्या समझते हुए शास्त्र और (ज्ञान) सम्प्रदाय के अनुसार भूमिकाओं के क्रम का अभ्यास करके पाषाण के समान स्थित रहिये ॥८॥

ठीक है, आत्मतत्त्व के विषय में यह निर्णय ऐसा ही रहे, किन्तु स्वर्ग आदि जगत् के स्वरूप के विषय में कौन-सा सफल निर्णय हुआ है ? उसे कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त स्थिति में सांसारिक पुरुषार्थाभासयुक्त आपका एकमात्र संकल्पस्वरूप यह जगत् एक क्षण में ही पूर्णतः नष्ट हो जाय, बस इतना ही इस सृष्टि के विलास में सफल निर्णय हुआ है ॥९॥

सुषुप्ति और प्रलय में सर्ग तो अपने आप ही नष्ट हो जाते है, अतः उसमें ब्रह्मरूपता के परिज्ञान से कौन-सा लाभ हुआ ? इस शंका पर कहते हैं ।

जगत् में ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से उसका मूलोच्छेदपूर्वक अर्थात् पुनः उत्पन्न न होना, क्षय है । इसके विपरीत कोई दूसरे मार्ग से वैसा क्षय नहीं होता, क्योंकि प्रलय और सुषुप्ति आदि में जो क्षय होता है उसमें यह सृष्टि बीजरूप से रहती है, कार्यरूप से नहीं रहती अथवा ऐन्दव आख्यान की रीति से प्रलय में भी कार्य बने ही रहते हैं ॥१०॥

तब सृष्टि के रहते भला प्रलय व्यवहार कैसे ? इस पर कहते हैं ।

स्वप्नपुरुष के तुल्य जिन असत् पुरुषों की दृष्टि में यह सृष्टि है, वह सृष्टि तथा वे पुरुष मृगतृष्णाजल के तरंग के समान हैं । तात्पर्य यह है कि प्रलय का संकल्प करनेवाले की दृष्टि से उन सबकी सत्ता न होने के कारण अपने संकल्पित सम्पूर्ण जगत् के नाश से ही उसका प्रलय व्यवहार होता है ॥११॥

यही कारण है कि जीव और जगद्रूपों के विषय में कोई निर्णय न हो सकने से अनिर्वचनीयता कही गई है, यह कहते हैं ।

जो लोग असत्पदार्थों का ही सद्भाव-सा मानते हैं, वन्ध्या-पुत्र की वाणी की तरह हम लोग उनका कोई निर्णय नहीं जानते । कहने का तात्पर्य यह है कि जीव और जगद्रूप अनिर्वचनीय ही है ॥१२॥

इसीलिए तो तत्त्वज्ञानी पुरुष-सादा ही अद्वितीय चिदानन्द से परिपूर्ण रहते हैं यह कहते हैं ।

परिपूर्ण समुद्र के समान तत्त्वज्ञानियों में कोई अपूर्व ही अद्वितीय चिदानन्द की परिपूर्णता रहती है, क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांश की दृष्टि में गिरते नहीं ॥१३॥ वे ज्ञानी लोग पर्वत के समान अकम्पनीय, वातरहित स्थान में स्थित दीपक की नाईं सदा समप्रकाशयुक्त तथा

आचारशून्य होते हुए भी आचारयुक्त स्वस्थ ही बने रहते हैं ॥१४॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष के हृदय के भीतर उदित हुई परिपूर्ण समुद्र के समान कोई अनिर्वचनीय ही पूर्णता रहती है तथा ज्ञानरूपा भीतरी शीतलता भी कोई अपूर्व ही लक्षित होती है ॥१५॥

तब अज्ञपुरुष का स्वरूप क्या है, इस पर कहते हैं।

इस संसार में अज्ञानी पुरुष तो वासनारूप ही है। तत्त्वदृष्टि से विचार कर देखने पर तो वह वासना कुछ है ही नहीं। कोई भी विचार कर उसे देखता नहीं है और इसी से यह संसार उपस्थित हुआ है ॥१६॥ जिस पदार्थ की प्रतीति प्रकाश की अस्फूर्ति से सिद्ध है यानी प्रकाश के बिना जिस पदार्थ की प्रतीति होती है वह पदार्थ प्रकाश से विद्यमान नहीं रहता। इस विषय में बिलकुल स्पष्ट दृष्टान्त तो प्रकाश की उपस्थिति में अन्धकार और उसमें अपना काम करनेवाले चोर आदि की उपलब्धि का अभाव ही है ॥ १७॥

प्रकाश के बिना प्रतीत हो रहे पदार्थों की स्थिति किस तरह के प्रकाश में विद्यमान नहीं रहती ? इस पर वह कहते हैं।

देह, मांस आदि स्थूल शरीर पंचीकृत भूतमय, असद्विभ्रम से युक्त एवं जड़रूप है तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर भी पंचीकृत भूतों के विकारभूत ही हैं, अन्य नहीं ॥१८॥

ठीक है, ऐसा ही सही, परन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते है।

उस बुद्धि आदि घटित सूक्ष्म शरीर में अहंभाव से प्रविष्ट हुआ चिदात्मा उसके द्वारा स्थूल देह को भी अविद्या के कारण 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मानता है। विवेक द्वारा बुद्धि, अहंकार और चित्त की भूतादिरूपता को 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुति में दिखलाये गये उपाय से छोड़कर यदि उसकी स्वप्रकाश चिन्मात्रस्वभाव से स्थिति हो जाय, तो फिर मुक्तता भी आविर्भूत हो ही गई, यह समझ लेना चाहिए। उसीको मैंने आलोक कहा है, यह तात्पर्य है ॥१९॥

इस प्रकार आत्मप्रकाश के प्रसृत होने पर वासना भी बाधित हो जाती है, इसलिए उस वासना से भी संसारबन्ध की प्रसक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

विषयों की ओर उन्मुख होने के कारण चिति लिंग शरीररूपी उपाधि में यदि मिलित है, तो उसकी वासना भी उस लिंग शरीर के सदृश ही मिथ्या है, अतः मुक्तता–अवस्था में उसका बाध होने से वह वासना कैसी, कहाँ से, कहाँ पर और किस स्वरूप की हो सकती है? ॥२०॥

तत्त्वज्ञान होने पर बद्ध जीव की ही जब उपलब्धि नहीं होती, तब भला किसके द्वारा किसके बंधन की प्रसक्ति ? यह कहते हैं।

जिस जीव को इस संसार का भ्रम है, वह असत् ही है जो असत् होता है, वह तत्त्वदृष्टि से देखनेपर मृगतृष्णा जल की नाईं लक्षित ही नहीं होता, इससे किसको कहाँ से कौन–सा संसार ? ॥२१॥

आत्मप्रकाश के मन्द पड़ जाने पर तो फिर चित्त का उदय हो जाने से संसार हो ही सकता है, इसलिए आत्मप्रकाश को तब तक दृढ़ बनाये रखना चाहिए जब तक कि संसार की बिलकुल विस्मृति न हो जाय यानी उसकी पुनःस्मृति का अवसर न आने पाये, यह कहते हैं।

इससे इस तरह आत्मज्ञान के लिए प्रवृत्त हुए पुरुष के विषयों का स्मरण करने से जो पुनः चित्त का उदय होगा, वही फिर संसाररूप से प्रवृत्त हो जायेगा ॥२२॥ इसलिए हे श्रीरामजी, सबको छोड़कर आकाश के समान निर्मल आत्मा की ही एकमात्र आप उपासना कीजिये। विषयों का पुनः स्मरण न होना ही श्रेय है, अतः भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा एकमात्र सांसारिक विषयों की विस्मृति को ही इस व्यावहारिक जगत् में सिद्ध करना मुमुक्षु पुरुषों का परम कर्तव्य है ॥२३॥

भूमिकाओं के अभ्यास में तत्पर मुमुक्षु किस तरह देखे, यह बतलाते हैं।

न द्रष्टा है, न भोक्ता है, न अस्तिता है और न नास्तिता है, किन्तु सदा समुद्र के समान परिपूर्ण, प्रारब्ध प्राप्त बाधित व्यवहार के निमित्तभूत, एक, शान्तस्वरूप यथास्थित यह सब ब्रह्म ही है॥२४॥ यह सारा दृश्य जगत सद्रूप ब्रह्म ही है, ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर बिम्ब और बिम्बी यानी चिदाभास और उसकी उपाधि दोनों के नाश से जल सूखने से बिम्बरूपता की नाईं, एकमात्र शिवस्वरूपता ही उदित होती है ॥२५॥ परमपद में विश्रान्त समदर्शी तत्त्वज्ञानी की समाधि या राग-द्वेष से शून्य व्यवहार दोनों ही प्रतीत होते हैं ॥२६॥

अथवा निर्वाणरूप सप्तम भूमिका में प्राप्त इस ज्ञानी की शान्तरूपता ही अवशिष्ट रहती है, क्योंकि वासनारहित मुनि कैसे व्यवहार कर सकता है ॥२७॥ जब तक उस ज्ञानी की सप्तम भूमिका में विश्रान्ति परिपोषता को यानी दृढ़ता को प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक राग-द्वेष और भय के उदय से रहित हो वह व्यवहार करता है ॥२८॥ सप्तम भूमिका में प्राप्त ज्ञानी राग-द्वेष भय और क्रोध से शून्य, निर्वाणरूप, शान्तमन पर पत्थररूप न बना हुआ भी पत्थर की नाईं नित्य निश्चल स्थित रहता है॥२९॥

इस तरह ब्रह्म में स्वाभाविक भावना के अनुसार जगद्रूप है तथा शास्त्रीय तत्त्वभावना के अनुसार तात्त्विकरूप भी है, इसलिए अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य अनर्थ या पुरुषार्थ दोनों प्राप्त कर सकता है, उसके लिए दोनों ही सुलभ हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कमल के बीज कोष के अन्दर ही अभिन्नरूप से सम्पूर्ण कमलिनियाँ स्थित है, वैसे आत्मा में ही सवप्नभ्रान्ति रूप यह जगत अनन्य होकर स्थित है, आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं ॥३०॥

'बाहर है' यह प्रतीति आत्मा में बाह्यरूपता की भावना से ही है, न कि इसका दूसरा कोई आधार होने से यह कहते हैं।

आत्मा ही बाह्यरूपता की भावना से बाह्यरूप हो जाता है तथा आत्मतत्त्व की भावना करते रहने से आत्मरूप ही रहता है, इसलिए परब्रह्मतत्त्व में तत्-तत् भावना ही बाह्यत्व और

आभ्यान्तरत्व है ॥३१॥

यही कारण है कि स्वप्न और जाग्रदवस्था में प्रतीति से कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

जो अन्तःकरण में भीतर स्वप्न की विभ्रान्ति है वही यह बाह्य–जगद्रूप से उदित हुई है। दो पात्रों में स्थित दूध के समान स्वप्न तथा जाग्रदवस्था में तनिक भी भेद नहीं है ॥३२॥

जाग्रत और स्वप्नावस्था के पदार्थों में स्थिरता और चंचलतारूप भेद तो प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होता है, उसकी क्या दशा होगी, यदि यह आशंका करें, तो उस पर कहते हैं।

एवं जाग्रदवस्था के पदार्थों में स्थिरता तथा स्वाप्निक पदार्थों में जो अस्थिरता प्रतीत होती है वह भी एकमात्र विस्तृत भ्रान्ति ही है तथा जाग्रतकालीन शरीर में आधारता और स्वप्न में आधेयता की जो प्रतीति होती है वह भी जल और तरंग के तुल्य ही है ॥३३॥

जैसे स्वप्नकाल के पदार्थों में जब तक एकमात्र आत्मरूपता का अनुसन्धान नहीं होता, तभी तक उनका भान होता है। आत्ममात्रस्वरूपता का अनुसन्धान होने पर तो जागरणरूप बोध से आत्मैक्यता ही सिद्ध होती है वैसे ही जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी समझना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जैसे स्वप्नकाल के पदार्थों में आत्मा के अन्यत्वज्ञान से अन्यरूपता का भान होता है। आत्मैक्यता का अवबोध होने पर तो उससे अन्य कुछ भी नहीं भासित होता, वैसे ही जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी जब तक शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता तभी तक पदार्थों में अन्यत्व भासता है। शुद्ध आत्मा का ज्ञान हो जाने पर तो वे सब के सब पृथक् आविर्भाववाले ही नहीं होते एकरूप ही अवभासित होते हैं ॥३४॥

इसीलिए वास्तविक भी ब्रह्मभाव अपनी भावना के अधीन ही है, यह जो कहा गया है वह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं।

कल्पनाओं से रहित, शान्त जो परमात्मा का रूप है वह तत्–तत् रूपों में परिणत हो जाता है तथा भावना न करने से तत्–तत् रूपों में परिणत नहीं होता ॥३५॥ स्वप्नादिज्ञान के शान्त होने पर जो विशुद्ध ईश्वर का रूप अवशिष्ट रहता है वह 'अस्तिता' के निरूपक काल और देश आदि के आधार का अभाव रहने से 'वह है' यह नहीं कहा जा सकता तथा स्वरूप का बाध न रहने से 'वह नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए वह वाणी का विषय कदापि नहीं है ॥३६॥

तब वाणी के द्वारा गुरु लोग उसका उपदेश कैसे देते हैं, इस आशंका पर कहते हैं।

भ्रम का आत्यन्तिक लय हो जाने पर समाधि में स्थित योगी लोग ही अपने एकमात्र अनुभव से उसका स्वरूप जान पाते हैं। कान्तासम्भोगसुख की नाईं, दूसरे के प्रति वह उपदेश का विषय नहीं है। वह विद्वानों के अनुभव का ही विषय है। उसमें श्रोता की बुद्धि को प्रवृत करना ही उपदेश का फल है ॥३७॥

इसलिए हे श्रीरामजी, अहंकार छोड़कर भय, मान, विषाद, लोभ, मोह, आत्मा, देह, मन, इन्द्रिय, चित्त, जड़ता से शून्य, शान्त, समस्त भेदों से रहित अविनाशी, निर्वाणस्वरूप एकमात्र ब्रह्म होकर सर्वदा ही समाधि में स्थित रहना ही युक्त है, व्यवहार विषयों में पड़ना उचित नहीं है ॥३८॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

साधुओं के समागम और सत् शास्त्रों का विचार करनेवाले पुरुष को मोक्ष अवश्य ही होता है, इसलिए मोक्ष स्वाधीन है, इसका युक्ति पूर्व कथन ।

यदि मनुष्य के पास विद्या या अविद्या है, तो उसके लिए मोक्ष या संसार स्वाधीन है, यह वर्णन करने की इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पहले अविद्या से चित्त का विस्तार और फिर उससे स्वाधीन संसार को दिखलाते है ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जब यह चितिशक्ति स्पन्दित होती है, यानी अविद्या से विषयों की ओर झुकने के लिए उसमें हलचल पैदा होती है, तब अहम्भावरूप जगत् का भ्रम उत्पन्न-सा हो जाता है, जो कि असद्रूप ही है । स्पन्दन से भी तो वायुरूपता उत्पन्न-सी हो जाती है, यद्यपि वह कुछ भिन्न नहीं है ॥१॥ श्रीरामजी, भले ही वह जगद्भ्रम उत्पन्न-सा हो जाय, परन्तु उसमें ब्रह्मरूपता का ज्ञान यदि कर लिया जाय, तो किसी तरह से भी वह खेद का कारण नहीं होता । यदि उसमें जगद्रूपता का ही ज्ञान कर लिया जाय, तो अवश्य ही वह महान् खेद का कारण होगा ॥२॥ जैसे आँख अपनी चहल-पहल से रूप का अनुभव प्राप्त करती है, वैसे ही चिति चहल-पहल से ही जगत् का भ्रम प्राप्त करती है ॥३॥

उत्पन्न होते हुए भी संसारभ्रम खेद का कारण नहीं है, यह जो कहा गया है, उसका उपपादन करते हैं ।

भद्र, जो यह चिति शक्ति है, वह तो स्वाभवतः ही सत्यरूप है, अतः वह विषयों की ओर जो झुकती है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि विषयों की सत्यरूपता तो है ही नहीं । ऐसी स्थिति में असत् विषयों की ओर वह झुकती है, यह कैसे हो सकता है ? क्या कहीं वन्ध्या का पुत्र नृत्य करता है ? निष्कर्ष यह निकला कि विषयों की तीनों काल में सत्ता न होने के कारण अज्ञान से ही चिति की विषयों की ओर प्रवृत्ति है, वह जब ज्ञान से बाधित हो जाती है, तब विषय खेद के कारण हो ही नहीं सकते ॥४॥ यह जो चिति का बाह्य पदार्थों की ओर प्रसरण है, वह तो अनुभव से ही सिद्ध है, विद्या से जब उसका बाध हो जाता है, तब असत्य अर्थ का पुरुष को अनुभव नहीं होता, उस समय यह अनुभव करता है कि इतने काल तक मैं व्यर्थ ही, बालक जैसे असत्य यक्ष का अनुभव कर स्थित रहता है वैसे ही, असत् अर्थ का अनुभव कर स्थित रहा ॥५॥

कथित न्याय भीतर के अहम्भाव में भी समान ही है, यह दिखलाते हुए बन्ध और मोक्ष में स्वाधीनता सिद्ध हो गई, यह कहते हैं।

भद्र, जब भीतर अहम्भाव ज्ञान होने लग जाता है, तब उससे अहम्भाव भी दुःख का ही कारण होता है और जब अहम्भाव का परिज्ञान नहीं होता तो वह दुःख का कारण नहीं होता, अतः बन्धन और मुक्ति अपने ही अधीन है ॥६॥

अब मोक्ष में स्वाधीनता का उपपादन करते हैं।

वही ध्यान और समाधि है, जो कि विद्या से मूलभूत जड़ता के हट जाने के बाद चिदात्मा के साथ एकरस हो जाने के कारण अजड़ मन, बुद्धि आदि पदार्थों की पत्थर के सदृश निश्चय वेद्यवेदन निर्मुक्त स्थिति है। सम, शान्त और निर्विकार यही स्थिति मुक्ति है ॥७॥

यही सिद्धान्त एकमात्र शान्ति का कारण है, दूसरी–दूसरी कल्पनाओं में तो केवल वादियों का कलहमात्र होने के कारण मिथ्या कण्ठशोषण ही है, इस आशय से उन वादियों को लक्ष्य कर कहते हैं।

हे पण्डितमानी वादिगण, आप मूर्खों के सदृश द्वैत, अद्वैत आदि अनेक तरह के संकल्पों से तरह–तरह के कलहरूप वचनों का विचार कर दुःख के लिए व्यर्थ के कण्ठशोषण रूप विषाद को मत प्राप्त कीजिये। परम पुरुषार्थ के हेतुभूत इसी सिद्धान्त का आप अवलम्बन कीजिए॥८॥

जिस पुरुष की वृत्ति बहिर्मुख है, वह पुरुष उस तरह असत् भी दुःख का निवारण नहीं कर सकता, जिस तरह असत् रूपादि के अनुभव का निवारण नहीं कर सकता अर्थात् उस पुरुष के लिए दुःख दुर्निवार ही है, परन्तु जिस पुरुष की अन्तर्मुख वृत्ति है, वह पुरुष तो प्रारब्ध प्राप्त दुःख का अनुभव करते हुए भी अपने आत्मानन्द में ही मस्त रहता है, अतःआत्मानन्द के अनुभव से आच्छादित हुआ दुःख भोगा जा रहा भी उसके लिए अभुक्त–सा ही रहता है, यह कहते है।

भद्र, दृढ़ वासना से युक्त पुरुष स्वप्न के सदृश असत् दुःख का उस तरह अनुभव करता है, जिस तरह संकल्प से रचित असत् रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदि का यानी बाह्य एवं आभ्यन्तरिक पदार्थों का अनुभव करता है ॥९॥ जिस पुरुष की वासना हट गई है, वह पुरुष तो नींद ले रहे पुरुष के सदृश प्रारब्ध प्राप्त दुःख का भी अनुभव उस तरह नहीं करता, जिस तरह संकल्पशून्य रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदि का अनुभव नहीं करता ॥१०॥

उपर्युक्त सिद्धान्त से यही झलका कि वासनाओं की वृद्धि से जैसे संसार का अनुभव होता है, वैसे ही वासनाओं के ह्रास से ही देशकाल के क्रम से मुक्ति का अनुभव सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

अत्यन्त ह्रास को प्राप्त हुई वासना ही देश, काल और क्रिया के सम्बन्ध से मुक्ति को ऐसे प्राप्त होती है, जैसे पदार्थ में भावना पदार्थ रूपता को प्राप्त होती है ॥११॥ अत्यन्त तनुता को (क्षीणता को) प्राप्त वासना ही ऐसे मुक्तिरूप बन जाती है, जैसे आकाश में मेघ, कुहरा आदि

अत्यन्त सूक्ष्म बनकर आकाशरूप बन जाते हैं ॥१२॥

वासना के उच्छेद में कौन उपाय है ? इस प्रश्न पर कहते है ।

जैसे पण्डितों के संसर्ग से बढ़े हुए अभ्यास से मूढ़ता क्षीण होकर विद्वत्ता के रूप में परिणत हो जाती है, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना से दिन-पर-दिन अत्यन्त क्षीणता को प्राप्त हुई वासना ही मुक्ति के रूप में परिणत हो जाती है ॥१३॥

कहाँ तक आत्मा के ज्ञान को बढ़ाना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जब तक आत्मा का ज्ञान दृढ़ न बन जाय, तब तक, इस अभिप्राय को लेकर दृढ़ बोधका (दृढ़ आत्मज्ञान का) लक्षण कहते हैं ।

भद्र, मेरी युक्ति का अवलम्बनकर यानी 'मैं' ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार की दृढ़ अभ्यस्त ब्रह्मभावना का अवलम्बनकर इस संसार में जीवित या परलोकगत योगी के अन्दर 'अहंशब्दार्थ जीव नहीं है' यह जो शमात्मक निश्चय उत्पन्न होता है, वही रूढ़ बोध कहा गया है ॥१४॥ वायु में कल्पित द्रव्य और क्रिया की नाईं इस आत्मा में यह सब जगत् जीव आदि कल्पित ही है। वह सब 'मैं कौन हूँ ' यह कैसे उत्पन्न हुआ इस विचार से नष्ट हो जाता है ॥१५॥ अहंकार आदि की सत्ता का त्रैकालिक अभाव ही मोक्ष है, अतः इतने को लेकर मूढ़ता का अवलम्बन क्यों किया जाय ? इसका परिज्ञान सत्संग और अभ्यास से तत्काल ही किया जा सकता है ॥१६॥ जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, जैसे दिवस से रात्रि नष्ट हो जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी के सत्संग से अहम्भावरूपी बन्धन तत्काल ही नष्ट हो जाता है ॥१७॥ भद्र, मैं कौन हूँ यह प्रपंच किस तरह आया, जीव कौन है, प्राणधारणरूप जीवन का क्या स्वरूप है इन सबका तत्त्वज्ञ के संग से जीवनपर्यन्त विचार करना चाहिए ॥१८॥

वह विचार गुरुजी की सेवा करने से सफल हो जाता है, यह कहते हैं ।

श्रीरामजी, जो तत्त्वज्ञरूपी सूर्य है उसका सेवन (संग) करने से यह सारा ही जगत् ज्ञान से प्रकाशमान हो जाता है, सब पदार्थों का स्वरूप ढँक देनेवाला अहम्भावरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है, वस्तु का असली स्वरूप एक ही क्षण में भासने लग जाता है, अतः तत्त्वज्ञरूपी सूर्य की आप सेवा (संगति) करें ॥१९॥

जब अनेक विद्वान् और अनेक तार्किक पुरुषों की मण्डली जुट जाय, तब मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि यह विद्वान् है और यह तार्किक है ? इस पर कहते हैं ।

हे भद्र, जो-जो अपने से अधिक ज्ञानवान् हों उन-सबकी अलग-अलग संगति कीजिये । उनका संगम होने पर परस्पर विरुद्ध युक्ति का जब कथन होगा, तब उससे वादरूपी पिशाचिनी उत्पन्न होगी ॥२०॥

भले ही वादरूप पिशाचिनी उत्पन्न हो, इसमें क्या दोष है ? इस पर कहते हैं ।

जब वादरूपी यक्ष उत्पन्न होगा, तब बालक के सदृश ज्ञानी श्रोता को भी तर्कयुक्त यानी तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित हो रहा आत्मा का स्वरूप ही मुख्य है और वही मुख्य मेरे लिए पर्याप्त है, ऐसा भ्रम हो जाता है, अन्धगोलांगूल न्याय से उसका अवलम्बन करना अनर्थ का ही कारण होगा ॥२१॥ इसलिए प्रत्येक पण्डित के पास जाकर एकान्त में बुद्धिमान् पुरुष को उसकी सेवा करनी चाहिए, प्रश्न करना चाहिए और फिर उनके द्वारा कथित अर्थों को मिलाकर अपनी बुद्धि से विचार करना चाहिए ॥२२॥ पण्डितों की उक्तियों के (वचनों के) अर्थों की अपनी बुद्धि द्वारा श्रुति, युक्ति स्वानुभव एवं अन्य विद्वानों के अनुभवों को मिलाकर बुद्धि की शुद्धि के लिए खूब बार-बार परीक्षा करनी चाहिए । अनन्तर समस्त संकल्पों से निर्मुक्त जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीका अवलम्बनकर तन्मय बन जाना चाहिए ॥२३॥

इसीसे तत्त्वज्ञान का उदय और उससे अज्ञान का उच्छेद हो जाता है, यह कहते हैं ।

तत्त्वज्ञानियों के सम्बन्ध से बुद्धि को अत्यन्त तीक्ष्ण बनाकर केवल उस अज्ञानरूपी लता को खूब छोटे-छोटे कणों में बना दीजिए ॥२४॥

मेरे कहे गये वचनों में आप असम्भव की शंका न करें, यह कहते हैं ।

हे रामभद्र, मैंने जो कुछ अर्थ कहा है, वह सब सम्भव ही है, असम्भव नहीं, इसीलिए मैंने इस अपने अनुभूत अर्थ का आपसे वर्णन किया है । यह आप ध्यान रखिए कि हम लोग असम्बद्ध कहनेवाले बालक नहीं है ॥२५॥

जो समस्त कल्पनाओं से परे है, वही असली तत्त्व है, असली वस्तु की तन्मयता बन जाने पर सारे जगत् का व्यवहार करें, तो भी उससे ज्ञानी के लिए किसी इष्ट वस्तु की क्षति या अनिष्टवस्तु की प्राप्ति नहीं होती, यह कहते हैं ।

हे राघव, जैसे आकाश में मेघ या कुहरे आदि का ढेर हो जाय अथवा जल में अनेक तरह के तरंगों का आविर्भाव हो जाय, तो भी उनसे आकाश या जल में किसी इष्ट की क्षति या अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती, ठीक इसी तरह सम्पूर्ण संकल्पों से निर्मुक्त हुए ज्ञानी पुरुष को सभी तरह के व्यवहारों से, न तो किसी इष्ट की क्षति होती है और न किसी अनिष्ट की प्राप्ति ही होती है ॥२६॥

आकाश एवं समुद्र स्थल में द्वैतपन रहता है, इसलिए उनमें इष्ट क्षति एवं अनिष्ट प्राप्ति की किसी तरह शंका हो भी सकती है, परन्तु विद्वान् पुरुष तो कूटस्थ अद्वय परमात्मरूप हो गया है, अतः उसमें इन भ्रमात्मक पदार्थों से इष्टक्षति एवं अनिष्ट प्राप्ति की शंका ही नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं ।

समस्त विकारों से शून्य एवं परिपूर्णस्वरूप आत्मा का जब विचार कर लिया यानी तत्त्वज्ञान हो गया, तब यह सारा जगत् और अहम्भाव मृगतृष्णा जल के सदृश अस्तित्व रख ही नहीं

सकता, ऐसी स्थिति में इस तत्त्वज्ञ पुरुष में मनन आदि भ्रान्ति कहाँ से आ सकती है या कहीं पर क्यों रह सकती है ? ॥२७॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

संवित् की बाह्यमुखता के वारण से भ्रान्तिरूप कल्पना की
प्रतिकल्पना (भ्रान्तिकल्पना के निवर्तक शास्त्रीय उपाय) और परलोक की चिकित्सा का वर्णन।

सबसे पहले प्रतिकल्पना को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सत्समागम से विकास को प्राप्त स्वबुद्धि रूप अपना ही पुरुषार्थ यदि पुरुष को तत्त्वज्ञान प्राप्त करा दे, तो फिर भिन्नतारूप कोई संसार का कारण रहता ही नहीं ॥१॥ ये जितने कल्पना से बने हुए तथा कल्पना के कारण अविद्या, वासना आदि अशास्त्रीय पदार्थ हैं, वे सब अपनी शास्त्रीय प्रतिकल्पना से बन्धन हेतुता छोड़कर मोक्षोपयोगी ऐसे बन जाते हैं, जैसे कि स्वभावतः मरणहेतु विषय रसायनशास्त्रों में दर्शित उपायरूप प्रतिकल्पना से विषपने को छोड़कर अमृतरूप बन जाता है ॥२॥

कब तक प्रतिकल्पना करनी चाहिए, इस पर 'समस्त कल्पनाओं की निवृत्ति जब तक न हो, तब तक' यह कहते हैं।

अतः आत्मा की मुक्तता कल्पना से शून्य है, अतः सब कल्पनाओं की निवृत्ति जब तक न हो जाय, तब तक प्रतिकल्पना करना चाहिए। यह कल्पनाशून्य मुक्तता पहले तो भोगत्याग से यानी वैराग्य और संन्यास से ही सिद्ध होती है, दूसरे किसी अन्य उपाय से नहीं। इससे वैराग्यरूप और संन्यासरूप प्राथमिक प्रतिकल्पना अत्यन्त आवश्यक है ॥३॥

अनन्तर श्रवण, मनन से आत्मतत्त्व का निश्चय कर वाणी और मन का निरोधरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

अनन्तर वाणी और मन से शब्द और शब्दार्थों की भीतर भावना न करते हुए जो स्थित रहता है, उसकी कल्पना धीरे-धीरे शांत होती जाती है ॥४॥

अनन्तर अनहम्भावरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

एकमात्र अहम्भाव को छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं, इसलिए समस्त भावनाओं को दूर कर देनेवाले तत्त्वसाक्षात्कार से इस अहम्भाव के बाधित हो जाने पर दूसरा कोई मोक्षनामक पदार्थ प्राप्त करने लायक रहता ही नहीं यानी अहम्भाव का नाश ही मोक्ष है ॥५॥ भद्र, तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने के बाद भी यदि आप पहले के जगत्-जीवरूप संसार में रुचि रखकर स्थूलदेह के विनाशकाल तक कुछ थोड़े-से अहम्भाव का आश्रय करेंगे, तो अपरिच्छिन्न

आत्मा के विस्मरण से संसारताप से अवश्य तपेंगे और यदि अहम्भाव का त्याग कर देंगे, तो समस्त दुःखों से छुटकारा पा जायेंगे तथा नित्य निरतिशयानंद स्वभाव से सिद्ध हो जायेंगे ॥६॥ पत्थर के सदृश अचल जिसको बहिर्मुखवृत्ति के अज्ञान से यह सब जगत् असद्रूप होता हुआ भी शान्त सत् की नाईं स्थित है, उस महात्मा को प्रणाम है ॥७॥ परब्रह्म अशेषरूप से विलीनचित्त का – पत्थर के सदृश बाहर का परिज्ञान न होने से और भीतर चितिरूपता की भावना होने से शून्यरूप संज्ञा को प्राप्त कर यह सब द्रश्य प्रपंच शान्त हो जाता है ॥८॥

सुख और दुःख के लिए विषयों की सत्ता या असत्ता उपयोगी नहीं है किन्तु विषयों का दर्शन या अदर्शन उपयोगी है, इसलिए विषयप्रकाश के लिए प्रवृत्ति करनेवाले चित्त का ही प्रथम निरोध करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

यह दृश्य रहे चाहे न रहे, परन्तु प्रकाशित दृश्य यानी दृश्यदर्शन ही दुःख की वृद्धि का कारण है। अचेतित दृश्य यानी विषय का अदर्शन तो सुखका कारण है। पर विषयों का अदर्शन चित्तक्रिया के निरोध से जब तक ब्रह्माकारता की सिद्धि न हो जाय, तब तक की प्रतिकल्पना से होता है ॥९॥

परलोक की चिकित्सा का वर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं।

शरीरधारियों के लिए महाभयंकर दो व्याधियाँ हैं – एक तो यह लोक और दूसरा परलोक। क्योंकि इन्हीं दोनों के कारण पीड़ित होकर मनुष्य आध्यात्मिक आदि भावों से अनेक दुःख भोगता है॥१०॥ इस लोक में अज्ञानी पुरुष क्षुधा, तृष्णा आदि व्याधियों के लिए अन्न, पान आदि भोगरूप निकृष्ट औषधियों का अवलम्बनकर जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, परन्तु परलोक में नरक आदि व्याधियों के लिए भोगों से कुछ भी चिकित्सा नहीं होती ॥११॥ जो उत्तम पुरुष हैं, वे परलोक की महाव्याधि की चिकित्सा के लिए शान्ति, सत्संगति तथा आत्मविचाररूप अमृततुल्य उपायों से प्रयत्न करते हैं ॥१२॥ जो पुरुष परलोक की चिकित्सा के लिए सावधान यानी अपथ्य भोगों के त्याग और सत्समागम आदि औषध के सेवन में सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्ग की महती इच्छा में अपने शमगुण की बड़ी शक्ति के कारण सर्वदा विजयी होते हैं ॥१३॥

परलोक की चिकित्सा परलोक में जाकर ही करेंगे, यहाँ पर उसकी चिन्ता करने से क्या फल ? इस पर कहते हैं।

जो पुरुष यहीं पर नरकरूप व्याधि की चिकित्सा नहीं करता, वह व्याधिग्रस्त पुरुष औषधरहित नरक आदि प्रदेश में जाकर क्या चिकित्सा करेगा ? ॥१४॥ हे अज्ञानीजनों, तुम लोग इस लोक की चिकित्सा में निरत होकर अपना जीवन क्षीण मत करो, परन्तु आत्मज्ञान के औषधों से परलोक की चिकित्सा करो ॥१५॥ आयु तो ऐसी क्षणभंगुर (एक क्षण में नष्ट हो जानेवाली) है जैसा कि वायु से कम्पित हो रहा पत्ते का छोटा टुकड़ा और जल कण । इसलिए बड़े यत्न से परलोकरूप महाव्याधि की शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करने में तत्पर हो जाओ ॥१६॥

इस लोक की व्याधि की चिकित्सा के लिए दूसरे यत्न की आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं।

परलोकरूप व्याधि की यत्नपूर्वक तत्काल ही चिकित्सा करने पर इस लोक की व्याधि स्वयं अपने-आप ही शान्त होने लग जाती है ॥१७॥

परलोक की व्याधि के लिए यद्यपि तपश्चर्या, तीर्थाटन, यज्ञ आदि चिकित्सा बतलाई गई है, तथापि उनसे उक्त व्याधि निर्मूल नष्ट नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञान से ही निर्मूल नष्ट होती है। आत्मज्ञान तो श्रवणादिपूर्वक समाधि के अभ्यास से यानी चिति की बहिर्मुखता के निरोध से होता है, इस आशय से आत्मज्ञान का उपाय बतलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जितने जन्तु हैं, वे सब संविन्मात्ररूप (आत्मा के ही स्वरूप) हैं, इस संवित् की बहिर्मुखता ही जगत् है। यह सारा जगत् एक छोटे से परमाणु के उदर में भी सैकड़ों पर्वतों के विस्तार में विद्यमान है, क्योंकि वहाँ पर भी संवित् बैठी ही है ॥१८॥ जो आत्मचिति का बहिर्मुखता से विस्तार है, वही बाह्य विषय और भीतरी विषय (काम, संकल्प आदि) हैं। ये चिदाकाश में ही अनुभूत होते हैं, इसलिए जगत् का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता ॥१९॥

जगत् का रूप मिथ्या ही है, इसलिए हजारों प्रलयों से भी वह नष्ट नहीं होता या हजारों सृष्टियों से अपना अस्तित्व भी नहीं रखता। यदि नष्ट होता है, तो आत्मा के ज्ञान से ही, इस आशय से कहते हैं।

देखे गये प्रलयों में भी जगत्-भ्रम का न विनाश ही होता है या न देखी गई सृष्टियों में उसकी उत्पत्ति ही होती है, क्योंकि उसका असलीरूप एकमात्र भ्रान्ति ही है ॥२०॥

आत्मज्ञान सम्पादन में कौन-कौन उपाय है ? इस प्रश्न पर वैराग्य ही पहला उपाय है, यह कहते हैं।

यदि पुरुष अपने पौरुषरूप चमत्कार से भोगरूप कीचड़ में फँसी हुई अपनी आत्मा का उद्धार नहीं करता, तो फिर दूसरा कोई भी उपाय उसके उद्धार का रहता ही नहीं ॥२१॥ जिसने अपने मन के ऊपर विजय पाई नहीं है, भोगरूपी कीचड़ में फँसा हुआ वह मूढ़ पुरुष आपत्तियों का ऐसे पात्र बन जाता है, जैसे जलों का समुद्र ॥२२॥ जैसे आयु की सबसे पहली सीढ़ी बाल्यावस्था दिखाई पड़ती है, वैसे ही मोक्ष की पहली सीढ़ी रागों से शान्ति देनेवाला भोग त्याग ही है ॥२३॥

'राग से शान्ति देनेवाला' यह जो विशेषण कहा गया है, उसका तात्पर्य ज्ञानी और अज्ञानी की आयुरूप नदी की विलक्षणता वर्णन से दिखलाते हैं।

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसकी आयुरूप नदी कल-कल ध्वनि करती हुई (प्रारब्ध प्राप्त अनेक प्रवृत्तिरूप तरंगों से युक्त होती हुई) भी जगत्भ्रमों से शून्य है। अतएव चित्र में चित्रित जलशून्य नदी के सदृश एकरूप एवं सौम्य (उपद्रवरहित) होकर बहती-रहती है ॥२४॥ और जो अज्ञानी हैं, उनकी आयुरूप नदियाँ तो अनेक तरह की दुःख क्रन्दनों की ध्वनियों से अत्यन्त

भयंकर रहती हैं । बाह्यवृत्तियों से उत्पन्न अनेक विक्षोभरूप कल्लोल ही उनके साथ–साथ बहनेवाले आवर्त रहते हैं ॥२५॥

अज्ञानियों को अविचार से ही सृष्टि के प्रतिभासरूप विक्षेप उत्पन्न होते हैं, यही संविति की एक बहिर्मुखता है, यह कहते हैं ।

अज्ञानियों के लिए चिति की बहिर्मुखता के एक लेशमात्ररूप अनेक तरह के सर्ग ऐसे निकलते–रहते हैं, जैसे दो चन्द्रमा, बालवेताल, मृगतृष्णा के जल तथा स्वप्नमोह – ये अज्ञान से निकलते–रहते हैं ॥२६॥ भद्र, संवित्–रूपी जल के तरंग ही हजारों सृष्टियों के रूपों में भासते हैं । जब उनके विषय में विचार किया जाता है, तब वे असत्य बन जाते हैं और जब विचारित नहीं होते तब अज्ञानियों के अनुभव से सत्य भासने लग जाते हैं ॥२७॥ आत्मा की बहिर्मुखता के भ्रम से ही आकाश में भी अनेक तरह के गन्धर्वनगर आदि जगत् सत्य–से भासने लगते हैं, परन्तु विचार करने पर वे सत्य नहीं ठहरते ॥२८॥ आत्मा की बर्हिमुखतारूप जो जल है, उसी का यह जगत्भ्रम एक तरह से बुदबुद है और उसमें जो रूप है, वह अहंकार आदि सद्रूप भावविकारों के आधारों से ही आया है ॥२९॥ आत्मा की बहिर्मुखता न होना ही समस्त जगत् की निवृत्ति है और आत्मा की बहिर्मुखता ही सम्पूर्ण जगत् है । वास्तव में न कुछ भीतर है, न बाहर है, न असत्य है, न सत्य है । जो कुछ है, वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है ॥३०॥ चिद्रूप, अज, अव्यक्त, एक, अविकार, ईश्वर, स्वत्व और भावत्व से रहित ब्रह्म ही सर्वत्र है, वह आकाश से भी अत्यन्त शान्त है ॥३१॥

आत्मा की जो बहिर्मुखता है, वह मिथ्याभूत अविद्या का ही विलास है, न कि सत्यरूप ब्रह्म के स्वभाव से उत्पन्न है, यह कहते हैं ।

हे भद्र, जिसमें किसी तरह का कोई स्वभाव ही नहीं है, उस ब्रह्म में अपने को सृष्टि का जो ज्ञान होता है, उसमें पवन के स्पन्दन की नाईं, कोई कारण ही नहीं है, केवल अज्ञान ही है ॥३२॥ जैसे आत्मा में स्वप्न का अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्र में अविद्याजनित सर्गरूपता ब्रह्म की तरंगें भी भ्रान्तिरूप ही हैं और कुछ नहीं । वस्तुतः आत्मा में न स्वप्न है एवं न सर्गरूपता ही है ॥३३॥

परमार्थदशा में ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? इसे कहते हैं ।

ब्रह्म एक ही है, उसमें न कोई आभास है, न कोई चित्तस्वरूप दूसरा धर्म है, न जड़ता है, किन्तु समता है । वह न सत् है, न असत् है, न सत्–असत् उभयरूप है । केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह अविकार है और दूसरे से रहित है ॥३४॥

इस प्रकार के ब्रह्मरूप की प्राप्तिकर स्थित रहना ही योगियों के लिए बहिर्मुखता का अभाव और मौन (मननित्व) है, यह कहते हैं ।

भद्र, जिस तरह की मैंने स्थिति बतलाई, उस तरह की स्थिति से ही स्थित रहे जिस महामति को बाह्यविषयों का अज्ञानरूप आत्मशमन उत्पन्न हो गया है, उसीको सब मनुष्यों में उत्तम मुनि

कहते हैं ॥३५॥ उसी महात्मा को उत्तम मुनि कहते हैं, मिट्टी की मूर्ति के सदृश जिसका शरीर रहते भी विषयवेदनाशून्यरूप जीवभाव के साथ जगत् नष्ट हो गया है ॥३६॥

असंकल्प ही जैसे संकल्परूप सृष्टि का निवारण है, वैसे ही अदृष्टि ही दृष्टिसृष्टि का निवारण है, यह कहते हैं।

जैसे संकल्पजनित नगर सृष्टि असंकल्प से लीन हो जाती है, वैसे ही विषयवेदन से जनित अहंकारूप समस्त जगत्सृष्टि अवेदन से चिति में लीन हो जाती है ॥३७॥ स्वभाव को छोड़कर यानी सब जड़ वस्तुओं में अनुगत जड़तारूप मूल अविद्या को छोड़कर जितने नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, उन सभी के प्रति वह मूल अविद्या ही कारण है, परन्तु मूल अविद्या का जो साक्षीरूप से कारण है, उसका अनुभव करना यानी अपने में तद्रूपता का अनुसन्धान करना ही मुक्ति है ॥३८॥ परमार्थ में तो किसी पदार्थ का यहाँ कोई स्वभाव ही नहीं है, जितने ये अनुभव हैं, वे सब महाचितिरूप जल के द्रवस्वरूप हैं ॥३९॥ ये सभी अनुभव महाचितिरूपी वायु के स्पन्दन ही हैं, इसलिए वे सब अनुभव ब्रह्मरूप गगन की शून्यरूपता का ही सेवन करते हैं, यह आप जानिये ॥४०॥ भद्र, जैसे वायु और वायु के स्पन्दन में कोई भिन्नता विद्यमान नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और ब्रह्म की सृष्टि में भी कोई भिन्नता नहीं है। अपने स्वरूप की भ्रान्ति हो जाने पर ही उनमें विभिन्नता भासती है, पर वह स्वप्न में स्वमरण के सदृश असत्यरूप है ॥४१॥

कब तक वह भ्रान्ति रहती है, इस पर कहते हैं।

जब तक तत्त्वार्थ का विचार विस्पष्ट नहीं हो जाता, तब तक ही यह भ्रान्ति रहती है और जब विचार स्पष्ट हो जाता है, तब तो यह सारी भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को ही प्राप्त कर लेती है ॥४२॥

भ्रान्ति कैसे ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर लेती है, इस पर कहते हैं।

भ्रान्ति तो असत्य और अवस्तुरूप ही है, अतः विचार करने पर भी खरगोश के सींग की नाईं वह प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में अतिनिर्मल ब्रह्म ही बच जाता है। तात्पर्य यह निकला कि भ्रान्ति में जो सत्ता स्फूर्तिरूप अंश है, वही ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है, दूसरी चीज तो कोई है नहीं, अतः दूसरे अंश के अभिप्राय से भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को प्राप्त करती है, यह नहीं कहा जा सकता है ॥४३॥

समस्त भ्रमों का जब बाध हो चुका, तब आखिर में बचे हुए ब्रह्मरूप को बतला रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजी को ब्रह्मरूपता की स्थिति में स्थापित करते हैं।

हे श्रीरामजी, देह के सम्बन्ध से प्राप्त हुई सभी जरा, मोह, विकार आदि भारस्वरूप भ्रान्तियों को छोड़कर आप अब उस ब्रह्माकाशरूपता को प्राप्त कर लीजिए, जो आदि, मध्य और अन्त से शून्य है, अनन्त, स्वच्छ, सम, शिव, नित्य एवं अद्वितीय ही है ॥४४॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

दृष्ट पदार्थों की सृष्टि ही जगत् है, यह जगत् अदर्शन से ही नष्ट हो जाता है,
इस प्रस्तुत विषय में युक्तियों का वर्णन।

'यह अहंकारात्मक जगत् दृष्टिरूप वेदन से उत्पन्न हुआ है, अतः अदृष्टिरूप अवेदन से ब्रह्मचिति में लीन हो जाता है, यों जो पहले कहा गया था, उसमें युक्तियों को दिखलाने की इच्छा से महाराज वसिष्ठजी सबसे पहले विनाशशील दुःखादि त्रिपुटियों से अलगकर अविनाशशील आत्मा को दिखलाते हुए 'सम्पूर्ण शास्त्रों की सफलता आत्मा के दर्शन से ही है' यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, सुख-दुःखों के आने पर जो नष्ट हो जाता है वही नष्ट होता है और जो नष्ट नहीं होता, वही यह अविनाशी आत्मा है, बस, इससे और अधिक शास्त्रों का उपदेश करना व्यर्थ ही है ॥१॥

जो इच्छावाला है, वह नित्य दुःखी है और न वह आत्मा ही है, किन्तु इच्छा त्याग आदि उपायों का अवलम्बनकर प्रतिकार करने योग्य संसाररूपी रोग की कोटि में प्रविष्ट कोई दूसरा ही है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्राणी को इच्छा आदि विद्यमान हैं, उसीको सुख आदि अवश्य होते रहते हैं। यदि सुख आदि रोगों की भलीभाँति चिकित्सा करना अभीष्ट है, तो सबसे पहले इच्छा का ही परित्याग कर देना चाहिए ॥२॥

जो अविनाशी आत्मा है, उसमें इच्छा आदि का अभिमानी और अभिमान का विषय जगत् दोनों की सम्भावना नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं।

अहंकार और यह जगत् दोनों तरह की भ्रान्ति परम पद परमात्मा में है ही नहीं, यह तो शान्त, निरालम्बन (आश्रयरहित), सर्वात्मक विनाशशून्य मोक्षरूप ही है ॥३॥

ऐसी स्थिति में वह 'अहम्' आदि शब्दों का विषय ही नहीं है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, 'अहम्', ब्रह्म और जगत्' यह जो शब्दजालरूप भ्रम है, इसकी सर्वात्मक, शान्त चिदाकाश में किसने कल्पना की ? यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥४॥

जब शब्द की गति ही नहीं है, तब कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की तो कथा ही क्या ? यह कहते हैं।

परमार्थ में तो, न अहम् है, न जगत् है और न ब्रह्म आदि शब्द ही हैं, क्योंकि जो शान्त अद्वितीय वस्तु है, वह तो सर्वात्मकरूप है। ऐसी स्थिति में उसमें कर्तृता और भोक्तृत्व कैसी और कहाँ से रह सकते हैं ? ॥५॥

सब कुछ का बाध करने पर उपदेश आदि का भी बाध हो ही जायेगा, इस परिस्थिति में आपत्ति यह आ जायेगी कि आत्मज्ञान का कोई उपाय ही न बच पायेगा, यह शंका यदि हो, तो भले ही हो,

इससे कुछ बिगड़ेगा नहीं, क्योंकि एक तो जिसका हमें उपदेश करना है, उस ब्रह्म का तो बाध होता ही नहीं, दूसरी बात यह है कि ब्रह्म में बाधित होनेवाले समस्त अनर्थों की अपेक्षा त्रिकालाबाधित सत्य प्रत्यगात्मरूप अतिशय है और तीसरी बात यह है कि बाधोपाय से आत्मज्ञान हो जाने के बाद उपदेश आदि की आवश्यकता ही नहीं रहती, इस आशय से कहते हैं।

उपदेश्य ब्रह्म में दूसरे अर्थों की अपेक्षा त्रिकालाबाधित्वरूप अतिशय है, इससे सबका बाध होने पर यह आत्मा सत्यस्वरूप ही किया जाता है, ऐसी स्थिति में बाध से वही तुम्हारा यह अहंरूप आत्मा विशिष्टरूप (परिशिष्टरूप) एवं सर्वातिशायी ही सिद्ध किया जाता है ॥६॥

यह ठीक है, परन्तु अदर्शनमात्र से दृश्य की शान्ति कैसे हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

जैसे सामने ही रहनेवाले, परन्तु अन्तर्धानशक्ति से अदृष्ट बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषों का एवं पिशाचों का व्यवहार आदि भयंकर होता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता अथवा जैसे एक ही शयन पर सोये हुए दो पुरुषों मे एक को स्वप्न में जोर से हुए मेघगर्जन को दूसरा पुरुष नहीं जान पाता यानी वह हम लोगों की दृष्टि से है ही नहीं, वैसे ही यहाँ पर भी जान लीजिये। अर्थात् चूँकि अपनी दृष्टि में नहीं आता, इसलिए पुरुष सामने स्थित सिद्ध व्यवहार को नहीं देख पाता, क्योंकि सभी का यह स्वभाव है कि अपनी दृष्टि में आनेवाले पदार्थ का सब अनुभव करते हैं ॥७,८॥

इससे अपनी इन बातों में क्या आया, इस प्रश्न पर कहते हैं।

ज्ञप्ति पदार्थ भी आत्मरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह तद्रूप ही दीखता है। इससे अहंकार के सहित सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से अभिन्न है ॥९॥ संकल्प और स्वप्न के सदृश ही ज्ञप्ति जगत् के रूप से भासती है। और वह यद्यपि अनेक अवयवोंवाली नहीं है, परन्तु जल ऊर्मियों के रूप से जैसे अनेक अवयववाला भासता है, वैसे ही अनेक अवयवोंवाली भासती है ॥१०॥ अनेकरूप-सा होकर आया हुआ एक आत्मा ही दृष्टि के अज्ञान से विवर्तरूप उदय है यानी संसार है। यह संसार स्वयं अवस्तुरूप होने के कारण तत्त्वदृष्टि से भलीभाँति देखा गया भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥११॥ जैसे यह जीव अवयवरहित होता हुआ भी हाथ, पैर आदि अपने अवयवों की कल्पना कर स्वप्नमनोरथ आदि में अवयववाला हो जाता है, वैसे ही सदा से अवयवशून्य, स्वभावतः शान्त यह ब्रह्म ही जगद्रूप अवयव से अवयववाला बन जाता है ॥१२॥ यह चितिरूपी कुलाली जब स्मरण करती है, तभी जगत् को देखने लगती है और अपने भीतर लाखों की संख्या में बड़े-बड़े बर्तन धारण करने लग जाती है ॥१३॥ भद्र, चितिरूप होने के कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्ता से सुन्दर जगत् के रूप में ऐसे भासता है, जैसे द्रवरूप होने के कारण सागर तरंगों के रूप में भासता है॥१४॥ जिस-जिसका अपने अध्यास से प्रकाश करता है, उस उस को ब्रह्म मानों देखता है। यद्यपि ब्रह्म अरूप है, तथापि उसे अपना रूप मान बैठता है और अपने अन्दर जिसका अध्यास नहीं करता उसे नहीं देखता ॥१५॥ ब्रह्म में चेतनता और अचेनता को लेकर जो कुछ वचन प्रयोग

किया जाता है, वह तो मायाशबल होने से सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म के विषय में नहीं है, किन्तु स्वदेहभूत माया के ही विषय में है यानी चेतनत्व अचेनत्व मायागत ही है। वह वचन केवल उपदेश देने के लिए ही कहा जाता है, वह वस्तुतः परमार्थ विषयक नहीं है, ब्रह्म का कुछ भी स्पर्श नहीं करता है ॥१६॥ भद्र, जगत् न सत् है और न असत् है, केवल चितिशक्ति में बहिर्मुखवृत्ति के कारण भासता है। यदि बहिर्मुखवृत्ति का त्याग हो जाय, तो वह भासता ही नहीं, इसलिए हम लोगों को इन विषयों के लिए आग्रह ही क्या ? ॥१७॥

ऐसा भले ही हो, इससे हुआ क्या, इस पर कहते हैं।

आत्मा का चेतनत्व और अचेतनत्व स्वाधीन है, इसमें किसी यत्न की आवश्यकता नहीं है, जैसे अपने स्वरूप में स्थित स्फटिक पत्थर के सैकड़ों बिम्ब–प्रतिबिम्बरूप स्पन्दन और अस्पन्दन स्वाधीन है, इनमें किसी दूसरे प्रयत्न या श्रम की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही आत्मा के चेतनअचेतन के विषय में भी जानना चाहिए ॥१८॥

समस्त कल्पनाओं के मूलभूत एक अहंकार की ही परीक्षा कर लेने से मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर समस्त जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, इस आशय से कहते हैं।

ठीक–ठीक देखने पर जिसकी सत्ता नहीं मिलती, जिसका आधारभूत कोई नहीं और जिसका कोई कारण नहीं है, वह 'अहम्' रूप यक्ष कहाँ से उत्पन्न हुआ, यह जाना नहीं जा सकता ॥१९॥ जिस अहंकाररूप यक्ष की वस्तुतः सत्ता ही नहीं है, उसीने इन आप सब लोगों को पराधीन बना डाला है, यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥२०॥ ब्रह्म में काकतालीय न्याय से अकस्मात् ही भ्रान्त यह अहंकार ऐसे भासता है, जैसे कि दृष्टि की भ्रान्ति होने पर आकाश में अपना ही रूप केशोण्ड्रक के रूप में भासता है ॥२१॥

पूर्वोक्त वचनों से जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं।

मैं और यह जगत् दोनों ब्रह्मरूप ही हैं, अतः इस दशा में जगत् की उत्पत्ति एवं नाश दोनों कहाँ से ? इससे हर्ष और विषाद का स्थान ही क्या और किस तरह से ? ॥२२॥

वर्णित दृष्टिसृष्टि कल्पनाओं का अनुवाद कर फलित कहते हैं।

सर्वेश्वर होने के कारण यानी माया शबल होने के कारण ही ईश में प्रचेतित (दृष्ट) हुआ यह संसार भासता है और अचेतित (दृष्टि न हुआ) नहीं भासता है। इसलिए आपको यह जगत् सदा अचेतित ही रहे ॥२३॥ बतलाई गई रीति से यह जगत् भी चिद्रूप है, अतः ब्रह्माकाश ही उस रूप से स्वप्ननगर या संकल्पनगर के सदृश अकस्मात् काकतालीय की नाईं भासता है वस्तुतः वह जगत् ब्रह्म से किस तरह अलग हो सकता है ? यदि ब्रह्म से अलग मान लिया जाय, तो सत्ता का लाभ न होने से अलीक (अत्यन्त असत्) ही हो जायेगा ॥२४॥ जैसे शान्त जल में अप्रकाश्य तरंग आदि हैं, या न खोदे गये काठ में अदृश्य कठपुतलियाँ हैं अथवा भूमि

में अदृश्य घट आदि हैं, वैसे ही ब्रह्म में यह सृष्टि का रूप है ॥२५॥ जिसका कोई आकार नहीं है, जो अवयवों से रहित है और स्वच्छ है, उसमें जो कुछ दिखाई देता है, वह तद्रूप ही होता है, इसलिए यह उत्पन्न हुआ अहंकार क्या है और ये जगत् ही क्या है ? ॥२६॥

अलग सत्ता न होने से भी वह वही है, यह कहते हैं।

जैसे पवन का स्पन्दवैचित्र्य पवनसत्ता के ही अधीन है, वैसे ही अविद्यारहित ब्रह्म के अहम् आदि और जगत् आदि उसकी सत्ता के अधीन हैं ॥२७॥ जैसे आकाश में वृक्ष, हाथी, घोड़े आदिका रूप दिखाई पड़ता है, वैसे ही अवयव एवं आकाररहित ब्रह्म में सृष्टि एवं अहंकार का रूप दिखाई पड़ता है ॥२८॥ हे श्रीरामभद्र, परब्रह्म में यह सारा जगत् वृक्षशाखा के सदृश भासता है। वट आदि वृक्षरूप कार्य एवं उसके बीज आदि कारण के सदृश जैसे लोक में सूक्ष्म अर्थों के लिए सादृश्य प्रसिद्ध हैं वैसे ही संसार और ब्रह्म का सादृश्य जानिये ॥२९॥ हे श्रीरामजी, आप भीतर से शान्त, प्रयत्नों से निर्मुक्त, उपाधि से रहित, भ्रम से शून्य होकर आकाश के समान निर्विक्षेप हो स्थित रहिये, क्योंकि वर्णित रीति से आपसे भिन्न कोई दूसरा जगत् है ही नहीं ॥३०॥ न आप हैं, न हम हैं, न जगत् हैं, न आकाश आदि हैं, किन्तु अशेषरूप से परिपूर्ण सर्वोपद्रववर्जित अपरोक्ष ब्रह्म ही स्थित है ॥३१॥

हे भद्र, चैतन्य से अतिरिक्त किसी भी अन्य स्वरूप का निरूपण न हो सकने से सभी पदार्थ जब एकरूप ही सिद्ध हुए, तब विशेष विभ्रम को छोड़कर उक्त परमार्थ सत्यस्वरूप चितिशक्ति ही मैं हूँ, ऐसी मोक्ष के लिए तत्काल ही भावना करनी चाहिए ॥३२॥ भद्र, बाह्य पदार्थों के ज्ञान को बन्धन और बाह्य पदार्थों के अज्ञान को मोक्ष जानिये । इसलिए आप भूमिका के अभ्यासरूप विद्वानों के आचरण का उल्लंघन न कर यथास्थित शान्त अवेदनरूप हो जाइये ॥३३॥

तत्त्वज्ञान की दृढ़ता होने पर जड़ अर्थ चेतनरूप ही नहीं होते, यह कहते हैं।

द्रष्टा कभी दृश्य रूप नहीं होता और चितिशक्ति चेत्यरूप नहीं होती चेत्य के अभाव से जगत्-शून्य ब्रह्म में कौन, क्या और किस प्रकार चेतित (प्रकाशित) होगा ? ॥३४॥ हे भद्र, द्रष्टा, दृश्य की दशा न रहने से जाग्रदवस्था में ही सुषुप्ति के सदृश तथा शरदाकाश के सदृश शून्य की तरह आप स्थित रहिये ॥३५॥ जैसे अज्ञान से पवन और स्पन्दन में भेदप्रतीति होती है वैसे ही अद्वितीय ब्रह्मचैतन्य में अज्ञान से भेद प्रतीत होता है । इससे निष्कर्ष यह निकला कि चिति और अचिति का भेददर्शन ही सृष्टि है तथा ब्रह्मैक्यदर्शन मोक्ष है ॥३६॥ जहाँ ब्रह्मरूप वायु से चिति का स्पन्दन होता है वहीं पर सर्ग नाम पड़ जाता है अतः यहाँ जब चिति का स्पन्दन नहीं होगा, तभी वह निर्वाण कहा जायेगा ॥३७॥

द्वैतदर्शन ही सृष्टिरूप है, यह दृष्टान्तों से प्रतिपादन करते हैं।

जैसे बीज अपने भीतर पल्लव आदि स्वरूप का परिज्ञान करता है, वैसे ही महाचैतन्यरूप ब्रह्म अपने भीतर सृष्टिरूप स्वरूप का अनुभव करता है ॥३८॥

ज्ञानकाल में ही ब्रह्मभावनिष्ठा हो जाती है, इसमें भी ये ही दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे पत्र आदि के ज्ञान से बीज पत्र आदिरूप से स्थित हो जाता है, वैसे ही परमचैतन्यरूप ब्रह्म सृष्टिज्ञान से सृष्टिरूप हो जाता है ॥३९॥

वृक्ष के छः भावविकार भी यहाँ दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे चैतन्य के आश्रित भावविकारों के क्रमिक प्रतिभास ही सृष्टिरूप हैं, वैसे ही सभी बीज दृष्टान्त हैं, अतः बीज आदिरूप से स्थित चैतन्य के ही विकाररूप होने के कारण सृष्टियाँ तन्मय हैं ॥४०॥ हे श्रीरामजी, निर्विकार परब्रह्ममय ही यह सब जगत् है, अतः विकाररहित, आदि–अन्त शून्य निरामय चिति ही सब कुछ है, यह आप जानिये ॥४१॥ संकल्पनगर के सदृश यह द्वैत–अद्वैतात्मक जगत् केवल अपना संकल्परूप ही है, अतः अपना संकल्प जब नष्ट हो जाता है, तब यह भी नष्ट हो जाता है ॥४२॥ भद्र, शून्यता और आकाश का भेद जैसा आपने तुच्छ जाना, ब्रह्म और जगत् का भी भेद वैसा ही तुच्छरूप जानिये ॥४३॥ पूर्वसिद्ध महाचैतन्यरूप जो ब्रह्म की सत्ता है, वही अज्ञानसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस आकार को धारण कर अहंकार के रूप से एवं जगत् के रूप से विवर्तित हो जाती है ॥४४॥ इस जगत्–रूप ब्रह्म में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। जल तरंग के सदृश उत्पन्न हुआ भी वास्तव में उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट हुआ भी वास्तव में वह नष्ट नहीं होता है ॥४५॥ पदार्थों के रूप से या ब्रह्मरूप से अपने स्वरूप में ब्रह्म ही स्थित है। जैसे कि अपने अवयवों में अवयवी (वृक्ष आदि), आकाश में आकाश और जल में जल स्थित रहता है ॥४६॥

चिति की वास्तविक स्थिति तो निर्विषयक ही है, यह कहते हैं।

एक निमेष के अर्धभाग से एक देश से देशान्तर की स्थिति में जो मध्य में ज्ञान की स्थिति है, उस स्वभाव की ही आप उपासना कीजिए ॥४७॥ हे श्रीरामजी, शास्त्रज्ञ विद्वान् संवित् का एकरूप तो संक्षुब्ध यानी अज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध विवर्तवाला है, यह कहते हैं और दूसरा अक्षुब्ध यानी विवर्तरहित कूटस्थ पूर्णानन्दैकरस है, यों कहते हैं। इन दोनों रूपों में आप अपना कल्याण जिससे चाहते हों, उसमें एकनिष्ठ हो जाइये। बिना परीक्षा किये किसी का ग्रहण कर अविवेकी मत बन जाइए ॥४८॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

प्रपंचसहित तथा प्रपंचरहित ब्रह्मतत्त्व की अखण्ड एक दृष्टि के लिए सत्य और असत्य दोनों तरह के भासमान ब्रह्म के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन।

विरोधाभासोक्तियों से संक्षुब्ध और अक्षुब्ध दो रूपों से युक्त ब्रह्म का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पूर्वोक्त उपाय से परिचित अक्षुब्धरूप का उसमें

अपनी दृढ़ स्थिति बनाने के लिए पहले स्मरण कराते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, क्षणभर में ही क्रमशः एक देश से दूसरे अत्यन्त दूर देशतक प्राप्त संवित् का (ज्ञान का) दोनों देशों के बीच में जो निर्मल निर्विषयकरूप है वही परब्रह्म परमात्मा का वह सर्वोत्कृष्ट अक्षुब्धरूप है ॥१॥ हे श्रीरामजी, निरामय होने के लिए यानी निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए चलते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, जागते तथा हँसते हुए आप इसी निर्विषय नित्य चिद्रूप में अवश्य तन्मय हो जाइये ॥२॥ जीवन्मुक्तों की स्थिति तथा अपने कुल के आचार के अनुसार सब व्यवहार करते हुए उसी निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छादि से शून्य चितिस्वरूप से सुमेरु पर्वत के समान, कदापि चलायमान न होना ही अर्थात् उसमें दृढ़ स्थित रहना ही विद्या है ॥३॥

आगे कही जानेवाली बातों में उपयोगी होने के कारण उस विद्या के विरुद्ध अविद्या का निरूपण करते हैं।

हे श्रीरामजी, अविद्या का एकमात्र यही स्वरूप है कि प्रमाणों द्वारा भलीभाँति विचारपूर्वक देखने से वह कहीं उपलब्ध न हो और विचारपूर्वक देखने से यदि उपलब्ध हो, तो फिर वह परा विद्या ही है ॥४॥ अविद्या के न रहने से चिति और चेत्य (विषय) के भेद का संभव कहाँ ? और भेद न रहने से वह चिति अपने भीतर किस को कैसे प्रकाशित करे ? इसलिए विचारकर देखने से यही प्रतीत होता है कि शान्त, विषयशून्य चिन्मात्रस्थिति ही बलात् उदित है ॥५॥

विद्या और अविद्या दोनों से मिले-जुले रहने के कारण मध्य की भूमिका में आरूढ विवेकी पुरुष की दृष्टि से नियत एक रूपवाला होते हुए भी वह ब्रह्म अनियत-विरुद्ध नाना स्वभाव से युक्त-सा स्थित रहता है, इस तरह के अनेक विरोधाभासों तथा प्रमाण, युक्ति और अनुभव आदि से सर्ग समाप्ति पर्यन्त उसका विस्तृत वर्णन करते हैं।

ब्रह्म और जगत् परमार्थतः एक ही है, परन्तु अज्ञान के कारण अनेक-सा यानी विरुद्ध रूप से स्थित भासता है एवं सर्वत्रव्याप्त, परिपूर्ण और शुद्ध होने पर भी ब्रह्म अपूर्ण और अशुद्ध-सा अज्ञान के कारण ही भासता है ॥६॥ अशून्य होने पर भी प्रलय में शून्य के समान तथा शून्य होने पर भी सृष्टि-काल में अशून्य के समान वह स्पष्ट भासता है। देश और काल से अपरिच्छिन्न होने पर भी वह परिच्छिन्न के सदृश तथा अविस्फारित (विशाल देश, काल आदि से शून्य) होने पर भी वह विस्फारित (विशाल देशकालादि) के समान सद्रूप स्थित है ॥७॥ विकारशून्य होने पर भी वह विकारी के समान, शान्त और समरूप होने पर भी वह अज्ञान के कारण अशान्त तथा असम के समान सा, सत् होने पर भी वह चक्षु आदि से देखने के अयोग्य होने के कारण असत् के सदृश एवं तद्रूप होने पर भी वही ब्रह्म अतद्-रूप-सा उदित जान पड़ता है ॥८॥ विभागशून्य होने पर भी वह भागसहित के तुल्य, जाड्यरूपता को न प्राप्त होने पर भी वह जड़ के समान, विषयों से शून्य होने

पर भी वह विषयभाव को प्राप्त हुए के समान, अंशशून्य होने पर भी वह अंशयुक्त के समान सुशोभित दीखता है ॥९॥ अहंकाररहित होने पर भी अहंकारसहित के समान, अविनाशी होने पर भी नाशवान् के सदृश, कलंकशून्य होने पर भी कलंकयुक्त के समान, विषयरहित होने पर भी विषयसहित के तुल्य वह ब्रह्म भासता है ॥१०॥ स्वप्रकाश होने पर भी सघन अन्धकारयुक्त के समान, पुरातन होने पर भी नवीन के समान, परमाणु से भी सूक्ष्म तथा अनेक जगत् को अपने उदर के भीतर धारण किये हुए वह ब्रह्म स्थित है ॥११॥ सर्वात्मक होने पर भी जिसने यज्ञ, दान, तप, चित्तशुद्धि, वैराग्य, श्रवण, मनन आदि महान् कष्टस्वरूप अपने पुरुष प्रयत्न से सम्पूर्ण दृश्यसमूह का त्याग कर दिया है तथा सांसारिक प्रपंचजाल से शून्य होने पर भी जो सांसारिक प्रपंचजाल से बँधे हुए के समान है एवं अनेक तरह से स्थित होने पर भी जो द्वितीय परिशेषशून्य है ॥१२॥ मायारहित होने पर भी जो मायारूपी किरणसमूह का निर्मल सूर्य है । जलों के स्वामी सागर की नाईं वेदनमात्रस्वरूप होने पर भी जो सम्पूर्ण वेदनों का मानों स्वामी है सर्वज्ञ है । हे श्रीरामजी, उसी को आप ब्रह्म जानिये ॥१३॥ ब्रह्माण्डात्मना जगद्रूप रत्नों का महाकोश अर्थात् अत्यन्त वजनदार होने पर भी विवेक की तराजू पर तौलने से रुई से भी अत्यन्त लघु (हलका) तथा मायारूपी किरणजाल का चन्द्रमा होने पर भी वह ब्रह्म ईक्षणगोचर (दृष्टिका विषय) नहीं है ॥१४॥ काल और देश से अनन्त तथा अपार होने पर भी कहीं एक नियत स्थानपर स्थित न रहनेवाला एवं शून्यस्थान में भी वनविन्यास तथा पर्वत आदि की रचना में तत्पर वह ब्रह्म है ॥१५॥ अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में वह अत्यन्त सूक्ष्म है, स्थूल पदाथों में वह सबसे अत्यन्तस्थूल है, वजनदार पदार्थों में वह सबसे बढ़कर वजनदार है तथा श्रेष्ठ जितने पदार्थ हैं उन सबमें भी वह सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है ॥१६॥ कर्ता, कर्म और करण से रहित, कारणशून्य, कारक तथा अन्तःशून्य होने के कारण ही यह ब्रह्म चिरकाल से कर्ता आदि से परिपूर्ण स्थित है ॥१७॥ जगद्रूपी रत्नों की पिटारी होने पर भी नित्य जंगल के समान शून्य तथा अनन्त पर्वतों के तुल्य कठिन होने पर भी आकाश के लेश से भी बढ़कर कोमल वह ब्रह्म स्थित है ॥१८॥ प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक कालस्वरूप होने पर भी प्रायः सबसे रहित, पुराण होने पर भी कोमल और नूतन, स्वयंप्रकाशस्वरूप होने पर भी अन्धकार के सदृश तथा जगत् का तिरोभाव करनेवाला होने के कारण अन्धकारस्वरूप होने पर भी स्वयंप्रकाश सर्वत्र व्याप्त वह ब्रह्म स्थित है ॥१९॥ प्रत्यक्ष होने पर भी वह इन आँखों से दुर्लक्ष्य तथा परोक्ष होने पर भी वह साक्षीरूप से सामने स्थित है । चिद्रूप भी जड़ यानी जगद्–रूप से विवर्तित तथा जड़ जगत् आदि के रूप से भासित हो रहा भी वह ब्रह्म वस्तुतः शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप ही स्थित है ॥२०॥ अनहंभाव (युष्मदर्थ का विषय) होने पर भी अहंभावरूप तथा अहंभावरूप से भासित होने पर भी वह अनहंभावरूप एवं इदमर्थ का विषय अन्यरूप होने पर भी वह आत्मरूप ही है तथा अहंरूप (आत्मरूप) होने पर भी वह ब्रह्म अन्य के समान स्थित है ॥२१॥ इस परिपूर्ण चिद्–रूप सागर के

भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरंगें द्रवतारूप स्वभाव से स्फुरित हो रही-सी अवस्थित हैं ॥२२॥ जैसे तुषार अपने अंग में शुक्लता धारण करता है, वैसे ही यह चेतन स्थावर-जंगमात्मक सारी सृष्टि को अपने भीतर धारण करता है। जैसे तुषार से शुक्लता सुशोभित होती है, वैसे ही इस चेतन से ही यह सारी सृष्टि शोभित हो रही है ॥२३॥ देश-कालादि के अवयवों से रहित भी यह चिद्रूप देव-रात-दिन असद्रूप जगत् का ऐसे विस्तार करता-रहता है, जैसे कि जल तरंगों का ॥२४॥ इस विस्तृत आकाशरूपी जंगल में प्रसार को प्राप्त हो रहे पंचभूतरूप पत्तों के सहित ये जगद्रूपी पुरानी मंजरियाँ विकसित हो रही हैं ॥२५॥ अत्यन्त निर्मल आकारवाला चिद्रूप यह परमात्मा स्वयं अपना प्रतिबिम्ब (वर्णित जीवजगत् स्वरूप दूसरा आकार) देखने की इच्छा से दर्पणरूपता को प्राप्त हो गया है ॥२६॥ अपरिच्छिन्न ब्रह्मसंवित् में आकाशरूपी गूलर के वृक्ष के फल के सदृश इस ब्रह्माण्ड के अपनी इच्छा से कल्पित तीनों लोक के अवयव में देदीप्यमान सूर्य-चन्द्र आदि अपने से उदित हो रहे चक्षु आदि इन्द्रिय तथा किरणजाल को जीवभूत आत्मा के रूपादिदर्शन में उपकरण बनकर चमत्कृत करते हैं ॥२७॥ वह परमात्मा ही भीतर स्थित वासनामय प्रपंच से बाहर स्थित जगत्स्वरूप से, जाग्रत्-स्वप्न में नानारूप से और सुषुप्ति में एकरूप से भाव और अभाव की यानी आविर्भाव और तिरोभाव की भावना करके स्वयं अपनी आत्मा में ही बाहर और भीतर भासता है, इससे भिन्न अणुमात्र भी दूसरा कुछ नहीं भासता ॥२८॥

अब इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

इस चितिरूप आत्मा में इस चिति की ही इच्छा से चितिरूप पदार्थों की शोभा अपने ही लिए ऐसे चमत्कार कर रही है, जैसे जीभ अपने मुखरूप कोटर में ॥२९॥ इस चितिरूपी जल का जो द्रवत्व है वही यह जगत् है, जिस जगत् के संवित् से ही स्वादपूर्वक उपलब्ध हो रहे रूप, रस आदि एक अंग हैं तथा भुवनरूप आवर्त की जिसमें अनेक वृत्तियाँ हैं ॥३०॥ सूर्य, चन्द्र, अग्निकण आदि सभी प्रकाशों की रूपादि पदार्थशोभा इसी चितिरूपी सूर्य में सुषुप्ति और प्रलय में शान्त हो जाती है तथा जाग्रत् और स्वप्न में, सूर्य आदि के तेज से अपने प्रभामण्डल की नाईं, इसीसे उदित होती है ॥३१॥ तुषार में शुक्लता की नाईं यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् है। अतः इसी चितिरूपी ब्रह्म से ये समस्त पदार्थों की शोभाएँ, चन्द्रमा से किरणों की नाईं, प्रवृत्त होती है - विस्तार को प्राप्त होती हैं ॥३२॥ इसी निरवयव चितिरूप रंग से चित्रित यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप चित्र स्थित है। इसलिए हे श्रीरामजी, इस जगत् को आप जन्मादि भावविकारों तथा स्वगत विचित्रताओं से शून्य एवं शान्त चिन्मय ही जानिये ॥३३॥

इसी चितिरूप जंगलीवृक्ष से आकाशरूप आँगन में उत्पन्न लता अनेक जगज्जालरूपी गुच्छों से सुशोभित ये सब दृश्यप्रपंचरूपी शाखाएँ प्रसृत हो रही हैं ॥३४॥ इसी चितिरूपी अचल पर्वत के ऊपर वृद्धि तथा ह्रास से युक्त एवं नाना प्रकार के भिन्नतारूपी अनन्त फूलों से सुशोभित

दृश्यरूपी नदी बह रही है। हे श्रीरामजी, आप इसमें तनिक भी सन्देह न कीजिये ॥३५॥ इसी चिदाकाशरूपी रंगभूमि में भुवन की रचनारूप अभिनय के भ्रमों से युक्त निरन्तर कार्यारम्भ कर रही नियतिरूपी नर्तकी कल्पभेदरूप वासनाओं तथा नित्य महोत्सव के दिनों से नृत्य कर रही है ॥३६॥ जिसके नेत्रों के उन्मेष और निमेष में अनेक ब्रह्माण्डों के महाप्रलय और अवान्तर प्रलय हुआ करते हैं ऐसे कालरूपी अपने बालक को ब्रह्मरूपी रंगभूमि के मायामण्डप के भीतर यही नियतिरूपी नर्तकी बार–बार उपसंहार तथा पुनः–पुनः उत्पन्न कर नाच रही है ॥३७॥ उत्पन्न हो रहे अनेक ब्रह्माण्डों के रहते हुए भी यह चिद्–रूपी परमात्मा इच्छादि विकारों से शून्य शान्त ही ऐसे स्थित रहता है, जैसे सैकड़ों प्रतिबिम्बों के उदित होते हुए भी दर्पण ॥३८॥ जैसे भौतिक सृष्टियों के कारण पंचभूत हैं, वैसे ही स्वयं कारणशून्य यह चिद्–रूप परमात्मा भूत,भविष्य एवं वर्तमान सृष्टियों का कारण है ॥३९॥ इस परब्रह्म परमात्मा का उन्मेष ही जगत् का सौन्दर्य है तथा निमेष ही प्रलय का आगम है। हे श्रीरामजी, सच पूछिये तो, जिसके उन्मेष और निमेष वस्तुतः एक–से हैं वह परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है ॥४०॥ परिणामतः महान होते हुए भी जो काल, देश और वैभव आदि से भी महान् हैं उन अनेक महामहाब्रह्माण्डों के तथा उनके भीतर अनेक तरह के पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय एवं उनके भीतर प्राणियों के जन्म बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जाग्रतादि दशाएँ तथा उत्कर्ष और अपकर्ष की दशाएँ–ये सबके सब इस चिदाकाश में उदित होते–रहते हैं। वे सभी अपरिच्छिन्नस्वरूप इस चिदाकाश के ही रूप हैं, जैसे कि वायु के सभी स्पन्दन वायुरूप ही है, वायु से भिन्न किसी दूसरी वस्तु के स्वरूप नहीं हैं। हे श्रीरामजी, ऐसे समझकर आप शान्त स्थित रहिये ॥४१॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

इच्छारहित तुच्छ पुरुष का भोग बन्धन के लिए नहीं होता,
एकमात्र इच्छा ही बन्धन है तथा इसका त्याग मुक्ति है, इन सबका वर्णन।

इस संसार में जितने पदार्थ हैं वे सभी एक दूसरे से विरुद्ध और अनेक रूपवाले हैं, परन्तु अविरुद्ध और एकरूप से भासित होते हैं। इनमें इनका प्रथम रूप तो राग–द्वेष आदि के उदय से दुःख का हेतु होने के कारण अनर्थरूप है। परन्तु द्वितीय रूप राग–द्वेष आदि के उपशम द्वारा मोक्ष में अत्यंत उपयोगी है, यह दिखलाते हैं।

सांसारिक जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब, जल में आवर्त की नाईं, भिन्न–भिन्न स्वरूप के होकर पहले चमत्कार पैदा करते हैं यानी इच्छाओं के उत्पादन द्वारा चित्त को भ्रम में डाल देते है। उसके बाद वे राग–द्वेष आदि की उत्पत्ति होने से नरक आदि के रूप में पर्यवसित हो जाते हैं। जैसे

सभी तरंग एकमात्र जलस्वरूप हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः एक स्वभाव के हैं और एकरूप के होते हुए ये न तो किसी तरह का भ्रम पैदा करते हैं और न किसी तरह का अनर्थ ही पैदा करते हैं ॥१॥

उसका वह अविरुद्ध रूप क्या है, जिस रूप से वे एक स्वभाव के होते हैं, यह दिखलाते हैं।

इस सम्पूर्ण विश्व की सत्तामात्ररूप परमाकाशता ही उनका रूप है। और वह सम्पूर्ण विषयरूप ज्ञेय पदार्थों से निचोड़कर जो सन्मात्र ज्ञेय वस्तु रहती है उसी रूप की है। यही कारण है कि वह परम समाधिरूपी उपशम से ही लक्षित होती है ॥२॥

प्रसिद्ध आकाश में बालबुद्धिवेद्य यक्ष, पिशाच आदि का भीषणरूप तथा बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि से वेद्य शुद्ध रूप दृष्टान्तरूप से प्रसिद्ध ही है यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, बालक के चिंतन से कल्पित यक्ष, पिशाच आदि का रूप जैसे सामने आकाश में प्रौढ़ विद्वान् की दृष्टि में कुछ भी नहीं है वैसे ही मुझ विद्वान् की दृष्टि में तत्त्वतः यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है। परन्तु यही संसार अज्ञानियों की दृष्टि में सत्य प्रतीत होता है ॥३॥ पत्थर में खुदी गई चित्रगत सेना की नाईं यह सारा विश्व बाह्य आन्तर विषय से रहित है। अतः विद्वानों की दृष्टि से यहाँ विश्वता कैसी ? परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि से तो यहाँ रूपालोक, मनन आदि सब कुछ भासते ही हैं ॥४॥

रूपालोक और मनन आदि का यानी बाह्य और आभ्यन्तर सबका तत्त्वतः विचार करने पर जब चिन्मात्र से अतिरिक्त रूप ही दुर्लभ है तब इनसे विश्वता की सिद्धि तो बहुत दूर ही है, यह कहते हैं।

विचार कर देखने से रूपालोक और मनस्कार अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थों का सार चिन्मात्र ही है। क्योंकि चिन्मात्र से अतिरिक्त, द्वितीय आकाश की नाईं, वह उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यहाँ विश्वता (संसारता) ही कहाँ ? ॥५॥ इसलिए ज्ञाता पुरुष का जगत् को जगद्रूप से जानना ही जगत् की भ्रान्ति है तथा जगत् को जगद्रूप से न जानना ही सारे भ्रमों की शान्ति है। अतः हे श्रीरामजी, स्मृति और विस्मृति जैसे आपके अधीन है, वैसे ही इस संसार को जानना और न जानना भी आपके अधीन है ॥६॥

यह जो ऊपर कहा गया है, इसको विशदरूप से कहते हैं।

विस्तृत आकारवाले चिदाकाश के परमाकाशरूप होने से उसके स्वभाव में किसी तरह का कोई परिवर्तन कहीं पर भी संभव नहीं है। इसमें कारण यह है कि चिति कदापि जड़ नहीं हो सकती और न आकाश ही मूर्तिमान् हो सकता है ॥७॥

चूँकि यह जगत् ब्रह्मसाक्षात्कार से बाध्य है, इसलिए भी यह ब्रह्म का विकार नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

चिन्मय इस विश्व की स्वभावविकारिता कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो विकारिता विचारदृष्टि से

देखने पर भी दिखाई नहीं पड़ती, वह इसकी क्या हो सकती है ? ॥८॥

जिस न्याय से अभिमन्तव्य के विकार का निरास किया गया है, उसी न्याय से अभिमन्ता के विकार का भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं।

जो कुछ 'तुम, मैं' इत्यादिरूप यह संसार दिखाई दे रहा है, वह सब सद्रूप चिदाकाश ही है। इस चिदात्मा में अहंकार आदि विकार और बाध कुछ भी नहीं है, इसलिए चिति से व्यतिरिक्त कोई पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता ॥९॥ त्वत्ता और अहन्तादि सब विभ्रम शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मरूप ही हैं अतः आकाश में उत्पन्न जंगल की तरह उन्हें मैं कुछ भी नहीं देखता ॥१०॥ हे श्रीरामजी, इस तरह जो मेरा उपदेश वचन है उसे भी आप संविदाकाशरूप शून्य ही समझिये, क्योंकि यह मेरा वचन आपकी संविदाकाशरूप आत्मा में ही स्वयं स्थित रहता है, जड़स्वरूप में नहीं ॥११॥ इस तरह प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता–इन तीनों के चिन्मात्ररूप सिद्ध होने पर, चित्र, में स्थित पुरुष के तथा पाषाण के भीतर खुदे गये पुरुष के आसन की तरह, इच्छा और विषय आदि के अभाव से इच्छा के उदय के बिना जो अवस्थान है उसी को ब्रह्मरूप परमपद कहते हैं ॥१२॥

इच्छा के अभाव में भी जीवन के हेतुभूत व्यवहार की सिद्धि बतलाते हैं।

वही विश्रान्तचित्त जीवन्मुक्त मुनि है, जिसकी चेष्टा प्रारब्ध प्राप्त कर्मों में इच्छाशून्य तथा बिना व्याकुलता के, कठपुतली के समान होती रहती है ॥१३॥

इस तरह के व्यवहार से जीवन–धारण कर रहे ज्ञानी पुरुष को जगत् की प्रतीति कैसे होती है, यह कहते हैं।

जीवन्मुक्त ज्ञानी को बाहर और भीतर से शून्य, रसहीन, वासनारहित; बाँस की नली के सदृश, इस जगत् का जीवन भासता है ॥१४॥ जिसे यह दृश्यप्रपंच नहीं रुचता और चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अपने हृदय के भीतर रुचता है वह बाह्य और आभ्यन्तर से शान्तमुनि संसार सागर से मानों पार हो गया ॥१५॥ प्रस्तुत प्रारब्धशेषक्षय के अनुपयोगी शब्दों के उच्चारण से रहित, व्यवहारों में तथा उन व्यवहारों के अंगभूत देहादि में अहन्ता, ममता के सम्बन्ध से रहित, माधुर्यरस से परिपूर्ण, बाँसुरी की ध्वनि के समान, वासनात्यागपूर्वक आप लोग वाणी से शब्दों का उच्चारण करते रहें ॥१६॥ नट, भट, वेश्या आदिकों के निवासगृह के समान इच्छारहित, मन के उदय से शून्य, वासनारहित तथा अक्षुब्ध हो आप लोग प्रारब्धप्राप्त स्रक्, चन्दन, वनिता आदि स्पर्शनीय विषयों का स्पर्श करते चलें ॥१७॥ इच्छा, भय और एषणाओं से शून्य तथा राग और अभिलाषाओं से रहित हो आप लोग दर्वी (कलछी) के तुल्य अनेक तरह के प्रारब्ध प्राप्त रसों का आस्वाद लेते रहे ॥१८॥ पुनः हे श्रोताओं, आप लोग इच्छारहित, वासनाओं से शून्य तथा अभिमान से रहित हो, वासनाशून्य चित्रगत नेत्र के सदृश, प्राप्त रूपसमूहों का अवलोकन करते रहें ॥१९॥ इच्छा और वासनाओं से रहित होकर घ्राणेन्द्रिय के नजदीक ले जाकर गन्धप्रचुर पुष्पों को, वनवायु के

सदृश, त्याग के लिए सूँघते रहें ॥२०॥ इस रीति से न कहे गये भी कर्मेन्द्रियों से प्राप्त विषयों में पहले की नाईं निःसाररूप से मन को बोधित करके भोगरूपी रोगों की यदि चिकित्सा न की गई, तो फिर दुःख-निवृत्ति की कथा ही क्या है ? बल्कि अनर्थ परम्परा की उत्पत्ति होती ही रहेगी ॥२१॥ जो मनुष्य भोगरूपी विष का आस्वाद लेते हुए प्रसन्नता को प्रतिदिन प्राप्त होता है वह प्रज्वलित हो रही अग्नि में अपनी मूर्तिरूपी तृणपुंज को निरन्तर फेंकता रहता है ॥२२॥

अतः भोगेच्छा का त्याग ही मन की शान्ति में मुख्य हेतु है, यह कहते हैं।

भोगों की इच्छा के त्याग को ही आगमालंकारों ने (वेदान्तवेत्ताओं ने) समाधि कही है। इच्छा के त्याग से जैसा मन शान्त होता है वैसा सैकड़ों उपदेशों से भी शान्त नहीं होता ॥२३॥ इच्छा के उदय से जैसा दुःख होता है वैसा दुःख नरक में भी प्राणी को नहीं होता और इच्छा की शान्ति से जैसा सुख मिलता है वैसा ब्रह्मलोक में भी अनुभूत नहीं होता। (📖) ॥२४॥ इच्छामात्र को दुःखदायक चित्त कहते हैं और इच्छा की शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। एकमात्र इसी में सकल शास्त्र, तप, नियम और यम पर्यवसित हैं ॥२५॥ जितनी-जितनी और जैसे-जैसे जन्तु को इच्छा उदित होती है, उतनी ही उतनी दुःखों की बीजमुष्टि बढ़ती जाती है ॥२६॥ जैसे-जैसे विवेकज्ञान द्वारा जन्तु की इच्छा सूक्ष्म होती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखों की चिन्तारूप विषूचिका (हैजा) भी शान्त होती जाती है ॥२७॥ और जैसे-जैसे मनुष्य की भोगों में इच्छा रागतः सघन बनती-जाती है वैसे-वैसे दुःखों की चिन्तारूपी विषैली तरंगें बढ़ती ही जाती हैं ॥२८॥

उसकी चिकित्सा के लिए धैर्यरूपी पुरुष प्रयत्न ही एकमात्र औषध है और दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं।

यदि अपने पौरुष प्रयत्नरूपी ओषध से धैर्यपूर्वक इच्छारूपी व्याधि की चिकित्सा न की जा सकती, तो यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि व्याधि से छुटकारा पाने के लिए दूसरा कोई भी उत्तम औषध इस संसार में विद्यमान नहीं है ॥२९॥ यदि एक ही काल में सभी इच्छाओं का पूर्णरूप से त्याग न किया जा सके, तो फिर थोड़ा-थोड़ा करके उसका धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए, क्योंकि सन्मार्ग का पथिक कभी दुःख नहीं पाता ॥३०॥ जो नराधम, अपनी भोगों की इच्छा को सूक्ष्म बनाने में यत्न नहीं करता, वह प्रतिदिन मानों अपनी आत्मा को अन्धकूप में फेंकता है ॥३१॥

भोग की इच्छा का आत्यन्तिक नाश तो ज्ञान द्वारा उसके मूल का नाश होने से ही हो सकता है, यह कहते हैं।

दुःखरूपी पुष्प और फूल आदि से सुशोभित संसाररूपी लता का बीज इच्छा ही है। वह आत्मज्ञानरूपी अग्नि से भलीभाँति दग्ध हो जाने पर फिर नहीं अंकुरित होती ॥३२॥ इच्छामात्र ही

(📖) सुनिये, इस विषय में ययाति ने क्या कहा है :

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

यह संसार है और इच्छा का अवेदन असत्त्वापादन यानी अभाव ही निर्वाण है। इसलिए भोगों की इच्छा उत्पन्न न हो, इसमें आप लोग यत्न करें और दूसरे नानाविध यत्नों से क्या ? मतलब इधर–उधर भटकते–फिरना बेकार है ॥३३॥

इच्छा की शान्ति में यत्न न होने पर शास्त्रादि के उपदेश भी सब व्यर्थ ही है, यह कहते हैं।

यदि आपकी इच्छा की शान्ति नहीं हुई है, तो फिर शास्त्रों के उपदेश और गुरुओं की प्रतीक्षा निरर्थक क्यों कर रहे हैं ? इच्छा के अभावरूप चित्त को शान्त करने के उपाय का आश्रय आप लोग क्यों नहीं कर रहे हैं ? ॥३४॥ जिसको अपने विवेक से सिर्फ इच्छा का अनुसन्धान न करना दुःसाध्य हो रहा है, उसके लिए गुरुओं के उपदेश तथा शास्त्र आदि सब निरर्थक है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३५॥ जैसे व्याघ्र आदि से भरे जंगल में हरिणी की मृत्यु निश्चित है वैसे ही नानाविध दुःखों का विस्तार करनेवाली इच्छारूपी विषके विकार से युक्त इस संसार में मनुष्यों की मृत्यु बिलकुल निश्चित है ॥३६॥ यदि इच्छा से यह मनुष्य लड़कों–जैसा चंचल न बना दिया जाय, तो उसे आत्मज्ञान के लिए बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए आप लोग भलीभाँति इच्छा की उपशान्ति ही कर डालें, उसी से वह परमपद ज्ञान प्राप्त होता है ॥३७॥ इच्छा का न होना ही निर्वाण है और इच्छासहित रहना ही मनुष्य के लिए बन्धन है, इसलिए यथाशक्ति इच्छा के ऊपर आप लोग विजय प्राप्त करें। सिर्फ इतना करने में कौन–सी कठिनाई है ? ॥३८॥ जरा, मरण, जन्मादिरूप करंज और खैर की पंक्तियों का बीज इच्छा ही है। उसको अपने भीतर अभ्यस्त शमरूपी अग्नि से आप लोग जला डालें ॥३९॥ जहाँ–जहाँ इच्छा का अभाव है वहाँ–वहाँ मुक्ति है ही। जब तक विवेक वैराग्य आदि उपायों की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक अपने में जितना धैर्य और बल हो, उसके अनुसार उठी हुई इच्छा का नाश करते चलें ॥४०॥ जहाँ–जहाँ इच्छा है वहाँ–वहाँ पुण्य–पापमय दुःखों की राशि तथा निरन्तर फैल रहे करुण क्रन्दन से युक्त बन्धन के पाश हैं ही ॥४१॥ यदि साधु पुरुष का एक क्षण भी भोगों की इच्छा के अभाव के बिना बीत गया, तो चोरों से जिसका सर्वस्व अपहृत हो गया है ऐसे मनुष्य के समान, उसे चिरकालतक रोते रहना ठीक ही है ॥४२॥ जैसे–जैसे इस पुरुष, की इच्छा शान्त होती–जाती है, वैसे–वैसे मोक्ष के लिए कल्याणदायक साधन चतुष्टय उसका बढ़ता ही जाता है ॥४३॥। विवेकशून्य आत्मा की इच्छा को भलीभाँति भोगों के द्वारा जो पूरण करना है वही संसाररूपी विषैले वृक्ष को सींचना है ॥४४॥ हृदयरूपी वृक्ष से यानी आश्रयभूत लकड़ी से उत्पन्न तीक्ष्ण अग्रभागवाली इच्छारूप दुष्कृत अग्नि की शिखाएँ हृदय के अन्दर स्थित चिदाभासस्वरूप जीवरूप पशु को, उनके आश्रयभूत हृदय में किये गये पुण्य–पाप से अर्थात् उनके आश्रय में किये गये दोषअपराध से ही उत्पन्न मानों वैर के कारण, मोहरूपी धुएँ से अन्धा बनाकर तथा स्नेहपाशों से खूब बाँधकर नीचे पटक करके उसके सुख–

दु:खों के कुत्सित बीजों के पात्रभूत अण्डकोशों को चारों ओर से बैंगन की तरह खूब पकाती हैं। पकाते समय उससे छांय–छांय शब्द निकलता है ॥४५॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

भोगों की इच्छा जिससे उत्पन्न ही न हो या उत्पन्न होने पर वह केवल ब्रह्मरूप ही समझी जाय, उस ज्ञानयोग का युक्तियों से वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इच्छारूपी विष का विकार दूर करनेवाले स्पष्टरूप से पहले वर्णित हुए भी योगनामक उपाय को इच्छामूलक सम्पूर्ण अनर्थों की शान्ति के लिए आप फिर सुनिये ॥१॥ हे श्रीरामजी, यदि आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ यहाँ हो, तो आप उसकी बेरोक–टोक इच्छा कीजिये *(उसके लिए हम आपको कुछ नहीं कहते परन्तु आत्मा से भिन्न जब किसी दूसरे पदार्थ की सत्ता ही नहीं है, तो भला बतलाइये तो सही)* आप अपनी इस आत्मा से भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ? कहने का तात्पर्य यह कि जब तक आत्मतत्त्व का भलीभाँति ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक द्वितीय वस्तु में सत्यता की भ्रान्ति से इच्छा का उदय होता है, इसलिए हे श्रीरामजी आत्मज्ञानयोग ही उसकी निवृत्ति में एकमात्र उपाय है।

यह जगत् सत्य ब्रह्मरूप ही है, मिथ्या नहीं है, यदि ज्ञान से आप ऐसा मानते हों, तो भी ब्रह्म और जगत् इन दोनों में अत्यन्त अभेद होने से त्रिपुटीघटित इच्छा की कभी सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

त्रिपुटी के विभाजक उपाधियों के भेद तथा विभक्त होनेवाले अवयवों के भेद से रहित, सूक्ष्म और आकाश से भी अत्यन्त शून्यरूप जो चिति है, सत्यस्वरूप वही अहमाकार तथा जगदाकार से स्थित है। तो फिर आप उससे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ॥३॥ वह चिति आकाशरूप है। आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है। यह जगत् का आभास भी आकाशरूप ही है, तब भला इसमें इच्छा का विषय ही कौन है ?॥४॥

ज्ञान से विषयों के गृहीत न होने पर इच्छा का उदय न होने के कारण, ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध के अभाव में ग्रहण की भी सिद्धि न हो सकने से ज्ञानियों को इच्छा होती ही नहीं, यह कहते हैं।

अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध प्रशान्तचित्त हम लोगों की दृष्टि में किसी भी निमित्त या प्रमाण से विद्यमान नहीं है। इसलिए भी हे श्री रामजी, बतलाइये आप किसकी इच्छा कर रहे हैं ? जिन अज्ञानियों की दृष्टि में वह है, उन्हें भी मैं आत्मा से अलग नहीं जानता, तात्पर्य यह कि सत्त्वदृष्टि से वे भी अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं ॥५॥ यदि किसी तरह ग्राह्य–

ग्राहक सम्बन्ध को स्वनिष्ठ (आत्मनिष्ठ) भी मान लिया जाय, तो भी वह उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि असत् का लाभ कैसे हो ? आज तक किसने चन्द्रमा को काले वर्ण का देखा है ? ॥६॥ तात्त्विक आत्मा में जो अविश्रान्ति है यानी आत्मा में परायण न होना है, बस यही एकमात्र ग्राह्य–ग्राहक आदि त्रिपुटियों की सत्ता है। अशास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा से वे ग्राह्य–ग्राहक अदि सत्य होते हुए भी शास्त्रीय तत्त्वदृष्टि का उदय होने पर न जाने कहाँ चले जाते है ॥७॥ और तत्त्वज्ञान का भी यही स्वभाव है कि असत्यरूप अहन्ता आदि अपना तत्त्व जानकर उस आत्मा में ही चले जाते हैं – लीन हो जाते हैं। द्रष्टा और दृश्य का वह सम्पूर्ण नाश ही विशिष्ट निर्वाण है॥८॥

दृश्यादि और निर्वाण – इन दोनों का परस्पर असहभाव भी स्वभावतः ही है, यह कहते हैं।

निर्वाण में दृश्य आदि नहीं हैं और दृश्य आदि में निर्वाण नहीं है। छाया और धूप की नाईं इन दोनों का परस्पर अनुभव यानी सहानुभव नहीं है॥९॥

क्यों सहानुभव भी नहीं है ? इस पर कहते हैं।

यदि ये दोनों साथ होते, तो परस्पर द्वारा बाधित हो जाने से दोनों असत्य हो जाते। असत्य में निर्वृति नहीं है, क्योंकि विद्वानों को निर्वाण अजर, अमर तथा दुःखशून्य अनुभूत होता है॥१०॥

तब तो सर्वजनप्रसिद्ध दृश्यादि महाकौतुक निर्वाण में दुर्लभ ही होगा, इसका परिहार करते हुए कहते हैं।

दृश्य आदि भ्रमभूत है एवं यहाँ वह कभी सुखप्रद नहीं है। इसलिए हे श्रीरामजी, असत् और अनर्थरूप दृश्यादि की आप भावना न कीजिये, अब निर्वाण में स्थित रहिये ॥११॥ शुक्तिका में चाँदी के समान, विचारकर देखने से जो कुछ उपलब्ध नहीं होता, वह पुरुषार्थ का सम्पादक कभी नहीं है। इस तरह के दृश्य में अपह्नव से क्या हुआ ॥१२॥ दृश्य के सद्भाव में महादुःख है और असद्भाव में महान् सुख है। निदिध्यासन से मननसहित अभाव शब्दज्ञानकृत बाध दृढ़ता को प्राप्त हो जाता है ॥१३॥

अब परम कारुणिक भगवान् वसिष्ठजी दृश्य कौतुक में आसक्त अधम अधिकारियों की, जो श्रोता हैं, बलात् भर्त्सना कर उनकी दृश्यासक्ति का त्याग कराने की इच्छा से कहते हैं।

हे अधम प्राणियों, सम्पूर्ण विकारों की अनाश्रयरूप परमार्थ वस्तु के स्वप्रकाशस्वरूप होने के कारण शास्त्रों एवं आचार्यों के उपदेश से हाथ में स्थित आमलक के समान स्पष्ट स्फुरित रहते उसका अदर्शन क्यों पाते हो, दर्शन क्यों नहीं करते ? क्या अपनी आत्मा को बन्धन में डालने के लिए ही उस दृश्यसमूह को भस्मीभूत नहीं करते ? ॥१४॥ जब कार्यकारणभावादि सब ब्रह्म ही है, तभी तो देहादिपरिच्छिन्न पदार्थों के बाध से विस्तार को प्राप्त चिन्मात्रात्मक प्रत्यगात्मा में ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥१५॥ अतएव आकाशस्वरूप सर्वात्मक परिपूर्ण ब्रह्म में कार्य–कारण आदि दृश्य सत्ता को स्वीकार कर जो लोग ब्रह्मज्ञान के लिए अनेक साधन ढूँढ़ते–फिरते हैं उन तार्किक मृगों या

शिष्य मृगों से हमें कोई प्रयोजन नहीं है ॥१६॥ तथा कार्यकारण से परिपूर्ण उक्तियों में ही सर्वस्वभावस्वरूप अविद्या के सिवा और दूसरा क्या हेतु है ? जो वायु के स्पन्दन में हेतु है तथा जो हेतु जल के स्पन्दन में तथा आकाश की शून्यता में है वही हेतु, हे सौम्य, चिदात्मा के सृष्टि आदिरूप होने में है ॥१७॥

यही कारण है कि विद्वान् महानुभावों को, आगे चलकर उसका बाध हो जाने से, सृष्टि आदि के हेतु के निरूपण में निर्लज्ज बनना पड़ता है, यह कहते हैं।

जब कार्यकारण भावादिरूप सब ब्रह्म ही है, तो फिर ब्रह्म में सृष्टियों की कारणता का प्रतिपादन करना निर्लज्जता है ॥१८॥ न तो दुःख है और न सुख है, किन्तु शान्त शिवमय यह जगत् है। जब चिन्मात्रता से भिन्न कुछ है ही नहीं, तब भला इच्छा का उदय कहाँ से ? ॥१९॥ जैसे मिट्टी की देहवाली योद्धाओं की सेना में एकमात्र मिट्टी से अन्य कुछ नहीं है वैसे ही सदात्मक जगत् और अहन्तादिरूप दृश्य में सत् ब्रह्म से इतर और कुछ नहीं है ॥२०॥

यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो फिर उसकी इच्छा भी तो ब्रह्म ही ठहरी, उसकी उत्पत्ति मानने में क्षति क्या है, यों विद्वानों की दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनीश्वर, यदि बात ऐसी है, तो फिर इच्छा का उदय हो या न हो, (कोई हानि नहीं है,) क्योंकि वह भी तो ब्रह्म ही ठहरी। इसकी विधि और निषेध में कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ? (यह कहिये) ॥२१॥

'इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियताम् किं वृथा भ्रमैः' (इच्छा उत्पन्न न हो, इसी में यत्न कीजिये, व्यर्थ भ्रमों से कौन-सा मतलब है), इस पूर्वोक्त यत्न में विधि और निषेध का निवारण रहते हुए भी सचमुच तत्त्ववेत्ताओं की इच्छा का उदय होने पर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु विद्या से बाधित उस इच्छा का उदय होना ही दुर्लभ है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर संप्रबुद्ध हो जाने पर इच्छा ब्रह्मस्वरूप ही ठहरी है, ब्रह्म से अन्य नहीं। जैसा आपने समझा है, वह सब बिलकुल सत्य है, किन्तु फिर भी आप यह सुन लीजिये कि ॥२२॥ जब-जब आत्मतत्त्वज्ञान उदित होता है तब-तब सांसारिक विषयोपभोग की इच्छा शान्त हो जाती है ॥२३॥ क्योंकि यही वस्तु का स्वभाव है। सूर्य के उदित होने पर जैसे रात बिलकुल शान्त हो जाती है, उदित नहीं होती, वैसे ही ज्ञान का उदय होने पर इच्छा आदि सब शान्त हो जाते है ॥२४॥ जैसे-जैसे ज्ञान का उदय होता है, वैसे-वैसे द्वैत की शान्ति और वासना का विलय होता है, तब भला इच्छा का उदय कैसे हो ? ॥२५॥

मूल का उच्छेद होने से भी तत्त्ववेत्ताओं की इच्छा के उदय का संभव नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों में वैराग्य आ जाने से जिस पुरुष की इच्छा कहीं उदित नहीं होती,

उसकी यह सांसारिक अविद्या शान्त हो गयी और निर्मल मुक्ति उदित हो गयी ॥२६॥ उस पुरुष को न तो इन दृश्य पदार्थों में वैराग्य उत्पन्न होता है और न उसको राग ही उदित होता है। केवल स्वभाव से ही द्रष्टा और दृश्य की शोभा उसे नहीं रुचती ॥२७॥ काकतालीय योग से यानी आकस्मिक घटना से या अन्य किसी की प्रेरणा से यदि कदाचित् कुछ इच्छा करता भी है, तो फिर वह देहमात्रधारण में साधनभूत शास्त्रों से अनिषिद्ध अन्न आदि की कुछ इच्छा करता है या नहीं भी करता है ॥२८॥ ऐसी परिस्थिति में उस आत्मतत्त्वदर्शी की वह इच्छा या अनिच्छा दोनों ब्रह्मस्वरूप ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अथवा बात यह है कि उस तत्त्वज्ञानी को अभिनवभोग चमत्कार विषयक इच्छा अवश्य नहीं उदित होती या पूर्वकाल में अभ्यस्त हुए लोगों का अनुसरण करने के कारण उसकी स्थिति नियत है ॥२९॥ भद्र, यदि किसी जीव को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया, तो उसकी इच्छा तत्काल ही निवृत्त हो जाती है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के सदृश तत्त्वज्ञान और इच्छा दोनों की स्थिति एक जगह हो नहीं सकती ॥३०॥

इसीलिए रागप्राप्त विधिनिषेध शास्त्रों में वह इच्छाशून्य तत्त्वज्ञानी अधिकृत नहीं होता, यह कहते हैं।

भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष कहीं पर भी विधि–निषेध शास्त्रों का अधिकारी नहीं है, क्योंकि समस्त इच्छाओं से शून्य उस तत्त्वदर्शी को किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये कौन क्या उपदेश दे सकता है ? क्या कहीं अन्ध पुरुष देखनेवाले को 'कूप में नहीं गिरना चाहिए', ऐसा उपदेश दे सकता है ? ॥३१॥

बाह्य इच्छा की निवृत्ति और स्वात्मानन्दानुभव में तृप्ति ये दोनों आत्मज्ञान की प्राप्ति के चिह्न हैं, यह कहते हैं।

सब इच्छाओं का सर्वथा निरास होना और सब लोगों को अभयदान द्वारा प्रसन्न रखना एवं अपने आत्मानन्दानुभव में स्थित रहना तत्त्वज्ञान का चिह्न है ॥३२॥ जब सारा प्रपंच नीरस हो जाता है तब कहीं पर भी तत्त्वदर्शी स्वाद नहीं लेता, तब इच्छा भी बढ़ती नहीं और तभी उसकी मुक्ति भी रहती है ॥३३॥ तत्त्वज्ञान से एकता और अनेकता के झगड़े को छोड़कर जो पुरुष चुपचाप स्थित हो जाता है उस पुरुष के इच्छा, अनिच्छा आदि सभी भाव परब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं॥३४॥ तत्त्वज्ञान से जिसकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो गई है एवं द्वैतनाशरूप वस्तु तथा एकत्वसंख्या से रहित होकर जो पुरुष स्वच्छ, व्यग्रतारहित और शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है उस पुरुष को यहाँ न तो किसी कर्तव्य से प्रयोजन है और न अकर्तव्य से ही प्रयोजन है एवं न तो सब भूतों में किसी प्रयोजन की प्राप्ति ही है ॥३५,३६॥ न तो इच्छा से, न अनिच्छा से, न सद्वस्तु से, न असद्वस्तु से, न अपने से, न दूसरे से और न इन जीवन–मरणों से तत्त्वदर्शी को किसी भी

समय अर्थ का लाभ होता है ॥३७॥ अपना मुक्तस्वरूप जाननेवाले तत्त्वदर्शी को कभी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती । यदि उत्पन्न होती है, तो उसकी वह इच्छा अविनाशी ब्रह्मरूपिणी ही रहती है ॥३८॥ न दुःख है और न सुख ही है, किन्तु यह सारा जगत् अज, आनन्दस्वरूप, शान्त परब्रह्म ही है, इस तरह के निश्चय से जो अपने भीतर पत्थर के सदृश अटल रूप से रहता है उसी को पण्डित लोग तत्त्वज्ञ कहते हैं ॥३९॥ भद्र, पूर्ववर्णित आत्मतत्त्व का निश्चय कर दुःख को निरतिशयानन्दरूप आत्मा की भावना से, विष को अमृत की नाईं, सुखस्वरूप बना रहा धीरात्मा योगी ही प्रबुद्ध कहा जाता है ॥४०॥

तत्त्वबोध के अनुसार जो स्थिति है वही समस्त वस्तुओं की अभ्रान्त स्थिति है, ऐसी स्थिति अज्ञानियों में प्रसिद्ध नहीं हैं, यह कहते हैं ।

जब ब्रह्म में जगत् स्थित हो जाता है, तब आकाश में आकाश, शान्त में शान्त, शिव में शिव, शून्य में शून्य, और सत् में सत् स्थित हो जाता है, विपरीत रूप से कोई पदार्थ किसी में स्थित नहीं रहता ॥४१॥ उक्त रीति से जगत् नहीं है, इस भावना से जब व्यापक विषयशून्य संविद्-रूप आकाश स्थित हो जाता है, तब सबमें एकरूप से रहनेवाला सौम्य शान्त आनन्दमय आत्मा में अहन्ताभ्रम नष्ट हो जाता है ॥४२॥ भद्र, जो यह कुछ स्थावर-जंगमात्मक जगत् दिखाई दे रहा है शान्त आकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है और जो कुछ दिखाई दे रहा है वह दूसरे के मनोराज्य नगर के सदृश तुच्छ है ॥४३॥ अन्य पुरुष के मनोराज्य के कल्पित नगर में तुम्हें भीतर जाने-आने में जैसे किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती, वैसे ही इस जगद्रूप भ्रम में किसी प्रकार की रुकावट तत्त्वज्ञ को नहीं होती ॥४४॥ चूँकि समुद्र, आकाश, पृथिवी, नदी, पर्वत आदि से शून्य आत्मा में द्रष्टा का अन्तःकरण ही समुद्र आदि की शोभा के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए पूर्वोक्त बात सिद्ध है । *(इस विषय में दृष्टान्त है-मृगतृष्णा जलतरंग)* क्योंकि तृषार्त एवं श्रान्त पुरुष का नेत्ररूप करण ही जलशून्य सामने के प्रदेश में मृगतृष्णा-जलतरंगरूप में परिणत हो जाता है ॥४५॥ जो कुछ यह दिखाई दे रहा है वह स्वप्न में बने हुए नगर के सदृश एवं बालक द्वारा कल्पित उन्नत वेताल के सदृश मिथ्या ही है । ऐसी स्थिति में उसमें असत्य को छोड़कर दूसरा सत्यत्व ही क्या है ? ॥४६॥

भ्रान्तिग्रस्त पुरुष स्वयं मिथ्या है, इससे भी भ्रान्ति में मिथ्यात्व है, यह कहते हैं ।

चूँकि सत्यभूत ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' इत्यादिरूप से असत्य होकर ही भासता है, इसलिए भ्रान्तिग्रस्त पुरुष के बिना ही यह भ्रान्ति भासती है, अतः भ्रान्ति असत्य (मिथ्या) है ॥४७॥ यह जो जगत् है, वह न सत् है और न असत् तथा न तो सत्-असत् उभयरूप है, इसका तत्त्व भी किसी इन्द्रिय से निर्धारित नहीं किया जा सकता, यह अनिर्वचनीय ही है, इस रूप का होने पर भी गन्धर्वनगर आदि से क्षुब्ध आकाश के सदृश प्रतीत होता है । सारंश यह है कि यदि जगत् को अत्यन्त ही असत् मान लिया जाय, तो शून्यवादियों के मत में ही अपनी गिनती होने

लगेगी, यदि अत्यन्त सत् मान लिया जाय, तो श्रुति और तत्त्ववेत्ताओं के अनुभव के साथ विरोध होगा । यदि सत्–असत् उभयरूप मान लें, तो विरोध होने के कारण एक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं, इस सब बातों से अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत् का स्वरूप अनिर्वचनीय ही मानना होगा ॥४८॥ हे श्रीरामभद्र, यद्यपि तत्त्वबोध के बल से ही भलीभाँति शान्त हो रहे विषयों की इच्छा या अनिच्छा दोनों तत्त्वज्ञानी के लिए समान हैं यानी दोनों का फल समान है, तथापि अनिच्छा का उदय ही विक्षेपशून्य सुखाभिव्यक्ति का हेतु होने से कल्याणकारक है, यह मेरा मन्तव्य है ॥४९॥ भद्र, आकाश में आकाश की नाईं अविकृत चिदाकाश में ही 'आकाशाद् वायुः' (आकाश से वायु) इत्यादि श्रुति–दर्शित क्रम के अनुसार 'अहं जगत्' इत्याकारक चिदात्मा की कलना स्थित है, इसमें वायु में स्पन्दन की नाईं दूसरे किसी कारण की खोज नहीं करना चाहिए ॥५०॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकला कि चिति की बहिर्मुखता ही इच्छा, चित्त और संसार है तथा अन्तर्मुखता ही मुक्ति है, यह कहते हैं।

भद्र, चिति की जो बाह्यविषयों की ओर उन्मुखता है, वही चित्त है, वही संसार है और वही इच्छा है तथा बाह्य विषयों की ओर से उन्मुखता को जो हटा देना है, वही मुक्ति है, इस युक्ति को जानकर आप शान्त हो जाइए ॥५१॥

इस स्थिति में सृष्टि या प्रलय दोनों अवस्थाओं में जैसे ईश्वर को कोई हानि या लाभ नहीं होता, वैसे इच्छा या अनिच्छा दोनों अवस्थाओं में तत्त्वज्ञ को कोई हानि या लाभ नहीं होता, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, इच्छा हो या अनिच्छा हो, सृष्टि हो या प्रलय हो, इससे यहाँ किसीकी कुछ भी न क्षति है या न कुछ फल है ॥५२॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं।

इच्छा–अनिच्छा, सत्–असत्, भाव–अभाव तथा सुख–दुःख ये सब कल्पनाएँ उस तत्त्ववेत्ता के स्वरूपभूत चिदाकाश में कुछ हो ही नहीं सकती ॥५३॥ भद्र, जिस महामति को दिन–पर–दिन समस्त इच्छाओं की कमी होती जाती है, विवेक–शम से सन्तुष्ट उस महामति को ही तत्त्वज्ञलोग मोक्षभागी कहते हैं ॥५४॥ इच्छारूपी छुरी से विद्ध हुए हृदय में ऐसी वेदना उत्पन्न होती है कि जिसके लिए ये प्रसिद्ध मणि–मन्त्र आदि महौषध सब कुण्ठित हो जाते हैं ॥५५॥ ब्रह्माजी ने प्राणियों के दुःखों की चिकित्सा करने के लिए जिन औषध, मन्त्र, यन्त्र आदि कार्य–करणों का निर्माण किया है उनकी परीक्षा के लिए पहले ही मैंने विचारपूर्वक प्रयत्न किया, परन्तु उनको मैंने मिथ्याभ्रान्ति के भार से आक्रान्त पुरुष की चिकित्सा करने में समर्थ नहीं पाया ॥५६॥

यदि शंका हो कि भ्रमसिद्ध किसी उपाय से ही भ्रम की चिकित्सा करेंगे, तो इस पर कहते हैं।

यदि यह कहिये कि भ्रान्तिसिद्ध यानी हमारी भ्रान्ति से सिद्ध अवस्तुरूप किसी उपाय से अन्य भ्रान्तिसिद्ध दुःख आदि का निवारण आदि व्यवहार हम कर लेंगे, तो इस पर हमारा यही उत्तर है कि हम लोगों के मनोरथ से सिद्ध अत्यन्त विस्तृत मुख से दूसरे के स्वप्न में सिद्ध विस्तृत पर्वत क्यों नहीं निगला जाता ? ॥५७॥

भ्रान्तिसिद्ध वस्तु असल में असत् होने के कारण पारमार्थिक दुःखनिवारण में सामर्थ्य नहीं रखती, यह कहते हैं।

जिसका विचारमात्र से विनाश हो जाता है, ऐसे भ्रान्तिसिद्ध असत् पदार्थ से यदि व्यवहार मान लें, तो खरगोश के सींग से आकाश क्यों नहीं आच्छादित होता, इससे तत्त्वज्ञानाभिव्यक्त पारमार्थिक ब्रह्म ही सर्वविध भ्रमों के निवारण का उपाय है, दूसरा नहीं, यह भाव है ॥५८॥

अमूर्त मन की भ्रान्तिमात्र यह जगत् मूर्त देहादिभाव को कैसे प्राप्त हो जाता है, इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार जाड्यातिशय के कारण यानी अत्यन्त शीतलता के कारण जल पाषाणरूप (बर्फ) को प्राप्त हो जाता है वैसे ही चिदाकाश मन के कारण देहाकारहंभाव से अर्थात् देहादि में अहन्ता के अभिमान से देहाकारता को प्राप्त हो जाता है ॥५९॥ जड़ देहरूप होने पर भी वस्तुतः चितिशक्ति अक्षत ही रहती है, विनष्ट नहीं होती, यही कारण है कि चिद्रूप होने से इस असत्य ही देहिता का वह ऐसे अनुभव करती है, जैसे स्वप्न में अपनी मृत्यु का ॥६०॥

प्रातिभासिक जड़ता का अस्तित्व प्रतिभास के अधीन है, इसलिए प्रातिभासिक जड़ता अनिर्वचनीय है, यह कहते हैं।

जैसे आकाश में नीलत्व अवस्तुरूप होने से असत् है, प्रतिभास के कारण सत्य-सा भासता है, परन्तु वस्तुतः सत्य ही नहीं है वैसे ही इस परमात्मा में यह सृष्टि सत्य-सी भासती है, वस्तुतः वह न तो सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु अनिर्वचनीय है ॥६१॥

यही कारण है कि जगत् और ब्रह्मसत्ता के एकरूप होने से इन दोनों में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

जैसे आकाश और शून्यता में एवं जैसे स्पन्दन और वायु में कोई भेद नहीं है वैसे ही एकरूप ब्रह्म और सृष्टि में भी कोई भेद नहीं है ॥६२॥

स्वप्नादिक पदार्थों की नाईं प्रतिभास से अतिरिक्त प्रातिभासिक पदार्थों की उत्पत्ति आदि कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं।

इस परमात्मा में वस्तुतः जगत् आदि कुछ भी न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। किन्तु केवल निद्राग्रस्त प्राणी के स्वप्न के सदृश भासता है ॥६३॥

इसलिए इसके त्याग और ग्रहण में मनुष्य को अभिनिवेश रखना युक्त नहीं है, यह कहते हैं।

चिदाकाश में पृथिवी आदि के अविद्यमान रहते तथा सृष्टि के एकमात्र प्रतिभासस्वरूप सिद्ध होने पर मनुष्य को उसके त्याग और ग्रहण में भला कौन-सा आग्रह ?॥६४॥

देह के लिए तो पृथिवी आदि का त्याग और ग्रहण हो सकता है, परन्तु जब वे ही दोनों (पृथ्वियादि और देह) एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होने से असत् हैं, तब तो वे त्याग और ग्रहण भी असत् ही ठहरे, इस आशय से कहते हैं।

पृथिवी आदि कारण सहित यह देह भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होने से है ही नहीं, केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अपनी आत्मा में स्थित है ॥६५॥ इसी प्रकार बुद्धि आदि में अपने प्रतिभासक चैतन्यात्मा की अपेक्षा से भेद और अभेद का संभव न होने के कारण 'इससे यह किया जाता है' इस तरह के व्यवहार की असत् भी कारणता आखिर में परमार्थ वस्तु को ही प्राप्त करती है, क्योंकि एकमात्र उसीका संभव है ॥६६॥ इस चिति में कल्प, महाकल्प एवं उनमें होनेवाली सब क्रियाएँ अहेतुक तथा अक्रमिक हैं और वे ऐसे भासित होते हैं, जैसे स्वप्न में क्षणभर में ही अहेतुक तथा अक्रमिक जन्म-मरण आदि शीघ्र भासित होते हैं ॥६७॥

इसका फलितार्थ यह हुआ कि सब चिदाकाश ही है, यह कहते हैं।

चूँकि चिति को सृष्टि का संवेदन अपनी ही आत्मा में होता है और दूसरी जगह नहीं, इसलिए यह सारी पृथिवी चिदाकाशस्वरूप ही है, ये पर्वत सब चिदाकाशरूप हैं, ये अत्यन्त दृढ़ दीवारें और ये सब लोक चिदाकाशरूप ही हैं एवं स्पन्द भी चिदाकाश ही है ॥६८॥ चिदाकाशरूप दीवार में जगद्रूपी महान् चित्र चितिरूपी रंग से ही व्याप्त है। न तो यह चित्र उदय को प्राप्त होता है, न अस्त को प्राप्त होता है, न तो शान्त होता है और न मलिनता को ही प्राप्त होता है ॥६९॥ जगद्रूपी महातरंगों से युक्त द्रवशील चितिरूपी जल में कौन-सा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुआ या कौन-सा पदार्थ कब कैसे शान्त ही हुआ ?॥७०॥

तब तो जगत्-रूप से चिति के ही उदय और अस्त होते रहें, हानि क्या है, इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

जब विषयों का सर्वथा असंभव होने से जगत् ही नहीं है, तो फिर जगत् की शून्यता से शोभित, शान्त, महाचिदाकाश में जगद्रूप से चिति के उदय और अस्त ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? ॥७१॥

परन्तु यदि मायाविलास दृष्टि से देखते हैं, तो फिर सभी पदार्थों में सर्वरूपता की यथेच्छ उपपत्ति हो जाती है, यह कहते हैं।

ब्रह्मा के सृष्टिरूप में विवर्तित होने पर संवेदन के प्रयोग से यानी विचित्र वासनाओं के अनुसार उत्पन्न संकल्प से तो पर्वत भी आकाशरूप में परिणत हो सकते हैं और आकाश भी पर्वत बन सकते हैं ॥७२॥ संविद्रूप सिद्धौषधचूर्ण के प्रयोग से तो योगीजन आधे निमेष में जगत् को आकाशरूप और आकाश को तीनों जगत् के रूप में कर डालते हैं ॥७३॥ जैसे इस प्रसिद्ध आकाश में असंख्य

सिद्ध संकल्पों से कल्पित नगर परस्पर असंलग्न एवं अन्तर्हित हैं, वैसे ही चिदाकाश में (ब्रह्म में) हजारों वे सृष्टियाँ हैं ॥७४॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे महासमुद्र में अनेक आवर्त परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं, वास्तव में वे जल से अतिरिक्त नहीं हैं, वैसे ही महाचिति में असंख्य बड़ी-बड़ी सृष्टियाँ यानी ब्रह्माण्ड परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं। पर वास्तव में वे उससे अलग नहीं हैं ॥७५,७६॥ परस्पर छिपे हुए सिद्धों के भिन्न-भिन्न लोकों के अवलोकन के लिए इच्छा से प्रबुद्ध योगी की पहले अपनी उपाधि का मूल चेतन में प्रविलापनकर फिर दूसरे के चित्त में प्रवेश कर उसके लोक में जो अनुप्रवेशरूप प्राप्ति है, वही एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि के अवलोकन के लिए भी है, यह विद्वान् लोग (卐) बतलाते हैं ॥७७॥

इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों एवं उनके भोग्य सृष्टियों की विवर्तरूप स्थिति शाश्वत ब्रह्म में ही है, यह कहते हैं।

अविनाशी परम शिव में ये सभी भूत स्थित हैं। उसी में ये सारी सृष्टियाँ बेरोक-टोक ऐसे स्थित हैं, जैसे आकाश में शून्यता के उल्लास ॥७८॥ परमार्थ चिदाकाश के अपने आमोदरूप स्वाभाविक ये सृष्टि के विभ्रम हैं। ये स्फटिकमणि के भीतर दिखाई दे रही रेखाओं की नाईं न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं ॥७९॥ पुष्पों की गन्ध और सिद्धों की भूमि जैसे परस्पर मिली हुई रहने पर भी मिली हुई नहीं रहती, वैसे ही चिदाकाशरूप ये सृष्टियाँ भी हैं ॥८०॥

यही कारण है कि स्थूल संकल्प और मोहवाले पामरजनों की दृष्टि से इस प्रपंच की स्थूल अनुभव के समान स्थिति है तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम संकल्प एवं मोहवाले योगियों की दृष्टि से सूक्ष्मादिभाव से इस प्रपंच की स्थिति है। ऐसी स्थिति में सबको अनुभव एक-सा न होने के कारण अपने-अपने अनुभव के अनुसार सबकी उक्तियाँ सत्य ही हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रपंच की स्थिति संकल्पाकाशरूप होने से जिसका जैसा अनुभव है वैसी ही है। इसलिए सूक्ष्म संकल्प एवं मोहवाले योगियों की मननपूर्वक जगत् के विषय में जो कुछ उक्तियाँ हैं, वे बिलकुल सत्य हैं ॥८१॥

अतएव भिन्न-भिन्न वादियों की जो नाना प्रकार की कल्पनाएँ हैं वे भी तत्-तत् वासनाओं से परिपूर्ण संकल्पों के अनुसार ही सत्य हैं। सबके संकल्पों के अनुसार या परमार्थरूप से वे सत्य नहीं हैं, यह भिन्न-भिन्न वादियों को सम्बोधित कर कहते हैं।

न तो विज्ञानवादी बौद्धों की आन्तर विज्ञानमात्र परमार्थवादिता (✍) सत्य है और न वैशेषिक

(卐) इस तरह का वर्णन लीलोपाख्यान में हो चुका है।

(✍) विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त है कि एकमात्र आन्तर विज्ञान ही परमार्थ वस्तु है और कुछ नहीं।

की बाह्यअनर्थवादिता (♤) ही सत्य है, किन्तु आप लोगों के संकल्प के अनुसार ये सभी ज्ञान फलीभूत होते हैं ॥८२॥

तब इनमें कौन–सा पक्ष प्रामाणिक है, उसको बतलाते हैं ।

वस्तुतः चिति में जो चित्त्व है यानी त्रिपुटी प्रकाशन की (🕮) शक्ति है, वही भीतर भावित होने पर 'जगत् रूप से भासती है । इसलिए चिति और जगत् में भेद ऐसे उपपन्न नहीं होता, जैसे जल और द्रवत्व में ॥८३॥

कहे हुए का अनुवाद कर प्रकृत में उसकी योजना करते हुए उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वाधारकाल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चौदह भुवन, उन भुवनों के अन्तर्गत अहम् तथा त्वम् आदि भोक्ता, भोक्ताओं के भोगों के उपकरणभूत इन्द्रियसमूह, शब्द, स्पर्श आदि भोग्य विषय और उनमें विचित्र भोग यह सब कुछ ईश्वरात्मक यानी मायिक सर्वज्ञता, सर्वशक्ति आदि से सम्पन्न और परमार्थतः शान्त, एक, अज, अविनाशी चिदाकाशरूप ही है । ऐसा निश्चय होने पर राग आदि किसी का भी सम्भव नहीं है ॥८४॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

चित् और चेत्य (विषय) दोनों के सम्बन्धभ्रम के निरास द्वारा उत्तम युक्तियों से चेतन ही जगत् है यह वर्णन ।

चेत्यरूप समस्त जगत् चेतनस्वरूप ही है, इस विषय का उपपादन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अपने में मिथ्या ज्ञान से यानी अब्रह्मरूपता के भ्रम से विक्षिप्त हुई चिति जगत् को उस प्रकार देखती है, जिस प्रकार मायादर्शन हेतु अंजन से युक्त आँख आकाश में पर्वतरूपता को और पर्वत के शिखर, वन, हाथी आदि को देखती है ॥१॥

भ्रान्ति से कल्पा गया यह संसार चित्रसृष्टि के सदृश केवल मन की कल्पना से ही क्षुब्ध–सा भासता है, वस्तुतः नहीं, यह कहते हैं ।

श्रीरामजी, ब्रह्मसृष्टि और चित्तसृष्टि दोनों समान ही मानी जाती हैं, क्योंकि दोनों सृष्टियाँ असल में परमार्थ ब्रह्म से न भिन्न हैं और न उनमें किसी तरह का क्षोभ ही है ॥२॥

वैसा भले ही हो, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं ।

जैसे दीवार में रहनेवाला चित्र वास्तव में दीवार से अलग नहीं है, परन्तु भ्रान्तपुरुषों के अनुभव से अलग–सा भासता है, वैसे ही ज्ञान में कल्पा गया संसार वास्तव में ज्ञानरूप होने

(♤) वैशेषिकों का मत है कि दुःख के हेतुभूत द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात बाह्य ही सत्य हैं ।
(🕮) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के प्रकाशन की ।

के कारण ज्ञान से अलग नहीं है, किन्तु भ्रान्त पुरुषों के अनुभवरूप से अलग-सा भासता है। जब यही असली स्थिति है, तब बाह्यअर्थरूपता को भी, ज्ञान की सत्यता के कारण, ज्ञानरूप से सत्यरूप ही मानना चाहिए, यह आप जानिये ॥३॥ ऐसी स्थिति में हम लोगों के मत से बाह्य अर्थवाद और विज्ञानवाद में कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों की उक्तरीति से एकता ही है। किसी भी समय चेतन से भिन्न असत् बाह्य प्रपंच की सत्ता हो ही नहीं सकती, यह अकाट्य सिद्धान्त है ॥४॥

जब सम्पूर्ण प्रपंच चिदेकरस है, चिति निरन्तर ही अक्षुब्ध है और समस्त विशेषणों से निर्मुक्त है, तब क्षुब्ध हुए आकाश आदि पंचभूतों की भी शान्ति अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इससे अन्त में पूर्णब्रह्मरूपता ही बच गई, यह कहते हैं।

क्षोभशून्य तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी से शून्य एवं पूर्णशान्ति से विराजमान, बड़े-बड़े आरम्भों से युक्त, वास्तव में शून्यरूप ब्रह्मसत्ता ही चारों ओर विस्तृत है ॥५॥

यों समस्त क्रियाकारक फलरूप ब्रह्मीभूत जगत् को ही प्रणाम करते हैं।

यह सब कुछ ब्रह्म के लिए ही है, उसीसे सब कुछ उत्पन्न हुआ है। वही सर्वरूप है, वही चारों ओर व्याप्त होता है, वही सबमें ओत-प्रोत है, नित्य भी वही है, ऐसे सर्वात्मक ब्रह्म को नमस्कार है ॥६॥

व्यवहारकाल में भी चिति के साथ ऐक्यप्राप्ति के बल से ही विषयों का अस्तित्व और प्रकाशन होता है, किसी दूसरे तरीके से नहीं, यह कहते हैं।

चिन्मय होने के कारण ही घटादिरूप विषय जब प्रमातारूप चैतन्य के साथ वृत्ति द्वारा एक हो जाते हैं, तभी दृश्यरूप देहवाली उस चिति के बल से ही इन घट आदि पदार्थों का प्रकाशन होता है, अन्यथा नहीं ॥७॥ इस तरह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन-ये सभी, चिति की एकता के बल से ही जब सिद्ध होते हैं, तब ये चिन्मात्रस्वरूप ही हैं, ऐसी स्थिति में सब जगत् का स्वरूप केवल अनुभवमात्र ही परमार्थ से सिद्ध होता है, यह अर्थ निकलता है ॥८॥

द्रष्टा और दृश्य की एकता में अनुकूल तर्क बतलाते हैं।

द्रष्टा और दृश्य यदि चिदात्मक साक्षी में एकता प्राप्त नहीं करते, तो ईख खाने में प्रवृत्त पुरुष ईख देखकर और चूसकर भी पत्थर के सदृश उसके स्वाद या माधुर्य का अनुभव नहीं करता, क्योंकि जड़ तो रस का अनुभव कर नहीं सकता और न जड़ रस ही उसके प्रति प्रकाशित हो सकता है ॥९॥ जब द्रश्य और द्रष्टा को चिन्मय मानते हैं, तब अनुभव करनेवाली चिति में ही चेत्य (विषय का) अनुभव होगा। जल में गिरा हुआ जलबिन्दु जैसे जल में प्रवेशकर डूब जाता है, वैसे ही चिति में विषय प्रवेश कर डूब जाता है, इसी से 'ईख का माधुर्य चखता हूँ' इस त्रिपुटी का चेतन में प्रवेश होकर ही अनुभव होता है इस प्रकार को छोड़कर दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि

जड़ होने पर दो काठ के सदृश अनुभव नहीं होगा ॥१०॥

'दो काठ के सदृश' यह जो व्यतिरेक दृष्टान्त दिया है, उसकी समानता दार्ष्टान्तिक में बतलाते हैं ।

एक काठ दूसरे काठ को, अपना जातीय होने पर भी, चेतन की एकता न होने पर जैसे नहीं जान सकता, वैसे ही द्रष्टा भी चेतन की एकता से शून्य दृश्य को नहीं जान सकता ॥११॥

द्रष्टा और दृश्य की जड़ता मान लेने पर कोई भी दो काठ की अपेक्षा उनमें कुछ अधिकता नहीं जान सकते, यह कहते हैं ।

काठ की जैसी स्थिति अपने सामने है, वही उनका जड़ रूप है, इससे अतिरिक्त दूसरे किसी रूप को कोई नहीं जानते । अतः कथित तर्क के आधारपर समस्त दृश्य और द्रष्टा चिद्रूप से ही चिद् अभिन्न है, यह सिद्ध हो गया ॥१२॥

यों द्रष्टा और दृश्य जब चेतनरूप सिद्ध हुए, तब दृश्यात्मक जगत् में पृथिवी, वायु, जल आदि का भेद निकल गया और द्रष्टा में स्पन्दन, बुद्धि आदि का भेद निकल गया, इस स्थिति में समस्त जगत् की ब्रह्म के साथ एकता ही सिद्ध हो गई, यह कहते हैं ।

दृश्यों में जल, वायु, पृथिवी, पत्थर आदि तथा द्रष्टा में जो स्पन्दन, बुद्धि आदि एवं प्राण जीव आदि भेद हैं, वह महाचेतनरूप से है ही नहीं, क्योंकि महाचेतन में उनका तीनों काल में अस्तित्व नहीं है ॥१३॥

भावनामात्र से कल्पित होने के कारण प्राण आदि भेद मिथ्या हैं, यह कहते हैं ।

भद्र, प्राण, बुद्धि आदि जो कुछ अपना अस्तित्व रखते हैं, वह केवल भावना के बल पर ही । भावना तो एक चिति का चमत्कार है, वह इच्छा के अनुसार उदित होता है, अतः भावनामूलक प्राण आदि मिथ्या हैं ॥१४॥ जगत्–रूप से एवं सुषुप्ति–प्रलयरूप से ब्रह्मसत्ता ही स्थित है । आत्मा ही प्रसवशक्ति से आक्रान्त होकर वीर्य और वटबीजरूप में मानों बन गया है अर्थात् सभी भेद ब्रह्म के विवर्तरूप ही हैं, अतः वे मिथ्या हैं ॥१५॥

वट के बीज में प्रसवशक्ति से युक्त सूक्ष्म अविकृत ब्रह्मसत्तावालाभाग और उसमें वटादिविवर्त दिखलाते हैं ।

सबके सारभूत अत्यन्त सूक्ष्म भाग से सम्पन्न बीज में जो–जो सारभूत अति सूक्ष्म वस्तु है, वह सब परमात्मा ही है । इसी सारभूत वस्तु से शाखा आदि में तत्–तत् उत्तरोत्तर कार्य में अग्रस्थानीय बीज होता है और वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥१६॥

जो–जो जिससे सूक्ष्म होकर कारणरूप से प्रसिद्ध है, वह सब तो ब्रह्मकोटि में है और जो स्थूल होकर कार्यरूप से प्रसिद्ध है, वह मायाकोटि में है तथा मिथ्या है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं ।

ब्रह्म ही सबसे परमअणुरूप है, इसलिए जो–जो जिस–जिस अर्थ से अत्यन्त अणु है, वह सब

तत्–तत् सूक्ष्मवस्तु है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र ब्रह्मवस्तु ही स्थित है ॥१७॥

जैसे घट आदि एक–एक द्रव्य अगल–बगल से, ऊपर से नीचे से यानी सभी ओर से द्रव्य रूप ही है, उससे तनिक भी भिन्न पदार्थ नहीं है, वैसे ही सभी पदार्थ यानी जगत् जिस पुरुष के द्वारा जिस किसी रीति से परीक्षा द्वारा देखा गया वह सब सन्मात्ररूप ब्रह्मरूप ही देखा गया, दूसरे रूप का नहीं ॥१८॥

अविकारिता में दृष्टान्त कहते हैं ।

सैकड़ों सुवर्ण के रूपों में जैसे सुवर्णत्व ही रहता है, दूसरा नहीं, वैसे ही शान्त ब्रह्म के सैकड़ों जगद्भाव और जीवभावों में शान्त ब्रह्मरूपत्व ही रहता है ॥१९॥

सत् ब्रह्म का सर्गरूप विवर्तों से अलोप नहीं होता, यह बतलाते हैं।

समीपस्थ पुरुष के स्वप्न के मेघ जैसे आपके कुछ नहीं हैं यानी उनसे आपका कुछ लोप नहीं होता, वैसे ही चिदाकाशरूप मेरे सृष्टि, प्रलय आदि महाआरम्भ कुछ भी नहीं हैं, यानी आत्मा में कुछ भी उनसे नहीं होता ॥२०॥ आकाश में कल्पित मलिनता और उसी में कल्पित गन्धर्वपुत्रों की सेना जैसे आकाशरूप ही है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित यह सारा जगत् एकमात्र शान्त ब्रह्मरूप ही है ॥२१॥ जैसे जल से भूमितल में आर्द्र वट आदि का बीज महान् वट आदि के वृक्षों के रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही हृदय के भीतर संकल्परूप भ्रम ही पहले पुष्प बनकर फिर बाहर जगत्–रूप फल बनकर स्थित हो जाता है ॥२२॥

यदि परम सूक्ष्म ब्रह्म है और ब्रह्मभाव में स्थिति ही मोक्ष है, तो अणिमा आदि सिद्धियों के सदृश ही मोक्ष हुआ, इस शंका पर कहते हैं ।

अहन्ता आदि प्रतिबन्धकों के दूर हो जाने पर आविर्भूत हुए निरतिशयानन्दरूप, एक स्वभावापन्न, सत् ज्ञानी की दृष्टि में ये सब अणिमा आदि सिद्धियाँ जीर्ण–शीर्ण तृण के टुकड़े के सदृश भासती हैं ॥२३॥ तीनों लोकों में देवता, असुर और मनुष्य से युक्त ऐसी किसी वस्तु को मैं नहीं देखता, जो एक रोमांश के सदृश सारे विश्व को समझनेवाले महात्मा के लोभ के लिए हो ॥२४॥ जिस किसी तरह की स्थिति करनेवाले तथा जहाँ कहीं जानेवाले आत्मतत्त्ववेत्ता पुरुष को किसी तरह के द्वैत संकल्प होते ही नहीं ॥२५॥ जिस महामति की दृष्टि में सारा विश्व ही चिदाकाशरूप तथा शून्यात्मक है, ऐसे भोगादिनिमित्त से शून्य तत्त्वज्ञ को किस निमित्त से किसकी इच्छा उत्पन्न होगी ? ॥२६॥ जिसको अशेष विशेषों से शान्ति हो चुकी है तथा जो इच्छाओं से रहित हो गया है, ऐसे वैभव एवं दरिद्रता दोनों को समान देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी की महिमा कौन जान सकता है ? ॥२७॥

भाई, पुत्र आदि के मरणजीवन से उसको हर्ष या शोक नहीं होता, इस आशय से कहते हैं ।

ज्ञानवान न मरण–साधनों से मरता है और न जीवन–साधनों से कुछ जीता है । परन्तु

विशुद्ध संवित्स्वरूप, आत्मप्रकाश सम्पन्न तथा चिदाकाशस्वरूप हुए इस महात्मा के असत् भी मरण–जनन अज्ञानीजनों की ही भ्रान्ति से मृगतृष्णा नदी के तटों के सदृश भ्रान्त आत्मा में भासते हैं ॥२८,२९॥ उत्तम परीक्षा कर लेने के बाद, न तो भ्रान्ति रहती है, न परीक्षक रहते हैं और न जन्म–मरण ही रहते हैं, केवल कुछ रहता है, तो वह अविनाशी प्रशान्त ब्रह्म ही रहता है॥३०॥

तत्त्वज्ञानी परीक्षक के उपस्थित रहते आप कैसे कहते हैं कि परीक्षक नहीं रहते ? इस पर कहते हैं ।

जो शान्त आत्माराम सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच से वैराग्य को प्राप्त होकर उपशम को प्राप्त हो गया है, संसारसागर से पार हुआ वह ब्रह्मभाव से विद्यमान भी देह इन्द्रिय आदि से युक्त परीक्षकरूप से असत् के ही (अविद्यमान के ही) समान भासता है ॥३१॥ जिसके मन की गति अस्त हो चुकी है और जो आत्मा में शान्त है उसके ब्रह्मरूप से विद्यमान रहते हुए भी विद्वान् लोग दीपनिर्वाण की नाईं उसको निर्मल निर्वाण समझते हैं ॥३२॥

इसीलिए उसको यह संसार नहीं रुचता, यह कहते हैं ।

बुद्धि आदि से लेकर सम्पूर्ण यह जगत् दृश्य जिसे स्वतः नहीं रुचता आकाश के सदृश शान्त उस पुरुष को उत्तम लोग मुक्त कहते हैं ॥३३॥

यदि आप तत्त्वज्ञ हैं, तो दीपनिर्वाण के सदृश आप निर्वाणस्वरूप है, आप वसिष्ठरूप से कैसे हैं ? इस आशंका पर कहते हैं ।

अविचार से अहं है, विचार से अहं नहीं है । तात्पर्य यह कि अविचार से मैं वसिष्ठरूप से प्रतीत हो रहा हूँ, विचार से कदापि नहीं । अहंभाव के अर्थ का अभाव होने से कहाँ यह जगत् और कहाँ जन्ममरण आदिरूप संसृति ? ॥३४॥

अहमर्थ का अभाव कैसे ? इस आशंका पर कहते हैं ।

वस्तुतः चिदाकाश ही अपने स्वरूप के अन्यथा ज्ञान से ही बुद्धि आदि के आकार से युक्त हो स्थित है और वही रूपालोकमनोरूप (बाह्य एवं आभ्यन्तर) जगत् को जानता है ॥३५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे ही समान यथार्थवस्तु के ज्ञान से भ्रान्ति का नाश हो जाने पर आपका मन भी जब सम्पूर्ण पदार्थों से शून्य हो जायेगा, तब सद्रूप सर्वात्मक आपको भी यह सम्पूर्ण आचरण सर्वात्मक शिवस्वरूप ही (निर्वाणरूप ही) अवभासित होगा ॥३६॥

समस्त आचरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ।

जो कुछ आप कर्म करते हैं, जो कुछ भक्षण करते हैं, जो कुछ हवन करते हैं, जो दान देते हैं, जो तप करते हैं और जो हनन–गमन करते हैं, उन सबको आप अविनाशी शिवरूप ही समझिये ॥३७॥

आचारग्रहण समस्त जगत् का उपलक्षण है, यह कहते हैं।

जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ और दिशाएँ हैं, जो-जो काल, क्रिया और आकाश आदि हैं तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, वे सब शिवस्वरूप चिदाकाशरूप ही हैं ॥३८॥ जो कुछ बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीन काल है तथा जो जरा, मरण, पीड़ा आदि हैं, वे सब महाचैतन्यरूप शिवमय आकाशरूप ही हैं ॥३९॥ दुःखशान्ति के उपायों के अन्वेषण से रहित, भ्रमशून्य, इच्छारहित, मन वर्जित, मुनि एवं अहंभावरहित होकर जिस प्रकार से मोक्षरूप बनकर आपसे स्थित रहा जा सकता है, उस तरह से स्थित रहिए ॥४०॥ हे श्रीरामभद्र, जिस तरह पवन का स्पन्दन और अस्पन्दन के द्वारा व्यवहार या अव्यवहार होता है, उसी तरह आपका भी इच्छा-मनन से रहित, शान्त, अनन्त ब्रह्म में स्थित तथा भावनारहित ही व्यवहार हो या न हो ॥४१॥ भद्र, जैसे काठ की पुरुषोचित चेष्टा का यन्त्ररूपी घोड़े से निर्वाह होता है और वह जैसे वासनाशून्य, संकल्पशून्य एवं उपद्रवरहित होती है, उसी तरह शास्त्ररूपी घोड़े से आपकी वैसी ही पुरुषोचित चेष्टा का निर्वाह हो ॥४२॥ हे श्रीरामजी, माता, पिता, बन्धुजन आदि के साथ होनेवाला आपका बाह्य-व्यवहार न तो अत्यन्त स्नेह से पूर्ण हो या न एकदम स्नेह से रहित ही हो, किन्तु वह व्यवहार ऐसा हो कि देखनेवालों को यह पता न लगे-है या नहीं, यानी अनिर्वचनीय हो। आप चित्रदीप के सदृश रहिए। चित्रगत दीप चित्रगत तेज से पूर्ण है, परन्तु परमार्थतः तेल से पूर्ण नहीं है, अतः उसका प्रकाश स्नेह (तेल) से पूर्ण है या नहीं, इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता ॥४३॥

उपसंहार दर्शाते हैं।

भद्र, जिसकी वासना मिट चुकी है, जिसको वर्तमान भोगों में कुछ रस नहीं रहा और जिससे भावी भोगों की तृष्णा भी निकल गई - ऐसे विद्वान् के लिए उत्तम शास्त्र के सिवा दूसरा कौन-सा पदार्थ आत्मसुख में विश्रान्ति देनेवाला हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। शरीरधारण तक अंततोगत्वा प्राप्त होनेवाले आवश्यक व्यवहार-काल में उत्तम शास्त्रों का अनुसरण ही चित्तदोषनिवारण तथा विवेकादि के उद्बोध द्वारा तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठाकारक है। इसलिए इच्छाशून्य निर्मल तत्त्ववेत्ता का प्रारब्धप्राप्त व्यवहारिक प्रसंगों में वर्णाश्रमोचित आचरण करना एवं शम-दमादि साधनों में भलीभाँति लगा रहना ही - असाधारण चिह्न है, न कि यथेष्टाचरण ॥४४॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

उनतालीसवाँ सर्ग

प्रबुद्ध आत्मा में विश्रान्त तत्त्वज्ञानी का जो स्वरूप रहता है उसका तथा जगत् जिस रूप का रहता है, उसका वर्णन।

यदि तत्त्वज्ञ के ऊपर शास्त्रानुसरण का नियन्त्रण रक्खा जाय, तो उसमें शास्त्रानुसरण का संकल्प भी उठने लगेगा, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जिसे संसार को क्षीण कर देनेवाला सत्य अर्थ का स्वाभाविक प्रत्यक्ष हो गया है, वह पुरुष शास्त्रीय व्यवहार में भी संकल्परहित होकर ही स्थित रहता है, क्योंकि तत्-तत् व्यवहारों को अपनी आत्मा समझकर वह ज्ञानवान संकल्प को पृथक् जानता ही नहीं, ज्ञान के बिना तो किसी का अस्तित्व माना नहीं जा सकता, अतः संकल्पाभास असत् ही है ॥१॥

'ज्ञानवान संकल्प नहीं जानता' इस उक्ति का विवरण करने के लिए 'तत्त्वद्रष्टा में समस्त संकल्प का बीजभूत अहन्ताध्यास भी बाधित हो गया है, इससे भी उसको संकल्प नहीं उठता', यह कहते हैं।

तत्त्वज्ञान के पहले किसी अनिर्वचनीय कारण से (अविद्या से), दर्पण में श्वास से उत्पन्न मलिनता के सदृश, आत्मा में अहन्ता स्थित थी, परन्तु वह तत्त्वज्ञानी में बिना कारण ही नाश को प्राप्त हो गई। बहुत अन्वेषण करने पर भी वह कहीं प्राप्त नहीं हो रही है ॥२॥

दूसरी बात यह है कि कामना से संकल्प उठते-रहते हैं, वह तो तत्त्वदर्शी में है नहीं, क्योंकि उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, यह कहते हैं।

जिसके आवरण का स्वरूप क्षीण हो चुका है तथा जिसकी समस्त इच्छाएँ नष्ट हो गई हैं, निरतिशय आनन्दामृत से पूर्ण स्वरूपवाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष केवल निरतिशय आनन्दस्वरूप की सत्ता से ही शोभित होता है ॥३॥

जैसे एक वस्तु के लाभ से सब वस्तुओं का लाभ हो जाने से फिर लाभयोग्य वस्तु के लिए संकल्प नहीं होता, वैसे ही एक वस्तु के विज्ञान से सब वस्तुओं का विज्ञान हो जाने से ज्ञातव्य विषय में भ्रम आदि दोष रहते नहीं हैं, इससे भी तन्निमित्तक संकल्प तत्त्वज्ञ को नहीं होता, यह कहते हैं।

जैसे पूर्णचन्द्र से आकाश जगमगाता रहता है, वैसे ही सर्वविध आवरणों से रहित प्रकाशमय बुद्धिवाले तथा समस्त सन्देहरूप कुटिल अन्धकारात्मक ओस के लिए वायुस्वरूप उक्त तत्त्वज्ञ से

सारा देश जगमगाता रहता है ॥४॥ संसारशून्य, सन्देहनिर्मुक्त, आत्मप्रकाश प्राप्त कर लेनेवाला, आवरणात्मक अज्ञान से शून्य तथा शरदाकाश के सदृश अत्यन्त विशद तत्त्वज्ञ ज्ञेयरूप आत्मा ही है, यह श्रुतियों में जाना जाता है ॥५॥ संकल्पमुक्त, पराधीनता से रहित, भीतरी शीतलता से युक्त शान्त तत्त्वदर्शी की प्रणाम, शुश्रुषा आदि द्वारा संगति करने से वह पुरुषों को ऐसे पवित्र (निष्पाप) कर देता है जैसे ब्रह्मलोक से आया हुआ पवन ॥६॥

'तत्त्वज्ञ संकल्प नहीं जानता' इस पूर्वोक्त अंश का स्पष्टीकरण करके अब 'तेनासदेव सः' इस बचे अंश का स्पष्टीकरण करने के लिए असद्वस्तु की प्राप्ति का स्वरूप बतलाते हैं।

प्रत्येक पुरुष में जो सद्रूप वस्तु के अज्ञान हैं, उनके स्वभाव का वास्तविक स्वरूप स्वप्नज्ञान और वन्ध्यापुत्रज्ञान की तरह असत् सृष्टि के ज्ञान को उत्पन्न कर देना ही है ॥७॥ यह जगत् तो वास्तव में असत् ही है, परन्तु उसकी जो उपलब्धि होती है, यही सद् आत्मस्वरूप के अज्ञान का असली स्वभाव है ॥८॥

स्वप्नज्ञान और वंध्यापुत्रज्ञान की तरह यह जो दृष्टांत दिया गया है, इसकी समानता बताते हैं।

असत्यरूप ही संसार में अर्थ रहे, यदि यह मान लिया जाय, तो इस पर प्रश्न यह है कि वह किस से उत्पन्न होगा ? अर्थात् क्या सत्य वस्तु से या असत्य वस्तु से । पहला पक्ष तो युक्त नहीं, क्योंकि सत्य वस्तु कूटस्थ है, अतः उससे अर्थ की उत्पत्ति हो नहीं सकती । यदि असत्य वस्तु से मान लिया जाय, तो असत्य से जो असत्य की उत्पत्ति होगी, वह भी असत्य ही होगी। इस स्थिति में उक्त अर्थ का आधार कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि सत्यकूटस्थ है और असत् आश्रय नहीं है । इससे संसार के असत्यभूत होने से जब बन्ध और मोक्ष शब्द ही वन्ध्यापुत्र सदृश हैं, तब उनके अर्थों की सिद्धि की तो कथा ही क्या ? ॥९॥ भद्र, यह जगत् ब्रह्मरूप से सत्य है, वह न तो उत्पन्न हुआ है, न भावना का विषय है और न किसी आधार में स्थित ही है । जगत् को यदि ब्रह्मरूप से सत्य न माना जाय, तो न मैं ही सत्य ठहर सकता हूँ और न देखा गया यह जगत् ही सत्य ठहर सकता है ॥१०॥

सत्-रूप वस्तु के अज्ञान का स्वभाव बतलाकर अब आत्मज्ञान में प्राप्त विश्रान्ति का जो असली चिह्न है, उसे बतलाते हैं।

अहंभाव आदि, सृष्टि आदि तथा दुःख आदि का ज्ञान न होना ही यानी अहम्भाव आदि की निर्विषय चैतन्यमात्ररूपता ही आत्मा के स्वभाव में प्राप्त हुई विश्रान्ति का असली चिह्न है ॥११॥ शाखा आदि प्रदेश से लेकर चन्द्रप्रदेश तक के लाखों योजनपर्यन्त विस्तृत प्रदेश में जब चक्षु के द्वारा चाक्षुष वृत्ति का चैतन्य क्षणभर में चला जाता है तब मार्ग के बीच में व्याप्त चिति का-अनावृत, स्पन्दशून्य वायु की तरह निष्क्रिय, आकाश को जगमगानेवाला, चिन्मय, शान्त, लताविकास के सदृश सुन्दर जो सभी प्राणियों के अनुभव से सिद्ध-विषयशून्य स्वभाव है, उस स्वभाव को, तत्त्वज्ञ लोग जानते ही

है, उस स्वभाव में स्थित विवेकी का सृष्टिज्ञान चूर-चूर हो जाता है ॥१२-१४॥

सुषुप्ति और स्वप्न में जैसे एक दूसरे की विषयता नहीं है, वैसे ही तुरीय में भी जाग्रत आदि की विषयता नहीं है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है, यह कहते हैं।

सुषुप्ति में स्वप्न की बुद्धि नहीं है और स्वप्न में सुषुप्ति की बुद्धि नहीं है, यह जैसे सबको ज्ञात है, वैसे ही सृष्टि में मोक्षबुद्धि और मोक्ष में सृष्टिबुद्धि नहीं है यानी सुषुप्ति और स्वप्न की बुद्धि के सदृश सर्ग और मोक्ष की बुद्धि है अर्थात् तुरीय मोक्ष में चिति की सर्गादिविषयता रह ही नहीं सकती ॥१५॥

सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्तिमूलक ही है, इसलिए वह परमार्थ नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

यह स्वप्न, सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्ति का ही एक स्वभाव है, इसलिए न तो स्वप्न, न सुषुप्ति, न सृष्टि और न मुक्ति ही है, किन्तु अशेष विभागों से शान्त परब्रह्म ही असली तत्त्व है ॥१६॥

स्वप्नादि क्यों नहीं हैं, इस पर कहते हैं।

जो भ्रान्ति है उसका असली स्वरूप असदात्मक ही है, विचार करने पर यदि उसका सीपी में चाँदी के सदृश लाभ नहीं होता, तो स्वप्नादि असत्य पदार्थ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ? ॥१७॥

भ्रान्ति का अर्थ यद्यपि भ्रान्ति से भले ही न प्राप्त किया जा सकता हो, परन्तु दूसरे किसी उपलम्भ से तो प्राप्त किया जा सकता है, इस पर कहते हैं।

जो किसी काल में लब्ध नहीं होता वह है ही नहीं, इसलिए भ्रान्ति का तीनों काल में अस्तित्व नहीं है। भ्रान्ति का अर्थ भ्रान्तिभिन्न किसी अन्य उपलम्भ (ज्ञान) से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा उपलम्भ प्रमारूप ही होगा, परन्तु वह किसी भ्रान्तिविषय अर्थ के साक्षी के स्वभाव को छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता ॥१८॥

ऐसी स्थिति में खूब विचार करने पर अकेला साक्षिस्वभाव ही अपने में त्रिपुटी की कल्पना कर प्रकाशित होता है दूसरा कुछ भी नहीं, यह कहते हैं।

स्त्री के लिए उसका स्वभाव ही निरन्तर उत्तम प्रेम का भाजन बनकर प्रकाशित होता है। इसीसे एक ही वस्तु वह अनेक-सी भासती है। इसलिए अनेक वादों से समर्थन ही क्या किया जाय ? ॥१९॥

उसको स्वभावभिन्न मानना ही संसाररूप दुःख है और कल्पनारहित अपनी आत्मा में स्थित रहना मोक्षरूप सुख है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, साक्षिस्वभाव से अतिरिक्त की कल्पना करने पर ही संसारात्मक महान् दुःख है और साक्षिस्वभाव में निरन्तर स्थिति रखना मोक्षरूप सुख है। इसलिए आप अपनी बुद्धि से अपनी आत्मा में विचारकर जिसे अपना इष्ट समझें, उसे ग्रहण करें ॥२०॥

इष्ट वस्तु के ग्रहण में उपाय क्या है ? इस प्रश्न पर अध्यस्त संसार में आत्मरूपता का अवलोकन ही उपाय है, इस आशय से सृष्टि के आरम्भ से ही सृष्टि और आत्मा की अभिन्न सत्ता बतलाते हैं।

बाहर बड़ा जो वृक्ष दिखाई पड़ता है, वह सूक्ष्मभूत बीज में है, ऐसा मानने में जैसे प्रत्यक्षतः

युक्ति है, ठीक इसी तरह अमूर्तिमान् शिवरूप आत्मा में भी मूर्त जगत् है, ऐसा मानने में वेदादि शास्त्र और मुनियों की उक्ति है ॥२१॥

इस तरह प्रत्यगात्मा में विद्यमान आध्यात्मिक भावों की भी पृथक् सत्ता नहीं है, इसका अपने में ही सब अनुभव करते हैं, यों कहते हैं।

जैसे जल में विद्यमान जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही परब्रह्म में विद्यमान बुद्धि अहन्ता आदि विषय जो हैं, वे सब आत्मरूप तथा चिदाकाशस्वरूप ही हैं ॥२२॥ जैसे अवयवी (घटादि) अपने सदृश यानी अपने अस्तित्व से अलग अस्तित्व न रखनेवाले अवयवों से ही क्रिया करता है, वैसे ही स्वरूपभूत पृथ्वी आदि भूतों से ही यानी अपनी सत्ता से अलग सत्ता न रखनेवाले भूतों से ही चिदाकाश यह सब कुछ करता है, वास्तव में तो वह सत् और अकर्ता ही है ॥२३॥

अर्थव्यवहार के सदृश शब्दप्रयोग आदि व्यवहार भी आत्मसत्ता से पृथक् सत्ता न रखकर ही चेतनाधिष्ठित देह, वाक् आदि से होता है, यह कहते हैं।

हम लोगों के शरीर, जीभ आदि जड़ होने के कारण किसी तरह का व्यवहार करने के समर्थ नहीं हो सकते, इसलिए उनसे 'अहमादि' अर्थों का प्रकाशक जो शब्द जीभ आदि के व्यापार से होगा, वह चेतन से अधिष्ठित जीभ आदि से ही होगा, यह उस तरह मानना चाहिए, जिस तरह नर्तकी के पैरों का संचालन एवं तालों के दृढ़ ज्ञाता वादक पुरुष से अधिष्ठित मृदंग आदि में से शब्द होता है ॥२४॥

उक्त रीति से सम्पूर्ण व्यवहार का चैतन्य के साथ अभिन्नता से जब निर्वाह किया जा सकता है, तब वह अभेद आत्यन्तिक ही मानना चाहिए, अविचार सिद्ध जड़तारूप भेद मानने से फायदा ही क्या, यह कहते हैं।

जो यह आपाततः देखा जाता है, वह विचार से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निरन्तर के लिए अस्तित्व ही खो देता है। इसलिए जड़तारूप जो जगत् का रूप है, वह स्वरूपरहित है, इस स्थिति में ब्रह्म आत्मा ही अपने स्वरूप में स्थित है, यही स्वरूपावस्थिति है ॥२५॥

असंसारी ब्रह्म अपने स्वभाव में भले ही रहे, इससे संसारियों को क्या लाभ पहुँचा, इस तरह की आशंका कर उनकी पुरुषार्थ चिन्ता, वन्ध्या को अपने पुत्र के लिए राज्यप्रप्ति की चिन्ता करने के सदृश मिथ्या है, इस आशय से कहते हैं।

जिनकी दृष्टि में जगत्-रूप स्वप्न भासता है, उन पुरुषों का एक दूसरे की भ्रान्तिपूर्ण दृष्टि से भी, जाग्रत और स्वप्न में तत्-तत् स्वरूप में अस्तित्व रहता ही नहीं और एक दूसरे के आत्मस्वरूप हुए हम लोगों में तो आकाशकुसुम के सदृश उनका सर्वथा अस्तित्व नहीं है ॥२६॥

हम लोगों में ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार जड़ अंश को लेकर तो आकाशपुष्प के सदृश हैं और सच्चिद् अंश को लेकर तो हम लोगों में ब्रह्मस्वभावता से विद्यमान हैं, यह कहते हैं।

वायु के स्पन्दन के सदृश अपने से अभिन्न उन-उन स्वकीय व्यवहारों के साथ वे

स्वप्नपुरुष हममें विद्यमान हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार ये दोनों शान्त परब्रह्मैकरूप ही हैं और वह ब्रह्म प्रत्यगात्म-स्वभाव मुझमें है ॥२७॥

दूसरा विशेष बतलाते हैं।

जैसे स्वप्नवालों को स्वप्न सन्मय प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि से मेरी देह भी सन्मय प्रतीत होती है। परन्तु ज्ञानियों की दृष्टि से वे उस प्रकार असद्रूप हैं, जिस प्रकार सुषुप्तिस्थ पुरुष, की दृष्टि में स्वप्न ॥२८॥ अनुग्रह, उपदेश आदि जो मेरा व्यवहार उनके साथ होता है, वह मेरी दृष्टि में स्वस्वरूप में स्थित परब्रह्मस्वरूप ही हैं। वे जो कुछ देखते हैं, उसे भले ही देखें, उनसे हमें किसी तरह के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती ॥२९॥ भद्र, मैं वसिष्ठादिभाव में नहीं हूँ, किन्तु स्वस्वरूप से परब्रह्म परमात्मा में ही हूँ। आपके लिए यह वसिष्ठ आदि के आकार से व्यापक ब्रह्मसत्ता मानों उदित हुई है। यह मेरी वाणी आदि भी आपके लिए ब्रह्मसत्ताविवर्तरूप ही है, परन्तु मेरी दृष्टि से तो बिलकुल कुछ है ही नहीं ॥३०॥ सभी वस्तुओं में आनन्दैकरसात्मता के दर्शन से विरुद्ध दुःखादि पदार्थ भी जिसको अविरुद्ध प्रतीत होते हैं ऐसे शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तत्त्वज्ञानी के हृदय में न तो भोगों की इच्छा उठती है और न मोक्ष ही स्फुरित होता है ॥३१॥ मनुष्यों का बन्धन से जो यह मुक्तिक्रम है वह तो केवल अपने अधीन है, फिर भी मोह से (अविरुद्ध निरतिशयानन्दात्मा के अपरिज्ञान से ही) यह संसार पीड़ा उत्पन्न हुई है। आश्चर्य है कि गौ के खुर में ही समुद्र का भ्रम हो रहा है ॥३२॥ असत् दुःखों के उपशमरूप तथा सुखरूप आत्मसाधनभूत मोक्ष में न तो धन उपकार कर सकते हैं और न मित्र एवं न क्रियाएँ ही कुछ उपकार कर सकती हैं ॥३३॥ जैसे तेल का बिन्दु जल में गिरकर नाना वर्णों के चक्ररूप में परिणत हो जाता है वैसे ही विषयों के संकल्प में स्थित चिति तत्काल ही जगद्रूप में परिणत हो जाती है ॥३४॥

ज्ञान से बाधित हुआ संसार तो स्वप्न की तरह स्मृति की एकमात्र लकीर बन जाता है, यह कहते हैं।

जाग्रत्काल में स्वप्न में भासित वृत्तान्त की स्थिति जिस तरह की स्मृति रहती है, उसी तरह की स्थिति विवेकी को भी अज्ञानकाल में भासित अहंकार के साथ समस्त जगत् की ज्ञानदशा में होती है ॥३५॥ उक्त भूमिका के अभ्यासरूप योग से वह जगत्-जाल ऐसे क्षीणता को प्राप्त करता है, जैसे कि फिर न अहंकार और न संसार ही उत्पन्न हो सकता है, केवल शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥३६॥

तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करने पर इस समय भी उसका विनाश और बाध जाना जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जब-जब आत्मारूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशरूप में स्थिति करता है, तब-तब यह संसाररूप अन्धकार बाधित हो जाता है, उसका अस्तित्व रहने पर भी परिज्ञान नहीं होता ॥३७॥

भोगान्धकार की (संसारान्धकार की) निवृत्ति हो जाने पर बुद्धि आदि करणों का दल अज्ञानरूप आवरण से एवं स्थूल अध्यास से (भ्रान्ति से) रहित बन जाता है तथा ब्रह्माकारवृत्ति से चमके हुए बोध से चमकिला बन जाता है। यही कारण है कि उस समय स्फुरण से, दीप के प्रकाश के सदृश, चारों ओर व्याप्त होकर ब्रह्मभूत होकर भासने लग जाता है ॥३८॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

न तो संसारदशा में ब्रह्म का भान होता है और न ब्रह्मदशा में संसार का ही भान होता है, परन्तु जीवन्मुक्ति में क्रमशः दोनों का भान होता है, यह वर्णन।

तत्त्वज्ञों का यह अनुभव है कि स्वतः स्वरूप से शून्य बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप उसका साक्षिचैतन्य ही है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य और आभ्यन्तर विषय तथा बुद्धि आदि इन्द्रियों के प्रकाशक निर्मल साक्षी चैतन्य को ही विद्वान् लोग स्वरूपशून्य जगत्–वस्तु का स्वरूप समझते हैं ॥१॥

उसमें अन्वय–व्यतिरेकरूप युक्ति बतलाते हैं।

जब अपरिच्छिन्न वस्तु (ब्रह्म) स्वभाव की स्थिति अविद्याकृत परिच्छेद से तथा उसके शरीररूप से उदित हो जाती है, तब (卐) यह सृष्टि भ्रम के सदृश प्रतिभासित होने लग जाती है ॥२॥

अब व्यतिरेक दिखलाते हैं।

जब आत्मस्वरूप के ज्ञान से शान्तिरूप आत्म–विश्रान्ति अपनी स्थिति प्राप्त करती है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में जब शान्तिरूप विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है, तब यह जगद्–रूप दृश्य ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे सुषुप्ति में स्वप्न ॥३॥

यही कारण है कि ब्रह्मस्वरूप में विश्रान्ति के विरोधी भोग आदि सबके सब अनर्थरूप ही हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये जितने भोग हैं वे सबके सब संसाररूप महारोग है, बन्धु लोग दृढ़ बन्धन हैं तथा यह सारी अर्थसम्पत्ति तो महान् अनर्थ की कारण है। इसलिए अपने–ही से अपनी आत्मा में शान्ति लीजिये ॥४॥ ब्रह्मस्वरूप से विरुद्ध भावना करना सृष्टि है तथा स्वभावात्मक ब्रह्मरूप की प्राप्ति कल्याण है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप परम चिदाकाशरूप हो जाइये, शान्ति प्राप्त कीजिये ॥५॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभव का अभिनयकर पुरुष की स्वायत्तता दिखलाते हैं।

(卐) यह अन्वयोक्ति है।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं अपने को यानी द्रष्टा आदि त्रिपुटी के भीतर सर्वप्रथम वसिष्ठसंज्ञक जीव को नहीं जानता और न दृश्य तथा इस जगत्के भ्रम को ही जानता हूँ। मैं शान्त ब्रह्म में प्रविष्ट हो चुका हूँ। हे श्रीरामजी, मैं निर्विकार ब्रह्म ही हूँ ॥६॥ हे श्रीरामजी, 'तुम वसिष्ठ हो' इस 'त्वम्' शब्द के अर्थ से घटित त्वन्ता को ही 'त्वम्' शब्दार्थघटित आप ही देख रहे हैं, और मैं तो सबको केवल शान्त, परम चिदाकाशरूप ही देख रहा हूँ ॥७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वायु में स्पन्दन की नाई, परम चिदाकाशरूप ही ब्रह्म में ये शब्दार्थादिरूप बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थ आपमें भी विभ्रमस्वरूप ही उत्पन्न हैं, परमार्थतः वे उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु उत्पन्न हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ॥८॥

द्वैत के साथ विद्वेष होने के कारण मुझे द्वैत का अदर्शन है, ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु द्वैतदर्शन और द्वैत का अदर्शन दो एक साथ नहीं हो सकते, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मस्वरूप में स्थित पुरुष सृष्टि को नहीं जानता और सृष्टि में स्थित पुरुष ब्रह्मस्वरूप को नहीं जानता। जैसे कि सुषुप्त पुरुष स्वप्न को नहीं जानता तथा स्वप्न में स्थित पुरुष सुषुप्ति को नहीं जानता ॥९॥

जिसका कभी दर्शन नहीं होता, ऐसे पदार्थ के विषय में उपदेश की प्रसिद्धि कैसे ? इस शंका पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी प्रशान्तचित्त जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्म और जगत् के प्रकाशस्वरूप रूप को क्रमशः ऐसे जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्न के द्रष्टा पुरुष क्रमशः उनका रूप जानते हैं, इसीलिए वह उपदेष्टा होता है ॥१०॥

वह भी उत्तरोत्तर भूमिकाओं में क्रमशः द्वैत के अदर्शन से आगे चलकर बिलकुल प्रशान्त हो जाता है, यह कहते हैं।

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण जगत् को यथास्थित ही जानता है। तथा शरत्काल के मेघ के तुल्य शुद्धात्मा हो बिलकुल शान्त हो जाता है ॥११॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी की दृष्टि से द्वैत उत्तरोत्तर निर्बल होता जाता है, यह दो दृष्टान्तों से कहते हैं।

जैसे किसीके कहने पर स्मृति या कल्पना में स्थित युद्ध भासता है वैसे ही विवेकी पुरुष को सत् और असत् की एकमात्र भ्रान्तिरूप अहन्ता आदि जगद्-भ्रम भासता है ॥१२॥ जो भलीभाँति दिखाई दे रही जगत् की माया परमार्थसत्यरूप आत्मा में तथा अत्यन्त असद्रूप शून्य में नहीं है एवं जिसका द्रष्टा कोई जीव भी नहीं है, ऐसी शून्य और अशून्य से विलक्षण यह भ्रान्ति अनिर्वचनीय ही भासती है ॥१३॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

अविद्या के स्वभाव से त्रिलोकीरूपी कठपुतली के नृत्य तथा एकमात्र आत्मत्वभाव से निर्वाण की प्राप्ति का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अविद्या-स्वभाव से युक्त हुआ यह आत्मा ही सम्पूर्ण जगत् का रूप धरकर अहंकार आदि को जाननेवाला बन जाता है। इस तरह अनिर्वाण-स्वरूप हुए इस आत्मा को आप स्वयं ही शास्त्रीय उपायों द्वारा उत्पन्न हुई विद्या से आविर्भूत अद्वितीय, स्वप्रकाश पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा के स्वभाव से निर्वाण-स्वरूप बना दीजिये ॥१॥

वह विद्या तो तत्त्वज्ञों के साथ निरन्तर समागम रखने से उत्पन्न विवेकज्ञान जनित वैराग्य से ही सिद्ध होती है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे जहाँ सूर्य होंगे वहाँ प्रकाश अवश्य होगा, यह जैसे अकाट्य सिद्धान्त है, वैसे ही जहाँ विषयों से पूर्णतया वैराग्य होगा, वहाँ अवश्य तत्त्वज्ञानरूप प्रकाश होगा ॥२॥

वैराग्यसिद्धि के लिए 'अविद्यास्वभाव से ही शुद्ध ब्रह्म में जगत्-रूपी चित्र का अध्यास होता है', यह वर्णन करते हैं।

कर्ता, कर्म तथा करण आदि सामग्री से शून्य, द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य आदि से रहित और उपादेय पदार्थों से शून्य यह जगत्-रूप चित्र बिना दीवार आदि आधार के ही आविर्भूत है ॥३॥

विद्या-स्वभाव से उस जगत्-रूपी चित्र का खण्डन करके अब निर्वाण का स्वरूप दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी जिस रूप से स्थित यह दृश्य चित्र है, वह ब्रह्म में न तो कभी कुछ उत्पन्न ही हुआ और न शान्त ब्रह्म में शान्त ही हुआ। असल में वह निर्विकार सत्य, अविनाशी परब्रह्मरूप ही है ॥४॥

त्रिजगत्-रूपी नाच रही पुतलियों के रूप में मुख्य अविद्या-स्वभाव का वर्णन करते हैं।

चिति के एकमात्र चमत्कारस्वरूप जीवों में संकल्पात्मक नृत्यमण्डपों में शृंगार आदि नाना रसों से परिपूर्ण जगत्-चित्र की पुतलियाँ चिदाकाश में नाच रही हैं। हे श्रीरामजी, इनकी गणना कौन कर सकता है ? ॥५॥ शृंगार आदि रसों से रति आदि स्थायिभावों तथा कम्प, स्वेद आदि संचारिभावों से परिपूर्ण नये-नये अभिनयों से परमाणु की मात्राओं के भी अन्दर विद्यमान चिदाकाश में चिदाकाशरूप पुतलियाँ प्रायः नृत्य कर रही हैं ॥६॥ सभी ऋतुएँ इनके सिर के आभूषण हैं, जिन्हें ये धारण किये हुई हैं, दिशारूपी बाहुलतिकाओं से वे सुशोभित हैं, पाताल इनकी पादलतिका हैं, ब्रह्मलोक इनकी कन्दराएँ हैं, चन्द्र और सूर्य इनकी चंचल आँखें हैं, तारों के समूह इनके रोम समूह हैं, सातों लोक इनकी अंगलतिका है, सभी ओर से अत्यन्त निर्मल आकाश ही तो इनकी सफेद साड़ी है, सभी द्वीप तथा समुद्र ही इनके हाथ के सुन्दर कंकण हैं, लोकालोक पर्वत इनकी करधनी है,

भौतिक शरीरों के धारण–पोषण आदि निमित्त से चल–फिर रहे जीव ही इनके बह रहे प्राण मारूत हैं, वन तथा उपवनों की विचित्र रचनारूपी हारों और केयूरों से ये खूब भूषित हैं, पुराण और वेद ही तो इनके वचन हैं तथा तत्–तत् क्रियाओं के फलरूप सुख और नानाविध दुःख ही इनके विलास हैं। हे श्रीरामजी, इस तरह की त्रिलोकीरूपी पुतलियों का जो नृत्य आपके सामने दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मरूपी जल का द्रवत्व या ब्रह्मरूपी वायु का संचलन ही है ॥७–११॥ सुषुप्ति के अवसर में सुषुप्ति–स्वभाव में स्थित न हुई चिति स्वप्न की जैसे कारण बन जाती है वैसे ही अस्वभाव में (अविद्या में) स्थित हुई यह चिति ही इस नृत्य की कारण बन गयी है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरह का कारणात्मक ब्रह्म श्रुतियों में प्रसिद्ध है ॥१२॥

इस तरह अविद्या के स्वभाव का वर्णन करके अब ब्रह्मात्मैक्यस्वभाव से निर्वाणरूप बनाने में उपाय बतलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सांसारिक व्याकुलता छोड़कर आप पारमार्थिक स्वभाव की भावना करते हुए, जाग्रत्काल में भी असुषुप्त–सुषुप्त पद में यानी अज्ञान के नाश से असुषुप्तरूप तथा सम्पूर्ण द्वैत का उपसंहार से सुषुप्तरूप जो तुर्यपद है उसमें स्थित हो जाइये, इस जगद्रूपी स्वप्न का आश्रय मत कीजिये ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञान से जाग्रत् काल में जो राग तथा वासना से शून्य सुषुप्ति–अवस्था प्राप्त होती है, उसीको तत्त्वज्ञानी लोग ब्रह्मस्वभाव कहते हैं तथा उसी स्वरूप में भलीभाँति परिनिष्ठित हो जाने को मुक्ति कहते हैं ॥१४॥

ब्रह्मस्वरूप में निष्ठा होने पर व्यवहारकाल में भी ज्ञानी पुरुष को यह सारा जगत् चिदेकरसरूप ही भासता है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मरूप में भलीभाँति निष्ठा प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी पुरुष को व्यवहारकाल में जगत्–रूप से स्थित कर्ता, कर्म और करण से शून्य दृश्य, दर्शन, और द्रष्टा से रहित तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से रहित ब्रह्मरूप ही है ॥१५॥ उस अवस्था में ज्ञानी को प्रकाशमान वस्तु में स्थित प्रकाशमान वस्तु ही पूर्ण में स्थित पूर्ण वस्तु ही तथा द्वित्व और एकत्व से रहित (शोधित) प्रत्यगात्मा में द्वित्व–एकत्व रहित (शोधित) ब्रह्मरूप वस्तु ही अखण्ड एकरसरूप से ही भासित होती है ॥१६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः सृष्टिरूप में स्थित होने पर भी आकाशकोश के सदृश शान्त एवं सत्य आत्मा ही अपने सत्यस्वरूप में पत्थर के उदर के सदृश स्वयं स्थित है ॥१७॥

पत्थर के उदर के सदृश, ऐसा कहने से उसमें अप्रकाशस्वभावता की जो भ्रान्ति हो रही है, उसका खण्डन करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सुन्दर रत्नशिला के उदराकृति सदृश प्रकाशमय है, घन होने पर भी आकाश की तरह है, जगत्–प्रतिबिम्ब को पाकर क्षुब्ध–सा स्थित होने पर भी वस्तुतः वह अक्षुब्ध है तथा जगद्–रूप से असत् प्रतीत होने पर भी वह सत्स्वरूप ही स्थित रहता है ॥१८॥ भविष्य

में जिस नगर का नवीन निर्माण करना होता है, उसका पहले चित्त में ही कल्पनारूप से अस्तित्व रहता है, इस तरह का नगर जैसे चित्तस्वरूप है, वैसे ही सामने स्थित यह जगत् पूर्ण प्रकाशात्मक अपने स्वरूप में ब्रह्मरूप ही है, जिसमें कि मन को एकरस बना दिया गया है ॥१९॥ जैसे संकल्प का नगर संकल्प से भिन्न नहीं है, वैसे ही यह जगत् का आभास भी परमार्थरूप परब्रह्म से भिन्न नहीं है ॥२०॥ जिसमें भविष्य में होनेवाली अनेक तरह की नूतन-नूतन रचनाएँ विद्यमान हैं ऐसे चौकोन (चतुष्कोण) सुवर्णपिण्ड के समान अनेक तरह के विस्तारों से परिपूर्ण दिखाई दे रहा भी यह जगत् शान्त अविनाशी ब्रह्मरूप ही है ॥२१॥ यह निरन्तर नाश और उत्पत्ति से पूर्ण रहते हुए भी नाश और उत्पत्ति से वर्जित है, अनेक-सा भासित हो रहा भी एकरूप है यानी अजर, भास्वर तथा परब्रह्म परमात्मरूप से स्थित है ॥२२॥ हे श्रीरामजी, जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब यह उदित सृष्टिरूप वस्तु उत्पत्ति-विनाश से रहित हो जाती है यानी तत्त्वज्ञ को उस समय यह भान होता है कि सृष्टि न तो कभी उत्पन्न हुई और न नष्ट ही हुई। उस दशा में उसे पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो जाती है और अकेला आनन्दघन ब्रह्म ही अपने अद्वैतस्वभाव के प्रभाव से भासने लग जाता है। जैसे आकाश में भ्रमवश प्रतीत हो रहे केशोण्ड्रक, गन्धर्वनगर, तलमलिनता आदि के स्वभाव का जब बाध हो जाता है, तब पुरुष को हठात् वह शून्यस्वभाव से भासने लग जाता है, ऐसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥२३॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

पुनः विश्व और विश्वेश्वर की एकता का विस्तारपूर्वक वर्णन तथा
स्वात्मभूत परमेश्वर ही विवेक द्वारा पूजनीय हैं, यह कथन।

'जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, इस पूर्वोक्त का अनुभव कराने के लिए जगत् की भिन्नता-प्रतीति में हेतुभूत चित्त तथा चिति के भेद का निरास करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, शान्त कूटस्थ आत्मा में जो चित्त-सा प्रकाश होता है वह उस प्रकाशरूप चिदात्मा से भिन्न नहीं है, अतः जगत् आदि किसीका कहीं संभव नहीं है। यदि कहिये क्यों ? तो इसका उत्तर यही है कि वह अव्याकृत और निर्मल है। सार यह है-नाम और रूपों के भेद से ही तो इस संसार में भेद की प्रसिद्धि है। परन्तु यह भेद नाम और रूपों के निर्माण के पहले ही उत्पन्न हुए जीवभाव के उपाधिभूत चित्त में हो नहीं सकता, क्योंकि वह उस समय बना ही नहीं है। सूक्ष्म तेज, जल तथा पृथ्वीरूप लिंग-सृष्टि के अनन्तर 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति में उसका निर्माण सुना जाता है। चित्त के निर्मल होने के कारण भी उसका चितिसे भेद नहीं है। चिदात्मा और चित्त दोनों निर्मल

हैं। प्रभा और आकाश में जैसे कोई प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, वैसे ही निर्मल इन दोनों में कोई भी प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, ऐसी स्थिति में चिति एवं चित्त का भेद ही कहाँ ? ॥१॥

इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं।

कूटस्थ प्रत्यगात्मारूप आकाश में जो बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का प्रकाशन होता है, वह एक तरह से मानों जलरूप द्रव की लहरें हैं, वे मृगतृष्णा जल की नाईं मिथ्या ही भासित होती हैं। चित्तरूपी सूर्य के अस्त हो जाने पर वे भी विलीन हो जाती हैं ॥२॥

जगत् को अपनी सत्ता में चिति से अतिरिक्त दूसरे किसी कारण की अपेक्षा ही नहीं है, इससे भी यह जगत् चितिरूप ही है, इसका दृष्टान्तों से उपपादन करते हैं।

किसी कारण की अपेक्षा किये बिना जैसे वायु में स्पन्दन होता है या जैसे सूर्य में प्रभा का प्रसार होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा में यह जगत् है ॥३॥ हे श्रीरामजी, जैसे जल में द्रवत्व, आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्दता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा में यह कोई अनिर्वचनीय आत्मा का विवर्तरूप जगत् है ॥४॥

जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में जैसे चित्त आदि का आत्मा में हुआ प्रकाश आत्मा से अभिन्न है, वैसे ब्रह्म में मायाधीन आकाशादि का हुआ प्रकाश भी ब्रह्म से अभिन्न है, इस आशय से उन्हीं उपर्युक्त दृष्टान्तों के द्वारा फिर अभेद का उपपादन करते हैं।

महाचिद्रूप महाकाश में जो यह जगत् भासता है वह चिद्रूप ही, मणिमें निर्मलता की नाईं, स्फुरित होता है ॥५॥ जैसे जल में द्रवता, आकाश में शून्यता, वायु में स्पन्दता है, वैसे ही महाचिति में यह जगत् है ॥६॥

स्फुरण में भी चिति से अतिरिक्त किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, इसलिए भी उसका चिति से अभेद है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे वायु स्पन्दन को स्वस्वरूप जानती है वैसे ही चिति भी जगत् को अपना स्वरूप ही समझती है। इसलिए द्वैत और ऐक्य आदि भेदों का यहाँ तनिक भी अवसर नहीं है ॥७॥ हे श्रीरामजी, यह सारा संसार अविवेक से चमकीला तथा विवेक से नश्वर है। परमार्थ वस्तु का बोध हो जाने पर तो न यह चमकीला दीखता है और न विनश्वर ही प्रतीत होता है। उस समय तो यह एकमात्र सद्रूप परब्रह्म ही बनकर अवशिष्ट रह जाता है ॥८॥

तत्त्वज्ञान से जो निर्णीत हुआ, उसका वर्णन करते हैं।

ज्ञानमात्र, शुद्ध, आदि-मध्य और अन्त से रहित महाचिन्मात्ररूपी परब्रह्म के सिवा और कुछ दूसरा रहता ही नहीं, यह तत्त्वज्ञान से निर्णीत हुआ है ॥९॥

उस स्वरूप के विषय में वेदों का अनुसरण करनेवाले और न करनेवाले विचारशील वादियों की यथार्थ और अयथार्थरूपों से अनेक कल्पनाएँ हैं, यह कहते हैं।

वह किसी के मत में शान्त शिव, किसी के मत में शाश्वत ब्रह्म, किसी के मत में शून्यतारूप और किसी के मत में वह ज्ञानरूप है ॥१०॥

उसीमें अनादि अविद्या आदि दृश्यप्रपंच का अध्यास होता है, यह कहते हैं।

अनन्तस्वरूपचेतनात्मक वही अपने आपको विषयस्वरूप-सा समझता हुआ यानी भावना करता हुआ स्वस्वरूप में स्थित ही विषयरूप एवं अज्ञानी-सा बन जाता है ॥११॥ जितने पदार्थ अध्यास से प्रतीत होते हैं उनका प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्य के बल से ही होता है, इसलिए विषयों की सत्ता अधिष्ठानभूत चेतन के बिना नहीं हो सकती और सत्ता के बिना विषयात्मक चित्तरूपता नहीं हो सकती, जैसे शून्यस्वरूप कूटस्थ आकाश के बिना दूसरा कोई वायु का कारण नहीं है और वायु के बिना स्पन्दनों का दूसरा कोई कारण नहीं है, ठीक ऐसे ही यहाँ भी बात है ॥१२॥ तथा महाचैतन्य के संकल्प से जायमान एवं निरन्तर ब्रह्मसत्ता के बल पर अपनी सत्ता रखनेवाले सृष्टि-भ्रमों में महाधिष्ठानभूत ब्रह्म की अपेक्षा से सदा सत्ता है और स्वरूपतः असत्ता है। इस तरह का निरूपण 'सदेव सोम्येदम.' इत्यादि श्रुति में है। इस विषय में दूसरे किसी तर्क की अपेक्षा नहीं है॥१३॥ चित् और जड़ का द्वैत एवं द्वैत का कारण एकत्व इनका स्वतः अस्तित्व तथा इसी अस्तित्व के आधार पर सृष्टि-भ्रमों का अस्तित्व मानना चाहिए, यह बात मानी जा सकती है, परन्तु इसमें कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाश में द्वित्व-एकत्व का कोई समर्थन करनेवाला नहीं है और जड़ वस्तुओं में तो वैसा समर्थन करनेवाला कोई हो ही नहीं सकता। *(इन सब तर्कों से निचोड़ यह निकला कि आकाश के द्वैत की अप्रसिद्धि के सदृश तथा स्पन्दन एवं वायु के भेद की अप्रसिद्धि के सदृश विश्व और विश्वेश्वर के भेद की भी अप्रसिद्धि है, यह कहते हैं।)* सम्पूर्ण विश्व असीम, एक परमात्मा का स्वरूपभूत ही है ॥१४॥ जैसे वायु और स्पन्दन का भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही विश्व और विश्वेश्वर का भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं, असल में असदात्मक ही है ॥१५॥ जिसमें द्वैत की संभावना नहीं है, जो तीनों काल में सत्स्वरूप ही है और महाचेतनरूप है,वही विश्व के रूप में भासता है, असल में न विश्व है और न विश्व का कोई स्वरूप ही है ॥१६॥

अथवा ब्रह्मदृष्टि से असत्य भी विश्व की उसके कार्यभूत छोटे-छोटे देश काल की अपेक्षा बड़े-बड़े देश-काल के सम्बन्ध से सत्ता है, इस आशंका का परिहार करते हैं।

कोई लोग कहते हैं कि कार्यरूप से भिन्न कटकरूप की अपेक्षा अधिक देश काल के सम्बन्ध से सुवर्ण में जैसे कादाचित्क (कभी होनेवाली) सत्यता है, वैसे ही कार्य की अपेक्षा अधिक देशकाल के सम्बन्ध से विश्व में भी सत्यता हो सकती है ॥१७॥

परन्तु यह तब होता, जब कि कार्य और कारण का भेद सिद्ध होता, लेकिन वही सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, द्वित्व और ऐक्य के ही असम्भव से यहाँ न कोई कार्यरूप है और न कोई कारणरूप ही है । *(यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लिया जाय, तो भी काल्पनिक भेद से सत्यता का निर्वाह नहीं हो सकता, यह कहते हैं ।)* यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लें तो भी परमात्मा से भिन्न यह संसार एकमात्र काल्पनिक ही सिद्ध होगा, इससे उस परमात्मा से भिन्न दूसरी वस्तु सिद्ध नहीं होगी ॥१८॥ जैसे कि आकाश में शून्यता है और जैसे जल में द्रवत्व है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मा में विश्व है । *(अत्यन्त अभेद में भी जैसे 'आकाश में आकाश की रेखा है' इस तरह की भेदकल्पना देखी जाती है वैसे ही इस जगत् के विषय में भी होगी, यह कहते हैं ।)* अत्यन्त अभेद होने पर भी जैसे आकाश में आकाश की रेखा अज्ञानदृष्टि से देखी जाती है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मा में जगदादि का रूप अज्ञानियों की दृष्टि से देखा जाता है ॥१९॥ ब्रह्म का जो रूप है वही रूप जगत् का भी है, इससे द्वैत और ऐक्य की यहाँ आपत्ति ही नहीं हो सकती । आकाश से भिन्न-सी कल्पित शून्य आकाश की रेखा जिस रूप की रहती है यानी रेखाशब्द से वाच्य आकाश जिस रूप का रहता है, ठीक उसी रूप का यह सारा जगत् भी ब्रह्म से भिन्न-सा कल्पित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थिति में एकात्मा, व्यापक, स्वच्छ चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के, पत्थर में खुदी गई सेना के सदृश पत्थर रूप से स्थित रहते, कार्यकारण की विचित्रता कहाँ कैसे संभव हो सकती है ? द्वितीय का संभव न होने से चिदाकाश में उससे पृथक् किसी दूसरी वस्तु की संभावना नहीं हो सकती ॥२०-२२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रतिभारूप ही यह सृष्टि प्रतिभारूप से महाचेतन में ऐसे भासती है, जैसे पाषाण में खुदी हुई प्रतिमा पाषाणरूप होने के कारण पाषाणमय भासती है । हे साधो, यथार्थभूत वास्तविक ब्रह्म का तत्त्वज्ञान हो जाने से इस विश्व का विलय हो जाता है और बाह्य तथा आभ्यन्तर सब चेष्टाओं से शून्य अवस्था के द्वारा स्फुरित हो रहा ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसारभ्रम को नष्ट करके अवशिष्ट रह जाता है ॥२३,२४॥

भावना रूप मन की एकमात्र कल्पना से उत्पन्न संसारभ्रम भावनात्याग एवं कल्पनारहित स्थिति से ही विनष्ट हो जाता है, यह कहते हैं ।

यद्यपि न तो कुछ वस्तु है और न कोई सामने पदार्थ ही है, तथापि एकमात्र भावना के बल पर आँखें बन्द कर पड़े हुए पुरुष को स्वप्न के जाग्रत्काल में जैसे बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का भ्रम होता है वैसे ही यद्यपि न कुछ वस्तु है न सामने कोई पदार्थ ही है तथापि भावना के बल पर आँखें खुली रखकर बैठे हुए पुरुष को जाग्रद्रूप स्वप्न में बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों का भ्रम होता है ॥२५,२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, भावना को शान्त करके पाषाण के समान निश्चल होकर तथा चिदेकरस होने से शिला से विलक्षण भीतर के अशिलाभूत यथास्थित आत्म

स्वभाव का अवलम्बन करके एकरूप से स्थित रहिये ॥२७॥

उस तरह की स्थिति बनाने के लिए अनुकूल विवेक-वैराग्य आदि साधनों का अभ्यास ही आत्मरूप परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामभद्र, पूर्णविवेकरूप उपहार से पूजनसाधन प्रारब्धप्राप्त अर्थों के द्वारा बोध के लिए बुद्धिपूर्वक आत्मस्वभावरूप परमेश्वर की पूजा कीजिये ॥२८॥ विवेक से पूजित स्वात्मभूत परमात्मा तुरत ही पूजा करनेवाले को निरतिशय आनन्दरूप प्रदान करता है। इस पूजा में रुद्र, उपेन्द्र आदि की पूजा तो, जीर्ण-शीर्ण तिनके के टुकड़े के सदृश, हलकी पड़ जाती है ॥२९॥ विचार, शम और सत्संगरूपी बलिदान-पुष्पों से पूजित हुआ परमेश्वर शीघ्र मोक्षफल प्रदान करता है। हे साधो, यह स्वात्मा ही परमेश्वर है ॥३०॥ केवल यथार्थ अवलोकनरूप अकेली पूजन सामग्री से जिसकी पूजा की गई हो, ऐसा सर्वोत्तम फल प्रदान करनेवाला यह ईश्वररूप आत्मा जहाँ उपस्थित हो, वहाँ भला ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो किसी दूसरे का *(अनात्मभूत तटस्थ ईश्वर का (*))* आश्रय करेगा? ॥३१॥

पूजन द्वारा प्रसन्न हुआ तटस्थ ईश्वर तो इस जीव की शस्त्र, सर्प, अग्नि आदि से भलीभाँति रक्षा कर सकता है, परन्तु कूटस्थ आत्मा भला क्या कर सकता है? इस आशंका पर कहते हैं।

सत्संग, शम, सन्तोष और विवेक द्वारा जिसने आत्मा की पूर्ण रीति से पूजा की है ऐसे पुरुष के लिए शस्त्र, सर्प, विष और अग्नि ये सब शिरीण (सिरस) के फूल बन जाते हैं ॥३२॥

अविवेकियों द्वारा किये गये देवतापूजन आदि सत्कर्मों में अपराध होने की अवश्य संभावना है, ऐसी स्थिति में वे निष्फल या अनर्थ देनेवाले हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि उन कर्मों में देश, काल, पात्र, द्रव्य, कर्ता आदि की विशुद्धि तथा उनके परिज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, शान्ति आदि की यदि आवश्यकता पड़ जाती है, तो सर्वविध क्लेशों से रहित महाफलवाले आत्मदर्शन में ही उनका उपयोग क्यों न किया जाय? यह कहते हैं।

जिनको देश, काल, पात्र आदि का विवेक नहीं है, ऐसे दुरात्माओं द्वारा अत्यधिक किये गये देवपूजन, तप, तीर्थाटन, दान आदि सबके सब तत्त्वशून्य होने के कारण भस्मीभूत हो जाते हैं। इसलिए यदि सब विवेक से सफल किये जाय, तो अपने अन्तःकरण में विवेक की ही स्पष्टरूप से साधना क्यों नहीं की जाय? ॥३३,३४॥

वह कौन-सा विवेक है, जिसकी आप साधना बतला रहे हैं, इस पर उसे कहते हैं।

वास्तविक पदार्थ के विज्ञान के अनन्तर वासना के आत्यन्तिक उच्छेद में जो प्रयत्न है, वही विवेकशब्द का अर्थ है, यह निष्काम यज्ञ तथा दान किया गया आदि कर्मों से जनित चित्त

(*) देखिये श्रुति क्या कहती है :

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेध स देवानाम्।

की प्रसन्नता से ही होता है । वैराग्य आदि सब साधन रूप ही यह यत्न है ॥३५॥ अपने भीतर शमरूपी अमृत से विवेक को ऐसे धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिए, जैसे कि विषयभ्रान्तियों से वह फिर नष्ट न होने पावे ॥३६॥ मनुष्य देह की सत्ता का अनादर कर उसमें स्थित तात्त्विक वस्तु का प्रत्यक्ष करें, फिर उससे होनेवाले लज्जा, भय, विषाद, ईर्ष्या, सुख, दुःख आदि के ऊपर बराबर विजय प्राप्त करें ॥३७॥

देह की सत्ता के अनादर में उपायभूत विचार दिखलाते हैं ।

शरीर का कारण जगत् और जगत् का भी कारण पहले ही नहीं रहा, फिर आज वह कहाँ से रहेगा ? यदि कहो कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुति में बतलाया गया ब्रह्मात्मक कारण तो पहले से ही है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य यदि कारण का ही रूप है, तो आखिर में वह ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है, अन्यरूप नहीं ॥३८॥ समस्त विकल्पों से निर्मुक्त विशुद्ध प्रतिभामात्र ही ब्रह्म का स्वरूप है । विकल्प प्रतिभा भी चिदाभासरूप ज्ञानरूपा ही है, इसलिए ज्ञान से पृथक् घट आदि का अस्तित्व नहीं है, किन्तु समस्त जगत् ज्ञानरूप ही है ॥३९॥ जिसमें आत्मतत्त्वरूप श्री प्रतिबिम्बित है ऐसी ज्ञप्ति यानी चिदाभासरूप ज्ञान तब होता है, जब कि आत्मा का तत्त्वज्ञान पहले नहीं रहता, इसलिए उसको प्रत्यगात्ममात्रस्वरूप जान लेने पर वह स्वयं नष्ट हो जायेगी, क्योंकि उस समय आत्मतत्त्व से अलग करनेवाली कोई उपाधिभूत वस्तु अलग नहीं रहेगी । ठीक ही है, दर्पण में देखी गई मुखशोभा दर्पण के हट जाने पर स्वयं ही शान्त हो जाती है । जब उपाधि शान्त हो जाती है तब ज्ञप्ति का स्वरूप नहीं कहा जाता । उस समय सदा स्थायी शिवस्वरूप एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रहता है । यह शिवस्वरूप वस्तु शरीर आदि अवयवों से रहित जगद्रूप से निर्मुक्त पूर्ण, शान्त, ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञप्तिरूप त्रिपुटी से शून्य, पत्थर की चट्टानों के सदृश वाणी के व्यापारों से वर्जित है और यह सारा प्रपंच तद्रूप ही है ॥४०,४१॥

आप सब लोगों को वह शिवस्वरूप स्थिति ही प्राप्त करनी चाहिये, यह कहते हैं ।

इसलिए आप लोग जैसे पाषाण–प्रतिमाएँ शान्त रहती हैं, वैसे ही अपने अन्तःकरण को शान्त बनाकर स्वस्थ होइए एवं सांसारिक सब व्यवहारों को करते तथा कराते हुए भी ज्ञानी के रूप में ही स्थित रहिये ॥४२॥ ज्ञेय और ज्ञान से शून्य सद्रूप, सत् और असत् के सारभूत, आकाशगोलक के समान विशद तथा संसार के अकारणभूत आप लोग हो जाइये ॥४३॥ ज्ञानी पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ चाहे स्थित रहते हैं और जहाँ जाने की इच्छा होती है, बड़े आनन्द से वहाँ चले जाते हैं। वे एकमात्र प्रारब्धप्राप्त अपना कर्म करते हुए परब्रह्म परमात्मा के स्वरूपभूत बन जाते हैं ॥४४॥

अथवा निरन्तर समाधि में ही स्थित रहिये, यह कहते हैं ।

अथवा समस्त इच्छाओं के उत्तम त्याग से शान्त हुए अन्तःकरण से युक्त होकर आप लोग, चित्रकर्म में लिखित मूर्तियों के सदृश, निश्चलवृत्ति हो एकान्त स्थानों में ही स्थित रहिये ॥४५॥ भद्र, संकल्प की शान्ति हो जाने पर जैसे संकल्पनगर शान्त हो जाता है अथवा जाग्रत्-पुरुष के लिए स्वप्न नष्ट हो जाता है वैसे ही समाधि और व्यवहार दशा में निरन्तर आत्मज्ञान से सम्पन्न पुरुष के लिए सम्पूर्ण जगत् सदा के लिए ही विनष्ट हो जाता है ॥४६॥

वही तत्त्वज्ञान निर्वाण में उपयोगी है, जो नेत्रवाले पुरुष को हुए रूपानुभव के सदृश प्रत्यक्ष एवं पूर्णानन्दानुभव तक स्थिर रह सकता है, जन्मान्ध पुरुष की रूपकल्पना के सदृश परोक्ष-सा तत्त्वज्ञान निर्वाण में उपयोगी नहीं है, यह कहते हैं।

कुछ वेदान्तवाक्यों के श्रवण से ही 'मैं तत्त्वज्ञ हो गया' इस प्रकार के भ्रम में पड़कर मोक्ष का वर्णन कर रहा अज्ञानी पुरुष, देखनेवाले पुरुष को हुए रूपानुभव का वर्णन कर रहे जन्मान्ध पुरुष के सदृश, अपने भीतर मान-अपमान आदि दुःखों से सन्तप्त रहता है। तत्त्वज्ञ के सदृश भीतर सुख का अनुभव नहीं करता ॥४७॥

अन्धगोलांगूल न्याय से असत् उपदेश से ठगे गये पुरुषों में भी कृतार्थता की भ्रान्ति होती है, यह लोक में प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

अविद्यास्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेश से कोई पुरुष 'मैं कृतार्थ हूँ' यों यदि मानता है, तो वह अज्ञानी होने के कारण असल में अकृतार्थ ही है। अपने में कृतार्थता जान रहा वह मूर्खता से अत्यन्त मोहित है। ऐसा पुरुष दूसरे क्षण में अनेकविध यातनाओं के कारण अपनी अकृतार्थता ही जान पायेगा ॥४८,४९॥

इससे कल्पनात्मक ज्ञान मोक्ष का उपाय नहीं है, तत्त्वज्ञों के इस अनुभव को लेकर उपसंहार करते हैं।

जो काल्पनिक उपाय है वह निमेषभर में ही भाव, अभाव तथा इच्छा भ्रमों से दुःखदायी होने के कारण मोक्ष का उपाय नहीं है, यह तत्त्वज्ञों का मत है ॥५०॥

इसलिए पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान को ही वासनाविनाशपर्यन्त दृढ़ करना चाहिये। वही तत्त्वज्ञान निर्वाण रूप बन जाता है, इस आशय से कहते हैं।

जगद्रूप भ्रम का अच्छी तरह ज्ञानकर जो वासनाशून्य स्थिति होती है वही निर्वाण कहा जाता है, हिरण्यगर्भस्थान तक के समस्त विषय उसकी अपेक्षा नीरस हैं ॥५१॥ इसलिए हे श्रीरामभद्र, मैंने जिस अर्थ का उपदेश दिया है उसे लौकिक या पौराणिक कथार्थ के सदृश कल्पनामात्ररूप बहिर्मुखवृत्ति से जानकर आप कृतार्थ मत होंगे, किन्तु एकमात्र वासनाओं की भयंकर बाढ़ से चारों ओर बह रहे जगद्रूपी अचित् जल को ही देखेंगे तभी मोक्ष में स्थित रहेंगे यानी कृतार्थ होंगे ॥५२॥

उसीको दृढ़ करते हुए कहते हैं।

हे भद्र, उपदेशवचनों से जन्मान्ध पुरुष के रूपानुभव के सदृश परोक्षरूप यदि आपने जाना, तो वह आपका न जानना ही है यानी अज्ञान ही है,क्योंकि अपरोक्ष वस्तु के विषय में हुआ परोक्षज्ञान केवल भ्रमात्मक ही होता है। इसलिए ऐसे ज्ञान को तिरस्कृत कर प्रत्यगात्मस्वरूप इस नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञान में पड़कर आप जन्मादिशून्य आत्मानुभवरूप ही बन जाइये, यही निर्वाण है ॥५३॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

अज्ञानकल्पित यक्षनगर जैसे इस जगत् का शुद्ध तत्त्वज्ञान से
विनाश हो जाने पर एकमात्र ब्रह्म में ही स्थिति हो जाती है यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, भोक्ता और भोग्यरूप यह जो सम्पूर्ण आन्तर अहन्तादि और बाह्य जगत् है वह सब तत्त्वज्ञान से (जगदनुभवरूप भोग के स्वरूपज्ञान से) असत्य बन जाता है। जो भोग होता है उसका अवसाद चिति से ही होता है। वह भोक्ता और भोग्य के सम्बन्ध का अनुभव है। उसी अनुभव से मोह के द्वारा आत्मा और अनात्मा के धर्मों को एक दूसरे में समझनेवाले यानी भोक्ता में ही आत्मबुद्धि रखनेवाले मूढ़ों को बाह्य जगत् का भोग होता है, स्वतः नहीं। इसलिए परमार्थदशा में बाह्य और आभ्यन्तर जगत् का अनुभव ब्रह्मरूप ही है ॥१॥

इसीलिए तत्त्वज्ञानियों को भोग्यवर्गों में रुचि नहीं होती, यह कहते हैं।

जो पुरुष अज्ञान से भलीभाँति मुक्त हो गया है तथा जिसकी आत्मा बोध से शीतल हो चुकी हैं, ऐसे महानुभव का यही चिह्न है कि उसे भोगजल रुचता नहीं ॥२॥

इस प्रकार भोग्यवस्तुओं से जो विरक्त हो गये हैं उनके लिए भोक्ता में अहंकाररूपी अंश का एकमात्र त्याग कर देने से विशुद्ध चिन्मात्ररूप से अवशिष्ट निर्वाण सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

भद्र, नामरूपात्मक विषयों के भ्रमस्वरूप दूसरे–दूसरे ज्ञानों का सम्पादन करना निरर्थक ही है। केवल अहंबुद्धि का अभाव ही मोक्ष है, यह आप जानिये ॥३॥

भोगजल नहीं रुचता, यह जो कहा गया है, उसी को पुनः विशदरूप से कहते हैं।

जैसे स्वप्न में दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जगे हुए पुरुष को किसी तरह का आनन्द प्रदान नहीं करते और न उसकी दृष्टि में वे अपना अस्तित्व ही रखते हैं वैसे ही 'मैं' 'यह जगत्' इत्यादि भ्रम में देखे गये पदार्थ न तो तत्त्वज्ञानी को आनन्द प्रदान करते हैं और न उसकी दृष्टि में अपना अस्तित्व ही रखते हैं ॥४॥

इस विषय में गन्धर्व–मायाकल्पित नगर दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

जैसे यक्ष अपनी भावना से वृक्ष में अपने स्वजन से युक्त असत्य नगर को देखता है वैसे ही

जीव अपनी अविद्या से असत्य ही इस विशाल संसार को देखता है ॥५॥ यद्यपि भ्रान्तिकल्पित भोक्तारूप होने से विभ्रमरूप यक्ष तथा भ्रान्तिकल्पित भोग्यस्वरूप होने से उसका नगर भी नहीं है, तथापि परस्पर उपभोगरूप अर्थक्रियाकारी होने से जैसे वे दोनों सद्रूप की तरह स्थित हैं वैसे ही मिथ्या अहन्ता और जगत् का भ्रम भी स्थित है ॥६॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों में असत् के भी सत्यरूप से प्रतिभास में आवरणशून्य साक्षी का अध्यास ही निमित्त है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे जंगल में यक्ष आदि विभ्रमरूप ही स्फुरित होते हैं वैसे ही आवरण न रहने से ये चौदह भुवन भी स्फुरित होते हैं। तात्पर्य यह कि आवरणरहित साक्षी में अध्यास के कारण ही ये चौदह भुवन स्फुरित होते हैं ॥७॥

यक्ष के अपने कल्पित देह, नगर आदि के उपसंहार की तरह जगद्रूप के बाध में भी उसे एकमात्र मिथ्यारूप देखना ही हेतु है, यह कहते हैं।

जैसे यह सब कुछ एकमात्र मेरा भ्रम है, और कुछ नहीं यों विचार करता हुआ यक्ष अयक्ष हो जाता है वैसे ही अहमादि सब जगत् मिथ्या ही है यों जानकर यह चित्त चिद्रूप तात्त्विकभाव को प्राप्त हो जाता है ॥८॥ सम्पूर्ण कल्पनाओं तथा आशंकाओं से रहित, त्याग तथा ग्रहण से शून्य, बहुत दूर तक जानेवाली समस्त इच्छाओं से रहित तथा शान्त होकर हे श्रीरामजी, जैसे आप स्थित हैं, स्थित रहिये ॥९॥

विचारपूर्वक देखने से यह दृश्य एकमात्र द्रष्टारूप या तुच्छरूप ही पर्यवसित होता है, यह कहते हैं।

यह सब दृश्य द्रष्टारूप ही व्याप्त है अथवा सत्ता की उत्पत्ति से शून्य द्रष्टारूप भी यह नहीं है, क्योंकि सत् परमार्थ चिद्रूप द्रष्टृतत्त्व जो अवाच्य है वह क्या तुच्छ दृश्यरूप स्थापित हो सकता है ? कदापि नहीं। कोई भी सत् को असत्–रूप नहीं बना सकता, यह तात्पर्य है ॥१०॥

द्रष्टा के दृश्यस्वरूप न होने पर भी व्यवहार में दृश्यसत्ता की स्फूर्ति का निर्वाहक द्रष्टा हो सकता है, यह दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं।

जैसे वसन्त ऋतु के रस का प्रवाह ही वृक्ष, गुल्म आदिरूप है वैसे ही एकमात्र अपने स्वरूप से ही परिपूर्ण बना देनेवाली आत्मसंवित् ही सृष्टि है ॥११॥

परन्तु परमार्थ में तो द्रष्टा के साथ ऐक्य की सम्भावना भी नहीं है, यह कहते हैं।

जो यह जगत् का आभास है वह सब विशुद्ध चिन्मात्र वेदनरूप ही है। इसमें क्या एकत्व या क्या द्वित्व हो सकता है। इसलिए हे श्रीरामजी, आप पूर्णरूप से निर्वाणस्वरूप से स्थित रहिये ॥१२॥

अब भगवान् वसिष्ठजी सबके प्रति दया से हितकारक बातें उद्घोषित करते हुए उपदेश देते हैं।

हे सज्जनों, आप सबके सब चिन्मय आकाश हो जाइये, परम रस का निरतिशयानन्द का पान कीजिये तथा निर्वाणरूप नन्दनवन में सभी आशंकाओं से शून्य हो स्थित रहिये ॥१३॥ हे मनुष्यों, आप सबके सब बिलकुल शून्य इस संसाररूपी महाजंगल की मरुभूमियों में भ्रान्तचित्त मृगों की नाईं क्यों भटकते–फिरते हैं ? ॥१४॥ हे त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णाजल से ठगे गये अतएव नष्टबुद्धि जीवों, आप लोग तृष्णा से चंचलहृदय होकर व्यग्रतापूर्वक इधर–उधर मत दौड़ते फिरें ॥१५॥ हे बाह्य तथा आभिमानिक भोगरूपी मृगतृष्णाजलका पान करनेवाले मृगों, तुम लोग व्यर्थ का परिश्रम उठाकर अपनी आयु मत गँवाओ, मत गँवाओ ॥१६॥ हे सभ्यपुरुषों, जगद्रूपी गन्धर्वनगर में विवेक को नष्ट कर देनेवाले गर्व से आप लोग नष्ट न हो जायें। अपने को नष्ट कर देने के लिए ही स्थित इन सुखस्वरूप सांसारिक पदार्थों को आप लोग दुःखरूप ही देखें ॥१७॥ जगद्–रूपी केशोण्ड्रक की भ्रान्ति के लिए ब्रह्माकाश के मध्य में अज्ञानरूपी नीलिमा का आप लोग अवलोकन न करें, किन्तु अभ्रान्त अपने स्वरूप में परिणत हो जायें – विश्राम करें ॥१८॥ हे मनुष्यों, ऊँची शाखाओं में स्थित पीपल के पत्तों पर गिरे तथा वायु द्वारा कम्पित हुई ओस की बूँदों के सदृश क्षणभंगुर मनुष्य शरीरोंवाली इन संसाररूपी अन्धकारपूर्ण गर्भशय्याओं पर आप शयन मत करें ॥१९॥ आदि और अन्त से शून्य पारमार्थिक ब्रह्मभाव में आप लोग शान्त हो निरन्तर स्थित रहें। द्रष्टा और दृश्य इत्यादि विरुद्ध स्वभावरूपी दोष से नष्ट न हो जायें ॥२०॥ अज्ञानीजन ही इस संसार को सत्य समझते हैं। वस्तुतः वह कुछ भी नहीं है। अवशिष्ट जो सत्यवस्तु है उसका तो नाम भी नहीं है ॥२१॥ तृष्णारूपी लोहे की श्रृंखला से वेष्टित संसाररूपी पिंजरे को आत्मज्ञान के बल से जबर्दस्ती तोड़कर सिंह के समान सबके ऊपर स्थित रहिये ॥२२॥ 'मैं' और 'मेरा' इस अभिमानरूप भ्रान्ति की एकमात्र शान्ति ही मुक्ति है। इसके सिवा और कोई दूसरी वस्तु मुक्ति नहीं है। तथा जिस किसी रूप से स्थित योगी की वह अपनी सत्ता ही है ॥२३॥

अपार संसारमार्ग में निरन्तर चलते रहने के कारण खिन्न हुए पथिकों के लिए वही विश्रान्ति का एक अलग स्थान है, वह विश्रान्ति का स्थान है, यों उसीकी कल्पनाकर कहते हैं।

इस संसाररूपी मार्ग में लगातार जलते रहने से खिन्न हुए पथिक के लिए निर्वाणता, वासनाशून्यता और उत्कृष्ट त्रिविधतापशून्यता ये तीनों ही शान्त विश्राम की भूमिका हैं ॥२४॥ परस्पर कथन के अयोग्य अर्थों से भरे ये जगत् के पदार्थ हैं। इन्हें तत्त्वज्ञ जैसा समझते हैं वैसा मूर्ख नहीं समझते और मूर्ख जैसा समझते हैं वैसा तत्त्वज्ञ नहीं समझते ॥२५॥ जैसे महासमुद्र से वेष्टित हो समुद्ररूप से स्थित हुई गंगा, गोदावरी और नर्मदा आदि नदीरूप आकृति समुद्रवासियों को उपलब्ध नहीं होती, वैसे ही भ्रान्ति की निवृत्ति हो जाने पर यह संसार की आकृति भी ज्ञानियों को उपलब्ध नहीं होती ॥२६॥

फिर इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं।

भ्रम के शान्त हो जाने पर सांसारिक स्वरूप से स्थित ही जीवन्मुक्त ज्ञानी के लिए यह संसाररूप भी उपलब्ध नहीं होता । उसके लिए तो अपने स्वरूप में स्थित एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान रहता है ॥२७॥ जैसे खूब जला दिये गये तृणों की भस्म का ढेर वायु से उड़कर न जाने किस जगह पर चला जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूप में विश्राम करनेवालों की संगति से ज्ञान प्राप्तकर सज्जन पुरुषों का यह जगत् न जाने कहाँ चला जाता है ॥२८॥ ब्रह्मपद का जो बृंहणरूप (वर्द्धनशील) अर्थ है उसी का आकारविशेष जगत् है । वह आकारविशेष यदि ब्रह्मशब्द का मुख्यार्थरूप आत्मा ही यानी निर्विकल्प-स्वप्रकाश-निरतिशयानन्द प्रत्यगात्मा ही है, तब तो वह 'जगत्' शब्द का अर्थ बहुत उत्तम है । किन्तु 'गच्छति-षड्विधविकारैः परिवर्तते - इति जगत्' यानी छः तरह के विकारों से जो सदा परिवर्तित होता है उसे जगत् कहते हैं । इस तरह की व्युत्पत्ति से 'जगत्' शब्द का अर्थ यदि विकारात्मक कार्यों का भागी किया जाता है, तो फिर वह अर्थ उत्तम नहीं है ॥२९॥

इस संसार के निर्विकल्प का अनुभव बच्चे को भी होता है, उसका साम्य दिखलाते हैं।

जिस बच्चे को अभी विशेष ज्ञान नहीं हुआ है उसको ये संसार के पदार्थ जिस तरह के भासते हैं, ठीक उसी तरह के ये सभी संसार के पदार्थ वासनाशून्य स्थित विद्वान् को भासते हैं ॥३०॥

इन सांसारिक पदार्थों का अनुभव तत्त्वज्ञानियों को जैसा होता है वैसा मूर्खों को नहीं और मूर्खों को जैसा होता है वैसा तत्त्वज्ञानियों को नहीं 'यह जो ऊपर कहा गया है, उसका गीता में प्रतिपादित भगवान् श्रीकृष्ण के वचन से मेल दिखलाते हैं।

भद्र, आत्मा का यथार्थ ज्ञान अज्ञानियों के लिए एक तरह की रात ही है, क्योंकि जैसे अन्धेरी रात प्रकाशरूप नहीं रहती, वैसे ही अज्ञानियों के प्रति आत्मा का ज्ञान भी प्रकाशरूप नहीं रहता। इस तरह की जो आत्मविद्यारूपी रात है उसमें जितेन्द्रिय तत्त्वज्ञ पुरुष जागता रहता है यानी आत्मविद्या के लिए तत्त्वज्ञ पुरुष निरन्तर ऐसे सावधान रहता है कि उसमें से क्षणभर के लिये भी च्युत नहीं होता । और जिस द्वैतबुद्धिरूप अज्ञानदशा में प्राणी व्यवहार करते हैं वह तत्त्वज्ञ मुनि के लिए रात है, क्योंकि ज्ञानी के प्रति उसका प्रकाश ही नहीं रहता ॥३१॥

इसीकी व्याख्या करते हैं।

चूँकि अज्ञानरूप अन्धकार से सभी प्राणी आवृत हैं, इसलिए सुषुप्त की तरह स्थित आत्मतत्त्व ही इस तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए अविरत जागरणरूप है, इसी दृष्टि से या 'निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' यह कहा गया है और चूँकि मूढ़ जनों में जाग्रद्रूप से प्रसिद्ध शब्दादिविषयास्वाद चित्र में देखे गये युद्धादि की तरह सामने स्थित रहते हुए भी इस तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में नहीं रहते इसलिए 'यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' यह कहा गया है ॥३२॥

उत्तरार्ध की पुनः व्याख्या करते हैं।

जन्मान्ध पुरुष को हुए रूपों के अनुभव के सदृश ज्ञानी पुरुष को जगत् का अनुभव यदि होता है, तो वह रात्रिस्वप्नवत् होता है और यदि नहीं होता, तो निशासुषुप्त के समान होता है ॥३३॥ मूढ़ पुरुषों को दुःखरूप से प्रसिद्ध ये तीनों जगत् उन्हीं के लिए हैं, तत्त्वज्ञानी के लिए नहीं, क्योंकि ये सत् नहीं है । *(यदि ज्ञानी के लिए विषयोपभोग नहीं है, तो फिर वह ज्ञानी किससे तृप्त होकर जीवित रहता है, इस पर कहते हैं ।)* स्वप्नरूप से स्वप्न का ज्ञान हो जाने पर स्वप्न के बाह्य और आभ्यन्तर विषय जागे हुए पुरुष को जैसे नहीं रुचते, वैसे ही यद्यपि जाग्रत्-स्वप्न के भोग नहीं रुचते, फिर भी वह सारे भेदों से रहित, सबके विश्वास के, श्रद्धा के भाजन परम ऐक्य को प्राप्त, निर्वाणस्वरूप होकर सर्वदा मन में पूर्ण शान्ति का अवलम्बन कर ही अवस्थित रहता है । भोगों की वासनाओं द्वारा चित्त का बाहर आकर्षण न होने के कारण ज्ञानी की स्थिति ध्यान के चित्तनिरोध के लिए किये जानेवाले प्रयत्न के बिना भी समान ही रहती है *(इसका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं ।)* ठीक ही है नाली आदि निम्नमार्ग के बिना तालाब आदि के जल की प्रवाह आदि क्रिया कुछ हो नहीं सकती ॥३४–३६॥

बाह्य अर्थों का बाध होने पर बाह्य इन्द्रियों का निरोध हो सकता है, परन्तु मन का निरोध कैसे हो सकता है, यह कहते हैं ।

अर्थ (विषय) ही मन है और मन ही अर्थ है । जो बाह्य और आभ्यन्तररूप विषयाभास है, वह मन ही है ॥३७॥ जैसे नदियों के जल जब तक समुद्र में नहीं पहुँचते तब तक नदी, प्रवाह आदि नानाविध आकारों में भासित होते हैं, किन्तु जब वे समुद्र में जाकर मिल जाते हैं, तब तो एकमात्र जलरूप ही भासते हैं, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूण अर्थ तथा अनर्थों का समुदाय जो स्फुरित होता है वह सब सर्वत्र व्याप्त मन ही स्फुरित होता है, उसी से अर्थों का निर्भास होता है । मन तथा संसार के पदार्थों में भेद ऐसे नहीं है, जैसे जल और तरंगों में भेद नहीं है । *(ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं ।)* इसलिए मन तथा सांसारिक पदार्थ इन दोनों में से किसी एकका बाध हो जाने पर दोनों का ही बाध हो जाता है, जैसे कि पवन तथा उसके स्पन्दन का । इसलिए इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि परमार्थदृष्टि से निःसार इस जगत् में एकरूप होने के कारण अर्थज्ञ और मन दोनों ही किसी एक की शांति से शान्त हो जाते हैं । इससे तत्त्वज्ञान से जब अर्थ का बाध हो जाता है तब मन भी बाधित हो ही जाता है ॥३८–४१॥ संसार के सब अर्थ संकल्परूप ही हैं, बुद्धिमान् व्यक्ति को उसकी कभी भी इच्छा नहीं करना चाहिए, मन की भी यही स्थिति है, इसलिए तत्त्वज्ञान से अर्थों की एवं मन की निवृत्ति अवश्य हो जायेगी ॥४२॥

संसार के पदार्थों और मन का जो यह बाध है वह स्वप्न में हुए व्याघ्रनाश के समान अनष्ट का ही नाश है, यह कहते हैं ।

भद्र, ज्ञानी पुरुष के अर्थ और मन अनष्ट ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जब अर्थ और मन की

कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई, तब उनका नाश ही क्या ? इसलिए वे अनष्ट ही हैं। जैसे कि किसी एक मिट्टी की मूर्ति में भ्रान्ति से कोई एक पुरुष अपने शत्रु की कल्पना कर लेता है, किन्तु ज्ञान से जब उसको मिट्टी की मूर्ति मालूम पड़ जाती है, तब वह मूर्ति न शत्रुरूप ही रहती है और न शत्रुजनित भय की कारण ही होती है, बस वही स्थिति यहाँ पर भी है ॥४३॥ ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में अर्थ और मन दोनों पारमार्थिक ब्रह्म-स्वभाव से ही स्थित हैं। वे जिस सांसारिक मिथ्यारूप से स्थित थे उस रूप से विलक्षण पूर्णानन्दात्मक पारमार्थिक सत्स्वरूप से ही स्थित हैं ॥४४॥ तत्त्वज्ञ की दृष्टि से सुखादि भोग एवं जगत् को कार्य-कारणरूप से जुटा देने में समर्थ काल, कालकृत जन्मादिविकार, भोगकर्ता एवं अज्ञों के शब्दादि विषय-ये सब ऐसे असत् हैं, जैसे समीप में सोये हुए पुरुष का स्वप्न ओर अधीर बालक को सामने भास रहा यक्ष ॥४५॥ जैसे धीर-वीर पुरुषकी दृष्टि में पिशाचबुद्धि अस्तित्व नहीं रखती, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में अज्ञानियों के समस्त जगत् भी अस्तित्व नहीं रखते। अज्ञानी पुरुष ज्ञानी को भी बहुतकाल तक अज्ञानी समझता है। ठीक ही है, अज्ञानी की दृष्टि से तो वन्ध्या भी पुत्र-पौत्र आदि परम्परा से बढ़ती-रहती है ॥४६॥

तब तत्त्वज्ञानी पुरुष जगत् का स्वभाव कैसा मानते हैं, इस पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी लोग तो ज्ञेयरूप न होते हुए भी स्वप्रकाशस्वरूप होने से ही अर्थाभास की तरह स्थित यानी भासमान (ज्ञेयरूप) तथा आदि और अन्त से शून्य ब्रह्मरूप बोध को संसार का असली स्वभाव कहते हैं ॥४७॥

बाह्य अर्थों में कहे गये जानने के प्रकार को आभ्यन्तर मानसिक अर्थों में और समझना चाहिए, यह कहते हैं।

और मन के शब्दार्थ से रहित (मानसिक ज्ञान के अविषय) कालादि विभागकृत परिच्छिन्नता से वर्जित बोधरूपी जल मन एवं बुद्धिरूपी तरंगों से युक्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह निर्मल ही ही है और इसीको प्रपंचगत स्वभाव समझते हैं ॥४८॥

इस तरह विस्तार के साथ अज्ञानी और तत्त्वज्ञानियों के जगत्-ज्ञान के जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, उनमें यथार्थरूप होने के कारण द्वितीय प्रकार ही उपादेय है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुद्ध आत्मा के भीतर संसार के पदार्थों तथा मन का संभव कहाँ है अथवा वे हैं ही क्या ? इस मन तथा जगत् के विषय में उत्पन्न हुई भ्रान्ति बिलकुल निरर्थक है। इसलिए आपसे यही कहना है कि आप ब्रह्मस्वभाव में स्थित रहिये ॥४९॥

अपनी असली स्थिति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ एकमात्र तुरीय बोधरूप बन जाती हैं तदनन्तर मन को मनन करनेका कोई विषय ही नहीं रह जाता, इससे मन भी शान्त हो जाता है, यह कहते हैं।

शरत्काल के कमलों, तारों या मनुष्यों को आकाश की नाईं शुद्धज्ञानस्वरूप ब्रह्मस्वभाव में

स्थित पुरुषों को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से मन का अनुभव नहीं होता ॥५०॥ जिसमें अनन्त नानात्व (भेद) उपस्थित है, ऐसे सम्पूर्ण ज्ञेय का विधूनन करके हे श्रीरामचन्द्रजी, रज्जू में अध्यस्त सर्प का विधूनन कर अपने स्वरूप में स्थित रज्जू की नाईं आप भी अपने चिद्घन स्वभाव में स्थित हो जाइये ॥५१॥ बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों के स्वरूप को ज्ञप्ति ही धारण करती है, जैसे कि बीज शाखा तथा फल आदि के स्वरूप को धारण करता है । अतः हे श्री रामचन्द्रजी, बतलाइये तो सही, ऐसी स्थिति में अर्थ और मन कहाँ रहे ? ॥५२॥ ज्ञेय पदार्थों के अभाव से ज्ञप्ति (बुद्धि या वृत्ति) भी अनिर्वचनीय पदको प्राप्त हो चुकी है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण विशेषों से शून्य स्वयंप्रकाश सद्रूप आत्मा ही शेष है ॥५३॥

पदार्थ और मन दोनों का निरूपण एक-दूसरे के अधीन होने से इनमें कोई भेद न रहने पर आखिर में एकमात्र भ्रान्ति ही इनमें सिद्ध होती है, यह कहा है।

अर्थ ही मन है और वह अभावरूप भ्रम है तथा मन ही जगत् के पदार्थ रूप से परिणत होता है और वह भी अभावरूप भ्रम ही है ॥५४॥

तब ऐसी दशा में जगत् के पदार्थ और मन वे दोनों तत्त्वतः क्या है। इस पर कहते हैं।

ब्रह्म के सम्पूर्ण वस्तुओं की आत्मा होने से कारणशून्य इस मनरूप से वही भासता है और भ्रम के अनुभव से पदार्थ भी मिथ्या ही भासता है ॥५५॥ हे श्रीरामजी, जैसे कारणरहित अर्थों का प्रकाश होता है वैसे ही कारण रहित ही मन भी भासता है । बिजली की चमक के तुल्य अस्थिर यह मन इधर-उधर अपनी चंचलता प्रकट करता है ॥५६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र मन का स्वरूप होकर आप भी इस संसार में भ्रान्त-से हो रहे हैं । एक आत्मस्वभाव का यदि आप परिज्ञान कर लेते हैं, तब तो आप न मनरूप हैं और न भ्रान्त-से ही हो रहे हैं ॥५७॥ यह निश्चित है कि मन से ही यह संसार उत्पन्न होता है और आत्मज्ञान से शान्त हो जाता है । सीप में चाँदी के भ्रम के आकार का मनुष्य झूठ-मूठ में दुःख उठाता है ॥५८॥ परन्तु ज्ञान ही परमात्मा का असली स्वरूप है और संसार का अभाव भी ज्ञानरूप ही है । निर्वाण से भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता तो एकमात्र दुःख के लिए ही है ॥५९॥

तब निर्वाण से भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता किस उपाय से शान्त होती है, वह उपाय बतलाते हैं।

मृगतृष्णाजल के सदृश इस अहंकार का रूप असत् और शून्य ही है, इस तरह के आत्मा के परिज्ञान से यह अहंकार बिलकुल शान्त हो जाता है ॥६०॥

ऐसा कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानमय ब्रह्मा सर्वज्ञ होने के कारण सृष्टि करने योग्य सभी पदार्थों को आत्मस्वरूप ही जानकर स्वयं उस तरह के ज्ञानयुक्त हिरण्यगर्भ होकर उसके संकल्प के अनुसार

बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थरूपता को अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का परित्याग न करते हुए ही ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तरंगरूपता को जल ॥६१॥

ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृत में क्या आया, इस पर कहते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मूल से लेकर शाखा के अग्रभाग तक वृक्ष की जैसे एक ही सत्ता है वैसे ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप जगत् में भी अत्यन्त निर्विकारभाव को प्राप्त ज्ञेयपर्यन्त एक ही ज्ञप्ति की (ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की) सत्ता सर्वत्र भास रही है, दूसरी सत्ता नहीं है ॥६२॥

सत्ता की एकता में दूसरा दृष्टान्त देकर उसका उपपादन करते हैं।

जैसे लाखों योजनपर्यन्त दूर एक ही निर्मल आकाश भासता है, वैसे ही ज्ञेयपर्यन्त एक ही अखण्डित निर्मल ज्ञान भासता है ॥६३॥

ज्ञान की निर्मलता में भी यही दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

जैसे सर्वत्र विद्यमान एक आकाश शून्यरूप होने से निर्मल है, वैसे ज्ञान-ज्ञेयदशा में भी विद्यमान ब्रह्म निर्मल है, यह जानकर स्थित रहिये ॥६४॥ जैसे घनीभूत होकर घी अपने को पाषाणरूप कर लेता है ऐसे ही चेतन विषयरूप होकर अपने को चित्तरूप करता है ॥६५॥ बोधरूप आत्मा के अज्ञान से ही देश, काल आदि सामग्री के बिना यह अज्ञानी आत्मा चित्तरूप बन गया है। वस्तुतः उक्त तर्कों से यह आत्मा एक ही स्थित है ॥६६॥ शुद्ध चिदात्मा में यद्यपि अज्ञान आदि का कोई संभव नहीं है, तथापि अज्ञानकाल में एक दूसरों को बोध देने के लिए यह सब कल्पना की जाती है ॥६७॥

चूँकि अविद्या आदि का स्वरूप सर्वथा असंभव है, इसलिए तत्त्वज्ञान का उदय हो जाने पर अविद्या के साथ सब पदार्थ गल जाते हैं। इस तरह उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञान से मूलअज्ञान के शान्त हो जाने पर महानुभाव लोग अभिमानरहित हो घी की तरह अपने स्वरूप में ही गलित हो जाते हैं तथा गल जाने से वे निरतिशयानन्दपूर्णभाव से शान्त होते हुए विक्षेपरहित हो निरन्तर समाधिरूपी विश्रान्ति में तत्पर होते हैं ॥६८॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

समाधिरूपी कल्पद्रुम को हर तरह से बोना चाहिये, ताकि उसके नीचे
जीव का श्रान्त मनरूपी मृग अच्छी तरह विश्रान्ति पा सके, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, समाधिरूपी वृक्ष की सत्ता का (स्थिति का) क्रमशः वर्णन कीजिये, जो विवेकी पुरुषों के जीवन के उपयोगी सब तरह के फलों से सुशोभित है तथा जो लता, पुष्प आदि से युक्त मनरूपी मृग को विश्रान्ति प्रदान करनेवाली है ॥१॥ महाराज वसिष्ठजी ने

कहा : हे श्रीरामजी, सुनिये, मैं आपसे ऐसे समाधिरूपी वृक्ष का वर्णन कर रहा हूँ, जो विवेकीजनरूपी जंगल में पैदा हुआ है, जिसकी ऊँचाई अभी भी बढ़ती ही जा रही है, जो अपने पत्र, पुष्प एवं फलों से खूब लदा है और जो विवेकी पुरुषों को सब तरह से जीवन प्रदान करनेवाला है ॥२॥

शत्रुओं तथा सगे–सम्बन्धियों द्वारा हुए अपमान आदि से जन्य दुःख से या भाग्यवशात् अपने–आप अथवा साधुओं या मित्रों आदि के उपदेश से या और किसी दूसरे निमित्त से तात्पर्य यह कि जिस किसी तरह से उत्पन्न हुआ जो संसाररूपी वन में परम वैराग्य है, उसीको विद्वान् लोग समाधिरूपी वृक्ष का बीज कहते हैं ॥३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्त को ही विद्वान लोग इस बीज का खेत बतलाते हैं, जो शुभकर्मसमूहरूपी हलों से खूब जोता गया है, शान्ति आदि जल से रात–दिन खूब सींचा गया है तथा निरन्तर बह रहे प्राणायामरूपी नहर से जो युक्त है ॥४॥ यह संसार का परम वैराग्यरूप समाधि का बीज विवेकीजनरूपी जंगल में विवेकज्ञान से परिष्कृत चित्तरूपी भूमि में अपने ही आप जाकर गिरता है ॥५॥ अपनी चित्तरूप भूमि में गिरे हुए पूर्वोक्त वैराग्यरूपी समाधिबीज को बढ़ाने की इच्छा से दृढ़ बुद्धि रखनेवाले खेदशून्य पुरुष को निम्नलिखित जलों से प्रयत्नपूर्वक निरन्तर उसे सींचते रहना चाहिये ॥६॥

सर्वप्रथम बुद्धिमान पुरुष को सज्जनों की संगतिरूपी नवीन क्षीर से, तद्नन्तर शास्त्ररूपी अमृत से उसे सींचना चाहिये, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह शुद्ध, स्नेहयुक्त, पवित्र, मधुर और आत्मा के लिए हितकारक, चन्द्रमा के अमृत के सदृश सत्संगरूपी नूतन क्षीर से समाधि के बीज को सबसे पहले सींचे। उसके बाद 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा सम्पूर्ण द्वैत के निषेध से अन्तःकरण को सांसारिक पदार्थों से शून्य बना देनेवाले, पूर्ण, स्वच्छ, सब तरह के तापों की शान्ति हो जाने से अमृत की तरह स्वादिष्ट और शीतल तथा अमृत प्रवाह के नहर के तुल्य तत्त्वज्ञान के द्वारभूत श्रवण–मननादिरूप शास्त्रार्थों के निर्मल जलों से समाधि के बीज को सींचे ॥७,८॥ संसार को त्याग देने की प्रबल इच्छारूप समाधिबीज को अपनी चित्तरूपी भूमि में गिरे जानकर बुद्धिमान् पुरुष को उसकी अनेक यत्नों से रक्षा करनी चाहिये ॥९॥

वे यत्न कौन हैं, इस पर कहते हैं।

कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप एवं दान से और अभिमान आदि से शून्य पदार्थों के संघटन से समर्थित पुण्यमय तीर्थ स्थानों में निवासरूपी वृत्ति के विस्तार की नानाविध कल्पनाओं से इस बीज की रक्षा करना चाहिए ॥१०॥ इस तरह सींचने आदि के बाद बीज में जब अंकुर पैदा हो जाय, तब इसकी रक्षा के लिए अत्यन्त निपुण सन्तोषनामक पुरुष को उसकी मुदितानामक प्रियपत्नी के साथ संरक्षक बना देना चाहिये ॥११॥ तदनन्तर पूर्ववासनाओं में स्थित आशारूपी विहंगों, आत्मा से भिन्न पुत्र, मित्र, आदि में अनुरागरूपी पक्षियों तथा ध्यानांकुर के नाश के लिए

झपट रहे काम, गर्व धन आदिरूप गीध को इसी सन्तोषनामक रक्षक द्वारा दूर भगा देना चाहिए ॥१२॥ अहिंसाप्रधान होने से अत्यंत कोमल, यम, नियम, प्राणायाम, ईश्वरोपासनादि सत्क्रियारूपी झाड़ुओं से इस अंकुर के खेत से रज को (रजोगुण को) दूर फेंक देना चाहिये तथा इसी तरह अचिन्त्य ब्रह्मलोकपद विवेकरूपी धूप से अज्ञानरूपी अन्धकार को भी दूर भगा देना चाहिये ॥१३॥ भोगों द्वारा क्षणभंगुर तथा तरंगों के समान चंचल, दुष्कृतरूपी मेघों से प्राप्त सम्पत्ति और प्रमदारूपी अनेक वज्र इस अंकुर के ऊपर गिरते हैं ॥१४॥ इसलिए धैर्य, औदार्य तथा दया आदि यत्नों से एवं जप, स्नान, तप और दम आदि के द्वारा प्रणव के अर्थरूप त्रिशूल को धारण करके उन वज्रपातों का निवारण करना चाहिए ॥१५॥ इस तरह से रक्षित इस ध्यान के बीज से विवेकनामक नवीन अंकुर उत्पन्न होता है, जो अत्यन्त पुष्ट और सौन्दर्य की अधिकता से उन्नत एवं श्रीसम्पन्न रहता है ॥१६॥ जैसे अभिनव चन्दमा से आकाश सुन्दर प्रतीत होता है वैसे ही उस विवेक नामक नवीन अंकुर से आत्मप्रकाशयुक्त विकासशालिनी चित्तभूमि आलोक रहने से सुन्दर प्रतीत होती है ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस अंकुर से दो पत्ते अपने-आप निकलते हैं। जिनमें एक का नाम तो वेदान्तशास्त्रों का विचार और दूसरे का नाम साधुपुरुषों का समागम है ॥१८॥ आगे चलकर यह अंकुर सन्तोषरूप त्वचा से वेष्टित तथा वैराग्यरूपी रससे रंजित हो काण्ड, दृढ़मूलता और अपनी ऊँचाई को ग्रहण करता है ॥१९॥ शास्त्रार्थरूपी वर्षा का जल पाकर वैराग्यरूपी रस से जब इसकी आत्मा खूब पुष्ट हो जाती है तब यह अंकुर अपने थोड़े से ही समय में परम उन्नति को प्राप्त हो जाता है ॥२०॥ वेदान्तशास्त्रों के विचार, साधुओं की संगति तथा वैराग्यरूपी रस से जब यह खूब मोटा हो जाता है तब राग-द्वेषरूपी बन्दरों के हिलाने-डुलाने से तनिक भी कम्पित नहीं होता ॥२१॥ तदनन्तर विज्ञान से अलंकृत आकारवाले उस विवेक से आत्मरस से विलास करनेवाली एवं बहुत दूर देश तक जानेवाली (卐) ये लताएँ प्रादुर्भूत होती हैं ॥२२॥ स्वात्मतत्त्व का स्पष्ट आविर्भाव, एकमात्र उसीकी सत्यता, आत्मस्वरूप में स्थिति, धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्यता ये सब लताएँ उसी एक विवेकरूपी अंकुर से निकलती हैं ॥२३॥ यशरूपी पुष्पों तथा शान्ति आदि गुणरूपी पत्तों से शोभित इन लताओं से परिपुष्ट ध्यानरूप वृक्ष संन्यासी के लिए पारिजात-सा बन जाता है कल्पवृक्ष हो जाता है ॥२४॥ हे श्रीरामजन्द्रजी, लता, पल्लव तथा पुष्पों से सुशोभित इस तरह का यह उत्तम ज्ञानरूपी वृक्ष (समाधिरूपी वृक्ष) दिन-पर-दिन भविष्यत् काल में मूलअज्ञान के उच्छेदक ब्रह्मसाक्षात्काररूपी ज्ञान का प्रदाता होता है, जिससे कि सप्तम भूमिका तक विश्रान्ति प्राप्त हो जाय ॥२५॥ यशरूपी पुष्पों के गुच्छों से भरा, गुणरूपी पत्तों के विलास से भूषित, वैराग्यरूपी रससे विस्तार को प्राप्त तथा प्रज्ञारूपी मंजरियों से अलंकृत यह

(卐) शाखा-प्रशाखाओं के रूप में फैलकर बहुत दूर देशतक जानेवाली यह साधारण अर्थ है। इसका विशेष अर्थ 'अपरिच्छिन्न आत्म-प्रदेश में जानेवाली' है ।

समाधिरूपी वृक्ष सारी दिशाओं को ऐसे शीतल कर देता है जैसे कि वर्षा ऋतु में मेघ, एवं सांसारिक ताप को ऐसे शान्त कर देता है, जैसे कि सूर्य के ताप को चन्द्रमा ॥२६,२७॥ जैसे मेघ छाया का विस्तार करता है वैसे ही यह भी शमतारूपी छाया का विस्तार करता है और शम भी चित्त की स्थिरता को ऐसे बढ़ाता हैं, जैसे पूर्वी हवा बादल को ॥२८॥ आत्मज्ञान के मूलबन्ध को यह अपने से ही ऐसे बाँध देता है, जैसे कुलाचलपर्वत स्थित अपने मूल को। हे श्रीरामजी, यह वृक्ष, अपने ऊपर कैवल्यनामक फल देनेवाले शान्ति आदि मांगलिक गुच्छों की शोभा रचता है ॥२९॥ पुरुष के दृश्यरूपी जंगल में छाया के वितान से वेष्टित इस विवेकरूपी कल्पवृक्ष के दिन-दिन बढ़ने पर हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी भूमि के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तापों का हरण करनेवाली उल्लसित हो रही बुद्धिरूपी लता से तुषारगर्भ के समान एक सुन्दर शीतलता प्रवृत्त होती है ॥३०,३१॥ अनेक जन्मों के नानाविध दुःखों से जीर्ण, दैवात् सन्मार्ग प्राप्त हो जाने पर भी नाना वादियों के कोलाहल से व्यग्र होकर उस मार्ग से भ्रष्ट एवं विभिन्न संसारप्रान्तों में घूमते रहने से श्रान्त यह मनरूपी पथिक मृग इसी वृक्ष की शीतल छाया में आकर विश्राम करता है ॥३२॥ एकमात्र सत्ता ही जिसकी आत्मा है ऐसे पुरुषरूपी चमड़े का अपहरण करने के लिए काम, क्रोध आदि छः व्याध इसके पीछे पड़े हैं। अनेक प्रकार के असार शरीर आदि रूप कण्टकों के कुंजों में बार-बार छिपकर यह अपने को बचाने की चेष्टा करता है। यहाँ तक कि उन कुंजों में बार-बार छिपने की कोशिश करने से इस मृग का मुख उस शरीर के अन्दर वर्तमान नाना प्रकार के दोषरूपी काँटों से जर्जर हो गया है ॥३३॥ वासनारूपी पवन से प्रेरित संसाररूपी जंगल में दौड़ रहा यह मृग अहन्तारूपी मृगतृष्णा की ओर सदा दौड़ते रहने से अन्तःकरण के तृष्णारूपी विषके दाह से अत्यन्त व्याकुल हो गया है ॥३४॥ यह मनरूपी मृग अनेक प्रकार के भोगों में आदर रखनेवाला है, थोड़े में कभी सन्तुष्ट नहीं रहता। यही कारण है कि चाहे कितना ही दूर क्यों न हो, लेकिन वहाँ भी उपजे हुए हरे-हरे तृणरूपी विषयों में बराबर दौड़ते रहने से इसका शरीर बिलकुल जर्जर हो गया है। (क्या कहा जाय ?) यह तो पुत्र, पौत्र आदिकों के रात-दिन परिपालन की चिन्ता में ही व्यस्त रहने के कारण आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीन तरह के तापों से अनर्थरूपी गड्ढे में जा गिरा है ॥३५॥ सम्पत्तिरूपी लताओं में पैर फँस जाने से जब यह उठकर भागना चाहता है तब पुनः लड़थड़ाकर गिर पड़ता है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, शत्रु, चोर तथा राजा आदि इसे शीघ्र पकड़कर बाँध ले जाते हैं, खूब पीटते हैं तथा नाना प्रकार के दण्ड लगाते है। इन सब संकटों से इसका शरीर अत्यन्त कुण्ठित हो गया है। किसी काम का नहीं रह गया है। तृष्णारूपी सुन्दर नदी का अवगाहन करनेवाला यह, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह आदिरूप तरंगों से दूर फेंक दिया जाता है ॥३६॥ अनेक व्याधिरूपी दुष्ट व्याधों के दुःखों से पलायन में तत्पर यह मृग दैव की संभावना से रहित है। व्याधों के आगमन से मानों इसने अपने आकार को संकुचित कर लिया

है ॥३७॥ नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के आस्वाद के विषय गीतों, घण्टा के शब्दों तथा जव आदि अंकुरों के निमित्तभूत व्याधों के खेत आदि से उत्पन्न दुःखरूपी बाणों से शंकित, काम, क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण से व्यग्र तथा पत्थरों के प्रहारों के तुल्य पूर्व-पूर्वकाल के दुःखों के अनुभवरूप संस्कारों से युक्त यह मनरूपी मृग है ॥३८॥ स्वर्ग, नरक आदिरूप ऊँचे-नीचे स्थानों में क्रमशः चढ़ने-गिरने से इसके मस्तक में चक्कर आ गया है तथा काम, क्रोध आदिरूप पत्थरों की निरन्तर चोट खाने से यह चूर्ण-चूर्ण हो गया है ॥३९॥ तृष्णारूपी सुन्दर लताओं में छिपते रहने से इसका शरीर घावयुक्त हो गया है। इसने अपनी बुद्धि से अनेक तरह के आचारों की कल्पना कर रक्खी है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह परमात्मा की माया के विषय में अशिक्षित है ॥४०॥ यह इन्द्रियरूपी गाँव में आकर भागने में तत्पर है। जिसको वश में कर लेना कोई लड़कों का खेल नहीं है ऐसे कामरूपी गजेन्द्र की भयानक गर्जना से यह मर्दित हो चुका है ॥४१॥ विषयरूपी अजगरों के भयानक विषरूपी फुफकार से यह मूर्च्छित हो गया है तथा कामिनीरूपी भूमि में कामुक यह मनरूपी मृग विषयरस से प्रायः मर्दित हो गया है ॥४२॥ क्रोधरूपी दावाग्नि से यह जल गया है । यही कारण है की इसकी पीठ पर मानों फोड़ा हो जाने से इसे बाहर दाह हो रहा है। और हे श्रीरामजी, विषयों में बार-बार भ्रमण करते रहने से अनेक तरह के चिन्तारूपी दुःखों से इसके भीतर भी भारी दाह उठ रहा है ॥४३॥ अपनी आत्मा में संलग्न अनेक अभिलाषारूपी मच्छर इसे काट-खाते हैं और यह भी उनके भय से वेगपूर्वक आगे भाग रहा है ॥४४॥ यह तो अपने ही कर्म और कर्तृता के फर में पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, फिर भी एक दारिद्रयरूपी व्याघ्र इसके पीछे लगा है। स्त्री, पुत्र आदि में आसक्ति रूपी व्यामोहमिहिका से अन्धा बना देनेवाले कुहरे से अन्धा होकर कपटरूपी पर्वत की चोटियों पर चढ़ते समय नीचकृत्यरूपी गड्ढों में गिर जाने से इसका शरीर भग्न हो गया है ॥४५॥ मानरूपी सिंह के समुल्लास से इसके हृदय में उत्कम्पन हो रहा है इसकी छाती धड़क रही है, और उससे यह आतुर हो गया है तथा प्रसिद्ध मृत्युरूपी व्याघ्र से प्रहार करते समय अगस्त वृक्ष के पुष्प की नाईं सुखपूर्वक विदीर्ण करने योग्य यह दृष्ट है ॥४६॥ निर्जन जंगल में गर्वरूपी अजगर इसको शीघ्र निगल जाने के लिए चिरकाल से प्रतीक्षा कर बैठा है। नानाविध कामनाओं की सिद्धि के लिए चारों ओर अपनी दीनता प्रकटकर भीख माँगने के निमित्त इसने दाँतों रूपी मानों जव के अंकुर फैला रक्खे हैं ॥४७॥ स्त्री के लिए बने हुए युवावस्थारूपी प्रियमित्र ने क्षणभर इसका आलिंगन कर इसे फिर छोड़ दिया है। झंझावात के सदृश कुपित इन्द्रियों ने दुर्गम नरक लोक तथा स्थावर आदि योनिरूप अनेक जंगलों में ले जाकर इसे बार-बार फेंक दिया है ॥४८॥ हे राजन्, इस तरह का यह मनरूपी मृग अनेक जन्मों के संचित पुण्य के उदय से कभी अधिकारी शरीर में शम आदि साधनों से युक्त होने पर इस पूर्वोक्त समाधिरूपी वृक्ष के नीचे विश्रान्तिसुख को ऐसे प्राप्त करता है, जैसे रात में शीत तथा अन्धकार से पीड़ित प्राणी सूर्य का उदय होने पर ॥४९॥

हे श्रोताओं, ताली, तमाल, बकुल आदि वृक्षों के मूल के नीचे प्राप्त होनेवाले विश्रामों के सदृश भूलोक से लेकर सत्यलोकपर्यन्त के निवासों में प्रचुर फूलों के विलासरूपी हासों के सदृश अनित्य भोगआभासों के निमित्त यानी उनमें फँसे रहने के कारण जिस निरतिशय भूमानामक सूख का नाम भी आत्मज्ञान–शून्य लोग नहीं जानते, ऐसे पुनर्जन्म से शून्य मोक्षनामक विश्रान्तिसुख को आपका अपना मनरूपी मृग उस ध्यानरूपी कल्पवृक्ष के ही नीचे आकर प्राप्त कर सकता है, जिसका मैंने अभी आप लोगों से वर्णन किया है ॥५०॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

ध्यानरूपी वृक्ष के ऊपर मन को चढ़ाने का क्रम तथा उत्तरोत्तर भूमिकाओं में आरूढ़ हो रहे मन का सुखोत्कर्ष यह वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, इस तरह ध्यानरूपी कल्पवृक्ष के ऊपर विश्रान्ति ले रहा मनरूपी हरिण उसी वृक्ष पर प्रेम करने लग जाता है, दूसरे वृक्ष पर नहीं जाता ॥१॥ अनन्तर कुछ समय के बाद वह विवेकपूर्ण ध्यानवृक्ष पाँच कोशों के भीतर स्थित पारमार्थिक आत्मस्वरूपभूत मोक्षफल को धीरे–धीरे पूर्णरूप से प्रकट करता है यानी प्रत्यक्ष कराता है ॥२॥

चतुर्थ भूमिका में असंभावना दोष का थोड़ा विनाश रहता है और मन्द अन्धकार में घट आदि की जैसी संभावना होती है, वैसी उसमें भी आत्मतत्त्व की संभावना होती है, इससे पहले चतुर्थ भूमिका का द्वार बतलाते हैं ।

उस उत्तम ध्यानरूप वृक्ष के नीचे विश्रान्ति ले रहा यह अपना मनरूपी मृग उस मोक्षरूप ध्यानवृक्षफल को देखता है, जो शाखा के आगे लगा हुआ है ॥३॥ बड़े भारी अध्यवसाय (प्रयत्न) से भरा तथा अपने सब धर्मों को छोड़ देनेवाला यानी परमविरक्त पुरुष उक्त फल का स्वाद लेने के लिए उस वृक्ष पर चढ़ता है ॥४॥

कैसे चढ़ता है, इसे कहते हैं ।

जो अध्यवसायी जड़ता है, वह सबसे पहले विवेक वृक्ष के ऊपर अपना पैर दृढ़ जमा लेता है, फिर पहले की संसारवृत्तियों का एकदम त्याग कर देता है । ऐसा करने पर वह ऐसे ऊँचे स्थान पर अपना स्थान बना लेता है कि फिर कभी नीचे नहीं गिरता ॥५॥ उक्त उत्तम फल की इच्छा से विवेकरूपी वृक्ष पर चढ़ा हुआ पुरुष अपने पहले के संस्कारों को उस तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है । संस्कारों का त्याग कर देने से पहले का कुछ भी स्मरण नहीं होता, यह भाव है ॥६॥ यदि उसे कुछ पहले का स्मरण हुआ, तो भी वह जोर से हँसने लग जाता है और अपने को ऊँचे विवेकवृक्ष के ऊपर चढ़ा देखकर विचारता है कि इतने समय तक मैं विषय–

सुखों की लालच से कितना दीन बना था ॥७॥ सम्पूर्ण भूतों पर करुणा आदिरूप (♨) इस वृक्ष की शाखाओं में भ्रमण कर रहा यानी व्युत्थानकाल में विहार कर रहा यह मनरूपी मृग लोभ आदिरूप व्यालों को नीचे करके पूर्णकाम सम्राट् की तरह शोभित होता है ॥८॥ सद्बुद्धिरूपी चन्द्रमा को निगल जानेवाली अमावस्या की पंक्तिभूत तथा दुःखरूपी चन्द्रमा में अनेकत्व की भ्रान्ति पैदा कर देनेवाली तिमिररोग की पंक्तिरूप लोहे की निर्मित शृंखला-सी प्राणियों के बन्धन की हेतु तृष्णा दिन पर दिन (卐) इसको छोड़ती जाती है ॥९॥ यह न तो प्राप्त वस्तुओं की उपेक्षा करता है और न अप्राप्त वस्तुओं की अभिलाषा करता है, बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियों में चन्द्रमा की नाईं सौम्य तथा शीतल अन्तःकरण से युक्त होकर स्थित रहता है ॥१०॥ अध्यात्मशास्त्र से अतिरिक्त शास्त्रों के अनुसार प्रवृति होने पर प्राणियों को ब्रह्मलोकपर्यन्त उन्नत स्थान प्राप्त होते हैं तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति होने पर नरकपर्यन्त निम्न श्रेणी के स्थान प्राप्त होते हैं इस तरह संसार की उन्नत और अवनत दशाओं को अज्ञानावस्था में देख रहा यह अध्यात्मशास्त्र के विषय शम, दम, सन्तोष आदि रूप पल्लवों में ही अपने स्वरूप को छिपाकर अवस्थित रहता है ॥११॥ भयंकर विषवृक्षलताओं में विकसित विषमय पुष्पसमूहरूपी दाँतों से युक्त अपनी पूर्वोक्त सातों अज्ञान की भूमिकाओं को भीतर देख रहा यह, उस हीन अवस्था को हँसता है ॥१२॥ उस ध्यानरूपी वृक्ष के उन स्कन्धप्रदेशों में यानी उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में आरूढ़ हो रही (🔔) मनोहारिणी चित्तवृत्ति से यह राजा की तरह शोभता है ॥१३॥ पुत्र, स्त्री, मित्र तथा धन आदि सभी पदार्थों को यह जन्मान्तर में प्राप्त किये गये या स्वप्न में पैदा हुए के समान देखता है ॥१४॥ दूसरों को खुश करना ही जिसमें प्रधान कार्य है ऐसी राग, द्वेष, भय, उन्माद, मान तथा मोह की महत्ता से नट के व्यवहार की नाईं शीतल तथा निर्मल चित्त इस ज्ञानी के सब व्यवहार दिखाई देते हैं ॥१५॥ उन्मत्त के चेष्टित के समान आकारवाली, सामने स्थित भी तरंग के समान क्षणभंगुर आधारवाली संसाररूपी मृगतृष्णा की नदी की गति को मिथ्या समझकर वह हँसता है ॥१६॥ अपूर्व पद में विश्रान्त जीवन धारण कर रहा भी मृतक के सदृश वह योगी स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक किसी पदार्थ की चिन्ता नहीं करता ॥१७॥ किन्तु केवल शुद्ध बोधमय, महाउन्नत उस एक आत्मज्ञान रूप फल में ही एकमात्र अपने चित्त को लगाकर पंचमभूमिकादि स्थानों में आरूढ़ होता है ॥१८॥ अपनी पूर्वावस्था की आपत्तियों का

(♨) आदिपद से यहाँ 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानियोगव्यवस्थितिः' इत्यादि दैवी सम्पत्तियों का ग्रहण है ।

(卐) जिस दिन शुभेच्छा उत्पन्न होती है उस दिन से लेकर प्रतिदिन निरन्तर क्षीण होती जा रही यह तृष्णा चतुर्थ भूमिका में पहुँचकर बिल्कुल साथ छोड़ देती है । 'रसाऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान् ने भी कहा है ।

(🔔) अर्थात् चिड़ियों की नाईं एक शाखा से उड़कर दूसरी पर जा बैठ रही ।

बार–बार स्मरण करके सन्तोषरूपी अमृत से परिपुष्ट होकर अनर्थरूपी अर्थों के (धनों के) नाश में भी सन्तुष्ट ही होता है ॥१९॥ जैसे सोया हुआ पुरुष किसी से जगा दिये जाने पर निद्रासुख के विच्छेद से उद्वेग को प्राप्त हो जाता है वैसे ही भोगदायक अवश्य कर्तव्य व्यवहारों में भी वह योगी दूसरों के द्वारा समाधिरूपी निद्रा से जगा दिये जाने पर समाधिसुख के विच्छेद से अत्यन्त उद्वेग को प्राप्त हो जाता है ॥२०॥ बहुत दूर का रास्ता तय करनेवाले पथिक की तरह चिरकालतक के मूर्खता प्रयुक्त अनेक जन्म–मरण–परम्पराओं में चक्कर लगाते रहने से उत्पन्न श्रम के कारण अत्यन्त थका हुआ यह पुरुष अति उदार निरन्तर बाधित आत्मविश्रान्ति चाहता है ॥२१॥ प्राणधारणमात्र से अन्य पुरुषों के समान भी यह अपने भीतर अहंभाव के अभिमान से बिलकुल शून्य हो पूर्ण आत्मा में ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे निःश्वास से बोधित होने पर भी बिना इन्धन की अग्नि ॥२२॥ पूर्वाभ्यास के बल से धीरे–धीरे बाह्य पदार्थों में हो रही विरक्ति का, यथाप्राप्त भोगों पर पड़ी दृष्टि की नाईं, यह निराकरण नहीं कर सकता ॥२३॥ परमार्थरूप फल प्रदान करनेवाली उस महापदवी के ऊपर चल रहा यह ज्ञानी पुरुष वाणी के भी अगोचर छट्ठी भूमिका में प्राप्त हो जाता है ॥२४॥ बिना प्रयत्न किये ही कहीं से यानी दूसरों के प्रयत्न से दैववशात् प्राप्त हुए भोगों में यह ऐसे विरक्त हो जाता है, जैसे मरुभूमि में पथिक ॥२५॥ संसार की वृत्तियों में सुप्त, क्षीण उन्मत्त की तरह आनन्दयुक्त तथा भीतर में पूर्ण मनवाला यह मौनी पुरुष किसी अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त हो जाता है ॥२६॥ वह ज्ञानी पुरुष उस तरह के स्वरूप में पहुँचकर क्रमशः मोक्षरूप परमार्थफल के निकट ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे सिद्धयोगी मेरु के शिखर पर ॥२७॥

उस योगी की सप्तमभूमिका में कैसी स्थिति रहती है, यह बतलाते हैं।

तदनन्तर सप्तमभूमिका में प्राप्त आकाश के सदृश वह योगी सम्पूर्ण बुद्धि का (卐) परित्याग कर निरतिशय भूमानन्द ब्रह्मभावरूप फल ग्रहण करता है, उसका स्वाद चखता है, उसका भोग लगाता है और उसी से तृप्त होता है (ॐ) ॥२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्पित पदार्थों के परित्याग से दिन–पर–दिन जो विस्तृत शुद्ध आत्मस्वभाव में विश्रान्ति होती है वही परमार्थ की प्राप्ति कही जाती है ॥२९॥ त्रिपुटीरूपी अपने अर्थ को विलीन कर भेदबुद्धि अभेदरूप में ही जो अवशिष्ट रह जाती है यानी त्रिपुटीभेद का साक्षी चेतन ही अपने अर्थों का विलय कर जो शेष रह जाता है, उसीको विद्वान् लोग आदि और अन्त से रहित शुद्ध एक ब्रह्म कहते हैं ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी

(卐) 'अखिलां बुद्धिं विहाय' इससे इस योगी की आत्यन्तिक वासना का क्षय और मन का नाश दिखलाया गया है ।

(ॐ) आवरण का भंग होने से ग्रहण करता है, विक्षेपशून्य स्फुरण होने से स्वाद चखता है, एकमात्र उसी में वृत्ति के स्थित रहने से उसका भोग लगाता है और पूर्णस्थिति होने से तृप्त होता है इस तरह चतुर्थी आदि भूमिकाओं के फलों का 'गृह्यादि' इत्यादिपदों से लाभ दिखलाया गया है ।

लोक-एषणा, स्त्री-एषणा और धन-एषणा (△) से शून्य जो पुरुष है वही उस ब्रह्मपद में विश्राम पाता है ॥३१॥ दृश्य तत्त्व के शोधन से सन्मात्र परमार्थ और द्रष्टा के तत्त्व के शोधन से चिन्मात्र परमार्थ के अखण्डैक्यरूप निरतिशयानन्दात्मभूत परमसाक्षात्कारवृत्तिरूप परिणाम से भेद बुद्धि ऐसे नष्ट हो जाती है, जैसे ताप से हिम की लेखा ॥३२॥

खींचकर छोड़ देने के पश्चात् धनुष की स्थिति की तरह चित्त की अखण्डाकार वृत्ति का उपरम हो जाने पर पुनः उसकी पूर्वावस्था की स्थिति कदापि नहीं आ सकती, यह आशंका कर कहते हैं।

आत्म-साक्षात्कार कर चुके योगी के चित्त की स्थिति, खींचकर छोड़ देने के बाद धनुष आदि कठोर वस्तुओं की उपमा से रहित अत्यन्त कोमल फूलों की माला की तरह होती है, किसी दूसरी स्थिति का संभव नहीं है। पृथ्वी पर पड़ी फूल की माला सीधी-टेढ़ी चाहे जिस किसी तरह से स्थापित हो जाने पर वह वैसी ही ज्यों-की-त्यों स्थित रहती है। धनुष की तरह उसकी पूर्वावस्था नहीं आती। धनुष तो खींचकर छोड़ देने के बाद ज्यों-का-त्यों हो जाता है, यह तात्पर्य है॥३३॥ जैसे पत्थर या काठ के स्तम्भ में स्थित अप्रकटित अंगोवाली मूर्ति न तो सद्रूप है और न असद्रूप ही है वैसे ही परमात्मा में इस विश्व की स्थिति है ॥३४॥ इस तरह यह निश्चित है कि बोध होने के पहले यानी अज्ञानदशा में प्रपंचसहित ब्रह्म में निष्प्रपंच ब्रह्मस्वभाव का अज्ञान होने से उसका ध्यान नहीं किया जा सकता। और यह उपयुक्त है भी नहीं। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर तो स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर तत्वज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है *(तब भला उसका ध्यान वह कैसे कर सकता है ?)* कहने का तात्पर्य यह कि सोता या जागता हुआ कोई भी पुरुष अपने में यह ध्यान नहीं करता कि मैं सो रहा हूँ या मैं सुषुप्त हूँ ॥३५॥

सोकर उठने के बाद जैसे पुरुष को स्वाप्नित पदार्थों में तुच्छ बुद्धि होने से आत्यन्तिक विरक्ति रहती है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष इन सांसारिक प्रपंचों में आत्यन्तिक विरक्ति कर सकता है, इस आशय से कहते हैं।

दृश्य पदार्थों में जिस पुरुष की आत्यन्तिक विरक्ति देखी जाती है वही तत्त्वज्ञानी है, क्योंकि दृश्य प्रपंचों के त्याग में अज्ञानी समर्थ नहीं है ॥३६॥

यदि ध्यान नहीं है, तो फिर ध्यान के विषय ब्रह्म में समाधि कैसे ? क्योंकि धारणा, ध्यान और समाधि- इन तीनों का विषय एक ही निश्चित है। देखिये भगवान् पतंजलि के सूत्र- 'देशबन्धश्चित्तस्य

(△) जनता में प्रसिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा का नाम लोकैषणा है, मुझे सुन्दर स्त्री प्राप्त होवे इस इच्छा का नाम दारैषणा है तथा मैं इस संसार में खूब धनी हो जाऊँ इस अभिलाषा नाम धनैषणा है । पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा स्त्रीप्राप्ति के अधीन है, अतः उसका पृथक् ग्रहण नहीं है । यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री-अभिलाषा के परित्याग से पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा का त्याग तो अर्थतः लब्ध है । इन तीन एषणाओं में ही सबका अन्तर्भाव है ।

धारणा', 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्', 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' 'त्रयमेकत्र संयमः'। इस पर कहते हैं।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण स्वरूप या ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप जगत् का एकमात्र साक्षिस्वरूपज्ञानरूप से जो बोध है वही यथार्थ स्वभाव में उत्तम स्थिति का कारण होने से 'सुष्ठु–सम्यग् आधानं समाधिः'– ऐसा विग्रह करने से 'समाधान' शब्द से कहा जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस तरह के बोधस्वभाव से ही यह सारा प्रपंच शाश्वत होता है ॥३७॥

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यं समाधिः' भगवान् पतंजलि के इस वचन का भी दृष्टा और दृश्य को एक बनाकर उसके द्वारा मन के विलय में ही तात्पर्य है, इस आशय से कहते हैं।

द्रष्टा आदि त्रिपुटी का लय होने से अखण्ड एक आत्माकार में जब मन की वृत्ति स्थित हो जाती है, तब वह ज्ञानी एक आत्मसमाधि में स्वयं विश्रान्त हो जाता है ॥३८॥ दृश्य पदार्थों में जो विरक्तिभाव है यानी जड़ता आदि दुःखों के त्यागपूर्वक एकमात्र चिदानन्दैकरस की स्थिति है वही तत्त्वज्ञानी का अपना ब्रह्मस्वभाव है। दृश्य पदार्थों के स्पन्दन को ही – दृश्य पदार्थों की ओर चेष्टाशील बनने को ही ज्ञानी महानुभाव लोग अतत्त्वज्ञता (अज्ञान) कहते हैं ॥३९॥ अज्ञानी को ही संसार के पदार्थ रुचिकर प्रतीत होते हैं, तत्त्वज्ञानी को नहीं। क्योंकि जो अमृतपान कर चुका है, उस प्राणी को कटु मद्य नहीं रुचता ॥४०॥

यदि बार–बार अपने स्वरूप के अनुसन्धान को (स्मरण को) ही आप ध्यान समझते हैं, तो वह जागरूक पुरुष के जाग्रतात्मा में हुए स्वरूप अनुसन्धान की तरह विद्वान् महानुभावों को सहज–सिद्ध है, यह कहते हैं।

तृष्णारहित, आत्मनिष्ठ होने के कारण तीनों एषणाओं का त्याग कर चुके तत्त्वज्ञानी योगी का ध्यान इच्छा न रहने पर भी अपने–आप स्वयं होता रहता है ॥४१॥

'वितृष्णस्य' (तृष्णारहित) इस विशेषण का तात्पर्य खोलते हैं।

आत्मस्वरूपानुसन्धानरूपी ध्यान तो तृष्णादिविक्षेप के कारण ही स्फुरित होता है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। किन्तु जिस तत्त्वज्ञानी को तृष्णा ही नहीं है उसके स्वरूप को छोड़कर उसका वह कौन ध्यान कैसे कहाँ रहता है ? ॥४२॥ अथवा ज्ञानी की तृष्णा भी अनन्त है, क्योंकि यह स्वयं विभागरहित अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप से ही उदित है। इसलिए चिन्तनीय बाह्य पदार्थ का जैसा बोध हो, उसे वह चाहे समाधि में लगावे या व्यवहार में, किन्तु उसकी तृष्णा की पूर्ति में वह समर्थ नहीं है ॥४३॥ पंखरहित पर्वत की स्थिति की तरह बाह्य पदार्थों में तृष्णारहित उस ज्ञानी का अनुभवरूप अनन्त ध्यान स्वयं प्रवृत्त होता है, किसी यत्न की उसे अपेक्षा नहीं होती ॥४४॥ एकमात्र यही कारण है कि जब तक शुद्ध बोधस्वरूप आत्मा का उदय नहीं हो पाता, तभी तक समाधि के लिए यत्न की अपेक्षा रहती

है । शुद्ध बोधस्वरूप आत्मा के साक्षात् अनुभूत होने पर तो ज्ञानी हो जाने से समाधि के यत्न की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, यह तत्त्वज्ञानी महानुभावों की उक्ति है । ठीक ही है, अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर उसमें घृतबिन्दु की स्थिति कभी नहीं रह सकती ॥४५॥

विक्षेप पैदा करनेवाले रागादि दोषों का जो आत्यन्तिक विनाश है, उसीको समाधि कहते हैं, यह तो तत्त्वज्ञ पुरुषों में ही संभव है, अतः उन तत्त्वज्ञ महानुभावों को नमस्कार करना चाहिए, यह कहते हैं ।

विषयों से जो आत्यन्तिक विरक्ति है, अर्थात् बाह्यपदार्थों की तृष्णा का जो आत्यन्तिक विनाश है, वही समाधि कही गई है । जिसको सांसारिक पदार्थों में अत्यन्त वैराग्य हो गया है, उस ब्रह्मरूपी मनुष्य को नमस्कार है ॥४६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विषयों से वैराग्य के अत्यन्त दृढ़ हो जाने पर मनुष्य के आत्मध्यान को इन्द्र के सहित सुर और असुर भी नहीं हटा सकते ॥४७॥

वज्र के समान दृढ़ विषयों से विरक्ति भी ध्यान ही है, अतः उसकी प्रशंसा करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विषयों में उत्पन्न हुए अत्यन्त दृढ़ वैराग्य को ही आप वज्र के समान दृढ़ ध्यानरूप बना लीजिये, क्योंकि आत्मज्ञान से भेद के नष्ट हो जाने पर तृण के तुल्य दूसरे पदार्थों के ध्यान से कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ? ॥४८॥

यही कारण है कि तत्त्वज्ञ पुरुषों के लिए विश्व शब्द किसी अर्थ को नहीं रखता इसका अर्थ बाधित है, यह कहते हैं ।

संसारशब्द का अर्थ मूर्खों के लिए ही है, तत्त्वज्ञानियों के लिए नहीं । इसलिए हे पण्डितों, जिस भूमानन्द ब्रह्म में संसार के विशेषज्ञान और अज्ञान, तत्त्वज्ञानी और मूर्ख एवं संसार और संसार के प्रभु परमेश्वर का अभेदरूप से भान होता है उसी में आप लोग विश्राम करें ॥४९॥ क्योंकि मनन आदि बोधरूप भूमियों में आरूढ़ हो रहे विवेकियों या आत्मसाक्षात्कारादि भूमियों में आरूढ़ हो चुके सिद्ध महानुभावों में से किसी ने भी पदार्थों में आत्मा से अतिरिक्त सत्ता या असत्ता या द्वैतता या एकता का इस संसार में आज तक निर्णय नहीं किया है ॥५०॥

आत्मस्वरूप में विश्रान्त होने के उपाय बतलाते हैं ।

इस आत्मस्वरूप में विश्रान्ति का प्रथम उपाय निरन्तर अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास और दूसरा साधु पुरुषों की संगति है तथा तीसरा उपाय इस निर्वाण में ध्यान है । सज्जनों, इनमें उत्तरोत्तर उपाय श्रेष्ठ हैं ॥५१॥ नित्य अपरोक्ष, अपरिच्छिन्न यही ब्रह्मचिति जीव नामक अपने प्रतिबिम्ब के दर्पणस्वरूप अन्तःकरणभूत उपाधि के कारण परस्पर भिन्न-भिन्नरूप को ग्रहण करती है । प्रिय तथा अप्रिय विषयों का संघटन करनेवाले ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त शेष विशेष पदार्थों से सम्बन्ध पाकर अपने-अपने कर्मों की विचित्रता के कारण सम और विषम भिन्न-

भिन्न शरीरों में उदित होती है ॥५२॥ इस तरह अनादि काल से इस संसार में चक्कर लगा रहे जीवों के बीच में भाग्यवशात् किसी एकको ज्ञान प्राप्त करने योग्य जन्म मिल जाने पर शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास तथा महात्माओं की संगति से उपायप्राप्ति द्वारा पूर्वापर सम्पूर्ण जन्मभ्रमणरूप जगद्रूपी शतरंज खेलने की बिसात की (♨) जानकारी हो जाने से उस पुरुषश्रेष्ठ को ज्ञान और वैराग्यरूपी दो दीपकों में से किसी एक की सिद्धि हो जाने पर दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं ॥५३॥ तब ज्ञानरूपी अग्नि से भस्मीभूत हुई जगत्–रूपी सब रुई बुद्धिरूपी झंझावात से शीघ्र उड़कर परम शान्त चिदाकाश में न जाने कहाँ चली जाती है ॥५४॥

भ्रान्ति के निवारण में समर्थ जो बोध है वही मूलअज्ञानरूप जड़ता के विनाश में हेतु है, न कि ऊपरी ज्ञान, यह कहते हैं।

जिस ऊपरी ज्ञान से निर्मूल भी जगत् की भ्रान्ति शीघ्र नष्ट नहीं हो जाती उस ज्ञान से मनुष्य का अज्ञान ऐसे शान्त नहीं होता, जैसे कि चित्रलिखित अग्नि से मनुष्य का जाड़ा (ठंड) ॥५५॥ अज्ञानी के अभिनिवेशरूपी अज्ञान से जैसे संसार की भ्रान्ति प्रतिदिन की अभिवृद्धि से बढ़ती ही जाती है वैसे ही तत्त्वज्ञानी के परिज्ञान की दिन–प्रतिदिन अभिवृद्धि से उत्तरोत्तर भूमिकाओं में अज्ञान भी नित्यप्रति अधिक दग्ध होता जाता है ॥५६॥

अज्ञान के दग्ध होते समय तत्त्वज्ञानी को जगत् का भान कैसा होता है ? यह कहते हैं।

अज्ञानी को जैसा जगत् का ज्ञान स्थित रहता है उस अज्ञानी के जगत्–ज्ञान शब्दार्थ से रहित ही स्वस्वरूप में स्थित, चित्र में लिखित–जैसा, सुप्त पुरुष के द्वारा निर्मित के सदृश एकमात्र शून्यरूप से विरचित ही तीनों जगत् का भान तत्त्वज्ञानी पुरुष को होता है ॥५७,५८॥ ज्ञानी पुरुष के चित्त में जगत् की ज्ञप्ति तथा अभिलाषा आदि चित्प्रकाशस्वरूप ही भासता है। इसमें सन्देह नहीं कि बोध होने पर ज्ञानी का न तो अहंकार रहता है और न जगत् की स्थिति ही रहती है ॥५९॥ ज्ञानी को तो परमप्रकाशस्वरूप इस संसार की कोई अपूर्व स्थिति भासती है। और अर्धज्ञानी पुरुष का चित्त सूखे तथा गीले काठ के तुल्य बोध और अबोधरूप से स्थित रहता है ॥६०॥ बोध होने के कारण वह अर्धज्ञानी पुरुष, नानाविध भावपदार्थों से परिपूर्ण इस जगत् को एक आत्मतत्त्वरूप समझता है तथा जड़ता के विद्यमान रहने से वह इस जगत् को एक आत्मरूप से स्थित नहीं भी देखता है। चूँकि उसमें दोनों स्वभाव उपस्थित रहते हैं, इसलिए जब उसमें बोध की अधिकता होती है तब वह सभी प्राणियों में अत्यन्त मित्रता का बर्ताव करने लग जाता है–अपने ही समान उन्हें भी सुख–दुःख से युक्त समझने लगता है और जब उसमें अज्ञानांश की अधिकता होती है तब वह परस्पर विवाद करने लगता है ॥६१॥ ज्ञान और अज्ञान इन दोनों में जो भाग इसका प्रबल पड़ता है तद्रूप होकर यह रहता है, किन्तु जिसका ज्ञान

(♨) शतरंज या चौपड़ आदि खेलने के कपड़े या बिछौने की, जिस पर खाने बने रहते हैं।

परिपक्व हो चुका है वह तो जगत् की सत्ता ओर असत्ता की यथार्थता बिलकुल ऐसे नहीं जानता ॥६२॥ जैसे कि सप्तम भूमिका में आरूढ़ पुरुष जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को नहीं देखता। *(ध्यानरूपी वृक्ष के नीचे मनरूपी हरिण को विश्रान्ति प्राप्त होती है, इसी को दूसरे रूपसे परमपुरुषार्थफल की प्राप्ति बतलानी चाहिए, लेकिन यह न कहकर मनके नाश को ही मोक्षरूपी पुरुषार्थ कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशंका करे, तो इस पर कहते हैं।)* हे श्रीरामचन्द्रजी, वह वासना ही मनरूपी मृग है और यह अपने विचार से ही नष्ट होता है ॥६३॥ इस मन के अवस्तुरूप होने से इसके विद्यमान रहते मोक्ष नहीं होता, किन्तु इसके स्वरूप का नाश होते ही वह प्राप्त होता है (☬) ॥६४॥

इसका सारांश यह निकला कि यह मन का नाश ही मनरूपीमृग के बहाने वर्णित हुए आत्मा का मोक्ष है। अब इस वर्णन का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, अंकुर, काण्ड, शाखा, पल्लव, पुष्प तथा फलपर्यन्त परिणामरूप परिपाक होने से अपने समय से स्वयं बढ़े हुए ज्ञानरूपी फल को प्राप्त किये हुए इस ध्यानरूपी वृक्ष से दूसरे सर्वप्रथम परम रसायन अखण्डाकार वृत्तिअभिव्यक्त परमानन्दरूपी बोधफल का मुक्त होने की चाह कर रहा यह मनरूपी मृग आस्वाद लेकर इस संसाररूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥६५॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

ध्यानरूपी कल्पद्रुम के फल का आस्वाद लेने पर मन की जैसी स्थिति होती है तथा विषयों से जैसा दृढ़ वैराग्य उत्पन्न होता है वह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, परमार्थफल के साक्षात् अनुभूत होने तथा मुक्ति की दृढ़ स्थिति होने पर परम साक्षात्कारवृत्तिरूप बोध भी अपने उपादानभूत अज्ञान के बाध से शीघ्र असद्रूप हो जाता है तथा मनरूप यह मृग भी परमपुरुषार्थरूप आत्मारूप ही हो जाता है ॥१॥ तेलरहित दीपक के तुल्य पूर्वकाल की इसकी मृगता यानी विषयरूपी तृणों के अन्वेषण की स्वभावता न जाने कहाँ चली जाती है। उस समय तो हे श्रीरामचन्द्रजी, अनन्त आत्मस्वरूप का प्रकाश करनेवाली एकमात्र परमार्थदशा ही अवशेष रह जाती है ॥२॥ ध्यानरूपी वृक्ष को परमार्थरूप फल की प्राप्ति हो जाने पर बोधरूपता को प्राप्त यह मन वज्र के समान दृढ़ स्थिति ऐसे धारण कर लेता है, जैसे पंखशून्य पर्वत ॥३॥ बाह्य पदार्थों के विषय में मननस्वभावता न मालूम कहाँ चली जाती है और निर्बाध, विभागशून्य, परिपूर्ण सर्वथा विशालरूप सद्रूप एकमात्र स्वच्छ चिन्मात्रता ही

(☬) इससे सिद्ध है कि कल्पित मनरूपी मृग के बहाने आत्मा की ही अनर्थनिवृत्तिरूपी विश्रान्ति का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

अवशिष्ट रह जाती है ॥४॥ जड़ देहादि के अविवेक से जड़ बनी हुई–सी जो चित्त की पहले सत्ता थी, वही अब देहादि का ठीक–ठीक परिज्ञान हो जाने के कारण निर्मलस्वरूप से स्थित हो मानों बोधरूप से उदित हुई है, क्योंकि वह आदि और अन्त से शून्य, स्वच्छ आत्मप्रकाशरूपी फल प्रदान करनेवाली है ॥५॥ उस समय समस्त इच्छाओं से शून्य रहने के कारण कोई दूसरी गति न होने से वह आदि–अन्तशून्य आत्म–ध्यान ही परिशेष में अगवत होता है ॥६॥

कब तक वह ध्यान रूप से अवगत नहीं होता, यह कहते हैं।

जब तक उसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता तथा जब तक वह परम पद में विश्रान्त नहीं हो जाता, तब तक विषयों के मननरूप से वह मन आत्मध्यानरूप से अवगत नहीं होता ॥७॥ परमार्थ स्वरूपता को प्राप्त करके तो वह मन न जाने कहाँ चला जाता है। उस समय वासना कहाँ रहती है, कर्म कहाँ रहते हैं तथा हर्ष और क्रोध आदि की वृत्तियाँ कहाँ रहती हैं इसका कुछ भी पता नहीं चलता ॥८॥ ऐसी दशा में योगी एकमात्र ध्यानैकनिष्ठ दिखाई देता है। वज्र के तुल्य दृढ़ समाधि में यह ऐसे स्थिर हो जाता है, जैसे पंखशून्य पर्वत ॥९॥

ध्यान के समान ही उस योगी की समाधि भी अनायास सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं।

सम्पूर्ण भोगों से शून्य, इन्द्रियों की वृत्तियों को शान्त किये हुए, सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों में अभिरुचि न रखनेवाले, एकमात्र अपनी आत्मा में ही रमण करनेवाले, क्रमशः अपनी वृत्तियों को गलाये हुए तथा बिना किसी प्रयास के विश्रान्ति प्राप्त कर चुके योगी की समाधि अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इस विषय में जब वह ब्रह्मस्वरूप हो गया तब विचार ही करने कौन चलता है ? ॥१०,११॥

उस योगी को परम वैराग्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

निर्मल अन्तःकरणवाले योगी लोग विषयों में नीरसता की अनायास ही भावना करने लग जाते हैं। वे उन सभी सांसारिक भोंगों को ऐसे नहीं देखते, जैसे कि चित्रगत मनुष्य चित्र में लिखित पुरुषों को ॥१२॥ वासनाशून्य होने के कारण सांसारिक पदार्थों को न देख रहा आत्मज्ञानी योगी तो वज्र के तुल्य अभेद्य समाधि में अन्य पुरुष के द्वारा मानों जबर्दस्ती नियुक्त किया जाता है ॥१३॥ वर्षाकाल में नदी के प्रवाह के तुल्य एकमात्र आनन्दरस का आविर्भाव करानेवाली जो समाधि प्रथम वृत्ति में उपस्थित होती है उसकी गुडपिपीलिका न्याय के द्वारा (📖) वस्तुस्वभावबल से ही एकाग्रता को प्राप्त हो, आस्वाद लेता हुआ मन उससे फिर इधर–उधर चलायमान नहीं होता ॥१४॥ सम्पूर्ण अर्थों की शान्ति देनेवाली हठात् प्राप्त हुई ध्यानदशा में ज्ञानबल से जबर्दस्ती जो विषयों के भीतर वैराग्य आ जाता है वही समाधि है, दूसरी नहीं। रागादि के कारण खूब जल रहे चित्त में तो कभी

(📖) मिठास के लोभ से जब चींटी गुड़ में जाकर चिपट जाती है तब फिर उससे अलग नहीं होती। ठीक वही दशा योगी के मन की है। आनन्दैकरस का आविर्भाव करानेवाली समाधि का आस्वाद लेकर योगी का मन पुनः उससे पृथक् नहीं होता यह तात्पर्य है।

भी किसी की समाधि नहीं देखी गयी है ॥१५॥

इस तरह ध्यान की उपपत्ति भी विषयों से विरक्ति होने पर ही होती है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं।

विषयों से जो दृढ़ वैराग्य है वही ध्यान कहा गया है और खूब परिपक्व हो जाने से वही वज्र के तुल्य अत्यन्त दृढ़ हो जाता है ॥१६॥

ऐसी स्थिति में वैराग्यरूपी बीज ही जब अंकुरित अवस्था में स्थित रहता है तब ध्यान और जब प्ररूढ़ हो जाता है तब समाधिनाम से कहा जाता है, यों भेद में भी अभेद-व्यवहार हो सकता है, यह कथन फलित हुआ, यह कहते हैं।

भद्र, विषयों से जो वैराग्य है वह अंकुरित होने पर ध्यान कहा जाता है और जब पीठ बन्ध से यानी काण्डजनन आदि द्वारा दृढ़ बन्ध से सुन्दर बद्ध हो जाता है तब वही समाधि नाम से कहा जाता है ॥१७॥

साक्षात्कारात्मक वृत्ति से आविर्भूत ब्रह्म ही अविद्या का उच्छेदक होने के कारण ज्ञान कहा जाता है, वासना का उच्छेदक होने के कारण निर्वाण कहा जाता है, यह कहते हैं।

साक्षात्कारात्मक वृत्ति में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही अविद्योच्छेदरूप होने से, निरन्तर परित्यक्त वासनारूप होने से तथा आनन्दपद को प्राप्त होने से सम्यक् ज्ञान, ध्यान ओर निर्वाण रूप कहा जाता है ॥१८॥

यह जो कुछ कहा वह सब विषय-वैराग्य से ही हो सकता है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं, इसलिए विषय-वैराग्य को दृढ़ करने के लिए कहते हैं।

यदि पुरुष में भोगों के प्रति विराग विद्यमान है, तो ध्यानरूप दुःखसाध्य बुद्धि से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? और यदि विराग नहीं है, तो भी ध्यानात्मक दुःखसाध्य बुद्धि से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥१९॥ भद्र, जो पुरुष विषयों के स्वाद से मुक्त है एवं विवेकज्ञान से सम्पन्न है उस महामुनि को निर्विकल्प समाधि निरन्तर लगी रहती है ॥२०॥ जिसको विषय नहीं रुचता, उसीको तत्त्वज्ञ लोग ज्ञानी कहते हैं जब पुरुष को भोग नहीं रुचते तभी उसे सम्यक् ज्ञान उदित होता है ॥२१॥

पूर्ण अद्वय स्वभाव से विरुद्ध भोग उसी समय में हो सकता है, जिस समय में अज्ञान के कारण आत्मा का असली स्वरूप विपरीत प्रतीत होता है। जब अज्ञान का नाश हो जाता है तब, यह बात नहीं रहती, यह कहते हैं।

जिस महामुनि की अपने आत्मस्वभाव से स्थिति हो चुकी उसे भोग कैसे ? क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, वह विरुद्ध स्वभाव के क्षीण हो जाने पर कैसे रह सकता है ? ॥२२॥

अभ्यासकाल में समाधि से उठे हुए पुरुष को क्या करना चाहिए और कब समाधि लगानी

चाहिए, इस विषय में क्रम बतलाते हैं।

भद्र, पहले गुरु, सहपाठी आदि के साथ वेदान्तश्रवण करे, उपनिषदों की आवृत्ति करे, फिर प्रणवजप करे, इतना सब कर लेने के बाद समाधि में तत्पर हो जायें और समाधि टूट जाने पर समाधिश्रान्त वह पुरुष फिर श्रवण, आवर्तन एवं प्रणव जप करे ॥२३॥

यह सब होने पर भी समाधि की ओर प्रधान लक्ष्य रखना चाहिए, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, अपने भीतर एकमात्र निर्वाणरूप समाधि की ओर लक्ष्य रख करके स्थित रहना चाहिए, किसी प्रकार का खेद नहीं करना चाहिए, सारी शंकाओं को तिलांजलि दे देनी चाहिए। यही समाधि अतिरमणीय, सुषुप्ति के सदृश परमशान्त, शरत्कालीन विस्तृत बादलों के सदृश निर्मल है। इसी अवस्था में चित्त एकरूप और प्रशान्त रहता है ॥२४॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

विस्तार से प्रस्तुत मुक्ति का साधनों के क्रम में
दृढ़ वैराग्य की प्राप्ति तक के जितने साधन हैं, उन सबका पुनः वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, जो जीव इस संसार के भार को ढोते–ढोते थक गया है तथा मरण, मूर्च्छा आदि संकट समय को झेलकर जिसका शरीर जर्जर हो गया है, वह विश्रान्ति अवश्य चाहता है। परन्तु उसके लिए जो खास क्रम है यानी विश्रान्ति पाने के लिए प्राप्त किये जानेवाले उन–उन साधनों से उत्तम गुणों के लाभ का जो क्रम है, उसे आप सुनिये ॥१॥

सबसे पहले विवेकरूपी अंकुर का उदय होने पर जिन गुणों की प्राप्त होती है, उन्हें बतलाते हैं।

कारण विशेष से यानी ऐहिक यज्ञ, दान, तप आदि पापक्षय के हेतुभूत सत्कर्मों से या अकारण से यानी पूर्वजन्मार्जित यज्ञ आदि सत्कर्मों से जभी अपने हृदय में पहले संसार से विरक्ति पैदा करनेवाली विवेक की मात्रा उत्पन्न हो जाती है, तभी उत्तम छाया देनेवाले तथा साधुता के रूप से चारों ओर फैले हुए गुणों का संसार ताप से तप्त पुरुष ऐसे आश्रय लेते हैं, जैसे सूर्य के ताप से तपे हुए पुरुष मार्ग की थकावट हरनेवाले मार्ग के वृक्षों का आश्रय लेते हैं ॥२,३॥

ऐसा होने पर पहले अज्ञानियों के संसर्ग का त्याग, यज्ञ–दान आदि में तत्परता तथा देवता की आराधना आदि गुण उत्पन्न होते हैं, यह कहते हैं।

ऐसा पुरुष पहले तो अज्ञानियों को उस तरह दूर से ही छोड़ देता है, जैसे पथिक यज्ञयूप को दूर से ही छोड़ देता है। स्नान, दान, तप, यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता है और निरन्तर तत्त्वज्ञों

का पदानुसरण करता है॥४॥ जिस तरह चन्द्रमा का बिम्ब लोगों को आनन्द देनेवाला अमृत धारण करता है, उसी तरह तत्त्ववेत्ता कोमल, अनुरूप, परिणाम में लोगों के लिए हितकारक तथा आनन्ददायी कृत्रिम व्यवहार धारण करता है ॥५॥ ऐसा तत्त्ववेत्ता अपने पक्ष में न अनुराग रखता है और न लोभ या अभिमान ही रखता है, सदा पर के हित में निरत रहता है, इसीसे परप्रज्ञानुग कहा जाता है। वह सभी जनों का प्रिय होता है, पवित्र शास्त्रानुकूल कर्मों में रसिक बना रहता है तथा इन गुणों के कारण सबसे ऊँचा होकर वह विचरण करता रहता है ॥६॥ ऐसे महापुरुष की पहली संगति ही पुरुष को सुख पहुँचाती है, उसकी संगति मक्खन के आश्रय दही के सदृश स्वच्छ होती है तथा स्नेह से भरपूर, कोमल, मनोहर और स्वादु रहती है ॥७॥ विवेकी पुरुषों के चन्द्रमा की किरणों के सदृश चरित्र अत्यन्त पवित्र और शीतल रहते हैं, इसलिए प्रत्येक पुरुष के भीतर अत्यन्त ठंडक पहुँचाते हैं ॥८॥ जैसी साधु पुरुष के समागम से निर्भय शान्ति मिलती है, वैसी शान्ति मनोहर पुष्पों के ढेरों से भरे उद्यानखण्डों में भी नहीं मिलती है ॥९॥ जैसे भगवती भागीरथी के निर्मल जल पाप धो डालते हैं और शुद्धता प्रदान करते हैं, वैसे ही विवेकियों के समागम भी पुरुषों के पाप धो डालते हैं और शुद्धता प्रदान करते हैं ॥१०॥ संसार पार पाने की इच्छा रखनेवाले विरक्त विवेकी पुरुषों का समागम होने पर पुरुष ऐसी शीतलता प्राप्त करता है, जैसी हिम एवं पुष्पहारों से निर्मित घरों में वास करने पर ॥११॥ भद्र, जैसी उदार प्रीति विवेकी पुरुष में रहती है, वैसी उदार प्रीति देवता, गन्धर्व और मानव की कन्याओं में भी नहीं रहती ॥१२॥ क्रम से किये गये उचित निष्काम कर्म से बुद्धि का मल हट जाता है, बुद्धि का मल हट जाने पर आत्मजिज्ञासा का आविर्भाव हो जाता है और गुरुजी के मुख से सुना गया शास्त्र का अर्थ मनुष्य के हृदय के भीतर ऐसे पैठ जाता है, जैसे दर्पणतल के भीतर प्रतिबिम्ब पैठ जाता है ॥१३॥ विवेक से पूर्ण हृदय में शास्त्रार्थरस से पूर्ण होकर उत्तम प्रज्ञा ऐसे बढ़ने लग जाती है, जैसे महावन में मूलप्ररोहादि के विस्तार से कदली बढ़ने लग जाती है ॥१४॥ दर्पण के सदृश, निर्मलता से शोभित बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित समस्त वस्तुओं का अपने अन्दर ही मन के विलास के रूप में पूर्ण अनुभव करती है ॥१५॥ साधुओं के समागम से शुद्धबुद्धि हुआ तथा शास्त्र के अर्थों से परिमार्जित हुआ प्राज्ञ (विवेकी) पुरुष अग्नि से निकाले गये विद्युत्पुंज के सदृश चमकदार वस्त्र रत्न की नाईं भासता है ॥१६॥ विवेकी पुरुष चमकीले सुवर्ण के सदृश चमक रहे तथा निर्मल प्रकाश करनेवाले अपने आत्मप्रकाश से सूर्य की नाईं समस्त भुवन को प्रकाशित कर देता है ॥१७॥ विवेकसम्पन्न तत्त्वज्ञ पुरुष अभ्यास द्वारा शास्त्र का और सेवा आदिवृत्ति से गुरुसमागम का वैसा निरन्तर अनुसरण करता है, जिससे कि गुरु के उपदिष्ट अर्थ में अत्यन्त आसक्ति के कारण स्वप्न में भी शास्त्र एवं गुरु के चिन्तन तथा सेवन में निरत होकर उन्हीं दोनों का (शास्त्र और गुरुसमागमका) अनुभव करता है ॥१८॥ क्रमशः राग आदि दोषों का विनाश एवं मैत्री आदि गुणों का संचय कर वह निर्दोष और गुणवान् बनकर शास्त्र में,

उपनिषद् में कहे गये अर्थों की भावना से पूर्ण भावुक बन जाता है। फिर पिंजड़े से छुटकारा पाये हुए के सदृश स्वतन्त्र होकर तथा भोगों का तिरस्कार कर प्रकाशने लग जाता है ॥१९॥ भद्र, व्यसनी बनकर विषयों के प्रति दौड़ना बड़ा भारी दुर्भाग्य है, इस दुर्भाग्य का दिन पर दिन त्याग कर रहे उस विवेकशील पुरुष के द्वारा उसका वंश उस तरह चमकने लग जाता है, जिस तरह चन्द्रमा के द्वारा तारों का समूह चमकने लग जाता है ॥२०॥ इस विवेकी के मुख में भोगलम्पटता से निर्मुक्त कोई अनिर्वचनीय अपूर्व ही कान्ति ऐसे जगमगाने लग जाती है, जैसे राहु से छुटकारा पा जाने पर चन्द्रमा में कान्ति जगमगाने लग जाती है ॥२१॥ जिन लोगों ने तीनों जगत् को भी तृणरूप समझ लिया है, उन महान् आत्माओं द्वारा यह ऐसे प्रशंसापद को प्राप्त होता है, जैसे स्वर्ग में देवताओं द्वारा कल्पवृक्ष ॥२२॥ भद्र, विवेकी को जो कुछ भोगसाधन प्राप्त होते हैं, उनका परित्याग कर वह सन्तुष्ट तो होता है, परन्तु कुछ लज्जाग्रस्त बना रहता है, क्योंकि उसके मन में इस बात की शर्म रहती है कि मैंने सभी से जब द्वेष छोड़ दिया तब भोगों के प्रति द्वेष क्यों कर रहा हूँ और यदि भोगसाधन विषय उसे प्राप्त ही नहीं हुए, तो वह अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि इस अवस्था में उसे द्वेष करने का मौका ही नहीं मिलता ॥२३॥ यदि अधम चाण्डाल आदि को दैववशात् अपनी पूर्वजन्म की उच्च जाति का स्मरण हो गया, तो वह अपनी इस जन्म की जाति को जैसे मन में धिक्कारता है, वैसे ही विवेकी पुरुष भी पहले की राग आदि से प्रौढ़ तथा भोग की उत्कण्ठा से तरल हुई अपनी क्रियाओं का स्मरण कर खेद से कुछ हँसमुख होकर अपने भीतर उनको धिक्कारता है ॥२४॥ इस तरह के पुरुष को एक तरह से पृथ्वी में उदय को प्राप्त चन्द्रमा ही समझना चाहिए, इसे देखने के लिए केवल परम प्रेम से ही विस्मय से प्रफुल्ल नेत्रोंवाले सिद्ध पुरुष आते हैं ॥२५॥ सदा ही भोगों के प्रति वह आदर नहीं रखता, इसीलिए उन सिद्ध महात्माओं के द्वारा अत्यन्त प्रसन्नता से दिये गये अनिषिद्ध सिद्धि आदि विषयों को भी श्रेष्ठ नहीं समझता उनकी ओर कुछ भी अधिक आस्था नहीं रखता ॥२६॥ उन भोगों के प्रति उसे जो अधिक आदर नहीं होता, इसमें कारण यह है कि गुरु और शास्त्र के समागम से भोगों के प्रति पहले से ही उसके मन में नीरसता पैदा हो जाती है तथा उसकी जड़ता भी जीर्ण–शीर्ण ऐसे हो जाती है, जैसे शरद् ऋतु का पौधा पाक से जीर्ण–शीर्ण हो जाता है ॥२७॥ अनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला पुरुष वैद्य की शरण लेता है, वैसे ही अपने भावी अधिक कल्याण के लिए स्वयं ही वह सज्जनों की शरण लेता है ॥२८॥ सज्जनों के समागम से उसकी बुद्धि बड़ी उदार हो जाती है, उदारबुद्धि होकर वह उपनिषद् के महावाक्यार्थों के विचार में ऐसे डूब जाता है, जैसे अत्यन्त प्रसन्न सरोवरों में महान् हाथी डूब जाता है ॥२९॥ क्योंकि सज्जन का यह स्वभाव है कि वह अपने पास स्थित प्राणी को बड़ी–बड़ी आपत्तियों से उबार कर सम्पत्तियों में ऐसे सम्बन्ध करा देता है, जैसे सूर्य अन्धकार से उबारकर अपनी प्रकाशमय दीप्तियों में सम्बन्ध करा देता है ॥३०॥ जो विवेकी है उसकी बुद्धि

पहले से ही दूसरे का धन लेने से विरत बनी रहती है और अपने ही अर्थों से उसे सन्तोष बना रहता है ॥३१॥ दूसरे के धनग्रहण से विरत तथा सन्तोषरूपी अमृत से निर्भर विवेकी पुरुष क्रम से उत्तरोत्तर अपने स्वार्थों की भी उपेक्षा करने की इच्छा करता है, ऐसी स्थिति में वह दूसरे का धन तो चाहेगा ही कैसे ? ॥३२॥ उसके पास जो कोई याचक आ जाय, उसे कण, पिण्याक (तिल या सरसों की खली), शाक आदि जो कुछ भी हो दे देता है, उसी अभ्यासयोग के प्रभाव से याचकों को अपना मांस भी दे डालता है ॥३३॥

विवेक के अनुसरण से जिनका चित्त लीन हो गया है उनका दिन पर दिन ज्ञान बढ़ता ही जाता है और अज्ञान क्षीण होता जाता है, यह कहते हैं।

विवेक के पीछे-पीछे दौड़ रहे तथा चित्त की विलयदशा को प्राप्त हुए पुरुषों का अज्ञान ऐसे तुच्छ हो जाता है, जैसे दौड़ रहे घोड़ों के लिए बड़ा भारी गड्ढा भी गोपद की नाईं तुच्छ यानी अनायास उल्लंघन योग्य हो जाता है ॥३४॥ विवेकी को सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक दूसरे का धन लेने से निवृत्त हो जाना चाहिए और इसका भली प्रकार अभ्यास कर फिर अपने विवेक से स्वार्थों से भी विरक्ति ग्रहण करनी चाहिए ॥३५॥ इसके बाद भोगनिवृत्ति के साथ-साथ अपने स्वार्थों को भी क्रमशः तिलांजलि दे देनी चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञ लोग उत्तम शान्ति के लिए यही काम किया करते हैं ॥३६॥ श्रीरामजी, यह बात आप निश्चित मानिये कि जीवनपर्यन्त जैसा अर्थोपार्जन के लिए झेला गया दण्डरूप ऐहिक पारलौकिक दुःख है, वैसा दूसरा दुःख इस जगत् में करोड़ों नरकों में भी विद्यमान नहीं है ॥३७॥

जो मूढ़ पुरुष हैं, उनको पारलौकिक दुःखों का स्मरण भले ही न हो, पर ऐहिक दुःखों का तो उन्हें स्मरण करना ही चाहिए यह कहते हैं।

भद्र, आसन के लिए, शयन के लिए,सवारी के लिए, जाने के लिए, आनन्द मनाने के लिए तथा अपने जन के लिए पुरुषों को कितनी बड़ी मानसिक चिन्ता बनी रहती है, इसलिए अज्ञानियों को उसे अवश्य स्मरण करना चाहिए कि अर्थोपार्जन के लिए यहाँ कितना दुःख है ॥३८॥ भद्र, यदि विवेक से विचारा जाय, तो ये अर्थ बड़े भारी अनर्थरूप, सम्पत्तियाँ महान् विपत्तिरूप और भोग संसार के महान् रोगरूप ही सिद्ध होते हैं। परन्तु मोह के कारण प्राणी उनको वैसा नहीं समझता ॥३९॥ जब तक पुरुष निन्दनीय ऐहिक या पारलौकिक अर्थों के लिए महान दुःख रूप अनर्थ झेलने की इच्छा नहीं करता, तभी तक पुरुष चिन्तित अर्थों के कारण उत्पन्न सन्तापों से नहीं सूखता ॥४०॥ जिस पुरुष को मोक्ष का सुख ही सदा के लिए सबसे बढ़-चढ़कर जँचता हो, वह पुरुष धन को यह समझे कि वह जगत्-रूपी तिनके के अग्रिम हिस्से के सदृश अत्यन्त तुच्छ है और यह समझकर उससे शान्ति ग्रहण करे यानी उसे प्राप्त करने के लिए अनर्थ के फन्दे में न फँसे ॥४१॥

धन में तुच्छता दृढ़ करने के लिए बार-बार उसकी निन्दा करते हैं।

भद्र, यह जो धन है, उसको मुनियों ने यह कहकर याद किया है कि वह चिन्ता, शोक आदि भावविकारों का, जरा, मरण के जनक दुष्ट कर्मों का तथा दीनता, दुष्टता, जलन आदि का ढेर है ॥४२॥

सन्तोष ही वैराग्य में बैठाकर पुरुष को सब दुःखों से छुटकारा दिलाता है, इसलिए अब सन्तोष की स्तुति करते हैं।

इस जगत् में बुढ़ापा और मरण से आक्रान्त जन्तुओं को अजर और अमर बनाने के लिए सन्तोष ही एक रसायन (अमृत) है ॥४३॥

सभी प्रकार के सुखों का कारण भी वही है, यह कहते हैं।

सुख के साधन एक ओर तो वसन्त, नन्दनवन, चन्द्रमा और अप्सराएँ कही गई हैं और एक ओर पूर्ण सन्तोषरूपी अमृत कहा गया है यानी अकेला सन्तोषरूपी अमृत सुख देने की जितनी सामर्थ्य रखता है उतनी वसन्त आदि सब मिलकर भी नहीं रखते ॥४४॥ जैसे सरोवर अपने भीतर की परिपूर्णता वृष्टि से कर सकता है, वैसे ही पुरुष भी अपने भीतर परिपूर्णता सन्तोष से ही कर सकता है। सज्जन पुरुष गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और रसपूर्ण ओजस्विता को सन्तोष के ही द्वारा प्राप्त कर सुन्दर पुष्पों से युक्त वन के सदृश होकर ऐसे शोभित होने लगता है, जैसे वसन्त से वृक्ष ॥४५,४६॥ जो पुरुष सन्तोष धारण नहीं करता और अर्थों के लिए लालायित रहता है, उसकी प्रकृति ठीक उस कीट की तरह दीन बन जाती है, जो कीट जूतों से पहले आहत होकर रगड़ खा गया है। इस तरह का असन्तुष्ट जीव एक दुःख से दूसरे दुःख की ओर जाता ही है, दुःखों से छुटकारा नहीं पाता ॥४७॥ धन के लोभी जीवों की आकृतियाँ (आकार) विकृत ही रहा करती है और वे अपनी स्वस्थ स्थिति ऐसे प्राप्त नहीं कर सकते, जैसे कि क्षुब्ध समुद्र में गिरे हुए तथा तरंगों से विकल हो उठे पुरुष ॥४८॥ अर्थसम्पत्ति और प्रमदा–ये दोनों वस्तुएँ तरंगों के सदृश थोड़ी ही देर में नष्ट हो जानेवाली हैं और वे सर्प के फनरूप छत्र की छाया ही हैं, अतः कौन विद्वान उनसे खेल करेगा ? ॥४९॥ धन के उपार्जन और रक्षण में जो भारी यातनाएँ होती हैं, उनको जानकर भी जो धन की इच्छा करता है, वह मूढ़ और नरपशु है उसे छूना तक नहीं चाहिए ॥५०॥ जो पुरुष सन्तोषरूपी हँसिये से एक साथ बाहर की इन्द्रियों के बर्ताव को और भीतर के संकल्प आदि को काट डालता है, उसका खेत यानी ज्ञानबीज की उत्पत्ति का स्थान हृदय प्रकाशने लगता है ॥५१॥

दृढ़ वैराग्य की प्राप्ति तक के जितने गुण अभी–अभी पीछे बतलाये गये हैं वे भलीभाँति अभ्यस्त होने पर ही ज्ञान की स्थिति बना देते हैं, ऊपर–ऊपर से अभ्यस्त होने पर नहीं, इस आशय को लेकर उपसंहार की इच्छा से कहते हैं।

भद्र, अज्ञानियों से सम्बन्ध रखनेवाली जगत् की जो विचित्रता है, वह साक्षी आत्मा में सत्यता रखती ही नहीं, यों जान रहा भी ज्ञानी जगत् में सत्य अर्थ समझनेवाले अज्ञ के सदृश जो अपरिपक्व ज्ञान के कारण व्यवहार करता है, वह प्रस्तुत वैराग्यादि के अनभ्यास का ही परिणाम

है ॥५२॥ पुरुष को सबसे पहले संसार में विरागदशा प्राप्त करनी चाहिए, फिर सत्समागम और शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए, अनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रों के अर्थों की दृढ़ भावना कर भोगों से विरक्त हो जाना चाहिए, इतना करने के अनन्तर अभी कहे गये वैतृष्ण्य की यानी सन्तोष की दृढ़ता बन जायेगी और फिर अपने असली स्वरूप को वह अवश्य प्राप्त हो जायेगा ॥५३॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

उत्तम वैराग्य दृढ़ होने पर पुरुष की जिन लक्षणों से स्थिति होती है तथा ज्ञान में निष्ठा हो जाने पर जिन लक्षणों से स्थिति होती है, उनका वर्णन।

सबसे पहले वैराग्य की दृढ़ता हो जाने पर पुरुष के जो चिह्न होते हैं, उन्हें बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जब पुरुष को संसार से विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, जब साधु पुरुषों का समागम प्राप्त हो जाता है, जब 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अर्थ बुद्धि द्वारा भावित हो जाता है, जब भोगों की तृष्णा चली जाती है, जब विषय नीरस बन जाते हैं, जब साधुता का उदय हो जाता है, जब प्रकाशमय आत्मा सामने आ जाता है तथा जब हृदय में अपने उदय की पूर्ण भावना हो जाती है, तब वह विवेकी पुरुष धनों को ऐसे नहीं चाहता, जैसे अन्धकारों को और यदि वे पास में विद्यमान हों, तो उनका ऐसे त्याग कर देता है, जैसे घर में से एकदम सूखे उच्छिष्ट पत्तलों का ॥१–३॥ उपयोगी भी बर्तन आदि ढो ले जाने में असामर्थ्य रखने के कारण जैसे पथिकों की दृष्टि से वे केवल भारभूत ही देखे जाते हैं, वैसे ही विवेकी पुरुष की दृष्टि से स्त्री, बन्धु आदि भी भारभूत देखे जाते हैं। परन्तु सहसा उनका त्याग वह नहीं करता, यथाशक्ति और यथासमय धीरे–धीरे उनका उपचार करता ही जाता है यानी छोड़ता जाता है ॥४॥ इन्द्रियों में बार–बार लगे हुए भी भोगरूप इन्द्रियों के विषयों का वह अनुभव नहीं करता, क्योंकि उसका मन अत्यन्त शान्त हो चुका रहता है ॥५॥

उसीका विस्तार करते हैं।

विवेकी जीव, एकान्त स्थानों में, दिगन्तों में, सरोवरों में, जंगलों में, उद्यानों में, पवित्र देशों में, अपने ही घरों में, मित्रों की विलासपूर्ण क्रीड़ाओं में, सुन्दर बाग आदि के भोजनों में, शास्त्रों के तर्कपूर्ण विचारों में अज्ञानी की तरह दीर्घकाल तक आस्था बाँधकर नहीं रहता या आसक्ति न होने के कारण दीर्घकालतक स्थित नहीं रहता है ॥६,७॥ अथवा कदाचित् प्रारब्धवश उन स्थानों में रह गया, तो भी वहाँ रहकर तत्त्ववेत्ता पुरुष की ही खोज करता है, क्योंकि वह पूर्णशान्त, दान्त, अपनी आत्मा में रमनेवाला, मौनी और एकमात्र विज्ञानरूप ब्रह्म की कथा में निरत रहता है ॥८॥

यों निरन्तर अन्वेषण करने पर अवश्य आत्मा का दर्शन होता है और इससे शान्ति मिलती है,

यह कहते हैं।

इस तरह अभ्यास के बल से शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही जल में निम्न (नीचे के) भाग के सदृश परम पद में विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥९॥

वह परमपद कैसा है ? जहाँ पर विवेकी विश्रान्ति पाता है और किस तरह का निश्चय विश्रान्तिरूप बन जाता है ? इस पर कहते हैं।

एकमात्र अज्ञान ही इन बाह्य और आभ्यन्तर दृश्य पदार्थों के रूप में परिणत हो गया है, अज्ञान कोई अलग पदार्थ है नहीं, इसलिए अज्ञान की शान्ति ही परमपद है, यह आप जानिए अथवा बाह्य और आभ्यन्तर जितने अर्थ दिखाई पड़ते हैं, वे आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है, इस प्रकार का अन्तिम साक्षात्कारात्मक जो निश्चय है, वह यदि अपने स्वरूपभूत आत्मा में दग्ध लकड़ी की आग के सदृश शान्त हो गया, तो वही परमपद है ॥१०॥ बोधरूप आत्मा के सिवा न तो अर्थों का ज्ञान हो सकता है और न शून्य ही सिद्ध हो सकता है, इस प्रकार के भीतरी अनुभव में विद्यमान सर्व बाधों की अवधिभूत जो वस्तु है, वही परम पद है ॥११॥ परमपदरूप जो वस्तु है, वह न बोधरूप है, न शून्यरूप है और न तो अर्थरूप ही है, यह आप जान लीजिए, क्योंकि समस्त वस्तुएँ अद्वय बोध के साथ एकरस होकर ही परिणत हैं। तात्पर्य यह निकला कि यदि बोध के विषय पदार्थ होते, तो उनको लेकर बोधरूपता कह सकते, परन्तु बोध विषय कोई पदार्थ तो त्रिकाल में भी नहीं है, इसी तरह अर्थ न होने के कारण अर्थरूपता भी नहीं है। अर्थों की शून्यता को लेकर परमपद में शून्यता कैसे हो सकती है ? ॥१२॥

परमपद में विश्रान्ति पा जाने पर विषयों की विरक्ति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं।

मनशून्य (मन की विलयदशा को प्राप्त) तथा आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप परमपद में विश्राम किये हुए महात्माओं को विषय ऐसे अच्छे नहीं लगते, जैसे मनशून्य पत्थरों को दूध ॥१३॥ निरोधपद को प्राप्त यानी बहिर्मुख पुरुषों को आत्मनिष्ठा में रुकावट डालनेवाले तथा अन्तर्मुखपुरुषों को बाह्यनिष्ठा में रुकावट डालनेवाले परमपद में प्राप्त हुआ, मन से रहित, मुनि के धर्मों से पूर्ण, शारीरिक कार्यों में शिथिल आत्मज्ञानी महात्मा अपने स्वभाव में ऐसे निश्चल होकर स्थित रहता है, जैसे चित्र में अंकित पुरुष ॥१४॥

उस समय उसका मन किस तरह का रहता है ? इस पर कहते हैं।

भद्र, अवश्य जानने लायक आत्मवस्तु को जाननेवाले उस महात्मा का मन अर्थरहित है, और सम्पूर्ण अर्थों से पूर्ण भी है, क्योंकि तत्त्वतः सभी तद्रूप हो गये है। अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप हो जाने के कारण महान् ही है और दुर्लक्ष्य होने के कारण परमाणुरूप भी है, अशून्यरूप होता हुआ भी शून्यात्मक है, कारण कि अहन्ता, जगत् की इच्छा आदि, दिशा (देश) और काल की कल्पना आदि तथा ज्ञाता के ज्ञान आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब उसी से तो हुए हैं, अतः तद्रूप होने के

कारण शून्यरूप नहीं हो सकता और शून्य आदि भी उसी से हुए हैं, अतः अशून्यरूप भी नहीं है। ऐसी स्थिति में तत्-तद्रूप से स्थित हुआ भी नहीं है, यह कहा जा सकता है ॥१५,१६॥ सम्पूर्ण मलों से रहित आत्मपद में स्थिति करनेवाला ज्ञानी अपने हृदय में स्थित अज्ञानरूपी अन्धकार को तथा बाहर के अन्धकार को एवं राग, द्वेष, भय आदि को, दीपक की तरह निकाल देता है ॥१७॥ भद्र, ऐसे पुरुषरूपी भास्कर को (सूर्य को) प्रणाम करना चाहिए, जिसका कि समस्त अंश रजोगुण से शून्य है, सत्त्वगुण के प्रभाव से जो अज्ञानसागर से पार पा चुका है और जिसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव है ॥१८॥ श्रीरामजी, मैं आपसे क्या कहूँ, जब भेद हट जाता है, चित्त अदृश्य बन जाता है, तब ज्ञानी की जो स्थिति हो जाती है उसका वाणी से कथन हो ही नहीं सकता ॥१९॥ हे महाबुद्धे, रात-दिन की उत्तम भक्ति से चिरकाल के बाद प्रसन्न किया गया परमात्मा वर्णित परमपदरूप निर्वाण देता है, दूसरा नहीं। तप के प्रभाव से यह ईश्वर के प्रसाद से मोक्ष मिलता है, ऐसी श्रुति की उक्ति भी है ॥२०॥ श्रीरामजी ने कहा : हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ मुनिवर, कौन ईश्वर है ? और वह भक्ति से कैसे प्रसन्न किया जाता है, यह बात मुझसे आप ठीक-ठीक कहिए ॥२१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महामते, ईश्वर न तो दूरी पर ही है और न अत्यन्त दुर्लभ ही है, महाबोधरूप, एकरस अपनी आत्मा ही परमेश्वर है ॥२२॥

ईश्वर उसे कहते हैं, जो सबका नियन्त्रण करने में स्वतन्त्र हो, इस तरह स्वतन्त्र सबके प्रति सभी प्रकार से अपनी आत्मा ही है, इस विषय में युक्ति कहते हैं।

सब कुछ आत्मा के लिए ही है। रथ, घर, महल आदि जितने अचेतन पदार्थ हैं, वे सब चेतन के लिए ही हैं, आत्मा से अतिरिक्त कोई चेतनवस्तु है नहीं, इसलिए सर्वभोक्तृतारूप स्वतन्त्रता आत्मा में ही आ गई। उसी से सब कुछ हुआ है यानी सबका कर्ता वही है, वही सब कुछ है यानी आत्मा ही सबका उपादान और अधिष्ठान हैं, सभी ओर जहाँ दृष्टि डालें वहाँ पर वही नजर में आता है यानी सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी में है। वही भीतर है यानी सूक्ष्म है, वही सर्वमय सर्वगत है, वही सनातन है, उस आत्मरूप परमात्मा को नमस्कार हो ॥२३॥

इसीलिए श्रुति में बतलाई गई जन्मादिकारणता उसमें है, यह कहते हैं।

यद्यपि वास्तव में आत्मा कारण नहीं है, तथापि कारणरूप हुए उसी आत्मा से, पवन से पवन-गतियों की नाईं, ये सृष्टि, प्रलय आदि विकार उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

सबका आराध्य भी आत्मा ही है, यह कहते हैं।

ये जितने स्थावर-जंगम पदार्थ हैं और ये जितने प्राणी हैं, वे सब अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार उपहार सामग्री प्रदानकर उसी आत्मा का निरन्तर पूजन करते हैं ॥२५॥ जब अनेक जन्मों तक यह आत्मा यथाभिमत इच्छा से पूजित होता है, तब वह उससे प्रसन्न हो जाता है ॥२६॥

जब अनेक सत्कर्मों से वह महादेव, महेश्वररूप आत्मा स्वयं प्रसन्न हो जाता है, तब पूजक के

पास बोध देने के लिए अपना पवित्र दूत तत्काल भेजता है ॥२७॥

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, परमेश्वररूपी आत्मा कौन दूत भेजता है, और वह आकर बोध कैसे देता है, इसको मुझसे कहिए ॥२८॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, आत्मदेव के द्वारा भेजा गया दूत, जिसका नाम विवेक है और सदा आनन्द देनेवाला है, उक्त पुण्यवान् अधिकारी की हृदयगुहा में आकर, आकाश में चन्द्रमा की नाईं, स्थिर हो जाता है ॥२९॥ यही विवेक नामक दूत क्रमशः वासनारूप प्राणी को बोध देता है और अविवेकी को इस संसार-सागर से पार कर देता है ॥३०॥ समस्त जगत् का प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप अन्दर का आत्मा ही सबसे बड़ा परमेश्वर है, वासनारूप आत्मा नहीं। इसी परम परमेश्वर का बोधक वेदसम्मत प्रणव (ॐ) है ॥३१॥ जप, होम, तप, दान वेदपाठ, यज्ञ और क्रियाक्रमों से निरन्तर इसी आत्मा को नर, नाग, देवता और दानव प्रसन्न करते हैं ॥३२॥ इसी परमपिता परमात्मा का द्यौ मस्तक है, पृथ्वी पैर है, तारे रोम हैं, भूत अस्थि हैं, आकाश हृदय है और यही सबका अन्तरात्मा है ॥३३॥ चैतन्यात्मा होने से यही सब जगह जाता है, जागता है और देखता है, इसलिए यही आत्मा लाखों, हाथ, पैर, कर्ण, चक्षु और पैरों का चारों ओर से धारण करता है ॥३४॥ विवेकरूपी दूत को जगाकर और चित्तरूपी पिशाच का विनाशकर यही चिदात्मा जीव को अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति पैदा करा देता है ॥३५॥ भद्र, समस्त संकल्प-विकल्पों का, विकारों का और अर्थसंकटों का परित्याग कर अपने ही पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को स्वयं ही प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥३६॥ जिसमें मनरूपी पिशाच घूम रहा है, काम, क्रोधरूपी काले मेघों से जो सदा व्याकुल रहता है, ऐसे संसार रात्रि के घने अन्धकार में अपना आत्मा ही पूर्ण चन्द्रमा है ॥३७॥

विवेक ही पार कर देनेवाला है, इस बात को बतलाने के लिए संसार का समुद्ररूप से वर्णन करते हैं।

अगाध एवं मरणरूप भँवरों के कल्लोलों से व्याकुल कोटरों से युक्त तृष्णारूपी तरंगों से तरल, अपने मनरूपी झंझावातों से युक्त स्थावर आदि बड़े-बड़े भूतरूप जलकणों से व्याप्त, संसाररूपी बड़ा विषम सागर इन्द्रियरूप मगरों से अतिगहन है, उसको पार करने के लिए विवेक ही एक बड़ा भारी जहाज है ॥३८,३९॥

कहे गये प्रश्न-उत्तरों का संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

पूर्व वर्णित शास्त्रविहित पूजन से प्रसन्न हुआ आत्मा परम विवेकरूप परम पवित्र दूत भेजकर सत्संग, शास्त्र और परमार्थ वस्तु के उत्तम उपदेश द्वारा जीव को अद्वितीय, निर्मल और सर्वोच्च पद प्राप्त कराता है ॥४०॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

दृढ़ विवेकज्ञान सम्पन्न पुरुषों की जैसी महिमा होती है तथा जैसा उनको संसार भासता है, उन सबका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जिनका विवेकज्ञान परिपुष्ट हो गया है ऐसे वासनारूपी मल का परित्याग कर रहे महात्माओं के अन्दर कोई अपूर्व ही महत्ता उत्पन्न होती है ॥१॥

उसी महत्ता का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

औदार्य की सर्वश्रेष्ठ अवधिभूत तथा गाम्भीर्य गुण से अति सुन्दर महात्माओं की बुद्धि को चौदह भुवन तथा उनके सभी प्राणी एवं वहाँ की सारी सम्पत्तियाँ भी लुब्ध नहीं कर सकतीं ॥२॥ यह सारा संसार चित्त की एकमात्र भ्रान्ति है, ऐसी सज्जनों को दृढ़ प्रतीति हो जाने पर बाहर शब्दादि विषयों के लिए उत्पन्न होनेवाला तथा भीतर संकल्प विकल्पादि रूपों से भ्रमण करनेवाला अतएव हृदय के भीतर और बाहर दोनों जगह संचार करने में समर्थ मनसहित इन्द्रियों का समूहरूपी एक तरह का मगर तथा उसका मूलभूत अज्ञान एवं वासना, काम, कर्म आदि ये सबके सब शान्त हो जाते हैं ॥३॥

जब तक भ्रान्तियों में सत्यत्व का अभिमान रहता है तभी तक भोगों की वासना की बुद्धि भी रहती है। भ्रान्तियों का भ्रान्तिरूप से स्फुरण होने पर यानी ये जगत् की सारी भ्रान्तियाँ वस्तुतः भ्रान्तिरूप ही हैं, ऐसा ज्ञान हो जाने पर तो मूल का उच्छेद हो जाने के कारण उन वासनाओं का भी उच्छेद लोक में प्रसिद्ध ही है, यह दृष्टान्त देकर दिखलाते हैं।

दो चन्द्रमा के तुल्य, मृगतृष्णा के जल के समान तथा आकाश में केशोण्ड्रक के सदृश जगत् की भ्रान्ति वस्तुतः भ्रान्ति है, ऐसा तत्त्वबोध द्वारा स्फुरित हो जाने पर तत्त्वज्ञानी पुरुष को वासना की प्रतीति भला कहाँ से हो सकती है ? ॥४॥ वासना की प्रतीति (वृत्ति) का नाश होने पर शून्य चिदाकाश ही शेष रह जाता है और वह वासना की शून्यावस्था भी मन के न रहने पर ही सिद्ध होती है। अतः वासनाशून्य मनरहित जो अवस्था सप्तम भूमिका में विवेकी पुरुष से प्राप्त है उसका भला त्याग कैसे किया जा सकता है ? इसके त्याग में कोई हेतु नहीं दीखता, यह भाव है ॥५॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये जो तीन अवस्थाएँ है ये तो सभी को भलीभाँति ज्ञात हैं। परन्तु इन तीनों से शून्य जो चौथी अवस्था है वह तो दर्शन आदि व्यवहारों के मूल का बाध हो जाने पर सांसारिक पदार्थों को न देखती हुई भी एकमात्र जीवन के हेतुभूत प्रारब्ध के शेष रह जाने से देखती हुई–सी अन्य की दृष्टि में अवभासती है। तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में तो वह परमावस्था ही कहलाती है ॥६॥ सप्तम भूमिका में स्थित तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् व्युत्थानकाल में भी नहीं भासता और न आत्मा, न धन तथा पृथ्वी आदि से घटित कोई पदार्थ ही भासता है, बल्कि विचित्र तरह का एक

रत्नों का किरण–जाल–सा निबिड़ित प्रभापुंज–सा आभासमात्र भासता है ॥७॥ तत्त्वज्ञानी महानुभावों की दृष्टि में यह सारा जगत् रूपों का आलोकमात्र, आकाश में विचित्र मणिसमूह के किरणजाल–सा उत्थित, एकमात्र शून्यस्वरूप ही स्थित है ॥८॥ इस संसार में न तो ये सब नाना प्रकार के जीव सत्य हैं, न यह जगत्–रूप सत्य है और न कहीं शून्यता ही है, किन्तु ब्रह्मनामक रत्नेश का प्रभाजाल ही सर्वत्र प्रसारित है उसीका चारों ओर विलास हो रहा है ॥९॥ चूँकि अनेकता नहीं है, अतः ब्रह्म की सृष्टियाँ भी नहीं हैं। चूँकि विनाशिता नहीं है, अतः प्रलय भी नहीं हैं, किन्तु मूर्तिशून्य कल्पनारूपी अनेक सूर्यों की ही किरणें एकत्रित होकर यहाँ भासित हो रही हैं ॥१०॥

मनोराज्य आदि में संकल्पकल्पित मूर्ताकारपदार्थों की तो शून्यता ही प्रसिद्ध है, पिण्डरूप से उनका ग्रहण प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं।

सच पूछिये तो इस प्रकार कल्पना ही मूर्तिमान् जगद्रूप से भासती है। वास्तव में यहाँ घनीभूत कोई पिण्डग्रहण नहीं है, क्योंकि जैसे आकाश में एकमात्र शून्यता अवगत होती है। वैसे ही संकल्प–कल्पित मनोराज्य आदि में एक मात्र शून्यता ही अवगत होती है ॥११॥

शून्यता प्रसाधन का फल कहते हैं।

अवस्तुभूत उस शून्यता में विवेकी पुरुष को अहन्ता, ममता, राग–द्वेष आदि भावों का बन्धन भला कैसे हो, क्योंकि भविष्यत् आकाशरूपी वृक्ष में किस पक्षी ने विश्रान्ति प्राप्त की है ॥१२॥

इस तरह संसार में पिण्डत्वादि का खण्डन हो जाने पर साररूप से सन्मात्र ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं।

इन सांसारिक जीवों की कोई पिण्डता नहीं है। वस्तुतः कोई मूर्ति नहीं है और न शून्यता ही विद्यमान है। यही कारण है कि चित्त भी अस्त हो चुका है और एकमात्र सद्रूप ही शेष रह गया है, उसका किसी तरह अपलाप नहीं हो सकता वह सदा स्थित है ॥१३॥

यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी पुरुष जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्ति में ही स्थित रहता है, क्योंकि उस समय भी उसे भासित हो रहे पदार्थों की अनेकता सन्मात्र आत्मा में ही लीन हुई रहती है, यह दृष्टान्त देकर बतलाते हैं।

जाग्रतअवस्था में नाना प्रकार के रूपों से सम्पन्न होने पर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष एकरूप हो समानभाव से सुषुप्ति में ही स्थित रहता है, क्योंकि उसकी अनेकता सन्मात्र आत्मा में ऐसे लीन हुई रहती है, जैसे नाना प्रकार के सुवर्ण के आभूषण सुवर्ण के पिण्ड में ॥१४॥

ज्ञानी का वह अवशिष्ट सन्मात्र चित्तरूप ही क्यों नहीं होगा, क्योंकि चित्त के रहने पर ही चिति की अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है, चित्त का नाश होने पर उसकी स्थिति नहीं रहती, यह आशंका कर कहते हैं।

यदि अन्यथा स्वभाव जाड्य में स्थित ज्ञानी का अहंकार सहित सारा विश्व और चित्त विलीन

हो जाता, तब तो वह ज्ञानी जड़सन्मात्ररूप से अवशिष्ट रह जाता किन्तु यह बात नहीं है। यहाँ तो बात यह है कि यथाभूत चिदेकस्वभाव में स्थित ज्ञानी का अहंकार सहित सारा संसार और चित्त तत्त्वज्ञान से विलीन हो जाता है इसलिए वह सत्स्वरूप से ही अवशिष्ट रह जाता है। उस समय ज्ञानी का परिशिष्ट चिदेकरस अचिद्रूप है, यह नहीं कहा जा सकता अतः उस समय चिदेकरस सन्मात्र को परिशेष की ही सिद्धि हो जाती है ॥१५॥

यदि सन्मात्ररूप सबका स्वरूप है, तो फिर वह सबको सुलभ क्यों नहीं है ? यदि यह आशंका हो, तो उसका उत्तर यही है कि ऊँच-नीच विषयों में बुद्धि की चंचलता के कारण स्थिरता का अभाव होने से ही वह स्वरूप सबको सुलभ नहीं है, यह कहते हैं।

ऊँच-नीच विषयों की ओर दौड़ने से बुद्धि क्लेश पाती है, इसलिए वह सन्मात्र स्वरूप सबको सुलभ नहीं है। हाँ, धीरे-धीरे युक्ति का अभ्यास करने से सत्य अर्थ अवगत हो जाता है ॥१६॥

वह कौन-सी युक्ति है, यह दिखलाते हुए उस युक्ति का फल ज्ञान है, यह बतलाते हैं।

जिस अधिकारी पुरुष ने भूत, भविष्य और वर्तमान इस जगद्रूपी अंग के जन्म को कार्य-कारणता आदि से विचार कर वाचारम्भण श्रुति में दिखलाये न्याय द्वारा स्थूल और सूक्ष्म प्रपंच से रहित परिशिष्ट सन्मात्र अखण्ड बोधरूप से जान लिया है वही सचमुच तत्त्वज्ञानी है तथा उस द्वैतशून्य उपशान्त ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में यह संसार है ही नहीं ॥१७,१८॥

सभी उपदेशों का, जो तत्-तत् असंभावनांश के व्यावर्तक हैं, उस तरह के अनुभव में ही पर्यवसान है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त ये सभी मेरे विशेष रूप से उपदेश, साधु पुरुषों की कथा की तरह, ज्ञानी के अनुभव में स्वतः आ जाते हैं ॥१९॥

दूसरी युक्ति बतलाते हैं।

चार तरह के प्राणिसमूहों तथा पृथिवी आदि महाभूतों का एक-एक अवयव तथा एक-एक गुण से विवेचन करके देखने पर इन दृश्य पदार्थों की, परमाणुभाव में विश्रान्ति न होने से इन सभी जीवों में न तो पिण्डता है और न प्रत्यक्षादि के असंभाव से शून्यता ही है अर्थात् न तो इन सब जीवों की कोई मूर्ति है और न ये सब शून्यरूप ही हैं। इन दोनों के न रहने से सम्पूर्ण विकल्पों का नाश हो जाने के कारण विकल्पों के अधीन स्थितिवाला मन भी नहीं है। इसलिए निर्विकल्प सन्मात्ररूप स्फुरण ही अवशेष है। हे श्रीरामचन्द्रजी, वही आपका पारमार्थिक रूप है और वही आपकी अन्तिम स्थिति हैं ॥२०॥

अन्य युक्ति बतलाते हैं।

इस प्रत्यगात्मा का (साक्षी चेतन का) विषयों की ओर उन्मुख होना ही संसाररूप से बोध है। यह अनर्थ के लिए ही उदित होता है, कल्याण के लिए उदित नहीं होता ॥२१॥

यह अनर्थ के लिए कैसे उदित होता है, यह कहते हैं।

संसाररूप से उदित हुआ वह बोध बाह्यरूपता को प्राप्त करता है और बाद में स्वयं संवेदन के कारण वह साकारपिण्डरूपता को ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे जड़ता के कारण जल ही जम करके पत्थररूपता को प्राप्त हो जाता है ॥२२॥ वह चिदात्मा ही अपने स्वरूप के ज्ञान से स्वप्नकाल के पदार्थों के समान पिण्डरूपता को यानी पदार्थों के मूर्तिमान् आकार को धारण करता है तथा उसके ग्राहकरूप से चित्त बनकर फिर शरीर धारण कर लेता है ॥२३॥

इस तरह के हजारों विवर्तों से भी चिति में अणुमात्र भी विकार नहीं आता, क्योंकि वे सभी नाममात्र के ही रहते हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सभी अवस्थाओं में चिदात्मा अपने स्वरूप से अन्यभाव को तनिक भी प्राप्त नहीं होता। शब्दमात्र की केवल कल्पना से ही भेद ही कल्पना की गई है ॥२४॥ स्वप्न में मन से पदार्थों का अवलोकन होने पर मन के ही बाहर–भीतर सर्वत्र विद्यमान रहने से एकमात्र मन ही जैसा विकृतरूप से भासता है, वैसा विकृतरूप से यह बोधात्मा अर्थदृष्टियों से बाहर–भीतर भासमान होने पर नहीं भासता ॥२५॥

आत्मा विकृत क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं।

आकाश के सदृश होने से चिदात्मा भी आकाश ओर काल के समान अविकृत ही रहता है तथा उसका शरीर भी काल और आकाशरूप ही है। सभी पदार्थ चिदाकाशस्वरूप है। वह चिदाकाशस्वप्न के समान अर्थाकार से परिणत नहीं होता ॥२६॥

जड़स्वरूप बाह्य पदार्थों के आकार से चिति भले ही विकृत न हो सके, किन्तु जड़ का तो विकार हो सकता है। तत्त्वबोध केवल भीतर स्थित चिदाकाररूप से वह विकृत क्यों न हो जाय, इस पर कहते हैं।

जैसे जड़ बाह्य पदार्थों के आकार से चिति विकृत नहीं हो सकती वैसे ही जड़ बाह्यपदार्थता भी तत्त्वबोधवश भीतर स्थित चिदाकाररूप से विकृत नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा असदृश जड़ पदार्थ कहीं भी बोधरूप नहीं हो सकता ॥२७॥ चिदात्मा दृश्यदशा को प्राप्त नहीं होता अथवा विवर्तवश उस दृश्य स्थिति को यदि प्राप्त हो जाता है, तो भी वह अविकृत ही बना रहता है। तनिक भी अन्यरूपता को नहीं प्राप्त होता ॥२८॥ सर्वथा शुद्धबोधस्वरूप एक आत्मा का सप्तम भूमिका में परिणतिरूप उदय हो जाने पर बोध और अबोधरूपी अर्थ और शब्द का भी श्रवण समाप्त हो जाता है ॥२९॥

जिस मन की भावना से यह सारा दृश्यप्रपंच दृढ़ हो जाता है उसी मन की भावना से यह सारा दृश्यप्रपंच शिथिल भी हो जाता है, यह कहते हैं।

मन की दृढ़ भावना से ही चित्तस्वरूप सूक्ष्म शरीरों की स्थूलदशा प्राप्त हो जाती है यानी दृढ़

भावना से ही चित्तरूप लिंग शरीरों में आधिभौतिकरूपता का बोध होता है ॥३०॥ आकाश के सदृश विशद इन सूक्ष्म चित्तों के द्वारा यह मिथ्या आधिभौतिकरूपता ऐसे भावित हुई है, जैसे कि पिशाचवेष का अभिनय करने के लिए नटों द्वारा मिथ्या पिशाचरूपता भावित होती है। तात्पर्य यह कि पिशाचवेष का अभिनय करने के लिए जैसे मिथ्या पिशाचवेष को नट धारण करते हैं वैसे ही इन चित्तों ने यह मिथ्या भौतिकरूप धारण किया है ॥३१॥ अभ्रमता के अभ्यास से यानी सत्यस्वरूप के अभ्यास से भलीभाँति स्वरूपतः ज्ञात हुई यह सांसारिक भ्रान्ति ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि 'मैं उन्मत्त नहीं हूँ' इस दृढ़ ज्ञान से उन्मत्त पुरुष की निःसन्देह उन्मत्तता शान्त हो जाती है ॥३२॥ भ्रान्ति का परिज्ञान होने से वासना स्वयं निवृत्त हो जाती है। ठीक ही है, स्वप्न का स्वप्नरूप से ज्ञान हो जाने पर भला किस पुरुष को स्वाप्निक पदार्थों में सत्यत्व की वासना हो सकती है ? ॥३३॥ एकमात्र वासना के क्षय से ही यह संसार उपशान्त हो जाता है। यह वासना ही महायक्षिणी है। विवेकी महानुभाव लोग इसके नाश में लगे हुए रहते हैं ॥३४॥ पुरुषों के अभ्यास से अज्ञानप्रयुक्त उन्मत्तता जैसे उत्पन्न हुई रहती है वैसे ही ज्ञान हो जाने पर अपने उस ज्ञान के अभ्यास से धीरे–धीरे समय पाकर वह नष्ट भी हो जाती है ॥३५॥ जैसे भावना के बल से यह सूक्ष्म शरीर स्थूलरूपता को प्राप्त होता है वैसे ही विवेकी पुरुष अभ्यास द्वारा दृढ़ की गई स्थिति के प्रसाद से इस सूक्ष्म शरीर को ब्रह्महंभाव की एकमात्र वासना में पहुँचा देते हैं॥३६॥ तथा इस सूक्ष्म शरीर को भी ब्रह्महंभाव की एकमात्र वासना में ले जा करके वहाँ से जीवरूपता को प्राप्त करा देते हैं और फिर उस जीव को भी अपने दृढ़बोध के अभ्यास से ब्रह्मस्वरूप में पहुँचा देते हैं ॥३७॥

ज्ञानी महानुभाव लोग कैसे इस सूक्ष्म शरीर को जीवरूपता तथा ब्रह्मरूपता प्राप्त करा देते हैं, यह कहते हैं।

उत्पन्न हुए बाह्य तथा आध्यात्मिक भावों के प्रति जो आत्मा का अतिवहन करता है उस वासनासमूह का नाम अतिवाह है तथा उससे उत्पन्न हुआ जो लिंग शरीर है उसको 'आतिवाहिक' कहते हैं। समस्त भाव पदार्थों के प्रथम विकार का नाम उत्पत्ति है। वह यदि विचार के बाद कूटस्थ बोधमात्रस्वरूपिणी ज्ञात हो जाय, तो फिर वह सूक्ष्म शरीर विषयक बुद्धि कैसी है, यह भी ठीक–ठीक ज्ञान हो जाय (♨) ॥३८॥

(♨) परन्तु कूटस्थ बोधस्वभाव से अलग किसी भाव पदार्थ की उत्पत्ति का निरूपण हो नहीं सकता। देखिये, विचार कीजिये क्या वह उत्पत्ति पहले स्वयं उत्पन्न होकर भावों को अपने से विशिष्ट बनाकर स्थित होती है या बिना स्वयं उत्पन्न हुए ही। इसमें यदि आप दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं, तो उस पक्ष में हमारा आपसे यह कहना है कि तब तो सींग भी खरगोश को अपने से विशिष्ट बना सकता है। रह गया पहला पक्ष। इसमें तो यह समझ लीजिये कि स्वयं उत्पत्ति आदि से विशिष्ट हुई वह भाव पदार्थरूप ही होगी, न कि भावविकार। इसी तरह उसकी उत्पत्ति भी समझ लीजिये। इस रीति से

इसी रीति से 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ का शोधन होने पर सम्पूर्ण महावाक्य अखण्ड अर्थ के बोधन द्वारा सम्पूर्ण सन्देहों के ग्रन्थि भेदन में समर्थ होते हैं। अन्यथा वे भूत–प्रेतों को भगाते समय पढ़े जा रहे मन्त्रों के भीतर आये हुए 'हूं' 'फट्' आदि पदों की तरह बिलकुल अनर्थक सिद्ध होंगे। वे सभी महावाक्य एकमात्र श्रवण के बल से प्राणी को इस संसार से छुटकारा दिला देते हैं, ऐसी हमें कल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

यदि ऐसी बात न हो, तो फिर ब्रह्मप्रतिपादक महावाक्यों के अर्थ से संसार की ग्रन्थि निवृत्त हो जाती है, यह कहना भी वैसे ही बिना अर्थ का सिद्ध होगा, जैसे कि भूत–प्रेतादि को दूर भगानेवाले मन्त्रों के अन्तर्गत 'हुं', 'फट्' आदि पद ॥३९॥ 'तत्' पदार्थ के शोधन के लिए पहले 'वाचारम्भण' न्याय से जगत् तथा इसके कारणभूत ईश्वर के स्वरूप की एकता जान करके उसके बाद 'त्वं' पदार्थ के शोधन के लिए 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इस श्रुति द्वारा दिखलाये गये मार्ग से प्रत्यक् चैतन्य को भी असंग अद्वय समझना चाहिए। *(कब तक इन दोनों पदार्थों के शोधन में मनुष्य को लगे रहना चाहिए, इस पर कहते हैं।)* जब तक इन दोनों पदार्थों के अखण्डैकरस वाक्यार्थरूप अत्यन्त परिणाम द्वारा वह अखण्डाकार वृत्ति भी नहीं जान ली जाती, तब तक साधक मनुष्य को इन दोनों पदार्थों के शोधन में तत्पर रहना चाहिए ॥४०॥ बाह्य तथा आभ्यन्तर चित्त के बिलकुल शान्त हो जाने पर अपनी चित्स्वभावता प्रकाशित होती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह आकाश की नाईं पूर्ण स्वच्छ तथा शीतल उसी चित्स्वभावता का आश्रय कर शान्त होवे ॥४१॥

वही मुख्य 'विश्वजित्' नामक ज्ञानयज्ञ है, यह कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूपी यज्ञशाला में उपस्थित होकर ध्यानरूपी अत्यन्त दृढ़ और लम्बे यज्ञस्तम्भ को नीचे दूर तक जमीन खोदकर गाड़ता है तथा सारे संसार को जीतकर सर्वत्यागरूप मुख्य दक्षिणा दे करके सबसे उत्कृष्ट बनकर विराजता है ॥४२॥

उसके सर्वोत्कर्ष का 'समस्त विपत्तियों में अकम्पितरूप से' पहले वर्णन करते हैं।

चाहे भले ही अंगारों की वृष्टि हो, प्रलयकाल की वायु बहे या यह भूतल आकाश में उड़कर चला जाय, किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप में ही समरूप से स्थित रहता है ॥४३॥

वज्र की तरह दृढ़ वैराग्य एवं शान्ति सुखोत्कर्ष की स्थिरता से भी उसका वर्णन करते हैं।

अनवस्थादोष मानने पर तो निर्विकार भावों की अनवस्था ही बनी रहेगी, अतः यह निश्चित है कि किसी के उत्पत्ति आदि विकारों का कोई भी विद्वान् किसी तरह से निरूपण नहीं कर सकता। इसलिए जब यों ज्ञान हो गया कि जितने भाव पदार्थ हैं वे सबके सब कूटस्थ बोधरूप ही हैं तब कहिये, कौन किसके लिए किसका अतिवहन करे या वह अतिवहन भी किस रूप का हो अथवा कौन–सी उसकी अन्य बुद्धि है ? वह भी तत्त्वतः ज्ञात हो ही जाती है, यह तात्पर्य है।

पूर्ण वैराग्य से सर्वथा शान्त मन तथा पूर्ण निरोध को प्राप्त पुरुष की वज्रतुल्य, दृढ़ समाधि के अतिरिक्त कोई दूसरी स्थिति नहीं उपपन्न होती ॥४४॥

शान्ति आदि साधनों में वैराग्य को ही सर्वोत्कृष्ट साधन बतलाते हैं।

बाह्य पदार्थों से वैराग्य होने पर जैसा मन पूर्णरूप से शान्त होता है, वैसा वह शास्त्रों के विचार, उपदेश, तप या इन्द्रियों के निग्रह से भी नहीं होता ॥४५॥ 'सारी सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं' इस तरह की भावना से मनरूपी महातृष्णा के बीच में सर्वत्यागरूप पवन से विबोधित सब पदार्थों से उत्पन्न वैराग्यरूपी अग्नि परमब्रह्मसाक्षात्कार ज्वालारूप से प्रज्वलित होकर बाहर और भीतर सर्वत्र प्रसिद्ध जो मोहान्धकार तथा मोहान्धकारप्रयुक्त जो चोर, यक्ष आदि की कल्पना के तुल्य ब्रह्माण्ड का भूत-भौतिक मूर्तरूपी पिण्ड है यानी ब्रह्माण्ड का साकार ज्ञान है एवं चक्षु आदि इन्द्रियों से रूप, रस आदि पदार्थों का जो अनुभव है, वहाँ सब चिदात्मा ही है यों एकमात्र अखण्ड-अद्वय स्वभाव सबको बनाकर ऐसे देदीप्यमान होती है, जैसे कि वज्रादिमणि अपने प्रतिबिम्बित हुई वस्तुओं को अपने स्वरूप में बिलकुल मिलाकर उन्हें प्रकाशित करते हुए स्वयं देदीप्यमान होती हैं ॥४६,४७॥ मनुष्य, नाग तथा असुर एवं उनके स्थान पर्वत तथा गुफा आदि के रूपों से वह चिति ही नाना प्रकार के वैचित्र्य को वैसे प्राप्त है, जैसे आकाश में मेघों के रूप से धूआँ ॥४८॥

ब्रह्माण्ड के पात्र के अन्तर्गत सभी वस्तुओं में चिद्व्याप्ति के अधीन स्पन्दन होने से चिद्विवर्तमात्रता है, इस आशय से कहते हैं।

चित्-रूप द्रवता के कारण ब्रह्माण्डरूपी जडपात्र के अन्दर चली गई तथा जीवरूप प्राणशक्ति से सरस बनी हुई ये चिद्विवर्तस्वरूप सम्पूर्ण प्राणियों की देहरूपी नदियाँ निरन्तर बह रही हैं ॥४९॥

इन चार प्रकार के शरीररूपी चिति के विवर्तस्वरूप नदियों के अन्दर रहनेवाली जीवरूपी मछलियाँ मोहजाल में फँस जाने के कारण स्वतत्त्व का स्मरण नहीं करती, यह कहते हैं।

चिदाकाशरूपी जल में विहार करनेवाली बेचारी जीवरूपी जीर्ण मछली मोहजाल में फँस जाने के कारण अपनी आत्मा में स्थिति का स्मरण नहीं करती ॥५०॥ अपने स्वरूपभूत आकाशरूपी आँगन में अपने से ही घनीभूत हुई यह चिति मानों मेघ बनकर स्थित हो पृथिवी आदि मूर्ताकार नाना पदार्थों के रूप से स्फुरित हो रही है ॥५१॥

सभी जीवों का स्वभाव एक-सा रहने पर भी वासना की विचित्रता से उन्हें सांसारिक दुःख भी विचित्र प्रकार के ही प्राप्त होते हैं और कोई दूसरा कारण नहीं है, यह कहते हैं।

वासना वैचित्र्य के सिवा, अन्य अंश में सभी जीव समान हैं। विषय वासना रहने से ही सूखे पत्तों की नाईं उड़-उड़कर वे विचित्र तरह की स्वर्ग, नरक आदि भोगभूमियों में जा गिरते हैं, स्वतः नहीं। क्योंकि वायु भरे बाँस जैसे अंगुलि व्यापार के बिना भी विचित्र ध्वनि पैदा करने में समर्थ होते हैं वैसे ही सबमें बराबर जडोपाधि के कारण वासना के बिना भी जड़ पदार्थ प्राणयुक्त रहने पर

विचित्र तरह के शब्द करने में समर्थ होते ही हैं ॥५२॥

इसलिए वज्रतुल्य वासनारूपी पिंजडे को तोड़ देने के लिए मनुष्य को आलस्यशून्य होकर अपने पौरुषप्रयत्न को बढ़ाना चाहिए, उसीसे परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है, इसी अभिप्राय से अब उपसंहार करते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वप्रथम अपने पौरुषबल का यानी श्रवण, मनन आदिरूप साधनचतुष्टय का सम्पादन कर तदनन्तर ध्यान में विघ्नस्वरूप तन्द्रा को आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा जीतकर संप्रज्ञात समाधि से उठ करके निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि में प्रवेश के बाद अपने पूर्वजन्म के संचित वासनासमूहभूत संसारपाशरूपी मजबूत पिंजड़े को तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा शीघ्र ही तोड़कर चारों ओर से पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप से आपको उदित होना चाहिए, अज्ञानी के समान संसार के भीतर आपको पड़े नहीं रहना चाहिए ॥५३॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

वासना की दृढ़ता और शिथिलता के कारण जीव सात प्रकार के हो जाते हैं, यह बोधार्थ वर्णन।

'वासना यदि न रहे तो सब जीव एक ही हैं' इस उक्ति से अन्त में जो एकमात्र विचित्रवासना के प्रभाव से जीवों के सात प्रकार बतलाये गये हैं, उनका लक्षणों से निरूपण करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, ये जो दसों दिशाओं में नर, हाथी, देवता, वृक्ष, इन्द्र, गन्धर्व आदि नाम धारणकर तत्–तत् विचित्र देह से जीव दिखाई पड़ते हैं, वे कोई तो स्वप्नजाग्रत् (स्वप्न को जाग्रत् समझनेवाले), कोई संकल्प को जाग्रत् समझनेवाले, कोई केवल जाग्रत् में स्थिति रखनेवाले और कोई दीर्घकालिकी जाग्रत में स्थिति रखनेवाले हैं। कोई घनीभूत जाग्रत् में स्थित हैं, कोई जाग्रत् ओर स्वप्न में स्थित हैं, कोई क्षीण जाग्रत् अवस्था में स्थित है, यों सात तरह के विभागों से उनका परिगणन किया गया है ॥१–३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, जैसे क्षीरसागर आदि सात समुद्रों में क्षीर आदि के रस से युक्त जल ही सात तरह के हैं, वैसे ही सात प्रकार के रूपों को धारण कर रहे इन जीवों का जो स्वरूप है, वह जानने के लिए मुझसे कहिए ॥४॥

पहले जीवट की आख्यायिका में प्रदर्शित रीति को लेकर उनका लक्षण कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, किसी एक पूर्वकल्प में किसी एक जगत् में कहीं पर कोई जीव सुषुप्ति अवस्था में ही स्थित थे, वे जीव अपनी–अपनी देहों के कारण जीवित ही रहे, मरे हुए नहीं थे ॥५॥ गाढ़ी नींद में सोये हुए उन जीवों में जो जीव स्वप्न देखते हैं, उन्हींका

स्वप्न यह जगत है, यह आप जानिए । उन्हींका नाम स्वप्नजाग्रत कहा जाता है ॥६॥ कहीं पर सोये हुए उन जीवों को जो स्वप्न हुआ है, वही जब समान–कर्म–वासना के कारण हम लोगों का विषय बन जाता है, तब हम उनके स्वप्ननर बन जाते हैं ॥७॥ दीर्घकाल के प्रभाव से जब उनका स्वप्न जाग्रत्–रूप बन जाता है, तब उनके स्वप्न के वे जीव स्वप्न जाग्रत् कहे जाते हैं, वास्तव में वे उन्हींके स्वप्न में ही स्थित हैं ॥८॥

'उनके हम स्वप्ननर हैं' यह जो बात कही गई, इसका उपपादन करते हैं ।

हमारा देहादि प्रपंच यदि वासनारूप से उस सोये हुए के चित्त में होता तो हमारा देहादिप्रपंच उसके चित्त में उत्पन्न हो जाता और हम लोग उसके स्वप्न के मनुष्य होते, परन्तु यह तो संभव नहीं है, इस तरह का कोई यदि प्रश्न करे, तो उसका वैसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि सबको सत्ता देनेवाला मायाशबल ब्रह्म सर्वत्र रहता है और वह सर्वज्ञ है, इसी हेतु से सब जगह रह सकता है, अतः हम लोग उनके स्वप्ननर हैं यानी वासनारूप से उन्हीं के अन्तःकरण में स्थित हैं और वासना की समानता के कारण उनके स्वप्न में एक साथ अभिव्यक्त हो गये हैं ॥९॥

महाराज, ठीक है, देश को लेकर सब वस्तुओं की सर्वत्र स्थिति भले ही हो जाय, पर काल को लेकर नहीं हो सकती, क्योंकि भूतकाल की वस्तु वर्तमानकाल में कैसे रह सकती है, यदि भिन्न–भिन्नकाल की वस्तुओं की स्थिति एक काल में मानी जाय, तो सब कल्प एक साथ ही होने लग जायेंगे और उनका पार्थक्य भी नहीं रह जायेगा, इस आशय से श्रीरामजी प्रश्न करते हैं ।

श्रीरामभद्र ने कहा : गुरुवर, जिन कल्पों में हम लोगों के प्रपंचों से स्वप्नों के द्रष्टा उन जीवों ने जन्म धारण किया था, उन कल्पों की कल्पनाएँ यदि उनके शरीरों के साथ इस समय नष्ट हो चुकीं, तो इस वर्तमान स्वप्न से जागे हुए उन लोगों की भूतकाल के कल्प में स्थिति नहीं हो सकती । जो आज नींद से जागा है, वह पूर्व दिन का जागरण जब नहीं जान सकता, तब पूर्वकल्प की तो बात ही क्या ? ॥१०॥

यदि वे जीव प्रपंचात्मक स्वप्न में दैववश तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लें, तो वे मुक्त हो ही जायेंगे, ऐसी स्थिति में आपका दोष नहीं हो सकता । यदि उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया, तो उनका अवशिष्ट कल्प तो व्यतीत हुआ नहीं है, इसलिए कुछ समय के बाद तत्त्वज्ञान हो ही जायेगा । जो व्यतीत हो चुके हैं, वे तो दूसरे की कल्पना से कल्पित पदार्थ हैं । उनके मन में तो प्रत्येक का कल्पशेष एन्दव आख्यान की पद्धति से विद्यमान ही है, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इसी स्वप्न के प्रपंच में यदि ज्ञान हुआ तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं । यदि न हुआ, तो निद्रा प्राप्त कर वे संकल्पानुसार उसी प्रकार की दूसरी ही देह प्राप्त करते हैं ॥११॥ उसी प्रकार का कल्पित दूसरा जगत्–कल्प देखते हैं, क्योंकि

कल्पनाभासरूपी आकाश की कहीं निरवकाशता नहीं रहती ॥१२॥

स्वप्नजाग्रत जीवों का उपसंहार करते हुए अब संकल्पजाग्रतों का निरूपण करते हैं।

भद्र, यह तो मैंने स्वप्नजाग्रत जीवों का निरूपण आपसे किया, जो संकल्परूप जगदात्मक जीर्ण उदुम्बर वृक्ष के कीट हैं, अब आप संकल्पजाग्रत जीवों के विषय में सुनिये। इस प्रकार के जीव किसी एक पूर्वकल्प में किसी एक जगत् में कहीं पर अपने भीतर तनिक भी निद्रा न लेकर एकमात्र संकल्प में तत्पर होकर स्थित हैं ॥१३,१४॥ जीवट आख्यान में वर्णित भिक्षु के समान ये जीव ध्यान से विचलित होकर स्थित हैं। मनोराज्य के वश में पड़कर उसके पीछे दौड़ते हैं। दृढ़ संकल्प धारण करते हैं और पूर्वावस्था की स्मृति से शून्य हैं ॥१५॥ जिन जीवों का जाग्रतअभिमान दीर्घकाल के अभ्यास से घनीभूत संकल्प में है और जिनकी संकल्पजनित अर्थों में ही पूर्वापरस्मरण से रहित मन की चेष्टा है, ये ही स्वप्नजाग्रत जीव कहलाते हैं ॥१६॥ वे संकल्प का विनाश हो जाने पर फिर पूर्व के व्यवहार को उससे विलक्षण बनाकर करने लग जाते हैं। उनकी दृष्टि से ये हम उन्हीं के शरीर में संकल्पपुरुष ही स्थित हैं, क्योंकि समानसंकल्प से उत्पन्न हैं ॥१७॥ भद्र, संकल्प के ऊपर निर्भर रहनेवाले ये संकल्पजाग्रत जीव हमने आपसे कहे। ये दृश्यमान जीव उन्हींके संकल्पजीवन में प्रवेश करते हैं और हम लोगों के लोक भी ऐसे ही हैं। यानी उनका यदि संकल्प है, तो दृश्यमान जीव हैं और हम लोगों के लोक भी हैं। अब आप केवल जाग्रत जीवों को सुनिए ॥१८॥ सृष्टि का संकल्प करने के कारण हलचल से युक्त हुए, आगे कहे जानेवाले ब्रह्मा के रूप से वे जीव इस कल्प में पहले से ही शरीरधारी होकर रहते हैं और उस जन्म में स्वप्न न होने के कारण केवल जाग्रत कहे जाते हैं चूँकि वे पहले के उत्पत्ति विकासरूप स्वप्न से रहित हैं और पहले का जाग्रत्संस्कार भी जाग्रत–स्थिति को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो गया है, इसलिए इस कल्प में वह स्वप्न का कारण हो भी नहीं सकता ॥१९॥ फिर ये जीव जब उत्तरोत्तर जन्म परम्परा लेते–जाते हैं और जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में विचरण करते–रहते हैं, तब वे ही चिरजाग्रत कहे जाते हैं ॥२०॥

पाँचवें प्रकार के जीवों को कहते हैं।

पापरूप दुष्कर्मों के आवेश से जड़–स्थावररूप होकर तथा जाग्रत् अवस्थाओं में भी घन अज्ञान से पूर्ण होकर वे चिरजाग्रत जीव ही घन जाग्रत् कहे जाते हैं। भाव यह है कि स्थावर जीवों को भी स्वप्न आदि में मनुष्यभाव आदि का अपने में परिज्ञान होता है ॥२१॥

अब अवशिष्ट जो दो प्रकार है, वे दोनों ही जीवन्मुक्तों में है, यह बतलाने की इच्छा रख रहे महाराज वसिष्ठजी, छठे प्रकार के जीवों का उल्लेख करते हैं।

चतुर्थ, पंचम और छठी भूमिका में अवस्थित जो जीव हैं, वे शास्त्रार्थ एवं सत्संग के द्वारा उपदेश ग्रहणकर तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके जाग्रत् को स्वप्न के सदृश देखते हैं, वे जाग्रत्स्वप्न

कहलाते हैं ॥२२॥

सातवीं भूमिका में आरूढ़ हुए पुरुष ही सातवें प्रकार के जीव हैं, यह कहते हैं।

जिन महापुरुषों को ज्ञान प्राप्त हो चुका है और परमपद में विश्रान्ति ले रहे हैं, वे क्षीण जाग्रत् जीव कहलाते हैं, ये जीव सप्तम भूमिका में स्थित हैं ॥२३॥ भद्र, समुद्रों की तरह सात प्रकार के जीवों का भेद मैंने आप से कहा। आप इनका भलीभाँति परिज्ञान करके कल्याणरूप वस्तु में तत्पर हो जाइए ॥२४॥ हे श्रीरामजी, आप भ्रम छोड़ दीजिए, यही भ्रम जगत् का द्वैतादिवस्तुबुद्धि से ज्ञान कराता है, क्योंकि अब आप ज्ञानरूप आत्मभाव से एकरस बन गये हैं, द्वैत और ऐक्य से मुक्त शरीर होकर आप शून्यत्व और अशून्यत्व धर्म से रहित हो गये हैं तथा सब कल्पनाओं के पूर्ववर्ती अधिष्ठानभूत हो गये हैं ॥२५॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

ब्रह्मदृष्टि में कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ और आत्मदृष्टि में
मिथ्या उत्पन्न जगत् तत्त्वज्ञान से जिस तरह निवृत्त हो जाता है, उस तरह का वर्णन।

पहले के सर्ग में एक यह बात कही गई है कि ब्रह्म से पहले उत्पन्न जीव केवल जाग्रत जीव हैं। इस विषय में यह शंका होती है वैसा कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वय ब्रह्म पहले जीवभाव धारण कर उत्पन्न हो ही नहीं सकता, ऐसा करने में न तो उसको कोई प्रयोजन है और न कोई बीज है अपितु काम, कर्म आदि की वासनाएँ जीव स्वभाव के बाद ही होती हैं, इस प्रकार की आशंका श्रीरामभद्र करते हैं।

श्रीरामभद्र ने कहा : ब्रह्मन्, कूटस्थ अद्वय परब्रह्म से केवल जाग्रत नाम के जीव अर्थ और बीज के बिना, आकाश से वृक्ष की नाईं, कैसे उत्पन्न होते हैं ? ॥१॥

श्रीरामजी, आपकी शंका तो बहुत ही साधारण है कि कूटस्थ अद्वय ब्रह्म से केवलजाग्रत जीव तो उत्पन्न हो नहीं सकते, क्योंकि अन्य जीवों की और जगत् की भी उत्पत्ति तन्मूलक नहीं हो सकेगी, इसलिए कूटस्थ ब्रह्म में जीव और जगद्भाव का अपलाप किये बिना ठीक-ठीक उपदेश नहीं हो सकता, अतः उपदेशार्थ ही ब्रह्म में जीव-जगद्भाव की कल्पना श्रुति, स्मृति आदि में की गई है, ऐसा उत्तर महाराज वसिष्ठजी देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : महामते, कोई भी कार्य किसी कारण के बिना उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है, इसलिए केवल जगत् का यहाँ कोई संभव ही नहीं है ॥२॥ कूटस्थ से उसका यदि संभव है, तो उससे अन्य जीव सजीव हो सकते हैं, परन्तु कारण के अभाव से वे सब निरस्त हो जाते हैं ॥३॥ भद्र, यहाँ न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट ही होता है, केवल

उपदेश और उपदेशयोग्य वस्तु के लिए शब्दार्थ की एकमात्र कल्पना की गई है ॥४॥

यह आपकी बात हम मानते हैं, पर भोग के आधार शरीरादि का कर्म आदि द्वारा या साक्षात् कोई निर्माण करनेवाला तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्य कर्ता द्वारा ही बनता है। अतः उस देह में जीव को बैठाकर विषयों से मोहित करनेवाला कोई दूसरा रहना ही चाहिए, क्योंकि मोहित करनेवाले को छोड़कर चेतन में मोह हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में मोहित होनेवाला और मोहित करनेवाला यों दो भिन्न-भिन्न जीव एवं ईश्वरनामक चेतन सृष्टि आदि की प्रतिपादक श्रुतियों के आधार पर मानना चाहिए। इस प्रकार फिर रामजी शंका करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, मन, बुद्धि चेतन आदि से युक्त इन शरीरों की रचना करनेवाला कौन है और प्राणियों को स्नेह, राग आदि बन्धनों के द्वारा कौन मोहित करता है ? यह हमसे कहिए ॥५॥

हाँ, यह बात ठीक होती, यदि शरीरादि का कर्ता, मोहित होनेवाला, मोहक आदि-ये सब श्रुति आदि प्रमाणों से सत्यरूप ठहरते, परन्तु 'वाचारम्भणम्' आदि श्रुतियों के द्वारा वे सब मिथ्या ही सिद्ध होते हैं, ऐसी स्थिति में प्रतिभासमात्र स्वरूप उन सबका कूटस्थ ब्रह्म के द्वारा विवर्तमात्र से भी निर्वाह हो सकता है, इसलिए उनकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, कोई कभी भी शरीर आदि की रचना नहीं करता और न कभी कोई प्राणियों को मोहित ही करता है ॥६॥ अनादि, अनन्त अवभासस्वरूप जो बोधात्मा है, वह अपने ही स्वरूप में स्थित होकर ऐसे नाना पदार्थों के रूप में भासता है, जैसे अपने स्वरूप में स्थित जल तरंग आदि के रूपों में ॥७॥

बाह्य पदार्थ कैसे भीतरी चेतन के विवर्त हो सकते हैं, क्योंकि दोनों के आधार अलग-अलग हैं, इस शंका पर कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, असल में तो बाहर के कोई पदार्थ ही नहीं हैं, ज्ञानरूप आत्मा ही बाहर के सदृश भासता है, वह बोधरूप हृदय से ही बाहर ऐसे उदय को प्राप्त होता है, जैसे बीज से बड़ा वृक्ष ॥८॥

बीज से वृक्ष बाहर निकलता है, यह दृष्टान्त विषम है, इस प्रकार की आशंका कर समान दृष्टान्त बतलाते हैं। अथवा यदि विश्व भीतर ही उत्पन्न होता, तो वह भीतर ही रहता, पर वह तो बाहर रहता है, इस पर कहते हैं।

रघुश्रेष्ठ हे श्रीरामजी, बोधात्मा के भीतर स्थित ही यह विश्व बाहर के रूप में ऐसे प्रकट हुआ है, जैसे खंभे के भीतर ही स्थित कठपुतली ॥९॥

वस्तुतः चेतन नाम की वस्तु न भीतर है और न बाहर है, किन्तु अनन्त है, उसी के भीतर सुगन्ध और पुष्प की नाईं बाह्य-आभ्यन्तर की एकमात्र कल्पना की गई है, यों कहते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर जिसमें विद्यमान है और जो देश एवं काल के परिच्छेद से अलग है, उस बोधस्वरूप आत्मा का ही यह जगत् एक तरह से सुगन्ध-विस्तार है, यह आप जानिए ॥१०॥

यदि शंका हो कि समस्त जगत् की कल्पना यहीं पर है, तो ब्रह्मलोक आदि परलोक, जिसमें अर्चि आदि मार्गों से गमन किया जाता है। दूर क्यों माने जाते हैं, इसका समाधान यह है कि वैसे ही लोगों की अनादि काल से वासना है, इसलिए जब वासना का विनाश हो जायेगा, तो सभी लोग एकमात्र अपने आत्मरूप से अत्यन्त निकट हो जायेंगे, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, वासना का विनाश हो जाने पर यह आत्मा ही परलोक है, दूसरा नहीं, यह आप जानिये। जो महापुरुष सब उपद्रवों से निर्मुक्त होकर शान्त हो रहे हैं, उनके परलोक के रूप में यहीं पर स्थित आत्मा की ओर दुरत्वादि वासनाएँ आ ही नहीं सकतीं ॥११॥

यदि प्रत्यगात्मा ही परलोक देश, काल आदिरूप हैं, तो देश, काल आदि का बाध हो जाने पर वह शून्यरूप ही क्यों न हो जायेगा ? इस पर कहते हैं।

चूँकि देश, काल, क्रिया, आलोक, रूप, चित्त, आत्मा, सत् इन सबका अधिष्ठान तथा इन शब्दों से बोधित होनेवाला ब्रह्म देश, काल आदि शब्दार्थों से रहित है, इसलिए वह शून्यरूप नहीं हो सकता ॥१२॥

यदि वह शून्यरूप नहीं है, तो दूसरे लोग भी एकमात्र प्रपंच का अपलाप कर उस पद में अपनी बोधगति क्यों नहीं कर लेते इस पर कहते हैं।

हे राघव, जो तत्त्वदृष्टा हैं और जो विषयों से मुक्त हो गया हैं, ऐसे आत्मपद को जाननेवाले मुनियों को ही उस पद में ज्ञानगति होगी, दूसरों को नहीं ॥१३॥ भद्र, जो पुरुष सरल और गम्भीर अहन्तारूप गड्ढे में गिरे हुए हैं, वे कोई भी उस आत्मपदरूप प्रकाश को कभी देख नहीं सकते ॥१४॥

आत्मप्रकाश देखनेवालों को जगत् का ज्ञान कैसा रहता है, इस पर कहते हैं।

चौदह प्रकार के ये जो भूतसमूह हैं, उनके घुंघुं शब्दों से परिपूर्ण जगत्‌दृष्टि ज्ञानी के लिए जो देहावयव-जैसी है, यानी अपने से भिन्न उसे भासती ही नहीं ॥१५॥

ज्ञानी को समाहितदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से जगत् जैसा भासता है, उसे बतलाते हैं।

सृष्टि का असल में तो कोई कारण नहीं है, इसीलिए न तो सृष्टि उत्पन्न होती है और न वह नष्ट ही होती है, यह ज्ञान ज्ञानी को समाहित दृष्टि से है और व्यवहार दृष्टि से तो जैसा कारण का स्वरूप होगा, वैसा ही कार्य भी होगा यानी जैसा कारण कल्पित अतएव मिथ्या है, वैसा उससे जनित कार्य भी कल्पित और मिथ्या है, ऐसा ज्ञान व्यवहारदृष्टि से भी उसे रहता है ॥१६॥ यदि कारण में कार्य की स्थिति होगी, तो उसकी कारणता ही कैसी, क्योंकि वह तो कार्यरूप ही ज्ञान होता है, अतः कार्य और कारण दोनों ही असत् हैं, क्योंकि दोनों का ही अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता ॥१७॥ प्रशान्त महासमुद्र में जैसे तरंग, भँवर आदि

स्थित हैं, वैसे ही क्षोभशून्य परब्रह्म में ये सब आपके बाह्य जगत और भीतर के चित्त आदि स्थित हैं ॥१८॥ जैसे अपने भीतर अनेक बर्तनों को रखनेवाला एक ही मिट्टी का पिण्ड रहता है, ठीक वैसे ही अनेक ब्रह्माण्डों को अपने उदर में रखनेवाला सबका स्वरूपभूत निर्मल ब्रह्म भी एक पिण्ड ही है । जैसे अपने भीतर कटक, कुण्डल आदि आकारों से युक्त तथा नाना बर्तनों का स्वरूपभूत सुवर्ण स्थित है, वैसे ही सुवर्णरूप ब्रह्म स्थित है ॥१९॥

पिण्डदशा में घट पिण्डरूप और घट दशा में पिण्ड घटरूप है, यों घट के स्वरूपवेत्ताओं को जैसे एक का ही व्यवस्थित ज्ञान होता है, वैसे ही प्रपंच में भी स्वप्नदशा में जाग्रत् स्वप्नादिरूप और जाग्रत्काल में स्वप्न जाग्रद्रूप व्यवस्थित जगत् के एकरूप का ही तत्त्वज्ञों को ज्ञान होता है, यह कहते हैं ।

स्वप्नकाल में स्वप्न ही जाग्रद्रूप ज्ञानियों द्वारा जाना जाता है, क्योंकि वासनाओं के विस्तार से व्यग्र मन उनके पास नहीं है और जाग्रत्काल में जाग्रत् को स्वप्नरूप जानते हैं, क्योंकि उनको सत्यात्मा का परिज्ञान हो चुका है ॥२०॥

जाग्रत्–दशा में यदि हम लोग यह विचार करें कि यह जगत् केवल चित्तरूप ही है, तो वह स्वप्नतुल्य ही बन जायेगा । इसी वास्तविकता को लेकर ज्ञानी की सृष्टि को उसके शरीर के अवयवों की उपमा दी गई है, यों उपसंहार करते हुए तत्त्वज्ञान हो जाने पर उसका भी समूल बाध हो जाता है, यह कहते हैं ।

भद्र वास्तव में मृगतृष्णा के जल के सदृश असद्रूप से स्थित तथा विचार से विकल किया गया यह जाग्रत् जगत् केवल चित्तरूप यदि समझ लिया जाता है,तो फिर वह स्वप्नरूप बन जाता है ॥२१॥ सम्यक् ज्ञान से यानी आत्मा के सत्यज्ञान से देहरूप के साथ ये सब भूत ज्ञानी के पिण्ड को समूल ऐसे छोड़ देते हैं जैसे वर्षाकाल के जाने पर मेघ ॥२२॥ जैसे विनाश की ओर उन्मुख हुआ मेघ तत्काल ही गगनरूप बन जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान से यह अहंकारसहित जगत शान्त हो जाता है यानी तत्काल आत्मरूप बन जाता है ॥२३॥ शरत्काल के मेघ के सदृश चारों ओर से छिन्न–भिन्न हुआ मृगतृष्णाजल के सदृश मिथ्या प्रतीयमान तथा बार–बार स्पर्श आदि से जाना गया भी जगत् आत्मज्ञान से तत्काल जल जाता है ॥२४॥ जैसे धधक रही अग्नि में विलीन सोना, घी और इन्धन एकरूप बन जाता है, वैसे ही विज्ञानकाल में भी जगत्–चित्त द्रष्टा आदि सब एकरूप बन जाते हैं ॥२५॥ तीनों जगत् में जो एक प्रकार का रूप कल्पित किया गया है, वह तत्त्वज्ञान से धीरे–धीरे ऐसे विलीन होता जाता है, जैसे घर में समझाये गये बालक का वृक्षादि में से पिशाचज्ञान धीरे–धीरे विलीन होता जाता है ॥२६॥

अग्नि आदि कारण जब तक लाख के पास रहते है, तब तक ही उसमें कठिनता का विलय रहता है । यदि अग्नि आदि पास में रहते, तो कठिनता का विलय भी हट जाता है, क्या इसी तरह

का यह जगद्विलय तत्त्वज्ञान से होता है, यदि ऐसा विलय हुआ, तो निमित्त के हट जाने पर फिर जगत् ज्यों का त्यों बना रहेगा, ऐसी आशंका पर कहते हैं कि तत्त्वज्ञान असत्पक्ष का विरोधी होने के कारण उससे हुआ विलय फिर लौटकर नहीं आता, जैसे कि शुक्ति के तत्त्वज्ञान से बाधित शुक्तिरूप ज्ञान फिर नहीं होता, इस आशय से कहते हैं ।

देश, काल और वस्तु की परिच्छिन्नता (स्वल्परूपता) से रहित साक्षी चेतन में किसी कारण के बिना ही जगत्,संकल्पकारक चित्त, अज्ञान आदि भासते हैं, अतः साक्षी चेतन में रूपादि का अवसर ही कैसे ? ॥२७॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्याभूत जगत्, चित्त आदि के रूप में मिथ्या अज्ञान ही नृत्य करता है, यह कहते हैं ।

साक्षी चेतन के अज्ञान से ही यह जगत् और चित्त उत्पन्न हुआ है, ज्ञान से जब अज्ञान नष्ट हो गया, तब निर्मल चेतन में जगत् आदि स्वरूपों का अस्तित्व ही क्या रहा ? ॥२८॥

इससे पहले की बात सिद्ध हो गई कि जाग्रत् प्रपंच ही स्वप्नदशा में अपनी स्थूलता छोड़कर सूक्ष्म प्रपंचरूप बन जाता है और स्वप्नभ्रान्ति ही चिरकाल के अभ्यास से घनीभूत होकर जाग्रत्-रूप बन जाती है, यह कहते हैं ।

स्वप्न के अवभास से जाग्रत्-प्रपंच अपनी कठिनता छोड़ देता है और ऐसे अत्यन्त नरम (सूक्ष्म) हो जाता है, जैसे कि अग्नि से पिघला हुआ सुवर्ण ॥२९॥ देश-कालरूप निमित्त के बिना जाग्रत्-स्वप्न का निर्माण कर यथास्थित बोधरूप साक्षी चेतन ही घनस्वरूप जगदाकार-सा सुवर्ण के सदृश बन जाता है ॥३०॥ शरत्काल के क्षीण हो जाने पर जैसे जल स्वल्प हो जाता है, वैसे ही स्वप्न के सदृश अत्यन्त तुच्छ जाग्रत् वस्तु के उक्त विचार से क्षीण हो जाने पर भोग का अनुराग भी स्वल्प हो जाता है ॥३१॥ दृश्य वस्तुओं की कान्ति जब अत्यन्त तुच्छरूप भासने लग जाती है, तब उनकी स्थिति होने पर भी विवेकी को वे अच्छी नहीं लगती । क्योंकि वह स्वप्न के सदृश उन्हें मिथ्या ही समझता है ॥३२॥

आत्मसुख से अत्यन्त तृप्त होने के कारण ज्ञानी भी विषयों का आदर नहीं करता, यह कहते हैं ।

कहाँ अपनी आत्मा में विश्रान्ति और कहाँ यह विषयों का परिज्ञान । यदि ज्ञानी को भी विषय भले प्रतीत होने लगें, तो सुषुप्त और जाग्रत् की एकता और मूढ़ और तत्त्वज्ञ की एकता हो जायेगी यानी दोनों में कोई पार्थक्य ही नहीं रह जायेगा ॥३३॥ श्रीरामजी, चित्तमात्रस्वरूप यह जगत् जब यहाँ भ्रान्तिरूप और स्वप्नमात्र स्वरूप बनकर स्थित हो जाता है यानी जब पुरुष जगत् को स्वप्न के सदृश मिथ्या समझ लेता है, तब पदार्थों से सत्यत्वबुद्धि अपने आप हट जाती है ॥३४॥

असत्य भी ज्ञानी को यदि रुचते हों, तो क्या हानि है ? इस पर कहते हैं ।

हे महामते, समीप में स्थित पुरुषों द्वारा असत्यरूप से देखे गये मृगतृष्णा–जल आदि क्या किसी को भी रुचते हैं ? अर्थात् वे किसी ज्ञानी को किसी तरह भी अच्छे नहीं लगते ॥३५॥ जगत् में सत्यत्व बुद्धि के विलीन हो जाने पर शान्तबुद्धि ज्ञानी जगत् को अपिण्डात्मक आकाशरूप देखता है, जो कि वातायन में प्रविष्ट हुए दीपकिरणों की प्रभा के सदृश प्रकाशमान भी है ॥३६॥ केवल चित्त के ही विलासस्वरूप स्वप्नात्मक फूल–माला, चन्दन आदि की भोगभावना जाग्रत् पुरुष की निकल जाती है, क्योंकि वस्तुतः उसने उन पदार्थों को शून्यरूप जान लिया है ॥३७॥ हे श्रीरामजी, जिसको अवस्तुरूप समझ लिया, फिर उसकी ग्राह्यता कैसी ? भला ऐसा कौन पुरुष है, जो स्वप्न जानकर भी स्वप्न–सुवर्ण को लेने के लिए उसकी ओर दौड़ता हो ? ॥३८॥ भद्र, स्वप्न के सदृश दृश्य पदार्थों को जब जान लिया जाता है, तब उससे मनुष्य का प्रेम निकल जाता है और द्रष्टा, दृश्य की अवस्थाओं के दोष से जनित बड़ी भारी गाँठ है, वह विच्छिन्न हो जाती है ॥३९॥

इसकी निवृत्ति हो जाने पर यह कैसे स्थित रहता है ? यह कहते हैं ।

दृश्य पदार्थ जिसको नीरस हो गये हैं या बन्धु आदि में जिसको प्रेम नहीं रह गया है, जिसकी मननशक्ति शान्त हो गई है, जिसका अहंकार चला गया है, जो तत्त्वविद्या से परिपूर्ण वीतराग, प्रयासरहित और निर्मलबुद्धि हो चुका है वह सदा शान्त ही रहता है ॥४०॥ दीपकी शिखा जब नष्ट हो जाती है, तब उसकी किरणें जैसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही जब रस नीरसरूप बन जाता है, तब ज्ञानी की वासना नष्ट हो जाती है ॥४१॥ ज्ञान से पूर्व गन्धर्वनगर के सदृश प्रतीत हो रहा सम्पूर्ण जगत् तत्त्वज्ञान से दीपक की किरणों के सदृश एकमात्र प्रकाशरूप एवं सघन होकर आकाश के सदृश भासने लगता है ॥४२॥

तब सप्तम भूमिका की स्थिति से वह किस तरह का होता है, इसे बतलाते हैं ।

तत्त्वज्ञानी पुरुष सप्तम भूमिका में स्थिति कर न आत्मा को, न आकाश को, न शून्य को, न वृत्ति को देखता है, किन्तु केवल आत्मपद को ही (ब्रह्मरूपता को ही) देखता है ॥४३॥ भद्र, जो तत्पद वस्तु है, उसमें न आत्मा है, न शून्य है और न जगत् की कल्पना ही है, अधिक क्या कहें, उसमें न चित्त है, न दृश्यबुद्धि है और न वह यथास्थित सब कुछ ही है ॥४४॥ अज्ञानियों के द्वारा पिण्डरूप से जाना गया जो यह पृथ्वी आदि का स्वरूप है, वह ज्ञानी के प्रति तो ज्ञान से असत् हो जाता है और शून्यरूप बन जाता है, अतः विद्यमान रहते भी है ही नहीं ॥४५॥ ज्ञानी पुरुष एकमात्र आत्मसमाधि में चित्त को लगाकर आकाश के सदृश निर्मल बन जाता है, सब आसक्तियों से रहित होकर ही अपनी स्थिति बनाता है और स्थित रहकर भी असत् के तुल्य बना रहता है ॥४६॥ श्रीरामजी, जिसका मन मर गया है और जो सर्वबाधावधि आत्मपद को प्राप्त हुआ है, ऐसा मननशील मौनी संसाररूपी समुद्र को तैर गया है और सब कर्मों के अन्त को भी प्राप्त हो गया है, यह अवश्य जानिए ॥४७॥ राघव, चूँकि जो सम्पूर्ण शरीर, शरीरों

के आधार भुवन, भुवनाधार गगन तथा विहार स्थान पर्वत है, उनके साधन और करणों का एकमात्र कारण मूल अज्ञान ही है, दुसरा नहीं, इसलिए ज्ञान द्वारा अन्तःकरण से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर यह शरीर आदि जगत्, ज्ञानियों की दृष्टि से विद्यमान रहते भी विनष्ट हो जाता है यानी असद्रूप बन जाता है ॥४८॥ ज्ञानवान का अन्तःकरण शान्त रहता है, उसके विकल्प विनष्ट हुए रहते हैं, वह अपने स्वरूपभूत आत्मरस में तन्मय रहता है, परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है, उसको आवरण (अज्ञान) भी नहीं रहता । इस प्रकार उसकी उत्तम स्थिति होती है ॥४९॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

तार्किकों के तर्कों से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की कल्पनाओं का खण्डन कर कूटस्थ परमात्मा के अनिवार्च्य जगद्भाव का समर्थन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, कूटस्थ चिदात्मा जिस क्रम से जगत्-सा भासता है, वह क्रम-भेद की निवृत्ति के लिए अन्य वादियों की कल्पनाओं का खण्डनकर अपने मत के समर्थन से फिर कहिये ॥१॥

'चिदात्मा का यह जगत्भाव अनिर्वचनीय ही है' इस अपने मत का समर्थन करने के लिए पहले दृष्टिसृष्टिपक्ष का अवलम्बन करके दृष्टि के अन्वय और व्यतिरेक के अनुसार उसकी स्थिति दिखलाते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, शाखा, पत्र, पुष्प, पल्लव आदि नाना प्रकार के आकारोंसे युक्त वृक्ष के समान अज्ञ आत्मा की दृष्टि में जो जगद्भाव है वही उसके चित्त में भी है और जो उसकी दृष्टि में नहीं है वह उसके चित्त में भी नहीं है । यही कारण है कि देखी गई अत्यन्त छोटी वस्तु का भी स्मरण होता है किन्तु न देखी हुई बड़ी वस्तु का भी स्मरण नहीं होता ॥२॥

शास्त्र और अशास्त्र के अनुसार सम्पादित हुई विद्वान और अविद्वान की क्रियाओं में भी विलक्षणता दिखाई देती ही है, अतः जगत् की सत्ता भी भिन्न-भिन्न दृष्टि के अनुसार ही व्यवस्थित प्रतीत होती है, इस अभिप्राय से कहते हैं ।

जो विवेकी पुरुष है वह पूर्वापर शास्त्र के अनुसार ही देखता और करता है । आँखों के सामने पड़ी भी शास्त्रनिषिद्ध वस्तु को भोग्यरूप से नहीं देखता और न तो उसके लिए कुछ करता ही है ॥३॥

यह कारण है कि मैं भी शास्त्रीय दृष्टि का व्यवस्थापन करते हुए ही श्रवण आदि में आपको नियुक्त कर रहा हूँ, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए आपसे मैं कहता हूँ कि आप भी अपने चित्त की शुद्धि के अनुकूल कर्मों के अनुष्ठान में तत्पर हो शास्त्रानुकूल अर्थों में अपने चित्त को लगाकर श्रवणभूषण मेरे इस उपदेश का श्रवण कीजिये ।।४।। यह दृश्यसमूह की भ्रान्ति ही अविद्या कही जाती है । वास्तव में तो यह अविद्या भी ऐसे नहीं है, जैसे मृगतृष्णा नदी में जल ।।५।।

जब ऐसी बात है, तब शास्त्रों के उपदेश तथा उनकी फल सिद्धि कैसे होगी, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपदेशयोग्य वस्तु के उपदेश के निमित्त मेरे अनुरोध से क्षण भर के लिए आप इसे सत्य–सा मानकर यह मेरा कथन सुनिये ।।६।। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अविद्यानामक भ्रान्ति कैसी है और कहाँ से आयी–इस तरह के विकल्प न करते हुए आप मेरे इस उपदेश को सुनिये । फिर तो पीछे ज्ञान हो जाने से आप स्वयं जान जायेंगे कि न तो यह जगत् है और न यह अविद्या ही है ।।७।।

अनुभव में आरूढ़ इस विवर्त पक्ष को दिखलाकर अन्य पक्षों में दोष बतलाने की अभिलाषा कर रहे महाराज वसिष्ठजी असत्य प्रपंच का ही ब्रह्म के साथ वृक्षशाखा न्याय से अभेद माननेवाले महानुभावों के पक्ष में – ब्रह्म की अविनाशिता नष्ट होगी – यह दोष दिखलाने के लिए जगत् में विनश्वरत्व की प्रतिज्ञा करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कुछ स्थावर–जंगमात्मक यह सब तरह से परिपूर्ण जगत् दिखाई देता है वह सब कल्प के अन्त में नष्ट हो जाता है ।।८।।

जिसकी महाराज वसिष्ठजी ने प्रतिज्ञा की है, उसका अब साधन कहते हैं।

विचार कर देखने से यह निश्चित होता है कि इस जगत् का विनाश अवश्य होगा, वह पृथिवी आदि अवयवों का विभागस्वरूप है, क्योंकि पृथिवी आदि सावयव है, अतः उनके विनाश का कोई प्रतीकार नहीं कर सकता । यही कारण है कि एक–एक बूँद निकाल लेने से घड़े के जल का नाश अवश्य हो जाता है ।।९।।

ठीक है, नाश हो जाय, क्या दोष है, इस पर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थिति में तो द्रव्य का नाश होने पर ब्रह्म की अनन्तता और अस्तिता भी नहीं रह सकती, क्योंकि ब्रह्म जगन्मय ही तो ठहरा और चिदेकरस निरवयव ब्रह्म का जगत् अवयव नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि जैसे शाखा आदि अवयवों का नाश होने पर वृक्ष का भी नाश हो जाता है, वैसे ही यदि पृथिवी आदि द्रव्य का नाश होने पर ब्रह्म के नाश का प्रसंग माना जाय, तो श्रुति में कहे गये ब्रह्म के अनन्तत्व की सिद्धि न हो सकेगी । इतना ही नहीं और भी सुनिये–विचारकर देखने पर तो अवयवों से पृथक् किये गये अवयवी की सत्ता न रहने से उसका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता और चिदेकरस निरवयव ब्रह्म का यह जगत् अवयव भी नहीं बन सकता ।।१०।।

चिदात्मा का अवयव जड़ जगत् न हो, किन्तु मदिरा (शराब) के अवयवों में स्थित मदशक्ति

की तरह शरीर में परिणत पृथिवी आदि पंचभूतरूप जड़ों का ही धर्म चैतन्य क्यों न हो, इस चार्वाक मत को उठाकर उसमें दोष दिखलाते हैं।

मदिरा की शक्ति के समान ज्ञानरूप धर्म हम आस्तिकों में नहीं हो सकता। पृथिवी आदिरूप हम लोगों की देह में ही चार्वाक ज्ञान नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि हम लोगों के मत में इस देह की सिद्धि विज्ञान के ही अधीन होने से यह देह स्वप्न के समान है, तात्त्विक नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रामाणिक लोगों के मत में देह की सत्ता का साधक विज्ञान के सिवा और कोई दूसरा नहीं है । यह तो कोई नहीं कह सकता कि, मदशक्ति की तरह देह न रहने पर भी विज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥११॥

जगत् और ब्रह्म का अभेद स्वीकार करने से तो दृश्यप्रपंच का नाश होने पर ब्रह्म के नाश की भी शंका हो सकती है। यदि वह भेद आध्यासिक मान लिया जाय, तब तो प्रतियोगी की तरह उसके नाश का भी वस्तुतः ब्रह्म के साथ सम्बन्ध न होने के कारण यह दोष नहीं आता और शास्त्र भी सफल हो जाते हैं, इसी आशय से कहते हैं।

यह दृश्य की शोभा बार–बार नष्ट होती और उत्पन्न होती ही रहती है । अतः यह कोई नहीं कह सकता कि यह वही है या दूसरी । इस तरह अनिर्वचनीय अविद्यामात्रसिद्ध यह दृश्य श्री नष्ट अवश्य ही होती है। ऐसी स्थिति में अविद्या के बाध द्वारा जगत् का बाध होने पर शास्त्र सफल होते हैं, अन्यथा नहीं ॥१२॥

प्रलयकाल में जगत्–रचना के नष्ट हो जाने पर उसके बाद पुनः उत्पन्न हो रही जगत् की शोभा का यह कभी निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह वही है या दूसरी, इस तरह भी इसमें अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है, यह कहते हैं।

इस सृष्टि से पहले संसार की शोभा नष्ट हो चुकी थी, वही पुनः आविर्भूत हो रही है, इसका उल्लेख करना अशक्य है। हाँ, यदि वही पुनः आविर्भूत होती, तो वही यह है या अन्य, यह कहा जा सकता था, किन्तु नष्ट की उत्पत्ति केवल अनुभव के अनुगामी हम अनुभवविरुद्ध अणुमात्र भी नहीं मान सकते, क्योंकि नष्ट की उत्पत्ति हो कैसे सकती है ? ॥१३॥

यह अनुभव में आरूढ़ नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

मूर्तरूपा जगत् की शोभा प्रलय में आकाशरूपी से –अमूर्तरूप से ही विद्यमान थी, यह कहना बिलकुल असत् है, क्योंकि जो मूर्तरूप ही थी, वह भला अमूर्तरूप कैसे हो सकती है ? यदि यह कहिये कि आकाश में स्थित ही वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हुई, तो आपसे हमें यही कहना पड़ेगा कि वह फिर प्रलय में भी नष्ट नहीं हुई । कहने का तात्पर्य यह है कि इस तरह आपका प्रलयवाद उच्छिन्न हो गया ॥१४॥

इस तरह तो सृष्टि में भी प्रलयअवस्था की भी तुल्यन्याय से प्रसक्ति हो सकती है । ऐसी स्थिति में तो प्रलयअवस्था में स्थित अव्याकृत से कार्यरूप सृष्टि की एकता होने पर कूटस्थवाद के

ऊपर आपत्ति आने लगेगी, यह कहते हैं।

और इस तरह जब सृष्टि में भी प्रलयअवस्था की प्रसक्ति हो सकती है, तब तो कार्यरूप सृष्टि की प्रलयअवस्था में स्थित उस अव्याकृत कारण के साथ एकरूपता ही सिद्ध हो गयी, क्योंकि कार्य और कारणभाव से ऐक्य बतलाना ही तो हमारा सिद्धान्त है, सो इस तरह सिद्ध हो गया ॥१५॥ जो वस्तु उपलब्ध होकर भी शून्यदशा को प्राप्त हो जाती है वह नष्ट ही है, क्योंकि उपलब्धिकाल में भी उसकी असत्ता मानी जा चुकी है। हे श्रीरामजी, असत्वापत्ति का ही नाम तो नाश है । हाँ, आपके मत में किसी दूसरे तरह का नाश होता हो, तो फिर निःसन्देह बतलाइये वह कैसा है ? ॥१६॥

पुनः उत्पत्ति के अवलोकन से यदि मध्य में नष्ट हुए की सत्ता की जो कल्पना करते हैं, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेद से भी तो उत्पत्ति की सिद्धि हो जाती है और प्रत्यभिज्ञा आदि का भी तो अवलोकन नहीं होता, यह कहते हैं।

जो नष्ट हुआ है वही पुनः उत्पन्न हुआ है, यह प्रत्यभिज्ञा किसको होती है, इसलिए नष्ट अवश्य होता है तथा पुनः पुनः दूसरा ही प्रवृत्त होता है यही कहना उचित होगा ॥१७॥

जैसे एक ही वृक्ष के ऊपर बीच–बीच में कोटर, स्कन्ध, शाखा आदि का विचित्र भेद रहने पर भी मूल से लेकर शाखापर्यन्त वृक्ष शरीर की तो सत्ता एक ही है । हाँ, शाखा आदि उस वृक्ष के कार्य हैं उनमें भेद अवश्य है, वैसे ही उत्पत्ति आदि विकारों का भेद होने पर भी प्रलय के बाद पुनः उत्पन्न होने से इस दृश्यप्रपंच की भी सत्ता एक ही क्यों न हो, इस शंका पर कहते हैं।

वृक्ष के बीच–बीच में स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप जो अवयव हैं उनमें सारे वृक्षरूपी शरीर को व्याप्त करके स्थित बीजसत्ता अखण्ड एकरूप ही है । अतः जब सर्वत्र एक ही सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है तब शाखा आदि की पृथक् सत्ता सिद्ध न होने से कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है ? ॥१८॥

दृष्टान्त में कहे गये कार्यकारणभावोच्छेद को दार्ष्टान्तिक में दिखलाते हैं ।

यदि प्रलय, सृष्टि आदि तथा देशकाल एवं क्रियात्मक यथादृष्ट एक सन्मात्र ही बीज को स्वस्वरूप में स्थित स्वीकार करेंगे, तब तो वह एक स्वयं ही क्रिया और उसका फल होता हुआ कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करने में वह असमर्थ है–पटकार्य करने में असमर्थ घट पटरूप कार्य नहीं करता (卐) ॥१९॥

(卐) अथवा देशात्मक, कालात्मक या क्रियात्मक तत्-तत् पदार्थों में अनुगत बीज को एक स्वभाव ही बतलाना उचित है, यह संभव नहीं है कि एक वस्तु भिन्न-भिन्न स्वभाव की हो । यदि स्वभावभेद स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर एकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती । देखिये- यदि वस्तु देशैकस्वभाव है, तो फिर वह काल का कार्य नहीं कर सकती। यह भी कहीं नहीं देखा गया कि घटस्वभाव वस्तु पट का कार्य करती हो ।

नाना स्वभाव की एक ही वस्तु है, यह कहनेवाला तो सभी दर्शनों के सिद्धान्त का उलंघनकारी होने से वितण्डा करनेवाला ही होगा, इस आशय से कहते हैं ।

सभी दर्शनों के सिद्धान्त में यह निश्चय किया गया है कि वस्तु के एक रहते हुए कार्यों का भेद नहीं है तथा परमार्थमय वस्तु स्वभाव में भी नानात्व ही है । इसलिए सभी दर्शनों से विरुद्ध बोलनेवाले के साथ विवाद करने से हमें मतलब ही क्या ? ॥२०॥

परिशेषात् वस्तु एक स्वभाव है, यह मान लेने पर तो उपजीव्य एक चित्स्वभाव का ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं ।

विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाण से यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाश के सदृश निर्मल केवल बोधमात्र परमात्मा ही अवशेष रहता है । अनुभवरूप प्रमाण ही सभी कल्पनाओं का सार (बल) है, अतः उस बोधमात्र परमात्मवस्तु के स्वभाव का अपलाप न हो सकने से परिशेषात् जड़ स्वभाव की ही हानि है, यह भाव है ॥२१॥

अब एक स्वभाव उस परमात्मवस्तु के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हैं ।

यह परमात्मस्वरूप जिस रीति से अनुभूत नहीं होता और अनुभूत न होते भी जैसे अनुभूत होता है तथा जिस रीति से मनुष्य को इस परमात्मस्वरूपानुभव की सिद्धि प्राप्त होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सब मैं आपसे क्रमशः कहता हूँ ॥२२॥

एकमात्र यही कारण है कि महाकल्प के अन्त में समस्त भेदों का लय हो जाने पर लय को प्राप्त न हुआ अनुभवात्मा ही अवशेष रह जाता है, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महाकल्प के अन्त में महादेवपर्यन्त मन, बुद्धि और समस्त कर्मों के साथ जब यह सम्पूर्ण दृश्यमण्डल नष्ट हो जाता है, आकाश तथा अकलित स्थिति काल भी शान्त हो जाता है, वायु चली जाती है तथा तेज की स्थिति बिलकुल डाँवाडोल हो जाती है एवं तेज भी जब ध्वस्त हो जाता है, जल, पृथिवी आदि का भी दीर्घकाल के लिए नाश हो जाता है, जब कि सम्पूर्ण शब्दार्थ समूह बिलकुल अन्तदशा को प्राप्त हो जाता है, तब आदि और अन्त से रहित सौम्य, अविनाशी, बाध्यशून्य, वाणी का अविषय, स्वच्छ सन्मात्र, केवल निर्मल शान्त बोधस्वरूप कोई अनिर्वचनीय आत्मा ही शेष रह जाता है ॥२३-२६॥ वह परमपद वाणी का अविषय, अनभिव्यक्त, इन्द्रियों का अविषय, नामरूप शून्य, सर्वभूतस्वरूप, शून्यरूप, सत् एवं असत् भी है ॥२७॥

महाकल्प के अन्त में अवशिष्ट वह सद्रूप परमात्म वस्तु वायु आदि स्वरूप ही क्यों न हो, इस पर कहते हैं ।

सद्रूप वह परमात्मवस्तु न वायुरूप है, न आकाशरूप है, न मन, बुद्धि आदिरूप है, न शून्यरूप है, वह कुछ भी नहीं है, सर्वस्वरूप वह अनिवर्चनीय चिदाकाश है ॥२८॥

उस समय भी वह विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है, यह कहते हैं ।

उस परमपद में स्थित समस्त कल्पनाओं से निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी ही इस परमात्म वस्तु का अनुभव करता है और दूसरे तो केवल वर्णित आगमों से इसका वर्णन मात्र करते हैं ॥२९॥

उन आगमों में 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्तयम्' इत्यादि आगम का अर्थरूप से अवलोकन कराते हैं।

यह आत्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है और न काल का मध्य है, न अन्त है, न बोधस्वरूप है और न बोधाभावरूप ही है ॥३०॥

एवं 'तद्यथात्मविदो विदुः' इस आगम को भी उद्धृत करते हैं।

किन्तु बोधपारंगत, संसारविस्तार से शून्य तथा पंचम एवं षष्ठ भूमिकाओं को प्राप्त हो चुके महानुभाव लोग इस अनिर्वचनीय अतिस्वच्छ आत्मा का स्वयं अनुभव करते हैं॥३१॥

श्रुति के अनुकूल अनुभव का आश्रय करके मैंने भी उन पदार्थों का बार–बार निषेध किया है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आत्मबोध के लिए आपसे उन्हीं पदार्थों का निषेध किया है, जो सर्वत्र श्रुतियों में प्रतिषेध्यरूप से स्थित, हमारी बुद्धि से परिच्छिन्न एवं शान्त समुद्र के तरंगों के सदृश हैं ॥३२॥

तब 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवादी श्रुतियों का क्या अभिप्राय है, उसे कहते हैं।

जैसे महास्तम्भ में (बड़े खम्भे में) बिना खुदी हुई अनेक तरह की प्रतिमा ही स्थित है वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वस्वरूप में स्थित परमात्मा में सभी पदार्थ स्थित हैं (ﮩ) ॥३३॥

इसीलिए 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् इत्यादि श्रुतियों के अविरोध से एक ही का दोनों तरह से कथन होता है, इस आशय से कहते हैं।

इस तरह सभी पदार्थ उस परमात्मा में अधिष्ठान रूपसे स्थित है तथा अपने स्वरूप से नहीं भी स्थित हैं । वह परमात्मा असर्वात्मक होता हुआ भी सर्वस्वरूप है । वह परमार्थरूप भी है और परमार्थरूप नहीं भी है ॥३४॥

पत्थर में न खुदी गई नाना प्रकार की प्रतिमाओं की तरह योगियों को अपनी इच्छा के अनुसार स्वस्वरूप में स्थित उस परमपद में 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों तरह से जगत् का दर्शन होता है, यह कहते हैं ।

योगी लोग अपनी इच्छानुसार सर्वात्मक वह परम पद जैसे समस्त अर्थों से युक्त है तथा जैसे समस्त अर्थों से रहित है, वैसे उसे देखते हैं ॥३५॥ उस आद्य पद को योगी लोग सर्वरूप, सर्वात्मक, सम्पूर्ण अर्थों से रहित तथा सम्पूर्ण अर्थों से परिपूर्ण भी देखते हैं ॥३६॥ हे महाबुद्धे, पूर्वोक्त समाधिकालपर्यन्त सम्पूर्ण अर्थों का उपशमरूप वह सम्यग् ज्ञान आपको नहीं उत्पन्न

(ﮩ) ब्रह्मस्वभावस्थिति ही अविकल्पित जगत् की भी सत्ता है, यही उन श्रुतियों का अभिप्राय है।

हुआ । इसमें सन्देह होना ही सबसे जबर्दस्त प्रमाण है (🙏) ॥३७॥ जो ज्ञानी पुरुष सब दृश्यों के आभास से निर्मुक्त, परम प्रकाशरूप को (परम साक्षात्कार को) प्राप्त है तथा स्वच्छ अन्तःकरण एवं शान्त है, वह उस प्रकाशस्वरूप शान्तस्वभाव को देखता है ॥३८॥ जैसे सुवर्णपिण्ड के भीतर आभूषण तथा मुद्रा आदि का समूह कल्पना से स्थित है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अयं, त्वम्, अहम् इत्यादि त्रैकालिक जगत्भ्रम भी उस परमात्मा में कल्पना से स्थित है ॥३९॥

तब क्या अलंकारों की तरह भेद से भी जगत् सत् है ? इसका 'नहीं' यह उत्तर देते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस तरह सुवर्ण के आभूषण तथा पात्र आदि सुवर्णपिण्ड से पृथक्-भिन्न सद्रूप से उपलब्ध नहीं होता ॥४०॥ अपने अंगरूप जगत् से द्रष्टा परमात्मा मिथ्या नाम-रूपात्मक द्वैत जगत् से सर्वदा ऐसे भिन्न है, जैसे कल्पित अंगदादि आभूषणात्मक मिथ्या नाम-रूपसे सुवर्ण ॥४१॥ देश, काल क्रिया आदि शब्दों के अर्थों से यानी प्रवृत्ति निमित्त से (जाति गुण क्रिया आदि से) रहित तथा देश, काल एवं क्रियामय वह आत्मा है । यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठान से उसमें है और स्वस्वरूप से नहीं भी है ॥४२॥ जैसे चित्रकार शान्त जल में तरंग आदि रूप चित्र बनाने की इच्छा करता है वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, शान्तब्रह्म में स्थित इस जगत् की आप भी इच्छा कीजिये । तथा जैसे मिट्टी के पिण्ड में मिट्टी के बने अनेक पात्रों का समूह स्थित है वैसे ही ब्रह्म में यह जगत् स्थित है ॥४३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मिट्टी के पिण्ड में जैसे अभिन्नरूप से ये सब पात्र हैं और भिन्नरूप से नहीं भी हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञान से शान्त, नित्य आत्मा में तन्मय शान्त यह जगत अभिन्नरूप से है और भिन्नरूप से नहीं भी है ॥४४॥ महास्तम्भ में अनुत्कीर्ण प्रतिमा की नाईं, ब्रह्मरूपी काठ में यह त्रिलोकी रूप प्रतिमा साक्षीरूपी शिल्पी की आँखों में प्राप्त हुई-सी है ॥४५॥ स्तम्भ में स्थित जो प्रतिमाएँ उत्कीर्ण होती हैं वे ही दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु ब्रह्म में तो उसके शान्त क्षोभरहित स्थित रहने पर ही उसके भीतर सृष्टि के विवर्तरूप तरंगें दृष्टिगोचर होती हैं ॥४६॥ नित्य निरतिशयानंद जलपरिपूर्ण चितिरूपी सरोवर में चिन्मय मेघ की अमृतमय वृष्टि के सदृश ये सृष्टि की दृष्टियाँ भासित हो रही हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, विभाजक धर्मों से शून्य रहने पर भी उस चिद्घन ब्रह्म में ये सबके सब विभक्त तथा क्षोभरहित रहने पर भी क्षुभित के समान, भासित न हुई भी ये सब अविद्या के कारण एक तरह से भासित हो रही हैं ॥४७॥ इस चिद्घन ब्रह्म में परमाणु-परमाणु में चमकीले समारोहों से युक्त यह संसार-मण्डल भासता

(🙏) यदि आपको निश्चित तत्त्वज्ञान हो गया है तो, तो आपके मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं उठता । सन्देह का होना ही बतलाता है कि अभी आपको निश्चित तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है । देखिये, 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इत्यादि श्रुतियाँ क्या कहती हैं ।

है और वास्तव में कुछ भी नहीं भासता ॥४८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, निरवयव इस परमात्मा के जिस आकाश, काल, पवन आदिपदार्थ समूहरूप अंग का मैंने आपसे वर्णन किया है, वह भी मिथ्या तथा अधिष्ठानमात्र शेष होने से अवयवशून्य ही है । इस प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण भावविकारों से शून्य यह अजर, परमार्थभूत आत्मतत्त्व है तथापि इसको सभी श्रुतियाँ सम्पूर्ण पदार्थों के अध्यारोप से सर्वस्वरूप बतलाती हैं ॥४९॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

अपनी-अपनी अलग-अलग भिन्नता को लिये हुए ये जो आत्मा में आरोपित विषय है, इस सत्ता यानी त्व, तल् आदि प्रत्ययों का अर्थ साक्षात् ब्रह्मरूप ही है - यह वर्णन।

अभी तक यह क्रम बतलाया कि ब्रह्म ही आरोपित अनिर्वचनीय जगत् रूप में विवर्तित होता है, अब इस विषय में रामजी यह जानना चाहते हैं कि त्व, तल् आदि प्रत्ययों से बोधित होनेवाली पृथक्-पृथक् जो घटत्व, मनुष्य आदि जातियाँ हैं, उनका तात्त्विक स्वरूप क्या है, इसलिए यह प्रश्न करते हैं ।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, जैसे स्मरण के योग्य विषयों में स्मरण की विषयता जैसे काल में कालता, जैसे आकाश में आकाशता, जैसे जड़ में जड़ता, जैसे वायु में वायुता, जैसे वर्तमान में या भविष्यत् में वर्तमानता या भविष्यत्ता, जैसे स्पन्दात्मा में स्पन्दात्मता (स्पन्द), जैसे मूर्त में मूर्तता, जैसे भिन्न में भिन्नता, जैसे अनन्त में अनन्तता, जैसे दृश्य में दृश्यता और जैसे सर्ग में सर्गता असाधरण धर्म है, ऐसे ही सब वस्तुओं में भावरूप धर्म हैं । अतः इनका परिज्ञान करने के लिए जो बोधक उपाय हों, उनको क्रमशः मुझसे कहिए, क्योंकि हे उपदेश देनेवालों में श्रेष्ठ ब्राह्मन्, जो अल्पज्ञ शिष्य हैं, उनको आरम्भ से ही प्रतिपादनकर समझाना चाहिए ॥१-४॥

आपने जिन वस्तुओं का भाव (सत्त्व) पूछा है, वह चिदात्मा ही है, क्योंकि वही अपने में अध्यस्त पदार्थों में अन्योन्य तादात्म्यअध्यास होने पर तत्-तत् भावरूप बन जाता है, यों उत्तर देने की अभिलाषाकर उन भावों की नित्यसद्रूपता बतलाने के लिए कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्री रामचन्द्रजी, जो चीज आपने पूछी है, वह चीज तो अनन्त, महाकाश, महाचेतनघन, अवेद्य चिद्रूपमय, शान्त, अद्वितीय और एकरूप से स्थित रहनेवाली ब्रह्म ही है, यही मुनि लोग कहते हैं ॥५॥

सबका विनाश हो जाने पर जो वस्तु अन्त में बच जाती है, वही सब वस्तुओं की भावरूप सत्ता है, क्योंकि भू धातु से बना हुआ भावशब्द उसी अर्थ का बोधक है, इस आशय से कहते हैं।

चूँकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि का भी जिस में अन्त हो जाता है, ऐसे महाप्रलय में

नामरूपात्मक सृष्टि का तिरोभाव हो जाने पर वही एकमात्र शुद्ध बच जाता है, इसलिए वही सबकी सत्ता है, दूसरी नहीं ॥६॥

वह वस्तु भी अपने कारण में लीन हो जायेगी, इससे वह भी तो असत् ही ठहरेगी, इस पर कहते हैं ।

सत् ही जिसका स्वरूप है, ऐसे शान्त महाचिद्घन वस्तु की उत्पत्ति का कोई कभी कारण युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मल, आकार, बीज आदि तथा माया,मोह, भ्रम आदि सबकी सिद्धि उसी के अधीन है ॥७॥ अतः जिसमें आकाश भी स्थूल पत्थर के सदृश है और जो केवल, शान्त, निर्मल आदि अन्त से शून्य है, वही सत्तार्थक भावशब्द का अर्थ हो सकता है दूसरा नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥८॥ वह जब चेतन शरीररूप से भासने लग जाता है, तब उसकी चारों ओर सत्ता होने के कारण 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता और जब शान्तमल (अज्ञान मलादि से वर्जित) होकर अनुभव में आता है, तब 'वह है' यों भी वाच्यवृत्ति से नहीं कहा जा सकता ॥९॥

ऐसे निर्विषय चित्-स्वभाव की अत्यन्त अप्रसिद्धि है, इस शंका का अनुभव से निवारण करते हैं।

उस निर्विषय आत्मपद का स्वरूप वही है, जो कि निमेषमात्र में सैकड़ों योजन तक प्रमातृज्ञान के पहुँच जाने पर उस ज्ञान के बीच का रूप है । *(इस विषय का पहले भी अनेक स्थानों में निरूपण किया गया है -शाखाओं के अग्रभाग में चन्द्रदर्शन के समय एक निमिषमात्र में चक्षु की वृत्ति के द्वारा प्रमातृ-चैतन्य ऊपर प्रदेश में सैकड़ों कोश चन्द्रदेश तक दूर चला जाता है, वह गया हुआ प्रमातृ-चैतन्य बीच के प्रदेश में यानी शाखाग्रप्रदेश और ऊपर का जो चन्द्रदेश है -इन दो प्रदेशों के मध्यप्रदेश में एकदम विशुद्ध रहता है, उसमें कोई भी विषय रहता ही नहीं, अतः मध्यप्रदेश के चेतन का जो भी रूप आप जानिये, वही रूप निर्विषय आत्मपद का स्वरूप है)* ॥१०॥

आधी रात तक गाढ़ी नींद से मन की निद्राकालिमा दूर हो जाती है, इस कालिमा के निकल जाने पर समाधि में स्थित हुए योगियों को उक्त रूप का अनुभव होने लग जाता है, यह कहते हैं।

बाहरी और भीतरी जितने वासना के विषय भ्रमरूप पदार्थ हैं, उनका विनाश हो जाने पर सब प्रकार की चिन्ताओं से निर्मुक्त हुए तथा आधी रात में निद्रा से जगे, सुख-दुःख की वृत्तियों से तथा शान्तिपूर्वक समाधि लगाकर बैठे हुए पुरुष का जो स्पन्दशून्य (निर्मल) मनोरूप है, वही रूप उस पद का स्वरूप है। इस रूप का समाधिनिष्ठ पुरुष ही अनुभव करते हैं ॥११,१२॥ श्रीरामजी, तृण, गुल्म, अंकुर, वृक्ष आदि की उत्पत्ति होने पर साथ-साथ प्रकट हुआ जो एकरूप से सबमें रहनेवाला अनुगत सत्ता-सामान्य रूप है यानी तृणत्व, गुल्मत्व आदि है, वही

त्व, तल्आदि प्रत्ययों का अर्थ है ॥१३॥ उसी सत्ता–सामान्य के स्वरूप में तादात्म्यरूप से मिला हुआ तथा दूसरे से भिन्न–सा जो घट, पट आदि जगत् का स्पष्ट रूप दीखता है, वह आगन्तुक होने से सकारण सा तथा कम्बुग्रीव आदि विचित्र आकृतियों से कराल–सा भासता है, परन्तु है वह सब अनृत यानी मिथ्या ही । इसीलिए वह सब कारण के अभाव से न तो उत्पन्न हुआ है और न अपना अस्तित्व ही रखता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वह पद न तो आकारयुक्त है, न जगत्–रूप है और न द्वैत एवं ऐक्य से मिला हुआ ही है ॥१४,१५॥ जो कारण से शून्य है यानी जिसके कारण की सत्ता ही नहीं है, उस वस्तु की सत्ता यहाँ कैसे युक्तियुक्त मानी जा सकती है ? जो स्वयं सदा अनुभूत ही वस्तु है, उसका अपलाप करने की शक्ति कौन रख सकता है ? ॥१६॥

तब यह मानिये कि जगत् का शून्य ही कारण है ? इस पर कहते हैं ।

हे राघव, शून्य तो अनादि और अनन्त है, वह जगत् का कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो आदि और अन्त से रहित होता है, वह सब तरह की अल्पता से निर्मुक्त ही रहता है, इस स्थिति में सभी सब जगह सभी समय में रहने लग जायेंगे । ब्रह्म तो अमूर्त है यानी आकार से शून्य है, अतः ब्रह्मस्वभाव से भिन्न साकार जगत् का वह ब्रह्म भी कारण नहीं हो सकता ॥१७॥ इसलिए ब्रह्म में जो जगत्–रूप भासित हो रहा है, वह ब्रह्मरूप ही है, दूसरा नहीं। ऐसी स्थिति में त्व, तल् आदि प्रत्ययों के अर्थ के रूप में भी जो स्वरूप भासता है, स्वयं वह चिदाकाशरूप ब्रह्म ही स्थित है ॥१८॥ इस तरह यद्यपि असल में जगत् चिद्–ब्रह्मरूप ही है, तथापि जो घट,पट आदि आकार आपाततः (ऊपर–ऊपर से) प्रतीत होते हैं, वे सब भ्रम से ही सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में हे श्रीरामचन्द्रजी सब कुछ एक, अज शान्त, द्वैत–ऐक्य से रहित निरामय ब्रह्मरूप ही है, यह आप जानिये ॥१९॥

भ्रान्ति से जीव और जगत् के रूप में ब्रह्म ही है और भ्रान्ति का विनाश हो जाने पर वास्तव ब्रह्मस्वरूप ही रहता है, इसमें पूर्वदर्शित 'पूर्णमदः' इत्यादि श्रुति का अनुवाद करते हैं ।

पूर्णरूप ब्रह्म से पूर्णरूप ही जगत् विस्तार को प्राप्त होता है, उसी पूर्ण में पूर्णात्म जगत् विराजित है, पूर्ण ही पूर्ण में प्रकाशित होता है, अतः पूर्ण में पूर्णात्मक वस्तु ही ठीक–ठीक रूप से अन्त में व्यवस्थित हैं ॥२०॥ श्रीरामभद्र, भावप्रत्ययों का अर्थ यानी त्व, तल् आदि का अर्थ वही है, जो निर्वाण शब्द से कहलानेवाला विशुद्ध आत्मा है । वह शान्त, एकरूप, उदय अस्त से रहित, आकारों से शून्य, अज, आकाशवत् व्यापक, स्वच्छ और अद्वितीय है । यह सर्वात्मक है, इसका रूप सत् असत् की एकता लेकर ही निरन्तर उदित है; सबका आदि है और उत्तम बोधरूप (आत्मज्ञानरूप) है ॥२१॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

सभी वस्तुएँ अपने स्वभाव में ही रहती हैं, स्वभाव में न तो कोई क्रिया है और न कोई भेद ही है, अतः स्वभावभूत सन्मात्रवस्तु अविकारी एवं अद्वितीय है यह वर्णन।

घट, पट आदि का स्वरूप या भेद घटत्व, पटत्व आदि का उल्लेख किये बिना हो नहीं सकता । घट और घटत्व का परस्पर जो भेद है, उसका भी निरूपण किसी विशेषण को लिये बिना नहीं हो सकता, इसलिए उनके पृथक्करण के लिए धर्म और धर्मी का जो कुछ विभाग आप मानेंगे, वह केवल कल्पनारूप ही होगा, क्योंकि निर्विकल्परूप से एक-सी भासमान वस्तुओं में असली विभाग तो होगा ही नहीं । ये जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी भावरूप (सत्तामात्र ब्रह्मरूप) ही हैं, यह तो अनेक युक्ति, श्रुति आदि का दिग्दर्शन कराकर सिद्ध कर दिया है । ऐसी स्थिति में 'घटे घटत्वम्' (घट में घटत्व है) इत्यादि शब्दों का निचोड़ अर्थ यही होगा कि 'ब्रह्म में ब्रह्म हैं' यों जो पहले भाव प्रत्ययों के अर्थ का निष्कर्ष सिद्ध किया गया है, उनके फल का उपपादन करने के लिए आरम्भ करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, घटत्व, पटत्व आदि भावों से जगत् का स्वरूप यदि निचोड़कर सिद्ध किया जाय, तो वह आकाश के सदृश स्वच्छ एवं भेदरूप कलंक से निर्मुक्त ही सिद्ध होता है । घटत्व आदि भाव तो ब्रह्मरूप ही स्थित हैं, यह पहले ही बतला चुके हैं, इस दृष्टि को लेकर देखा जाय, तो घट, पट आदि भावों में किसी में किसी के प्रति कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि उस दृष्टि में यही ज्ञान रहता है कि आकाश ही आकाश में भासता है, वही (नभोरूप ब्रह्म ही) जगत्-शब्द और घटादि शब्दों का अर्थ है, वह तो जन्म आदि विकारों से शून्य ही है ॥१॥

इसी अर्थ का फिर स्पष्टीकरण करते हैं ।

त्वम् (तू), अहम् (मैं), जगत् इत्यादि जो शब्द हैं, उनका अर्थ ब्रह्म ही है, शान्त ब्रह्म सबमें एकरूप से ही भासनेवाला है, इसलिए अलग स्थित न होकर ही वह शब्दार्थरूप ब्रह्म अपने ही स्वरूप में स्थित है ॥२॥ समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी, विस्फोट आदि पदार्थों से भरा जगत् भी ब्रह्म है यानी समुद्र आदि अनेक विभागों से युक्त तथा विचित्र कारक, क्रिया, फल आदि से भासमान तत्-तत् धर्म और धर्मियों का तात्त्विक स्वरूप भी निष्कर्ष में ब्रह्मरूप ही है, अतः यह समस्त जगत् काष्ठमौन के सदृश निष्क्रिय ब्रह्मरूप ही ठहरता है ॥३॥

अब वह द्रष्टा आदि विभागों से भरपूर है, इसका विचित्र कारकों में तत्-तत् भावों का निष्कर्ष निकालकर निरूपण करते हैं ।

दृश्यवस्तु के स्वभाव से पृथक् किया गया द्रष्टा चिन्मात्रस्वभाव में स्थित होकर द्रष्टा होता है, इसी प्रकार का कर्ता भी है । इसका कोई वास्तव में तो कर्तव्य ही नहीं है, क्योंकि जब कारण हो

तो कर्तव्य निर्धारण किया जाय, पर कारण ही कोई नहीं है ॥४॥

इसी दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् की विचित्रता हटाई जा सकती है, यह कहते हैं ।

न तो ज्ञातापन, न कर्तापन, न जड़पन, न भोक्तापन, न शून्यपन, न अर्थपन और न आकाशपन ही इस ब्रह्म में रहता है ॥५॥ यदि कोई है, तो वह शिला के उदर के सदृश अत्यन्त घन, बाधवर्जित, अद्वितीय, जन्मरहित, सर्वात्मक, शान्त, आदि अन्त से मुक्त तथा विधि एवं निषेध में एकरूप ब्रह्म ही है, यही सर्वत्र विस्तृत है ॥६॥ जीवन, मरण, सत्य, असत्य, शुभ, अशुभ जो कुछ है वह सब एक, अज निर्मल चिदाकाशरूप ऐसे है, जैसे तरंगों का समूह जलरूप ॥७॥ ब्रह्म का जीवरूप से विभाग कल्पित होने पर वह एक ही वस्तु चिदंश की प्रधानता से द्रष्टापन और सदंश की प्रधानता से चिदंश को तिरोहित (छिपा) कर दृश्यपन धारण करती है । इस प्रकार की कल्पना स्वप्न नगर आदि में अनुभूत होती है, वहाँ पर व्यावहारिक जीव से प्रातिभासिक जीव का विभाग करने पर निद्रा से तिरोहित हुआ व्यावहारिक जीव स्वप्न का जीव, दृश्य, नगर आदिरूप बन जाता है ॥८॥ इस तरह जगत् स्वच्छ ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ, वही स्वप्ननगर के सदृश परम चिदात्मरूप निर्मल आकाश में भासता है, अतः प्रथम निष्प्रपंच जो ब्रह्म है, वही जीवात्मक विभाग से इस जगद्रूप से स्थित है, हे श्रीरामजी, यह आप अवश्य जान लें ॥९॥ हे श्रीरामजी, इन सब बातों से यह आप अच्छी तरह जान लीजिए कि यह सर्वात्म जगतस्वरूप पहले जैसा निष्प्रपंच ब्रह्मरूप था, वैसा ही सदा रहेगा । इस तरह निष्प्रपंचस्वरूप शाखा और चन्द्र दोनों के दर्शनकाल में इनके मध्य में दर्शन से अभिव्यक्त चेतन प्रसिद्ध ही है ॥१०॥ शान्तों में परम शान्त चेतनाकाश का मध्य में उक्त रीति से प्रसिद्ध जो निर्विषय रूप है, वही जगत् के रूप से ऐसे भासता है, जैसे तरंगादि के रूप से जल भासता है ॥११॥

सारा जगत् निर्विषय चैतन्य से अभिन्न है, यह कहते हैं ।

जो कार्यरूप से उदित होता है और कार्यरूप से उदित नहीं भी होता है । जो कारणरूप से उदित है और कारणरूप से उदित नहीं भी है, वह जगत् प्रमातृ चैतन्य के एक देश से दूसरे देश तक जाने पर जो उसका विषयशून्य मध्यमभाग है, उससे भिन्न नहीं है ॥१२॥ इसलिए इस सृष्टि का खरगोश के सींग के सदृश कोई कारण है ही नहीं, प्रयत्न से अन्वेषण करने पर भी इसका कोई कारण नहीं मिलता ॥१३॥ जो किसी कारण के बिना भासित होता है, वह भासित न हुआ ही भासित होता है, वह भ्रमात्मक है, यह समझना चाहिए । भ्रम तो असत्यरूप है, अतः उसकी सत्यता कैसे कही जा सकती है ? ॥१४॥ कारण के बिना कार्य ही कैसे और उसकी सत्ता ही क्या ? यदि दिखाई पड़ा तो वह भ्रम ही है । पुत्ररहित वंध्यापति को स्वप्न में अपने अच्छे पुत्र का जो दर्शन है, वह भ्रम ही है सत्य नहीं है ॥१५॥ जो अकारण भासता है, वह द्रष्टारूप चैतन्य ही अपने स्वरूप का त्यागकर सब रूप से उस प्रकार भासता है, जिस

प्रकार संकल्प से गन्धर्वनगर आदि भासते हैं ॥१६॥

द्रष्टारूप चेतन कहाँ अपने स्वरूप को छोड़कर प्रकाशता है, इस पर कहते हैं ।

क्षणभर में शाखाप्रदेश से चन्द्रमा के प्रदेश तक गये हुए प्रमातारूप चेतन के मध्य का जो स्वरूप है, वही अपने निष्प्रपंच स्वरूप को न छोड़कर ही प्रकाशता है, क्योंकि वहाँ बीज में परमार्थरूप और आदि अन्त भाग में विवर्तरूप दोनों प्रकाशते हैं ॥१७॥

अर्थसत्ता न रहने पर भी बोध अर्थाकार से प्रकाशित होता है, इस विषय में दृष्टान्त देते हैं ।

बोध ही अर्थ के रूप में स्फुरित होता है, वह आकाश से भी अतिसूक्ष्म है, इस विषय में स्वप्न और संकल्प का पर्वत दृष्टान्त है, जिसका सभी ने भीतर अनुभव किया है ॥१८॥

बोध ही अर्थों के रूप में विकसित होता है, ऐसी कल्पना क्यों करते हैं, वटबीज के भीतर सूक्ष्मरूप से स्थित वृक्ष के सदृश बोध के अन्दर स्थित जड़ात्मक प्रपंच पहले से ही बोध में रहता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं करते ? यों श्रीरामभद्र शंका करते हैं ।

श्रीरामभद्र ने कहा : ब्रह्मन्, जैसे वटबीज के भीतर भावी महावृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही बोधात्मक परमाणु में भी यह सारी सृष्टि क्यों नहीं रह सकेगी ? ॥१९॥

साकार बीज में पहले भीतर निराकार वट था, इसलिए वह पृथ्वी, जल आदि सहकारी कारणों की पास में स्थिति हो जाने पर अंकुर आदि क्रम से उत्पन्न हुआ, यह बात तो मानी जा सकती है, परन्तु जगत् का जब महाप्रलय हो जाता है, तब न तो कोई साकार वस्तु रहती है और न सहकारी कारण ही प्रतीत होते हैं, इसलिए आपका दृष्टान्त नहीं घटता, यों महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जहाँ बीज है, वहाँ पर तो उससे बड़ी-बड़ी शाखाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वे विस्तृत शाखाएँ सहकारी कारणों से उत्पन्न होती है ॥२०॥ परन्तु सम्पूर्ण भूतों का जब प्रलय हो जाता है, तब कौन-सा साकार बीज होगा और उसका सहकारी कारण कौन होगा, जिसके प्रभाव से जगत् उत्पन्न हो ? ॥२१॥

जगत्-शक्ति से युक्त ब्रह्म ही बीज होगा, इस पर कहते हैं ।

जो ब्रह्मवस्तु है, वह तो असल में परमशान्त है, उसमें आकार की कल्पना ही कैसी ? उसमें परमाणुत्व का भी जब योग (सम्बन्ध) नहीं हो सकता, तब आकार की कल्पना तो दूर ही चली गई, इसलिए ऐसी वस्तु में बीजरूपता आ ही नहीं सकती ॥२२॥

इसीलिए कारण का असंभव है, यह पहले कहा गया है, यों कहते हैं ।

इस रीति से सत्य और मिथ्या को एकरूप बनानेवाले बीजरूप कारण का सर्वथा असंभव है, इससे जगत् की सत्ता किस प्रकार की, किससे, कहाँ और क्या होगी, क्योंकि उसको करनेवाला तो कोई है नहीं ॥२३॥

'अणुः पन्थाः विततः' इत्यादि श्रुति प्रमाण से ईश्वर में अणुत्व की कल्पना यद्यपि हो सकती है, तथापि उसमें जगत् की स्थिति मानना अनुचित है, यह कहते हैं ।

परमाणुरूप आत्मा के अन्दर सूक्ष्मरूप से जगत् है, यह कहना अनुचित ही है, क्योंकि सरसों के कण के अन्दर सुमेरु पर्वत है, यह अज्ञानियों की ही कल्पना है ॥२४॥

यदि यह कहिए कि जगत् भी निराकार है, तब तो बीज आदि का अभाव होने से अनायास ब्रह्मरूपता ही फलित हो जाती है, यह कहते हैं ।

बीज की सत्ता होने पर ही कार्य, कारण आदि के ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु निराकार वस्तु का कौन–सा बीज और कहाँ उसमें जन्य–जनक का क्रम ? ॥२५॥ इसलिए जो परम ब्रह्मतत्त्व है, वही यह जगद्रूप बनकर स्थित है, यह आविर्भूत होकर न तो कुछ स्वरूप बतलाता है और न कुछ नष्ट ही होता है ॥२६॥

तब वह क्या चीज है, उसे कहते हैं ।

चिदाकाश ही (आकाशवत् निर्मल चिति ही) चिदाकाशरूप हृदय चितिरूप होने के कारण जगद्भ्रम को अशुद्ध में अशुद्ध–सा और शुद्ध में शुद्ध–सा देखता है ॥२७॥ वायु में स्पन्द की नाईं चिदाकाश में उसका स्वरूप चिदाकाशरूप ही भासित होता है, अतः हम लोगों की कोई भी सृष्टि–शब्दार्थ की कल्पनाएँ यहाँ अपना अस्तित्व नहीं रखतीं ॥२८॥ जैसे आकाश में आकाशरूप शून्यता अथवा जैसे जल में जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही आत्मा में आत्ममय स्वविवर्तरूप यह विशुद्ध सर्गता (सृष्टिरूप) है ॥२९॥

तब अविवर्त कैसा है, इसे कहते हैं ।

भद्र, हम लोगों का विस्तृत यह जो जगत् है, वह प्रकाशमय, अपरिमित शान्त ब्रह्म ही है, वह आदि और अन्त से शून्य और त्रिकाल में भी बाधित नहीं है, न तो उसका उदय होता और न अस्त ही होता है ॥३०॥

ऐसी प्रपंचरहित वस्तु की अप्रसिद्धि शंका तो बहुत स्थानों में निवृत्त की है, इसका स्मरण कराते हैं ।

क्षणभर में शाखादेश से चन्द्रप्रदेश तक प्रमातृचैतन्य के जाने पर उसका बीचवाला जो सर्वोपद्रवशून्य निर्विषयस्वरूप है, वही यह जगत् सा बन गया है । इससे चिदाकाश में वह व्यवस्थित है ॥३१॥ जैसे वायु में स्पन्दन, जैसे जल में द्रवत्व है और आकाश में शून्यत्व प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत् आत्मा में प्रतीत होता है, इसका किसी अन्य पदार्थ से सम्बन्ध नहीं है, यह असंग अद्वय आत्मरूप ही है ॥३२॥

जगत् चिन्मात्रस्वभाव है, यह जो सब तरह से कहा गया है, उसे इकट्ठा करके उपदेश देते हुए उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपने परमार्थस्वभाव में स्थित हुआ जगत् सत्–स्वरूप है । चिदाकाश शून्यभावापन्न प्रसिद्ध आकाशस्वरूप ही है, यह तो किसी तरह नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यरहित यानी सूर्य के उदय और अस्त से निर्मुक्त तथा अपने स्वरूप में अवस्थित आकाश कहाँ प्रसिद्ध है, सच्चित्स्वभाववाला या सूर्य आदि से रहित आकाश प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि जड़ आकाश ही प्रसिद्ध है। अपितु सच्चित्स्वभावभूत जो तत्त्व है, उससे सम्बद्ध ही सम्पूर्ण दृश्यों का भान होता है, अतः सम्पूर्ण जगत् उस तत्त्व का ही अंगभूत है, शून्यात्मक आकाश का अंग नहीं है, इसलिए सच्चिदात्मा से अनन्य है । इन सब बातों से आप समस्त कल्पनाओं का परित्यागकर एकमात्र आकाशस्वरूप होकर ही स्थित रहिए ॥३३॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

अन्य की भावना से अपने को अन्यरूप देखती हुई जगत् के रूप में
स्थित चिति स्वभावना से तो अनन्यरूप ही है, अतः जगत् वास्तव में परमार्थमय है, यह वर्णन।

पूर्वोक्त युक्तियों से जगत् ब्रह्म से जब अत्यन्त अभिन्न है, तब फलित यह हुआ कि उसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, उत्पत्ति, विनाश, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदि से युक्त ये जगत् सृष्टि के आदि में पहले ही उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि इनको पैदा करनेवाला कोई कारण उस समय रहता ही नहीं ॥१॥

उत्पत्तिवाद में तो अवश्य ही बीज बतलाना चाहिए, परन्तु वह बतलाया जा ही नहीं सकता, यों जो बार–बार कहा गया है, उसीका स्मरण कराते हैं ।

आकार के बिना चितितत्त्व कहीं पर भी कारणरूप नहीं हो सकता, जैसे साकार वृक्षों को साकार बीज उत्पन्न करता है, वैसे ही साकार स्वात्मा ही मूर्त पदार्थों को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु वह साकार तो है नहीं ॥२॥

इसीलिए ज्ञानी पुरुष 'सब जगत् चित्स्वभाव ही है' ऐसी भावना करता हुआ स्थित रहता है, यह कहते हैं।

जितने तत्त्वज्ञानी हैं चितितत्त्वरूप वे सब अपनी आत्मा में ही सब कल्पनात्मक जगत में आत्मरूपता की निरंतर भावना करते हुए स्थित रहते हैं ॥३॥

अतएव अज्ञानी पुरुष ने भी स्वभावकल्पनारूप ही संसार को प्राप्त किया है, यह कहते हैं।

चिदाकाशरूप आत्मा जिस भाव का स्वाद लेता है, वही उस प्रकार सृष्टि प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार शराब की क्षुब्धता से प्रलाप द्वारा अपनी आत्मा से ही शराब पीनेवाला पुरुष अपना

स्वरूपप्राप्त कर लेता है ॥४॥

अतएव अनुत्पन्न अन्य वस्तु के स्वभाव का साक्षात्कार हो जाने पर उसी के रूप में स्थिति होती है, यह कहते हैं।

जब यह सब अनुत्पन्न ही है, है ही नहीं और दिखाई भी देता है, तब इसे आप शान्त, एकरूप ब्रह्म ही समझिए, जो अज्ञानदशा में असत्–सा है ॥५॥

तब उसीने यह जगत् उत्पन्न किया है, यह श्रुतियों का कथन कैसे युक्तिपूर्ण हो सकेगा, इस पर कहते हैं।

जैसे जल में जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही चिदाकाश में चिदाकाशरूप जगत् है । चूँकि उस चिदात्मा के कारण यह अध्यस्त समस्त प्रपंच प्रकाशित होता है, इसीलिए जगत् ब्रह्मरूप ही है और इसका निर्माण भी जगदाकार उस ब्रह्म ने ही किया है, यह श्रुतियों में प्रवाद है ॥६॥

इस प्रवाद को 'अथ रथान् रथयोगान्' इत्यादि श्रुति में स्वप्नद्रष्टा में रथादि सृष्टिकर्तृता के प्रवाद के सदृश ही समझना चाहिए, यह कहते हैं ।

जैसे स्वप्न मे विमल चेतन ही जगत् के रूप में उदित होता है अथवा जैसे काँचदोष से दूषित नेत्रवाले पुरुष के प्रति आकाश में केशोण्ड्रक आदि प्रतीत होते हैं, वैसे ही सृष्टिरूप से भावित चिदाकाश में इस तरह का विचित्र सादिरूप जगत् प्रकाशित होता है ॥७॥ जैसे स्वप्न में जगत्चितिरूप काँच का प्रकाश ही है, वैसे ही जाग्रत अवस्था में भी विचित्र जगत् भी चितिरूप काँच का प्रकाश 'स्फुरण' ही है, इसलिए यह जगत् चिदाकाशमात्ररूप स्थित है ॥८॥

ऐसा मानने पर जाग्रत् और स्वप्न में क्या भेद रहा, इस पर कहते हैं।

सबसे पहले प्रवृत्त हुए हिरण्यगर्भ की सृष्टि में जो चिति का स्वप्न है वह जाग्रत्–शब्द से कहा जाता है और प्रबल रात्रि में प्रवृत्त स्वव्यष्टि–अन्तःकरणमात्र के परिणामरूप सृष्टि में जो चिति का स्वप्न है वह स्वप्नशब्द से कहा जाता है ॥९॥ प्रथम संकल्प ही महाप्रलय तक समस्त पदार्थों के स्वभाव की व्यवस्थापक नियति है । उसीके अनुसार आज भी सुव्यवस्थित पदार्थों की रचना एक तरह से पहले की नाईं बह रही नदियों की तरंग रेखा है वही प्रत्यक्ष सिद्ध होती है ॥१०॥

ऐसी स्थिति में जैसे तरंगों की सत्ता जल सत्ता से भिन्न दूसरी नहीं है, वैसे ही जगत् की सत्ता भी चिति की सत्ता से भिन्न दूसरी नहीं है, इस आशय से ब्रह्मोपादानकत्व का प्रवाद है, यह कहते हैं ।

जैसे जलतरंगों की शोभा ही नदियों की रचना को प्राप्त हुई है यानी नदियों की सत्ता जलतरंग शोभा की सत्ता से पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाश के भीतर विद्यमान चितिरूप बीजसत्ता ही सृष्टिरूपता को प्राप्त हो गई है यानी सृष्टि की सत्ता चितिसत्ता से अतिरिक्त नहीं है, यह तात्पर्य है ॥११॥

इस तरह जगत् की अलग सत्ता न होने के कारण जन्म-मरण की भीति आ ही नहीं सकती, किन्तु दोनों प्रसंगों में सुख ही सुख है, ऐसा कहते हैं ।

यदि मृत व्यक्ति की आत्यन्तिक असत्ता मान ली जाय, तो भी ब्रह्मानन्द की सत्ता के ही व्यक्ति और व्यक्तिनाश की सत्ता के रूप से अवशिष्ट होने से सुषुप्ति अवस्था में प्रसिद्ध निरतिशयानन्दरूप सुख ही उसे प्राप्त हुआ और मर जाने के बाद फिर जो देहादिरूप संसार प्राप्त होता है, वह उसका नवीन संसाररूप सुख भी ब्रह्मसुखरूप ही है, इसलिए सुखसत्ता से अतिरिक्त किसी सत्ता के न रहने से भय की प्राप्ति ही नहीं हो सकती ॥१२॥

मर जानेवाले व्यक्ति को कुकर्मजनित नरकप्राप्ति की संभावना से भय क्यों नहीं होगा ? इस आशंका को उठाकर कहते हैं ।

कुकर्मों के कारण नरक आदि का जो भय है, वह तो यहाँ जीनेवाले को और परलोक में मरनेवाले को समान ही है, नरक आदि दुःख और जीवन की ब्रह्मसुख सत्ता से अतिरिक्त भिन्न सत्ता न होने के कारण दुःख की स्थिति भी सुखसत्ता से है, इसलिए उनमें विशेष (भेद) नहीं है । अतः सभी के मरण और जन्म समान सुखवाले हैं ॥१३॥ भले ही मरण हो या भले ही जीवन हो इन दोनों की जो वासनाएँ हैं यानी उनकी सूक्ष्मरूप से विद्यमान जो सत्ता है, वह ब्रह्मसुखरूप ही है, अतः वे भी ब्रह्मसुखरूप ही है, इसलिए ब्रह्मसुख में विश्रान्ति पानेवाले जो धीर वीर है, वह अन्दर से शीतलात्मा है, यह कहा जाता है ॥१४॥ जितने प्रकार के भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं, उनका अस्त हो जाने पर पुरुष को जो एकरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है, इससे दृश्य पदार्थों की पृथक् सत्ता का विनाश हो जाता है और पुरुष मुक्त कहा जाता है ॥१५॥

इस तरह पुरुष को जब यह ज्ञान हो जाता है कि विषयों की सत्ता त्रिकाल में है ही नहीं, तब उसकी दृष्टि में ब्रह्मरूप से सृष्टि की पारमार्थिक सत्ता और स्वतःअसत्ता बन जाती है । उस समय सब दृश्य का ज्ञान निर्विषयक ही उदित होता है, इसलिए ऐसे पुरुष में मुक्तरूपता भलीभाँति आ जाती है ॥१६॥ जो स्वयं चेत्यरूप (विषयरूप) नहीं है, जो चितिक्रियारूप नहीं है, जो चितिक्रिया से प्रकाशित भी नहीं होता, ऐसे ब्रह्मरूपता के साथ एकरूप बन गये तत्त्वज्ञानी पुरुष परमशान्ति से युक्त होकर व्यवहार में विद्यमान रहते हैं ॥१७॥ अतिस्वच्छ चिदाकाश में जो चिति का निरन्तर प्रकाशन होता है, वही तो जगत्-शब्द से कहा जाता है, इसलिए उसमें बन्धन और मुक्ति की दृष्टियाँ ही कैसे ? ॥१८॥

भद्र, संकल्प के स्वरूप से बना हुआ यह जगत् केवल चिदाकाश का स्पन्दनस्वरूप ही है, अतः वह त्रिकालअबाधित ब्रह्ममय है, न कि कहीं पृथ्वी आदिमय है ॥१९॥ यहाँ न देश है, न काल है, न द्रव्य है, न क्रिया है, न आकाश है, किन्तु प्रतिभासरूप से ही यह सब उत्पन्न है, इसलिए सत्-सा प्रतीत होता है । प्रतिभासरूप से उत्पन्न भी वास्तव में यह अनुत्पन्न है, अतः असत्य ही

है ॥२०॥ इस प्रकार परमार्थघनरूप केवल ब्रह्म ही इस जगत् के रूप में भासता है, ब्रह्म न शून्यरूप है और न अशून्यरूप है, वह आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ है ॥२१॥ स्वप्ननगर के सदृश साकार होता हुआ भी ब्रह्मचैतन्य वास्तव में निराकार है, निराकार होता हुआ ही अतिभास्वर यानी प्रकाशमय है और अतिस्वच्छ एकमात्र चितिस्वरूप होने के कारण अतिविस्पष्ट है ॥२२॥

हे श्रीरामजी, चिदाकाश के अन्दर जगदात्मक जो कलुषित स्वरूप है, वह कहे गये मार्ग से अकलुषित होकर व्यापक निर्वाणरूप ही बन जाता है । यह निर्वाणरूप आत्मतत्त्व कहीं पर उपलब्ध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, किन्तु सर्वत्र उपलब्ध होता है । यह जगत् नाना (भिन्न) नहीं है, किन्तु आकाश में शून्यरूप के सदृश तथा समुद्र में द्रवत्व के सदृश अभिन्न है यानी ब्रह्मरूप ही है ॥२३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

चिति ही सब कुछ है और सर्वत्र ही सर्वात्मक चिति है,
इस निश्चय को दृढ़ बनाने के लिए पाषाणआख्यायिका का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चिन्मय आकाश में सर्वत्र और सदा सब कुछ किसी प्रकार के संकोच के बिना विद्यमान है ही, परन्तु वह है सर्वथा स्वच्छ। ब्रह्म जगत् के मल से ऐसे दूषित नहीं होता, जैसे नीलरूप से भासमान शून्यता अपने मल से आकाश में मलिनता पैदाकर उसे दूषित नहीं करती ॥१॥

इस अर्थ में युक्ति दिखलाते हैं ।

भद्र, जहाँ चिति है, वहाँ पर ही जगत् की शोभा है, चाहे पृथ्वी आदि पदार्थ हो, चाहे आकाश हो सर्वत्र चित् विद्यमान है, क्योंकि सभी पदार्थ तो चितिरूप हैं, अतः कहीं पर चित् नहीं है यह नहीं हो सकता ॥२॥

सबकी चिन्मात्रता स्वप्न में प्रसिद्ध है, इसलिए उसको दृष्टान्त बनाकर जाग्रत में भी पदार्थों की चिन्मात्रता सिद्ध करते हैं ।

जैसे स्वप्न में पर्वत आदि तथा नगर आदि पदार्थ केवल चिदात्मरूप हैं, वैसे ही जाग्रत में भी ये पृथ्वी आदि तथा नगर आदि पदार्थ केवल चिदात्मरूप हैं, परम चिदात्मरूप ही हैं ॥३॥ हे श्रीरामजी, इस विषय में प्रथम मुझसे ही दृष्ट एक पाषाणाख्यायिका है, वह सब रसों से पूर्ण और भ्रान्तिरूप रोग की तो बड़ी भारी औषधि है, बड़ी ही विचित्र तथा प्रस्तुतोपयोगी है, उसे आप सुनिये ॥४॥ श्रीरामभद्र, किसी समय की बात है–मैंने ज्ञानयोग्य वस्तु का ज्ञान कर लिया था और मेरा मन भी पूर्ण हो चुका था, अतः उस समय मैंने घने भ्रम से भरे इस लोकव्यवहार को छोड़ देने

की इच्छा की ॥५॥ तदनन्तर समाधि में एकनिष्ठा प्राप्त कर धीरे–धीरे दीर्घकाल तक विश्रान्ति पाने के निमित्त मैंने सब प्रकार की चंचलता का त्यागकर एकान्त स्थान की अभिलाषा की और शान्ति की ओर जाने लगा ॥६॥ शान्ति की ओर गमन कर रहा किसी देवता के स्थान में स्थित मैं जगत् की विलक्षण भंगुर गतियों को देखते हुए यह सोचने लगा ॥७॥ यह जो लोकों की अवस्था है, वह वस्तुतः नीरस ही है, केवल ऊपर ऊपर से सुन्दर लगती है, इसलिए मैं मानता हूँ कि यह किसी को, कहीं, किसी हेतु से किसी समय भी सुखकारक नहीं हो सकती ॥८॥

लोकस्थिति सुखद नहीं है, इतनी ही बात नहीं है, किन्तु असीम दुःखदायी भी है, यह कहते हैं ।

तीव्र खलबली और खेद उत्पन्नकर ये इष्ट–अनिष्ट फल देने वाली दृश्यदृष्टियाँ द्रष्टा के भीतर उद्वेग ही उत्पन्न करती हैं ॥९॥ यह क्या दिखाई देता है, कौन देखनेवाला है और मैं ही कौन हूँ अर्थात् ये सब तुच्छ हैं । कोई नहीं है, सब कुछ शान्त, अज चिदाकाशरूप ही केवल चिदाकाश में थोड़ा–सा रेंगने वाला विवर्त बन गया है ॥१०॥ श्रीरामचन्द्रजी, यह सब विचारकर अन्त में उसीके कारण समस्त सिद्ध, इन्द्र, देव, दैत्य आदि द्वारा दुर्गम एक अच्छे प्रदेश में जाकर अपनी देह को अपने आप ही अन्तर्धान के उपायों से छिपाकर (सुरक्षित बनाकर) मैं सब प्राणियों की आँखों से ओझल हो जाऊँ और निर्विकल्प समाधि लगाकर एकरूप अद्वितीय स्वच्छ शान्त पद में सब विकल्पों से निर्मुक्त हो स्थित हो जाऊँ ॥११,१२॥ मुझे जहाँ समाधि लगानी है; वह उत्तम प्रदेश कौन हो सकता है, क्योंकि वह प्रदेश अत्यन्त शून्यरूप और समाधि के लिए उपयोगी होना ही चाहिए । उस प्रदेश में बाह्य अर्थों के विज्ञान, जो पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण पाँच प्रकार के हैं, रहने भी नहीं चाहिए॥१३॥

पर्वत, शिखर आदि अनेक एकान्त प्रदेश समाधि के लिए है ही, फिर उनमें ही वास क्यों न किया जाय, इस पर कहते हैं ।

विक्षेप पैदा करनेवाले शब्दों से आक्रान्त अरण्य, जल, मेघ एवं सिंह आदि प्राणियों से चारों ओर व्याकुल पर्वतों को मैं अपना शत्रु ही समझता हूँ, क्योंकि वे उनसे स्वयं ही क्षुब्ध होकर दूसरों को क्षुब्ध कर देते हैं, अतः वे प्रतिकूल हैं ॥१४॥ बड़े–बड़े पर्वतों के अनेक तरह के बीचवाले प्रदेश तो भील आदि जनों से वेष्टित है और वे सब विषयरूप सर्पों से दूषित होने के कारण विषमय ही है ॥१५॥ अनेक तरह के बड़े–बड़े समारोहों से क्षुब्ध नागरिक जनों से युक्त नगर जैसे समाधि के प्रतिकूल हैं, वैसे ही विविध समारम्भों से पूर्ण (व्याप्त) जलचरों से जलाधार सागर भी समाधि के प्रतिकूल हैं ॥१६॥ पर्वततट, जलतट, लोकपालों के नगर, शिखर, पातालों के कुहर आदि सब अनेकविध प्राणियों से व्याकुल ही हैं ॥१७॥

पर्वतों की गुफाओं का तब सेवन करना चाहिए, इस पर कहते हैं ।

बड़े–बड़े पर्वतों की गहन छिद्रवाली गुफाएँ तो वायुओं के भाँकारशब्दों से गान करती हैं, लतिकारूपी हाथों से नृत्य करती हैं और वनवृक्षों के फूलों से हँसती हैं, अतः वे भी विक्षेपकारक ही हैं ॥१८॥

तब बड़े–बड़े सरोवर ही, जिनको दक्षिणपथ में सरसी कहते हैं, अपने तट पर समाधि के कारण होंगे ? इस पर कहते हैं।

दर्प और भय से व्याकुल मौनी मीन एवं मुनियों के स्पर्श से यानी क्रीड़ा, स्नान आदि के अभिघात से कम्पनशील नालदण्डों के कारण चंचल हुए कमलों से युक्त सरोवर तो जलावर्तों के द्वारा शब्द (कल्लोल) करते रहते हैं, अतः वे समाधि के भंग में ही कारण हो जाते हैं, इसलिए मैं उन्हें भी नीरस ही समझता हूँ ॥१९॥

तब झरने की भूमि आपके समाधि में उपयोगी होगी, इस पर कहते हैं।

भद्र, जिसमें वायु के स्पर्श से क्षुब्ध हुए तृण और धूलिरूपी पताकाएँ विद्यमान हैं, ऐसा झरने का प्रदेश भी विक्षेप का निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रदेश वायु के भाँकार शब्दों से निरन्तर झाँय–झाँय शब्द का रटन करता रहता है ॥२०॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकला कि आकाश ही सब विक्षेपों के उत्पादक हेतुओं से रहित है, इसलिए वही शरण है, ऐसा कहते हैं ।

इसलिए मैंने सोचा कि यह चारों ओर से विक्षेपकारणों से रहित आकाश ही मेरी समाधि के लिए परम उपयोगी है, इस आकाश के किसी दूरवर्ती कोने में परम विशुद्ध आनन्दित योगयुक्ति का अवलम्बन कर मैं यहाँ स्थित रहूँ ॥२१॥ इसके किसी एक कोने में कल्पना से एक कुटिया का निर्माणकर उसके भीतर वासनारहित तथा वज्र के उदर के सदृश दृढ़ होकर मैं बैठूँ ॥२२॥ उस प्रकार विचारकर तलवार की धार के समान निर्मल आकाश की ओर मैं जब बढ़ा, तब क्या देखता हूँ कि यह भी पूर्णरूप से हजारों विक्षेप के कारणों से व्याप्त पेटवाला ही है ॥२३॥ कहीं तो सिद्धों का गण घूम रहा है, कहीं पर तो बड़ी–बड़ी भयंकर गर्जनाओं से युक्त मेघमण्डल है, कहीं पर तो विद्याधरों की बैठक जमी है, कहीं पर यक्षों के द्वारा विशिष्ट स्थान पड़ा है ॥२४॥ कहीं पर सुन्दर नगरों के नगर ही घूम रहे हैं, कहीं पर युद्ध का ही आरम्भ हो गया है, कहीं पर मेघ ही बरस रहे हैं, कहीं पर तो रौद्ररूप धारण की हुई योगिनियाँ विद्यमान हैं ॥२५॥ कहीं–कहीं पर आसन्न दैत्यनगरों के कारण गन्धर्वयुक्त देवनगर उड़ रहे हैं, कही पर ग्रहमण्डल घूम रहा है, कहीं पर तो वह तारों से व्याकुल हो रहा है ॥२६॥ कहीं पर तो आकाश में पक्षियों द्वारा आक्रान्त स्थान है, कहीं पर क्रुद्ध भयंकर झंझावात है, कहीं पर उत्पातयुक्त स्थान है, कहीं पर मेघादि मण्डलों से व्याप्त है ॥२७॥ कहीं पर अपूर्व चित्रविचित्र भूतों का समूह (पिशाचसंघ) पड़ा है, कहीं पर नगरों के समूह के समूह पड़े हैं, कहीं पर सूर्य के रथों से आक्रान्त है, कहीं पर तो चन्द्र आदि के रथों के कारण आक्रान्त

बना है ॥२८॥ कहीं पर तो सूर्य की सन्निधि के कारण दाह से प्राणी मर रहे हैं, कहीं पर तो शिशिर ऋतु की शीतता के कारण लोग आक्रान्त है, कहीं पर भूत–प्रेत आदि के कारण बीभत्स प्रतीत हो रहा है, कहीं पर अग्नि की उष्णता से दुर्गम है ॥२९॥ कहीं पर भयंकर लम्बे वेताल हैं, कहीं पर गरुड़ों से भयंकर है, कहीं पर प्रलय लिये मेघ बरस रहे हैं, कहीं पर प्रलय लिये पवन बह रहे हैं ॥३०॥ भद्र, यह सब तमाशा देखकर उन भूतगणों को छोड़कर मैं दूरातिदूर एकान्त स्थान में पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत तथा शून्य था ॥३१॥

श्रीरामजी, उस प्रदेश में अत्यन्त मन्द पवन बह रहा था, स्वप्न में भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे, शुभचिन्ह और अशुभ चिन्हों से रहित तथा संसारियों को वह अगम्य था, यह जान लीजिये ॥३२॥ राघव, उस शून्य प्रदेश में मैंने अपने सत्य संकल्प से एक कुटी का निर्माण किया, उसकी कोठरियाँ बड़ी ही स्वच्छ बनी थी, छिद्ररहित दीवारों के कारण निबिड़ तथा कमल की कली के सदृश वह सुन्दर लगती थी ॥३३॥ वह मनोहर तो ऐसी लगती थी मानों पूर्णचन्द्रबिम्ब में घुनने छेद बना दिया हो, उसे कह्लार, कुन्द और मन्दार के फूलों की शोभाओं से सजाया ॥३४॥ पहले तो मैंने अपने अन्तःकरण से उसकी समस्त भूतों द्वारा अगम्यता बना ली, फिर सब भूतों की अगम्य उस कुटिया में मैं प्रविष्ट हो गया ॥३५॥ तदनन्तर वहाँ मैंने पद्मासन बाँध लिया, मन को शान्त कर लिया और उत्तम मौन व्रत धारण किया । फिर यह निश्चय किया कि मैं एक सौ वर्षों के बाद अपनी समाधि से उठूँगा । यह निश्चय कर निद्रा की मुद्रा के सदृश निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गया, उस समय मेरी वृत्ति एक थी, निर्मल आकाश के सदृश मैं अपने स्वरूप में था और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं आकाश से ही वेष्टित हो गया हूँ ॥३६,३७॥

सौ वर्षों के बाद समाधि से व्युत्थान का कारण बतलाते हैं ।

भद्र, दीर्घकाल तक मन जिसका स्मरण करता है, उसको वह तत्काल ही देखता है, इस अकाट्य नियम के अनुसार सौ वर्ष के दीर्घकाल के बाद जब चित् आशा (दिशा) और पवन व्यक्ति के सदृश विशाल हुआ, तब समाधि टूटने में कारण भूत कर्म हृदय में एक समय पैदा हो गया, उस बीजरूप कर्म का भीतरी भाग ढका हुआ था । अनन्तर ज्ञातव्य वस्तु जानकर मेरा जीव समाधि से ऐसे प्रबुद्ध हो गया, जैसे शिशिर में क्षीण शरीर हुए वृक्ष का रस चैत्र मास में (वसन्त में) प्रबुद्ध हो जाता है । वहाँ पर वे मेरे सौ वर्ष एक निमेषमात्र के सदृश व्यतीत हो गये, क्योंकि एकाग्रचितवाले पुरुष के लिए बहुत काल की गतियाँ भी अत्यन्त स्वल्प हो जाती हैं ॥३८–४१॥

उसके बाद क्या हुआ, इसे बतलाते हैं ।

जैसे वृक्षों के मद का यानी पल्लव आदि की पुष्टि के हेतुभूत हर्ष का कारणभूत भीतरी वसन्तकाल का रस पुष्परूप से बाहर आता है, वैसे ही धीरे धीरे विकास प्राप्तकर बुद्धि–इन्द्रियों की परम्परा बाहर की ओर प्रवृत्त हो गई ॥४२॥

उसके बाद क्या हुआ, यह कहते हैं।

तदनन्तर पाँच वृत्तिवाले प्राणवायु से तथा इन्द्रियों से पूर्ण अतएव आविर्भूत जीवरूप चिति–अंश से युक्त देहवाले अभ्यागत मुझको देखकर 'त्वम्' 'अहम्' रूप से प्रसिद्ध अहंकाररूप पिशाच, इच्छारूपी अपनी पत्नी पिशाची के साथ किसी भी अतर्कित प्रदेश से मेरी सन्निधि में ऐसे शीघ्र आ धमका, जैसे उग्र शाल्मली आदि वृक्षों की सन्निधि में ऊँचे वृक्षों को नमन करानेवाला प्रचण्ड पवन आ धमकता है ॥४३॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

ज्ञानी और अज्ञानी के अहंकार के विशेष ज्ञान के लिए ज्ञान से बाधित हुए दृश्यप्रपंच की चिन्मात्रता का समर्थन।

'मां...अहमिति प्रसृतः पिशाचः' इस कथन तथा 'प्रोन्नामसन्नमन वायुरिवोग्रवृक्षम्' इस दृष्टान्तोक्ति से महाराज वसिष्ठ को भी अहंकाररूपी पिशाच द्वारा बाधा पहुँचायी गई, ऐसा हो जाने से ज्ञानफल की अनित्यता की संभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, निर्वाण प्राप्त किये हुए आपको भी क्या अहंकाररूपी पिशाच बाधा पहुँचाता है ? मेरे सन्देह की निवृत्ति के लिए यह मुझसे कहिये ॥१॥

एकमात्र प्रारब्धशेष का भोग ही प्रयोजन होने से जले हुए वस्त्र–जैसे देहधारण के निमित्त केवल अहंकारआभास की प्रतीति होने से अज्ञानियों की तरह ज्ञानियों को संसारबन्धन की प्राप्ति नहीं होती, यह दिखलाने के लिए महाराज वसिष्ठजी अज्ञानी के अहंकार की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी के अहंकार में निर्दोषता बतलाते हुए उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस संसार मे अहंभाव के बिना तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी दोनों की देह–स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि हे श्रीरामचन्द्रजी, आधेय पदार्थ की निराधार स्थिति कभी नहीं उत्पन्न हो सकती ॥२॥ किन्तु इसमें शान्त चित्तवाले ज्ञानी पुरुष के लिए जो यह विशेष बात है, उसे आप सुनिये, जिसके सुनने से आपका अहंभावरूपी पिशाच शान्त हो जायेगा ॥३॥ इस अज्ञानरूपी बालक ने अपने अन्तःकरण में अविद्यमान ही अहंभावरूपी पिशाच की कल्पना कर रक्खी है, अतः इसीसे यानी एकमात्र अज्ञान के वश से ही यह स्थित है ॥४॥

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी यदि विचारकर देखे तो अज्ञान भी उसे बिलकुल ऐसे उपलब्ध नहीं होता, जैसे दीपधारी पुरुष को अन्धकार का स्वरूप ॥५॥

तथा ज्ञानवानों को ज्यों–ज्यों अपना अनुभव बढ़ता जाता है त्यों–त्यों क्रमशः अज्ञान का नाश भी होता जाता है, यह कहते हैं।

जैसे-जैसे यह अज्ञतारूपी पिशाचिका अनुभव में आरूढ़ होती जाती है वैसे-वैसे विचारित होकर नष्ट होती जाती है ॥६॥ इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अविद्या रहने पर ऐसे बारबार अज्ञता उदित होती है, जैसे रात में बुद्धिविभ्रमस्वरूप देह शून्य यक्षी ॥७॥ अविद्या की सृष्टि रहने पर ही उसका अस्तित्व भी है, अन्य किसी दूसरे कारण से कहीं नहीं है । द्वितीय चन्द्रमा के रहने पर ही द्वितीय खरगोश दीख पड़ता है ॥८॥

ऐसा ही सही, पर इससे प्रकृत में क्या आया, इस पर कहते हैं ।

अज्ञानी द्वारा ज्ञात यह संसार उत्पन्न न होने से नहीं है, क्योंकि आकाश वृक्ष के समान कारण न रहने से यह पहले से ही उत्पन्न नहीं हुआ है ॥९॥

कारण के अभाव का उपपादन करते हैं ।

जब चिदाकाश कोश के भीतर स्थित आदि सृष्टि ही निर्विकार ब्रह्मरूप है तब पृथिवी आदि की प्राप्ति का कौन-सा कारण हो सकता है ?॥१०॥ मन को लेकर छः इन्द्रियों से ज्ञात न होनेवाला निराकार ब्रह्म मनयुक्त छः इन्द्रियों से ज्ञात होनेवाले साकार जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? ॥११॥ बीजरूप कारण से अंकुररूप कार्य उत्पन्न होता है, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है । फिर जहाँ पर बीजरूप कारण है ही नहीं, वहाँ पर अंकुर कैसे उत्पन्न होगा ? ॥१२॥ कारण के बिना कार्य नहीं होता, यह तो सभी को विदित है । आकाश में लहलहा रहे प्रत्यक्ष वृक्ष का किसने कब अवलोकन या ग्रहण किया है ? ॥१३॥

यदि वह सृष्टि उत्पन्न ही नहीं है, तो फिर कौन उस रूप से भासता है, उसको दृष्टान्तपूर्वक बतलाते हैं ।

जैसे संकल्प द्वारा आकाश में वृक्ष आदि दिखाई देते है, वैसे ही संकल्पमय यह संसार भी है । इसमें वस्तुतः पदार्थता नहीं है ॥१४॥ एवं सृष्टि के आरम्भकाल में जो यह अर्गलाशून्य सृष्टि की स्थिति चिदाकाश में अनुभूत होती है, वह भी आकाश में शून्यरूप वृक्षादि के सदृश ही है ॥१५॥

तब क्या एकमात्र शून्य ही सृष्टिरूप से भासित होता है, इस पर नहीं यह उत्तर देते हैं ।

विषयसृष्टि के आकार से रहित चिदाकाश ईश्वर ही अपने स्वभाव में सृष्टिरूप से स्फुरित होता है । सर्गनामक चितिस्वभाव ही चिद्रूप होने के कारण ईश्वर चैतन्य है, इसलिए चिति ही सृष्टिरूप से भासित होती है, न कि शून्य॥१६॥

अविकृत ब्रह्म ही विकृत जगद्रूप से जो स्फुरित होता है उसमें, स्वप्न का स्वात्मा ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं ।

प्रतिदिन जो अनुभूत होता है वह स्वप्न-सर्ग ही इस विषय में दृष्टान्त है, क्योंकि स्वप्न के विषयों में स्वयं आत्मा ही पर्वत, नगर आदि की आकृतियों में स्फुरित होता है ॥१७॥ जैसे यहाँ स्वप्न में जो सृष्टि-सा प्रतीत होता है वह चित्स्वभाव सृष्टिरहित स्वात्मा में ही विद्यमान है वैसे ही

यहाँ ज्ञान से पूर्व सर्ग–सा जो प्रतीत होता है वह सर्गशून्य चित्स्वभाव महाचिदाकाश में ही प्रतीत होता है ॥१८॥ सृष्टि के प्रारम्भ में विषयज्ञानशून्य, शुद्ध, एक, अज, अव्यय आदि और अन्त से शून्य जो परमात्मा स्थित है वही हमारा सर्गरूप से स्थित है ॥१९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, परब्रह्म परमात्मा में यह सृष्टि नहीं है और न ये पृथिवी आदि लोक ही हैं । सब शान्त, अवलम्बनशून्य एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है ॥२०॥ सर्वशक्तिसम्पन्न वह ब्रह्म जैसे जिस तरह का स्फुरित होता है, वह अपने तुच्छरूप का परित्याग न करते हुए वैसे उस तरह का हो जाता है ॥२१॥ जैसे स्वप्न का नगर प्राणी के लिए चिन्मात्र का विलास ही है । वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में यह सृष्टि भी शुद्ध चिन्मात्र का विलास ही हैं ॥२२॥ स्वच्छ चिद्रूप परमाकाश में जो चिदाकाश स्थित है उसी ने अपने स्वभाव की सृष्टिरूप में भावना की है वही यह सृष्टि है अर्थात् चिद्रूप जो ब्रह्म है उसका स्वभाव ही यह सृष्टि है ॥२३॥

भाव्य, भावक आदि त्रिपुटी भूमियों की एक रस में उत्पत्ति कैसे, इस पर कहते हैं ।

भाव्य, भावक और भाव आदि भूमियों की जो निरन्तर उत्पत्ति है, वह सब स्वच्छ चिदाकाश ही अपनी आत्मा में स्थित है ॥२४॥ ऐसा स्थित होने पर कहाँ से सृष्टि, कहाँ से अविद्या, कहाँ अज्ञता और कहाँ अहंकार आदि स्थित हैं सब शान्त चिद्घन ब्रह्म ही स्थित है ॥२५॥

अज्ञान रहने पर ही अहंभाव बाधा पहुँचाता है, ज्ञान होने पर नहीं, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने आपसे यह अहंकार की शान्ति कही । यह अहंकार भलीभाँति ज्ञात होने से बालकल्पित पिशाच की तरह शान्त हो जाता है ॥२६॥

इससे आपके प्रश्न का समाधान हो गया, यह दिखलाते हैं ।

इस तरह जब इस अहंकार को मैं पूर्णतया जानता हूँ, तब हे श्रीरामचन्द्रजी यह रहनेपर भी मेरे लिए शरत्काल के मेघ के सदृश निष्फल ही रहता है ॥२७॥ चित्रलिखित अग्नि में अध्यस्त दहन क्रिया जैसे दाह्य वस्तुओं में निष्फल होती है, वैसे ही अहंभाव की सृष्टि आदि भी पूर्णरूप से ज्ञात होने पर निष्फलता को प्राप्त होती है ॥२८॥ इस प्रकार समाधिकाल में अहंकार के त्याग तथा व्यवहारकाल में उसके राग में जब मेरी समता है तब सृष्टि की विद्यमान तथा अविद्यमान दशा में मेरी स्थिति ऐसी है, जैसी मेघ, वायु तथा धूप आदि से अवकाशशून्य आकाश की ॥२९॥

एकमात्र सम्बन्धत्याग से भी यह अहम्भाव पीड़ा नहीं पहुँचाता, फिर ज्ञान से बाधित हो जाने पर तो पूछना ही क्या, इस आशय से कहते हैं ।

न तो कोई मैं अहंकार का हूँ और न यह अहंकार ही मेरा कुछ लगता है । यों जानकर हे श्रीरामचन्द्रजी, इस सम्पूर्ण संसार को आप निर्घन चिदाकाश ही जानिये ॥३०॥ यह अहंभावादि बोधविभ्रम जिस तरह मेरी दृष्टि में नहीं है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी और महानुभावों की दृष्टि में यहाँ नहीं है, जैसे कि चित्रगत अग्नि में दाहक्रिया किसी भी विद्वान् पुरुष की दृष्टि में नहीं है ॥३१॥

आप भी मेरे समान ही भीतर से सबका बाध करके अद्वितीय बन जाइये, यह कहते हैं।

वास्तव में तो न मैं हूँ, न कोई अन्य है और न यह सब दृश्य प्रपंच ही है, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी प्रकृत व्यवहार का सम्पादन करते हुए पत्थर के समान मौनमय हो जाइये ॥३२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकाल के लिए सम्पूर्ण भावों का अपह्नव करके अवकाशरहित पत्थर के सदृश बनकर आकाशकोश की तरह निर्मल-आकार से ही आप अपने स्वरूप में स्थित रहिये, क्योंकि इस तरह निश्चित है कि इस सृष्टिकाल में तथा इस सृष्टि के पूर्वकाल में सब कुछ चिन्मय शिव ही स्थित है । इस प्रकार से जो दृश्यप्रपंच दिखाई दे रहा है वह सब कुछ नहीं है ॥३३॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

सम्पूर्ण सृष्टि की शोभा सभी जगह है और नहीं भी है,
इस प्रकार का जो पाषाणाख्यायिका का अर्थ है, उसका दृष्टि भेद से वर्णन।

प्रासंगिक जो जीवन्मुक्त पुरुष के अहंकार की अबाधकता थी, उसका समर्थन किया गया, अब प्रकृत 'सर्वत्र सर्वथा सर्वम्' (सब जगह सब प्रकार से सब कुछ है ।) इस अर्थ की पाषाणाख्यायिका द्वारा जो प्रतिज्ञा की थी, उसे पूछने के लिए भूमका बाँधते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अहो, आपने मेरे उत्कर्ष के लिए फिर एक दृष्टि का (विज्ञान का) उपदेश दिया, यह विज्ञान व्यापक और महान् उदार है, विमल है, विपुल और अचल है ॥१॥ भगवन्, सब कुछ सब जगह सभी प्रकार से सत् है और सब कुछ सब जगह सदा ही सत् है-यह जो विषय प्रस्तुत हुआ था उसका अच्छे अनुभव से यदि विचार किया जाय, तो सम, अविषम एवं एकरस ही पर्यवसित (सिद्ध) होता है, अतः सत्यस्वरूप ही है, क्योंकि जितने धर्म या धर्मी हैं, उनका देश, काल और वस्तुरूप से यदि सर्वात्मकता बन जाय, तो भेद और भेदकत्व आदि की सिद्धि नहीं हो सकती ॥२॥ ब्रह्मन्, अब इस विषय में मुझे जो यह सन्देह है, इसका निवारण कीजिए । भगवन्, यह पाषाणाख्यान किस अंश की समानता लेकर कहा गया है ? व्यावर्तक यानी भेद के हेतु धर्मों से युक्त पदार्थों का ही साधारण धर्म से सादृश्य माना जाता है, यह प्रसिद्धि है, अतः सन्देह का होना स्वाभाविक है ॥३॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, 'सब कुछ सर्वदा सभी जगह है', यह जो प्रतिपादन करना है, इसी अर्थ में पाषाणाख्यायिका का दृष्टान्त दिया गया है, इसका किस तरह सादृश्य घटता है, इसे मैं आपसे कहता हूँ ॥४॥

पाषाणाख्यायिका का मैंने इसलिए आरम्भ नहीं किया है कि हमको पाषाण की समानता

या सब धर्मों का संकर कहना है, किन्तु पाषाण–उदर के अध्यास का अधिष्ठानभूत जो ब्रह्म है, उसमें असंकीर्णरूप से सब जगत् का अध्यास हो सकता है, यों संभावना बतलाने के लिए उक्त दृष्टान्त का उपन्यास है, यह कहते हैं ।

छिद्रों से रहित, अत्यन्त घनीभूत अवयवोंवाले पाषाणोदर में (पाषाणोदराध्यास के अधिष्ठान चेतन में) भी हजारों सृष्टियाँ हैं, यह प्रस्तुत पाषाणाख्यान के द्वारा बतलाया गया है ॥५॥

अथवा भावपदार्थों के उदराधिष्ठानभूत चेतन में जिस तरह हजारों सृष्टियों का सम्भव है, उसी तरह शून्यात्मक आकाशरूप अभावाधिष्ठान चेतन में भी असंकीर्ण रूप से समस्त जगत् का आरोप संभव है, इस आशय से कहते हैं ।

आकाश की शून्यता को न छोड़नेवाले महान् भूताकाश में यानी अभावाधिष्ठानभूत चेतन में भी हजारों सर्गों का आरोप हो सकता है, यह बतलाने के लिए प्रस्तुत कथा कही गई है ॥६॥

इस न्याय की सर्वत्र योजना करनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

गुल्म, अंकुर आदि तथा प्राण, वायु, जल, तेज आदि के उदर में (अधिष्ठान आत्मा में) हजारों सर्ग हो सकते हैं, इस अर्थ को बतलाने के लिए पाषाणाख्यान कहा गया है ॥७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, दीवार, पाषाण आदि के उदर चेतन में अनेक सर्गों का आरोप है, यही अभिप्राय यदि पाषाणाख्यायिका से बतलाया जाता है, तो मैं कहता हूँ कि इसकी अपेक्षा यही अभिप्राय क्यों नहीं बतलाया जाता कि शुद्ध चिदाकाश में हजारों सृष्टियों का आरोप है । तात्पर्य यह है कि दीवार आदि भाव और शून्यात्मक आकाशादि अभाव पदार्थों से युक्त चेतन में सभी सर्गों का आरोप असंकीर्णरूप से हो सकता है, यह यदि आपकी आख्यायिका का अभीष्ट अर्थ है, तब शुद्ध चिदाकाश में सब जगत् का अध्यास है, यही पक्ष क्यों मान न लिया जाय, जिससे कि अध्यस्त जगत् का बाध हो जाने पर शुद्ध ही बच जाता है, यह दूसरी बात भी अनुकूल हो, इस प्रकार की श्रीरामभद्र की आशंका है ॥८॥

ठीक है, आपने जिस पक्ष का शंका में उल्लेख किया है, ठीक यही पक्ष मुख्यरूप से मुझे भी अभिप्रेत है, परन्तु विशुद्ध चिदाकाश का सहसा परिचय हो नहीं सकता, इसलिए परिचयोपायरूप से प्रत्येक भावादि–उपहित चेतन में भी समस्त जगत् का अध्यास (आरोप) है, यह मैंने बतलाया है, इस आशय से उत्तर देते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्–तत् पदार्थों से उपहित प्रत्येक चेतन में समस्त जगत् का आरोप है, यों कहते हुए मैंने आपसे वस्तुतः मुख्य चेतन में समस्त जगत् का आरोप है, इसी का वर्णन किया है, इसलिए जो यह सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह चिदाकाश में चिदाकाशात्मक ही स्थित है ॥९॥

यों जब ब्रह्ममात्रता ही है, तब दृश्य की अनुत्पत्ति ही फलित हुई, यह कहते हैं ।

श्रीरामभद्र, परमार्थदृष्टि से दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ है और आज भी नहीं है, परन्तु जो इसका अवभास होता है, वह ब्रह्म में स्थित ब्रह्म ही है ॥१०॥

आरोपदृष्टि से भूतों के प्रत्येक परमाणु में सबका आरोप कर सब कुछ देखा जा सकता है और अपवाददृष्टि में उससे विपरीत भी देखा जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जो पृथ्वी सृष्टियों से गाढ़भरित (खूब भरी हुई) न हो, ऐसी अणुमात्र भी नहीं है यानी सारी पृथ्वी सृष्टियों से एकदम खचाखच भरी हुई ही है और सृष्टि भी कहीं नहीं है, किन्तु जो है, वे सब ब्रह्माकाशरूप ही है। आरोपदृष्टि से पृथ्वी के प्रत्येक परमाणु में सर्ग के सर्ग भरे पड़े हैं तथा अपवाद दृष्टि में न कोई परमाणु है और न उसमें सर्ग ही भरे पड़े हैं, केवल ब्रह्माकाशमात्र है ॥११॥ ऐसा तेज का कोई भी अणु नहीं है, जिसमें सर्गों की स्थिति न हो और वास्तव में तो कहीं पर भी सर्ग नहीं है, किन्तु सर्गरूप से भासमान सब ब्रह्माकाशमात्र है ॥१२॥ ऐसा वायु का कोई भी परमाणु नहीं है,जो सर्गों सो भरा न हो और वे सर्ग भी वास्तव में नहीं हैं, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्र ही हैं ॥१३॥ अणुमात्र भी आकाश सृष्टियों से रहित हो, ऐसा नहीं है, किन्तु सब सृष्टियों से परिपूर्ण है और वे सृष्टियाँ भी नहीं है, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्ररूप ही हैं ॥१४॥ ऐसे मिले हुए पंचमहाभूत भी नहीं हैं, जो सर्गों से परिपूर्ण न हों, किन्तु सर्गों से परिपूर्ण हैं और कहीं सर्ग भी नहीं हैं, किन्तु वे केवल चिदाकाश रूप ही हैं ॥१५॥ पर्वतों का भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सर्गों से भरा पड़ा न हो, किन्तु सभी परमाणु सर्गों से भरे पड़े हैं और उनमें कहीं भी सर्ग वास्तव में नहीं हैं, केवल ब्रह्मरूप ही वे हैं ॥१६॥ सूक्ष्मभूतरूप उपाधि से युक्त हिरण्यगर्भ का भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सृष्टियों से भरा हुआ न हो, लेकिन उसमें भी वही स्थिति है । वास्तव में तो उनमें कहीं भी सर्ग नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही ब्रह्म है ॥१७॥ हिरण्यगर्भ के निर्मित संसारों में ऐसा कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग नहीं हैं, जो सदा ब्रह्मरूप ही न हो, किन्तु सदा से ही वे सब ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए ब्रह्म तथा सर्ग यह केवल वाणी में ही भेद है, वस्तु में भेद नहीं है ॥१८॥ जैसे अग्नि एवं सूर्य की उष्णता में कोई परस्पर भेद नहीं है, किन्तु उष्णता और अग्नि या सूर्य एकरूप ही हैं, वैसे ही जो सर्ग हैं, वे परब्रह्म ही हैं और परब्रह्म ही सर्ग हैं, इनमें तनिक भी भेद नहीं है, किन्तु एकरूप ही हैं ॥१९॥ भद्र, ये सर्ग और ब्रह्म आदि जो शब्द हैं, उनके विषय में यदि विचारा जाय, तो अर्थ से शून्य होकर अत्यन्त अनिर्वचनीय वस्तु का बोध करानेवाले उस तरह दिखाई देते हैं, जिस तरह कुठार से चिरे जानेवाले काठ में उसके बोधक जो भिन्न-भिन्न शब्द हैं, वे पृथक् अर्थशून्य होकर केवल काठ वस्तु को बोध कराते दिखाई देते हैं । इसका गम्भीर भाव यह है कि पहले सर्ग शब्द और ब्रह्मशब्द के ऊपर विचार कर लेना चाहिए कि असल में उनसे क्या अर्थ निकलता है । सर्जन क्रिया के कारण सर्ग शब्द है और बृंहण यानी वर्धन क्रिया के

कारण ब्रह्मशब्द है । सर्जन और वर्धन में तो कोई परस्पर भेद नहीं है, अतः ब्रह्म और सर्ग आदि में भी भेद कैसे हो सकता है, अब इन सर्ग और ब्रह्मशब्द में भेद करनेवाला जो आनुपूर्वी आदि धर्म है, वह भी असल में तो कोई चीज है नहीं, अतः उससे रहित सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द लक्षणा से किसी अनिर्वचनीय अर्थ का ही बोध कराते है । अपितु क्रिया भी क्रियावान् के स्वरूप से अलग नहीं है, यदि कहें कि क्रिया और क्रियावान् एक नहीं हैं, किन्तु एक आधार और दूसरा आधेय है, अतः इसका भेद है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके आधाराधेय भाव का निरूपण आप कर ही नहीं सकते । ऐसी परिस्थिति में कुठार से विदीर्ण होनेवाले काठ में जो–जो काठ के लिए प्रसिद्ध शब्द हैं, वे सब पृथक् अर्थ से शून्य होकर जैसे एक ही अर्थ के प्रतिपादक भासते हैं अथवा विदार्य (विदीर्ण करने योग्य) और दारु (विदीर्ण होनेवाला) ये दो शब्द जैसे पृथक् अर्थ से शून्य होकर अभेदार्थ के ही प्रतिपादक हैं, वैसे ही सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द भी एकार्थ के यानी ब्रह्मार्थ के ही प्रतिपादक हैं ॥२०॥

परमार्थदशा में सर्ग और ब्रह्म आदि शब्दार्थों का भेद भले ही न हो, क्योंकि उस दशा में द्वैत और ऐक्य रहता ही नहीं । परन्तु व्यवहारदशा में तो ब्रह्म एक है और सर्ग अनेक हैं, अतः ब्रह्म और सर्ग शब्दों का भिन्न अर्थ होने के कारण वे भिन्नार्थक क्यों नहीं होंगे, इस पर कहते हैं ।

भद्र, जिस व्यवहारदशा में द्वैत और एकत्व विद्यमान है, उस दशा में भी सर्ग और ब्रह्मशब्द के अर्थ तो तनिक भी नहीं भासते, क्योंकि इस पर प्रश्न यह होगा कि क्या द्वैतात्मक द्रष्टा को वे अर्थ भासते हैं, या अद्वैतात्मक द्रष्टा को ? प्रथमपक्ष तो अयुक्त है, क्योंकि अज्ञानी द्वैतात्मक द्रष्टा को वे किसी हालत में भी नहीं दीख पड़ेंगे । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पक्ष में अद्वैतात्मक वस्तु को वे किसकी तरह दीख पड़ेंगे, कौन किस स्वभाव के मालूम पड़ेंगे, यह कहना होगा, परन्तु यह कह नहीं सकते, क्योंकि अद्वैत स्थिति में भान और भासित होनेवाले में कोई भेद नहीं कहा जा सकता ॥२१॥

अतएव तत्त्ववेत्ताओं के लिए व्यवहारकाल में भी वह वैसा ही रहा है यह कहते हैं ।

हे प्रिय श्रीरामजी, व्यवहार कर रहे ज्ञानी के लिए भी यह सब कुछ शान्त, एक, आदि–अन्तरहित, स्वच्छ, निर्विकार, शिला के सदृश अतिघन, मौन ब्रह्मरूप ही रहता है, तनिक भी उससे पृथक् या भिन्न नहीं रहता ॥२२॥

वर्णित पाषाणाख्यायिका का जो तात्पर्य है, उसका उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, यह समस्त दृश्य निर्वाणरूप एवं चिदाकाशरूप ही है । आप, हम, पर्वत, सुर, असुर आदि भी तद्रूप ही हैं । भद्र, जगत् भी आप वैसा ही आत्मरूप समझिए, जैसा जागने के बाद जन्तु के मन में स्वप्न में देखा गया व्यवहार, स्मृति में आने पर भी, आत्मरूप है ॥२३॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

उक्त एकान्तशून्य प्रदेश में समाधि टूट जाने पर वसिष्ठजी को सूक्ष्म ध्वनि का श्रवण और ध्वनिश्रवण के कारण के अन्वेषण के लिए ध्यान करने पर अनन्त कोटि जगत् का ज्ञान होना- वर्णन।

इस तरह पिछले दो सर्गों से प्रासंगिक प्रश्नविषय का निरूपण हो जाने पर अब श्रीरामजी आख्यायिका का अवशिष्ट भाग सुनने के लिए पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, उस आकाशकोश की कुटिया से सौ वर्ष के बाद आपका ध्यान टूट जाने के अनन्तर कौन-सी जानने लायक बात हुई, यह मुझसे कहिए ॥१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र उस ध्यान से जब मैं जग गया, तब मैंने वहाँ एक ध्वनि सुनी, वह अत्यन्त लुभावनी थी, उसके शब्द अत्यन्त विस्पष्ट नहीं थे, क्योंकि उसमें न तो कोई पदार्थ प्रतिपादन की सामर्थ्य थी और न वाक्यार्थ प्रतिपादन की ही सामर्थ्य थी ॥२॥ किसी स्त्री के कण्ठ से उत्पत्ति जनित स्वभावविशेष से मानों यह ध्वनि मृदु, मधुर और अनुकरणशील प्रतीत हो रही है, ऊँची भी नहीं है, अतएव वह कहीं दूर से नहीं सुनाई देती अर्थात् पास की ही है, यों उस ध्वनि के विषय में मैंने अनुमान किया ॥३॥ भद्र, वह भ्रमर की ध्वनि के सदृश थी, वीणा के झंकार के सदृश मनुष्य को लुभानेवाली थी । वह शब्द न तो कोई बालक का रुदन था और न कोई प्रौढ़ व्यक्ति का पठन ही था । हाँ, कमल के बिसकोश में प्रसिद्ध भ्रमरों के गुंजन के सदृश वह अवश्य था ॥४॥ उसे सुनकर वहाँ मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ । उक्त शब्दकर्ता के अन्वेषण के निमित्त से मैंने दसों दिशाएँ देख डालीं बाद में मैं यह सोचने लगा ॥५॥ 'जिन मार्गों में सिद्ध पुरुष ही संचरण कर सकते हैं, उनसे भी शून्य जो लाखों योजन दूर हैं, उनको भी लाँघकर यह आकाश का ऊर्ध्वतम भाग स्थित है ॥६॥ इसलिए इस एकान्त स्थान में स्त्रीवाक्य के सदृश ऐसे शब्द का संभव कैसे होगा और बड़े यत्न से देखता हूँ, तो भी मैं शब्द करनेवाले को नहीं देख पाता ॥७॥ मेरे सामने विद्यमान यह जो निर्मल आकाश है, वह तो असीम और चारों ओर से शून्यरूप ही है। बड़े यत्न से मैं देख रहा हूँ, तो भी कोई प्राणी दिखाई नहीं देता ॥८॥ उस तरह विचारकर बार-बार चारों ओर खूब देखा, परन्तु जब शब्द करनेवाले का दर्शन नहीं हुआ, तब इस तरह विचारने लगा ॥९॥ 'मैं सबसे पहले उपाधि का परित्यागकर चिदाकाशरूप हो जाऊँ, तदनन्तर चिदाकाश में अध्यस्त अव्याकृत आकाश के साथ एकरूप बन जाऊँ फिर अव्याकृत आकाश के कार्य भूताकाश के गुण शब्दों और उनके अर्थों का उसीमें अनुभव करूँ ॥१०॥ अभी मैं ध्यान के प्रभाव से यहाँ पर यथास्थित देहाकाश को यहीं आकाश में छोड़कर चिदाकाशरूपी शरीर धारणकर वैसे अव्याकृत आकाश के साथ एकरूप बन जाता हूँ, जैसे जलबिन्दु साधारण जल के साथ एकरूप बन जाता है ॥११॥ भद्र,

उस तरह विचारकर पद्मासन में स्थित हुआ और शरीर को छोड़ने के निमित्त समाधि लगाने के लिए मैंने फिर अपनी आँखें मूँद लीं ॥१२॥ अनन्तर इन्द्रियों सम्बन्धी बाह्य अर्थों का स्पर्श तथा अन्तःकरण के विषयों का स्पर्श त्याग दिया, अधिक क्या कहें, मन्तव्य आदि का भी परित्याग कर दिया, फिर मैं एकमात्र संवित्स्पन्दनरूप चित्ताकाश बन गया ॥१३॥ इसके बाद उनका भी क्रमशः परित्यागकर बुद्धितत्त्व के स्थान में पहुँच गया, फिर उसका भी त्यागकर चिदाकाशरूप वास्तविक स्वरूप में पहुँच गया और वहाँ पहुँचकर अपनी आत्मा में अध्यस्त समस्त जगत् के प्रतिबिम्बों का एक दर्पणरूप बन गया ॥१४॥ भद्र इसके बाद उसी चित्स्वभाव से मैं भूताकाश के साथ एकरूप ऐसे बन गया, जैसे सामान्य जल के साथ समुद्रादिजल या सामान्य सौरभ के साथ कमलादि सौरभ एकरूप बन जाता है ॥१५॥

उस भूताकाश में भूताकाश के कार्यभूत समस्त सृष्टियों का अवलोकन करने के लिए चिदाकाश के साथ अभेदकल्पना कहते हैं ।

तदनन्तर मैं चितिरूप महाकाश के साथ अभेदसम्बन्धी कल्पना कर असीम और सर्वगामी बन गया । असंग–अद्वयरूप होने के कारण अनाकार और अनाधार होता हुआ भी सर्वाधारयोग्य भूताकाश के साथ अभिन्नता से सब पदार्थों का आधारभूत बन गया ॥१६॥ भूताकाश की अवस्था को प्राप्त चिदाकाश में मैं तीनों लोकों के झुण्डों को, सैकड़ों संसारों को और लाखों अगणित ब्रह्माण्डों को देखने लगा ॥१७॥ ये सब सर्ग अव्याकृत निर्मल आकाशमात्ररूप थे, इसलिए एक दूसरे की दृष्टि से छिपे थे । उनमें अनेक तरह के आचार और अनेक तरह के विचार थे एवं परस्पर वे शून्यरूप थे ॥१८॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं ।

एक समय सोये हुए पुरुषों के लिए वे सृष्टियाँ स्वप्नरूप थी, एक दृष्टि से बड़े–बड़े समारोहों से पूर्ण थी, तो दूसरे की दृष्टि से उत्तरोत्तर विमर्दित थी अतएव परस्पर शून्य अशून्यरूप थी ॥१९॥ उनमें कुछ तो उत्पन्न हो रही थी, कुछ नष्ट हो रही थी, कुछ तेजी से बढ़ रही थी, कुछ विद्यमान थी, कुछ अतीत थी और बहुत–सी भविष्यकाल के गर्भ में थी ॥२०॥ श्रीरामजी, उनके विषय में क्या वर्णन करूँ, कुछ तो अनेक चित्रों से शोभित, कुछ बड़ी–बड़ी दीवारों से युक्त, कुछ दीवारों से रहित और कुछ मनुष्यों द्वारा अपने मन से ही उग्र राजों से आक्रान्त बनाई गई थी ॥२१॥

स्वप्न में देखी गई सृष्टियों में तो ब्रह्माण्डों के आवरण और उनकी संख्या का कोई नियम ही नहीं है, क्योंकि जिसको जितनी वासना हुई, उसके प्रति उतनी ही सृष्टि कल्पित होती है, इस आशय से कहते हैं ।

कुछ सृष्टियाँ तो आवरणात्मक पदार्थों से रहित थी तथा कुछ एक आवरणवाली ही थीं । किन्हीं में पाँच आवरण थे, किन्हीं में सात आवरण थे, किन्हीं में दस आवरण थे, किन्हीं में सोलह

आवरण थे, किन्हीं में चौबीस आवरण थे, किन्हीं में छत्तीस आवरण थे, कुछ आकाशरूप आवरण से आवृत थी (📖) ॥२२,२३॥ कुछ शून्य-आकाशरूप ही थीं, कुछ भूतों से भरी थीं, कुछ पाँच भूतरूप ही थीं, कुछ तो एक-एक पृथ्वी आदि भूतवाली थीं, कुछ पृथ्वी आदि चार भूतोंवाली ही थीं ॥२४॥ किन्हींमें पृथ्वी, जल, तेज ये तीन ही थे, किन्हीं में कोई और ही भूत थे, किन्हीं में तो पृथ्वी और जल ये दो ही थे, किन्हींमें सात भूत (काल और दिशा को भूत मानकर) थे तथा किन्हीं में एकजाति के ही सब पदार्थ थे ॥२५॥

सिद्ध, विद्याधर आदि की जो चित्र-विचित्र कल्पनाएँ हैं, उनकी तो मनुष्य बुद्धि से संभावना भी नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, कुछ तो मैंने ऐसे सूक्ष्म चित्र-विचित्र परिणामवाले भूतों से युक्त संसार देखे कि उन परिणामों की आप अपने अनुभव के विस्तार से संभावना भी नहीं कर सकते । कुछ तो निरन्तर अन्धकार से व्याप्त और सूर्य आदि से रहित थे ॥२६॥ कुछ सर्ग तो सुषुप्ति और प्रलयों से ही भरपूर थे यानी सुषुप्ति-प्रलयमय थे, किन्हीं में केवल हिरण्यगर्भ ही विराजमान थे और कुछ में प्रजापति और उनके अंशभूत देवताओं का चित्र-विचित्र आचरण देखते ही बनता था ॥२७॥

इसी अर्थ का विस्तार करते हैं ।

किन्हींमें विराग पैदा करनेवाले वेदादि शास्त्र थे और किन्हीं में वेदादि शास्त्र नहीं भी थे तथा किन्हीं में उदुम्बर के कीट के सदृश समारम्भवाले देवता ही प्राणी थे ॥२८॥ कहीं पर कलि का आरम्भ हो जाने के कारण वेदादि शास्त्रों का उच्छेद हो गया था, इसलिए ब्राह्मण आदि जातियाँ अपनी केवल परम्परा से ही कुछ संकेतों से अपना आचरण करती थीं । कुछ निरन्तर प्रकाशमय थे और कुछ प्रज्वलित अग्नियों से पूर्ण थे ॥२९॥ कुछ सृष्टियाँ केवल जल से ही भरी थीं, कुछ केवल वायु से ही भरपूर थीं, कुछ परमाकाश में निश्चल थीं, कुछ रात-दिन चलती-फिरती थीं ॥३०॥ कुछ उत्पन्न हो रही थीं, कुछ वृद्धि प्राप्त कर रही थीं, कुछ चारों ओर से खूब पुष्ट हो रही थी, कुछ टेढ़ी जा रही थीं और कुछ अन्य परिपूर्ण भोग्य पदार्थों से भरी थीं ॥३१॥ किन्हीं में केवल देवताओं की ही सृष्टि थी, किन्हीं में अधिक केवल मनुष्य ही थे, किन्हीं में अधिकता दैत्यों के समूहों की थी और कुछ तो कीटों से ही नीरन्ध्र थीं ॥३२॥ कहीं पर कदलीस्तम्भ के दल के सदृश प्रत्येक परमाणु के भीतर, उसके भीतर के भी भीतर कल्पित अपने कोश में अनेक जगत् उत्पन हो रहे थे और कुछ उत्पन्न भी हो चुके थे ॥३३॥ सैनिकों के स्वप्नों के सदृश उत्पन्न हुए बड़े भी कुछ सर्ग एक दूसरे से छिपे थे और किन्हीं का परस्पर अनुभव भी नहीं हो रहा था ॥३४॥ कुछ तो भिन्न-भिन्न तरह की सृष्टियाँ थी, कुछ असीम थीं, कुछ स्वच्छ आकाश के सदृश निर्मल थीं, किन्हीं में भिन्न-भिन्न क्रिया-कर्म थे और कुछ विषम स्थितिवाली थीं ॥३५॥ कुछ सर्ग ऐसे थे, जिनमें दूसरे से मेल न

(📖) एक पदार्थवादी आदियों के मतों से कहा गया है ।

खानेवाले भिन्न–भिन्न शास्त्र थे, कुछ परस्पर अनन्त अवयव एक–से थे, कुछ का स्मरण होने पर एक दूसरे एकरूप ही मालूम होते थे ॥३६॥ कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी सृष्टि के लिए परलोक बन जाती थी यानी एक में मरकर पुरुष दूसरी सृष्टि में जाता था । कुछ सृष्टि ऐसी थीं, जिनमें एक सृष्टि के प्रति दूसरी सृष्टि सिद्ध नगररूप बन जाती थी । किन्हीं सृष्टियों में अलग–अलग स्वरूप के महाभूत थे और कहीं पर दिशाएँ एवं पर्वत भिन्न–भिन्न रूप के थे ॥३७॥

इसीलिए अन्यवस्तु का अन्यत्र वर्णन करने पर अपरिनिष्ठित बुद्धिवालों की दृष्टि में ये अगम्यता के कारण असमंजसरूप भासते हैं, यह कहते हैं।

आपके–जैसे पुरुषों के अनुभव और प्रयत्न के अविषय जो पदार्थ हैं, वे यदि सामने आ जायें और मेरे–जैसे पुरुष उनका वर्णन करें, तो भी उनका स्वरूप असमंजस ही लगेगा, यानी उनके स्वरूप का ज्ञान बिनअनुभवी पुरुष को हो ही नहीं सकता, ऐसे भी पदार्थ कहीं पर थे ॥३८॥

तब तो ऐसे पदार्थ आपके सदृश पुरुषों के उपदेश से ज्ञात हो जायेंगे, इस पर कहते हैं।

भद्र, चैतन्यरूपी सूर्य के किरणमण्डल में परमाणुओं के सदृश अत्यन्त सूक्ष्मरूपवाले पर सर्ग प्रसिद्धि को प्राप्त किये हुए थे (ॐ) तथा कहीं पर तो मोक्षलक्ष्मी के कुण्डलरूप अव्याकृत आकाश और भूताकाश में चित्र–विचित्र रत्नरश्मिजाल की अधिकता से चमकीले सर्ग थे, इसलिए उपदेश से भी उनका ज्ञान होना कठिन समझिए ॥३९॥ कुछ सर्ग तो ऐसे देखे कि वन के पत्तों के सदृश वे ही फिर सद्रूप उत्पन्न हो होकर नष्ट होते जाते थे और फिर उत्पन्न होते जाते थे एवं कुछ उन्हीं के सदृश ही उत्पन्न होते थे ॥४०॥ भद्र, कुछ सर्ग ऐसे थे कि एक ही चिति में सबका अध्यास होने के कारण पृथक् अस्तित्व न रखने से सदृश होते हुए भी असदृश ही थे और सदृश भी होते हुए कुछ समय तक अत्यन्त सदृश एवं कुछ काल के लिए अत्यन्त विसदृश भी रहते थे ॥४१॥

अथवा वृक्ष और फल के सदृश उनमें भेद और अभेद की कल्पना है, यह कहते हैं।

परमार्थ चैतन्यरूप महावृक्ष के वे अनन्त फल थे, वे अनन्य ही होते हुए भी उससे भिन्न–से थे ॥४२॥ किन्हीं सर्गों में स्वल्प ही कल्प का काल था, तो किन्हीं सर्गों में बड़ा लम्बा कल्प का काल था, दूसरे बहुतों में तो नियम ही न था यानी देश, काल, वस्तु आदि के स्वभाव का नियम ही नहीं था और दूसरे बहुतों में उनका नियम था भी ॥४३॥ सूर्य का अभाव होने से किन्हीं में कालज्ञान ही न हो पाता था, कुछ तो काकतालीय न्याय से अकस्मात् ही स्वयं उत्पन्न, पुष्ट और सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित थे ॥४४॥

वे क्या सत्य हैं, इस प्रश्न का 'नहीं' उत्तर देते हैं।

परमचिदाकाश के कोश में वे शून्यरूप ही हैं, सत्यरूप नहीं । वे कबसे उत्पन्न हैं, यह उनके

(ॐ) कहीं पर 'शेष्यमानानि' यह भी पाठ मिलता है, उसका 'परिशेषरूपता को प्राप्त किये हुए थे' यह अर्थ होगा ।

विषय में नहीं कहा जा सकता । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि वे अज्ञानरूप दोष से युक्त प्रत्यगात्मा में अनादिकाल से ही उत्पन्न हुए हैं ॥४५॥ चिति के चमत्काररूप आकाश में यानी चिदाकाश में सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश, मेरु आदि पदार्थों से भलीभाँति आक्रान्त सप्तजाल के सदृश रजोगुण एवं तमोगुण से कलुषित होकर वे अनेक जगत् भासित हो रहे हैं ॥४६॥ वास्तव में कारणों के अभाव से कारणरहित पृथ्वी आदि का अनुभव तो भ्रमात्मक है, इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठान की सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान हैं, उसे न लेकर वे अपने स्वरूप से तो हैं ही नहीं ॥४७॥ मृगतृष्णाजल के प्रवाह के सदृश अथवा दो चन्द्रयुक्त आकाश के वर्ण के ये जगत् भ्रमरूप अनुभव से ही उत्पन्न हुए हैं, अतः वे सत्यरूप अधिष्ठान की सत्ता से सत्यरूप हैं, अपने स्वरूप से वे सत्यरूप नहीं हैं ॥४८॥ चिति के संकल्परूप आकाश में ही ऐसे-ऐसे असंख्य जगत् भासित हो रहे हैं, वे सबके सब वासनारूपी वायु से उड़ाये जा रहे अपनी चेष्टाओं से विलुण्ठित हो रहें हैं । इधर-उधर लुढ़क रहे हैं ॥४९॥ परब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्ष के अन्दर असंख्य देव, दानव आदि तो मच्छर हैं और वे ब्रह्माण्ड पवनों से झूम रहे है, भोगादि विचित्र रसों से परिपूर्ण उसके फल हैं अर्थात् ब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्ष के ब्रह्माण्डरूपी फल के भीतर ये देव, दानव आदिरूप अनेक मच्छर विद्यमान हैं ॥५०॥ चिदाकाश में ये सब जगत् सुन्दर स्वभाववाले तथा सृष्टिरूप खिलवाड़ करनेवाले विशुद्ध चितितत्त्वरूप बालक के संकल्पनगर हैं ॥५१॥

ये जगत् संकल्प नगर हैं, इस बात को दृढ़ करने में कौन-सा हेतु हैं, इसे बतलाते हैं ।

वे सब जगत् 'तुम', 'मैं', 'यह' आदि अभिमान बुद्धिबल से, सूर्य के दीप्तिबल से मिट्टी के खिलौनों के सदृश, अत्यन्त दृढ़ बनाये गये हैं ॥५२॥ निरन्तर तृप्ति से भरी हुई तथा रागरूपी रस से परिपूर्ण कर्मों के फलों को अवश्य प्रदान करनेवाली नियति ने उनकी शाखा-उपशाखा के द्वारा ऐसे वृद्धि की है, जैसे वसन्त ऋतु की रसरेखा बड़े-बड़े फल लगनेवाले वनों की शाखा-उपशाखा द्वारा वृद्धि करती है ॥५३॥ सृष्टि को बतलानेवाली श्रुति की दृष्टि से तो उन सबका कर्ता ब्रह्मा ही है और 'अपूर्वमनपरम्' इत्यादि श्रुतियों की दृष्टि से उनका कर्ता ब्रह्मा नहीं भी है वास्तव में तो वे किसी से निर्मित हैं ही नहीं, किन्तु आकाशरूप (शून्यरूप) ही हैं । यद्यपि वस्तु स्थिति ऐसी है, तो भी महाचितिरूप आकाश में स्वयं ही अपने रूप को धारण कर वे स्थित हैं, परन्तु किसी के द्वारा सम्पादित भी प्रतीत होते हैं ॥५४॥ वस्तुतः ये जगत् परमार्थ चिद्रूप ही हैं, फिर भी अन्य से उत्पन्न मालूम पड़ते हैं, वस्तुतः अप्राप्त ही हैं, फिर भी प्राप्त-से प्रतीत होते हैं, सदा असद्रूप ही हैं, फिर भी सद्रूप से भासते हैं ॥५५॥ भुवनों की संख्या चौदह, केवल देवयोनियों की संख्या से दश, मनुष्य आदि एक-एक जाति को लेकर एक, यों भिन्न-भिन्न तरह के भूतसमूहों से युक्त वे अनेक होते हुए भी जगत् फिर एक ही रूप के हैं, किन्तु दूसरे ही रूप के भीतर और बाहर उत्पन्न होते रहते हैं ॥५६॥ यद्यपि ये सब जगत् नरक, स्वर्ग, पाताल

बान्धव और मित्ररूप बड़े–बड़े समारोहों से आक्रान्त हैं, फिर भी परमार्थदृष्टि से शून्यरूप ही हैं ॥५७॥ ये सब क्षीरसागर के जल के सदृश चारों ओर स्नेह (प्रीतिरूप) सार से पूर्ण, तरंगों के सदृश भंगुर तथा भीतर और बाहर से परिवर्तनशील हैं ॥५८॥ आत्मारूपी सूर्य के तेज के अन्दर वे केवल आभासरूप हैं और वायु से स्पन्दन की तरह वे सब स्वतः उत्पन्न हुए हैं ॥५९॥ ये जगत् बुद्धि अहंकार और चित्तरूपी पत्तों के लिए एक तरह से पेड़ ही हैं । तथा जैसे स्वप्न में निरन्तर अस्त स्वभिन्न मनुष्यों के दृश्य असत्य हैं, वैसे ही स्वभिन्नरूप से देखनेवालों को भी साधारणरूप होने के कारण वे असत्य रूप ही हैं ॥६०॥ पुराण, वेद के सिद्धान्तरूप कल्पनाओं के स्वप्नों में दृढ़विश्वासरूपी गाढ़ निद्रा लेकर सोये हुए ये जगत् तत्त्वज्ञान का अत्यन्त ही अभाव होने के कारण मानों मृतकों का स्वरूप धारण किये हुए हैं ॥६१॥ भद्र, परमार्थभूत ब्रह्मरूपी महान् जंगल में मायाउपहितचितिरूप गन्धर्व के द्वारा बनाये गये तथा सूर्यरूपी दीपकों से प्रकाशित वे जगत्–रूपी घर महान् गहन हैं यानी उनका असली स्वरूप जानना बड़ा ही कठिन हैं ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने उस समय की समाधि में अनन्त चिदाकाश में किसी कारण के बिना उत्पन्न हुए तथा किसी कारण के बिना ही जीर्ण–शीर्ण हो जानेवाले अनन्त जगत् देखे जो तिमिररोगयुक्त आँखों से दिखाई पड़नेवाले केशोण्ड्रक के सदृश भ्रान्तिमात्र से सिद्ध थे ॥६३॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

वसिष्ठजी को समाधि में शब्द करनेवाली स्त्री का अवलोकन तथा
उसकी उपेक्षा करने पर फिर अनेक विचित्र जगत् का दर्शन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्री रामभद्र, इतने असंख्य संसार देखने के बाद मैंने शब्द के कारण को ढूँढ़ते–ढूँढ़ते चारों ओर बहुत काल तक खूब भ्रमण किया तदनन्तर मैं आवरणरहित संविदाकाशरूप बन गया ॥१॥ जब मैं उक्त आकाशरूप बन गया, तब मैंने वीणा के शब्द के सदृश शब्द सुना, क्रमशः उसके पद भी स्फुट हो गये, फिर मुझे यह भी मालूम होने लगा कि ये शब्द आर्या छन्द के हैं ॥२॥ अनन्तर मेरी योगदृष्टि पास में ही, जहाँ से शब्द हो रहा था, उस देश में पड़ गई। मैंने वहाँ एक स्त्री देखी, उसने अपनी कनक–जैसी स्पन्दनशील प्रभा से चारों ओर के आकाशमण्डल को प्रकाशित कर दिया था ॥३॥ उसके गले की माला और पहिने हुए वस्त्र खूब फरफरा रहे थे, उसके लोचन कानों के केशों को भी व्याकुल किये थे उसके माथे की वेणी बड़ी ही चंचल थी, मालूम ऐसा होता था, मानों साक्षात् लक्ष्मी ही आई हुई हैं ॥४॥ उसके अंग कमनीय सुवर्ण के सदृश गौरवर्ण के थे, मार्गस्थ पथिक के सदृश उसका नवीन यौवन धीरे–धीरे जा रहा था, वनदेवी के सदृश चारों ओर सुगन्ध भर देनेवाले सम्पूर्ण नखशिखान्त अवयवों के कारण वह आँखो को बड़ी ही

सुन्दर लग रही थी ॥५॥ उसका मुख तो पूर्णचन्द्र के सदृश था, उसका हास्य फूल के ढेर-से लुभावना था, यौवन के कारण उसका आनन कुछ उद्दण्ड-सा लगता था, बरौन (पलकों के आगे के बाल) के उत्तम लक्षणों से (चिह्नों से) उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥६॥ आकाश का कोश ही उसके रहने का घर था, वह सुन्दर तो इतनी थी कि जितनी शशांक चन्द्रमा की किरणें। उसने मोतियों का बनाया गया अर्धचन्द्राकार हार पहना था और उसकी चेष्टा मेरी ओर आने की मालूम होती थी ॥७॥ भद्र, उस वामा ने मेरे पास में आकर अत्यन्त मधुर स्वर से मृदु एक आर्या पढ़ी, उस स्त्री का विलास आर्यों के जैसा ही था, उस समय उसके मुख में कोमल हास्य निखर रहा था ॥८॥

उसी आर्या छन्द को बतलाते हैं

हे मुने, खल पुरुषों के लिए ही अपनी योग्यता रखनेवाले काम, क्रोध आदि जितने दोष हैं, उनसे आपका अन्तःकरण सर्वथा अलिप्त हैं, आप संसाररूपी नदी में डूब जानेवाले जीवों के लिए तीरस्थ आश्रयरूप वृक्ष हैं, अतः मैं आपको ही चारों ओर से प्रणाम करती हूँ ॥९॥

वह सुनकर आपने क्या किया, इस प्रश्न पर कहते हैं।

भद्र, यह सुनकर और उस सुन्दरमुखी एवं मधुरशब्दवाली रमणी को देखकर मैंने सोचा ह्र यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा । उसके प्रति उपेक्षाकर वहाँ से मैं आगे बढ़ा ॥१०॥ उसके बाद मैंने असंख्य जगत् से युक्त माया देखी, उसे देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, उसका भी अनादर ही कर आकाशमण्डल में विहार करने के लिए मैं उद्यत हो गया ॥११॥ तदन्तर मायाजनित उस चिन्ता को छोड़कर शून्यस्वभाव आकाश में स्थित जगन्माया को चिदाकाशरूप होकर जानने के लिए मैने ज्यों ही प्रवृति की, त्यों ही वे सब जगत् उस तरह शून्यरूप हो गये, जिस तरह स्वप्न, मनोराज्य और कथा के अर्थ के प्रकाशन में जगत् शून्यरूप हो जाते हैं ॥१२,१३॥ भद्र, अतः ये सब शून्यरूप हैं, इसलिए परमार्थ में ये कोई जगत् कहीं किसी समय न तो देखते हैं और न सुनते ही हैं । अतएव वे सब कल्प, महाकल्प और सर्ग में एकरूप ही हैं यानी उन सब सृष्टियों की उन कल्पादि से समानरूपता ही है ॥१४॥ भद्र, जिनमें उन्मत्त पुष्करावर्त नाम के प्रलयकारी मेघ बरसते हैं, उन्मत्त उत्पातकारी वायु बहती हैं तथा तोड़े गये बड़े-बड़े पर्वतों के भयंकर शब्दों से ब्रह्माण्डमंडप को जिन्होंने व्याप्त कर दिया है । ऐसे तत्-तत् जगह के अन्दर प्रवृत्त हुए भी कल्पान्तों को, ये जगत् परस्पर नहीं जान पाते ॥१५॥ धधक रही प्रलयाग्नि के विस्फोटों से कुबेर के भवन जिनमें चट-चट शब्द कर रहे हैं, जिनमें आकार में गेंद के सदृश बारह आदित्य मण्डल आकाश में चक्कर काटते रहते हैं, ऐसे कल्पान्तों को वे परस्पर नहीं देख पाते ॥१६॥ इधर-उधर लुढ़कते हुए देवनगरों के समूहों के व्यापक क्रन्दनों के कारण घर्घर शब्द कर रहे समस्त पर्वतों की नितम्ब श्रेणियों को निगल जाने में अतिउद्भट कल्पान्त कालों को वे जगत् परस्पर नहीं जानते ॥१७॥ प्रलयमण्डल की भयंकर अग्नि की ज्वालाओं के विलासों से विस्पष्टरूप से पट-

पट शब्दकर रहे तथा आत्मा के असली स्वभाव के ध्वंस से (अज्ञान से) उत्पन्न बड़े क्षोभों के सदृश जलचरों के क्षोभ से क्षुब्ध हुए आकाश रूपी महासमुद्र से युक्त कल्पान्तों को वे परस्पर नहीं जानते ॥१८॥ देवता, दानव और मनुष्य के घरों के घर्घर क्रन्दनध्वनियोंसे, जो अतिकर्कश हैं तथा द्युलोक तक सात समुद्रों को बढ़ाकर उनकी महाबाढ़ से जो सूर्य एवं चन्द्र के मण्डलों को भी जल से भर देते हैं, उन कल्पान्तों को वे जगत् परस्पर नहीं देखते ॥१९॥ भद्र, उन वर्णित जगतों में एक दुसरे के भीतर इस तरह के कल्पान्तकाल प्रवृत्त हुए रहते हैं, परन्तु वे सभी जगत् एक दूसरे में प्रवृत्त कल्पान्तों को उस तरह नहीं जान पाते, जिस तरह एक मकान में सोये हुए पुरुष स्वप्न में एक दुसरे के रणशब्द को ॥२०॥

इस प्रकार जगत् की प्रासंगिक परस्पर शून्यता का वर्णन कर अब प्रस्तुत विषय कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन ब्रह्माण्डों में मैंने हजारों रुद्र, सैकड़ों–करोड़ ब्रह्मा, लाखों विष्णु और असंख्य कल्प देखे ॥२१॥ भद्र, उस तरह अनेक प्रकार के जो ब्रह्मांड आपको बतलाये, उनमें जो चितिरूप वस्तु है, उसी में तर्कों से यानी संकल्पों से उनका विनाश और उदय मैंने देखा । चिद्वस्तु में न तो आदित्यमण्डल है, न दिन, रात या भूतल है और न कल्प, युग और वर्ष की समाप्ति ही है ॥२२॥

अस्तु, कल्पना से ही उदय और अस्त है, इससे प्रकृत में क्या आया, इस पर कहते हैं ।

श्रीरामजी, सब कुछ चेतन में ही है, सब कुछ चेतन ही है, चेतन ही सब कुछ है, चारों ओर से चेतन ही चेतन है, चेतन ही सत् है , सर्वात्मक भी चेतन ही है ह्न यही मैंने अन्वय – व्यतिरेक से परीक्षाकर वहाँ देखा ॥२३॥

किस प्रकार के तर्क से किस प्रकार का उदय है और किस तरह का क्षय है, इसका उदाहरण देते हैं।

हे श्रीरामजी, यदि आप किसी भी दशा में किसी रूप की कल्पनाकर नाम से यह कहते हैं कि यह घट है, यह पट है, तो उस दशा में आपके द्वारा प्रयुक्त तत्–तत् नामरूप से युक्त चिति ही हो जाती है, यही उदय है । यही चिति आकाश से भी शून्यतम जब विवक्षित होती है, तब किसी नाम या रूप से युक्त नहीं होतीह्नयही उसका विनाश है ॥२४॥ यह सारा नामरूपात्मक जो जगत् है, वह नामरूपात्मक कल्पना के द्वारा आकाश ही भासता है, क्योंकि आकाश ही वायु आदि क्रम से जगत् के आकार में बन जाता है, यह बात श्रुतियों में प्रसिद्ध है और वही शब्दतन्मात्रारूप होने के कारण सब वस्तुओं के लिए साधारण नामात्मक भी बन जाता है । अतः 'तत्वमसि' आदि शब्दरूप से परिणत आकाश के कारण सब जगत् परम चिदाकाशरूप ही है, वही इसका आत्यन्तिक क्षय है ॥२५॥

यों विचार करने पर अपने को जो अनुभव हुआ, उसे महाराज वसिष्ठजी बतलाते हैं ।

हे प्रिय श्रीरामजी, यह जो दृश्यों का ज्ञान होता है, वह भ्रम है, यह आकाशवृक्ष की मंजरी ही है यानी असत् है, इसलिए जगत् में परिशिष्ट जो चिदाकाश है, वही सुख यानी निरतिशयानन्दरूप है ह्न इसका मैंने अनुभव किया ॥२६॥ अन्तिम साक्षात्कार की जो वृत्ति है, तद्रूप आकाश में आविर्भाव हो जाने के कारण एकरूप, पूर्णात्मक, अनन्त तथा बोधस्वरूप हुए मैंने उक्त समाधि में यह संकल्पशून्य, अनुभव किया ॥२७॥

यह सम्पूर्ण जगत् का बिछा हुआ जाल ब्रह्मरूप निर्मल आकाश ही है।

जगत् अन्तर्गत दसों दिशाएँ, तदन्तर्गत कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, यह मैंने देखा ॥२८॥ श्रीरामजी, वासनानुसार अनेक तरह की भिन्नता को लिये हुए जो संसार मुझे दिखाई दिये, उनमें आकार में मेरे सदृश वसिष्ठ नाम के बड़े उत्तम-उत्तम ब्रह्मा के पुत्र अनेक मुनीश्वर देखे ॥२९॥ हे ब्रह्मन्, वहाँ मैंने बहत्तर त्रेतायुग देखे। वे सभी रामावतार से युक्त थे, सैकड़ों सतयुग देखे और सैकड़ों द्वापर देखे ॥३०॥ भेदवासना की प्रबलता से तत्-तत् सर्गों की अवस्थाएँ अनेक तरह की मैने देखीं और तत्त्वदृष्टि से तो उन सबको व्यापक ब्रह्मरूप आकाश ही देखा ॥३१॥

इस स्थिति में दृष्टिभेद से ब्रह्म सप्रपंच और निष्प्रपंच हो सकता है, इस विषय में विरोध हो ही नहीं सकता, यह कहते हैं।

न तो ब्रह्म में यह जगद्रूप नाम है और न उसमें जगद्रूप वस्तु ही है, किन्तु वह सब अन्तिम प्राप्य तत्पदादिरूप, अज, आदि-अन्तशून्य ब्रह्मरूप ही है ॥३२॥ जो ब्रह्मरूप पाषाण के सदृश सब तरह के वाणी के व्यापारों से रहित हैं, समस्त नाम और रूपों से शून्य है और प्रकाशरूप है, वही कुछ नामरूपात्मक बन जाता है और वही जगत् के वेष में स्मृत है ॥३३॥ वास्तव में चेत्य तो चिदाकाश में है नहीं, परन्तु चिति की अपनी सत्ता ही जगत् के रूप में भासती है। वह स्वप्न के अनुभव के सदृश भ्रान्तिरूप है, अतः निराकार ब्रह्म में भास रही सृष्टि वास्तव में निराकार रूप ही है ॥३४॥ एकमात्र प्रकाशरूप ब्रह्म अपने अनन्य (अभिन्न) सब कुछ उस तरह करता है और नहीं भी करता, जिस तरह आलोक प्रकाश करता है और नहीं भी करता। आलोक अपने से अतिरिक्त प्रकाश न होने के कारण प्रकाश को नहीं करता, यह कहना वास्तव में ठीक ही है ॥३५॥

जगत् चिद्रूप ही है, तब चन्द्र शीतल और सूर्य गरम क्यों? उलटा भी हो सकता है, यदि यह कहें, तो यह इष्ट ही है, क्योंकि किसी ब्रह्मांड में वैसा भी देखने में आया है, यों कहते हैं।

भद्र, जो लाखों जगत् समाधि में अनुभूत होते हैं, उनमें कहीं पर चन्द्रबिम्ब गरम और सूर्यबिम्ब ठण्ढ़े भी अनुभूत होते हैं और इसी तरह के हैं भी ॥३६॥ कहीं पर अन्धकार में प्रजाएँ देखती हैं और कहीं प्रकाश में भी नहीं देखती। ठीक उल्लूओं के जैसा उनका व्यवहार है और उन्हीं के जैसा वे शब्द भी करती हैं ॥३७॥ कहीं तो प्राणी पुण्य से नष्ट हो जाते हैं और कहीं पापों से स्वर्ग जाते हैं,

कहीं पर विषभोजन से दीर्घकालतक जीते हैं, तो कहीं पर अमृतपान से मर जाते हैं । *(यह मन की अनियन्त्रित कल्पना होने के कारण कहा गया है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे तो वेद में भी अप्रामाण्य आ सकता है ।)* ॥३८॥

ऐसा क्यों, इस पर कहते हैं ।

भद्र, दीर्घकाल के अभ्यास से दृढ़ किये गये बोध में जो वस्तु जैसी हितसाधन या अहितसाधन के रूप में मानी जाती है, वह वैसी ही स्वयं अपने भोग हेतु अदृष्ट के कारण बन जाती है । जैसी बनती है ठीक वैसी ही भोगकाल में विस्पष्ट बन जाती है। वह वस्तु दूसरी जगह सत् हो या असत् हो, इस विषय में कुछ भी विशेषता नहीं रखती, क्योंकि वह भ्रमरूप ही है और वह ब्रह्म ही वासनानुसार वैसा विवर्तित हो जाता है ॥३९॥

इस ब्रह्माण्ड में प्रसिद्ध जो अरण्य है, उससे विपरीत पत्र, पुष्प आदि से सम्पन्न अरण्य अन्य ब्रह्माण्ड में प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, कहीं पर तो चिदाकाश में शाखाओं के सदृश वृक्षों के मूल दिखाई देते हैं, इसलिए वज्रमणि के सदृश अत्यन्त दृढ़, पत्र, पुष्प आदि से सुशोभित वृक्षों से युक्त अरण्य विद्यमान है ॥४०॥

इसी तरह हजारों असम्भावित वस्तुओं का अन्यत्र सम्भव है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, कहीं पर तो कोल्हू में पीसे जाने पर बालू से भी स्नेहजनित रस यानी तेल निकलता है और कहीं पर शिलाओं के ऊपरी हिस्सों में अनेक सुन्दर कमल उगते हैं ॥४१॥ कहीं लकड़ी, पत्थर और दीवार के ऊपर निर्मित पुतलियाँ देवांगनाओं के साथ गान और वार्ता करती हैं ॥४२॥ भद्र, कहीं पर लम्बे–लम्बे प्राणी लम्बे वस्त्रों के सदृश मेघों को बड़े चाव से पहिनते हैं और कहीं पर एक ही वृक्ष के ऊपर प्रत्येक वर्ष में भिन्न–भिन्न जाति के फल लगते हैं ॥४३॥ कहीं पर एक जाति के प्राणियों के अंगों की गठन ही अलग–अलग प्रकार की है, कहीं पर एक जाति के प्राणियों के अंग जुदे–जुदे आकार के दिखाई पड़ते हैं, कहीं पर सिर ऊपर की ओर नहीं है, किन्तु भूमितल पर है, इस तरह चित्र–विचित्र प्राणी घूमते दिखाई देते हैं ॥४४॥ कहीं पर भूमि आदि लोकों के नीचे के जगत् केवल पशु आदि प्राणियों से ही भरे हैं उनमें मनुष्यों का नाम ही नहीं है, न तो इनमें वेद और शास्त्र का प्रचार है, न कोई धर्म है, न इनका कोई उत्तम आचरण है यानी यथेष्टाचरण करनेवाले हैं॥४५॥ अतः कोई तो प्राणी कामसंविति से हीन हैं, अतः वो स्त्री के बिना यों ही कहीं पर पैदा हो गये हैं । कहीं पर के जगत् तो पत्थरमय शुष्क हृदयवाले प्राणियों से भरे पड़े हैं ॥४६॥ कहीं पर तो केवल सर्प ही सर्प हैं, कहीं पर तो सभी रत्न ही रत्न हैं या तो पत्थर ही पत्थर हैं, कहीं पर तो धन आदि का व्यवहार ही नहीं है, अतएव लोभरहित हैं और कहीं पर प्राणियों में अहंकार की मात्रा ही नहीं है ॥४७॥

कहीं पर व्यष्टि-अहंभाव नहीं है, केवल समष्टि-अहंभावरूप एकात्मभाव से ही सब शरीरों में भेदव्यवहार होता है, यह कहते हैं ।

कहीं पर प्रत्येक प्राणी अपनी समष्टि आत्मा को देखता है और दूसरे व्यक्ति को देखता या पाता ही नहीं । ऐसा होने पर भी वह लोक योनिज आदि चार प्रकार के प्राणियों से युक्त हैं और एक-एक तरह के प्राणियों से भी युक्त हैं ॥४८॥

देहों का भेद होने पर भी एकीभूत आत्मा की भावना किस तरह की है, इस प्रश्न पर कहते हैं ।

भद्र, कोई पुरुष अपने नख, केशादि के उतारने और उत्पन्न होनेपर अपना निजी छेदन और जन्म देखता है, इसलिए वह अपनी अन्यत्र स्थिति मानता है। परन्तु उसके सौन्दर्यादि सुख भोग में उसकी एकीभूत आत्मभावना ही देखी जाती है ॥४९॥

कहीं पर सृष्टि भेद की वासना ही नहीं रहती, इसलिए अव्याकृत आकाशमात्ररूपता से ही वहाँ भावना होती है, यह कहते हैं ।

कहीं पर तो अधिकतर चारों ओर अनन्त अपारशून्य ही शून्य है । कहीं पर प्राणी यत्न से आत्मचिति प्राप्त करता है, तो शून्य के तिरस्कार से फिर जगत् देखता है ॥५०॥ भद्र, कुछ जगत् निर्विशेष परब्रह्म की दृष्टि हो जाने पर अलीक की तरह ज्ञात होते हैं, कहीं पर चिति का पृथक्करण कर देखने पर काष्ठयन्त्रमय (हाथी, घोड़े आदिरूप) सब प्राणी देखे गये हैं ॥५१॥ कुछ जगत् तो नक्षत्रचक्र से ही रहित हैं, अतएव कालगति का ही वहाँ पता नहीं लगता। कुछ तो शब्द, श्रोत्र आदि के अभाव के कारण मूकपुरुषों के सदृश हाथ आदि के संकेतों के बलपर ही अपना सारा व्यवहार निभाते हैं ॥५२॥ कहीं पर ऐसे प्राणी देखे कि नेत्रशब्द, नेत्ररूप इन्द्रिय और नेत्रजनित रूप आदि का दर्शन ह्न इन सबसे वे वंचित थे, अतएव उनके लिए सूर्य और चन्द्र आदि के प्रकाश निरर्थक ही रहे । भद्र, इस प्रकार की जो जगत् की रचना है, वह एकाग्रचित्त योगी के मन की कल्पना से मैंने आपसे कही ॥५३॥ भद्र, कुछ तो प्राणी घ्राणेन्द्रिय और इससे होनेवाले गन्धज्ञान से रहित हैं, कुछ निरर्थक ही आमोद-प्रमोद करनेवाले हैं, कुछ शब्देन्द्रिय की शक्ति से रहित होने के कारण मूक हैं और कुछ श्रोत्रेन्द्रिय से रहित हैं ॥५४॥ कुछ दुसरे वाक्यार्थबोध न होने के कारण मूक हैं, स्पर्शज्ञानशून्य होने के कारण पत्थर के अंगों के सदृश त्वगिन्द्रिय रहित हैं ॥५५॥ कुछ तो मनोराज्य के सदृश विचित्र ही देखे गये, कुछ तो व्यवहार करनेवाले हैं, परन्तु पिशाचों के सदृश उद्भूत गुणों से उनका ग्रहण होता है ॥५६॥ कुछ जगत् तो केवल भूमिमय है, उनकी स्थिति एक-सी है, कुछ घनता से रहित हैं, कुछ केवल जल से भरे हैं और कुछ अग्नि से पूर्ण हैं ॥५७॥ कुछ जगत् वायुओं से परिपूर्ण हैं, यानी समस्त कार्यों में समर्थ समस्त वस्तुओं से परिपूर्ण हैं । आश्चर्य है कि कुछ तो आकाशरूप ही हैं, फिर भी चिद्रूप आकाश में वे स्फुरित होते हैं ॥५८॥

'कुछ जगत् केवल पृथ्वीमय हैं' यह जो कहा गया है, इस विषय में भूत जीवों की उत्पत्ति नहीं

हो सकती, इस प्रकार होनेवाली शंका का परिहार करते हैं।

कुछ जो केवल भूमिपृष्ठपूर्ण अन्य जगत् हैं, उनमें जीव उस तरह निवास करते हैं, जिस तरह शिलाकोश के भीतर मेढ़क या भूमि के उदर में कीड़े ॥५९॥

जो कुछ दूसरे केवल जल से ही परिपूर्ण पृथ्वी, वन, पर्वत आदि हैं, उनमें भी प्राणी, मगर के सदृश, निरन्तर ही घूमा करते हैं ॥६०॥ दुसरे जो जगत् केवल अग्नि से ही पूर्ण है, उनमें जल आदिसे रहित भी प्राणी, अलातचक्र के सदृश यानी भ्रमण कर रहे उल्मुक की नाईं, केवल अग्निरूप होकर ही खूब चलते फिरते हैं ॥६१॥ अन्य जो केवल वायु से पूर्ण जगत् है, उनमें जो भूत हैं वे जल, अग्नि आदि से यद्यपि रहित हैं, तथापि केवल वायुरूप होकर ही, अर्जुननामक वायु के (रोगविशेष के) सदृश, घूमते फिरते हैं। *(अर्जुनवायु से ग्रस्त लोक आकाश में घूमते हैं, यह कहीं पर प्रसिद्ध है)* ॥६२॥ जो दूसरे केवल आकाशरूप अपनी देह से युक्त लोक हैं, उनमें भी आकाशरूप ही प्राणी हैं और वे सबके सब दर्शनव्यवहार करनेवाले हैं ॥६३॥

उस चिदाकाश में नीचे, ऊपर एवं चारों ओर कल्पित दिशाओं में उड़ रहे चित्र–विचित्र सब जगत् और उनमें रहनेवाली अनेक तरह की वस्तुएँ मैंने देखीं, यों उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामभद्र, कोई पाताल में गिर रही हैं, कोई आकाश में उड़ रही हैं, और कोई दिशाओं के मुख में स्थित हैं –इस तरह की केवल विभ्रम के कारण ज्ञात होने वाली अनेक तरह की सृष्टियों में, जो कि चितिरूप समूद्र के बुद्‌बुदों के ही स्वरूप में हैं, मैंने जो न देखी हो, वह वस्तु ही कौन–सी है, अर्थात् कोई नहीं। सभी तरह की असम्भव वस्तुएँ मैंने उनमें देखी, यह भाव है ॥६४॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

कल्पान्त में जगत् का नाश होने पर भी अज्ञात ब्रह्मका हृदय जगत् अविनाशी है,
ब्रह्म का ज्ञान हो जानेपर तो तीनों काल में जगत की सत्ता ही नहीं रहती।

अनादि अविद्या के कारण अज्ञात हुआ ब्रह्म ही अपने असली कूटस्थ पूर्णानन्द स्वभाव को भूलकर यह कल्पना करता है कि मैं चलनस्वभाव, स्वल्पस्वभाव आदिरूप हूँ, इस तरह की कल्पना कर मन, प्राण आदि के क्रम से भोक्तारूप और भोग्यरूप होकर सदा सब तरह से उत्तरोत्तर संसारी ही बनता जाता है, इसलिए जब तक अविद्या है, तब तक संसार की स्थिति सदा ही बनी रहेगी। यदि शास्त्र और आचार्य के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, तब तो वह सदा, सब ओर से तथा सभी प्रकार से पूर्णानन्द चिदेकरसमात्ररूप ही बन जाता है, इसलिए किसी समय कहीं पर, कोई भी और किसी व्यक्ति में भी संसार की संभावना नहीं की जा सकती, अतः ब्रह्म नित्यमुक्त स्वभाव ही है, यह बतलाने के लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जैसे जल में जल से ही जलरूप वेग-तरंग आदि स्फुरित होते हैं वैसे ही चिदाकाश में चिदाकाश से ही ये सब-अज्ञात आत्मा के स्वभाव से प्राण आदि उपाधियों से परिच्छिन्न-जीव स्फुरित होते हैं, और वे ही जीव उत्तरोत्तर हजारों संकल्प-विकल्पों के कारण संसार के बीजरूप होकर कारण बन जाते हैं, और हम लोगों के मन कहे जाते हैं ॥१॥

वे ही मन अपने अन्दर रहने वाली योग्य वासनाओं को जगत् के आकार में विकसित करने के कारण अनन्त जगद्रूप बन गये हैं, यह कहते हैं।

विशद आकाशरूप वे ही हम लोगों के मन हैं और वे ही स्वयं चारों ओर से अनन्त जगत् के रूप में परिणत हो गये हैं ॥२॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यही निकला कि अपनी अविद्या से अकेला ब्रह्म ही अनेक जीवों के आकारों में और अनेक सृष्टि के रूपों में संसार धारण करता है तथा अकेला वही अपनी विद्या से जीवभाव एवं संसार से मुक्त हो जाता है परन्तु यह निष्कर्ष ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पहले के प्राकृत प्रलय हो जाने के बाद सम्पूर्ण जीवों की समष्टि हिरण्यगर्भ के तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उसके निमित्त इन सब जीव और जगत् का बोध अवश्य हो जायेगा, ऐसी स्थिति में सभी की मुक्ति अवश्य माननी चाहिए, जब यह बात मानने को हम बाधित हो जाते हैं, तब यह शंका रह जाती है कि एक बार जो ब्रह्म मुक्त हो चुका, उसका जीवादिरूप संसार फिर कैसे हुआ, इस आशय से श्रीरामजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्र ने कहा : भगवन्, ये जितने प्राणी हैं, वे सब महाकल्प के विनाश में मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, इस स्थिति में फिर किसको किस तरह सृष्टिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?॥३॥

प्रश्न का अनुवाद कर गद्य और पद्यों से उसका उत्तर देने के लिए महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठ ने कहा : भद्र, महाप्रलय पर्यन्त पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश-इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थों का विनाश हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सभी जीव जगत् फिर जिस रीति से अनुभूत होता है, वह सानन्द आप सुनिये-यद्यपि यह मुनि लोग कहते हैं कि आकाश तक के समस्त विशेषों का विनाश हो जानेपर जीवजगत् मुक्ति में परिणत हो जाता है और केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है, जो वर्णनातीत परमार्थ चेतनघन है तथापि समझने की बात यह है कि चिन्मात्र ब्रह्म जो बच जाता है, उसका यह जगत् एक तरह का हृदय है और उससे अभिन्न है । सारांश यह निकला कि-*(यद्यपि मुक्त पुरुषों की दृष्टि से सभी जीवों की मुक्ति ही है, किसी के लिए कुछ भी बाकी नहीं बचता, तथापि दुसरे जो जीव हैं, उनमें हर-एकको तो तत्त्वज्ञान हुआ नहीं है इसलिए उनकी दृष्टि से अपनी-अपनी अविद्या तो नष्ट हुई नहीं अतः बन्धन का अनुभव होता है । जैसे चन्द्रलोक में जो मूलतः रहने वाले हैं अथवा अभी-अभी जो चन्द्रलोक*

में जा पहुँचे हैं, उनकी दृष्टि में चन्द्रलोक की स्वल्पस्वरूपता अत्यन्त असत् ही है, परन्तु भूमिपर स्थित पुरुषों की दृष्टि से तो चन्द्र स्वल्परूप ही है, ऐसे ही यहाँ पर भी जानना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि) वही देव बद्धदृष्टि से जगत् को अपना स्वभाव और हृदय समझता है तथा मुक्तदृष्टि से वैसा नहीं भी समझता । आत्मा के विषय में तात्त्विक विचार करके स्थित मुक्तस्वभाव हम लोग तो जगत् को विनोद से यानी यह जगत् बाधित हो चुका है, पर उसका केवल जले हुए वस्त्र के सदृश भास होता है–इस प्रकार के कौतुक से,कुछ है, यों देखते हैं, उसे वास्तविक रूप से नहीं देखते । इससे तीनों दृष्टियों में जगत् आत्मा से अभिन्न ही ठहरता है, इसलिए इसका क्या विनाश और क्या उत्पत्ति । वैसे इसका परमकारण विशुद्ध आत्मा अविनाशी है, वैसे ही उस आत्मा का हृदयभूत यह जगत् अविनाशी ही है, जगत् अविनाशी है, तो महाकल्प, अवान्तर कल्प आदि का व्यवहार हो सकता है, इस प्रकार की यदि कोई शंका उठाये, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि महाकल्प आदि भी तो जगत् के अवयव हैं । जब उक्त रीति से जगत् नित्य और स्थायी है तब उसके अंगभूत महाकल्प आदि अनित्य और अस्थायी कैसे हो सकता है ? और यह तो कहा नहीं जा सकता कि कारण एक समय में नष्ट होकर फिर दुसरे समय में आ जाते हैं । इसलिए यही मानना होगा कि सत्यस्वरूप जो कल्प, सृष्टि आदि हैं, वे ही जपमाला के अंगभूत मणियों के सदृश बार–बार कालचक्ररूप से घूम फिर कर आते जाते रहते हैं। अतीत, भविष्यत् आदि कल्प और सृष्टि आदि को लेकर कल्पादि में परस्पर जो भेदबुद्धि हो जाती है उसका एकमात्र कारण इस विषय का व्यापक अज्ञान ही है, परन्तु इस अज्ञान को यदि हम देखते हैं, तो हाथ लगता नहीं, अतः भेदबुद्धि कल्पादि की अस्थायिता आदि में हेतु नहीं हो सकती॥४॥

गद्यभाग से जिस अर्थ की सिद्धि की गई है, उस अर्थ का अब पद्य से उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, इसलिए किसी की न तो कुछ सृष्टि होती है, न किसी समय कुछ नष्ट होता है और न कभी कुछ उत्पन्न होता है, यह जो कुछ दृश्य है, सब शान्त, अज, ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥५॥

जगत् का विनाश नहीं होता, इसमें दूसरी युक्ति बतलाते हैं ।

जो असंख्य बड़े से बड़े आकाशतक के और छोटे से छोटे परमाणु तक के पदार्थ हैं, उन सबमें भी जो सत्ता है, वह विशुद्ध चिन्मात्र की ही सत्ता है ॥६॥ यह जगत् उस महाचिति का शरीर है, महाचिति तो नष्ट होती नहीं, इसलिए उसके विनाश के बिना जगत् कैसे नष्ट हो सकता है ?॥७॥

जगत् संवित् का हृदय है, यह तो स्वप्न में भी, जिसका सार ज्ञानभाव है, प्रसिद्ध हैं, यों कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में जगत् के रूप से संवित् का (ज्ञानका)हृदय ही भासता है, वैसे ही आदि सर्ग से लेकर यह सब जो कुछ भासता है, वह ज्ञानरूप आत्मा का ही हृदय है, और असल में यह सब है–

चिदाकाशरूप ॥८॥ भद्र, यह सृष्टि चिदाकाश का काल्पनिक अवयव(अंग) है और अंगभूत कल्पित इस सृष्टि के उदय तथा क्षय भी ऐसे ही कल्पित अंग है, अतः जो कुछ है वह चेतनरूप आकाश है, ऐसी स्थिति में कौन नाशवान और अनाशवान हो सकता है ?॥९॥ यह जो परमार्थ ज्ञानरूप आत्मा है, वह काटने के अयोग्य है । वह परमार्थ चिति (ब्रह्म) अज्ञानियों को दिखाई नहीं पड़ती, उसका जो कल्पित हृदय है, वह जगत् ही है । जैसे उस परमार्थ चेतन की उत्पत्ति और विनाश नही होता , वैसे ही उसके हृदयभूत जगत् एवं जगत् के हेतु अज्ञान के अनुभव की भी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता । केवल स्मरण और विस्मरण स्वभावरूप से अनुभव और अनुभव वह कल्पना करती है ॥१०॥

जगत् की आत्मा भी अविनाशी आत्मा को लेकर ही है, इससे भी जगत् विनश्वर नहीं है, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह आप जान लीजिए कि जो जो पदार्थ जिस जिस वस्तु के स्वरूपभूत हैं, वे उस उस वस्तु के विनाश के बिना विनष्ट नहीं हो सकते, इस नियम के आधार पर ब्रह्मरूप दृश्य ब्रह्म के सदृश अविनाशी ही है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप जगत् का विनाश तभी होगा जब ब्रह्मविनाश होगा, परन्तु ब्रह्म तो शाश्वत है, इसलिए जगत् नष्ट नहीं हो सकता ॥११॥

यदि शंका हो कि ब्रह्मरूप विश्व है, तब तो ब्रह्म भी अनेक तरह का होना चाहिए, क्योंकि विश्व अनेक तरह का है, तो इस शंका पर कहते हैं ।

महाप्रलय आदि भी उस महाकालरूप परमात्मा के कल्पित अवयव ही हैं, इसलिए विश्व की अनेकता से ब्रह्म में, अनेकता नहीं आ सकती, जैसे कि तरंगों की अनेकता से जल में ॥१२॥

यदि शंका हो कि सृष्टि, प्रलय आदि असंख्य अचेतन अवयवों से युक्त आत्मा विशुद्ध चिदेकरस कैसे हो सकता है, तो यह शंका योग्य नहीं है, क्योंकि वृक्ष नगर आदि अनेक प्रतिबिम्बों से युक्त स्फटिकशिला जैसे विशुद्ध चिदेकरसरूप हो सकती है, इस आशय से उत्तर देते हैं ।

चिन्मात्र परम ब्रह्मरूप आकाश में किस हेतु से सृष्टि और प्रलय हो सकते हैं तथा किस हेतु से किस तरह भावविकार आदि धर्म भी निराकार चिदाकाश में हो सकते हैं अर्थात् किसी तरह भी नहीं हो सकते ॥१३॥ जैसे स्फटिक में पड़े हुए चित्र-विचित्र प्रतिबिम्ब स्फटिक रूप से ही स्थित है, वैसे ही इस संविदेकरस ब्रह्म में पड़े ये जगत्, महाप्रलय आदि चित्रविचित्र प्रतिबिम्बरूप भाव भी ब्रह्मरूप से ही स्थित हैं ॥१४॥

जैसे मन के संकल्प से जनित यक्षनगर आदि केवल मनोरूप हैं, वैसे ही विशुद्ध चिति के संकल्प से जनित ये भाव भी विशुद्ध चितिरूप ही हैं, इस आशय से कहते हैं ।

समस्त आकारों से रहित स्वच्छ चितिमात्रस्वरूप आत्मा दृश्य की कल्पना करके अधीन हो जाता है । ठीक ही है, जो बालक अपने हृदय में मन से जिस यक्ष की कल्पना करता है, वह उसके

अधीन हो ही जाता है ॥१५॥

यह सब तो ठीक है, परंतु प्रश्न यह उठता है कि जगत् अविनाशी कैसे ? इसका उत्तर यह है –अविनाशी ब्रह्म का वह अवयव है, इससे इस आशय को लेकर वृक्षशाखा के दृष्टान्त से वर्णन करते हैं ।

भद्र, जैसे अवयवों से युक्त वृक्ष के शाखा, स्कन्ध, फल, पल्लव, पुष्प आदि अवयव (अंग) हैं वैसे ही आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ, व्यपदेश (निरूपण) के अयोग्य, परमार्थघन चेतनरूप आत्मा के प्रलय, महाप्रलय, नाश, उत्पत्ति, भाव, अभाव,सुख, दुःख, जन्म, मरण, साकार, निराकार आदि अवयव हैं। अतः जैसे यह आत्मारूपी अवयवी अविनाशी और वर्णनातीत है वैसे ही सर्ग, प्रलय आदि अवयव भी अविनाशी एवं वर्णनातीत हैं ॥१६॥

दृश्य और अदृश्य का भेद कैसे है ? इस पर कहते हैं ।

निरन्तर ही एकस्वरूपवाले अवयव और अवयवियों में, चाहे वे दृश्यरूप हो या अदृश्यरूप, किसी समय भी भेद नहीं रहता ॥१७॥

अवयव और अवयवी के अभेद का, वृक्ष और वृक्ष के अवयवों की समानता बतलाकर,निरूपण करते हैं ।

जैसे वृक्ष के अस्तित्व में मूलभूत कारण वृक्षज्ञान है, वैसे ही परमार्थघन आत्मा के जगत् के अस्तित्व में ज्ञान ही मूलभूत कारण है, *(इसलिए समानता प्रसिद्ध ही है ऐसी स्थिति में ज्ञानरूप मूल के आधारपर ही किसी–किसी प्रदेश में जो कुछ विचित्रता है, उसका वृक्ष के सदृश परिज्ञान करना चाहिए । जैसे–)* परमार्थघन परमात्म वृक्ष का कहीं पर सृष्टि रूप मध्यकाष्ठ है, कहीं पर लोकान्तररूप तने हैं, कहीं पर जम्बूद्वीप आदि व्यवस्थात्मक शाखाएँ हैं, कहीं पर पदार्थ रूप पल्ल्व हैं, कहीं पर प्रकाशरूप फूल हैं, कहींपर अन्धकाररूप हरित पत्तों की हरियाली है, कहीं पर आकाशरूप कोटर हैं, कहीं पर प्रलयरूप गुल्म (गाँठे) हैं, कहीं पर हरिहर आदि उत्तम देवतारूप गुच्छे हैं, कहीं पर जड़त्वरूप छिलके हैं । इस प्रकार निराकार आकाशरूप ही आकारविशेषों से संविदात्मक ब्रह्म में प्रतीत होता है और वह ब्रह्म के सदृश स्वच्छ स्वभाव होने के कारण उससे अभिन्न बनकर ही स्थित हैं ॥१८॥

इसी अर्थ को कहते हैं ।

भद्र, जितने भविष्यकाल के पदार्थ हैं , जितने भूतकाल के पदार्थ हैं,जितने वर्तमान काल के पदार्थ हैं, जितने सर्ग हैं, जितने प्रलय हैं, वे सब अनुभव से ही सिद्ध होते हैं, अतः अनुभवरूप हैं और अनुभव स्वसत्तात्मक आत्मा ही है, इसलिए यों सब कुछ ब्रह्मरूप ही अचल स्थित है ॥१९॥

तब क्या ब्रह्म में कल्पित सृष्टि, प्रलय आदि सत्य हैं ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

यद्यपि ऐसा (सृष्टि की ब्रह्ममयता) है, तथापि परम ब्रह्मरूप आकाश में सृष्टि, महाप्रलय

आदि कोई भी रंग ऐसे नहीं हैं, जैसे चन्द्रबिम्ब में कलंकशून्यता ॥२०॥ श्रीरामजी, सम्पूर्ण मलों से रहित परम चिदाकाश में कहाँ सृष्टि-प्रलय के कलंक, कहाँ आदि, मध्य और अन्त की कल्पना तथा कहाँ लोकान्तरों के विभ्रम ? ॥२१॥

तब उस प्रकार के विभ्रम में कौन हेतु है और उसकी शान्ति कैसे होती है, इस पर कहते हैं।

आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का अपरिज्ञान ही उसमें दोष-सा बनकर स्थित हो गया है, इसलिए बाह्यदृष्टि को हटाकर केवल प्रत्यगात्मा की ओर लगाई गयी बुद्धि से यदि विचार किये जाते हैं, तो उसी विचार से वह नष्ट हो जाता है ॥२२॥

जो आत्मा के अज्ञान का साधक है. वह जब चरम (अन्तिम) आत्मसाक्षात्कार वृत्ति से प्रकाशित हो जाता है, तब वही अज्ञान का बाधक बन जाता है। इस विषय में युक्ति बतलाते हैं।

यदि विचारा जाय, तो वह अज्ञान जिस ज्ञानरूप आत्मा से सिद्ध हुआ है, उसीसे वह उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार पवन से ही जनित अग्निरूप दीपक पवन से नष्ट हो जाता है ॥२३॥

ज्ञान, अज्ञान और अज्ञान के कार्य का निवर्तक है, यह कहते हैं।

अज्ञान भलीभाँति परिज्ञात हो जानेपर 'वह था ही नहीं' इस रूप से जाना जाता है तथा बन्ध और मोक्ष से रहित ब्रह्म ही सब कुछ है, यों बोध होता है ॥२४॥ हे रामजी, मोक्ष के लिए ये ही वर्णित बोध आदि उपाय मैंने आपसे बतलाये। जिस पुरुष का सतत प्रयत्न आत्मा के विचार में चालू रहता है, वही अधिकारी पुरुष इन उपायों को प्राप्त करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥२५॥

श्रीरामजी, यह अनादि जगत्-रूपी जाल कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं है परन्तु जो यह कुछ वर्णित जीव आदिरूप जगत् भासता है, वह तो भोग और मोक्ष चाहने वाला यानी अपने तात्त्विक स्वरूप को न जानने वाला ब्रह्म ही है। वर्णित विचारदृष्टि से अणिमा आदि आठ गुणों से युक्त सर्वेश्वर भी मायारूप होने से असार है। इस प्रकार के ऊँचे वैराग्य से ईश्वररूपता को तृणरूप समझ रहा कोई अधिकारी पुरुष अपने में निरतिशयानन्दरूप ब्रह्मरूपता का निश्चय कर अपनी आत्मा में पूर्ण संतुष्ट हो स्थित रहता है ॥२६॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

आकाशरूप मुनि की अनेक ब्रह्माण्ड देखने की इच्छा तथा स्वप्न के सदृश आकाशरूप स्त्री के साथ बातचीत का वर्णन।

भगवन्, पक्षियों की नाईं आकाश में उड़ते हुए आपने क्या उस जगत्-समूह को परिच्छिन्नभाव से स्थित होकर देखा या अपरिच्छिन्न चिदाकाश भाव से यों सन्देह करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, पक्षियों की नाईं आकाश में उड़ते हुए आपने उस समय उस

जगत्–समूह का जो अवलोकन किया, वह क्या एकदेश में स्थित होकर किया या चिदाकाशरूप शरीर से किया *(यह कहने की कृपा कीजिये)*॥१॥

इनमें दूसरे विकल्प का अवलोकन कर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जब अनन्त आत्मा सर्वव्यापक चिदाकाशरूप हो गया, तब उस अनन्त अवस्था में मेरे गमन और आगमन कैसे हो सकते हैं ? ॥२॥ न तो उस समय मैं एक स्थान में स्थित हो रहा था और न तो मैं गतिमय हो रहा था, इसलिए इस अपरोक्ष आत्मस्वरूप चिदाकाश में ही अपने इसी अपरिच्छिन्नरूप से मैंने यह सब जगत्–समूह देखा ॥३॥

एकदेशस्थिति आदि की कल्पना के बिना स्वात्मरूप से अनात्मदर्शन की अप्रसिद्धि का दृष्टांत देकर निराकरण करते हैं ।

जैसे देह में आत्मत्वबुद्धि होने से मैं पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त सभी अंगो को देखता हूँ, वैसे ही मैंने इस चर्म चक्षु के बिना भी चिद्रुपी चक्षु से जगत्समूह देखा ॥४॥

असंग, उदासीन और अवयवशून्य ब्रह्मभूत का अवयव जगत् कैसे हुआ, इस पर कहते हैं।

उस समाधिकाल में आकृतिशून्य निरवयवस्थिति सम्पन्न निर्मल चिदाकाश रूप हुए भी मेरे वे जगत् मेरी सत्ता ही से सत्तावान होने से अवयवसमूह हो गये थे,जिससे कि मेरी वस्तुस्वभावता स्वतः नष्ट न हो सकी थी तथा स्वतः सत्ताशून्य होने से उनमें वस्तुता भी न थी, कहने का तात्पर्य यह कि उस समय वास्तविक अवयवता न हुई ॥५॥

उक्त अर्थ में स्वाप्निक जगत् के तरह के रूप को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषय में आपको प्रमाण तो स्वप्न में देखा गया भुवनविभ्रम ही है, क्योंकि स्वप्न में जो दृश्य अनुभूत होता है वह चिदाकाश ही है, उसके सिवा और कुछ नहीं ॥६॥

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति तो निर्विकल्प समाधि में ही जगत् के दर्शन के अभाव का वर्णन करती है, सविकल्प समाधि में जगत् के दर्शन के अभाव का वर्णन नहीं करती, इस अभिप्राय से नेत्र आदि इन्द्रियों के बिना भी जगत् के अवलोकन में दूसरा दृष्टांत देते हैं ।

जैसे वृक्षदेहात्मभूत – वृक्ष का अभिमानी जीव पत्र, पुष्प, फलादि से सम्पन्न अपने को ही देखता है, वैसे ही अपने ज्ञानरूपी नेत्र से मैंने इस सारे जगत् को देखा ॥७॥ अनन्त–समुद्राभिमानी जीव समस्त जलचरों, तरंगों, आवर्तों एवं फेनको जैसे जानता है, वैसे ही मैंने नानाविध अनेक संसारों को जाना ॥८॥ जैसे अवयवी अपने अवयवों को अपने स्वरूप के अन्दर अपने से अनन्य ही समझता है, वैसे ही इन सृष्टियों को मैंने समझा ॥९॥ हे, श्रीरामचन्द्रजी, बोधस्वरूप आत्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त हुआ मैं अब भी उन नानाविध अनेक सृष्टियों को वैसे ही देह, आकाश, पर्वत, जल और स्थल में भी देख रहा हूँ ॥१०॥ यह सारा विश्व हमारे सामने उपस्थित है । बोधस्वरूप

आत्मा के साथ एकता को प्राप्त हुआ मैं घर के भीतर और बाहर के देश को इन नाना जगत् समूहों से परिपूर्ण समझता हूँ ॥११॥ जैसे जल रसता को जानता है, जैसे हिम शीतलता को जानता है, जैसे स्पन्दन को हवा जानती है, वैसे ही शुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष इस संसार को भी जानता है ॥१२॥

क्या अकेले आप ही जानते हैं ? इस पर 'नहीं' यह कहते हैं।

जो-जो विवेकी पुरुष शुद्ध बोधात्मा के साथ ऐक्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे सबके सब मेरे साथ एकरूप हो गये हैं, इसलिए मैं उन सबका एक आत्मा होकर अपने आत्मा को इस तरह देखता हूँ ॥१३॥ इस सर्वात्मस्वरूप दृष्टि का परिपाक हो जाने पर वेत्ता, वेदन और वैद्यरूप (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप) त्रिपुटीबुद्धि स्वात्मातिरिक्त कोई दूसरी वस्तु के रूप में नहीं रह पाती, क्योंकि विज्ञानरूप आत्मा के साथ सबकी एकरूपता उदित हो जाती है ॥१४॥

एक ही ज्ञान से व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थों का दर्शन आपको कैसे हुआ, इस आशंका पर दृष्टांत द्वारा इसका संभव बतलाते हैं ।

पर्वत पर स्थित पुरुष की दिव्य दृष्टि जैसे करोड़ों योजन पर स्थित बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों को देखती है, वैसे ही मैंने भी ये सब जगत् देखे ॥१५॥ जैसे पृथ्वीमंडल का अभिमानी जीव पृथ्वी पर के निधि, धातु, रस आदि सभी पदार्थों को जानता है, वैसे ही मैंने अपने से अभिन्न सम्पूर्ण दृश्य समूह को जाना ॥१६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे कमललोचन ब्रह्मन्, जब आप इस तरह अनुभव कर रहे थे, तब आर्या छन्द पढ़नेवाली उस कान्ता ने क्या किया, वह कहिये ॥१७॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उस आर्या छन्द का पाठ करती हुई उसी प्रकार प्रशंसादि प्रीतिजनक व्यापार से युक्त, चिदाकाशशरीरधारिणी वह कान्ता आकाश में देवी की तरह मेरे समीप में स्थित हुई ॥१८॥

यदि वह आपके समीप स्थित थी, तो फिर आपने बिना समाधि के ही पहले ही उसे क्यों नहीं देखा, इस पर कहते हैं।

जैसा मैं आकाशमय शरीर था वैसी ही वह ललना भी आकाशमय शरीर थी, अतः समाधि के पहले उस शरीर से मैं उसे न देख सका ॥१९॥ आकाशस्वरूप मैं था, आकाशमय शरीरधारिणी वह थी तथा आकाशमय वह सारा संसारसमूह भी उस समय चिदाकाश में ही स्थित था ॥२०॥

यदि वह कान्ता आकाशरूप ही थी, तो फिर जीभ, ताल, ओठ एवं प्राणवायु के न रहने से कैसे वह आर्या का पाठ कर सकी, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, शरीर में स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणों के प्रयत्नों से उत्पन्न हुए वर्णों से जो वाक्य उत्पन्न होता है वह आकाशशरीरधारिणी उस, स्त्री से कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥२१॥

एवं आकाशस्वरूप आपके लिए भी उसके रूपदर्शन का पर्यालोचन करना कोई सरल काम नहीं है, यह कहते हैं।

भगवन्, बाह्यरूप आदि का दर्शन तथा आभ्यन्तर मन का अनुभव शुद्ध चिदाकाशरूप आत्माओं को कैसे हो सकता है, इसलिए उस समय आपने जैसे जगत् के दर्शन तथा सम्भाषण आदि व्यवहार किये, उसका जो निचोड़ हो, वह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२२॥

कल्पना से यह सब कुछ उत्पन्न है, इसमें स्वप्नदृष्टान्त ही प्रमाण हैं, यह उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्न में बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान, शब्दपाठ तथा वचन आकाश में ही स्थित रहते हैं वैसे ही वे सभी पदार्थ उस चिदाकाश में ही रह रहे हैं ॥२३॥ हे श्रीरामजी, जैसे आपके स्वप्न में चिदाकाश ही बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थों के रूप से उदित होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकाल में भी वह सारा दृश्यप्रपंच चिदाकाशरूप ही स्थित था ॥२४॥

यह तो मैं बहुत ही कम कह रहा हूँ कि वह सारा दृश्य प्रपंच चिदाकाश रूप ही स्थित था। तत्त्वतः विचार करने पर तो इस समय यह सम्पूर्ण संसार भी चिदाकाश रूप ही है । यहाँ भी शरीरादि भ्रान्ति से ही व्यवहारभ्रम हो रहा है, यह महाराज वसिष्ठजी कहते हैं ।

हमारे लिए केवल वही दृश्य चिदाकाशरूप था, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ये जितने पदार्थ हम लोगों की बुद्धि के विषय हैं वे सबके सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिदाकाश रूप ही इस समय भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि हमारे उस समाधिकाल में विद्यमान थे ॥२५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत् की वासना से उपहित चितिस्वभाव का जो निश्चय है वह एक परमार्थ महाधातु (परमार्थरूपी श्रेष्ठमणि) है, यह सर्वत्र श्रुति तथा ब्रह्मज्ञानी विद्वानों के अनुभव आदि से प्रसिद्ध है ॥२६॥ भद्र, शरीरस्थान करणों (जीभ आदि इन्द्रियों) की सत्ता में आपको कौन–सी प्रभा है ? जैसे उनके देहादि स्थित हैं वैसे ही हमारा भी यह स्थित है ॥२७॥ जैसे स्वप्नादि देहों की सत्ता है, वैसे ही यह भी है, जैसे यह है, वैसे ही वह भी है । असत् यह जगत् सद्रूपता को मानों प्राप्त है तथा निर्विशेष आत्मतत्त्वरूप जो सत् है वह भी आवृत होने के कारण असत्–सा – अत्यन्त अप्रसिद्ध सा–स्थित है। इतना ही नहीं और सुनिये –चिदानन्दस्वभाव का जो व्यत्यास है (उलटफेर है) वह भी ऐसा ही है ॥२८॥ जैसे स्वप्न में पृथ्वी के ऊपर खेती आदि, रास्तों पर यातायात आदि तथा महल आदि के ऊपर शयन आदि का जो व्यवहार होता है वह भी सब चिदाकाशरूप ही है। वैसे ही उस समय मैं, आप, वह स्त्री तथा वह और यह सब कुछ चिदाकाशरूप ही था ॥२९॥ जैसे स्वप्न में न रहते हुए भी युद्ध के कोलाहल तथा यातायात का मनुष्य अनुभव करते हैं, वैसे ही ये जगत् के समूह मनुष्यों द्वारा अनुभूत हो रहे हैं ॥३०॥

स्वप्न के वैचित्र्य में भी किसी अन्य हेतु की संभावना का तो अवकाश ही नहीं है, क्योंकि

अनवस्था आदि दोष आ जाने के भय से सभी वादियों के चुप हो जाने के कारण 'एकमात्र अविद्योपहित चिदात्मा का ही यह स्वभाव है 'इस मेरे पक्ष की ही अन्त में सिद्धि है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप यह कहें कि यह स्वप्नदृश्यश्री कैसे हुई, तो आपका वह कहना असंगत होगा । यह अवाच्य है, क्योंकि स्वप्नानुभवस्थिति से अन्य कोई दूसरा हेतु ही नहीं है ॥३१॥ स्वप्न कैसे दिखाई देता है, यह पूछनेवाले को सभी लोग यही उत्तर देते हैं कि-जैसे तुम देखते हो । तात्पर्य यह कि उसका अनुभव ही उसके प्रश्न का एकमात्र उत्तर है । यहाँ पर उसका साधक कोई दूसरा हेतु नहीं है ॥३२॥

सुषुप्तिसदृश प्रलय के अनन्तर प्रथम सर्ग से ही स्वप्नजन्तु की तरह कल्पना रूप विराटात्मा चिदाकाश में चिदाकाश का ही विस्तार करता है, यह कहते हैं ।

सुषुप्तिसदृश प्रलय के अनन्तर आकाश में स्वप्न के जीव के सदृश प्रथम सर्ग से ही विराट्-रूप चिदाकाश ही चिदाकाश में परस्पर विषय-विषयीरूप से सापेक्ष होकर भासता है ॥३३॥

तब क्या द्रष्टान्तभूत स्वप्न-स्वभाव ही जगत है, 'नहीं' - ऐसा कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, मैं आपके बोध के लिए स्वप्न शब्द से व्यवहार करता हूँ। वस्तुतः यह दृश्यप्रपंच तथा स्वप्न भी न तो सत् है और न असत् ही है, किन्तु केवल ब्रह्म ही है ॥३४॥

इस तरह अवान्तर प्रश्न का उत्तर देकर पूर्व में पूछी गयी कथा के शेष अंश को कहते हैं।

तदनन्तर हे राघव, कान्त में अनुरागवती उस दृश्यरूप कान्ता से - उसके अभिप्राय का विशेष ज्ञान रखनेवाली संवित् का संकल्प करके-मैंने यह पूछा ॥३५॥

भगवन्, शरीररहित आपका उसके साथ प्रश्नादि व्यवहार कैसे हुआ, इस पर कहते हैं।

स्वप्न में स्वप्नजनों के साथ जैसा व्यवहार प्रवृत्त होता है, वैसा ही उस समय मेरा भी व्यवहार उस स्त्री के साथ प्रवृत्त हुआ ॥३६॥

उसके साथ उस समय का मेरा व्यवहार भी वैसा ही था, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नसदृश वह व्यवहार आकाशरूप ही था, वैसे ही यह आत्मा, में तथा जगत् भी चिदाकाशरूप ही है यह आप जान लीजिये ॥३७॥

तब कहिये, जगत् और स्वप्न, ये दो नाम क्यों पड़े, इस पर कहते हैं ।

जैसे स्वप्न का जगत् चिदाकाशरूप ही है वैसे ही यह जगत् भी चिदाकाशरूप ही है अर्थात् दोनों एक-से हैं, केवल भेद इतना ही है कि जाग्रत काल के प्रारम्भ में जो जगत् का भान होता है उसे स्वप्न कहते हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में जिसका उद्‌भव होता है उसे जगत् कहते हैं ॥३८॥ यह जो जगत् का आभोग है वह स्वप्न ही है अथवा कुछ नहीं है, वह एकमात्र चिदाकाश ही है। क्योंकि इस तरह जो कुछ दिखाई देता है वह सब निर्मल सत् तथा ज्ञप्तिमात्र ब्रह्म ही जगत् के रूप से स्थित है ॥३९॥ अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, यह विशेष कह सकते हैं कि आप लोगों की वासना के

आकार से स्वप्न का द्रष्टा साकार है, लेकिन सृष्टिरूप स्वप्न का द्रष्टा तो स्वतः चिदाकाश ही है ।।४०।। जैसे द्रष्टा और दृश्य दोनों निर्मल चिदाकाश ही हैं, वैसे ही द्रष्टा और दृश्य के मध्य में पड़ा दर्शन भी चिदाकाशरूप ही है । हे श्रीरामचन्द्रजी इस महान् स्वप्नरूप जगत् में जगत्–रूप से निर्मल चिदाकाश ही स्थित है ।।४१।। निराकार चिदाकाश का जो हृदय के भीतर स्वतः जगद्रूप स्वप्न स्फुरित होता है, उस स्वप्न का जन्म कैसे हो तथा वन्ध्यापुत्र के सदृश उस जगत् से वह चिदाकाश साकार कैसे होगा ?।।४२।। साकार आप लोगों का जो स्वप्न–जगत् निर्मल चिदाकाशरूप है तब मेरा निराकार ब्रह्मका स्वरूप जगत् निर्मल चिदाकाशरूप क्यों न हो ?।।४३।। उपादान आदि सामग्री के बिना अभित्ति में ही चिदाकाश इस जगद्रूपी स्वप्न को बिना निर्मित हुए ही निर्मित–सा देखता है ।।४४।। कोमल चिदाकाशरूप मिट्टी से हिरण्यगर्भनामक ब्राह्मण ने इन्द्रियरूपी झरोंखों से युक्त देहादि सृष्टिरूप मण्डप का यद्यपि निर्माण किया है, फिर भी उसका वह निर्माण नहीं के बराबर है ।।४५।। न तो कर्तृत्व है, न ये जगत् हैं, न भोक्तृत्व है, न आस्तिकता है और न कुछ नास्किता ही है, अतः सम्पूर्ण दृश्यों का परिमार्जन हो जाने से उनका एकमात्र साक्षी ही परमार्थ है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने भीतर पाषाणतुल्य मौनता का अवलम्बन करके बाहर यथाप्राप्त प्रवाहपतित व्यवहार करते चलिये । जब तक प्रारब्ध कर्म का शेष है तब तक यह शरीर रहे या इसके बाद न रहे – इसमें कोई विशेषता नहीं है ।।४६।।

बासठवाँ सर्ग समाप्त

तिरसठवाँ सर्ग

अज्ञानी की दृष्टि में भीतर ही भीतर अनन्त सर्गसम्पत्तियाँ हैं,
लेकिन ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में एकमात्र चिद्घन ब्रह्म ही सब कुछ है, यह वर्णन।

स्वप्न व्यवहार का दृष्टान्त देकर पूर्व में समर्थित हुए भी शरीररहित पुरुष के संभाषण आदि रूप व्यवहार को मन्दबुद्धि पुरुषों के स्पष्ट बोध के लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : 'हे मुने, उस स्त्री के साथ मुख, जीभ आदि अवयवों से रहित एकमात्र वासनारूप देह से आपका संभाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशा में आपने क च ट त प आदि वर्णों का जीभ के बिना कैसे उच्चारण किया ? ।।१।।

वर्णों का जो उच्चारण आदि व्यवहार है उसमें शरीर की कारणता नहीं है, क्योंकि मृतक के शरीर के रहते हुए भी वैसा व्यवहार नहीं दीखता तथा शरीर के न रहनेपर भी स्वप्न में उस तरह का अनेक व्यवहार दीखता है, अतः अन्वयव्यतिरेकव्यभिचार है तथा व्यवहार को सहेतुक मानने पर सत्यतापत्ति भी है । इसलिए जो कुछ व्यवहार है वह सब सिर्फ कल्पनामात्र है । उस तरह का व्यवहार तो उस समय भी दुर्लभ ही था, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाकाशरूप तत्वज्ञानियों के मत में वर्णों के बीच में जो क च ट त प आदि वर्ण हैं उनके किसी काल में भी उच्चारण ऐसे नहीं होते, जैसे मृतकों के मुख से किसी वर्ण के उच्चारण नहीं होते, क्योंकि वे सभी कल्पनामात्ररूप ही हैं ॥२॥

उक्त अर्थ में अनुकूल तथा विपक्ष में प्रतिकूल तर्क उपस्थित करते हैं ।

यदि कहीं स्वप्नों में वर्णों का उच्चारण परमार्थ होता है तो फिर पास में स्थित जागे हुए पुरुष को भी उसका अनुभव होता अर्थात् समीपस्थ जाग्रत पुरुष भी उसे सुन पाता ॥३॥ इसलिए स्वप्न में उसकी सत्यता कुछ भी नहीं है, वह एकमात्र भ्रांति ही हैं। निद्रास्वभाव बल से कल्पित चिदाकाशमात्र का वह स्फुरण चिदाकाश में ही है ॥४॥ जैसे नेत्ररोग के कारण चन्द्रमा में कालापन, आकाश में साकारता, पत्थर की मूर्ति आदिमें गीत आदि ये सब प्रातिभासिक अर्थता को प्राप्त चिदाकाशरूप ही है, वैसे ही स्वाप्निक देह तथा शब्द आदि भी तत्तत् ज्ञात वस्तु के संस्कारों से उपहित चिदाकाशरूप ही होकर अवभासते हैं ॥५॥ जैसे आकाश का मूर्तरूप से स्फुरण आकाश से भिन्न नहीं है, वैसे ही वह चिदाकाश का स्फुरण आदि भी, जो स्वप्नज्ञान में जगदाकार से प्रसिद्ध है, उस चिदाकाश से भिन्न नहीं है । हे श्रीरामजी, उसे आप चिदाकाशरूप ही समझिये ॥६॥

इस तरह स्वप्न के पदार्थों में चिदाकाशमात्रता सिद्ध करके उसी के साम्य से सामने स्थित तथा समाधि में दृष्ट पदार्थों में भी चिदाकाशमात्रता सिद्ध ही है, यह कहते हैं।

जैसे स्वप्नकालका जगत् चिदाकाशरूप है, वैसे ही हम लोगों के सामने स्थित यह जाग्रत् काल का जगत् भी चिदाकाशरूप व्यवस्थित है । तथा जैसे यह जगत् चिदाकाशरूप होते हुए भी चिदाकाशरूप नहीं है, वैसे ही समाधिकाल का भी मेरा वह जगत् है ॥७॥

इससे सिद्ध हुआ कि जो कुछ दीखता है वह सब चिति का ही स्फुरणरूप चमत्कार है, अणुमात्र भी अचिद्रूप कुछ नहीं है, यह कहते हैं।

जिस रीति से यह सब सौन्दर्यपूर्ण जगत् स्फुरित हो रहा है उस रीति से तो वह चतुर ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है । जैसा यह जगत् सत्य और स्थिर-सा स्फुरित हो रहा है वैसा तो वह चतुर ब्रह्म ही स्थित है ॥८॥

प्रमाणगम्य जगत्प्रपंच की तुलना प्रमाणगम्य स्वप्न से करना अयुक्त है, यह श्री रामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, स्वप्नरूप ही यह जगत् जाग्रतस्वरूप कैसे अवस्थित है तथा असत्य ही यह सत्य-सा कैसे हो गया, यह कैसे संभव है ?॥९॥

ठीक है, आपाततः यह भले ही आँखों का विषय हो जाय, फिर भी तत्त्वतः विमर्श को सहन न कर सकने से तथा अस्थिर होने से स्वप्न का साम्य है ही, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत् कैसे स्वप्न ही है, यह आप अच्छी

तरह सुनिये। स्वप्न के समान ही ये जगत न तो आत्मा से भिन्नरूप है और न तो आत्मा के समान ये सत्यरूप और स्थिर ही है। ये सब के सब अनिर्वचनीय ही एकमात्र आत्मसत्ता से स्थित है ॥१०॥

इस तरह परस्पर एक दुसरे का बीज होने से तथा विरुद्ध भेद और अभेदरूप एवं सम और असमरूप होने से इनका स्वप्नसाम्य है ही, यह कहते हैं।

जैसे बीज की राशि में अनुभूत हुए बीज स्वप्न में कोई अन्य-अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम होते हैं और कोई विषम भी होते हैं। वैसे ही चिदाकाश में सब जगत् कोई विषम भी होते हैं ॥११॥

केले की छाल की रचना की तरह परस्पर भीतर-ही-भीतर अनन्तरूप में इनकी स्थिति का अनुभव होने से भी ये सभी मिथ्या हैं, इसलिए स्वप्नसाम्य हैं ही, यह कहते हैं।

प्रत्येक जगत् के भीतर परस्पर एक दूसरे से न देखे गये अनेक भिन्न-भिन्न स्वरूप के ये जगत् वैसे ही उदित हुए हैं, जैसे केले की छाल ॥१२॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं।

वे सब जगत् परस्पर एक दुसरे को कदापि कुछ नहीं देख पाते तथा कोठी के भीतर रखे गये जड़ बीजों की एक राशि की तरह भीतर ही भीतर नष्ट भी हो जाते हैं ॥१३॥ नष्ट हो जाने पर भी वे चेतनरूप ही रहते हैं, तपे हुए खप्पर (भिक्षापात्र) में गिरे हुए जलबिन्दु के सदृश शून्यरूपता प्राप्त कर शून्यस्वरूप ही नहीं हो जाते। हम लोगों की तरह वे परस्पर देखते भी नहीं, किन्तु अज्ञान से इनका चेतन रूप ढक जाने के कारण निरन्तर सोये हुए-जैसे स्वप्नका ही अनुभव करते हैं ॥१४॥ सोये हुए वे जीव स्वप्नजंजाल को प्राप्त कर वहीं पर कल्पित दिनों में अपना सब व्यवहार करते हैं। स्वप्न-जगत में स्थित वे असुर देवताओं से निहत होकर अपने अज्ञान के कारण न तो मुक्ति प्राप्त करते हैं, न जड़ता के कारण जड़भाव को प्राप्त होते हैं और न देहसहित ही वे रहते हैं। ऐसी दशा में इस तरह के वे स्वप्नजगत्स्थिति के सिवा हो ही क्या सकते हैं? ॥१५,१६॥ इसी तरह मनुष्य भी अपने स्वप्नरूप जगत्-समूह में वासनाओं के कारण अपना-अपना आचार और व्यवहार करते हैं तथा वे स्वप्न के मनुष्य स्वप्न के अन्य पुरुषों से मार दिये जाने पर पूर्वोक्त असुर जीवों के सदृश स्वप्नपरम्परा में ही स्थित रहते हैं ॥१७॥ चूँकि वे भी ज्ञान न होने के कारण मोक्षरहित और शरीरशून्य ही रहते हैं, इसलिए वे जाग्रत में समर्थ और वासनाओं से व्यवहारशील नहीं होते। अतः चेतना और वासना से युक्त ऐसे मनुष्य दृष्टस्वप्नरूप जगत्समूह के सिवा कहाँ निवास करें? स्वप्न के सिवा उनकी कोई दूसरी गति नहीं है, यह तात्पर्य है ॥१८॥

यह असुर और मनुष्यों में जो दिखलाया गया न्याय है, उसे राक्षस आदि में लगाना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

सोये हुए स्वप्नरूप जगज्जाल की व्यवस्था के अनुसार आचार करनेवाले जो राक्षस स्वप्न के

देवताओं से मारे गये, वे असुरों के सदृश उसी स्वप्न में ही व्यवस्थित है ॥१९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जो स्वप्न में मारे गये कहिये वे क्या करते हैं । अज्ञान के कारण वे मुक्ति को नहीं प्राप्त हुए तथा चेतन होने के कारण पत्थर के सदृश भी वे स्थिर न रहे ॥२०॥ पर्वत, सागर, पृथ्वी तथा अनेक जनों से भरे यथास्थित इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को वे लोग चिरकालतक ऐसे अनुभव करते हैं, जैसे ये सत्यत्वाभिमानी हम लोग अनुभव करते हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, उनका अपना-अपना स्वप्न चिरकाल की अनुवृत्ति से हम लोगों के अनुभव की तरह जाग्रतअवस्थारूप ही हो जाता है ॥२१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके कल्प और जगत् की स्थिति, जैसी हम लोगों की है वैसी ही है और हम लोगों के जगत् की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी उन लोगों की है ॥२२॥ ऐसी स्थिति में हम लोगों से अनुभूत हो रहा यह जगत् तथा इसके भीतर रहनेवाले हम लोग यदि उनसे देख लिये जाते हैं, तब तो हे श्रीरामजी, इनके स्वप्न के जो पुरुष हैं वे ही हम लोग ये स्थित हैं और उनके जो स्वप्न के संसार हैं, उनमें से कोई यह एक हमारा संसार है- ऐसा वे लोग अवश्य समझते होंगे ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके स्वप्न के वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुष के अनुभव से चूँकि तुल्य हैं अतः वे सत्य ही हैं, क्योंकि उनकी सत्ता के निमित्तभूत अधिष्ठान चिदात्मा सर्वगामी होने से तुल्य है॥२४॥ जैसे आत्मा में वे स्वप्न के पुरुष सत्य हैं वैसे ही दूसरे भी पुरुष, जिनका प्रत्येक स्वप्न में मुझे अनुभव होता है, सत्य ही हैं । हे श्रीरामजी आप भी उन्हें वैसा ही समझिये ॥२५॥ जैसे आपने उस अपने स्वप्न में अनेक नगर तथा अनेक नागरिक देखे, वैसे ही वे सब अब भी स्थित हैं, क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वात्मक है ॥२६॥ तत्-तत् स्वाप्निक पदार्थ जाग्रत्अवस्था में विशीर्ण हो जाते हैं, यह जैसे अनुभव होता है, वैसे ही वे स्वप्नकाल में स्थित भी रहते हैं, यह भी अनुभव होता है। अथवा सबकी सत्ता ब्रह्मसत्तारूप है, इसलिए किसी की सत्ता का कदापि अपलाप नहीं किया जा सकता अतः सर्वात्मक सभी सर्वत्र सदा परब्रह्म परमात्मा में ही है । आकाशरूप से स्थित इसका कुछ भी कहीं नाश नहीं होता, वैसे ही उत्पत्तिशून्य, निरन्तर और अनन्त परमाकाश ब्रह्म में अन्तशून्य-अनेक चित्तसमूह हैं, उनमें अन्तशून्य (असीम) अनेक जगत् के गण हैं, उनमें भी प्रत्येक संसार के अनेक आकाश कला कोश हैं, उनमें भी प्रत्येक के अनेक संसार मण्डल हैं, उनमें भी प्रत्येक संसार मंडल के पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न आकार के अनेक लोक हैं, उन लोकों के अन्दर अनेक द्वीप हैं, उनमें भी प्रत्येक द्वीप के भीतर अनेक पर्वत हैं,उन पर्वतों में भी प्रत्येक पर्वत में अनेक मण्डलों का विस्तार है, उनमें भी प्रत्येक मण्डल के अनेक ग्राम हैं, उनमें भी प्रत्येक गाँव के अन्दर अनेक छोटे-छोटे गाँव हैं, उन छोटे-छोटे गाँवों के भीतर अनेक घर हैं, उनके भी प्रत्येक घर के अन्दर अनेक प्राणी रहते हैं । उन सब प्राणियों के बीच अनेक युगादिकाल हैं । जितने जो जीव मर चुके हैं और जो मोक्षरहित स्थित हैं उतने ही उनके अनेक अक्षय संसार पृथक्-पृथक् स्थित हैं ॥२७-३२॥

उतनी संख्या से भी संसार की संख्या समाप्त नहीं हो जाती, इसलिए अनवस्था बराबर बनी हुई है, जो एकमात्र माया का ही अलंकार है, इस आशय से कहते हैं ।

तथा उन जीवों के वासना के अन्दर अनेक जीव हैं और उन अनन्त जीवों के अनन्त मन हैं । उनमें भी प्रत्येक मन के भीतर असंख्य संसारमण्डल हैं, पुनः उन संसारमण्डलों के अनेक संसार हैं, फिर उन संसारों में भी प्रत्येक संसार में अनेक जीव हैं, पुनः उन जीवों के अनेक मन हैं और उन मनों के अनेक संसार है ॥३३॥ इस तरह आदि और अन्त से शून्य यह दृश्यमान भ्रम बराबर चला ही जा रहा है। इसका कहीं पर ओर-छोर नहीं है । लेकिन हाँ, ब्रह्मज्ञानी के पक्ष में यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥३४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतर में, आकाश में, पाषाण में, जल में और स्थल में सर्वत्र तत्-तत् पदार्थों के अन्दर चूँकि चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है, अतः वही सम्पूर्ण विश्वरूप स्थित है, 'जगत' इस नामकी कोई दूसरी वस्तु है नहीं । ऐसी स्थिति में चिन्मात्र परमात्मा के सर्वव्यापी होने से जहाँ-तहाँ सर्वत्र जगत् है वह सारा विश्व तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में निर्विशेष निरतिशयआनन्दैकरस ब्रह्म ही है, परन्तु वही विश्व अज्ञानियों के मन में दृश्यप्रपंचरूप से स्थित है यानी अनर्थरूप ही है ॥३५॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

वसिष्ठजी के प्रश्न करने पर विद्याधरी द्वारा विस्तार के साथ वैराग्यपर्यन्त अपने घर में जन्म आदि का निरूपण ।

प्रासंगिक विषय का निरूपण कर अब महाराज वसिष्ठजी प्रस्तुत कथा का अवशिष्ट भाग कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर उस ललित ललना को देखकर मैंने कौतुकसे उससे पूछा, उसके नेत्र कमल के सदृश उल्लास से भरे थे और कटाक्षमालाओं से मालती माला के सदृश भले लगते थे ॥१॥ कमल के गर्भ के सदृश कोमल तथा सुन्दर रूपवाली हे ललने, तुम कौन हो, मेरे पास क्यों आई हो, तुम किसकी लड़की और किसकी भार्या हो, क्या चाहती हो, कहाँ जी रही हो, तुम कहाँ की रहनेवाली हो ? ॥२॥

विद्याधरी ने कहा : हे मुने, आप सुनिये, मैं अपना वृत्तान्त जैसा है, वैसा आपसे कहती हूँ । यद्यपि एकान्त में परस्त्री से सम्भाषण नहीं करना चाहिए, तथापि दुःखशान्ति के लिए प्रार्थना करनेवाली मुझसे तो आप एकान्त में दया से पूछ सकते हैं, क्योंकि दुःखियों को आश्वासन देना सज्जनों का धर्म है ॥३॥

पहले अपने घर को बतलाने के लिए उपक्रम करती है ।

महाराज प्रकाशरूप चिदाकाश के कोश के किसी एक कोने में कोई यह आपका जगद्रूपी घर

स्थित है ॥४॥ इस आपके जगद्रूपी घर के अन्दर पाताल, भूतल और स्वर्ग- ये तीन घर के अन्दर के प्रकोष्ठ हैं, इन तीनों प्रकोष्ठों में हिरण्यगर्भ के आकार में स्थित माया ने चित्र-विचित्र कल्पनारूप एक कुमारी का (गृहस्वामिनी का) क्रीड़ार्थ निर्माण किया है ॥५॥ उन तीनों में जो भूतल है, वह कंकणों के सदृश द्वीपों और समुद्रों से वलित है यानी चारों ओर से घिरा हुआ है, इसलिए उनके रंग से पाटल वर्ण का बना हुआ उन्नत वह जगत्-लक्ष्मी का करमूल एक तरह से बनकर स्थित है ॥६॥ सातों द्वीप और समुद्रों के अन्त में चारों ओर से दस हजार योजन तक लम्बी, चौड़ी सुवर्णमयी पृथ्वी स्थित है ॥७॥

उसी पृथ्वी का वर्णन करते हैं ।

महाराज यह पृथ्वी बड़ी ही विचित्र है यह रात में भी स्वयं प्रकाशती रहती है यानी इसमें रात को भी प्रकाश के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, इसमें सभी तरह की इच्छाएँ सफल हो जाती है, आकाश के सदृश यह निर्मल है, इसमें चिन्तामणियों की अधिकता काफी है, धूलि का तो इसमें नामनिशान नहीं है, अपनी अपूर्व छटा से इसने स्वर्गादि लोकों को भी तुच्छ बना दिया है ॥८॥ यह अप्सराओं को साथ लिये हुए देवताओं एवं सिद्धों की लीलाविहार भूमि है। ज्यों हि केवल संकल्प किया, त्यों ही सब तरह के भोग प्राप्त हो गये, इसलिए अर्थात् संकल्पमात्रसे सब तरह का भोग दिलानेवाली होने के कारण वह अत्यंत सुन्दर है ॥९॥ उस मही के अन्त में (बाहरी प्रान्त में) एक लोकालोक नामका अत्यन्त विख्यात पर्वत है । जगत् लक्ष्मी के उन्नत करमूलभूत इस भूपीठ को उसने कंकण के सदृश चारों ओर से घेर दिया है ॥१०॥

अब उस पर्वत का वर्णन करती है ।

भगवन्, यह पर्वत कहीं पर तो मूढ़मति पुरुषों के अन्तःकरण के सदृश सदा अन्धकार से व्याप्त है और कहीं पर तो सात्त्विक पुरुषों के अन्तःकरण के सदृश सदा प्रकाशमय है ॥११॥ जैसे सज्जनों की संगति आह्लाद को पैदा करती है, वैसे ही यह कहीं पर अत्यन्त ही आह्लाद को पैदा करता है तथा जैसे मूर्खों के साथ का समागम उद्वेग पैदा करता है, वैसे ही यह कहीं पर उद्वेग को भी पैदा करनेवाला है ॥१२॥ बुद्धिमान पुरुषों के मन में जैसे सभी अर्थ विस्पष्ट रहते हैं, वैसे ही इसमें कहींपर तो सभी अर्थ विस्पष्ट हैं और कहीं पर तो यह इतना अतिगहन है, जैसे मूर्ख श्रोत्रिय पुरुष का चित्त है ॥१३॥ कहीं पर तो इसमें चन्द्रमा की किरणें ही जाने नहीं पाती, कहीं पर सूर्य की ही किरणें नहीं जाने पाती, कहीं पर तो इसमें मनुष्य ही मनुष्य भरे पड़े हैं और कहींपर इसकी दिशाएँ जनों से एकदम शून्य हैं ॥१४॥ कहीं पर तो देवताओं के नगर के नगर हैं, कहीं पर दैत्यों के बड़े-बड़े नगर विद्यमान हैं, कहीं पर पाताल के सदृश गहरा है यानी वहाँ प्रवेश ही होना कठिन है, तो कहीं पर अपने शिखरों से उन्नत कन्धा किये हुए है ॥१५॥ कहीं पर तो उसके गड्ढ़ों में गीध घूम रहे हैं, कहींपर तो समान भूभाग के कारण बड़ा ही लुभावना लगता है, कहीं पर तो उसके भीतरी

भागपर शिखर की चोटी से आक्रांत ब्रह्माजी का नगर बसा है ॥१६॥ कहीं पर तो उसमें जनों से शून्य बड़े–बड़े जंगल हैं, कहीं पर कल्पान्त की वायु बह रही है, कहीं पर फुलवारियों में विद्याधरियों के गान हो रहे हैं ॥१७॥ कहीं पर पाताल के सदृश अत्यन्त गहरी गुफाओं में कुम्भाण्ड पिशाचों का वास होने के कारण बड़ा भयंकर है, कहीं पर नन्दनवन के दुसरे भाई के सदृश सुन्दर मुनि के आश्रमों से बड़ा लुभावना लगता है ॥१८॥ कहीं पर निरन्तर ही स्थित रहने वाले मतवालों की नाईं गर्जन में निरत मेघमण्डल हैं, तो कहीं पर मेघों का दर्शन ही दुर्लभ है, कहीं पर उसकी सीमा के समीपस्थ मण्डल भीतरी गुहाच्छिद्र के कारण अतिगहन हैं ॥१९॥ कहीं पर जनपद के विक्षुब्ध हो जाने के कारण विचलित हुए मनुष्यों आदि के प्रहारों से राक्षस–पिशाच आदि का निवास (पिप्पल आदि) उच्छिन्न हो गया है और कहीं पर रहनेवाले मनुष्यों की सज्जनता के कारण उसने स्वर्ग पर भी विजय पा ली है ॥२०॥ कहीं पर तो निरन्तर बह रही वायुओं के द्वारा ही स्थावर और जंगम भूत उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, तो कहीं पर विषादि रोगों के न रहने के कारण सर्वविनाश से निर्मुक्त स्थावरजंगम भूत स्थिर हैं ॥२१॥ कहीं पर मरुस्थली के बड़े–बड़े झंझावातों के द्वारा उत्पन्न झंकारध्वनि से महान् भयंकर लगता है, तो कहीं पर वह कमलयुक्त तालाबों में कल–कल ध्वनि कर रहे सारसों के कारण मनोरम हैं ॥२२॥ कहीं पर जलों का सुन्दर विलास है, कहीं पर मेघों के गर्जन से घर्घरध्वनि युक्त है और कहीं पर प्रमत्त अप्सराओं के दोलाविलासों से काम पैदा करनेवाला है ॥२३॥ कहीं पर उसके दिशातट पिशाचों एवं कुम्भाण्डों से वेष्टित होने के कारण स्तब्ध हैं और कहीं पर तो उसके नदीतट पर विद्याधरी और सिद्ध नृत्य कर रहे हैं गीत गा रहे हैं ॥२४॥ कहीं पर बरस रहे मेघों की नदीरूप बाहुओं से उसका कुछ तटभाग तोड़ दिये जाने के कारण भयावह लगता है, तो कहीं पर निरन्तर चलनेवाली वायु के द्वारा लाये गये अनेक मेघरूप सुन्दर वस्त्रों के कारण भला भी लगता है ॥२५॥ कहीं पर अपने कोशरूपी मुखपर स्थित भ्रमरभूत नेत्रों से ध्यान कर रही कमलिनियों का समूह भरा पड़ा है, तो कहींपर अप्सराओं और सिद्धों की रमणियों की दाँतों को सुशोभित करनेवाले ताम्बूलों का वन अतिरमणीय लगता है ॥२६॥ कहीं पर तप रहे सूर्य और जनता के आचरण से सुन्दर है तो कहीं पर रात के अन्धकाररूप घर में मत्त निशाचर नृत्य कर रहे हैं। अतएव बीभत्स भी हैं ॥२७॥ कहीं पर उत्पन्न हो रहे बड़े–बड़े उत्पातों के कारण उसकी भूमि मनुष्यों के विनाश से भयप्रद है, तो कहीं पर उत्तम राज्य–सम्पत्ति से बसाये जा रहे नगरों के कारण हर्षप्रद भी है ॥२८॥ कहीं पर अत्यन्त शून्य ही है, कहीं पर जनपदों से आक्रान्त हैं। कहीं पर जलपूर्ण महाद्वन्द्वों के कारण गम्भीर हैं, तो कहींपर शुष्क पातालों के कारण भीषण है ॥२९॥ कहीं पर उसमें बड़े–बड़े कल्पतरु वृक्ष हैं, कहीं पर वह जलरहित हैं, कहींपर चलने–फिरनेवाले प्राणी भरे पड़े हैं, कहीं पर बड़े–बड़े हाथियों के झुण्ड के झुण्ड हैं, कहीं पर प्रमत्त सिंह, वानर आदि हैं ॥३०॥ कहीं पर तो प्राणियों से शून्य होकर ही व्यर्थ का उन्नत बना है, कहीं पर लम्बी मरुभूमि ही

पड़ी है, कहीं पर करंज वृक्षों के कारण वह अतिगहन है, कहीं पर ताल के ही बड़े-बड़े वन उसमें विद्यमान हैं ॥३१॥ कहीं पर उसमें आकाश के सदृश निर्मल और विस्तृत बड़े-बड़े सरोवर हैं। कहीं पर महामरुस्थल हैं तो कहीं पर निरन्तर उड़ रही धूलि से वह पूर्ण है, कहीं पर तो उसमें ऐसे अरण्य हैं कि उनमें बारहों मासों की ऋतु रहती हैं यानी एक साथ सभी ऋतुओं का उनमें आनन्द मिलता है ॥३२॥ अधिक क्या कहूँ, महाराज, उसके शिखरों पर ऐसी रत्नमयी बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, जो कि छोटे-छोटे पर्वतों के समान यानी सह्य, मलय आदि पर्वतों के सदृश लगती हैं, उनको देखकर सुस्थिर मेघ का ही स्मरण हो उठता है और वे एकदम आकाश के सदृश निर्मल हैं ॥३३॥ हे मुने, क्षीरसागर और सूर्य के सदृश गौरवर्ण उन शिखरस्थ शिलाओं के ऊपर पुत्र, पौत्र आदि परिवार के साथ सिंह, वानर आदि ऐसे रात-दिन विश्राम करते हैं, जैसे जंगल के बड़े वृक्षों की शाखाओं पर ॥३४॥ भगवन्, उन शिलाओं के मध्य में उस पर्वत के उत्तर दिशा के भाग में पूर्व दिशा की ओर स्थित शिखर की जो शिला है, उसके अन्दर मैं निवास करती हूँ, विनष्ट न होनेवाले वज्रसारमणि के सदृश उसका अविनाशी त्वचाभाग है ॥३५॥ हे मुने, हमको नियति ने ही बाँध दिया है, जिससे कि मैं उस पत्थर के यन्त्र में बस रही हूँ। मैं मानती हूँ कि इस प्रकार उस में रहते-रहते मेरे असंख्य युगसमूह बीत चुके ॥३६॥

अब 'किसकी स्त्री हो' इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उपक्रम करती है।

न केवल मैं ही ऐसी हूँ, किन्तु सब तरह से भरणपोषण करनेवाला मेरा पति भी उसमें उस प्रकार बद्ध हो गया है, जिस प्रकार भ्रमर कमल की कली में ॥३७॥ उस शिला के कोटर के संकट में फँसकर मैंने उस अपने पति के साथ दीर्घकाल तक अनुभव किया और अनेक वर्ष व्यतीत किये ॥३८॥ आज भी हम दोनों अपने एकमात्र कामरूप दोष से मोक्ष प्राप्त नहीं कर रहे हैं और उसी तरह एक दुसरे में सरसता बाँधे हुए दीर्घकाल से बस रहे हैं॥३९॥ महाराज, उस पाषाण के संकट में हम दोनों ही बद्ध नहीं हैं, किन्तु हम लोगों का पुत्र, पौत्र, आदि परिवार भी उसमें पूर्णरूप से बँधा हुआ है ॥४०॥ भगवन्, उसमें बँधा हुआ मेरा पति द्विजकुलोत्पन्न और बड़ा ही प्राचीन पुरुष है। वह यद्यपि सैकड़ों वर्षों से जी रहा है, तथापि अपने आसन से उठता ही नहीं ॥४१॥ मेरे पति बाल्यकाल से ही ब्रह्मचारी हैं, अपने वेदाध्ययन में परायण रहते हैं, अन्य को पढ़ाते हैं, आलसी हैं, उनका व्यवहार बड़ा ही कोमल है, उनमें इन्द्रियों की चंचलता का नाम निशान नहीं है, एकान्त में ही सदा रहते हैं ॥४२॥ हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ, ऐसे पुरुष की मैं पत्नी बड़ी ही व्यसनिनी हूँ, एक क्षणमात्र भी उनके बिना देहधारण में शक्ति नहीं रखती ॥४३॥ ब्रह्मन्, आप सुनिये-उन्होंने मुझको भार्यारूप में कैसे प्राप्त किया और हम लोगों का यह स्वाभाविक प्रेम कैसे बढ़ा ॥४४॥ भगवन्, पहले की बात है जिस समय उत्पन्न हुए मेरे स्वामी की अभी बाल्यावस्था ही थी, कुछ ज्ञान भी उनको था, वे सज्जन थे, अपने निर्मल स्थान में अकेले ही रहते थे, उस समय उन्होंने

विचार किया – मैं जैसे स्वाध्यायनिष्ठ हूँ, वैसी ही अनुरूप मेरी भार्या कैसे उत्पन्न हो सकती है। यों दीर्घकालतक विचार करके उन्होंने कुछ निश्चय किया, फिर हे कमल के सदृश नेत्रोंवाले मुने, उस मेरे पति ने स्वयं ही अनिन्दित अंगोंवाली मेरा ऐसे निर्माण किया, जैसे निर्मल ज्योत्स्ना का चन्द्रमा करता है ॥४५–४७॥ अनन्तर, अपने पति के द्वारा मन से निर्मित अतएव मानसी भार्या मैं मन्दारवृक्ष की लता के समान, उत्तम सौंदर्य से पूर्ण ऐसे वृद्धि को प्राप्त होने लगी, जैसे बसन्त में पुष्पमंजरी॥४८॥ मैनें साथ–साथ उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम वस्त्र धारण किये । सभी प्राणियों के चित्त मेरी ओर आकृष्ट होने लगे । मेरा बदन पूर्णचन्द्रबिम्ब के सदृश अत्यन्त ही मनोरम हो गया। मैं निर्मल तारों से युक्त आकाश के सदृश चमकदार क्रमशः बन गई ॥४९॥ फूलों के मुकुलों के सदृश उन्नत स्तनोंवाली मैं समग्र गुणों से धीरे–धीरे ऐसे सुशोभित होने लगी, जैसे पल्लवरूप कर से युक्त लता वर–श्रेष्ठ वन से सुशोभित होने लगती है ॥५०॥ मैं सदा ही सभी तरह के जन्तुओं के हृदयों का अपहरण करनेवाली हो गई, हिरन के जैसे बड़े–बड़े नेत्रोंवाली मुझे देखकर कामदेव को भी मुझसे उन्माद होने लग गया ॥५१॥ मैं निरन्तर केवल लीलाविलासों में ही निरत रहने लगी, कौतुकसे तिरछे कटाक्ष मेरे होने लगे, मैं सदा गान और वाद्य में प्रेम करने लगी, भोगों से कभी तृप्त न हुई, मेरा दिनपर दिन भोगों में अनुराग बढ़ता ही गया ॥५२॥ मैं अपने उत्तम भाग्य को ही मुख्य भोग समझने लगी, समदर्शी अपने पति के मन से उत्पादित (मन की कल्पनारूप) मैं लक्ष्मी, अलक्ष्मी–दोनों की मानों प्रिय सखी बन गई यानी मैं भी सम्पत्ति और विपत्ति में एकरूप रहती हूँ ॥५३॥ प्रिय मुने, मैं केवल अपने ब्राह्मण पति के घर को ही धारण नहीं करती , परन्तु पति के मनोमयरूप मैं उनके मन से कल्पित समस्त त्रिलोकी को धारण करती हूँ ॥५४॥ मुनिवर, मैं पुत्र, पौत्र आदि से कुलको बढ़ाने वाली भार्या हूँ, मैं पोष्यवर्ग का पालन करती हूँ और मुझमें त्रिलोकीरूप घर की सर्वविध सामग्री के भार को ढोने की पूर्ण सामर्थ्य है ॥५५॥ तदनन्तर मैं पूर्ण युवती हो गई, मेरे वक्षःस्थलपर महान् उन्नत स्तन हो आये । अब मैं अपने विलासरूप रस से ऐसे शोभित हूँ, जैसे कि उल्लसित हो रहे फल–पुष्पों के गुच्छों से लता ॥५६॥ मेरे पतिदेव तो दीर्घसूत्री (आलसी), स्वाध्याय में निरत और बड़े तपस्वी हैं, किसी अज्ञात अपेक्षा से आज तक भी इस गुणसम्पन्न रमणी के साथ उन्होंने विवाह नहीं किया ॥५७॥ महाराज, मैं अधिक क्या कहूँ, पति के साथ मैं यौवन से प्राप्त हुए भोगविलास की इच्छा रखती हूँ यानी अपने मनोरथ से ही उन्हें पति मान चुकी हूँ। इसलिए उनको भोगों के व्यसन से रहित देखकर मैं ऐसे जल रही हूँ, जैसे अग्नि में कमलिनि ॥५८॥ मैं शीतपवन के कारण चंचल हुई कमलिनियों में भी रात–दिन ऐसे अंगदाह का अनुभव करती हूँ, जैसे कि राख आदि को हटाकर तेज किये गये अंगारों के स्थानों में ॥५९॥ कुसुमों की वृष्टियों से पूर्ण समस्त उद्यानभूमि भी मुझे तपी हुई बालू से युक्त शून्य मरुभूमि ही प्रतीत होती है ॥६०॥ महाराज, जलकल्लोल, कह्लार और कमलों के ढेर से कोमल स्पर्शयुक्त एवं सारसपक्षियों की

मधुर ध्वनि से सरस तालाब भी मुझे नीरस लग रहे हैं ॥६१॥ मेरे शरीर के दाह की शान्ति के लिए सखियाँ मुझे पुष्कर, मन्दार, कुईं आदि फूलों की शय्यापर सुला देती हैं, परन्तु मैं इसपर भी खूब दाह का अनुभव करती हूँ, जिस तरह काँटोंपर लुढ़कती हुई रमणी ॥६२॥ कुईं, नीलरक्त, कहूलार, कदली आदि की शय्याएँ मेरे अंग के स्पर्शमात्र से जनित ताप से – गर्मी से पहले तो सूख जाती है, फिर मर्मर होकर भस्म हो जाती हैं ॥६३॥ ब्रह्मन्, जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु, विचित्र और मनोहर है, उन्हें देखकर मैं अपने भीतर से अश्रुपूर्णनेत्र हो जाती हूँ–मेरी वे बड़ी–बड़ी आँखें आँसुओं से भर जाती हैं ॥६४॥ मुनिवर, कामरूपी अग्नि से सन्तप्त, मेरे नयनाश्रु छम–छम शब्दपूर्वक कमलोत्पलों की पंक्तियों के ऊपर गिरकर उनके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने ताप से उन्हें सूखाकर स्वयं भी सूख जाते हैं ॥६५॥। उद्यानभागों में सखियों द्वारा कदली, कन्दली आदि के कन्धोंपर विरचित हिंड़ोंलों पर दोलनलीला से जब मैं झुलाई जाती हुँ, तब मैं लज्जा से मुख छिपाकर रोती हूँ ॥६६॥ हिमकणों के निकर से संकीर्ण केले के पत्तों से बनाये गये मण्डप को मैं गर्मी उगलने वाले खैर के अंगार के सदृश भीषण ही देखती हूँ ॥६७॥ कमलिनि के नालरूप हिंडोले पर जब मैं सारस के साथ सारसी को देखती हूँ, तब मैं दीनवदन होकर अपने यौवन की निन्दा करती हूँ ॥६८॥ मैं रम्य पदार्थ में रोती हूँ, मध्यवर्ती (न रम्य और न अरम्य ऐसे बीच के) पदार्थ में सौम्य हो जाती हूँ, अरम्य प्रसंग में यानी मूर्छा, जड़ता आदि अवस्था में प्रसन्न रहती हूँ, क्योंकि उस समय दीन हुई मैं क्या हूँ, यह नहीं जानती, उस स्थिति में अहंकार का विलय हो जाने से उसका दुःख जाना नहीं जा सकता ॥६९॥ हे मुने, प्रत्येक दिशा में कुन्द, मन्दार, कुमुद और हिम मैंने कामाग्नि से दग्ध हुए जीवों के राख के सदृश ही देखे ॥७०॥ भगवन्, अत्यन्त नीलवर्ण तमाल के कोमल पल्लव, बिसतन्तुओं की लता, नील–रक्त कमल, कह्लार, कुन्द, कदलीपत्र और मालती के फूलों की बनायी गयी शय्याओं को अंगो के संचालन से सुखा रही मैंने अपने यौवन के अनेक दिन निरर्थक ही गँवा दिये ॥७१॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पैंसठवाँ सर्ग

धारणा के अभ्यास से प्राणों पर विजय पाकर सिद्ध हुई उस विद्याधरी के द्वारा महाराज वसिष्ठजी के प्रति 'समय से मेरा वह विषयानुराग वैराग्य में परिणत हो गया।

विद्याधरी ने कहा : महाराज, तदनन्तर दीर्घ समय बीत जानेपर मेरा वह विषय प्रेम उस प्रकार वैराग्य में परिणत हो गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु के प्रारम्भ में पल्लव रसरहित होकर विरागभाव में परिणत हो जाता है ॥१॥

कैसी विचारधारा से अनुराग विरागभाव में परिवर्तित हो गया ? इसे कहती है ।

पहले तो मैंने यह विचारा–मेरा स्वामी अब बूढ़ा हो गया, एकान्तमें ही उसे सदा प्रेम है, नीरस है, मेरी ओर उसको तनिक भी स्नेह नहीं, मौनव्रतधारी है, उसका चित्त अति कोमल है, अतः अब मैं अपने जीवन से क्या फल मानूँ ॥२॥ बाल्यकाल से ही यदि वैधव्य हो गया हो, तो वह भी अच्छा, या मरण भी अच्छा, व्याधि भी अच्छी, आपत्ति भी अच्छी, परन्तु अपने मन के अनुकूल यदि पति न हो, तो वह कभी भी अच्छा नहीं है ॥३॥ स्त्रियों का सफल जन्म और अविखण्डित सौभाग्य यही है कि तरुण, रसिक और कोमल बर्ताव करनेवाला पति हो ॥४॥ जिसका पति नीरस हो, वह स्त्री विनष्ट ही समझनी चाहिए, जो बुद्धि संस्कारयुक्त न हो, वह नष्ट ही समझनी चाहिए, जो श्री (लक्ष्मी) दुर्जनों से उन्मुक्त यानी दुर्जनों के पास हो वह नष्ट ही समझनी चाहिए ॥५॥ वही स्त्री स्त्री है, जो अपने पति से अनुगत हो, वही श्री श्री है, जो सज्जनों से अनुगत हो तथा वही बुद्धि, वही साधुता साधुता और वही समदृष्टिता समदृष्टिता है, जो शान्ति आदि गुणों से मधुर और उदार हो ॥६॥ महाराज, यदि पति और पत्नी निरन्तर एक दूसरे के प्रति प्रेम करते हों, तो न मानसिक पीड़ा, न शारीरिक पीड़ा, न आपदा और न दुष्ट ईतियाँ (उत्पात हेतु अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डियाँ, मूसे, पक्षी तथा आसन्न राजे) ही बाधा पहुँचाती हैं ॥७॥ विकसित फूलों के स्थान तथा नन्दन वनकी उद्यान भूमियाँ उन स्त्रियों को मरुभूमि के सदृश संताप पहुँचाती हैं, जिन स्त्रियों का पति प्रतिकूल है अथवा है ही नहीं ॥८॥

इसलिए स्त्रियों के लिए सभी वस्तुओं का त्याग सुकर (सरल) है, परन्तु एक पति का त्याग दुष्कर है, यह कहती है।

भगवन्, इस जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को अपनी इच्छा के अनुसार गुण की अल्पता से या प्रमाद से स्त्री छोड़ सकती है, परन्तु पति को छोड़कर, यानी स्त्री पति को छोड़कर सभी वस्तुओं का परित्याग अनायास कर सकती है ॥९॥ हे मुनिश्रेष्ठ, स्थिर यौवनयुक्त मैंने अनेक वर्षों तक ये दुःख भोगे, मेरे दुर्भाग्य का विस्तार तो जरा देखिए ॥१०॥

अथवा मेरा यह भाग्योदय ही है, इस आशय से कहती है।

अनन्तर, उसी परिताप के कारण मेरे पति की ओर जो मेरा अनुराग था, वह क्रम से नीरस होकर विराग के रूप में उस प्रकार परिवर्तित हो गया, जिस प्रकार हिम से दग्ध कमलिनी का राग क्रमशः नीरस होकर विराग के रूप में परिवर्तित हो जाता है ॥११॥ हे मुने, उक्त क्रम से विराग की वासनाएँ प्राप्त कर सभी पदार्थों में उन्हीं को लगा रही हूँ, अब मैं आपके उपदेश से अपनी मुक्ति चाहती हूँ ॥१२॥

इस समय में भी, जब कि आप–जैसे उपदेशकर्ता का मुझे लाभ भी हो गया है तब, मैं यदि विश्रान्ति की इच्छा न करूँ, तो मरण होना ही अच्छा है, इस आशय से कहती है।

महाराज, जिन्होंने अपने अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं किये हैं और परम आत्मपद में जिनकी बुद्धि विश्रान्त नहीं हुई है, ऐसे मरणतुल्य दुःखों के प्रवाह में बह रहे मनुष्य का जीने की अपेक्षा मरण ही अच्छा है ॥१३॥

सहधर्मचारिणी स्त्रियों का पति के समान ही स्वभाव रहना उचित है । इसलिए पति के साथ में ही हमको उपदेश देना चाहिए, ऐसा कहती है ।

आज भी मुक्ति की इच्छा कर रहे वह मेरे पति रात–दिन मन से मन पर विजय पाने के लिए उस प्रकार तैयार हैं, जिस प्रकार राजा राजा की सहायता से दूसरे राजा के ऊपर विजय पाने के लिए तैयार रहता है ॥१४॥ हे ब्रह्मन्, उस मेरे पति का और मेरा जो अज्ञान है, उसका विनाश करने के लिए आप न्याययुक्त उपदेशवाणी से, विस्मृत कण्ठहार के सदृश, आत्मा का बोधन कीजिए ॥१५॥ जब मेरी परवाह ही न कर मेरे पति अपनी आत्मा में अवस्थित हुए, तभी जगत् स्थिति में वैराग्य ने मुझे नीरसता पैदा कर दी ॥१६॥

अब धारणा के अभ्यास में दीर्घ काल से स्थिति होने के कारण उपदेशग्रहण के लिए मैं पात्र हूँ, यह कहती है ।

जगत्स्थिति में नीरसता हो जाने से अब मैं अभीष्ट, तीव्र, आकाश में संचरण करने की सामर्थ्य देनेवाली खेचरी मुद्रारूप धारणा को बाँधकर समस्त संसार की वासनाओं से रहित होकर स्थित हूँ॥१७॥ उस प्रकार धारणा से मैंने आकाश में गमन करने की सामर्थ्य प्राप्त कर फिर मैंने सिद्धों के साथ संवादफल देनेवाली धारणा का अभ्यास किया । इसीसे सिद्धों के एकान्त स्थान में आकर आपके साथ संवाद कर रही हूँ ॥१८॥ उसके बाद मैंने अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्ड के पूर्वापर घटित आकार को शास्त्र और योगदृष्टि से देखने के निमित्त तदाकार (अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डाकार) भावनारूप धारणा बाँधकर स्थित हुई और वह धारणा भी मुझे सिद्ध हो गई ॥१९॥ ब्रह्मन्, तदनन्तर अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्ड के अन्दर की सभी वस्तुओं को देखकर बाहर निकली और निकलकर मैंने पूर्ववर्णित अपने ही जगत् के अन्दर की इस ब्रह्माण्ड के लोकालोक पर्वत के ऊपर स्थित एक स्थूल शिला देखी ॥२०॥

इससे पहले कभी भी इस ब्रह्माण्ड को मैंने या मेरे पति ने नहीं देखा था ,क्योंकि उसे देखने की कभी इच्छा ही नहीं हुई, यह कहती है ।

हे मुने, इतना समय बीत जाने पर भी पहले हम दोनों पति–पत्नी को इसे देखने की कभी कुछ इच्छा ही नहीं हुई ॥२१॥ मेरे स्वामी तो केवल वेदों के अर्थ के विचार में ही सदा मग्न रहते हैं, इससे वे यह जानते ही नहीं कि कितना समय बीत गया, कितना वर्तमान है, कितना भविष्यत् है, क्या ब्रह्मतत्त्व है । अहो, वे कितने निस्पृह हैं ॥२२॥ इसीलिए मेरे पति विद्वान होते हुए भी आत्मपद को प्राप्त नहीं कर सके, आज वे और हम – दोनों ही प्रयत्नपूर्वक (आपके उपदेश–श्रवण, मनन आदि

प्रयत्नपूर्वक) आत्मवस्तु की चाह कर रहे हैं ॥२३॥ अतः हे ब्रह्मन्, आप हम लोगों की प्रार्थना को सफल करने के लिए सर्वथा समर्थ हैं, बड़े लोगों के सम्मुख आये हुए कोई भी प्रार्थी कभी निष्फल होकर नहीं जाते॥२४॥

इस अर्थ के निमित्त तुमने दूसरे सिद्धों से प्रार्थना क्यों नहीं की, इस पर कहती हैं।

हे मानद, आकाशमण्डल में सिद्धसमूहों में निरन्तर घूम–फिर रही मैं आपके सिवा दूसरे किसी को भी अज्ञानरूपी वनका दावानल नहीं देखती॥२५॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण वृतान्त को बतलाकर 'शरणागत मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यों महाराज वसिष्ठजी से प्रार्थना करती है।

हे ब्रह्मन्, हे करूणा के सागर, चूँकि सज्जन पुरुष किसी कारण के बिना ही अर्थी जनों की अभिलाषाएँ पूरी कर देते हैं, इसलिए आपकी शरण में आई हुई मुझ अबलाका तिरस्कार (उपेक्षा) आप नहीं कर सकते। उपेक्षा ही प्रार्थीजनों का तिरस्कार है ॥२६॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

छासठवाँ सर्ग

अपनी स्थिति और अपना घर तुमने अवकाशरहित शिला के पेट में कैसे किया,
इस प्रकार पूछी गई विद्याधरी द्वारा जगत् के विस्तार का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, वह ब्रह्माण्ड के पूर्ववर्णित उर्ध्व आकाश में स्थित तथा कल्पित आसन पर बैठी हुई थी, जिसने अपना वर्णित वृतान्त कहा, फिर प्रश्न किया ॥१॥ मैंने पूछा कि हे बाले, बिल्कुल अवकाश से रहित शिलापेट में तुम्हारे जैसे शरीरधारियों की स्थिति कैसे होगी, उसमें हिलना–डोलना कैसे होगा और उसमें घर से भी तुम्हें लाभ क्या होगा ? सारांश यह कि जहाँ प्रवेश ही असम्भव है वहाँ ये सब बातें हो ही नहीं सकती ॥२॥

आपने जितने की असंभावना की है, उतना ही उसमें है, यह बात नहीं है, किन्तु ऐसा दूसरा भी जगत् उसमें है, यों विद्याधरी प्रश्न का उत्तर देती है।

विद्याधरी ने कहा : हे मुने, जैसे आपका यह जगत् विस्पष्टरूप से विराजमान है, वैसे ही हमारा भी जगत् उस शिलापेट में विराजमान है, वह भी सृष्टिरूप संसार से युक्त है ॥३॥ वहाँ भी पाताल में नाग रहते हैं। पृथ्वी पर पर्वत स्थित है, जल भी लबालब भरें हैं और आकाश में हवा भी चलती है ॥४॥ उसके भीतर यहाँ के जैसे ही – जल से समुद्र सुशोभित है, प्रजावर्ग भी धीरे–धीरे गमन आदि व्यवहार करते हैं, निरन्तर भूत उत्पन्न होते हैं और निरन्तर मरते हैं ॥५॥ यहाँ के समान ही वहाँ पर भी वायु चलती है, जल बहते हैं, आकाश में नक्षत्र आदि के रूपों में तथा अपने–अपने शरीर आदि के रूप में देवता भासते हैं। पर्वत स्थित हैं, गुणों का उदय होता है और पृथ्वी

में राजे भी चलते-फिरते हैं ॥६॥ वहाँ देवता, असुर और मनुष्यों की चंचल व्यवहारपरंपरा यहाँ के सदृश कल्पतक उस तरह विद्यमान रहती है, जिस तरह समुद्रतक नदीधारा विद्यमान रहती है ॥७॥ भूलोकरूपी तालतल में कल्पपर्यन्त और आकाश तक रहनेवाले दिनरूपी कमल भी यहाँ हुए हैं, दिनरूप कमलों में लोल(चंचल)भम्र ही भ्रमर हैं, वे विकसित और निमीलित भी होते हैं ॥८॥ जैसा कि इस जगत् में है, ठीक वैसा ही उस जगत् में भी चन्द्रमा अपनी ज्योत्सनारूपी चन्दन से चारों दिशाओं में लेपनकर रात्रि में रोहिणी का भीतरी और बाहरी अन्धकार निवृत्त कर देता है ॥९॥ वहाँ भी सूर्य नाम की दीपिका, जो कि दसों दिशारूपी वृत्तियों का स्वाद लेने में (यानी द्रवात्मक स्नेह का भोग करने के लिए) रत और वात रूपी यन्त्र से चालित है। वह अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीरूप घर के अन्दर जगमगाती है ॥१०॥

द्यावापृथ्वी का अब घूम रहे नक्षत्रमण्डल के कारण घरट्ट के स्वरूप से वर्णन करती है ।

आकाशमण्डल में वहाँ पर भी नक्षत्रों का चक्ररूप घरट्ट (चक्की) घूमता है । और अण्डज आदि चार प्रकार के भूतों को, जो एक तरह से चावलरूप है, सृष्टि के आरम्भ से लेकर बराबर पीसती रहती है, यह घरट्ट यन्त्र ब्रह्मा ने अपने संकल्प से बनाया है, वायुसंचारचारियों से यानी वातरश्मियों से यह अवष्टब्ध है, ध्रुवरूप खूँटे से ऊपर थमा हुआ है तथा अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी में कपाट के सदृश बन्द करने और खोलने का स्वभाव रखनेवाले मेघों से घर्घर ध्वनि करता रहता है, यह नियति से संचालित है ॥११,१२॥

वहाँ पर भी यहाँ के सदृश ही पृथ्वी आदि लोक द्वीप, पर्वत आदि से भरे हैं, यह कहती है ।

वहाँ पर भी यहाँ के सदृश भूमि, द्वीप, सागर और पर्वतों से आकाश विमानों के संनिवेश जैसे रचित नगरों से तथा पातालमण्डल दैत्य, दानव एवं नागों के समूहों से पूर्ण है ॥१३॥ वहाँ पर भी नीला भूतलमण्डल स्थित है । वह ठीक आचरणों से चंचल त्रिजगतिरूप लक्ष्मी का चमक रहे मणियों से युक्त चंचल कुण्डल-सा लगता है ॥१४॥ वहाँ पर स्थावर जंगमात्मक प्राणियों का दल-बुद्धि आदि से शून्य बाह्य वायु की क्रिया के सदृश-भीतरी सूक्ष्म प्राणनाम की स्पन्दसंवित् को लेकर जन्म आदि विकार प्राप्त करता है ॥१५॥ वहाँ पर भी यहाँ के सदृश मुनि लोगों का मुनिक्रियाओं ने, पृथ्वी का समुद्र आदि जलोंने, वायुओं ने बन्दर के सदृश चपलता का, आकाश ने अवकाशपन का और सूर्यादि प्रकाशों ने प्रकाशन का अवलम्बन किया है यानी सब वस्तुओं के स्वभाव यहाँ के सदृश ही हैं ॥१६॥ वहाँ पर भी जनम और मरण के भागी बन्दर आदि वृक्षचर, मनुष्य आदि भूचर, मत्स्य आदि जलचर, मृग आदि पर्वतचर, पक्षी, देवता आदि आकाशचर, कीट, सुर, असुर और जलनिवासी बीच-बीच में खूब घूमते फिरते हैं ॥१७॥ यहाँ के सदृश वहाँ भी देवता, असुर और गन्धर्वों के सहित समस्त प्रजा को काल कल्प, युग एवं वर्षरूपी अपने हाथों से उस प्रकार पालन आदि से भोगता है, जिस प्रकार

पशुपालक अपने पशुओं को ॥१८॥ अनन्त, अगाध, पुष्कल एवं गम्भीर कालरूपी महासागर में आवर्त और विवर्तरूप कालगति से वे सुरासुर आदि जलजन्तु उत्पन्न हो होकर लीन हो जाते हैं ॥१९॥ जिसमें सभी वस्तुओं का विनाश हो जाता है, ऐसे अव्याकृत आकाश में वायु से उड़ाये गये चौदह प्रकार के प्राणी के प्राणरूपी रजकण, शरत्काल के मेघों के सदृश, विलीन हो जाते हैं ॥२०॥ यहाँ के सदृश वहाँ पर भी द्यु शुभ्र आकाशरूप वस्त्र धारणकर तथा मस्तक में कल्पपर्यन्त तारों का समूह धारण कर चन्द्रसूर्यरूपी दो चामरों को मानों डुलाती हुई सातों भुवनों को जागृत करती है ॥२१॥ वहाँ पर भी यहाँ की नाईं स्थावर प्राणियों के सदृश पवन, भूकम्प, वृष्टि और धूप सहनेवाली दिशाएँ स्थित हैं ॥२२॥ ज्योतिषियों द्वारा और अन्यों द्वारा अज्ञात उत्पात के हेतु मेघ, विद्युत्पतन, भूकम्प तथा ग्रह आदि से प्राणियों की इष्ट–अनिष्टरूप गति वहाँ पर भी होती है ॥२३॥ जैसे चौदह भुवनों के प्राणियों को काल कल्प तक पीता है, वैसे ही वहाँ भी सात समुद्रों का जल जलती हुई और्वाग्नि (बड़वानल) पीती हैं ॥२४॥

कथित सब वार्ता का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

वहाँ पर भी पातालयोग्य प्राणी पाताल में प्रवेश करता है, आकाशबिल में विलास करने योग्य प्राणी आकाश में जाता है, दिशाओं में भ्रमण करने योग्य प्राणी दिशाओं में भ्रमण करता है । संक्षेप से चारों ओर प्राणी समूह वायु के संचार के सदृश, पर्वत, महासमुद्र मण्ड़ल तथा अन्यान्य द्वीपान्तरों में भ्रमण करते हैं, इसलिए यहाँ जितना व्यवहार है, वह सब वहाँ पाषाण की शिला में भी है, यह आप जानिये ॥२५॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

कौतुक से महाराज वसिष्ठजी का शिला के पास जाना, वहाँ जगत् न देखना और उनके पूछने पर विद्याधरी का अभ्यास की महिमा कहना।

विद्याधरी ने कहा : हे मुने, यदि आप मेरी बात को असंभव मानते हों, तो स्वयं ही उस सम्पूर्ण शिलोदर सृष्टि को देखने के लिए कृपा कीजिए और वहाँ चलिए, क्योंकि बड़े लोगों को प्राप्त आश्चर्यकारक घटनाओं में बड़ा ही कौतुक होता है ॥१॥ भद्र, श्रीरामजी, उस तरह उसके कहने पर मैंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात स्वीकार कर ली और आकाशरूपिणी उस रमणी के साथ शून्यात्मक आकाशमण्डल में जाने के लिए शून्यरूप मैं ऐसे उद्यत हुआ, जैसे झंझावात के साथ चम्पकादि पुष्पों की सुगन्ध ॥२॥ तदन्तर उसके साथ में दूर के शून्यरूप आकाशमार्ग को लाँघकर आकाशमण्डल में स्थित देवता आदि प्राणियों के समीप जा पहुँचा ॥३॥ कुछ समय बाद इसी आकाश में उस देशादि प्राणियों के संचरण मार्ग को भी पारकर मैं उसके साथ श्वेत मेघ सदृश

अतिनिर्मल लोकालोक पर्वत के शिखर के आकाशभाग में पहुँच गया ॥४॥ उत्तर दिशा के पूर्वभागपर स्थित चन्द्रसदृश अतिधवल आकाश पीठ से नीचे आकर मैं उसके द्वार उस शिला के पास ले जाया गया । वह शिला बड़ी ही ऊँची और रुप-रंग में तपे सोने के सदृश कल्पित थी ॥५॥ सुवर्णमयी सुमेरुतटी के सदृश वह बहुत बड़ी ऊँची शुभ्र शिला मैंने चारों ओर से खूब देखी, परन्तु उसमें जगत् नहीं दीख पड़ा ॥६॥ श्रीरामजी जगत् को न देखकर मैंने उस सुन्दरी बाला से पूछा कि यहाँ कहाँ पर वे जगत् हैं, जिनका तुमने मुझसे वर्णन किया था, कहाँ रुद्र, सूर्य, अग्नि, तारा आदि हैं तथा कहाँ यहाँ सात दूसरे-दूसरे लोक हैं ॥७॥ हे रमणि, यहाँ कहाँ पर समुद्र, आकाश एवं दिशाएँ हैं, कहाँ प्राणियों के जन्म और विनाश हो रहे हैं, कहाँ बड़े-बड़े मेघमण्डल हैं और कहाँ तारों से युक्त चमकिले आकाशमण्डल का आडम्बर है ? ॥८॥ कहाँ पर्वतों के शिखरों की श्रेणियाँ हैं, कहाँ बड़े-बड़े लवण-समुद्रों की पंक्तियाँ हैं, कहाँ सात द्वीपरूपी कंकण हैं और कहाँ तपे सोने के सदृश भूमि है ? ॥९॥ कहाँ क्रिया, काल और कल्पनाएँ हैं, कहाँ भूतों के (देवता आदि के) निवासस्थान भ्रम हैं, कहाँ विद्याधर एवं गन्धर्व हैं तथा कहाँ मनुष्य, देव और दानव हैं ? ॥१०॥ कहाँ ऋषि और राजा हैं, कहाँ उनमें मुनि हैं, कहाँ नीति-अनीति की रीति है, कहाँ हेमन्त की रात्रियाँ हैं और कहाँ है-स्वर्ग-नरक के विभ्रम ? ॥११॥ कहाँ पुण्य-पाप की गतियाँ हैं, कहाँ काल की कलाओं का विलास है, कहाँ सुर और असुरों का युद्ध है और यहाँ कहाँ हैं -द्वेष एवं स्नेह की पद्धतियाँ ? ॥१२॥ श्रीरामजी, ज्योंही मैं इस तरह से उससे प्रश्न कर रहा था त्योंही आश्चर्य से व्याकुल मुझको देखकर शिला के सदृश निर्मल नेत्रवाली एवं सुन्दर रूपवाली उस रमणी ने कहना आरम्भ किया ॥१३॥

विद्याधरी ने कहा : भगवन्, मैं भी अब पहले के सदृश अपना सब कुछ इस पत्थर की शिला में नहीं देख रही हूँ । पर मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदि का पूर्व में वर्णन किया है, उन सबको मैं दर्पण में प्रतिबिम्बिरूप से स्थित जो प्रसिद्ध नगर से दूसरा नगर है, उसके सदृश प्रतिबिम्बरूप से स्थित देखती हूँ ॥१४॥ हे मुने, हमको जो उन लोगों का दर्शन हो रहा है, उसमें कारण नित्य का अनुभव ही है, वह नित्य का अनुभव आपको है नहीं, इसलिए उसका अभाव ही जगत् के न रहने में कारण है ॥१५॥

समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों के अवलोकन में समर्थ विशुद्ध मनोरूप देह के विस्मरण से भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और हमको दीखता है, पर अस्फुट यह कहती है ।

दूसरी बात यह कि मैंने चिरकाल तक अपने लोगों की यह जो एक द्वैत विषय की कथा चली, उससे विशुद्ध सूक्ष्म मनोमात्ररूप देह का हम लोगों को विस्मरण हो गया है, इसलिए आपको जगत् नहीं दीखता और हमको अस्फुट दीखता है ॥१६॥ मेरा भी यहाँ जो जगत था वह प्रायः नष्ट ही हो चुका है, क्योंकि यद्यपि उसका मैंने चिरकाल तक अभ्यास किया है, फिर भी अब आकाशलता के सदृश स्पष्ट नहीं दीखता ॥१७॥ जो जगत् मेरे लिए पहले अत्यन्त विस्पष्ट था, उसको मैं अब

दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश अस्पष्ट देखती हूँ ॥१८॥ हे नाथ, हम लोगों का परस्पर जो दीर्घकाल तक निरर्थक संभाषण हुआ, उससे उत्पन्न व्यथा से अपना अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य (धारणा के अभ्यास से जनित अपनी मनोरूप देहरूपता) विस्मृत हो गया ॥१९॥ भगवन्, जो भी अभ्यासजनित संस्कार शुद्ध चिदाकाश के रस से उद्बुद्ध होकर प्रकट होता है, उसी रूपका भीतरी अन्तःकरण मानों हो ही जाता है, यही बाल्यावस्था से लेकर वस्तुस्थिति है ॥२०॥

अतएव अभ्यास के बिना पुरूष के श्रवण–मनन निष्फल हैं, यह कहती है ।

भद्र, वह कला न उत्तम शास्त्रों से सिद्ध होती है, न उत्तम न्याय से सिद्ध होती है, किन्तु अपरिमित उद्योग से युक्त अभ्यास से ही सिद्ध होती है। अभ्यास से वह सिद्ध नहीं होती, यह बात नहीं, किन्तु अवश्य सिद्ध होती है, यह आप जानिए ॥२१॥

सतत अभ्यास के लिए कोई असाध्य वस्तु है ही नहीं, यह कहती है ।

भगवन्, यह जो आपके साथ संवादात्मक कथाभ्रम हुआ, उसने अपने जगत् के निरन्तर अभ्यास के वश से पूर्वजगत् के भ्रम से ग्रस्त मुझको वश में कर दिया, इसलिए वह संस्कार तिरोहित हो गया, क्योंकि भूतकाल का भ्रम और वर्तमानकाल का भ्रम– इन दोनों में वर्तमानकाल का भ्रम बलवान होने के कारण विजयी हुआ ॥२२॥

अतएव लौकिक या दैविक शिल्पविद्या आदि फलों की इच्छा कर रहे पुरुषोंको गुरुजी द्वारा उपदिष्ट पद्धति से बार–बार किया गया उसका अभ्यास ही शरण है, दूसरा नहीं, यह कहती है ।

हे मुने, अपनी–अपनी मनपसन्द वस्तु चाहने वालों के लिए गुरुओं द्वारा उत्तम रीति से उपदिष्ट कर्म करने की पद्धति से बार–बार जो किया जाता है, उसी से अभीष्ट वस्तु उन्हें मिलती है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं –अन्य शरण है नहीं ॥२३॥

जब अनादि अनन्त संसाररूप अनर्थ भी ज्ञान के अभ्यास से नष्ट हो जाता है तब ऐसा कौन अनर्थ बचने पाता है, जो अभ्यास से उसकी चिकित्सा न हो सके, यह कहती है ।

हे मुने, यह इस प्रकार का प्रौढ़ अहंरूप जो बड़ा अज्ञानभ्रम विद्यमान है, वह ज्ञान की चर्चा यानी श्रवणादि के अभ्यास से ही निवृत हो जाता है, भला देखिये तो सही अभ्यास का फल ॥२४॥

अभ्यास में उत्तमता होने पर बालकों में भी प्रौढ़ता देखी जाती है और अभ्यास के छूट जानेपर बड़े लोगों को भी व्यामोह होने लगता है, इस विषय मे हम दोनों ही दृष्टांत हैं, यह कहती है ।

मैं एक शिला की अबला हूँ, उसमें भी बाला और आपकी शिष्या हूँ, फिर शिला की सृष्टि को देखती हूँ, आप सर्वज्ञ और गुरु हैं तो भी नहीं देखते, यह बड़ा आश्चर्य है, देखिए तो यह अभ्यास का चमत्कार ॥२५॥ अभ्यास से धीरे–धीरे अज्ञानी भी ज्ञानी बन जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है, अचेतन बाण भी सूक्ष्मतम लक्ष्य को प्राप्त करता है, देखिए अभ्यास की कितनी महत्ता है ॥२६॥ इस तरह मिथ्याभूत जो चारों ओर से प्रौढ़ अज्ञानरूपी महामारी है, वह विचाररूप अभ्यास से ही

शान्त हो जाती है, देखिए अभ्यास का माहात्म्य ॥२७॥ मुने, अभ्यास से ही कटु पदार्थ अभीष्ट हो जाता है, अभ्यास से ही किसीको नीम अच्छा लगता है और किसीको मधु अच्छा लगता है ॥२८॥ समीप के कारण अभ्यासयोग से ही अबन्धु-बन्धुरूप बन जाता है और दूरी के कारण अनभ्यास से बन्धुओं में भी स्नेह थोड़ा हो जाता है ॥२९॥

देह में भौतिकता की भ्रान्ति भी स्वाभाविक भौतिकता के अभ्यास से ही होती है, यह कहती है।

भावनाभ्यास योग से ही केवल विशुद्ध चिदाकाश रूप यह आतिवाहिक देह आधिभौतिक रूप बन जाती है ॥३०॥ यह आधिभौतिक देह धारणा के अभ्यास की भावना से ही पक्षियों के सदृश आकाश में उड़ने की सिद्धि प्राप्त करती है, देखिए यह भी अभ्यास का ही प्रभाव है ॥३१॥ कदाचित् श्लाघारूप थोड़े से अपराध से पुण्य भी विफल बन जाते हैं, माताएँ विफल बन जाती हैं और धन भी विफल बन जाता है, परन्तु कभी अभ्यास विफल नहीं होता ॥३२॥ निरन्तर के अभ्यास से दुःसाध्य पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं तथा औषध के निमित्त अभ्यास से विष भी अमृत बन जाते हैं ॥३३॥

अतएव शास्त्रीय शुभाभ्यास कदापि नहीं छोड़ना चाहिए, यह कहती है।

इष्ट वस्तु के विषय में जिसने अपना अभ्यास छोड़ दिया, वह मनुष्यों में अधम है, वह उस वस्तु को ऐसे प्राप्त नहीं कर सकता, जैसे वन्ध्या अपने पुत्र को ॥३४॥

तब क्या शास्त्रविहित होने से स्त्री, पुत्र, धन, सत्कर्मानुष्ठान आदि अभिमत वस्तु का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देती है।

स्त्री, पुत्र आदि जो अभिमत वस्तुएँ हैं, उनका उपार्जन हजारों यत्नों से किया जाता है। इससे उनका भी परित्याग सहसा नहीं करना चाहिए, किन्तु वैराग्य के अभ्यास द्वारा ऐसे युक्ति से परित्याग करना चाहिए, जैसे योगी मृत्युपर्यन्त अत्यन्त अभीष्ट वस्तु जीवन का युक्तिपूर्वक त्याग करता है ॥३५॥

तत्त्वज्ञानार्थ जो अभ्यास है, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके त्याग से तो देह आदि में अहंभावादिका अभ्यास अवश्य होने लग जायेगा। फिर इसका निवारण असंभव हो जानेपर अनिर्मोक्ष की आपत्ति हो जायेगी। इस आशय से कहती है।

जो नराधम अपनी इष्ट वस्तु के लिए (मोक्षहेतु तत्त्वज्ञान के लिए) अभ्यास नहीं करता, वह अनीष्ट में यानी देह आदिमें अहंभावरूप अनर्थ में ही रत रहेगा, इस स्थिति में अपने अभ्यासस्वभाव से अनिष्ट ही प्राप्त करता रहेगा और तदनन्तर एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता रहेगा, उससे उसका छुटकारा कभी नहीं होगा ॥३६॥ जिससे संसार असार बन जाता है, ऐसे विवेक की सेवा में सदा निरत रहनेवाले जो उत्तम पुरुष आत्मविचाररूप अभ्यास को नहीं छोड़ते, वे ही इस महाविस्तृत मायारूपी नदी को तैर जाते हैं ॥३७॥ हे मुने जैसे

घड़ा चाहनेवाले पुरुष के लिए दीपक की प्रभाएँ घड़े को प्रकाशित करती है और निर्विघ्न उसे प्राप्त करा देती है । उसमें श्रवण–मनन का अभ्यास असंभावनारूप अन्धकार हटाकर वस्तु को प्रकाशित कर देता है और निदिध्यासन का अभ्यास विपरीत भावनारूप विघ्न का विनाशकर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करा देता है, यह तात्पर्य है ॥३८॥ जैसे कल्पवृक्ष की लता, जैसे उत्तम चिन्तामणि अथवा जैसे शरद् ऋतु तत्–तत् अभिमत फल प्रदान करती है, वैसे ही ये श्रवण आदि के अभ्यास की भूमिका भी अभिमत मोक्षवस्तु प्रदान करती है ॥३९॥ देहरूपी पृथ्वी पर चिरकालिक आत्मविचाराभ्यासरूपी सूर्य अपनी अभीष्ट वस्तु को (परम प्रेम के विषय आत्मा को) उस तरीके से दिखलाता है, जिस तरीके से कि उत्तम जन्म लेनेवाले अधिकारी जन राग, द्वेष, जन्म, मरण आदि हजारों अनर्थों को पैदा करनेवाली इन्द्रियरूप रात्रि को न देख पायें ॥४०॥ जितने प्राणी हैं, उन सबके लिए सदा ही सब वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला एक अभ्यासरूपी सूर्य सर्वोच्च है ॥४१॥ चौदह भुवनों में स्थित चौदह प्रकार की जो प्राणियों की जातियाँ हैं,उनमें किसी भी प्राणी की स्वाभाविक अभीष्ट वस्तु अभ्यास के बिना सिद्ध नहीं होती ॥४२॥

अब अभ्यास का स्वरूप बतलाती है ।

महाराज, किसी एक (क्रिया) का बार–बार करना ही अभ्यास कहा जाता है । उसीका इस शास्त्र में पुरुषार्थ शब्द से पहले अनेक बार वर्णन किया गया है, पुरुषप्रयत्न और परमपुरुषार्थ रूप फल भी वास्तव में वही है, इसलिए अभ्यास के बिना यहाँ किसी की गति हो ही नहीं सकती ॥४३॥ दृढ़ अभ्यास शब्द से कहा जानेवाला प्रयत्ननामक जो अपना कर्म है, उसी से सिद्धि मिलती है, दूसरे से नहीं, यही सत्कर्म अपने विवेक के कारण मानों उत्पन्न होता है ॥४४॥ इन्द्रियों पर विजय पाने में समर्थ वीर पुरुष के लिए अभ्यास रूपी सूर्य के तपते रहने पर भूमि में, जल में या आकाश में ऐसी कोई इच्छित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती । भूमण्डल पर तथा समस्त निर्जन पर्वत की गुहाओं में अभय हेतु बन जाते हैं यानी अभ्यासी को उनसे तनिक भी भय नहीं होता । वे अभयरूप बन जाते हैं ॥४५॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अड़सठवाँ सर्ग

आधिभौतिक भ्रान्ति का निरास करके समाधि से जो आतिवाहिक भाव की स्थिति होती है, वह सत्य है ।

विद्याधरी ने कहा : हे भगवन्, चूँकि दृढ़ाभ्यास नामक समाधिरूप यत्न के बिना देहादि में आधिभौतिकता की (स्थूलता की) भ्रान्ति निवृत्त नहीं हो सकती और आतिवाहिक भावका भी (सूक्ष्मभावका भी) आविर्भाव नहीं हो सकता । आतिवाहिक भाव के बिना दूसरे सर्ग की स्थिति भी

संक्षिप्त प्रत्यक्ष से नहीं देखी जा सकती, इसलिए निर्मल परमात्मा में सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणा से अपना हम प्राचीन आतिवाहिक भाव का अभ्यास पुनः करें, उसी उपाय से शिला के अन्तर्गत जगत् प्रकट होगा, जिसका मैंने आपसे वर्णन किया है ॥१॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : इस तरह उस पर्वत के ऊपर उस विद्याधरी के युक्तियुक्त वचन कहने पर मैं पद्मासन लगाकर समाधि के लिए उद्यत हो गया ॥२॥ और उस समाधि में सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों की कल्पना का त्याग हो जाने पर चिन्मात्र एकरूप होकर मैंने उस पूर्व–कथार्थ की आधिभौतिक देहादि की भावना और उसके संस्कारमल का भी बिल्कुल त्याग कर दिया ॥३॥ इसके अनन्तर चिदाकाशरूपता को प्राप्त होकर मैं दिव्य दृष्टि को ऐसे प्राप्त हुआ, जैसे शरत्काल में आकाश निर्मलता को प्राप्त होता है ॥४॥ इसके अनन्तर सत्य परमात्मा के दृढ़ अभ्यास से देह में मेरी आधिभौतिकता भ्रान्ति निश्चितरूप से अस्त हो गई ॥५॥ और उस समय उदय एवं अस्त से रहित, नित्य अनावृत स्वप्रकाशरूपा, अतिनिर्मल, महाचिदाकाशरूपता एक तरह से प्रकट हो गई॥६॥ इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेज से देखने लगा, तो मुझे वस्तुतः न तो वह आकाश दीख पड़ा और न वह पत्थर ही वहाँ दीख पड़ा। उस समय सब कुछ मुझे परमार्थ ही दीख पड़ा ॥७॥ उस तरह का वह परमार्थघन स्वच्छ परमतत्त्व ही भासित हो रहा है । तथा वह परमतत्त्व ही मेरा आत्मा–स्वरूप है । उसीने पत्थर की भावना से वह पत्थर देखा ॥८॥ जैसे स्वप्न में अपने घर के भीतर एक पत्थर के रूप से देखी गई विशाल शिला केवल चिदाकाशरूप ही है, वैसे ही विशुद्ध केवल चिदाकाश ही वहाँ पत्थर शिला के रूप से स्फुरित हो रहा था ॥९॥

यदि यह व्यवहार स्वप्नरूप ही है, तो फिर वहाँ अपनी या दूसरे किसी की जाग्रतअवस्थारूपता का प्रतिभास कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे स्वप्न में ही, अज्ञानवश 'मैं स्वप्न से जग गया' ऐसा जान रहे किसी अन्य पुरुष के स्वप्नदृश्य पुरुषरूपता को प्राप्त हुआ स्वप्नयुक्त पुरुष स्वयं अपने को स्वरूपतः जैसा 'मैं प्रबुद्ध हूँ', ऐसा प्रतिभासित होता है, ठीक वैसा ही वह व्यवहार है ॥१०॥ स्वप्न में स्थित जिन पुरुषों का सिर कट चुका है वे स्वप्न–संसार में स्थित होकर ज्ञान के बिना क्या कर सकते हैं, ऐसे ही संसार में स्थित जीव कालवश ज्ञानप्राप्ति के बिना क्या कर सकते हैं ? अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के पहले क्या कर सकते हैं । इसलिए स्वप्न में आहत हुए पुरुषों का जागरण के उपायभूत देह के न रहने से अगत्या यही कहना पड़ता है कि स्वप्न में ही उनकी जागरणता है ॥११॥

इसलिए मूलअज्ञानरूपी निद्रा के उच्छेद से स्वरूप का प्रतिबोध ही इस जीवका मुख्य प्रतिबोध है । इसके विपरीत तो यही कहना पड़ेगा कि स्वप्न में ही व्यर्थ जागरण का अभिमान है, यह कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, महामोहशाली (अज्ञानरूपी निद्रायुक्त) पुरुषों को जो समय

पाकर बोध होता है यानी ज्ञानरूप जागरण होता है वही उनका मुख्य प्रबोध है – जागरण है, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व के सिवा कोई दूसरा अक्षय पदार्थ जागरण या स्वप्न में नहीं है ॥१२॥ यही कारण है कि मैंने स्वरूपबोध के पहले जिसकी आकृति शिलामय देखी थी, उस स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाश को मैंने चेतनघन सद्रूप देखा, पृथ्वी आदि के विकार के रूप से कहीं नहीं देखा ॥१३॥ भूतों की आदि सृष्टि में स्थित जो शुद्ध और जो पारमार्थिक ब्रह्मरूप है वही तत्त्वज्ञानियों के ध्यान से लभ्य इन सभी प्राणियों का शरीर स्थित है॥१४॥ जो ब्रह्म का आत्मीय पुरातनरूप है वही भूतों का अपना पारमार्थिकरूप है वह मनोराज्य या संकल्प तुल्य ही है । उसीको इस समय मूढ़ लोग जगत के नाम से कहते हैं ॥१५॥

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन वह आतिवाहिक देह कौन है, जिसके सद्भाव में सम्पूर्ण जगत् का दर्शन और चित्स्वभाव का स्फुरण होता है, उसको कहते हैं ।

वह मायाशबल ब्रह्म ही सत् कहा जाता है । उसमें चिति की जो जगत के संस्कार से युक्त अंश की सत्ता है, उसी को आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर कहते हैं और उसका जो वह नित्य अपरोक्ष शुद्ध चिदंश है वही उसका स्वरूप स्फुरण है॥१६॥

तब आपने यह पहले कैसे कहा है कि मन जीव का आतिवाहिक शरीर है, इस पर कहते हैं ।

सृष्टि के आकार से उदित हो रहा वही चित्सत्तारूप प्रथम प्रत्यक्ष चिदाभासात्मक जीवका हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टिरूप आतिवाहिक शरीर होता है और वही फिर समष्टिभाव को अपनी दुर्बुद्धि से भूलकर शीघ्र ही जब व्यष्टिभाव को प्राप्त कर लेता है तब सर्वजनप्रत्यक्ष मन, इस नाम से कहा जाता है । इसीलिए तो हमने आपसे पहले यह कहा है कि जीव का आतिवाहिक शरीर मन है ॥१७॥ इस प्रकार स्वयं वही चिति का रूप अज्ञान के कारण व्यर्थ ही अन्यरूपता को प्राप्त हो गया है । समष्टिरूपसे वह योगियों को प्रत्यक्ष है, इसलिए वह योगिप्रत्यक्ष और व्यष्टिरूप से सर्वजनसाधारण को प्रत्यक्ष है, इसलिए मनःप्रत्यक्ष भी कहा गया है ॥१८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय जो यह मनःप्रत्यक्ष है वह आधिभौतिक देह आदि की कल्पना द्वारा अत्यन्त असद्रूप से ही उदित हुआ है, अतः इसे आप असत् प्रत्यक्ष ही समझिये । और उस योगिप्रत्यक्ष को आप सत् यानी यथात्म्य की स्फूर्ति होने से मुख्य प्रत्यक्ष जानिये ॥१९॥

तब सभी लोगों को उस प्रत्यक्ष में परोक्षता का अनुभव तथा अन्यत्र प्रत्यक्षता का अनुभव कैसे होता है, इस पर कहते हैं ।

अहो, परमेश्वर की यह माया विचित्र है, प्राक् प्रत्यक्ष में (साक्षी चेतन की समष्टि मन की प्रत्यक्षता में) परोक्षता हो रही है और इस अनध्यक्ष (अप्रत्यक्ष)मन में प्रत्यक्ष की कल्पना आ गई ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चित् में सर्वप्रथम स्फुरित होनेसे सूक्ष्म ही प्रत्यक्ष होता है उसी को आप सत्य और सर्वगत समझिये । यह आधिभौतिक स्थूल शरीर तो माया ही (मिथ्या ही)

है ॥२१॥ जैसे अनुभव करने पर सुवर्ण में कटकता बिलकुल नहीं है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में आधिभौतिकता (स्थूल शरीरता) भी वस्तुतः नहीं है ॥२२॥ हे श्रीरामजी, विचार न रहने के कारण यह जीव भ्रम में अभ्रमरूपता और अभ्रम में भ्रमरूपता प्राप्त है, यह समझता है । अहो, यह कैसी मूढ़ता है ॥२३॥ बहुत विचार कर देखने से यह आधिभौतिक स्थूल शरीर उपलब्ध नहीं होता और आतिवाहिक -सूक्ष्म शरीर तो मोक्षपर्यन्त इस लोक और परलोक में भी समस्त व्यवहार का निर्वाहक होने से अक्षय है ॥२४॥ सूक्ष्म शरीरउपहित चिति में आधिभौतिकता की प्रथा यानी स्थूल शरीररुपता की बुद्धि मिथ्या ही ऐसे प्रादुर्भूत हुई है जैसे मरूभूमि की मृगतृष्णा में जलबुद्धि व्यर्थ ही प्रादुर्भूत होती है ॥२५॥ सूक्ष्मशरीरउपहित चिति क्रम में उत्पन्न हुई आधिभौतिकी बुद्धि यानी स्थूलबुद्धि स्थूलशरीर की दृष्टि की वश से ऐसे प्रौढ़ हो गई है, जैसे स्थाणु (ठुँठ) में पुरुष बुद्धि ॥२६॥ जैसे शुक्ति में रजत, जैसे मृगतृष्णा में जल और जैसे चन्द्रमा में दो चन्द्र की बुद्धि मिथ्या है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में स्थूलबुद्धि भी माया ही मिथ्या है ॥२७॥ अहो, इस जीव के अविचार से उत्पन्न हुए मोह के माहात्म्य को तो जरा देखिये, उसने जो असत् है उसे सत्य और जो सत्य पदार्थ है उसे असत् बना दिया है ॥२८॥ वास्तव में तो योगियों की प्रत्यक्ष-भूत चिति-स्फूर्ति ही सत्य है और मानस स्पन्द तो कुछ (卐) है, क्योंकि दोनों लोकों का सारा व्यवहार इन्हीं दोनों से (स्फूर्ति और स्पन्दन से) सिद्ध होता है ॥२९॥

जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष है, एकमात्र उसीमें सब कुछ छोड़कर योग से स्थिरता सम्पादन करनी चाहिए । केवल पामरजनों के प्रसिद्ध ऐहिक स्थूलादि के प्रत्यक्ष में नहीं, इस आशय से कहते हैं ।

जो मनुष्य इस आद्य सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्ष को छोड़कर इस स्थूल शरीर प्रत्यक्ष में सत्य बुद्धि करके स्थित है वह मानों मृगतृष्णा का जल पीकर सुख से स्थित है ॥३०॥

इसी तरह योगियों के अनुभवसिद्ध सर्वसाधारण जो सुख है उसी में परमपुरुषार्थरूपता जाननी चाहिए, पामरजनप्रसिद्ध में नहीं, इस आशय से कहते हैं ।

क्षणभर में ही नाश के अनुभव से तत्त्वज्ञानी महानुभाव लोग जो विषयसुख है उसको दुःखरूप ही कहते हैं तथा अकृत्रिम, अनादि,अनन्त जो सुख है उसी को वास्तविक सुख बतलाते हैं ॥३१॥

पूर्वोक्त को ही दृढ़ करने की इच्छा करते हुए फिर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह साक्षी चेतन द्वारा आप प्रत्यक्ष विचार कीजिये तथा स्वयं अपने अनुभव से देखिये, जो सबका आदि साक्षी चित् का प्रत्यक्ष है वही वास्तविक सुख है ॥३२॥ तीनों लोक के अनुभव देनेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रत्यक्ष को छोड़कर जो ऐहिक स्थूल प्रत्यक्ष को ग्रहण करता है, उससे बढ़कर और कोई दूसरा बड़ा मूर्ख नहीं है ॥३३॥ सम्पूर्ण भूतों का जो सूक्ष्म शरीर

(卐) प्रत्यक्ष चिति के अधीन इसकी सिद्धि होने से वह मानस स्पंद कुछ है, अतः उसकी प्रत्यक्षचितिसमसत्ता नहीं है, इसलिए वस्तुतः वह भी मिथ्या ही है यह तात्पर्य है ।

है वही वास्तव में सत् है । इसमें जो स्थूलशरीर की प्राप्ति है वह असत्य पिशाचिका ही है ॥३४॥

जहाँ मिथ्या संकल्पमय का जन्म ही दुर्लभ है वहाँ उसकी सत्ता तो अत्यन्त दुर्लभ है ही, फिर उस असत् पदार्थ में अर्थक्रिया की सामर्थ्य तो उससे भी और बहुत दूर है, यह कहते हैं ।

जो अनुत्पन्न और संकल्पमय है वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है तथा जो स्वयं ही सत् नहीं है वह कार्यकारी कैसे हो सकता है ? ॥३५॥

नेत्र आदि प्रमाण से सिद्ध हुए प्रपंच (जगत्) का आप कैसे अपलाप करते हैं, इस पर कहते हैं ।

जबकि प्रत्यक्ष साधक चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही योगियों की दृष्टि में असत् हैं तब फिर उनसे सिद्ध अन्य पदार्थ क्या सत् हो सकते हैं ? क्योंकि जिस वस्तु की सिद्धि असत् से की जाती है वह कहाँ तक सत् होती है ? कहने का तात्पर्य यह है कि असत् से सिद्ध हुए पदार्थ की सत्ता कहीं पर भी देखने में नहीं आती ॥३६॥

जब साक्षात् अर्थों की साधक चक्षु आदि इन्द्रियों की ऐसी दशा है, तब भला तन्मूलक अनुमान आदि प्रमाणों के विषय में क्या पूछना ? यह कहते हैं ।

जब प्रत्यक्ष में ही भावत्व नष्ट हैं यानी जब प्रत्यक्ष की ही सत्ता सिद्ध नहीं है तब उसके अधीन अनुमान आदि प्रमाणों की कहाँ गति है ? जहाँ बड़े–बड़े हाथी बह जाते हैं वहाँ भेड़ों की क्या कथा है ? ॥३७॥ इसलिए जो कुछ हमने कहा है उसका स्फूरित यही है कि प्रमाणसिद्ध दृश्य प्रपंच कहीं भी नहीं है । जो यह सद्रूप एक 'अस्तीव' (है–जैसा) भासित हो रहा है वह सैंधव (नमक) के टुकड़े के समान चिद्घन ब्रह्म ही है ॥३८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्न में पर्वत देखनेवाले का प्रसिद्ध स्वप्न उस समय भी शून्यरूप ही है, क्योंकि उसी घर और उसी समय में जाग रहे या सो रहे किसी अन्य पुरुष को वह पर्वत नहीं है, वैसे ही शिला की भावना से युक्त हम दोनों को यह दृश्य भी शिला चिद्रूप ही है ॥३९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह पर्वत, यह आकाश, यह जगत् और यह मैं–इत्यादि सब कुछ चिन्मय आत्मा ही चिदाकाशरूप से स्वयं अपने स्वरूप में भासता है ॥४०॥ इस तरह सब कुछ चिन्मय आत्मा ही भासता है, कोई दूसरा नहीं, यह प्रबुद्धात्मा ही देखता है, अप्रबुद्धात्मा कभी नहीं देखता । हे श्रीरामजी, महाभारत आदि कथा का अर्थज्ञान सुननेवाले को ही होता है, जो कथा नहीं सुनता उसको उसका अर्थज्ञान भी कभी नहीं होता॥४१॥ अप्रबुद्ध को (अज्ञानी को) ही यह जगत् की भ्रान्ति सत्यस्वरूपता को प्राप्त है । हे श्रीरामजी, मदिरा पीकर मतवाले बने हुए पुरुष को ही सुस्थिर ये वृक्ष तथा पर्वत आदि नाचते दिखाई देते हैं॥४२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो लोग योगिप्रत्यक्ष सर्वत्र अप्रतिहत, एकबोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्स्वरूप का बोध करके भी बाधित हुए उस चक्षुः आदि अन्य प्रत्यक्ष का–तुच्छ होते हुए भी प्रमाणरूप से आश्रय लेते हैं वे मूढ़ आत्मवंचक तृण के समान नगण्य हैं, उनसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥४३॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

शिला की सृष्टि के अन्दर प्रवेश और वहाँ के ब्रह्मा का दर्शन तथा
सत्कारपूर्वक बैठाये गये वसिष्ठमुनि से ब्रह्माजी का सम्भाषण।

शिला के पेट में जगत् की संभावनार्थ उसकी सत्ता एवं स्फूर्ति देने वाले अधिष्ठानभूत ब्रह्म को दिखलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जिसके समस्त जगत् एक तरह के अवयव-से हैं, ऐसे सूर्य आदि ज्योतियों से अगम्य तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का अविषय परब्रह्म ही दृश्य-सा बनकर स्थित है, वह निरामय परब्रह्म समाधि की दिव्यदृष्टि से दीख पड़ता है (यह जगत् परब्रह्म की ज्योति से ही प्रकाशित हो रहा है,अतः जगत् भी वास्तव में निर्विकार ब्रह्मस्वरूप ही है।) ॥१॥ पर्वत, नदियाँ, झरने तथा लोकलोकान्तर आदि के जितने भ्रम हैं वे सब उसी ब्रह्म में दीख पड़ते हैं। ये महाकाशरूपी उत्कृष्ट दर्पण में प्रतिबिम्बित हैं ॥२॥ श्रीरामजी, तदनन्तर अबाध गतिवाली वह विद्याधरी उस शिला के पेट में स्थित जगत् में प्रविष्ट हो गई, संकल्परूप मैं भी उसके साथ उसके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥३॥ हे श्रीरामजी, तदनन्तर उद्यमशील तथा परम शोभावाली वह विद्याधरी वहाँके ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्माजी के सम्मुख बैठ गई और बैठकर मुझसे कहने लगी-'हे मुनिश्रेष्ठ, ये मेरे पति हैं, ये मेरी रक्षा करते हैं, विवाह के लिए इन्होंने ही मनसे मेरा उत्पादन किया था, यद्यपि अब ये पुरुष बूढ़े हो गये हैं और मैं भी बूढ़ी हो गई हूँ, तथापि आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया, इसीसे अब मुझे वैराग्य हो गया है, इन्हें भी वैराग्य आ गया है, ये उस परम पद में जाने की इच्छा रखते हैं, जहाँ न तो कोई द्रष्टता है, न दृश्यत्व है और न शून्यत्व ही है।' श्रीरामजी, वह विद्याधरी जब तक यह मुझसे कह रही थी, तब तक इस जगत् में महाप्रलयकाल समीप आ रहा था। फिर उस विद्याधरी ने कहना आरम्भ किया-भगवन्, अभी भी ये अपने ध्यान से विचलित नहीं होते, पर्वत के सदृश अपनी मुनिवृत्ति से मानों ये अचल पर्वत ही लगते हैं ॥४-८॥ हे मुनीश्वर, इसलिए मुझे और इन्हें भी बोध देकर उस परब्रह्म के मार्ग में लगाने की कृपा कीजिये, जो वैज्ञानिक प्रलयतक के सारे संसारों का मूलभूत कारण है ॥९॥ हे श्रीरामजी, उस विद्याधरी ने मुझसे वैसा कहकर फिर उस ब्रह्माजी को जगाने के लिए कहने लगी : हे स्वामिन्, आज अपने इस घर में ये सब मुनियों के श्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी पधारे हैं, ये मुनि दूसरे जगद्रूप घर में रहनेवाले ब्रह्माजी के पुत्र हैं। हे नाथ, गृहस्थ पुरुषों के घर में होनेवाली समुचित पूजा से अपने घर पर पधारे हुए इनका सत्कार कीजिए ॥१०,११॥ हे स्वामिन्, आप यह जानिये कि ये मुनिश्रेष्ठ पूज्य हैं, इसलिए अर्घ्य, पाद्य आदि से इनकी पूजा कीजिये। जो बड़े-बड़े आपके सदृश महात्मा है, उन्हें उत्तम पूजा से प्राप्त होनेवाला महाफल ही रुचता है ॥१२॥ श्रीरामजी, जब उस विद्याधरी ने वैसा कहा, तब

महामेधावी वह मुनि समाधि से समुद्र में आवर्त के समान उठे, वे अपनी आत्मा को पहचानने के निमित्त द्रवीभूत हो गये ॥१३॥ तदनन्तर धीरे से उस नीतिज्ञ विद्वान ने अपने नेत्र उस तरह खोले, जैसे मधुमास (वसन्त) शिशिर में शान्त भूमिपर पुष्परूपी अपनी आँखें खोलता है ॥१४॥ बाद में धीरे–धीरे उसके वे समस्त हाथ, पैर आदि अंग–अपने–अपने ज्ञान को ऐसे प्रकट करने लगे यानी अपनी–अपनी चेतना से युक्त ऐसे होने लगे, जैसे वसन्त सम्बन्धी पल्लव नवीन रस को प्रकट करते हैं यानी नवीन रस से युक्त होने लगते हैं ॥१५॥ अनन्तर, देव, सिद्ध और अप्सराएँ चारों तरफ से ऐसे आ धमकी, जैसे प्रातःकाल में खिले हुए कमलों से युक्त सरोवर में चंचल हंसपंक्तियाँ ॥१६॥ श्रीरामजी, उस ब्रह्मा ने सामने उपस्थित हमको और विलासिनी उस रमणी को देखा। देखने के बाद उन्होंने यह वचन कहा। उनका वचन ॐकार पूर्वक स्वरोच्चार के कारण बड़ा ही रम्य लगता था ॥१७॥ शिलोदर जगत् के ब्रह्माजी ने कहा : हे हाथ में आँवले के सदृश असार संसार के तत्त्व को जाननेवाले, हे ज्ञानरूपी अमृत बरसाने वाले महामेघ, हे मुने आपका स्वागत हो ॥१८॥ हे मुने, आप इस अतिदूरातिदूरवर्ती स्थान में पधारे हैं, अतः लम्बे मार्ग के कारण खूब थक गये होंगे, आप इस आसन पर बिराजिए ॥१९॥ श्रीरामजी, उस जगत् के ब्रह्माजी के वैसा कहने पर 'हे भगवन्, आपका अभिवादन करता हूँ' यों कहते हुए मैं नेत्र के इशारे से दर्शित मणिमय आसन पर बैठ गया ॥२०॥ अनन्तर देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि, विद्याधर आदि द्वारा गायी गई उनकी स्तुतियाँ आरम्भ हुई, फिर पूजा हुई और फिर नमस्कार हुए। अनन्तर यथायोग्य परस्पर व्यवहार की नीति सम्पन्न हुई ॥२१॥ अनन्तर एक मुहूर्तमात्र में देव, गन्धर्व आदि भूतगणों के द्वारा वाणी से किया गया प्रणाम समारोह जब शान्त हो गया, तब मैंने उन ब्रह्माजी से कहा ॥२२॥ हे भूतभव्य के स्वामिन्, यह विद्याधरी यत्नपूर्वक मेरे पास आकर कहती है कि तुम हम लोंगों को बोध वचनों से उपदेश दो। क्या उसका यह कहना उचित है या अनुचित ? ॥२३॥ हे देव, आप सब प्राणियों के स्वामी हैं समस्त ज्ञानों के पारंगत हैं, अतः यह काममुग्धा स्त्री क्या कह रही है ? इसे हे जगत्पते कहिए ॥२४॥ हे देव, आपने अपनी भार्या बनाने के निमित्त इसे क्यों उत्पन्न किया ? उत्पन्न करके क्यों अपनी पत्नी नहीं बनायी, फिर यहाँ उसको वैराग्य की ओर क्यों ले गये ? ॥२५॥

आपका आशय ठीक है कि यद्यपि मैं और यह दोनों उपदेश के लिए योग्य नहीं है, तथापि इसने अपनी ही वासना से मुझे अज्ञानी और अपना उपदेशाधिकार समझकर आपसे उपदेशार्थ प्रार्थना की है, तथा यद्यपि मैंने इसके जन्ममात्र का सम्पादन किया है। तथापि 'पत्नी बनाने के लिए मैं उत्पादित की गई हूँ, मैं इनकी भार्या हूँ' इत्यादि भी अपनी वासना से ही इसने समझ रक्खा है, इसलिए वासनामात्ररूप होने के कारण अब मैं जब विदेह कैवल्य को प्राप्त करूँगा, तब उसके साथ–साथ स्वकल्पित प्रपंच का भी तत्काल ही प्रलय हो जायेगा, यों विस्तार के साथ उत्तर देने की इच्छा से कहते हैं।

अन्य जगत् के ब्रह्माजी ने कहा : हे मुने, आप सुनिये, मैं जैसा वृत्तान्त है, वैसा ही आपसे कहता हूँ, क्योंकि सज्जनों के सम्मुख जैसी घटना घटी हो, उसे अवश्य पूरी तरह कहनी ही चाहिए ॥२६॥

सबसे पहले उपोद्‌घातसंगति से 'अप्रतिहत ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म–ये चारों जगदीश्वर के साथ–साथ ही सिद्ध है' इस पुराणप्रसिद्धि के अनुसार अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में तात्त्विक परिज्ञान बतलाने के लिए तथा अपनी उत्पत्ति का स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी, ऐसी एक कोई मुख्य वस्तु है, जो अज, शान्त, अजर तथा त्रिकाल में बाधित नहीं होने वाली है । इसी का नाम चिति है । इस चिति के एक मात्र प्रकाशनस्वरूप से मैं उत्पन्न (आविर्भूत) हुआ हूँ ॥२७॥

उक्त तत्त्वज्ञान से बाधित अपनी उत्पत्ति और अपना नाम आपके लिए कैसे सिद्ध हो सकता है, इस पर कहते हैं ।

भद्र, मैं चिदाकाशरूप ही हूँ, सदा अपने ही स्वरूप में स्थित हूँ, और व्यवहार करनेवाली प्रजा के सर्ग के उत्पन्न होकर स्थित हो जानेपर उनकी दृष्टि से मेरा नाम स्वयंभू होता है ॥२८॥ तात्त्विक दृष्टि से तो न मैं उत्पन्न हुआ हूँ और न कुछ देखता ही हूँ । सभी प्रकार के आवरणों से निर्मुक्त होकर चिदाकाशस्वरूप मैं चिदाकाश में ही स्थित हूँ ॥२९॥

तब हम दोनों तत्त्वज्ञानियों का परस्पर जो प्रश्नोत्तरादि व्यवहार हो रहा है, वह कैसा है, इस पर कहते हैं ।

भद्र, जो यह तुम, मेरे आगे हो और तुम्हारे आगे मैं हूँ, तथा यह जो अपना परस्पर प्रश्नोत्तररूप संभाषण है, वह तो उस तरह का है, जिस तरह का कि एक ही समुद्र में एक तरंग के आगे दूसरा तरंग हो और वही एक समुद्र तरंगों द्वारा परस्पर आघातों से ध्वनि करता हो, यह मेरा सिद्धान्त है ॥३०॥ भद्र, इस प्रकार समुद्र से जनित तरंगों के सदृश थोड़ी मात्रा में कल्पित अपनी और दूसरे की दृष्टि से देखे जानेवाले भेदरूप तथा समयवश अपने स्वरूप के थोड़े से विस्मरण के कारण अस्वच्छस्वरूप हुए चिदाभासरूपी मुझमें जो स्वभाव से 'मैं और मेरी' वह वासना ही इस कुमारी को और तुम्हें अन्य–सी भासती है, परन्तु मुझको तो अनन्य ही भासती है, वह वासना हम दोनों पुरुषों की दृष्टि से उदित है और उदित नहीं भी है ॥३१,३२॥

अपनी दृष्टि से आप कैसे हैं, इस पर कहते हैं ।

भद्र, मैं तो अविनाशी सत्तावाला हूँ, क्योंकि मैं कभी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, आत्मरूप मैं अपने स्वरूप में स्थित हूँ । स्वभाव से ही मेरा आकार अविनाशी है, मैं स्वात्माराम तथा स्वयं प्रभु हूँ ॥३३॥

जब आप ऐसे विशुद्ध हैं, तब यह कैसे उत्पन्न हुई और असल में यह है क्या ? इस पर कहते हैं ।

हे वसिष्ठजी, उक्त विशुद्धस्वरूप मुझको पूर्वपूर्व के अहंकार के संस्कार से उत्पन्न स्मृति–जैसी जो अहंभ्रान्ति, जगत्स्थिति और वासना हुई, उसकी अधिष्ठात्री देवता ही यह शरीररूप होकर स्थित है ॥३४॥ भद्र, यह वासना की अधिष्ठात्री देवी ही बैठी है, न तो यह मेरी गृहिणी है और न गृहिणी के निमित्त से इसका मैंने उत्पादन ही किया है ॥३५॥

तब यह आपको अपना पति क्यों कहती है, इसपर कहते हैं।

चूँकि यही भीतर की समस्त जगत् की वासना है, इसलिए अपनी वासना के आवेशवश से यह 'मैं ब्रह्मा की पत्नी हूँ' इस तरह की भावना को अपने ही मन की इच्छा से प्राप्त हुई है और उसे प्राप्त कर निरर्थक ही अत्यन्त दुःख को प्राप्त हो गई है ॥३६॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

वासना देवी के वैराग्य के कारण का और जगत् के प्रलय एवं मिथ्या विभ्रमरूपत्व का वर्णन।

आपने इसका पत्नी के निमित्त निर्माण क्यों किया, इस प्रश्न का उत्तर देकर अब इसको वैराग्य की ओर क्यों ले गये, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आरम्भ करते हैं।

अन्य जगत् के ब्रह्माजी ने कहा : हे वसिष्ठजी, मैंने अपने संकल्प से कल्पित दो परार्ध वर्ष आयु के बिता दिये, अब चित्ताकाशरूप मैं सबसे ऊँची निरतिशयानन्दात्मक ब्रह्माकाशरूप कैवल्यस्थिति लेने की इच्छा कर रहा हूँ, इस कारण से मेरी वासना से बने इस जगत् में नित्य, नैमित्तिक, दैनंदिन और आत्यन्तिक–ये चारों तरह के प्रलय भी उपस्थित हो गये हैं ॥१॥ हे मुनीन्द्र, इस महाप्रलय काल में अब इसका मूलोच्छेद कर अपनी सत्ता से गिराने के लिए मैंने आरम्भ किया है, इसलिए इसे वैराग्य हो गया है यानी यह विनाशोन्मुख हो गई है ॥२॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं।

यह मैं जब कि चित्ताकाशस्वरूप का त्याग कर आद्य चिदाकाशरूप हो रहा हूँ, तब महाप्रलय का स्वरूप और वासना का विनाश निश्चित है ॥३॥ इसीलिए यह विरक्त होकर मेरे मार्ग की ओर दौड़ रही है, ऐसा उदारबुद्धि कौन जीव है, जो अपने जनक के पीछे दौड़ता न हो ॥४॥ भद्र, आज ही यहाँ कलिका समाप्तिकाल और चतुर्युगी का विनाश उपस्थित है एवं मनु, इन्द्र, देव आदि प्रजा का भी यह विनाश आ गया है ॥५॥

चारों प्रकार के प्रलय आज एक ही साथ प्राप्त हैं – यह कहते हैं।

आज ही मेरे कल्प का विनाश है, महाकल्प का भी विनाश आज ही है, वासनाविनाश आज ही है और आज ही देहाकाश का विनाश है ॥६॥ हे ब्रह्मन्, इसीलिए आत्मदर्शन आदि कारणों को लेकर ही यह विद्याधरीरूप वासना विनाश की ओर जाने के लिए उद्यत हुई है । तालाब के सूख

जाने पर गन्धलेखा कहाँ स्थित रह सकती है ? ॥७॥

अपने विनाश के कारण आत्मदर्शन में इसकी इच्छा क्यों हुई, इस प्रश्न का उत्तर – उसका वैसा स्वभाव ही है, यह–युक्तिपूर्वक कहते हैं।

भद्र, जैसे जड़ समुद्रलेखा से चंचल लहरी उत्पन्न होती है, वैसे ही वासना से भी अपने विनाश की हेतु आत्मदर्शन की इच्छा यों ही स्वभाववश उत्पन्न होती है, उसमें दूसरा कोई भी बाहरी कारण नहीं है ॥८॥ केवल अभिमान ही जिसका शरीर है, ऐसी इस वासना को स्वभाव से स्वयं ही आत्मदर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है ॥९॥

तब इसने हम लोगों का जो ब्रह्माण्ड देखा, उसमें क्या कारण है, इस पर कहते हैं।

आत्मा के दर्शन के लिए किये गये धारणाभ्यासरूप योग का फल अन्यान्य ब्रह्माण्ड में गमन आदि सिद्धि है ही, इसलिए उसकी परीक्षा करने की इच्छा ही वहाँ जाने में कारण हुई । वहाँ जाकर इसने आपका वह सर्ग देखा, जिसमें धर्मादि के अनुष्ठान में व्यग्र एवं निरर्गल प्रजा रहती है ॥१०॥

पूर्वोक्त शिला का दर्शन भी इसको उसी सिद्धि के बल से हुआ, यह कहते हैं।

आकाश में विचरण करने में तत्पर इस विद्याधरी ने अपने जगत् की आधारभूत पर्वत के शिखर की शिला भी उसी सिद्धि की सामर्थ्य से देखी, जो कि हम लोगों की दृष्टि से केवल आकाशरूप ही है ॥११॥ हम लोगों के अनेक जगद्रूप पदार्थों के अन्दर– जिस जगद्रूप पर्वत के ऊपर यह जगत् है और जिसमें उक्त पत्थर की शिलारूपता है–ऐसे–ऐसे अनेक दूसरे भी जगत् हैं ॥१२॥ परन्तु हम लोग चूँकि भेददृष्टि में यानी व्युत्थानदशा में बैठे हैं, इसलिए उनको नहीं देखते, परन्तु समाधि से बोध के साथ एकरूप होकर योगदृष्टि से देखने से देख सकते हैं ॥१३॥ भद्र, घट में, पट में, दीवार में, आकाश में, वायु में, जल में, तेज में, सर्वत्र–सभी जगह, शिलोदर के सदृश, अनेक जगत् विद्यमान हैं ॥१४॥ जगत् नाम की तो एक निरर्थक भ्रान्ति ही है, और वह है ठीक स्वप्ननगर के जैसी । यह जगत् की माया भी मिथ्या है, इसलिए मिथ्या भ्रमका अस्तित्व ही कहाँ रहा ? यदि उसका अस्तित्व है, तो वह अधिष्ठान चितिरूप होकर कुछ और ही है, न कि प्रतीयमान जड़रूप ॥१५॥ यह माया भ्रान्तिरूप परिज्ञात होकर जिनकी दृष्टि में चिदाकाशरूप बन जाती है, उनके लिए तो वह सदा के लिए चली ही गई समझनी चाहिए और बाकी जो लोग बच गये, उनको तो भ्रम के ही पात्र समझ लीजिए ॥१६॥

अथ 'किमिदं भूतभव्येश०' इत्यादि से अपने पास आने की सामर्थ्य में जो हेतु पूछा, उसका उत्तर कहते हैं।

हे मुने, अब आप यह सुनिये कि आपके पास यह किस कारण से आयी । बात ऐसी है– पूर्वोक्त वैराग्यप्राप्ति के अनन्तर अपने विरागवश से इसको आत्मीय यानी अभीष्ट आत्मज्ञान की अनुकूल गुरूपसदन, श्रवण, मनन आदि की इच्छा उत्पन्न हुई । और उसे आपके उपदेश से

सिद्ध करने की इच्छा रखकर इसने दूसरे (पूर्वोक्त जगत्सृष्टि के दर्शन में हेतुभूत धारणा से भिन्न) खेचरसिद्धि, ब्रह्माण्डान्तर में गमन आदि सिद्धियों की हेतुभूत चूडालाख्यायिका में वर्णित धारणाओं के अभ्यास से आपके संकल्प से कल्पित आपका समाधिस्थान जानकर वहाँ यह पहुँच गई और पहुँचकर अदृश्य होते हुए भी आपको इसने देख लिया ॥१७॥ हे मुने, वर्णित रीति से जीवचिति की शक्तिरूप अविद्या ऐन्द्रजालिक माया के सदृश चारों ओर फैली हुई है और ब्राह्मी मायाशक्ति, जो आदि एवं अन्त से शुन्य है, इसी प्रकार चारों ओर फैली हुई है, वह विद्यारूप है, क्योंकि उसमें आवरणशक्ति न रहने के कारण वह निरामय है ॥१८॥ हे मुनिवर, यहाँ कोई भी कार्य कभी न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं, केवल चिति ही दृश्य–सी, काल–सी एवं क्रिया–सी प्रकाशित होकर तपती है ॥१९॥ भद्र, ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि आदि हैं, वे सबके–सब केवल चितिरूपी शिला की प्रतिकृतियाँ हैं, अतः उनका न उदय है और न अस्त ही है, यह आप जानिये ॥२०॥ शिला की आकृति धारण कर रही यह चिति ही स्थित है, इसी चिति के समस्त जगत् ऐसे अंग हैं, जैसे वायु के स्पन्दन ॥२१॥

चिति का यह जो उलटा ज्ञान होता है, उसमें चितिस्वभावका परिज्ञान न होना ही कारण है, यह कहते हैं ।

विज्ञानघन आत्मा को जगत् समझना चिति का ही कार्य है । स्वयं अनादि एवं अनन्त होती हुई भी असली चित्स्वभाव के अपरिज्ञान से देश–वस्तु से जनित परिच्छिन्न भाव को भी प्राप्त चिति ही हो जाती है ॥२२॥ यह जो चितिरूपा शिला है, वह वास्तव में आदि–अन्त से रहित होती हुई भी भ्रम से आदि–अन्त से युक्त बन जाती है और निराकार होती हुई भी साकार होकर जगत्–रूप अंगों से युक्त बनकर स्थित हो जाती है ॥२३॥ जैसे स्वप्न में चिति अपने ही आकाशवत् निर्मल स्वरूप को नगररूप समझ लेती है, वैसे ही इस जाग्रत–काल में भी चिति पाषाण को अपना जगत्–रूप अंग समझ लेती है ॥२४॥

जाग्रत में भी स्वप्न के तुल्य बाध की समानता दिखलाते हैं ।

भद्र, यहाँ न नदियाँ बहती हैं, न नक्षत्रचक्र घूमता है, न अर्थों का परिणाम हो रहा है, किन्तु अपने भीतर केवल चितिरूप आकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥२५॥ जैसे जल में विद्यमान दूसरा जल यानी समुद्र में विद्यमान तरंग आदि पृथक् स्वरूप का नहीं होता, वैसे ही संविदाकाश में प्रतीत महाकल्प और कल्प के अन्त की संवित् भी पृथक् स्वरूप की नहीं हो सकती ॥२६॥

ऐसी परिस्थिति में अध्यारोपदृष्टि से देखने पर अनन्त जगत् सदा सर्वत्र चिति सत्ता से विद्यमान हैं, थोड़ा–सा भी इनका अपलाप नहीं किया जा सकता और अपवाददृष्टि से देखने पर तो चिति के स्वरूप से भिन्न कोई वस्तु कहीं पर भी समर्थित नहीं हो सकती, यह बात हुई, यह कहते हैं ।

जैसे महाकाश के भीतर दूसरे–दूसरे घटादि आकाश महाकाश की सत्ता से विद्यमान हैं और स्वतः अलग विद्यमान नहीं हैं वैसे ही ये जगत स्वतः शून्य रूप होते हुए भी चिति की सत्ता से विद्यमान है और अपनी सत्ता से अविद्यमान भी हैं ॥२७॥ हे वसिष्ठमुने, अब आप अपने भुवन में चले जाइए, और वहाँ एकान्त में कल्पित अपने पूर्व के आसन पर समाधि लगाकर विक्षेप–रहित सुख का अनुभव कीजिये, ये मेरे कल्पित बुद्धि आदि जगत् के पदार्थ भी प्रलय प्राप्त कर परम अव्यक्त की ओर चले जायें । हम लोग भी हिरण्यगर्भ की उपाधिभूत मूल अज्ञान का बाधकर कैवल्यपद में जा रहे हैं ॥२८॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

इकहत्तरवाँ सर्ग

कल्पना के कारणभूत ब्रह्माजी के संकल्प का ज्यों-ज्यों विनाश होता गया,
त्यों-त्यों उनके कल्पित समस्त पदार्थों का प्रलय भी हो गया, यह वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, ऐसा मुझसे कहकर भगवान् ब्रह्माजी, ब्रह्मलोक में रहनेवाले समस्त जनों के साथ, पहले पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटनेवाली समाधि में तत्पर हो गये ॥१॥ भद्र, ओंकार की उत्तरार्धभूत जो आधी मात्रा है, उसमें विद्यमान नाद, बिन्दु आदि भागों में क्रमशः उन्होंने अपने चित्त का लय किया, इससे उनकी जितनी वासनाएँ थीं, वे सब विलीन हो गई, जबकि उनकी समस्त वासनाएँ विनष्ट हो गई, तब वे ऐसे मालूम पड़ने लगे, जैसे चित्र में उनका आकार चित्रित किया गया हो यानी उस समय उनके आकार में तनिक भी चंचलता नहीं थी ॥२॥ यह विद्याधरी भी ब्रह्माजी का अनुसरणकर ध्यानमग्न हो गई और फिर स्मरणहेतु समस्त बीजभूत संस्कारों से रहित होकर शान्तस्वभाव हो आकाशरूपिणी हो गई ॥३॥

यह उनका भीतरी रहस्य आपने कैसे जाना, इस प्रश्न पर कहते हैं ।

श्रीरामजी, स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप अर्थों के साथ प्रणव की मात्राओं के विलय क्रम से वासना–संकल्पशून्य होकर जब ब्रह्माजी उत्तरोत्तर सूक्ष्मभाव को प्राप्त होने लगे, तब मैं भी समाधि से सर्वत्र व्यापक असीम चिदाकाशरूप बन गया और ब्रह्माजी की उस तरह की स्थिति साक्षात् देखने लगा ॥४॥ ब्रह्माजी का संकल्प धीरे–धीरे ज्यों–ज्यों उस क्षण से लेकर नीरस होता गया, त्यों–त्यों तत्क्षण में ही पर्वत, द्वीप एवं समुद्रों से युक्त पृथ्वी की तृण, गुल्म, लता, धान आदि की उत्पादन–सामर्थ्य एवं सभी जल आदि की अपनी अपनी सामर्थ्य विनाश की ओर जाने लगी ॥५,६॥

समस्त शरीर में जिसको वेदना है, ऐसे मरणासन्न विद्वान को संकल्प के उपसंहार में जैसे अंगों में नीरसता हो जाती है, वैसे ही विराट् पुरुष के संकल्प के उपसंहार में विराट् शरीर के अवयव पृथ्वी आदि में भी नीरसता हो जाती है, यह जानना चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

पृथ्वी विराट् आत्मा के स्वरूप की एकदेशता ही धारण करती है, यानी पृथ्वी विराट् आत्मा की

अंग है, इसलिए जब विराट् आत्मा के संवेदन का उपसंहार हो गया, तब पृथ्वी अचेतन तथा नीरस होकर चारों ओर से ऐसे जर्जर हो गई, जैसे मार्गशीर्ष के अन्त में बेली जरा से अविधुर–भाव को (जर्जरभाव को) प्राप्त होती है ॥७,८॥

आशयस्थ दृष्टान्त को प्रकट करते हैं ।

जैसे हम लोगों के अंग संवेदना के उपसंहार में नीरस हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माजी की अंगभूत पृथ्वी संवेदन के उपसंहार में नीरस हो गई ॥९॥

किस–किस प्रकार से पृथ्वी जर्जर हुई, इसे बतलाते हैं ।

पहले तो वह पृथ्वी एक साथ अनेक बड़े–बड़े उत्पातों के भार से आक्रान्त हो गई, फिर उसमें पापरूपी अंगारों से परितप्त नरकों की ओर प्रवृत्तिशील मनुष्य होने लगे ॥१०॥ आकाश के अकाण्डताण्डव, राजाओं एवं चोरों के उपद्रवों से जनित दीनता तथा दरिद्रता से उसका सारा वैभव मिट्टी में मिल गया। उसमें समस्त स्त्रियाँ अपने सतीत्व से भ्रष्ट हो गई और मनुष्यों की सारी मर्यादा नष्ट हो गई ॥११॥ उस समय उस पृथ्वी में धूलि के सदृश मन्द नीहार एलं धूलि से सूर्य भी धुँधला हो गया । शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों का निराकरण करने में महामूर्ख अतएव महादुःखी व्यसनी एवं व्याधियों से पीड़ितजनों से वह आक्रान्त हो गई ॥१२॥ उसमें अग्निदाह, जल के पुर एवं युद्धों से मण्डल के मण्डल छिन्न–भिन्न हो गये । तथा वह अतिवृष्टि व अनावृष्टि से कष्टपूर्वक जीवनयापन के व्यापारों से पामर हुए मनुष्यों से भर गई ॥१३॥ अशंकित महान् उत्पातों से उस समय वहाँ पर्वत, नगर अपने–आप गिरने लगे, बच्चों के, श्रोत्रिय ब्राह्मणों के, मुनियों के, आर्यों के एवं गुणीजनों के विनाश से लोग रुदन करने लगे ॥१४॥ जल की दुर्लभता के कारण स्थलियों के बीच में निःशंक वहाँ जहाँ तहाँ अगाध कूप लोंगो ने खन दिये थे । वर्णसंकरों के निमित्त नारियों में वहाँ साधारणजन, एवं राजा आदि सब गोत्रादि का विचार किये बिना ही विवाह में आसक्त होने लग गये ॥१५॥ भद्र, उस समय वहाँ सम्पूर्ण मनुष्य धान आदि के क्रय–विक्रय आदि व्यवहार से ही अपना निर्वाह करने लग गये, चौमुहानियों पर शुल्क ही जीवन–साधन बन गया, स्त्रियों का जीवन–साधन केश (जननेन्द्रिय) ही हो गये, और कर ही राजाओं का उपजीव्य (जीवन–साधन) बन गया अथवा अपने अपने वर्ण और आश्रम के उचित व्यवहारों का अतिक्रमण ही सभी मनुष्यों का व्यसन बन गया चौराहों पर सियार ही क्रन्दन करने लगे, स्त्रियों का केशविन्यास ही व्यसन बन गया, समस्त राजे वेश्या, नर्तकी आदि में ही अपना समय निकालने लगे ॥१६॥ जनों के आचरण दुःखरूप शूलरोग से आक्रान्त हो गये, समस्त प्रजा शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों से आक्रान्त हो गई, अधर्मरूप शूलरोगवाली स्त्रियाँ बन गई और राजवर्ग मद्य आदि के पान में ही निरत हो गया ॥१७॥ सारी पृथ्वी अधर्मरूपी शूलरोग से त्रस्त जनों से चारों ओर व्याप्त तथा सैकड़ों कुशास्त्रों से यानी वेदबाह्य विचारों से रोगपीड़ित होकर क्रन्दन करने लग गई । उस समय वहाँ चोर आदि दुर्जन ही धनों से पूर्ण हो गये और सज्जन अनेकविध विपत्तियों से

घिर गये ॥१८॥ उस समय अनार्य ही समस्त पृथ्वी के रक्षक बन गये, पण्डितगण अनार्यों द्वारा विताडित होने लगे, सारी भूमि में लोभ, मोह, भय, द्वेष, राग और रोगरूप धूलि उड़ने लगी ॥१९॥ श्रीरामजी, क्या कहा जाय, सारी पृथ्वी परधर्म में प्रवृत्त पुरुषों से व्याप्त हो गई, उसमें धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्रोध से आक्रान्त हो गये और निरन्तर दूसरों को दुःख देने में (रुलाने में) तत्पर असीम दुष्टजनों का उत्थान हो गया अर्थात् उस समय पृथ्वी में सभी पुरुष अपना अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरों के धर्म-कर्मों में प्रवृत्त हो गये, स्वधर्म का उपदेश देनेवाले सज्जन पुरुष क्रोध से आक्रान्त हो गये तथा साधारण पामर पुरुष निरन्तर दूसरों को रुलाने में ही तत्पर हो गये ॥२०॥ नगर, गाँव तथा देवता और ब्राह्मणों के मन्दिरों को दस्युओं ने छिन्न-भिन्न कर दिया एवं अन्यायोपार्जित धन से अपना कुटुम्बपोषण करने में आपाततः मधुर और परिणाम में (परलोक में) दुःखद उदरवाले अल्पायु पुरुष दिखलाई पड़ने लग गये ॥२१॥ आलस्यदोष से सब धार्मिक पुरुषों ने अपना-अपना नियमित सन्ध्यावन्दन आदि कार्य छोड़ दिया। परिणाम में सब अनेकविध आपदाओं एवं रोगों से घिर गये तथा क्रम से दिशाओं के मण्डल के मण्डल छिन्न-भिन्न होने लग गये ॥२२॥ नगर और गाँव केवल भस्मावशेष रह गये, सम्पूर्ण मण्डल (जिले) उजड़ गये और शब्द करनेवाले भस्म एवं मेघों के बवन्डरों से आकाश में भयंकर हलचल पैदा हो गई ॥२३॥ सारी पृथ्वी का पेट अभागी प्रजाओं के बड़े-बड़े समारोह एवं रोने के शब्द से युक्त बन गया, सारी जनता चोरी करने में प्रवीण बन गई तथा सभी मनुष्यों को प्रतिक्षण सन्तापों का ही सामना होने लगा ॥२४॥ भद्र, उस समय पृथ्वी में ऋतुओं ने अपना-अपना गुण-स्वभाव छोड़ दिया और उसके सभी प्रदेशों की सीमाएँ नीरस हो गयीं। इस तरह ब्रह्माजी के विराट् शरीर को बनाने वाला पार्थिव भाग जब चैतन्य में मिल गया, तब पृथ्वी की विशालता समीपवर्ती प्रलय के कारण विलीन हो गई, तदन्तर चेतनरूप संवित्से निर्मुक्त जल भी विनाश की ओर उन्मुख हो गया ॥२५,२६॥ जब जलधातु का स्वरूप कुपित हो गया, तब उसने भी अपना नियम तोड़ दिया और नियम तोड़ने के कारण समुद्र अपनी प्राचीन आर्यमर्यादा को तिलांजलि देकर अन्धाधुंध विस्तृत जल से लबालब भर गये ॥२७॥ फिर उन्मत्तों के सदृश शब्द कर रहे समुद्र विकृतभाव धारण करने लग गये और अपनी बड़ी-बड़ी तरंगों के नाना प्रकार के विक्षोभों से तटस्थ जंगलों का उच्छेद करने लग गये ॥२८॥ समुद्रों में बड़ी-बड़ी उन्नत तरंगें उठने लग गयीं, मत्त और भयंकर महान आवर्त भी होने लगे-इससे उसमें रहने वाले जलचरों में हलचल पैदा हो गई। सारे आकाशमण्डल में एवं दसों दिशाएँ ऊँचे-ऊँचे घूम रहे जलतरंगरूप वर्तुलाकार महामेघों से व्याप्त हो गई ॥२९॥ बड़े-बड़े गुड-गुड शब्द करनेवाले आवर्तों द्वारा किये गये महान् गर्जन से उनकी पर्वत-कन्दराएँ भयंकर शब्द करने लगीं और जलकणों को (जलधाराओं को) बरसाने वाले महामेघों से पर्वत भी डूबने लग गये ॥३०॥ सभी समुद्रों का भीतरी भाग अपना-अपना उत्तम वेग बतलाकर दूसरों पर विजय पाने के निमित्त आगे-आगे दौड़ रहे वीर मगरों से घूर्णित (विक्षुब्ध) हो गया तथा उल्लसी मगरों के द्वारा

आक्रान्त वृक्षों से महाअरण्य–सा बना दिया गया ॥३१॥ गुफाओं को तोड़–फोड़ देने के कारण उनमें से सिंह निकल भागे और भागकर उन्होंने समुद्र में स्थित जलचरों को हताहत कर दिया तथा अपनी तरंगों द्वारा फेंके गये महारत्नसमूहों से समुद्रों ने आकाशमण्डल को तारों से युक्त बना दिया ॥३२॥ समुद्रों से उछले हुए मगरों ने आकाशगामी जीवों और बड़े–बड़े मेघमण्डलों को आच्छादित कर दिया और तरंगों के परस्पर आघातों से समुद्रों में कठोर भयंकर शब्द होने लगा ॥३३॥ ऊँचे हाथियों के सदृश तथा अतिचपल मगरों के फूत्कार से सूर्य का मण्डल भी धुल जाने लगा और परस्पर कुटिल गति की व्यग्रता से समुद्र तरंगों ने बड़ी–बड़ी पर्वत भित्तियों को भी तोड़–फोड़ दिया ॥३४॥ समुद्रों ने अपनी विशाल तरंगो से तीरस्थ पर्वतों को चूर्णित कर दिया, गर्जना करते हुए पर्वतों के गुफारूपी घरों पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया तथा उनका जल उन्मत्त–सा बन गया ॥३५॥ सम्पूर्ण समूद्रों की गतियाँ कुछ विचित्र ही हो गई, वे शत्रुओं के नगरों पर आक्रमण करनेवाले नष्टशत्रु राजाओं के सदृश मालूम पड़ने लग गये, क्योंकि इन्होंने भी अपनी उन्नत तरंगों से विरोधी दावाग्नि को आहतकर ऊँचे स्वर से अपने–अपने घरों से देवताओं को भगा दिया और उनके नगरों पर मानों अपना अधिकार कर लिया ॥३६॥ पहले तो इन्होंने वनसमूहों को उखाड़ फेंका, फिर उनको ऊपर उठाया, इससे आकाशमण्डल ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों उसका जंगल काट दिया गया हो । तथा उसे पंखयुक्त पर्वतमालाओं के सदृश अपनी तरंगमालाओं से ठसाठस भर दिया ॥३७॥ भयंकर शब्द करनेवाले प्रचण्ड वायुओं ने तरंगो को विभक्त कर देने के कारण पर्वतों के सदृश समस्त समुद्रों को विचलित कर दिया था तथा रत्नों के प्रकाश से चमकीले तीरस्थ पर्वतों के गिरने के कारण गिर रहे तटों से उनका जल भीषण ध्वनि कर रहा था ॥३८॥ उल्लासयुक्त अनेक बड़े–बड़े आवर्तों के द्वारा समुद्र मगर आदि जलचरों को ऊपर की ओर फेंक रहे थे तथा अगाध आवर्तों से अनेक पर्वत और उनकी गुफाओं को अपने उदर में निगल जा रहे थे ॥३९॥ समुद्रों ने बड़ी–बड़ी गुफाओं का विदलन कर दिया था, इससे उनमें से निकले हुए स्फटिक आदि पत्थरों के दाँतों से वे दन्तुर यानी हँसते हुए–से प्रतीत हो रहे थे और शिखरों के ऊपर विद्यमान लम्बी–लम्बी गुफाओं के प्रान्तों में समुद्रों के तरंग और जलचर प्राणी घुस गये थे ॥४०॥ चंचल वर्तुलाकार तरंगों के द्वारा आक्रान्त वृक्षों के ऊपर शाखाओं में समुद्रों के कछुएँ एक तरह से गुँथ–से गये थे तथा इन्होंने यम, इन्द्र और पृथ्वी के वाहन महिष, ऐरावत एवं दिग्गजों को भयविह्वल बनाकर उनके कान खड़े कर दिये था यानी उनको भी चकित कर दिया था ॥४१॥ उस समय उनमें गिर रहे पर्वततटों के कटकट शब्द सुनाई पड़ने लगे । तथा उनमें बड़े–बड़े मत्स्यों के पुच्छों की छाट से ही छिन्न–भिन्न होकर पर्वत शीघ्र नीचे–ऊपर डूबने–उतराने लगे ॥४२॥ लीला से काटे गये अरण्यसमूहों में समुद्रों की कहीं तो शीतल जलधाराएँ बहने लगीं और कहीं जल रही बड़वाग्नि की ज्वालापंक्तियों से मिश्रित होकर अत्यन्त ही गरम बहने लगीं ॥४३॥ भद्र, सभी समुद्रों में एक अजीब–सा दृश्य उपस्थित हो गया, समुद्रजल से अपने आश्रयभूत इन्धनों

के विनाश की आशंका से महानल (बड़नावाग्नि) भयग्रस्त होकर छिप जाने लगे और पर्वतमालाओं के ऊपर जलमातंग स्थलमातंगों के साथ भिड़कर युद्ध करने में व्यस्त हो गये ।।४४।। अपने जलों के द्वारा पर्वतों को एक-दूसरे पर्वतों के साथ टकरा देने में समुद्र बड़े ही कुशल हो गये और इस तरह की कुशलता प्राप्तकर जलों के नानाविध घुमाव के द्वारा वे मानों नृत्य कर रहे थे, ऐसी प्रतीति हो रही थी ।।४५।। समुद्रों में कोई अनोखी ही शोभा उस समय मालूम होने लगी थी, उनमें बड़े-बड़े पर्वत, वनों के समूह तथा अनेक प्राणी डूब रहे थे, यानी इन सबका समुद्रों में जमघट हो जाने से कुछ अपूर्व ही शोभा मालूम पड़ रही थी तथा उड़ रहे उत्तम मृत हाथियों के फूले हुए शरीर रूपी नगारे समुद्र अपनी तरंगों से बजा रहे थे ।।४६।। असुरों से पातालों के सदृश सारे समुद्र प्रलयकारी तरंगों से व्याकुल हो उठे-यों सागरों के विक्षोभ के अनन्तर उन समुद्रों में तैर रहे मृतक दिग्गजों की सूँड़ के आगे के भाग से एक विलक्षण ध्वनि सुनाई पड़ने लगी ।।४७।। वह ध्वनि विलक्षण भी, पातालतलरूप तालु के भीतर विदारण हो जाने से वह ध्वनि मिलकर जोर पकड़ रही थी यानी घन थी, फिर पृथ्वी को बराबर जकड़ रखने के लिए स्थापित हुए महापर्वत आदि कीलें हिल गयी और एक क्षण में अपने स्थान से च्युत हो गई । अनन्तर क्षण भर मे चंचल समुद्रतरंगों से हिलायी गई वह पृथ्वी ऐसे प्रतीत होने लगी, जैसे चंचल शैवाल की लता हो ।।४८।। इसके बाद प्रलयकारी मेघों के शब्दों से विलक्षण आडम्बरों से युक्त होकर अन्तरिक्ष मानों गिरने लगा और दिशाओं को प्रतिध्वनि के शब्दों से तोड़ने-फोड़ने लगा ।।४९।। आकाशमण्डल से आवर्तों की गोलाई के सदृश वर्तुलाकार उत्पातजनक धूमकेतु गिरने लगे, उनका वर्ण सुवर्ण, रत्न, मोती एवं सिन्दुर वर्ण के साँपों के सदृश था ।।५०।। दिशातटों को दग्ध कर देनेवाली तथा चंचल ज्वालारूप जटाओं के आरोप से युक्त अनेक प्रकार की उत्पातों की पंक्तियाँ दिशाओं से, आकाश से एवं पृथ्वी से आने लगीं ।।५१।। भद्र, मैंने पहले जिन ब्रह्माजी का वर्णन किया है, उन्होंने जब अपना विधारणसंकल्प समेट लिया, तब उपेक्षित असुर आदि एवं पृथ्वी आदि दोनों तरह के भी महाभूत सब ओर विक्षुब्ध हो उठे ।।५२।। चन्द्र, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि एवं यम-ये सब बड़े कोलाहल से ग्रस्त हो गये, उनका अधिकार प्रभाव ब्रह्मलोक में मिल गया, वे अपने-अपने स्थान से च्युत होने लग गये ।।५३।। भू-कम्पनों से कटकट शब्द के साथ वृक्षों के समूह गिरने लगे और अनेक तरह के झूलों के सदृश आन्दोलन की गतियाँ पर्वतों को अनुभूत होने लगीं ।।५४।। भूकम्प के कारण कैलास, सुमेरु और मन्दर की कन्दराओं में भारी चंचलता पैदा हो गई और कल्पतरु वृक्ष से रक्तरूप पुष्पगुच्छों की वृष्टि होने लगी ।।५५।। हे श्रीरामजी, लोकान्तर पर्वत, नगर, समुद्र, अरण्य-यह जगत् पूर्ण समुद्र में उत्पातयुक्त कल्पपवन के बहने से एक दूसरे से टक्कर खा रहे मनुष्यों के कोलाहल से शीर्ण-विशीर्ण हो गया, जैसे रुद्रबाण की अग्नि के दाह से चारों ओर से गिर रहा त्रिपुरनगर (दैत्यसमूह) छिन्न-भिन्न हो गया था ।।५६।।

इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

ब्रह्माजी के प्राणनिरोध से वायु के क्षय का और प्रसंगवश पूछी गई विराट् स्थिति का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर जब विराट्स्वरूप ब्रह्माजी ने अपनी प्राणवायुओं का निरोध किया, तब वातस्कन्धनाम से स्थित आकाश में उत्पन्न वायु ने अपनी ग्रह, नक्षत्र आदि को धारण करने की मर्यादा छोड़ दी ॥१॥ वे वातस्कन्ध नाम से स्थित वायु ही विराट् ब्रह्मा के प्राण हैं, इसलिए जब उनका उन्होंने उपसंहार ही कर लिया, तब उन्हें छोड़कर सूक्ष्म भूतों को धारण करनेवाली मर्यादा को ग्रहमण्डल में कौन रख सकता है ? ॥२॥ इसी हेतु से ब्रह्माजी ने जब प्राणवायु रूप वातस्कन्ध का अपने में उपसंहार करना आरम्भ किया, तभी साथ-साथ उपसंहार से एक बन जाने के लिए पूर्वोक्त मर्यादा का त्यागकर ग्रह आदि में क्षोभ उत्पन्न हो गया, और क्षोभ के कारण-जैसे वायु बहने के समय अग्निदाह होने पर अंगारे गिरते हैं, वैसे ही-निराधार होकर आकाश-मण्डल से तारे भूमि पर टूटकर गिरने लग गये, इनकी शोभा वृक्ष से गिरे फूलों की-सी प्रतीत हो रही थी ॥३,४॥ इस भूखण्ड में जो पुण्यफल कमाया जाता है, उसको भोगने के लिए स्थान एक विमान हैं । इन विमानों का उपभोग करने में कारणभूत कर्मरूप मूल कालविपाक से कट गया और आधारभूत पवन के शान्त हो जाने से वे टूटकर आकाश से गिर जाने लगे ॥५॥ ब्रह्माजी का संकल्परूप इन्धन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब दीप्त ज्योतियों के सदृश सिद्धों की गतियाँ (सिद्धियाँ) भी शान्त हो गई ॥६॥

खेचर आदि सिद्धियाँ विनाशी एवं तुच्छ हैं, इसको सूचित करते हुए कहते हैं ।

जब अपनी शक्ति का विनाश हो गया, तब प्रलय के पवनों से छोटे तुलके सदृश आकाशमण्डल में उड़ती हुई, शब्दोच्चारण में भी असमर्थ सिद्धों की पंक्तियों की पंक्तियाँ आकाश से गिरने लगीं ॥७॥ कल्पवृक्षों के समूह, इन्द्र आदि के साथ उनके नगर और भूकम्प से चंचल हुए सुमेरु पर्वत के शिखर गिरने लगे॥८॥

ब्रह्माजी की स्थूल देह तो ब्रह्माण्डरूप विराट् है, इस विराट् शरीर के भीतर सत्यलोक निवासी चतुर्मुख देह तो उस-उस विराट् के मन से कल्पित एक प्रातिभासिक रूप हैं, यह चार मुखवाली देह ब्रह्माजी की स्थूल देह नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा माननेपर तो उसकी स्थिति विराट्देह के भीतर हो नहीं सकती, आज तक किसी की भी स्थूल देह में दूसरी स्थूल देह देखी या सुनी नहीं गई है । इस स्थिति में प्रातिभासिक मानसिक चतुर्मुख देह में, जो एक तरह से स्वप्न सी है, प्राणों के उपसंहार से विराट् देह के स्तम्भक प्राणस्थानीय वायु आदि का विनाश कैसे हो सकता है, क्योंकि स्वप्नदेह में प्राणउपसंहार से मरण दीखने पर जाग्रत-शरीर में प्राण का उपसंहार होकर किसी भी मनुष्य की स्थूलदेह का विनाश नहीं देखा जाता, इस आशय से श्रीरामजी शंका करते हैं ।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, चतुर्मुख ब्रह्माजी तो चिति के संकल्पस्वरूप मन हैं और वे विराट् एवं ब्रह्माण्डशरीर हैं, यह बात प्रसिद्ध है, इस संकल्पस्वरूप चतुर्मुख के भूलोक आदि अवयव ही नहीं हो सकते, क्योंकि अमूर्त (निराकार) मन के साकार अंग नहीं होते । यदि होते हैं, तो भूर्लोक कौन–सा अंग है ? स्वर्ग कौन–सा अंग है ? ॥९॥ हे ब्रह्मन्, यदि यह माना जाय कि चतुर्मुख साकार हैं, तो अल्प नापवाले ब्रह्माजी के ये अतिविस्तृत पृथ्वी आदि अंग बनकर कैसे स्थित हो सकते हैं ? यदि कहें कि ब्रह्मा भी अतिविस्तृत हैं, तब वे अपने ही शरीररूप इस ब्रह्माण्ड के अन्दर सत्यलोक में कैसे रह सकते हैं ? ॥१०॥ हे भगवन्, मेरा व्यक्तिगत निश्चय तो यह है कि यह संकल्पमात्रस्वरूप ब्रह्माजी निराकार हैं और यह जगत् साकार है । इसलिए यदि इस विषय में इसमें अन्य कोई दूसरा तरीका हो, तो मुझसे कहिए ॥११॥

अब पहले जो प्रश्न किया गया है कि स्थूलदेह मनोमयदेहरूप और पृथ्वी आदि उसके अवयव कैसे हैं ? इसका अनुभव कराने के लिए मूलवस्तु के दिग्दर्शन द्वारा भूमिका बाँधते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, पहले तो न कोई असत् वस्तु थी और न सत् वस्तु ही थी, किन्तु सभी तरह के सदादि विकारों से रहित चिन्मात्र परमआकाश ही था, वही सब तरह की अभिलाषाओं और दिशाओं को एकमात्र पूर्ण करनेवाला था ॥१२॥ इसी परमाकाश ने अपने असली स्वरूप का अपरित्याग कर यानी स्वयं विकार को न प्राप्त होकर ही अपनी अवकाशरूपता की ऐसे कल्पना की, जैसे चन्द्र ने द्वितीय चन्द्ररूप की । इसी से उसने चेत्य को अपने से भिन्न वस्तु समझी और चिद्रूप होने से वह चेतन भी हुआ ॥१३॥ हे श्रीरामजी, बोध्य, बोध और बोद्धरूप (ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञातारूप) त्रिपुटी के मनन से घनीभूत बन जाने के कारण मन का वेष धारणकर स्थित हुआ वह चेतन जीव ही है, यह आप जानिये । त्रिपुटी तक का जितना अभ्यास से उत्पन्न हुआ स्थिति जाल है, उतने के हो जाने पर भी उनमें कुछ भी परस्पर अलग–अलग हो जानेवाला साकाररूप नहीं हैं, किन्तु विशुद्ध चिदाकाश ही है । यह चिदाकाश ही पहले की नाईं अपने स्वरूप में ही विद्यमान है । इसलिए यह जो दिखाई पड़नेवाला जगत् है, वह शिवस्वरूप परमात्मा से अलग कुछ भी नहीं है ॥१४,१५॥ तदनन्तर विशाल वह मन अहंकार की भावना कर जब स्फुरित होता है, तब 'अहम्' रूप धारण करता है, परन्तु संकल्पात्मक भी निश्चल और अविनाशी चिदाकाश ही है ॥१६॥

अहंकार की कल्पना के बाद स्थूल देह की कल्पना भी उसकी अवस्तुभूत ही है, यह कहते हैं ।

संकल्पात्मक चिदाभासरूप आकाश, जो कि अहंरूप भावना से भावित किया गया है, उक्त स्थूलदेह के रूप का अनुभव करता है । वास्तव में यह असत् ही है, इसलिए इसके अवयव भी आकाश में आकाशरूप के सदृश ही हैं ॥१७॥ यही जिस आकार की भावना करता है, उसे जानता है, देखता है और अनुभव भी करता है, वास्तव में संकल्पात्मक शून्य ही देह के रूप में स्थित है ॥१८॥

यदि देह शून्य है, तो वह साकार कैसे अनुभूत होगी, इस पर कहते हैं।

भद्र, जैसे आप शून्यस्वरूप संकल्पनगर को साकार देखते हैं, वैसे ही ब्रह्मा भी शून्य में शून्यरूप आकाश को देहरूप ही देखता है, क्योंकि उसने ऐसा ही अनुभव किया है ॥१९॥

प्रलय और मोक्ष आदि की कल्पना भी ऐसी ही असत् है, यह कहते हैं ।

संवित् आत्मा स्वयं तो निर्मल है, इसलिए इस प्रकार के जगत् का जब तक अनुभव करने की इच्छा रखता है, तब तक उस प्रकार का अनुभव कर फिर उसे अपनी इच्छा से स्वयं ही शान्त कर देता है ॥२०॥

कब शान्त हो जाता है, उसे कहते हैं ।

जब हम लोगों को तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब विस्तृत यह प्रपंच जो शून्यरूप होते हुए भी सत्य–सा बनकर स्थित है, उपसंहृत (शान्त) हो जाता है ॥२१॥ असल में जो सत्यरूप ब्रह्म वस्तु है, उसका ठीक ठीक परिज्ञान हो जाने पर इसी जन्म में मिथ्या वासना नष्ट हो जाती है । फिर अद्वैतभाव की प्राप्ति और अहंकार का विलय हो जाता है, इसके बाद केवल मोक्ष ही मोक्ष बच जाता है ॥२२॥

ठीक यही बात रहे, परन्तु इससे क्या मेरे प्रश्न का उत्तर हो गया, इस पर कहते हैं ।

भद्र श्रीरामजी, इस रीति से जो यह ब्रह्मा हैं, वही यह स्थित जगत् है । सारांश यह कि विराट् ब्रह्मा का जो देह है, वही यह जगत् है ॥२३॥ संकल्पाकाशरूपी ब्रह्माजी की जो भ्रान्ति उठी है, वही यह जगत् भासता है और वही ब्रह्माण्ड़ कहा जाता है, इसलिए भ्रान्ति से ही ब्रह्माण्ड में स्थूल–देहता है । विचार से तो उसकी मनोमयता ही है, इसलिए उसके अंगों के उपसंहार से उपसंहार हो गया, यह पूर्वोक्त बात सिद्ध हो गई ॥२४॥

अथवा जाग्रदुन्मुखता में स्वप्न के देहांगों के उपसंहार से कैसे स्वप्न के भूमि आदि लोकों का उपसंहार हो जाता है, वैसे ही उन पृथ्वी आदि का उपसंहार हुआ, क्योंकि दोनों ही संकल्पाकाशरूप हैं, इस आशय से कहते हैं।

सभी कल्पनात्मक यह जगत् संकल्पाकाशस्वरूप ही है, अतः वस्तुतः कहीं न जगत् की सत्ता है और न कहीं त्वत्ता–मत्ता की यानी अहन्ता और ममता की ही सत्ता है ॥२५॥

जगत् अवास्तव है, यह कैसे आपने जाना, इस प्रश्न पर उसकी असंभाव्यता है, इसलिए, यों उत्तर देते हैं ।

चैतन्यरूप जो निर्मल आकाशवस्तु है, उसमें कहाँ, कैसे और किस हेतु से जगत् की सत्ता हो सकती है, उसमें उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और उस उत्पत्ति में सहकारी कारण कौन हो सकते हैं यानी ब्रह्मचैतन्य में विचारने पर जगत् की सर्वथा ही असंभावना है ॥२६॥ इसलिए यह असत् ही उत्पन्न हुआ है, असत् ही देखा जाता है और असद्रूप ही जगत् प्रिय–अप्रियरूपसे

प्रकाशता है । इस तरह निष्पक्ष ब्रह्म ही भ्रान्ति से जगत्–रहित आकाश को असत् जगत के रूप में देखता है ॥२७॥

इसीको विस्पष्ट रूप में कहते हैं ।

चिन्मात्र ब्रह्म ही धर्मी जगत् एवं उत्पत्ति आदि धर्मों के भास से स्वयं स्वतः प्रियाप्रियरूप से प्रकाशित होता है । जैसे वायु से स्पन्दन होता है, वैसे ही अपने से ही अद्वैत चिदाकाश में जगत् के रूप में स्पन्दित होता है ॥२८॥ यह न द्वैतरहित है, न अद्वैतरहित है और न द्वैताद्वैत से ही रहित है । उस चिदाकाश को ही आप जगत् जानिये, जो स्वयं स्वच्छ एवं विकारशून्य है ॥२९॥ हे राघव, इस कारण मैं सभी तरह के विशेषणों से निर्मुक्त होकर स्थित हूँ । मैं परमार्थतः सत् हूँ और व्यवहार में असत् देहादिरूप भी हूँ, आप भी मेरे जैसे परमार्थ सद्रूप और व्यवहार में असत् देहादिरूप बनकर ममता शून्य हो स्थित हो जाइए ॥३०॥ श्रीरामचन्द्रजी, आप समस्त वासनाओं को छोड़ दीजिये, मनका सन्ताप छोड़िये, व्यर्थ के वाग्जाल में मत फँसिये, अब अपनी सारी चपलताओं को तिलांजलि दे दीजिये, यह सब करके आप जो कुछ प्रारब्धवश या शास्त्रवश प्राप्त हो जाय, उसे कीजिये या न कीजिये, इसमें किसी तरह का कोई आग्रह नहीं है अर्थात् इसके बाद समाधि से उठकर जाग्रत–दशा में यथाप्राप्त व्यवहारों को कीजिये या समाधि में स्थित हो कुछ न कीजिये, इसमें कोई आग्रह नहीं है ॥३१॥

इसलिए समस्त दृश्य ब्रह्मरूप ही है, भ्रान्ति के आकार में परिणत हुए उसके नानाविध अज्ञान ही दृश्यों के अनुभव हैं, यह निचोड़ अब तक के वचनों से हाथ लगा, यों उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, जो अद्वितीय, अनादि, अविनाशी अनुभवरूप साक्षीचेतन है,वही यह दृश्य है, इससे भिन्न दूसरा कोई भी दृश्यनाम का पदार्थ नहीं है । अनुभवैकरसरूप ब्रह्म में जो अनेक तरह के अज्ञान हैं, वे ही चित्र–विचित्र भ्रान्तियों को पैदा कर विस्तृत दृश्यानुभवरूप बन जाते हैं ॥३२॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

ज्ञान को दृढ़ बनाने के लिए शुद्ध ब्रह्म में जगत् के आरोप-क्रम का और
ब्रह्माजी के पृथ्वी आदि कौन अंग हैं - इस प्रश्न के उत्तर का पुनः वर्णन।

'भूर्लोक ब्रह्माजी का कौन–सा अंग है, भूर्लोक आदि उसके अंग कैसे हो सकते हैं, सत्यलोक में उसका निवास कैसे : ये जो तीन प्रश्न किये गये हैं, उनके उत्तर के लिए उपोद्घातरूपसे वर्णित – शुद्ध ब्रह्म में जगत् के अध्यारोप प्रकार को –फिर क्रमशः और तात्पर्य से ठीक ठीक जानने की इच्छा से श्रीरामजी तात्पर्यतः अपना ज्ञात अंश बतलाने के लिए सिंहावलोकन न्याय से आगे के वचनों से निकले निचोड़ का स्मरण दिलाते हैं ।

श्रीरामजी ने कहा : हे पूज्यवर, बन्धबुद्धि, मोक्षबुद्धि और जगद्बुद्धि न तो शुन्य है और न सन्मय ही है यानी न सत्य अर्थवाली ही है । जिसका अस्त नहीं होता और जिसका उदय भी नहीं होता , ऐसा कोई भी यह आद्य पदार्थ है यह मैंने जाना । जो आद्य पदार्थ है, वह सबका साक्षी है, अतः उसका न तो उदय हो सकता है और न अस्त ही हो सकता है. इसलिए यह सर्वसाक्षीरूपा बुद्धि ही विषयों का परिमार्जन करने पर कोई भी वाणी एवं मन से अगम्य आद्य (ब्रह्म) है, यही आपने तात्पर्यवृत्ति से उपदेश दिया है और यह मैंने अच्छी तरह समझ भी लिया है *(तब क्या अब उपदेश विरत हो जाऊँ ? नहीं यह कहते हैं)* भगवन्, इस विषय में आप फिर मुझको उपदेश दीजिये, क्योंकि अमृत सुन रहे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥१,२॥ हे प्रभो, सृष्टि आदि के परिज्ञान तथा शून्यता आदि के परिज्ञान न तो कोई सत्य हैं और न कोई असत्य ही है यानी न उनके विषय अबाधित है और न बाधित ही है, क्योंकि तत्–तत् व्यवहार करनेवाले पुरुषों की दृष्टि से ब्रह्म ही उस तरह से स्थित रहता है । उनकी अर्थक्रिया के विषय में भी किसी को विवाद नहीं है । असत् कार्यपक्ष माना नहीं जा सकता, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म में सर्वशून्यता बनाने की शक्ति भी हो सकती है तथा माया से सब तरह के विरोधों का परिमार्जन भी हो सकता है ॥३॥

मायाशबल (युक्त) ब्रह्म की महिमा के सदृश मैंने माया के अधिष्ठानभूत निर्विशेष, नित्यमुक्त ब्रह्मतत्त्व भी जान लिया है, यह कहते हैं ।

हे महाराज, यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है और जो कुछ सत्य वस्तु है उसे पूरी तरह से मैंने जान भी लिया है, तथापि विपुल बोधार्थ फिर मुझसे सृष्टि का अनुभव (अध्यारोप) कैसे होता है, यह आप कहिए॥४॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, यह जो कुछ स्थावर–जंगमरूप, नाना प्रकार के धर्मों से पूर्ण एवं देश, काल, क्रिया आदि से युक्त पूरा जगत् दिखाई देता है, उसका महाप्रलय शब्द से कहे जानेवाले महानाश में यानी प्राकृत प्रलय में (जब कि स्थूल भूतों का सूक्ष्मभूतों में नाश हो जाने पर भूतसूक्ष्मों के साथ अव्याकृत में प्रवेश हो जाता है, तब) जिसमें कि ब्रह्मा, उपेन्द्र, मरुत्, रुद्र, महेन्द्र,आदि के शरीरों का अन्तिम भावविकार हो जाता है–शान्त, अतिस्वच्छ, अज, अनादि एवं सद्रूप कोई वस्तु बच जाती है । उससे सभी वाणी भी निवृत्त हो जाती है यानी किसी तरह की वाणी उसे कह नहीं सकती , इसे छोड़कर दूसरा कोई भी अपने लायक पदार्थ नहीं है ॥५–७॥ भद्र, जैसे सरसों की अपेक्षा विशाल आकारवाला सुमेरु पर्वत अति स्थूल है, वैसे ही अन्य की अपेक्षा परमसूक्ष्म सद्रूप आकाश भी उसकी अपेक्षा अतिस्थूल है ॥८॥ पर्वतराज सुमेरु की अपेक्षा ये त्रसरेणु जैसे सूक्ष्म हैं, वैसे ही अन्य की अपेक्षा अतिस्थूल यह विशालतम ब्रह्माण्ड मंडल उसकी (ब्रह्म की) अपेक्षा अतिसूक्ष्म (अणुतर) है ॥९॥ कालमान को बतलानेवाली सूर्यस्पन्दन आदि उपाधियों का विनाश हो जाने के कारण प्रलयकाल मानकलना से रहित हो जाता है, इस तरह का प्रलयकाल ब्रह्माजी

की जो दो परार्ध आयु निश्चित है, उसीके समान उतने समय तक रहता है । इतने लम्बे समय तक प्रलय रहकर जब चला जाता है, तब साक्षीरूप परमशान्त, सबके आदि उस महा चिदाकाश में मायारूप आवरण से युक्त, भीतर सुषुप्त-प्राय चिदाकाश स्वप्नोन्मुख के सदृश अपने भीतर परमाणुरूपता का (अपने भीतर विलीन जगत्संस्काररूप परमाणुरूपता का) मानों अनुभव करता है अर्थात् पर्यालोचन करता है । असल में यह तो संकल्पशून्य, महाशान्त है । इसकी आकृति दिशा एवं काल आदि से नापी नहीं जा सकती ॥१०,११॥ वह परमाणुरूपता असत्य ही है, फिर भी उसकी अपने अन्दर स्वप्न के समान पहले भावना करता है, फिर अपने में ब्रह्मशब्दार्थ की भावना करता है यानी मैं ही सबको बढ़ानेवाला हूँ, यों भावना करता है और साथ-साथ में अपनी असीम चिद्रूपता की भी भावना करता है ॥१२॥

अपने ब्रह्मशब्दार्थ की जो भावना करता है, उसमें कारण उसकी चित्स्वभावता ही है, यह कहते हैं ।

चितिस्वरूप आत्मा अपने भीतर विलीन हुए अपने सूक्ष्म जगत्संस्कार का जो अनुभव करता है, इसमें कारण उसकी चितिरूपता ही है, इसी से उसे मानों देखता है । इसके बाद स्वयं वह द्रष्टा-सा बनकर स्थित हो जाता है ॥१३॥

एक वस्तु में विरुद्ध दृश्य-द्रष्टा के धर्म नहीं हो सकते, यदि यह शंका हो, तो इसका समाधान यह है कि स्वप्न के सदृश विरोध का पर्यालोचन न होने से वैसा हो सकता है, यह कहते हैं ।

जैसे एक ही पुरुष स्वप्न में अपने आप अपनी आत्मा में अपने को मृत देखता है, इससे यह बात आ गई कि मृत ही मरण का द्रष्टा है ठीक वैसे ही अणुचिति अपनी आत्मा में उक्त अणुता देखती है यानी स्वयं दृश्य और द्रष्टा हो जाती है ॥१४॥

ऐसी कल्पना करने पर भी वास्तव में ऐक्य की क्षति नहीं होती, यह कहते हैं ।

तदन्तर यह चिदाकाश स्वरूपतः एक होते हुए भी अपने भीतर द्वैत-सा देखता है और यों देखता हुआ द्रष्टा एवं दृश्य-सा बनकर अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है ॥१५॥ यद्यपि यह चितिरूप आकाश शून्यरूप है यानी आकार से एकदम ही रहित है, फिर भी अपनी अणुरूप तनुता (क्षीणता) जब देखता है, तब दृश्य-सा एवं द्रष्टा-सा बनकर द्वैतभाव धारण करता है ॥१६॥ यह द्रष्टारूप आत्मा माया के बल से अपने को प्रकाशस्वभाव उक्त परमाणु रूप (परिच्छिन्नस्वरूप) देखता हुआ उसका अनुभव करता है और उसी की सामर्थ्य से अपनी उपचयरूपता का ऐसे संकल्प करता है, जैसे बीज अपनी अंकुरता का ॥१७॥

उसी समय यद्यपि उसमें आवश्यक देश, काल आदि के विभागों की कल्पना भी हो जाती है । परन्तु वाग् आदि की अभिव्यक्ति न होने से उसकी अभिधाशक्तिका अविर्भाव नहीं होता, यह कहते हैं ।

उसी समय देश, काल, क्रिया, द्रव्य, द्रष्टा, दर्शन, ज्ञान–साधन एवं ज्ञानरूप चक्षु आदि अन्य अर्थों के स्वभाव से स्थित होते हैं, परन्तु अभिधाशक्ति का उदय नहीं रहता ॥१८॥

उसकी जो विभागकल्पना हुई, उसमें प्रकार बतलाते हैं ।

जहाँ यह चितिरूप अणु प्रतीत हुआ, वहाँ देश का भी भान हो ही गया तथा जब उसका भान हुआ, तब काल भी उसमें आ गया और जो ज्ञान हुआ, तो वह क्रिया हो गई ॥१९॥

उसी समय त्रिपुटी का विभाग करनेवाली उपाधियों की, साक्षी की एवं उसके प्रकाश में हेतुभूत पदार्थ की कल्पना भी हो जाती है, यह कहते हैं ।

जिसका ज्ञान होता है, वह द्रव्य कहा जाता है, जो दृष्टता है, वह उपलब्धता भी है, आलोकन ही दर्शन है और आलोकन में (देखने में) जो कारण है, वह दृग है ॥२०॥

इसी तरह कर्ता, कार्य, कारण, भोक्ता, भोग्य आदि त्रिपुटी–विशेष, उनके साक्षी और निमित्तों की भी कल्पना सर्वत्र जान लेनी चाहिये, इसे कहते हैं ।

इसी तरह उसकी विपुलता दिखाई पड़ती है, असीमरूपता या संख्या से इयत्ता (सीमा) भी क्रम से उसमें देशादि परिच्छेदों से जानी जाती है । वास्तव में तो विपुलता या असीमता आदि असत्यरूप ही है । उसमें कोई क्रम नहीं है । तथापि इसे आकाश में आकाशरूपता के सदृश जान लेना चाहिए ॥२१॥

अब इसमें रूपादित्रिपुटी के सिद्ध हो जाने पर चक्षु आदि करणों के विभाग की भी कल्पना अगत्या सिद्ध हो जाती है, यह संक्षेप से बतलाते हैं ।

चितिरूप अणु को यानी जीव को सूर्य आदि के प्रकाश का जिस गोलकच्छिद्र से भान होता है या जिस अतीन्द्रिय–करण से वह देखता है, वे दोनों ही देहगत चक्षु हैं, यही न्याय श्रोत्र आदि सब इन्द्रियदृष्टियों में लागू है, यह संक्षेप से जान लेना चाहिये ॥२२॥

श्रोत्र (कान) आदि जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, उन्हीं के विषयों में नामरूप भेद कल्पना के पहले की जो अवस्था है, वह तन्मात्रशब्द से कही जाती है, यह कहते हैं ।

चितिरूप अणु का प्रतिभास होने पर भीतर सर्वप्रथम (पूर्वकी) जो इन श्रोत्र आदि पाँचों के शब्दादि विषयों की नामरूपशून्य अवस्था है, वह तन्मात्र शब्द से कही जाती है, उसका स्वरूप अतिसूक्ष्म है ॥२३॥ उस क्रम से चितिरूप अणुका प्रतिभारूप जो आकाश है, वही घनस्थिति होकर स्थूल देहरूप बन जाता है, फिर उसमें रूप आदि के अनुसन्धान वश से पाँच इन्द्रियाँ प्रकाश करती हैं ॥२४॥

अब चार अन्तःकरणों की कल्पना का प्रकार दिखलाते हैं ।

इस तरह अणुरूप चिति का ज्ञान दृश्य पदार्थों के बार–बार अनुभव से खूब पुष्ट हो जाता है । फिर इसीका नाम ज्ञान एवं बुद्धि पड़ जाता है । इन्द्रियों से अनुभूत विषयों का स्मृति–समय में जो ज्ञान होता है वह चित्त कहा जाता है और अध्यवसाय समय में जो ज्ञान होता है वह बुद्धि कही जाती

है ॥२५॥ तदनन्तर संकल्पविकल्प दशा में वह मन बन जाता है, अभिमान से-अहंभाव एवं ममभाव से - अभिमानी होकर अहंकार पद को प्राप्त हो जाता है । इस रीति से आत्मा ने देशकाल का भी विभाग किया है ॥२६॥

काल और देश में पूर्ववत् जो कल्पना होती है, वह उत्तरकाल की कल्पना को लेकर ही प्रवृत्त होती है, यह कहते हैं ।

इन प्रसिद्ध शब्द आदि विषयों का जिस देश या कालरूप आधार में जो सर्वप्रथम विज्ञान होता है यानी जिस चिदणुरूप जीव को जिस देश या कालरूप आधार में शब्दादि विषयों का विज्ञान होता है, वही जीव देश या कालरूप आधार का उत्तरकाल से भिन्न पूर्वदेश या पूर्वकाल-यों नामकरण कर देगा, यही नियम प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीव के लिए लागू है॥२७॥ वही चितिरूप जीव दूसरे देश-काल में ज्ञान होने पर उनका 'उर्ध्व' नाम रख लेगा, इसी प्रकार दिशा में पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि नामों की वह क्रमशः कल्पना कर लेगा ॥२८॥

इस तरह देश, काल और वस्तुओं की एवं उनके नामों की कल्पना बतलाई गई, अब जिन्हें शब्दशक्ति का ज्ञान है, ऐसे पुरुषों को शब्दश्रवण होने पर तत्-तत् अर्थों का जो विज्ञान होगा, उस विज्ञान के रूप में भी वह आत्मा ही हो जायेगा, यह कहते हैं ।

भद्र, तदनन्तर यद्यपि आकाश के सदृश अतिनिर्मल ही यह आत्मा है, तथापि संकल्पवश यह आत्मा ही स्वयं देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि शब्दों के अर्थों के ज्ञान के रूप में हो जायेगा ॥२९॥ इसी रीति से अपने ही संकल्प के प्रभाव से यह आकाश के सदृश निर्मलरूप धारण करनेवाला चिदाकाश अपने आप ही चिति के अन्दर सर्वप्रथम आतिवाहिक शरीर फिर देहेन्द्रियादि विभाग, फिर नाम, यों समस्त जगत के स्वरूप में विवर्तित हो जाता है ॥३०॥

यों समस्त जगत् केवल मानसिक कल्पनास्वरूप होने के कारण आतिवाहिक शरीर का अवयव ही सिद्ध होता है, फिर भी उसमें आधिभौतिकता की प्रतीति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं ।

यही चिदणु जीव दीर्घकाल की उक्त भावना से अपनें में पूर्णरूप से आधिभौतिक का निश्चय कर लेता है ॥३१॥ निर्मल चिदाकाश ने चिदाकाश में ही अपने असत्संकल्प से उक्त प्रकार के विभ्रम की रचना की है, यह सत् के सदृश होकर ऐसे चारों ओर फैला है, जैसे (मृगतृष्णा की) ताप-नदी का जल ॥३२॥ वह गगनरूप चिदणु-जब अपनी देह की कल्पना करनी होती है, तब इस तरह की कल्पना करता है-कहीं कोई कल्पनाएँ सिर शब्द के अर्थ को देनेवाली, कोई पैर शब्द के अर्थ को देनेवाली, कोई छाती, पसली आदि शब्दों के अर्थों को देनेवाली है । वह कहीं निर्मल कल्पना, कहीं भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग आदि शब्दों के अर्थों की कल्पना, कहीं नियत काल की कल्पना, कहीं देशकाल से नियन्त्रित कल्पना *(देशकाल आदि नियमित विषय की ओर अभिमुख तथा इन्द्रियों के समूह से वेधित कल्पना*

को जीव धारण करता है ।), कहीं विषयोन्मुख कल्पना और कहीं इन्द्रियों से युक्त कल्पना करता है । यों शरीरों के अवयवों की एवं बाह्य अर्थों के हानादि व्यवहारों की कल्पना करता रहता है। *(और यह जीव स्वयं कल्पित हाथ, पैर सहित तथा चित्त आदि की कल्पनासहित अपने आकारों को देखता है ।)* ॥३३–३५॥ तदनन्तर वह चिदणु अपनी कल्पना से ही कल्पित अपने हाथ, पैर आदि से युक्त तथा चित्त आदि की कल्पना से युक्त मनुष्य आदि का आकार देखता है ॥३६॥

जब ईश्वरों की देहों की भी कल्पना उसके संकल्प से होती है, तब फिर दूसरों की तो बात ही क्या, यह कहते हैं ।

इसी तरह अपनी ही कल्पना से चिदणु – जीव ब्रह्मा बन जाता है, नारायण बन जाता है, रुद्र बन जाता है तथा कीट भी बन जाता है ॥३७॥

सभी तरह की यह कल्पना मिथ्या ही है, यह कहते हैं ।

वास्तव में तो यह कुछ बना नहीं है, किन्तु यह अपने असली स्वरूप में ही स्थित है, शून्य में शून्य का ही विलास है और चिति चिति में ही बढ़ी है ॥३८॥

व्यष्टियों के सदृश समष्टिरूप हिरण्यगर्भ भी उसी तरह अपनी कल्पना से ही बना है, यह कहते हैं ।

भद्र, व्यष्टि शरीरों का जो नियत कन्द (मूल) है, त्रैलोक्यरूप बल्लियों का जो बीज है, वह भी वही है । मुक्ति के द्वार की प्रतिबन्धक विषय–सृष्टिरूप अर्गला (श्रृंखला) देनेवाला तथा संसाररूप मूसलाधार वृष्टि करनेवाला मेघ भी वही है ॥३९॥ सब कार्यों का कारण, काल, क्रिया आदि का नियामक, सबका आदिभूत हिरण्यगर्भ भी अपनी इच्छा से वही बन बैठा है उत्थित न रहते हुए भी वह उत्थित है ॥४०॥ न तो इसका भौतिक शरीर है और न इसके शरीर में हड्डियाँ ही हैं, अतः इसे कोई मुट्ठी से नहीं पकड़ सकता ॥४१॥ जैसे स्वप्न में मेघ, संग्राम और सिंहों की भीषण गर्जना से युक्तस्वरूप रहने पर भी सुप्त पुरुष वस्तुतः चुपचाप ही स्थित रहता है, वैसे ही विराट् पुरुष भी प्रपंचशून्य अपने स्वरूप में स्थित है ॥४२॥ जैसे स्वप्न में देखे गये योद्धाओं के कोलाहल का ज्ञान जाग्रत्अवस्था में स्मृतिपथ में आया हुआ न तो अत्यन्त असत् है और न सत् ही है, वैसे ही जगत् का यह प्रपंच स्थित है ॥४३॥

एकमात्र माया से उन हजारों वस्तुओं की, जिनकी हम कभी संभावना नहीं कर सकते, इस संसार में उत्पत्ति दीखती है, यह कहते हैं ।

अनेक लाखों योजन के समूहों तक विशाल प्रमाणवाला, बृहत–शरीर भी यह त्रैलोक्य रोम के सूक्ष्म भाग के अन्त में स्थित सिर्फ एकमात्र माया से ही परमाणु के अन्दर भी भासता है ॥४४॥ सात महाकुल पर्वतों तथा गणों के समूहों का आश्रय एवं ब्रह्माण्डों का समूहमय होकर भी ब्रह्मदेव वट के

बीजमात्र छिद्र को भी पूर्ण नहीं कर सकते ॥४५॥ सैकड़ों करोड़ लम्बे जगत् के विस्तार से विस्तृत आकारवान् होते हुए भी ब्रह्मदेव अणुमात्रस्वरूप हैं । स्वप्न के पर्वतों के समान वस्तुतः इन्होंने देश को व्याप्त नहीं कर रखा है ॥४६॥ यही ब्रह्माण्डात्मा स्वयंभू कहे गये हैं तथा जगत्–शरीर विराट् भी यही कहे जाते हैं । लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी वस्तुतः ये चिदाकाशरूप ही हैं ॥४७॥ सनातन पुरुष भी यही कहे गये हैं, इन्हीं की रुद्र संज्ञा पड़ी है तथा हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्र, उपेन्द्र, पवन, मेघ तथा पर्वतसमूहों की देह भी यही है ॥४८॥

अब पूर्वोक्त को संक्षिप्त कर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, परम सूक्ष्म चिति पहले सबको चेतित करने से चित्त शरीर हुई और वही चित्तात्मा वर्णित क्रम से विस्पष्ट चिति होकर यानी महाज्ञानसम्पन्न होकर 'मैं महान् ब्रह्माण्डात्मा हूँ', इस तरह जगत् के शरीररूप से स्थित हो गया ॥४९॥ स्पन्द की संवित् से वे स्पन्द का अनुभव करते हैं। उनके जो प्राण हैं उन्हींकी संज्ञा पवन पड़ी हुई है। वे वातस्कन्धरूप से स्थित हैं ॥५०॥

स्पंद की संवित् से वे स्पंद का अनुभव करते हैं, यह जो ऊपर कहा गया है उसका सर्वानुभव प्रसिद्धि द्वारा समर्थन करते हैं ।

स्पन्द की संवित् से जो वे प्राण और अपान के स्पन्द का अनुभव करते हैं उसी उनके प्राण के स्पन्द को उनके ब्रह्माण्डाकाश में हमने वातस्कन्ध के नाम से पहले कहा है ॥५१॥ विराट् ने अपने चित्त से जिनकी कल्पना की वे ही ये तेज के कण, चालक द्वारा अपने चित्त से कल्पित पिशाच की नाईं, असद्रूप होते हुए भी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, और नक्षत्र आदि की स्थानता को प्राप्त हुए हैं यानी तद्रूपता को प्राप्त हुए हैं ॥५२॥ उसके उदर में जनित जो प्राण तथा अपान के आवर्तरूपी झूला है, वही उसकी उदरता वातस्कन्ध संज्ञा को धारण करती है । महान् जगत् उसी का हृदय (हृदयगत् अस्थि आदि) है ॥५३॥ जगत् के अन्दर कल्पपर्यन्त व्यवहार करनेवाले समस्त जीवों में प्रत्येक जीव भेद की इच्छा से कल्पित व्यष्टिशरीरों के प्रथम बीज यही ब्रह्मदेव हैं ॥५४॥ इनसे उत्पन्न प्रत्येक जीव की इच्छा से प्रकटित हुए जो जगद्रूप से अनेक देह हैं उनके कभी बाहर और भीतर ये ठीक वैसे ही स्थित हैं ॥५५॥ जैसे आद्य बीज हिरण्यगर्भ की इच्छारूप चिति पहले ही उत्पन्न हो गई, वैसे ही आज भी उसकी इच्छित चिति ही प्रत्येक जीव के भीतर उदित हो रही है । कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे एक प्रथम बीज से अनेक वृक्ष तथा बीजों की परम्परा उदित होती है वैसे ही हिरण्यगर्भरूप चेतन की इच्छा से प्रत्येक जीव से ब्रह्माण्डपरम्परा उदित होती है ॥५६॥ चन्द्र, सूर्य और पवन – ये तीनों उस हिरण्यगर्भ के कफ, पित्त और वायुरूप हैं और दूसरे जो ग्रह तथा नक्षत्र समूह हैं वे उसके प्राणष्ठीवन के सीकर हैं यानी प्राण द्वारा बाहर निकले हुए थूक के कफबिन्दु हैं ॥५७॥ पर्वतसमूह उसके अस्थि हैं, सारे मेघ उसकी चर्बी की जाति–जैसे हैं, उसके सिर, पैर और त्वचारूप देहावयवों को ऊपर–नीचे के कपालों तथा ब्रह्माण्डों के आवरणों को दूरी

के कारण हम लोग नहीं देख पाते ॥५८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार को आप विराट् पुरुष का शरीर समझिये । वह भी कल्पनात्मक उस विराट् की एकमात्र कल्पनारूप ही है । वह न तो कोई बाह्यसाधन से साध्य है और न वस्तुतः मन की कल्पनारूप कुछ है । इसलिए आकाश तथा पर्वत, पृथिवी तथा सागर आदि सबके सब प्रशान्त चिदाकाश रूप ही है ॥५९॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

जो लोक उस ब्रह्मा के अंगभूत हैं जो उसके पृथक्-पृथक् अवयव हैं तथा
जिस तरह ये सब इसके अन्दर स्थित हैं-इन सबका वर्णन।

उस ब्रह्मा का कौन अंग यह भूलोक है और कौन अंग स्वर्ग अथवा पाताल है ? इस विभागप्रश्न का, 'कथं वासोऽन्तरे तस्य' इस प्रश्न का तथा 'कथं वा तन्मनोमात्रं निराकृतिरिदं स्थितम्' इस प्रश्न का भी विस्तार के साथ उत्तर देने के लिए अब महाराज वसिष्ठजी श्रोता को सावधान कर रहे हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उस शिला के उदर में देखे गये ब्रह्मकल्परूपात्मक उस विराट् के संकल्प में जो ब्रह्माण्डात्मक शरीर स्थित है उसकी विचित्र आचारों से चित्त को हर लेनेवाली जो यह जन्म, कर्म, अवयव आदि की व्यवस्था है, वह आप सुनिये ॥१॥

उस विराट् का ब्रह्म ही वास्तविक स्वरूप प्राथमिक और अकल्पित है । उस विराट् का शरीर तो उसकी दृष्टि से अत्यन्त ही लघुतर है, यह कहते हैं ।

आदि, अन्त और मध्य से रहित जो परम चिदाकाश है, वही विराटात्मा का प्रथम कल्पनारहित शरीर है तथा उसका कल्पित यह जगद्रूप शरीर तो अत्यन्त ही लघु है॥२॥

आदि, मध्य और अन्त से रहित चिदाकाश ही उसका स्वरूप है, यह आप कैसे जानते हैं, इस पर कहते हैं ।

चूँकि वह ब्रह्मा अपने संकल्पित ब्रह्माण्ड–शरीर से बाहर संकल्पित होकर यानी संकल्प–शून्य साक्षी चिदाकाशमात्र होकर संकल्पनात्मक अपने अण्ड को चारों तरफ देखता है । वास्तव में तो वह ब्रह्माण्ड भी प्रकाशमय चिदाकाशरूप ही है ॥३॥

उस विराटात्मा का सिर, पैर और नितम्ब बतलाने के लिए सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड के ऊपर तथा नीचे के भाग को उसका कपाल (खोपड़ी) तथा पैर बतलाते हैं ।

लिंगसमष्टि के अभिमानी चिदाकार पुष्ट उस ब्रह्मात्मा ने अपने संकल्परूप सुवर्णमय अण्ड का ऐसे दो भाग किया, जैसे अपने पुष्ट अण्ड का पक्षी दो भाग करता है ॥४॥ उस अणु

के ऊपर के एक भाग को उसने ऊर्ध्वगत आकाश समझ लिया तथा नीचे का भाग जो स्थित था उसे उसने भूलोक मान लिया । अर्थात् उस अणु के दोनों भाग में जो ऊपर का भाग था वही आकाश तथा नीचे का जो भाग था वह पृथ्वी आदि लोक कल्पित हुआ । यद्यपि उस विराट् पुरुष ने उन दोनों में आकाश तथा भूलोक आदि की कल्पना की, लेकिन फिर भी अपने से अतिरिक्त न तो उसने आकाश की कल्पना की और न इस भूलोक की ही कल्पना की । ब्रह्माण्ड के सबसे ऊपर का जो हिस्सा है वह उस विराट् पुरुष का सिर कहलाता है तथा नीचे का जो हिस्सा है वह उसका पैर कहा जाता है एवं इन दोनों के बीच का जो अन्तरिक्ष-आकाश है, वह उस विराट् पुरुष का नितम्ब कहलाता है ॥५,६॥ बहुत दूर विभक्त हुए उन कपालखण्डों की अति विस्तृत जो मध्य सन्धि है वह अनन्त-शून्य श्यामवर्ण आकाश की रेखा के रूप में लोगों को दिखाई देती है ॥७॥ अन्तरिक्ष उस विराट् पुरुष का विशाल तालु है, तारागण रुधिर के बिन्दु हैं तथा देह में सुर, असुर और नर आदि बुद्धि तथा प्राण की वृत्तियों के भेद हैं ॥८॥ भूत, प्रेत, पिशाच आदि उसके शरीर के भीतर रहनेवाले रक्त माँस आदि अपवित्र पदार्थों के लोलुप ये कीड़े हैं, सूर्य और चन्द्र आदि लोक उसके शरीर के छिद्र हैं तथा यमलोक आदि नरक के लोकान्तर उसके चक्षु आदि शरीर के नीचे के सूराख हैं ॥९॥ इस भूमण्डल के नीचे का ब्रह्माण्डखण्ड उसके पैर का विस्तृत तलवा है और नीचे जो पाताल गर्त है वे उसके जानुमण्डल के छिद्र हैं ॥१०॥ जलों से चलायमान सूराखों से पूर्ण, अनेक छिद्रोंवाली, काम, रोग, जरा, मरण आदि से व्याकुल तथा सातों समुद्र एवं सभी द्वीप जिसके वेष्टन हैं-करधनी एवं कटिसूत्र की जगह पर हैं, ऐसी पृथ्वी उस विराट् पुरुष की मध्यस्थ बस्ति, जाँघ एवं नितम्बमण्डली है ॥११॥ जलों से गुड़-गुड़ शब्द करनेवाली नदियाँ उसकी नाड़ीयाँ हैं तथा नदियों का जल उसके शरीर का रस है और हेमाद्रिकर्णिकासहित जम्बूद्वीप उसका हृदयकमल हैं ॥१२॥ शून्य दिशाएँ उसके कूक्षिभाग हैं, सभी पर्वत उसके यकृत-प्लीहादि हैं और मेघसमूह उसके कोमल तथा चिकने पटाकार चर्बी के समूह हैं ॥१३॥ चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं, ब्रह्मलोक उसका मुख कहा गया है, सोम उसका वीर्य तथा हिमालयपर्वत श्लेष्मा (कफ) कहा गया है ॥१४॥ अग्निलोक तथा पृथिवी के अन्दर की अग्नि इसका अतिदुःसह पित्त है । वातस्कन्धों में प्रसिद्ध जो आवह, निवह, प्रवह आदि महावात हैं वे इसके हृदय में स्थित प्राण और अपान हैं ॥१५॥ कल्पवृक्षों के वन, पाताल आदि में प्रसिद्ध साँपों के झुण्ड तथा वन एवं उपवन इस विराट् पुरुष के अनंत रोम हैं ॥१६॥ ब्रह्माण्ड के खण्ड का सम्पूर्ण ऊर्ध्वभाग इसका विशाल मस्तक है । ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्वप्रान्त के छिद्र प्रसिद्ध दीप्त ज्योति ही इसकी प्रदीप्त शिखा खड़ी है (卐) ॥१७॥

(卐) देखिये यह श्रुति : 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्टेषु सर्वतः

इस प्रकार अपने विराट् शरीर की कल्पना करनेवाले उस विराट् पुरुष का कौन मन और कौन इन्द्रियाँ है, इस पर कहते हैं ।

चूँकि समस्त समष्टि मन के आत्मा ये विधाता स्वयं मनरूप ही हैं, इसलिए इनकी सभी कल्पनाओं में किसी दूसरे मन का इन्हें उपयोग नहीं करना पड़ता । मनरूप विधाता को भी किसी दूसरे मन की आवश्यकता होने पर अनवस्था हो जायेगी। जब यह निश्चित है कि एकमात्र आत्मा ही भोक्तृता को प्राप्त होता है तब भला किसका (🕭) कहाँ से कैसे संभव हो ? ॥१८॥ इसी तरह इन्हें इन्द्रियों की अस्तितता इनसे अन्यों में – हम लोगों में कल्पित है । और वे सब इन्द्रियाँ वस्तुतः एकमात्र कल्पनारूप ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है (🕮) ॥१९॥

तब इन्द्रिय और मन में भेदव्यवहार क्यों होता है, इस पर कहते हैं ।

अवयव और अवयवी के सदृश एक शरीरधारी इन्द्रिय और चित्त (मन) में तनिक भी भेद नहीं है, इन दोनों में एकता ही है ॥२०॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण जगत् की क्रिया भी उसी की क्रिया है, इसलिए क्रिया के विषय में अलग प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह कहते हैं ।

संसार के जो कुछ कार्य हैं वे सबके सब एकमात्र उसी के कार्य हैं अर्थात् संसार की सम्पूर्ण क्रियाएँ उसी की क्रिया हैं, क्योंकि ब्रह्मा के संकल्प ही सब जीवों के रूप से अपने में भेद का आरोप करके जगत् के समस्त व्यवहार के रूप में चलते हैं ॥२१॥

तब तो हम लोगों का मरण और जन्म भी उसी के मरण और जन्म है । ऐसी स्थिति में द्विपरार्ध काल तक उसके जीवन की जो प्रसिद्धि है, उसमें विरोध होने लगेगा, इस आशंका पर कहते हैं ।

समष्टि जगत् के यानी समस्त जगत् के जन्म और मरण को ही उस ब्रह्मा का जन्म और मरण समझना चाहिए, हमारे–जैसे व्यक्तिविशेष के जन्म और मरण को उस ब्रह्मा का जन्म और मरण नहीं जानना चाहिए, क्योंकि जगत् में समष्टिरूप वही है तथा हम लोगों का जो संकल्प है तद्रूप भी वही है । उस ब्रह्मा का समष्टि तथा व्यष्टि से अतिरिक्त और कोई दूसरा रूप ही नहीं है ॥२२॥

क्यों यह सब कुछ ब्रह्मा ही है ? इस पर कहते हैं ।

उसकी सत्ता से जगत् की सत्ता तथा उसके मरण से यानी अभाव से जगत् का मरण यानी अभाव है । जैसी स्पन्द और वायु की सत्ता एक है वैसी ही ब्रह्मा और जगत् की सत्ता एक है ॥२३॥ वायु और उसके स्पन्द के समान जगत् और विराट् पुरुष की सत्ता एक ही है । जो

पृष्टेंष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु ।'

(🕭) अर्थात् मन का ।

(🕮) इन्द्रियों की कल्पना में इन्द्रिय ही निमित्त हैं, ऐसा तो कभी कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था होने लगेगी, यह तात्पर्य है ।

जगत् है वही विराट् है और जो विराट् है वही जगत् कहा गया है ॥२४॥ जगत्, ब्रह्मा और विराट्-ये तीनों एक अर्थ के वाचक शब्द हैं तथा ये दोनों यानी विराट् और जगत् शुद्ध चिदाकाशरूप परमात्मा के संकल्प मात्र ही है (📖) ॥२५॥

'अस्तु नाम' यहाँ तक के पदसे महाराज वसिष्ठजी का कथन स्वीकार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अवशिष्ट प्रश्न का स्मरण कराते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, संकल्प से चिदाकाशरूप वह विराट् ही साकारता को प्राप्त हुआ, यह तो मैंने स्वीकार कर लिया, किन्तु कृपाकर यह कहिये कि वह ब्रह्मा अपने शरीर के भीतर रहते कैसे हैं ? (✎) ॥२६॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मानसपूजा करते समय ध्यान लगाकर हृदय में कल्पित रत्नमण्डप के भीतर स्थित देव में प्रविष्ट होकर उस देवता की छत्र, चामर, व्यंजन, दर्पण, ताम्बूल आदि से परिचर्या कर रहे अपने को उस देवता के समीप में स्थित जैसे आप अनुभव करते हैं, वैसे ही संकल्पस्वरूप पितामह भी अपने शरीर के भीतर स्थित रहते हैं ॥२७॥

स्थूल देहात्मक अपने हृदयकमल में लिंग देहात्मक अपनी अवस्थिति सभी विवेकियों को अनुभव सिद्ध है, यह कहते हैं।

विवेकी पुरुषों का जीव अपने स्थूल शरीर के भीतर हृदयकमल में अवस्थित रहता है । वह सबकी देह उत्पन्न हुई प्रतिमा-जैसी है, यही कारण है कि दर्पण के अन्तर्गत प्रतिबिम्ब के सदृश वे ब्रह्माजी हैं ॥२८॥

कैमुतिक न्याय से अपने शरीर के अन्दर विधाता की स्थिति बतलाते हैं ।

जबकि आप भी अपने स्थूल शरीर के भीतर अपनी स्थिति भलीभाँति कर सकते हैं, तब भला सर्वसमर्थ संकल्पात्मा ब्रह्मदेव अपनी स्थिति क्यों नहीं कर सकते ? ॥२९॥

जब स्थावरों में भी अपने बीज से अन्य शरीर धारण करने की सामर्थ्य विद्यमान है, तब भला सर्वशक्तिसम्पन्न चिति की कल्पनारूप ब्रह्ममूर्ति के विषय में क्या कहना है, यह कहते हैं ।

जब स्थावर पदार्थ भी बीज के भीतर स्थित रहते हैं तब भला जंगम सर्व शक्तिमान् ब्रह्माजी अपनी देह के भीतर क्यों नहीं स्थित रह सकते, जो स्वयं चिति की कल्पनारूप हैं ॥३०॥ ऐसी स्थिति में ब्रह्माजी चाहे ब्रह्माण्डाकार से साकार होते हुए भी चिदाकाश स्वरूप बने रहें अथवा समष्टि मन के रूपसे निराकार चिदाकाश स्वरूप स्थित रहें, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि वे दोनों पक्ष में बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं । बाह्य तथा आभ्यन्तर कल्पनाएँ हैं वे दोनों ही

(📖) 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध जो संकल्प है वह भी तो निःस्वरूप ही है, इसलिए बहुत छान-बीन करने पर भी हमें एकमात्र ब्रह्म ही शेष मिलता है ।

(✎) अर्थात् 'कथं वासोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः' इस मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये।

स्वरूप से बाहर स्थित हैं अतः वे भिन्न हैं अर्थात् इन्हींका भेद होता है, आन्तर सद्रूप की जो आपने कल्पना कर रखी है उसका भेद नहीं होता ॥३१॥

अच्छा तो वह विराट् पुरुष बाहर और भीतर किस प्रकार है और वस्तुतः किस स्वभाव में वह स्थित रहता है, यह कहते हैं ।

वही विराट् पुरुष बाहर ब्रह्माण्ड रूपसे स्थित है तथा भीतर 'अहं', त्वम् इत्यादि व्यष्टि एवं समष्टिभूत भौतिकमय है । लेकिन अपने स्वरूप में तो आत्माराम होकर भी वह काष्ठवत् मौनी तथा पत्थर के समान जड़ होकर भी वस्तुतः वह चिदेकरससरूप होने के कारण जड़रूप से स्थित नहीं है ॥३२॥

केवल ऐसी स्थिति विराट् पुरुष की ही है, यह बात नहीं है किन्तु सभी तत्त्वज्ञानियों की भी ऐसी ही स्थिति है, यह दिखलाने के लिए उसी स्थिति का दृष्टातों द्वारा साफ-साफ वर्णन करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, न केवल विराट् पुरुष, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानी पुरुष लता, तृण, काष्ठपुरुष या प्रतिमा के समान पहले रत्न आदि से आबद्ध हो पुनः मुक्त हो जाने पर भी कुपित नहीं होते, बल्कि चुपचाप स्थित रहते हैं तथा जल के प्रवाह के सदृश अवरुद्ध और छिन्न-भिन्न अंग होने पर भी अपनी प्राक्तन शान्त स्थिति को नहीं छोड़ते एवं नाना प्रकार के कार्यसमूह में विहार करते हुए भी शिला के उदर के समान क्रोधादिरहित शान्तचित्त ही स्थित रहते हैं-क्रोध, हर्ष, विषाद आदि से तनिक भी विकार को प्राप्त नहीं होते ॥३३॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

ब्रह्मा के ध्यान में तत्पर होने पर बारह सूर्यों की उत्पत्ति तथा सारे संसार को जला रही प्रलयाग्नि का वर्णन ।

प्रासंगिक प्रश्न को समाप्त कर अब एकमात्र प्रस्तुत आख्यायिका का अनुसन्धान करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जब ब्रह्मदेव ध्यान में लवलीन हो गये तब इन्द्र के सहित उनके नगर तथा सुमेरु पर्वत के शिखर का पतन देखने के बाद मैंने धीरे से दिशाओं की ओर अपनी आँखें दौड़ायीं, तब मैंने अपने सामने पश्चिम दिशा की ओर साफ उदित हुए-दिशाओं के मुँह में दाह के सदृश तथा पर्वत के ऊपर वनदाह के समान, मध्याह्न काल के सूर्य से भिन्न एक दूसरे ही सूर्य भगवान् को देखा ॥१,२॥ इसके बाद आकाश में अग्निरोक के तुल्य तथा सागर में बड़वानल के समान प्रदीप्त हुए एक और सूर्य को मैंने नैर्ऋत्यदिशा में उदित देखा ॥३॥ तदनन्तर दक्षिण दिशा में, उसके बाद अग्निकोण में, फिर पूर्वदिशा की ओर, उसके बाद पुनः मैंने ईशानकोण में उदित हुए-इस तरह भिन्न-भिन्न सूर्य मैंने देखे ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद उत्तरदिशा में, वायव्यकोण में तथा पश्चिम दिशा में भिन्न-भिन्न सूर्यदेव भगवान् को देखकर मैं आश्चर्यचकित

हो गया ॥५॥ इतने में व्याकुल होकर ज्यों ही मैं दैव की प्रतिकूलता को विचारने लगा त्यों ही झट भूतल से सूर्य ऐसे प्रादुर्भूत हुआ, जैसे सागर से औंर्व-बड़वानल ॥६॥ दिग्गणों के मध्याकाश में ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ । उस ग्यारहवें सूर्य में, दर्पण में प्रादुर्भूत हुए प्रतिबिम्ब की तरह, तीन अन्य सूर्य उदित हुए (♨)॥७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस ग्यारहवें सूर्य में वे तीनों सूर्य भगवान् रुद्र के शरीर हैं । उस भगवान् रुद्र के शरीर के मध्य में तीन नेत्र हैं । बारह सूर्यों के आकार के बराबर परिमाणवाला प्रदीप्त सूर्यों का समूह होकर वह रौद्र शरीर सभी दिशाओं को खूब जोर से जलाने लगा, जैसे सूखे जंगल को अग्नि । तदनन्तर जगत्खण्ड को शुष्क बना देने वाला ग्रीष्म ऋतु का दिन प्रकट हुआ ॥८,९॥ हे कमलनयन, इसके बाद झट बिना अग्नि के ही अग्निका दाह तथा अदृश्य उल्मुकों के गुल्मक उत्पन्न हुए । अग्निरहित उस सौराग्नि के दाह से मेरे सभी अंग दावाग्नि से दग्ध अतएव खिन्न-से हो गये । उसके बाद उस प्रदेश को छोड़कर मैं बहुत दूर आकाश में आरूढ़ हो गया ॥१०,११॥ और प्रबल हथेली के आघात से मारे जा रहे गेंद की तरह आकाश में जाकर वहाँ स्थित हो मैंने उदित हुए प्रचण्ड तेजयुक्त तप रहे बारह सूर्य समूह को दसों दिशाओं में भी देखा । तथा उन दिशाओं में तारों के सहित आकाश को व्याप्त कर देनेवाली ज्वाला के समान चंचल वर्तुलाकार बृहत् नक्षत्रचक्र देखा॥१२,१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ मैंने महाकुहकुह शब्दों से युक्त सातों समुद्र को खूब खौलाकर काढ़ा बना रहे तथा ज्वालासहित उल्मुकों से सारे लोक और समस्त नगरों के भीतरी भाग को अच्छी तरह परिपूर्ण कर देनेवाले बारह सूर्य समूह को देखा ॥१४॥ उस सूर्यमण्डल ने ज्वालासदृश घन रक्तवस्त्राडम्बरों से सारे पर्वतों को सिन्दुरी रंग का कर दिया था तथा देदीप्यमान लोकपालों के घरों में स्थिर बिजली की तरह उसने समस्त दिशामण्डल को बना दिया था ॥१५॥ चट-चट शब्द करते हुए नगरों के मण्डल को उसने स्फुरित हो रहे कट-कट शब्दों के आडम्बरों से युक्त कर दिया था । शिला के समान घनीभूत, भूतलपर उद्भूत हुए दण्डाकार धूम्रों से भुवनस्थानमण्डल को हजारों काच के खम्भों से वह परिपूर्ण बना रहा था । काढ़ारूप में परिणत हो रहे समस्त प्राणियों तथा पृथिवी आदि महाभूतों के ऊँचे आक्रन्दन से उसमें अतिघर्घर शब्द हो रहा था ॥१६,१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वह बारह आदित्यों का मण्डल, जिसका मैंने अवलोकन किया, चारों ओर से समस्त प्राणियों के लोकों एवं उनके अंतर्गत नगरों के पतन से फट

(♨) दसों दिशाओं के बीच में उदित हुए सूर्य के अन्दर उदित तीन सूर्यस्वरूप एक ही ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक रुद्र का यह एक रौद्र शरीर है । वही 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः' इस गायत्री से प्रकाशित होता है । एकमात्र यही कारण है कि वह चौबीस अक्षरों से प्रसूत चौबीस हजार श्लोकों के पूर्वरामायण के सारसंग्रह स्वरूप आदित्यहृदय में 'ब्रह्मेशानाच्युतेशाय रौद्राय वपुषे नमः' इस श्लोक से तीन मूर्तियों के मूलभूत परमशिव के रूप से नमस्कृत हुआ है, सभी विद्वान् लोग उसी को सर्वोत्कृष्ट उपास्य देव कहते हैं, यह एक ज्ञातव्य विषय है।

रहे पदार्थों के चटचटाशब्दों से उद्भूत–प्रचण्ड था । अश्विनी आदि तारा समूहों के पतन के अभिघातों से धरातल के रत्नों को वह घिस रहा था ॥१८॥ सभी स्थानों में अपने–अपने घरों के भीतर उसके ताप से जल रहा जन–समुदाय इधर–उधर जोरों से भाग रहा था। मरे हुए तथा आक्रन्दनपूर्वक खूब पकाये जा रहे प्राणिसमुदाय से वह सारे दिक्तटों को दुर्गन्धयुक्त बना रहा था ॥१९॥ सारे महानगरों के जलजन्तुओं को, जो उनके उदर में रह रहे थे, सन्तप्त हुए जलों से व्याकुल कर रहा था । सारी दिशाओं में व्याप्त अग्नि के दाह से उसने भिन्न–भिन्न अनेक नगरों के प्राणियों को मारकर उन्हें रोदन से शून्य बना रखा था । उनमें रोनेवाला कोई एक भी प्राणी न रह जाय, ऐसा उन्हें कर रखा था ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने बारह आदित्यों का वह समुदाय देखा, जो विदलित हो रहे तथा दग्ध हो चुके दिग्गजों के दाँतोंरूपी खम्भों से दिगन्तपर्वतों को अधोभाग में धारण कर रहा था तथा पर्वतों की कन्दराओं के छिद्रों को धूम्रमण्डलों से कुण्डलमय बना रहा था यानी परिपूर्ण कर रहा था ॥२१॥ वह जले हुए नगरों के मण्डलों को गिर रहे पर्वतों के द्वारा पीस–पीसकर खूब चूर्णरूप में परिणत कर रहा था और पचपच शब्दों से शब्दमय हो रहे महापर्वतों के हाथियों को वह खूब पकाने में संलग्न था ॥२२॥ सन्ताप से सन्तप्त होकर उछलते हुए प्राणियों द्वारा सभी सागरों एवं पर्वतों को वह ऐसा बना रहा था, मानों उन्हें ज्वर आ गया हो। हृदय फटने से सारहीन हो जाने के कारण विद्याधरों एवं उनकी अंगनाओं को गिराने में वह बराबर तत्पर हो रहा था ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय कुछ लोग जोर–शोर से खूब चिल्लाने तथा रोने से थक गये थे एवं कुछ योगी लोग उस समय ब्रह्मरन्ध्र को फाड़कर उसके द्वारा अपने प्राणों को निकाल देने से अमर भी हो चुके थे । स्वर्गलोक में जलती हुई ज्वालाओं द्वारा पातालपर्यन्त सारा भूतल उस समय खूब सन्तप्त हो रहा था ॥२४॥ सूखे समुद्रों में उसके द्वारा लगातार सदा पकते रहने के कारण मगर आदि जल जन्तु परस्पर खूब टक्कर खा रहे थे, इसलिए वे सबके सब देखने में उस समय बड़े भीषण प्रतीत हो रहे थे। जलरूपी इन्धन न मिलने से बड़वानल मानों उड़कर स्वयं आकाश में चला गया। वहाँ पहुँचते ही हजारों तरह से नृत्य करते हुए उसने अप्सराओं को जिससे उछलकर पकड़ लिया, वह बारह आदित्यों का मण्डल मैंने वहाँ देखा ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनन्तर प्रलयाग्निरूपी नट जगद्रूपी जीर्ण कुटी में ताण्डव नृत्य करने को तैयार हो गया वह जल रही ज्वालारूपी किंशुक पुष्प के वर्ण की तरह वस्त्रों से सुशोभित था, बड़े वेग से फट रहे बाँस आदि के कारण पटपट आदि शब्दों के आडम्बर से युक्त था यानी वह उनसे नाना तरह के बाजों का आडम्बर रखनेवाला था। चंचल उल्मुकरूप माला पहिने हुए था, प्रचण्ड एवं वीरोचित शब्दोच्चारण कर रहे योद्धा की तरह अलंकृत दीखता था, प्रज्वलित ज्वालारूपी अपनी लम्बी भुजाओं से समन्वित तथा धूम्ररूपी केशों से वह विभूषित था । उस प्रलय की अग्नि से वनों के समूह, ग्राम, समस्त नगर, मण्डलों के द्वीप–दुर्ग, जंगल, स्थल, पाताल आदि पृथिवी के

समस्त छिद्र, पृथिवी के ऊपर का महाकाश, दसों दिशाएँ, भूलोक के ऊपर का हिस्सा–ये सबके सब जलने लगे ॥२६–२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कहीं सुन्दर गर्तों से शोभित, कहीं पर अरघट्टयन्त्रों से अलंकृत तथा कहीं ऊँची अट्टालिकाओं से युक्त अनेक नगरों से रमणीय दिशाओं का तट, पर्वतों के शिखर, उन शिखरों पर वास करनेवाले सिद्धों के समूह, उन सिद्ध समूहों से युक्त अनेक पर्वत, सागर, महासागर, तालाब, तलैया, नदी, देव, असुर, नर, उरग (सर्प) और पुरुषों के साथ सभी दिशाएँ–ये सबके सब भगवान् रुद्र के नेत्रों की ज्वालाओं के शनशना शब्दों से जलने लगे ॥३०,३१॥ भंभं भाँकार भयंकर शब्दों से बहुत ज्यादा धूलि फेंकती हुई ये सभी दिशाएँ दुष्ट राक्षसियों की तरह, परस्पर धूलि एवं जल फेंक–फेंककर क्रीड़ा करने में तत्पर हो गई, ये सभी अपने मस्तक के ऊपर ज्वाला–समूहों से उज्ज्वल केश धारण किये हुए थीं यानी ज्वालाजालरूपी चमकीले केश इनके माथेपर विराजमान थे ॥३२॥ उत्तम गर्तों से युक्त पर्वतभूमियों की गुफाओं से खूब ज्वालाएँ निकलने लगीं। उन ज्वालाओं के उदर में स्थित समस्त भूत जातियाँ लाल रंग की हो गई ॥३३॥ सम्पत्तिरहित उन सब दिशाओं ने तत्काल निकले हुए रक्त के सदृश ज्वालाजालों से, जो सिन्दुरी रंग के मेघों की तरह सुन्दर थे, स्थल कमल के उदर में लीन शोभा को धारण किया। धक्–धक् शब्दों से गाते हुए सारे संसार में व्याप्त ज्वालाओं के जालों से आकाश मानों रक्त वस्त्रों से या सन्ध्याकालीन मेघों से आकीर्ण हो गया । अथवा यह भी कह सकते हैं कि ज्वालासमूहों से आवृत वह सारा आकाश ऐसा प्रतीत होने लगा मानों उड़कर वहाँ ले गये विकसित किंशुक के वनों से ढ़ँका हो ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी ही दशा सम्पूर्ण सागरों की भी हो गई, बड़वानल से संवृत्त सारे सागर भी ऐसे हो गये, मानों उनमें अशोक के वन खिल गये हों, या स्थल कमलों से वे संवलित हो गये हों अथवा प्रातःकालीन सूर्य के समूहों से वे व्याप्त हो चुके हों ॥३४–३६॥ युवावस्था को प्राप्त दावानल चित्रलिखित कोठों पर की मिथ्या अग्नि को मानों यथार्थ अग्नि बनाने के लिए नाना वर्णों की प्रज्वलित हो रही ज्वालाओं तथा धूम्र विन्यासों की श्रेणिवाला होता हुआ, हजार फणाओं की श्रेणिवाले सर्पराज के समान, विस्तार को प्राप्त हो गया, अनेक सूर्यों के उदय और अस्त आदि से विन्ध्याचल भी विधुरता को प्राप्त हो गया॥३७,३८॥ तथा दक्षिण देश में सघनात्मक पर्वत भी ज्वालायुक्त वनों की गर्जनासहित अंगार के समान क्षुब्ध हुए वृक्षों से कुछ धीरे से मानों असह्यता को प्राप्त हो गया ॥३९॥ बीच–बीच में जिनकी कुछ कालिमा प्रकाशित हो जाती थी ऐसे धूम्ररूपी भ्रमरों से मालित तथा धूम्रसंवलित ज्वालारूपी कमलों से मलिन हुआ आकाश सरोवर के तुल्य देखा गया ॥४०॥ ज्वालारूपी चूड़ामणि से अलंकृत तथा घूम्रों के आवर्त एवं धूमकेतु नामक उत्पातविशेषरूपी केशपाशों से भूषित मृत्युरूपी नर्तकी (वेश्याएँ) पर्वतों की कन्दराओं तथा शिखरों पर एवं पर्वतादि से शून्य आकाशप्रदेश में भी करुणादि रस से शून्य होकर नाचने लगीं ॥४१॥

ब्रह्माण्ड का उर्ध्वभाग ही जिसका कपाट है ऐसी पृथिवी अपने अधोभाग में स्थापित अग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त होती हुई भाड़ की वह खपड़ी तैयार हो गई, जहाँ पर भूने जा रहे दानों की जगह अत्यन्त क्लेशयुक्त शब्दसहित गिरते हुए एकमात्र प्राणियों के समूह ही विद्यमान थे ॥४२॥ उस प्रलयकाल में अपनी छाती पीट–पीट कर रो रही जगत्–लक्ष्मी के हृदयपर स्थापित हुए हाथ में–अनेक द्वीपों की खोदी गई मृत्तिकाओं, सातों समुद्ररूपी जलों तथा उनमें व्याप्त अग्नियों से, काँच एवं उसकी कान्ति से युक्त सुवर्ण की जगह पर स्थित नानावर्णों के मुखों एवं मणियों से लाल हुई यह पृथिवी सुवर्ण विरचित मनोहर शब्द कर रहे–कंकणों की पंक्ति–सी हो गई ॥४३॥ उस समय सभी पर्वत चटचटा शब्दों, सभी वृक्ष कटकट शब्दों तथा सभी देश हलहला शब्दों के साथ अच्छी तरह विदलन को प्राप्त हो गये ॥४४॥

इसी तरह सागर भी मुँह पीट–पीटकर एक तरह से रोने लग गये, यह उत्प्रेक्षा करते हैं।

कथित आकारवाले (जिनके जल खूब खौल गये थे ऐसे) तथा फेनिल होने के कारण उन फेनों के उल्लास से परिपुष्ट हुए सारे समुद्र स्वीय जल में पड़े सूर्य प्रतिबिम्बरूप तिलक से समन्वित अपने मुख में तरंगरूपी करतलों से आघात पहुँचाते हुए रोने लग गये तथा पुनः वे सबके आपस में सम्बद्ध होकर तरंगों के आघात से मिट्टी तथा पत्थर आदि को बिल्कुल बराबर कर देने के कारण भूतलरूपता को प्राप्त हुए पर्वत का तरंगरूपी अपने हाथों से ऐसे ग्रास करने लग गये, जैसे कि मूर्ख प्राणी देह में प्राप्त मिट्टी तथा पत्थर आदि को प्राप्त करने लग जाते हैं ॥४५,४६॥ कहीं पर सारी दिशाओं तथा सारे आकाश को ग्रास कर जानेवाले या उन्हें पूर्ण कर देनेवाले इन सागरों के गुहामुख से निकले हुए 'गुहगुह' इस तरह के शब्दों का प्रदेशान्तर में गिरितट के संघटन से उत्पन्न अग्नि का शब्द पाठ करने लगा यानी अपने गुरुजी के द्वारा कहे गये शब्दों का अनुकरण जैसे शिष्यध्वनि करती है वैसे ही गुहामुख से निःसृत 'गुहगुह' शब्दों का अनुकरण वह आग्नेय शब्द करने लगा ॥४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, और सुनिये–उस समय प्रलयकालीन मेघों की निवृत्ति से वृष्टिशून्य दसों दिशाएँ भी लोकपालों के नगरों के गिरने से दाह में सन्तप्त हुए अंगारों से परिपूर्ण पर्वतों की भित्तियाँ होती हुई उन्मत्तवृत्ति होकर व्याकुलता को प्राप्त होने लगीं ॥४८॥ समीप के अनेक पर्वतों, इन्द्र, कल्पद्रुम, आगारों तथा गुहागृहों के सहित, सुन्दर आकारवाला सुवर्णद्रवरूप सुमेरु पर्वत उस समय धीरे से ऐसे गल गया, जैसे धूप में हिम ॥४९॥ सम्पूर्ण शीतल अन्तःकरण से युक्त एवं शुद्ध हिमालय पर्वत तो उस प्रलय आग से एक ही क्षण में लाह के सदृश ऐसे पिघल गया, जैसे दुर्जन से सज्जन ॥५०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस महाभयंकर प्रलयकालीन दशा में भी मलयाचल तो अपने निर्मल सौरभ से युक्त ही स्थित रहा। (इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है) उदार महापुरुष तो नाश के समय भी अपने उत्तम गुण को नहीं छोड़ते ॥५१॥ महान् पुरुष तो नष्ट होते हुए भी आनन्द प्रदान करते हैं किसी को दुःख नहीं देते, (हे श्रीरामचन्द्रजी, देखिये न) स्वयं दग्ध होने पर भी वह चन्दन जीवन

धारण कर रहे प्राणियों के आनन्द के लिए ही ज्यों-का-त्यों स्थित रहा ॥५२॥ उत्तम वस्तु कभी भी अवस्तुता को यानी निकृष्टता को नहीं प्राप्त होती, (देखिये) प्रलयकालीन अग्नि से जल रहा भी सोना सर्वथा नाश को नहीं प्राप्त हुआ ॥५३॥

जो वस्तु कभी नष्ट नहीं होती वही इस जगत् में सार है, उसी की प्रशंसा करनी चाहिए, इस अभिप्राय से कहते हैं।

उस प्रलयकालीन अग्नि में सुवर्ण और आकाश ये दो ही नष्ट न हुए । उन्हीं दोनों का शरीर प्रशंसनीय है, क्योंकि सबका नाश हो जाने पर भी उनका नाश नहीं हुआ ॥५४॥ आकाश तो विभु यानी व्यापक होने से अविनाशी है और सुवर्ण दोषरहित होने से यानी दोषों से निचोड़कर शोधितरूप होने से अक्षय है। इसलिए हे श्रीरामजी, रज और तमसे निचोड़कर निकाले गये यानी जिसमें और तम बिल्कुल नहीं है ऐसे शुद्ध एक सत्त्वको ही ब्रह्मसुख की अभिव्यक्ति होने से मैं सब सुखों का सार समझता हूँ। मैं रज अथवा तमको सुखों का सार नहीं समझता ॥५५॥ मेघरूपी पर्वतों को जलानेवाला महाधूम्र की ज्वालासहित प्रलयाग्निरूपी वारिद (मेघ) इधर-उधर चल रहे उच्च जंगलो की नाईं आकाश में स्फुरित होता हुआ बिखरे हुए अंगारों की वृष्टि करनेवाला हो गया ॥५६॥ सभी तरह के जलों के बिलकुल सूख जाने के कारण यानी संस्कारमात्र भी अवशेष न रह जाने के कारण स्मृति के अभाव से अत्यन्त ही दुःखी, अतः शून्यस्वरूप विशाल शरीरधारी अण्डज आदि चार तरह के जीवों का तथा सर्वथा शुष्क हो जाने से आकाश के वृक्ष के पत्तों के पात्रस्वरूप, प्रलयाग्नि की ज्वाला से दग्ध हुए जलसहित मेघों की हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए तत्त्वज्ञानी के दोषों की नाईं, कहीं भस्म भी न दीख पड़ी ॥५७,५८॥ जब तक उल्लसित हुई वह प्रलयाग्नि कैलास पर्वत को न लाँघ सकी, इतने में ही कल्पान्त के लिए कुपित हुए रुद्र भगवान् ने अपनी नेत्राग्नि से उस कैलास को जला दिया ॥५९॥

उस दाह का भी वर्णन करते हैं।

दाह से तड़कते हुए वृक्षों के तथा महाशिलाओं के चटचट शब्दोंवाले उस कैलास पर्वत के नीचे के सभी पर्वत लकुटों तथा पत्थर के ढेलों के समूहों से मानों युद्ध करने लगे-युद्ध करते हुए के समान प्रतीत होने लगे ॥६०॥ और सुनिये-ये सभी पर्वत ज्वालाओं के घनघटाटोपों से मुकुटसहित चंचल अग्र शिखरोंवाले होते हुए आकाश में विकसित हो रहे महाकमलों के अनेकों जंगल-जैसे हो गये ॥६१॥ 'कभी तो सृष्टि अवश्य रही ही होगी' इस प्रकार सृष्टि स्मरणीय दशा को प्राप्त हो गई। मूर्खों को जगत् की असारता का स्मरण दिलाते हुए कल्पान्त प्रत्यक्ष आ गया ॥६२॥ ताप और उपताप में परम यानी सबसे बढ़े-चढ़े तथा दूसरों को मारने में तत्पर प्रलयकाल के पवनों ने सम्पूर्ण भुवनों का, खरगोश के सींग आदि असद्रूप पदार्थों की तरह, सर्वथा अत्यन्तअभाव कर दिया ॥६३॥ उस प्रलय के प्रवृत्त होने पर वज्रपातों से प्राणियों के अंगो को पीड़ित करनेवाले तथा

प्रकाशमान अग्नि के उल्मुकों से संयुक्त होने के कारण गुल्ममण्डलों (卐) के सदृश शोभायमान प्रलयसमय के पवन–देवताओं की पंक्तियों को विदलित करते हुए अग्नि के बीच से निकलकर सारी दिशाओं को चाटते हुए–से बहने लगे॥६४॥ चंचल ज्वालाओं से तड़कते हुए अग्निमय वृक्षों के वनों में उत्पन्न भस्म सहित उष्णता से आकाश को व्याप्त करनेवाले (🔔), भ्रमण करते हुए उल्मुकों के अभिघात से निकल रही अंगारसहित पीली ज्वालाओं से युक्त, कज्जलरूप से गिर रही तथा पावक की श्रृंगप्राय शिखा के मध्य में विलास करती हुई कज्जलयुक्त ज्वालाओं की पंक्तियों से श्यामवर्ण एवं सम्पूर्ण जगत् में अग्नियों को प्रकाशित करने से स्तुतियोग्य वेगवाले पवन बड़े वेग से बहने लगे ॥६५॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

पश्चिम दिशा में, ऊपर के भाग में पुष्करावर्तक (प्रलयमेघ) का उदय तथा आग्नेय दिशा में उपसंहार-यह वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर जब पर्वतों को कम्पित कर देनेवाला तथा समुद्रतरंगों के द्वारा बलपूर्वक आकाशमण्डल में आवर्त पैदा कर देनेवाला कल्पान्त पवन बह रहा था, समुद्र अपने चिह्नों से रहित हो गये थे, मेघ अपनी मर्यादा एकदम नष्ट कर चुके थे, तथा जल की दरिद्रतारूप दुःख से जब भाग चुके थे, धनी अधनी हो गये थे, भूतल अपने अंश से रहित हो चुका था और अग्नि से भून गया था, कालप्रभाव से पाताल भी किसी (अनिर्वचनीय) पाताल को यानी विनाश को प्राप्त हो चुका था, समस्त सृष्टिवर्ग जीर्ण–शीर्ण हो गया था, विद्यमान अन्तरिक्ष लोक भी आकाशगत प्रकाश में मिल चुका था तथा जब सारी दिशाएँ शोक से व्याप्त हो चुकी थीं, तब किसी एक आकाश के गर्त से क्रुध दैत्यगणों के सदृश निकलकर पुष्करावर्तक नामधारी मेघ गुलगुल ध्वनि (गर्जन) करने लग गये ॥१–५॥ यद्यपि उनकी वह ध्वनि दूर से वैसी सुन पड़ती थी, लेकिन वस्तुतः वह अत्यन्त भयंकर थी, ब्रह्माजी ने अपने अण्डे का जब भेदन किया था, तब ब्रह्माण्ड की भित्ति के विस्फोट से जैसी उन्नत दहलानेवाली ऊँची ध्वनि निकली थी, ठीक वैसी ही उनकी ध्वनि थी, परस्पर आस्फालनों द्वारा उछलते हुए मत्त समुद्रों की ध्वनि के सदृश वह बीभत्स थी ॥६॥ लोक, समुद्र एवं नगरों में प्रतिध्वनि के रूप से उत्पन्न घन कोलाहलों के कारण वह सही नहीं जा सकती थी तथा पूर्व में वर्णित कुलाचल पर्वतों के कन्धों पर सम्बद्ध दाह के उग्र शब्दों के साथ मिल जाने के कारण

(卐) गुल्म-ऐसा पौधा जो एक जड़ से कई होकर निकले और जिसमें कड़ी लकड़ी तथा डंठल न हो । जैसे-ईख, शर आदि । अर्कप्रकाश में गुल्मगण के अन्तर्गत बरियारा, पाठा, तुलसी, काकजंघा, चिरचिरा आदि पौधे लिये गये हैं ।

(🔔) अथवा मेघों को उत्पन्न करनेवाले ।

वह घर्घर ध्वनि बड़ी ही भयानक लगती थी ॥७॥ भद्र, उस शब्द ने समस्त ब्रह्माण्ड़रूपी शंख के उदर को भर दिया था, मरनेपर ब्रह्माण्डभित्तियों के प्रतिरोध के कारण हुए अनेक आवर्तनों से वह बड़ा ही निबिड़ बन गया था, इसीलिए मानों स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवं पातालतल तक उसकी अनेक शाखाएँ फैल गई ॥८॥ दूर-दूर की सम्पूर्ण दिशारूपी असीम भित्तियों को वह ध्वनि रूप शब्द लीला से लेखन द्वारा मानों खोद रहा था, महाप्रलय में मिश्रित होकर पानक (पना) या मद्य बन गये थे, इन समुद्रों के मद्य को वह मानों पी जाने की ज्यादा इच्छा कर रहा था ॥९॥ वह ध्वनि क्या थी, विजय पाने के लिए प्रस्थान किये हुए महाप्रलय नामक इन्द्र के मत्त ऐरावत हाथी की गर्जना-सी थी । और सुनिये-वह शब्द क्या था, कल्पकालतक रोके जाने से क्षुब्द हुए मेघरूपी समुद्रों का दीर्घकाल से संचित एक ही समय में निकला हुआ निर्घोष सा था ॥१०॥ महाप्रलय के कारण विक्षुब्ध हुए क्षीरसागर के मंथन का वह भयानक शब्द था, ब्रह्माण्ड़रूप जो महान उग्र अरघट्टयन्त्र है, उसमें लगे हुए जलधारायन्त्र का एक तरह से वह शब्द था ॥११॥ श्रीरामजी, वर्णित मेघध्वनि मैंने सुनी, सुनने के बाद मैं आश्चर्य के मारे चकित हो गया और आश्चर्यचकित होकर मैंने यह सोचा कि इस महान् कल्पाग्नि में भी मेघ की स्थिति कैसे हो सकती है । यों सोच के नीचे की दिशा को छोड़कर बाकी नव दिशाओं की ओर ताका ॥१२॥ मैंने उन दिशाओं में मेघ नहीं देखे, किन्तु केवल यही देखा कि उनमें तरल एवं आस्फालित उल्मुकरूपी वज्रों की वृष्टियाँ हो रही हैं ॥१३॥ उस अग्नि के ताप से दसों दिशाओं में भी अनेक करोड़ों योजन दूर तक के सारे पदार्थ भस्म हो रहे हैं ॥१४॥ तदनन्तर मैंने क्षणभर में अतिदूर आकाश में ऊपर से शीतल वायु का और नीचे अग्नि के सदृश गरम वायु का त्वचा से अनुभव किया ॥१५॥ आकाशमार्ग में वे मेघ इतने दूर प्रदेश में स्थित थे कि उस प्रदेश में न तो नीचे के अग्निताप ही जा सकते थे और न उसे जीवित प्राणी ही अपनी आँखों से देख सकते थे ॥१६॥ तदनन्तर पश्चिम दिशा से कल्प की वायु बहने लगी, उस वायु से विन्ध्य, मेरु, हिमालय आदि बड़े-बड़े पर्वत भी तृण के सदृश उड़े जा रहे थे ॥१७॥ उस वायु के द्वारा अगल-बगल उड़ रहे अंगाररूपी पक्षियों से युक्त ज्वालारूपी पर्वत आग्नेय दिशा की ओर तत्काल जाने लगे, चंचल लुआठे ही उनमें जंगल प्रतीत हो रहे थे ॥१८॥ आकाश मण्डल में सन्ध्या काल के अभ्रों के सदृश आकारवाले अंगाररूपी मेघ बरस रहे थे तथा उसमें भस्मसमूहरूपी जलधारी मेघ एवं वायु से शोधित अंगारों की धूलि उड़ रही थी ॥१९॥ भद्र, वह अग्निज्वाला के साथ विलासकारी वह दुष्ट वायु अग्निदिशा की ओर ऐसे जाता था जैसे पंखसहित हेमाद्रि आदि पर्वतों का समूह ॥२०॥

श्रीरामजी, जब अतिविस्तृत भूमण्डल ज्वालारहित अंगारों का ढेर बन गया, तथा ज्वाला की पंक्तियों का समूह धूलिशून्य होने के कारण चमकते हुए बारह सूर्यों का स्पष्ट तेजरूप बन

गया (तब कल्पान्त का मेघ भी आ धमका) ॥२१॥ जब समुद्र अग्निरूपी जल से लबालब तथा काढ़े के सदृश उछलते हुए जल से पूर्ण हो गये और सारे जंगल पत्तों के स्मरण से शून्य (पत्रशून्य) एवं प्रदीप्त अग्निरूपी वृक्षों के आधार बन गये (तब कल्पान्त के मेघ आने लगे)॥२२॥ जब भार्या, बालक एवं वृद्धों के साथ ब्रह्मलोकस्थ अधिपति तथा ब्रह्मलोक के नगर जलकर आकाश में गिरने लगे (तब कल्पान्त के मेघ आने लगे) ॥२३॥

भद्र, कल्पान्त की अग्नि एक तरह से कमलिनी ही प्रतीत हो रही थी, उसकी ज्वालाएँ ही पल्लवों की शोभा धारण कर रही थीं, पत्थरों से शून्य ब्रह्माण्डरूपी सरोवर ही उसका उत्पत्तिस्थान था, इस तरह की बीजयुक्त कमलिनी के केसर सदृश चिनगारियों से घटित उल्मुकों के द्वारा जब वायुरूप यानी वायुप्रधान साँप एवं पर्वतरूप मूल पाताल पर्यन्त अंगाररूपी कीचड़ में फँस गये, तब मशक में जल ढोने वाली ऊँटों की सेना के सदृश विस्पष्ट (शीघ्र) संचरणशील आकाश को देखकर कल्पान्त के मेघ, जो काजल के सदृश काले-काले थे, गरजते निकट आ धमके ॥२४-२६॥

भद्र, वह जो मेघमण्डल आया, वह सुस्थिर कल्पान्त की अग्नि की ज्वालाओं के सदृश अतिभयानक विद्युन्मय पर्वतों से सुशोभित लग रहा था । उसने अपने एक कोने में ही सात समुद्रों का असीम जल-भण्डार भर लिया था ॥२७॥ समस्त दिशाओं के तट भासुर नीहारसमुहों से छिद्ररहित भित्तियों के सदृश मालूम पड़ रहे थे, वह समस्त ब्रह्माण्ड की भित्तियों के घनमण्डलों को तोड़-फोड़ देने में अतिदक्ष मालुम हो रहा था *(अथवा दीवार के समान तुषार समूहों से दिशाओं को पूर्ण करनेवाला और ब्रह्मांड के अंतपर्यन्त भूतल को विदीर्ण करने में दक्ष वह मेघमंडल था ।)* ॥२८॥ उस मेघ को देखकर यही कहना पड़ता था कि कल्पान्त से क्षुब्ध होकर समुद्र ही आकाश में आ धमका है । क्योंकि उसमें वर्तुलाकार द्वादश आदित्यों की परिधि ही उसका वेष्टन-सा था, बिजली ही उसमें जलचर-सी मालूम पड़ती थी और उसमें भी गम्भीर ध्वनि हो रही थी ॥२९॥ उसे देखकर यह भी मालूम पड़ रहा था कि मृत या दग्ध चन्द्रमा ही परलोक में जाकर पुनः पहले की अपेक्षा द्विगुण शीतल होकर दूसरा रूप लेकर इस आकाशमण्डल में आया है ॥३०॥ सुवर्ण के समूह के सदृश विद्युत-समूहों का रूप धर लेने के कारण वह उस हिमालय का मानों स्वरूप धारण कर रहा था, जिस हिमालय ने अपनी जड़ता के कारण काष्ठ के सदृश समस्त जल को अचल रूप से स्तम्भित कर दिया है ॥३१॥ श्रीरामजी, तदनन्तर वर्षा होने लगी, इसने समस्त आकाशमण्डल को ब्रह्माण्ड के विस्फोट के सदृश अतिकठोर वज्रतुल्य निर्घात से छा दिया । इसने तो अखिल दिग्मण्डल को पहले से ही तुषार से व्याप्त कर दिया था ॥३२॥ भद्र, यह वृष्टि अग्निदाह के सदृश वन तथा आकाशमण्डल में विद्युत के प्रकाश से अतिभीषण लग रही थी, तथा अपनी चटचटाहट एवं गड़गड़ाहट से सारे ब्रह्माण्ड को तोड़ रही थी ॥३३॥ उत्पन्न हुए अनेक महान् सीत्कार के सैकड़ों शब्दों से उसने सिंहनाद के शब्दों को भी मात कर दिया था और शीतल

जलकण एवं नीहार से उसने आकाश को भी भित्तिबन्धनमय बना दिया था ॥३४॥ भद्र, पृथ्वी एवं आकाशरूप मण्डप के लिए निर्मित वैदूर्यमणि के (लहसुनियों के) स्तम्भों के समूह के सदृश भासुर धारासम्पातों से वह पृथ्वी का भार ढोनेवाले पर्वतों को भी तोड़ देनेवाला टंक-प्रहार कर रही थी ॥३५॥ पृथ्वी को चट-चट शब्द के साथ विदारित करने के कारण उसने अंगारों के समूह भी फोड़ दिये थे । गर्जना के साथ प्रबल जल के पातों से लोकान्तरों को गिराने में भी वह व्याकुल हो रही थी ॥३६॥ भद्र, तदनन्तर अंगारों से युक्त जगत्-रूपी घर में विलास करती हुई वह वृष्टि वाष्पशोभा की सखी के सदृश ज्वलनरहित पृथ्वी पर आकर मिल गई ॥३७॥ भद्र, वह गगनमण्डल, जो कि ज्वालाओं के खण्डों के विलासों से भरा था, उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, जैसे कि उसमें स्थल-कमलों के अनेक समूह उगे हुए हो तथा उस आकाश मण्डल में स्फुरित हो रहे, शीतल जलकणरूप पंखों के समूहों से युक्त मेघ ऐसे मालूम पड़ने लगे थे, जैसे कि ज्वालाओं में घुम रहीं भ्रमर पंक्तियाँ हों ॥३८॥ श्रीरामजी, उस समय बड़े भयंकर चटचट शब्दों से दिशाओं को भर देनेवाला जो मेघों और अग्नियों का समागम हुआ, वह एक दुसरे से पराजित न हो सकनेवाले वैरियों के विषम-अतएव महान् उग्र, कुशल सेनाओं के परस्पर तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से विनाशित उग्र शस्त्रयुक्त यानी परस्पर घात-प्रतिघातयुक्त-संग्राम के सदृश अति भयंकर लगता था ॥३९॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

पुष्करावर्तक मेघ की वृष्टिधारा से जर्जर एवं सात समुद्रों के विक्षोभ से धोये गये जगत् का पुनः वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, युगक्षय में जब पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु-इन चार महाभूतों का परम विक्षोभ हो गया, तब तीनों जगत् की जो स्थिति हुई, उसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥१॥ श्रीरामजी, उस समय तीनों जगत् उड़ रहे तमालवन के सदृश उड़ रहे भस्मरूप अभ्र-से भासुर हो गये तथा महासमुद्रों के भ्रमणशील महावतों के सदृश भ्रमणशील धूम्रों से व्याप्त हो गये ॥२॥ गीले काष्ठ आदि के जलने से उनमें कुछ धूम्रयुक्त नील ज्वालाएँ उठ रहीं थी, इन नील ज्वालाँशों के विलासरूपी क्रीड़ाओं से उनमें टिम-टिमशब्द हो रहे थे उन्होंने अपने भस्मरूपी अभ्रों के महान् ढेरों से लोकान्तरों के मध्य को भी भर दिया था ॥३॥ भद्र, उस त्रिलोकी में चारों ओर घनघोर वृष्टि का व्यापक जयघोष हो रहा था, वृष्टि के कारण आर्द्र लकड़ियों से छम-छम दीर्घ ध्वनि निकल रही थी, इससे यह प्रतीत हो रहा था कि मानों तुरही ही जयघोष कर रही हो ॥४॥ हे श्रीरामजी, समस्त त्रिलोकी में पाँच तरह के मेघ छा गये अर्थात् वह सारी त्रिलोकी भ्रमणशील भस्मरूपी मेघों से युक्त तथा धूम्ररूपी मेघों से व्याप्त हो गई । उसमें महाकल्प के मेघों का सौंदर्य छा गया । वाष्परूपी मेघों के विभ्रम से वह समन्वित हो गई । उद्भ्रान्त सीकरोंरूपी मेघों

ने उसमें अपना एक अच्छा स्थान बना लिया ॥५॥ ब्रह्माण्ड़भित्ति की अन्तिम सीमा तक हो रहे भांकार शब्दों से अति भीषण वायु के गमनों से आकाशमण्डल में उड़ाये गये दग्ध इन्द्रादिनगरों के समूह से वह व्याप्त हो गया था ॥६॥ उस समय वहाँ यह हालत रही कि जल, अग्नि एवं वायु का जो विविध ताण्डव हो रहा था उससे बड़े-बड़े पत्थर ऊपर की ओर उड़े जा रहे थे, इनका जो परस्पर आघात हो रहा था और जो उससे टंकारध्वनि निकल रही थी, उससे सबकी श्रोत्रेन्द्रियाँ (कान) जड़ हो गई थीं ॥७॥ आकाश में खम्भों के सदृश जल की अन्धाधुन्ध-अविच्छिन्न-धाराओं की वर्षा द्वारा जो कल्पान्त अग्नियों का विदारण (विनाश) हो रहा था, उससे वहाँ छम-छम शब्दों की घन ध्वनि हो रही थी ॥८॥ भद्र, उस समय त्रिलोकी के सारे समुद्र नदियों के समूहों से परिपूर्ण हो रहे थे जिनमें गंगाजी एक तरंग-सी प्रतीत हो रही थीं तथा वे समुद्र आकाशमण्डल के भयंकर मेघों के सदृश थे ॥९॥ उस समय त्रिलोकी में जो कल्पान्त मेघ बरस रहे थे, उन मेघों के आधार-पीठका तमालवृक्ष के पत्तों के नीचे लगने वाले पुष्पगुच्छों के सदृश तप रहे सूर्य मानों आस्वाद ले रहे थे ॥१०॥ उस समय पर्वतों के ऊपर से जो नदियों के समूह बह रहे थे, उनसे बड़े-बड़े पर्वत, द्वीप एवं नगर भी बह जाने लगे और कल्पान्त पवन के भयंकर क्षोभसे बड़े-बड़े पर्वत चूर्णित होने लग गये ॥११॥ ग्रह और तारों का समूह बड़ा ही उग्र एवं व्यग्र प्रतीत हो रहा था, ये एक दूसरे पर प्रहार करने में तुले हुए थे, अतएव ये वर्तुलाकार में परिणत होकर अन्त में गिर भी रहे थे, इसलिए आकाशमण्डल में भी इन्होंने पृथ्वी की अपेक्षा द्विगुण अलातलता को पैदा कर दिया था ॥१२॥ भद्र, सारे त्रैलोक्य में उस समय चारों ओर बहनेवाले प्रचण्ड पवन के कारण उत्पन्न हुए जल के पर्वताकार बड़े-बड़े तरंगों के आघातों से पर्वत टूट-फूट जा रहे थे और पर्वत प्रान्तों को कूट-कूटकर पवन प्रलय में ले जा रहा था ॥१३॥ घने जल कणों से युक्त वाष्प के मेघों से तथा कल्पकालीन नीलवर्ण के मेघों से सारी त्रिलोकी में सूर्यों के किरण समूह आवृत हो गये थे, इससे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार हो गया था ॥१४॥ श्रीरामभद्र, पर्वतों का आधारपीठ जो भूतल था वह तो एकदम जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड-खण्ड हो चुका था – इस स्थिति से लुढ़क रहे पर्वतों के पतनों से त्रिलोकी में सारे समुद्र महान् संकट में फँसे से मालूम हो रहे थे ॥१५॥ उठ रही तरंगो से ऊपर आकाश की ओर फेंक दिये गये पत्थरों द्वारा मेघों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले प्रलय पवनों ने उनकी सारी दिशाओं के तटों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ॥१६॥ ब्रह्माण्डभित्तिरूपी वक्षःस्थल में चोट पहुँचाने वाले, कठोर टंकारसहित प्रलय कालीन मेघ के समान वृक्षरूपी हाथों के आस्फोटों द्वारा परस्पर एकत्रित महासागर में छाती पीट-पीटकर वह सारा त्रैलोक्य रोने लग गया ॥१७॥ जल के अभाव से मरुस्थल के समान हो गये अधोभागवाले अन्तरिक्ष में स्थित हो रहे यानी उड़ रहे स्वर्ग, पाताल और भूलोक के सम्मिलित अनेक खण्डों से वह तीनों लोक आकाश को ढँकने लग गया ॥१८॥ तीनों लोक में प्रलयकालीन वायु द्वारा वेल्लित हुए मरे, अधमरे, जले तथा अधजले

अंगों वाले देव और दानव, सबके ऊपर एक–सी विपत्ति आनेपर भी परस्पर वैरदृष्टि रखने के कारण (📖) एक दूसरे को देखकर मारने के लिए हथियार घुमाने लगे ॥१९॥ 'अर्जुन वात' यह एक वातरोग विशेष का नाम है । जिसे यह रोग होता है उस रोगी को यह रोग आकाश में ले जाकर खूब नचाता है । परन्तु उस रोग में अर्जुन की वर्णता नहीं है, अतः उसका नाम आलम्बनशून्य न रहे, इस मतलब से कल्पान्त पवनों के द्वारा उड़ाये गये लोकान्तर के जीर्णतृणों ने स्वोद्भूत भस्मों द्वारा वात को सफेद बनाकर उस त्रिलोकी में अर्जुन वात नामक रोग का एक स्तम्भ खड़ा कर दिया यानी उसे आलम्बनयुक्त कर दिया ॥२०॥ कल्पान्त पवन से उड़ाये जा रहे शिला–समूहों से जो प्रहार हो रहा था उससे लोकान्तरों के तटप्रान्त लुढ़क रहे थे और वे गिर भी रहे थे, इससे महादुष्कालजनित कठोर शब्दों से वह सारा त्रैलोक्य व्याप्त हो गया था ॥२१॥ सम्पूर्ण जगत् कल्पान्त के प्रचण्ड पवनों के संगठनों से उत्पन्न पर्वतों की गुफाओं के भांकार शब्दों से भासुर तथा गिर रहे वर्तुलाकार में परिणत लोकपाल नगरों एवं अन्य नगरों से पूर्ण हो गया ॥२२॥ असुरों के समान घोर कर्कश शब्द करनेवाले वायुओं के द्वारा उड़ाये जा रहे वन समूह में संसृष्ट शीघ्रगति घोड़े आदि से सारा जगत् आवृत हो गया ॥२३॥ उस समय त्रैलोक्य आकाशमण्डल में नगर, जिले, दैत्य, अग्नि, असुर, नाग एवं आदित्यों के समूहों को –ऐसे धारण कर रहा था, जैसे मच्छरों के समूह को ॥२४॥ भद्र, उस समय तीनों जगत् का स्वरूप इस तरह दिखाई दे रहा था–बड़े–बड़े विशाल पर्वत नष्ट हो रहे थे, और देवमन्दिर भी टूट रहे थे–इससे जो उनके अनेक विभाग निकले वे उलटे–पुलटे हो गये यानी दोने या कठवत के समान ठीक विपरीत हो गये, इसलिए घरघर शब्दों के साथ ऊपर की ओर तो जल भर गया और नीचे की ओर निर्बाध अग्नि जलने लगी ॥२५॥ उस समय जल के पर्वताकार तरंगों के आघातों से दिक्पालों के नगर कुटे जा रहे थे और देव, दैत्य, इन्द्र, सिद्ध तथा गन्धर्वों के नगर छिन्न–भिन्न होकर पतनोन्मुख हो रहे थे ॥२६॥ प्रशान्त अंगारों के सदृश भासमान पर्वत आदि बड़े–बड़े पदार्थों का वायुओं के द्वारा ऐसे निःसारतापूर्वक कुट्टन हो रहा था, जैसे कि धूलि का ॥२७॥ जिनकी भित्तियाँ घूम रही थीं, ऐसे देव और दैत्यों के नगरों को,जो मेघों के जल के सदृश रत्नों से खनखन ध्वनि कर रहे थे, उस समय सारा जगत् छिन्न–भिन्न करने लग गया ॥२८॥ सारा आकाशमण्डल तो गिर रहे लोगों से युक्त सातों लोकों के घरों से तथा सागरों के सदृश चक्रों के आकार में घूम रहे देवताओं से व्याप्त हो गया ॥२९॥ आकाशमण्डल में जीर्ण शीर्ण पत्तों के समूहों के सदृश चंचल वायुओं के द्वारा वेल्लित अतएव गिर रहे, उड रहे दग्ध, अर्धदग्ध आदि पदार्थों से तीनों लोक व्याप्त थे–ऐसे पदार्थों की उस समय जगत् में भरमार दिखाई दे रही

(📖) ज्ञान के बिना, हजारों विपत्तियों के उपस्थित होनेपर भी अज्ञानियों की वैरदृष्टि कभी शान्त नहीं होती । वह वैरदृष्टि विपत्तियों से भी बढ़कर महाविपत्स्वरूप है, इसलिए प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह ज्ञानप्राप्ति के लिए कुछ भी उठा न रखे, यह इसका गूढ़ अभिप्राय है ।

थी ॥३०॥ भद्र, आकाश से झनझन शब्दपूर्वक गिर रहे सुवर्ण, स्फटिक, वैदूर्यमणि एवं नीलम आदि के मन्दिरों से तीनों जगत् उस समय पूर्ण हो गये ॥३१॥ उस समय धूम्र और भस्म के मेघ उठने लगे, वृष्टि के जल से पुरों के समूह आ गिरने लगे, बड़ी–बड़ी तरंगें उठने लगीं और भूतल, पर्वत आदि डूबने लगे ॥३२॥ आवर्त के सदृश घर–घर ध्वनि करनेवाले और परस्पर विदलन करने में उद्यत प्रौढ़ पर्वत, समुद्र में बिखरे पत्तों के सदृश, घूर्णित हो रहे थे ॥३३॥ भद्र, शिष्ट और देवगण उसमें क्रन्दन कर रहे थे, थोड़े से जीवन से युक्त दया के पात्र प्राणी रेंग रहे थे, सैकड़ों धूमकेतुओं के उत्पात उठ रहे थे, इससे जगत् अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हो रहा था ॥३४॥ पवनों के द्वारा उड़ाये गये मृत और अर्धमृत जीव–समूहों से, जो ठीक जीर्ण पत्तों के समान थे, सारा आकाशमण्डल पूर्ण हो गया ॥३५॥ उस समय सम्पूर्ण त्रैलोक्य पर्वत शिखरों के सदृश मोटी–मोटी गिर रही जलधाराओं के निर्झरों से आक्रान्त होकर पर्वतों तथा नगरों के समूहों को भी बहा देनेवाली परिपूर्ण सैकड़ों नदियों से बहने लग गया ॥३६॥ उस समय जगत् में अनेक शाखा–प्रशाखाओं में विभक्त अग्नि शमशम शब्दपूर्वक शान्त हो रही थी और चंचल समुद्रों के विविध विचलन–आन्दोलनों से लोल हुए पर्वतों के कारण जगत् के तट सुशोभित हो रहे थे ॥३७॥ उस काल में समस्त जगत् नदियों में मिली हुई तृणराशि के सदृश समुद्र में मिले हुए बड़े–बड़े द्वीपों के कारण बड़ा ही विकट लग रहा था। *(तत्त्व–ज्ञान से प्रदीप्त चिदाकाशरूप अग्नि से एक क्षण में नष्ट हो जानेवाले जगत् का प्रलय काल में जो देर से दाह हुआ, इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।)* तत्त्वज्ञान की दुर्लभता के कारण अत्यन्त दूर चिदाकाश में सारे जगत् की स्थिति क्षणभर भी ज्वाला सहने में समर्थ नहीं थी ॥३८॥ भद्र, उस समय त्रिलोकी में वृष्टि शान्त हो जाने के कारण अग्नि से उत्पन्न भस्म की गन्ध से देवगण गिरने लग गये और पहले उसमें जो चराचर भूतगण थे उनकी इस समय तो विस्मृति ही होने लगी ॥३९॥ भद्र, उस समय निरर्गल नाद का उल्लास हो रहा था, त्रिलोकी में सृष्टि का लोप हो जाने से क्रमशः उसमें शान्ति मालूम पड़ने लगी, वास्तव में सृष्टि के लोप से परमात्मा का ही विलास होने लगा। यदि तत्त्वदृष्टि से देखें तो सारा जगत् उत्पत्ति एवं विनाश से शून्य ही है ॥४०॥

अथवा सदा ही सृष्टि से और सृष्टिलोप से युक्त है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, अथवा यह जगत् निरन्तर परिवर्तनकारी वायु से निवृत है एवं निरन्तर बीजराशि के सदृश बार–बार पूरा हो जानेवाला है ॥४१॥ भद्र, अधिक क्या कहें, सारे जगत् में लुआठों के एक दूसरे के साथ हुए आघातों से अग्निचूर्ण और सुवर्ण जनित फैली हुई अपार धूलियों से आकाश का कोटर सुवर्ण कुट्टिम–सा बन गया ॥४२॥ उस समय सातवें पाताल तक जगत् अपने स्थान से च्युत द्वीप एवं सागरों से युक्त भूमण्डल के बड़े–बड़े खण्डों से एवं लुढ़कते हुए अन्य पाताल–मण्डल से पूर्ण हो गया ॥४३॥ नीचे सातवें पाताल तक, मध्य में भूमण्डल तक प्रलयवायुओं के

द्वारा सारा जगत् पूर्णरूप से एक समुद्राकार हो गया ।।४४।। हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह अकेला महासमुद्र धीरे-धीरे शीघ्रगामी सैकड़ों नदियों के द्वारा जल कल्लोलों से भुवन में ऐसे बढ़ने लगा, जैसे मूर्ख के चित्त में कोप ।।४५।। भद्र, तदनन्तर पहले तो मुसल के आकार में, फिर खम्भे के आकार में और फिर तालवृक्ष के आकार में उत्तरोतर अतिस्थूल घनघोर वृष्टि की धाराएँ गिरने लगीं ।।४६।। तदनन्तर नदी प्रवाह के उग्र जलपात के सदृश जलपात करनेवाली तथा सातों द्वीपों से युक्त भूपीठ के सदृश महास्थूल धाराओं से वृष्टि होने लगी ।।४७।। उक्त महावृष्टि से दाह करनेवाली अग्नि ऐसे शान्त हो गई, जैसे शास्त्र एवं सज्जनों की संगति से करोड़ों दुःखों से निबिड़ आपदाओं का स्थान (अज्ञान) शान्त हो जाता है ।।४८।। हे श्रीरामजी, जिसमें ऊपर और नीचे भ्रमणशील अनेक पदार्थ थे, भीतर जलकणों के कारण पर्वतरूपी मज्जा खनखन ध्वनि कर रही थी, ऐसा समस्त ब्रह्माण्डरूपी कोटर इस प्रकार विनष्ट हो गया, जिस प्रकार बालकों की कुत्सित (तोड़-फोड़ कारक) क्रीड़ाओं से चंचल हुआ विशुद्ध बिल्वफल विनष्ट हो जाता है ।।४९।।

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

नदी के रूप में गिरनेवाली घनघोर वृष्टिधाराओं से चारों ओर से आकाश को पूर्ण कर रहा जो एक महासमुद्र बढ़ा, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जब धरातल वायु, वर्षा, हिम और अनेक तरह के उत्पातों के आगमन से नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्र का जलवेग ऐसे वृद्धि को प्राप्त हुआ, जैसे कलि में राजा ।।१।। वह समुद्र आकाशगंगा के प्रवाहों में पतित मेघधाराओं के गिरने से खूब बढ़ा या उस तरह की मेघधाराओं से जनित हजारों नदी धाराओं से खूब बढ़ा । अकस्मात् उत्पन्न हुई मेरु एवं मन्दर पर्वत के सदृश भासुर तरंगों से बहाये जा रहे पर्वत कन्दराओं को उसने आदित्य के मार्ग में पहुँचा दिया । थोड़े में यही कहना है कि मूर्ख राजा के सदृश जल से मन्थर वह समुद्र बहुत ही उन्नत हो गया ।।२,३।।

सर्गसमाप्तिपर्यन्त उसी एकार्णव का वर्णन करते हैं ।

इस बढ़े हुए समुद्र ने अपने आवर्तस्वभाव के कारण बड़े-बड़े पर्वतों को जीर्ण तृण के समान पकड़ कर चक्कर में डाल दिया तथा चंचल उत्तुंग तरंगों के अग्रभागों से वह आदित्यमण्डल को भी निगल गया ।।४।। उसमें मेरु, मन्दर, कैलास, विन्ध्य और सह्य पर्वत तो जलचर-से हो गये और उसमें जो पृथ्वी गल गयी थी, उसके कीचड़ में भीतर लीन शेषादि सर्प कमलदंड से मालूम हो रहे थे ।।५।। उस समुद्र में अर्धदग्ध वृक्षों से युक्त वनसमूह तो शैवाल-सा लग रहा था और त्रिलोकी के भस्म से उत्पन्न कीचड़ से वह कुत्सित भी प्रतीत हो रहा था ।।६।। आकाश तो ठहरे कमलनाल ।

इन नालों में जो बड़ी कर्णिकाएँ थीं उनमें बीजभूत किरणों के द्वारा उत्ताल हुए बारह आदित्य ही उसमें कमल से प्रतीत हो रहे थे और धारासमूह रूपी महामेघ ही उसमें जल के ऊपर संलग्न होने के कारण विलिनप्राय कमलिनी के पत्ते थे ॥७॥ उसमें उत्पन्न झरनों के बड़े-बड़े पर्वतों के प्रान्तभाग में उन्मत्त मेघ शब्द कर रहे थे और घूम रहे इन्द्र, वायु, सूर्य, चन्द्र, ग्राम एवं नगरों के समूहों से वह भर गया था ॥८॥ उसमें उग्र सुर, असुर और मनुष्यों के समूह काठ के सदृश बह रहे थे। वह समुद्र धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ता हुआ आदित्यमण्डल को एक तरह से चाटने लग गया ॥९॥ भद्र, उस समय समुद्र में जो महागर्जना कर रहे मेघों से बुलबुले उठ रहे थे, उनको देखकर यह सन्देह हो रहा था कि ये महापर्वत तो नहीं बह रहे हैं ॥१०॥ उस समुद्र में इधर-उधर नाच रहे बुलबुलों पर कल्पान्त के महामेघ विश्राम कर रहे थे और स्वयं नाच भी रहे थे, वे बुल्ले एक तरह से आँखों की पुतली-से प्रतीत हो रहे थे। हाँ, प्रसिद्ध पुतलियों से इनमें विलक्षणता अवश्य थी, क्योंकि इनका आधारभूत मुख ही यहाँ नहीं था, इन पुतलियों से समुद्र समीप के दुसरे मेघ को मानों देख रहा हो - ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥११॥ भारी प्रवाह से युक्त जल के ओघ से जो भयंकर घोष हो रहा था, उससे आकाश को भी वह सावधान कर रहा था । अपने एक ही प्रवाह में उसने आकाश सहित सातों कुलपर्वतों को अपने उदर में कर लिया ॥१२॥ प्रचण्ड पवन के द्वारा उत्पन्न जो अपूर्व जलौघ थे उनसे उसने अपने अन्दर सातों कुलपर्वतों की मानों रचना कर दी थी, इन रचित कुलपर्वतों से उदित हुए घुरघुर महाध्वनि से घर्घर उग्र महाध्वनिपूर्वक उसका वेग असीम हो गया था ॥१३॥ ब्रह्माण्डखण्डों के परस्पर संघट्टनों का जो पुनः-पुनः आवर्तन हो रहा था, उससे उसकी उद्धता क्षण-क्षण में बढ़ती ही जा रही थी, और ऊपर-नीचे लाखों योजनों तक विस्तारवाले पदार्थों को अपने उदर में वह निगलता जा रहा था ॥१४॥ तरंगों पर जैसे तृण झूलते हैं, वैसे ही उसकी तरंगों पर महान् पर्वत झूल रहे थे, इन झूला झूल रहे पर्वतों के द्वारा पत्थरों को फेंककर वह सूर्य-मण्डल को भी नष्ट कर रहा था ॥१५॥ भद्र, उस शून्य ब्रह्माण्डरूप घोंसले के भीतर, जो कि एकमात्र विपुल जलसमूह से ही बना था, विद्यमान नील-पर्वत रूप महान् द्रोणकाक-पक्षियों का (डोम कौओं का) वह समुद्र अपने जलरूपी जालों से आहरण कर रहा-सा मालूम पड़ता था ॥१६॥

नील-पर्वत रूपी द्रोणकाकों का ही दो विशेषणों से वर्णन करते हैं ।

मृतक एवं जीवित प्राणियों के, मज्जन और उन्मज्जनों से व्याकुल तथा तरंग और मकराकार आवर्तों में प्रतिबिम्बित हुए जैसे नीलपर्वत रूपी डोमकौओं का जलरूपी जालों से मानों वह हरण कर रहा था ॥१७॥ भद्र, जो मरने से बच गये थे और अपने-अपने नगरों से च्युत हो गये थे, ऐसे जल के बल पर विश्राम किये हुए देवताओं को-मच्छरों के सदृश-फेनरूपी पर्वतों की तटों और कोटियों पर (शिखरों पर) धारण कर रहा था ॥१८॥ उस समुद्र में जो बुलबुले उठ रहे थे, वे उनके भीतर स्थित प्राणियों की दृष्टि से चाँदी के कड़ाहे के सदृश प्रतीत हो रहे थे, ये इतने विपुल थे कि

इस प्रसिद्ध आकाश के सदृश थे, और ये ठीक समुद्र के नेत्रों के सदृश प्रतीत हो रहे थे, इन सहस्र नेत्रों से वह ऐसे देख रहा था, जैसे इन्द्र ॥१९॥ शरत्काल के आकाश के सदृश विशाल उठ रहे बुद्‌बुदोंरूपी नेत्रों से वह नदियों के समान धारावाले चारों ओर लालिमा से व्याप्त मेघों को मानों देख रहा था ॥२०॥ हे श्रीरामजी, यह प्रलयकाल का समुद्र पंखसहित पर्वतों के तुल्य आविर्भूत हुए अनेक तरंगमण्डलों से पुष्करावर्तक आदि मेघों का मानो आलिंगन कर रहा था ॥२१॥ तीनों लोक के ग्रास से संतृप्त हुआ वह प्रलयकालीन महासागर घर्घर शब्दों से एक तरह का गीत गा रहा था और उग्र पर्वतरूपी कंकणों से अलंकृत तरंगरूपी भुजाओं से वह मानों नाच कर रहा था ॥२२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, धरा से शून्य वह सागर ऊपर नदी के सदृश धाराओंवाले मेघों से, मध्य में दग्ध पर्वतों से तथा नीचे पंक में रहनेवाले नागों से आवृत था ॥२३॥ निरन्तर गिर रही धाराओं से सुशोभित गंगाजी की बाढ़ से वह परिपूर्ण था। उसमें पर्वतशिखरों के डूबने और उतराने से पानी के झाग और बुलबुले उठ रहे थे ॥२४॥ उसमें बढ़ते हुए छिन्न–भिन्न स्वर्ग के अनेक खण्डों में देवतारूपी अनेक हंस विद्यमान थे। एकमात्र यही कारण था कि उसका आभ्यन्तर बहती हुई विद्याधरियों की पंक्तिरूपी पद्मिनी से बहुत ही सुन्दर दिख रही था ॥२५॥ एकमात्र समुद्रों के जलों की उस बाढ़ से घर्घरशब्दयुक्त, अतिवेगशाली सम्पूर्ण त्रैलोक्य के खण्डों के संहारक, बेरोक–टोक बहाये जा रहे उस महासागर में उस समय कोई संरक्षक नहीं था और ऐसा भी कोई प्राणी या पदार्थ न था, जो कि उसकी तरंगों की चपेट में न आ गया हो, यह दुःख की बात है । हे श्रीरामजी, इस संसार में काल के गाल में पड़े हुए प्राणी की कौन रक्षा कर सकता है ? ॥२६,२७॥ हे श्रीरामजी, और अधिक हम क्या कहें, सिर्फ यही कह देना पर्याप्त है कि उस समय आकाश नहीं था, दिगन्त नहीं था, ऊपर नहीं था, नीचा नहीं था, भूत नहीं था और न सर्ग था, किन्तु एकमात्र केवल जल ही जल विद्यमान था॥२८॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

उन्नासीवाँ सर्ग

प्रबोध द्वारा स्वप्न के बाध के समान, ऋषियों तथा देवताओं के समूह के सहित विधाता के निर्वाण का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तपोलोकपर्यन्त जब समूचा प्रदेश प्रलयकालीन एक महासागर के जल में डूब गया तब सत्यलोक के निकट आकाश में स्थित मैंने अपनी दृष्टि ऐसी फेंकी, जैसे प्रातःकाल में सूर्यदेव अपनी प्रभा फेंकते हैं ॥१॥ इतने में मैंने प्राणादि–उपासनाओं के द्वारा सालोक्यादि मुक्ति को प्राप्त हुए तथा ब्रह्माजी के साथ विदेह कैवल्य प्राप्त करने की इच्छा कर रहे जीवन्मुक्त परिवार के (📖) सहित ब्रह्माजी को पर्वत से विनिर्मित हुए–सा देखा ॥२॥ वहाँ

(📖) इस विषय में सुनिये क्या कहा है :

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद्म ।

मैंने अधिकारी देवों तथा भावितात्मा मुनियों के समूह को देखा । हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समूह के भीतर मैंने शुक, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण और अग्नि को देखा तथा इनके अतिरिक्त वहाँ मैंने और भी अनेक देवताओं और ऋषियों को देखा । इतना ही नहीं सुनिये–वहाँ देव, गन्धर्व, सिद्ध और साध्यों के नायक भी उपस्थित थे, मैंने उन्हें भी देखा । हे श्रीरामचन्द्रजी, पद्मासन लगाकर बैठे हुए, चित्रलिखित जैसे, ध्यान में परायण वे सबके सब निर्जीव के समान वहाँ स्थित थे ॥३–५॥

उसके बाद की घटना बतलाते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उसी स्थान पर वे प्रलय के बारह सूर्य भी आये और पद्मासन लगाकर वे भी सब भूत तुरंत उन्हींकी तरह बैठ गये, जिस तरह ये देवता और ऋषि बैठे हुए थे ॥६॥ इसके बाद मुहूर्तमात्र में मैंने सामने ब्रह्माजी को ऐसे देखा, जैसे सोकर उठा हुआ पुरुष स्वप्न में देखे गये पदार्थों को अपने सम्मुख उपस्थित देखता है । कहने का तात्पर्य यह कि जाग्रतअवस्था में स्वाप्निक पदार्थों का जैसे बाध होकर केवल आत्ममात्र परिशेष रह जाता है वैसे ही मैंने ब्रह्माजी को आत्ममात्र परिशेष ही देखा वही विधाता का विदेह केवल्य है ॥७॥

पूर्वोक्त विधाता के पारिवारिक लोगों में भी ऐसा ही कैवल्य हुआ, यह कहते हैं ।

ब्रह्माजी के परिवार के जितने लोग थे, उन सबको भी मैंने अपने सामने तत्त्वज्ञानियों की ज्ञान से बाधित पूर्ववासना की तरह बिल्कुल ऐसे नहीं देखा, जैसे सोकर उठता हुआ पुरुष स्वप्न काल में देखे गये नगर को अपने सामने उपस्थित नहीं देखता ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माजी के चरम–साक्षात्कार के समय सबके विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाने से उन ब्रह्मादेव का वह सारा ब्रह्माण्ड, जो उनके संकल्प से सिद्ध था, शून्य अरण्य की नाईं ऐसे हो गया, जैसे पृथिवी में किसी भयंकर आकस्मिक नाश के हेतु से विध्वस्त हुआ नगर ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ऋषि, मुनि, देव, सिद्ध तथा विद्याधर आदि वे सभी वैसे ही उस समय शून्यरूप हो गये, क्योंकि वे सब वहाँ से कहीं भी अन्यत्र नहीं गये ॥१०॥

नामरूप से शून्य भाव को प्राप्त होने पर भी स्वरुप से तो वे सबके सब निर्वाण रूप से ही स्थित थे, यह महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभव से दिखलाते हैं ।

इसके बाद आकाश में स्थित मैंने ध्यान से जाना कि वे सभी लोग तो ब्रह्माजी के समान ही नामरूप का परित्याग कर निर्वाण को प्राप्त हो गये हैं ॥११॥

वासनाकल्पित रूप का नाश हो जाने से वही उनकी वास्तवस्वरूप की प्राप्ति है, इस आशय से कहते हैं ।

वासना के विलीन हो जाने पर वे अदर्शन को प्राप्त होकर अपने विशुद्ध ब्रह्मस्वरुप में ऐसे आ गये, जैसे प्रबुद्ध–जागे हुए प्राणियों के स्वप्नकाल के लोक ॥१२॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं ।

हे श्रीरामजी, चिदाकाशरूप यह शरीर वासना के कारण ही स्पष्ट भासित हो रहा है । वासना के अभाव में तो ऐसे नहीं भासता, जैसे कि बोधवान् प्राणी को यानी जागे हुए जीव को स्वप्न नहीं भासता ॥१३॥ जैसे स्वप्न में आकाशगामी यह शरीर दीखता है, किन्तु जाग्रतकाल में नहीं दीखता, वैसे ही वासना रहने पर ही यह शरीर दीखता है तत्त्वज्ञान होने पर जब प्राणी की वासना बिल्कुल शान्त हो जाती है तब कुछ भी नहीं दीखता ॥१४॥

स्वप्न से उठने पर जाग्रतकाल में एकमात्र स्वाप्निक भौतिक पदार्थों का बाध होता है, लेकिन तत्त्वज्ञान होने पर तो आधिभौतिक आदि तीनों शरीर का बाध होता है, इतना विशेष है, इस आशय से कहते हैं ।

जाग्रत्काल में भी, वासना का सर्वथा नाश हो जाने से न तो आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर भासता है और न आधिभौतिक शरीर ही दीखता है अर्थात् वासना न रहने से वे दोनों नहीं भासते ॥१५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषय में स्वप्न का अनुभव ही दृष्टान्तरूप से लक्षित है । यह वृद्ध से लेकर एक बच्चे तक सबको अनुभूत है, श्रुतिसिद्ध (॥) है तथा पुराणादि में प्रतिपादित है ॥१६॥

इस तरह अपने तथा दूसरों के अनुभव से सिद्ध स्वप्न के बाध का जो अपलाप करता है यानी स्वप्नादि सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच को सत्यस्वरूप स्वीकार करता है, उसको तत्त्वज्ञानोपदेश देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है-वह प्रबोध के योग्य है ही नहीं, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो शठ स्वयं अपने को तथा दूसरों के अनुभव को भी स्वीकार नहीं करता अर्थात् अपने तथा दूसरों के अनुभव से सिद्ध स्वप्न के बाध का अपलाप करता है वह त्याज्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि मिथ्या सुप्त पुरुष को यानी सचमुच न सोये हुए पुरुष को भला कौन उठा सकता है ? ॥१७॥

फिर भी इस विषय में स्वप्न का दृष्टान्त तो उचित नहीं है, क्योंकि यह जो वर्तमान शरीर है इसमें पिता आदि का शरीर कारण है, परन्तु स्वप्नशरीर तो ऐसा नहीं है । स्वप्नशरीर के अत्यन्त असद्रूप होने से यह विषम दृष्टान्त है, ऐसी परिस्थिति में प्रतिवादी को नास्तिक कहलाने के लिए तैयार रहना होगा, यह कहते हैं ।

इस शरीर का कारण पिता आदि का शरीर है, इसलिए यह दिखाई देता है, किन्तु स्वाप्निक शरीर का कारण तो पिता आदि का शरीर नहीं है, इसलिए वह नहीं दिखाई देता, यदि कोई यह शंका करे, तो उसकी यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो उसके मत से इस पार्थिव शरीर से रहित प्राणी का, जो यज्ञादि के द्वारा स्वर्गीय शरीर प्राप्त करनेवाले हैं उनका परलोक भी नहीं है । ऐसी दशा में हमें उसको नास्तिक कहने में तनिक भी संकोच न होगा ॥१८॥

पिता आदि का शरीर जिस देह का कारण है उस देह को भी सर्वथा असद्रूप माननेपर तो

(॥) देखिये यह श्रुति - तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः ।

सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ को भी असद्रूप होने में कोई अड़चन न होगी और उस दशा में उनकी सर्गादि–अर्थक्रिया भी मिथ्या ही सिद्ध होगी, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस रीति से यदि यह सब असद्रूप होता, तो पूर्वसृष्टि के प्रलय के अन्त में सब शरीरों का सर्वथा क्षय होने पर इस सृष्टि के आदि काल में शरीर हेतुक शरीर न रहने से यह सृष्टि भी न होती । और यह सृष्टि सबकी आँखों के सामने सर्वदा विद्यमान हैं ही (इसलिए यह सृष्टि नहीं है, यह कोई कहने का साहस नहीं कर सकता) ॥१९॥ पृथिवी आदि पंचभूतों के सावयव होने से विभागों का अवसान हो जानेपर संयोग का विनाश ध्रुव है । अतः अवयव विभाग स्वरुप इस जगत् का जब विनाश अवश्यंभावी है तब इस दशा में 'यह जगत् कभी इस अविच्छिन्नप्रवाह से विपरित नहीं है, यह जैमिनीय मत अप्रतिष्ठित है–असंगत है ॥२०॥

यहाँ पर प्रसंगवश चार्वाक मत का भी खण्डन करने के लिए अनुवाद करते हैं।

पृथिवी आदि जो चार भूत हैं वे ही चार प्रकार के देहाकार से तथा घट, पट आदि के आकार से सम्मिलित होकर 'जगत' नाम से कहे जाते हैं । पृथिवी आदि भूतस्वरूप होने के कारण उस जगत् का कभी नाश नहीं होता । जब ये चारों भूत एक जगह मिल जाते हैं तब ज्ञान तथा इच्छा आदि गुणोंवाला इन चारों के धर्मों का समुदायरूप एक शरीर तैयार हो जाता है, जिसमें हाथ, पैर आदि अनेक अवयव विद्यमान रहते हैं। और वह शरीर भी उस हाथ, पैर आदि अनेक अवयवों की नाना प्रकार की रचनाओं के कारण मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जाति का हो जाता है । तथापि इन चारों भूतों के मध्य में किसी भी एक भूत में ज्ञप्ति नहीं दिखाई देती तथापि जिन द्रव्यों से मदिरा तैयार की जाती है उन्हें पीसकर जल तथा नमक के साथ एकत्र मिला दिये जाने पर उन एकत्र मिले हुए द्रव्यों में जैसे कालपाकादि द्वारा मदशक्तिरूप एक विलक्षण गुण आविर्भूत हो जाता है उसी तरह देहाकार में परिणत हुए पृथिवी आदि इन चारों भूतों में ज्ञप्तिरूप गुण आविर्भूत हो जाता है । इसलिए ज्ञप्ति तथा इच्छा आदि गुणों से सम्पन्न यह शरीर ही आत्मा है । भाई चार्वाक, यदि यह तुम कहते हो तो इसका उत्तर सुन लो ॥२१॥ तब तो (✎) सम्पूर्ण वस्तुओं का संक्षय बतलानेवाले (▲) अठारह पुराण, महाभारत आदि इतिहास, ऐहिक और पारलौकिक आत्मा के हित और अहित तथा धर्म और अधर्म के प्रतिपादक मनु आदि स्मृति एवं सदाचार आदि–ये सबके सब व्यर्थ हो जायेंगे ॥२२॥ यदि यह कहो कि हम देहात्मवादी चार्वाकों के मत में उन वेदादि शास्त्रों की व्यर्थता और अप्रामाण्य इष्ट ही है । वे सबके सब अप्रमाण हो जायें, इसमें हमारी हानि क्या है ? तो इस पर हमारा यह कहना है कि हे महामते चार्वाक निर्दोष उन वेद, पुराण आदि शास्त्रों का (📖) इस

(✎) अर्थात् तुम्हारे कहने के अनुसार तो ।

(▲) अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और वैज्ञानिक ये जो चार तरह के प्रलय होते हैं उन्हें बतलानेवाले ।

(📖) जो शिष्टसम्मत हैं ।

अर्थ में (卐) अप्रमाण्य हो जाने पर 'इस वन्ध्या स्त्री ने सौ लड़के पैदा किये' इस वाक्य के समान भोगलंपटता लोभ द्वेषादि हजारों दोषों से तुष्ट तुम्हारा वाक्य भी क्या प्रमाण होगा ? हमें तो उसकी सम्भावना भी दुर्लभ है ॥२३॥ तुम्हारे कथन को लोक में विद्वान लोग स्वीकार नहीं करते, क्योंकि बिना कारण और प्रयोजन के सृष्टि आदि का संभव न होने से तुम्हारे मत के अनुसार तो जगत् का उच्छेद प्रसंग अनिवार्य होगा। किंतु, देहात्मवाद में क्या सभी अवयव ही आत्मा हैं या अवयवी ही ? प्रथम पक्ष में तो यह दोष आता है कि अनेक चेतनों में सर्वदा ऐकमत्य न होने से वैमत्य के कारण देह का सभी अवयव उन्मथन करने लग जायेंगे । अब रह गया दूसरा पक्ष, उस पक्ष में यह दोष आता है कि हाथ आदि किसी एक अवयव के कट जाने पर अवयवी का नाश हो जाने से जीवन का ही अभाव हो जायेगा – इत्यादि और भी हजारों दोष हैं ही, यह सब अलग रहे । हे चार्वाक, इस मेरे कथन से कायाकार में परिणत भूतसंघात में मदशक्ति की नाईं ज्ञप्तिगुण पैदा हो जाता है, यह जो तुमने कहा है उसका भी उत्तर हो गया और भी तुम अपने मत में मेरा यह एक दूसरा दूषण सुन लो ॥२४॥ यदि ऐसा मान लिया जाय कि जैसे मदशक्ति-आत्मक द्रव्य में मदशक्ति विद्यमान रहती है वैसे ही भूतसंधात में, जो कि ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानगुण रहता है तब तो गुणी देह का नाश हो जाने पर गुण का भी अवश्य नाश हो जाने से (दूसरे देशों में मरे हुए जीव देह के नष्ट हो जाने पर अपने देश में पिशाचादि का शरीर धरकर कैसे चले आते हैं तथा दूसरों के शरीरों में प्रविष्ट होकर अपने पूर्वजन्म के आत्मीयों को पहचान कर उनके साथ बातचीत आदि कैसे करते हैं अर्थात्) प्रदेशान्तरों में मरे हुए व्यक्तियों की पिशाच आदि देहता जो लोक में प्रसिद्ध हैं वह सिद्ध न होगी ॥२५॥ यह पिशाचादि की कल्पना भी भ्रान्ति ही है, क्योंकि पिशाचों को हमने अपनी आँखों के सामने उपस्थित हुए आजतक नहीं देखा और हमारे मत में प्रत्यक्ष के सिवा और कोई दूसरा प्रमाण है ही नहीं । प्रत्यक्षातिरिक्त दूसरे प्रमाण की संभावना ही नहीं है, क्योंकि सैकड़ों बार पार्थिवत्व और लोह-लेख्यात्वादि का सहचारग्रह होने पर भी वज्रमणि आदि में व्यभिचार देखा गया है । उत्पातादि अन्य समय में गाय के पेट से गदहे की उत्पत्ति भी देखी गई है तथा देवतादि की प्रतिमाओं से भी बिना अग्नि के भी धूम्र उठते देखा गया है । तथा सर्वत्र लिंगों में देशान्तर और कालान्तर में व्यभिचार शंका का निवारण नहीं किया जा सकता, इसलिए आप के अनुमान प्रमाण का तो बिलकुल योग नहीं है । सादृश्य के विषय में यत्किंचित् या पूर्ण-यों विकल्प होने से उपमान प्रमाण का योग नहीं बैठता । इसी तरह अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी प्रमाण नहीं हो सकते । पिशाचग्रस्त पुरुष का पिशाचवाग्व्यवहार भी जब तक देह विद्यमान रहता है तभी तक दीखता है उसके मरण के बाद नहीं । इसलिए उस देह को ही सान्निपातिक भ्रान्ति की तरह 'मैं पिशाचग्रस्त हूँ, यह व्यर्थ की भ्रान्ति है । यदि यह सब तुम कहो, तो तुम्हारा यह सब कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि

(卐) प्रलय, धर्माधर्म एवं आत्मतत्त्वरूप अर्थ में ।

तुम्हारी ही बातों से इन सबका खण्डन हो जाता है । इसमें प्रबल कारण यह है–प्रत्यक्ष के अतिरिक्त यदि सभी अप्रमाण हैं, तो फिर चार्वाक का वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त है । चूँकि अनुमान प्रमाण को तुम मानते नहीं हो, इसलिए युक्ति से तुम अपने मत का तो कदापि समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमान रूप होने से वे युक्तियाँ भी प्रमाण नहीं हो सकतीं । दृष्टान्त तो तुम दे ही नहीं सकते, क्योंकि सादृश्य के उपमानगम्य होने से वह तुम्हारे मत से प्रमाण के बाहर है । स्वपक्ष में अनुकूल और परपक्ष में प्रतिकूल तर्क भी तुम नहीं उपस्थित कर सकते, क्योंकि तर्क के अन्वय–व्यतिरेकव्याप्तिघटित होने के कारण उसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते । आपत्ति और व्यतिरेक ये दोनों अनुपपत्ति और अनुपलब्धि के अधीन रहते हैं, इसलिए यदि इनका तुम स्वीकार करते हो, तो तुम्हें अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को प्रमाण रूप से स्वीकार अनिवार्य होगा। अतः ये जो छः प्रमाण हैं, वे सबके सब सत्य हैं, यह तुम चार्वाकों को मानना ही पड़ेगा ॥२६॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे आपको क्या लाभ है, यह कहते हैं ।

इस तरह यदि तुम शब्द का प्रामाण्य मान लेते हो, तो फिर निर्दोष श्रुति को तुम्हें प्रमाण माननें में कोई आपत्ति न होगी । जब श्रुति प्रमाण है तब 'परलोक, स्वर्ग, नरक आदि सब सत् है'–इत्याकारक श्रुतिजन्य संवित् भी क्यों न सत्यता को यानी प्रामाण्य को प्राप्त होगी ? कहने का तात्पर्य यह कि यदि अन्य के बोध के लिए शब्द प्रमाण है, तो फिर परलोक, स्वर्ग, नरक तथा उनके प्रतिपादक श्रुति, स्मृति आदि शब्द भी क्यों न सत्य प्रमाण होंगे ? क्योंकि जितने ज्ञान हैं उनमें स्वतः प्रामाण्य है, इसमें तो किसी को भी विवाद नहीं है, हाँ, यह बात दूसरी है कि कारणदोष तथा बाधक ज्ञान से उसका कहीं पर अपवाद हो जाता है । लेकिन यहाँपर तो न कोई कारण में दोष है और न 'स्वर्ग, नरक आदि नहीं है' ऐसा बाधक प्रमाणज्ञान ही है ॥२७॥

'अथ साऽपि मुधा भ्रान्ति०' यह जो ऊपर कहा है, उसमें दोष दिखलाते हैं ।

अन्य शरीर में स्थित पिशाच की–सबके अनुभव से सिद्ध पिशाचग्रस्त शरीर में पिशाचविषयिणी–प्रमा ज्ञानों के स्वतः प्रामाण्य होने से ही लोक में सत्यरूप से प्रसिद्ध हैं । वह भी यदि सत्य न प्रमाणित हुई, तो फिर मदिरा पीकर उन्मत्त बने हुए पुरुष की प्रतिभा भी कदापि सत्य प्रमाणित न होगी, जो मदशक्ति–समन्वित द्रव्यगत मदशक्तिविषयक है । अमत्त पुरुषों के अनुभवसिद्ध अर्थों का खण्डन करनेवाले तुम ठहरे, तुम्हारी प्रमत्त पुरुष की प्रतीति से सिद्ध मदशक्ति का दूसरा कोई कैसे नहीं खण्डन कर सकता ? ऐसी दशा में तुम्हारी दृष्टान्त असिद्धि के कारण ज्ञान में भूतगुणत्व की सिद्धि न हो सकने से परलोकात्मक स्थिति का यानी स्वर्गनरकादि स्थिति का तुम भला कैसे खण्डन कर सकते हो ? ॥२८॥ सर्वजन प्रसिद्ध ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य होने से 'पिशाच है' यदि यह संवित् सत्यार्थ है, तो फिर मृत प्राणी का भी परलोक है यानी कोई–न–कोई दूसरा लोक

अवश्य है, यह श्रुतिजन्य प्रतीति भला सत्य क्यों न सिद्ध होगी, *(क्योंकि जो युक्ति तुम उपस्थित कर रहे हो उसी युक्ति के बल से हम मृत प्राणी के परलोक का अस्तित्व सिद्ध कर रहे हैं । हमें युक्ति ढूँढ़ने के लिए कहीं और जगह जाने की आवश्यकता नहीं है)*॥२९॥ और सुनो, पिशाचग्रस्त की पैशाची ज्ञप्ति श्रुति समान किसी दृढ़तर प्रमाण से जन्य नहीं है, किन्तु 'काकतालीय' न्यायवत् आकस्मिक है–अचानक उदित हुई है । ऐसी ज्ञप्ति भी यदि स्वानुभूत होने से प्रमा है, तो फिर श्रुति आदि दृढ़तर कारणों के सहित विद्यमान परलोकार्थ संवित् भला प्रमा क्यों नहीं है ? ॥३०॥

एकमात्र अपने अनुभव के बल पर अर्थसत्ता का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि युक्ति में रजत का अनुभव होने पर भी उसमें अर्थसत्ता नहीं दीखती, यह आशंका कर कहते हैं ।

जो संवित् जिस पदार्थ की सत्ता को अपने भीतर जैसी जानती है उस पदार्थ की सत्ता को वह अपने भीतर वैसी ही भलीभाँति अनुभव करती है। शुक्ति रजतसंवित् स्वप्रतिभासकालिक अर्थसत्ता का अवगाहन करती है, परन्तु पूर्वकाल की संवित् का जब 'यह रजत नहीं है' इस उत्तरकाल की संवित् से बाध हो जाता है तब यह उत्तरकाल की बाधसंवित् सीप में चाँदी की त्रैकालिक असत्ता बतलाती है । ऐसी स्थिति में प्रथम संवित् के बल से रजत में प्रातिभासिक सत्ता रहे या द्वितीय संवित् के बल से असत्ता रहे, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि अनुभव से दोनों ही सिद्ध है । *(अनुभव का सहारा लिये बिना अर्थ के रूप का अपलाप करना कोई बच्चों का खेल नहीं है)*॥३१॥ जीवितदशा में देह के उपस्थित रहने पर श्रुति आदि प्रमाण के बल से अथवा मृतदशा में देह के उपस्थित न रहने पर स्वप्नवत् एकमात्र प्रतिभास के बल से 'परलोक है'–इत्याकारक अनुभवस्वरूप संवित् यदि अवश्य होगी ही, तो फिर उस मृत्यु से क्या ? जीवित प्राणी के अनुभव से सिद्ध सत् है और मृत के अनुभव से सिद्ध असत् है अथवा इसके विपरीत प्रकार से है, इसका अपलाप ही क्यों होगा–दोनों में किसी का भी अपलाप नहीं किया जा सकता । इस तरह श्रुति आदि प्रमाण हैं, यह सिद्ध हो गया॥३२॥

यदि वह चार्वाक यह कहे कि कायाकार में परिणत हुए भूतों से संवित् का उद्‌भव होता है, इसलिए शरीर के नष्ट हो जाने पर मृत प्राणी को पारलौकिकी बुद्धि ही न उत्पन्न होगी, तो इसपर उससे कहना यह चाहिये कि हे मित्र, संवित् शाश्वत है, स्वतः सिद्ध है, प्रस्तुत उसकी सिद्धि के बल से ही वासनामय आतिवाहिक देह, तत्कल्पित स्थूल देह तथा बाह्यप्रपंच की पीछे सिद्धि होती है । वासना के सिवा कोई अन्य दृश्यप्रपंच की सिद्धि में हेतु नहीं है, इसलिए संवित् की उत्पत्ति देह के अधीन नहीं है। यह सूचित करते हुए महाराज वसिष्ठजी उस चार्वाक के प्रति वचन का उपसंहार करके 'वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः' इत्यादि श्लोक से पहले जो यह उपक्रम किया गया है कि एकमात्र वासना के क्षय से ही सम्पूर्ण दृश्य का उच्छेद होता है इस उठाई गई बात का समर्थन करने के लिए प्रस्ताव करते हैं ।

इसलिए (▲) ज्ञानस्वभाव परमात्मा स्वप्रकाशस्वरूप होने से स्फुरित होते हुए समस्त व्यवहार से पहले निजस्वरूपभूत संवित् को जानता है जो स्वतः नित्यसिद्ध है, जैसे अग्नि अपनी उष्ण्यप्रकाशरूपता को जानती है । उसके बाद वासनाओं की उत्पत्ति में उपादान कारण सर्वजगत् की वासनामय आतिवाहिक देह को जानकर फिर स्थूल देहादि संसार के भ्रम को देखता है । कहने का तात्पर्य यह है कि सबसे पूर्वसिद्ध संवित् की सिद्धि देह के अधीन नहीं है ॥३३॥

अतएव एकमात्र वासना के क्षय से ही सूक्ष्मशरीरक्षय द्वारा सम्पूर्ण अनर्थों का क्षय सिद्ध है, यह कहते हैं ।

वासना के क्षय से द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप रोग शान्त हो जाता है था वासना की सत्ता रहने पर यह संसृतिनामक पिशाचिका उदित होती है ॥३४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को संसार रचने की इच्छा (📖) उत्पन्न होती है । तदनन्तर पूर्वकाल की जगद्वासनाओं का जगत्–रूपसे उद्भव होता है । इसलिए वासना की शान्ति को आप निवार्ण समझिये और उसकी सत्ता को संसार रूप भ्रम जानिये ॥३५॥

यह कहिये कि वासना उत्पन्न कैसे हुई ? ब्रह्मसे तो वह उत्पन्न हुई नहीं, क्योंकि उसके तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इत्यादि श्रुतियों से कारण होने का निषेध है तथा असंग, कूटस्थ और अद्वय प्रतिपादक श्रुतियाँ भी इसी का समर्थन करती हैं । पूर्वकल्पीय जगत् से वह वासना उत्पन्न होती है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो प्रलयकाल में स्वयं नष्ट हो जाता है उसमें दूसरे को पैदा करने की शक्ति ही कहाँ रह सकती है ? यदि यह कहिये कि प्रलय में जगत् नष्ट नहीं होता, वह स्वयं ही चरमभाव विकार से सूक्ष्म होकर स्थित रहता है, इसलिए उसकी उस तरह की स्थिति ही वासनात्मक प्रलय है, तो यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि इस पर मैं आपसे यह पुछता हूँ कि वैसी जगत् की स्थिति क्या प्रलय में अपनी सत्ता से रहती है या ब्रह्मकी सत्ता से ? यदि आप यह कहें कि अपनी सत्ता से रहती है, तो आपके इस पक्ष में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्बितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से विरोध पड़ता है । अब रहा आपका दूसरा पक्ष, इसमें हमारा यह कहना है कि जो स्वतः असत् है वह भला दूसरे की सत्ता से स्थित रहता है यह कहना तो एक जबर्दस्त मिथ्या प्रलाप ही होगा न ? इसलिए दोनों पक्ष में सृष्टि और प्रलय में कोई विशेष आपत्ति न होने से अभासमान की सत्ता प्रसिद्धि के अभाव में जगत् नष्ट होता है और स्थित भी रहता है, यह कहना तो 'वदतो व्याघात' दोष से ग्रस्त ही है । ठीक है, यह सब आपका कथन हम मान रहे हैं । सुनिये, प्रलय या पूर्वसर्ग में वह वासना उत्पन्न ही है, यह आप कैसे कहते हैं, यह तो

(▲) अर्थात् चूँकि वेदादि प्रमाण सिद्ध हो गया है तथा ज्ञानों में स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि हो चुकी है, इसलिए।

(📖) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' – इत्यादि श्रुति देखिये ।

आप कह नहीं सकते कि वह वासना उत्पन्न ही है, क्योंकि असंग अद्वय परब्रह्म में अनुत्पत्ति तो आप पहले ही कह चुके हैं । फिर भी अद्वितीय ब्रह्मबोध के उपायरूप से जब तक बोध नहीं हो जाता, तब तक के लिए आप कृपाकर 'वह वासना भी पहले किसी एक निमित्त से अवश्य उत्पन्न हुई है, यह स्वीकार कर लीजिये, क्योंकि बिना कारण के जगत् की उत्पत्ति नहीं होती, यह शास्त्रसिद्ध है ।

हाँ, ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद तो फिर सारा संसार ही सद्रूपब्रह्म है और वह वासना भी परब्रह्मस्वरूप ही है।।३६।।

बिना असंग अद्वय ब्रह्म का श्रुतियों से परिज्ञान किये वासना की अनुत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है । ब्रह्म का परिज्ञान हो जाने पर तो सम्पूर्ण संशयों के बीजभूत अज्ञान का उच्छेद हो जाने से निर्वाण ही सम्पन्न है । इसलिए वासना की उत्पत्ति आदि में अनुपपत्ति की शंका करना ठीक नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

इतना जो यह परिज्ञान है उसीको तत्त्वज्ञ लोग निर्वाण कहते हैं । इसलिए हे राघव, इस ब्रह्म के विषय में जो प्राणी का अपरिज्ञान है उसी को आप बन्ध समझिये ।।३७।। विज्ञानघन यह आत्मा ही प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक भी है । ज्ञात होने पर यह स्वयं ही स्वप्नरूप से अन्दर स्फुरित होता है तथा ज्ञात न होने पर यानी श्रुति आदि प्रमाण लाभ के पहले यह बिल्कुल स्फुरित नहीं होता ।।३८।। 'मैं बद्ध हूँ' इस भावना से बन्धदर्शन और 'मैं नित्यमुक्त हूँ', इस भावना से मोक्षदर्शन जब आत्मा को अत्यन्त कोमलात्मा एकमात्र संविदंश के परिवर्तनमात्र से प्राप्त होता है तब भला उसके साधन में क्लेश ही कितना है ?।।३९।।

इसको परीक्षक लोग व्युत्थान और समाधि तथा व्युत्थान और सुषुप्ति के द्वारा स्पष्ट देख सकते हैं, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संवित् को यानी चित्त की वृत्ति को बहिर्मुख कर देने पर बन्ध और उसको समाधि द्वारा आत्मा में लीन कर देने पर निर्वाण प्राप्त होता है । संवित् के उद्बोधनरूपी उदरवाला यह असत् संसार सत् के समान भासता है । इसका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति को बहिर्मुख कर देने पर यह असत् संसार सत् के समान भासित होता है ।।४०।। सुप्त और अजड़ वेदन 'मोक्ष' कहलाता है तथा प्रबुद्ध वेदन को तत्त्वज्ञानी लोग बन्ध कहते हैं । इसलिए इन दोनों में आपको जिसकी इच्छा हो उसे चुन लीजिये ।।४१।। हे श्रीरामचन्द्रजी, बन्ध-मोक्ष आदि की सारी शंकाएँ छोड़कर आप निवार्णरूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, स्वच्छ बोधस्वरूप, अद्वैत और ऐक्यसे रहित, अशून्य (परिपूर्ण) ब्रह्मस्वरूप बनकर आकाशकोश के सदृश विशद् अन्तःकरण से युक्त, शान्त एवं बन्धन से बिलकुल मुक्त होकर स्थित रहिये ।।४२।।

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सीवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में वैज्ञानिक तत्त्वदृष्टि से प्रलयक्रम का वर्णन हो चुका । अब योगिगम्य अन्य प्राकृत प्रलयक्रम का वर्णन।

विधाता की वासना से कल्पित उनके लोक, देव, भुवन आदि समस्त प्रपंच का जो प्रारब्धक्षय के अनन्तर क्षणभर में ही उत्पन्न हुए साक्षात्कार द्वारा बाध है तद्रूप वैज्ञानिक प्रलयका, जो स्वप्नबाध के सदृश है, उसका मुक्त पुरुषों की दृष्टि से 'नापश्यं स्वप्न नगरं बुध्यमान इवाग्रगम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उपपत्तिपूर्वक पूर्व सर्ग में वर्णन हो चुका। अब बुद्ध पुरुषों की दृष्टि से, विधाता की देह, उसके आरम्भक उपाधियों तथा उसके इन्द्रिय आदिकों का अपने-अपने कारण में लय द्वारा मायाशबल ब्रह्म में लयरूपी प्रलय का उपवर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह आये हुए वे सभी ब्रह्मलोकनिवासी अदृश्यरूपता को ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे बत्ती से रहित दीप ॥१॥ इसके अनन्तर जब विधाता की देह मायाशबल ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो गई तब पूर्वोक्त वे उन बारह आदित्यों ने, जो प्रकाशमयी ज्वालाओं से युक्त थे, पृथिवी आदि की तरह उस ब्रह्मलोक को भी भस्मीभूत बना डाला ॥२॥

प्रारब्धवश अधिकार का अन्त हो जाने पर आदित्य आदि जितने अधिकारी जीव थे, वे भी चरमसाक्षात्कार द्वारा अपने-अपने समस्त प्रपंच का नाश हो जाने से पूर्वोक्त के समान ही विदेहकैवल्य को प्राप्त हो गये, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, विधाता के नगर को जलाकर तथा विधाता के समान ही स्वयं ध्यान करके वे आदित्य आदि भी निर्वाण को ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तेल और बत्ती से रहित दीप ॥३॥

उसके बाद का दृश्य कैसा था, यह कहते हैं ।

तदनन्तर सुन्दर विशाल तरंगों से युक्त महासागर की बाढ़ ने विधाता के नगरान्तर को ऐसे परिपूर्ण कर दिया, जैसे रात में सारी पृथिवी को अन्धकार ॥४॥ ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा जगत्, केवल एकमात्र रससे परिपूर्ण पके हुए अंगूर के फल के सदृश, जल से परिपूर्ण हो गया ॥५॥ उन अनेक तरह के तरंगों से तैरते हुए पर्वत समूहों तथा देवादिशरीरों से तोड़-फोड़ दिये जाने के कारण छिन्न-भिन्न हुए कल्पान्तों के पुष्करावर्त आदि मेघ सब जल में ही विलीन हो गये ॥६॥ इसी बीच में वहाँ मैंने कोई एक भयंकर रूप देखा, जो आकाश से यानी ठीक आकाश के मध्य से अभ्युदित हुआ था । मैं वह रूप देखते ही मारे भयके काँप गया ॥७॥

भय के कारणरूप अद्भूत विशेषणों से उसी रूपका वर्णन करते हैं ।

कल्पान्त जगत् के आकार के समान, आकाश को भर देनेवाला काला वह रूप देखने में ऐसे प्रतीत हो रहा था, मानों कल्पान्त का प्रत्येक रात का एकत्रित हुआ सारा अन्धकार शरीर धारण करके सामने आकर खड़ा हो रहा हो ॥८॥

रंग में काला होते हुए भी वह अपने तेज से चमक रहा था, यह कहते हैं ।

लाखों तरुण आदित्यों के प्रकाशमय तेज को वह धारण कर रहा था । देदीप्यमान स्थिर बिजली के समूह-जैसे तीन सूर्यों के सदृश नेत्रों से युक्त उसका मुख तो बहुत ही ज्यादा चमकदार दीखता था। वह ज्वालाओं के पुँज को खूब उगल रहा था । उसके पाँच मुख थे, दस भुजाएँ थीं और तीन उसके नेत्र थे । वह अपने हाथ में त्रिशूल लिये हुए था, अन्तशून्य आकाश में वह मानों आ रहा था, उसका आकाश की तरह विशाल आकार था, दीप्त मेघ की तरह श्याम शरीर धारण कर वह स्थित था । एकमात्र महासागर के परिपूर्ण ब्रह्माण्ड के बाहर आकाश में वह अवस्थित था, हाथ, पैर आदि के रचनाविशेषों से लक्षित वह आकाश-जैसा था । अपनी नाक की श्वासवायु के गमनागमन से वह उस एक महासागर को कम्पित कर रहा था । वह अपने भुजदण्डों से क्षीरसागर को क्षुभित कर देनेवाले गोविन्द भगवान् के सदृश था । उसे देखने से ऐसा मालूम हो रहा था कि महाप्रलयकालीन सभी समुद्रों की बाढ़ ही मानों पुरुषाकार से स्वयं उपस्थित हो गयी है, तथा सबका कारण होने से स्वयं कारणरहित सर्वसमष्टिरूप अहंकार ही मूर्तिमान् होकर आ गया हो । प्रतीत हो रहा था कि मानों उड़ने में अत्यन्त कुशल अपने पंखसमूहों से समस्त कुलपर्वतों के महावृन्द ने ही स्वयं अपने स्थान से उड़कर सारे आकाश को पूर्ण कर दिया है । वैसा रूप देखने के अनन्तर त्रिशूल तथा तीन नेत्रों से 'यह भगवान् जगदीश्वर रुद्र हैं' ऐसा मैंने दूर से ही उस भगवान् परमेश्वर को नमस्कार किया ॥९-१६॥

'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियों में महेश्वर नाम से प्रसिद्ध तो मायाशबल निराकार ब्रह्म ही है, फिर परमेश्वर किसलिए किन उपाधियों से पंचमुख आदि से विशिष्ट मूर्ति धारण करता है ? अथवा सर्वात्मक का परिच्छिन्न मूर्तिभाव कैसे हो जाता है ? यों विशेषरूप से जानने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, सभी श्रुतियों में प्रसिद्ध वह परमेश्वर रुद्र उस तरह का भयानक स्वरूपवाला क्यों हैं ? अर्थात् काले रंग का वह क्यों हैं ? उसकी महाभयानक विशाल आकृति क्यों है ? उसके पाँच मुख कौन हैं ? उसकी दस भुजाएँ कैसे हैं ? वह रहता कहाँ है ? उसकी तीन आँखे कौन हैं ? वह उग्र क्यों है ? उसका स्वरूप क्या है ? सृष्टि आदि में उसका प्रयोजन क्या है ? वह स्वतंत्र है या परतंत्र ? यदि वह स्वतन्त्र है, तो पूर्णकाम उसकी संहार में प्रवृत्ति क्यों है ? यदि वह परतन्त्र है, तो फिर वह किससे प्रेरित होकर कार्य करता है ? उसने क्या किया ? उस परमेश्वर के रुद्ररूप होने पर उसकी इच्छारूप माया भी क्या थी ? यह सब कहिये ॥१७-१८॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे काकुत्स्थ, वह परमेश्वर ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार आदि के विषयरूप संकल्प, अध्यवसाय आदि के बीजभूत सर्वाभिमानात्मक मायावृत्तिरूप अहंकारता से सम्पूर्ण जगत् के अध्यास के मूल स्तम्भभूत

तथा समस्त प्राणियों को रुलाने एवं सभी शरणागत प्राणियों के रोगों को दूर भगाने में निमित्तभूत होने के कारण रुद्रनामसे आविर्भूत है । वही प्राणियों को रुलाने में विषमाभिमानरूप तथा प्राणियों के रोगों को दूर करने में एकाभिमानरूप सम्पन्न होता है । इसकी जो मूर्ति मैंने देखी वह निर्मल आकाशरूप ही थी ॥१९॥ वस्तुतः महाप्रकाशस्वरूप वह भगवान् चिदाकाश मात्र सार होने के कारण आकाशमात्र आकारवाला है, व्योमवर्ण है और वह आकाशात्मा ही कहा जाता है । सम्पूर्ण प्राणियों की जो आत्मा है तद्रूप होने से तथा सर्वव्यापी होने से वह महान् आकारवाला है ॥२०॥ उस अहंकार की सम्पूर्ण जीवों के प्रत्येक शरीर में बिलकुल अनुषक्त जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं उन्हींको तत्त्वज्ञानी लोग रुद्र भगवान् के पाँच मुख कहते हैं। एकमात्र यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियाँ सब ओर से प्रकाशस्वभाव हैं ॥२१॥ वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ नामक जो पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ये उसकी दाहिनी भुजाएँ हैं तथा वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द नामक ये जो उन पाँच कर्मेन्द्रियों के पाँच विषय हैं वे ही पाँचों विषय उसकी बायीं भुजाएँ हैं–इस क्रम से उसकी दस भुजाएँ हैं ॥२२॥

तब इस तरह की मूर्ति से वह पहले क्यों न देखा गया, यदि यह आशंका हो, तो इसका उत्तर यह है कि चराचर नामरूपात्मक कार्यों के आकारों के अध्यारोप से व्यामूढ़दृष्टि होने के कारण उसके अन्तर्गत कारणस्वभाव का दुर्ग्रह होने से ही वह उस तरह की मूर्ति से युक्त न दीख पड़ा, इस आशय से कहते हैं ।

जैसे अपने में अध्यारोपित कार्यरूप पट तन्तु का परित्याग कर देता है, वैसे ही चार प्रकार के शरीरों तथा तत्–तत् जीवों के साथ प्रलयकाल में परमकारण मायाशबल ब्रह्म को प्राप्त हुए चतुर्मुख ब्रह्माजी ने जब उसका भी परित्याग कर दिया तब वह पूर्वोक्त आकाश मात्रपरिशेषरूप वर्णित अपनी मूर्ति में आ गया । अर्थात् कारणरूप अपनी मूर्ति में स्फुट हो गया । कहने का तात्पर्य यह है कि कारण स्वभाव के दुर्ग्रह से ही वह इस तरह की मूर्ति से पहले न दीख पड़ा ॥२३॥

यदि वह एकमात्र आकाशस्वरूप ही है, तो फिर निराकार उसकी पूर्ववर्णित देहाकृति क्यों दृष्टिगोचर हुई ? इस पर कहते हैं ।

और वह रुद्र समस्त कार्यविशेषों के प्रलय के बाद अवशिष्ट कारण के एक अंशमात्र के आकारवाला है । उसकी देहाकृतिका जो मैंने वर्णन किया है यथार्थ में वह कुछ नहीं है, क्योंकि उसका कोई आकार ही नहीं है । उपासक लोग अपनी वासना से एकमात्र भ्रान्ति द्वारा उसे वैसा मूर्तिमान देखते ही हैं॥२४॥ चिदाकाशगत विशाल भूताकाश में तथा समस्त भूतों की देह में वायुके समान वह परमेश्वर नित्य स्थित रहता है ॥२५॥ उस प्रलयकाल में एक क्षणतक सबको क्षोभित करते हुए, सम्पूर्ण भूतों से परित्यक्त होकर चिदाकाशमात्र मूर्तिधारी वह परमेश्वर परमशान्ति को प्राप्त हो जायेगा ॥२६॥ सत्त्व, रज और तम–ये तीन गुणों के आकार, भूत, भविष्य और वर्तमान

ये तीनों काल, चित्त, अहंकार और बुद्धि, अ, उ, और म् – ये तीनों प्रणव के अक्षर तथा ऋक्, यजु और साम-ये जो तीन वेद हैं वे ही उस रुद्र भगवान् के तीनों नेत्ररूप से संस्थित हैं। अपने मुष्टिच्छिद्र में उसने त्रिशूलरूपी तीनों लोक धारण कर रक्खें हैं ॥२७,२८॥

अब 'किमात्मा' इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर कहते हैं ।

चूँकि समस्त भूतसमूहों में उस परमेश्वर से भिन्न और कुछ नहीं है, इसलिए समस्त भूतगणों की जो देह है उसी रूपसे वह स्थित है। अर्थात् समस्तभूतों में अहंकारात्मक रुद्र के अभिध्यान से ही वह देहात्मत्वाभिमानी है (卐) ॥२९॥

'किं प्रयोजनः' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं ।

स्वरचित सम्पूर्ण जीवों को अपने-अपने कर्मो के अनुसार विषयभोगरूप उपलब्ध विहित क्रमशः ज्ञानसाधनप्राप्ति के अन्त में स्वात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप जो शास्त्रीय विहित और निषिद्ध कर्मों के ज्ञान एवं फल देने का स्वभाव है वही सृष्टि आदि में प्रयोजक होने से उसका प्रयोजन है अर्थात् समस्त जीवों को उनके तत्-तत् कर्मों के अनुसार विषयफल प्रदान करने का तथा अधिकारी पुरुषों को ज्ञान प्रदान करने का जो स्वभाव है वही उस परमेश्वर का सृष्टि आदि में प्रयोजन है (卍)॥३०॥

भाव यह कि सर्वसत्त्वोपलम्भरूप स्वभाव ही उसका प्रयोजन है, और कुछ नहीं । चिन्मात्रआकाशरूप शिवस्वरूप परमात्मा यानी वाणी और मनके अगोचर निरतिशय भूमानन्दात्मक परम कल्याणमय स्वरूप परमात्मा स्वयं अपने से ही 'बहुस्यां प्रजायेय' इस संकल्पात्मक मायावृत्ति द्वारा एक से बहुत होने की इच्छा से प्रेरित होकर जगत् की रचना करता है । और उसी अपने चित्स्वरूप से प्रलय के लिए स्वयं प्रेरित होकर सर्गक्रम के विपरीत क्रमसे जगत् को निगल कर यानी स्वविरचित जगत् का संहार कर आकाशरूप से स्थित हो जाता है । तदनन्तर स्वयं भी वह अपने उसी परम कल्याणमयरूप से निगीर्ण होता हुआ अपने उस आकाशभाव का भी परित्याग करके भूमानन्दस्वरूप प्रतिष्ठारूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

'किं कृष्णः' इत्यादि सभी प्रश्नों का उपपत्तिपूर्वक जो उत्तर दिया गया है उसका स्मरण कराते हुए अब महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं ।

निर्मल चिदाकाशरूप यही परमेश्वर महाकाल रुद्र का रूप धारण कर प्रलय लाकर के सारे जगत् को एक महासागर के रूप में परिणत कर देता है और जब सारा ब्रह्माण्ड एकमात्र महासागर के रूप में परिणत हो जाता है तब उस महासागर का जल पीकर पुनः शरीर न धारण करने के लिए परमशान्ति को प्राप्त होता है ॥३१,३२॥

(卐) देखिये भगवान बादरायण का यह सूत्र :

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ । (३.२.१.५)

(卍) देखिये गौड़पादाचार्य ने क्या कहा है : 'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' ।

'किमकरोत्' इस उपान्त्य प्रश्न का उत्तर सुनने के उत्सुक श्रीरामचन्द्रजी को जानकर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वैसा भयंकर रूप देखने के बाद मैंने देखा कि वहाँ यह परमेश्वर उद्यम करके यानी उद्यत होकर श्वासवायु के वेगसे उस महासागर को पी जाने में प्रवृत्त हो गये ॥३३॥ इसके अनन्तर श्वासवायु से आकृष्ट महासागर उनके विशाल मुख में, जिसका भीतरी भाग ज्वालामालाओं से व्याप्त था, ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे बड़वानल में ॥३४॥

अन्य काल में भी जल सूख जाने पर तेज में ही उसका उपसंहार प्रसिद्ध है, इस आशय से कहते हैं ।

वही अहंकाररूप रुद्र कल्पपर्यन्त समुद्र में बड़वानल होकर अवस्थित रहता है, परन्तु जब प्रलयकाल आ जाता है तब वह समुद्र के उस सारे जल को पी जाता है ॥३५॥ जैसे जल पाताल में, साँप बिल में और पंचपवन प्राणियों के मुखाकाश में प्रविष्ट होते है वैसे ही एक ही क्षण में बड़े वेग से आकर वह भगवान् रुद्र के मुख में प्रविष्ट हो गया और महाकाल रुद्र भगवान् ने भी उस सारे जल को सिर्फ एक मुहूर्त में ही ऐसे पी लिया, जैसे सूर्य भगवान् अन्धकार को तथा सज्जनों का सम्पर्क दोषसमूह को ॥३६,३७॥ इसके बाद ब्रह्मलोक से लेकर पातालतक सब स्थान ऐसे शान्त और शून्य हो गया, जैसे धूल, धूम्र, वायु और मेघ–इन भूतों से रहित सब तरह के वैषम्य से निर्मुक्त आकाश ॥३८॥ उस समय वहाँ आकाश के समान निर्मल तथा स्पन्दशून्य ये केवल चार पदार्थ ही दीख रहे थे । हे रघुनन्दन, उन्हें आप सुनिये (मैं कहता हूँ) ॥३९॥ उनके मध्य में एक तो काले रंग के आकाश के सदृश आकृतिवाले, निराकार भगवान् रुद्रदेव स्पन्दशून्य सौरभ बिम्बकी तरह आकाश में स्थित थे ॥४०॥ दूसरा सप्त पाताल के बहुत दूर पृथिवी और आकाशतल के सदृश ब्रह्माण्ड सदन का अधोभाग स्थित था ॥४१॥ शैलेन्द्रों तथा देवताओं के सहित पाताल, भूतल तथा स्वर्ग बिलकुल भस्म हो जाने के कारण यानी तीनों लोकों तथा उनके भीतर रहनेवाले सभी पदार्थों के भस्मरूप बन जाने के कारण पुनः जलक्लेदन द्वारा एकमात्र पंकरूप में परिणत हुए पार्थिवभाग से व्याप्त होकर वह ब्रह्माण्डसदन का अधोभाग ऊर्ध्वभाग की अपेक्षा अवश्य कुछ समृद्धस्वरूप था ॥४२॥ उनमें तीसरा पदार्थ ब्रह्माण्ड का ऊर्ध्वभाग स्थित था । बहुत दूर होने के कारण यहाँ तक आँखों की ज्योतियों की पहुँच न हो सकने से वह दुर्लक्ष्य काले वर्ण के आकाश के सदृश था ॥४३॥

चौथा पदार्थ तो उन दोनों के बीच में स्थित आकाश ही था, यह कहते हैं ।

बहुत दूर विभक्त हुए ब्रह्माण्ड के उन दोनों खण्डों के बीच में जो स्थित था वह तो एकमात्र आदि–अन्तशून्य सर्वत्र व्याप्त निर्मल ब्रह्माकाश ही था । हे श्रीरामचन्द्रजी, वही उसमें चौथा पदार्थ था, जिसका मैंने उस समय अवलोकन किया । मेरी आँखों के सामने उपस्थित इन

चार पदार्थों के बीच में इन चारों से अतिरिक्त और कोई दूसरा वहाँ नहीं था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥४४,४५॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, आवरणयुक्त उन ब्रह्माण्डखप्परों के बाहर क्या है ? उनके कौन-कौन आवरण है ? वे कितने हैं ? तथा बिना आधार के वे सब वहाँ संस्थित कैसे हैं ? कृपाकर यह कहिये ॥४६॥

इन चार प्रश्नों में पहले बीच के दो प्रश्नों का उत्तर देते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उन ब्रह्माण्डखण्डों के पार में उनसे दश गुना अधिक विस्तृत जल है । और वह जल इन दोनों खण्डों के अति विस्तृत सन्ध्याकाश को छोड़कर उसके बाहर ही खूब विस्तृतरूप से स्थित है ॥४७॥ उसके बाद जल से दशगुना ज्वालात्मक तेज अवस्थित है । उसके अनन्तर जल के समान ही उस जल को पवित्र करनेवाला तथा स्वयं निर्मल पवन स्थित है ॥४८॥ उसके बाद उस पवन के समान ही दशगुना विमल आकाश स्थित है । *(प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं।)* हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर परम पवित्र, अतिसूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त ही स्वच्छ अनन्त मायाशबल ब्रह्माकाश स्थित है ॥४९॥

आकाश से परे उससे दशगुना अधिक अहंकारतत्त्व, उससे दशगुना अधिक महत्तत्त्व और उसके आगे अनन्त प्रकृति का वर्णन जो पुराण आदि में मिलता है, उसका यहाँ परित्याग क्यों किया ? इस शंका पर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस मायाशबल ब्रह्म के स्वरूपाकाश में योगि-माहेश्वर पांचरात्र तथा कपिल आदि तन्त्रों में महत्, अहंकार आदि तत्त्वभेद के आवरण के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनादृष्टियाँ अनन्तरूप से स्फुरित हो रही हैं। किन्तु परस्पर विवादग्रस्त देखी गई उनकी स्वरूपकल्पना की सृष्टियाँ पुराणों में मिलती हैं, श्रुतियों में नहीं, इसलिए हमने उनकी उपेक्षा कर दी है, इसका तात्पर्य यह है कि अन्य-अन्य योगी, महेश्वर पांचरात्र तथा कपिल आदि के मत के अनुसार मायाशबलित ब्रह्माकाश में महत्तत्त्व आदि दृष्टि की कल्पनाएँ भी एक-एक से दशगुना अधिक हैं लेकिन परस्पर विवादग्रस्त होने से हमने उनकी उपेक्षा कर दी है ॥५०॥

अवशिष्ट चौथे प्रश्न का स्मरण दिलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

हे मुनीश्वर, ब्रह्माण्डखण्ड के ऊपर तथा नीचे उससे भी उत्तरोत्तर दश-दश गुना अधिक विस्तारवाला होने के कारण महान आकाशवाले जलादि को कहाँ कौन कैसे धारण करता है ? ॥५१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पार्थिव पदार्थों का जो भाग ब्रह्माण्डखप्पर है वह कमलपत्र के समान स्थित है । उसी भाग का वे आधारादि भाव से ऐसे आश्रय करते हैं, जैसे वानरी के शिशु अपनी माँ का । अर्थात् जैसे वानरी के बच्चे अपनी माँ को पेट में अच्छी तरह पकड़ के दौड़ने पर भी नहीं गिरते, वैसे ही इनकी भी स्थिति है । अथवा उस ब्रह्माण्डखप्पर की ओर उसकी आकर्षणशक्ति से आकृष्ट होकर वे ऐसे दौड़ते हैं,

जैसे वानरी के बच्चे अपनी माँ की और दौड़ते हैं ॥५२॥

उस ब्रह्माण्डखप्पर के ऊपर स्थित जल के न गिरने में भी यही न्याय है, इस आशय से कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डनामक जो महाशरीर अत्यन्त समीप है उसकी ओर वे सब पदार्थ ऐसे दौड़ते हैं, जैसे प्यासे प्राणी जल की ओर ॥५३॥ जैसे शरीर में संयुक्त हाथ, पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़संयोग स्थिति को नहीं छोड़ते वैसे ही उसीका आभ्यन्तर अवलम्बन करके तैजस आदि सब पदार्थ अवस्थित हैं ॥५४॥

और आवरणों के आधारभूत दोनों ब्रह्माण्डखप्परों का, जो भारी होने से अवश्य गिर जानेवाले हैं, आधार क्या है ? यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, आप कृपाकर यह मुझसे कहिये कि वे ब्रह्माण्डखण्ड कैसे अवस्थित रहते हैं ? उनका आकार क्या है ? किसने कैसे उन्हें धारण कर रक्खा है ? अथवा वे गिरकर नष्ट कैसे होते हैं ? ॥५५॥

यह जो आधारादि की चिन्ता हो रही है, सो सत्यतादृष्टि में ही है । मिथ्यादृष्टि में तो जो अत्यन्त भारी पदार्थ हैं उनके भी आधार आदि का कोई नियम नहीं है, यह स्वप्नदृष्टान्त से वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यद्यपि इसको किसी ने धारण नहीं किया है, फिर भी परमात्मा की अचिन्त्य धारणात्मिका शक्ति से यह अच्छी तरह धारण किया हुआ है ही। यह बिलकुल गिरता हुआ भी नहीं गिर रहा है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः आकृतिशून्य (निराकार होनेपर भी) स्वप्ननगर के सदृश साकार है ॥५६॥ इस मायिक जगत् का क्या पतन होगा अथवा इसमें ऐसी कौन–सी वस्तु है, जिसका कोई धारण करेगा ? यह ठीक वैसा ही अवस्थित है जैसा कि संवित् का स्फुरण है अर्थात् चितिशक्ति के स्फुरण के अनुसार यह अवभासित हो रहा है ॥५७॥ जैसे आकाश में केशोण्ड्रक श्यामता है तथा जैसे आकाश में शून्यता है एवं पवन में जैसे स्पन्दन है, वैसे ही चिदाकाश में यह जगत् है ॥५८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चिति में ब्रह्माण्डनामक संकल्पनगर है, उसके अन्दर अनेक जगत्रूपी घर हैं । चिदाकाश में निराकार ही प्रतिनियताकार के समान यानी नियत आकारवाले के सदृश स्थित है ॥५९॥

सम्पूर्ण पदार्थों का नियत या अनियत स्वभाव संवेदन के अनुसार ही सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

पतन के अध्यास से युक्त संवित् से उत्पन्न यह जगत् रात–दिन गिरने में तत्पर है तथा गमन–अध्यास से युक्त संवित् से यह रात–दिन गमन में ही तत्पर है ॥६०॥ स्थिति के अध्यास से युक्त संवित् से समुद्भूत यह संसार सदा अवस्थित है तथा उर्ध्वगमनमयी चिति से उद्भूत यह

संसार निरन्तर ऊर्ध्वगमनोन्मुख ही बना रहता है(卐) ॥६१॥

'कथं वा परिनश्यतः' इसका उत्तर देते हैं।

महाकल्पादि के संकल्पों द्वारा नाशसंवित् से वह ब्रह्माण्ड नष्ट होता है और सबकी सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि-संकल्पों द्वारा जन्मयुक्त संवित् से चिदाकाश में वह उत्पन्न होता है ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शरत्कालीन आकाश की ओर देख रहे पुरुष की दृष्टि बेर के आकार के सदृश असत्य मोतियों का समूह सत्य-सा भासता है, वैसे ही असत्य ही उदित यह संसार अतिसत्यस्वरूप-सा भास रहा है। चिदाकाश में ये जितने जगत् भ्रान्ति से स्फुरित हो रहे हैं, ठीक-ठीक उन सबकी गणना करने में भला कौन समर्थ है ? ॥६३॥

अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

इक्यासीवाँ सर्ग

प्रलयकाल में नृत्य कर रहे भयंकर रुद्र तथा जगद्रूपी अंगवाली उसकी छाया कालरात्रि का वर्णन।

'किमकरोत्' 'छायाऽऽसिद्वद का मुने' इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उपक्रम बाँधते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, इसके बाद मैंने उस महाकाश में मत्त उस रुद्र भगवान् को नृत्य करने में प्रवृत्त देखा, उस समय उनका आकार बहुत दूर तक फैला हुआ था, आकाश के सदृश उन्होंने विशाल आकृति प्राप्त की थी, अपनी व्यापकताका उन्होंने त्याग नहीं किया था, उनका वह आकार महान् था, मेघ के सदृश उनका श्याम वर्ण था, उनसे दसों दिशाएँ चारों ओर से खूब व्याप्त थीं, सूर्य, चन्द्र और अग्नि-ये तीनों उनके तीन नेत्र थे, चंचल दसों दिशाएँ ही उनके वस्त्र के स्थान में थीं, घन तथा दीर्घ प्रभाजाल से वे युक्त थे, इसीलिए वे देखने में नील प्रभाज्वालाओं के बन्धनस्तम्भ-जैसे मालूम पड़ रहे थे, बड़वाग्नि की तरह तो उनकी आँखें थीं, चंचल भुजारूपी तरंगमालाओं से उनका शरीर खूब चमकीला दीख रहा था, इससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों सबको जलमय बनानेवाले प्रलयकाल के महासागर का जल ही शरीर ग्रहण कर अभी आविर्भूत हुआ हो। इसके अनन्तर मैं क्या देखता हूँ कि भगवान् रुद्र के नृत्य का अनुकरण करती हुई उनके शरीर से मानों छाया निकल रही है॥१-५॥ देखते ही बलात् मेरे मन में ऐसी आशंका उठी कि भला सूर्यों के उपस्थित न रहते महान् अन्धकार से परिपूर्ण आकाश में यह छाया कैसे स्थित है ? ॥६॥ यह मैं जब विचार कर रहा था कि इतने में तत्क्षण ही वह उस समय नाच करती हुई भगवान् रुद्र के सामने आकर खड़ी हो गई। डील-डौल में विशाल वह अपनी सुन्दर तीन आँखों से शोभित हो रही थी ॥७॥

(卐) 'किमाकृति धृते केन' इन दोनों प्रश्नों का भी - 'वे दोनों ब्रह्माण्डखण्ड स्वसंवित् से कल्पित नियत तथा अनियत आकारवाले हैं और एकमात्र संवित् ने ही इन्हें धारण कर रक्खा है।' यह उत्तर अर्थतः प्राप्त हो गया।

उसके रूप का वर्णन करते हैं ।

वह रंग में काली थी, पतली थी, उसके सारे अंगों में नस ही नस दीख रही थी, उसके सभी अंग शिथिल थे, आकृति उसकी विशाल थी, उसका मुख ज्वालाओं से व्याप्त था, चंचल वनसमृद्धि की नाईं पुष्प, पल्लव आदि से विभूषित श्यामल उसका मस्तक था ॥८॥ घनीभूत अंजन रूप तम के समान उसका श्याम वर्ण था, इसलिए देखने में वह दूसरी मूर्तिमती रात–जैसी, शरीरयुक्त अन्धकार की शोभा–सी तथा साकार श्यामवर्ण आकाश की द्युति–जैसी प्रतीत हो रही थी ॥९॥ वह बहुत लम्बी थी, उसका मुख बड़ा ही भयानक था । वह ऐसी खड़ी थी, मानों अपनी लम्बी देह से आकाश नापने को उद्यत हो या आकाश से अपनी समता कर रही हो । वह मानों अपनी दीर्घ जानु और भुजाओं के भ्रमण से समस्त दिशाओं के मुख को ही नापने की इच्छा कर रही थी ॥१०॥ उसे देखने से यही प्रतीति हो रही थी, मानों बहुत दिनों तक अधिक उपवास करने से ही यह ऐसी दुबली हो गई है । उसकी लम्बी देह में सर्वत्र गड्ढे ही गड्ढे दीख रहे थे । कज्जल के सदृश श्याम वर्ण की वह पवन से आकुल मेघों की माला जैसी थी ॥११॥ उसे देखने से ऐसा भान हो रहा था कि अत्यन्त लम्बी और दुबली उसे खड़ी होने में भी जब विधाता ने असमर्थ देखा है तब मानों उन्होंने शिरारूपी लम्बी रस्सियों से बाँध दिया है, ताकि यह अच्छी तरह खड़ी रहे ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वह इतनी अधिक लम्बी थी कि हजारों वर्षों तक ऊपर–नीचे आ–जाकर मैंने योगबल से उसके सिर और पाद नखों का अवलोकन किया ॥१३॥ नाड़ियों के समूहों तथा अँतड़ियों रूपी रस्सियों से ग्रथित सिर से लेकर पैर तक सभी अंगों से युक्त वह ऐसे स्थित थी, जैसे मूल से लेकर शाखाग्रपर्यन्त सूतों से ग्रथित कण्टकों की निवासभूमि (खदिरादि लता) ॥१४॥ नाना वर्णों के सूर्य आदि देव तथा दानवों के मस्तकरूपी कमलों के समूहों की माला उसके कण्ठ में विराजमान थी, निर्मल आलोकवाला पवनसे प्रदीप्त अग्नि उसका आँचल था ॥१५॥ उसके लम्बे दोनों कानों में चंचल नाग झूल रहे थे तथा दो मृतक कुण्डल के रूप में विराजमान थे । शुष्क तुम्बी–लता की तरह अतिदीर्घ, अत्यन्त चंचल तथा काले वर्ण के उसके दोनों स्तन जाँघ तक लटक रहे थे ॥१६॥ उसका खट्वांगमण्डल मयूरों के पिच्छसमूहों तथा ब्रह्मा के केशों के मण्डलों से लांछित (चिह्नित) चन्द्रादि सुराधीशों के ऊँचे–ऊँचे मस्तकों से अलंकृत था ॥१७॥ चूँकि दन्तरूपी चन्द्रमाला से वह विमल थी, इसलिए विमल दाँतों के प्रकाशों के पतन से अभिवृद्ध तथा अन्धकाररूपी सागर के आवर्तों से व्यालोल (चंचल) ऊर्ध्वलेखा–जैसी स्थित वह प्रतीत हो रही थी ॥१८॥ आकाश में उत्पन्न हुए वृक्ष के ऊपर आरूढ़ शुष्क–लता–जैसी वह ऊँचे आकाशरूपी वृक्ष के ऊपर आरूढ़ थी । वायुओं द्वारा पटपट शब्दों से विभूषित तथा जाँघ तक सभी चंचल अवयवों वाली वह –नीचे तक अपने चंचल अवयवों से युक्त तथा वायुओं द्वारा पटपट शब्दों से अलंकृत–शुष्क तुम्बीलता–जैसी ही बिलकुल प्रतीत हो रही थी ॥१९॥ महातरंगरूपी लम्बी भुजाओंवाली, श्यामल तथा

उल्लासों से परिपूर्ण, नृत्यरूपी आवर्तों से चंचल प्रलयकालीन महासागर की तरंगमाला-सी भास रही थी ॥२०॥ क्षण में ही कभी तो वह एक भुजा से युक्त आकारवाली हो जाती थी और कभी क्षण में ही अनेक भुजाओं से व्याप्त हो जाती थी तथा कभी क्षण भर में ही अपनी अनन्त उग्र भुजाओं से जगद्रूपी नृत्यमण्डप को ऊपर फेंककर व्याकुल कर देती थी ॥२१॥ क्षणभर में ही तुरंत उसका आकार एक मुखवाला हो जाता था तथा शीघ्र ही उसकी आकृति अनेक मुखों से युक्त बन जाती थी । शीघ्र ही वह अनन्त उग्र मुख धारण कर लेती थी तथा क्षणभर में ही बिना मुखवाली भी वह हो जाती थी ॥२२॥ वह शीघ्र एक पैर से युक्त हो जाती थी तथा शीघ्र ही उसके सैकड़ों पैर हो जाते थे । क्षणभर भी देर न हो पाती थी कि इतने ही में वह अनन्त पैरों से समन्वित हो जाती थी तथा क्षण में ही वह बिना पैर की भी हो जाती थी ॥२३॥ वह रूप देखकर मैंने उसकी देह का अनुमान कर लिया कि हो न हो यह वही कालरात्रि है। अन्य सज्जन महानुभावों ने भी इसको 'यह भगवती काली है' यह निर्णय किया है ॥२४॥

फिर उसके मुख से लेकर पैर तक के प्रत्येक अंग का वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवती की तीन आँखें थीं, उनकी उपमा तो तब ठीक मिल सकती है, जब कि अरघट्ट यन्त्र के मस्तक के काठ में प्रसिद्ध तीन गड्ढे ज्वालाओं से परिपूर्ण हो जायें। और उसकी ललाट भूमि की उपमा तो वह प्रसिद्ध इन्द्रनील पर्वत का प्रस्थभाग है, जहाँ पर पृथिवी जल रही हो ॥२५॥ उसके दोनों जबड़े तो लोकालोक पर्वत के प्रसिद्ध इन्द्रनील के उग्र गड्ढे की तरह ही भयंकर दीख रहे थे, क्योंकि अधिक गहरा होने से वहाँतक कुण्डलों की कान्ति का प्रकाश बिलकुल नहीं पहुँच पाता था । वातस्कन्धरूपी तागों में पिरोये गये तारागणरूपी मुक्ताकलापों की माला उसके गले में विराज रही थी ॥२६॥ इन्द्रनील पर्वत के तुल्य ऊँचे नगर के बाहर के दरवाजे पर पद्मराग आदि की प्रभा से रंजित दरवाजे के उन्नत भीतरी छेद में विश्रान्त अधोमुख कृत्रिम काचशैल की तरह भगनामक भीषण काक से वह भयंकर लगती ॥२७॥ नाच रही भुजलतारूपी पुष्पों से युक्त नखों की शुभ्र प्रभारूपी मेघ-मण्डलों से वह आकाशतल में सैकड़ों पूर्णचन्द्रों को नचाती हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥२८॥ कल्पान्त मेघों (🔔) के तुल्य गजमुक्ताओं तथा प्रलयकाल में गिर रही तारों की श्रेणी-जैसी भासमान नखों की पंक्तियों की विशाल प्रभाओं को बरसा रही भ्रमणशील अपनी भुजाओं से भगवती काली ने सारे दिग्मण्डलको व्याप्त कर दिया था ॥२९॥ रंग में बिलकुल काले अतएव उग्र स्वरूप के अपने उन भ्रान्तभुज-वृक्षों से, जो नखोंरूपी पुष्पों से विभूषित अंगुलरूपी लतासमूहों से सुशोभित थे, उस भगवती काली ने सारे आकाशप्रान्त को जंगल-सा बना दिया था ॥३०॥ वह भगवती काली सभी ओर चलित हुए अपने जंघासमूह से, जले

(🔔) अर्थात् स्फुरित हो रही प्रभाओं से युक्त हाथी के दाँतों की तरह पर्वत-प्रान्त के ऊपर महा प्रभाओं से युक्त मोटी-मोटी जल-धाराश्रेणी को बरसा रहे कल्पान्त मेघों की तरह ।

हुए खजूर आदि के महान् जंगलों से वलित तथा एकमात्र जले हुए अच्छे–अच्छे तमाल, ताल आदि के वृक्षों से स्थूल बनी हुई पृथिवी का अनुकरण कर रही थी ॥३१॥ अनन्त महाकाश में भी पारंगत अपने केशों से वह संचरणशील अन्धकाररूपी हाथी का आकाश में विस्तृत निवास मानों सिद्ध कर रही थी ॥३२॥ प्रतिध्वनियों से घनीभूत दिग्मण्डल वाले गगनरूपी गाँव में उद्घोषणशील अपने उस निःश्वास पवन के साथ, जिसके द्वारा मेरु आदि अनेक पर्वत उड़ा दिये जाते थे, वह भगवती बराबर चली जा रही थीं । देखने से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह एक ऐसे नटके साथ चली जा रही हैं, जो नियत अनुनयवाला है, और प्रबल वायु के फूत्काररूपी अव्यक्त शब्द से परिपूर्ण गीत गा रहा है ॥३३,३४॥ इसके बाद मैंने आकाश में स्थित अनन्त आकाश के सदृश व्यापकरूप उस भगवती को योगबल से देखा कि वह नृत्यवश आवेश के कारण वर्द्धमान शरीरवाली हो गयी हैं ॥३५॥ इतने ही में मैं क्या देखता हूँ कि एकमात्र विलासपूर्वक नृत्य करना ही जिसका अभिप्रेत अर्थ था ऐसी उस भगवती काली ने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों से एक सुन्दर माला बनाकर अपनी देह में धारण कर लिया ॥३६॥

अधिक क्या कहा जाय, सारा संसार ही उसके आभूषण आदि सामग्री के रूपमें परिणत हो गया, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, युगान्तकाल के प्रसिद्ध पुष्करावर्तक आदि अभ्रमालिका (मेघसमूह) उसके वक्षःस्थल में इन्द्रनील की पट्टपट्टिका के रूप में (卐) विराजमान थी । तीनों लोकान्तर उसके जघन, उदर आदि अंग में मणिमय आदर्शमण्डल (♨) बन गये थे ॥३७॥ हिमालय तथा सुमेरु पर्वत उसके दोनों कान की चाँदी और सोने की मुद्रिका (🕮) बनकर शोभा बढ़ा रहे थे । ब्रह्माण्डों की घुंघुम शब्दों से परिपूर्ण माला एक लम्बी लच्छेदार करधनी थी॥३८॥ शिखरों, वनों एवं नगरों के गुच्छकों से परिपूर्ण तथा जीर्ण–शीर्ण गाँव, वन, द्वीप, ग्राम आदि रूप कोमल पल्लवों से भरे सातों कुलपर्वत उसके गले की मालाएँ थीं ॥३९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवती काली के अंगों में नगर, ग्राम, ऋतु, मास, दिन–रात तथा तीनों लोककी मालाएँ विराज रही थीं – वह सब मैंने देखा ॥४०॥ भद्र, यमुना, त्रिपथगा–भागीरथी आदि नदियाँ गले के मोती आदि के हार के रूप में थीं, धर्म एवं अधर्म दोनों दूसरे कानों के (पूर्वोक्त कानों से अतिरिक्त कानों के) भूषण बन गये थे ॥४१॥ भद्र, उस कालरात्रि के धर्मरूपी दूध का क्षरण करनेवाले चारों वेद चार स्तन थे, समस्त शास्त्ररूपी क्षीरवाले ऋक् आदि चार संस्थान उसके स्तनाग्र थे ॥४२॥ त्रिशूल, पट्टिश (पटा),

---

(卐) एक तरह का आभूषण (पनवां) ।

(♨) अर्थात् देखने योग्य नमूनेदार अलंकार ।

(🕮) साधारणतया 'मुद्रिका' शब्द का अँगूठी अर्थ है, लेकिन यहाँ पर यह 'बाली' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

भाला, बाण, शक्ति (बरछी), खड्ग, मुद्गर-इनसे बना जो आयुधों का समूह था, वही पुष्पमाला के रूप में उसने धारण किया था ॥४३॥ जो देवता आदि चौदह तरह की भूतजातियाँ हैं, वे शरीरधारी उस कालरात्रि के रोमपंक्तियों के रूप में अवस्थित थीं ॥४४॥ उसकी देह में अव्यक्तरूप से स्थित नगर, ग्राम, पर्वत आदि मानों अपना पुनर्जन्म पाने के आनन्द से उसके साथ-साथ नाच कर रहे थे ॥४५॥ भद्र, सारा संसार उसके नर्तन में काँप रहा था, इसलिए कोई भी पदार्थ स्थावर (स्थिर) तो था ही नहीं, किन्तु केवल जंगमात्मक ही यह जगत् उस समय प्रतीत हो रहा था, पहले नष्ट होकर इसके शरीररूपी परलोक में सुख से स्थित सारा जगत् नाच रहा है, यह मैंने जाना ॥४६॥ निगीर्ण जगत् को उदरस्थ करके अत्यन्त तृप्ति को प्राप्त हुई वह कालरात्रि मत्त होकर चारों ओर नृत्य कर रही थी, वह जगत्रूपी सर्प को जीर्ण बनाने और नचाने के कारण ठीक मयूरी-सी मालुम हो रही थी ॥४७॥ समस्त जगत् विस्तीर्ण-स्वरूपवाले उसके शरीर में दर्पण-प्रतिबिम्ब में स्थित-सा मालूम पड़ रहा था और उसका रूप भी पूर्व जगत् के सदृश ही था ॥४८॥

किसी समय वह नृत्य से विरत भी हो जाती थी, फिर भी उसके भीतर का जगत् तो नृत्य करता-सा ही प्रतीत होता था, यह कहते हैं।

कभी तो वह नृत्य नहीं भी करती थी, परन्तु शैल, पर्वत, अरण्य आदि के साथ वह नानारूप जगत्, जो मरकर फिर आया था, नृत्य करता ही रहा ॥४९॥ उक्त सुन्दर जगत् का नृत्य उसी के देहरूपी दर्पण में स्थित था और उस समय मैंने दीर्घकालतक उसे देखा, वह एकदम अविनाशी होकर स्थित था यानी निरन्तर चल रहा था ॥५०॥

उसी जगत् के नृत्य का वर्णन करते हैं।

वह नृत्य क्या था, उससे समस्त तारागण चल रहे थे, सारा पर्वतसमूह घूम रहा था, अमर (देवता) और दानव मच्छरों के समूह के समान वायुओं द्वारा कम्पित किये जा रहे थे ॥५१॥ संगमभूमि में छोड़े गए चक्रों के भ्रमण के सदृश शोभ रहे द्वीपों एवं समुद्रों से सारा आकाशमण्डल व्याप्त हो गया था, हेलासे (क्रीड़ा से) उत्पन्न भ्रमणों से यानी आवर्त वायुओं से मानों पर्वत एवं धरारूपी तृण वर्तुलाकार में जोर से उड़ाये जा रहे थे ॥५२॥ उस नर्तन में ऊपर नीलमेघरूपी वस्त्रों का परिचालन होने पर वायुओं से आकाशमण्डल घुंघुम ध्वनि से पूर्ण हो गया था, और नीचे परस्पर टक्कर खाये हुए काष्ठ, अस्थि आदि के सन्धिभेद से हो रही पटपट ध्वनि से व्याप्त हो गया था ॥५३॥ परस्पर संयोग और विभाग से प्रत्येक क्षण में कभी मिलित एवं कभी विभक्त हुए जगत्पदार्थों से युक्त अंगों एवं अंगभ्रमणों के कारण, दर्पण के सदृश उसकी देह में उनका नृत्य विशाल भांकारों से मानों मूर्तिमान् भय-जैसे व्याप्त था।।५४॥

उसी जगत के नृत्य का विभागशः वर्णन करते हैं।

कहीं मेरु पर्वत अपने चंचल कुलाचलरूपी बड़े-बड़े हाथों का संचालन कर नृत्य करता था,

इसके अभ्ररूपी वस्त्रों से युक्त (आच्छन्न) छोटे–छोटे कल्पवृक्ष रूप लोमों का घुमाव बड़ा ही रमणीय लग रहा था ॥५५॥ समुद्र भी अपनी मर्यादा का मुद्रण न छोड़कर नाच रहे थे और वृक्ष पृथ्वी से कभी आकाश में तथा आकाश से कभी पृथ्वी में आते–जाते थे ॥५६॥ किसी समय घर, अट्टालिका एवं गृहस्थी के सामान के साथ नगर घरघर ध्वनि करते हुए नीचे की ओर लुढ़कते हुए दीख रहे थे, लेकिन वास्तव में कुछ नीचे की ओर नहीं लुढ़क रहा था ॥५७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब भगवती कालरात्रि चतुरतापूर्ण नृत्य कर रही थी, तब चन्द्र,सूर्य, दिवस और रात उसके नखाग्रभाग की रेखाओं के अन्दर विद्यमान आलोक में (प्रभा में) मिलकर घूमते हुए, सुवर्णसूत्र के सदृश, दीर्घाकार प्रकाशित हो रहे थे ॥५८॥ भद्र, कालरात्रि ने नीहार के तो हार पहिने थे, उसके वस्त्र नीले मेघ थे, इसलिए मेघों से बरसाये गये जो जलबिन्दु थे, वे उसके स्वेदबिन्दु की तरह मालूम पड़ते थे ॥५९॥

अब सारा जगत् उस भगवती का अंगसमूह बन गया था, यह वर्णन करते हैं ।

आकाश ही उसका बड़ा केशपाश (जूड़ा) बन गया था, पाताल चरण बन गये थे, भूमिमण्डल उदर बना था और दिशासमूह बाहु बन गये थे ॥६०॥ उस भगवती की जो आँतों से युक्त वलियाँ थीं, वे द्वीप और समुद्र ही थे, जो पसलियाँ थी, वे सारे पर्वत थे, और जो चंचल प्राण और अपान थे, वे सारे आवह आदि पवनस्कन्धरूप आकाश–महल की शालिकाएँ ही थीं ॥६१॥ जब भगवती कालरात्रि नृत्य करती थी, तब उसके विशाल शरीर के ऊपर हिमालय, मेरु, सह्याद्रि आदि पर्वतों ने झूले के आनन्द का अनुभव किया ॥६२॥ उड़ रही पर्वतरूपी मंजरियों से युक्त पूर्ववर्णित ब्रह्माण्डमाला का इधर–उधर परिवर्तन करती हुई उस भगवती ने अपनी ताण्डव–लीला से मानों फिर महाप्रलय आरम्भ किया॥६३॥ हे श्रीरामजी, वे सुर, असुर, नाग आदि के समूह ही भगवती के रोम थे, इसका शरीर स्पन्दनरहित होकर ठहर सकता ही नहीं था, इसलिए चक्र की तरह वह बराबर घूम रहा था॥६४॥ भद्र, कर्मफलरूप नाना वैभव, कर्मानुष्ठान के कारण अनेक विज्ञान एवं अनुष्ठान यज्ञ –इन तीन सूत्रों का उसने यज्ञोपवीत धारण किया तथा, आकाश में नाचती हुई वह मेघों की ध्वनियों को लेकर वेदघोष कर रही थी, इसलिये ठीक ब्रह्मचारिणी की तरह प्रतीत हो रही थी ॥६५॥ वस्तुतः उस नृत्य में कुछ भी नहीं हिल रहा था परन्तु भूतल और आकाश चक्र के चमकने से एक के एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होकर एक दूसरे के सदृश वे दोनों बन जाते थे इससे कुछ समय के लिए भूतल आकाश बन जाता था और आकाश भूतल बन जाता था, यह देखनेवालों की एक भ्रान्ति ही थी ॥६६॥

कालरात्रि की श्वासवायुओं का वर्णन करते हैं ।

उस भगवती के बड़े–बड़े नासिकागुहारूपी घरों से निकले हुए मेघ के सदृश घुंघुं शब्द कर रहे

उग्र पवन बह रहे थे, इन वायुओं से घोर घुंघुं शब्द हो रहे थे ॥६७॥ भद्र, सारा आकाशमण्डल उस भगवती के चातुर्यपूर्ण पद्धति से संचालित हुए सैकड़ों हाथों के कारण प्रचण्ड वायुओं द्वारा कम्पित पल्लवों से व्याप्त-सा हो गया था ॥६८॥ उसके अंगों से जनित जगत्पदार्थों के साथ-साथ जो भ्रमण हुए, उनसे उत्पन्न श्रम के कारण मेरी धीर दृष्टि ऐसे कुण्ठित हो गई, जैसे युद्ध संग्राम में सेना ॥६९॥ उसका देहरूपी दर्पण जब कुछ भ्रमणशील हो गया, तब यन्त्रोंके सदृश पर्वत विचलित होने लगे, आकाशचारी देवता गिरने लगे और देवताओं के घर लुढ़कने लगे ॥७०॥ उसकी नाभि में पृथ्वी की कोमलता के सदृश उस समय शोभा मालूम हो रही थी, क्योंकि अनेक मेरु पर्वत ठीक पत्तों के सदृश प्रतीत हो रहे थे, मलयाचल पल्लव-से भास रहे थे और इन पर हिमाचल हिमकण-सा प्रतीत हो रहा था ॥७१॥ उस भगवती की देह में अनेक सह्य पर्वत पृथ्वीपर पक्षियों के सदृश, अनेक विन्ध्याचल आकाश में विद्याधरों के सदृश तथा वृक्ष और बादल आकाश के अन्दर घूम रहे राजहंसों के सदृश भास रहे थे ॥७२॥ उसके देहरूपी सरोवर में अनेक द्वीप तृणों के सदृश, समुद्र वलयों के सदृश और देवताओं के आलय पद्मों के सदृश भास रहे थे ॥७३॥ भगवती का शरीरांग विशद् आकाश के सदृश विशाल था, स्वप्न में उत्पन्न महान अंजन पर्वत के सदृश था तथा एक पिण्ड में बने हुए बारहों आदित्यों के सदृश तो उसकी कान्ति थी, विशाल उसकी जंघाएँ थी, इस प्रकार के उसके अंग में कहीं पर सुवर्ण पर्वत के ऊपर उगे जंगल में अपना चिरन्तन वैर निकालते हुए-सा विन्ध्याचल नाच रहा था, तो कहीं गगनरूप आंगन में अपने शत्रु विन्ध्याचल को न सहने योग्य सह्य कैलास, मलय, महेन्द्रपर्वत, क्रौंच पर्वत, मन्दर और गोकर्ण पर्वत मानों कोप-से नाच रहे थे, इनके पक्षपात से सारी वसुमती और विद्याधरों के नगर नाच रहे थे। इस तरह उसके शरीर में सभी स्थावर जंगमभाव को प्राप्त हो गये थे ॥७४,७५॥ श्रीरामजी, एक और आश्चर्य सुनिये - उसकी देह में पर्वत पर समुद्र नाच रहा था, वह पर्वत ऊँचे आकाशकोटर में नृत्य कर रहा था, वह आकाश भी चन्द्र और सूर्यों के साथ पृथ्वी के नीचे चलित होकर कहाँ चला गया, यह जाना ही नहीं गया। नानाविध पुष्पों से युक्त तथा द्वीप, अचल एवं नगर से समन्वित वनगण सूर्यमण्डल में नाच रहा था - यों चंचल जगत समुद्र में चंचल तृण के समान दिशाचक्र में भ्रमणकर रहा था ॥७६॥ भद्र, आकाश में पर्वत घूम रहे थे, दिशाओं में समुद्र घूम रहे थे, पुर, नगर, मण्डल, नदियाँ, सरोवर-ये सब अपने आश्रयभूत लोक से लोकान्तर में, दर्पण के भीतर-जैसे, प्रविष्ट होकर-झंझावात के द्वारा असंकीर्ण तृणों का उड़ना जैसे लोक में विख्यात है, वैसे ही-उड़ रहे थे ॥७७॥ मत्स्य समुद्र की नाईं मरुभूमि में घूम रहे थे, नगर पृथ्वी के सदृश आकाश में स्थिर दिखाई दे रहे थे, पर्वत आकाश में प्रतीत हो रहे थे। अधिक आश्चर्य तो यह था कि आकाश एवं प्रलय के मेघ उत्पात-वायुओं से घिरे हुए पर्वतों पर स्थित थे ॥७८॥ किसी यन्त्र-चक्र में हजारों की संख्या में दीपक लगे हों और वह यदि घूमता हो तो कितना सुन्दर लगता है, ठीक इसी क्रम से वेग से हो रही

मणियों की वृष्टि के सदृश अतिसुन्दर नक्षत्रों का समूह घूम रहा था । इसकी शोभा उस तरह की थी, जैसे आपकी सभा में विद्याधरों एवं देवताओं के गण द्वारा प्रीति से छोड़ी गई पुष्पवृष्टि भीतर-बाहर भ्रमण करती है ॥७९॥ भद्र, भगवती कालरात्रि के शरीर में प्रलय एवं सृष्टियों के समूह दिन-रात के भाग में प्रतीत हो रहे थे, दिन और रात्रि के समूह मलिन एवं अमलिन रजत के बिन्दु के सदृश अतिस्वल्प मालूम पड़ रहे थे, शुक्ल-कृष्ण पक्ष सुन्दर निर्मल हीरे एवं इन्द्रनीलमणि के बनाये गये धवल एवं काले आदर्श-मण्डल के सदृश प्रतीत हो रहे थे ॥८०॥ हे राघव उसकी देह में सूर्य, चन्द्र आदि के मण्डल तो रत्न बन गये थे, नक्षत्रसमूह तरल वर्तुलाकार शोभा से युक्त गले के हार के सदृश बन गये थे, अत्यन्त स्वच्छ गगनमण्डल पहिने हुए महान् वस्त्र बन गये थे । इनमें भ्रमण कर रही विद्युत अलातचक्र-सी प्रतीत हो रही थी और निरन्तर महान प्रकाश कर रही थी ॥८१॥ भगवती के नृत्य कल्पान्तकाल में लुढ़क रहे तीनों जगत् ऊपर-नीचे परिवर्तनों के कारण तत्काल ही झनझन ध्वनि करनेवाली मणियों के रूप में बन गये । झंकार से ऊपर-नीचे गमन कर रहे सूर्य आदि तेज अनेक तरह के गुणयुक्त (सूत्र-युक्त) नूपुर, वलय आदि भूषण के रूप में बन गये ॥८२॥ भद्र, अब एक दूसरा आश्चर्य सुनिये-देवी के ताण्डवनृत्यकाल में वीरजनों का बड़ा-बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा था, ये वीरजन संग्राम में मत्त शत्रु योद्धाओं के लिए निकाले गए खड्गों की मरीचियों की प्रभा से ग्रीष्मकाल के दिनों को भी मलिन कर रहे थे । देवी के नृत्य के समय ऊपर-नीचे होने वाले संचालनों से वे योद्धा लुढ़क रहे थे, फिर भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म की स्थिरता के कारण वे स्थिर थे ॥८३॥ यह दूसरा आश्चर्य सुनिये-भूत, भविष्यत् अनन्त कोटि सृष्टि, प्रलय आदि से युक्त इस भगवती कालरात्रि का जब ताण्डव होता था, तब ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता एवं असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्ति से दूसरे-दूसरे बनकर वायु से चालित मच्छरों के सदृश या बिजली के सदृश प्रसिद्ध अस्थिरताविलास से आते और जाते दीख पड़ते थे ॥८४॥ भद्र, भगवती के शरीर में जो सर्ग दिखाई देता था, उसमें सृष्टि, प्रलय, सुख-दुःख, भव-अभव, इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण आदि परस्पर विरूद्ध भी सब पदार्थ कभी सदा एक साथ एवं कभी अलग-अलग रूप से विलसित होते मालुम पड़ रहे थे ॥८५॥ भगवती के शरीर रूप चिदाकाश में मिथ्यारूप ही चमक रहे अतएव चिदाकाशरूप (शून्यरूप) सृष्टि, प्रलय, चतुर्दश भुवन, पृथ्वी आदि पदार्थों की अधिष्ठानवश हुई उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, अर्थक्रिया, परिश्रम-इन सबकी संख्या कितनी थी, यह तनिक भी मालुम नहीं हो सकती थी ॥८६॥ भद्र, भगवती की देह में उत्पात, शान्ति, आदि परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व-समूह एकत्र ऐसे प्रतीत होता था, जैसे एक कोश में एकत्र रत्नों का समूह । क्योंकि भगवती के शरीर में रसों से अन्योन्य अनुचित अनेक सर्गपरम्पराएँ विद्यमान थी ॥८७॥ श्रीरामजी, परमार्थ-दशा में चिदाकाश उसकी देह में स्वभावभूत यानी अशास्त्रीय ज्ञान से सिद्ध मायारूप आवरणात्मक अस्फुट अनुभव से उत्पन्न जगत् स्थितियाँ एवं जगत्प्रलय

चारों ओर ऐसे कलित होते थे, जैसे तिमिर रोग से मलिन हुई दृष्टि से आकाश में केशोण्ड्रकों के स्फुरण प्रतीत होते हैं ॥८८॥ भद्र, अविचल अधिष्ठानरूप स्थिति में विद्यमान जगत् वस्तुतः अक्षुब्ध ही है, फिर भी मायाक्षोभदृष्टि से क्षुब्ध-सा दीख पड़ता है, क्योंकि बिम्बरूपसे अचल पर्वत चलित होने वाले दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर जैसे चलित होता है, ठीक ऐसा ही यह जगत् स्थित है ॥८९॥ जैसे बालक के संकल्प का सर्ग प्रतिक्षण पूर्वस्थिति का त्याग कर अन्यस्थिति ग्रहण करता है, वैसे ही नृत्य से चमक रहे विशिष्ट प्रताप से युक्त माया के अंदर प्रविष्ट हुए सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणाम द्वारा पूर्वस्थिति का त्याग और अन्य स्थिति का ग्रहण करते रहते थे ॥९०॥

सब पदार्थों का उत्पादन करने के लिए कारकों की क्रिया-शक्ति उपयोग में आती है, आगे के भावविकार तो स्वयं ही काल आनेपर उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे मूँग इकट्ठे करने हों, तो कारकक्रियाशक्ति की आवश्यकता होती है, परन्तु विशीर्ण होकर फैलने में तो उनकी स्निग्धता ही कारण है, न कि अन्यकारक क्रियाशक्ति, ठीक ऐसे ही यहाँ समझना चाहिए, यह कहते हैं।

भगवती की देह में क्रियाशक्ति है, अतएव उसके द्वारा उसमें निरन्तर भरे जा रहे जगत-रूपी मूँग के दाने ढेर के रूप में पहले होकर फिर विशीर्ण हो जाते हैं यानी चारों ओर फैल जाते हैं ॥९१॥

माया भगवती परिणामि-स्वभाव जड़ जगत्रूपा होने के कारण ही प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपकी प्रतीत होती है, यह कहते हैं।

भगवती माया एक क्षण में तो कुछ मालूम पड़ती है और दूसरे क्षण में वैसी नहीं भी मालूम पड़ती है, एक क्षण में एक अँगूठे के बराबर प्रतीत होती है, तो दूसरे क्षण में आकाश को भी भर देने वाली मालूम पड़ती है ॥९२॥ चूँकि सर्वविध कलाओं से परिपूर्ण जगतात्मक यह देवी संवित्-शक्तिरूपा है, इसलिए अनन्त एवं विशाल आकाश कोश के सदृश विशुद्ध स्वरूपवाली है ॥९३॥ वह देवी कालरात्रि तीनों काल में स्थित तत्-तत् विचित्र परिणामधारी समस्त त्रिजगत् की भीतरी चित्-शक्ति है, इस कारण से वह चितेरे के उदार मन में स्थित चित्रसंसार समूह के सदृश यथास्थित उस विचित्ररूपसे वैसी प्रकाशित होती है। इस प्रकार के प्रकाशन में उस चिति-शक्ति का परिवर्तनशील तत्-तत् काम-कर्मवासना के परिपाक के अनुसार वेग भी रहता है ॥९४॥

तब क्या वह देवी प्रपंचपूर्ण ही है, इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं।

अविद्या से आवृत चिति-शक्ति के कारण वह देवी समस्त संसारूप एक विद्या से अविद्या के हट जाने पर शुद्ध ज्ञानात्मक बन जाने के कारण वह शान्त आकाशरूप शरीरधारिणी होकर सर्वविध प्रपंच से निर्मुक्त होकर स्थित हो जाती है। इस प्रकार बद्ध और मुक्त पुरुष की दृष्टि से गम्य एवं विद्या-अविद्या से क्रमशः व्यंजित हो रहे स्वरूप से उपलक्षित तथा परमार्थ रूपसे अनादि-अनन्त चिदेकरूप को धारण कर रही वह देवी ही प्रकाशती रहती है ॥९५॥

विवर्त एवं परिणाम की दृष्टि से तथा जीवन्मुक्त एवं युक्तिवादी आत्माओं की दृष्टि से उस

माया में जो जगत् का ज्ञान हो सकता है, इसमें दो दृष्टान्त कहते हैं।

भद्र, उस देवी के शरीर में विद्यमान उस अनन्त स्फटिक शिलारूप कोश में यह दृश्य एक रेखा में रचित कमलचक्रादि–सा ही प्रतीत होता है और आकाश मात्र शरीरधारिणी उसमें चिद्रूप के कारण यह दृश्य आकाशात्मक होकर ऐसे भासता है, जैसे द्रवस्वरूप समुद्रकोश में ऊर्मिरेखा प्रतीत हो रही हो ॥९६॥

यों उस कालरात्रि और उसके नृत्य का सात्त्विक स्वरूप बतलाकर अब उसके नृत्य का उत्प्रक्षा आदि से वर्णन करते हैं।

समस्त आकाशमण्डल को पूर्ण कर देनेवाली वह महान् भैरवी कालरात्रि देवी भैरवाकृति उस कल्पान्तरुद्र के सम्मुख नृत्य कर रही थी ॥९७॥ भद्र, मैं क्या वर्णन करूँ, कल्पान्तकाल के महारुद्र के ललाट–स्थान का दृढ़तापूर्वक आश्रय कर रही जो उग्र तृतीय नेत्राग्नि है, उससे दग्ध हुए अतएव स्थाणु के रूप में बचे हुए अरण्यों से युक्त भूमिवाली, कलपान्त वायुओं से कम्पित वनमाला के सदृश वह महादेवी नृत्य कर रही थी ॥९८॥

उस देवी के गले में पूर्ववर्णित केवल मालाबन्धन ही नहीं था, परन्तु कुदाल, मूसल, ओखली आदि भी था, यह कहते हैं।

कुदाल, ओखली, आसन, हलकी फाल, घट, करण्डक (डला), मूसल, सूप, बटकी, स्तम्भ आदि की माला धारण कर वह देवी नृत्य कर रही थी ॥९९॥ हे श्रीरामजी, इस तरह के नानाविध पुष्पमालासमूहों के फूलों को, जो नृत्य में क्षुब्ध तथा भंगसे क्षत हो जाते थे, बिखेरती हुई तथा नूतन बनाती हुई–सी नाच कर रही थी ॥१००॥ इस प्रकार भयंकर रूप धारण करनेवाली उस कालरात्रि के द्वारा वन्दित हो रहे उसी प्रकार का आकाश के सदृश विशाल भयंकर रूप धारण किये हुए अनन्ताकृति रुद्र भी देवी के सदृश महानृत्य कर रहे थे ॥१०१॥ रक्त एवं आसवों से पूर्ण यमराज के महिष का महान् सींग हाथ में लेकर डिंब, डिंब, सुडिंब, पचपच, झम्य, झम्य, प्रझम्य आदि तालबोधक शब्दवाद्यों के द्वारा भगवती एकदम नाच रही थी, उसने अपने गले में मुण्डों की माला पहिनी थी, सिर में गरुड़ के पंख धारण किये थे, प्रलय में सारे जगत् को खाकर बड़ी ही प्रसन्न हुई थी, और कल्पान्तरुद्र भगवान भैरव को नमन भी कर रही थी। इस तरह नृत्यपरायण एवं प्रसन्न भगवती कालरात्रि के द्वारा वन्द्यमान भगवान् भैरव आपका कल्याण करें। *(अथवा इस श्लोक का दूसरा यों भी अर्थ हो सकता है–देवी कालरात्रि भगवान् भैरव की स्तुति कर रही थी–हे भैरव, आप सब लोगों के अनर्थकात्मक भोग एवं स्थूल शरीरादि प्रपंच को सबसे पहले खा डालिए फिर सूक्ष्म शरीर आदि प्रपंच को खा डालिए, फिर मूलभूत मायोपाधि एवं कारण शरीर को भी अन्तिम साक्षात्कार में आकर खा डालिए। इसके बाद पंचम आदि योग की भूमिकाओं में लगाकर शीघ्र ही सप्तम भूमिका तक के योग को भलीभाँति पचाकर विदेह कैवल्य के द्वारा जला डालिए।*

यों उस तरह नाच कर रही भगवती के साथ–साथ आपके द्वारा स्तुति किये जा रहे भगवान् भैरव आपकी रक्षा करें।) ॥१०२॥

इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

बयासीवाँ सर्ग

अज्ञान रहने पर कलासहित तथा भलीभाँति ज्ञात हो जाने पर कलारहित चिद्रूप परमात्मा के तत्त्व का शोधनकर वर्णन ।

पूर्व सर्ग में बड़े विस्तार के साथ समस्त प्रपंच का वर्णन किया गया है तथा प्रलीन हुए उस प्रपंच की नृत्य कर रही कालरात्रि के भूषण आदि भाव से अंग में उत्पत्ति एवं नृत्त भ्रमण आदि का भी वर्णन किया गया है । इस विषय में नष्ट की पुनः उत्पत्ति की संभावना न मानते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, जब प्रलय में सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी किस अंग से नाच कर रही थी ? तथा सूप, ओखली एवं कुम्भ आदि के द्वारा, जो उस समय नष्ट हो चुके थे, उसके माला धारण का जो आपने वर्णन किया है वह क्या है ? मेरे पूछने का तात्पर्य यह है कि नष्ट हुए सूप आदि की माला को जो उसने धारण किया था, उसकी मैं कैसे संभावना करूँ ? ॥१॥ तीनों जगत् का नष्ट क्या हुआ, फिर काली की देह में स्थित क्या रहा और निर्वाण को प्राप्त हुआ जगत् पुनः आकर नाचने कैसे लगा ? अर्थात् जब जगत् नष्ट हो गया, तो फिर वह स्थित कैसे रहा और जब वह निर्वाण को प्राप्त हो गया तब पुनः आकर वह नाचने कैसे लगा, यह सब कहना विरुद्ध प्रतीत हो रहा है ॥२॥

यदि परमार्थदृष्टि से मेरे कथन में व्याघात समझते हैं, तो ठीक है, आप वैसा ही समझिये, क्योंकि परमार्थतः चिन्मात्रैकरस परिपूर्णानन्द सन्मात्र से अतिरिक्त स्त्री, पुरुष आदिरूप जगत् तथा रुद्र और देवी आदि का विभाग यह सब अत्यन्त असंभावित ही है अर्थात् इनके भेद की बिलकुल संभावना ही नहीं है । परन्तु भ्रान्तदृष्टि से तो तनिक भी उसमें व्याघात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसत्ता से सर्वदा सत्रूप जो वस्तुएँ हैं उनके नाश और अविनाश के विशेषरूपका निरूपण नहीं हो सकता, नष्ट हुई वस्तुओं की भी स्वप्न में प्राप्ति दीखती है, मर गये या बहुत दिन पहले जो भस्मीभूत हो चुके हैं उनका भी मुनि, सिद्ध एवं ईश्वर आदि के वरप्रभाव से पुनरागमन प्रसिद्ध ही है । इसलिए जब तक अज्ञान है तब तक जगत् के आकार का चित्त में सबकी दृष्टि में संस्काररूप से सद्भाव रहने से अत्यन्त भ्रान्तिग्रस्त पुरुषों के द्वारा केवल जगत् के रूप से, सर्वजगत् से युक्त एक मूर्ति मानकर, रुद्र, देवी आदि के उपासकों के द्वारा उक्त रूप से योगसिद्धि के प्रभाव से उक्त रूपका दर्शन हो सकता है, इस आशय को लेकर कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वह रुद्र परमात्मा न तो पुरुष है, न स्त्री है, न

उसने नृत्य ही किया है । सच कहना तो यह है कि भगवती काली और भगवान् रुद्र–ये दोनों ही, जैसा कि मैंने आपसे उनका वर्णन किया है वैसे नहीं थे, वस्तुतः उस आचार के भी वे नहीं थे और न उनकी वह आकृति ही कुछ थी ॥३॥ किन्तु जो कारणों का कारण है वही अनादि चिन्मात्र, आकाशस्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशस्वरूप, अविनाशी ही सर्वत्र व्याप्त था ॥४॥ निरतिशयानन्दैकरस वह ब्रह्म ही नीलकण्ठ, त्रिनेत्र आदि रूप धरकर प्रलयकाल में भैरवाकार उपासकों द्वारा दिखाई देता है, क्योंकि उन उपासकों की वासनानुसार वह परमाकाश ही जगत् की शान्ति के समय भगवान् भैरव की उस आकृति से युक्त स्थित रहता है ॥५॥

चेतन ब्रह्म में ही जगत् का उपसंहार श्रुतियों में प्रसिद्ध है । लोक में निराकार चेतन कहीं नहीं दीखता, इसलिए जगत् का संहार करनेवाले परमेश्वर में 'उमासहायं परमेश्रं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं शान्तम्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध रूप की संभावना अवश्य करनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

चेतन होने के कारण वह परमेश्वर अपने चेतनस्वरूप वैभव को छोड़कर ऐसे स्थित नहीं रह सकता, जैसे कटक, केयूर आदिरूप अपनी आकृति छोड़कर सुवर्ण ॥६॥

जैसे कटक, केयूर आदि के आकार में परिणत हुए बिना सुवर्ण नहीं रह सकता यानी किसी–न–किसी अलंकार के रूप में सुवर्ण का परिणत हो जाना जैसे अनिवार्य है वैसे ही चिति में भी चेत्याकारका अनिवार्य अवलम्बन लोक में प्रसिद्ध है । इसलिए निराकारपक्ष की ही बिलकुल असंभावना सिद्ध होती है, यह दृढ़तापूर्वक कहते हैं ।

हे प्राज्ञ, कहिये, चेतन के बिना–चेत्य विषयाकार धारण किये बिना चिन्मात्र भला कैसे रह सकता है ? हे प्राज्ञ, कहिये न, तिक्तता के बिना भला मिर्च कैसे रह सकता है ? ॥७॥

सविषयता स्वभाव होने से भी अज्ञात चिति के आकार का किसी तरह परित्याग नहीं किया जा सकता, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारिये तो सही, भला कटक आदि अलंकारस्वरूपता को प्राप्त किये बिना सुवर्ण की स्थिति कैसे रह सकती है, क्योंकि स्वभाव के बिना यानी अपने स्वभाव को छोड़कर किसी भी पदार्थ की स्थिति रह कैसे सकती है ? ॥८॥ कहिये न, माधुर्य के बिना इक्षुरस कैसे रह सकता है, क्योंकि माधुर्य से रहित जो इक्षु का रस है, वस्तुतः वह उसका रस ही नहीं है ॥९॥

नष्ट हुए पदार्थों का भी स्मृति में भान होता है, इसलिए चितिदृष्टि से किसी भी पदार्थ का निरन्वयनाश कहीं प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं ।

चेतनशून्य जो चिन्मात्र है, वस्तुतः उसे चिन्मात्र नहीं कहते और यह भी युक्त नहीं है कि चिन्मात्र आकाश का कहीं कुछ नष्ट हो जाय ॥१०॥

ब्रह्म से अभिन्न जो यह जगत् है, इसके एकमात्र ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त रूपकी प्रसिद्धि न होने

से किसी पदार्थ के नाश की ही सिद्धि नहीं है, यह कहते हैं ।

उस ब्रह्म को स्वसत्तामात्र से अन्य कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं है । यदि यह आशंका हो कि 'निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इत्यादि ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त रूपका कथन श्रुतियों में पाया जाता है और पामर लोग ऐसा अनुभव भी करते हैं, तो इस आशंकापर कहते हैं । हाँ, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वह ब्रह्मात्मा जगताकार से (卐) अन्यरूप स्वीकार करने के लिए पहले आकाश से (♨) अभिन्न अपनी आत्मा को बना लेता है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि वह ब्रह्म अपने से अभिन्न आकाश को बना लेता है, तो फिर उससे भिन्न दूसरा कोई रूप उसके द्वारा स्वीकृत कैसे हो सकेगा ? अथवा सद्रूप अनन्यत्वका सम्पादन न होने पर उसके द्वारा आकाशादि की उत्पत्ति कही जाती है, इसलिए 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित मूर्तामूर्तस्वरूप सद्रूप से अन्य है, इसकी सिद्धि किसी तरह भी नहीं हो सकती ॥११॥

'तब कहिये, जगत् का स्वरूप क्या है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो उसके इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'ब्रह्मसत्ता ही जगत् का रूप है' । वह ब्रह्मसत्ता तत्त्व के अवबोधक प्रमाण के बिना लौकिकदृष्टि से जगत्प्रलय आदि के आकार से ऐसे भासती है, जैसे सर्पाकार से रज्जु भासती है। परन्तु तत्त्वावबोधक प्रमाण के द्वारा तो वह यथार्थरूप से भासती है, यह निष्कर्ष है, यों उपसंहार करते हैं ।

इसलिए आदि, मध्य और अन्तशून्य, अक्षुब्ध, सर्वशक्तिमयात्मक ब्रह्म की स्वसत्तामात्र जो अपनी स्थिति है वही इस जगत्-त्रयका सर्ग और प्रलय है । वही आकाश है, वही पृथिवी है और वही सब दिशाओं के रूप में सर्ग और प्रलय है । तत्त्वावेदक प्रमाण के बिना ही नाश और उत्पत्ति- ये दोनों अविद्यादूषित दृष्टि से भासते हैं। यह भाव है कि तिमिररोगयुक्त दृष्टि से चन्द्र की व्योमादिरूपता के भासने के समान ही वस्तुतः ये दोनों शुद्ध सत्तातिरिक्त अर्थशून्य ही हैं ॥१२,१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्म, मरण, माया, मोह, जड़ता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षण, चिरकाल, चंचलता, स्थिरता, तुम, मैं, इतर, वह, सत्, असत्, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, बाह्य और आभ्यन्तर विषय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा जो यह सर्वत्र व्याप्त तेज, जल, अनिल, आकाश और पृथिवि आदि है, वह सब शुद्ध निरामय चिदाकाश ही है । यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपता का परित्याग न करते हुए सर्वस्वरूप होकर ही स्थित है ॥१४-१८॥ इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह सब कुछ निर्मल चिदाकाश ही स्थित है इससे भिन्न कुछ नहीं है । इस विषय में स्वप्नादि ही अविखण्डित दृष्टान्त है ॥१९॥ सत्-चित्स्वरूप जिस एक परमाकाश परमात्माका

(卐) 'बहुस्यां प्रजायेय' यह श्रुति देखिये ।

(♨) 'तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः' यह श्रुति देखिये ।

मैंने अभी आपसे वर्णन किया है वह 'शिव एको ध्येयः शिवशंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य' इत्यादि श्रुतियों में रुद्रमूर्ति के नाम से उपन्यास किया है॥२०॥ वही परमात्मा विष्णु आदि के आकार से उपासना करनेवालों के लिए 'हरि' वेष से स्थित हो जाता है एवं औरों के लिए यही पितामह भी होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अधिक हम आपसे क्या कहें, यही परमात्मा चन्द्र, सूर्य आदि के स्वरूप की वासना से वासित बुद्धिवालों के लिए चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर तथा अग्निरूप धारण कर स्थित होता हैं (१) ॥२१॥ यही परमात्मा वायु, मेघ और सागर है तथा अतीतादि काल भी यही है। तीनों काल में जिस वस्तु की सत्ता विद्यमान है और नहीं है वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है। हे श्रीरामचन्द्रजी, 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्दुः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः। स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।' इस तरह श्रुति में प्रतिपादित जो ये विष्णु तथा पितामह आदि भाव अच्छी तरह स्फुरित हो रहे हैं वे सबके सब उस चिन्मय ब्रह्माकाशकोश के गुणादि–उपाधि प्रयुक्त अंशस्वरूप हैं॥२२॥ अन्यथा ग्रहण करनेवाली अविद्या द्वारा इस तरह की संज्ञाओं से ब्रह्मा, विष्णु आदि ऐसे हो जाते हैं। लेकिन परमात्मास्वभावमात्र का बोध होने पर तो वे सब चिन्मात्रस्वभाव ही हो जाते हैं॥२३॥ चिदाकाशरूप ब्रह्म ही अज्ञदृष्टि से अबोधस्वरूप होकर जीव और जगत् के रूपसे स्थित है तथा तत्त्वदृष्टि से वही बोधस्वरूप होकर अपने स्वरूप में स्थित है। इसलिए भेद तथा द्वैत और ऐक्य कुछ भी है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप शान्त हो जाइये ॥२४॥ यह जीव जब तक परब्रह्मात्मक अपने स्वभाव को नहीं जानता तब तक यह अज्ञानस्वात्मस्वरूप संसाररूपी महासागर में जन्म–मरण भ्रमणादिरूप नाना तरंगों की कल्पना करता है। परन्तु जब यह अपने स्वरूप को जान लेता है तब तन्मयता को प्राप्त होकर निरामय उसी स्वरूप में स्थित हो जाता है ॥२५॥ *यही कहते हैं*–अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर तो वह जीव वैसे शान्ति को प्राप्त हो जाता है जिससे कि न तो वह समुद्र रहता है और न उसमें तरंग ही। यथास्थिति यह सम्पूर्ण जगत् उसके लिए परम शान्त अनन्त ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥२६॥

बयासीवाँ सर्ग समाप्त

तिरासीवाँ सर्ग

चिन्मात्र ही भैरवाकार वह भगवान् शिव तथा भगवती काली हैं, चिन्मात्र से अन्य वे नहीं हैं। बोध के लिए कल्पनादृष्टि से उस तरह भासित होते हैं, यह वर्णन।

हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र यही कारण है कि आपकी अविद्या–भ्रान्ति के निरास द्वारा तात्त्विक

(१) देखिये यह श्रुति : 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'

शिवस्वरूप दृष्टि के उद्घाटन के लिए मैंने जगत्-प्रलय के समय रुद्र-नृत्य आदि का, जो स्वानुभूत हैं, वर्णन किया है, वही परमार्थ है, ऐसे आपको भ्रम नहीं कर लेना चाहिए, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जो मैंने आपसे वर्णन किया है वह चिन्मात्र परमाकाश ही है, यही शिवरूप से कहा गया है। यही प्रलयकाल में रुद्र होकर नृत्य करता है ॥१॥ हे पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, उसकी जो यह भयानक आकृति है वह वस्तुतः उसकी आकृति नहीं है, किन्तु उस तरह का चिद्घन चिदाकाश ही उस रीति से स्फुरित होता है ॥२॥ तत्त्वदृष्टि से मैंने उस भयानक आकृति को उस समय शान्त चिदाकाशमात्र देखा। वस्तुतः अकेले मैंने ही उसे जाना, तत्त्वदृष्टि से हीन कोई प्राणी उसे वैसा नहीं देखता॥३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वह कल्पान्त, वह रुद्र और वह भैरवी-ये सबके सब जिस तरह मायामात्र हैं, यानी कल्पादि सबके सब जैसे मायामात्र है, यह सब मैंने अच्छी तरह तत्त्वज्ञान हो जाने के कारण तत्त्वदृष्टि से जैसे जान लिया ॥४॥ केवल वह निराकार चिदाकाश ही उस आकार विशेष से भैरवाकारता को प्राप्त दिखाई देता है। सच पूछिये तो उस तरह का यथार्थ में कोई रूप आदि नहीं है, किन्तु उपासकों की वासना के अनुसार भैरवाकारता को प्राप्त वह वैसा दीखता है ॥५॥

कल्पनादृष्टि से देखी गई वस्तु का वर्णन आपके सामने वाच्य-वाचककी यानी शब्द तथा अर्थ की सम्बन्ध-कल्पना के बिना निर्विशेषका व्युत्पादन न हो सकने से ही मैंने उसकी कल्पना करके आपको समझाने के लिए किया है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि वाच्यवाचक सम्बन्ध के बिना बोध नहीं होता, इसलिए कल्पनादृष्टि से देखी गई वस्तु का ही मैंने आपसे वर्णन किया है ॥६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकाल के अभ्यास के कारण जगत् में आपकी आधिभौतिक दृष्टि प्रौढ़ बन गई है, इसलिए आपकी वाणी में यह जो कुछ दृढ़ता को प्राप्त है वह सब क्षण भर में मायात्मता को यानी सत्यत्व की भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह सब मायामात्र क्षणिक है, भ्रान्ति से सत्यरूप प्रतीत हो रहा है ॥७॥ वस्तुतः न वह भैरवी है, न वह भैरव है और न वह प्रलयकाल ही है किन्तु वह समस्त ही भ्रान्तिमात्र है, परमार्थरूप से चिदाकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥८॥ स्वप्न में जिसका निर्माण हुआ है उस नगर की तरह, मनोरथ के युद्ध के वेग के समान, सुन लेना या कह देना ही एकमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे कथाओं के रस की तरह, मनोराज्य के विलासकी तरह यह सब भ्रम है, चिद्घन में भासित हो रहा है॥९॥ जैसे स्वप्न-नगर भासता है, जैसे स्वच्छ आकाश में भौतिक बुद्धि होती है तथा जैसे आकाश में केशोण्ड्रक भासता है, वैसे ही अचित् चिद्घन में भ्रान्ति से भासित हो रहा है ॥१०॥

तब प्रबोध होने पर कैसे भासता है, यह कहते हैं।

प्रबोध होने पर एकमात्र स्वच्छ चिदाकाश ही अपने स्वरूप में अपने से भासता है। जब प्रबोध

नहीं रहता, तब चिदात्मा ही जगत्–रूप से वैसा भासता है, यह निश्चित है॥११॥ जैसे चिदाकाश में स्वयं ही आत्मा स्फुरित होता है वैसे ही पट में स्फुरित होता है और उस कल्पान्त की अग्नि तथा नृत्य में भी वह उस रूप से स्फुरित होता है ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने भगवान् भैरव तथा भैरवी के आकार का वर्णन किया, जो तत्त्वतः निराकार है, अब मैं उनकी नृत्यस्थिति का आपसे वर्णन करने चल रहा हूँ, जो वस्तुतः अनृत्यस्वरूप है, आप सुनते रहिये ॥१३॥ जैसे भ्रान्ति से दिखाई दे रही शुक्ति आदि वस्तु अवस्तुभूत रजत आदि रूप के बिना किसी तरह टिक नहीं सकती, वैसे ही चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा की चेतनता भी बिना किसी स्पन्दन के स्थित नहीं रह सकती, क्योंकि भ्रान्ति के स्वभाव का विपर्यासकत्व–नियम सर्वत्र समान है । कहने का तात्पर्य यह है कि जैसी भ्रान्ति एक जगह होती है ठीक वैसी ही भ्रान्ति और जगह भी दीखती है, ऐसा नियम नहीं है कि दूसरी जगह की भ्रान्ति का स्वरूप कोई दूसरा हो ॥१४॥ इसीलिए जैसे सुवर्ण कटक, केयूर आदि आकारों से सुशोभित होनेवाले अलंकाररूप से स्थित होता है वैसे ही सद्रूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभाव से रुद्ररूप धारण कर स्थित है ॥१५॥ जो चेतन है, जिसमें चेतनत्व अवश्य स्वभावतः है, वह स्पन्दधर्मवाला होता ही है, क्योंकि अधिष्ठानता स्वाभाविक होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१६॥ जो इस चिद्घन का स्पन्द है वही इस भगवान् शिव का स्पन्द है । वही हम लोगों के सामने अपनी वासनावश नृत्यरूप से विराजमान होता है ॥१७॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रलयकाल में वह भगवान् शंकर भयंकर आकृतिवाले रुद्र होकर जो शीघ्र नृत्य करते हैं, उसे आप चिद्घन का निजी स्पन्दन ही समझिये ॥१८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, प्रामाणिक दृष्टि से वस्तुतः यह दृश्य है ही नहीं, इसलिए उस कल्प में आपसे मेरा कुछ प्रश्न नहीं है, किन्तु अप्रामाणिक दृष्टि पक्ष में आपसे पूछता हूँ कि जो कुछ एक तरह से सत्तावान्–सा है वह सब कल्पान्त में नष्ट हो जाता है, तो फिर कल्पान्त में महाशून्य उस परमाकाश में चेत्यरहित चिति कैसे रहती है ? तथा आश्रय के अभाव में चेतयिता कैसे रहती है अथवा स्वातिरिक्त चितिक्रिया के अभाव में चिद्घन कैसे चेतता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि उस दशा में त्रिपुटी का रहना किसी तरह नहीं बन सकता । यदि आप यह कहें कि उस समय न रहते हुए भी दृश्य को अविद्या दिखला देती है, इसलिए उसीसे त्रिपुटी की सिद्धि हो सकती है, तो इस पर मेरा सविनय यह निवेदन है कि सर्ग और प्रलय में विशेषता ही क्या रही ? क्योंकि अचेतित–चितिक्रियाशून्य सर्वजगद्घटित रुद्र और देवी के शरीर में उस नृत्य की किसी तरह संभावना नहीं की जा सकती । भाव यह कि एक समय में द्वैत और ऐक्य की भावना कदापि नहीं हो सकती ॥१९,२०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, ऐसी यदि आपकी शंका है, तो अपने द्वैत और ऐक्य के सन्देहरूपी सागर की शान्ति के लिए यह उत्तर सुनिये–सबका प्रलय होनेपर परिशिष्ट चिन्मात्र

आकाश का यदि कुछ भी चेत्य नहीं है, तो फिर उससे अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु नहीं चेतता, क्योंकि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत्' जहाँ सब इसका आत्मा ही हो गया, वहाँ कौन किससे किसको देखेगा ? यानी उस दशा में द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, चेतयिता, चेत्य, चितिक्रिया का संभव नहीं है । *(ऐसी दशा में प्रामाणिक दृष्टि से सिद्ध नित्यमुक्त, आत्मस्वभाव ही प्रलय है - यह आपने सिद्ध कर दिया, अतः सब तरह से आपका प्रथम कल्प ही सम्पन्न हुआ ऐसा कहते हैं । अतः सब शान्त पाषाणवत् मौन विज्ञानघन आकाश ही सर्वदा स्थित हैं । ऐसी दशा में, अप्रामाणिक दृष्टि से द्वितीय विकल्पका आश्रय करके आपका प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह भाव है।)* ॥२१,२२॥

यदि प्रथम कल्प की विलक्षणता के लिए प्रलय में अविद्या आदि किसी चेत्यको आप स्वीकार करते हैं, तो फिर उसी से त्रिपुटी, जगत्‌घटित रुद्र और देवी का शरीर तथा उनका नृत्य भी सब उस दशा में रह सकते हैं, इसलिए मैंने जो कुछ कहा है वह कुछ भी असंभावित नहीं है-सबकी उस दशा में संभावना की जा सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

और जो कुछ यह चेतित होता है वह इस ब्रह्म का अविज्ञात आत्मरूप ही प्रलय में भी रुद्र, देवी और उसके नृत्यरूप से प्रथित होता है । (इतने से ब्रह्म के वास्तव कूटस्थ चित्स्वरूप में किसी तरह की हानि होती हो, सो भी नहीं है-आप भूलकर भी इसके वास्तविक स्वरूप की हानि की आशंका न कीजियेगा,) क्योंकि चित्स्वभाव शान्तस्वरूप इस ब्रह्म की अपनी सत्ता में ही अवस्थिति रहती है ॥२३॥

भ्रान्ति के कारण अन्यथात्व का प्रतिभास होनेपर भी वास्तविक स्वभाव की अप्रच्युति में दृष्टान्त कहते हैं ।

जैसे कि स्वप्न में एकमात्र चिति ही अन्तःकरण में ग्राम और नगर-सी होती है-नगर आदि का स्वरूप धारण करती है, परन्तु यथार्थ में वहाँ पुर आदि कुछ नहीं रहते। जो कुछ वहाँ रहता है, वह सब विज्ञानाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं ॥२४॥ इसलिए समस्त ज्ञेय को भली भाँति जानकर भी चिति अपने से अपने में सर्वदा ही ज्ञेय को शून्य जानती है । तथा प्रलयकालमें भी सृष्टि के प्रारम्भ क्षणसे लेकर प्रलय क्षण तक जो जैसे सम्पन्न होता है सबको अपना स्फुरण समझती है । भाव यह कि वह ब्रह्मचिति सदा सर्वज्ञ प्रसिद्ध है ॥२५॥

एकमात्र यही कारण है कि उस सृष्टिकाल में भी प्रलय को अतीत एवं अनागत सभी तरह के हजारों प्रलयों के साथ वह अवश्य देखती रहती है, इसकी भी संभावना करनी चाहिये, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह चिति स्वभावरूप कोटर में भीतर स्फुरित होती हुई अपनी ही कल्पना से क्षण, कल्प तथा जगत् की भ्रान्ति को धारण करती है ॥२६॥ यह चिदाकाश निजस्वभावरूप आकाश में स्वयं ही भीतर देदीप्यमान कान्तिवाला होकर 'यह, वह, मैं और तुम' इत्यादि नानाविध

कल्पना किया करता है ॥२७॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, न तो द्वैत है, न ऐक्य है, न शून्यता है, न चेतन है और न अचेतन ही है, किन्तु एकमात्र निश्चित मौन ही है अथवा वह (मौन) भी नहीं है, किन्तु चिन्मात्र ही स्थित है । कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि और प्रलय में जो विशेष है वह अपने अनुभव से ही सिद्ध है, एक साथ प्रतीति होने से इसका कोई अपलाप नहीं कर सकता ॥२८॥ चिति के स्वयं चेत्यस्वरूप होने के कारण कहीं कोई कुछ भी नहीं चेतता यानी चिन्तन का विषय नहीं बनाता । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, यह निश्चित है कि चेत्य और चेतनक्रिया के न होने से चेतयिता भी कोई नहीं है अर्थात् चिति से भिन्न न तो चेत्य है, न चेतनक्रिया है । एकमात्र मौन ही अवशिष्ट है ॥२९॥ इस सम्पूर्ण वाङ्मय प्रपंच में निर्विकल्प समाधि ही सिद्धान्त है और वह जीव की पाषाण के समान मौनावस्था है । इसलिए आप बिलकुल चुपचाप स्थित रहिये ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी परमेश्वर के समान लोकदृष्टि से अपने राज्य-परिचालन आदि आचारसमूहका, पिता-पितामह आदि से जो क्रम चला आ रहा है उसी क्रमसे, परिचालन करते हुए अपनी दृष्टि से परमार्थतः मौन होने के कारण मान, मोह, मद आदि भेद से रहित अंगों तथा उनके अभिमानी जीव से रहित हो आकाशकोश के समान विशालहृदय हो शान्त स्थित रहिये ॥३१॥

तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

चौरासीवाँ सर्ग

शिव और शक्ति के स्वरूप का विभागपूर्वक वर्णन तथा
सूप आदि की माला के स्वरूप का भी सत्यासत्यविचारपूर्वक वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे मुने, आपने जो यह वर्णन किया कि भगवती काली नृत्य करती थी, अब आप उसका असली स्वरूप बतलाइये और वह जो सूप, हलकी फाल, कुदाल, मूसल आदि की माला पहिने थी, उस माला के सूप आदिका क्या स्वरूप है, कृपया मुझसे यह भी कहिये । इस श्लोक में 'कालः किमिव नृत्यति' पाठान्तर भी है, इस पाठ में भी कालात्मक काली के स्वरूप का ही प्रश्न समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वोत्तर ग्रन्थ में नृत्य एवं सूप आदि की माला का ही वर्णन है ॥१॥

शिवजी के स्वरूप निरूपण किये बिना शक्ति के स्वरूपका निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए दोनों का साथ-साथ स्वरूप बतलाने का उपक्रम करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जो वह भैरव हैं, वह तो चिदाकाशस्वरूप शिवजी ही कहे जाते हैं, उन शिवजी की वह मनोमयी स्पन्दशक्तिरूपा काली अनन्य ही है, यह आप जानिये । यही माया है, यही शिवजी में एकरूप से अध्यस्त होकर उन्हीं की सत्ता और स्फूर्ति से स्वयं सत्ता एवं स्फूर्ति से युक्त बनती हैं, इसलिए शिवजी से अनन्य है, चलनस्वभाव जो रजोगुण है, इसकी प्रधानता आनेपर स्पन्दनशक्ति कहलाती है और सत्त्वगुण की प्रधानता से अपने

में चारों ओर इसी कारण से सृष्टि आदि का संकल्प विकल्प करने के कारण मनकी समता ग्रहण करती हुई मनोमयी कही जाती है ॥२॥

दो दृष्टान्तों से माया में अनन्यत्वका समर्थन करते हैं।

भद्र, जैसे पवन और स्पन्दन दोनों एक ही वस्तु हैं अथवा जैसे उष्णता एवं अग्नि दोनों एक ही हैं, वैसे चिन्मात्र शिव एवं स्पन्दनशक्तिरूप माया दोनों सदा ही एकस्वरूप हैं, भिन्नस्वरूप नहीं ॥३॥

'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतियों में जगत्सृष्टि, प्राणस्पन्दन आदि क्रियासे ही शिवात्मक ब्रह्म का लक्षण करने के कारण भी माया एवं शिव दोनों अनन्य हैं, यह कहते हैं।

जैसे स्पन्दन से वायु ही कहा जाता है या जैसे उष्णता से अग्नि ही कही जाती है, वैसे ही शिव से भी निर्मल शान्त चैतन्यमात्र ही कहा जाता है ॥४॥ स्पन्दनरूप मायाशक्ति से ही वह शिवजी लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं । शिवजी ही ब्रह्मरूप हैं, वे ही शान्त और वाणीविशारदों के अवाच्य हैं ॥५॥

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि से वह स्पन्दशक्ति ही शिवजी की इच्छा है, वह इच्छा इस दृश्याभासका उस प्रकार विस्तार करती है, जिस प्रकार साकार पुरुष की इच्छा कल्पनात्मक नगर का विस्तार करती है।

माया की जो स्पंदनशक्ति है, वही ब्रह्मरूप शिवजी की इच्छा है, वह इच्छा इस दृश्याभास का उस प्रकार विस्तार करती है, जिस प्रकार साकार पुरुष की इच्छा कल्पनात्मक नगर का विस्तार करती है ॥६॥ भद्र, इससे सिद्ध हुआ कि शिव की उक्त इच्छा ही कार्य करने में दक्ष है, अतः समस्त आकार से रहित शिवजी की स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा इस समस्त दृश्याभासका निर्माण करती है । वही इच्छा अपने भीतर के चिदाभास के द्वारा दीप्त होकर जीवचैतन्य कही गई है, क्योंकि वही जीवनाभिलाषियों का जीवन है ॥७॥ वही जगत् के आकार में परिणत होती है, अतः समस्त सृष्टि की प्रकृति भी वही है, दृश्यों में (पदार्थोंमें) प्रतीत होने वाले उत्पत्ति आदि विकारों का सम्पादन भी वही करती है, अतः क्रियारूप भी वही है॥८॥

'द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा' (व्याघ्रचर्म धारण की हुई, शुष्कमांसा एवं अतिभयंकर देवी) इत्यादि पुराणों में उसकी जो शुष्कता प्रसिद्ध है, उसमें भी निमित्त बतलाते हैं।

श्रीरामजी, वह शुष्का भी कही जाती है, क्योंकि समुद्र आदि के जलों से आर्द्र ब्रह्माण्डरूप शरीरधारिणी वह बड़वाग्नि की लपट के सदृश लपटधारी आदित्य आदि की ज्योतियों से सूख जाती है । दुष्टों के लिए क्रोध की मूर्ति होने से चण्डिका तथा उसका कमल के सदृश वर्णवाली होने से उत्पला कही जाती है ॥९॥ जब वह एकमात्र जयनिष्ठ हो जाती है, तब जया, सिद्धों की शरण होने से सिद्धा, जया होने से जयन्ती तथा विजय का आश्रय होने से विजया कही जाती है ॥१०॥ महाशक्ति के कारण अपराजिता, उसका स्वरूप दुर्निग्रह होने के कारण दुर्गा,

तथा ॐकार की सारभूत शक्ति होने के कारण उमा भी वही कही जाती है ॥११॥ जप करनेवालों के लिए परमपुरुषार्थरूप होने के कारण गायत्री, प्रसवकी भूमि होने से सावित्री तथा स्वर्ग–अपवर्ग के साधन एवं समस्त कर्मउपासना के विज्ञानों की विस्ताररूप होने से सरस्वती भी वही कही जाती है ॥१२॥ चूँकि माया का स्वरूप अति गौर है, अतः वही गौरी है, वही शिवजी के शरीर की चिरसंगिनी है। सुप्त और जाग्रत जितने प्राणी त्रैलोक्य में स्थित हैं, उनके हृदय में अकारादि मात्राओं से रहित शब्दब्रह्मरूप प्रणव के नाद का उच्चारण सदा होता रहता है, इससे जो अंगुष्ठपरिमित हृदयकमल के छिद्र में लिंगाकार से स्थित शिवजी हैं, उनके मस्तक में भूषणभूत बिन्दुरूपा जो उमारूपा इन्दुकला है, वह भी वही कही जाती है, शिव और शिवा दोनों आकाशरूप हैं, अतः उनका शरीर असित यानी नील प्रतीत होता है ॥१३,१४॥

शिव और भगवती शिवा दोनों तो चेतनरूप हैं, इसलिए वे जड़ आकाश रूप कैसे हो सकते हैं? इस आशंका पर कहते हैं।

चूँकि चिद्रूप शिव और शिवाने मांसमय अपने शरीर के सदृश श्यामवर्ण आकाश को सृष्टिसंकल्पदृष्टि से कल्पा है, इसलिए श्याम–सा एवं जड़–सा दिखाई देता है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही आकाशरूप वे भी आकाश में (अपने स्वरूप में) निराधार ही स्थित हैं ॥१५॥

उनकी अमूर्तता और स्वच्छता भी आकाश के ही सदृश समझनी चाहिए, यह कहते हैं।

शिवजी और शिवा दोनों आकाश के सदृश हैं और उनका स्वरूप अमूर्त है, आकाश के बड़े भाईयों के समान वे दोनों ही अत्यन्त स्वच्छ हैं। *(जब अमूर्त है, तब हाथ, पैर आदि तथा हलादिमाला का धारण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।)* भद्र, हाथ, पैर, मुँह तथा सिर आदि की बहुलता एवं अल्पता के भेदसे अनेकरूपता विचित्रता तथा मालादि का धारण है, उसे आप सुनिये। भद्र, एकमात्र स्पन्दनरूपवाली क्रियात्मिका वह भगवती यद्यपि अनादि–अनन्तरूपा चितिशक्ति है, तथापि अपनी इच्छा से अपने समस्त वैदिक क्रियारूप बनकर उसने 'दद्यात्, स्नायात्, जुहुयात्' (दो, नहाओ और होमो) इत्यादि वेदविहित दानादि उत्तम शरीर धारण किया है, वास्तव में वह देवी स्पन्दनधर्मयुक्त कमनीय दृश्य श्री आकाशरूपिणी ही है, इसलिए उस काली भगवती के जो नानाविध अभिनयों से पूर्ण नृत्य हैं वे सब ब्रह्मा के कर्मफलरूप सब प्राणियों के जन्म, स्थिति आदि के प्रकार हैं, यह जानना चाहिए ॥१६–१९॥ अतः यह देवी क्रियारूपा है, इसलिए उसका अवयव मानना चाहिए, क्योंकि निरवयव वस्तु से कोई क्रिया हो नहीं सकती। इस परिस्थिति में अपना ठीक स्वरूप निबाहने के लिए ही कल्पित हाथ, पैर आदि अवयवरूपा होकर अपने भीतर ग्राम, नगर, द्वीप, मण्डल आदि की मालाएँ धारण करती है और उनसे स्पन्दन करती है यानी अपनी क्रियारूपता प्रदर्शित करती है ॥२०॥

काली शब्द की व्याख्या में भी उसकी एकमात्र क्रियास्वभावता तथा ब्रह्माण्ड शरीर होने से

समस्त लोकादि अवयवधारिणी होना भी सिद्ध हो जाता है, इस आशय से कहते हैं ।

भद्र, यह काली है । तात्पर्य यह है -'कल गतौ संख्याने च' इस धातु से काल और काली दोनों शब्दों का निर्माण हुआ है । वैयाकरण लोंगों का कहना है कि 'कल' धातु तो एक कामधेनु है यानी कामधेनु से जो चाहें दुहा जा सकता है, वैसे ही कलधातु से जो भी अर्थ निकालना हो, निकाला जा सकता है । इसलिए यह लाखों ब्रह्माण्डरूप बीज कोशों की निर्माणकर्त्री है, धारणकर्त्री है और परिणाम आदि विकारों को प्राप्त भी कराती है-यों स्वयं क्रियारूप होती हुई कमललता के सदृश श्यामला भी बन गई है । इसीलिए अपने फूल आदि अवयवरूप इन पृथिवी आदि दृश्य लक्ष्मी को हृदय में धारण करती है ॥२१॥

यों जगत्-रूप अंगों को धारण करने पर भी उसकी असंगउदासीन चिद्रूप शिवस्वभावता होने के कारण वास्तव में निरवयवता ही है, यह कहते हैं ।

वास्तव में चितिरूपा वह देवी न तो कभी शब्दों से वर्णित हो सकती है और न उसके कोई अवयव ही हैं । भद्र, केवल यही आप जानिये कि वह शिवस्वरूपसे अभिन्न होने के कारण विशुद्ध शिवात्मक ही है ॥२२॥

अंगो के न रहते भी व्यपदेश होने में दृष्टान्त देते हैं ।

भद्र, जैसे आकाश का शून्यत्व है, वायु का स्पन्दन है, चन्द्रिकाका खिलनेवाला कुमुद आदि अंग है, वैसे ही चिति का क्रिया एवं दृश्य अंग है ॥२३॥

इस प्रकार उसका कालात्मक, जगतअंगवाला क्रियास्वरूपका वर्णन कर अब उसका वास्तविक स्वरूप बतलाते हैं।

वास्तव में उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल है, यह आप जानिये। उसमें तनिक भी निश्चलता या स्पन्दधर्मता नहीं है ॥२४॥

उसका जैसे क्रियात्मक स्वरूप है, वह तो अबोधकाल में दिखाई पड़ता है और शिवात्मक स्वरूप बोधदशा में प्रत्यक्ष होता है, यही असली है, यह कहते हैं ।

अज्ञानदशा में वह उक्तस्वरूपा क्रिया ही है, पर जब बोधवश यानी ज्ञानवश क्रियास्वभाव से मुक्त होकर वास्तव रूपधारिणी हो जाती है, तब उसकी शिव संज्ञा पड़ जाती है-उसे शिव ही कहा जाता है ॥२५॥ कूटस्थ चितिशक्तिरूप देवी की अपने स्वरूप में जो अविद्या से प्रतिकूल स्पन्दन, जड़ आदि स्वभाव से स्थिति है, वही क्रिया कही जाती है और विद्या से जब उसकी वास्तविक विशुद्ध अनुकूल चैतन्यरूप स्थिति हो जाती है, तब उसे शिव कहा जाता है ॥२६॥ भद्र, चितिशक्ति की स्वरूपभूत, विशाल आकृतिवाली इस क्रियारूपा देवी के, जिसने कि कल्पितस्वरूप धारण कर लिया है, ये कहे जानेवाले सारे पदार्थ अभिन्न अवयव ही हैं । जिसने कल्पित जगत्रूप देह धारण किया है, उस काली के नृत्य में कल्पित गीतों

के सदृश कल्पित सूर्य आदि की माला का धारण करना भी उचित ही है ॥२७॥ ये सब उसके अनन्य अवयव हैं–विद्यमान जनतावर्ग से युक्त सृष्टियाँ आलोक से भास्वर लोक, द्वीप एवं सागरों से पूर्ण पृथ्वी, वन और भूमि से युक्त पर्वत, अंग–उपांगों से, विद्यास्थान तथा गीतियों से, विधि–निषेध रूप अर्थों से एवं शुभाशुभ कल्पनाओं से युक्त वेद, पुरोडाशरूप द्रव्य से वर्णित होने वाले, राजे, ओखली, आसन, सूप, स्तम्भों से युक्त दक्षिणाग्निवाले यक्ष, त्रिशूल, बाण एवं शक्ति आदि अनेकविध आयुधों से एवं बन्दूक, गदा, प्रास, घोड़े, हाथी, योधा आदि से युक्त संग्राम एवं पृथ्वी तथा चौदह लोक ये सभी उस महादेवी के अंग हैं ॥२८–३२॥

इस प्रकार आपने दो प्रश्नों का यद्यपि समाधान तो किया, तथापि पूर्व सर्ग में उक्त इस शंका का समाधान नहीं हुआ कि कैसे द्वैत और ऐक्य एक काल में रह सकते हैं, क्योंकि विनष्ट असत् पदार्थ किसी अर्थ–क्रिया का सम्पादन नहीं कर सकते । अपने अस्तित्व के प्रभाव से कार्य का अस्तित्व पैदा करना ही कारणों की कार्यार्थक्रिया है और उपादान के साथ कार्यों की अर्थ–क्रियाकारिता या सत्ता का अपहरण नाश है । एक समय में कार्यों में सत्ता या सत्ता का अपहरण उनका कारण कर नहीं सकता । ऐसे पदार्थ, जो कि अपने कारणों की सत्ता के साथ अपनी भी सत्ता खो बैठे हैं, प्रलय में अपनी–अपनी अर्थक्रिया का निर्वाह कभी नहीं कर सकते, इस आशय को लेकर श्रीरामभद्र प्रश्न करते हैं ।

श्रीरामभद्र ने कहा : भगवन्, रुद्र और काली के शरीर को धारण की हुई चिति के अंग में प्रलयकाल में भी अतीत अनागत आदि समस्त सर्ग, कल्प और प्रलय स्थित हैं, यह जो आपने वर्णन किया है, उसमें मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। वह यह कि जो सृष्टि आदि स्थित हैं, वे क्या सत्स्वभाव अर्थक्रिया समर्थ आत्मा में स्थित हैं यानी सत् हैं या मृगतृष्णाजल के सदृश असत्य, सत्स्वभाव से रहित हैं ? यह कहिये ॥३३॥

जगत ओर प्रलय की कभी भी न तो आत्यन्तिक सत्ता है और न आत्यन्तिक असत्ता है। किन्तु सत्य संकल्प का अनुसरण करनेवाली चिति ने जिसे सत्यस्वरूप से प्रकाशित किया वह सत्य है, जिसे असत् स्वरूप से प्रकाशित किया वह असत्य है । इसलिए किसी भी पदार्थ का स्वतः कोई रूप नहीं कहा जा सकता । इस बात से यह निष्कर्ष निकला कि प्रलयकाल में भी ऐन्दव सर्ग स्थित थे और वे अर्थक्रियासमर्थ भी थे, क्योंकि चिति का वैसा संकल्प था तथा नहीं भी था, क्योंकि चिति का अन्य संकल्प भी था । इसका पूर्व में वर्णन भी किया गया है– यों संकल्पभेद दृष्टि से वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीरामजी, वास्तव में तो सब कुछ चितिशक्ति ही है, इसलिए तत्–तत् भोक्ता प्राणियों के भेद द्वारा सृष्टिनिमित्त या प्रलयनिमित्त जिसका जिस वस्तु के रूपमें सत्यसंकल्प चिति ने संकल्प किया, उसका उसी के रूप में उन भोक्ताओं ने भी अनुभव किया । अतः उन

अनुभवकर्ताओं की दृष्टि से यह समस्त जगत् सत्य-सा है और अन्यों की दृष्टि से अत्यन्त अप्रसिद्धि के कारण असत्य-सा भी है ॥३४॥

क्यों सत्य-सा भासा ? इस पर कहते हैं ।

भद्र, बाह्य मुख आदि बिम्ब को लेकर जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है, ठीक वैसे ही पूर्वानुभवजनित वासना को लेकर उस तरह प्रतिबिम्बित हुआ साक्षी चेतन उसी में विद्यमान है, अतः अर्थतः उस अनुभविता के प्रति सत्य ही है, असत्य नहीं ॥३५॥

असत्य क्यों है ? इस पर कहते हैं ।

उक्त अनुभव के बल से पदार्थों की सत्यता होनेपर भी चेतनरूप का अचेतरूपमें प्रवेश न हो सकने के कारण जगत् संकल्पनगर के सदृश मिथ्या ही होगा । जब दृढ़ ध्यान से चिति का आवरणरूप मल हट जायेगा, तब वह प्रतिबिम्बित हो नहीं सकती, फिर सत्यता की चर्चा ही क्या ? ॥३६॥

अज्ञानियों की दृष्टि से जगत् में प्रतीत्यात्मक सत्यता जो है, उसे स्वप्न आदि के पदार्थों में भी कह सकते हैं, क्योंकि उनके अनुरूप अर्थक्रियाकारिता उनमें भी देखी जाती है, यों कहते हैं ।

भद्र, दर्पण में प्रतिबिम्बात्मक या स्वप्न में दृश्यमान या संकल्प में कल्पित जो सृष्टि है, वह भी तो अज्ञानियों की दृष्टि से सिद्ध प्रतीत्यात्मक सत्य हो सकती है, क्योंकि वह अपने अनुरूप अर्थक्रियाकारी है ही, फिर उसे सत्य ही मानना चाहिये, यह मेरा मत है ॥३७॥ हे राघव, यदि आप यह कहें कि दर्पण के भीतर विद्यमान घट आदि मेरे लिए बाहर जलाहरण आदि करने में समर्थ नहीं है, अतः सत्य नहीं, तो इस पर मैं यह कहता हूँ, सुनिये । ठीक ही है, वह दर्पण में रहने वाली चीज बाहर आकर कैसे अर्थ-सम्पादन करेगी ? दूसरे स्थान में स्थित वस्तु दूसरे स्थान में कुछ अर्थ-सम्पादन नहीं करती, इसलिये क्या उसे असत्य समझ लेना चाहिए ? आपके जो घट आदि पदार्थ दूसरे प्रदेश में रक्खे हैं, वे क्या आपके घर में आकर कुछ अर्थ करने में समर्थ हैं ? ऐसे सब पदार्थों की इस समय जैसे देशान्तर में अर्थ-क्रियाकारिता प्रसिद्ध है, ठीक वैसे ही दर्पण, स्वप्न आदि में प्रतिबिम्ब आदि की भी अर्थक्रियाकारिता है । जैसे देशान्तर में स्थित गाँव उसमें गये हुए पुरुष के लिए अर्थक्रियाकारी होता है, वैसे ही स्वप्न आदि के द्रष्टा के रूप को प्राप्त हुए पुरुष के लिए स्वप्नादिक के समस्त भाव अर्थक्रियाकारी होते ही हैं, क्योंकि यही अर्थ का निश्चय है ॥३८,३९॥

इसलिए तत्-तत् अर्थक्रिया को देखनेवाले द्रष्टा की दृष्टि से ही वह सत्य ठहरता है, दूसरे की दृष्टि से नहीं, यों प्रतिबिम्बादि की सत्यता व्यवस्थित हो जाती है, यों कहते हैं ।

भद्र, जो पदार्थ यथार्थ में सकल अर्थक्रियाकारी दिखाई देता है, उसे देखनेवाले द्रष्टा के प्रति वह सत्य है और उसे न देखनेवाले अन्य के प्रति वह असत्य है ॥४०॥

इसी प्रकार प्रकृत में भी योजना करनी चाहिए, यों उपसंहार करते हैं ।

श्रीरामभद्र, इसलिए चितिशक्ति के कोश में अवस्थित समस्त सृष्टियाँ स्वप्नादि द्रष्टारूपता को प्राप्त हुए पुरुष के प्रति सत्य है और अन्य के प्रति सब असत्य है, क्योंकि तद्गत सत्यता का प्रयोजक अधिष्ठानभूत आत्मा है ही ॥४१॥ भूत, वर्तमान, एवं भविष्य के जितने भी संकल्प, स्वप्न आदि के नगर आदि हैं वे सब सत्य ही हैं, यदि सत्य न हों, तो सर्वात्मा ब्रह्म चोटी का तत्त्व कैसे हो सकेगा ? कहीं भी अत्यन्त असत् वस्तु का तात्त्विकरूप आत्मा प्रसिद्ध नहीं है ॥४२॥

इसीलिए दूसरे के स्वप्नों में अनुभूत होनेवाले पदार्थों का योगी लाभ करते हैं और भोग भी करते हैं, यह कहते हैं।

जैसे अन्य स्थान में विद्यमान पर्वत, गाँव आदि पदार्थ वहाँ गमन करने से प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही स्वप्नद्रष्टा पुरुष से भिन्न दूसरा योगसिद्ध पुरुष भी परकाय–प्रवेशसिद्धि द्वारा उसके हृदय में जाकर उसका मनरूप होकर उसके स्वाप्न पदार्थों को प्राप्त हो जाता है ॥४३॥

नृत्य से भगवती कालरात्रि के चलित होने पर भी उसकी देह में स्थित भूमि आदि का चलन न होने में दृष्टान्त कहते हैं।

यदि पलंग धीरे से अन्य स्थान में हटाया जाय, तो उसपर गाढ़ निद्रा में सोया हुआ पुरुष शयन स्थान से अन्यत्र ले जाया गया, परन्तु उसका स्वप्ननगर तो लुढ़का ही नहीं और शरीर तो लुढ़का हुआ ही माना जा सकता है । बस इसी प्रकार नृत्य कर रही कालरात्रि का शरीर चलित हुआ, परन्तु शरीरगत जगत् चलित हुआ ही नहीं, यह भी हो सकता है । दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश उसके शरीर में जगत स्थित रहता है ॥४४,४५॥ श्रीरामभद्र, यों त्रैलोक्य का महान् आरम्भ सत्य होते हुए भी केवल भ्रान्तिभात्र ही है । जो भ्रान्तिमात्ररूप है, उसका लुढ़कना क्या मूल्य रखता है ? यह बतलाइये ॥४६॥ कब स्वप्ननगर सत्य रहा, कब स्वप्ननगर असत्य रहा, कब स्वप्ननगर नष्ट हुआ और कब वह स्थित रहा ? ॥४७॥ भद्र, भगवती काली के अंगों में स्थित वह समस्त दृश्यश्री केवल भ्रान्तिरूपा ही थी, अतः आप इस समय की जगत् लक्ष्मी को भी असत्य भ्रान्तिरूप ही जानिये ॥४८॥

हे राघव, संकल्प, मनोराज्य, स्वप्न, कथा एवं भ्रमदशा में जैसे नगरों का अनुभव भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही इस त्रैलोक्यानुभव को भी आप भ्रान्तिरूप ही समझिये ॥४९॥ भद्र, चितिरूप आत्मा के अन्दर यह 'अहम्' (मैं) और जगत् नाम की कोई वास्तविक वस्तु है ही नहीं, किन्तु आकाश कृशता (अल्पता) के सदृश केवल भ्रान्ति ही चमकती है । आकाश में कृशता या कालिमा नहीं है, वह केवल भ्रान्ति से वैसा दीखता है । इसलिए इस दृश्यश्री को निपुणता से देखा जाय तो वह शान्त हो जाती है ॥५०॥

चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

पचासीवाँ सर्ग

नृत्य कर रही काली का शिवजी का दर्शन और
बड़े प्रेम से स्पर्श कर उनके अंग में विलीन हो एकरूप हो जाना, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, वर्णित रीति से भगवती कालरात्रि भयंकर नृत्य करती है, उसके नृत्य का क्या हाल कहें, परिस्पन्दनात्मक अपने दीर्घ भुजमण्डलों से उसने सारे आकाश को एक घना जंगल–सा बना रक्खा है ॥१॥ श्रीरामजी, चितिशक्तिका असली तत्त्व न जानने पर वह क्रियारूप बन जाती है और वह स्वभाव से वहाँ नृत्य करती है । वास्तव स्थिति तो यह है कि चिति शक्ति में किसी तरह का नृत्यादि विकार है ही नहीं । इसी क्रियात्मक चिति के सूप, कुदाल, पटल आदि भूषण हैं ॥२॥ बाण, शक्ति, गदा, भाला, मूसल आदि, शिला आदि, भाव, अभाव आदि पदार्थसमूह तथा कला, काल के क्रम आदि भी उसीके भूषण हैं ॥३॥

जैसे अलात का (लाठी का) स्पन्दन चक्र के आकार में दिखाई देता है, वैसे ही उक्त चिति का स्पन्दन जगत् के आकार में दिखाई देता है, यह कहते हैं ।

भद्र, जैसे हृदय में कल्पना (मनोराज्य–कल्पना) ही नगराकार को धारण करती है, वैसे ही चिति का स्पन्दन ही अपने भीतर जगत् को धारण करता है । अथवा जैसे मनोराज्य कल्पना ही नगर है, वैसे ही स्पन्दित चिति ही जगत् है, यह आप जानिये ॥४॥

अब शिवजी की इच्छारूप वह कालरात्रि शिवजी से अभिन्न है, यह कहते हैं ।

जैसा पवन का स्पन्दन है, वैसी ही वह कालरात्रि शिवजी की इच्छा है । इससे पवन के भीतर का स्पन्दन जैसे पवन के स्वरूप से अलग नहीं है, किन्तु पवन स्वरूप ही है और अस्पन्द ही है, वैसे ही शिवजी की इच्छा शिवजी के स्वरूप से अलग नहीं है, शिवस्वरूप ही है और अनिच्छा ही है । अतः इच्छात्मिका कालरात्रि पूर्णकाम शिव से अभिन्न है, यह जान लेना चाहिए ॥५॥

आकार से रहित शिवेच्छा साकार जगत् के रूप में कैसे परिणत होगी ? इस पर कहते हैं ।

भद्र, जैसे आकाररहित वायु का स्पन्दन आकाश में साकार शब्दाडम्बर पैदा करता है, वैसे ही शिवजी की निराकार इच्छा साकार जगत् पैदा करती है ॥६॥

भद्र, तदनन्तर जैसे बह रही समुद्रजल की रेखा अपने विनाश के लिए बड़वाग्निका स्पर्श करती है, ठीक वैसे ही उस चिदाकाश में नृत्य कर रही उस कालरात्रि ने काकतालीय योग से अत्यन्त प्रेम से निकटवर्ती शिवजी का स्पर्श कर लिया । ज्यों ही उसने स्पर्श किया त्यों ही उसका आवरण करनेवाला शक्तिरूप अंश थोड़ा–सा हट गया ॥७,८॥ हट जाने के अनन्तर परमकारण एकमात्र शिवजी के स्पर्श से वह कालरात्रि धीरे–धीरे अपने अव्यक्तभाव को तथा छोटेपन को प्राप्त होने लग गई ॥९॥

भौतिक अनन्त आकारों को त्यागकर वह केवल भूतमात्ररूप हुई, यह कहते हैं ।

पहले उसने अपने विशाल आकार का परित्याग किया, पंचीकरण त्यागकर पर्वताकृति बन गई, इसके बाद नगराकृतिमात्रस्वरूप हुई, फिर वह विचित्र वासनारूप पल्लव के कारण वृक्ष के सदृश सुन्दरी बन गई ॥१०॥ तदनन्तर अव्याकृत आकाश के सदृश आकारवाली हुई, फिर वह शिवजी के आकार में उस प्रकार सब आडम्बर छोड़कर प्रविष्ट हो गई, जैसे कि नदी समुद्र में प्रविष्ट होती है ॥११॥ अनन्तर शिवा से रहित एकमात्र शिवजी ही बच गये । ये पूर्ववर्णित चिदाकाशरूप गगन में सबका उपसंहार करनेवाले तथा सर्वप्रकार के उपद्रवों की शान्ति कल्याणात्मा शिवजी ही थे ॥१२॥ श्रीरामभद्र ने कहा : भगवन्, शिवजी से स्पर्श की हुई भगवती शिवा कालरात्रि क्यों शान्त हो गई ? यह मुझे तत्त्वतः बतलाइए ॥१३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, वह प्रकृति है, वह परमेश्वर की इच्छारूप शक्ति है । शास्त्रों में विख्यात जगन्माया और स्वाभाविक स्पन्दशक्ति भी वही है ॥१४॥ प्रसिद्ध जो शिवजी हैं, वे प्रकृति से पर पुरुष कहलाते हैं, पवनाकृति शिवरूप धरनेवाले पुरुष भी वही हैं, वह शरद्काल के सदृश निर्मल शान्तिधारी एवं परम शान्त हैं ॥१५॥ श्रीरामजी, वह शिवजी की इच्छारूप केवल स्वरूपधारिणी परमेश्वर की चितिशक्ति भ्रमरूपी प्रकृति इस संसार में तब तक भ्रमण कर सकती है, जब तक नित्य तृप्त, अजर, सर्वोत्कृष्ट, आदि–अन्तशून्य, द्वैतरहित, विकारशून्य परमात्मा को नहीं देख लेती । इससे निष्कर्ष यह निकला कि शिवेच्छारूप चितिशक्ति में तब तक स्पन्दन रहता है, जब तक कि इष्टप्राप्ति नहीं हो जाती और इष्ट की प्राप्ति (परमात्मा की प्राप्ति) हो जानेपर तो उसकी शान्ति हो जाती है ॥१६,१७॥ यह प्रकृति एकमात्र चितिशक्ति की आधारभूत है, इसलिए चितिशक्ति ही समझनी चाहिए। काकतालीय योग से यह चितिदेवी जब शिवजी का स्पर्श कर लेती है, तब शिवरूप ही हो जाती है ॥१८॥ पुरुष को छूकर समुद्र में नदी के सदृश उसके अन्दर एकरूप बनकर प्रकृति अपना कार्यरूप परिणाम छोड़ देती है ॥१९॥

इसमें युक्ति बतलाते हैं ।

नदियों का स्वरूप तो केवल जलमात्र ही है, समुद्र का संग होनेपर भी उसका वही रूप रहता है । जब यही असली स्थिति है, तब वह उसको (समुद्र को) प्राप्त कर तत्काल ही उसी में एकरूप से लीन हो जाती है ॥२०॥ राघव, लोहनिर्मित छुरी आदि की धारा उत्पत्तिकारण लोहशिला को प्राप्त कर उसीमें जैसे शान्त हो जाती है यानी लोहे में मिल जाने पर धार कुछ काम नहीं कर पाती, ठीक वैसे ही वह शिवेच्छारूप चितिशक्ति उस शिव देवको ही पाकर उसमें शान्त हो जाती है । फिर संसार में कुछ काम कर नहीं पाती ॥२१॥ वन आदि की छाया में प्रवेश किये हुए पुरुष की निजी छाया, जैसे उसीके रूपकी हो जाती है, वैसे ही पुरुष में प्रविष्ट हुई प्रकृति पुरुषरूप ही हो जाती है ॥२२॥

तब तो वन में से निकल जाने के बाद जैसे फिर अपनी छाया अलग हो जाती है, वैसे ही

ब्रह्मप्राप्त पुरुष को भी फिर संसार प्राप्त हो सकता है, इस पर कहते हैं।

भद्र, अपना सनातन पुरुषरूप जो भाव है, उसको प्रकाशित कर देने के अनन्तर फिर वह न इस संसार में भ्रमण करता है और न प्रकृतिभाव को ही प्राप्त करता है, क्योंकि पुनरागमन में निमित्त अज्ञान का बाध हो जाता है ॥२३॥

तभी इस संसार में फिर आना होता है, जब संसार की इच्छा रहती है, परन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने पर तो संसार की इच्छा ही नहीं रह जाती, यह कहते हैं।

साधु पुरुष तब तक चोरों के समुदाय में रहता है, जब तक कि वह उसे जानता नहीं यानी भ्रान्ति से चोर को अपना हितैषी समझकर तब तक उसके बीच में रहता है, जब तक कि यह चोर है और मेरा हितैषी नहीं है, यह नहीं जान पाता। परन्तु जब जान लेता है कि यह चोर और अहितैषी है फिर उसके बीच में रमण या वास नहीं करता ॥२४॥ जब तक परम आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्षरूप से नहीं देखती तभी तक असद्रूप द्वैतप्रपंच में चिति (अज्ञ चिति यानी जीव) रमण और भ्रमण करती है। जब उसका प्रत्यक्ष कर लेती है, तब तो तन्मय बन जाती है ॥२५॥ चूँकि चिति में निर्वाणात्मक प्रशान्त स्वरूप ही परमपद है, इसलिए प्रकृति (अज्ञानयुक्त चिति) उसे प्राप्त कर जिस प्रकार समुद्र में नदी समुद्ररूपता प्राप्त करती है उसी प्रकार तद्रूप बन जाती है ॥२६॥

यहाँ तक जितनी बातें कही गईं, उन सबका संग्रहकर उपसंहार करते हैं।

हे रामभद्र, जब तक उस परब्रह्म परमात्मा को चिति साक्षात् नहीं देखती, तब तक विशाल मोह के प्रभाव से आक्रान्त होकर प्रतिकूल इन सर्गों में और उन जन्म आदि दशाओं में भ्रमण करती है और जब उसे देख लेती है, तब तो उसमें तन्मय बनकर ऐसे डूब जाती है, जैसे कि मधु में भ्रमरी डूबती है ॥२७॥ हे रामभद्र, लगातार आनेवाले जन्म, मरण एवं मोहमय सकल दुःख जिससे शान्त हो जाते हैं, उस आत्मा को प्राप्त कर कौन पुरुष ऐसा है जो छोड़ दे ? क्या कोई रसायनों को (अमृत को) प्राप्त और अनुभव कर कहीं छोड़ सकता है ? ॥२८॥

पचासीवाँ सर्ग समाप्त

छियासीवाँ सर्ग

ब्रह्माण्डरूपी खोपड़ी को ग्रस लेनेवाले रुद्रशरीर का सूक्ष्मभाव से शिलारूप चिदाकाश में तिरोभाव तथा उस प्रदेश से भिन्न अन्य प्रदेशों के अन्य शिला, वृक्ष आदि सकलरूप ब्रह्म में सृष्टि की विचित्रता का दर्शन।

सबसे पहले रुद्रदेह के उपसंहार क्रम को सुनाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, उस महाकाश में उस प्रकार से अवस्थित ये महारुद्र जिस रीति से अपनी देहगत उक्त भ्रान्तिका त्यागकर शान्त हो जाते हैं, उस रीति का श्रवण कीजिये ॥१॥

भद्र, ब्रह्माण्ड की ऊपर–नीचे की दोनों खोपड़ियाँ तथा वह रुद्र तीनों उक्त चिदाकाश में उस

समय चित्रलिखित के सदृश निश्चल यानी चेष्टाशून्य थे, यही पहले मैंने देखा था ॥२॥ तदनन्तर एक मुहूर्तमात्र में अन्य आकाश में उस रुद्रने उक्त खण्ड (ब्रह्माण्ड के ऊपर–नीचे के दो हिस्से) उस तरह, सूर्यात्मक दृष्टि से देखे, जिस तरह द्यु और भूमि ॥३॥ तदनन्तर एक निमेषमात्र में उस रुद्रने अपने मुख से खींचे गये श्वासवायु से उन दोनों खोपड़ियों को अपने समीप लाकर पाताल–गुहा के सदृश मुख में फेंक दिया यानी मुख के भीतर डाल दिया ॥४॥ उस समय वह रुद्र भगवान्, जिसने कि ब्रह्माण्ड खण्डरूपी उग्र दुग्धसार और पक्वान के मण्डल को ग्रस लिया था, ऐसे एकरूप हो गये, जैसे आकाश में आकाश एकरूप हो ॥५॥ उसके बाद एक मुहूर्तमात्र में मेघ के सदृश वह हलके हो गये, इसके अनन्तर यष्टि के सदृश, इसके बाद प्रदेशमात्र (अंगूठे से लेकर तर्जनी तक के नापवाले–बित्ते भरके) हो गये ॥६॥ उसके बाद ऐसे रुद्र की काँच के छोटे टुकड़े के सदृश आकृति हो गई, यह मैंने देखा। फिर दिव्यदृष्टि द्वारा यह भी मैंने देखा कि वे आकाशमण्डल से भी छोटे अणु होने लग गये ॥७॥ भद्र, तदनन्तर परमाणुरूप हो गये, फिर एकदम तिरोहित (अदृश्य) हो गये। इस प्रकार उस तरह जगत् से लेकर रुद्र देह तक महारम्भ करनेवाले भी ये रुद्र शरत्काल के मेघखण्डों के सदृश मेरे देखते–देखते क्रमशः शान्त हो गये ॥८॥ भद्र, भगवान् शंकरजी ने आवरणयुक्त ब्रह्माण्ड रूपी कपाट उस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कि क्षुधार्त हरिण क्षुद्र पत्ते को निगल जाता है ॥९॥ तदनन्तर वह दृश्यरूप कालिमा से रहित चिदाकाशरूप शान्त केवल ब्रह्मरूप ही रह गया। वह आदि, मध्य और सीमा से शून्य केवल ज्ञानस्वरूप ही रहा ॥१०॥

अब पाषाणोदर–कथाकी समाप्ति दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

भद्र, इस प्रकार उस शिला के टुकड़े के कोटर में मैंने दर्पण में प्रतिबिम्ब–सा महान् विभ्रमरूप संसार एवं उसका महाप्रलय देखा ॥११॥ हे राघव, तदनन्तर उस अंगना का उस शिला का एवं उस संसारभ्रम का स्मरण कर मैं ऐसे ही विस्मय को प्राप्त हुआ, जैसे कि ग्रामीण पुरुष, जिसने कभी नगर न देखा हो, राजद्वार पर आकर परम विस्मय को प्राप्त होता है ॥१२॥ पुनः उस सुवर्ण की शिला को मैंने पूर्व प्रदेश से अन्य प्रदेशों में भी देखा। उसके अशेष अंगों में सभी जगह कालरात्रि के अंगों के सदृश अनेक सृष्टियाँ विद्यमान थीं ॥१३॥ भद्र, बुद्धिरूपी नेत्र से वे सृष्टियाँ उन शिलाखण्डों में दीख पड़ती हैं, और अद्वैतदृष्टि से वे नहीं भी दीख पड़तीं, सब जगह सब काल में सर्वात्मक वस्तु जब रहती है, तब वैसा हो ही सकता है ॥१४॥ यदि मांसमय दृष्टि से दूरपर स्थित वस्तु के सदृश आपाततः देखी जाय, तो वह केवल अकेली शिला ही देखने में आयेगी, उसमें कुछ भी सर्ग दिखाई नहीं पड़ेगा ॥१५॥ घनमण्डलवाली वह सुवर्णमयी शिला एकरूप ही स्थित थी। सन्ध्याकाल के मेघ के सदृश अतिसुन्दर एवं विशाल थी ॥१६॥ श्रीराघव, इसके बाद अत्यन्त आश्चर्य से युक्त होकर मैंने फिर उस शिला के दूसरे भाग के विषय में उसी प्रकार की दिव्यदृष्टि से विचार किया ॥१७॥ विचारकर ज्यों ही मैंने उसे देखा, त्यों ही वह दूसरा भाग भी अनेक तरह

के जगत् के आरम्भों से (सृष्टियों से) खचा-खच भरा ही मेरी दृष्टि में आया । पहले जिस प्रदेश को देखा था, उसी तरह से वह भी छिद्राकार में (आकाश में) अनेक तरह के अर्थों से सुन्दर ही लग रहा था ॥१८॥ इसी तरह फिर मैंने उसके अन्य प्रदेश को भी देखा, तो वह भी उसी प्रकार से अनेक तरह की सृष्टियों के आडम्बरों से परिपूर्ण ही था ॥१९॥ भद्र, उस शिला के जिस-जिस प्रदेश को मैं देखता, उस-उस प्रदेश में निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश, जगत् दिखाई देता था ॥२०॥ इसके बाद मैंने बड़े ही कौतुक से उस पर्वत की सभी शिलाएँ, भूमिभाग एवं तृण, गुल्म आदि के ऊपर जहाँ कहीं भी दृष्टिपात किया, वहाँ सर्वत्र उसी प्रकार अनेक तरह के आकारों से युक्त जगत् को विद्यमान देखा। भद्र, यह बुद्धि से (आधिभौतिक देहभाव की भ्रान्ति से शून्य सर्वसाक्षी मैं ही हूँ, इस बुद्धि से) ही देखा जाता है, चर्मचक्षु से नहीं ॥२१,२२॥

उस उस प्रदेश में जो जो विशेष विशेष देखा, अब उसे दर्शाते हैं।

कहीं पर प्रारम्भिक सृष्टि के लिए प्रजापति पैदा हो रहे थे, तो कहीं पर प्रजापति द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रमण्डल, दिन और रात की कल्पना की जा रही थी ॥२३॥ कहीं पर पृथ्वी की पीठ मनुष्यों के समूहों से भरी थी, तो कहीं पर राजा सगर के पुत्रों ने चार समुद्ररूपी विकट खाइयाँ अभी तक नहीं खोद पायी थीं ॥२४॥ कहीं पर कोई जगत् तो देवताओं की उत्पत्ति से शून्य और दानवों की उत्पत्ति से युक्त देखने में आया, तो कहीं पर कुछ जगत् सतयुग के आचरण और सज्जन प्राणियों से भरा मैंने देखा ॥२५॥ भद्र, कहीं पर कुछ जगत् कलियुग के आचरणों से युक्त तथा दुर्जन प्राणियों से भरे थे, तो कहीं पर कुछ जगत् नगरों की राशियों एवं दैत्यों के संग्रामों से अति संकीर्ण थे ॥२६॥ कहीं पर जगत् बड़े-बड़े पर्वतों के समूहों से इतना व्याप्त था कि उसमें तनिक भी अवकाश नहीं रह गया था और कहीं पर दूसरी कोई सृष्टि ही उत्पन्न नहीं हुई थी, केवल ब्रह्माजी ही उत्पन्न हुए थे ॥२७॥ कहीं पर कुछ जगत् ऐसे देखे कि उनमें पृथ्वी के सभी मानव जरामरण से रहित थे और कहींपर भगवान् शंकर ऐसी स्थिति में दिखाई दिये कि उनके मस्तकपर चन्द्ररूप भूषण ही नहीं रहा, क्योंकि भूषणरूप चन्द्र की उत्पत्ति ही वहाँ नहीं हुई थी ॥२८॥ भद्र, कहीं पर तो क्षीरसागर का मंथन ही नहीं हुआ था, इसलिए वह मृत्युग्रस्त देवताओं से पूर्ण था तथा वहाँ अमृत, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, धन्वन्तरि, कामधेनु, लक्ष्मी और विष भी उत्पन्न नहीं हुए थे ॥२९॥ कहीं पर शुक्राचार्य की मृतसंजीविनी महाविद्या पैदा करनेवाली महती तपश्चर्या में विघ्न डालने के लिए देवता उत्कण्ठित दिखाई दे रहे थे, तो कहीं पर भावी शत्रुओं के नाश के निमित्त दिति के पेट में घुसकर गर्भ के अवयवों को काटने के लिए इन्द्र उत्सुक थे ॥३०॥ कहीं पर जगत् में धर्म में ग्लानि न आने के कारण समस्त जनता स्वप्रकाश ब्रह्मज्ञान से पूर्ण थी, कहीं पर तो पदार्थस्थिति पूर्वसिद्ध अवयव रचना के क्रमसे विलक्षण ही थी ॥३१॥ कहीं पर जगत् अपूर्व वेद एवं शास्त्र के अर्थों के अनुसार आचरण तथा विचार में तत्पर दिखाई दिया तथा कहींपर महाप्रलय के क्षोभ से रहित अतएव सुन्दर निश्चलरूप से स्थित

दिखाई पड़ा ॥३२॥ कहीं पर तो जगत् में दैत्यों के समूहों से देवताओं के घर लुटे हुए मिले, और कहीं किसी जगत् में देवताओं के उद्यानों में गन्धर्व तथा किन्नर मधुर गाना गा रहे थे ॥३३॥ कहीं किसी जगत् में देवता और दानवों में समुद्रमंथन के लिए बना हुआ उत्तम सौहार्द (मेल) देखने में आया ॥३४॥ भद्र, इस प्रकार भूत, वर्तमान एवं भविष्य काल के महान् जगदाडम्बर को मैंने उस समय विश्वरूप महादेवजी के स्वरूप में यानी मायायुक्त चिदाकाश में देखा ॥३५॥

उसी जगत् के आडम्बरों को फिर दर्शाते हैं।

कहीं पर जगत् कल्पकाल के कुपित पुष्करावर्त मेघों के कारण व्याकुल कहींपर शान्त समस्त भूतों के समूहों से उपद्रवरहित था ॥३६॥ कहीं पर कुपित देवता, दावन एवं राजाओं से व्याप्त था, कहींपर सूर्य की उत्पत्ति ही न होने के कारण निरन्तर अनाशित अन्धकार से पूर्ण था ॥३७॥ कोई सूर्योदय के कारण अन्धकार से रहित अतएव ज्वालोदर के समान सुन्दर प्रतीत हो रहा था, और कहीं भगवान् के नाभिकमल की नाल में मधु और कैटभ छिपे हुए थे॥३८॥ किसी जगत् में नवीन ब्रह्माजी कमल की पिटारी में बालकरूपमें सोये पड़े थे, किसी जगत् में तो महाप्रलय में उन्नत अग्रभागवाले अक्षय वटके पत्ते के ऊपर भगवान् नारायण विश्राम ले रहे थे ॥३९॥ किसी जगत् में प्रलयरूपी महारात्रि का अतिशून्यरूप यानी प्रकाशरहित गाढ़ अँधेरा छाया हुआ था, तो किसी में शिला के पेट के सदृश निश्चल विशालाकृति आकाश ही दीख पड़ता था ॥४०॥ कोई तो सोया हुआ और जठर के सदृश मालूम पड़ रहा था, कोई अतर्कित (विलक्षण) तथा ज्ञानयोग्य ही नहीं था, इसलिए चारों ओर सुषुप्त–सा प्रतीत हो रहा था ॥४१॥ किसी जगत् में पंखों से अत्यन्त क्षुब्ध पर्वतरूपी कौओं से सारा आकाशमण्डल आच्छन्न था और किसी में तो वज्र से चूर्णित अतएव द्रवीभूत पर्वतों के कारण अपूर्व भासुरता दीख पड़ती थी ॥४२॥ किसीमें तो तरंगमालाओं से आकुल प्रमत्त समुद्र पृथ्वी और पर्वतों को ले जाते हुए दीख पड़े और कहींपर त्रिपुरासुर, वृत्रासुर, अन्धकासुर तथा बलि के संग्राम हो रहे थे, इससे वह बड़ा भयंकर प्रतीत हो रहा था ॥४३॥ कहीं पर मत्त पातालगजों से वसुन्धरा कम्पित हो रही थी और कहीं शेष के मस्तक से कल्पान्त में पृथ्वी लुढ़क रही थी ॥४४॥ किसी स्थान में छोटे बालकरूप रामजी राक्षस रावण को नष्ट कर रहे थे, तो किसी में राक्षस रावण ही सीता–हरण द्वारा राघव को ठग रहा था ॥४५॥ कहीं पर कालनेमि राक्षस ने भूमि पर धरे अपने पैर से तथा सुमेरु पर्वत के मस्तक पर रक्खे अपने मस्तक से महान् आकाश को आक्रान्त कर रक्खा था, यह भी मुझे देखने में आया ॥४६॥ कहीं पर सारा जगत् देवों को हटाकर दानवों द्वारा पालित था और कहींपर दानवों को हटाकर देवों द्वारा ही पालित था ॥४७॥ कहीं पर जगत् में अर्जुनयुक्त स्वजनपालक कृष्ण से पाण्डव तथा कौरवों के द्वारा महाभारत–युद्ध से अनेक अक्षौहिणियों का विनाश किया जा रहा था ॥४८॥

'कहीं छोटे बालक रामजी के द्वारा रावण मारा जा रहा था' यह सुनकर आशचर्यचकित हुए श्रीरामजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, क्या मैं पहले उत्पन्न हुआ था, यदि उत्पन्न हुआ था, तो क्या इन्हीं अवयवों से उत्पन्न हुआ, या दूसरे अवयवों से, यदि इन्हीं से उत्पन्न हुआ तो यह कैसे संभव है ? यह मुझसे कहिये ॥४९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, सभी पदार्थ बारबार दूसरे या उसी क्रम से अवयवसंनिवेश (आकृति) धारण करते हैं, जैसे कि बार-बार घड़े आदि में भरे जा रहे उड़द उसी या अन्य क्रम से अवयवसंनिवेश (आकृति) धारण करते हैं ॥५०॥ भद्र, कोई पदार्थ, जिनके सब क्रम समान हैं, शब्दों के अर्थों के तुल्य उसी आकृति से स्फुरित होते हैं या कोई समुद्र की तरंगों के सदृश उसी अथवा परस्पर भिन्न आकृति से स्फुरित होते हैं॥५१॥ राघव, फिर-फिर तुम, फिर-फिर हम और ये मनुष्य भी फिर-फिर उत्पन्न होते ही रहते हैं । वास्तव में तत्त्वदृष्टि से चेतनात्मा में कभी ये या दूसरे या यह सारा जगत् न उत्पन्न होता है या न स्फुरित ही होता है॥५२॥

मायादृष्टि से ही वे उत्पन्न होते हैं या अन्य उत्पन्न होते हैं, इस विषय का तो निर्णय है ही नहीं, यह कहते हैं।

समुद्र में वे ही तरंगें दूसरी बार आई या दूसरी तरंगें आई, यह जैसे अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है, वैसे ही भ्रमण कर रहे प्राणी वे ही आये या दूसरे आये इसका भी अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है ॥५३॥ भद्र, इस संसार में उत्पन्न हो रहे अनेकविध भ्रमों के कारण भूतसमुदाय आते और जाते रहते हैं । कोई तो उसी रूप से आते हैं, कोई अन्य रूप से आते हैं, कोई समान रूप से आते हैं और कोई विषम रूप से आते हैं ॥५४॥ चारों ओर भूत उसी रूप से घूमते हैं और अन्य रूप से भी घूमते हैं, अन्य क्या कहें ये भूत जगत्-रूपी सागर के जलकणरूप ही हैं, यह आप जानिये ॥५५॥

इस विषय का पूर्व मुमुक्षु-व्यवहारप्रकरण में जो कथन किया गया था, उसका स्मरण कराते हुए उसीको कहते हैं।

संसार के कोई प्राणी तो पूर्व के ही धन, बन्धु, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओं को लेकर ही बार-बार उत्पन्न होते हैं ॥५६॥ कोई जीव पूर्व के उन धन आदि से आधे समान होकर आते हैं और कोई चतुर्थांश से समान होकर आते हैं, तो कोई जीव ठीक वे ही (उसी शरीर के) बनकर आते हैं और कोई अन्य शरीर धारणकर बिलकुल असमान होकर आते हैं। इससे जीवों की एकता होने पर शरीर भी समान ही होने चाहिए, यह नियम नहीं है ॥५७॥

ऐसे ही जीवों का भेद होने पर शरीर भिन्न हों, यह भी नियम नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

किसी समय धन आदि से एकरूप होते हुए भी ये जीव काल के प्रभाव से अन्य समय में ठीक उनसे विपरीत हो जाते हैं। किसी समय काल के प्रभाव से सदृश होते हैं, तो शरीर के प्रभाव से विसदृश होते हैं ॥५८॥ चूँकि वे ही जीव राग, द्वेष, भोगलंपटता आदि दोषपूर्ण विचित्र विचित्र

धर्माधर्म चेष्टा के कारण कालवश विचित्र अनेक देह धारण से दूसरे दूसरे रूपवाले बनकर नीचे एवं ऊपर के लोकों में बार–बार आते जाते रहते हैं, इसलिए चंचल संसारमय समुद्र में चक्राकार आवर्तमय जो प्राणीरूप जल बह रहा है, वे सदृश हैं, विसदृश हैं, अथवा वे ही हैं या अन्य हैं, इस विषय का निर्धारण भलीभाँति कौन पुरुष कर सकता है यानी कोई नहीं कर सकता ॥५९॥

छियासीवाँ सर्ग समाप्त

सत्तासीवाँ सर्ग

देह, इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति के क्रम से अपनी देह में ही विश्व की कल्पना तथा अपनी स्वयंभूरूपता का श्रीवसिष्ठजी के द्वारा वर्णन।

जैसे मैंने ध्यानपूर्ण दृष्टि से शिला, वृक्ष, तृण आदि समस्त पदार्थों में सृष्टियाँ देखी थी वैसे ही अपने शरीर के अवयवों में भी ध्यानपूर्ण दृष्टि से अनेक सृष्टियाँ देखी, यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, शिला, तृण, गुल्मादि में विचित्र सर्ग देखने के बाद निरामय, सर्वव्यापी, अनन्त, चिदाकाशस्वरूप तथा समाहितचित्त होकर जब मैं देखने लगा, तो मैं क्या देखता हूँ कि मेरे शरीर के ही भीतर सर्ग स्थित है, जिसकी उपमा अंकुरित बीज से दी जा सकती है। यह सर्ग डेहरी के भीतर स्थित वृष्टि से सिक्त हुए बीज के अंकुर के सदृश है ॥१,२॥ जैसे बीज में भीतर विद्यमान अंकुर सींचने से विकसित होकर ऊपर की ओर निकल आता है वैसे ही मूर्त–अमूर्त, चेतन और अचेतन सभी वस्तुओं में यह जगत् है ॥३॥

अपनी समाधि में उस सृष्टि का आपने कैसे अनुभव किया ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जैसे सुषुप्ति–अवस्था से स्वप्नावस्था को प्राप्त चिन्मात्र पुरुष की स्वचेतन से स्वाप्न दृश्य भी विकसित होता है अथवा जैसे स्वप्नावस्था के हट जाने पर प्रबोध को प्राप्त हुए पुरुष का जाग्रतप्रपंच विकसित होता है वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में जिसने अपने स्वरूप का पृथक् रूप से अनुभव किया है ऐसे आत्मा में यह सृष्टि उदित होती है। हृदयाकाश में हुआ यह सृष्टि का उदय आकाशस्वरूप से (चिदाकाश से) पृथक् नहीं है ॥४,५॥

'हृदि सर्गोदयः' इससे आपने (हृदय) पद से हृदयाकाश कहा है और 'आकाशरूपतः' इससे मैंने आपका अभिप्राय 'चिदाकाश' समझा है, अपने इस मतलब को सम्बोधन द्वारा सूचित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी : 'भगवन्, मेरे स्पष्ट परिज्ञान के लिए विस्तार के साथ आप पुनः इसका वर्णन कीजिये', यह प्रार्थना करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : परमाकाशरूप हे वसिष्ठजी, चिदाकाशरूप आपमें सृष्टि कैसे प्रवृत्त होती है, यह आप मुझसे फिर कहिये, ताकि इसका मुझे ठीक–ठीक परिज्ञान हो जाय ॥६॥

श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा पूछे गये मतलब को विस्तार के साथ कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी

प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैंने अपने में सत् के तुल्य प्रतीत होनेवाले वस्तुतः स्वप्ननगर के समान असत् इस स्वयंभूरूपता का पहले जिस तरह अनुभव किया, उसका मैं आपसे वर्णन करता हूँ आप सुनिये ॥७॥ उस सुवर्णशिला आदि में महाकल्प के संगम को देखकर चिदाकाशस्वरूप मैंने शरीर के अन्य भाग में स्थित संवित् को सृष्टि देखने के संकल्प से कौतुकवश उन्मेषित किया–जागृत किया ॥८॥

पहले 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इस श्रुति में प्रतिपादित क्रम जिसका उपलक्षण है ऐसे आकाश की कल्पना कहते हैं।

वह निर्मल संवित् मेरे द्वारा ज्यों ही कुछ उन्मेष को प्राप्त होकर स्थित हुई त्यों ही मैं वहाँ कहीं पर आकाशताका–सा अवलोकन करने लग गया ॥९॥

यह आकाशता चिद्घन के भीतरी शून्यभावप्राप्तिरूप सूक्ष्मता आधिक्य न था, किन्तु चित् की सूक्ष्मता की अपेक्षा जाड्य अधिक होने से स्थूलता ही थी, इस आशय से दृष्टान्त द्वारा सम्भावना करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे नींद आ जाने से उसके द्वारा स्वप्न के जाग्रत लोक या स्वप्न के स्वप्नलोक में प्रविष्ट होते हुए आप अपनी आत्मा के ही समान घन उसके आधार स्वभाव को समझते हैं वैसे ही स्वभाव को प्राप्त चिदाकाश का मैंने अनुभव किया, यह आप सम्भावना कर लीजिये ॥१०॥ दिङ्मात्र (♨) आकाश ही सर्वप्रथम चिन्तन करने से चित्त होता है। तदनन्तर 'मैं आकाश हूँ' ऐसा जो वेदन है वह अहंकार कहलाता है। उसके बाद 'आकाशमेव' ऐसे निश्चय से और पूर्वभाव के विस्मरण से वह बुद्धि कहलाता है और वही (बुद्धि ही) जब संकल्प, विकल्प, काम तथा विचिकित्सा आदि की नानाविध कल्पनाओंवाली बन जाती है तब 'मन' इस नाम से कही जाने लगती है ॥११॥

वही इस तरह विषयों की कल्पना करने के अनन्तर उनकी ग्राहक इन्द्रियों की भी कल्पना करते है, यह कहते हैं।

इस तरह वह पहले शब्द–तन्मात्रा की कल्पनी करता है। उसके अनन्तर अन्य तन्मात्राओं की कल्पना करता है। तदनन्तर उनकी स्थूलता से पाँच इन्द्रियों की कल्पना करता है। इस प्रकार इन्द्रियों के समुदाय का उदय होता है ॥१२॥

इन्हीं विषयों तथा इन्द्रियों के कारण ही पहले दुःखरहित रहनेवाले आत्मा को स्वप्न की तरह व्यवहार में दुःखों की प्राप्ति होती है, यह कहते हैं।

जैसे सुषुप्ति से स्वप्न में प्रविष्ट हो रहे पुरुष को दृश्य के गहन (घने) आविर्भाव से युक्त जगत् का भान क्षण भर में होता है, वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में जब दुःखरहित शुद्ध आत्मा

(♨) अर्थात् अपनी चलनक्रिया के अनुकूलरूप से दिशाओं का अपने में पर्यालोचन करनेवाला।

इन्द्रियों द्वारा विषयों की ओर (अभिमुख) होता है, तब निमेषमात्र में ही उसको दुःख भासित होने लगता है ॥१३॥

स्वप्न में आकाशादि क्रम से सृष्टि नहीं होती, किन्तु एक ही समय में सहसा सम्पूर्ण जगत् का अवलोकन होने लगता है, इसलिए आपका यह विषम दृष्टान्त है, इस आशंका पर कहते हैं।

इस अनन्त परब्रह्म परमात्मा में जब एक ही समय में सारा दृश्य–जाल भासने लगता है, तब कोई तो उसमें क्रम का (🔔) वर्णन करते हैं और कोई नहीं भी करते ॥१४॥ क्षण के अन्दर दीर्घकाल की कल्पना के समान सुन्दर परमाणु के अन्दर भी दीर्घ देश की कल्पना से सम्पन्न ब्रह्माण्डात्मक चेतन आत्मा का मैंने ही अनुभव किया, अवलोकन किया। वास्तव में तो वह आत्मा निर्मल चिदाकाशरूप ही है ॥१५॥

जैसे वायु का संचालनस्वभाव है वैसे ही शरीर आदि की कल्पना करना मनका स्वभाव है, यह कहते हैं।

जैसे वायु स्वभाव से ही आकाश में निरन्तर चलता रहता है वैसे ही मन स्वभाव से सर्वत्र शरीर आदि का अवलोकन करता ही रहता है ॥१६॥ प्राथमिक मनकी कल्पनारूप उस परम शक्ति ने संसार के रूप आदि की जैसी कल्पना की है उसे स्वयं बड़े प्रयत्न से भी यह बदल नहीं सकती। कहने का तात्पर्य यह कि उत्तर कल्पनाओं में वही स्थिर नियति बनी रही ॥१७॥ यही कारण है कि उसके बाद मैं अपरिच्छिन्नस्वरूप रहने पर भी उसके द्वारा की गई परिच्छेद की कल्पना से परिच्छिन्न बन गया। सच पूछिये तो चितिरूप होने से उस चित्त के ही रूपमें शीघ्र वैसा मैं स्थित हुआ ॥१८॥ उसके बाद चिति के प्रतिबिम्ब की व्याप्ति से तेज के कण की तरह आकृतिवाले सूक्ष्म लिंग शरीर का मैंने अनुभव किया और फिर उसी सूक्ष्म शरीर की भावना करते करते मैं स्थूलदेहता को प्राप्त हुआ ॥१९॥ उसके पश्चात् 'मैं कुछ देखूँ' इस साधारण बोधसे जब कुछ देखने के लिए प्रवृत्त हुआ, तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं उस स्थूल शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियों की कल्पना द्वारा रूप आदि का अवलोकन करनेवाला बन गया हूँ॥२०॥ हे रघुवंशियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यहाँ जो कुछ नाम सुनाई पड़ता है वस्तुतः वह उस चिति का ही नाम है। परन्तु आपके सदृश महानुभावों ने जिनकी कल्पना की है ऐसे कुछ मुख्य नामों का अब (मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप) श्रवण कीजिये ॥२१॥ जिस छिद्र से मैं देखने के लिए प्रवृत्त हुआ, वह नेत्र कहलाता है, जिसे मैं देखता हूँ, वह दृश्य यानी रूप कहा जाता है और दर्शन तो उसका फल है ही ॥२२॥ जब मैं देखता हूँ, वह काल है, जैसे देखता हूँ, वह क्रम है और जहाँ मैं देखता हूँ, वह आकाश है। इस तरह इस आत्मा

(🔔) स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' इत्यादि श्रुतियों में एक ही समय में सृष्टि का श्रवण होने से एक क्षण के अन्दर ही दीर्घ काल की कल्पना द्वारा क्रम की उपपत्ति होती है।

की प्रौढ़ नियति प्रवृत्त हुई । कहने का तात्पर्य यह है कि नेत्र आदि इन्द्रियों के बाद देश, काल आदि की दृढ़ नियति भी सम्पन्न हो गई ॥२३॥ जिस जगह मैं स्थित हूँ, वह देश कहलाता है, यह मेरी आज की कल्पना है । यह आप मुझसे पूछ सकते हैं कि उस समय आप कैसे रहे ? सुनिये, उस समय मैं चिति का उन्मेषमात्र होने से केवल तन्मात्र का कारण था ॥२४॥ देह में चक्षु आदि छिद्रों की कल्पना आदि के दर्शन आदि जनित कौतुक के बाद वहाँ पर 'मैं देखूँ', ऐसा तनिक बोध मुझमें उदित हुआ । तदन्तर जब मैं नेत्ररूप दोनों छिद्रों से देखने लगा, तो मुझे कुछ ऐसा लगा कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, वह भी आकाश से भिन्न ही है ॥२५॥ जिन दो छिद्रों से मैंने देखा वे दोनों ये मेरे नेत्र स्थित हैं । इसके बाद 'मैं कुछ सुनूँ' यह वृत्ति मुझमें उदित हुई ॥२६॥ तत्पश्चात मैंने वहाँ पर कुछ थोड़ा-सा एक झंकार सुना । वह जोरसे फूँके गये शंख के शब्द-जैसा आकाश का स्वाभाविक शब्द था ॥२७॥ मैंने जिन दो छिद्र-प्रदेशों द्वारा संचरणशील वायु की सहायता से (📖) बहुत दूर तक फैले हुए शब्द का श्रवण किया वे दोनों कर्णच्छिद्र हुए ॥२८॥ तदनन्तर जिस प्रदेश से मैंने वहाँ जो कुछ थोड़ा-बहुत स्पर्श संवेदन का अनुभव किया, उसको त्वक् कहते हैं ॥२९॥ जिससे छुए हुए-से तत्-तत् अंगों का मैंने अनुभव किया, वह एकमात्र सत्यसंकल्पस्वरूप पवन कहा गया है ॥३०॥ इस रीति से अनुभव करनेवाले मुझमें स्पर्श-इन्द्रिय तन्मात्रा की सिद्धि हुई । और मुझमें रसास्वाद लेने की संवित् (इच्छा) प्रादुर्भूत हुई वही आस्वादन करने योग्य रसभेदों से युक्त रसेन्द्रिय तैयार हो गई ॥३१॥ घ्राण के संकल्प से आकृष्ट प्राणवायु के भेदरूप अपान से घ्राणेन्द्रिय और तन्मात्रा उत्पन्न हुई । इस प्रकार आकाशस्वरूप मुझे देह, इन्द्रिय और विषय सम्पत्ति आदि सब कुछ प्राप्त हो गया । लेकिन वास्तव में कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ ॥३२॥

तदनन्तर पाँचों इन्द्रियों की भोगवृत्ति मुझमें जबरदस्ती उदित हो गई, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जब सब इन्द्रियाँ और तन्मात्राओं के समुदाय मुझमें स्थित हो गये तब ये सबकी-सब पाँचों इन्द्रियों की भोग-वृत्तियाँ बलात् मुझमें उदित हो गई । उनका शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्धमात्र ही शरीर है । वे मिथ्या होने से ही वस्तुतः आकारशून्य हैं, किन्तु भ्रान्तिवश इनका स्वरूप प्रकाशित होता है ॥३३,३४॥ इस तरह देह, इन्द्रिय तथा विषय की भावना करता हुआ यानी उनका अभिमानी होता हुआ मैं स्थित हुआ । उसीको आजकल आपके सदृश जब 'अहंकार' इस नाम से कहते हैं ॥३५॥ दृढ़ अध्यवसाय से विशेष बढ़कर यही अहंकार 'बुद्धि' इस नाम से पुकारा जाता है और बाद में जब यह बुद्धि घनीभूत हो जाती है तब यह 'मन' इस नामसे कही जाती है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह भी आपको जान लेना चाहिये कि वही मन पुनः पुनः विषयों का चिन्तन करने से 'चित्त' रूप में सम्पन्न हो जाता है ॥३६॥ इस तरह वस्तुतः

(📖) श्रोत्रादि का व्यापार भी प्राण के अधीन है, यह दिखलाने के लिए 'विचरता मरुता' यह कहा गया है ।

चिदाकाशरूप सूक्ष्म शरीरधारी मैं ही अन्तःकरणरूपता को प्राप्त होकर स्थित हूँ ॥३७॥ चूँकि पवन से भी सूक्ष्म केवल आकाशमात्र शून्य–स्वरूप मैं आकृतिशून्य ही हूँ, इसीलिए सभी कल्पित हो रहे भाव पदार्थों का मैं न तो निरोधक हूँ और न निवारक ही हूँ ॥३८॥ इस प्रकार उस पूर्वकल्पित ब्रह्मात्मक देह में भावना करके जब मैं चिरकाल तक स्थिर रहा, उस समय मुझे यह प्रतीति हुई कि मैंने स्वयं अपने को ही चतुर्मुख देहवान् देखा है अर्थात् चतुर्मुख देहधारी मैं ही हूँ, ऐसी वृत्ति मुझमें उस समय उदित हुई ॥३९॥ वैसी वृत्ति होने से स्वप्न में उड़कर आकाश में संचरण कर रहा सुप्त मनुष्य जैसे शब्द करता है उसी तरह मैंने भी शब्द करना शुरू किया ॥४०॥

विशेष शब्द का अभिलाप करने में कोई विनिगमक न होने के कारण सर्वसाधारण अर्थवाले शब्दसमष्टयात्मक ॐकार का ही मैंने पहले–पहल उच्चारण किया, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद पहले–पहल मैंने बालक की नाईं जो शब्द किया वह ॐ था । वही शब्द आगे चल कर संसार में 'ॐकार' इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ॥४१॥ इसके पश्चात् स्वप्नावस्था में स्थित मनुष्य के शब्द के समान पूर्व कल्प में अभ्यस्त व्याहृति, गायत्री, वेदादि जो कुछ मैंने कहा, उसीको आप इस संसार में वाणीरूप जानिये, जो पीछे वाणी नामसे प्रसिद्धि को प्राप्त हुई ॥४२॥ इस तरह सृष्टि का कर्ता जगदगुरु मैं ब्रह्मा ही हो गया और इसके अनन्तर ब्रह्म शरीर को, जो कि मनोमय ही था, धारण करनेवाले मैंने सृष्टियों की कल्पना की ॥४३॥ इस तरह मैं ब्रह्मरूप से समुत्पन्न हूँ, मैंने किसी दूसरी वस्तु के रूप में जन्म नहीं लिया है । ब्रह्मस्वरूप होकर मैंने अपनी ही स्थूलदेहभूत आवरणयुक्त ब्रह्माण्ड देखा । ब्रह्माण्ड से बहिर्भूत मैं कुछ नहीं देख सका ॥४४॥ इस प्रकार मेरे इस मनोमय जगत् के सम्पन्न हो जाने पर भी वास्तव में कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ है। वह सब शून्य केवल आकाश ही था ॥४५॥

यही न्याय सारी सृष्टियों में जानना चाहिये, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार यानी मेरी इस सृष्टि के समान ही यह सब वेदनामात्र शून्य ही है। ये पृथिवी आदि भावपदार्थ तनिक भी नहीं है, यह बिल्कुल निश्चित है ॥४६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानस्वरूप परमात्मा में ज्ञान ही जगतरूप मृगतृष्णा जल भासते हैं। यह हमारा बाह्य जगत् बाह्यआकाश में नहीं है, किन्तु ब्रह्माकार ही वैसा स्थित है ॥४७॥ मरुस्थल में जल बिलकुल नहीं है, किन्तु बिना कारण के ही अन्तःकरण से क्षुब्ध हो अपने में संभ्रम धारण कर बुद्धि उसमें जल देखती है, लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धि का वैसा देखना वस्तुतः उसका भ्रम है, वह जलको नहीं देखती, बल्कि जलके भ्रम को वह उस तरह देखती है ॥४८॥ इसी तरह ब्रह्म में जगत् नहीं है, यह बिल्कुल सही है, फिर भी बिना कारण के ही अज्ञानावृत संवित्स्वभाव से संविदात्मा वैसा उसे देखता ही है । उसका वैसा देखना वस्तुतः उसकी भ्रान्ति है । वह एकमात्र अपनी भ्रान्ति से वैसा संभ्रम को देखती है, न कि ब्रह्म में जगत् को । अथवा यों कह

सकते हैं कि वह ब्रह्म में जगत् क्या देखती है, बल्कि भ्रान्ति का संभ्रम (विलास) देखती है ॥४९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, असद्रूप ही यह जगत् अन्तःकरण में ही ऐसे व्याप्त है, जैसे संकल्पप्रयुक्त मनोराज्य तथा स्वप्नकाल में निर्मित नगर आदि व्याप्त रहता है ॥५०॥ जैसे समीप में सोये हुए मनुष्य के स्वप्नका उसके (स्वप्नद्रष्टा के) चित्त में प्रवेश किये बिना कुछ भी अनुभव नहीं किया जा सकता, परकायप्रवेश द्वारा उसके चित्त में प्रवेश करने से तो उसका अनुभव किया जा सकता है, वैसे ही जगत्कल्पना के अधिष्ठानभूत चितिशिला में प्रवेश किये बिना दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारवाले जगत् का अनुभव नहीं होता, चितिशिला में प्रवेश कर उसका अनुभव होता है। दिखाई देने पर भी वह वैसा नहीं है, किन्तु असत् ही है ॥५१,५२॥ यदि आप आधिभौतिक भावमय नेत्र से देखना चाहें, तो वे शिलापर्यन्त तत्-तत् ब्रह्माण्ड आपको तनिक भी नहीं दिखाई दे सकते, एकमात्र लोकालोक पर्वत को ही आप देख सकते हैं ॥५३॥ आतिवाहिक देह से यदि परमबोधदृष्टि से देखा जाय, तो वह सृष्टि निर्मल परमात्मस्वरूप ही योगियों को दिखाई देती है ॥५४॥ तत्त्वदृष्टि से यदि देखा जाय, तो सृष्टि का निर्वाण एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही सर्वत्र दिखाई देता है। इससे विपरीत रूपसे देखने पर तो वह कुछ भी नहीं अभिलक्षित होता ॥५५॥

तत्त्वदृष्टि और योगी की दृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रशंसा करते हैं।

शुद्ध बुद्धि उपपत्ति तथा विचारयुक्त होकर जो देखती है, उसे अपने तीनों नेत्रों से न तो भगवान शंकरजी देख पाते हैं और न अपने हजार नेत्रों से इन्द्र भगवान् ही देख पाते हैं ॥५६॥

वहाँ जीवन्मुक्त योगियों की दृष्टि से देख रहे स्वयं तत्त्वज्ञानी श्रीवसिष्ठजी को जब 'आकाश की तरह यह सारी पृथिवी भी सृष्टियों से व्याप्त है' यह बुद्धि उदित हो गई तब क्रमशः पृथिवी आदि एक-एक भूत में अहंभाव की धारणा से उन्होंने जो-जो कौतुक अपने-आप देखा उन सबका आगे चलकर वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

योगदृष्टि से जब मैंने यह जान लिया कि जैसे सृष्टियों से व्याप्त आकाश है वैसे ही पृथिवी भी अनेक सृष्टियों से व्याप्त है, तब पृथिवी की धारणा से युक्त मैं ध्याता होकर स्थित हुआ ॥५७॥ जैसे चक्रवर्ती राजा केवल स्वदेह में अहंभाव का त्याग न करता हुआ ही समस्त भूमण्डल के ऊपर ममता का भाव धारण करता है उसी तरह चिदाकाश शरीर में भी ब्रह्माहंभाव का परित्याग न करता हुआ ही धराहंभाव से यानी 'पृथ्वी मैं ही हूँ' इस तरह की पृथिवी में अहंभाव की धारणा से पृथिवीरूपधारी बन गया ॥५८॥ तदनन्तर हे श्रीरामचन्द्रजी, उस पृथिवी की धारणा से पृथिवी के अभिमानी जीव की स्वरूपता प्राप्त कर द्वीप, पर्वत, तृण, वृक्षादि की देह का मैंने अनुभव किया ॥५९॥

जो श्रीवसिष्ठजी ने अनुभव किया, उसका वे वर्णन करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तब मैं विविध प्रकार के वन तथा वृक्षरूपी रोमों से परिपूर्ण, अनेक तरह की रत्नावलियों से व्याप्त तथा अनेक तरह के नगररूपी आभूषणों से सुशोभित भूतलस्वरूप हो गया (🔔) ॥६०॥ मैं अनेक गाँव गुफारूपी पर्वों से परिपूर्ण, पातालबिलरूपी उदर से युक्त, सात कुलपर्वतरूपी भुजाओं से आश्लिश्ट द्वीप तथा समुद्ररूपी कंकणों से अन्वित भूपीठ हो गया॥६१॥ भूपीठ रूप मैं दिग्गजों के मस्तक समूहों तथा शेषनाग के हजार सिरों से थामा गया, तृणों के समुदायरूप सूक्ष्म रोमों से खूब ढका गया और गुल्मरोग की गाँठो की तरह पर्वतों के समूह मुझ में दिखाई देने लगे ॥६२॥ सेनासमूहरूपी तन्तुओं की गाँठ–जैसे जिनके हाथी खूब सुशोभित हो रहे थे, ऐसे अनेक राजे परस्पर युद्ध द्वारा भूपीठरूप मेरा हरण करने लगे, अनेक प्राणियों से मेरा अंग उपभुक्त होने लगा और ग्राम, नगर तथा प्रदेश आदि की व्यवस्था से मैं खूब बढ़ने लग गया ॥६३॥ हिमालय तथा विन्ध्याचल मेरे सुन्दर कन्धे थे, सुमेरु पर्वत ऊँची गर्दन था, गंगा, यमुना आदि नदियों के प्रवाहरूपी मुक्ताहारों से मेरा शरीर ब्रह्मझंकारयुक्त हो उठा ॥६४॥ गुहाओं से गहन कछार आदि देशों तथा आदर्श–मण्डल जैसे अनेक सागरों से मैं परिपूर्ण हो गया और मरुदेश तथा ऊसर स्थलरूपी सफेद सुन्दर वस्त्रों से भासित होने लगा ॥६५॥ पहले पैदा हो चुके महासागरों से प्रलयकाल में बिलकुल परिपूर्ण, परन्तु इस समय तो स्नानकर ऊपर आये हुए के समान सब ओर से मैं पवित्र, पुष्पों की वन मालाओं से अलंकृत तथा चन्दन की जगह पर स्थित सघन धूलियों से लिप्त था ॥६६॥ किसान सब मेरे ऊपर प्रतिदिन हल जोतने लग गये और शीतल पवन पंखा डुलाने लगे । मैं सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से तापित तथा वर्षा के जल से सिक्त होने लग गया ॥६७॥ विशाल, सम भूप्रदेशरूपी वक्षःस्थल से अलंकृत, पद्माकाररूपी नेत्रों से भूषित, सफेद और काले मेघरूपी (🔥) पगड़ी से सुशोभित तथा दसों दिशाओं का उदर ही मेरा मन्दिर (घर) था ॥६८॥ मैं लोकालोक पर्वत के समीप में स्थित, जिसका मैंने आपसे पहले वर्णन किया है, महाखातवलयरूप (📖) उग्र मुख से भीषण हो गया । उस समय अनन्त प्राणिसमूहों का परिस्पन्दन ही मेरा परिस्पन्दन तथा उनका एकीभूत चेतन ही मेरा चेतन हुआ ॥६९॥ विशाल खण्दक के मण्डपरूप अनेकविध पृथक्–पृथक् भूत समूहरूपी कीड़ों से बाहर तथा भीतर से मैं व्याप्त हो गया अर्थात् उन प्राणियों में जो देव, दानव तथा गन्धर्व थे, उनसे तो मैं व्याप्त हो गया । मेरे कहने का तात्पर्य यह कि भूतलरूप मुझमें बाहर तथा भीतर से अनेक तरह के प्राणियों का समुदाय ठसा–ठस भर गया ॥७०॥ भूतलरूप मैं पातालरूपी इन्द्रियछिद्रों में नागों तथा असुररूपी कृमिसमूहों से एवं सात समुद्रों के अन्दर स्थित जलचरों से व्याप्त हो गया ॥७१॥

(🔔) यहाँ से शुरू करके इस सर्ग के अन्ततक देहाधार से भूपीठ का ही वर्णन करते हैं ।

(🔥) यहाँ प्रकरणवश सित और असित घन से सूर्य और चन्द्रमा ग्रहण है ।

(📖) विशाल खन्दक के मण्डलरूप ।

अपनी कही हुई बातों का संक्षेप से उपसंहार करते हुए श्रीवसिष्ठजी अनेक विशेषणों से भूतलरूप अपने को विभूषित करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, (आपसे अधिक मैं क्या कहूँ, संक्षेप में मैं आपसे यही कह देना उचित समझता हूँ कि) भूतलरूप मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीपनामक प्राणियों के भोग्य स्थल और जंगलों के समूहों से व्याप्त हो गया । विविध प्रकार के पर्वत, नदी आदि की पंक्तियों तथा जनपंक्तियों से वेष्टित मण्डलकोशों के अनेक खण्ड मुझमें दिखाई देने लगे तथा लताओं, अनेक सरोवरों, सरिताओं, शत्रुसमूहों एवं असंख्य कमलखण्डों से मैं व्याप्त हो गया ॥७२॥

सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठासीवाँ सर्ग

अपने शरीररूप भूपीठपर जहाँ तहाँ विद्यमान तथा कौतुकवश आँखों से देखे गये विशेष-विशेष पदार्थों का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे मनुकुल में उत्पन्न श्रीरामजी, जिस तरह मैंने आपसे वर्णन किया, उस तरह मैं भूपीठरूप बन गया। उसके बाद यानी पूर्ववर्णित साधारणरूप से समस्त भूधर्मों से घटित अपनी देह को देखने के बाद नद, नदी, समुद्र आदि विशेषाकारों को जानने की इच्छा से मैंने जैसा अनुभव किया, उसे आप सुनिये ॥१॥ कहीं पर तो भूपीठ में पति, पुत्र, भाई आदि के मरण से विलाप कर रही स्त्रियों की करुणवेदना सुनाई दे देती थी, तो कहीं पर उन्नत ताण्डव नृत्य कर रही रमणियों के महान् उत्सवों से आनन्द की धूम मची थी ॥२॥ कहीं पर दुर्निवार दुर्भिक्ष के कारण बीभत्स क्रन्दन हो रहा था, कहीं पर दुष्ट चेष्टाओं का जाल बिछा था, कहीं पर सुवृष्टि के कारण फले हुए धानों की सम्पत्ति से चारों ओर घन सौहार्द निखर रहा था ॥३॥ कहीं पर अग्नि के महादाह से देहों के जल जाने के कारण लोग उग्र वेदना से छटपटा रहे थे, कहीं पर जल की बाढ़ से नगर एवं कसबों के कुछ हिस्से छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥४॥ कहीं पर जिले के जिले चंचल सामन्तों के द्वारा लूट लिये गये थे, तो कहीं पर जिले के जिले परले सिरे के दुरात्मा राक्षस एवं पिशाचों से भरे पड़े थे ॥५॥ कहीं पर जलाशयों की पूर्ति से क्यारियों एवं बगीचों एवं बगीचों का सिंचन हो जाने के कारण सस्य, गुल्म आदि का अग्रभाग बड़ा ही पुलकित प्रतीत हो रहा था, कहीं पर गुफाओं के उदरच्छिद्र से निकली हुई वायु ने मेघमण्डल को वेष्टित कर रक्खा था ॥६॥ कहीं पर मारे हर्ष के पुलकित अपने अंग-केशों के सदृश अंकुररूपी रोम उगे हुए थे, कहीं पर जल के जबरदस्त प्रवाह से उत्पन्न विक्षोभ के कारण भूतल ऊँचा नीचा हो रहा था और इससे भला लगता था ॥७॥ कहीं पर नगर, पर्वत, वन और पत्तनों के अन्दर गड्ढे हो गये थे, इन गड्ढों के भीतर बड़ी-बड़ी शिलाएँ पड़ी थीं, इससे वे गड्ढे एक प्रकार से सश्रृंग से अतएव अत्यन्त भयंकर लगते थे । कहीं पर नगर आदि में रहनेवाले मनुष्यों के मण्डलों के संचलन में उनके पैर की रेखा के चिह्न पड़ने की शंका से भूतल कुछ मृदु कम्पन भी

कर रहा था ॥८॥ कहीं पर रण में सामन्तों द्वारा क्षुब्ध सैन्य का संहार किया जा रहा था, कहीं पर शान्त समस्त सामन्तसमूह सुखपूर्वक बैठा हुआ था ॥९॥ कहीं पर चारों ओर जनता से शून्य जंगल ही जंगल था, उसमें उल्लासी वायुओं के झकोरों से झंकार हो रहा था । कहीं पर जंगल में पहले काटा गया फिर बोया गया, फिर तैयार हुआ धान दीख पड़ता था ॥१०॥ कहीं पर हंस, बत्तक आदि पक्षियों से व्याप्त सरोवरों में सुन्दर सुन्दर कमल खिले थे, कहीं पर मरुभूमि में आँधी से उड़ी हुई धूलियों से स्थूल खम्भों को पैदा करनेवाले धूलिधूसर वायु बह रहे थे ॥११॥ कहीं पर नद, नदी आदि के प्रवाहों के खेलपूर्वक परस्पर संघर्षों से घर–घर ध्वनि हो रही थी, कहीं पर अंकुर आदि की उत्पत्ति नहर, रहट आदि यन्त्रों से सींचे गए खेत में धान आदि बीजों का वर्धन हो रहा था ॥१२॥ कहीं पर भीतर कीटमुखों का मृदु स्पन्दन अनुभूत हो रहा था और कहींपर कीड़े, हे श्रीवसिष्ठजी, मुझे यहाँ शिला आदि के संकट में फँसा हुआ जानकर आप ही मेरी रक्षा कीजिये यों जता रहे थे ॥१३॥ भद्र, कहीं पर वटवृक्षों के जंगल में पृथ्वी में शिखाओं के घुस जाने के कारण मृत्तिकाभाग के अंगो को पीड़ित करनेवाले शाखासमूहों का विशालस्वरूप दीख पड़ता था, तो कहीं पर मूलजाल को पकड़कर वृक्षों का धारण दिखाई देता था ॥१४॥ कहीं पर पर्वतों की शिलाओं के सदृश घनीभूत वृक्षों ने परस्पर अत्यन्त संश्लिश्ट होकर दिशाओं के तटरूप अंगो को भर दिया था, इससे समुद्र के विलास से वेष्टित सा सारा भूपीठ भास रहा था ॥१५॥ कहीं पर इतने घने वृक्ष उगे थे कि पृथ्वी पर सूर्य अपनी किरणों को ठीक ठीक रीति से फैला नहीं सकता था, इसलिए अपनी गति को रोकने के अपराध से क्रुद्ध सूर्य–किरणों के द्वारा अपना रस खींच लेने के कारण अरण्य में सूखे पल्लव संकुचित हो गये थे और घने अंग–प्रत्यंगों का निपीडन भी हो रहा था ॥१६॥ कहीं पर पर्वतों की चोटियों पर रहनेवाले हाथियों के दन्तप्रहाररूप वज्रों के कठोर आघात वृक्षों के घने अवयवों में विद्यमान दृढ़ स्थिरता की ओर होते भी मैंने देखे ॥१७॥ कहीं पर यह दृश्य देखा कि नेत्रों को मूँदे हुए प्रसन्नशरीर समाधिनिष्ठ महात्माओं को अपूर्व रोमांकुरों का चमत्कारी उल्लास हो रहा है । वह रोमांकुरोल्लास सूचित करता था कि उनको सूक्ष्मतत्त्व का अनुभव हो गया है ॥१८॥ कहीं पर मक्खी, जूँ एवं मच्छरों के समूहों के निवास के मैले–कुचैले वस्त्र के सरीखा ही भूतल था और कहीं पर तो छोटी–मोटी भित्तियों के खण्डों तथा प्रमाद से कमलकोश में सोये हुए दुष्ट भ्रमरों को मर्दित करने के कारण शत्रुरूप हाथियों द्वारा क्रीडा से हल के सदृश वप्र आदि का आकर्षण भी हो रहा था ॥१९॥ कहीं पर हिमालय आदि प्रदेशों में शीत से छिन्न–भिन्न अंगोवाले जीवों की जर्जर हुई त्वचा को पूर्णरूप से व्याप्तकर स्थित था, कहींपर जलको भी पाषाण बना रहा था और कहीं पर कठोर पवन चल रहा था ॥२०॥ कहीं पर विदलित कोमल अंगो के भीतर कीटसमूह घुस रहा था, कहीं पर अंग आदि उत्पन्न ही हो रहे थे और कहीं जल में मज्जन ही हो रहा है इस प्रकार मैंने अपने भूतलरूप शरीर में अनुभव किया ॥२१॥ भद्र, अपने भूतलरूप शरीर में मैंने कहींपर यह अनुभव किया कि बीजों में वृष्टि की अधिकता हुई, इससे धीरे–धीरे उनके

भीतर प्रविष्ट जलकणों से पहले आहार हुआ, फिर उसके बाद उनके बाहर प्रकट हुए अंकुररूपी रोमों की अभिवृद्धि हुई ॥२२॥ हे श्रीरामजी, मेरे भूतलरूप अंगों में कहीं पर सरोवरों ने मन्द-मन्द पवनसे हिलाये गये कोमल कमलिनियों के दलों के आस्तरणों द्वारा अपूर्व आनन्दरूप क्रीडाका, मानों मेरे लिए, निमार्ण कर दिया ॥२३॥

अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

नवासीवाँ सर्ग

भूमि की धारणा से चिदाकाश में देखा गया यह भूमण्डल तथा सम्पूर्ण जगत् मनोमात्र है, यह वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : गुरुवर, कौतुक से अपनी आत्मा में सकल जगतों को देखने के लिए प्रवृत्त हुए आप पार्थिव धारणा बाँधकर क्या हम लोग जिस मिट्टीपाषाणादिरूप भूलोक को देख रहे हैं, तद्रूप हो गये अथवा मनोमात्रमय यानी मनोराज्य के सदृश मृत्तिकादिशून्य स्वप्नमय भूलोक हो गये ? यह कहिये ॥१॥

काल्पनिक दृष्टि से या तात्त्विक दृष्टि से यदि विचारा जाय, तो उक्त दो प्रश्नों में कोई भेद ही नहीं है, यह सूचित कर रहे श्रीवसिष्ठजी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यदि आप काल्पनिक दृष्टि से पूछते हैं, तो आपकी दृष्टि से मिट्टी, पत्थर आदि रूपसे प्रसिद्ध जो भूमण्डल है, वही केवल मनका विकार होने से मानस भी है, इसलिए मैं जो विस्तृत भूमण्डलरूप हो गया, वह मानस और यह प्रसिद्ध-दोनों रूप ही बन गया था । यदि आप तात्त्विक दृष्टि से पूछते हैं, तो वास्तव में न तो मैं मानसरूप हुआ और न प्रसिद्ध जगद्रूप ही हुआ था ॥२॥

दूसरे श्लोक में पूर्वार्ध से जो कहा, उसका प्रतिज्ञापूर्वक समर्थन करते हैं ।

यदि आप सत् मानते हैं या यदि असत् मानते हैं, दोनों ही पक्षों में यह भूपीठ कुछ भी अमानस हो ही नहीं सकता । यह केवल मनकी कल्पना ही है, क्योंकि मनके अस्तित्व में ही उसमें अस्ति-नास्ति कल्पना होती है ॥३॥ भद्र, मैं शुद्ध चिदाकाश ही हूँ, उस चिदाकाशरूप मुझमें जो चिदात्मा का कुछ स्फुरण हो जाता है, उसीका नाम संकल्प कहा गया है ॥४॥ वह (प्रसिद्ध) मन, वह भूमण्डल, वह जगत् और वह (प्रसिद्ध) पितामह ये सबके सब चिदाकाश में, आकाश में संकल्पनगर के सदृश, केवल मनरूप नभ स्फुरित होते हैं, अतः ये मनोमय ही हैं ॥५॥ इस तरह वह जो कुछ मैं बन गया, वह सब मेरा संकल्प था, अतः वह विस्तृत मनोरूप ही रहा । केवल धारणाभ्यास से पुष्ट होकर वह भूमण्डल होकर स्थित हो गया था ॥६॥

अथवा अज्ञानियों की दृष्टि से प्रसिद्ध मिट्टी, काठ आदिरूपता जो लोक में है उसका तो 'अपागादग्नेरग्नित्वम्' इत्यादि श्रुति से निषेध किया गया है, अतः तत्त्वज्ञान की धारणा में जो

कुछ देखा जाता है, उसका स्वरूप अज्ञानियों की दृष्टि से प्रसिद्ध स्वरूप नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं ।

भद्र, वह मानस भूमण्डल मिट्‌टी, पत्थर आदिरूप यह भूमण्डल नहीं है, उससे विलक्षण मनोमय है, चिदाकाशमात्र का स्फुरण है, चितिका अचेत्य (चेत्यभिन्न) स्फुरण है ॥७॥

यदि अमूर्त चिदाकाश का स्फुरण ही इस तरह का यह सब कुछ है, तब वह मूर्तरूप इदंप्रत्यय को (साकार 'यह' व्यवहारको) क्यों धारण करता है, इस पर कहते हैं ।

चिदाकाशमात्रस्वरूप होता हुआ वह दीर्घकालतक वैसा ही स्थित रहता है, धारणा के अभ्यास से पुष्ट होकर जब 'इदम्' (यह) व्यवहार से उसका अनुभव होने लगता है तब वह मानसत्वका (मनोमयरूपता का) परित्याग कर देता है । सारांश यह है कि स्वप्न आदि में केवल मानसरूप अतएव अस्थूल पृथ्वी आदि का जाग्रत के सदृश 'इदम्' व्यवहार से ही अनुभव होता है, इसलिए उनमें मनोमयता रहने पर भी तिरोहित हो जाती है, इस स्थिति में दूध जब दधिरूपमें बन जाता है, तब उसमें जैसे दूध स्वरूपता का अनुभव नहीं होता, वैसा यहाँ मानसत्वका अनुभव नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिए, किन्तु यही कहना चाहिए कि, तरंग, कुण्डल एवं साड़ी के रूपमें ही जैसे जल, सुवर्ण एवं कपासरूपता है, वैसे ही यहाँ पर मानसत्व है ही, किन्तु उक्त व्यवहार के बलसे वैसा अनुभव नहीं होता, यह जानना चाहिए ॥८॥ भद्र, यह भूमण्डल स्थिर, अत्यन्त कठोर, अतिविस्तारवाला है, इस प्रकार की बुद्धि, आकाश में नीलताबुद्धि के सदृश, चिरकाल के अभ्यास से ही उत्पन्न होती है ॥९॥ हे रघुवर 'घट आदि तो केवल वाणी के ही विकार हैं, वास्तव में तो वे कुछ नहीं है, मिट्‌टी रूप ही हैं, मिट्‌टी ही सत्य है' । इस श्रुतिदर्शित न्याय से यदि देखा जाय, तो अज्ञानियों की दृष्टि से प्रसिद्ध इदंरूप यह पृथ्वीतल है ही नहीं, किन्तु मनोरूप आदि सृष्टि का जो सूक्ष्मरूप एक ही था, वही 'त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्' इस श्रुति से उपदर्शित यों इदम् स्थूलरूप बनकर स्थित है ॥१०॥

इदंप्रत्ययलब्धत्वात्' (इदं व्यवहार से उसका अनुभव होने से) इस उक्ति को स्पष्ट करते हैं ।

जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही नगर के रूपसे चिदाकाश में भासता है, वैसे ही सृष्टि के आदि में चिदाकाश ही इस स्थूल जगत् के रूप से चिदाकाश में स्थित है ॥११॥ हे रामजी, चितिरूपी बालक का (ब्रह्माजी का) त्रिजगत्, यह भूतल आदि सब दृश्य भी सदा एक मनोराज्य ही है, यह आप जानिये ॥१२॥ चिद्रूप आत्मा का संकल्प चिद्रूप से भिन्न नहीं है, इसलिए जगत् तन्मय ही है । वस्तुतः जगत् न तो सत्यरूप है, न पिण्डरूप है और न भासमान ही है ॥१३॥

अज्ञानियों की दृष्टि से यदि निष्कर्ष निकालें, तो यह जगत् अज्ञातचितिरूप ठहरता है और तत्त्वदृष्टि से निष्कर्ष निकालें, तो शुद्ध चिन्मात्ररूप ही ठहरता है, इस आशय से कहते हैं ।

यह दृश्य अपरिज्ञात चेतनमात्ररूप है और चेतनका परिज्ञान हो जाने पर तो कुछ भी नहीं है ।

तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर तो तत्त्व वस्तु ही इसका स्वरूप बन जाती है। भद्र, इसका मैं दीर्घकाल से उपदेश दे रहा हूँ और आप उसे सुनते भी हैं, फिर आप क्यों प्रबुद्ध नहीं होते ? ॥१४॥

किस तरह का ज्ञान हो जानेपर जगत् चेतनमात्ररूप बन जाता है, इस पर कहते हैं ।

सब कुछ चारों ओर से शान्त चिदाकाशमात्ररूप ही है, अपने आप ही आत्मा में वह स्फुरित होता है, भूमण्डलरूप और दृश्यरूप चिति ही है, जो द्वैत एवं एकता से रहित है ॥१५॥ जैसे वैडूर्य आदि मणि कुछ व्यापार न करती हुई भी स्वभावतः शुक्ल, पीत आदि किरणों का निर्माण करती है ॥१६॥

'नेति नेति' इत्यादि श्रुति का पर्यालोचन द्वारा उपसंहार करते हैं ।

चूँकि चेतनरूप आत्मा न कुछ करता है और न अपना असली स्वरूप छोड़ता है, इसलिए न तो यह मृत्पाषाणादिमय महीतल कुछ है और न मनोमय ही कुछ है ॥१७॥ निरन्तर चिदाकाश ही महीतल के सदृश भासता है, तलभावशून्य चिदाकाश ही अपने स्वरूप में स्वभावतः निर्मलतल होकर स्थित है ॥१८॥ प्रसिद्ध यह यथास्थित जगत् और वह धारणाकल्पित जगत् दोनों एकमात्र आत्मा का स्वाभाविक स्फुरणमात्र ही है, अत्यन्त निर्मल चिदाकाश ही भेद में प्रवेश कर रहे स्वभाव के बल से यानी मायाशबल से भूमण्डल-सा बनकर स्थित है ॥१९॥

चिति के विवर्तभाव में धारणाकल्पित (समाधिकल्पित) भूमण्डल और यह प्रत्यक्ष भूमण्डल दोनों ही समान हैं, यह कहते हैं ।

यह प्रत्यक्ष भूमण्डल और वह धारणाकल्पित भूमण्डल-दोनों ही महाचिति के स्वरूपभूत होकर ऐसे स्फुरित होते हैं, जैसे आपका स्वरूपभूत स्वप्ननगर होकर स्फुरित होता है ॥२०॥ यह प्रसिद्ध भूतल चिदाकाशमात्ररूप है मेरी धारणा से कल्पित भूतल भी चिदाकाशमात्ररूप है। परन्तु वह जो भासता है, उसमें कारण है-अज्ञानउपहित आत्मा का ज्ञान । आत्मा का ज्ञान हो जाने पर तो यह दोनों भूमण्डल कहीं पर भी नहीं रहते ॥२१॥ श्रीरामजी, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें होने वाले त्रैलोक्य का समस्त भूतजाल केवल भ्रान्तिरूप ही है, वह संकल्प-जैसा है, उसकी तुलना ठीक मनोराज्य से की जा सकती है ॥२२॥ हे प्रिय, जो हो चुके हैं, जो होनेवाले हैं तथा जो वर्तमान में हैं, वे सभी भूमण्ड़ल सर्वाधिष्ठान होने के कारण सर्व-साधारण भावको प्राप्त आत्मसत्ता के ही स्वरूपभूत हैं यानी आत्मसत्ता से अलग नहीं है ॥२३॥ वे सत्तासामान्यरूप हैं, इसी कारण वे और उनके भीतर विद्यमान सब वस्तुएँ मैं ही हूँ, यों धारणा बाँधकर मैंने मनसे उनका अनुभव किया और साक्षी दृष्टि से निःशेष दर्शन भी किया ॥२४॥ हे श्रीरामजी, चिन्मात्ररूप, जरावस्था से शून्य यह परमात्मतत्त्व ही अबोधकाल में अपनी शुद्धरूपता का परित्याग न करके ही यथास्थित इस समस्त जगत् को मानों सद्रूप बनाकर धारण करता है, ज्ञान हो जाने पर तो वह कुछ भी धारण नहीं करता, यही इसकी मुक्ति है ॥२५॥

नवासीवाँ सर्ग समाप्त

नब्बेवाँ सर्ग

पृथ्वी के अन्दर अनन्त जगतों की दृष्टि तथा जलधारणा से समस्त जललीलाओं का पूर्ववत् वर्णन।

जैसे प्रसिद्ध जगत् में चाँदी की शिला आदि विभिन्न प्रदेशों में अनेक ब्रह्माण्ड हैं वैसे ही धारणाओं से देखे गये भूमण्डलों में भी प्रत्येक वस्तु में वे जगत् हैं या नहीं यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्र यह प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, इसके बाद मुझसे यह कहिए कि जैसे प्रसिद्ध जगत् की वस्तुओं में प्रत्येक में आपने अनेक जगत् देखे वैसे ही आपने धारणाभ्यास से जिस महीपीठ को देखा उसके विविध प्रदेशों के भीतर भी आपने कहीं जगत् देखे या नहीं ॥१॥

इस श्लोक में मण्डलशब्द को प्रदेश भेद का वाचक समझना चाहिए।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, पृथ्वीधारणा से परमात्मा के जाग्रतपृथ्वीमण्डल और स्वप्नपृथ्वीमंडल समूहरूप बनकर मैंने तत्-तत् पृथ्वी के प्रदेशविशेषरूप उसके हृदय में जो कुछ साक्षिदृष्टि से देखा और मन से विचारपूर्वक अनुभव किया, उसे कहता हूँ, सुनिए। स्वप्न का ग्रहण स्वप्न की पृथ्वी के अनेक प्रदेशों में भी अनन्त जगत् का अवलोकन हो सकता है, यह बतलाने के लिए किया गया है ॥२॥

क्या देखा क्या अनुभव किया ? इसे कहते हैं।

पहले देखी गई चाँदी की शिला के सदृश ही यानी चाँदी की शिला में मैंने जैसे समस्त जगत् देखे थे, वैसे ही धारणा से दृष्ट भूमण्डल के सभी स्थानों में जगत्जाल-सा स्थित मैंने देखा। समस्त दृश्यमान द्वैतमय होता हुआ भी यथार्थ में शान्त अद्वैत ही है ॥३॥

कैसे द्वैतमय है और कैसे शान्त अद्वैतरूप है ? इस पर कहते हैं।

सभी स्थानों में जगत् हैं और सभी जगह ब्रह्म भी स्थित है तथा सब-कुछ शून्यात्मक एवं परमशान्तरूप है और सब अनेक तरह के आरम्भों से पूर्ण भी है ॥४॥ सर्वत्र पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थ हैं और यथार्थ में वह कुछ नहीं भी है, अनुत्पन्न स्वप्ननगर के सदृश है, यदि कुछ है तो केवल पर चिदाकाश ही वस्तु है ॥५॥

एक, अनेक या सत्य वस्तु अब सिद्ध हो सकती है, जब एक, अनेक आदि का दर्शन करनेवाला दर्शनाभिमानी संसार में प्रसिद्ध हो, परन्तु ऐसा दर्शनाभिमानी ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

भद्र, इस प्रपंच में जब न तो नाना (अनेक) वस्तु है, न अनाना (एक) वस्तु है, न अस्तित्व है और न नास्तित्व ही है। अधिक क्या कहें-जो 'अहं' (मैं) शब्द से दर्शनादि का अभिमानी कहा जाता है, वह भी नहीं है। जब वह भी नहीं है, तब कैसे कौनसी वस्तु है ? ॥६॥ राघव, यद्यपि यह दृश्य सत् और 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूपसे अनुभूत होता है, तथापि उसका अस्तित्व परमार्थदशा

में है ही नहीं । यदि अस्तित्व है, तो वह अज निर्विकार ब्रह्मका ही है यानी जो कुछ भासता है वह ब्रह्मरूप ही है ॥७॥

इस रीति से जब दृश्यों में प्रतियोगी अस्तित्वका स्थान नहीं है, तब अस्तित्व के अभाव नास्तित्व का भी स्थान नहीं है, यह अनायास सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं ।

चूँकि सृष्टि के आदि में यानी सृष्टि के पूर्व चिदाकाश ही था, इसलिए सृष्टि के बाद चिदाकाश में देखा गया भी यह स्वप्ननगर के सदृश ही है, इसलिए उसमें अस्तित्व और नास्तित्व ही कैसे, कहाँ, किस हेतु से रह सकते हैं ? ॥८॥

श्रीरामभद्र ने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर देकर अब जलःधारणा बाँधकर जो कुछ कौतुक देखा था, उसको कहने के लिए भूमिका बाँधते हैं ।

श्रीरामजी, जैसे मैंने पृथ्वी-धारणा से पृथ्वीरूप बनकर पूर्वोक्त जगत् देखे, वैसे ही जलधारणा से जलरूप बनकर जल-जगत् देखा ॥९॥ हे राघव, मैं यद्यपि चेतनरूप ही हूँ, फिर भी मैं जलधारणा से जड़रूपसा बन गया। तदनन्तर जलरूप होकर मैंने समुद्ररूपी मन्दिरों के भीतर दीर्घकाल तक गुड़-गुड़ शब्द किया ॥१०॥ जैसे आपके अंगो में जूँ आदि नजर बचाकर मन्दगति से चढ़ जाती है, ठीक ऐसे ही मैं तृण, वृक्ष, लता, गुल्म, वल्ली आदि के डण्ठलों में मन्दगति से छिपे-छिपे चढ़ गया ॥११॥ सूक्ष्म तन्तु के आकार के एक छोटे कीड़े को (काँतर को) कर्णाहि कहते हैं । वह जैसे मन्दगति से छिपे-छिपे आकर कान में घुस जाता है । बस ठीक उस कीड़े के सदृश मैंने अत्यन्त मृदु गति से छिपे छिपे उन तृण, वृक्ष आदि के तनों में, तृणादि की उर्ध्वस्थिति के सदृश, ऊर्ध्वस्थिति की तथा उनके पोरों और छिद्रों में कोमल वलयाकारवाली (गेंडुली-सी) रचना भी की ॥१२॥ लताओं और तमाल, ताल आदि पेड़ों के पल्लवों तथा फलों में रसरूप से विश्राम कर काल से पुष्ट (उन-उन पत्ते आदि के) आकारों द्वारा भीतर शिरा आदि रेखाओं की रचना भी मैंने की ॥१३॥ जीवों की देहों में जलपान के समय मुख के द्वारा हृदय में प्रवेश कर बसन्त आदि ऋतुओं के कारण होनेवाली विषमता धर लेनेवाले मैंने कहीं वात, पित्त और कफरूप धातुओं को धारण किया, कभी उन्हें कुपित किया, कुछ को जठराग्नि से पचा डाला, किन्हीं को खण्डित किया ॥१४॥ तनिक भी खेद (थकावट) का अनुभव न करनेवाले हिमकणका रूप धारण किये हुए मैंने एक ही समय में समस्त दिशाओं में सम्पूर्ण पल्लवरूपी शय्याओं पर शयन भी किया ॥१५॥ जो ह्नद अनेक नदियों के घर हैं यानी मार्ग के निवासस्थान (विश्रामगृह) हैं, उनका आश्रय करते हुए तथा निरन्तर प्रवाह के कारण अविरतगतिवाले मैंने बाँधरूपी मित्र के प्रसाद से कहीं-कहीं विश्राम भी किया ॥१६॥ मैं चिद्रूप हूँ, चितिरूपी मैंने अचित् अंशका विषयरूप से अनुसन्धान किया, उसमें भी विषयांशमात्रता के कारण चित्स्वभावका आश्रय नहीं किया, अतः मैं जड़ जलरूप ही हो गया । यों जड़ जलरूप हुआ, मैं जड़ाशयप्राय जलाशयों में हजारों भ्रमों के साथ आवर्त के

सदृश वर्तन करता हुआ खूब उल्लास करता रहा ॥१७॥ प्रायश्चित्त के निमित्त भृगुपतन में प्रवृत्त हुए पापी के सदृश पर्वतों की ऊपर की शिलाओं से गिर रहे निर्झररूप मैंने गर्तपातों में जीर्ण-शीर्ण होकर हजारों रूपों से स्थिति प्राप्त की ॥१८॥ लकड़ियों से धूम्र के रूपमें निकलकर मैं आकाशरूपी समुद्र में नीले रंग के नक्षत्र मणियों के भीतर रत्नकण बना और मैंने वहाँ स्थान जमा लिया। *श्रीवसिष्ठजी की इस उक्ति से यह मालूम होता है कि हम लोगों के लिए अदश्य नीले वर्ण के भी नक्षत्र आकाशमण्डल में हैं* ॥१९॥

काटी हुई इन्द्रनील मणि के सदृश नीलवर्णवाले भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी के साथ शेषनाग के अंगों पर विश्राम करते हैं, वैसे ही मेघों की पीठपर नील वर्णवाले मैंने भी विद्युतरूपी वनिता के साथ विश्राम किया ॥२०॥ परमाणुमय सृष्टि में यानी पिपीलिका आदि परमसूक्ष्म देहात्मक सृष्टि में तत्-तत् प्राणियों के पिण्डरूप एवं उनके भीतर के परम सूक्ष्म नाड़ीरूप पदार्थों में सूक्ष्म-जलरूप बनकर मैं सर्वात्मा ब्रह्म की तरह स्थित रहा ॥२१॥ भद्र, मैं मधुर रसरूप भी तो बन गया था । रसरूप बनकर मैंने जिह्वारूप अणुओं के साथ संसर्ग प्राप्त किया । संसर्ग प्राप्त कर रसास्वादरूपी उनकी वह उत्तम अनुभूति की, जिसे मैं देह की नहीं मानता, किन्तु केवल ज्ञानरूप आत्मा की मानता हूँ, अर्थात् वह अनुभूति विषयानन्द के आकार में आविर्भूत आत्मा का स्वरूप है, वह मैं मानता हूँ ॥२२॥

कुछ लोग विषय को ही आनन्दरूप और आस्वाद लेने योग्य मानते हैं, परन्तु यह मानना उचित नहीं है, विषय तो असत् और दुःखरूप है तथा वह आस्वाद लेने योग्य है ही नहीं, अतः विषय को अलग कर आनन्द को बतलाते हैं।

जो विषयरूप चेत्य है, उसका न तो मैंने (अधिष्ठान चेतन ने), न स्वाद लेनेवाले पुरुष की देह ने और न जीव ने ही स्वाद लिया है, क्योंकि उसमें आत्मचिति ने अपने अन्दर जो स्फुरण किया है, वह जीवों के अज्ञानार्थ (व्यामोहार्थ) ही है । जिससे वह विषय उत्पन्न हुआ, वह अज्ञान भी असत् ही है, जो स्वयं असत् है, उससे असत् अर्थ की ही उत्पत्ति मानना उचित है ॥२३॥

अथवा, विषय स्वादयोग्य हैं, यदि यह पक्ष है, तो उसमें विषयाधिष्ठान चेतन के द्वारा आस्वादित ही विषयों को दूसरे चखते हैं, जो कि उसके उच्छिष्टप्राय हैं, यही कल्पना हो, इस आशय से कहते हैं।

समस्त ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाला जो रस है, तद्रूप बनकर भ्रमरोंको उच्छिष्ट रस देते हुए मैंने सब दिशाओं में अनेक तरह के आमोदों से पूर्ण फूलों का खूब उपभोग किया ॥२४॥ भद्र, यद्यपि मैं यथार्थ में अजड़रूप ही हूँ, फिर भी कल्पनावश जड़ जलरूप होकर मैं ने चौदह प्रकार के प्राणियों के अंगो की सन्धियों में चेतन की नाईं निवास किया ॥२५॥ राघव, मैंने जलकणका रूप भी धारण किया था । उस रूपको धारणकर मैंने पवनरूपी रथपर चढ़कर निर्मल आकाश के मार्गों

में, आमोद के सदृश, जनाह्लाद और विहार किया ॥२६॥

वहाँ भी परमाणु तक की सभी वस्तुओं में हर एक जगह, चाँदी की शिलाके सदृश, सृष्टियों का मैंने अनुभव किया, यह कहते हैं।

हे रामजी, जलधारणाकाल में भी मैंने प्रत्येक परमाणु कण में पूर्णरूपसे यथास्थित इस जगत् को देखा ॥२७॥ एकमात्र जल को विषय करनेवाली एकरूप उस जलधारणा से स्वयं अजड़ होता हुआ भी जड़ जल-सा बनकर तथा सब पदार्थों के भीतर ज्ञातारूप होता हुआ मैं अज्ञातरूप से स्थित रहा ॥२८॥

हर एक वस्तु के अन्दर जो जगत् देखे उनके भी भीतर के प्रत्येक पदार्थ में वैसे ही अन्य अन्य अव्यवस्थित जगत् भीतर भीतर मैंने देखे, यह कहते हैं।

भद्र, वहाँ केले के दल के सदृश भीतर और उसके भी भीतर उत्पन्न लाखों जगत् तथा सैकड़ों नाश एवं उत्पात मैंने देखे ॥२९॥

यद्यपि अधिष्ठान चिति कल्पित अनन्त जगतों से व्याप्त है, तथापि उसमें किसी तरह की भी मलिनता नहीं है यह कहते हैं।

इस रीति से जगत् हो चाहे न हो, साकार हो चाहे निराकार हो, सभी अवस्थाओं में सब केवल चितिरूप आकाश ही है, यह प्रसिद्ध आकाश से अधिक निर्मल है ॥३०॥

रामजी द्वारा देखे जानेवाले जगत् में भी उक्त न्याय को लगाते हुए सबके अधिष्ठानभूत शुद्ध चिन्मात्र वस्तु में श्रीरामजी की प्रतिष्ठा कराते हैं।

आप कुछ नहीं हैं यानी न आपकी तीन अवस्थाएँ हैं और न देह, इन्द्रिय आदि ही हैं, न यह कुछ है यानी न आकाश आदि बाहरी प्रपंच ही है, किन्तु परम विशुद्ध बोध ही इस जगत् के रूप में भासता है । वह-शोधित 'तत्' 'त्वम्' पदार्थरूप-बोध भी वास्तव में कुछ नहीं है यानी न तो वह दृश्य-स्वभाव है, न अदृश्य स्वभाव है और न अदृश्यशून्य स्वभाव है, किन्तु अखण्डाकाशरूप है । वही आप हैं । इसलिए आप उक्त आत्मरूप बनकर उत्तरोत्तर विकास प्राप्त कर लें ॥३१॥

नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

इक्यानबेवाँ सर्ग

तेज की धारणा से तेजरूप बनकर श्रीवसिष्ठजी ने जो सूर्य, चन्द्र, अग्नि एवं रत्न आदि के चमत्कार देखे, उनका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद-जल धारणा से विचित्र कौतुक देखने के बाद-प्रबल तेज धारणा से मैं चन्द्र, सूर्य, तारा, अग्नि आदि विचित्र अवयवों से सम्पन्न तेज बन गया ॥१॥ तेज निरन्तर सत्त्वप्रधान (प्रकाशप्रधान) होता है, इससे मैं एकमात्र प्रकाशरूप आकार से चमकने लग गया । मैं अन्धकार पर ऐसा प्रतापी बन गया जैसा कि चक्षु के गोचर अपने चुराये

हुए पदार्थों को छोड़कर भाग रहे चोरों पर राजा प्रतापी होता है ॥२॥ जैसे श्रेष्ठ राजा तरह–तरह की वेशभूषा से परिभ्रमण करनेवाले स्नेहयुक्त गुप्तचरों द्वारा सबके घर का वृतान्त प्रत्यक्ष कर लेता है, वैसे ही हजारों बत्तियों से विहार करनेवाले तेलयुक्त दीपक आदि के द्वारा धीरे से मैंने प्रत्येक घर में प्रत्येक पदार्थ को प्रत्यक्ष कर लिया है ॥३॥ मैंने तेजरूप बनकर केवल दूसरों के प्रकाश के प्रकाशन में ही तत्पर रहनेवाले, अतएव जनों एवं भुवनों में अतिसन्तुष्ट तथा पुलकित रहने वाले चन्द्र, सूर्य की किरणरूपी अपने रोमों के द्वारा सबको ढक देने वाले अन्धकार रूप वस्त्र के सदृश दृश्यमान आकाशरूप वस्त्र को उठाकर दूर फेंक दिया ॥४॥

तेज अन्धकार को क्यों दूर फेंक देता है ? इस पर कहते हैं।

भद्र, यह विद्यमान सम्पूर्ण जगत् समस्त गुणों को छिपा देनेवाले अन्धकाररूपी दीनता का विषय है यानी अन्धकाररूपी दीनता जगत् में जो रूप आदि गुण हैं , उनको दिखने नहीं देती और दूसरे की दीनता को दूर करने में समर्थ सभी गुणशाली पुरुष उत्तम–दीनतारहित–जगत् को देखना चाहते हैं, अतः तेज के द्वारा अन्धकार को समस्त जगत से हटा देना युक्त ही है ॥५॥ श्रीरामचन्द्र, मैं जिस तेज के रूप में परिवर्तित हुआ, वह तेज तमोरूप तमाल वृक्ष के लिए तो फरसा है, उत्तम शुद्धिका स्थान है तथा तेजरहित सुवर्ण, मणि, माणिक आदि का लोक में समादर नहीं होता, अतः वह तेज सुवर्ण आदिरूप जनों के आदर का हेतु है अथवा सुवर्ण, मणि, माणिक, मोती आदि के रूप से समस्तजनों का जीवनसाधन है ॥६॥ संसार में जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाश के (तेज के) ही अंश हैं, अतः सदा आलोक की (तेज की) गोद में शयन करनेवाले शुक्ल (श्वेत), कृष्ण, अरुण आदि समस्त वर्णों का, पुत्रों को देह देनेवाले पिता के सदृश, वह तेज स्वरूपदाता पिता है ॥७॥ रामजी, यह तेज पृथ्वी के साथ अत्यन्त घनी प्रीति रखता है, इसीलिए तेज अग्नि द्वारा पृथ्वी को (मिट्टी को) नहीं जलाता। पृथ्वी भी अपना स्नेह व्यक्त करने लिए हर एक घर में बड़े प्रेम से भीत, प्रासाद (महल) आदि का रूप लेकर तेज के पुत्र दीपकों की–वायु आदि के झकोरों से–रक्षा करती है ॥८॥

तमोभाग, रजोभाग एवं सत्त्वभाग की बहुलता से युक्त पाताल आदि लोकों में तेज के प्रकाश का तारतम्य बतलाते हैं।

तमोगुण की अधिकता से युक्त पातालकुहरों में यह तेज स्वल्प प्रकाश करता है और अनेकविध भूतों की माला (परम्परा) से युक्त, रजोगुण की विपुलतावाले भूतल में यह आधा प्रकाश करता है ॥९॥ सत्त्वगुणमय यानी सत्त्वगुण की प्रचुरता से युक्त देवलोकों में यह निरन्तर महान् प्रकाश करता है। भद्र, यह तेज जगद्रूपी जीर्ण–शीर्ण कुटिया का दीपक है और अन्धकार के लिए महा अगाध कूप है यानी जैसे अगाध कूप जल को अपने उदर में निगल जाता है वैसे ही यह अन्धकार को अपने अन्दर निगल जानेवाला है ॥१०॥ दिशारूपी वधुओं के लिए तो यह तेज निर्मल

दर्पण है यानी उनको अलग अलग करके दर्शाता है, निशारूपी नीहार के लिए वायु है यानी वायु के सदृश उनको नष्ट कर देता है, चन्द्र, सूर्य और अग्नि के लिए तो जीवनसर्वत्र है और स्वर्ग लोक के लिए कुंकुमका तिलक है ।।११।। दिवसरूपी धानों के लिए वह क्यारी है, तमसे (अन्धकार से) आक्रान्त रूपादिके लिए तो वह साक्षात् दया की मूर्ति ही है और गगनरूप महान् काँचपात्र के लिए प्रक्षालनार्थ अतिस्वच्छ जल है ।।१२।। तेज पदार्थों में सत्ता का प्रदान करनेवाला तथा उनको प्रकाशित भी करनेवाला है, इसलिए चिन्मात्ररूप जो परमार्थ वस्तु है, उसका एक तरह से वह सहोदर, छोटा भाई है। छोटा भाई इसलिए है कि जड़ होने के कारण वह उससे जघन्य है ।।१३।। तेज क्रियारूप कमलिनी के लिये सूर्य है और भूतल के हृदय का जीवन है । चाक्षुषवृत्ति और मानस वृत्ति के ऊपर आरूढ़ चिति का जैसे विषयगत अज्ञान की निवृत्ति करना चमत्कार है, वैसे ही इस तेज में भी विषयावरण अन्धकार की निवृत्ति करना चमत्कार है ।।१४।।

यह तेज विशाल ब्रह्मांड के खन्दक में रहनेवाला बड़ा समुद्र ही है, यों उत्प्रेक्षा करने के लिए रूपक से कल्पित धर्मों से तेज को विशेषित करते हैं ।

यह तेज विशाल ब्रह्माण्ड के खण्ड का एक महान् अविनाशी समुद्र है । आकाशतल में विद्यमान असंख्य नक्षत्ररूपी मणियों से भरा है, इसमें दिन, ऋतु, संवत्सर आदि कालभेदरूप चारों ओर वृद्धिगत बडवाग्नि आदि से उत्पन्न महान् क्षोभ के कारण फेन उत्पन्न होता है। चन्द्र, सूर्य आदिरूप तरंगों के भीतर प्रसृत रज से जल के बिना कभी कीचड़ भी इसमें भरा रहता है ।।१५,१६।। भद्र, मैं तेज बनकर सुवर्णादि में सुन्दर वर्ण (रंग) बन गया, मनुष्यादि में पराक्रम बन गया, रत्न आदि में चाकचाक्य (कान्तिविशेष) बन गया और वर्षा ऋतु में विद्युत-प्रकाश (बिजली की चमक) बन गया ।।१७।। राघव, मुख के सदृश चन्द्रबिम्बों में ज्योत्सना बन गया, बरौनीवाले नेत्ररूपी चिह्न से (अंकसे) युक्त मुखरूपी चन्द्रबिम्बों में तो ज्योत्सना के सदृश बह रहे स्नेहरूपी अमृत का पूर या हास सौहार्दयुक्त कमनीय कान्ति बन गया।।१८।। कामिनीजनों में मैं कपोल, बाहु, नेत्र, भौंह, हाथ, केश आदि को अति सुन्दरता से प्रकाशित करनेवाला, सर्वत्र अचेतरूप से प्रसिद्ध स्वाभाविक काम का विलास बन गया।।१९।। श्रीरामजी, तेज की धारणा से तेज होकर मैं वृत्र आदि असुरों के, जो त्रिभुवनको तृण के समान समझते थे तथा अपनी चेष्टाओं से अपने शत्रुओं को कँपा डालते थे, मस्तक पर वज्रप्रहार बन गया और सिंह आदि के हृदय में वीर्यरूप बन गया।।२०।। वीर पुरुषों में रणांगणों में निर्भय विचरण करने का कारण जो उद्भूत पराक्रम प्रसिद्ध है, वह भी मैं बन गया, जैसा तैसा पराक्रम नहीं, किन्तु अतिकठोर लौहकवचों को तोड़नेवाले खण्डों के परस्पर आघातों से उत्पन्न टंकार ध्वनि से अत्यन्त पटु तथा बड़े भारी आडम्बर से युक्त पराक्रम बन गया ।।२१।। देवो में दानवों का शत्रु, दानवों में देवताओं का शत्रु, सब भूतों में उत्तम बल तथा वृक्ष आदि स्थावरों में उन्नतिरूप भी मैं बन गया ।।२२।। हे कमलदललोचन, तदनन्तर

अपनी धारणा से कल्पित उन जगदाकाश के कोशों में मै सूर्य होकर नीचे कही जानेवाली समस्त वस्तुओं का अपने अन्दर ऐसे अनुभव करने लगा, जैसे कि प्रसिद्ध मरुस्थली अपने अन्दर नदी आदि की कल्पना का अनुभव करती है ॥२३॥

उसीको कहते हैं।

भद्र, मैंने अपने सूर्य के स्वरूपका अनुभव किया, उस रूपसे मैंने दसों दिशाओं में फैले हुए हाथरूपी किरणों से जगत्‌रूपी पक्षी को पकड़ लिया, जिसके कि बड़े–बड़े पर्वत अवयव थे। उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटे से गाँव के सदृश प्रतीत हुआ ॥२४॥ मेरा सूर्यस्वरूप चन्द्र की कामना करनेवाले कुमुदों के लिए कोशबन्धन का हेतु चक्र बना, अन्धकाररूपी समुद्र के लिए बडवाग्नि, ब्रह्माण्डरूपी घरके लिए दीपक और दिनरूपी फलसमूह के लिए वृक्ष बना ॥२५॥ इसी तरह मैं चन्द्ररूप भी बन गया। मेरा चन्द्र का जो स्वरूप हुआ, उसका आकार अमृत से लबालब भरी झील के सदृश था, वह स्वर्ग का मुख के सदृश हास था तथा रात्रि में प्रवेश करनेवालों का प्रकाशकर्ता था ॥२६॥ वह मेरा चन्द्र का रूप समस्त जगत् की सुन्दरतारूपी लक्ष्मियों के उपमान तथा रात्रि, रोहिणीरूपी नारी एवं कुमुदों के लिए उत्तम स्नेह का भाजन था ॥२७॥ अधिक क्या कहें, जितने संसार में प्राणी हैं, उन सबके नेत्र और मुखका आह्लाद और विकास का हेतु होने के कारण वह अत्यन्त ही प्रिय लगता था । श्रीरामजी, तदनन्तर मैं मृदु तारासमूह बन गया यानी अपने में समस्त तारों के स्वरूप का अनुभव करने लगा । यह मेरी तारात्मता आकाशरूपी लता की मानों पुष्प राशि थी, और स्वर्गसुखरूपी मकरन्द के प्रवाह में आसक्त मानों मच्छरों की कतार थी ॥२८॥ भद्र, मैं रत्न बन गया । कुछ समय मेरा यह स्वरूप बाजारों में जौहरियों के हाथों से तुलापर तोलने के कारण आन्दोलित हो उठा था तथा कुछ समय समुद्रों द्वारा जल–कल्लोलरूपी हाथों से कम्पित किया गया था ॥२९॥ श्रीराघव, समुद्र का जल पी जानेवाला बडवानल भी मैं बन गया । मैंने अपने बडवानल रूप से समुद्र में डरे हुए छोटे–छोटे मत्स्यों के परिभ्रमण का खूब कौतुक देखा । जल को स्वाहा करनेवाला सूर्य किरण का समूह बनकर मैंने अपने शरीर में प्रकाश का अनुभव किया। मेघ, पर्वत आदि में मैंने बिजली और दावाग्नि का स्वरूप धारण कर लिया और उन शरीरों में अपने में अपूर्व प्रकाश का अनुभव किया ॥३०॥ मैंने अग्नि बनकर इस प्रकार दीप्तिपूर्वक जलना आरम्भ किया कि उसमें लकड़ियों का विदारण तत्काल हो जाता था, इसीसे लकड़ियों के विस्फोटों से चारों ओर दुर्वार कठिन शब्द उत्पन्न होते थे तथा यज्ञाग्नि होकर मैंने हविष् दाह का भी आनन्द लूटा ॥३१॥ जब मैं अग्नि बना तब सुवर्ण, माणिक्य, मोती, मणि आदि जो चमकीली ज्योतियाँ थी, उनका कोशागार के दाह द्वारा पराभव कर उनके स्वामियों को ऐसा सन्ताप पहुँचाया, जैसे अनेक मूर्ख बलवानों के द्वारा वितण्डा से एक पण्डितको सन्ताप पहुँचाया जाता है ।

(इस विषय की कहावत है कि एक पलाश के पेड़ को देखकर पंडित ने कहा : यह पलाश वृक्ष

है । इस पर वहाँ विद्यमान अनेक मूर्खों ने मिल कर कहा : नहीं यह पाढ़र का पेड़ है । झगड़ा बढ़ा, और मूर्खों ने पण्डित की मुक्कों से पूजा आरम्भ की, पण्डित भी दुःखी होकर कहने लगा : हाँ, यह पाढ़र का पेड़ है) ॥३२॥

मोती बनकर जो कुछ अनुभव किया, उसे भी प्रसंगवश कहते हैं ।

भद्र, तदनन्तर मैं मोती बन गया । और मोतियों के हार रूपसे असुर, नाग, गन्धर्व और नरनायकों की रमणियों के स्तनों पर मैंने दीर्घकाल तक विश्राम किया ॥३३॥

खद्योत बनकर जो अनुभव किया, उसे कहते हैं ।

खद्योत बनकर मैंने मार्ग में गमन कर रहे मनुष्यों के पैरों से खूब रगड़ खाने का अनुभव किया और स्त्रियों के ललाटपर तिलकरूपता का भी अनुभव किया । स्थानभेदों से प्राप्त हुई उत्कर्षअपकर्षरूप अवस्थाओं में मेरी चपलता (अनियतता) तो जरा देखिये ॥३४॥ जल के आवर्तों से शब्दायमान आकाशस्थ मेघों में विद्युत का रूप लेकर मैंने समुद्र में मछली के सदृश अत्यन्त सुन्दर ढंग से चेष्टाएँ कीं ॥३५॥ मैंने कहीं दीपक रूप भी ले लिया । दीपक के रूप में जब मेरी अन्तःपुर में स्थापना हुई, तब रमणियों की सुरतक्रीड़ा का भी मैंने अवलोकन किया। दीपक के रूप में पुष्प कलिका के सदृश मेरे कोमल अंग खूब शोभते थे ॥३६॥ बत्ती के आगे केहिस्से में कभी–कभी काजल का एक जाल–सा बन जाता है । यह दीपज्वालारूप सोने के टुकड़े को तोड़–फोड़ देता है, यही इसका स्वरूप है, भद्र, इस कज्जलजाल के ही समागम से कभी मन्दप्रभ बनकर ज्वालादि अंगों को समेट लेने के कारण दीपक रूप में मैं घन कूर्म का रूप भी बना लेता था ॥३७॥ राघव, कभी कल्पान्त का अग्नि बनकर मैंने कल्पान्त में समस्त जगत् में खूब परिभ्रमण किया । भ्रमण करने के कारण उस समय मुझे जो बड़ा परिश्रम हुआ, उससे कज्जल श्याम आकाश में कहीं ऐसे विलीन हो जाता था, जैसे इन्द्र के वाहन काले मेघों में विद्युत विलीन हो जाती है ॥३८॥ कहीं वडवाग्नि के रूप से मैंने कल्पपर्यंत खूब जलपान किया, तदनन्तर सब जगत् और सब जल जब आकाश पानी शून्यरूप हो गये, तब आकाश में नृत्य किया ॥३९॥ मैंने जब अग्नि की देह धारण की थी, तब जलती लकड़ियाँ ही मेरे उल्मुक दाँत बन गए, ज्वालाएँ हाथ बन गई और चंचल धूम्र के आवर्त केश हो गये । इस रूपसे जब नगर और प्ररूढ़ लतापल्लवों का दाह करना आरम्भ किया तब हे कृताष्ट (दयादि आठ गुणों को स्थिर बनानेवाले हे श्रीरामजी), जन्तुओं को ग्रास कर जानेवाले मैंने काष्ठ आदि पदार्थों को अपना खाद्य बना दिया ॥४०,४१॥ लोहार आदि कारीगरों की प्रयोगशालाओं में लोहपिण्डों में रहकर मैंने मुद्गर तथा पत्थरों से ताडित होकर ताडन करनेवाले को जलाने के लिए चिनगारियाँ तथा पत्थर के छोटे छोटे कंकड उगले ॥४२॥ भद्र, कहीं पर मैंने बड़ी बड़ी चट्टानों के अन्दर पाषाणमणिका (हीरा, पन्ना आदि का) रूप लेकर समस्त भूतों की दृष्टि से ओझल होकर सैकड़ों युग तक वास किया ॥४३॥ श्रीरामभद्र ने कहा : हे मानद, हे

मुनिवर, उस पाषाण आदि अवस्था में क्या आपने सुख का अनुभव किया अथवा दुःखका अनुभव किया, यह मुझसे ज्ञान के लिए कहिए ॥४४॥

चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्मभूत मैंने केवल कौतुकवश जगद्रूपता का आरोप देखा था, इसलिए उक्त पाषाण, मणि आदि अवस्थाओं में मुझको तनिक भी दुःख नहीं हुआ, किन्तु सुख ही हुआ, यों उत्तर देने के लिए वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे सुप्त पुरुष चेतनरूप होता हुआ भी जडता का अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप आकाश दृश्यभाव को प्राप्त होकर जड़ता का अनुभव करता है ॥४५॥ जब ब्रह्म अपने को पृथ्वी आदि के रूप के सदृश समझने लगता है, तब सुषुप्त के सदृश जड़–सा बनकर स्थित रहता है, वास्तव में इसका जो भीतरी सच्चिदानन्दात्मक स्वभाव है, उसका अन्यथाभाव कभी नहीं होता, इसलिए दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥४६॥

क्यों ब्रह्म का अन्यथाभाव नहीं होता ? इस आशंका पर कहते हैं ।

ब्रह्म में जो आकाश, पृथ्वी आदि स्वरूप भासते हैं, वे वास्तव में ब्रह्म के सद् या असदात्मक स्वरूप नहीं हैं, किन्तु यों ही द्रष्टा–दृश्य से वे भासते हैं, इसलिए ब्रह्म तो सदा ही एक–सा यानी अविकृत ही अवस्थित है ॥४७॥

अज्ञान होने पर ही दुःख आता है, किन्तु वह नहीं है, यह कहते हैं ।

भद्र, जिस पुरुष को यह सच्चिदानन्दात्मक अखण्ड ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसकी दृष्टि में न तो पाँच भूत ही हैं और न उसे दृश्य–द्रष्टा का विभ्रम ही भासता है ॥४८॥ भद्र, उन धारणाओं में मैंने जो कुछ उस प्रकार का जगन्निर्माण किया, वह सब विशुद्ध ब्रह्मरूप बनकर ही किया, क्योंकि जगन्निर्माण करनेवाले का शुद्ध ब्रह्मरूप के बिना कुछ रूप हो ही नहीं सकता ॥४९॥ जब परमार्थ–दशा में यह सब कुछ दृश्य निर्विकार ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ तब ब्रह्मपद में ही रहकर मैंने अपनी आत्मा को उक्त नानाविध जगत् के रूप में देखा, यह बात निश्चितरूप से आप जान लीजिये ॥५०॥

यदि पाषाण मणि आदि का रूप होने पर मुझमें चैतन्य न रहता, तो उनका अनुभव और स्मरण आज मुझको होता ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, पृथ्वी आदि की धारणाओं द्वारा अपने को पृथ्वी आदि पाँच भूतों के रूप में प्रकाशित कर रहा मैं यदि जड़ रूप ही बन जाता, तो मैं उनका अनुभव ही कैसे कर सकता ? ॥५१॥

तब सुषुप्ति अवस्था में मैंने कुछ नहीं जाना यह ज्ञान के अभाव का अनुभव कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

'मैं सोया हूँ' इस दृढ़ भाव को चेतन होकर भी मैंने जाना, उस दशा में निद्रादोष से उपस्थित किया गया अज्ञान ही 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस प्रतीति से प्राप्त करायी गयी जड़ता

धारण करता है और प्रकाशमान स्वप्रकाशरूप जो वस्तु है, वह तो उस समय प्रकाशती और अनुभव करती रहती है, यदि यह बात न होती तो सुषुप्तिकाल में अनुभूत अज्ञान का जाग्रत्काल में स्मरण कैसे होता ? ॥५२॥

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से स्थूल व्यष्टि–समष्टि देह की आधिभौतिक भावना नष्ट हो जाती है, इसलिए भी जड़ दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

जिस पुरुष की आत्मा सत्यज्ञान से जग गई है, उसकी आधिभौतिक देह तत्काल विलीन हो जाती है यानी देह में आधिभौतिकता की प्राप्ति ही नहीं रहती और निर्मल बोधरूप आतिवाहिक देह की उत्पत्ति हो जाती है ॥५३॥ बोधरूपी उक्त आतिवाहिक देह छोटी हो चाहे बड़ी हो, उससे अपनी इच्छानुसार पुरुष निर्वाणरूप (समस्त प्रपंचों से रहित जीवन्मुक्तरूप) होकर स्थित हो जाता है ॥५४॥ बोधरूप देह के प्रभाव से अभेद्य पाषाण शिलाओं के भी भीतर प्रवेश करके पुरुष अनायास बाहर निकल जाता है, पाताल में चला जाता है और आकाशमण्डल में भी विचरता है ॥५५॥

इसलिए मुझे दुःख की प्राप्ति नहीं हुई, यह कहते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामभद्र, इसीलिए उस समय बोधरूप देह के कारण अनन्त चिन्मय आकाशरूपी मैंने पृथ्वी आदि की धारणा बाँधकर पृथ्वी आदि स्वरूप का निर्माण किया था ॥५६॥ भद्र, वज्र, पत्थर, पाताल, आकाश एवं स्वर्ग आदि में यातायात कर रहे उसी तरह के विशुद्ध आत्मा को तनिक भी विघ्न उपस्थित नहीं होता ॥५७॥ बोधमात्र शरीर से यह आत्मा जड़ पदार्थों में जब तक रहता है तब तक उसी रूप से (बोधमात्र शरीर से ही) उनमें रहता है, अन्यरूप से नहीं ॥५८॥

यह सब कौतुक अपनी इच्छा से ही किये गये थे, इसलिए भी दुःख की प्राप्ति नहीं हुई, इस आशय से कहते हैं।

अपनी ही इच्छा से यदि कोई चलकर फिर अन्यत्र जाता है, या वहाँ स्थिति करता है, या वहाँ से वापस चला आता है, तो दुःख नहीं होता, ठीक इसी प्रकार की यहाँ भी स्थिति है यानी अपनी इच्छा से किये गये कौतुकों में मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वैसा करना इष्ट ही था, अनिष्ट नहीं ॥५९॥

आप भी तत्त्वज्ञानी हैं, इसलिए आतिवाहिक देहभाव और धारणाओं के अनुसार जगद्भावरूपी कौतुकों का दर्शन आपके लिए भी सुलभ है, अतः मेरे कहे गये विषय की परीक्षा करें, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, एकमात्र तत्त्वज्ञान ही अविनाशी आतिवाहिक देह है, यह तत्त्वज्ञों का मत है, इसलिए अब आप यदि इच्छा करें, तो आतिवाहिक देह और धारणा द्वारा जगद्भाव का अवलोकन कर सकते हैं ॥६०॥

इच्छा से ही तत्त्वज्ञ पुरुष सूर्यादि समस्त जगत् को विलीन करके आत्ममात्रस्वरूप से स्थापित कर सकते हैं, यह कहते हैं ।

इस तरह सूर्य आदि लोकों में 'चिन्मात्र स्वरूप आकाशरूप मैं ही हूँ,' इस बोध से अपनी आत्मा के असली स्वरूप से ज्ञात होता हुआ भी सूर्यादिलोक जगत् के बोध से असत्-सा तथा अस्तको प्राप्त-सा हो जाता है यानी तत्त्वज्ञ लोग सूर्य आदि समस्त जगत् को जगद्रूप से असत् बनाकर आत्मरूप से स्थापित कर लेते हैं, *यह तात्पर्य है* ॥६१॥

हम लोगों की दृष्टि में जगत् तो सत्य है, फिर वह सत्-सा बनकर स्थित है, यह कैसे कहते हैं ? इस शंका पर स्वप्न आदि जगत् के विद्यमान रहते जाग्रत जगत् जैसे असत्-सा रहता है, यह कहते हैं ।

जैसे जाग्रत-पुरुष की दृष्टि में विद्यमान ही जगत् सुप्त पुरुष में प्रसिद्ध स्वप्नादि जगत् में अज्ञानता के कारण असत्-सा, शून्यभाव के कारण आवृत-सा या स्वप्नद्रष्टापुरुषों के द्वारा अलभ्य-सा बनकर स्थित है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिए ॥६२॥ भद्र, जैसे कोई कौतुकी पुरुष मनोराज्य से कल्पित अंगारों की नदी के तरंगों का अंग से स्पर्श हो जाने पर भी दुःखी नहीं होता, वैसे ही मैं अपनी थोड़ी इच्छा के कारण पाषाण, मणि आदि रूप हो जाने पर भी दुःखग्रस्त नहीं हुआ ॥६३॥

यों श्रीरामभद्र के प्रश्न का उत्तर देकर अब प्रस्तुत विषयपर आकर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं ।

भद्र, इस तरह अग्निरूपधारी मैंने काजलरूपी भ्रमरों के समूहों से समन्वित एवं अशोकरूप फूलों की शोभा से युक्त प्रदीप्त ज्वालाओं के कारण अग्नि से व्याप्त जंगल को विकसित स्थलकमल के सदृश बना दिया ॥६४॥ हे प्रिय, दुष्ट पुरुष की लक्ष्मी के सदृश बढ़ी हुई तथा घटाटोपपूर्ण चंचल ऊँची ऊँची ज्वालामालाओं के रूप से तत्काल ही उत्कर्ष प्राप्त कर मैं सहसा नष्ट भी हो गया ॥६५॥ हे रामजी, तेजःस्वरूप बनकर मैंने परमाणु कणों के भीतर इसी तरह की जिस प्रत्येक जगत्-शोभा का अवलोकन किया, वह जगत्-शोभा और आप जिसे देख रहे है, वह जगत्-शोभा दोनों सर्वोच्च चिदाकाश से भिन्न नहीं है, इस विषय में दृष्टान्त-आपके स्वप्न के प्रसिद्ध नगर या पर्वत-विद्यमान हैं ॥६६॥

इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

बानबेवाँ सर्ग

वायु की धारणा से वायुभाव प्राप्त हो जाने पर वायु के कार्यों का विस्तार तथा आकाश के साथ सर्वात्मभाव में स्थिति-यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर मैंने जगत् देखने की उत्कण्ठा से वायुमय धारणा

बाँधी । फिर धीर वृत्ति से वायुरूप में स्थिति प्राप्त हो जाने तक की लम्बी वायुमय धारणा को प्राप्त हुआ ॥१॥ मैं वायु बन गया । मैं वायु बनकर लतारूपी ललनाओं के साथ विलास करता था तथा कमल, उत्पल, कुन्द आदि फूलों की सुगन्ध की, स्वायत्त कर रक्षा करता था ॥२॥ मैं जलकणों की राशि को इधर उधर बिखेरने तथा नीहारसमूह को लीला से (क्रीड़ा से) दूर दूर तक हरण करने में निरत रहता था और सुरतक्रीडा से क्लान्त युगलों के समस्त अंगो में आह्लाद पहुँचाने में रात-दिन सतृष्ण रहता था ॥३॥ तृण, गुल्म, लता, वल्ली तथा पत्तों को ताण्डव नृत्य सिखलाने में महापण्डित भी मैं बन गया एवं लता और औषधियों के फलों के उल्लासों तथा कुसुमों की सुगन्धों आमोदों से विभूषित हो गया ॥४॥ मंगल के अवसरों में भावी कल्याण को सूचित करने के लिए मैं मृदु यानी मन्द, सुगन्ध एवं शीतल होकर ललना जनों के प्रेम का भाजन बन जाता था, उत्पात समय में तो भावी उत्पातों को सूचित करने के लिए भयंकर तीक्ष्ण, उष्ण और असह्य बन जाता था, प्रलयकाल में तो पर्वतों को भी पत्तों के सदृश उड़ा देता था ॥५॥ भद्र, स्वर्ग में कुन्द, मन्दार आदि के मकरन्द और पराग (पुष्पधूलि) से धूसर तथा नरक में अंगार की राशि तथा विपुल नीहार से लदा रहता था ॥६॥ जब मैं समुद्र में रहता था, तब मेरी गति सरल तरंगों की रेखाओं से अनुमित होती थी और जब मैं आकाश में रहता था, तब मैं कभी चन्द्रमारूपी दर्पणको मेघरूप मल हटाकर स्वच्छ बना देता था और कभी मेघरूप मलिनता लाकर मलिन बना देता था ॥७॥ मैं नक्षत्र रूपी राजसेना का बड़े वेग से आगे की ओर बढ़ा हुआ रथ था *(प्रवह नाम का वायु नक्षत्रचक्र को घुमाता है, यह ज्योतिषशास्त्र का सिद्धान्त है)*, त्रिलोकी में समस्त सिद्धों के संचार एवं देवताओं के विमानों के धारण में सदा अनुकूल रहता था ॥८॥ मेरी इतनी शीघ्र गति थी कि मैं चित्त का (मनका) सहोदर भाई-सा था, मैं यों तो अनंग था, फिर भी मैं किसी अंग से रहित न था तथा अपने स्पन्दनों से चन्दनों के वनों को आनन्द विभोर बना देता था ॥९॥ तुषार कणों की जब महती वृष्टि होती थी, तब तुषार कणरूपी धवल रोमों के कारण मैं बूढा सा लगता था, कुसुम आदि सुगन्धों से मैं यौवन के उन्माद से चूर-सा हो जाता था तथा मौन एवं मृदुता के कारण मैं बालकरूप भी हो जाता था ॥१०॥ भद्र, नन्दनवन में मधुर सुगन्धि के कारण मेरा गमन अति मधुर और उदार होता था तथा जब मैं कुबेर के चैत्ररथ नामक उद्यान से प्रस्थान करता तब कान्ता जनों के सुरत श्रम को हर देता था ॥११॥ भगवती भागीरथी के तरंगरूपी हिण्डोलों के आन्दोलनों से मुझे श्रम-सा अवश्य लगता था, परन्तु दूसरों के परिश्रमों की निवृत्ति करने के उत्साह से उसका मुझे ज्ञान ही नहीं हो पाता था, इसीलिए दूसरों के असीम श्रमों को मैं तत्काल ही नष्ट कर देता था ॥१२॥ ऋतुराज वसन्त की वनिता जैसी लताओं को मैं नर्मस्पर्शों से दीर्घकाल के लिए चपल बनाता था । वे लतावनिताएँ फूलों के भारों से नत रहती थीं, उनके चंचल दल हाथ से प्रतीत होते थे और भ्रमर नेत्र से लगते थे ॥१३॥ चन्द्रबिम्ब में सर्वश्रेष्ठ अमृत का दीर्घकाल तक पान कर, पूर्ण मेघरूप

शय्यापर शयन कर तथा कमलों की पंक्ति को कँपा कर दूसरे के या अपने सुरत जनित परिश्रम का निवारण करता था ॥१४॥ मैं समस्त धूलियों के लिए आकाशगामी घोड़ा तथा सुगन्धरूपी मत्त मातंगका उल्लासप्रद महान् मित्र था ॥१५॥ तड़ित्‌रूपी सींग को (गोपाल बालकों के वाद्य को) प्राप्त कर उसके नाद से मैं मेघरूपी दुधार पशुओं का एक पालक–सा बन गया, जलकणरूपी मोतियों के लिए मैं सूत बन गया तथा धूलिनाशक जल के लिए मैंने शत्रुता मोल ली, क्योंकि जल को मैं सुखा देता था ॥१६॥ आकाशरूपी फूल की मैं सुगन्ध था, इसीलिए आकाश के गुण सब शब्दों का मैं सहोदर भाई भी बन गया तथा प्राणियों के अंग उपागों में प्रवर्तक बनकर उनकी नाडीरूप प्रणालियों में जलरूप–सा भी हो गया ॥१७॥ सब प्राणियों का प्राणभूत तथा हृदय आदि मर्म स्थानरूप होने के कारण मर्म कार्य करनेवाले सब स्थानों का मैं ही एक आत्मा बन गया, हृदयगुहारूप घर का मैं सिंह था, मैं निरन्तर नियम से संचरण करता रहा, तथा मैं अग्नि के बलका ज्ञाता था, क्योंकि दुर्बल जानकर दीपक को बुझा देता था और बलिष्ठ जानकर मित्रभाव से अग्नि को बढ़ा भी देता रहा ॥१८॥ सुगन्धरूपी रत्नों का मैं लुटेरा था, यानी जबरन कलीरूपी गाँठ खोलकर चुरा लेनेवाला विमानरूप नगरों का धारणकारी था, दाह (ताप) रूपी अन्धकार के लिए मैं चन्द्रमा था और शैत्यरूपी चन्द्रमा के लिए क्षीर–सागर था ॥१९॥ प्राण, अपान की कलारूप रज्जु से मैं प्राणियों के यन्त्रों का चालक था, द्वीपों का तरंगों से खण्डन और धूलियों से संवर्धन करने के कारण शत्रु–मित्र दोनों था तथा द्वीपों में संचार करने में सदा निरत रहता था ॥२०॥ भद्र, मैं सामने रहता था फिर भी मेरे स्वरूप को कोई देख नहीं पाता था, अतएव मैं मनोराज्य से कल्पित नगर के सदृश था । पंखेरूपी तिलों में मैं तेल के सदृश तथा स्पन्दनरूप हाथी के लिए मैं बन्धनस्तम्भ आलानरूप था ॥२१॥ प्रलयकाल में एक क्षणांश में ही बड़े–बड़े पर्वतों को उखाड़कर फेंक देता था । अनेक वर्णरूप तरंगों को गंगा–प्रवाह के सदृश धूलि के सम्मिश्रण से एकरूप बना देता था ॥२२॥ मैंने वायुरूप होकर धूम्र, मेघ, रज और जलों का एक आवर्त–सा खड़ा कर दिया था तथा आकाशगंगा के प्रवाहरूप मकरन्द के जल–समूह से युक्त आकाशरूप नील कमल का मैं भ्रमर था ॥२३॥ झंझावातरूप शरीर के वेष्टन से निर्मुक्त जीर्ण–शीर्ण तृणों में मैं मन्द मन्द गति देता था, स्पन्दरूप (सामान्य क्रियारूप) कमलवनका मैं आदित्य यानी विकास का हेतु था और शब्दरूप वृष्टि के लिए मैं मुख्य मेघ था ॥२४॥ व्योमरूपी जंगल का मैं मतवाला हाथी था, शरीररूपी घर का मैं गर्गट (निरन्तर शब्द करनेवाला एक तरह का यन्त्र) था, धूलिरूप रमणीसमूहका तथा वनमाला रूप नायिकासमूह का आलिंगन करने में मैं नायक था ॥२५॥ भद्र, वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकार की क्रियाएँ करते करते प्रलयपर्यन्त कभी भी विश्राम नहीं लिया । मेरे वे छः कर्म थे – हिम, घी आदि का पिण्ड बनाना, कीचड़ आदि को सूखाना, मेघ आदि को धारण करना, तृण आदि में हलचल पैदा करना, सुगन्ध को इधर–उधर ले जाना तथा ताप हरना ॥२६॥ श्रीरामजी,

रसके आकर्षण के लिए मैं निरन्तर व्यग्र रहता था, इससे तेजका मैं भाई-सा बन गया था और हरण, आदान आदि करनेवाले हाथ आदि अंगों का मैं चालक था ॥२७॥ शरीररूपी महानगर में नाड़ी के मार्गों से किसी तरह की विघ्नबाधा (रोकटोक) के बिना अप्रतिहत गमन करता था तथा अन्नरसमय देहपात्र में प्राणादि के रूपों से आवागमन कर आयुरूपी मणि के रक्षण में मैं महावणिक् बन गया था ॥२८॥ शरीररूपी नगरों के नाश और निर्माण में अकेला मैं तत्पर रहता था । अन्नरसों के मल, सूक्ष्मतर सारभागरूप त्वचा आदि छः कलाओं एवं वात-पित्त-कफरूप धातुओं के पृथक्करण में मैं महापण्डित था ॥२९॥ तदनन्तर वायुमण्डल में भी परमाणु तक के एक-एक द्रव्य के अन्दर भी मैंने रजत की शिला के सदृश सुस्थिर, अतिविशाल जगत् देखे । उन जगतों में भी इसी तरह पृथ्वी आदि जगत् के रूप में मैं ही रहा ॥३०॥ यद्यपि यहाँ प्रत्येक परमाणु में अनेक सृष्टियाँ बहती हुई-सी प्रतीत होती हैं, तथापि परमार्थ दृष्टि से विचारने पर न तो कुछ है, न कोई बहती-सी हैं, क्योंकि शून्याकार ब्रह्म में बहना ही क्या ? ॥३१॥

प्रत्येक परमाणु में किन किन पदार्थों के साथ सृष्टियाँ विद्यमान-सी हैं, इसे कहते हैं ।

उन सृष्टियों में चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, इन्द्र, वरुण, कुबेर एवं महेश्वर, ब्रह्मा, हरि और गन्धर्व थे, विद्याधर तथा शेषराज थे । सागर, पर्वत, द्वीप, दिशाएँ एवं महान् समुद्र थे, अन्यान्यलोक, लोकपाल, क्रिया, काल एवं कल्प के क्रम थे ॥३२,३३॥ वहाँ स्वर्ग, भूमि, पातालतल तथा अन्यान्य लोकान्तर थे, भाव, अभाव, वैधुर्य, जरा, मरण, आदि की भ्रान्तियाँ भी वहाँ विद्यमान थीं ॥३४॥

यों आकाशभाव में भी आकाश के जो विलास हैं, उनका भी अनुभव समझ लेना चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, यों उस समय पृथ्वी आदि पाँच भूतों का रूप धारण कर मैंने उस त्रिलोकीरूप कमल के उदर में खूब विहार किया ॥३५॥

जैसे जैसे विहार किया, उसका विस्तार के साथ वर्णन करते हैं ।

भद्र, पृथ्वी, जल, वायु, और तेज के समूहरूप वृक्षों के शरीर में निवास करते हुए मैंने मूलजाल के द्वारा पृथ्वी का रस पीया और उसका प्रचुर अनुभव (स्वाद) लिया ॥३६॥ अमृत से पूर्ण (घनीभूत) अंगोंवाले तथा चन्दन के द्रव के समान शीतत्व आदि गुणों से सुशोभित चन्द्रबिम्बोंपर, जो तुषार की शय्याओं-जैसे थे, खूब लोटपोट ली ॥३७॥ अपने उपभोग के बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमर को देते उए मैंने सभी ऋतुओं में सब ओर विविध सुगन्धों से पूर्ण पुष्पराशियों का खूब आनन्द लिया ॥३८॥ विस्तीर्ण, उन्नत, कोमल तथा आकाशरूपी आँगन में कलापूर्णरूप रीति से बिछाई हुई, मक्खन की स्थलियाँ-सी धवल अभ्रमालाओं के ऊपर शयन किया ॥३९॥ भद्र, शिरीष के फूलों से भी अधिक कोमल तथा नीलकमल की-सी मनोहर कान्तिवाली देवांगनाओं तथा सिद्ध-

सहचारियों के मध्य में काम की वासना को दूर फेंककर ही शयन किया ॥४०॥ कुमुद, कह्लार तथा कमलों से पूर्ण रम्य वनों में तथा कमलिनियों के जंगलों में मैंने मधुरभाषिणी हँसियों के साथ बड़ा ही सुमधुर लीलाकलकल निनाद किया ॥४१॥ रामजी, बह रहीं नदीरूप सारवान् नाड़ियों के मूलभूत भूमण्डलों से युक्त तथा स्फुरणशील व्याघ्रादि भूतगणों से शोभित पर्वतों को ब्रह्माण्डरूपधारी मैंने अपने अंगों से रोमों की पंक्तियों की तरह धारण किया ॥४२॥ जगत् में जो गगन, पर्वत आदि प्रसिद्ध हैं, उन्होंने नदीरूप सूत्र एवं समुद्रों के साथ मेरे अंगों में प्रतिबिम्ब सहित दर्पणों की नाईं विश्राम किया ॥४३॥ सिद्ध, विद्याधर आदि प्राणियों के समूहों ने ब्रह्माण्डभूत मेरे शरीर में विश्राम किया । वे मेरी देह में मक्खी और जूँ जैसे प्रतीत होते थे ॥४४॥

तब क्या मक्खी, जूँ आदि के सदृश भयभीत एवं प्रतिक्षण हटाये जाने के कारण उद्विग्न होकर उन्होंने ब्रह्माण्डभूत आपकी देह में निवास किया ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

हे राघव, मेरी कृपा से प्रसन्न होकर सूर्य आदि देवताओं ने शरीर से कृष्ण, रक्त, श्वेत, अश्वेत, पीत, हरित, वर्णों से स्निग्ध होकर वृक्षों के सदृश मेरे शरीर में स्थिति प्राप्त की ॥४५॥ भद्र, ब्रह्माण्डरूप होकर मैंने सात समुद्रों से वेष्टित तथा सात द्वीपों के कारण सात रूप धरनेवाली यानी सात अंगों से युक्त भूमिको अपनी कलाई में कंकण के सदृश धारण कर लिया था ॥४६॥ मैंने विद्याधरों की रमणियों की अंगरूपी यष्टियों की स्पर्शकर उनमें अपने अमन्द आनन्द से पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दीं । मैंने यद्यपि उनमें पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दी थीं, तथापि वे मुझको देख नहीं पाती थीं ॥४७॥ राघव, नदीरूप नाड़ियों से निर्मल (शुद्ध) भीतर स्थित प्रचुर रससे पूर्ण, नाना छिद्रों से युक्त पर्वत आदि जगत् मेरे शरीर में अस्थिपंजर तथा मांस आदि बन गये थे ॥४८॥ मेरे हृदयाकाश में असंख्य ऐरावत आदि हाथी गूलर के अन्दर मच्छरों की नाईं स्थित थे जिन पर चन्द्र, सूर्य रूपी चँवर डुल रहे थे ॥४९॥

यों यद्यपि मैं अतिविस्तृत ब्रह्माण्डरूप था, तथापि मैंने परम सूक्ष्म चिन्मात्र स्वभावता का परित्याग नहीं किया, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डस्वरूप–दशा में यद्यपि समस्त पाताल मेरे चरण बन गये थे, भूतल मेरा उदर बन गया था और आकाश मेरा मस्तक हो गया था, फिर भी मैंने अपनी चितिमात्रस्वभावरूप सूक्ष्मता कभी नहीं छोड़ी ॥५०॥ यद्यपि मैं समस्त दिशाओं में, सभी स्थलों में, सभी कालों में सर्वात्मा बनकर सब कुछ व्यवहार उस समय कर रहा था, फिर भी असल में असर्वात्मक एक एवं समस्त द्वैत पदार्थों से शून्य चिन्मात्र स्वरूप से स्थित था ॥५१॥

उस समय मैंने परिच्छिन्नता–अपरिच्छिन्नता आदि सब विरुद्ध धर्मों का एक साथ अपनी आत्मा में अनुभव किया, यह कहते हैं ।

उस दशा में किंचित्ता–अकिंचित्ता, साकारता, निराकारता, जड़ता–चेतनता आदि समस्त

परस्पर अतिविरुद्ध धर्मों का मैंने अपनी आत्मा में एक साथ खूब अनुभव किया ॥५२॥

जैसे चाँदी की शिला के अन्दर अनन्त जगत् विद्यमान हैं, वैसे ही समुद्र के पेट में जितने प्रदेश पड़े हैं, उनमें भी अनेक जगत् विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया, यह कहते हैं ।

तदनन्तर मैनाक पर्वत के सदृश भीतर छिपी हुई पर्वतशिलाओं से मनोहर तथा असीम विस्तारवाले समुद्र के पेट में स्थित प्रत्येक प्रदेश के अन्दर हजारों स्थाणुरूप जो सृष्टियाँ विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया ॥५३॥ जैसे दर्पण प्रतिबिम्बरूप से अनेक नगरों को धारण करता है, वैसे ही चेतनस्वरूप मैंने अपने अंगों में गुप्त तथा प्रकट अनेक जगत् धारण किये ॥५४॥ हे राघव, इस प्रकार जल, वायु एवं अग्निरूपता, भूमिरूपता का अपनी आत्मा से मैंने ऐसे निर्माण किया, जैसे स्वप्नों में प्रसिद्ध आत्मचिति मायाविस्तृत नगरादि का निर्माण करती है ॥५५॥ और उस अवस्था में मैंने आकाशकोश में स्थित प्रत्येक परमाणु के भीतर भी असंख्य जगत देखे ॥५६॥ भद्र, और भी सुनिये, उस अवस्था में प्रत्येक परमाणु के भीतर असीम आकाश स्थित था और उस आकाश में भी उड़ रहे अनेक परमाणु विद्यमान थे, उन परमाणुओं के भीतर भी मैंने उस तरह के असंख्य संसार देखे, जैसे कि स्वप्न के अन्दर अन्य स्वप्न के नगर दिखते हैं ॥५७॥ मैं आध्यासिक आत्मा का ही स्वरूपभूत भूमण्डल तथा द्वीपकुण्डलरूप बन गया था । यों सर्वात्मक होते हुए भी मैंने परमार्थरूप से कहीं किसी का भी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि परमार्थ दशा में मैं असंग अद्वयरूप ही हूँ ॥५८॥ शरीरधारी जो मनुष्य आदि जीव हैं, उनके उपकारार्थ ही लता, तृण, अंकुर आदि सबका उत्पादन करते हुए मैंने वर्षा से गिरे जलों को भूतलरूप बनकर खींच लिया ॥५९॥ जैसे युद्ध जीव-संहार है, वैसे ही बोधकाल अज्ञान-संहारक है । उक्त बोधदशा प्राप्त करने पर अति स्वच्छ हुए मुझमें लाखों जगत् रह सकते हैं और कोई भी नहीं रह सकता ॥६०॥

किस रूप से वे जगत् रहते हैं और किस रूपसे नहीं रहते, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चिति के चमत्कारमात्र रूपसे रहते हैं और उसके विपरीत रूपसे नहीं रहते, यों कहते हैं ।

भद्र, चिति के भीतर जो उसके अनेक चमत्कार हैं, वे चमत्कार जो सत्ता स्फूर्ति रूपसे दूसरा चमत्कार स्वयं करते हैं, यानी सत्ता स्फुरणको जगत् में आरोपित कर प्रकट करते हैं ये ही दूसरे चमत्कार इन सृष्टि-दृष्टियों के रूपमें (संसारके रूप में) प्रतीत होते हैं ॥६१॥ मैंने कहीं भी जो कुछ अनुभव किया, जो कुछ बनाया, जो कुछ कष्ट सहा, वह सब परमार्थभूत चिदात्माका चमत्कार ही था, क्योंकि उसके बिना यहाँ कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता ॥६२॥ हे श्रीरामजी, इसलिए अध्यारोपदृष्टि से प्रत्येक में अपनी सत्ता का समर्पण करने के कारण मैं विश्वरूपात्मा और सबका कर्ता हूँ तथा अपवाददृष्टि से प्रबुद्ध होकर मैं शुद्ध बोधस्वरूप और कर्तृत्वादि विकारों से रहित हूँ, क्योंकि सब-कुछ तो ब्रह्मात्मक ही ठहरा ॥६३॥ अतएव प्रत्येक वस्तु के अन्दर स्थित ब्रह्म में समस्त जगत् का अध्यास होने के कारण ब्रह्मस्वरूप सबकी आत्मा, सर्वगामी और सबका आधारभूत

है, यह बात प्रबुद्ध योगियों के लिए है यानी ज्ञानी महात्माओं की दृष्टि में जगत् का स्वरूप यह निकलता है और अज्ञानी अप्रबुद्धों की कथा तो मैं जानता ही नहीं, अबुद्ध अज्ञानी जगत् का जो स्वरूप समझ कर बैठे हैं, उनको ज्ञानी देख ही नहीं सकता ॥६४॥

इसलिए अद्वय परमात्मा में जो विद्वान सर्वत्र सर्वात्मकता कहते हैं, वह केवल कल्पनामात्र है, चिदात्मा से अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह कहते हैं ।

आकाशकोश के सदृश अत्यन्त निर्मल चिति के स्वरूप में जो यह अनेकविध सृष्टियों की परम्परा प्रकाशित हो रही है, वह अन्त में चिदात्मक ब्रह्मरूप ही है, उससे अलग नहीं है । जैसे कोई यह शब्द–प्रयोग करे कि 'ताप के भीतर उष्णता है' तो उस प्रयोग में 'ताप' 'भीतर' और 'उष्णता' ये तीनों शब्द एकार्थक ही हैं, उनका पृथक् अर्थ नहीं है, परन्तु प्रयोग कल्पनामात्र है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म दोनों शब्द एकार्थ ही हैं, भिन्नार्थक नहीं है, केवल कल्पनामात्ररूप से भेद का उपालम्भ होता है ॥६५॥

बानबेवाँ सर्ग समाप्त

तिरानबेवाँ सर्ग

श्री वसिष्ठजी कुटी में ध्यानस्थ सिद्ध का दर्शन,
कुटी के उपसंहार से उसका पतन और वसिष्ठजी से निज वृत्तान्त-वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदनन्तर–धारणा के प्रभाव से उत्पन्न हुए जगत्शरीर को देखने के बाद–उक्त कौतुकदर्शनभावनात्मक संविति से (संकल्प से) मैं निवृत्त हो गया, फिर उस पहले के अपने समाधिस्थान आकाशकुटिया के प्रदेश की ओर वापस लौट आया ॥१॥ मैं अपनी पहले की कुटिया पर पहुँच गया । मैंने वहाँ चारों ओर खूब खोज की। कहीं पर भी मुझे अपना शरीर दिखाई नहीं दिया, परन्तु मैंने सामने बैठे किसी दूसरे सिद्ध को देखा ॥२॥ वे सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर आसन जमाये हुए थे । उन्होंने परम प्रीति का भाजन निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया था । वे ऐसे भासमान हो रहे थे जैसे सौम्य उदय से युक्त आदित्य तथा इन्धन को दग्ध कर चुके अग्निदेव भासमान होते हैं ॥३॥ उन्होंने पद्मासन लगाया था । उनके सारे शरीर में शान्ति–ही–शान्ति भरी थी। समाधि द्वारा इच्छित ब्रह्मपद में चित्त के स्थिर हो जाने से उनका शरीर तनिक भी हिलता डुलता न था, उनके अण्डकोश दोनों एड़ियों के बीच में दबे थे तथा वे विषयों से परे थे ॥४॥

'समं कायशिरोग्रीवम्' इत्यादि श्लोक से भगवान् ने जो ध्यान में आवश्यक देहस्थिति बतलाई है, उसके लक्षण कहते हैं ।

समान (बराबर) विस्तारवाले दोनों कन्धों से, जिनके ऊपर भस्म से त्रिपुण्ड रेखाएँ खिंची थीं,

जिनका गाम्भीर्य अत्यन्त ही लुभावना था, उनकी ग्रीवा की शोभा देखते बनती थी । सनातन उदार ब्रह्म वस्तु में उनका मन एकदम विश्रान्ति ले रहा था, इससे उनका मुख प्रसन्न था, इस प्रसन्न वदन से शोभित उनके मस्तक की जो निश्चल स्थिति हुई थी, उससे वे सिद्ध बड़े ही रम्य लग रहे थे ॥५॥ नाभि के निकट भाग में चित कर रखे हुए उनके दो हाथों की शोभा ठीक खिले हुए दो कमलों की शोभा के सदृश थी, मालूम पड़ता था कि वे करकमल क्या हैं मानो बाहर आये हुए हृदयकमल के प्रकाश ही हैं । उनकी दीप्ति से वे प्रकाशमान थे ॥६॥ भद्र, उनके दोनों नेत्रों की पलकें बन्द थीं, उनके बाह्य इन्द्रियों के समस्त व्यापार क्षीण हो गये थे और वे अत्यन्त निर्मल हो गये थे, इसलिए ऐसे भास रहे थे जैसे रात में मुँदे हुए कमलों से युक्त निर्मल तालाब भासता है॥७॥ विक्षोभों से रहित तथा पूर्णरूप से शान्त अन्तःकरणरूप कोटर को उन्होंने धीर वृत्ति से ऐसे धारण किया था मानों समस्त उत्पातों से रहित आकाश को धारण किया हो यानी शान्त क्षोभरहित उनका अन्तःकरण आकाश के सदृश अत्यन्त विशाल था ॥८॥ उस कुटिया में जब मैंने अपनी देह नहीं देखी और सामने उक्त मुनि को देखा, तब वहाँ मैंने अपने शुद्ध अन्तःकरण से यह विचार किया ॥९॥ यह कोई बड़े सिद्ध महात्मा हैं । मैंने पहले जैसे एकान्त महाकाश की, विश्राम के लिए, इच्छा की थी, उसी तरह इन्होंने भी विश्राम के लिए इसकी इच्छा की और सत्यसंकल्प के प्रभाव से इस दिशा की ओर आ गये हैं ॥१०॥ मैं समाधियोग्य एकान्त स्थान पाऊँ इस चिन्ता से इन्होंने यहाँ आगमन किया है और यहाँ आकर सत्यसंकल्पवश अपनी समाधि के योग्य यह कुटिया देखी है ॥११॥ उसके बाद दीर्घ काल तक मेरी उपेक्षा के कारण शवरूप यहाँ स्थित मेरी देहको देखा, देखने के बाद यह नहीं जाना कि मैं यहाँ फिर आऊँगा इससे मेरे शरीर को इन्होंने अन्यत्र फेंककर इस कुटिया में अपना आसन जमाया है ॥१२॥ अब मेरा वह शरीर तो नष्ट हो गया, अतः मैंने यह निश्चय किया कि इस आतिवाहिक देह से ही मैं अपने सप्तर्षिलोक को जाऊँ, यों निश्चयकर ज्यों ही मैं जाने के लिए उद्यत हुआ, त्यों ही मेरे पूर्वसंकल्प के नष्ट हो जाने से वह कुटिया भी अदृश्य हो गई और वहाँ केवल शुद्ध आकाशमण्डल ही रह गया । वह सिद्ध भी समाधि अवस्था में ही निराधार होकर नीचे की ओर गिरने लग गये ॥१३,१४॥ स्वप्न संकल्प की शान्ति हो जाने पर जैसे स्वप्न का नगर ध्वस्त हो जाता है, वैसे ही मेरे संकल्प की शान्ति हो जाने से जब वह कुटिया नष्ट हो गई, तब मेघ से जलसमूह के सदृश वहाँ से वह गिरने लगे । उस समय वह ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों वायु से छिन्न किया गया मेघखण्ड आकाश से गिर रहा हो या प्रलय काल में चन्द्रबिम्ब आकाश से गिर रहा हो या पुण्य का क्षय हो जाने पर वैमानिक गिर रहा हो या मूल के कट जाने पर वृक्ष गिर रहा हो या आकाश से फेंका गया पत्थर गिर रहा हो । वे आगे कही जानेवाली कांचन भूमि के ऊपर गिरे ॥१५–१७॥ भद्र, मेरा पहले का संकल्प यह रहा कि यह कुटिया तब तक रहे जब तक कि मेरी यहाँ स्थिति बनी रहे । यह मेरा सत्य संकल्प जब सप्तर्षिलोक में जाने के संकल्प से

क्षीण हो गया, तब तत्काल ही वह सिद्ध गिर पड़े ॥१८॥ तदनन्तर गिर रहे उस सिद्ध के साथ मैं उस आतिवाहिक देह से सज्जनतावश कहिये या कौतुकवश कहिये आकाश–मण्डल से वसुधातल की ओर गया ॥१९॥ प्रवह आदि पवन स्कन्धों का जो परिवर्तन है, इससे जनित आवर्त–वृत्तियों से यानी जैसे आवर्त में घूम रहा जल नीचे घुस जाता है, वैसे ही वह सिद्ध सात द्वीप और चार समुद्रों के पार की देवताओं की आश्रय कांचन भूमि पर गिरे ॥२०॥ भद्र, जब वे आकाश से पृथ्वी पर गिरे, तब वे वैसे ही गिरे जैसे कि आकाश की उत्तम कुटिया में पद्मासन बाँधकर स्थित थे । पहले तो उनका पैरका हिस्सा पृथ्वी में जम गया और उनका मस्तक भी ऊँचा ही रहा, क्योंकि प्राणवायु से अपने को, ऊपर आकर्षण से, ऊर्ध्वगामी पहले से ही उन्होंने कर रक्खा था । तात्पर्य यह है कि जैसे कुएँ में उतर रहा घड़ा या तुम्बा रज्जु से या डंठल से ऊपर की ओर स्तंभित रहता है, वैसे ही वह सिद्ध प्राण और अपान से ऊपर की ओर स्तंभित रहने के कारण गिरने पर भी निम्नमस्तक नहीं हुए ॥२१॥ वह सिद्ध इतने ऊँचे स्थान से गिरे, फिर भी उनका शरीर न तो टूटा और न उनकी समाधि ही भंग हुई, क्योंकि वह योगबल के प्रभाव से वज्रशरीर बन गये थे या तूलपिण्ड के सदृश अत्यन्त हलके बन गये थे ॥२२॥ तदनन्तर उनको समाधि से जगाने के लिए प्रयत्नवान् होकर मैंने उस समय मेघरूप धारण किया और मेघ बनकर खूब बरसा और तेज गर्जना की॥२३॥ मेघरूप होकर मैंने अपनी बुद्धि के प्रभाव से ओलेरूपी वज्रकी वृष्टि द्वारा उस महात्मा को समाधि से ऐसे जगाया जैसे मेघ वर्षा से मयूर को जगाता है ॥२४॥ समाधि से जागने के बाद उनके समस्त अंगों की शोभा प्रकाशित होने लग गई और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे । उस समय वह ऐसे प्रतीत हुए मानों वर्षा काल में धारापातों से विकसित हुआ कमलवन हो ॥२५॥ परमार्थ ब्रह्म में स्थिति की हेतुभूत समाधि के शान्त हो जाने पर जब मेरे सामने वह प्रबुद्ध (जाग्रत) हो गये, तब मैंने बहुत ही स्वच्छ भाव से उनसे यह पूछा ॥२६॥ हे मुनिश्रेष्ठ, आप कहाँ हैं, यह आप क्या कर रहे हैं, आप हैं कौन और इतने दूरसे आपका नीचे पतन हुआ, फिर भी आप अपने चित्त में उसका अनुभव क्यों नहीं करते ? ॥२७॥ जब मैंने ऐसा प्रश्न किया, तब उन्होंने मेरी ओर दृष्टि की, फिर पूर्व गतिका स्मरण कर जैसे चातक मेघसे सुन्दर वचन कहता है वैसे ही मुझसे सुन्दर वचन कहे ॥२८॥ सिद्ध ने कहा : हे मुने, कुछ क्षण आप ठहरिये, तब तक मैं अपना वृत्तान्त याद कर लूँ । फिर मैं आपसे पूर्वजन्म का सारा किस्सा कह सुनाऊँगा॥२९॥ हे श्रीरामजी, ऐसा कह कर उन्होंने सोचकर समस्त जन्मान्तरों के वृत्तान्तों के साथ अपना पूर्व वृत्तान्त जैसे पुरुष पूर्वान्ह में आचरित वृत्तान्त का सायं काल में स्मरण करता है वैसे ही तुरन्त स्मरण किया ॥३०॥ इसके बाद वह मुझसे यह वचन बोले । उनका वचन सुन्दर, चन्द्र–किरणों के सदृश शीतल था, आह्लादकारक था तथा अनिन्द्य, निर्दोष एवं सुखोत्पादक था ॥३१॥ सिद्ध ने कहा : हे ब्रह्मन्, हाँ, अभी मैंने आपको जाना, अतः आपको मैं अभिवादन करता हूँ । मैंने प्रथम दर्शन में आपको अभिवादन नहीं किया, इससे जो

मेरा अपराध हुआ, उसे क्षमा कीजिये, क्योंकि अपराध क्षमा करना सज्जनों का सहज स्वभाव ही है ॥३२॥ हे मुने, जैसे कमलों में भौंरा भ्रमण करता है वैसे ही मैंने दीर्घकाल तक भोगरूपी सुगन्ध से पूर्ण मोहकारक देवताओं की उपवनभूमियों में उत्तरोत्तर परिभ्रमण किया ॥३३॥ तदनन्तर चित्तरूपी जल के तरंगों के हिलोरों से दृश्यरूपी नदी में चक्रावर्तनों से रात-दिन बह रहे मैंने दीर्घकाल के बाद विवेक का आविर्भाव होने पर संसार से उद्विग्न होकर यों विचार किया ॥३४॥ संसाररूपी सागर में दृश्यरूपी तरंगों से मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया और दीर्घकाल के बाद ऐसे उद्वेग को प्राप्त हुआ जैसे कि वृष्टि के अभाव में चातक उद्वेग को प्राप्त होता है ॥३५॥

सिद्ध ने जो विचार किया, उसे कहते हैं ।

जिनका सार केवल ज्ञान (संवित्) ही है, उन भोगों में रम्य वस्तु है ही कौन ? यदि उनमें संविद्रूप से प्रकाशमान सुख ही रम्य वस्तु है, तो सुख से भिन्न सुखसाधन दुःखरूप होने से उनका सार दुःख ही ठहरा, इसलिए दुःखांश को छोड़कर सारभूत सुख संविदाकाश में ही केवल अवस्थित रहूँ, दूसरे समस्त असार से अब मतलब ही क्या ? ॥३६॥

अपरिच्छिन्न सुखको छोड़कर परिगणित परिच्छिन्न असुख में रमण करना उचित नहीं है, यह कहते हैं ।

इस संसार में शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध मात्र को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिए ऐसे तुच्छ पदार्थों में क्यों रमूँ ? ॥३७॥ ये शब्द आदि जितने विषय हैं, वे यदि स्वतःसत्तावान् चिदात्मा में चिदात्मा से भिन्न माने जायें, तो वे शून्यात्मक यानी असत् ही होंगे यदि चिदात्मा से अभिन्न माने जायें, तो चिदात्मा के स्वरूप ही होंगे-यों दोनों तरह असद् आकारवाले उन शब्दादि में, उन्मत्त के सदृश, मैं क्यों रमण करूँ ? ॥३८॥ शब्द आदि विषय विष के सदृश मरण, उन्माद आदि विषमता पैदा करनेवाले हैं, स्त्रियाँ कामरूप विमोह में ही फँसानेवाली हैं, राग सरस पुरुष को भी नीरस बना देने वाले हैं, इसलिए इनमें पड़नेवाला कौन पुरुष नष्ट नहीं हुआ ? हिरण, हाथी आदि एक-एक वस्तु में आसक्ति रखने के कारण वध एवं बन्धन को प्राप्त होते हैं, यह सबको विदित है॥३९॥

किसी तरह शरीर में भी आसक्ति उचित नहीं है, यह कहते हैं ।

जल्दी प्राप्त होनेवाला बुढ़ापा एक तरह की बड़ी बकी (बगुली) है, यह जब जीवन जीर्ण होने लगता है, तब सोचती है कि मैंने इस जीर्ण जीवनरूपी शैवाल में बड़ी मछली पकड़ ली । यों बुद्धि करके वह तत्काल ही शरीर को अपने उदरस्थ कर लेने की इच्छा करती है ॥४०॥ यह शरीर-समुद्र में बुलबुले के सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाला पदार्थ है, इसलिए कुछ काल तक स्फुरित होते ही सामने देखते-देखते, दीपशिखा के सदृश, विलीन हो जाता है ॥४१॥

इसी प्रकार जीने की भी आशा उचित नहीं है, यह बतलाने के लिए उसका नदीरूप से

वर्णन करते हैं ।

यह जीवन नाम की तो एक महानदी है । इसमें विविध प्रकार के विक्षेप तो ज्वारभाटे हैं, चक्र–परिवर्तनों के सदृश उसमें नानाविध भ्रमण ही आवर्त हैं, मरण और जन्म उसके दोनों तरफ के किनारे हैं तथा सुख–दुःख तरंग हैं ॥४२॥ उसमें यौवन का उल्लास ही कीचड़ भरा पड़ा है, जरारूपी धवल फेन है, काकतालीय के योग से उसमें कभी–कभी सुखरूप बुलबुले भी उठते रहते हैं ॥४३॥ उसमें व्यवहार महाप्रवाह की रेखा है–इस व्यवहाररूप महाप्रवाह की रेखा से उसमें नानाविध मूर्खप्रलापरूपी जल के शब्द हुआ करते हैं यानी वह जलरवों से व्याकुल रहती है, राग–द्वेषरूप मेघों से वह निरन्तर बढ़ती ही रहती है, भूतलपर उसका शरीर सदा ही चंचल रहता है ॥४४॥ इस जीवन नदी में सदा लोभ–मोह के आवर्त उठते रहते हैं, पतन और उत्पतन से उसका निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, इस प्रकार की यह जीवन नदी शब्दमात्र से तो अत्यन्त शीतल है, परन्तु अर्थतः वास्तव में तीनों तापों का प्रदान करती हुई बहती जाती है, इसलिए इसकी भी आशा करना महान् खेद का ही विषय है ॥४५॥ संसाररूपी नदी के जलस्थानीय जो इष्ट–पुत्र, मित्र आदि के समागम तथा धन हैं, वे पहले के तो चले जाते हैं और नवीन आते रहते हैं, यानी कोई भी स्थिर नहीं रहते ॥४६॥

इस स्थिति में जो जानेवाले हैं और जो आनेवाले हैं, उनके विषय में हर्ष–शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं ।

जो पहले प्राप्त हुए हैं, वे तो निवृत्त हो जाते हैं और कभी प्राप्त हुए ही नहीं वे प्राप्त होते हैं, इसलिए ऐसे नष्ट स्थितिवाले पदार्थों की प्राप्ति से क्या और इनमें आस्था करना ही क्या ? यानी न तो उनसे कोई मतलब निकलेगा और न वे विश्वास करने योग्य ही हैं ॥४७॥

आयु में धनादि से विलक्षणता बतलाते हैं ।

संसार में जितनी नदियाँ हैं, उनका जल तो पर्वत, मेघ आदि स्थान से आकर आता ओर जाता रहता है, परन्तु देहरूपी नदी का आयुरूपी जल तो चला ही जाता है, फिर पुनः लौटकर आता ही नहीं ॥४८॥ इस संसाररूपी सागर में प्रतिदेह और प्रतिक्षण भाव यानी योग्य वस्तुओं का, कुम्हार के चाकपर चढ़ाये गये सकोरों के सदृश, सैकड़ों बार परिवर्तन होता ही रहता है ॥४९॥ भयंकर शत्रुभूत चतुर विषयरूपी चोर चारों ओर घूमते रहते हैं और विवेकरूपी सर्वस्व का अपहरण करते हैं, इसलिए अब जागूँ यहाँ सोया क्यों हूँ ? ॥५०॥ आयु के टुकड़े–टुकड़े क्षण क्षण में बार बार गिरते रहते हैं, परन्तु आश्चर्य की बात है कि कोई भी प्राणी काल के द्वारा विनष्ट किये गये आयु के दिनों को जान नहीं पाता ॥५१॥ आज यह हुआ, कल यह होगा, यह तो मेरा है और वह इसका है, इस प्रकार रात दिन संकल्प–विकल्प करता हुआ प्राणी यह नहीं जान पाता कि मेरी कितनी आयु चली गई और अब मेरी मृत्यु आ गई ॥५२॥ खूब खाया और पीया, अनन्त विभूतियों में

विचरण किया, सुख-दुःख भी खूब भोगे, अब दूसरा करने को बचा ही क्या है ? ॥५३॥ सुख-दुःख के बार-बार के अनुभव से, बार बार अनेक तरह के परिवर्तनों से तथा पदार्थों की नश्वरता से अब हम भोगों से ऊब उठे हैं यानी उनमें अब किसी तरह की उत्कण्ठा नहीं ॥५४॥ यद्यपि अनेक तरह के अनेक भोग भोगे, बार-बार पदार्थों की अस्थायिता भी देख ली, परन्तु कहींपर भी यहाँ उत्तम शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकी ॥५५॥ यद्यपि मैंने उत्तुंग शिखरोंवाले मेरुपर्वत की उपवन भूमियों में खूब विहार किया तथा लोकपालों की महान् नगरियों में भी खूब विहार किया, तथापि क्या आज तक मैंने स्वाभाविक (अकृत्रित) सुख पाया ? अर्थात् नहीं ही पाया ॥५६॥

अब सब भोगों की असारता विवेकपूर्वक बतलाते हैं।

सभी जगह के वृक्ष काष्ठों से ही व्याप्त हैं, प्राणिसमूह मांस से व्याप्त है, पृथ्वी मिट्टी से भरी पड़ी है, और दुःख एवं नश्वरता सारे संसार को घेर कर खड़ी है, फिर आप कहिये कि उनमें विश्वास कैसे हो ? ॥५७॥ न तो धन, न मित्र, न सुख और बान्धव ही उस पुरुष की रक्षा कर सकते हैं, जो कि काल के गाल में फँस चुका है ॥५८॥ बालू के ढेर के सदृश यह पुरुष अत्यन्त अस्थिर है, पर्वतों के मध्य में बरसे हुए मेघ के पेट में विद्यमान जल जैसे क्षण क्षण में नष्ट होता रहता है, भीतर से बचाव का उपाय नहीं करता और आखिर में नष्ट हो जाता है ठीक वैसे ही वह पुरुष विषयों के अन्दर आसक्त होकर क्षण क्षण में विनाश की ओर जाता रहता है और अन्त में मरण ही प्राप्त करता है ॥५९॥ न तो स्त्रियाँ ही अच्छी हैं और न अनेक तरह की भौतिक विभूतियाँ (ऐश्वर्य) ही रमणीय है यानी बहुत जल्द ही नष्ट हो जानेवाली है ॥६०॥ हे मुने, अब आप कहिये कि मनुष्य कहाँ, किसका, किस प्रकार और कैसे विश्वास रख सकता है, यानी इन सब प्रत्यक्ष दृष्टान्तों से मनुष्य के लिये कोई स्थान आदि ऐसा है ही नहीं कि विश्वास रखकर विश्रान्ति ले, क्योंकि क्रूर मृत्यु आज या कल अवश्य ही माथे पर आपदाएँ प्राप्त करायेगा ही ॥६१॥ शरीर तो पत्ते के सदृश गिर जानेवाला है, जीवन की स्थिति भी जीर्णशाली है, बुद्धि अधीरता से निरन्तर ग्रस्त है और विषय नीरसता लिये हुए हैं ॥६२॥ नीरस विषयों ने और उनके मनोरथों ने इस बड़ी आयु को ले लिया , परन्तु चमत्कारजनक यानी उत्तम पुरुषार्थरूप चमत्कार की जननी सम्पत्ति मेरे लिये कुछ भी पैदा नहीं की ॥६३॥ आज ही मेरा मोह मन्द पड़ा गया है, देह यहाँ किसी काम के लिए उपयोगी नहीं है, विषयों में आसक्ति न करना सबसे श्रेष्ठ स्थिति है और जीवन में आस्था बाँधकर बैठे रहना सबसे अधम स्थिति है ॥६४॥ विवेकी पुरुषों को सम्पत्ति आदि की प्राप्ति में भी निरन्तर यही मानना चाहिए कि यह बड़ी भारी आपत्ति ही आई, क्योंकि वही विषयसम्पत्ति पुरुष में बड़ा भारी मोह पैदा करती है, इसलिए इस तुच्छ संसार में तो कभी आस्था बाँधनी ही नहीं चाहिए ॥६५॥

विवेकी को तो कर्मशास्त्र भी व्यामोहकारक ही दीखते हैं, यह कहते हैं।

निरन्तर के लिए विधि–प्रतिषेध के प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, चाहे कभी कभी के लिए विधि–निषेध के प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, इनसे तो पुरुष लोक में उस प्रकार यथेष्ट लुढ़कता फिरता है, जैसे निम्न और उन्नत स्थानों से जल ॥६६॥

क्योंकि ऐहिक और आमुष्मिक (पारलौकिक) विषय कामियों को ही विवेक से भ्रष्ट कर अनर्थ की ओर पहुँचाते हैं, यह कहते हैं।

विषयरूप विषपूर्ण वायुमण्डल अन्तःकरणरूपी फूल के कोश से विवेक सुगन्धरूपी सर्वस्वका अपहरण कर कर्मशास्त्र में प्रवृत्त पुरुष को मूर्च्छा प्रदान करता है ॥६७॥ वास्तव में विषयों का स्वरूप तो असत् ही है, परन्तु भ्रमसे सद्बुद्धि के कारण उसे सद्रूपता प्राप्त हुई है, अतः असल में यह वैसा है नहीं, जैसे माया के आवरणवश सद्रूप ब्रह्म असत्–सा बन गया वैसे ही माया के विक्षेपवश असत् सत् ही बन गया । माया में यह बड़ी पटुता है कि वह अघटित वस्तु को घटित कर देती है ॥६८॥

बाह्य दृष्टियों को विषयोन्मुखी दृष्टि स्वाभाविक है, यह कहते हैं।

जैसे दोनों तटभूमियों पर प्रवाह को झूले के सदृश आन्दोलित करती हुई सागरांगनाएँ (नदियाँ) सागरों की ओर दौड़ती जाती हैं, वैसे ही मोहग्रस्त जनता विषयों की ओर दौड़ती जाती है ॥६९॥ छुटे हुए चित्तरूपी बाण विषयरूप लक्ष्य की ओर ही स्वभावतः जाते हैं, फिर वे विवेक आदि गुणों का ऐसे ही स्पर्श नहीं करते, जैसे कि कृतघ्न पुरुष सहृदयता का ॥७०॥ आयु तो एक उत्पातवायु ही है, जो मित्र हैं, वे तो स्नेहासक्ति द्वारा ध्वंसक महाशत्रु ही हैं, जो बन्धुवर्ग हैं, वह तो बन्धनरूप ही हैं और जो धन है, उसे तो मृत्यु का ही एक तरह से साधन समझना चाहिए ॥७१॥ आसक्ति पैदा करने के कारण सुख अतिदुःखरूप ही हैं, सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ ही हैं, भोग संसार में महारोग हैं और भोगों से प्रेम महान् अरति यानी व्यग्रतारूप ही है ॥७२॥

पूर्वोक्त का विवरण करते हुए कहते हैं।

सभी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ ही हैं, सुख केवल दुःख के लिए ही हैं, जीवन मरण के ही लिए है, अहो, यह माया का बढ़ाव महान् खेदकारक है ॥७३॥ कालचक्र के प्रभाव से परिवर्तनशील इष्टअनिष्ट प्रसंगों को, विषयों के किंचित् सुख को तथा प्रियजनों के वियोगों को देखता हुआ मनुष्य जीर्ण भाव को प्राप्त हो जाता है ॥७४॥ विषयसेवनरूप भोग तो सर्पों के फण ही समझ लेने चाहिए, क्योंकि उनका तनिक ही स्पर्श किया, तो तत्काल ही डँस लेते हैं और प्रतिक्षण देखते ही नष्ट हो जाते हैं ॥७५॥ यह आयु तो आयासशून्य आत्मा की प्राप्ति कराने में सामर्थ्यरहित, भयंकर तथा परिणाम में नष्ट होनेवाली अनेक कष्टदायक चेष्टाओं से व्यर्थ ही चली जाती है ॥७६॥ भोगों की अभिलाषा से बद्धतृष्ण जीवों का पद–पदपर ऐसे ही अपमान होता है जैसे कि खानपानरहित, उपवास आदि से कृश हुए बन्धनस्तम्भ में बद्ध जंगली हाथियों का होता है ॥७७॥ सम्पत्तियाँ तथा

ललनाएँ तरंगों के उत्संग के सदृश अतिक्षणभंगुर हैं, अतः ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष होगा, जो साँप के फणरूप छाते की छायाभूत उन सम्पत्ति आदि में रमण करेगा, इससे सम्पत्ति आदि क्षणभंगुर ही नहीं हैं, किन्तु तत्काल मृत्यु-प्रद भी हैं, यह जानना चाहिए ॥७८॥ मान लिया जाय कि विषयभोग मनोरम हैं और ऐश्वर्य भी मनोरम ही है, परन्तु जीवन तो उन्मत्त अंगनाओं के अपांगभंग के सदृश अति चंचल ही है ॥७९॥ विषय तो आपातरमणीय हैं यानी इन्द्रियसंगकाल में ही रम्य भासते हैं, ये परिणाम में अत्यन्त नीरस हैं, इसलिए ऐसे विषयों में जो पुरुष रमण करते हैं, वे नरकों में ही गिरते हैं, क्योंकि विषयों के व्यसनियों को पद-पदपर अधर्म ही होता है ॥८०॥

उसके उपायभूत धन में दोष बतलाते हैं ।

धन द्वन्द्वों से आक्रान्त हैं यानी उनका उपार्जन करने के समय शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वों का सामना करना ही पड़ता है । अतः वे कष्टसाध्य हैं, और वे स्थिर भी नहीं हैं, क्योंकि राजा, चोर आदि से उनका विनाश पद-पद में संभावित है ॥८१॥ लक्ष्मी ऊपर-ऊपर से ही मधुर है, अन्त में दुःख देनेवाली है, केवल लोक को मोह में डालनेवाली है तथा उसका विलास क्षण के लिए ही होता है ॥८२॥ दुष्टों के साथ किये गये मैत्री आदि सम्बन्ध जैसे आपातरमणीय, थोड़े से संघर्ष में विनाशी, दुःखरूप तथा आपत्ति देनेवाले होते हैं, वैसे ही धन के साथ किये गये सम्बन्ध भी आपातरमणीय, थोड़े में नष्ट होनेवाले, दुःखरूप तथा आपत्ति देनेवाले होते हैं ॥८३॥ यौवन की शोभाएँ शरत्काल के मेघ की छाया के सदृश झटपट चली जानेवाली (नश्वर) हैं और विषय अविचार से रमणीय तथा परिणाम में सन्तापदायी हैं ॥८४॥ चाहे बड़े-से-बड़े ही क्यों न हों, उनके जीव के ऊपर मृत्युरूप अन्त अवश्य उपस्थित हो ही जायेगा । देहियों की आयुष्य तो शाखा के अग्रभाग में लटक रहे जलकी ओस की बूँदों के सदृश स्खलित हो जाती हैं ॥८५॥ वृद्धावस्था प्राप्त कर रहे पुरुष के केश तथा दाँत जीर्णशीर्ण हो जाते हैं, जीर्ण अवस्थावाले के लिए सब कुछ जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, परन्तु अकेली तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती ॥८६॥

अब भोगों को भोग लिया जाय, जन्मान्तर में विवेक, वैराग्य आदि प्राप्त हो जायेंगे, यह सोचा जाय, तो वह व्यर्थ ही है, क्योंकि जन्मान्तर में विवेकादि प्राप्त होंगे, यह आशा ही नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं ।

भावी देहों की परम्परारूप शरीररूपी अरण्य में, जो भोगों के विस्तार से अतिगहन हैं, एकमात्र तृष्णारूपी विषमंजरी ही अत्यन्त लहलहाती नजर में आती है ॥८७॥

बाल्य आदि अवस्थाओं में भी विवेकादि की आशा नहीं है, यह कहते हैं ।

बाल्य अवस्था युवावस्था के सदृश चली जाती है और युवावस्था बाल्य अवस्था के सदृश चली जाती है, यों इन दोनों में परस्पर उपमानता, उपमेयता तथा विनश्वरता विद्यमान हैं ॥८८॥

अंजलि से जैसे जल क्षणभर में चला जाता है, वैसे ही यह जीवन क्षणभर में गल जाता है। नदी के प्रवाह के सदृश बह गयी आयु, फिर लौटकर वापस नहीं आती ॥८९॥ किसी भी अज्ञात कारण से, अर्जुन वायु के सदृश, यह दुःखदायी देह आई तो है, परन्तु देखते–देखते ऐसे झट से नष्ट हो जाती है, जैसे तरंग, मेघ और दीपक ॥९०॥ हम लोगों को विषयों में नीरसता इसलिए हुई कि रम्य वस्तुओं में अरम्यता ही देखी, स्थिर वस्तुओं में अस्थिरता ही देखी और सत्यरूप समझे गये पदार्थों में असत्यरूपता देखी ॥९१॥ मन के वासनानिर्मुक्त हो जाने पर जो आत्मा में विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस विश्रान्ति से जो सुख मिलता है, वह न तो पाताल में, न भूतल में, न स्वर्ग में और न किन्हीं भोगों में ही प्राप्त होता है ॥९२॥

इस समय में दृढ़ वैराग्य से युक्त मुझ पर सम्पूर्ण विषयों को लेकर भी समस्त इन्द्रियों के व्यापार विजय नहीं पा सकते, यह कहते हैं।

जितने प्रिय बुद्धि से गृहीत मनोरम विषय हैं वे सब तथा पाँचों इन्द्रियों की वृत्तियाँ क्या मुझको जीत सकती हैं ? अर्थात् वे मुझको ऐसे जीत नहीं सकती जैसे कि चित्रलिखित लता भ्रमर को नहीं जीत सकती ॥९३॥ आज दीर्घकाल व्यतीत हो जाने के पश्चात् निरहंकार हुए मैंने अपनी विवेकबुद्धि से यह स्वर्ग–अपवर्ग के प्रति विरक्ति प्राप्त की है ॥९४॥ हे मुने, इसी कारण आपकी तरह मैं भी दीर्घकाल तक विश्रान्ति करने के निमित्त इस आकाशस्थान में, जो कि आपकी कल्पना की कुटिया का भाजन रहा, आया और मैंने उस कुटिया को देखा ॥९५॥ महाराज, आपकी यह कुटी है और भविष्य में यहाँ पर आप पधारेंगे, यह उस समय मैंने नहीं विचारा । आज ही मुझे यह ज्ञात हुआ है ॥९६॥

आपने उस समय क्या समझा था, इस पर कहते हैं।

हे मुने, उस समय तो मैंने अनुमान से यह समझा था कि कोई सिद्ध यहाँ रहता होगा और वह अपने आप अपना शरीर छोड़कर यहाँ मुक्ति को प्राप्त हो गया है ॥९७॥ हे भगवन्, 'तुम कहाँ स्थित हो' इत्यादि जितने आपने मुझसे प्रश्न किये थे और मेरी जो खरी हकीकत रही, वह सब मैंने कही । अब इसके बाद मुझ अपराधी के ऊपर दण्ड या अनुग्रह इन दोनों में से जो कुछ भी आपकी समझ में आता हो, वह कीजिए ॥९८॥ हे मुने, आपके जैसे सिद्ध भी जबतक समाधिनिष्ठ होकर उत्तम बुद्धि से अपने भीतर समस्त वस्तुओं का विचार–पूर्वक निर्णय नहीं करते, तब तक वे त्रिकाल के सब वृत्तान्तों का ज्ञान नहीं कर पाते । इसी तरह का ब्रह्मा आदि के मन का भी स्वभाव है, फिर मेरे जैसे पुरुषों की तो बात ही क्या ? इसलिए आपके वृत्तान्त का अपरिज्ञान एवं शरीर को हटाया आदि जो मैने आपके प्रति अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिए, यह तात्पर्य निकला ॥९९॥

तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त

चौरानबेवाँ सर्ग

दोनों का–श्रीवसिष्ठजी तथा उस सिद्ध का–सिद्धलोक में गमन तथा
पिशाचों एवं देवताओं की केवल मन के अनुसार स्थिति, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद आकाश के समान विस्तीर्ण सात समुद्र और सातों द्वीपों के बाहर स्थित कांचनमय विशाल भूमि में मैत्री के कारण ही मैंने उस सिद्ध से यह कहा–मित्र, अकेले आपने ही विचार नहीं किया हो ऐसी बात नहीं है, किंतु मैंने भी विचार नहीं किया । साधारण लोगों की बात जाने दीजिये, जो बड़े–बड़े योगी हैं, उनको भी ध्यानपूर्वक सब विषयों में मनोयोग के बिना भूत, भविष्यत् पदार्थों का परिज्ञान कदापि नहीं हो सकता ॥१,२॥

यदि प्रणिधान (ध्यान) द्वारा सब विषयों में मनोयोग हो सकता तो आपका पतन कदापि न होता और संकल्पकुटी स्थिर बनायी गई होती, यह कहते हैं ।

मित्र, मैंने आपका वृत्तान्त विचारकर वह कुटी आकाश में चिरस्थायिनी क्यों न बना दी । यदि मैं ऐसा कर देता तो अवश्य ही आपकी स्थिति स्थिर हो गई होती, आपका पतन न हो पाता । मित्र, हम दोनों से ही परस्पर अपराध हुआ, अतः परस्पर दोनों को क्षमा कर देनी चाहिए ॥३॥ अब उठिये, हम दोनों सिद्ध लोकों में पूर्ववत् निवास करें–आप नन्दनवन में चलकर विहार कीजिये और मैं सप्तर्षिलोक में जाकर रहूँ । बिना हलचल के अपने स्थान में रहना अपनी विक्षेपशून्य स्थिति के लिए उत्तम साधन है ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा निर्णय कर तारों के सदृश वे दोनों सिद्ध गुलेल से उड़े हुए दो पत्थरों के समान एक साथ बड़ी तेजी से उड़े ॥५॥ परस्पर प्रणामपूर्वक एक दूसरे को विदा कर वह सिद्ध अपने अभीष्ट देश को चला गया और मैं भी अपने अभिमत देश में आ गया अर्थात् वह सिद्ध नन्दन वन को गये और मैं सप्तर्षि लोकों में आया ॥६॥ हे राघव, इस प्रकार पाषाणोपाख्यान एवं सिद्ध का सारा वृत्तान्त मैंने आपसे कह सुनाया । देखिये, संसृतियों की कैसी आश्चर्यमयी विचित्रता है ॥७॥

कुटी में स्थित जो आपका स्थूल शरीर था, उसे उस सिद्ध ने फेंक दिया, यह मेरा अनुमान है ऐसा आपने ही मुझसे कहा है । फेंका गया जो पार्थिव शरीर है वह तो समय पाकर पृथ्वी में धूल–रूप हो जाता है, यह अर्थतः ही ज्ञात हुआ । ऐसी स्थिति में एकमात्र मानसिक शरीर से सिद्धों के लोकों में जाकर वहाँ के निवासी जनों के साथ आपने कैसे व्यवहार किया ? न तो मनोमात्र आत्मा दूसरों के साथ व्यवहार कर सकता है और न दूसरे ही उसके साथ व्यवहार कर सकते हैं, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जब आपका यह भौतिक शरीर पृथ्वी में धूल बन गया, यानी धूलमय हो गया तब आपने किस शरीर से सिद्धलोकों में संचार किया ? ॥८॥ श्रीवसिष्ठजी ने

कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, हाँ, मुझे स्मरण हो आया, सुनिये उसके बाद की मेरी आत्म कहानी । सुवर्णमयी भूमि से चलकर जगत्रूपी घर में सिद्धों की सेनाओं तथा लोकपालों की पुरियों में भ्रमण करता हुआ मैं इन्द्र भगवान् के नगर में पहुँचा । चूँकि मैं इस स्थूल शरीर से रहित मनोमात्र शरीरधारी था, अतः वहाँ मुझको कोई देख न सका ॥९,१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें सन्देह नहीं कि उस समय मैं गगनाकार हो गया था । न तो मेरा कोई आधार था और न कोई आधेय था । मैं तो चिदाकाशप्रचुर जो मन है, तद्रूप ही हो गया था ॥११॥ उस समय न तो मैं आपके सदृश स्थूल पदार्थों के अवबोध करनेवालों की तरह ग्रहीता (ग्रहणकर्ता) था और न ग्राह्य ही था । हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैं प्रेषण, प्रतीक्षण आदि के द्वारा दूसरों के देशों और कालों का परिवर्तन करनेवाला भी नहीं था ॥१२॥ मन का जो मनन है एकमात्र वही मेरा स्वरूप था, मैं पृथ्वी आदि से बिलकुल रहित था, मेरा आकार संकल्प के पुरुष के तुल्य था और मैं स्पर्श न होने के कारण स्तम्भ, कुम्भ आदि विविध पदार्थों का रोधक नहीं था ॥१३॥ अपने अनुभव की ओर उन्मुख हुआ मैं यानी स्वानुभवरूप मैं स्वयं भी पदार्थसमूहों से अवरुद्ध नहीं होता था । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैं स्वप्नमनोराज्य के समान मनोमय भूतों के साथ ही व्यवहार करता था ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह के अर्थ की संभावना में स्वप्न के अनुभवपूर्ण दृष्टान्त हैं । जो अनुभव का अपलाप करते हैं, अनुभव को प्रमाण नहीं मानते हैं उन नैयायिकों के साथ बातें करना ठीक नहीं है, व्यर्थ है (☙) ॥१५॥ जिस प्रकार घर में सोये हुए स्वप्न में विचरण करनेवाले स्वप्न में व्यवहार कर रहे पुरुष को उस घर के दूसरे प्राणी नहीं देख पाते, उसी प्रकार उस समय आकाश में विहार करनेवाले देवताओं ने सामने स्थित रहने पर भी मुझे नहीं देखा ॥१६॥ पार्थिव आकार के तुल्य भासुर यानी देदीप्यमान अन्य प्राणियों को मैं तो देखता था, लेकिन स्थूलशरीरधारी मुझे वहाँ कोई भी नहीं देखता था ॥१७॥

मुझे वहाँ कोई नहीं देखता था, यह आपका कहना आपके ही पूर्व के कथन से विरुद्ध है। क्योंकि अभी आपने पहले कहा है कि मैं वहाँ सिद्ध से देखा गया । मैं अन्य प्राणियों को देखता था, आपका यह कहना भी असंगत है, कारण कि मन की बाहर स्वतन्त्रता न होने से स्वप्न में अपने

(☙) ज्ञानमात्र में अवच्छेदकता सम्बन्ध से देह की कारणता के सदृश त्वक् एवं मनके संयोगकी भी कारणता है, इसीलिए सुषुप्ति में त्वंमनोयोग का अभाव रहने से ज्ञान का अभाव है। ऐसा जो नैयायिक प्रलाप करता है, वह मूर्ख है, उसके साथ आपको संभाषण करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि भाषण करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, 'सुखमहमस्वाप्सम् इत्यादि जाग्रत्काल में स्मृति होने से सुषुप्ति में भी सुखस्वप्नादिका ज्ञान तो होता ही है । स्वप्नेन शारीर मभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पूरुष एकहंसः।' इत्यादि श्रुति के साथ विरोध भी होता है तथा निमि के शाप से जब मैंने शरीर का परित्याग कर दिया, तो भी मुझे दुःख का अनुभव तो होता था, उसी के निवारण के लिये ब्रह्मा की आज्ञा से मिले हुए वरुण से उत्पन्न शरीर का मैंने ग्रहण किया था ।

मनोमय पदार्थों का ही अवलोकन होता है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, आकाशमय शरीरधारी आप यदि विदेह होने के कारण यानी पार्थिव शरीर शून्य होने के कारण किसी के द्वारा नहीं दिखते रहे, तो फिर उस सुवर्णमयी पृथिवी में उस सिद्ध के द्वारा आप कैसे देखे गये ? ॥१८॥

सत्य संकल्पानुसारी दर्शन की व्यवस्था से श्रीवसिष्ठजी दोनों का परिहार करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, हमारे सदृश ज्ञानयोगसिद्ध पुरुष जैसे संकल्प से कल्पित पदार्थों का अवलोकन करता है, वैसे ही असंकल्पित पदार्थों को प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सत्यसंकल्प शरीरवाला है ॥१९॥

ज्ञानसिद्ध महानुभावों का सदा ही सूक्ष्म शरीर रहता है, उनका तो स्थूल शरीर होता ही नहीं, यह आपने अनेक बार मुझसे कहा है, ऐसी दशा में उनका स्थूलदेहबुद्धि से दूसरे को देखना, उससे बातचीत करना आदि सत्य संकल्प कैसे हो सकता है ? ऐसी आशंका करने पर श्रीरामजी कहते हैं ।

निर्मलात्मा सूक्ष्म शरीरधारी सिद्ध पुरुष भी लौकिक व्यवहारों में मग्न होकर क्षण भर में ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है, तात्पर्य यह है कि जैसे समाधि और विवेक काल में सत्यसंकल्पन होता है वैसे ही व्युत्थान-व्यवहार-काल में सूक्ष्म शरीरभाव का विस्मरण भी होता है, इसलिए उनका परदर्शन, संवाद, आदिका संकल्प सम्भव है ॥२०॥

यह जो सिद्ध था, वह भी सत्यसंकल्प तथा सिद्ध था, अतः मुझे देख सकता था, इस आशय से उसमें विशेषता दिखलाते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी उस समय मैंने यह सिद्ध मुझे देखे, ऐसा संकल्प किया था, इससे उस सिद्ध ने मुझे देखा, जो स्वसंकल्पित अर्थका भाजन था ॥२१॥

साधारण लोगों की अपेक्षा सिद्ध पुरुष में विशेषता बतलाते हैं ।

चिरकाल की वासना से जिस पुरुष का भेद बहुत दृढ़ हो चुका है, वह साधारण पुरुष चिरकाल की वासना से भेदबुद्धि के दृढ़ होने के कारण संकल्पित अर्थ का भाजन नहीं होता, किन्तु भेदवासना मिट जाने के कारण यह सिद्ध सत्य संकल्प का भाजन था ॥२२॥

जहाँ दो सिद्ध परस्परविरुद्ध संकल्प करें-जैसे एक तो यह संकल्प करे कि 'मैं' इसे देखूँ और दूसरा यह संकल्प करे कि 'मुझे यह न देखे' ऐसी स्थिति में वहाँ कैसी व्यवस्था होगी ? इस आशंका पर कहते हैं ।

परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध अभिष्टवाले दो सिद्धों में जो अधिक निर्मलात्मा यत्नवान् रहता है वह बाजी मार ले जाता है । जैसे एक राज्यसिद्धि के लिए प्रयत्न कर रहे दो राजकुमारों में जिसमें शौर्य आदि अधिक मात्रा में रहते हैं, उसी की विजय होती है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये ॥२३॥

ऐसा ही सही, परन्तु आपके इस कथन से प्रकृत में क्या आया, इसपर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धों की सेनाओं तथा लोकपालों की पुरियों में विचरण करते हुए मेरी वह सूक्ष्मरूपता व्यवहारों की अधिकता से जब विस्मृत हो गई–जब मैं अपना सूक्ष्म स्वरूप भूल गया तब महाकाश में अन्य लोगों के साथ व्यवहार करने में प्रवृत्त हो गया, परन्तु मेरा ऐसा चंचल रूप था कि वहाँ मुझे कोई नहीं देख पाता था ॥२४,२५॥ हे अनघ, मैं वहाँ सुरलोकों में अत्यन्त जोर से शब्द कर रहा था, फिर भी वहाँ जैसे स्वप्न के पुरुष का शब्द कोई नहीं सुनता वैसे ही मेरा वह शब्द कोई नहीं सुन पाता था ॥२६॥ वहाँ पर जब कोई गिरता तथा नीचे से ऊपर की ओर चढ़ता तो वैसे मौकों में मैं झट अपने हाथ आदि का उसे अवलम्बन देने के लिए उद्यत हो जाता था । लेकिन हे रामजी, उसके सहारे के लिए उद्यत होने पर भी मननशील मनरूपशरीरधारी मेरा हाथ आदि कुछ भी उसके अवलम्बन के लिए समर्थ नहीं होता था ॥२७॥ हे रघुनन्दन, इस तरह मैं आकाशका पिशाच हो गया और देवताओं के घरों में इस एक अनिर्वचनीय पिशाचता का मैंने अनुभव किया ॥२८॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, कृपाकर यह बतलाइये कि इस लोक में पिशाच किस आकार के होते हैं, वे कहाँ रहते हैं, किस जाति के होते हैं, उनका आचार कैसा होता है तथा वे किस तरह के अभिप्रायवाले होते हैं ? ॥२९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोक में पिशाच जिस तरह के हैं, उनका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप सुनिये । जो मनुष्य प्रसंगप्राप्त वचन नहीं बोलता वह सभ्य नहीं है ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई पिशाच आकाश के सदृश सूक्ष्म शरीरवाले–मनोमय देहवाले स्वप्न के समान कल्पित हाथ, पैर आदि से युक्त होते हैं और आप ही के समान आकार को देखते हैं ॥३१॥

पिशाच मनोमात्रमय शरीरवाले हैं तो वे दूसरों के ऊपर आक्रमण कैसे करते हैं, क्योंकि मन में बाहर आक्रमण करने की सामर्थ्य नहीं है, इस शंकापर कहते हैं ।

अन्य मनुष्य के चित्त में प्रविष्ट होकर भ्रमरूप भयदायिनी अपनी छाया से आक्रमण करके वे सब पिशाच नानाविध दुःख आदि प्रदान करनेवाली चेष्टाओं से मनुष्य के आशय को उद्बोधित करते हैं ॥३२॥ उसका यदि मरण के अनुकूल कर्माशय होता है तो मर्मस्थानों में पहुँचकर इनमें कोई पिशाच शीघ्र प्राणियों को मारते हैं और स्वयं अपने ऋण के अनुबन्ध के अनुसार उसके देहधातुओं का भक्षण करते, रुधिर आदि पीते तथा बल एवं सत्त्व को नष्ट करते हैं और चित्त में आक्रमण करके जीवों को नष्ट कर डालते हैं ॥३३॥

इनमें कोई आकाश के सदृश, कोई नीहार (कुहरा) के तुल्य और कोई स्वप्न काल के मनुष्यों के आकार के समान आकारवाले साकार होते हुए भी शून्यात्मक होते हैं ॥३४॥ कोई मेघखण्ड के समान, कोई वायुमय देहवाले और कोई प्राणी की भ्रान्ति के अनुसार देहधारी होते हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सबके सब बुद्धि–मनोमय ही होते हैं ॥३५॥ इन पिशाचों को पकड़ना सम्भव नहीं है और ये भी यदि किसी को पकड़ना चाहें, तो पकड़ नहीं सकते हैं । आकाश के समान शून्य

शरीरवाले वे अपनी आकृतिका स्वयं अनुभव करते हैं और परस्पर देखते हैं ॥३६॥ तथा वे सब शीत और तापसे उत्पन्न हुए सुख और दुःख का भी अनुभव करते हैं। किन्तु वे बाहर के जल आदि पी नहीं सकते, अन्न आदि खा नहीं सकते किसी पदार्थ का अवलम्बन नहीं कर सकते–स्वयं खड़े नहीं हो सकते तथा लेने देने आदि का यथेष्ट व्यवहार भी वे नहीं कर सकते ॥३७॥ वे सब इच्छा, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ और मोह से युक्त रहते हैं और मन्त्र,औषध, तप, दान, धैर्य एवं धर्म से वशीभूत होते हैं ॥३८॥

तब किस उपाय से उन्हें मनुष्य देख पाते हैं, यह कहते हैं।

सत्त्व का अवष्टम्भरूप योगधारणाका जो एक भेद है, उससे भूतों के अवलोकन के अनुकूल बीजाक्षर से घटित रजत आदि पत्र के ऊपर लिखित कण्ठ आदि में धारण किये गये यन्त्र तथा आराधित मन्त्र से वे दिखाई देते हैं तथा भूतविद्या जानने वाले किसी एक पुरुष के द्वारा कभी वशीभूत होकर सेवा आदि में नियुक्त भी किये जाते हैं, किसी देश में यह प्रसिद्ध है ॥३९॥

देवयोनियों के ग्यारह भेदों के भीतर यह भूतयोनि है, इसलिये अणिमा आदि ऐश्वर्यों के तारतम्य से सुखभोग भी उनमें है। यह सूचित करते हुए उनकी जाति तथा आकृति का भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

चूँकि यह भूतयोनि भी देवयोनि ही है, इसलिए इन पिशाचों में कोई देवरूप ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं, कोई मनुष्यों के समान लक्ष्मी से सम्पन्न होते हैं और कोई साँपों के सदृश होते हैं ॥४०॥ इनमें कुछ ऐसे होते हैं जिनकी उपमा कुत्तों तथा सियारों से दी जा सकती है। कोई ऐसे होते हैं, जो गाँवों में तथा जंगलों में निवास करते हैं तथा कोई ऐसे भी होते हैं जिनका नहरों, कुओं, मार्गों एवं नरकसदृश अपवित्र देशों में ही सदा वास रहता है ॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इनके यही सब रहने के स्थान हैं, इसी तरह के आकार के तथा ऐसे ही आचार के वे पिशाच होते हैं, यह सब मैंने आपसे कह दिया अर्थात् आपने जो प्रश्न किया था कि वे किस आकार के होते हैं उनका आचार क्या है तथा वे कहाँ रहते हैं, इसका उत्तर मैंने आपको दे दिया है। अब इनका आप यह जन्म सुनिये ॥४२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कार्यब्रह्म से विलक्षण जो मायाशबल ब्रह्म है, वह समस्त शक्तियों के स्वभाव से विषय का संकल्प करते हुए मनोमय पुरुष के समान भीतर अवबुद्ध होकर स्वरूप से जो स्थित है उसी को जीव नामक प्रथम अंकुर समझिये। अभिमान से परिपूर्ण वही अहंकार कहा गया है तथा परिपुष्ट हुए उस अहंकार को ही जिन्हें आत्मा का आविर्भाव हो गया है उन महानुभावों ने, मन कहा है ॥४३,४४॥ वह मनरूप जो जीव है वही समष्टिरूप से संकल्पाकाशरूपधारी ब्रह्मा कहलाता है। असद्रूप इस जगत् का बीज भी एकमात्र असद्रूप ही है, उसकी कोई आकृति नहीं है ॥४५॥ इस प्रकार मन ही ब्रह्मा बनकर स्थित है। वह ब्रह्मा सदेह होने पर भी निर्मल आकाशरूप ही है। स्वप्न के पुरुष के आकार के सदृश उपस्थित रहने पर भी उसका वह शरीर असत् ही है ॥४६॥ पृथ्वी

आदि पंचभूतों की मूर्ति से रहित होने पर वह ब्रह्मा सूक्ष्म शरीर से सम्पन्न है । हे श्रीरामचन्द्रजी, आप ही सोचिये कि आकाश में संकल्पपुरुष के पृथ्वी आदि कहाँ से हो सकते हैं ? ॥४७॥ आपका मन जैसे आकाश में कल्पित नगर का अवलोकन करता है, वैसे ही अपने में कल्पित विरंचि (ब्रह्मा) रूपता का भी अवलोकन करता है ॥४८॥ एकमात्र यह कारण है कि वह ब्रह्मा अपने जिस जिस संकल्प को जानता है तत्–तत् पदार्थों के आकार से उसका अवलोकन करता है । और स्वयं उसका अनुभव भी करता है । जो जिस परिणाम का जीव है वह सब चित्रूप सत् ही है । इसलिए ज्ञानशक्ति से सम्पन्न वह क्यों न अवलोकन करे ? ॥४९॥ निराकार मनरूप वह ब्रह्मा ब्रह्मस्वरूप चिदाकाश में एकमात्र जिस शून्यस्वरूप ब्रह्माण्डाकार का अवलोकन करता है वही जगत् कहलाता है ॥५०॥ तथा इसका प्रतिभास ही इस समय चिरकाल की एकमात्र भावना से घनीभूत पुष्ट होकर सुदीर्घ स्वप्न के समान सुन्दर अवस्थित है ॥५१॥ सूक्ष्मशरीरधारी उस ब्रह्म का यह सर्गानुभव ब्रह्मस्वरूप होने पर भी चिरकाल की भावना से अधिक प्रकटता के उत्कर्ष से यानी अधिक प्रकट होने से अधिभौतिक शरीरता को प्राप्त हो गया है, जो अनेक भेदसमूहों से भासुर है ॥५२,५३॥ वह ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्मस्वरूप ही हैं । ब्रह्मात्मरूप जीव और जगत्, ये दोनों अनुभव हैं तथा ये दोनों ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि आकाश और शून्यत्व और ये दोनों ऐसे एक रूप से स्थित हो रहे हैं जैसे कि पवन और स्पन्दन ॥५४,५५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे आप अपने संकल्पपुरुष में तथा असत् होते भी सद्रूप नगर आदि में पृथ्वी आदि पंचभूतमयता देखते हैं वैसे ही ब्रह्माजी भी इन दोनों में भूतमयता देखते हैं । परन्तु वह भूतमयता मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है ॥५६॥ भूतमयता देखने के बाद ब्रह्माण्डात्मक अपने शरीर के धातुओं के चितिसत्ता से पुष्ट कठिन एवं द्रव्यभूत भागों की पृथ्वी आदि पाँच संज्ञाएँ उन्होंने की है । वे ही पाँचों मिलकर 'जगत्' इस नाम से प्रसिद्ध होकर स्थित हैं ॥५७॥ जैसे आपने अपने असत्य संकल्प को सत्यरूप ही अनुभव किया ॥५८॥ जैसे वह ब्रह्मा स्वयं चिन्मयाकाश ही हैं वैसे ही परमार्थतः उनका संकल्प भी चिदाकाशरूप ही है । अतः यह समस्त जगत् उस ब्रह्मदेव का एक स्वप्न है तथा उनके संकल्पजनित इसके नाश और प्रादुर्भाव भी दोनों स्वप्न के तुल्य स्थित हैं ॥५९॥

तब उनके द्वारा निर्मित हुए चन्द्र, सूर्य, तारे आदि सर्वविध अर्थक्रिया में हेतु कैसे हैं ? इस आशंका पर कहते हैं ।

जैसे यह मनरूप ब्रह्मदेव सत्य हैं वैसे ही उनके द्वारा निर्मित हुए उनकी वृत्तिरूप वे चन्द्र, रूद्र, सूर्य तथा चन्द्रकिरण आदि भी सत्य ही हैं यानी प्रवृत्ति आदि अर्थक्रिया के सम्पादन में समर्थ हैं ॥६०॥ ऐसी स्थिति में यह समस्त जगत् सत्य उस ब्रह्मदेव का एकमात्र मनोराज्य ही कहा जाता है और यह सब चिति में निरालम्ब शून्य आकाश का स्फुरणरूप ही है ॥६१॥ जिस प्रकार स्वप्न का नगर चिदाकाशरूप है जैसे संकल्प का पर्वत चिदाकाश स्वरूप है वैसे ही ब्रह्मदेव का यह जगत्

निराकार स्वच्छ चिदाकाशरूप ही है ॥६२॥ इस तरह एकमात्र आभासस्वरूप से सर्वदा स्फुरित हो रहे इस जगत् की जन्म, स्थिति और प्रलय की प्रतीतियाँ मिथ्या ही यहाँ उदित होकर स्थित हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, यथार्थ में तो एकमात्र अविनाशी वह ब्रह्म ही सर्वत्र स्थित है ॥६३॥

एकमात्र यही कारण है कि आत्मा की चिदाकाशरूपता का अनुसन्धान करने पर आपके, मेरे या अन्य किसी के भी ये सर्ग आदि कुछ भी नहीं है, यह कहते हैं ।

इसलिए हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह मुझसे कहिये कि चिदाकाशस्वरूप मेरा, आपका या संसार का ही क्या उत्पन्न होता है तथा क्या नष्ट होता है ? ॥६४॥ कहिये यह निरर्थक संसार क्यों अनर्थ के लिए उदित हुआ है ? बिना किसी मतलब के यानी बिलकुल अर्थशून्य ये राग, द्वेष, भय, रोग आदि क्यों उदित हुए हैं ? ॥६५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः न तो सृष्टि का कोई कारण है, न सर्गता है और न असर्गता ही है, किन्तु सिर्फ एक बार अवभासित हुआ पुनः आवरण होने के कारण प्रपंचरूप से प्रसिद्धि को प्राप्त यह प्रत्यक्रूप ब्रह्म ही सर्वदा विद्यमान है ॥६६॥ सर्वदा शून्य, विपुल आभोगवाले, स्वच्छ चितिरूपी जल से परिपूर्ण, चिदाकाशरूपी अविनाशी क्षेत्र (खेत) के अज्ञानकल्पनारूपी पंक से व्याप्त होने पर उसमें उस चिदाकाश स्वरूप बीज से ही चिदाकाशात्मक यह अनन्त पंचभूतरूप ब्रह्माण्डबीजशिलाओं की पंक्ति उत्पन्न हुई हैं और आगे चलकर भी होगी ॥६७,६८॥

कल्पनारूपी पंक के अभाव में बतलाते हैं ।

वस्तुतः यहाँ पर न तो कोई खेत है, न कुछ उसमें बोया गया है, न कोई बीज है और न कुछ उत्पन्न ही हुआ है, किन्तु एकमात्र कल्पना से सब कुछ यहाँ स्थित है ॥६९॥

इस प्रकार पिशाच जाति के वर्णन के प्रसंग से सृष्टि के तत्त्व का वर्णन करके अब प्रस्तुत विषय के अनुकूल होने से पूर्ववर्णित पंचभूतशिला के अवयव आदि रूपसे भिन्न-भिन्न जातियाँ दिखलाते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस कल्पनारूपी पंक से व्याप्त उस चिदाकाशरूपी खेत में जो ब्रह्माण्डरूपी शिलाओं की अनेक पंक्तियाँ परिपुष्ट हुई हैं, वे सब देव आदि जातियाँ हैं । *(यह सामान्य रूपसे कहा गया है, अब विशेषरूप से उनका विभाग करके कहते हैं)* इनमें जो अत्यधिक सौन्दर्य से उज्ज्वल रत्नरूप हैं, वे तो देव, ऋषि आदि की जातियाँ हैं ॥७०॥ इनमें जो शिलाएँ अर्ध उज्ज्वल है वे नर, नाग आदि की जातियाँ हैं तथा जो मलिन और रजोगुण से दूषित शिलाएँ हैं वे सब कृमि, कीट, स्थावर आदि हैं ॥७१॥ इनमें जो बड़ी, बड़ी वजनदार, कान्ति, प्रकाश आदि फलों से हीन, शून्याकार, क्षयक्षत, देहाकार से रहित तथा शरीर से युक्त शिलाएँ हैं वे सब पिशाच आदि कही गई हैं ॥७२॥ उस खेत में उत्तम देवादिरूप रत्न ही पैदा होवें, यही संकल्प हिरण्यगर्भ को क्यों नहीं हुआ, वृथा पाषाणरूप पिशाचादि जातियाँ पैदा करने का उनका क्यों संकल्प हुआ, यह आक्षेप

आप संकल्प करनेवाले विधाता की इच्छा के ऊपर कदापि नहीं कर सकते, क्योंकि विधाता की वे इच्छाएँ पैदा होनेवाले जीवों के पूर्व जन्म की कर्मवासना के अनुसार ही हुई हैं,अतएव वे पिशाचजातियाँ भी वैसी ही यानी अपने पूर्वजन्म की कर्मवासना के अनुसार ही उदित हुई हैं ॥७३॥

शिलारूपता की उत्प्रेक्षा करने के बाद अब भूतजातियों में प्रसक्त भौतिकता का वारण करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वास्तव में तो सभी भूतजातियाँ पृथिवी आदि पंचभूतों से रहित स्वरूपव्यापी मनोरूप सूक्ष्मदेह से युक्त चिदाकाश रूप ही है ॥७४॥

तब हम लोगों की देह में भौतिकता का अनुभव कैसे होता है ? इस शंका पर कहते हैं ।

चिरकाल के अभ्यास के वश वे सबके सब आधिभौतिक संवित् को ऐसे प्राप्त हो गये हैं जैसे दीर्घकाल के अनुभव से यानी दीर्घकाल की भावना से स्वप्न जाग्रत् दशा को प्राप्त होता है ॥७५॥ ये पिशाच आदि भी चिरकाल के अभ्यास से आधिभौतिक रूपता को प्राप्त होकर अपने संसार में विहार करते हुए अपनी योनि के योग्य भोगों से सन्तुष्टचित्त हो अवस्थित रहते हैं । तात्पर्य यह की उनकी पिशाच देह और कुत्सित भोग भी उन्हें अत्यन्त प्रिय ही लगते हैं बीभत्स नहीं ॥७६॥ स्वप्नलोक में निवास करनेवालों के सदृश कोई कोई पिशाचों की ये जातियाँ भी परस्पर एक दूसरे को इस तरह देखती हैं (यानी दर्शन आदि के द्वारा एक दूसरे के साथ ऐसे व्यवहार करती हैं,) जैसे गाँव में रहनेवाले प्राणी गाँव के निवासियों को ॥७७॥ इनकी अनेक संस्थानों में अवस्थित कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं, जो बहुधा मनुष्य के स्वप्न में निर्मित होनेवाले लोगों की तरह परस्पर भी नहीं देखती ॥७८॥

पिशाचजातियों की तरह कुम्भाण्डादि जातियों की भी प्रायः सूक्ष्मदेहता होती है तथा इनमें भी चेष्टा आदि ठीक वैसे ही पाये जाते हैं, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार में जैसे पिशाच आदि दुष्ट जातियाँ स्थित हैं प्रायः वैसे ही ये कुम्भाण्ड, यक्ष तथा प्रेत आदि भी स्थित हैं ॥७९॥

जैसे ऊँच–नीच जमीन के तारतम्य में जलकी स्थिति में तारतम्य रहता है वैसे ही पाप के तारतम्य से उनमें तमोगुण का तारतम्य स्थित रहता है, यह कहते हैं ।

जैसे इस संसार में गहरी जमीन में जल स्थित रहता है वैसे ही जहाँ पिशाच आदि रहते हैं वहाँ पर उनके पाप के तारतम्य से थोड़ा–बहुत तमोगुण भी स्थित रहता है ॥८०॥ यदि मध्याह्नकाल में धूप से युक्त आँगन में भी पिशाच विद्यमान रहे, तो वहीं पर भी घोर अन्धकार अच्छी तरह उसकी सन्निधि करता ही है यानी उसके सम्मुख अवस्थित हो ही जाता है ॥८१॥ उस अन्धकार को सूर्य नहीं नष्ट करते और उसको दूसरा कोई देखता भी नहीं है । एकमात्र वह पिशाच ही उसका अनुभव करता है । हे श्रीरामचन्द्रजी, देखिये माया का विकास कैसा है ॥८२॥ जैसे हम लोगों के

प्रकाश के लिए अग्नि तथा सूर्य आदि का तैजसमण्डल विद्यमान है वैसे ही पिशाच आदिकों की व्यवहारसिद्धि के लिए इन्धन आदि से अनुत्पन्नस्वरूप वाला तामस-मण्डल विद्यमान रहता है ॥८३॥ उल्लू के समान पिशाच आदि अपने स्वभाव से ही प्रकाश में निर्बल हो जाते हैं और अन्धकार में ओज की प्रधानता को प्राप्त हो जाते हैं यानी प्रबल हो जाते हैं। देखिये, यह कैसा आश्चर्य है ॥८४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पिशाचयोनि में उत्पन्न जीव की जाति का मैंने आपसे वर्णन कर दिया, जैसा कि आपने मुझसे पूछा था । पूछी गई बातों का अवश्य उत्तर देना ही चाहिए, यह व्याख्याताओं का सम्प्रदाय है, इससे शून्य यह पिशाच जाति न थी । अर्थात् सुरलोकपालों के लोकों में मैं पिशाचतुल्य हो गया, यह जो मैंने आपसे कहा था, उसी के प्रसंग में आपने मुझसे पिशाचजाति के विषय में पूछ दिया (☙) ॥८५॥

चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त

पंचानबेवाँ सर्ग

सत्यसंकल्पता की स्मृति से पुनः प्राणियों के साथ व्यवहार तथा अपने आकाशवसिष्ठ आदि नामों की प्राप्ति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उस समय पंचभूतों से रहित केवल चिदाकाश मात्र शरीरधारी मैं पिशाच के सदृश आकाश में विहार करता हुआ स्थित था ॥१॥ उस समय मुझे न तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र तथा हरि, हर आदि देख पाते थे और न सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराएँ ही देख पाती थीं ॥२॥ मैं पादन्यास, आरोहण आदि के द्वारा उनके ऊपर आक्रमण करता था, परन्तु वे मेरे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकते थे । वे लोग मेरा वचन भी नहीं सुन सकते थे । इसलिए मैं मोह को प्राप्त हो गया - मुझे पूर्वापरकर्तव्यता का कुछ भी प्रतिसन्धान न रहा । अतः हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैं विक्रीत सज्जन के समान हो गया ॥३॥ इसके अनन्तर मैंने विचार किया कि हम तो सत्यकाम हैं, इसलिए मैंने यह संकल्प किया कि ये देवगण मुझे देखें । मेरे संकल्प करते ही देवलोकवासी उन देवताओं में सबके सब ही, जो मेरे सामने रह रहे थे, नगर में प्राप्त इन्द्रजाल वृक्ष के सदृश मुझे देखने में शीघ्र ही प्रवृत्त हो गये ॥४,५॥ इसके बाद हे श्रीरामचन्द्रजी, उन देवताओं के घरों में सर्वविध शंकाओं से शून्य चेष्टावाला तथा यथास्थित अपने सब आचारों से सम्पन्न मैं सम्भाषण आदि के द्वारा व्यवहारशील हो गया । वहाँ उनके साथ अब मेरा कोई संकोच नहीं रह गया था ॥६॥ जिन महानुभावों को मेरा वृत्तान्त मालूम नहीं था, उन लोगों ने सर्वप्रथम मुझे आँगन में आविर्भूत हुआ देखा। अतः उस पृथ्वी से ही मेरी उत्पत्ति की कल्पना करते हुए उन सज्जनों ने पार्थिव वसिष्ठ नाम से लोकों में मुझे

(☙) एकमात्र यही कारण है कि मैंने पिशाचजाति के विषय में आपसे वर्णन किया है, अन्यथा यहाँ इसके वर्णन की कोई आवश्यकता न थी ।

प्रसिद्ध कर दिया ॥७॥ मुझे आकाशवासी जिन महानुभावों ने आकाश में भगवान् सूर्यदेव की किरणों से निकला हुआ देखा, उन्होंने तैजस वसिष्ठ नाम से मुझे विख्यात किया ॥८॥ तथा मुझे आकाशवासी जिन सिद्धों ने वायुमण्डल से आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगों के द्वारा मैं वातवसिष्ठ कहा जाने लग गया ॥९॥ जिन मुनीश्वरों ने मुझे जल से आविर्भूत हुआ देखा उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम से पुकारा । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार विभिन्न कल्पनाओं द्वारा मेरी यह जन्मपरम्परा है अर्थात् जिन जिन महानुभावों ने जहाँ से मुझे जैसे निकलते देखा उन्होंने वैसे ही मेरे नाम और जन्म की कल्पना कर दी ॥१०॥ तभी से मैं लोकों में कहीं पार्थिव, कहीं जलमय, कहीं तैजस और कहींपर मारुत–वसिष्ठ नाम से अन्यान्य लोगों द्वारा प्रसिद्ध हुआ ॥११॥ इसके अनन्तर काल पाकर मेरे उसी सूक्ष्म शरीर से आधिभौतिकता प्रादुर्भूत हुई, जो चिरकाल के अभ्यास से परिणत हुए मन से प्राप्त हुई थी यानी मन में ही प्राप्त की गई ॥१२॥

तब अज्ञ प्राणियों की नाईं भौतिक देहवाले ही आप क्यों नहीं हुए, इसपर कहते हैं ।

चूँकि आतिवाहिकता (सूक्ष्मता) और आधिभौतिकता – ये दोनों ही चिदाकाश रूप ही हैं । चिदाकाश रूप से एक ही देहात्मा है, यही मैंने तत्त्वतः समझा है इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मेरी चिति ही आत्मभाव से स्फुरित होती है, न कि देहात्मभावसे देहात्मभाव स्फुरित है ॥१३॥ इस तरह कहीं आकाशादि पंचभूतरूप से स्फुरित होने पर भी मैं चिदेकस्वभाव निराकार परम चिदाकाशरूप ही हूँ । *(तब आप आकारयुक्त कैसे दिखाई देते हैं, इस आशंका पर कहते हैं ।)* लेकिन आप लोगों में उपदेशादि व्यवहार की सिद्धि के लिए आकारवान् भी मैं दीखता हूँ ॥१४॥

वस्तुतः सदेह और विदेह मुक्त– ये दोनों एक ही रूप के हैं, यह कहते हैं ।

जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ ब्रह्माकाशरूप से स्थित रहता है वैसे ही विदेहमुक्त भी ब्रह्माकाशरूप से ही अवस्थित रहता है ॥१५॥ ब्रह्म से अन्य दृष्टि का संभव न होने से वैसा व्यवहार करते रहने पर भी मेरी ब्रह्मता नष्ट नहीं हुई – ज्यों–की–त्यों स्थित रही । तथा आप जैसे सज्जनों के बीच उपदेश देने के लिए मैं वसिष्ठदेह से स्थित हूँ ॥१६॥

तब आपका यह कथन कैसे ठीक समझा जाय कि शून्य देह में आधिभौतिकता रूढ हुई, इस शंका पर कहते हैं ।

निराकार तथा जन्मशून्य स्वप्न के मनुष्य में अज्ञानी को जैसे आधिभौतिकता बुद्धि होती है वैसे ही मुझे तथा अन्य जगत् को भी होती है ॥१७॥ इसी तरह ब्रह्मा के शरीर तथा तत्कृत सर्ग जो जगत् तथा अन्य लोगों को उदित हुए–जैसे अवभासित हो रहे हैं वे सबके–सब पर (ब्रह्म) की दृष्टि से ही आधिभौतिक हैं । वस्तुतः वे नहीं हैं, वे तो कभी उत्पन्न ही नहीं होते ॥१८॥ यह जो मैं आकाशवसिष्ठ हूँ, सो आज यहाँ अपने मन के अभ्यास से ही परिपुष्टता को मानों प्राप्त हुआ हूँ । अथवा आपके मन के अभ्यास से आपकी बुद्धि के अनुसार यह मेरी भौतिकदेहस्थिति है ॥१९॥

मेरी अपनी दृष्टि से जैसे यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक है वैसे ही हिरण्यगर्भ की अपनी दृष्टि से भी यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक ही है, यह कहते हैं।

मेरे ही समान ब्रह्मा की दृष्टि में आये जितने सर्ग हैं, वे सबके-सब ब्रह्माकाशात्मक ही हैं जैसे स्वयं ब्रह्माजी मनोमात्र हैं वैसे ही उनकी सब सृष्टि भी है । अतः परीक्षकदृष्टि से यह सब जगत् मनोमात्र ही हैं ॥२०॥ जगत् आदि सारी सृष्टि अपरिज्ञान के दोष से आप अज्ञजनों की दृष्टि में वज्र के तुल्य ऐसे ही दृढ़ता को प्राप्त हो गई है जैसे कि बालकों की दृष्टि में वेताल ॥२१॥ दूर गये हुए स्वजन में जैसे काल पाकर वासना कम हो जाने से स्नेह उपशान्त हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, यथार्थ रूप में जब यह संसार खूब परिज्ञात हो जाता है तब यह थोड़े ही समय के बाद उपशान्त हो जाता है ॥२२॥ ज्ञान होने पर अहंकाररूप स्थूलता सबकी ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि भलीभाँति ज्ञात हो जाने पर स्वाप्निक धन में उपादेयता की वासना ॥२३॥ ये समस्त दृश्यदृष्टियाँ भली भाँति ज्ञान हो जाने पर ऐसे बिलकुल शान्त हो जाती हैं, जैसे मरुभूमि की नदी के वेग में जलग्रहण की बुद्धियाँ ॥२४॥ महारामायण के सदृश शास्त्रों के एकमात्र अवलोकन से ही यह जीवन्मुक्तत्व सदा प्राप्त किया जा सकता है। इतने में क्या दुष्करता है ? ॥२५॥

संसार में अधिक आसक्ति के कारण जो अध्यात्मशास्त्र से पराङ्मुख रहता है, उसकी निन्दा करते हैं ।

जिस प्राणी की बुद्धि संसारवासनावश देहेन्द्रिय भोग्यादिरूप अवस्तु स्वभाव में संसक्त रहती है । मोक्षविषय में जिसकी आकांक्षा नहीं होती वह प्राणी कुत्ता है अथवा कीट है, मनुष्य नहीं है (*) क्योंकि जैसी अपवित्रता तथा भोगों में आसक्ति कुत्तों तथा कीट-पतंगों में पायी जाती है वैसी ही अपवित्रता एवं भोगों में आसक्ति उस प्राणी में भी विद्यमान है ॥२६॥

जैसे अत्यन्त पवित्र हविः पुरोडाशादिरूप ही अन्न देव, द्विज आदि खाते हैं तथा उच्छिष्ट, पुरीष आदि अपवित्र पदार्थ कुत्ते एवं कीट, पतंग आदि सब खाते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त महानुभाव लोग शुद्ध चिन्मात्र आनन्दस्वरूप शास्त्रादि भोगों का उपभोग करते हैं, किन्तु जो मूर्ख हैं वे लोग अत्यन्त अपवित्र विषयरूप भोग का उपभोग करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन्मुक्तबुद्धि पुरुष द्वारा उपभुक्त हो रहा भोगों का समूह कैसा होता है तथा अन्यथा वस्तुवेदनरूप मूर्खता का सेवन करनेवाला जो मूर्ख प्राणी है उसके द्वारा उपभुक्त हो रहा भोग कैसा होता है, इसका विचार करना चाहिए ॥२७॥

अज्ञ प्राणियों के भोग्यार्थों में (भोग्य पदार्थों में) अग्नि की तरह तृष्णा, क्रोध, लोभादिरूप सन्ताप ही उत्पन्न होता है, किन्तु शास्त्रों का परिशीलन करनेवाले विद्वानों को तो समस्त पदार्थों में सर्वोत्कृष्ट अन्तःशीतलता प्रादुर्भूत होती है, यह एक दूसरी विशेषता है, यह कहते हैं।

(*) अर्थात् ज्ञानाधिकार के योग्य मनुष्य देह के वह अयोग्य है ।

एकमात्र महारामायण जैसे शास्त्रों के अवलोकन से ज्ञानियों को समस्त पदार्थों में हितसदृश सर्वोत्कृष्ट अन्तःशीतलता प्रादुर्भूत होती है ॥२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, शीतलचित्तता यानी चित्त का शीतल होना मोक्ष है तथा सन्तप्त चित्तता यानी चित्तका सन्तप्त होना ही बन्ध है । परन्तु ऐसे भी मोक्ष में संसार की अभिलाषा नहीं होती । अहो संसार की मूढ़ता कैसी आश्चर्यमयी है ॥२९॥ यह प्राणी स्वभाव से ही विषयों के वशीभूत है । एकमात्र यही कारण है कि परस्पर युद्ध, चोरी, हरण आदि से भी स्त्री तथा धन आदि के सम्पादन में यह लोलुप है । यह नानाविध भ्रान्ति के सन्तापों से जल रहा प्राणी मुमुक्षुशास्त्रों के, अर्थों के विचारपूर्वक निदिध्यासन आदि उपायों से यथार्थ वस्तु के अर्थात् आत्मा के संदर्शन से ही सन्तापशून्य पूर्णानन्दरूप होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि संसार से विरक्त होकर प्राणी जब श्रुति आदि के श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है तब सर्वविध सन्तापों से शून्य सुखी हो जाता है ॥३०॥

आनन्दघन परब्रह्मपरमात्मास्वरूप हो जाता है ।

श्रीवाल्मिकीजी ने कहा : मुनिजी के ऐसा कहने पर दिन बीत गया । सूर्य भगवान् अस्ताचल को चले गये । इधर मुनियों की सभा भी सायंकाल के कृत्य के लिए स्नान करने चली गई और रात बीतने पर भगवान् सूर्य की किरणों के साथ फिर मुनियों की सभा आकर जम गई ॥३१॥

पंचानबेवाँ सर्ग समाप्त

छियानबेवाँ सर्ग

पाषाणोपाख्यान के तात्पर्य के रूप में चिति का विवर्तरूप जगद्भ्रम और
अजर अमर चितिरूप आत्मा ही ब्रह्मानन्द है, यह वर्णन।

विस्तार से वर्णित पाषाणोपाख्यान को सर्वश्रेष्ठ प्रकृत आत्मविषय में घटाते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे कार्यज्ञ श्रीरामचन्द्रजी, आपसे मैंने यह पाषाणोपाख्यान कहा । पाषाणाख्यायिका से जो विज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही आप निश्चय कीजिये कि सभी सृष्टियाँ चिदाकाश में या शून्यता में ही स्थित हैं ॥१॥ भद्र, किसी भी काल में कहीं भी कुछ भी वस्तु स्थित नहीं है, किन्तु अखण्ड यथास्थित ब्रह्म ही चैतन्यानन्दघनरूप स्वभाव में स्थित है और कुछ नहीं है ॥२॥

जगत् चैतन्यमात्र का विवर्त है, यह सबको अपने-अपने स्वप्न के अनुभव से सिद्ध है, यह कहते हैं ।

राघव, आप ब्रह्म को केवल चेतनरूप ही जान लीजिये । वह अपने असली स्वभाव से कभी भी ऐसे ही च्युत नहीं होता जैसे कि आत्मा स्वप्न में नगररूप होता हुआ भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता, इससे विवर्त का लक्षण यही निकला कि स्वरूप से च्युत न हुए पदार्थ की अन्यरूप से प्रतीति

विवर्त है । यह लक्षण जगत् में प्रसिद्ध ही है ॥३॥

जैसे स्वप्न आत्मा का विवर्त है, वैसे ही समस्त जगत् ब्रह्मात्मा का विवर्त है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं।

चिदाकाश ब्रह्म समष्टिजीव के रूप में चाहे सूक्ष्म उपाधि को प्राप्त करे चाहे स्थूल दृश्यरूप उपाधि को प्राप्त करे, दोनों में अपना निर्विकार स्वरूप त्यागे बिना ही स्थित है ॥४॥

यदि जगत् ब्रह्म का विवर्त हो तो परमार्थदृष्टि से क्या स्थित है ? इस पर कहते हैं।

न तो स्वयंभू की (समष्टि हिरण्यगर्भ की) स्थिति है, न जगत् की स्थिति है, न स्वप्न–नगर की ही असली स्थिति है, किन्तु इस परिपूर्ण आत्मदृष्टि से केवल चिन्मात्र ब्रह्म की ही स्थिति विद्यमान है ॥५॥

दृष्टान्त में भी यह बात समान है, यह कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में नगरादिरूप होकर भी चिन्मय आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित है, वैसे ही सृष्टि से लेकर महाप्रलयपर्यन्त की अवस्था तक जगद्रूप होकर भी ब्रह्मरूप चैतन्य अपने स्वरूप में ही स्थित है ॥६॥

जितनी सृष्टियाँ हैं, उन सबका जो अनुभव होता है, उसमें चिति की बराबर अनुवृत्ति होती है, इससे भी यह निश्चय होता है कि चिति ही जगत् के रूप से स्थित है, यह कहते हैं।

जैसे सुवर्ण और सुवर्ण–पत्थर का (सुमेरु पर्वत पर सुवर्णपत्थर प्रसिद्ध है) अथवा स्वप्न नगर और स्वप्न द्रष्टा आत्मा का परस्पर कभी भेद नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही चिति और सृष्टि का भी परस्पर कभी भी भेद नहीं हो सकता ॥७॥ जो भी कुछ है, वह केवल चिति ही है, सृष्टि नहीं। सुवर्ण के विकार कटकादि स्थल में वास्तव में सुवर्ण ही है, कटकादि नहीं वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। भद्र, स्वप्न–पर्वतस्थल में क्या है ? चिति ही तो स्वप्नपर्वत है, उसको छोड़कर दूसरा कोई पर्वत का रूप वहाँ नहीं रहता ॥८॥ जैसे स्वप्न में एकमात्र निर्विकार आत्मचिति ही पर्वत के सदृश भासती है, वैसे ही निराकार विकाररहित ब्रह्म ही सृष्टि–सा भासता है, दूसरा नहीं, यह जानिए ॥९॥ चिन्मात्र निर्मल एवं निर्लेप आकाशरूप यह आत्मा नाश रहित, जन्म रहित तथा बुद्धि आदि विकारों से वर्जित है, अतः हजारों महाकल्पों में भी यह न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है ॥१०॥ जीवरूपी पुरुष चेतनरूप निर्मल आकाश ही है, अतः ये आप चिदाकाशरूप हैं, मैं अजर चिदाकाशरूप हूँ और ये तीनों जगत् भी निराकार चिदाकाश रूप हैं ॥११॥ यदि शरीर में चिदाकाश न रहे तो वह निर्जीव ही हो जायेगा। यह चिदाकाश काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता और न नष्ट ही किया जा सकता है अर्थात् आत्मा छेदन, ज्वलन एवं नाश इन सबका अविषय है ॥१२॥ भद्र, इन सब कारणों से न कुछ मरता है और न कुछ उत्पन्न होता है । चिति में प्रकाशन स्वभाव है, इसीसे चित्प्रकाश ही जगत् के रूप में भासता है ॥१३॥

चिति का मरण या भेदन मानने में कोई प्रमाण नहीं है और यदि मानोगे तो सभी का मरण हो जायेगा, यह कहते हैं।

यदि चेतनमात्र स्वरूप जीव का मर जाना ही मान लिया जाय, तो पिता के मर जाने पर उसका पुत्र भी मर जायेगा, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि पिता पुत्र तो एकरूप ही हैं, भिन्न नहीं है, इसलिए चेतनात्मा जीव नहीं मरता, यही मत निश्चित है ॥१४॥

'एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में स्थित है' इस श्रुतिसिद्धान्त के अनुसार भूतात्मा का मरण मानने पर सब भूत (प्राणी) मर जायेंगे, यह कहते हैं।

यदि एक प्राणी के मरने पर सदा ही सब जन्तु मर जाते, तो ऐसी स्थिति में सारा भूतल जनों से रहित–शून्य ही हो जाता, अतः आत्मा मरता नहीं ॥१५॥ श्रीरामजी, आज तक किसी भी स्थान में किसी का भी चिन्मात्रस्वरूप मरा नहीं है और चेतन से शून्य भूतल भी किसी समय नहीं रहा है, इसलिए पुरुषात्मा चेतन को अविनश्वर ही समझिए ॥१६॥

इस स्थिति में चेतनात्मा के परिज्ञान से ही जन्म–मरणादिरूप अनर्थ की निवृत्ति सिद्ध हुई, यह कहते हैं।

मैं एकमात्र चेतनात्मास्वरूप ही हूँ, मेरा शरीर आदि अनर्थों के साथ संसर्ग है ही नहीं–इस तरह का जब ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है, तब जन्म–मरण आदि अनर्थ रहे ही कहाँ ? ॥१७॥ भद्र, मैं निर्मल चेतनमात्ररूप हूँ, इस तरह के आत्मा के अनुभव का जो पुरुष कुतर्कों से खण्डन करते है, वे पुरुष आपदाओं के समुद्र में डूबते ही रहते हैं ॥१८॥ मैं चेतनरूप हूँ, गगन से भी अति स्वच्छ हूँ, सनातन हूँ, व्यापक हूँ और सब तरह के विकारों से शून्य हूँ, इसलिए मेरा क्या जीना, क्या मरना और क्या सुख–दुःख ? ॥१९॥ मैं आकाश के सदृश निर्मल निर्लेप केवल चेतनस्वरूप हूँ, ये शरीर आदि अनर्थ मेरे होते कौन हैं ? इस तरह विद्वानों के द्वारा अन्तःकरण में अनुभूत अनुभव को जो अपने कुतर्कों के बल से खण्डन करता है, वह पुरुष अपनी आत्मा का ही हनन करता है, ऐसे पुरुष को हजार बार धिक्कार है ॥२०॥ मैं चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्मात्मा हूँ, इस तरह का विस्पष्ट अनुभव जिस पुरुष का नष्ट हो गया हो, वह भले ही जीता हो, लेकिन उस मूढ़ को विज्ञजन मुरदा ही जानते हैं ॥२१॥ मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्मात्मा ही हूँ, मेरे देह, इन्द्रिय होते कौन हैं ? इस तरह के अपरोक्ष ज्ञान को प्राप्त कर चुकनेवाले, अविद्यादि मलों से निर्मुक्त अतएव अतिविशुद्ध हुए पुरुष को मरण आदि आपदाएँ नष्ट नहीं कर पातीं ॥२२॥ चिन्मात्ररूपी विशुद्ध आत्मा को पकड़कर जो पुरुष अचल बनकर स्थित है, उस महापुरुष को मानसिक पीड़ाएँ उस तरह छिन्न–भिन्न नहीं करतीं, जिस तरह महापाषाण को बाण ॥२३॥ जो पुरुष अपने चेतन स्वभाव को भूलकर तुच्छ शरीर में आस्था बाँधकर बैठे हैं, उन्होंने असली सोने को छोड़कर राख को ही सोना समझकर ग्रहण किया है, यही वास्तव में जानना चाहिए ॥२४॥ मैं देहरूप ही हूँ, इस भावना से पुरुष का

बल, बुद्धि और तेज नष्ट हो जाता है और मैं चेतनात्मा ही हूँ, इस ज्ञाननिष्ठा से उसका बल, बुद्धि और तेज उत्तरोतर बढ़ता जाता है ॥२५॥ मैं आकाश के सदृश अतिस्वच्छ विशुद्ध परमात्मारूप हूँ, मेरे जन्म-मरण ही क्या ? इस प्रकार की निष्ठा हो जाने पर पुरुष में लोभ, मोह आदि दोष रहेंगे ही कहाँ, क्योंकि वे आत्मा में तो रहते नहीं, इसलिए ज्ञानी पुरुष की वे क्या क्षति पहुँचायेंगे ? ॥२६॥ चिदाकाश को छोड़कर दूसरे दूसरे तुच्छ स्थूल आदि देहों को जो पुरुष अलग से सत्यरूप आत्मा समझकर देखता है, उसी मूढ़ के लिए यह कहना उचित है कि लोभ आदि अनर्थ हैं ॥२७॥ मैं न तो छेदा जाता हूँ, न मैं जलाया जाता हूँ, मैं वज्र के सदृश दृढ़ चेतन मात्र स्वरूप हूँ, न मैं शरीरी हूँ । इस प्रकार का निश्चय जिस महामति को है, उस महामति के प्रति यमराज भी तृण के सदृश तुच्छ है ॥२८॥ भद्र, बड़ा ही आश्चर्य का विषय है कि पण्डितों को भी मोह-व्यामोह देखा जाता है, इसीलिए वे शरीररूपी एक जड़ टुकड़े का नाश उपस्थित हो जाने पर हम नष्ट हो रहे हैं, यों मोहित होकर जोर से चिल्लाने लग जाते हैं ॥२९॥ मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार का परमार्थ सत्यरूप भाव जब स्थिर हो जाता है, तब वज्रपात और युगान्त के (प्रलयकाल के) अग्निदाह भी फूलों की ढेरी से हो जाते हैं ॥३०॥

मैं अमर चिदात्मारूप नहीं हूँ, देहरूप हूँ, इसीसे नष्ट हो रहा हूँ, यों समझकर पुरुष जो रोदन करता है, उसका वह रोदन तो आत्मा के नष्ट न होने पर ही होता है, इसलिए विवेकी की दृष्टि से नट के सदृश रोदनविडम्बना एक परिहास का खेल ही है, दूसरा कुछ भी नहीं ॥३१॥ यह सदा अपरोक्षरूप चेतनरूप ही मैं हूँ, देह आदि दृश्यरूप मैं नहीं हूँ, इस प्रकार के निश्चय से जिस पुरुष का अन्तःकरण पूर्ण है, वह महात्मा कहींपर भी मोह में नहीं फँसता ॥३२॥ मैं चेतनात्मक आकाश हूँ, मेरे विनाश का कोई भी सटीक हेतु नहीं है, सारा जगत् चेतन-सत्ता से व्याप्त है । अतः तुम लोगों को यहाँ जन्म-मरण आदि का संशय ही नहीं करना चाहिए ॥३३॥

हम लोग चेतन से अन्य हैं, ऐसा जो कहते हैं, वे क्या चैतन्य युक्त होकर कहते हैं अथवा चैतन्य से शून्य होकर कहते हैं, पहला पक्ष लेते हैं, तो अपना चेतन स्वभाव जानकर वैसा कहना ही नहीं बनता । यदि दूसरा पक्ष लेते हैं, तो जो चैतन्य से शून्य हैं, वे हम अचेतन हैं, इसका अनुभव या अपलाप, अधिक क्या कहें किसी का भी अपलाप नहीं कर सकते, इस आशय से कहते हैं ।

यदि चेतन के स्वरूप को छोड़कर और अन्य किसी जड़रूप पदार्थ बनकर मनुष्य प्रश्न करते हैं तो आप उनसे कहिए कि हे महाभूत, अपनी आत्मा का अपलाप क्यों करते हो ? ॥३४॥

और यदि चैतन्य अपना मरण देखता है, यह माना जाय तो वह सदा ही अपना मरण देखा करेगा, ऐसी स्थिति में जी रहे पुरुषों को सदा ही मरण का अनुभव होता रहेगा, यह कहते हैं ।

आत्मरूप चेतन यदि मरता हो, तो प्रतिदिन यानी निरन्तर आत्मारूप जीव मरे हुए ही हैं,

यह मानना होगा, फिर क्या आप लोग मरे हुए ही हैं, यह कहिए, क्योंकि चेतन को तो आप लोगों ने मृत ही माना ॥३५॥

यों जब मरण ही अप्रसिद्ध है, तब उससे भिन्न जीवन की भी कल्पना व्यर्थ है वह आशय रखकर कहते हैं ।

इससे न कुछ मरता है और न कुछ जीता ही है । मैं जीता हूँ या मैं मरा हूँ, इस प्रकार चिति केवल भ्रान्ति का अनुभव करती है, वास्तव में वह मरती नहीं है ॥३६॥

अविनाशी चेतन के अनुसार ही सबको वस्तुओं का अनुभव होता है, उससे विरुद्ध प्रकार से नहीं, यह कहते हैं ।

चितिरूप आत्मा जिस प्रकार से जिस वस्तु का भ्रान्ति से अनुभव करती है, उसको उस प्रकार से तत्काल ही देख लेती है, यह बालक तक का अनुभव है, अतः चिति कहीं भी नष्ट नहीं होती ॥३७॥ चिति संसार देखती है, मुक्ति देखती है, और सुख भी जानती है, इतना होने पर भी अपने स्वरूप से कालभेद, देशभेद या वस्तुभेद द्वारा भिन्न नहीं होती ॥३८॥

तब बन्ध और मोक्ष में विशेष किस बात को लेकर है, इसे बतलाते हैं ।

चिति अपने असली स्वरूप को न जानने के कारण स्वयं मोह नाम धारण करती है यानी संसारग्रस्त हो जाती है और जब अपना असली रूप जान जाती है, तब मोक्षनाम को स्वयं धारण कर लेती है यानी मोक्षरूप बन जाती है ॥३९॥ किसी समय कोई कुछ भी न तो नष्ट होता है और न पैदा ही होता है, क्योंकि जो भी कुछ है, वह सभी आकाशवत् अतिविशद चैतन्यमात्र रूप आत्मा ही है ॥४०॥

इन सब बातों से निचोड़ यह निकला कि जगत् के अनेक रूपों में सत्यता या असत्यता केवल अपने–अपने मन्तव्यों के अनुसार स्थित है, वास्तव में नहीं, यह कहते हैं ।

ऐसी कोई चीज नहीं है, जो सत्य न हो या ऐसी कोई चीज नहीं है, जो झूठी न हो, क्योंकि अपनी–अपनी मति के अनुसार जिसने जैसा निश्चित किया, उसके सामने वैसी ही वस्तु उपस्थित हो जाती है, परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है ॥४१॥

कथित अर्थ का निगमन करते हुए उपसंहार करते हैं ।

श्रीरामजी, इस जगत् में पुरुष भ्रान्ति से जिस वस्तु को जिस रूप से कल्पना कर लेता है, उस वस्तु का उसी रूप से अनुभव करने लग जाता है, यह बात सर्वविदित है । इसलिए ये सब पदार्थ विषामृतदृष्टि के सदृश (यानी विष को अमृत समझने के सदृश) कालादिवश अनियतादि ज्ञानरूप संवित् के अनुसार ही व्यवस्थित है, अतः कुछ भी वस्तु चितिरूप आत्मा से भिन्न है ही नहीं, यह बात निर्विवादरूप से सिद्ध हो चुकी है ॥४२॥

छियानबेवाँ सर्ग समाप्त

सत्तानबेवाँ सर्ग

ब्रह्म के सर्वशक्ति होने के कारण सर्ववादियों की उक्ति की सत्यता, सब लोगों की भोगों में आसक्ति तथा तत्त्वज्ञानियों की विरलता का वर्णन।

ब्रह्म के सर्वशक्ति होने के कारण सभी वादियों की उक्ति सत्य है, इस कहे जाने वाले अर्थ में उपयोगी 'न तदस्ति' इस पूर्व सर्ग की अन्तिम उक्ति से प्रतिपादित तत्त्व का समर्थन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, परमात्मा का स्वप्नरूप जो यह जगत् है, वह चितिरूप तथा ब्रह्मरूप आकाशात्मक है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है, इस स्थिति में सत्यरूप जगत् का ही सब अनुभव करते हैं, इसलिए कुछ भी असत्य नहीं है, यह कहा गया ॥१॥

यों ब्रह्मरूप से सब सत्य होते हुए भी प्रतीयमान रूपसे कैसे सब सत्य हुआ ? क्योंकि रज्जुरूप के सत्य होते हुए भी उसमें अध्यस्त साँप तो सत्य नहीं है, इस प्रश्न पर कहते हैं।

जगद्रूप भ्रम अत्यंत ही दृश्य है और उसका अधिष्ठान महाचैतन्य अदृश्य है। सारांश यह कि रज्जुसर्पस्थल में रज्जु भी दृश्य है और साँप भी दृश्य है, दोनों दृश्य होने के कारण जब रज्जु का दर्शन होता है, तब सर्प का बाध हो जाने के कारण सर्प की असत्यरूपता हो जाती है। जगद्भ्रम में तो केवल जगद्भ्रान्ति देखी जाती है, परन्तु उसका अधिष्ठान ब्रह्म तो देखा नहीं जाता, अतः रज्जुसर्प से यह जगत् विलक्षण है। जब यह वस्तुस्थिति हुई, तब मदशक्ति के समान स्वयं अदृश्य होकर दृश्यभ्रम का हेतु बनकर कार्यरूप से ही आत्मा अपनी सत्ता प्रकट करता है, अतः जगत् का स्वरूप सत्य है, यह कथन युक्तिसंगत है ॥२॥

तब पहले यह जो कहा गया है कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जो झूठी न हो, इस वचन की क्या गति होगी ? क्योंकि ब्रह्म झूठा है नहीं, इस पर कहते हैं।

भद्र, परमार्थ वस्तु में भी शून्यता–सा व्यवहार किया जा सकता है, क्योंकि संसार काल में सर्वदृश्यविश्रान्तिरूप मोक्ष प्राप्त रहता नहीं और उसके बिना अद्वितीय चिदात्मा की प्राप्ति नहीं होती, इसी तरह मोक्षकाल में भी अन्तःकरणवाले प्रमाता जीव तथा उपलम्भक प्रमाण आदि का बाध हो जाने से अभाव है, इसलिए आत्मा की एक तरह से अप्रसिद्धि–सी है, इसलिए वैसा कहा गया है ॥३॥

इस स्थिति में जितने भी वादी हैं, उन सबके वचन अपने–अपने अनुभव से सिद्ध अर्थों का ही प्रतिपादन करते हैं, अतः सत्यरूप ही हैं, यों सविस्तार प्रतिपादन करते हुए सांख्योक्ति दर्शाते हैं।

भद्र, महाज्ञानी कपिलमुनिजी यह कहते हैं कि पुरुष चिन्मात्र है, वह कोई कार्य नहीं करता, उसी के भोग और मोक्ष के निमित्त सृष्टि प्रवृत्त होती है, यह सारा जगत् सुख–दुःख और

मोहरूप है, इसलिए सत्त्व आदि तीन गुणों की साम्य अवस्थारूप मूलकारण अव्यक्त से (प्रधान से) प्रकृति से महत्तत्त्व आदि के क्रम से यह सारी सृष्टि हुई है। कपिलजी का यह मत भी सत्य ही समझना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सर्वशक्ति है, यह निर्विवाद है ॥४॥ जो कि वेदान्तियों का मत है– यह सारा दृश्यवर्ग ब्रह्म का विवर्त है, वह भी सत् है। क्योंकि उस तरह विमर्श करने पर उसी तरह के समस्त पदार्थ अनुभूत होते हैं॥५॥

इसी प्रकार कणाद, गौतम, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, जैन आदि के मतों में जो यह माना गया है कि सारा जगत् परमाणुओं का समूह ही है, वह भी सत्य है, क्योंकि वैसी उनकी कल्पना उनके अनुभव के अनुसार ठीक ही है, यह कहते हैं।

जिन वादियों की कल्पना है कि यह जगत् परमाणुओं का समूहरूप ही है और वही यथार्थरूप से अनुभूत होता है, वह भी सत्य है, क्योंकि उनको जिस–जिस पदार्थ के विषय में जैसा–जैसा अनुभव हुआ उस–उस अनुभव के अनुसार की गई उनकी कल्पना ठीक ही है ॥६॥ इस लोक और परलोक में जो कुछ देखा जाता है, वह वैसा ही है, न वह सत् है या न असत् ही है यानी इन दोनों कोटियों में उसकी स्थिति नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय है, यों प्रौढ़ दृष्टिसृष्टिवादी लोग जो मन की कल्पनामात्र रूप जगत् की स्थिति मानते हैं, उनका भी कहना ठीक ही है, क्योंकि उनका वैसा ही अनुभव है ॥६॥ इसी तरह जो दूसरे वादी यानी चार्वाक हैं, वे कहते हैं कि पृथ्वी आदि चार भूतों का ही यह जगत् है, दुसरा आत्मरूप नहीं है, यह भी उनका कथन सत्य है–वे भी सत्यवादी ही हैं, क्योंकि वे अपनी देह में चक्षु आदि इन्द्रियों से अगम्य आत्मा को, विमर्श करते हुए भी, देख नहीं पाते हैं या जान नहीं पाते हैं ॥८॥ जो क्षणिकविज्ञानवादी हैं, उनका जो यह कहना है कि प्रतिक्षण में परिणाम को प्राप्त करनेवाले पदार्थ में निरन्तर उलट–पुलट देखने में आता है, अतः सब पदार्थ क्षणिक ही हैं, यह भी उनका कहना सत्य है, क्योंकि उनकी बुद्धि (क्षणभंगबुद्धि) के अनुसार वैसी स्थिति हो सकती है ॥९॥ जैसे घड़े में बन्द बटेर (तीतर की तरह की एक छोटी चिड़िया) घड़े का मुँह खोल देने पर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देह के भीतर बन्द देह जितना बड़ा जीव कर्मक्षय हो जाने पर उड़कर परलोक में चला जाता है, यों जैनों की कल्पना है, यह भी सत्य है, इसी प्रकार यवन लोग मानते हैं कि जीव देह जितना ही बड़ा है उसका उत्पादन ईश्वर ने किया है। शरीर जहाँ गाड़ा जाता है, वहींपर वह रहता है, कभी कालान्तर में ईश्वर उसके विषय में विचार करते हैं, तब उन्हीं की इच्छा से उसकी मुक्ति होती है या स्वर्ग नरक में उसको छोड़ देते हैं, यह भी म्लेच्छों का मत युक्त ही है, क्योंकि उनकी वैसी ही भावना है ॥१०॥ जो सन्त पुरुष हैं वे तो ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण, जन्म आदि सभी में जो कभी–कभी अत्यन्त विषमरूप धारण कर आते जाते रहते हैं, निरन्तर समान भाव ही रखते हुए देखे जाते हैं, यह भी ठीक है, क्योंकि

जितनी भी वस्तु या सिद्धान्तस्थितियाँ है, वे सब यह अपरोक्ष आत्मरूप ब्रह्म ही है, इसलिए सभी वादियों को अपना-अपना अभिमत (इष्ट) सिद्ध हो जाता है ॥११॥ यह जगत स्वभाव से ही उत्पन्न होता है एवं नष्ट हो जाता है, जगत् का कोई भी कर्ता नहीं है, यों स्वभाववादियों का जो मत है, वह भी युक्त ही है । इन स्वभाववादियों के मत में यह दलील है कि यद्यपि घट, पट आदि स्थल में बुद्धिमान् कर्ता हाथ लग सकता ही नहीं। असमय की वर्षा, उत्तम खेत में उत्पन्न तृण आदि कर्ता के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होते रहते हैं जो धान पैदा करनेवाले किसानों के अनिष्ट हैं, वे अपने कर्ता की कल्पना सह नहीं सकते, क्योंकि सबका अनिष्ट करनेवाला कोई है नहीं और न उसे अकालवर्षा और पर खेत में तृण आदि के उत्पादन से प्रयोजन है, यह कल्पना की जा सकती है॥१२॥

पृथ्वी, अंकुर आदि सब कार्यों में एक ही कर्ता है, यों कल्पना जो कोई करते हैं, वह भी सत्य है, क्योंकि इस प्रकार के निश्चयवाले उपासकों को एक कर्ता ईश्वर की प्राप्ति, उसकी अनुकम्पा, वरदान आदि प्राप्त होते देखे जाते हैं, यह कहते हैं ।

अंकुर आदि सब कार्यों का एक ही कर्ता हे, इस प्रकार की कल्पना करनेवाले तन्मय अन्तःकरणवाले वादियों का मत भी युक्त है, क्योंकि इस तरह एक कर्ता का निश्चय कर उपासना करनेवाला अपने अन्तःकरण में तदुपास्य सर्वकर्ता एक परमात्मा को प्राप्त करता है । पूर्ववादी के सदृश उसे बाधित नहीं मानता । अकाल-वृष्टि और अच्छे खेत में तृण आदि सबके लिए अनिष्ट नहीं हैं और सब कर्मों के फलदाता ईश्वर दुष्कर्मफलरूप अनिष्टका भी यदि कर्ता हो जाय, तो कोई दोष भी नहीं हो सकता ॥१३॥ आस्तिकों के मत में जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है, अतः परलोकार्थियों के लिए तीर्थ-स्नान, अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं । इस तरह की उन आस्तिकों के द्वारा यह जो निर्धारित कल्पना है, वह भी सत्य ही है ॥१४॥ समस्त प्रपंच शून्यात्मक ही है, इस प्रकार की बौद्धों की कल्पना है । उनकी यह कल्पना भी सत्य ही हैं, क्योंकि ऐसे विचार से उनको सर्वशून्यता हाथ लग ही जाती है । शून्यवाद में पदार्थों में अशून्यतापादक जब प्रमाण ही नहीं है, तब प्रमेय शून्यत्वकल्पना कोई असंभव है ही नहीं ॥१५॥

सब वादियों को अपना अपना जो अभीष्ट सिद्ध हो जाता है, उसमें प्रमाण कहते हैं ।

आत्मचिति एक चिन्तामणि-सी है और कल्पवृक्ष-सी है, इसलिए वह आकाशवत् निर्मल होती हुई भी अपने से ही अपने स्वरूप में जो भी अभीष्ट रहता है, उसे तत्काल ही सम्पादन करती है ॥१६॥ यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, इस प्रकार एक तृतीय अनिर्वचनीय प्रकार को मानने वाले अनिवर्चनीयवादियों का मत भी सत्य ही है, क्योंकि सर्वशक्तिरूप ब्रह्म की जो माया शक्ति न तो शून्यरूप है और सत् (विद्यमान ब्रह्मरूपा) भी नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय ही है ॥१७॥ इसलिए जिस किसी अपने निश्चय में दृढ़रूप से स्थित जो भी कोई हो,

वह यदि चपलतावश उस निश्चय से हटे नहीं, तो उस उस निश्चय के अनुसार अवश्य फल प्राप्त कर सकता है । अथवा अज्ञान के कारण अपने अभीष्ट निश्चय से न हटे, तो निश्चयानुसार अवश्य फल पाता है । इससे जब तक अज्ञान रहता है , जब तक अनेक सिद्धान्त सत्य हैं, अज्ञान के हट जाने पर आत्मज्ञान काल में तो आत्मा ही सत्य ठहरता है, दूसरा नहीं ॥१८॥

इसीलिए अविचारों से जिस किसी का सिद्धान्त मान लेना अच्छा नहीं, यह कहते हैं ।

भद्र, बुद्धिमान् पुरुष को सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तु के विषय में विद्वानों के साथ विचार विमर्श कर लेना चाहिए, दूसरे जैसे तैसे निश्चय को ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥१९॥

श्रेष्ठ पण्डित का लक्षण कहते हैं ।

अध्ययन और सदाचरण से जिस देश में जो भी उत्तम बुद्धि से युक्त हो, उस देश में वही पण्डित है, उसीका आश्रय लेना चाहिए ॥२०॥ भद्र, सत्शास्त्र के अनुसार व्यवहार करनेवाले, तत्त्वबोधार्थवाद करनेवाले सज्जन पुरुषों के मध्य में जो भी सर्वश्रेष्ठ आह्लादकारक तथा निन्दनीय निषिद्ध आचरणों से रहित हो, वह पण्डित है, बुद्धिमान् उसीका अवलम्बन करें ॥२१॥

तब क्या अन्य श्रेष्ठ निश्चयों में निष्ठा रखना निष्फल है, इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

भद्र, सभी पुरुष रात दिन जोर–शोर से अपने निश्चय के अनुसार माने गये अभीष्ट पदार्थ की ओर ऐसे ही दौड़ते हैं जैसे कि नीचे की ओर जलराशि दौड़ती है । और उसे प्राप्त करते हैं, परन्तु उनमें परम पुरुषार्थ का साधन कौन है, इसका विचार कर सत्शास्त्र एवं सद्गुरुका पुरुष को आश्रय लेना चाहिए ॥२२॥

सत् शास्त्र और सद्गुरु दोनों का जल्दी से जल्दी आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि आयुष्य विश्वासयोग्य नहीं, इस आशय से कहते हैं ।

रामजी, संसारसागर में मनरोधरूपी तरंग परम्पराओं से बहे जा रहे मनुष्यों के दिन ऐसे अलक्षित रूप से व्यतीत हो जाते हैं, जैसे तिनकों के अग्रभागपर लटके हुए जलबिन्दु ॥२३॥

भोंगो की तृष्णाएँ अति प्रबल हैं, अतः उनसे विरक्त मुमुक्षु दुर्लभ हैं, उनमें भी परमात्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष करनेवाले श्रेष्ठ ज्ञानी, जिनका आपने उल्लेख किया है, अतिदुर्लभ हैं, इस अर्थ को विस्तार से सुनने के लिए श्रीरामजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर, अतिविस्तृत परमब्रह्मरूप पद में पहले से ही प्राणियों की भोग–तृष्णा जगद्रूप हजारों वृक्षों के वितानों के जाल का विस्तार कर, लता के सदृश, स्थित है । ऐसी स्थिति में पूर्वापर जगत् स्वरूप अनर्थ के विचार द्वारा परमार्थदर्शी श्रेष्ठ विद्वान कौन होंगे जिनका आपने कथन किया, अर्थात् ऐसे विद्वान ही अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥२४॥

सत्य है, ऐसे विद्वान दुर्लभ हैं, फिर भी मनुष्य, गन्धर्व, देव, दानव आदि में प्रयत्नपूर्वक खोजने से वैसे विद्वान् मिल सकते हैं, ऐसा कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, देव, दावन, मनुष्य आदि हर एक जाति में कुछ श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ विद्यमान हैं, जिनका कि 'यो यो देवानाम्' इत्यादि श्रुतियों में उल्लेख पाया जाता है, प्रकाशमान सूर्य के सदृश उन्हीं तत्त्वज्ञों के प्रकाश से दिवस दिवसरूप होते हैं ॥२५॥ उन तत्त्वज्ञों को छोड़कर दूसरे सभी मूढ हैं और वे मोहरूपी महासागर में संसार चक्रों के आवर्तन परावर्तन ऊपर-नीचे दौड़ते हुए तृण के सदृश बहते हैं ॥२६॥

देव आदि जाति विशेषों में उसीका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं ।

जिन देवताओं की आत्मा में निष्ठा नहीं हुई है, वे देव स्वर्ग में भोगरूपी अग्निकी ज्वालाओं में ऐसे जलते रहते हैं, जैसे वनाग्नि से पर्वतपर वृक्ष जलते रहते हैं ॥२७॥ मद से चूर दानव तो दानव शत्रु देवताओं के द्वारा नारायणरूपी गड्ढे में ऐसे गिराये गये हैं, जैसे कि आलान से (बाँधने के खंभे से) रहित गज बड़े गड्ढे में गिराया गया हो ॥२८॥ गन्धर्व लोगों की तो बात ही जाने दीजिये । वे तो गानरूपी मद्यमें रात-दिन आसक्त (मस्त) रहते हैं, इसलिए वे विवेकजनित ज्ञान का लेश भी दिखला नहीं सकते । हिरनों के सदृश भ्रान्त होकर मृत्युरूपी व्याध के समीप वे जा रहे हैं ॥२९॥ विद्याधरों में ब्रह्मविद्या की योग्यता है, इसलिए वे विद्या के आधार कहे जाते हैं, यही कारण है कि वे सबसे अधिक चमकीले हैं, परन्तु उदार विवेकों की ओर वे आदर नहीं रखते, केवल मोह में फँसकर भोगविद्याओं में ही रात-दिन पड़े रहते हैं । उन्हीं में मस्त रहते हैं ॥३०॥ यक्षों की भी बात न्यारी है, वे मनुष्यों की निवासभूमिको क्षुब्ध किये हुए हैं, अपने को अविनाशी-सा समझते हैं यानी अपना शरीर कभी नष्ट नहीं होगा, ऐसा समझते हैं, मणि, मन्त्र आदि के बलों से विहीन असहाय बाल, वृद्ध और आतुरों के ऊपर अपनी दक्षता दर्शाते हैं॥३१॥ जो राक्षस हैं , उनका तो शत्रुभूत विष्णु के द्वारा पूर्व में अनेक बार वेगपूर्वक विनाश किया गया है और आप भी भविष्य में करेंगे । राक्षस काम, बल और शौर्य के कारण हाथी के सदृश सदा उन्मत्त रहते हैं । इसलिए इनके प्रमाद का फल तो प्रत्यक्ष ही है ॥३२॥

पिशाच तो सदा भूख से ही तड़पते रहते हैं, उनको निरन्तर पेट भरने की चिन्ता रहती है, अतः कभी भी उनको विवेक नहीं हो सकता, यह कहते हैं ।

जैसे अग्नि में गिरी आहुतियाँ अपने को निरन्तर धूम्र युक्त ज्वालाओं से जलती हुई ही देखती हैं, वैसे ही प्राणियों को खा जाने की चिन्ता से, जो कि अज्ञानरूपी धूम्रान्धकार को वायु के सदृश क्रोध, हिंसा आदि की ज्वालारूप बना देती है, अपने को जले हुए ही देखते हैं ॥३३॥

इसी तरह नागजाति में भी विवेक नहीं है, यह कहते हैं ।

यह पाताललोक में जो नागों का जालरूप विसतन्तुओं का समूह डूबा हुआ है, वह भी वृक्षों के मूल समूह के सदृश जड़ (विवेकहीन) ही हैं ॥३४॥ कीटों के सदृश भूतल के छेद ही जिनके आवासस्थान हैं, उन असुररूपी बालकों के विवेक की तो कथा ही क्या यानी असुरों में तत्त्वज्ञान

का जनक विवेक होता है, यह कहना तो मूर्खता ही है ॥३५॥

यों बल, वीर्य एवं प्रभाव आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न देवों से लेकर असुर तक के लोगों को जब विवेक दुर्लभ है, तब दूसरों के लिए तो कहा ही क्या जाय, इस आशय से कहते हैं ।

जो पुरुष हैं वे भी तो प्रायः पिपीलिका के समानधर्मा ही है, क्योंकि छोटे से कणों के लिए रात–दिन वे घूमा करते हैं ॥३६॥ शराबियों के सदृश अतिव्यग्र सभी भूतजातियों के दिन निरर्थक लम्बी–लम्बी दुष्ट इच्छाओं या चेष्टाओं से व्यतीत होते जाते हैं, विवेक का नाम भी वे किसी दिन याद नहीं करते ॥३७॥ जैसे अगाध जल में डूब रहे पुरुष का धूलि स्पर्श नहीं करती, वैसे विषयों में डूब रहे किसी पुरुष के भीतर निर्मल विवेक कभी स्पर्श नहीं करता ॥३८॥ राघव, देह आदि में होनेवाले अभिमान एक प्रकार से प्रबल वायु ही हैं, इन वायुओं के झकोरों से मनुष्य अक्रोध आदि नियमों से चलित हो जाते हैं यानी क्रोध आदि शत्रुओं के अधीन हो जाते हैं । इसमें दृष्टान्त है निःसार धान्य । जैसे सूप चलानेवाले किसानों के द्वारा धान्य को वायु ले जाते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥३९॥ जो योगिनियों का गण है, वह तामस भोगासक्तिरूप तालाब के दल–दल में जो कि सुरापान, रूधिरपान तथा मांसभोजन आदि रूप कीचड़ों से भरा है, पामरों के सदृश फँसा हुआ है, उनको भी विवेक मात्र नहीं है, यह समझना चाहिए ॥४०॥

यों देव आदि योनियों में विवेक ज्ञान की दुर्लभता बतला कर अब उनमें जो प्रबुद्ध है, उनमें कुछ को परिगणन कर, बतलाते हैं ।

देवादि में यम, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, वरुण, वायु, हरि, हर, ब्रह्मा, बृहस्पति, शुक्र, अग्नि आदि, प्रजापतियों में सप्तर्षिमण्डल, दक्ष आदि, कश्यप आदि, नारद आदि, सनत्कुमार आदि देवकुमार, दानवों में हिरण्याक्ष, बलि, प्रह्लाद, शम्बर, मय, वृत्र, अन्धक, नमुचि, केशिपुत्र, मुर आदि, राक्षसों में विभीषण, प्रहस्त, इन्द्रजित, आदि, नागों में शेष, तक्षक, कर्कोटक, महापद्म, आदि ये सब तथा ब्रह्मलोक, विष्णु लोक, इन्द्रलोक में निवास करनेवाले मुक्तस्वभाव और विदेहमुक्त हैं । इसी तरह कोई तुषित (देवयोनि भेद), सिद्ध एवं साध्य भी जीवन्मुक्त हैं ॥४१–४५॥ हे रघुकुल श्रेष्ठ, मनुष्यों में राजा, मुनि, उत्तम ब्राह्मण जीवन्मुक्त होते हैं, परन्तु ये दुर्लभ हैं यानी लाखों करोंड़ों राजा आदि में कोई बिरले जीवन्मुक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥४६॥

सभी जातियों में जीवन्मुक्त हैं ही, परन्तु वे अति दुर्लभ हैं, यह जो कहा गया, उसका दृष्टान्त से समर्थन करते हैं ।

अनेक तरह के असंख्य प्राणी चारों ओर दिशाओं में भरे पड़े हैं, किन्तु उनमें तत्त्वज्ञानसम्पन्न बहुत ही विरल होते हैं । ठीक ही है, फलों, पल्लवों से युक्त वृक्ष होते तो असंख्य हैं, परन्तु उनमें कल्पवृक्ष विरले होते हैं ॥४७॥

सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठानबेवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञानी सन्तों के लक्षण तथा परीक्षा द्वारा उनके दोषों की उपेक्षा कर उनका आश्रय लेने का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, विरक्त एवं विवेकसम्पन्न जो महात्मा परमपद ब्रह्म में विश्रान्ति पाकर स्थित हैं, उन महात्माओं के लोभ, मोह आदि शत्रु छोटे हो जाते हैं। लोभ-मोह की अल्पता ही जब तत्त्वज्ञों का लक्षण है, तब उनकी निर्दोषता में तो कहना ही क्या है ? ॥१॥ तत्त्वज्ञानी महात्मा न तो किसीसे प्रसन्न होते हैं, न किसी पर क्रोध करते हैं, न किसी विषय में अभिनिवेश (आसक्ति) करते हैं, न खाद्य वस्तुओं का संग्रह करते हैं, न लोगों से उद्विग्न होते हैं और न लोगों को ही उद्विग्न करते हैं ॥२॥

शरीर को अधिक क्लेश पहुँचाने वाले पारलौकिक वैदिक कर्मों में भी शुष्क वैदिक के सदृश हठ से प्रवृत्त होकर क्लेशयुक्त नहीं होते, यह कहते हैं।

आस्तिक्य भावना या नास्तिक्य भावना से जनित अभिमानप्रयुक्त हठ से न कष्ट कारक वैदिक अनुष्ठान में निरत रहते हैं। उनका आचरण मनोज्ञ एवं अत्यन्त मधुर होता है और प्रिय एवं कोमल वार्ता करते हैं ॥३॥ तत्त्वज्ञ लोग अपने संग से चन्द्रकिरणों के सदृश अन्तःकरण को उल्लास युक्त बना देते हैं। करने योग्य लौकिक एवं वैदिक कर्मों का जब परस्पर विरोध उपस्थित हो जाता है, तब अकार्यों से विवेक कर एक क्षण में ही सन्देह मिटा देते हैं ॥४॥ तत्त्वज्ञों के आचरण से कभी उद्वेग नहीं होता, वे सबके बन्धु-से तथा चातुर्यपूर्ण रहते हैं। बाहर से उनका आचरण सभी के सदृश होता है, परन्तु भीतर से वे अत्यन्त शीतल होते हैं ॥५॥ तत्त्वज्ञ शास्त्रों के अर्थों में बड़ा ही रस लेते हैं, उत्तम और अधम लोकों को जानते हैं, कौन वस्तु छोड़ने योग्य है और कौन छोड़ने योग्य नहीं है इसको भलीभाँति जानते हैं तथा समयपर जो भी कुछ प्रारब्धानुसार प्राप्त हो जाय, उसका अनुवर्तन कर लेते हैं ॥६॥ लोकशास्त्र के विरुद्ध आचरणों से सदा विरत रहते हैं, सज्जनों के बीच स्थिति में यानी सदाचरण में अत्यन्त रसिक होते हैं। उपदेश से हृदयकमल को खोल कर उसमें भरे गये ज्ञान की सुगंधियों से तथा उत्तम आश्रय, सुख तथा अन्नादि से आये हुए अतिथियों की पूजा करते हैं। पूजा करते समय उनका मुखकमल विकसित रहता है, उस समय वे आगंतुक भ्रमर का आश्रयदान आदि से सत्कार कर रहे विकसित कमलों के सदृश लगते हैं। जनता के सन्तापों का अपहरण करने के कारण वे जनता को अपनी ओर खींच लेते हैं और वर्षाकाल के मेघों के सदृश कृपावृष्टिकारक और शीतल उद्यान के सदृश स्निग्ध होते हैं। भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष राजाओं के नाशक, देश को छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा दुर्भिक्ष आदि से जनित जनता के क्षोभ को तपस्या के प्रताप, सत्कर्मों के अनुष्ठान, साम आदि उपायों से ऐसे पकड़कर रोक लेते हैं, जैसे भूकम्प को पर्वत ॥७-९॥ नानाविध उत्तम गुणों से पूर्ण, चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रसन्नाकृति उत्तम

भार्या के सदृश अनेक गुणों से पूर्ण शान्तआकृति ज्ञानी पुरुष विपत्तियों में उत्साह देते हैं और सम्पत्तियों में सुख पहुँचाते हैं ॥१०॥ यशरूपी फूलों से सारी दिशाओं को निर्मल बनानेवाले, भावी उत्तम फल के हेतु तथा कोकिल के सदृश मधुरभाषण करनेवाले साधु पुरुष वसन्त ऋतु जैसे हैं ॥११॥ अज्ञानी राजा आदि के चित्त को एक महासागर ही समझना चाहिए, इसमें अनेक तरह के कल्लोल ही बड़े बड़े आवर्त हैं , व्यामोहरूपी मगर उसमें रहते हैं, अत्यन्त शिशिर पवन से विक्षिप्त तरंगों के व्याज से हेमन्त के सदृश वह लुढ़कता रहता है, भ्रमर, हँस आदि के निवासस्थान पद्मवन को विलोडित करता है, काम आदि छः वृत्तियाँ उसमें बड़े बड़े तरंग हैं । उस महासागर को उपदेशादि द्वारा साधु पुरुषरूपी तटस्थ पर्वत ही रोकने में अत्यन्त समर्थ हैं ॥१२,१३॥ भद्र, आपदाओं में, बुद्धिनाश में, भूख–प्यास, शोक–मोह, जरा–मरण आदि कल्लोलों में, व्याकुल देशों में तथा दुरन्त संकटों में सज्जनों की सन्त ही गति हैं ॥१४॥ हे श्रीरामजी, इन लक्षणों से तथा दूसरे पूर्ववर्णित लक्षणों से उन उत्तम अन्तःकरणवाले महात्माओं का परीक्षण कर आप आत्मा में शान्ति प्राप्त करने के निमित्त उनका आश्रय लीजिए, क्योंकि आप संसाररूपी मार्ग में भ्रमण करते करते श्रान्त हो गये हैं ॥१५॥ भद्र, यह संसारूपी साँपों से भरा हुआ अत्यन्त विषमय सागर सत्संगरूपी जहाज को छोड़कर दूसरे किसी भी जहाज से नहीं पार किया जा सकता, इसलिए सत्संग का आश्रय लेना ही होगा ॥१६॥ हमको आत्मा या सत्पुरुष के सम्बन्ध में विचार करने से क्या, प्रारब्धवश जो भी कुछ समय पर हो जायेगा, वह मेरे लिए अच्छा ही होगा–यों भीतर प्रमाद करके गड्ढे में पड़े हुए कीट के सदृश कभी भी पुरुष को नहीं बैठे रहना चाहिए ॥१७॥ भद्र, मैंने अभी अभी आपसे जिन उत्तम गुणों का वर्णन किया, उनमें से यदि एक भी गुण किसी में उपलब्ध हो जाय, तो दूसरे गुणों की या उसमें विद्यमान अन्य दोषों की परवाह न कर उतने गुण के उद्देश्य से उस महात्मा का आश्रय लेना चाहिए ॥१८॥ गुण और दोषों को जानने के लिए बाल्यावस्था से लेकर अपने आप प्रयास करना चाहिए, अपने प्रयत्न से ही यथासंभव सत्संग एवं सत्–शास्त्रों से पहले बुद्धि बढ़ानी चाहिए ॥१९॥ यदि दोष का कुछ लेश होवे, तो उसको न देख कर सज्जन की नित्य सेवा करनी चाहिए और स्थूल दोषवाले पहले के परिजनों का क्रमशः त्याग करना चाहिए ॥२०॥

पूर्व परिजनों का त्याग न करने पर कौन दोष उपस्थित होते हैं, उन्हें बतलाते हैं ।

उनका परिहार न करने पर शोधित भी चित्त अरम्य बन जाता है यानी रागादि से कलुषित बन जाता है, स्थिर भी विश्रान्ति सुख विच्छिन्न हो जाता है, साधु असाधु बन जाता है, क्योंकि लोक में जो देखा जाता है, उसे ही हम मानते हैं, यानी लोक में इस प्रकार दोष परिजनों के अपरिहार में देखे जाते हैं ॥२१॥

भले ही ऐसा हो, उससे भी क्या दोष हुआ ? इस पर कहते हैं ।

यह जगत् का अनिष्टकर महान् उत्पात है, जो कि साधु पुरुष असाधु बन जाता है और यही

देश-कालवश जनता के दुरदृष्टों के कारण महोत्पातरूप से भी दिखाई देता है, जैसे कि विश्वामित्र की लुब्ध (लोभी) अमात्यों के समर्थन से वसिष्ठजी की कामधेनु के हरण में प्रवृत्ति हुई और इससे परस्पर बैर की वृद्धि से जगत् में महान् अनिष्ट हुआ, यों अनेक दृष्टान्त देखे जाते हैं ॥२२॥

कथित का अनुवाद कर उपसंहार करते हैं ।

सब कार्यों को छोड़कर सज्जनों का ही समागम करना चाहिए, यही कर्म निराबाधरूप से इहलोक एवं परलोक दोनों का साधन है यानी दोनों लोकों की प्राप्ति कराता है ॥२३॥

इस प्रकार का सज्जनसमागम, गुणोपार्जन क्रम से जब तक ज्ञाननिष्ठा न हो जाय तब तक, बीच में कभी छोड़ना नहीं चाहिए, यह कहते हैं ।

भद्र, किसी भी काल में सज्जन सद्गुरु से दूर नहीं होना चाहिए, किन्तु विनय, सेवा आदि क्रियाओं से युक्त होकर साधु पुरुषों की निरन्तर सेवा करनी चाहिए, क्योंकि उन साधुओं के पास जाने मात्र से विचरणशील उनके शान्ति आदि गुण पास जानेवाले में ऐसे संक्रान्त (मिश्रित) हो जाते हैं, जैसे फूलों की सुगन्ध तिलों में सम्बन्धमात्र से मिश्रित हो जाती है ॥२४॥

अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त

निन्नानबेवाँ सर्ग

कृमि, कीट, पतंग, तिर्यग्योनि, स्थावर आदि जातियों का इस संसार में जैसे भोग होता है, उन सबका वर्णन ।

कृमि, कीट आदि अतिमूढ़ जन्तुओं का तो जीवन ही दुर्लभ हो जायेगा, क्योंकि तात्कालिक दुःखशान्ति का उपाय वहाँ है ही नहीं, उनमें ऐसी शक्ति है नहीं जिससे कि वे दुःखशान्ति का उपाय जान सकें । ऐसी स्थिति में वे किस तरह जीते हैं, यों श्रीरामजी उनकी संसारस्थिति को, जातिप्रसंग से, जानने की इच्छा से पूछते हैं ।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, हम मनुष्य-जाति के लोगों के दुःखक्षय के लिए तो शास्त्र, सत्संग, मन्त्र, औषधि, तप, दान, तीर्थ तथा पुण्याश्रम में निवास आदि उपाय हैं, परन्तु कृमि, कीट, पतंग आदि तथा तिर्यक्, स्थावर आदि जो जातियाँ हैं, उनका दुःखक्षय किस उपाय से होगा, उपाय के अभाव में उनका जीवनयापन कैसे ? यानी वे किस तरह जी सकते हैं ? ॥१,२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस संसार में जितने भी जीव हैं वे चाहे स्थावर हों, चाहे जंगम हों, वे सब अपने अपने योग्य भोगों के उचित सुखसत्ता में ही विश्राम किये रहते हैं और उसीसे अपना-अपना जीवन भी धारण किये हुए हैं, इससे निष्कर्ष यह निकला कि तत्-तत् योनियों में भोग्य जो विषयसुख की मात्रा है, वही तत्-तत् जीवों का महान पुरुषार्थ है, इसी सुखमात्र से वे विश्रान्ति लेते हैं और उसीकी आशा से अनेक दुःख झेलते हुए जीते रहते हैं ॥३॥ भद्र, छोटे छोटे अणुमात्र जो जीव हैं, उनको भी अपनी योनि के अनुसार हम मनुष्य जाति के लोंगों के जैसी ही सुख भोगने की इच्छाएँ

रहती हैं, परन्तु हम लोगों को उन भोगों में एक तो आस्था नहीं है और उनको प्राप्त करने में कोई अधिक विघ्नबाधा भी नहीं पहुँचाता, उनको तो मोह, काम आदि दोषों की अधिकता के कारण तथा विवेक की मात्रा के अभाव से उन भोगों में अधिक आस्था है और उनको पाने में उन्हें पर्वत के सदृश बड़े बड़े विघ्नों का सामना भी करना पड़ता है ॥४॥

यदि प्रश्न हो कि भोगों में बहुत आस्था है, यह आपने कैसे जाना, तो इसका उत्तर है–प्रयत्न की अधिकता, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, जिसका समस्त ब्रह्माण्ड एक शरीर है, वह विराट् हिरण्यगर्भ जैसे अपने अधिकार निभाने की अनेक चेष्टाओं के द्वारा स्वभोगार्थ प्रयत्न करता है, वैसे ही केशों के अग्रभाग के सदृश देहवाले कृमि, कीट आदि भी बालक की मुट्ठी के छेद की अपेक्षा भी छोटे अल्पकाय आकाश में प्रयत्न करते हैं, देखिये तो सही कि कैसी अहंकार की महिमा है ॥५॥ एकमात्र शून्य विषयवाले गगनपक्षी निराधार आकाश में उत्पन्न होते हैं और वहींपर मर जाते हैं, उनको कुछ भी विषय नहीं मिलता है, परन्तु क्षणभर वे स्वस्थ नहीं बैठते यानी वे अपने प्रयत्न से तनिक भी हटते नहीं ॥६॥

कण आदि के उपार्जन में पिपीलिका आदि का अधिक प्रयत्न देखा जाता है, इससे भी अनुमान होता है कि उन्हें भोग की आस्था बहुत है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, देखिये–ग्रास तथा निवास का सम्पादन तथा कुटुम्बपोषण आदि नानाविध चेष्टाओं से यह प्रतीत होता है कि जैसे पिपीलिका के लिए हमारे दिन जैसा भी दीर्घकाल उनके कणोपार्जन प्रयत्न के लिए क्षण के सदृश पर्याप्त ही नहीं है ॥७॥ भद्र, यह एक और नवीनता सुनिये–तिमिनाम का जो अत्यन्त छोटा त्रसरेणु के बराबर का जीव है, उसकी गमन में ऐसी व्यग्रता दीखती है, जैसी कि गरुड़ की गमन में व्यग्रता दीखती हो ॥८॥

देह में और देह भोग्य वस्तुओं में अहंताममता का अभ्यास मनुष्य और कृमि दोनों को एक सा है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, यह, वह, मैं, यह मेरा है, वह मेरा है, इस तरह कल्पित अध्यासरूप जगत् जैसे मनुष्यों के लिए अनेक ऊँचे गुणों के कारण अत्यन्त आस्था का भाजन है, ठीक वैसे ही कृमि के लिए भी है ॥९॥

विषयों की आस्था के कारण आयु का जो निरर्थक क्षय हो जाता है, वह भी हम मनुष्य एवं कीट आदि का समान है, यह कहते हैं।

देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि विषयों की प्राप्ति के निमित्त व्यग्र बुद्धि से जैसे हम लोगों का जीवन जर्जर यानी क्षीण हो जाता है, वैसे ही व्रणकीटों का भी उक्त व्यग्र बुद्धि से जीवन क्षीण हो जाता है ॥१०॥ वृक्ष आदि स्थावर जीव कुछ जागते रहते हैं, पत्थर एकदम सोते ही रहते हैं। यानी घनी नींद से सोये हुए ही रहते हैं और कृमि, कीट आदि तो हम मनुष्यों के जैसे अपने अपने उचित

विषयभोगों में निद्रा एवं जागरण-दोनों से युक्त रहते हैं ॥११॥ शरीरकाल में सुखपूर्वक स्थित ये जो कृमि, कीट आदि हैं, उनको भी हम लोगों के सदृश शरीरविनाश ही दुःख पैदा करनेवाला है और जीवन (शरीर में प्राणस्थिति) सुख पैदा करनेवाला है ॥१२॥

हम लोगों के भोग्य, घर, महल, धन आदि को वे कैसे देखते हैं, इसे कहते हैं ।

जैसे बेचा गया पुरुष अन्य द्वीप को उदासीनता से मुग्धदृष्टि होकर देखता है, वैसे ही पशु, मृग आदि उनके अभोग्य घर आदि पदार्थों को उदासीनता से मुग्धदृष्टि से देखते हैं ॥१३॥ जैसे मनुष्य जाति के जीवों को संसार सुख-दुःख देनेवाला है, वैसे ही तिर्यग्योनि पशुओं को भी है। केवल भेद इतना है कि उत्कर्ष-अपकर्ष बुद्धि के कारण गुण-क्रिया विभाग वे नहीं जानते ॥१४॥

बेचे गये मनुष्य की समानता पशु में बतलाते हैं।

बैल आदि पशु, जो नाथे जाते हैं, मन से भीतर भीतर सुख दुःख से खींचे जाते हैं और बाहर से नाथ रज्जु के द्वारा नासिका प्रदेश से खींचे जाते हैं यों दोनों ओर पराधीनता से खींचे जा रहे भी वे कुछ भी अपना दुःख हरने या प्रकट करने में समर्थ नहीं होते, ठीक इसी तरह के द्वीपान्तर में बेचे गये पामर जन (गुलाम) भी होते हैं, इस लिए दोनों की समता है ही ॥१५॥

वृक्ष आदि के सुख, दुःख के अनुभव की प्रणाली हमारे सुख दुःख के अनुभव के अनुरूप ही है, ऐसा उपपादन करते हैं।

सुकुमार त्वचावाले हम लोग जब निद्रादेवी की गोद में अचेत होकर सोये रहते हैं तब यदि अत्यधिक शीत, गर्मी, मच्छर, खटमल आदि हमें तंग करते हैं तो सुखशून्य नींद में हमें जैसे महाक्लेश का अनुभव होता है वैसे ही महाक्लेश का अनुभव पेड़, पौधे, अंकुर आदि को होता है।

श्लोक में अंकुर का ग्रहण अति सुकुमार होने के कारण उसे कृमि, कीड़ों आदि के काटने पर अत्यन्त क्लेश होता है यह सूचित करने के लिए है॥१६॥

पूर्व में जो यह कहा था कि हम लोगों की भाँति ही पशु, मृगादि को भी संसार सुख और दुःखदायक है, किन्तु वे पदार्थों के गुण, क्रियाउपयोग (इसमें यह गुण है यह इस कार्य के उपयोगी है) आदि विवेचन से, जिससे उत्कर्ष और अपकर्ष का ज्ञान होता है, सर्वथा कोरे हैं। इस बात को उपपादन के द्वारा अनुभव में चढ़ाते हैं।

जैसे देशविपल्व के समय पलायन द्वारा दौड़ना आदि गति के लिए कुश, काँटे, जली हुई बालू पर चलना, बोझ ढोना आदि मुसीबतों पर पड़े हुए हम लोगों को चारों ओर से भय की आशंकाओं से पूर्ण पदार्थज्ञान होता है वैसा ही पदार्थज्ञान पक्षी, सर्प आदि तिर्यग्योनिवाले जीवों को भी सदा होता है ॥१७॥ यदि मन विकल्प-ज्ञान से शून्य हो तो आह्लादस्वरूप आत्मानन्द में और भोजन, निद्रा, मैथुन आदि से होने वाले सुखों में इन्द्र और कीड़े की मन की प्रसन्नतारूप सौम्यता एक सी है। केवल विकल्प ही दोनों के लिए-इन्द्र और कीड़े के लिए-हिमालय के समान अलंघ्य है ॥१८॥

राग, द्वेष, भय, आहार और स्त्रीसंगजनित सुख और दुःख तथा जन्म–मरण के समय होनेवाला क्लेश इन्द्र और कीड़े का समान है, उसमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥१९॥ शास्त्रवेद्य पुण्य, पाप, ब्रह्मतत्त्व आदि तथा अतीत और भावी पदार्थों के सिवा शेष ज्ञान नेवला, साँप, सियार, हाथी आदि को शास्त्रगम्य धर्म, अधर्म, आत्मतत्त्व, अतीत, अनागत आदि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, मनुष्य को हो सकता है, इसके अतिरिक्त ज्ञान जैसा मनुष्य को है वैसा ही नेवला आदि को भी है ॥२०॥

तो पर्वत आदि कैसे अनुभव करते हैं ? इस आशंकापर कहते हैं।

गाढ़ निद्रावाले (सुषुप्ति में स्थित) वृक्षादि की अत्यन्त मूढभाव से जो अपने में स्थिति है उसका पाषाण आदि अचल पदार्थ अनुभव करते हैं और जो हिमालय, सुमेरु आदि तत्त्वज्ञानी पर्वत हैं, वे तो अखण्ड चिदाकाश का अनुभव करते हुए सदा समाधि में स्थित हैं ॥२१॥

इस प्रकार न तो वृक्ष आदि जीवों की दृष्टि से जगत् की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे गाढ़ निद्रा में मग्न हैं, न पर्वत आदि जीवों की दृष्टि से जगत् की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे आत्मसत्ता में स्थित हैं, जंगम जीवों में भी तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से जगत् की कल्पना नहीं हो सकती है, कारण वे तो चिदाकाश स्वरूप ही हैं। हाँ, कुछ अज्ञानी जंगम जीवों की दृष्टि से जगत की कल्पना हो सकती है , किंतु उनकी दृष्टि उक्त बहुत से लोगों की दृष्टि से विरुद्ध जगत्सत्ता की सिद्धि नहीं कर सकती, इस आशय से कहते हैं।

वृक्ष आदि गाढ़ निद्रा में हैं और पर्वत आदि अपनी सत्ता में स्थित हैं। जो जंगम जीव हैं, वे भी सुषुप्ति, मरण, मूर्छा मोक्ष आदि अवस्थाओं में चिदाकाशरूप ही हैं । जंगम जीवों में से किन्हीं को कभी (स्वप्न में) अर्धविकास से और कभी (जाग्रत अवस्था में) पूर्ण विकास से भासमान भी जगत् बहुतों की दृष्टि के अनुरोध से चिदाकाश ही है ॥२२॥ जो पर्वत आदि की सत्ता और जो वृक्षों की निद्रा है, वह द्वैतज्ञानविहीन होने के कारण अखण्ड चिद्रूप ही है, इसलिए उनकी दृष्टि से जगत् एक अज्ञानउपहित चिन्मात्र ही है ॥२३॥ औरों की दृष्टि से भी आत्मतत्त्व जब तक परिज्ञात न हो तभी तक जगत् है आत्मतत्त्व का परिज्ञान होने पर तो न तुम हो, न मैं हूँ, न जगत्सत्ता ही है, न असत्ता है और न जगत् का प्रागभाव ही है यानी किसी कोटि में जगत् की स्थिति नहीं है ॥२४॥ शिला के समान ठोस, शान्त, अपने स्वरूप से अप्रच्युत, उत्पत्ति–नाश से रहित निर्दोष ब्रह्म ही यह सब कुछ है । वह जैसे निद्रा आत्मा में ही स्वप्नजगत् वैचित्र्य की कल्पना करती है वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि से अपने में ही जगद्वैचित्र्य की कल्पना कर रहा है, वास्तव में वह निर्विकार है ॥२५॥

परमार्थदृष्टि से तो सद् ही एकरूप है, यह कहते हैं ।

सृष्टि के पहले सृष्टि आदि जगत् जैसे एकरूप ही स्थित था, वर्तमान काल में भी वैसे ही स्थित है और आगे भी अनन्त काल तक वैसे ही स्थित रहेगा ॥२६॥

सत् चिद् आनन्दरूप उसके आत्मत्व आदि भेद भी नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यावर्त्य नहीं है, फिर

और भेद क्यों कर होंगे, यह कहते हैं।

न तो आत्मता है, न परता है, न जगत्ता है, न मौनता है, न मौनिता है बहुत क्या कहें उस सद्रूप में कुछ भी उत्पन्न नहीं है ॥२७॥ आप अपने स्वरूप में ही स्थित रहिये, मैं भी अपने स्वरूप में ही स्थित हूँ, परम आकाश में सुख और दुःख का नाम नहीं है और पराकाश (ब्रह्मप्रकाश) के सिवा यहाँ कुछ नहीं है ॥२८॥ जरा बतलाइये तो सही स्वप्न नगर में परमाकाशता को छोड़कर क्या है ? निर्मल, निर्विकार शान्त चिदाकाश ही तो स्वप्ननगर है ॥२९॥ केवल अज्ञान ही उसमें भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है। जब परम ब्रह्म का परिज्ञान हो जाता है तब अज्ञान का भी कहीं पता नहीं रहता ॥३०॥ जब जगतरूपी स्वप्न का ज्ञान हो जाता है तब उसमें कुछ भी सत्यता नहीं रहती। जगत् के प्रति अभिनिवेश (आसक्ति) वन्ध्यापुत्र में स्नेह करने के सदृश ही उपहासास्पद है ॥३१॥ स्वप्नकाल के ज्ञात होने पर प्रत्येक अणु में जगत्-स्वप्न की सम्भावना होती है, किन्तु प्रबोधावस्था में जिसका कुछ अस्तित्व नहीं रहता उसकी क्या तो उपादेयता है और क्या उसका आदर किया जाय ? ॥३२॥ जिस वस्तु की प्रबोधअवस्था में कुछ भी सत्ता नहीं है वह अबोधावस्था में भी कहींपर नहीं है। जो अप्रबोधअवस्था में उसकी प्रतीति होती है, वह अज्ञता ही है अर्थात् अज्ञान ही उसकी प्रतीति के रूप से प्रसिद्ध होता है ॥३३॥ न तो वर्तमान सच है, न भविष्यत् सच है और न भूतकाल ही सच है, न अज्ञान सच है और न उनका ज्ञान सच है। ये सब वस्तुएँ अज्ञानवश ही प्रतीत होती हैं वास्तव में कुछ नहीं है ॥३४॥

ऐसी स्थिति में मिथ्या देह आदि के मिथ्या शत्रुओं द्वारा नष्ट किये जाने पर भी उन दोनों के अधिष्ठानरूप आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ा, यह कहते हैं।

जैसे एक लहर के आघात से दूसरी लहर के छिन्न-भिन्न होने पर जल की कुछ हानि नहीं होती है। वैसे ही एक देह से दूसरी देह के नष्ट होने पर चित् की भी क्षति नहीं होती है ॥३५॥ आकाशरूप चित् में ही देह ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान ही पैदा होता है ऐसी अवस्था में भ्रमात्मक ज्ञानरूप देह के नष्ट होने पर क्या नष्ट हुआ ? ॥३६॥ ज्ञानघन चिदाकाश ही स्वप्न जगत्रूप से प्रसिद्ध है। चूँकि यह जगत् स्वप्न-जगत् के समान पृथिवी आदि से शून्य है, इसलिए स्वप्नरूप है ॥३७॥ पूर्व चित् के स्वप्न से सृष्टि के आदि में पृथिवी आदि पदार्थबुद्धि का उदय हुआ। स्वप्न के पदार्थ में सत्यता बुद्धि काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है ॥३८॥ इस प्रकार पूर्व से पूर्वतर अनादि प्रवाहरूप स्वप्न के अवयवों में मूढों ने सत्य पृथ्वी आदि की कल्पना ऐसे ही कर डाली जैसे कि आधुनिक असत्य वस्तु में सत्य कल्पना की जाती है ॥३९॥ वह भ्रान्ति वैसी बद्धमूल हुई कि निपट असत्य होती हुई भी परम सत्यता को प्राप्त हो गई। किन्तु परम सत्य चिति तो अत्यन्त निर्मल है, उसमें जड़तारूप मलका रत्तीभर भी सम्बन्ध नहीं है ॥४०॥

असत्यस्वरूप जगत्भ्रान्ति को मूढों ने अपनी कपोलकल्पना से सच सी मान लिया है, यों

'इव' से सत्य से उपमित कर उपमा द्वारा भ्रान्तिकल्पना में सत्यार्थ कल्पना की समानता दिखलाई। वह तभी सम्भव हो सकती है जब पहले सत्य पदार्थ रहे हों, उनका अनुभव भी हुआ हो और इस समय उनका स्मरणकर्ता भी हो । दूसरी हालत में यह संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

वास्तव में अपने स्वरूप से अच्युत सच्चिदानन्दरूप सर्वव्यापक ब्रह्म ही स्थित है। सत्यतारूप पृथ्वी आदि कुछ भी पहले कभी नहीं रहा । ऐसी परिस्थिति में जब उसके अनुभव की सर्वथा असिद्धि है तब उसका स्मरण करनेवाला या विस्मरण करनेवाला भला कौन होगा ? ॥४१॥

तब असत्य पदार्थ में अत्यन्त अप्रसिद्ध सत्यता की समानता का प्रतिबोधक क्या होगा ? ऐसी आशंकापर स्वप्रकाश सत्यस्वरूप का अज्ञान ही असत्यत्व में सत्यत्व के सादृश्य का प्रतिबोधक है, यह कहते हैं ।

यथार्थरूप चिदानन्दरूप ब्रह्ममात्र विषयक अज्ञान ही जगत् में (असत्य में) सत्यत्व की समानता का प्रतिबोधक है, अतएव तत्त्व का परिज्ञान ही आवरणरूप अज्ञानकपाट तथा विक्षेपरूप जगत्सत्यताभ्रान्ति कपाट का उद्घाटन है ॥४२॥ अज्ञान के कार्य के साथ अज्ञान का नाश होने पर चिन्मात्र शेष रहने से पृथ्वी आदि किसी का कहीं पर संभव नहीं है । जो द्रष्टा है अथवा दृश्य है, वह सब पूर्वोक्त परिशिष्ट चैतन्यमात्र विशुद्ध शिव ही है ॥४३॥ जैसे दर्पण में निमित्तभूत बाहरी बिम्ब से भीतर प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है वैसे ही निमित्तभूत प्रतिबिम्ब के बिना ही अपने आप चिदाकाश में प्रतिबिम्बत जगत् प्रतीत होता है ॥४४॥

दर्पण के दृष्टान्त से विवक्षित अंश को कहते हैं।

जैसे दर्पण के अन्दर दिख रहा भी बिम्ब वास्तव में कुछ नहीं है वैसे ही चिदाकाश में प्रतीत हो रहा भी विश्व परमार्थ दृष्टि में कुछ भी नहीं है ॥४५॥ जो वस्तु शास्त्रीय विचार से प्राप्त होती है जिसकी स्थिति प्रमाणरूप कसौटी से प्रमाणित है वही सत् है उससे अन्य तो प्रतिभासमात्र है, वह तीनों कालों में सत्ताशून्य है – न भूतकाल में था, न वर्तमान में है और न भविष्यत् में होगा भला वह सत् कैसे हो सकता है ? ॥४६॥

यदि जगत् असत् है तो वह व्यवहारार्थ क्रिया के योग्य कैसे है, इस शंकापर कहते हैं ।

कुछ भ्रमात्मक वस्तुएँ भी अर्थक्रियाकारी देखी जाती है, जैसे स्वप्न स्त्री असत्य होती हुई भी मनुष्यों की सत्य वीर्यविसर्जनरूप अर्थक्रिया करती ही है ॥४७॥

'अहम्' आदि जगत् की शोभा प्रतिभासिक ही है, अन्य प्रकार की नहीं है। जो जगत् का भान है वह आत्मस्वरूप चैतन्य का प्रकाश ही है अन्य नहीं है। उस भान का व्यावर्तक दृश्यरूप यदि भान से पृथक् माना जाय तो शून्य ही ठहरेगा यदि भानरूप माना जाय, तो भानका व्यावर्तक न होने से चिदाकाशरूप ही होगा, इस प्रकार विचार करने पर जगत् का रूप कुछ भी सिद्ध नहीं होता ऐसी परिस्थिति में कहाँ मैं हूँ, कहाँ विश्वशोभा है, कहाँ आप हैं और दृश्यदृष्टियाँ ही कौन हैं ?

हे श्रीरामचन्द्रजी, उदारमति आपकी, जो पूर्वोक्त विज्ञानदृष्टि से चिन्मात्र स्वरूप हैं, देह के विनाश से मरकर फिर अन्य देह की उत्पत्ति से उत्पत्ति है यानी मुक्ति नहीं है तो क्या हानि हुई ? क्योंकि दुःखगन्धविहीन निरतिशयआनन्दरूप चैतन्य का नाश और उत्पत्ति से तनिक भी स्पर्श नहीं है । यदि मरकर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, मुक्ति होती है तो भी सर्वप्रपंच का उपशम ही है । इसलिए उक्त दोनों ही पक्षों में तनिक भी दुःख की प्राप्ति नहीं है ॥४८,४९॥

तब मूर्ख को मरण और जन्म में क्यों कर दुःख प्राप्त होता है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसके प्रति उस दुःखप्राप्ति का मूर्ख को ही अनुभव होता है ऐसा कहते हैं ।

मूर्ख को जिस प्रकार का दुःख होता है उसे मूर्ख ही जानता है, वह हम लोगों की जानकारी के बाहर की बात है । देखिये न, जिसे मृगतृष्णारूपी नदी के जल में 'मैं मछली हूँ' यों अपनी मछलीरूपता का अनुभव होता है, वही तो उसकी (मृगतृष्णारूपी नदी की) चंचल लहरों का लहराना जानेगा, किन्तु जिसे मृगतृष्णा नदी की भ्रान्ति नहीं है, वह कैसे जानेगा ? ॥५०॥ तत्त्वज्ञ की दृष्टि से तो केवल चिदाकाश ही 'तुम' 'मैं' आदिरूप सम्पूर्ण जगत बनकर प्रकाशमान होता है। देखिये न, आत्मा ही डालियाँ, उनकी चोटियाँ, उनकी टहनियाँ, उनके पत्तों और फलों के रूप-धारण द्वारा संकल्पवृक्ष बनकर मनोराज्य में प्रकाशमान होता है ॥५१॥

निन्नानबेवाँ सर्ग समाप्त

सौवाँ सर्ग

देह को आत्मा माननेवालों के मत में आग्रह रखनेवालों की भी बुद्धि जैसे वास्तविक तत्त्व की ओर आकर्षित हो जाय वैसी युक्ति का प्रतिपादन।

पहले सृष्टिवादियों की उक्ति की सत्यता के वर्णन के सिलसिले में 'स्वाभावसिद्धमेवेदं युक्तिमित्येव तद्विदाम्' इससे चार्वाक की उक्ति को समुचित कहा, उक्त कथन उनके अभिमत सब आस्तिक जनों के विपक्षरूप देहात्मवाद के विषय में कैसे उचित है अथवा उनकी पुरुषार्थसिद्धि कैसे होती है, यह सब जानने के लिए इच्छुक श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, निम्ननिर्दिष्ट प्रश्न ध्यान देकर सुनने की कृपा कीजिये तदनन्तर उसका यथार्थ उत्तर देने का अनुग्रह कीजिये । जब तक जीयें, आराम से जीयें, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है ।

(जीते-जी अपनी मृत्यु का प्रत्यक्ष नहीं होता यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दूसरों की मृत्यु प्रतिदिन दिखती है अपनी मृत्यु का भी उसी तरह अनुमान हो सकता है । यदि कहिये चार्वाकों के मत में अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष के सिवा और कोई प्रमाण नहीं मानते । अच्छा, उनके मत में देहनाश ही मृत्यु है। पुनर्जन्म तो वे मानते नहीं अतः उनके मत में देह-नाश ही सकल

दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष ठहरा वह उनको वांछनीय ही है इस आशय से कहते हैं।)

सकल दुःखों की निवृत्ति को प्राप्त भस्मीभूत देह का पुनः आगमन कैसे हो सकता है ? ऐसा जिनका सिद्धान्त हो, इस संसार में उनकी दुःखशान्ति के लिए कैसी युक्ति है ? ॥१,२॥

संवित् को अपने निश्चय के अनुसार ही विवर्त का अनुमान होता है, ऐसा नियम है । उक्त नियमों में ही संवित् की देहात्मभाव में भी उपपत्ति होती है और मोक्ष में भी उपपत्ति होती है। इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उसका समर्थन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : संवित् जो जो निश्चय करती है अपने अन्दर ज्यों का त्यों वही अनुभव करती है, यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है ॥३॥ जैसे भूताकाश सर्वव्यापक और शान्त है वैसे ही चिदाकाश भी सर्वव्यापी और शान्त है । वह चिदाकाश ही विविध वादवाले पामर लोगों से कल्पित देहादि द्वैत और वेदान्त के मर्म को जाननेवाले विद्वानों के अनुभव से सिद्ध अद्वैत भी है, क्योंकि उससे अतिरिक्त वस्तु का अत्यन्त असंभव है ॥४॥

अन्य वस्तु के असंभव में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, सृष्टि के पूर्व यह सत् ही था) इत्यादि श्रुतियों से परिपोषित युक्ति कहते हैं।

सृष्टि की पूर्वावस्था में, जबकि अद्वितीय ब्रह्मरूपी महाप्रलय का ही बोलबाला था, अद्वितीय ब्रह्म के सिवा कोई पदार्थ था ही नहीं, उसका कोई भी कारण नहीं, जिसकी कि उसके पूर्व में होने की संभावना हो । इसलिए यह ब्रह्म ही जगत् के रूप से व्याप्त है ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि हम ब्रह्मरूपी महाप्रलय ही नहीं मानते, जैसे बीजांकुर आदि की परम्परा अनादि है वैसे ही पृथिवी आदि महाभूतों का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है, अतः इससे विलक्षण जगत् कभी रहा ही नहीं । इस तरह के पूर्वमीमांसक आदि कर्मकाण्डियों के पक्ष का खण्डन करते हैं ।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सब वेद जिस परम पद का प्रतिपादन करते हैं),'तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति' (उसीको ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध सकल वेद और शास्त्रों के प्रतिपाद्य महाप्रलयरूपब्रह्म को, जीवों की ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्ति को तथा मुक्ति के साधन तत्त्वज्ञान को जो नहीं मानते हैं, उनकी मूढता का क्या ठिकाना है ? मोक्षशास्त्र के अप्रामाणिक होने पर तुल्ययुक्ति से कर्म शास्त्र की अप्रमाणता का भी वारण नहीं हो सकता, अतः वे शास्त्रशून्य हैं । जब शास्त्रशून्य हो गये तो हमारी दृष्टि में वे मरे हुए से हैं अर्थात् तत्त्वज्ञान के उपदेश के अयोग्य हैं ॥६॥ जिन महापुरुषों का देह, इन्द्रिय आदि की सकल व्यवहारों में नियुक्ति करनेवाला प्रत्यगात्म चैतन्य या मन सकल शास्त्रों से अविरुद्ध सर्वं खल्विदं ब्रह्म (यह सब ब्रह्म ही है) इस प्रकार के ज्ञान से प्रचुर मात्रा में पूर्णकाम हो चुका हो, उन कृतार्थ पुरुषों के साथ भी उपदेश कथा

करना उचित नहीं है । केवल जिज्ञासु पुरुषों के लिए ही उपदेशवार्ता उचित है ॥७॥

प्रसंगतः प्राप्त विषय की समाप्ति कर प्रस्तुत विषय पर आते हैं ।

हृदय में जैसी संवित् निरवच्छिन्नरूप से सदा उदित होती है मनुष्य वैसा ही हो जाता है । देह हो चाहे न हो । भाव यह है कि चार्वाकों के संमत देहात्मभाव में भी वैसी दृढनिश्चयात्मक संवित् का उदय ही अन्वय और व्यतिरेक से हेतु है, देह आदि व्यभिचरित होने से हेतु नहीं है ॥८॥

इसी कारण यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्दघन है तथापि विरोधी दुःखित्वादिज्ञान की दृढ़ता से उसमें दुःखमयता सबको अनुभव से सिद्ध है, ऐसा कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, यदि संवित् के बोध से पुरुष दुःखी हुआ है, तो जब तक विरुद्ध दुःखित्व ज्ञान रहेगा तभी तक जीव दुःखमय रहेगा ॥९॥

यद्यपि जगत् पूर्वोक्त रीति से दुःखमय ही है तथापि यह निरतिशयानन्द चिदाकाश का स्फुरणमात्र ही है यों उसकी भावना करने से उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन होने पर भ्रान्ति से कल्पित दुःखरूपता तथा उसकी दर्शन, दृश्य, दर्शक आदि त्रिपुटी की शान्ति हो जाती है । देहात्मवादी भी यदि ऐसी भावना करें, तो उनकी भी मुक्ति हो सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का स्फुरणमात्र ही है ऐसी भावना की जाय तो पहले प्रसिद्ध दुःखादि का वेदन कैसे हो सकेगा ? भला कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाश से कैसे किसको दुःख का बोध होगा ? कोई द्वितीय हो और कोई दुःख का निमित्त हो तभी तो दुःख का संभव है । जब एकमात्र आनन्द घन चिदाकाश ही है तब दुःखबोध की क्या कथा है ? ॥१०॥

उक्त अर्थ में 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (तत्त्वज्ञानावस्था में अद्वैत को देख रहे पुरुष को कौन मोह और शोक) इस श्रुति को अर्थतः उदाहृत करते हैं ।

एक ब्रह्म ही है ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानवाले पुरुषों को किन्हीं सुख या दुःखों का ऐसे ही स्पर्श नहीं होता, जैसे कि आकाश को धूलियों का स्पर्श नहीं होता ॥११॥

अपने–अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार ही पदार्थ के अनुभव में संवित् की प्रमाणता और चित्तवृत्ति की सत्यता ठीक नहीं है, देहात्मभाव में पहली की (संवित् को) प्रमाणता नहीं है और ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्ति में दूसरी (चित्तवृत्ति की सत्यता) नहीं है इस आशय से कहते हैं ।

संवित् सत्य (प्रमा) है और चित्तवृत्ति सत्य (अबाधित) है ऐसा दोनों का नियम नहीं है। किन्तु निश्चय इस तरह के सत् और असत् अर्थ के अनुभव में कारण होता ही है, यह आबालवृद्ध प्रसिद्ध है। इसका कौन कैसे अपलाप कर सकता है ? भाव यह कि अनुभव विरुद्ध का आश्रय लेकर अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता॥१२॥

इसलिए सकलवादियों के अभिमत तत्–तत् वेषों को धारण करने में समर्थ संवित् ही आत्मा है, ऐसा सब वादियों को समझाकर सब कृतकृत्य (सफलमनोरथ) किये जा सकते हैं,

इस अभिप्राय से कहते हैं ।

चार्वाकों का अभिमत शरीर, सांख्यों का अभिमत पुरुष और मीमांसक आदि का अभिमत जीव या भोक्ता संवित् से पृथक् उपलब्ध नहीं होता, अतः सब वादियों के कल्पनास्थान देह आदि संवित् ही हैं । वह (संवित्) जैसा अनुभव करती है वैसा ही जगत् हो जाता है ॥१३॥ वह संवित् सत्य हो अथवा असत्य हो उसे केवल अपनी कल्पना द्वारा (पृथिवी आदि कारणों की अपेक्षा करके नहीं) ऐसे देह का अनुभव होता है जैसे स्वप्न में, पाताल में, आकाश में, जल में और स्वर्ग में केवल कल्पना से ही देह का अनुभव होता है ॥१४॥ संवित् चाहे सत्य हो, चाहे असत्य हो, संविद्मात्र ही आत्मा है । उक्त संवित्मात्र आत्मा जिस प्रकार के निश्चयवाला होता है वह सत्य उसकी क्रिया (व्यवहार क्रिया) में समर्थ होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥१५॥

जब संवित् ही सब वादियों के अभिमत आत्माादि के रूप से स्थित होती है तो ऐसी परिस्थिति में सत्य होने और उसके द्वारा कल्पित पदार्थों के तत्–तत् अभिमत अर्थक्रिया में समर्थ होने के कारण पूर्वोक्त सकलशास्त्रों का प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहा, यह कहते हैं ।

संविद्–मात्र आत्मा से ही सब शास्त्रों का प्रामाण्य अक्षुण्ण होता है और यह संविद्–अद्वैतात्मवाद सिद्धान्त ही सब वादियों का उपजीव्य होने और पुरुषार्थ हेतु होने से सब सिद्धान्तों का शिरोमणि सिद्धान्त है ॥१६॥

तो क्या संवित् ही तत्–तत् वादियों के अभिमत देहादि के आकार से तत्–तत् निश्चय के अनुसार परिणत होती है ? इस पर नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

संवित् में जो अबोधता यानी अविद्या है, वही तत्–तत् वादियों की जैसी संवित् होती है परिणाम द्वारा प्रवृत्ति आदि के समय वैसे ही बन जाती है । वही जब तत्त्वज्ञान रूपसे परिणाम होने पर निर्मल शुद्ध चिदाकार हो जाती है तब मोक्षफलभागिनी बन जाती है ॥१७॥ इसलिए पुण्य तीर्थ, पुण्य पर्व आदि देश काल में स्नान, दान आदि कर्मों से, रसायन, मन्त्र, औषधि आदि द्रव्यों से, कर्मशास्त्र द्वारा उपदिष्ट लोकैषणा, धनैषणा और पुत्रैषणा रूप भ्रान्तियों से वह अबोधता और उससे उत्पन्न विक्षेपसंवित् कभी भी नष्ट नहीं होती ॥१८॥

बोध होने पर जब अविद्या छिन्न–भिन्न हो चुकी पुनः उसके आविर्भाव में कोई कारण नहीं है और दूसरी बात यह भी है कि यदि उसका पुनः आविर्भाव माना जाय, तो मोक्ष कभी होगा ही नहीं, क्योंकि जब–जब ज्ञान द्वारा वह बाधित होगी, पुनः उसका आविर्भाव हो जायेगा, ऐसा कहते हैं ।

आत्यन्तिक बाध से क्षीण हुई अविद्या की पुनः प्राप्ति की आशंका भी नहीं है । यदि अविद्या एक बार बाधित होकर पुनः क्षणभर में आविर्भूत हो जायेगी, तो जीवका दुःख कब किससे शान्त होगा यानी कभी भी किसी से भी शान्त न हो सकेगा ॥१९॥ संवित् ही मनुष्यों का जीव (जीवात्मा) है उसकी जैसी दृढ़ भावना होती है वैसा ही पुरुष सुखी या दुःखी होगा, ऐसा निश्चय है ॥२०॥

प्रत्यगात्मरूप संवित् ही जब तत्त्वतः ज्ञात होती है तब अपने कार्यभूत बन्ध को दूर करती है, इसलिए मुमुक्षु लोगों की वही शरण है । उसके अभाव में सारा जगत् अन्धकारपूर्ण हो जायेगा । मोक्ष की आशा तो दुराशा ही हो जायेगी, ऐसा कहते हैं ।

संवित् का यदि अस्तित्व है तो ज्ञानियों के संसारनाश में वही शरण है, यदि वह नहीं है, तो शिला के समान जड़ अन्धकार ही अन्धकार शेष रह जाता है ॥२१॥

कैसे अन्धकार ही शेष रह जाता है ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उस पर कहते हैं ।

चूँकि स्वप्रकाशरूप उसीसे प्रत्यगात्मसंवित्रूप जीव को निद्रा द्वारा अपनी जड़ता के सदृश अन्धकारतुल्य अज्ञान से यह प्रपंच प्राप्त हुआ है, यदि संवित् का अपलाप किया जाय, तो असाक्षिक अन्धकार ही शेष रह जायेगा ॥२२॥

कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था यानी जगत् का अभाव नहीं था ऐसा मानकर जो महाप्रलय नहीं मानते वे शास्त्रशून्य मुर्दे ही हैं, यों आपने पूर्व में जिनकी निन्दा की है, उनके मत के अनुसार दृढ़ निश्चयवाले लोगों की तत्त्वज्ञान प्राप्ति में मुक्ति है या नहीं इस विषय में सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, इस सृष्टि का पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि आठ दिशाओं में उर्ध्व दिशा में (ऊपर) और नीचे भी अन्त नहीं है, न यह आगे उत्पन्न होनेवाली ही है और न इसका नाश ही होता है इस तरह जगत् के प्राग् अभाव, प्रध्वंसअभाव और अत्यन्तअभाव-इन तीनों अभावों को तिलांजलि दे चुके, यह सब विज्ञानघन ही है, यों इसे परमार्थतत्त्वरूप न देख रहे, जैसा जगत् दीख रहा है, वही सत्य है यों समझ रहे और जगत् का विनाश न देख रहे जिस पुरुष ने जगत् की उक्तरीति से सत्यता की भावना की, उसके संसाररूपी दुःख की निवृत्ति में कैसी युक्ति है ? हे ब्रह्मन्, बोध की वृद्धि के लिए मेरे इस सन्देह को पुनः निवृत्त करने की कृपा कीजिये ॥२३-२५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, यहाँपर एक तो पूर्वोक्त ही (शास्त्रशून्य वे हम तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में मृत से ही हैं, उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिये यही) उत्तर उचित है अथवा पहले पूर्ववादी के प्रति जो 'यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम्' इत्यादि उत्तर कहा है, वही उचित है । ऐसी परिस्थिति में चैतन्य से जब तक संवित् का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक तो उसका वैसा निश्चय हो सकना संभव नहीं है, अतः उसे भी थोड़ा बहुत चैतन्य का बोध कराकर पूर्व निश्चय उसीका विवर्त है यों व्युत्पत्ति कराकर उसके अनुमान में अखण्ड आनन्दघन उतारा जा सकता है ॥२६॥ हे पुरुषश्रेष्ठ, इस प्रकार के आशावाले जिस पुरुष का आपने प्रतिपादन किया है क्या वह देह से अतिरिक्त चेतन को आत्मा माननेवाला है, या नित्य आतिवाहिक सूक्ष्म देह को आत्मा माननेवाला है या शुद्ध संवित् को आत्मा माननेवाला है या अज्ञान से आवृत संवित् को आत्मा माननेवाला है या संवित् का अपलाप माननेवाला है ? यदि वह चेतनामात्र का

(चिदाभासरूप का) अस्तित्व स्वीकार करता है तो उसे क्रम से आत्मतत्त्व का अनुभव होता ही है, उसके संसार से उद्धार में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि देहादि आकारवाली उपाधि का विनाश होने से वह परमात्मा के साथ मिल जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है । यदि उसकी विनाशी अन्नमय देह में आत्मबुद्धि हो, तो उसे चारों ओर से विनाश की शंका से दुःख होगा ही । उसको दुःखप्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार क्रमशः उपदेश देने पर–ज्ञानचर्चा सुनाने पर–वह भी आत्मतत्त्व को प्राप्त हो ही जायेगा ॥२७,२८॥

तीसरे पक्ष में कहते हैं ।

अवयवघटित स्थूल शरीर को आत्मा समझनेवाले ने स्थूल देह के अवश्यम्भावी विनाश का विचार नहीं किया । जो वस्तु सावयव होती है, उसका विनाश तो किसी के रोके रोका नहीं जा सकता है–अवश्यम्भावी है । इससे वह भी स्थूल देह से अतिरिक्त आत्मा को मानता है, यह सिद्ध होता है ॥२९॥

चतुर्थ पक्ष में कहते हैं ।

शुद्धसंवित् को आत्मा माननेवाला जीवन्मुक्त सदा सब जगह लीला से जगत् का दर्शन करता हुआ भी मृत्यु के बाद विदेहमात्र से कैवल्य को प्राप्त होकर फिर संसार को नहीं जानता है– नहीं देखता है । जो संवित् तत्त्वज्ञान से शुद्ध नहीं है, वह संसार की प्राप्ति के बीज का नाश न होने से संसार के बिना नहीं रहती, अवश्य संसार में आती है । उसका भी किसी न किसी जन्म में ज्ञान का उदय होने से संसार से निस्तार हो जाता है ॥३०॥

छठे पक्ष में कहते हैं ।

अथवा यदि 'संवित्ति नहीं है' इस प्रकार का निश्चयवाला (संवित् का अपलाप करनेवाला) हो तो इस प्रकार के ज्ञान से वह चिरकाल तक पत्थर के समान जड़ होता है ॥३१॥

उसने उस अवस्था में क्या अथवा कैसा देखा ? इस पर कहते हैं ।

मरणपर्यन्त दृढीकृत अपने उक्त ज्ञान के अनुसार ही देहपात के बाद विशेष विज्ञान जब नष्ट हो गया तब गाढ़ सुषुप्ति के सदृश मृत्यु को ही (नैयायिकों के मोक्ष के तुल्य) दुःखशून्य होने से उसने परम श्रेय समझा, किन्तु निरतिशय आनन्द के अनुभव से उस मूर्ख ने श्रेय का दर्शन नहीं किया ॥३२॥

जो शून्यवादी हैं, जिनका आत्मा के अभाव में दृढ़ निश्चय है, वे जब मरते हैं तब किस गति को जाते हैं ? इस पर कहते हैं ।

जिनके मत में शुद्ध संवित् के अस्तित्व का संभव नहीं है, वे जब शरीररहित होते हैं यानी मरते हैं तब जड़ को तत्त्व माननेवाले वे जड़ होकर दुर्भेद्य अन्धकार से पूर्ण होते हैं । इस विषय में श्रुति भी कहती है – 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के

चात्महनो जनाः ।' (जो अज्ञानी लोग हैं वे लोग मरकर गाढ़ अन्धकार से आच्छन्न असुर्य नामक लोकों में जाते हैं) ॥३३॥

जो विज्ञानवादी लोग क्षणिक विज्ञानमय जगत् स्वप्ननगर के तुल्य है, यह मानते हैं, उनको भी व्यवहारसिद्धि पूर्वोक्त मतवाले के समान है, ऐसा कहते हैं।

क्षणिक और विकार चित् को आत्मा माननेवाले जो विज्ञानवादी लोग सम्पूर्ण जगत् को स्वप्ननगर के समान देखते हैं, उनका यह सारा का सारा जगज्जाल प्रवृत्त ही रहता है, निवृत्त नहीं होता ॥३४॥

जो लोग जगत् को स्थिर मानते हैं और जो लोग क्षणिक मानते हैं, उन दोनों के ही सुख-दुःखभोगपर्यन्त सभी व्यवहार समान है, यह कहते हैं।

स्थिरता और क्षणिकता से जगद्व्यवहार वैचित्र्यबुद्धि में क्या अन्तर होगा ? भूत (पदार्थ) चाहे स्थिर हों चाहे अस्थिर (क्षणिक) हों, सुख और दुःख तो समान ही होंगे ॥३५॥

तत्त्वज्ञानियों का भूमि आदि भूतों की क्षणिकता और स्थिरता में कोई आग्रह नहीं है । अध्यस्त पदार्थ केवल अधिष्ठान ब्रह्म से ही सारवान् है । इसलिए शुक्ति और रजत के मूल्य के विचार की भाँति उसकी स्थिरता और अस्थिरता का विचार व्यर्थ है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

पृथिवी आदि महाभूत स्थिर हों चाहे अस्थिर हों ये केवल चिद्भानरूप ही हैं । जब तक अज्ञान का साम्राज्य है, तभी तक इनकी प्रतीति होती है ॥३६॥

संवित् क्षणिक नहीं है, क्योंकि वह अपने अनस्तित्वरूप नाश और जड़ता को व्याप्त नहीं कर सकती, संवित् की व्याप्ति के बिना उन दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः संवित् के क्षणिकत्व का कथन संभव नहीं है, यह कहते हैं।

जिन्होंने कालतः असत्ता क्षणिकता और देशतः असत्ता जड़ता दोनों का स्पर्श किये बिना ही नष्ट हुई क्षणिकत्वाभिमतसंवित् से संवित् की जड़ता और क्षणिकता का निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है, इस प्रकार के मूर्खों से संभाषण तक नहीं करना चाहिये॥३७॥

इसलिए कूटस्थ चित् से विवर्त रूप से चिद् से व्याप्त देहपर्यन्त जड़प्रपंच की उत्पत्ति माननेवाले धन्य हैं, क्योंकि उनके मत में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' वाचारम्भणन्याय से विकार को असत्य समझने पर चित् ही अवशिष्ट रहता है । अचिद् देह आदि से चित् की उत्पत्ति माननेवाले चार्वाक, नैयायिक आदि मूर्ख है । चित् के विनाश से जड़ का परिशेष न तो पुरुषार्थ है और न पुरुषार्थ का साधन ही है, इस आशय से कहते हैं।

जिनके मत में चित् से शरीरों की उत्पत्ति है, वे पुरुष श्रेष्ठ वन्दनीय हैं । जिनके मत में शरीर से चित् की उत्पत्ति होती है, उन पुरुषाधमों से भाषण करना भी ठीक नहीं है ॥३८॥

जीवसमष्टिरूप एक हिरण्यगर्भ ही नाना जीवों के रूप से ऊपर नीचे लोकों में गमन आदि द्वारा

संसारी बनता है, यह कल्पना भी समुचित है, ऐसा कहते हैं ।

जैसे मटकों में भरी जा रही जलराशि ऊपर, नीचे और तिरछे जाती है वैसे ही चिद्रूप जीवसमष्टि हिरण्यगर्भ ही मच्छरों के समूह की तरह तिरछे, ऊपर और नीचे के लोकों में गमन, आगमन द्वारा संसार को प्राप्त होता है ॥३९॥

हिरण्यगर्भ की जो कर्तृरूप नाना जीवों की समष्टिरूपता है, वह भी हिरण्यगर्भचित् की स्वकल्पना के आग्रहवश ही है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं ।

जो हिरण्यगर्भरूप चिदाभास बीजौघभाव से अपनी समष्टिता की भावना कर उनकी वासना के अनुसार ही सृष्टि के आदि में बहुत प्रकार से भिन्न व्यष्टिरूप कर्ता की अपने अन्तःकरण में भावना करता है, वह उक्त भावना में आसक्त होकर उसी भावना से नाना कर्तृरूप का अन्तःकरण में स्वयं ही अनुभव करता है और जैसा अनुभव करता है वैसे ही संसार को प्राप्त होता है ॥४०॥

इस प्रकार से भी वही सिद्ध हुआ जिसकी हमने पहले प्रतिज्ञा की थी, ऐसा कहते हैं ।

जो जिस पदार्थ की जिस प्रकार भावना करता है, चिद्रूप वह जीव शीघ्र ही उसको प्राप्त होता है, यह बात बालकों से लेकर बड़े-बूढ़ों तक सब पर प्रसिद्ध है ॥४१॥

इसलिए उन जीवचैतन्यों की विचित्र-विचित्र वासनाओं के अनुरूप तत्-तत् सृष्टि के चेतनों की विचित्रता से अनन्त सृष्टिवैचित्र्य है, यह कहते हैं ।

जैसे आकाश में धुएँ की विचित्र भ्रमियाँ (आवर्त) होती है और जैसे महासागर में जलराशि की विचित्र भ्रमियाँ होती हैं वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश में जगत्सृष्टि की विचित्र भ्रमियाँ होती हैं ॥४२॥ जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही मनुष्य के प्रति नगरी का रूप धारण करता है वैसे ही आदि सृष्टि से लेकर चिदाकाश ही जगत् का रूप धारण कर स्थित है ॥४३॥

सहकारी कारणों के बिना ही सृष्टि के आदि में केवल प्रतिभामात्र से सिद्ध होने के कारण भी जगत् की स्वप्न समता ही है, ऐसा कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में स्वप्ननगर आदि की उत्पत्ति के लिए सहकारी कारण नहीं है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में जगत्स्थिति के सहकारी कारण पृथिवी आदि महाभूत नहीं हैं ॥४४॥ स्वप्ननगर में नगर के अवयवरूप महल, घर आदि के उत्तरोत्तर भूमिका-भेद जो अर्धविकासवश अपूर्ण किये गये थे, वे ही जगत्रूप स्वप्ननगर में पूर्ण विकास द्वारा पुष्टता को प्राप्त हुए हैं ॥४५॥ द्वैत और ऐक्य से विहीन ये सकल प्रजाजन चिदाकाशरूप ही हैं । चिदाकाश में दूसरी रंजना (राग-द्वैतलेश) क्या हो सकता है। जो यहाँपर द्वैत-सा मालूम पड़ता है वह सब चिदाकाश ही है ॥४६॥ त्रिविध ताप की शान्ति करने के कारण शीतल, आह्लादजनक चित्रूप चाँदनी चारों ओर चेतनारूपी प्रकाश (पदार्थप्रतीतिरूपी प्रकाश) बिखेर रही है । उक्त चेतनारूपी प्रकाश का ही पदार्थरूप से स्फुरण यह जगत् है ॥४७॥ सृष्टि के पूर्व और सृष्टि के बाद (प्रलय

में) सृष्टिरहित स्वभाववाले चिन्मय आकाश में केवल आज ही (वर्तमान क्षण में ही) सृष्टि का दर्शन प्रसिद्ध है । और वह आकाशरूप ब्रह्म ही है । वह आत्मचित् के परिच्छिन्नरूप से उन्मेष होने पर पलक भर में स्वप्न के तुल्य उदित होता है और आत्मचित् के अपरिच्छिन्नरूप से निमेष होने पर अपने आप स्वप्न की भाँति अस्त हो जाता है ॥४८॥

चिति यदि अपनी सत्ता के बल से सत् बना कर जगत् को देखती है तब तो कुछ भी असत् नहीं कहा जा सकता है, ऐसा कहते हैं ।

श्रुतिप्रसिद्ध सत् वस्तु (चिति) अतः जिस-जिस वस्तु को सृष्टि के आदि में जैसा-जैसा जानती है, उसका आज भी वैसा ही अनुभव करती है, इसलिये सारा का सारा जगत् चित्मात्र उसमें नहीं है क्या ? जो कि वह असत्य होगा ? ॥४९॥ शरत् ऋतु के समान निर्मल ज्ञानवाले शान्तचित्त तथा परम तत्त्व का साक्षात्कार कर चुके पुरुष चित् से पृथक्रूप से असत् ही हैं और चिद्रूप से तो सत् ही हैं ॥५०॥

उनकी उस प्रकार की स्थिति की लक्षण द्वारा पहचान कराते हैं ।

मान और मोह से विहीन, संगरूपी दोषपर विजय पा चुके (स्त्री, पुत्र आदि की आसक्ति से रहित), लोकप्रवाहवश आत्मकर्तव्य करनेवाले और दोषलेशरहित महापुरुष यन्त्रमय (पुरुषप्रतिमा) के समान हैं, वे औरों की कार्यव्यवहारदृष्टि में स्थित होते हैं ॥५१॥

सौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ एकवाँ सर्ग

सर्वत्र सदा निर्मल संवित्‌रूपी एक आत्मा का साक्षात्कार कर रहे पुरुष की,
भय के हेतुओं की प्राप्ति न होने से, निर्भयस्थिति का वर्णन।

केवल चिन्मात्र ही तत्त्व है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर सभी वादियों की अभय पद में जिस तरह प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय, वैसा वर्णन करने के लिए भूमिका रचते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्र ही पुरुष है । वही नाना वादियों द्वारा परिकल्पित स्थायी तथा क्षणिक आदिरूप से एवं जन्म, मरण, भय, शोक आदि के रूपसे अवस्थित है ॥१॥

उसीका उपपादन करते हुए उसका फल कहते हैं ।

और वह चिन्मात्र निर्मल आकाश ही है । द्रष्टा और दृश्य, ये दोनों उसके विवर्तभूत हैं। चिन्मात्र ही जब यह जगत् है, तब हे श्रीरामचन्द्रजी इसमें हेय और उपादेय बुद्धि कहाँ से हो सकती है ? ॥२॥

हेय और उपादेय के अभाव में राग और द्वेष की प्रसिद्धि नहीं होती-यह विज्ञानैकस्कन्धवादी

बौद्ध को भी सम्मत है, किन्तु क्षणिक विज्ञान असार है, इसलिए उसका मत उपेक्षणीय है, यह कहते हैं ।

बृहस्पति द्वारा (ॐ) प्रणीत बुद्धशास्त्र के अनुगामी जिस क्षणिकवादी बौद्ध के मत से क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त जगत् नहीं है, उसके मत में भी विषयों का सर्वथा अभाव होने के कारण ही राग–द्वेष कहाँ से हो सकते हैं, उनकी प्राप्ति ही नहीं है । किन्तु संवित् से अन्य उसके मत में नित्य पुरुषार्थरूप सार ही क्या है कि जिसकी संभावना से वह उस संवित् की नित्यता स्वीकार नहीं करता (🔔) ॥३॥

कूटस्थ संवित् का ही विवर्तरूप स्वप्न जगत् है, इस हमारे सिद्धान्त में तो राग–द्वेष की किसी तरह प्राप्ति ही नहीं, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, हम वेदान्तियों के मत में तो यह जगत् नामका स्वप्न संविदाकाशमय ही है, इसमें इष्ट और अनिष्ट की दृष्टियाँ (यह इष्ट है, यह अनिष्ट है इस प्रकार की प्रतीतियाँ) तथा तन्मूलक राग और द्वेष किस आकार के होंगे, यह कहिये ॥४॥

अथवा यह हेय है और यह उपादेय है यों विकल्पाध्यास भले ही रहे, तो भी संविदाकाश में कोई अन्तर नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

यह हेय है अथवा यह उपादेय है, यह विकल्पाध्यास भी निर्मल संविदाकाशरूप ही है । उक्त निर्मल संविदाकाश भी निर्मल आत्मा में (संविदाकाश में) ही अवभासित हो रहा है, अतः यहाँ पर इष्ट या यह अनिष्ट है यों दो तरह की दृष्टि कैसी ? ॥५॥

संसार के सभी पदार्थ एकमात्र अविनाशी संविद्रूप ही हैं, इसलिए उनके जन्म, मरण आदि की भी संभावना नहीं हो सकती, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, नर, अमर (देव), नाग, स्थावर, तथा जंगम–ये सबके सब संविद्रूप ही हैं। भाव, अभाव (📖) आदि भी इसी संविद्रूप सागर की तरंग, भ्रमि आदि वृत्तियाँ हैं ॥६॥ मैं संविदाकाशरूप ही हूँ, आप भी संविदाकाशरूप ही हैं तथा हम दोनों के अतिरिक्त ये जितने जीव हैं, हे श्रीरामचन्द्रजी, वे भी सब संविदाकाशरूप ही हैं । हम लोग कभी मरते नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । बतलाइये तो सही संवित् क्या आजतक कभी मरी है ? ॥७॥

सभी संविद्रूप हैं जब यह एक निश्चित सिद्धांत है तो संवित् से भिन्न संवेद्य बचता ही क्या

(ॐ) बृहस्पति ने रजिपुत्रों तथा असुरों को विमोहित करने के लिए बुद्धशास्त्र की रचना की थी, यह मत्स्यपुराण आदि में प्रसिद्ध है ।

(🔔) विज्ञान से अतिरिक्त जगत् नहीं है, यह तो वह भी मानता है, लेकिन विज्ञान को वह नित्य नहीं मानता, क्षणिक मानता है, सिर्फ इसी एक उसके क्षणिक अंश में हमें वाद है ।

(📖) जन्म, मरण आदि ।

है ? अपने में ही स्वसंवेद्यता की कल्पना तो अपने कंधेपर अपने को चढ़ाने की कल्पना के जैसी ही है, यह कहते हैं।

हे विशालनयन श्रीरामचन्द्रजी, संवित् का कोई संवेद्य नहीं है । यदि स्वयं ही यह संवित् संवेद्यता को प्राप्त हो तो चिद्रूप इससे अन्य संवेद्यतालक्षण क्रिया-कर्म भेदरूप द्वित्व अथवा उससे व्यावृत्त एकत्व-ये दोनों कहाँ रहे ? ॥८॥ कहिये, उस संवित् के अतिरिक्त नित्य सद्वस्तु क्या है ? और आप यह भी कहिये कि यदि वह मरती है, तो फिर आज ये हम लोग जी कैसे रहे हैं ? ॥९॥

इन सब बातों का निचोड़ यह निकला कि संविदाकाश ही सभी वादियों के अपने-अपने अभिमत पदार्थों के आकार से सर्वत्र प्रतीत होता है । उसके बिना अन्य कोई गति नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, सौगत आदि जो वादी हैं तथा लोकायतिक (चार्वाक) आदि जो वादी हैं, वे सबके सब संविदाकाश के सिवाय जो पदार्थ मानते हैं, कहिये वह क्या है ? ॥१०॥

ब्रह्मवादी को आगे कर, उसका सर्वप्रथम नाम लेकर उक्त अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संविदाकाश को ही कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई विज्ञान कहते हैं कोई शून्य कहते हैं ॥११॥ कोई (१) मदिरा मद के तुल्य (卐) (देहाकार में परिणत भूतधर्मभूत), कोई (२) पुरुष, कोई (३) चिदाकाश तथा कोई (४) शिव एवं आत्मा कहते हैं ॥१२॥

इस तरह अनेक वादियों द्वारा अनेक प्रकार की कल्पना करने पर भी चिति के स्वरूप के विषय में किसी तरह क्षति नहीं होती, क्योंकि यह चिति समस्त विकल्पों की साक्षी होने से स्वयं निर्विकल्पस्वरूप है, यह कहते हैं ।

इस तरह इसके स्वरूप के विषय में अनेक तरह की कल्पना होने पर भी यह चिन्मात्र स्वरूप वाली चिति शक्ति कहीं अन्यरूपता को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इस तरह अनेक प्रकार से विकल्पित यह अपने आत्मा को स्वयं तद्रूप ही जानती है, अन्यरूप नहीं ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे सारे अंग चूर्ण-चूर्ण हो जाय, या सुमेरु पर्वत के सदृश विशाल हो जाय, इससे चिन्मात्र शरीरवाले मेरी क्या क्षति हुई और क्या वृद्धि हुई ? ॥१४॥ हम लोगों के पितामह आदि के शरीर मर गये, किन्तु उनकी चिति तो नहीं मरी। यदि वह भी मर जाती, तो फिर मृत आत्मावाले उनका पुनर्जन्म ही न होता और तुल्यन्याय से हम लोगों का भी पुनर्जन्म न हुआ होता ॥१५॥

(卐) जैसे अन्नादि विविध वस्तुओं का संमिश्रण ही मदरूप में परिणत हो जाता है वैसे ही देहाकार में परिणत पृथिवी आदि महाभूतों का धर्म ही चेतन है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह चार्वाक का मत है । (१) देहात्मवादी चार्वाक (२) सांख्य (३) योगी (४) शैव लोग इसे शिव, ईश्वर, आत्मा, अणु और जीव कहते हैं ।

यह संविदाकाश अक्षय है । न तो यह कभी जन्म लेता है और न कभी मरता ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आकाश का नाश क्या होगा अथवा कैसे होगा, यह कहिये ॥१६॥ इस तरह संविद् के नाश का संभव न होने से जगद्रूप स्फुरणवाला उदय और अस्त से रहित अविनाशी चिदाकाश अपनी आत्मा में ही स्थित है ॥१७॥ चिदाकाशरूपी स्फटिक–पर्वत अपने अन्दर स्वयं जगत्प्रकाश को धारण करता हुआ स्वतत्त्वसाक्षात्काररूपी अग्नि से उसका दाह करके स्वच्छ आत्मस्वरूप में अवस्थित रहता है। यह आदि, अन्त तथा मध्य से शून्य है (☙) ॥१८॥

ज्यों–ज्यों ज्ञान प्रबल होता जाता है त्यों–त्यों अज्ञानजनित यह जगत् भी नष्ट होता जाता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं।

जैसे अन्धकार द्वारा रात में बनाया गया कुछ एक तरह का मेघसंघात जगत का आवरण, जो रात खुलते समय दिखाई देता है, क्रमशः बिलकुल नष्ट हो जाता है यानी ज्यों ज्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है त्यों त्यों नष्ट होता हुआ वह कुछ देर के बाद पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अज्ञानरूपी अन्धकार द्वारा संपादित यह विश्व भी ज्यों–ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों–त्यों नष्ट होता हुआ ज्ञान का प्राबल्य होने पर अन्त में बिलकुल नष्ट होकर स्वरूप में प्राप्त हो जाता है ॥१९॥ जैसे सागर स्वयं ही अपने स्वरूपभूत जलप्रवाह, तरंग आदि में आवर्त, फेन, बुद्बुद आदि रूप अंग धारण करता रहता है वैसे ही चिदाकाश भी अपने स्वरूपमें ही जगद्रूपी अंग धारण करता हुआ स्थित है ॥२०॥ चिन्मात्र ही पुरुष है, वह आकाशवत् नित्य है, कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए मैं नष्ट होता हूँ इस तरह जो शोक करना है, वह सर्वथा व्यर्थ है ॥२१॥

जीर्ण शरीर के त्याग से अत्यन्त नूतन शरीर की प्राप्ति में निमित्तभूत मृत्यु के उपस्थित होने पर हर्ष मनाना ही उचित है, शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं।

जीर्ण शरीरत्याग से अन्य नूतन शरीर की प्राप्ति होने पर तो एक महान् नवीन उत्सव ही मनाना चाहिये। अरे मूढ़ पुरुषों, हर्षरूप मरण के उपस्थित होने पर तुम लोग विषाद क्यों करते हो ? ॥२२॥

पुनर्जन्म कदापि नहीं होता, यदि यही मत तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है, तो भी तुम्हें विषाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एकमात्र मृत्यु से ही सर्वविध अनर्थों का निवारण हो जाता है, यह कहते हैं।

मृत प्राणी पुनः उत्पन्न नहीं होता, यदि यही तुम्हारा निश्चित मत है, तो इसमें भी वह महान् पुरुषार्थउत्कर्ष ही है, क्योंकि उत्पत्ति और नाश तथा ग्रहण और त्याग, इत्यादि सभी ज्वर एकमात्र

(☙) जैसे स्वच्छ स्फटिक–पर्वत अपने भीतर प्रविष्ट प्रतिबिम्बवन को पहले धारण करता हुआ कदाचित् प्रतिबिम्ब अग्निभाव को प्राप्त हुए अपने ही द्वारा उस वन को जलाकर स्वरूपमात्र में अवस्थित रहता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये, यह आशय है ।

उस मरण से ही शान्ति को प्राप्त हो गये ॥२३॥

इस प्रकार जब जन्म और मरण के रहते भी दुःख की प्राप्ति नहीं है, तो फिर इनकी अभावदशा में भला दुःख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इस आशय से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि जन्म नहीं है और मरण नहीं है, अतः सुख नहीं है, और दुःख भी नहीं है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही इन सबके रूपसे स्फुरित हो रहा है ॥२४॥

मृत प्राणी को पुनः देह का लाभ होता है या नहीं, यह सन्देह बना रहने से मृत्यु से भय माननेवाले के प्रति पूर्वोक्त अर्थ को ही पुनः उक्तिवैचित्र्य से कहते हैं ।

यदि मृत प्राणी को पुनः देह का लाभ होता है, तो यह नूतन महोत्सव ही हुआ, क्योंकि बुढ़ापा तथा नानाविध रोगों से ग्रस्त कारागृह के सदृश पूर्व शरीर का नाश ही तो मृत्यु है और वह मृत्यु परम सुखमय है ॥२५॥

मृत्यु के बाद कुकर्मियों को नरक आदि के श्रवण से यदि भय होता है, तो फिर जीवित प्राणियों को भी, जो चोरी आदि कुत्सित कर्म करनेवाले हैं, राजदण्ड का भय बना रहता है तथा 'अत्युत्कट पाप कर्मों का फल प्राणी को इसी लोक में जीते जी भोगना पड़ता है,' यों पाप कर्मों के फलश्रवण से यहाँ भी उन्हें भय होता ही है ॥२६॥

इसलिए समान भय होने से आप कुकुर्म ही न करें, यह कहते हैं ।

कुकर्मों से जो भय है, वह तो इस लोक में तथा परलोक में भी समान ही है, इसलिए दोनों लोकों की उत्तम फल–प्राप्ति के लिए कुकुर्म ही नहीं करने चाहिये ॥२७॥ मैं मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, यही बराबर कहा करते हैं, मरने के बाद भी मैं चिद्रूप से सदा स्थित रहूँगा, रहूँगा, रहूँगा, ऐसा विचार नहीं करते ॥२८॥

परमार्थ दृष्टि से तो जन्म और मरण की प्राप्ति नहीं है, यह कहते हैं।

विचार कर देखिये न, वस्तुतः जन्म और मरण कहाँ है ? उत्पत्ति और विनाश की भूमियाँ कहाँ हैं ? यह सब सर्वात्मक चिदाकाश ही चिदाकाश में विवर्तभाव को प्राप्त हो रहा है ॥२९॥

ज्ञानपरिपूर्ण महात्माओं का इच्छाशून्य व्यवहार होने से उन्हें कदापि दुःख प्राप्त नहीं होता, यह कहते हैं।

आप एकमात्र संविदाकाशरूप ही हैं, इसलिए ममता छोड़कर आप खूब खाइये, पीजिये। आप सांसारिक सब व्यवहार करते चलिये । आप तो आकाशकोश के सदृश निर्मल हैं । भला आपमें इच्छा का उदय कहाँ से हो सकता है ? ॥३०॥ अपने प्रवाह–बल से प्राप्त प्रयत्न से तथा देश और काल के वश से प्राप्त हुए शब्दादि विषयों, का और उनमें भी जो पावन से भी अत्यन्त पावन है, उनका यानी जो मन को मलिन बनाने तथा उसके विक्षेप में हेतु नहीं हैं उनका भव्यात्मा पुरुष

निर्भय होकर उपभोग करता है ॥३१॥

बीच–बीच में यानी देश में जब किसी तरह का उपद्रव आकर खड़ा हो जाता है या दुर्भिक्ष पड़ जाता है तब भी ज्ञानी पुरुष को दुःख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उस समय वह कहीं एकान्त पर्वत की गुफा में समाधिसुख का अनुभव करके उस दुःखग्रस्त काल की अवहेलना कर देता है, यह कहते हैं।

बीच–बीच में आ टपके देशकाल के वश उदित हुए नानाप्रकार के दोषों का अनादर करके उनकी अवहेलना करता हुआ कहीं एकान्त पर्वत की गुफा में निर्विकल्प समाधि में सुप्तबुद्धि पुरुष स्थित रहता है ॥३२॥ निर्विकल्प समाधि में निमग्नबुद्धि पुरुष न तो मृत्यु से दुःख को प्राप्त होता है और न जीवन से सुख को ही प्राप्त होता है । वह किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं करता और न किसी से द्वेष ही करता है । वह वासनाशून्य होकर समाधि में स्थित रहता है ॥३३॥

इस सर्ग में कही गई बातों का संक्षिप्तरूप से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन–मरण तथा जन्म को जीर्ण तृण समझता हुआ इच्छाशून्य तथा वासना से रहित जीवन्मुक्त पुरुष विदितवेद्य होने पर भी अतिमूढ की तरह भयशून्य हो इस संसार में ऐसे निवास करता है, जैसे अचल ॥३४॥

एक सौ एकवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दोवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञानी की लक्षणावलिका, जिसके दृढ़ अभ्यास से बोध दृढ़ हो जाय, पुनः वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, आदि और अन्त से शून्य परम तत्त्व ब्रह्म वस्तु का भलीभाँति ज्ञान हो जाने पर उत्तम पुरुष किन–किन लक्षणों से विशिष्ट (युक्त) हो जाता है, यह कृपा कर कहिये ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञेय वस्तु का जिसे भलीभाँति परिज्ञान हो चुका है ऐसा जीवन्मुक्त नरोत्तम कैसा होता है और जीवन–पर्यन्त वह किस तरह के स्वभाव से तथा किस आचार से युक्त होकर अवस्थित रहता है, यह (मैं आपसे कहता हूँ) आप सुनिये ॥२॥

उन लक्षणों में स्वभावभूत आभ्यन्तर लक्षणों को पहले कहने के लिये उपक्रम करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जंगल के बीच में रहते हुए भी उस जीवन्मुक्त पुरुषश्रेष्ठ के पत्थर भी मित्र, वन के वृक्ष भी बन्धु तथा मृगों के बच्चे ही स्वजन बन जाते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि मित्र तथा पत्थर आदि में संयोग तथा वियोग होने पर भी उसकी स्थिति एक–सी बनी रहती है–मित्र आदि के संयोग और वियोग में उसे हर्ष और दुःख नहीं होता ॥३॥ महान् राज्य में स्थित रहने पर भी उस पुरुष के लिए मनुष्यों से ठसाठस भरा स्थान भी बिल्कुल शून्य है, उस महात्मा के लिए आपत्तियाँ भी (धन तथा बन्धु आदि का नाश भी) सम्पत्तिरूप हैं । वध,

बन्धन तथा परवशता आदि नाना प्रकार के दुःख ही उसके लिए महान् उत्सव के तुल्य रहते हैं यानी उन दुःखों को वह जीवन्मुक्त महात्मा महान् उत्सव के समान मानता है ॥४॥ उसके लिए असमाधि भी समाधि है, दुःख को ही वह महान् सुख समझता है, उसका वाचिक व्यवहार होनेपर भी वह मौन है । यद्यपि उसके सभी कर्म होते ही हैं, फिर भी उसके वे सब कर्म अकर्म ही है ॥५॥ वह जाग्रदवस्था में स्थित रहने पर भी सुषुप्त सदृश निर्विकल्पात्मा में स्थित रहता है । जीवित रहता हुआ भी अशरीरात्मभाव में स्थित होने से मृत प्राणी के तुल्य है । समस्त आचार भी वह करता है, फिर भी अकर्ता आत्मा में प्रतिष्ठित होने से कुछ नहीं करता ॥६॥ उसकी विषयसुखों में एकमात्र आत्मसुख की दृष्टि रहती है, इसलिए वह रसिक है, किन्तु विषयदृष्टि से तो वह अत्यन्त विरक्त है । चूँकि किसी व्यक्तिविशेष में वह स्वीयताबुद्धि नहीं रखता, इसलिए उसमें करुणा तो है ही नहीं, किन्तु स्वात्मता बुद्धि से निरुपाधि प्रेम होने के कारण वह बन्धुओं में वत्सल है । दयाविषय द्वितीय वस्तु को वह नहीं देखता, इसलिए दयाशून्य है, लेकिन अपने शरीर की उपमा द्वारा वह दूसरे के शरीर में भी सुख-दुःख का अवलोकन करने से अत्यन्त करुणा से युक्त है । इसी तरह परिपूर्ण होने से वह तृष्णा से शून्य है, किन्तु अज्ञजनों का उद्धार करना उसका स्वभाव है, अतः उनके हित की तृष्णा से अन्वित है ॥७॥

'किमाचारोऽवतिष्ठते' इससे पूछे गये बाह्य लक्षणों का वर्णन करते हैं।

सर्वाभिनन्दित आचारों से युक्त होने पर भी वह समस्त आचारों से बहिष्कृत है । शोक, भय तथा आयास से रहित होने पर भी वह अज्ञ जनों का दुःख देखकर उनके लिए शोक करता है, अतः शोकयुक्त-सा दीखता है ॥८॥ न तो उस जीवन्मुक्त प्राणी से संसार भयभीत होता है और न वही संसार से भयभीत होता है । अन्य जनकी दृष्टि में संसार में रसिक (अनुरक्त) होकर भी वह संसार से परम उद्विग्न यानी वैराग्य को प्राप्त हुआ रहता है ॥९॥ वह जीवन्मुक्त पुरुष सम्प्राप्त हुई वस्तु का न तो अभिनन्दन करता है, और न अप्राप्त की अभिलाषा करता है तथा हर्ष और विषाद में कारणभूत पदार्थ के अनुभूत होने पर भी वह सज्जन हर्ष तथा विषाद नहीं करता ॥१०॥ किसी दुःखी प्राणी को देख लेने पर उसके साथ बैठकर उससे दुःखित कथा तथा किसी सुखसम्पन्न पुरुष के मिल जाने पर उससे सुख की कथा कहता जाता वह विवेकी महात्मा हृदय से सम्पूर्ण अवस्थाओं में सुख एवं दुःख से अभिभूत न हो सदा एक-सा स्थित रहता है ॥११॥ सुकृत कर्म से अन्य उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता है । हे श्रीरामचन्द्रजी, अशास्त्रीय चेष्टा से जो शून्य होना है वह उन महात्माओं का स्वभाव ही है, अर्थात् महात्मा का यह स्वभाव ही है कि वे लोग शास्त्रवर्जित चेष्टा कभी नहीं करते ॥१२॥ वह जीवन्मुक्त महात्मा न तो किसी में आसक्ति का अवलम्बन करता है और न कहीं विरक्ति का ही अवलम्बन करता है । वह धनों के लिए अर्थी यानी याचक होकर इधर-उधर नहीं भटकता फिरता । वह वीतराग होकर भी रागयुक्त-सा मालूम पड़ता है ॥१३॥ शास्त्रानुकूल

व्यवहार से क्रमशः प्राप्त हुए सुख–दुःखों से संस्पृष्ट न होने पर भी उनका स्पर्श–सा करता है तथा उनसे वह हर्ष या विषाद को कभी प्राप्त नहीं होता है ॥१४॥

सुख और दुःख से वह एक तरह से स्पृष्ट–सा होता है, यह जो ऊपर कहा है, उसका हेतु के प्रदर्शन द्वारा विवरण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महात्मा लोग सुख–दुःख के कारणों से प्रसन्नचित्त तथा दुःखित अवश्य भासते हैं, परन्तु अपने निरतिशयआनन्दप्रतिष्ठा से उत्पन्न धैर्यपूर्ण स्वभाव का वे कभी परित्याग नहीं करते, क्योंकि वे लोग संसार रूपी नाट्यशाला के नट हैं ॥१५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वदर्शी महात्माओं को मिथ्याभूत पुत्र आदि अलीक पदार्थसमूहों से ऐसे ही स्नेह नहीं होता, जैसे कि जल के बुद्बुदों में ॥१६॥ स्नेहरहित होने पर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष सुघन स्नेह से आर्द्र हृदयवाले के समान यथायोग्य अपनी वत्सलता दर्शाता हुआ स्थित रहता है ॥१७॥

परन्तु अज्ञानी लोग तत्त्वज्ञानियों की तरह अनासक्तिपूर्वक विषयों का भोग करना नहीं जानते, यह कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, लेकिन अज्ञानी लोग तो देहात्मसत्तारूपी विष से मूर्छित से होकर कामादि–सन्ताप की शान्ति के लिए अत्यधिक आसक्ति के कारण विषयों के उदर में लीन होते हैं तथा विषयों के उदर में लीन होते हुए भी वे उन विषयों का कुछ थोड़ा सा ऐसे ही स्पर्श कर पाते हैं, जैसे कि प्रतप्त वैतरणी नदी के प्रवाह में पड़े नारकीय पुरुष ऊपर भाग से कुछ थोड़ा–सा व्यर्थ वायुओं का स्पर्श कर पाते हैं। *(तत्त्वतः विषय का अनुभव करके वे विश्रान्ति को नहीं प्राप्त कर सकते, यह अभिप्राय है)* ॥१८॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष बाहर से समस्त शिष्टों के आचारों को करता हुआ भी भीतर समस्त अर्थों से शीतल बना रहता है। वह सदा भीतर सबसे अनाविष्ट पृथक् होकर भी आविष्ट–सा स्थित रहता है ॥१९॥

उक्त लक्षणों से तत्त्वज्ञानी का परिचय होना बड़ा कठिन है। क्योंकि मूर्ख, दाम्भिक, वंचक, तपस्वी में भी बलात् सम्पादित हुए इन लक्षणों का दर्शन हो सकता है, यों श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, तत्त्वज्ञानी का ऐसा स्वरूप सत्य है या असत्य इसको कौन जान सकता है ? यह कहिये, क्योंकि आपके द्वारा कहे गये लक्षणों से युक्त दाम्भिक अज्ञानी पुरुष भी इस लोक में देख पड़ता है ॥२०॥ हे मुने, अश्व की तरह ब्रह्मचर्यव्रत का परिपालन करते हुए कलुषित चित्तवाले अज्ञानी दाम्भिक पुरुष भी ज्ञानी महानुभावों की नकलकर झूठमूठ में अपनी दृढ़ तपस्विता दिखलाने के लिए यानी मिथ्या परिकल्पित अपनी तपस्या की दृढ़ प्रख्याति करने के लिए अर्थात् मुझे संसार बहुत बड़ा तपस्वी समझे, इस आशय से ऐसे होते हैं ॥२१॥

अपने को तपस्वी बतलाने के लिए दृढ़ किए गये इन लक्षणों का फल शुभ ही होता है, इसलिए उन लक्षणों से युक्त पुरुषों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसे पुरुषों का अनुसरण करने

पर स्वभावसिद्ध लक्षणसम्पन्न तत्त्वज्ञानी भी अचानक कहीं लब्ध हो जाता है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चाहे असत्य हो चाहे सत्य, किन्तु ऐसा स्वरूप हर हालत में अच्छा ही है यानी दुर्लभ होने से उक्त लक्षणों से सम्पन्न स्वरूप श्रेष्ठ ही है । कहने का तात्पर्य यह है कि उन लक्षणों से सम्पन्न पुरुष की उपेक्षा अनुचित है, चाहे भले ही वह दाम्भिक क्यों न हो ? और जो वेदार्थतत्त्ववित् पुरुष हैं, उनमें तो ये लक्षण स्वभावअनुभव बल से ही प्रतिष्ठित होते हैं। हठात् सम्पादित नहीं होते ॥२२॥ वीतराग तथा क्रिया के फलों में आसक्तिशून्य भी वे जीवन्मुक्त पुरुष रागी के समान चेष्टा करते हैं, अत्यन्त दयामय वे हास रहित होते हुए भी हास से युक्त होकर अज्ञानियों के ऊपर हँसते हैं ॥२३॥ वे लोग समस्त दृश्य को चित्तरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित कपट भूमि के तुल्य ऐसे ही असत् देखते हैं जैसे कि स्वप्न में परिज्ञात हस्तगत सुवर्ण को असद्रूप देखते हैं ॥२४॥ जैसे चन्दन की लकड़ी की सुगन्ध को कृमि, कीट आदि जन्तु दूर से नहीं जान पाते, वैसे ही इनकी उस अन्तःकरण की शीतलता को कोई नहीं जान पाते ॥२५॥

यद्यपि तत्त्वज्ञानी के स्वरूप को अज्ञानी नहीं जान सकते तथापि तत्त्वज्ञानी तो अवश्य ही जानते हैं, यह कहते हैं।

जो विज्ञेय पदार्थ का भली–भाँति ज्ञान कर चुके हों और उन्हीं के समान पवित्र अन्तःकरणवाले ज्ञानी महानुभाव हैं, वे तो अपने अन्तःकरण में उन्हें ठीक उसी तरह से ऐसे जानते हैं, जैसे कि साँपों के पैरों को साँप जानते हैं ॥२६॥

दाम्भिक लोग सर्वत्र अपने में तत्त्वज्ञ के लक्षणों का प्रचार करते फिरते हैं, परन्तु जो सचमुच तत्त्वज्ञानी हैं, वे लोग अपने स्वरूप को छिपाये फिरते हैं, उन्हें इसकी चाह नहीं होती कि हमें सब लोग ज्ञानी समझें। हे श्रीरामजी, इसी विशेषता से वे पहिचाने जा सकते हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे सर्वोत्तम ज्ञानी महानुभाव अपने उस उत्तम भावको छिपाये–फिरते हैं, क्योंकि गाँवों तथा नगर आदि के धनों से जो खरीदी नहीं जा सकती, ऐसी चिन्तामणि को भला बाजार में बेचने के लिए कौन फैलायेगा ? ॥२७॥

जैसे बेचने के लिए बाजार में फैलाई गई चिन्तामणि को कोई भी नहीं कह सकता कि यह असली चिन्तामणि है वैसे ही जबर्दस्ती अपने गुण का प्रचार करने करानेवालों को सभी लोग जान जाते हैं कि यह दाम्भिक है –संसार को धोखा देता है । वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानी नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन तत्त्वज्ञानी महानुभावों का अपने गुणों को छिपा रखने में ही तात्पर्य रहता है । दूसरों द्वारा अपनी सर्वत्र ख्याति कराने में नहीं, क्योंकि वे लोग वासना से शून्य,

द्वैतरहित एवं अभिमान से रहित होते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥२८॥ हे श्रीराचन्द्रजी, उन महात्माओं को एकान्त सेवन, सत्कार एवं पूजन आदि का अभाव, दरिद्रता तथा मनुष्यों द्वारा अपमान – ये सब जैसे सुखी बनाते हैं वैसे बड़ी–बड़ी ऋद्धि–सिद्धियाँ सुखी नहीं बनातीं, क्योंकि सम्मान तथा धन आदि की समृद्धि होने पर जनसमाज के द्वारा प्राप्त हजारों प्रतिष्ठा आदि से तत्त्वज्ञानी के आत्मसुखानुभव में विच्छेद पड़ने लगता है ॥२९॥ विदितवेद्यता का (तत्त्वज्ञता का) जो सार (निरतिशय आनन्दरूप सार) है, वह एकमात्र स्वानुभव से ही ज्ञेय है । वह किसी दूसरे को दिखलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उस आदमी को भी वह नहीं दिखाई देता जो उसके स्वरूप को जानता है, किन्तु स्वप्रकाशरूप से वह अनुभूत होता है ॥३०॥ मेरे इस गुण को संसार जाने और मेरी पूजा करे, यह अभिलाषा अहंकारियों को होती है, जीवन्मुक्त विवेकियों को नहीं होती ॥३१॥ हे राघव, इस संसार में आकाशगमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे सब मंत्र, औषधि के वश से अज्ञानियों को भी अक्सर प्राप्त हो जाते हैं ॥३२॥ जो जैसा क्लेश सहन करने में समर्थ है, वैसा ही वह अवश्य फल प्राप्त करता है, चाहे वह प्रबुद्ध हो या अज्ञानी हो ॥३३॥ चन्दन के आमोद की तरह विहित और निषिद्ध कर्मों का फल सभी जन्तुओं के अपने हृदय में ही अपूर्वरूप से विद्यमान है । समय पाकर आविर्भूत हुए उसे अवश्य तद्वान् जन्तु प्राप्त करता है ॥३४॥ सिद्धिरूप दृश्य वस्तुओं में 'मैं भोक्ता होऊँ' इस प्रकार अहन्ता वासनादिरूप परिच्छिन्न आत्मकल्पना जिसके भीतर विद्यमान है, वह आकाशगमन आदि क्रिया फल को सिद्ध कर लेता है ॥३५॥ जो ज्ञानी यह सब आकाशगमन आदि सिद्धिसमूह तुच्छ है और मनोभ्रममात्र है अथवा अधिष्ठान चिदाकाशमात्र है यह जानता है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मरूपी आँधी से भ्रमणप्राय आकाशगमन आदि सिद्धिफलवाली मन्त्र–औषधि आदि क्रियाओं की क्यों सिद्धि करने जायेगा ॥३६॥ तत्त्वज्ञानी का इस संसार में न तो कर्म से ही कोई प्रयोजन है और न कर्म के अभाव से कोई प्रत्यवायप्राप्ति रूप अनर्थ है तथा ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में इस विवेकी का, किसी आत्मप्रयोजन की अपेक्षा करके, आश्रय लेने योग्य कोई भी नहीं है ॥३७॥ पृथिवी पर, स्वर्ग में देवताओं में, अन्तरिक्ष या कहीं पर भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उदारचेता तत्त्वज्ञानी को लुभा सके ॥३८॥ जिसके लिए सारा संसार तृण के बराबर है, जिसमें रजोगुण का लेश भी नहीं है, उस धीर तत्त्वज्ञानी महात्मा के लिए आत्मा से अन्य यानी अनात्मभूत क्योंकर उपादेय होगा ? ॥३९॥ लोकसंग्रह के लिए जगत् के व्यवहारों का निर्वाह करनेवाले परिपूर्णमना मननशील, जीवन्मुक्त पुरुष स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थिर होकर यथाप्राप्त शिष्टाचार का अनुसरण करता है ॥४०॥ अन्तःकरण में शीतल, मौनी, सत्वगुणमय मनवाला ज्ञानी पुरुष सर्वदा परिपूर्ण सागर के समान गम्भीर एवं प्रकट आशयवाला रहता है ॥४१॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृत से भरे सरोवर के समान अपने आत्मा में स्वयं आनन्द की हिलोरें लेता रहता है तथा निर्मल परिपूर्ण

चन्द्रमा के समान दूसरे को भी आनन्द प्रदान करता रहता है ॥४२॥

वह अन्य को आनन्द प्रदान करता है, इसका स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं।

मन्दार की मंजरी के कुंजों से पिन्जर देवताओं के नन्दनवन की भूमि मनुष्य को वैसा आनन्द नहीं दे सकती, जैसा कि आह्लाद उपदेश आदि द्वारा ज्ञानियों की बुद्धियाँ देती हैं ॥४३॥ सारग्राही विवेकी पुरुष ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी आलोकभोगियों में चन्द्रबिम्बों से, सुगंधभोगियों में वसन्त से तथा सौभाग्यभोगियों में तत्त्ववेत्ताओं के रागादि से अनुपहत आशयों से सार ग्रहण करता है ॥४४॥

तत्त्वज्ञानी किस सार का ग्रहण करता है, यदि कोई यह पूछे, तो इसका उत्तर यह है कि वह सबसे पहले जगत् को मिथ्या देखता है उसके बाद क्रमशः समस्त अपनी इच्छाओं का त्यागकर देता है, यह कहते हैं।

सर्वप्रथम वह सारग्राही महात्मा यह सारा विश्व इन्द्रजाल के समान असन्मय एकमात्र भ्रान्तिरूप ही है, इस प्रकार का निश्चय करके दिन-प्रति दिन अपनी इच्छाओं का त्याग करता जाता है ॥४५॥

तत्पश्चात् शीतोष्णादि द्वन्द्व की सहिष्णुतारूप यानी सर्दी-गर्मी का जो सहन करना है, तद्रूप सार को ग्रहण करता है, यह कहते हैं।

अपने शरीर में प्राप्त भी शीत, ताप आदि दुःखों को ज्ञानी पुरुष अन्य देहस्थ के समान अनादर से देखता है ॥४६॥

तदनन्तर समस्त भूतों के ऊपर अनुकम्पास्वरूप दृढ़ अवलम्बन, यथाप्राप्त जलमात्र से भी सन्तोष कर लेना इत्यादि जो गुण हैं, तद्रूप सार को ग्रहण करता है, यह कहते हैं।

एकमात्र दूसरे के उपयोग के लिए पुष्प-फल आदि धारण करनेवाली लता के सदृश, करुणा के कारण उदार वृत्ति से अन्य दुःखी प्राणी का परिपालन करता है तथा स्वयं विरक्त होकर वह, जो मिल जाय उससे सन्तोष कर लेना इस तरह की उत्तम वृत्ति से जिसमें सन्तोष का हेतु एकमात्र जल ही रहता है, वैसी वृत्ति से स्थितिरूप सारता को प्राप्त करता है ॥४७॥ यथाप्राप्त लोकसामान्य व्यवहार का सम्पादन करता हुआ वह जीवन्मुक्त विवेकीपुरुष समस्त चराचर प्राणियों के ऊपर (उत्कर्ष में अथवा ऊर्ध्वभूत ब्रह्म में) अवस्थित रहता है ॥४८॥

ज्ञानी की ऊपर स्थिति कैसे रहती है, यह दिखलाते हैं।

तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी महल के ऊपर आरूढ़ होकर स्वयं अशोच्य हो अज्ञानियों के विषय में शोक करता है। वह सबको ऐसे देखता है, जैसे पर्वत पर खड़े मनुष्य भूमिपर स्थित जनों को देखते हैं ॥४९॥

उसी समय वह चिरकाल से पीछे पड़े रागादि विक्षेपरूप दुःखों से मुक्त होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है, यह कहते हैं।

भ्रमरूपी सागर में राग, द्वेष आदि लहरों से चिरकाल तक विक्षिप्त (लथेड़ा गया) वह निर्मल

मनवाला पुरुष ज्ञान द्वारा परब्रह्म को प्राप्त होकर परम विश्रान्ति को प्राप्त करता है ॥५०॥

प्राक्तन संसार की गतियों को अतिशान्त वृत्ति से हँसता हुआ तथा गाढ़ भ्रम से परिपूर्ण यानी महान् अज्ञान से भरे जनसमूहों के प्रति अपने अन्तःकरण में मुस्कराता हुआ सा स्थित रहता है ॥५१॥ ये असद्रूप सांसारिक दृष्टियाँ, जो जंगल में रास्ता न मिलने से अन्धा बनकर इधर–उधर भटक रहे अन्धपुरुष से उपमित हैं, मुझे मोहित करती थीं, ऐसा विचार कर वह ज्ञानी पुरुष भीतर विस्मय को प्राप्त होता है ॥५२॥ यह मेरा परम सौभाग्य है कि अष्टविध परिपूर्ण ऐश्वर्य मुझे अनिष्ट तथा तृण के समान अवभासित हो रहे हैं, ऐसा समझकर कुछ हँसता हुआ भी गर्व उपशान्त होने से गर्व नहीं करता है ॥५३॥

ज्ञानी के स्थानादि का नियम नहीं है, यह कहते हैं।

कोई ज्ञानी पुरुष पर्वतों की गुफा को अपना घर बनाकर उसमें रहता है, कोई पवित्र आश्रम में रहता है, कोई गृहस्थ आश्रम में ही रहता है और कोई ज्ञानी तो सदा इधर–उधर घूमता रहता है। ज्ञानी पुरुष का कोई एक नियत स्थान नहीं रहता ॥५४॥ कोई भिखमंगों के आचरण से युक्त हो पर्यटन करता है, तो कोई एकान्त में तपस्वी बनकर रहता है, तो कोई मौनव्रतधारी होकर रहता है और कोई महात्मा तो ब्रह्मध्यान में ही परायण रहता है ॥५५॥ कोई विख्यात पण्डित होता है, तो कोई श्रुति–स्मृति का श्रोता भी दीखता है। कोई राजा, तो कोई ब्राह्मण तथा कोई अज्ञानी के समान स्थित रहता है ॥५६॥ कोई गुटिका, अंजन या खड्ग आदि से सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है तो कोई शिल्प कला से अपनी जीविका का सम्पादन करता है और कोई पामर के समान रूप धारण कर स्थित रहता है ॥५७॥ कोई समस्त आचारों से शून्य होता है, तो कोई आचार–अनुष्ठान में श्रोत्रियों का नायक होता है, कोई उन्मत्त पुरुष के तुल्य चरित्रवाला होता है और कोई संन्यास धर्म धारण कर स्थित रहता है ॥५८॥

श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्नवाक्य में 'कीदृशः पुरुषोत्तमः' इस पद को सुनकर उसके अर्थ की जिज्ञासा की संभावना करते हुए श्रीवसिष्ठजी पुरुषवर्णनपूर्वक उसमें उत्तमता दिखलाते हैं।

पुरुष शरीर आदि और चित्त आदि कुछ नहीं है, किन्तु वह एकमात्र चेतन ही है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता (♙) ॥५९॥ यह चेतन पुरुष किसी से छेदा नहीं जा सकता, कोई इसे जला नहीं सकता, कोई इसे जल से भिगा नहीं सकता और कोई इसे सूखा भी नहीं सकता है,यह तो नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है (卐) ॥६०॥

ऐसे पुरुषोत्तम के तत्त्वपरिज्ञान से वह स्वयं भी तत्त्वज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तम है, न कि वर्णाश्रम–मर्यादा का परिपालन करने से, क्योंकि वर्णाश्रम मर्यादा का पालन न करने पर भी उसकी पुरुषोत्तमता

(♙) वह कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए वह अविनाशी है, अतः वही उत्तम है।

(卐) छेदन, भेदन आदि विनाश के कारणों का संस्पर्श न रहने से भी वही उत्तम है।

में किसी प्रकार की हानि नहीं होती, इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार अच्छी तरह जो प्रबुद्ध हो गया वह जहाँ जैसे रहना चाहे वैसे ही यहाँ या वहाँ जहाँ कहींपर स्थित रहे, उसको वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के परिपालन में आस्था रखने से या किसी तरह के नियम से कोई मतलब नहीं है ॥६१॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष जबर्दस्ती स्वयं नष्ट हो जाने की इच्छा से पाताल में प्रवेश कर जाय, आकाश को लाँघकर उसके ऊपर चला जाय, दिग्मण्डल में भ्रमण करे, जिससे कि मानसोत्तर लोकालोकादि पर्वतों से वह चूर्ण-चूर्ण हो जाय। परन्तु इसका जो चिन्मात्रस्वरूप है, वह अजर ही बना रहता है, कदापि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह तो आकाशकोश के सदृश सर्वदा शान्त, अज और शिवरूप ही है- उपप्लवरहित नित्य निरतिशयानन्दरूप ही है ॥६२॥

एक सौ दोवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तीनवाँ सर्ग

चिति की नित्यता, एकता तथा स्वातंत्र्य का साधन तथा इस सत्-शास्त्र की महिमा और हितोपदेश का वर्णन।

सबसे पहले चितिसामान्य की अविनाशीता का सबके अनुभव बल से साधन करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में अन्तःकरण के साक्षीरूप से तथा सुषुप्ति-दशा में अज्ञान, स्वप्नादि के साक्षीरूप से प्रत्यगात्म प्रकाशमात्र अथवा विषय-प्रकाशमात्र सबको भासता है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से और व्यवहार से तथा स्मृति प्रमाणों से जो आदि एवं अन्त से रहित, शान्त, चिन्मात्र है, वह तो सिद्ध ही है । उसका भला नाश किस कारण से होगा ? यदि कहो, उससे असाधित कारण से उसका नाश होगा तो उससे असाधित कारण ही प्रसिद्ध नहीं है और उसके द्वारा जो साधित है उसका तो वह उपजीवक है, इसलिए वह उसके नाश का हेतु कैसे हो सकता है ? अतः उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता । यदि आप काल को उसके नाश का निमित्त बतायें, तो काल भी उसके नाश का निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि काल की भी सिद्धि तो उसी के अधीन है, अतः उसका भी वह उपजीवक है ॥१॥

अविनाशी पुरुष चिन्मात्रस्वरूप रहे, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

चूँकि पुरुष चिन्मात्रस्वरूप है, इसलिए कदापि वह नष्ट नहीं हो सकता । यदि चिन्मात्र नष्ट हो जाय, तो फिर क्या उत्पन्न होगा और कैसे उत्पन्न होगा ? ॥२॥

यदि कोई कहे कि नाश के अनन्तर दूसरी चिति उत्पन्न हो जायेगी, उससे पुनः सृष्टि होगी, तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्र से भिन्न कोई दूसरा चिन्मात्र किसी प्रकार कदापि हो ही नहीं सकता, क्योंकि चिति तो एकमात्र अनुभवस्वरूप है, उसका पूर्व और उत्तरकाल से सर्वांश में

सादृश्य है । उसकी भला कैसी भिन्नता होगी ? अर्थात् वह अन्यता मिथ्या ही है (🙞) ॥३॥

यदि कोई कहे कि पुरुष के भेद से चितिका भेद होगा, तो उस पर कालभेद की तरह पुरुषभेद से भी चितिका भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिम आदि में शैत्य आदि की तरह चिति में भी किसीको विलक्षणता का अनुभव नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

जब सभी लोगों को हिम शीतल है, अग्नि उष्ण है तथा दुग्ध मधुर है यों भासता है, तो फिर इस निर्मल चिन्मात्र में ही भेद कैसे भासेगा ? ॥४॥

सुख–दुःखरूप ज्ञान के सिवा चैतन्य कुछ नहीं है । विशेष ज्ञान में अवच्छेदकता सम्बन्ध से शरीर कारण है । शरीर का नाश होने से ज्ञान का नाश माननेवाले चार्वाक और वैशेषिकों की शंका उभाड़कर उसका निराकरण करते हैं।

शरीर के नाश से ही यदि चिन्मात्र का नाश हो गया, तो मरण से ही संसार का नाश हो जाय, फिर हर्ष की जगह विषाद क्यों ? ॥५॥ शरीर का नाश होने पर चिदाकाश कभी नष्ट नहीं होता। क्योंकि बन्धुओं का शरीर नष्ट होने पर भी म्लेच्छों द्वारा उनकी पिशाचता देखी गई है ॥६॥ जब तक शरीर है तभी तक चेतन की सत्ता है, यदि यह कहा जाय तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अखण्डित शरीर रहने पर भी मृतक क्यों नहीं चलता, इसका क्या उत्तर है ? ॥७॥ पिशाच देखना आदि जीव का धर्म है, तो फिर वह जीव सर्वदा पिशाच क्यों नहीं देखता ? बन्धु के मृतक बन जाने पर ही क्यों देखता है ? ॥८॥ बन्धुमरण ज्ञान विशिष्ट जीव है तथा पिशाचदर्शन उसका धर्म है, यदि ऐसा नियम हो, तो भी बन्धु के जीवित रहते ही मिथ्या देशान्तर में उसकी कल्पित मृत्यु सुनने पर पिशाचता को मनुष्य क्यों नहीं देखता ?॥९॥ इसीलिए चिति के भेद और विनाश का योग होने से चिन्मात्र सर्वात्मक सिद्ध है, वस्तुकृत परिच्छेद से भी वह नियन्त्रित नहीं है अतः जिस–जिस वस्तु को चिति जब जहाँ जानती है, तब वहाँ अपने स्वरूप को ही तत्–तत् वस्तु के रूप से वह जानती है । कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी ज्ञात वस्तु चिति से पृथक नहीं है ॥१०॥ इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में सत्यसंकल्प होने के कारण जिसके मार्ग में कोई बिघ्नबाधा (रूकावट) उत्पन्न नहीं होती ऐसी संवित् अपने संकल्पानुसार जैसी ही होती है वैसी ही इस समय सब लोगों की अनुभूति है । संवित् का स्वभाव ही इसमें कारण है ॥११॥ सत्यसंकल्प ब्रह्मरूपी

(🙞) भाव यह कि पूर्वकाल की चिति से उत्तरकाल की चिति का भेद किंमूलक है ? क्या मध्य में विच्छेदज्ञान से उसकी कल्पना की जाती है या वह पहली से विलक्षण है, इसलिए भेद की कल्पना की जाती है ? विच्छेदज्ञान से वह अन्य नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव ही चिति है, अनुभव रहते विच्छेद की सिद्धि नहीं हो सकती । पूर्व चिति से वह विलक्षण भी नहीं है, क्योंकि यदि विलक्षण मानी जाय तो (अचित्' हो जायेगी । पूर्व और उत्तरकाल की चिति में सर्वांश में अनुभव की समानता है, अतः वह भिन्नता (अन्यता) कैसी ? अर्थात् पूर्व और उत्तर चिति की भिन्नता मिथ्या ही है ।

संवित् के सिवाय प्रधान (प्रकृति), परमाणु आदि सृष्टि के आरम्भ में कारण कदापि नहीं हो सकते । ब्रह्म से अतिरिक्त जो भी कारण वादियों को जँचता है, कृपया वे उसका स्वरूप तथा उसके कारण होने में जो युक्ति हो, उसका उपपादन करें । मैं उनका झटपट श्रुति और युक्तियों द्वारा खण्डन करूँगा ॥१२॥

यदि वादी प्रश्न करे कि कृपया आप ही बतलाइये आपका कैसा सिद्धान्त है, तो इस पर कहते हैं ।

द्वैत न तो सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न हुआ और न आज ही इसका अवभास होता है, एकमात्र चिदाकाश ही जगत् के रूप से प्रतीत होता है ॥१३॥

यदि केवल चिदाकाश ही प्रतीत होता है, तो सब लोगों को 'दृश्य' रूपसे किसका बोध होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं ।

यह आभासमात्र (विवर्तमात्र) 'दृश्य' रूप से लोगों को ज्ञात होता है । 'दृश्य' रूप से ज्ञात हो रहे इस शुक्तिरजत्, मरुनदी, आदिरूप विश्व की चिदाकाश के बिना क्या कहीं सत्यता दिखाई दी ? ॥१४॥ चिदाकाश अपनी चमत्कार चातुरी को ही आसक्तिवश जाग्रत और स्वप्नबोध में 'दृश्य' समझता है और सुषुप्ति अवस्था में बोध न होने से नहीं जानता है ॥१५॥

वे बोध और अबोध कौन हैं ? इस आशंका पर कहते हैं ।

बोध और अबोध चिदाकाश का ही निरामय (निर्विकार) रूप है, जड़का नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूप से वह एक ही है । बोध के बिना अबोध का रूप ही प्रसिद्ध नहीं होता और बोध हो जाने पर अबोध का संभव नहीं है, इसलिए 'राहोः शिरः' (राहु का सिर), 'शिर एव राहुः' (सिर ही राहु) इसके समान केवल वाणीमात्र से भेद है, किन्तु अर्थ में कुछ भेद नहीं है । इसलिए दृश्यता है ही नहीं ॥१६॥

अथवा यह समझिये कि आत्मतत्त्व के अविचार से ही चित् में दृश्यता थी और इस समय विचार करने पर वह नष्ट हो गई है, ऐसा कहते हैं ।

जो इन लोगों की दृश्यता थी, उसे आप अविचारणा जानिये यानी आत्मतत्त्व के अविचार का ही वह फल था और वह विचार से अब नष्ट हो चुकी है, अतः दृश्यता कहाँ है ? ॥१७॥

इसलिए विचार के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए यह बात मैं अनेक बार कह चुका हूँ, ऐसा कहते हैं ।

इस आत्मज्ञान के विचार में ही बुद्धि का यत्नपूर्वक उपयोग करना चाहिये । यत्नपूर्वक किया गया परम विचार इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सिद्धि देने वाला है । सूत्र में भी कहा है– 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (दुर्ज्ञेय आत्मसाक्षात्कार आवृत्तिविशिष्ट श्रवण आदि से साध्य है, अतः उसकी आवृत्ति करनी चाहये), 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेन तद्दर्शनात्' (विद्या से अविरूद्ध फलवाले

फलोन्मुख समझ से प्रतिबन्ध का अभाव होने पर इस जन्म में भी विद्या की उत्पत्ति हो सकती है, प्रतिबन्ध होने पर जन्मान्तर में भी हो सकती है, इस प्रकार अनियम है, उक्त अनियम श्रुतियों में देखा गया है।) ॥१८॥

यदि कोई शंका करे कि नित्य अपरोक्ष वस्तु के विषय में प्रवृत्त उपदेश-वचन एक बार की प्रवृत्ति से ही अज्ञान का विनाश कर वस्तु को प्रकट कर ही देगा, फिर अभ्यास की क्या आवश्यकता है ? तो इस पर कहते हैं।

हे सज्जन, यद्यपि आप लोगों का यहाँ पर यह अज्ञान विनष्ट हो चुका है फिर भी अभ्यास के बिना वह जीवन्मुक्ति प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त हो सकता है ॥१९॥

तो किस ग्रन्थ को लेकर विचार का अभ्यास करना चाहये जिससे जल्दी से जल्दी बोध सिद्धि को प्राप्त हो सकता है, ऐसा यदि कोई पुछे तो उस पर कहते हैं।

शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न पुरुष को आलस्य, बेचैनी आदि उद्वेग और उनके कारणभूत यथेष्ट भोजन, कुसंगति आदि का परित्याग कर और क्षणभर के लिए गुरुसेवा आदि का नियम लेकर इस महारामायण नामक शास्त्र का प्रतिपादन विचार करना चाहिये । यह इस लोक और परलोक-दोनों लोकों में हितकारी और कल्याणकारी है ॥२०॥

उस पर भी बहुत से सहपाठियों के साथ मिलकर अभ्यास करना आपस में एक दूसरे के अनुभव के आदान-प्रदान द्वारा बहुत जल्द ज्ञानप्रतिष्ठा का हेतु है, ऐसा कहते हैं।

यह आत्मज्ञान तरह-तरह की असंभावना, विपरीत भावना आदि रखनेवाले आप लोगों के मिलजुल कर अभ्यास न करने से, ज्ञात होता हुआ भी, अज्ञातप्राय हो जाता है ॥२१॥

ज्ञान दुर्लभ है, इस भय से श्रवण का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये, यह कहते हैं ।

जो जिस वस्तु को चाहता है, उसके लिए यत्न करता है और वह यदि थक कर बीच में ही अपने विचार न बदल दे तो उसे अवश्य प्राप्त करता है ॥२२॥

अनात्मशास्त्रों के अभ्यास से विमुख हुए पुरुषों को इस शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये, यह कहते हैं।

इसलिए असत् शास्त्रों की विचारणा से आप लोग निवृत्त हो जाइये । जैसे युद्ध से विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है वैसे ही इस सत्शास्त्र के अभ्यास से आप लोगों को अवश्य शांति प्राप्त होगी ॥२३॥ यह मनरूपी नदी विवेक और अविवेक दोनों ओर बहती है जिस ओर प्रयत्न से (विरोधी दूसरे स्रोत को रोकने के यत्न से) बहाई जाय, वहींपर स्थिर हो जाती है ॥२४॥ इस शास्त्र के सिवा विवेक का सर्वश्रेष्ठ साधन आज तक न तो कोई हुआ और न आगे होगा, इसलिए परम बोध की प्राप्ति के लिए इसी का पुनः मनन करना चाहिए ॥२५॥ जो पुरुष इस श्रेष्ठतम शास्त्र का विचार कर चुका है, उसे प्रत्यक्षरूप से आत्मतत्त्व बोध का अनुभव होता है जो कि संसाररूपी मार्ग की थकावट दूर करनेवाला

है। वरदान अथवा शाप के समान चिरकाल के विलम्ब से उसका अनुभव नहीं होता ॥२६॥

यह शास्त्र माता, पिता आदि की भी अपेक्षा अत्यन्त हितकारी है, ऐसा कहते हैं।

आपका जो हित पिता ने नहीं किया या जो हित माँने नहीं किया अथवा जो हित पुण्यों ने नहीं किया वह हित यह शास्त्र तुरन्त करेगा, यदि विचार द्वारा आप लोग इसे जान लें ॥२७॥ हे सज्जनशिरोमणे, यह भवबन्धनरूपी विषय-विषूचिका असीम है, आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय से कभी भी इसका शमन नहीं हो सकता ॥२८॥ 'अहम्' यों मिथ्या ही खड़ी हुई महामोहमयी माया का और उक्त माया से प्राप्त हुई अपरिमित शोचनीयता का शास्त्रार्थभावना द्वारा शीघ्र ही परित्याग कीजिये ॥२९॥ आरम्भ में आपाततः मधुर प्रतीत होनेवाले शून्यस्वरूप विषयों का आस्वाद ले रहे आप लोग एकमात्र आकाशरूपिणी अपार सृष्टि की ओर-भूखे अतएव रसशून्य वायु को चाट रहे सर्पों के समान-न बढ़ें ॥३०॥ बड़े खेद की बात है, दिनों द्वारा ही मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे आप लोगों के जीवन के सारे दिन व्यवहार में ही व्यतीत होते हैं। कब दिन आया और कब गया यह भी आप लोगों को ज्ञात नहीं होता ॥३१॥ कुछ ही दिनों तक जब तक कि आयु की मरणरूप अवधि नहीं आती है, संसार सागर में निमग्न हुए आप लोगों के लिए सत् शास्त्र का अवलम्बन योग्यता द्वारा यह आश्वासन है॥३२॥

यदि कोई प्रश्न करे कि उसके बाद क्या होगा ? तो इस पर कहते हैं।

दिन पर दिन समीप में आ रही मृत्यु के प्राप्त होने पर ऐसा दुःख प्राप्त होगा कि जिसमें अंग-अंग का छेदन भी शीतलचन्दन लेपके समान अवश्य भोगना पड़ेगा ॥३३॥ मूर्ख लोग युद्ध आदि में प्राणों की बाजी लगाकर भी धन और विजयाभिमान का उपार्जन करते हैं, किन्तु वे विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि उपायों से प्राप्त हुई तत्त्व बुद्धि से अजर-अमर मोक्षपद का उपार्जन क्यों नहीं करते ? ॥३४॥ जो विवेकशील पुरुष अनायास (एकमात्र आत्मतत्त्वज्ञान से) ब्रह्माकाश में स्थान बनाते हैं, अज्ञानरूपी शत्रु का वध करने में समर्थ उन सर्वोत्कृष्ट पुरुषों द्वारा उत्तम शास्त्र की उपेक्षा से अपने सिर पर अज्ञानरूपी शत्रु की लात कैसे सही जा सकती है ? ॥३५॥ हे पुरुषों, आप लोग अभिमान तथा मोह से रहित विवेक को प्राप्त होकर यानी तत्त्व जानकर मोक्षगति को प्राप्त हों अधम संसारगति को प्राप्त न हों। आत्मबोध द्वारा बड़ी-बड़ी विपदाओं की जड़ खोदी जाती है॥३६॥

यह वसिष्ठ चिरकाल से हम लोगों के उद्बोधन में कमर कसकर लगा है, मारे चिल्लाहट के इसका कण्ठ सूख गया है, यह बेचारा कण्ठ सूखने से बच जाय यों मेरे ऊपर दया से मेरा वचन ध्यान से सुनकर आप लोग अपना स्वरूप जानिये, यों अतिशय वात्सल्यवश कहते हैं।

आप लोगों के उद्बोधन के लिए जी-जान से लगे हुए, आप लोगों के लिए रात-दिन प्रलाप कर रहे, कण्ठ सूखने आदि क्लेशों से नित्य पीड़ित हो रहे मेरी (जगत्प्रसिद्ध इस वसिष्ठ की) ओर

देखकर दयावश मेरे वचनों को आदर से सुनकर, उद्बुद्ध हो, देहेन्द्रियादि परिच्छिन्न आत्मभाव का परित्याग कर यथार्थब्रह्मात्मता प्राप्त कीजिए ॥३७॥

आज ही आत्मज्ञान से क्या प्रयोजन है आगे चलकर कभी आत्मज्ञान कर लेंगे यों सोचनेवाले के प्रति कहते हैं।

जो पुरुष, आज ही मृत्युरूपी आपत्ति की चिकित्सा (प्रतीकार का उपाय) नहीं करता वह मूढ़ मृत्यु जब सिर पर सवार होगी तब व्याकुलावस्था में क्या करेगा ? ॥३८॥ अपने असली स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए इस ग्रन्थ को छोड़कर दूसरा ग्रन्थ नहीं है, इसलिये जैसे तैलार्थी (तेल चाहनेवाले) तिलों का संग्रह करते हैं वैसे ही अपना कल्याण चाहनेवालों को यह इच्छित अर्थ देनेवाला है इस बुद्धि से इस ग्रन्थ का संग्रह करना चाहिये ॥३९॥

यदि कोई प्रश्न करे कि अन्य अध्यात्म ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है,? तो इसपर कहते हैं।

यह शास्त्र (ग्रन्थ) दीप की नाईं आत्मरूप ज्ञान को प्रकाशित करता है, पिता के समान हितोपदेश देता है और कान्ता के सामान अत्यन्त आनंद देता है ॥४०॥ नित्यप्राप्त भी जिस आत्मरूप ज्ञान को अनेक शास्त्रों से लोग नहीं जान सके, उस दुर्बोध मधुर ज्ञान को इस ग्रन्थ के अभ्यास से जान जायेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥४१॥ शास्त्रों में मुख्य आख्यानों में यह सर्वोत्तम है यह अनायास ज्ञान देनेवाला अत्यन्त मनोहर एवं अनादि है । इसमें तत्त्ववेत्ताओं के सम्प्रदाय में प्रसिद्ध वस्तु से अतिरिक्त स्वकपोलकल्पित कुछ भी वस्तु नहीं है॥४२॥ विविध आख्यानों और कथाओं से विस्मयजनक इस शास्त्र का कौतुकवश विचार करता हुआ पुरुष आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इसमें जरा भी संशय नहीं है ॥४३॥ सम्पूर्ण शास्त्रों में पारंगत पण्डितों को भी जो बोध (आत्मज्ञान) आजतक प्राप्त नहीं हुआ वह इस शास्त्र से प्राप्त हो जाता है जैसे कि सोने की खान में चालने, धोने से अलग किये गयी बालू से सुवर्ण प्राप्त होता है ॥४४॥

यदि कोई आशंका करे कि इसी शास्त्र से यदि ज्ञान होता है, तो इस शास्त्र के रचयिता को किस शास्त्र से ज्ञान हुआ ? जहाँ से उसे ज्ञान हुआ वहीं से हम भी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेंगे । यदि इस शास्त्र के रचयिता ने ज्ञान हुए बिना ही रचना की है तो इस शास्त्र से ज्ञानोदय की कौन आशा है ? इस पर कहते हैं।

यदि यह शास्त्र युक्तियुक्त न होता और विचार करने पर अनुभूतिप्रद न होता तो इस शास्त्र के कर्ता को कहाँ से बोध हुआ यों उसके कर्ता के बोध के कारणों की छानबीन में निरत होना ठीक होता। यह शास्त्र तो स्वतः हजारों युक्तियों से युक्त है और अनुभवप्रदान करनेवाला है । इसके विचारने पर स्वानुभव से ही सब शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं, इसलिए इसीमें सदा निमग्न होना ठीक है । शास्त्र के रचयिता में बोध हो या नहीं यह शंका कहीं कभी ध्यान में नहीं लानी चाहिए ॥४५॥

अतएव इस शास्त्र की अवहेलना करनेवालों के साथ भूल कर भी कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये, यह कहते हैं ।

अज्ञान से, डाह से अथवा मोह से इस शास्त्र की अवहेलना करनेवाले अविवेकी आत्महत्यारों (卐) के साथ कदापि मित्रता नहीं करना चाहिये ॥४६॥

यदि प्रश्न हो कि यदि ऐसा है, तो आप हम लोगों एवं अन्य अज्ञानियों के साथ क्यों मित्रता करते हैं ? मित्रता के कारण ही तो आप दयावश उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुए हैं ? इस पर कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, ये श्रोता लोग जिस प्रकार के अधिकारी हैं, आप जैसे अधिकारी हैं और जैसी श्रवण-धारणा के अभ्यास में पटु आप लोगों की बुद्धियाँ हैं एवं जैसे मैं आप लोगों को उपदेश देने के लिए आपके पिताजी द्वारा आज्ञप्त हुआ यह सब मैं भलीभाँति जानता हूँ । अतः आप लोगों के महाभाग्योदय से जागी हुई करुणा से आप लोगों को उपदेश देने में प्रवृत्त हुआ हूँ, चूँकि मेरा स्वभाव ही ऐसा है, दीनजनों के प्रति मेरी दया सदा जागी रहती है, निष्ठुरता का तो मुझमें नाम तक नहीं है, इसलिए आप लोगों का हित चाहनेवाले मेरे वचनों पर आप लोग आदर करें, यह भाव है ॥४७॥

अथवा मैं आप लोगों का आत्मा ही हूँ आप लोगों के पुण्य से शुद्ध आत्मतत्त्व का आप लोगों को उपदेश देने के लिए आया हूँ । और मेरे भी आप लोग परम प्रेमास्पद आत्मा ही हैं, इसलिए आप लोगों का मित्र-सा हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं ।

मैं न मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूँ और न राक्षस हूँ, किन्तु आप लोगों का शोधित संविद्रूप सूक्ष्मार्थ (आत्मा) हूँ तथा आप लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश देने के लिए यहाँ पर स्थित हूँ । हे श्रीरामजी, आप लोग भी संवद्रिप ही हैं, अति निर्मल संविद्रूप ही मैं आप लोगों के पुण्योदय से स्थित हूँ । मैं आप लोगों की आत्मा से अतिरिक्त नहीं हूँ ॥४८,४९॥ मैं आप लोगों का अत्यन्त आप्त हूँ , इसलिये जब तक रात्रि के समान अन्धकारपूर्ण मृत्युदिवस पास में नहीं आते तब तक मेरे द्वारा कहा गया सब वस्तुओं में वैराग्यरूप पहला सार पदार्थ बटोरकर रख लीजिये ॥५०॥ जो पुरुष इसी लोक में नरकरूपी व्याधि के प्रतीकार का उपाय नहीं करता, वह औषधिरहित (जहाँ औषधि दुर्लभ है) स्थान में जाकर नरकरूपी रोगों से छटपटाता हुआ क्या करेगा ? ॥५१॥

यदि कोई आशंका करे कि वैराग्य ही परम सार क्यों है ? तो इस पर वैराग्य के बिना वासनाओं की तनुता (अल्पता) की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं ।

जब तक सकल पदार्थों में वैराग्य नहीं प्राप्त होता तब तक पदार्थों की वासना कम (निवृत्त) नहीं होती ॥५२॥

वासना की निवृत्ति में आपका इतना बड़ा आग्रह क्यों है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं ।

(卐) इस मोक्षशास्त्र की अवहेलना करने से आत्मज्ञान की अप्राप्ति ही आत्महत्या है ।

हे महामते, आत्मा का पूर्णरूप से उद्धार करने के लिए वासना की निवृत्ति को छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय न कभी था और न होगा ॥५३॥

पदार्थों के रहते उनकी वासना की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस शंकापर कहते हैं ।

यदि पदार्थ सत्यरूप से रहें तो उनमें से अपने अनुकूल पदार्थों में यह मेरे लिए आवश्यक है इसका मुझे सम्पादन करना चाहिये इत्यादि वासना होती है, किन्तु वे पदार्थ तो खरगोश के सींग आदि की तरह यहाँ है ही नहीं, जगत् में जितने पदार्थ हैं, उनपर जब तक विचार नहीं किया जाता तभी तक रमणीय प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनकी सत्ता है नहीं । विचार करने पर वे सामने खड़े ही नहीं होते हैं, न मालूम कहाँ विलीन हो जाते हैं ॥५४,५५॥

यद्यपि ये पदार्थ वेदान्तियों के विचार में नहीं हैं तथापि कपिल, कणाद आदि के विचार में तो हैं ही, ऐसी अवस्था में आपने उन्हें असत्य ही कैसे मान लिया ? इस शंका पर कहते हैं ।

प्रामाणिक विचार करने पर जो जगत्पदार्थ नहीं टिकते हैं, वे कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? वे एक एक वस्तुरूप हैं या सर्व वस्तुरूप हैं, सदा ही रहते हैं, या कभी ही रहते हैं ? सभी प्रकार से पहले सैकड़ों बार हम उनका खण्डन कर चुके हैं, यह अर्थ है ॥५६॥ जगत् के सभी पदार्थ कारण के अत्यन्त अभाव से सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ही नहीं हुए, जो यह प्रतीत होता है वह परम ब्रह्म ही है ॥५७॥

कारण का अभाव कैसे है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं ।

सभी इन्द्रियों से अज्ञेय स्वप्रकाश चिदेकरस परब्रह्म में मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों से वेद्य होनेवाले पदार्थों के कारण की प्रलयकाल में संभावना तक नहीं की जा सकती है ॥५८॥

नाम और रूप युक्त जगत् का अनाम और अरूप ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, यों दूसरी युक्ति दर्शाते हैं ।

विविध नाम–रूपवाले पदार्थों का नाम–रूपविहीन कारण कैसे हो सकता है ? इसी एक रीति से वस्तु–अवस्तु का कारण तथा शून्य अशून्य का कारण मन ही कहा जा सकता है यह कहते हैं ।

वस्तु में अवस्तुता कैसे हो सकती है और व्योम में अव्योमता कैसे हो सकती है ? ॥५९॥ वट के बीज के समान साकार का साकार ही बीज हो सकता है। बीज वह वस्तु हो उससे साकार विसदृश अन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥६०॥ जिसमें तनिक भी आकृतिवाला कुछ बीज नहीं है, उससे आकृतिवाला विश्व उत्पन्न होता है, यह कथन विडम्बनावस्था के समान निरर्थक है ॥६१॥ उस परम पद में कार्यकारण भावादि नहीं है, बकवास के कारण जो उसमें कार्य–कारणभावादि की कल्पना की जाती है, वह निरी मूर्खता है ॥६२॥ सहकारी और निमित्त कारण के अभाव में कारण से (उपादान कारण से) कार्य की उत्पत्ति नहीं होती सहकारी और निमित्त कारण के अस्तित्व में होती है, यह बात बच्चों तक विदित है ॥६३॥

जगद्ज्ञानरूप होने के कारण भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घटज्ञान में घटकारणता नहीं दिखाई देती, ऐसा कहते हैं ।

कहिये तो सही जगत्–मात्र का अज्ञानरूप चित् पृथिवी आदि का कारण कैसे हो सकता है ?

चित् में अचित् की स्थिति नहीं हो सकती, इसलिए भी चित् जगत् का कारण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं ।

भला कहिये तो सही धूप में छाया कैसे रह सकती है ? ॥६४॥

इसीसे परमाणुकारणवादी बौद्ध आदि के मत का खण्डन हो गया । कारण कि अतीन्द्रिय (इन्द्रियगोचर) परमाणुसमूह इन्द्रियगोचर नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं ।

जो बुद्ध आदि लोग परमाणुओं का समूह ही जगत् है, ऐसा कहते हैं उनका कथन वास्तविक नहीं है, जैसे कोई खरगोश का सींग धनुष के तुल्य है, ऐसा कहे वैसे ही यह भी अज्ञान से कहा जाता है ॥६५॥

यदि परमाणु आपस में मिलकर जगत् की रचना करें तो उनका सदा आकाश में उड़ना, गिरना दिखाई देने के कारण प्रत्येक घर में प्रतिदिन पहाड़ की चोटी–सी और कुएँ का गड्ढा–सा हो जायेगा, ऐसा कहते हैं ।

यदि परमाणुओं का समूह मिलकर जगत् की रचना करता, तो अवयवभूत वे जब चाहते तब आकाश में उड़ते और जब चाहते नीचे गिरते इस प्रकार जगह–जगह, घर–घर प्रतिदिन उसकी अपूर्व धूलि की अम्बार लग जाती अथवा बड़ा गड्ढा हो जाता और दूसरी बात यह भी है कि परमाणु नामक निरवयव कोई द्रव्य किसी को दिखाई नहीं देता है, जालों के अन्दर सूर्य–किरणों में सावयव ही रजःकण दिखाई देते हैं । यदि कहिये उन्हींके अवयव जहाँ तक हो सकते हैं उसकी चरमसीमा निरवयव है ऐसा अनुमान होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह परस्पर संयोग के अयोग्य होने से अद्रव्य हो जायेगा । निरवय का अन्य के साथ संयोग नहीं हो सकता । संयोग एक देश में होता है ऐसा नियम है । संयोग न होने से द्वयणुक आदि की सिद्धि नहीं होगी । दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि अतीन्द्रिय आकाशपुष्प से परमाणुओं के संयोजन द्वारा जगत् की रचना करना किसका काम है ? क्या किसी असंसारी पुरुष का वह काम है या संसारी का ? संसारी की शक्ति तो परमाणुओं से जगत् की रचना करने में कतई नहीं है, यह बिलकुल साफ है । यदि कहो कि संसार के अयोग्य ईश्वर या जड़ का यह काम है, तो उनसे ईश्वर का बिना प्रयोजन के जगत् का निर्माण व्यर्थ है । नित्यमुक्त ईश्वर को कोई प्रयोजन की अपेक्षा भी नहीं है अथवा सृष्टि का कोई प्रयोजन उपपत्तितः सिद्ध भी नहीं किया जा सकता । और जड़ परमाणु अपने आप जगत् सृष्टि में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, यह भाव है ॥६६–६८॥

यदि कोई शंका करे कि चेतन को बुद्धिपर्वक किये गये काम में प्रयोजन की अपेक्षा होती है अबुद्धिपूर्वक किये गये काम में तो प्रयोजन की अपेक्षा नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उक्त जगत्सृष्टिरूप कार्य (ः) किसीका अबुद्धिपूर्वक तो नहीं हो सकता और बुद्धिपूर्वक तो उस व्यर्थ कर्म को कौन पागल करेगा ? ॥६९॥

इस कथन से वायु ही परमाणु का संघात करेगा, बुद्धिपूर्वक व्यापार के बिना ही अणुओं का संघात (मिलन) हो जायेगा, इस आशंका का भी निराकरण हो गया, ऐसा कहते हैं।

जड़ वायु की बुद्धिपूर्वक चेष्टा नहीं है । बुद्धिपूर्वक चेष्टा के बिना परमाणुओं का एकत्रीकरण नहीं हो सकता । जड़ और सर्वज्ञ से (ईश्वर से) अतिरिक्त जीव, प्रलय में शरीर नहीं होने के कारण, असमर्थ ही था, इसलिए सृष्टि के आरम्भ में इसके किसी कर्ता की उपपत्ति नहीं हो सकती है ॥७०॥

यदि कर्ता के अभाव से जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ तो हम लोगों का क्या स्वरूप है ? कैसे जगत् में स्थित है ? इस शंका पर कहते हैं ।

ये हम लोग देह आदि मूर्तता से रहित चिदात्मरूप ही हैं एवं अन्य लोग भी हमारी नाईं ही चिदात्मरूप ही है तथापि जैसे स्वप्न में आपके स्वप्नमानव होते हैं वैसे ही अपनी कल्पना से ही स्थित हैं ॥७१॥

इस प्रकार सब कुछ उत्पन्न होने से ब्रह्मअद्वैत सिद्धान्त ही निर्बाध है, यह कहते हैं ।

इसलिए न तो जगत् कुछ उत्पन्न ही होता है और न विद्यमान ही है। इस प्रकार जगत् के रूप से निर्मल चिदाकाश ही अपने में अपने आप विकसित होता है ॥७२॥ जैसे वायु में स्पन्द, जल में द्रवता और आकाश में शून्यता इनसे (वायु आदि से) अभिन्न ही चारों ओर विश्रान्त हैं वैसे ही चिदाकाश में विश्वाकाश अभिन्न होकर ही चारों ओर विश्रान्त है ॥७३॥

जगत्–शून्य चिदाकाश का जो स्वरूप पहले दृष्टान्तपूर्वक अनेक बार अनुभव में बैठाया गया है, उसीका स्मरण कराते हैं।

अत्यन्त दूर से भी दूर एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में दोनों देशों के मध्य में एक क्षणभर के लिए संवित् का जो स्वरूप है, वही निर्विषय चिदाकाश का स्वरूप समझिये ॥७४॥ सब पदार्थों का संविदाकाश ही परमार्थ स्वभाव है, वे सब पदार्थ संविदाकाशमय, चिदाकाशसदृश और चिदाकाशरूप ही हैं, इसलिए विश्व की चिदाकाशरूप से ही भावना करनी चाहिये शून्यरूप से भावना नहीं करनी चाहिये ॥७५॥ पूर्वोक्त चिदाकाश की स्वभाव से अभिन्न ही विवर्तभाव से जो परम स्थिति है उसी को आपातदर्शी व्यवहारी 'जगत्' नाम से पुकारते हैं ॥७६॥ इसलिए

(ः) जिसकी सुन्दर रचना मन को चक्कर में डाल देनेवाली है, अनेक भुवन, गिरि, नदी, तालाब आदि से युक्त है तथा जरायुज, अण्डज आदि चार प्रकार के प्राणियों से पूर्ण है ।

जगत् और चिदाकाश ये दो कदापि परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं है जैसे पवन और स्पन्द दोनों का एक ही रूप है वैसे ही इनका एक ही स्वरूप है ॥७७॥ क्षणभर में एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में मध्य में ज्ञान का सकल विशेषों से शून्य जो स्वरूप है वही अनुभव का मुख्य दृष्टान्त है उससे अन्य नहीं ॥७८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वही अशेष विशेषों से शून्य चिदाकाश सब भूतों का स्वभाव है, उसी में ज्ञानी लोग समाधि द्वारा स्थित रहते हैं, चिदाकाशरूप उससे ये पृथिवी आदि पदार्थ विचलित नहीं होते हैं ॥७९॥ यह विश्व चिद्रूपी दर्पण में आभासाकाश ही है, उसका अवभासन भी चित् की प्रभारूप ही है। निराकार अविनाशी चित्स्वभाव को ही विद्वान पुरुष जगत् कहते हैं ॥८०॥ यह जगत् न तो उत्पन्न होता है, न उत्पन्न होकर विनष्ट होता है और न कभी भविष्य में होनेवाला ही है । यह चिदाकाश से वैसे ही अभिन्न है जैसे कि आकाश से शून्यता अभिन्न है ॥८१॥ न जगत् है, न कभी था और न कभी होगा । यह परम शान्त चिदाकाशका आत्मा में ही अवभास हो रहा है ॥८२॥ जैसे स्वप्न में चिन्मय ही नगर पर्वत आदि के रूप से प्रकाश में आता है वैसे ही इस जगत् नामक स्वप्न में वह चिदाकाश ही स्वयं जगत् के रूप से प्रकाशित हो रहा है ॥८३॥ सृष्टि के आरम्भ में पृथिवी आदि पदार्थों की सत्ता ही नहीं है, इसलिए पार्थिव आदि देह का कैसे संभव हो सकता है ? इसलिए यह भासमान शरीरता आकाशरूप चिति का स्वप्न ही है ॥८४॥ स्वयम्भू नाम का अपना शरीर महाचिति का पहला स्वप्न है । तदनन्तर स्वयम्भू शरीर से उत्पन्न हुए हम लोग दुसरे स्वप्न के सदृश हैं ॥८५॥ इसलिए जैसे गलगण्ड में (गण्डमाला में) निकले हुए फ़ोड़े का गले से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ब्रह्म से हमारा भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है यों व्यवहित सम्बन्ध की दृढ़-भ्रान्ति होने के कारण हमारा मन भी, चाहे कितने ही प्रयत्न से क्यों न प्रेरित किया जाय, ब्रह्म में शीघ्र नहीं जायेगा ॥८६॥ जैसे गला ही गण्डमाला के रूप में स्थित होकर गण्डमाला के ऊपर निकले हुए फोड़े के रूप से भी स्थित यानी उससे अभिन्न है फिर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ व्यष्टिजीवरूप असत्य पुरुष होकर देहरूप से पृथक् प्रतीत होता है । जभी से ब्रह्म जीवरूप हुआ तभी से यह मिथ्या जगत् स्थित है ॥८७॥ ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त सारा जगत् स्वप्नजगत् के समान अलीक (असत्य) ही उत्पन्न होता है और स्वप्न जगत् के समान ही नष्ट हो जाता है ॥८८॥ जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही जगत् का रूप धारण कर लीन हो जाता है वैसे ही जाग्रत नामक स्वप्न में भी, जन्म धारण किये बिना ही, जगत् का रूप धारण कर नष्ट होता है ॥८९॥

यदि जगत् असत् (अनृत) है तो इसका अनुभव कैसे होता है और कैसे यह सत्य की नाईं स्थित है, क्योंकि खरगोश के सींगों में, जो असत् हैं, ये दोनों बातें नहीं दिखाई देतीं ? इस शंका पर कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में संवित् ही नगर, पर्वत, नदी आदि के रूप से उदित होती है वैसे ही अलीक (असत्) होते भी अनुभूत और असत् होते भी सत्यवत् स्थित यह जगत् संवित् से ही उदित है, अतः संविद्रूप ही है । शून्यरूप नहीं है ॥९०॥ स्वप्ननगर आदि के समान ही निराकार होती हुई भी साकार-सी संवित् जगत् रूप से स्थित है । जैसे मेरु पर्वत के धूलि-कण परमाणु के समान अणु हैं वैसे ही संविदाकाश आकाश से भी अणु (सूक्ष्म) है ॥९१॥

आकाश से भी बढ़कर अणुता नाम का धर्म कहाँ प्रसिद्ध हैं ? जो कि संविदाकाश का (ब्रह्म का) धर्म होगा, इसलिए आकाश से भी बढ़कर अणुता उसका धर्म नहीं है । तब अणुता कहने का तात्पर्य क्या है ? इस आशंका पर कहते हैं ।

जगत् का आकार स्थूल आकार अणुरूप कारण के बिना नहीं बन सकता, यह कहने के लिए उसे अणु कहा है ॥९२॥

यदि कोई शंका करे कि ईंट आदि से नगर आदि की उत्पत्ति दिखलाई देती है, अतः जगत् से ही जगत् की उत्पत्ति हो, न कि ब्रह्म से । इस पर कहते हैं ।

जो नगर आदि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न नहीं हुआ वह जगत् से कैसे उत्पन्न हुआ ? दूसरी बात यह भी है कि स्वप्न में ईंट आदि के बिना ही नगर आदि दिखाई देते हैं । जाग्रतवेदनाकाश में जो नगर है, वही हमारे सिद्धान्त में स्वप्न में भी नगर है और वहाँ पर व्यभिचार स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ ईंट आदि से नगर निर्माण नहीं होता है ॥९३॥

इस प्रकार स्वप्नपदार्थ और जाग्रत्पदार्थों का परस्पर भेद न होने पर स्वप्नपदार्थों का चिदाकाश से भेद न होने के कारण जाग्रत्पदार्थों का भी चिदाकाश से अभेद सिद्ध हो गया, इस अभिप्राय से कहते हैं ।

जैसे शून्य और आकाश का परस्पर कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही है वैसे ही स्वप्न-पर्वत और चिदाकाश में भी परस्पर भेद नहीं है, दोनों अभिन्न हैं । जो चिदाकाश है, वही स्वप्न-नगर है ॥९४॥

उक्त अभेद में स्पन्द-वायु और वायु-आकाश दृष्टान्त है, यह कहते हैं ।

जैसे जो ही स्पन्दन है, वही वायु है और जैसे स्पन्दन और अस्पन्दन स्वरूपवाला वायु आकाश से अभिन्न है वैसे ही चिदाकाश और स्वप्ननगर अभिन्न हैं ॥९५॥ इसलिए चिदाकाश ही जगत् के आकार में दिखाई देता है । यह सब चिद्रूपी सूर्य का निराधार प्रकाशन है ॥९६॥ यह समस्त जगत् जन्मविनाशरहित अखण्डस्फुरणरूप निर्मल निर्विकार पत्थर के समान स्तब्ध शान्त (ब्रह्म) ही है ॥९७॥

इस तरह चित् की प्रपंचशून्यता सिद्ध हुई, यह कहते हैं ।

इसलिए जरा आप कहिए तो सही कैसे पृथिवी आदि पदार्थ हैं ? कहाँ से ये उत्पन्न हुए हैं, कहाँ

पदार्थबुद्धि है ? कहाँ द्वैत है ? कहाँ अद्वैत है ? कहाँ मैं हूँ ? कहाँ पदार्थ हैं और कहाँ वासना है ? ॥९८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप निर्विकार शुद्ध बोधरूप तत्त्व के परिज्ञान से उक्त तत्त्व में एकरूप होकर सदा राज्य का परिपालन आदि व्यवहार करते हुए भी उसमें 'मैं कर्ता हूँ', यह अभिमान न होने के कारण विकार से रहित परस्पर विरोधी द्वैत और अद्वैत से युक्त होकर और अन्दर अत्यन्त शीतल ही निरतिशय आनन्द को प्राप्त होइये, क्योंकि विक्षेप के कारणभूत ये पदार्थ है ही नहीं ॥९९॥

एक सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चारवाँ सर्ग

जैसे आकाश आदि की वायु आदिरूपता अनुभव से सिद्ध है वैसे ही चित् की अनुभवतः जगद्रूपता का साधन।

चिन्मात्र ही स्वप्न की भाँति जगत् के आकार से प्रतीत होता है, ऐसा जो पहले कहा था, अनुभव का अवलम्बन होने पर प्रमाणों द्वारा पदार्थ तत्त्व की जिज्ञासा कर रहे सभी को उसी की शरण में जाना होगा उसके सिवा दूसरा चारा है ही नहीं । भले ही आकाश आदि के क्रम से सृष्टिकल्पना परम्पराओं से अतिदूर जाकर ही उसका समाश्रय लें, ऐसा प्रतिपादन करने के लिए आकाशादि की आचार्यप्रसिद्ध स्वरूपस्थिति कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, शब्दतन्मात्र आकाश है और स्पर्शतन्मात्र वायु है । उन दोनों के अत्यन्त संघर्ष से उत्पन्न हुआ रूपतन्मात्र तेज है । उक्त तेज की शान्ति (उष्णता और रूक्षता के शमन द्वारा शीतलता द्रवत्वाश्रयरूप रसतन्मात्र) जल का रूप है । आकाश, वायु, तेज और जल का संघ (इनका मिलन होने पर घनीभाव का हेतु गन्धभाव) पृथिवी है । इस प्रकार चित् से ही स्वप्न-सदृश जगत् भान में यह क्रम है । यहाँ पर हमारा प्रश्न है कि अमूर्त आकाश से पृथिवी पर्यन्त मूर्त पदार्थसंघ कैसे हुआ ?

इसके उत्तर में यदि कोई कहे कि आकाश से क्रियास्पर्श प्रधान वायु ही उत्पन्न होता है । वह रूप ही न होने के कारण कुछ अंश में मूर्त के तुल्य है, इससे रूपतन्मात्रप्रधान मूर्त तेज को उत्पन्न करेगा, तो यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि निरवयव कूटस्थ आकाश से वायु की ही सिद्धि नहीं हो सकती । कोई भी निश्चेष्ट तथा निरवयव पदार्थ न तो कुछ बना सकता है और न उसमें विकार हो सकता है । यदि वह सम्पूर्ण रूप से विकृत हो जाय, तो आकाश के अभाव से वायु आदि के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा । यदि आधा या उससे कम आकाश विकृत होता है, यह मानो तो आकाश भी अवयववान् हो जायेगा । यदि कहो अवयववान् भी हो तो क्या हानि है ? तो समानरूप से वही स्पर्शवान् भी हो जायेगा, ऐसी स्थिति में वायु आदि की उत्पत्ति की व्यर्थता तथा निरवकाशता और एक आकाश और उसके अवयवों की भी निरवकाशता हो

जायेगी । इस प्रकार रूपरहित वायु से भी रूपतन्मात्र की उत्पत्ति का आरम्भ से (आरम्भवादानुसार) या परिणाम से (परिणामवादानुसार) निरूपण करना कठिन ही नहीं असंभव ही है । कारण कि कारण के गुण कार्य के गुणों के आरम्भक होते हैं, ऐसा नियम है । वायु में रूप का अभाव है । परिपाक से परिणाम होता है और तेज के बिना परिपाक की भी संभावना नहीं है, इसी प्रकार अग्नि, जल आदि उत्तरवर्ती भूतों में भी समझ लेना चाहिये॥१,२॥

यदि कोई कहे कि अनुभव से ही कूटस्थ आकाश से चलनात्मक वायु की उत्पत्ति, रूपरहित वायु से रूपवान् तेज की उत्पत्ति, नीरस तेज से रसरूप जल की उत्पत्ति तथा गन्धहीन जल से गन्धवती पृथिवी की उत्पत्ति की कल्पना करेंगे । अनुभवरूप भगवती संवित् ही हम लोगों के सारे विरोध को हटाकर अनुभवानुरूप सब पदार्थों का समर्थन कर देगी । इस पर कहते हैं ।

यदि दूर की उड़ान भर कर अन्त में फिर लाचार होकर संवित् की ही शरण लेनी पड़ती है, तो पहले ही जैसे वह स्वप्न आदि में स्वप्न जगत् का वेष धारण करती है वैसे केवल विवर्त से सारे जगत् का वेष धारण करती है, इस सर्वार्थसाधक निर्मल सिद्धान्त को मान लेने में कौन दोष है ? ॥३॥

उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं ।

अति निर्मल संवित् ही अपने स्वरूप में भासित होती है, यह कथन 'वही जगत है' यों परमार्थ सत्यस्वरूप अधिष्ठान के बल से तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि यथार्थवादिनी श्रुति के बल से सत्य ही है, यह सिद्धान्त रहस्य हम पहले ही कह चुके हैं ॥४॥ न तो कहीं पर पाँच भूत हैं और न घट, दीवार आदि भौतिक पदार्थ ही हैं, किन्तु फिर भी जैसे स्वप्न आदि में भूतभौतिकशून्य चिति ही भूतभौतिक के समान सबको दिखलाई देती है वैसे ही जाग्रत में असत् भी भूतभौतिक पदार्थ चितिबल से सत्य-से अनुभूत होते हैं ॥५॥ जैसे स्वप्न में चित्स्वभाव आत्मा ही नगर पर्वत, आदि के तुल्य प्रकाशित होता है वैसे ही जाग्रत में भी वह सत् चित् सुखरूप आत्मा जगत् के समान प्रकाश में आता है ॥६॥ मैं चेतनाकाश ही हूँ, यह जगत् भी चेतनाकाश रूप ही स्थित है, इसलिए मैं और जगत् दोनों एक ही हैं । वस्तुतः केवल शिला के समान ठोस चिदाकाश का ही अस्तित्व है ॥७॥ जो आदि सृष्टि में जगत् की उत्पत्ति है और कल्प में (प्रलय में) उसकी निवृत्ति है अथवा जो जगत् की स्थिति है, वह निराकार चिदाकाश ही है ॥८॥ निर्मल आत्मस्वरूप के ज्ञात हो जानेपर जो दुःखलेशशून्य अक्षय सुखता (भूमानन्दरूपता) है, वही मोक्ष है । उक्त मोक्ष देह के रहते या न रहते एक सा है । (जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में कोई भेद नहीं है) । उस मोक्ष में पूर्ण निर्भर विश्राम आपको प्राप्त हो उतने से ही आपकी कृतकृत्यता है ॥९॥

एक सौ चारवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पाँचवाँ सर्ग

चित् का ही जाग्रत के तुल्य और चित् का ही स्वप्न के तुल्य भान होता है,
इसलिए जाग्रत और स्वप्न में कोई अन्तर नहीं है, यह वर्णन।

जगत् की पूर्वोक्त स्वप्नसमानता का विस्तार से वर्णन करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।

चित्स्वभाव आत्मा अपनी कलनारूप अपने से अभिन्न स्वभाव जगदाकारका स्वयं अनुभव करता हुआ स्थित है। अर्थात् स्वप्न में जिस प्रकार आत्मा अपने से अभिन्न अपनी कल्पनारूप पुर, नगर आदि का अनुभव करता हुआ स्थित रहता है वैसे ही जगदाकार अपने स्वभाव का अनुभव करता है, जो अपने से अनन्य (अभिन्न) है और अपनी ही कल्पना है ॥१॥ यह जाग्रत् निरा स्वप्न है, जो कि जगत्रूप से त्यक्त न होता हुआ अज्ञानरूप ही है, मूलतः शिलारूप ही है और अधिष्ठान रूप से शून्य आकाश ही है ॥२॥

स्वप्न भी ऐसा ही होता है, अतः वही इसका ठीक–ठीक उदाहरण है, यह कहते हैं।

इस विषय में विविध नगरों से अलंकृत स्वप्न ही दृष्टान्त है, स्वप्न में जगत् का नामलेश भी नहीं रहता फिर भी वह इसी प्रकार देदीप्यमान प्रतीत होता है ॥३॥ जैसे स्वप्न में यह असत् ही त्रैलोक्य अवभासित होता है वैसे ही इस जाग्रत् अवस्था में भी अवभासित हो रहा है, इसमें जरा भी स्वप्न से निरालापन नहीं है ॥४॥ जगत्–शब्द के अर्थ का (जगत् का) न तो जाग्रत में संभव है और न स्वप्न में ही संभव है, वस्तुतः चिदाकाश का जो स्वकीय अवभासन है उसे ही अज्ञानीजन जगत् मान बैठे हैं ॥५॥ अपने आप होनेवाले चिदाकाश ने अन्धकार से आवृत आत्मरूप आकाश में पर्वत, नगर आदि का स्वरूप धारण करनेवाले अपने चमत्काररूप तम को जाग्रत स्वप्न में जगत् समझा है ॥६॥ यह जगत् कुछ नहीं है (शून्य है), भास्यमान जगत् के शून्य होने से उसका भासक चित् का रूप भी कुछ नहीं है। ये अत्यन्त असत् चित्त और जगत् (ग्राह्य और ग्राहक) ब्रह्म में मिथ्या ही भासित होते हैं ॥७॥ जैसे स्वप्नावस्था में भासित हुआ त्रैलोक्य वास्तव में कुछ नहीं है, शून्य है वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी भासित हो रहा यह त्रैलोक्य स्वरूपहीन (निराकार) शून्य ही है ॥८॥ हे महात्मन्, विविध प्रकार के गृह, उपवन आदि की निर्मितियों से शोभायमान स्वप्न में आरम्भ अनारम्भ ही है और असत् सत् के समान व्याप्त है ॥९॥ ब्रह्म ही अत्यन्त विस्तृत शून्यरूप आकाश पहले बना और भूताकाश ही क्रमशःवायु आदि बनकर पर्वतसमूह और विविध नगरों का समूह बना, यह महान् आश्चर्य है ॥१०॥ जैसे स्वप्न में मेघों, सागरों और पर्वतों की गर्जन आदि ध्वनि सोये हुए एक स्वप्नद्रष्टा पुरुष के प्रख्यात होने पर पास में सोये हुए दूसरे के (स्वप्न के अद्रष्टा के) प्रति शून्य ही है, क्योंकि पास में सोया हुआ पुरुष जागकर भी मेघ आदि या उनके गर्जन को कुछ भी नहीं सुनता, वैसे ही जाग्रत् शब्द आदि भी शून्य ही हैं ॥११॥ जैसे उत्पन्न न हुआ भी वन्ध्यापुत्र स्वप्न

में उत्पन्न होता है वैसे ही उत्पन्न न हुआ भी यह जाग्रत–जगत् उत्पन्न हुआ–सा प्रतीत होता है एवं जैसे मरकर उत्पन्न हुआ भी पुरुष अपनी मृत्यु की विस्मृति होने पर मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, यों समझता है वैसे यह जगत् उत्पन्न हुआ भी अनुत्पन्न ही है ॥१२॥ जैसे स्वप्न में सोये हुए पुरुष का अपनी शयनभूमि का अननुभव उसकी असत्ता सिद्ध करता है वैसे ही सत् वस्तु असत् हो जाती है और सब कुछ विपर्यास को प्राप्त हो जाता है जैसे कि रात्रि ही दिन हो जाती है ॥१३॥ स्वप्न जो असत् है वह शीघ्र ही संभव हो जाता है जैसे कि दिन ही रात्रि हो जाता है और असंभव संभव हो जाता है जैसे कि अपनी मृत्यु का दर्शन ॥१४॥ स्वप्न में असंभव संभव हो जाता है जैसे कि आकाश में जगत् का भान, अन्धकार ही महान प्रकाश बन जाता है और जो निद्रायुक्त (रात्रि) है, वह दिन बन जाता है ॥१५॥ प्रकाश ही अन्धकार बन जाता है क्योंकि उल्लू आदि की नींद ऐसी देखी जाती है कि उसमें दिन ही स्वप्नहेतु (रात्रि) बन जाते हैं ॥१६॥ स्वप्न में गड्ढे में गिरने का अनुभव होने पर शयन भूमि ही गर्ताकाश (गड्ढा) बन जाती है। जैसे स्वप्न में असत्यरूप ही जगत् का इस तरह भान होता है वैसे ही जाग्रत का भी मिथ्या ही भान होता है। स्वप्नजगत् एवं जाग्रत्–जगत् दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है ॥१७॥ जैसे दो (कल का और आज का) सूर्य एक–से होते हैं जैसे दो युग्मज यानी जुड़वे पुरुष एक–से होते हैं वैसे ही ये जाग्रत और स्वप्न भी एक–से हैं। इनमें तनिक भी विलक्षणता नहीं है ॥१८॥

पूर्वोक्त जाग्रत और स्वप्न की समता का खण्डन कर उसमें विलक्षणता दिखला रहे श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जाग्रत् और स्वप्न में तनिक भी अन्तर नहीं है, ऐसा जो आपने कहा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में तो तुरन्त ही स्वप्न का बाध करनेवाली जाग्रतप्रतीति होती है, उसके देखने से मन में अपने आप ही स्वप्न की आभासता का अनुभव हो जाता है, अतः जाग्रत् स्वप्न के तुल्य कैसे हो सकता है ? ॥१९॥

केवल इतने से ही जाग्रत्–जगत् की स्वप्न जगत् से विलक्षणता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्न देशवाली जाग्रत्प्रतीति स्वप्नप्रतीति की बाधक नहीं हो सकती। स्वप्न–स्थान में निद्रायुक्त स्वप्नदेहस्थ पुरुष स्वाप्न बन्धुबाधवों को देखता है स्वप्नदेह के निवृत्त होने पर निद्रारहित जाग्रत्–देहस्थ होकर स्वप्न में देखे हुए बन्धु आदि की असत्ता का अनुभव करता है। अन्य देश में अन्य देह से देखे गये पदार्थों का–देहान्तर और देशान्तर में अन्य का दर्शन होने पर–अदर्शन उनका बाध नहीं कहा जा सकता। पूर्वजन्म के बन्धु–बान्धवों का इस जन्म में दर्शन न होने से बाध भी तो है ही, इस प्रकार जाग्रत और स्वप्न में समता ही है, विषमता नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : रघुवर, यह स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न संसार में स्वप्न संसार के

अपने बन्धु-बान्धवों के साथ विहार कर स्वप्नदेह-निवृत्तिमय मृत्यु को प्राप्त होता है, स्वप्न संसार में मरकर स्वप्न के प्राणियों से वियुक्त होकर जीव जाग्रत संसार में अनेकानेक सुख-दुःख दशाओं, भ्रान्तियों तथा रात्रि और दिन के विपर्यासों का अनुभव कर स्वाप्न शरीर का त्याग करता है। फिर नींद टूट जाने के कारण निद्रा के अन्त में शयन देश में उत्पन्न होता है और जाग्रत्-देह से सम्बद्ध होता है। तदुपरान्त ये स्वप्न संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर (स्वप्न शरीर का त्याग करके) दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न को देखने के लिए पुनः जाग्रत्-शरीर से सम्बद्ध होता है वैसे ही जाग्रन्मय स्वप्न देखनेवाला जाग्रत्संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न देखने के लिए फिर पैदा होता है ॥२०-२५॥ जैसे जाग्रत् में मरकर अन्य जाग्रत् में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्वजाग्रत-प्रपंच में वह स्वप्न तथा असत् था इस प्रकार की प्रतीति को प्राप्त नहीं होता वैसे ही एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न को प्राप्त हुआ पुरुष उत्तर (बाद के) स्वप्न में जाग्रत् प्रतीति ग्रहण करता है। उत्तर स्वप्न में जाग्रत्प्रतीति जैसे भ्रान्ति है वैसे ही पूर्वजाग्रत् में स्वप्नता और असत्ता का ग्रहण भी मूढताप्रयुक्त (भ्रम) ही है। फिर स्वप्न में भी अन्य स्वप्नदर्शन का अनुभव करता हुआ स्वप्न का ही जाग्रतरूप से अनुभव करता है इस प्रकार जाग्रत स्वप्न नाम की दोनों अवस्थाओं में जीव न स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता है किन्तु तत्-तत् (जाग्रत स्वप्न के) शरीरों में अभिमान के ग्रहण और त्याग द्वारा जन्म लेता है तथा मरता है ॥२६-२८॥ स्वप्न देखनेवाला जीव स्वप्न में मरकर जाग्रत में जागा हुआ कहलाता है और यहाँ (जाग्रत् में) मरा हुआ स्वप्न में जागा हुआ कहलाता है। इस तरह स्वप्न और जाग्रत की समता ही है विषमता नहीं है ॥२९॥ इस प्रकार एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में स्थिति होने पर दूसरा स्वप्न ही पहले स्वप्न की अपेक्षा वर्तमान होने से विशेष दर्शन यानी जाग्रत् होता है इसी प्रकार जाग्रत में मरकर अन्य जाग्रत्रूप स्वप्न में जागे हुए पुरुष का पूर्व जाग्रत अवश्य स्वप्न है॥३०॥ जाग्रत और स्वप्न दोनों ही उपन्यासमय (ग्रंथ के कथा के अर्थ के समान काल्पनिक) ही हैं यथार्थ नहीं है, इसलिए दोनों परस्पर एक दूसरे के उपमान-उपमेय बने हुए हैं ॥३१॥

'इतीहासमयौ' ऐसा दीर्घ पाठ होने पर 'स्वप्न और जाग्रत् कुछ विलक्षण होने पर भी' यह अर्थ है। उक्त पाठ में इति, इह, असमं विषमं यात असमयौ ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिये। 'इतीहासन्मयौ' यह पाठ ठीक है। इस पाठ में जाग्रत और स्वप्न दोनों ही इस तरह असन्मय ही है, यह अर्थ है इस पाठ में जाग्रत और स्वप्न दोनों ही इस तरह असन्मय ही है, यह अर्थ है।

वर्तमान दशा में तो स्वप्न भी जाग्रत के तुल्य ही स्पष्टतया प्रतीत है, अतीत जाग्रत् भी प्रसिद्ध स्वप्न के समान ही उदित होता है। वास्तव में दोनों असत् हैं केवल चिदाकाश का ही स्वप्न जाग्रत के रूप में स्फुरण होता है ॥३२॥ स्थावर और जंगम समस्त प्राणी विचार करने पर चिन्मात्र के सिवा और क्या ठहरते हैं, कुछ भी नहीं ठहरते॥३३॥ जैसे मृण्मय (मिट्टी का बना) पात्र मिट्टी से रहित हो यह कदापि संभव नहीं है वैसे काठ, पत्थर आदि सकल वस्तुएँ भी चित्-चमत्काररूप ही

है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥३४॥ जैसे हमारे स्वप्न की सकल वस्तुएँ चित् के चमत्काररूप हैं वैसे ही जाग्रत की भी सब वस्तुएँ चित्चमत्कार रूप ही हैं । भला बताइये तो सही स्वप्न में जो पत्थर दिखाई देता है वह चित् के चमत्कार को छोड़कर और क्या हो सकता है ? हे प्राज्ञ, इस विषय में विद्वानों के साथ युक्तिपूर्वक विचार विनिमय द्वारा निश्चय कीजिये । विचार–विनिमय द्वारा तत्त्वदृष्टि होने पर वह स्वप्न पत्थर प्रसिद्ध चित् ही ठहरेगा । जैसे स्वप्न का स्वरूप है हूबहू ठीक वैसा ही स्वरूप जाग्रत् का भी है ॥३५,३६॥ इसलिए अध्यारोपपक्ष में चिन्मात्र ब्रह्म ही जगत् के आकार से विभक्त है और अपवादपक्ष में तो समस्त जगत् चिन्मात्र ब्रह्म हो गया है ॥३७॥ जैसे मिट्टीमयपात्र मिट्टी से विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मयचेत्य (जगत्) चित्–शून्य (चिद्व्यतिरिक्त) नहीं दिखाई देता ॥३८॥ जैसे पत्थर का बना हुआ पात्र पत्थर–विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) भी चित्भिन्न नहीं मालूम होता ॥३९॥ जैसे द्रवरूप जल द्रवहीन नहीं पाया जा सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चित्व्यतिरिक्त नहीं हो सकता । जैसे उष्णतारूप अग्नि उष्णताशून्य मिले यह कदापि सम्भव नहीं है, वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) चिद्व्यतिरिक्त कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है ॥४०,४१॥ स्पन्दमय (चलन–स्वभाव) वायु कदापि स्पन्दशून्य नहीं प्राप्त हो सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चित्–शून्य कदापि नहीं मिल सकता ॥४२॥ जो वस्तु जिससे बनी है उसके बिना वह कैसे प्राप्त हो सकती है । आकाश अशून्य कहाँ मिलता है और पृथ्वी अमूर्त कहाँ प्राप्त हो सकती है ? ॥४३॥ जैसे स्वप्न में घट, पट आदि पदार्थ चिदाकाशमय ही हैं वैसे ही ये जगत् के पर्वत, नगर आदि एकमात्र चिदाकाश के आभास हैं ॥४४॥ हे सुन्दर, जैसे स्वप्न में प्रसिद्ध नगर, पर्वत, गृह आदि संविन्मय (चिन्मय) आकाश ही हैं वैसे ही जाग्रत में प्रसिद्ध नगर, पर्वत आदि भी संविन्मय गगन ही है । इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत विकल्पशून्य असीम अखण्ड चिन्मात्ररूप ही सिद्ध हुए । इस प्रकार के तत्त्व के विषय में वादियों का विवाद वृथा है ॥४५॥

एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छठवाँ सर्ग

विविध लक्षणों से पुनः चिदाकाश का प्रदर्शन-सा किया जाता है और चिदाकाश ही जगत् है इसका विस्तार से वर्णन।

विस्तार से वर्णित जगत् की स्वप्न–तुल्यता से जिस प्रकार का चिदाकाशमात्र तत्त्व ज्ञातव्य है, उसके स्वरूप का पहले एक बार नहीं सैकड़ों बार वर्णन हो चुका है तथापि शायद किन्हीं मन्दमतियों की समझ में न आया हो इस तरह की संभावना कर उसके ऊपर दयावश पुनः उसीका स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षणों से खूब भलीभाँति उपपादन सुनने के लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, जिसे आप परब्रह्म, चिदाकाश कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है ? कृपया और कहिए । यद्यपि आप पहले भी उसका लक्षण कह आये हैं, फिर भी आपके

मुखारविन्द से इस अमृत के तुल्य मधुर विषय को सुन रहे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥१॥

पूर्व प्रस्तुत श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्रीवसिष्ठजी जाग्रत स्वप्न की तुल्यता का रामचन्द्रजी के प्रश्नोत्तर की पूर्वपीठिका के रूप से अनुवाद करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : जैसे समान रूपरेखावाले दो यमज (जुड़वे) भाइयों के, व्यवहार के लिए, दो पृथक् नाम रक्खे जाते हैं वैसे ही अखण्ड चिद्रूपी शिलामय (अखण्ड-चिद्रूपी शिला में प्रतिबिम्बितप्राय) समान रूपरेखावाले जाग्रत-स्वप्नरूप दोनों प्रपंचों के दो नाम रक्खे जाते हैं ॥२॥ दो जलों की तरह वस्तुतः इन दोनों में (जाग्रत् और स्वप्न में) भेद नहीं है, ये दोनों निर्मल चिन्मात्र आकाशरूप एक ही हैं ॥३॥

उक्त चिदाकाश के पूर्वोक्त लक्षण का स्मरण कराते हुए प्रथम कहते हैं ।

एक देश से दूसरे देश में पलक भर में गई हुई संवित् का मध्य में जो निर्विषय रूप है, वही चिदाकाश कहा जाता है ॥४॥ जड़ों से पृथिवी का रस खींचते हुए वृक्ष का जैसा ह्रासवृद्धिशून्य आह्लादभाव प्रसिद्ध है वैसा ही चिदाकाश कहा जाता है ॥५॥ जिसकी सकल कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हों, चित्त शान्त हो चुका हो, उस पुरष का जैसे सकलविषमताशून्य सहजसुखस्वरूपानुभव है (कारण कि निर्विक्षेप दशा में 'मैं सुखपूर्ण हूँ' ऐसा सबको अनुभव होता है) वैसा ही चिदाकाश है ॥६॥ निद्रा आने के पूर्व और जागरण के अन्त में (नींद न आई हो तुरन्त आने ही वाली हो, जाग्रत में मन को भटकानेवाले विषयों का नाश हो गया हो याने जाग्रत के अन्त में) स्वस्थ पुरुष का जो भाव है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥७॥ वर्षाऋतु या शरद्ऋतु में वृद्धि को प्राप्त हो रहे पेड़, पौधे और झाड़ियों का जो ममताहीन आनन्दभाव है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥८॥ बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयों के भोग से रहित जीवित पुरुष का शरद ऋतु के आकाश के समान स्वच्छ जो भाव है, वही चिदाकाश है ॥९॥ ब्रह्मा ने काठ, पत्थर और पर्वतों की जो निश्चेष्ट स्थिति का निर्माण किया है वही यदि चेतन जीवों की सत्तात्मस्थितिरूप हो तो वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१०॥ जिससे सुषुप्ति के साक्षी, स्वप्न और जाग्रत के द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी का उदय होता है और जिसमें अस्त होता है, उसे आप निर्विकार चिदाकाश जानिये ॥११॥ विविध प्रकार के सभी पदार्थज्ञान जिससे ही उदित होते हैं और जिसमें ही आलोचन, विमर्श, अध्यवसाय, हेय और उपादेयरूप से उत्तरोतर परिणत होते हैं वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१२॥ जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सब उदित होता है, जो सर्वस्वरूप है, जिसने सबको सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है और जो सदा सर्वमय है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१३॥ स्वर्ग में, भूमि में, बाहर तथा अपने अन्दर और दूसरे के अन्दर जो समनाम का ज्योतिस्वरूप परमतत्त्व भासता है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१४॥ जिस नित्य असीम विराट् में मजबूत तारों में माला की तरह मूर्त और अमूर्त यह सारा जगत् स्थित है और जिससे उदित हुआ है, वह चिदाकाश है ॥१५॥ जिससे सृष्टि और

प्रलयरूप सब विकार उत्पन्न होते हैं, जिसमें लीन हो जाते हैं और जो सबका उपादान कारण है, वह चिदाकाश है। *(इससे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति से उक्त तटस्थ लक्षण दिखलाया)*॥१६॥ सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्रा के निवृत्त होने पर जिस प्रत्यगात्मा से विक्षेपशक्तिवश जाग्रत स्वप्नरूप और आकाशादिस्वरूप विश्व का आविर्भाव होता है और विक्षेपशक्ति के शान्त होने पर पूर्वोक्त विश्व विलीन हो जाता है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥१७॥ जिसके उन्मेष और निमेष से (पलक उठाने और गिराने से) जगत् सत्ता के प्रलय और उदय (📖) होते हैं, स्वानुभवरूप जो अपने हृदय में स्थित है, उसे आप चिदाकाश जानिये ॥१८॥ यह नहीं है, यह नहीं है इस प्रकार सब तरह से भलीभाँति निर्णय कर जो कुछ नहीं है, सदा सर्वरूप वह चिदाकाश कहलाता है। इस प्रकार सर्वनिषेध का अवधि सर्वात्मरूप उसका लक्षण बतलाया है ॥१९॥ आधे पलक में (झटपट) दूर से एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में मध्य में जो संवित् का रूप है वह चिन्मात्ररूप कहा गया है। *(अर्धोन्मेष इसलिए कहा कि विलम्ब होने पर वृत्ति का विच्छेद होने या अन्य विषय का सम्पर्क होने से शुद्ध चिदाकाश नहीं पहिचाना जा सकता। उपक्रम में उक्त का पुनः कथन उपसंहार जतलाने के लिए है)* ॥२०॥

चिदाकाश के लक्षणों के निरूपणकर उसकी अद्वितीयता की सिद्धि के लिए विश्व की तन्मयता दर्शाते हैं।

बाह्य विषय भोगों और आभ्यन्तर विषयभोगों से युक्त तथा इस प्रकार का यथाभूत तथा यथास्थित यह सारा का सारा विश्व चिन्मय ही है ॥२१॥

ऐसी परिस्थिति में प्रलयअवस्था से सृष्टि अवस्था की भेदप्रतीति कैसे हो गयी इस आशंका पर कहते हैं।

निर्मल आकारवाला अनन्यरूप (एकरूप) होता हुआ भी यह चिदाकाश थोड़े से विकास से अन्य-सा (भिन्न-सा) हो जाता है ॥२२॥

उक्त अन्यताभ्रान्ति वासनावश होती है, जिसे वासना नहीं है, उसे उक्त भ्रम नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियों से पदार्थों का अनुभव करते हुए ही आप वासनाशून्य अन्तःकरण होकर निरतिशय आनन्दरूप चिदात्मा के ज्ञान से युक्त हो सुषुप्ति की तरह स्थित होइये ॥२३॥ वासनाविहीन शान्तचित्त आप चैतन्य रहते पाषाणवत् मौन धारणकर आत्मानन्द में निमग्न होकर बोलिये, भ्रमण कीजिये, पीजिये, भोजन कीजिये ॥२४॥ यह जो दृश्य आपके आगे दिखते हैं, इसका मृगतृष्णा-जल के समान तथा चन्द्रमा में प्रतीत हो रहे द्वैत (द्वित्व) के समान किसी प्रकार

(📖) उन्मेष – चरम साक्षात्कारवृत्ति के आविर्भाव से – जगत् की सत्ता का लय होता है। निमेष से-स्वप्नरूप के आवरण से जगत्-सत्ता का उदय होता है।

भी संभव नहीं है ॥२५॥ कारण के अभाववश यह सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ही नहीं हुआ । क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती ॥२६॥ यदि कहिये कि जो कोई बीज से अंकुर आदि कार्य, अन्वय-व्यतिरेक के दिखाई देने से बिना कारण के उत्पन्न होता है, वह भी बिना कारण के उत्पन्न नहीं होता उसकी उत्पत्ति भी अद्वय ब्रह्म से ही होती है ।

शंका : निर्विकार अद्वितीय ब्रह्म से अंकुर आदि की उत्पत्ति कैसे होगी ?

उत्तर : यथास्थित परमरूप ही उद्‌भूत-सा (विकसित हुआ-सा) प्रतीत होता है ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्यों-का-त्योंही वह पूर्वरूप स्थित रहता है फिर भी जैसे अद्वितीय भी चन्द्रबिम्ब भ्रान्ति होने पर द्वित्व से युक्त होता है वैसे ही वह भी भ्रान्ति से उद्‌भूत प्रतीत होता है ॥२८॥

अद्वितीय ब्रह्म ही वह है तो उसमें अन्यथा ज्ञान कैसे होता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

अद्वितीय ब्रह्म में यह जगत् है इस तरह का जो दृढ़ प्रत्यय होता है, वह अनादि काल से प्राप्त होता अज्ञान से हुआ स्वप्नस्त्री समागम के तुल्य है ॥२९॥ इसलिए न तो दृश्य उत्पन्न हुआ है, न इस समय है और न आगे होगा तथा न नष्ट होता है, जो है ही नहीं, उसका नाश क्या होगा ? ॥३०॥ विश्व (जगत्) परम शान्त चिदाकाश ही है, चिदाकाश ही विश्व के आकार से स्थित है । वह परिणामवश जगत् के आकार से परिणत नहीं हुआ, किन्तु अपने स्वरूप से च्युत हुए बिना स्वस्थ सौम्य वह जगत् सा उदित हुआ है ॥३१॥

यदि कोई प्रश्न करें कि परिणाम से वह जगद्रूप क्यों नहीं होता ? तो इसपर उसकी (दृश्य की) ब्रह्मसमानसत्ता का अभाव होने के कारण उसका (द्रष्टाका) जगद्रूप परिणाम नहीं होता, ऐसा कहते हैं ।

जो यह दृश्य है यह कभी पहले सत् नहीं देखा गया है, पदार्थों के अभाव से द्रष्टा भी नहीं देखा गया, अतः द्रष्टता भी नहीं है ॥३२॥

यदि द्रष्टा और दृश्य अत्यन्त असत् हैं, तो उनकी प्रतीति कैसे होती है ? अत्यन्त असत् का तो कहीं भान नहीं दिखाई देता, यों श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं ।

हे ब्रह्मन्, यदि द्रष्टा और दृश्य असत् हैं, तो कृपया कहिये कि यह द्रष्टा और दृश्य का अवभास क्यों और कैसे होता है ? यद्यपि हे वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ, भगवन्, आप इस विषय का प्रतिपादन पहले कर चुके हैं तथापि पुनः कहने की कृपा कीजिये ॥३३॥

श्रीरामचन्द्रजी की शंका में प्रथम श्लोक द्वारा असत् के भान का संभव स्वीकार कर द्वितीय श्लोक द्वारा सत् परमात्मा का ही माया वश वैसा भान होता है, यह उत्तर देते हैं ।

कारण के अभाव से असद्रूप दृश्य की उत्पत्ति का ही संभव नहीं है, इसकी 'दृश्यता' वह भी प्रौढिनिर्देश है, प्रौढिवाद का अत्यन्त असंभव है ॥३४॥

अतएव यह द्रष्टा, दृश्य असत् का रूप नहीं है, किन्तु परमार्थ ब्रह्म का रूप है, ऐसा कहते हैं ।

द्रष्टा दृश्य भ्रमरूप जो यह जगत् आदि कुछ भासता है, उसे आप परमात्मा का परम रूप जानिये ॥३५॥

यह परमात्मा का ही रूप है, यह कैसे जाना ? इस आशंकापर स्वप्नदृष्टान्त से जाना, यह कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में चिन्मात्र ब्रह्म ही आकाश–उपवन बनता है वैसे ही चिन्मात्र अपने में अपने आप जगद्रूप से भासित होता है ॥३६॥

यदि कोई कहे कि तब इसकी स्वप्नसमानता कैसे है, तो सकल कारणकलापशून्य सुषुप्तितुल्य प्रलय से आविर्भूत होने के कारण ही यह स्वप्नसमान है, ऐसा कहते हैं ।

यहाँ आदि सृष्टि से लेकर कहीं पर भी कुछ भी उपादान कारण नहीं है, केवल ब्रह्म ही इस प्रकार जगत् के रूप से स्फुरित होता है ॥३७॥ अपने आप आत्मा में चिदाकाश का जो विशेष स्फुरण होता है, वह उसीका जगत् नाम से आविर्भूत शरीर अवभासित होता है, चिदाकाश स्फुरण के अधीन इसका स्फुरण है, इससे भी यह स्वप्नतुल्य है ॥३८॥

निर्धर्मक चिदाकाश की जगद्धर्मकता कैसे ? ऐसी आशंका होने पर मायिक विकल्प से ही उसकी जगद्धर्मकता है, यों दृष्टान्त से उपपादन करते हैं ।

जैसे भाव पदार्थ का स्वभाव भावता है जैसे शून्य का शून्यता स्वभाव है तथा जैसे आकारवान् का आकार स्वभाव है वैसे ही चिदाकाश का जगत् स्वभाव है ॥३९॥ सैन्धवघन के समान एकरस परमार्थवस्तु ही माया में चिदाभास इस प्रकार त्रिपुटीरूप होकर स्थित है, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि रूप इसीको जानिए ॥४०॥ माया का त्याग होने पर तो द्वैत का अभाव होने से न भासक है और न भासन है, अनिवर्चनीयरूप यह सत् है या असत् है यह कौन जानता है, क्योंकि बाधित का विचार ही क्या हो सकता है ? ॥४१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, 'न भास्य है और न भासन है' आपके इस कथन के अनुसार यदि परमार्थ तत्त्व द्रष्टा और दृश्य दोनों से शून्य है, तो कार्य कारणतादिरूप भेद कैसे है ? द्रष्टा के बिना किसीकी सिद्धि नहीं हो सकती है । और दूसरी बात यह कि वह किस उपदान कारण या निमित्त कारण से आया । यदि असत्य ही है, कहें तो कैसे सत्यता को प्राप्त हुआ अर्थात् कैसे सब लोगों को सत्यरूप से भासित होता है ? यह मुझे बतलाने की कृपा करें ॥४२॥ पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अपना आत्मा भी चित्प्रकाश (ईश्वर) स्वयं जब प्राणियों की इच्छा, कर्म और वासना के उद्बोधानुसार जिसकी जिस प्रकार (सत्यसंकल्परूप से) भावना करता है, उसको उस समय आप वैसे ही देखते हैं और आपके रूप से उसी ने पूर्वोक्त द्रष्टा दृश्य भाव का अनुभव किया । इससे कार्यकारणभावादि भेद की सिद्धि है ॥४३॥ वह कार्यकारण भावादि आकार चिदाकाश ही है जैसे कि मिट्टी ही घड़ा है,

इसलिए चिदाकाश ही इसका उपादान कारण है और मोह (अज्ञान) ही निमित्तकारण है।

शंका : यह कैसे प्रतीत होता है ?

उत्तर : चूँकि यह स्वरूपभूत चिदाकाश का ज्ञान होने पर ही मोह को प्राप्त नहीं होता अन्यथा मोह को प्राप्त होता है । जैसे स्वप्न में स्वयं ही मोह को प्राप्त होता है, आत्मबोध से मोह का त्याग करता है।

शंका : आत्मबोध में समर्थ ईश्वर स्वयं जीव बनकर क्यों मोह को प्राप्त होता है, क्यों प्रबुद्ध नहीं होता ?

उत्तर : स्वतन्त्र ईश्वर से 'आप समर्थ होकर भी क्यों मोह में पड़ते हैं ?' - ऐसा प्रश्न या आक्षेप करनेवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥४४॥ दुग्धभाव से दधिभाव की प्राप्ति में और पिण्डभाव से घटभाव की प्राप्ति में पूर्वभाव की निवृत्ति होने और उत्तरभाव की उत्पत्ति न होने पर मध्य में पलकभर के लिए जो सन्मात्ररूप से प्रसिद्ध परमार्थ सत्य संवित् का स्वरूप है, वही चिदाकाश है, यह मैं पहले कह चुका हूँ । वही (चिदाकाश ही) यह सब वस्तुरूप से प्रतीत होता है अन्य नहीं, इसलिए इन सब पर सत्यता की प्रतीति हुई है ॥४५॥

जैसे ईश्वर की जीवभाव कल्पना पर कोई आक्षेप करनेवाला नहीं है वैसे ही जीव की भी अपनी अविद्या से कार्यकारणरूप अवस्थाओं की (द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप अवस्थाओं की) कल्पना में भी आक्षेप करना युक्त नहीं है, यह कहते हैं।

यह अविद्या से उत्पन्न हुई कार्यकारणभाव आदि दृष्टियों की जगत् की नाईं कल्पना करता है। इसके प्रति आक्षेपकर्ता कौन हो सकता है ? कोई भी अपने प्रति 'मैं किसलिए ऐसा करता हूँ,' - यों प्रश्न या आक्षेप नहीं कर सकता है, यह भाव है ॥४६॥

आत्मा से अन्य के कर्ता और भोक्ता होने पर तो प्रश्न या आक्षेप हो ही सकता है, ऐसा कहते हैं।

यदि द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता कोई दूसरा हो तो कार्यकारण आदि भेद कैसे है और कौन इसका उपादान है ? यह प्रश्न बन सकता है, अन्यथा नहीं ॥४७॥ जिस स्वप्न में निराभास शुद्ध एक चिदाभास ही अनेक रूपों से विराजमान होता है, वहाँ पर कौन किसपर आक्षेप करे ? ॥४८॥ स्वयम्भू से लेकर ही यह सृष्टिभ्रान्ति तत्त्व के परिज्ञान के अभाव से चिन्मात्र में प्रतीत होती है, तत्त्वज्ञान होने पर तो वह तत्काल ब्रह्म ही हो जाती है ॥४९॥ यह सृष्टिभ्रान्ति ही तत्त्वतः परिज्ञात न होकर शास्त्रों में माया के नाम से पुकारी जाती है, लोक में 'जगत्' नाम से कही जाती है, अज्ञानियों द्वारा 'अविद्या' कही जाती है और तत्त्वज्ञानियों द्वारा 'दृश्य' नाम से वर्णित है ॥५०॥ जैसे अविद्यमान पिशाच भी बालक को अपनी कल्पनावश विद्यमान-सा प्रतीत होता है वैसे ही चिदाकाश प्रकाश को अपना चित्स्वभाव, जो पृथक् सत् न होता हुआ भी सत्-सा जगत्-पिशाच

के रूप में ज्ञात हुआ है ॥५१॥

जैसे स्वप्न में असत् में सत् प्रतीति और निरवयव में सावयव प्रतीति होती है वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं ।

यद्यपि जगत्ता असत्य है, तथापि चिदाकाश को अपने स्वरूप में ही उस का अनुभव होता है । जैसे स्वप्न में चैतन्य की नगरता और पर्वतता असत्य होते हुए भी सत्य-सी निरवयव होते हुए भी सावयव-सी प्रतीत होती है वैसे ही यह जगत्ता सत्य और सावयवी प्रतीत होती है ॥५२॥ मैं मेरु, हिमालय आदि पर्वत हूँ, मैं रुद्र हूँ, मैं समुद्र हूँ, मैं विराट् हूँ, यों स्वप्न में पर्वतता और नगरता की प्रतीति की भाँति आकाश में चिति ही अहंता के अध्यास से अनुभव करती है ॥५३॥

चित्-अनुभव ही सर्ग है, यह क्यों कहते हैं ? प्रधान, परमाणु आदि अन्यान्य कारणों से ही यह उत्पन्न हुआ है, यह क्यों नहीं कहते, इस आशंका पर कहते हैं ।

साकार कारण के अभाव से कुछ भी कार्य उत्पन्न नहीं हुआ, महाप्रलयरूपी चिदाकाश में चित् इस तरह जगद्रूप से स्थित है ॥५४॥ अवयवशून्य चिन्मात्ररूप यह आकाश बिना किसी कारण के ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाश में जगद्रूप से अनुभूत होता है ॥५५॥ सभी जीव-जन्तुओं ने दर्पण के सदृश अपने अन्दर जगद्भेद की कल्पना कर रक्खी है । विचार न करने से (स्वरूपज्ञान सामर्थ्य से शून्य होने के कारण) जड़ होकर वे जीर्ण हो गये हैं । किन्तु विचार कर रहे पुरुषश्रेष्ठ का तो परम पुरुषार्थ, प्रत्यगात्मरूप से अपने अन्दर होने के कारण, समीपगत ही है ॥५६॥ तत्-तत् नामरूपस्वरूप का त्यागकर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाश ही है, यों जगत् को चिन्मात्र जानकर चिदेकघन को पत्थर के समान अचल होना चाहिये । इससे अतिरिक्त मायिक देहावस्था उत्तम नहीं है ॥५७॥

चित् कैसे जगत् के रूप से स्थित है ? इस प्रश्न पर कहते हैं ।

जैसे जल अपने शरीर को परिचालित करता हुआ आवर्त (जलभ्रमि), तरंग आदि के रूप से जगत् में द्रव होकर स्थित होता है वैसे ही चित् 'चेतति' यों व्यापाररूप चित्ता की अपने में कल्पना कर जगद्रूप से स्थित है ॥५८॥

जब अल्पशक्तिवाले कल्पद्रुम आदि भी संकल्पित वस्तुओं की कल्पना करने की शक्ति रखते हैं तब सर्वशक्तिमान् परमात्मा में उक्त शक्ति है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं ।

जैसे कल्पवृक्ष अभीष्ट फल देता है और जैसे चिन्तामणि मन चाही वस्तु देती है वैसे ही चिति भी जिस वस्तु की मन में भावना की जाय, उसकी तत्क्षण पूर्ति कर देती है ॥५९॥ आकाशात्मक चिति चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान शीघ्र ही अपने से अपने अभीष्ट (वांछित) का सम्पादन करती है ॥६०॥ पलक भर में एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्ति होने पर मध्य में जो चिति का

अशेषविशेषशून्य स्वरूप है, तन्मय ही यह विश्व है, इसमें द्वैत और ऐक्य भ्रम कैसे हो सकता है ? ॥६१॥ इस तरह अनन्त भास्वर चित्प्रभा ही जगत् के वेष से स्पष्टतया स्फुरित होती है। जैसे आकाश में शून्यता नीलता के सदृश स्फुरित होती है वैसे ही अवयवरहित भी वह दृश्यता है ॥६२॥ सृष्टि के प्रारम्भ में चित् से विसदृश (विलक्षण यानी जड़) कार्य का उद्भव नहीं हो सकता है, कारण कि विसदृशता में निमित्तभूत सहकारी कारणों का अभाव है । अर्थात् सुसदृश भी कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि भेदक कोई नहीं है, अतः कार्यत्व की असिद्धि है । अतः आद्य चित् ही दृश्य है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह स्वप्न दृष्टान्त से सिद्ध हो चुका है ॥६३॥

एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सातवाँ सर्ग

अचेत्य पृथिवी आदि की अवस्तुता तथा स्वप्न की भाँति जगत् चित् का स्फुरण है, यह उपपादन।

विश्व के चेत्यभाव का निराकरण कर उसमें चिन्मात्र सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं ।

अचेत्य चिन्मय विश्व चिदाकाश चारों ओर भासित होता है, विश्व की सिद्धि चिदाकाशमात्र के अधीन है, अतः उसे चिदाकाशरूप कहा। इसमें चित्, चेतन क्रिया और चेत्य यह त्रिपुटी चिन्मयी है यह प्रतिज्ञार्थ है। इस प्रतिज्ञा में शुद्ध चिदात्मक प्रतिज्ञार्थ के रूप से अभिप्रेत है, यह शेष है ॥१॥

प्रतिज्ञा सिद्धि के दो फल हैं। स्थित जगत् के जगद्भाव की निवृत्ति और जी रहे हम लोगों के जीवभाव की निवृत्ति, ऐसा कहते हैं ।

इसलिए जीता हुआ भी यह सारा प्रपंच मरा सरीखा है । यह, मैं और तुम भी सब जीते हुए भी मरे-से हैं ॥२॥

अथवा उक्त प्रतिज्ञासिद्धि का फल सब पदार्थों की कूटस्थता और अमूर्तता है, ऐसा कहते हैं ।

व्यवहार में प्रतिष्ठित भी सब प्राणी काठ के समान मौन को अर्थात् अत्यन्त निष्क्रियता (निश्चेष्टता) रूप कूटस्थता को ही प्राप्त हैं अथवा सभी स्थावर-जंगम (चर-अचर) पदार्थ आत्यन्तिक अमूर्तता को प्राप्त हैं ॥३॥

अथवा आकाश की नीलता के सदृश भासित हो रहे विश्व की असत्यता को उक्त प्रतिज्ञासिद्धि का फल जानिये, ऐसा कहते हैं।

आकाश में काँच और केशों की नीलता के समान जो कुछ यह व्याप्त है, उसे आप शून्य ही (कुछ भी नहीं) जानिये। कारण कि चिदाकाश से क्या कहाँ से होगा ? आकाश में केशसमूह के समान नीलता, नदी, रथ, धूम्रपंक्ति और मोतियों के सदृश जो आकाश का स्फुरण होता है, उसके अनुभूत (अनुभव में आरूढ़) होने पर भी उसमें वस्तुता नहीं है ॥४,५॥

आकाश में स्फुरित हो रही मोतियों की माला के सदृश ही जगत्-भ्रम है, उसमें भोगाशा करना

ठीक नहीं है, ऐसा फलित कहते हैं ।

वैसे ही इस जगत्–नामवाले चित् के स्फुरणरूप अनुभूत होने पर भी विशेषतः शून्य चिदाकाश में कौन आस्था है और आस्थाजनक कौन पदार्थ है ? ॥६॥ पृथिवी आदि प्रपंच चिद्रूपी बालक की कल्पनाओं का राशिरूप है, शून्यरूप है, व्यर्थ है, अवस्तुरूप है, भ्रान्तिमात्र से आकाश में उदित है, अतः इसमें भोगास्था कैसे संभव है ? ॥७॥ हे मूढ़ लोगों, कहो तो 'यह मेरा है यह मैं हूँ' इस प्रकार की आस्था क्या ठीक है ? अर्थात् अनुचित है ।

प्रश्न : यदि आस्था अनुचित ही है, तो क्यों लोग उस पर आस्था करते हैं ?

उत्तर : हाँ, ठीक है, जैसे बालक के संकल्प में बालक को ही दिलचस्पी है अन्य को नहीं वैसे ही मूर्खजन ही इस असत्प्राय प्रपंचपर आस्था करते हैं, बुद्धिमान नहीं ॥८॥

अतएव जिन्हें तनिक भी विवेक झलक प्राप्त हो गई, उन्हें असत् पृथिवी आदि का लाभ करानेवाला विचार, जो जन्म को निष्फल बनानेवाला है, छोड़कर जन्म को सफल बनाने वाले वैराग्य आदि साधनों का सहारा लेना चाहिये, इस आशय से कहते हैं ।

पृथिवी आदि असत्–पदार्थ के विचार–विमर्श से जन्म वृथा जायेगा, हे आकाश को धोने का उद्योग करनेवाले मूर्खजीव, तेरे हाथ कुछ भी न लगेगा । जैसे सुवर्ण, रत्न आदि के लोभ की इच्छा से प्रवृत्त आदमी यदि सोने और हीरे की खान का धोना–पोंछना छोड़कर आकाश को धोने–पोंछने लगे, तो चाहे कितनी ही मेहनत क्यों न करे फल कुछ न देखेगा वैसे ही पृथिवी आदि असत् पदार्थों का विमर्श भी आकाश धोने के तुल्य वृथा ही है, यह भाव है ॥९॥

पृथिवी आदि की सत्ता का, कोई कारण न होने से अनुत्पत्ति द्वारा, पहले उपपादन कर चुके हैं, ऐसा कहते हैं ।

सहकारी आदि कारणों के अभाव से जो सृष्टि के प्रारम्भ में ही उत्पन्न नहीं हुआ भला बतलाइये तो वह आज कहाँ से उत्पन्न होगा ?॥१०॥

इस व्यवहार में तल्लीनता विद्वानों के लिए हास्यास्पद ही है, ऐसा कहते हैं ।

जो लोग कभी उत्पन्न न हुए अतएव असत् आकाशतुल्य पृथिवी आदि शून्य पदार्थ से व्यवहार करते हैं वे मूढ़ अजात (उत्पन्न न हुए) मृत पुत्र का लालन–पालन करते हैं ॥११॥

तात्त्विक दृष्टि में पृथिवी आदि की अत्यन्त असंभावना अपने अनुभव–बल से कहते हैं।

ये पृथिवी आदि कहाँ से हुए, किससे हुए और कैसे हुए ? इनका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार यह शान्त चिदाकाश ही अपने में अपने–आप स्फुरित होता है ॥१२॥

मूढदृष्टि को तो हम प्रमाण नहीं मान सकते, ऐसा कहते हैं ।

कार्य, कारण, काल आदि की कल्पनावश व्याकुल चित्तवाले जिन मूढ़ों की दृष्टि में इस तरह पृथिवी आदि हैं, उन मूढ़ों से हमें कोई मतलब नहीं है ॥१३॥ तत्त्वज्ञों की दृष्टि में पृथिवी आदि से

रहित और मूढ़ों की दृष्टि में पृथिवी आदि से युक्त जगत् चिदात्मक है या स्वप्न का पृथिवी आदि से रहित जगत् और जाग्रत में प्रसिद्ध पृथिवी आदि से युक्त जगत् दोनों ही चिदाकाशरूप हैं । जैसे स्वप्न आदि में चित्रूपी मणि पृथिवी आदि के रूप में स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश इस प्रकार जगत् के रूप से स्फुरित होता है ॥१४॥ स्वानुभवैक वेद्य जो इस चिदाकाश का निराकार स्वरूप है, वही यह महीतल आदि रूप से वेद्य, दृश्य नाम धारण कर उस तरह स्फुरित होता है ॥१५॥

एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ आठवाँ सर्ग

अविद्या के विनष्ट हुए बिना कहीं भी जगत् का अन्त नहीं है ।
इस विषय में विस्तार के साथ मनोरंजक अविद्याआख्यान का वर्णन।

पूर्ववर्णित संसाररूपी अविद्या का तत्त्वज्ञान से त्रैकालिक असत्तापत्तिरूप बाध हुए बिना देशतः या कालतः अन्त हो सकता है या नहीं ? यों सन्देह में पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

हे मुनीश्वर, यह चिदाकाश की स्वप्ननगरीरूप अविद्या, जो विद्यमान होती हुई भी शून्यरूप अथवा दृश्यरूप है, बाध न होने के कारण जिस पुरुष के प्रति स्फुरित होती हुई विद्यमान है, उस अज्ञानी के प्रति वह कब तक रहती है, उसका क्या स्वरूप है, क्या उपादान है अथवा देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है यह सब मुझसे पुनः कहने की महती कृपा कीजिये ॥१,२॥

उक्त सन्देह की दूसरी कोटि को (देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है, इस अंश को) लेकर वसिष्ठजी उसे पुष्ट करने के लिए 'विपश्चित्' कथा सुनाने के उद्देश्य से श्रीरामचन्द्रजी को सावधान करते हैं ।

जिन अज्ञानियों में भूतल आदिरूप अविद्या विद्यमान है, उनका जैसे ब्रह्म में देशतः कालतः अन्त (परिच्छेद) नहीं है वैसे ही इसमें भी देशतः कालतः अन्त नहीं है । इस विषय में उपपत्ति करानेवाली इस कथा को सुनिये ॥३॥ लोकालोक पर्वत की सुवर्णशिला से स्वच्छ किसी वस्तु में स्थित चिदाकाश के कोने में, उस कोने के भी किसी एक भाग में, इस त्रैलोक्य के तुल्य कोई जगत् इसी जगत्प्रसिद्ध भुवन, द्वीप, देश, काल आदि की व्यवस्था से युक्त है ॥४॥ उसमें जम्बूदीप नामक भूमि का भूषणभूत कोई एक भूमिभाग है । उसमें भी पर्वत, चहारदिवारी, बालू आदि से होने वाली विषमता न होने में (समतल भूमि होने से) मनुष्य, हाथी, घोड़े, रथ आदि के गमनागमन आदि व्यवहार से युक्त भूमि में (समभूमि में) ततमिति नाम से विख्यात एक नगरी थी ॥५॥ उस नगरी में विपश्चित् नाम से विख्यात राजा था, सकल शास्त्रों में विशेष विद्वान् होने के कारण, विशिष्ट सभ्यों से पूर्ण अपनी राजसभा में वह विशेषरूप से शोभित होता था, जैसे कमलिनी में राजहंस शोभित होता है, जैसे नक्षत्रमण्डल में चन्द्रमा विराजमान होता है और जैसे पर्वत श्रेणियों

में सुमेरु शोभा पाता है, वैसे ही वह अपनी सभा में शोभा पाता था ॥६,७॥ सर्वत्र उत्तरोत्तर गुणों के उत्कर्ष–वर्णन में प्रवृत्त कवियों की सूक्तियाँ उस विपश्चित्‌रूप चरमसीमा (अवधि) से गुणों की अनन्तता और निरूपता के कारण वर्णन न कर सकने से लौट जाती थीं (वर्णन नहीं कर सकती थीं)। फिर भी कविजन उसका सत्संग करते ही थे, क्योंकि उससे कवियों की पर्वत के तुल्य विशाल स्थिर, सम्पत्ति, ख्याति और गुणों के उत्कर्ष से उत्पन्न शोभा प्राप्त होती थी । जैसे मेरु अपने आश्रित लोगों मृगों , तृणों और झाड़ियों को अपनी कान्ति से स्वर्णमय बना देता है वैसे ही वह भी सम्पत्ति प्रदान कर उन्हें स्वर्णमय बना देता था ॥८॥ जैसे अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को जगमगानेवाले प्रातःकाल में खिले हुए कमल से सूर्य के प्रकाश से उत्पन्न हुई शोभा प्रकट होती है वैसे ही प्रसन्न वदन तथा अपनी कान्ति से सकल दिशाओं को उद्‌भासित करने में उद्यत राजा विपश्चित्‌ से, प्रखर प्रताप से उपार्जित सम्पत्तियाँ कवियों को प्रातः प्रातः प्राप्त होती थीं ॥९॥ राजा विपश्चित्‌ को सदा ब्राह्मणों के हित का ख्याल रहता था, अतएव देवताओं में वह्नि के ब्राह्मण होने के कारण वह देवताओं में अग्नि की ही भक्ति के साथ पूजा करता था, अग्नि के सिवा और किसी देवता को जानता तक न था ॥१०॥ उक्त राजा के मन्त्रियों में से चार मन्त्री, जो अत्यन्त धीर, विपुलबाहुबलशाली, निर्भय सेना से प्रभावान्वित थे, चार दिशाओं में चार सागरों की भाँति शत्रुसेना के निरोध के साथ देशव्यवस्था करने के लिए नियुक्त थे । सागर मछलियों और मगरों के झुण्ड के झुण्ड से भरे रहते हैं तो मन्त्री हाथी, घोड़ों से युक्त थे, समुद्र आवर्तों की (जलभ्रमियों की) राशियों से भरे होते हैं तो मन्त्री सेना से घिरे रहते थे ॥११,१२॥ उन मन्त्रियों के कारण वह राजा सकल दिशारूप पहियों का नाभि की तरह आधारभूत बनकर सुदर्शन चक्र के समान शत्रुओं द्वारा अतिरस्करणीय और स्वयं विजेता हो गया था ॥१३॥ एक समय पूर्व दिशा से एक चतुर गुप्तचर उसके पास आया । उसने एकान्त में राजा से कालगति के समान अनिवार्य होने के कारण कर्णकटु वचन कहा ॥१४॥ 'भगवन्‌, विशाल बाहुरूपी वृक्षोंपर डाले हुए पृथ्वीरूपी गऊ के बन्धन से आप कभी विमुख नहीं हुए यानी सदा पृथिवी को आपने अपनी बाहुओं पर बाँध रक्खा है । आप कृपाकर मेरे मुँह से वृत्तान्त सुनिये और फिर जो समयोचित हो उसे करने की कृपा कीजिये॥१५॥ महाराज, पूर्व दिशा के सामन्त की ज्वर से मृत्यु हो गई है । मानों शत्रुओं को परास्त कर चुके आपसे आज्ञा पाकर वे यमराज को जीतने के लिए यमलोक चले गये हैं ॥१६॥ उनके मरने के उपरान्त दक्षिण दिशा के अधिपति (आपके सामन्त) चारों ओर से पूर्व और दक्षिण दिशा को स्वायत्त करने के लिए उद्यत हुए, किन्तु उन्हें भी शत्रु ने पूर्व और पश्चिम की सेनाओं द्वारा आक्रमणकर मार डाला ॥१७॥ उनके मर जाने के उपरान्त पश्चिम दिशा के अधिनायक (आपके सामन्त) ज्यों ही सेना बटोर कर आपकी पूर्व और दक्षिण दिशाओं को शत्रु से मुक्त करने की इच्छा से जा रहे थे त्यों ही रास्ते में शत्रुओं ने पूर्व देश और दक्षिण देश के राजाओं के साथ संग्राम में उन्हें

मार दिया ॥१८,१९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उक्त गुप्तचर जल्दी राजा से यह कह ही रहा था कि प्रलय में जलप्रवाह (बाढ़) के समान दूसरा गुप्तचर राजमहल में प्रविष्ट हुआ ॥२०॥ गुप्तचर ने कहा : महाराज, उत्तर दिशा के अधिनायक (आपके सामन्त) शत्रुओं द्वारा आक्रान्त होकर जिसका बाँध टूट गया ऐसे जलप्रवाह के समान सेना सहित इधर ही आ रहे हैं ॥२१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, यह सुनकर राजा ने विलम्ब को सब वस्तुओं और महलों के लिये खतरनाक समझकर सुन्दर महल से निकलते हुए यह कहा । 'राजागण, सामन्त और मन्त्रिगण हथियार से लैस कर दिये जाय, शस्त्रागार खोल दिए जाय, सबको भीषण अस्त्र-शस्त्र बाँटे जाय, सैनिक कवच पहन लें पैदल सेनाएँ जल्दी कूच करें, तुरन्त सेना की गिनती की जाय, श्रेष्ठ श्रेष्ठ सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाय, सेनाध्यक्ष की नियुक्तियाँ की जाय और चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछाया जाय ॥२२-२४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भय-चकित राजा त्वरापूर्वक यह सब कह ही रहा था कि द्वारपाल ने घबराहट के साथ प्रवेश कर प्रणामपूर्वक राजा से यह कहा ॥२५॥ द्वारपाल बोला : महाराज, उत्तर दिशा का सेनाधिपति ड्योढ़ीपर खड़ा है जैसे कमल सूर्य के दर्शन की आकांक्षा करता है वैसे ही महाराजधिराज के (आपके) दर्शन चाहता है ॥२६॥ राजा ने कहा : जाओ, बहुत जल्द ही उसे प्रवेश कराओ, उसके मुँह से वृत्तान्त के भली-भाँति श्रवण से दिगन्तों में क्या घटना घटी यह जानेंगे ॥२७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : राजा के यह कहने पर द्वारपाल द्वारा भीतर प्रवेशित सेनाध्यक्ष उत्तर दिशा के अधिपति को राजा ने प्रणाम करते देखा, उसके संपूर्ण अंग क्षत-विक्षत थे, प्रत्येक अवयव में प्राण व्याप्त थे, साँस जोर से चल रही थी, निर्बल होने के कारण शत्रु द्वारा जीता गया था । उसने धीरता से देहव्यथा सहनकर लगातार साँस लेते हुए प्रणामपूर्वक राजा से जल्दी जल्दी ये वाक्य कहे ॥२८-३०॥ सेनाधिपति ने कहा : राजन्, तीनों दिक्पाल बहुत बड़ी सेना के साथ मानों आपकी आज्ञा से यम को जीतने के लिए यमपुर चले गये हैं, तदनन्तर उनके देशों का परिपालन करने में अशक्त मेरा पीछा कर रहे बहुत से राजा यहाँ जबर्दस्ती पहुँचे हैं। आपके मण्डल में शत्रुओं की यह बड़ी भारी सेना प्राप्त हुई है, सो हमारी पराजित सेना की जैसी दुर्दशा इन लोगों ने की है वैसी ही इनकी दुर्दशा कीजिये आपके लिए कुछ भी दुर्जय नहीं है ॥३१-३३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इसके बाद युद्धभूमि में क्षतविक्षत शरीरवाले अतएव पीड़ित उत्तरदिशाधिपति यह कह ही रहे थे इतने में दूसरे आदमी ने प्रविष्ट होकर राजा से यह कहा : महाराज, इस मण्डल के लोग पीपल के पत्तों की सी कँपकँपी से विशाल बन गये हैं, चारों ओर शत्रुओं की सेनाएँ प्रचुर मात्रा में व्याप्त हैं। शत्रुओं ने लोकालोक तटों की तरह हमारी भूमि घेर ली है, उनके खड्ग, गदा, प्रास और भालों के समूहों की कान्ति चमक रही है। पताका, शस्त्रास्त्र और योद्धाओं से भरे हुए चंचल और सुन्दर सम्पूर्ण सामग्रीवाले रथ इधर उधर चल रहे हैं । वे उड़े हुए त्रिपुरासुर के नगरों के समूह से प्रतीत होते हैं ॥३४-३७॥ वर्षाऋतु के मेघों के सदृश हाथियों

के झुण्ड, जो मांस के वृक्षों से भरे वनके तुल्य है, आकाश में सूँड़ों को उठाते हुए हाथी चिंघाड़ रहे हैं ॥३८॥ घोड़ों के झुण्ड, जो गति के क्रम से पृथिवी की समता, विषमता की नाईं समता विषमता कर रहे हैं, वायु से आन्दोलित महासागर की भाँति हिनहिना रहे हैं ॥३९॥ क्षीरसागर के जल के समान फेनयुक्त आवर्तों की (जलभ्रमियों की) भाँति इधर–उधर वृत्ताकार घूम रहे घोड़ों के वृन्द शब्द करते हैं ॥४०॥ जैसे प्रलयकाल के सागर का प्रवाह बड़े–बड़े ज्वार भाटों से प्रत्येक दिशा में प्रकट होता है वैसे ही आकाश के समान स्वच्छ कान्तिवाले कवच शस्त्रास्त्रों से युक्त सेना भी प्रत्येक दिशा में प्रकट होती है ॥४१॥ योद्धाओं के शरीर पर लगे हुए बाण, अस्त्र–शस्त्र, कवच, मुकुट और आवरणों की कान्तियाँ आपके प्रतापाग्नि की ज्वाला की भाँति विकसित होती हैं ॥४२॥ जैसे मछली और मगरों के समूह से युक्त चक्राकार जल भ्रमिवाले कल्लोल सागर से आविर्भूत होते हैं वैसे ही मत्स्य, मकर की–सी आकृति व्यूहों से युक्त, तलवारों के आवर्त से युक्त सेनासंघात आविर्भूत हो रहा है ॥४३॥ भाले आदि हथियारों की श्रेणियाँ परस्पर टकराने के कारण मानों क्रोधवश भीषण हुंकारों से जलती हैं और कठोर शब्द करती हैं ॥४४॥ उस मण्डल की सीमा में स्थित छावनी से युद्ध के लिए जाते हुए स्वामी ने यह निवेदन करने के लिए श्रीमान् के समीप मुझे भेजा है ॥४५॥ महाराज, शक्ति, ऋष्टि और बाणों से युक्त मैं जिन्होंने मुझे आपके पास भेजा था उन स्वामी के समीप जाता हूँ, मैंने यहाँ आकर सब निवेद्य आपकी सेवा में निवेदन कर दिया, इसके उपरान्त आप जानें ॥४६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, गुड़ गुड़ शब्द करके विलीन हुई समुद्र की लहर के समान वह पुरुष राजा से यह निवेदन कर प्रणामपूर्वक शीघ्रता से चला गया ॥४७॥ राजा के महल में खलबली मच गई, उसकी अवस्था आँधी से व्याकुल महावन की–सी हो गई । मन्त्री, राजा, योद्धा, राजा के आज्ञाकारी कर्मचारी, स्त्रियाँ, हाथी, घोड़े, परिचारक और नागरिक सबके सब भयभीत हो गये । सभी जीवों ने अपने प्राणों के भय से अपने अपने बचाव के हथियार उठा लिये ॥४८॥

एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नौवाँ सर्ग

मन्त्रियों की सलाह से राजा का अपने शरीर का होम करना,
तदुपरान्त अग्नि से चार शरीरों से युक्त राजा का प्रकट होना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे मुनिगण जिसके भूलोक और अन्तरिक्षलोक पर दैत्य आक्रमण कर चुके हो वैसे इन्द्र के समीप आते हैं वैसे ही सब मन्त्री राजा के समीप आये ॥१॥ मन्त्रियों ने कहा : महाराज, हमने सब विचार कर निश्चय कर लिया है । शत्रु साम, दाम और भेद–

इन तीन उपायों द्वारा काबू में आने लायक नहीं है, अतः उसपर दण्ड का विधान कीजिये ॥२॥ महाराज, दान, सम्मान आदि से स्नेह और अनुप्रवेश (अपने पक्षवालों का ही शरणागति के बहाने काकोलूकीयन्याय से उनके विनाश के लिए उनके देश में प्रवेश), जिसका आजतक कभी उनके लिए प्रयोग नहीं किया गया, इस समय उन शत्रुओं पर प्रेम और अनुप्रवेशरूप कीर्ति हरनेवाले उपाय किये जाय, इसकी कथा ही क्या है ॥३॥

जिन पर थोड़ा बहुत विश्वास किया जा सके और जिनको द्रव्य की कमी हो उन पर साम, दान आदि उपायों की गुंजायश है, किन्तु ये शत्रु तो ऐसे नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

पापी, सीमाप्रान्त के निवासी, प्रचुरधनसम्पन्न, विविधदेशीय, सुसंगठित, हमारी कमजोरी को जाननेवाले बहुत से शत्रु साम, दान उपायों के योग्य नहीं हैं ॥४॥ इसलिए इनके विषय में साम-दान का प्रयोग करना अत्यन्त सुसाहस है (अविचारित कार्य है) इसका परित्याग कर शीघ्र ही युद्ध का उद्योग कीजिये । इनके प्रतिकार का दूसरा उपाय है ही नहीं ॥५॥ वीरों को युद्ध के लिए आज्ञा दीजिये, इष्ट देवताओं का जप-पूजन आदि अनुष्ठान कीजिये, सामन्तों का आह्वान कीजिये और रणभेरियाँ बजाई जाय ॥६॥ सब योद्धाओं को कवच आदि से सुसज्जित कीजिये युद्ध का बाना पहनाइये, तदुपरान्त वे सबके-सब युद्ध के लिए प्रस्थान करें और दिशाओं की गजघटाओं से काले काले प्रलयमेघों के जैसे पाट दीजिये ॥७॥ धनुष खूब (कानों तक) ताने जाय, प्रत्यंचाएँ टंकार करें, अर्धमण्डलाकार धनुषों से दिशाएँ मेघश्यामला हो, धनुषरूपी कुण्डलों से देदीप्यमान गम्भीर सिंहनादवाले शूरवीररूपी मेघ, जिनमें प्रत्यंचारूपी बिजली कौंध रही है, बाणरूपी जलधारोओं को वर्षायें ॥८,९॥ राजा ने कहा : संग्राम के लिए शीघ्र प्रस्थान कीजिये । नगर रक्षा, व्यूहरचना आदि की व्यवस्था कीजिये । मैं भी स्नान के उपरान्त अग्निदेव की पूजा कर संग्राम-भूमि में आता हूँ ॥१०॥ ऐसा कहकर आवश्यक अन्यान्य कार्यों के रहते भी (अत्यावश्यक अन्यान्य कार्यों को छोड़कर भी) राजा ने एक क्षण में जैसे वर्षाऋतु में नूतन बगीचा मेघ द्वारा स्नान करता है वैसे ही गंगाजल से भरे हुए घड़ों से स्नान किया ॥११॥ स्नान करने के उपरान्त राजा ने अग्निगृह में प्रवेश किया और विधिपूर्वक श्रद्धा से अग्नि की पूजाकर निम्नलिखित बातों पर विचार किया ॥१२॥ मैंने अनायास विलासवैभवपूर्ण सम्पत्ति से आयु व्यतीत की, समुद्रपर्यन्त शासनमुद्रापूर्वक अपनी सारी प्रजा को अभयप्रदान किया । पृथ्वी पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को चरणों पर नवा डाला । जैसे लताएँ फलों के बोझ से नत हो जाती हैं वैसे ही कर आदि फल के भार से दसों दिशाओं को मैंन नवा दिया ॥१३,१४॥ प्रजा के चित्तरूपी चन्द्रबिम्बों में अपना शुभ्र यश भर दिया, भूमि में तीनों लोकों में फैलनेवाली कीर्तिरूपी लता लगा दी ॥१५॥ सुहृद, मित्र, पूज्य ब्राह्मण (गुरुवर्ग) और बन्धुबांधवों को विविध रत्नों से खजाने के समान भर दिया, समुद्र के

किनारे नारियेलरस का आसव छक कर पीया ॥१६॥ शत्रुओं के प्राणों को मेढक की गर्दन की त्वचा के समान खूब कँपा डाला, द्वीप द्वीपान्तर के कुछ कुलपर्वतों पर मेरे शासन की छाप लग चुकी ॥१७॥ दिगन्तों में प्रसिद्ध सिद्ध सेनाओं से पूर्ण अपूर्व सुवर्ण भूमियों में मैंने खूब विहार किया, लोकालोक पर्वतपर्यन्त पर्वतों के और सीमाप्रान्तवर्ती राजाओं के सिरपर मेघों की लीला से विश्राम किया और पैर रक्खा ॥१८॥ जैसे ज्ञानपूर्ण एकान्त में समाधि लेनेवाली बुद्धि से परमोच्च ब्रह्म में विश्राम लिया जाता है वैसे ही प्रजाओं का हितसम्पादन करनेवाले मैंने राष्ट्रों की अभिवृद्धि की और उपार्जन किया ॥१९॥ उद्धत (विनयरहित) लंका आदि द्वीपों में रहनेवाले राक्षसों को भी मजबूत हथकड़ियों द्वारा मैंने जकड़ा, परस्पर एक दूसरे से अबाधित, वृद्धि-ह्रासशून्य (समान रूप से संचित) धर्म, अर्थ और काम द्वारा अवस्था व्यतीत की । इस समय मानों अत्यन्त यशपान करने के कारण अतिधवलता को प्राप्त हुआ मैं तृणों पर लदे हुए प्रचुर बर्फ के समान सफेद बुढ़ापे को प्राप्त हो गया हूँ । बुढ़ापे के ऊप यानी इस बुढ़ापे में भीषण युद्धाकांक्षी बलवान् शत्रु दल बांधकर चारों ओर से लड़ने के लिए उपस्थित हैं । जीत होने में सन्देह है, इसलिए विजयप्रदान करनेवाले इन अग्निदेव के लिए यहींपर इस मस्तक की आहुति को ही उठाकर देता हूँ । राजा ने कहा : हे अग्निदेव यह मेरा सिर आपके लिए आहुतिरूप बन चुका है । जैसे मैंने पहले आपके लिए पुरोड़ाश की आहुतियाँ दी हैं वैसे ही इसकी आहुति आज आपको देता हूँ । यदि मेरे इस काम से आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों तो आपके कुण्ड से मेरे नारायण की भुजाओं के समान शोभायुक्त बलवान् चार शरीर उत्पन्न हों ॥२०-२६॥ हे विभो, उन शरीरों से मैं चारों दिशाओं में अपने शत्रुओं का बिना किसी बिघ्नबाधा के संहार करूँ और आपके दर्शनों की इच्छा से आपका स्मरण करनेवाले मुझे आप दर्शन दें ॥२७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, यह कहकर उस राजा ने जैसे बालक अनायास चंचल कमल को तोड़ता है वैसे ही चंचल शिररूप कमल को खड्ग लेकर शीघ्र काट डाला ॥२८॥ ज्योंही वह राजा अपने कटे सिर का अग्नि में हवन करने लगा त्योंही शरीर के साथ अग्नि में गिर पड़ा ॥२९॥ उस शरीर को खाकर (आहुति रूप से गहणकर) अग्नि ने उसे चतुर्गुण शरीर दिया। महान् लोगों द्वारा स्वीकृत वस्तु शीघ्र ही वृद्धि को प्राप्त होती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥३०॥ इसके पश्चात् चार मूर्ति धारणकर राजा तेज की राशियों से देदीप्यमान हो अग्निकुण्ड से ऐसे ही निकला जैसे कि तेज के पुंजों से देदीप्यमान भगवान् सागर से निकले थे ॥३१॥ दीप्तकान्तिवाले उसके वे चार शरीर अत्यन्त सुशोभित हुए, उनके माला, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र साथ ही उत्पन्न हुए थे और कवच, शिरस्त्राण भी साथ ही पैदा हुए थे । वे मुकुट, कंकण, बाजूबंद से युक्त थे, हार और कुण्डलों की कान्ति से जगमगा रहे थे । वे सब सबकी रक्षा करनेवाले तथा महान् आशयवाले थे । सबकी रूपरेखा एकसी

थी और सब एक से अंग-प्रत्यंग से युक्त थे, सबके सब चंचल उच्चैश्रवा के सदृश उत्तम घोड़ों पर चढ़े थे ॥३२-३४॥ उनके सोने के बाणों से भरे तरकस बँधे थे, एकसी प्रत्यंचावाले उनके धनुष थे, सुन्दर समान शरीरवाले महामना वे मंगलमय पुरुष जिस पुरुष, हाथी, रथ और घोड़े-पर सवार होते थे, वह शत्रुप्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, औषधि, यन्त्र, शस्त्रास्त्र आदि दोषों का लक्ष्य ही नहीं हो सकता था ॥३५,३६॥ वे चार देह क्या थे चार सागर ही थे। मानों बडवाग्नि ने पहले पीकर चिर कालतक उन्हें अपने गर्भ में धारण किया, तदुपरान्त उन्हें पुरुष के आकार में परिवर्तित किया, तत्पश्चात् उन्हें वहाँ अग्निकुण्ड में रखा ॥३७॥ रत्नों से विभूषित और रत्नभूत अश्वशरीरों में पुष्पराशियों से पूर्णदेहवाले चन्द्ररूपी अपनी मन्द मुस्कान से दशों दिशाओं को जगमगा रहे वे चार विपश्चित् आहुतियों द्वारा प्रसन्न अग्नि से चार विष्णु जैसे या चार सदेह समुद्र जैसे अथवा चार मूर्तिमान वेद जैसे बाहर निकले ॥३८॥

एक सौ नौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दसवाँ सर्ग

नगर के समीप पहुँचे हुए शत्रुओं के साथ चारों ओर हुए घमासान संग्राम का विस्तृत वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस बीच में वहाँ चारों ओर नगर के समीप पहुँचे हुए शत्रुओं के साथ भीषण संग्राम छिड़ा ॥१॥ उक्त युद्ध में नगर और गाँव लूटे गये, प्रजामण्डल में महाव्याकुलता छा गई, आग की लपटों से शरीर जलने लगे, धूम्ररूपी मेघों के घने स्तरों से आकाश मण्डल छा गया, बाणों की लगातार घनी वृष्टि और निबिड़ धूम से सूर्य ढक गया, अतएव चारों ओर अन्धकार फैल गया। वहाँ पर क्षण में सूर्यमण्डल दीख पड़ता था और क्षणभर में ओझल हो जाता था। अग्नि की लपटों के तेज संताप से वनों के सब पत्ते मुरझा गये थे, चंचल लाठी, शूल, मूसल, पत्थर आदि की राशियों से आकाश पट गया था, अग्नि के प्रतिबिम्बों के पड़ने के कारण हथियारों की चमचमाहट दुगुनी हो रही थी, रण में काम आये हुए महाशूरवीर योद्धाओं को अप्सराएँ और सुधा प्राप्त हो रही थी, मदोन्मत्त हाथियों की चिंघाड़ से संग्रामोत्सुक वीरों को अपार हर्ष हो रहा था, बन्दूकों की गोलियों, भालों, शूलों और तोमरों की वर्षा हो रही थी, योद्धाओं के कोलाहल के उल्लास के सुनने मात्र से हृदय फटने के कारण अनेकों कायरों के प्राण-पखेरू उड़ रहे थे, धूलिपटलरूपी सफेद मेघ ने अन्तरिक्ष को आच्छन्न कर दिया था, मरने के लिए व्याकुल हुए सामन्तों के दल के दल चिल्लाते हुए जा रहे थे, इधर उधर गिर रही बिजलियों से (उल्कापातों से) प्रजा का विनाश हो रहा था, अग्नि से जले हुए अतएव गिर रहे गृह अग्नि की वर्षा करनेवाले धूम्रमय मेघों की सृष्टि कर रहे थे। असंख्य बाणों की वृष्टिरूपी धारावाले मेघ मरणाह्लाद प्रदान कर रहे थे ॥२-९॥ अश्वरूपी तरंग सागरों के कल्लोलों को मात कर रहे थे, हाथियों के दाँतों के परस्पर

टकराने के कारण कर्णकटु टंकार ध्वनि हो रही थी। दुर्गों के सन्धिप्रदेशों में बनी हुई कुटियों की दीवारों पर श्रेष्ठ योद्धा काँटेदार बाण रोपने में व्यग्र थे, अग्नि की ज्वालाओं से वेष्टित अतएव भग्नप्राय दुर्गसन्धिस्थित अटारियों में पर्यटन द्वारा अग्निछटा नाच रही थी ॥१०,११॥ घटाटोप के साथ टूटे फूटे हुए चलने में रुकावट डालनेवाले तोमर इधर उधर लुढ़के हुए थे, अटारियों में, जिनके ऊपर आकाश में वस्त्रपताकाएँ लहरा रही थीं, पट–पट शब्द हो रहे थे, हाथियों के दाँतों के शुक्लतादि गुणों के निकलने से, हथियारों की पत्थरों पर रगड़ लगने से और तीक्ष्ण टंकार और हुंकार से युद्धोत्साह के उत्पादनवश दिग्गजों का मानों आह्वान हो रहा था ॥१२,१३॥ लगातार बह रही बाण–नदी के वेग से आकाशरूपी महासागर भर गया था, चल रहे चक्र, भाले, तलवाररूपी मगरों से वह संग्राम सागर भयावना लगता था। सिंहनाद कर रहे योद्धाओं के परस्पर टकराने पर कवचों की तीक्ष्ण टंकारों से हो रहे झंकारों से सब द्वीप गूँज उठे थे ॥१४,१५॥ पैरों के आघात से खूब पीसे गये बाणों से चारों ओर कीचड़ हो गया था, बह रही रक्त की नदी के प्रवाह में रथ, हाथी तक बहे जा रहे थे ॥१६॥ और उड़ रहे थे, बाणरूपी जलतरंगों से पीड़ित हुए योद्धाओं के आयुरूपी जलचर टूक–टूक हो रहे थे ॥१७॥ कहीं पर आपस में टकरा रहे शस्त्रास्त्रों से निकली हुई ज्वालाओं से आकाश जल रहा था, देवत्व की प्राप्ति से बुढ़ापे के कारण बदन पर होनेवाली झुर्रियों और सफेदी से मुक्त शूरवीर लोगों से स्वर्ग पट रहा था ॥१८॥ धूलिरूपी मेघों में चक्ररूपी बिजलियाँ कौंध रही थी, शस्त्रास्त्रों से ठसाठस भरा होने के कारण अवकाशरहित भूतल वहाँ पर वारों का आधार नहीं रह गया था ॥१९॥ बाणों की वृष्टि कर रहे महायोद्धाओं के घटाटोप से गरज रहे शत्रु योद्धाओं से संग्राम–भूमि बड़ी डरावनी लगती थी, पृथिवी को व्याप्त कर रहीं (ढक रहीं) गाड़ियों के आघातों से चूर चूर हुए अन्य गाड़ियों के अवयवभूत काठों में रथ लड़–खड़ा रहे थे, संग्राम भूमि कबन्ध हुए योद्धाओं और वेतालों से मिश्रित शत्रुओं से ठसाठस भरी थी, तिल रखने की भी जगह नहीं थी, वेताल श्रेष्ठ–श्रेष्ठ योद्धाओं का हृदयकमलरूपी मांस खा रहे थे, शूरवीर पुरुषों द्वारा वीरों के सिर, हाथ, जंघाएँ और पैर काटे गये थे, कबन्धों के भुजारूपी वृक्षों की हलचल से आकाशतल वन सा बन गया था, तैर रहे चंचल मुखवाले वेतालों ने हर्ष के आधिक्य से हँसी खुशी से अपनी अपनी पेटियाँ शवों से भरी थीं, कवच पहनने के कारण घटाटोपवाले योद्धाओं की भ्रकुटि से रणभूमि भयंकर थी । वहाँ पर नियमतः स्वयं मरना या दूसरों को मारना यही वीरों का एकमात्र आभूषण था वहाँ प्रहारों को देने और अपने ऊपर लेने में असामर्थ्य ही वहाँ पर महती निन्दा थी ॥२०–२४॥ उक्त संग्राम गजरूपी शूरवीर सामन्तों के मदजल का शोषण कर रहा था, वहाँ दूसरों को मारने में अत्यन्त रसिक वीरयोद्धा काल के आनन्द की पुष्टि कर रहे थे, अपने मुँह से अपनी वीरता का बखान न करने से छिपे हुए शूरवीर योद्धाओं का काम ही रण में उनकी वीरता देखनेवाले लोगों को मुँह से उनके शौर्य की घोषणा करा रहा था, छिपे हुए कायरों का भी काम ही

दर्शकों द्वारा प्रभु के समीप उनकी अशूरता की घोषणा करा रहा था, उक्त संग्राम सोये हुए अपने शौर्य आदि गुणों का उद्बोधन करता था, भुजबलशाली अतएव राष्ट्र में दुर्बल लोगों के आधारभूत शूरवीरों का धन था ॥२५-२७॥ हाथी पर सवार होकर युद्ध करनेवाले तथा रथियों के परस्पर युद्ध में बेचारे हाथियों के गण्डस्थल क्षतविक्षत हो गये थे, सकल मदोन्मत्त गन्धगजों (♨) के मदजल उक्त युद्ध में सूख गये थे, मन्दोमत्त हाथियों के तालाबों में घुसने पर सारसों की तरह चीत्कार के साथ भाग रहे तरूण सामन्त भी वहाँपर हाथियों को छोड़ जा रहे थे । बूढ़े होने पर भी खड्गविद्या में सिद्धहस्त भटों की सेना द्वारा अपनी खड्गप्रहरणता प्रकटन का (📖) समर्थन किया जा रहा था। योद्धाओं की सेना के न आने पर भी उनके आगमन की भ्रान्ति से भगदड़ होने पर परस्पर पैरों से कुचले गये मनुष्य अधमरे हो गये थे, अतएव दिन जैसे सूर्य की शरण में रहता है वैसे ही राजा के पैरों की शरण में वे अपने आप चले गये थे ॥२८-३०॥ अभिमानरूपी उन्माद वायु के कारण उन्मत्त हुए योद्धाओं द्वारा प्रणत (शरणागत) लोगों पर भी प्रहार किये जा रहे थे । वह संग्रामस्थल प्राणों द्वारा प्राप्त करने योग्य धनों का नूतन बाजाररूप नगर था । वस्त्रों से बंधी हुई पताकाओं के समूह ही लहरा रहे हस्तवृक्ष बन गये थे । खून से अत्यन्त लाल होने के कारण वह रणांगण त्रैलोक्यलक्ष्मी का भूषणभूत मूँगा बन गया था ॥३१,३२॥ युद्धभूमि का गगनरूपी आँगन मन्दराचल के आघात से उछले हुए क्षीरसागर के जल के समान सुन्दर छत्रों से आच्छादित तथा शस्त्रास्त्रों के समूह रूपी फूलों से युक्त था । उक्त युद्धस्थल में प्रमथगणों, गन्धर्वों तथा देवताओं द्वारा शूरवीर योद्धाओं के उत्साह आदि के गीत गाये जा रहे थे, उनकी (गणों और गन्धर्वों की) कान्ति से चंचल ध्वजाग्रों से तथा हथियाररूपी मद्य से उन्मत्त होने के कारण योद्धा वहाँ पर बलरामरूप बन गये थे ॥३३,३४॥ उस युद्ध में बहुत बड़ा झुण्ड बाँधकर अनायास प्रहार करनेवाले असंख्य राक्षसों द्वारा चुपचाप स्वयं योद्धाओं का मांस खाकर शवों के ढेर के ढेर उठा ले जाकर पर्वत गुहारूप अपने घर में अपने परिवार के - विषवृक्षसदृश-सब राक्षसों को भोजन कराया गया था ॥३५॥ चमचमा रहे भालों की श्रेणियों से भालों के वन ऐसे प्रतीत हो रहे भालों से लड़नेवाले योद्धाओं द्वारा काटकर फेंके गये सिर और हाथों से रणभूमि का आकाश पट गया था, क्षेपणों से (गुलेल की तरह का एक देशी अस्त्र जिससे ढेले दूर दूरतक फेंके जाते हैं ।) फेंके गये पत्थरों की राशियों से दिशारूपी लता लाँघी गई थी ॥३६॥ ताल ठोकने आदि से उत्पन्न महान् चट चट शब्दों से विशाल वृक्षों के टूटने की-सी ध्वनि हो रही थी एवं स्त्रियों के हाहाकार शब्दों से नगरों के घर-के-घर गूँज रहे थे ॥३७॥ आकाश में मन्द-मन्द ध्वनिवाली अग्नि के तुल्य शस्त्रास्त्रों की राशियाँ शोभित हो रही थीं, सबकी

(♨) जिसके मद को सूँघकर अन्य गज भाग खड़े होते हैं, वह गन्धगज कहलाता है ।

(📖) आसीकवेदन-जिनका असि (तलवार) हथियार है वे आसीक कहलाते हैं । उनके भाव का प्रकटन आसीकवेदन है । मूलस्थित आसीकवेदन का ही पयार्य खड्गप्रहरणता प्रकटन है ।

सब प्रजा अपना घर द्वार छोड़कर दूरदेशों में भाग गई थी, हथियारों के चारों ओर चलने से युद्धदर्शक लोगों ने भी भय से चारों ओर से युद्धभूमि का त्याग कर दिया था, भयभीत साँपों ने युद्धभूमि का गरुड़ों के झुण्ड की तरह त्याग कर दिया था तथा उक्त युद्धभूमि में मनुष्यरूपी अंगूरों को पीसने के काल के यन्त्र ऐसे गण्डस्थल में हाथियों द्वारा दाँतों से पिस चुके हुओं से बचे हुए उत्तम योद्धाओं को बड़ी मुसीबत हो रही थी ॥३८–४०॥ आकाश में चल रहे हथियार प्रेक्षणी द्वारा फेंके गये पत्थर की टक्कर से चूर–चूर हो रहे थे और योद्धाओं के सिंहनाद से, चिंघाड़ रहे हाथियों के समूह से, कन्दराएँ भर गई थीं ॥४१॥ उस युद्ध में शूरों के सिंहनाद पर्वतों की गुफाओं में पहुँचकर प्रतिध्वनियों से मिल गये थे और जन्म से लेकर बड़े प्रयत्न से उपार्जित बलसर्वस्व को प्रकट कर रहे शूरवीरों द्वारा वह चलाया गया था ॥४२॥ उक्त युद्धभूमि हथियाररूपी अग्नि से तथा चारों ओर फैली हुई अग्नि से भूनी गई थी तथा पूर्ववर्णित युद्धों से तथा अन्यान्य द्वन्द्वयुद्धों से वहाँ युद्ध समाप्ति को नहीं प्राप्त हो रहा था ॥४३॥ मरे हुओं से अवशिष्ट, बलशाली, स्वामी की वंचना न करनेवाले, हृदय में इश्वर को धारण करनेवाले, उत्तम योद्धारूपी कैलासों से वह युद्ध चारों ओर परिवेष्टित था । कैलास भी अत्यन्त पवित्र, सारवान् और श्रीशंकरजी का आधार है । जिनका रण से भागकर जीना मरने के समान अप्रिय है और रण में मरना जीने के समान प्रिय है ऐसे उदार पुरुषों से त्रैलोक्य भी जीता जाता है । वे ही काल के भी काल होते हैं यानी परमपद प्राप्त हैं, जैसे कहा है–दो ही पुरुष तो सूर्यमण्डल का भेदन कर परमपद को प्राप्त–होते हैं, योगयुक्त संन्यासी और रण में सम्मुख मारा गया योद्धा॥४४,४५॥ अत्यन्त शूरवीर योद्धा कटे हुए सुन्दर सुन्दर हाथीरूप कमलों से भरी हुई युद्ध भूमि के आकाश में तालाब में सारसों के समान सुशोभित हुए॥४६॥ गुलेल से फेंके गये पत्थरों के प्रवाहरूपी नदियों की ध्वनियों से तुरन्त ही बह कर आकाश में उड़े हुए मस्तकों की फुफकारों से, बाणरूपी जल बरसा रहे सैनिकों के सिंहनादों से और आकाश में फैल रहे शस्त्रास्त्रों की सरसराहट से एवं सातघोड़ों तथा हाथियों के हिनहिनाने और चिंघाड़ने से व्याप्त युद्ध ने सबके कानों को बहिरा बना दिया था । वह रणस्थल कहीं पर भी सूराखसन्धि–सम्बन्ध से रहित पत्थर के समान जड़ हो गया था ॥४७॥

एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग

अपनी सेना की हार होते न होते रणभूमि के लिए निकले हुए
राजा द्वारा वायव्यास्त्रों से चारों ओर शत्रुओं के संहार का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस प्रकार प्रलयतुल्य घमासान युद्ध चल रहा था, संग्राम भूमि में सेनाएँ हार और जीत रही थीं, तूरी, रणसिंगा और महाशंखों की ध्वनियाँ प्रतिध्वनि द्वारा आकाश

में बज रही थीं, आकाश में तलवारें सरसराहट के साथ बोल रही थीं, वीरों के धनुषों की दीर्घ टंकार ध्वनियाँ हो रही थीं, योद्धागण परस्पर जोर-शोर से ताल ठोक रहे थे, निर्दयता से कूटे (पीटे) हुए कवच जोर के कट-कट शब्द कर रहे थे, राजा विपश्चित् की सेनाएँ कुछ हार-सी रही थीं, काटी जा रही लताओं की भाँति सेना का बहुत बड़ा भाग मूर्छित हो रहा था, इतने में राजा विपश्चित् के रणभूमि प्रयाण की दुन्दुभि, जो वज्रयुक्त प्रलयकालीन मेघकी-सी ध्वनि से पूर्ण थी, दिशाओं को अपनी ध्वनि से पूर्ण करती हुई बजी। उक्त दुन्दुभि-ध्वनि एक साथ टूट रहे कुलपर्वतों की ध्वनि के समान प्रचण्ड थी, उसने प्रकट हो रही अपनी गड़गड़ाहट से सकल दिक्तटों को स्तब्ध कर दिया था। वह राजा विपश्चित् भगवान् श्रीविष्णुजी की सदेह भुजा जैसे चार शरीरों से रणभूमि के लिए चौतरफा निकला ॥१-७॥ चतुरंगिणी महती सेना से चारों ओर घिरे हुए राजा ने अटारियों से परिवृत नगर से कठिनाई के साथ निकलकर संग्राम संलग्न अपनी सेना को खाली (बलहीन) देखा और शत्रुसेना को बलयुक्त देखा। शत्रु सेना का क्या कहना था, वह युद्ध के लिए संलग्न गरज रहा भयंकर चलनेवाला समुद्र ही थी, बाणरूपी जलकणों से खूब भरी थी, मकराकार सेना के व्यूहों से पूर्ण थी, हाथियों के झुण्डों से घिरी थी, (卐) अश्वों की कतारों से विस्तारयुक्त थी ॥८-१०॥ चक्राकार आवर्त के समान बह रहे सेना के व्यूहरूपी ज्वारभाटों से व्याप्त थी, चल रहे सैकड़ों रथ ही उसमें सैकड़ों जलभ्रमियाँ थीं, पताकाएँ ही छोटी-छोटी लहरें थीं, चमक रहे श्वेतछत्ररूपी फेन से वह लबालब भरी थी, घोड़ों का हिनहिनाना ही उसमें जलजीवों की फुफकार थी, हथियाररूपी जल चमचमा रहा था, विकसित हो रही बाणरूपी धाराओं की वह उत्तम आगार थी, तैर रहे चंचल हाथी और घोड़ों के झुण्ड ही उसमें तरंगें थीं, हथियार रूपी जल में काले सर्पों के जैसे म्लेच्छ उसमें दीख पड़ रहे थे, द्रविड आदि योद्धाओं की बातचीत से उसमें गुड़गुड़ शब्द हो रहा था, कन्दराओं के कटने से क्षुभित हुए वायु से उसमें घुम्घुम् शब्द हो रहा था, ऊँचे नीचे हाथी उसके विशाल कलेवर में पर्वतों के डूबने-उतरने से होनेवाली महा हलचल पैदा कर रहे थे, डूब रहे हाथी घोड़े ही उसमें अनायास मारे गये (पंख काटने से पंगु बनाये गये) पर्वत थे। असीम चारों ओर फैला हुआ सेनासमूह ही उसकी कल्लालों से (महातरंगों से) अलंकृत अपार जलराशि थी ॥११-१५॥ अकाल (अनवसर में) महाप्रलय के आविर्भाव के सदृश उसका आकार अत्यन्त घना था, खून के महासागरों ने पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्यवर्ती अवकाश को ढक दिया था, देदीप्यमान शस्त्रास्त्रों के खण्डों की राशिरूपी उछल रहे रत्नों से उसका मध्यभाग पटा था, चल रही सेनाओं में चल रहे क्षेपणी यन्त्र के (गुलेल के) पत्थर व्यस्त थे। रक्त के छोटे छोटे कण और कुहरेरूपी सन्ध्या काल के मेघ से युक्त थी, कहीं पर धूलिरूपी मेघ से अस्त्रशस्त्ररूपी जल का सागर पी डाला गया था ॥१६-१८॥ उक्तसंग्राम सागर को देखकर मैं इसका अगस्त्य (अगस्त्य ने जिस प्रकार सागर

(卐) सागरपक्ष में मगरों के समूहों से भरा हुआ। जलहस्तियों के समूह से भरा हुआ।

को पी लिया था वैसे ही इसे पी डालूँ) ऐसा मन में विचार कर उसने संग्राम सागर को पीने के लिए वायव्य अस्त्र का स्मरण किया और जैसे मेरुरूप धनुष में त्रिपुरासुर के वध के लिए उद्यत हुए शिवजी ने अस्त्र का सन्धान किया था वैसे ही चारों ओर उसने उसका सन्धान किया ॥१९,२०॥ राजा ने अपने देश के सैनिकों के हित के लिए शत्रुवध के लिए अग्निदेव को नमस्कार करके जप कर शीघ्र जैसे उस भीषण अस्त्र को छोड़ा, वैसे ही उसकी सहायता के लिए महान् अस्त्र श्रेष्ठ पर्जन्यास्त्र को शत्रुरूपी आतप की शान्ति के लिए छोड़ा ॥२१,२२॥ चारों ओर वायव्यास्त्र और पर्जन्यास्त्र से युक्त अतएव अष्टमूर्ति उस भीषण धनुष से दिशाओं के अवकाश को पाट देनेवाली बाणों की नदियाँ, त्रिशूलों की नदियाँ, चक्रों की नदियाँ, कुल्हाड़ों की नदियाँ, तोमरों की नदियाँ भिन्दिपालों (तोपों) की नदियाँ, पत्थरों की नदियाँ, वज्रों की नदियाँ और बिजलियों की नदियाँ बह निकलीं। कल्पान्त के (प्रलय) सूचक प्रचण्ड वायु बहने लगे । जलधारा की नदियों के प्रवाह तलवारों की वृष्टि के साथ बह निकले । युगों के अवसान में टूट फूटकर धराशयी हुए कुलपर्वतों से निकले हुए, प्रचण्ड वायु से बढ़े हुए, उत्पातों के समान मोटे ताजे साँप बाणों के साथ बह निकले ॥२३–२८॥ उस शस्त्रास्त्र वृष्टि के वेग से वह पूर्वोक्त विशाल शत्रु–सेना सागर को शीघ्र ही धूल के ढेर की भाँति चारों ओर उड़ा दिया गया । उसमें कुछ भी समय नहीं लगा ॥२९॥ जल, वज्र और शस्त्रास्त्रों की वेगवती वृष्टि तथा प्रचण्ड आँधी से शत्रुसेना बाँधरहित तालाब के जल की भाँति चारों ओर भाग खड़ी हुई । वह चतुरंगिणी सेना युद्ध से विमुख होकर वर्षाकाल की पर्वतनदी के महाप्रवाह के तुल्य भागती हुई चारों दिशाओं को चली गई ॥३०,३१॥

सेना पर्वत नदी की समता का उपपादन करते हुए भाग रही सेना का वर्णन करते हैं।

वायु के प्रवाह में यह बह रहे पसीने से तर कटे हुए बड़े–बड़े पताका–दण्ड ही उस गिरिनदीरूप सेना में वृक्ष थे, किरणरूपी फूलों से चितकबरे (मिश्रित) चंचल खड्ग ही लताओं के समूह थे, दौड़ने की शक्ति न होने से लड़खड़ा रहे, मोटे ताजे पुरुषरूपी पत्थरों के बिन्दुरूपी खून के पनाले से वह अवर्णनीय थी, भयंकर घुर–घुर शब्दों से वह कायरों के हृदय को टुकड़े–टुकड़े करनेवाली (डरावनी) थी, बह रहे महागजों के दाँतरूपी वृक्षों के परस्पर टकराने से प्रकट हो रहे कट–कट शब्द से गरज रहे मेघों को मात कर रही थीं, हथियारों से पत्थरों की तेज टक्कर ही उसमें नदी के किनारे के पुष्पवृक्ष पर हुआ भँवरों का झंकार था, तैर रहे चंचल तथा चिल्ला रहे घोड़े ही उसकी तरंगें थीं । रथादि के तथा शूरवृन्द के पत्थरों से टकराने पर हुए आर्तस्वररूपी मेढक तथा पक्षियों के शब्द से युक्त थी, पैदल सेना, रथ, हाथी और अश्वरूपी पाषाणों के परस्पर टकराने से वह संकुल थी, कर्णकटु टंकार, चीत्कार, क्रेंकार से पुष्ट थी, हम मरे हम मरे इस प्रकार के जनकोलाहल से भरी थी, सेनारूपी जल के बड़े–बड़े आवर्तों में गुड़–गुड़ ध्वनि हो रही थी, रक्त के कण तथा कुहरारूपी सन्ध्याकाल

का मेघ उसका चँदवा था ॥३२-३८॥ शस्त्रास्त्ररूपी लहरों से वटवृक्षों के समान काटे गये मेघ जल से नम्र हुए थे । वर्षा से पंकयुक्त हुए भूप्रदेश के तट को तोड़ने से वह विशेष शोभित थी ॥३९॥ मार्ग बनाने के लिए भाले, त्रिशुल, गदा, वल्लों को धारण करनेवाले भाग रहे योद्धाओं से बह रहे तालबन के समान अद्‌भूत थी, रो धो रहे कातर लोग ही उसमें गिर रहे मृगछौने थे ॥४०॥ मरे हुए हाथी, घोड़े और योद्धाओं के समूहरूपी जीर्णशीर्ण पत्तों से वह आच्छन थी, पीसे गये शरीरों के वसा और मांस के कीचड़ से उसमें चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ हो गया था, चूर चूर की हुई हड्डियाँ ही उसमें कुछ स्थूल बालूवाले तट थे और खुरों से खूब पीसी गई महा हड्डियाँ ही उसमें महीन बालूवाले तटप्रदेश थे । उसमें बह रहे पत्थरसमूहों तथा लकड़ियों की चोटियों के आपस में टकराने से कटकट शब्द होता था ॥४१,४२॥ गरज रहे प्रलयकाल के मेघों से, बह रहे प्रलयकाल के प्रचण्ड वायुओं से,गिर रही प्रलयकालीन मूसलाधार वृष्टि से, प्रलयकाल के वज्रपातरूपी संकटों से, पंकमय सकल भूतलों से, जल से उपद्रवपूर्ण स्थलों से, तेज शीत से जम गई वर्षाधारों के आकार के आकाश में बने पिंजड़ों से, समस्त नगर, गाँव और घरों को जलाकर राख कर चुकी अग्नियों से, प्रजा, घोड़े, हाथी और पैदल सेनाओं के रोदन से, आकाश और भूमि में हो रहे तीक्ष्ण ध्वनिवाले रथ और मेघों के घर-घर शब्दों से, चारों ओर विपश्चित् के धनुष के चार तेज क्रेंकारों से, बिजलीरूपी कंकण का विस्तार करनेवाले मेघों के परस्पर टकराने और रगड़ खाने से, बाणों, शक्तियों, मुद्‌गरों, बल्लमों, भालों और बन्दूकों की वर्षाओं से चारों ओर बलशाली राजाओं के असंख्य सैनिक भागते हुए मच्छरों के समूह की भाँति शीघ्र नष्ट हो गये । सीमान्त के राजाओं की सेनाएँ तीक्ष्ण वह्निराशि के सदृश शस्त्रास्त्र समूहरूपी मेघों की आग से लोगों को घबड़ाहट में डाल देने वाले वज्रपातों से व्याकुल होकर चंचल सागरजल में उबाले जा रहे जलचरों की नाईं बडवाग्नि में प्रवेश कर रही थीं ॥४३-४९॥

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बारहवाँ सर्ग

जीवन लेकर भाग रहे जिस जिस देश के पैदल भट जहाँ-जहाँ जिस प्रकार विनष्ट हुए उसका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, चेदिरूपी चन्दनों का वन, जहाँ मोतियों के हार, वस्त्र और साँप दर्शनीय होते हैं, कुल्हाड़ियों की धाराओं से कटकर दक्षिण सागर में गिर गया ॥१॥ पारसदेश के योद्धा अस्त्रप्रवाह से पत्तों की भाँति बहाये जाते हुए मोहवश आपस में प्रहार कर वंजुलावन में विनष्ट हो गये ॥२॥ दरददेश के योद्धा दर्दुर पर्वतपर आरपार रहित (असीम) गुफाओं के बिलों में भय से विदीर्णहृदय होकर दानवों की भाँति विलीन हो गये ॥३॥ बाण, बल्लम, तलवार और

कुल्हाड़ीरूपी चार शस्त्रास्त्रों की धारा के अग्रभाग से हुए पत्थर, कवच आदि के चूर्णरूपी बर्फ को धारण करनेवाले बिजलियों से आवेष्टित वारूणास्त्र से उत्पन्न हुए मेघ चले ॥४॥ आपस के आघातों से भग्नदन्त (जिनके दाँत टूट गये थे) देहों में रुधिर राशि से लथपथ पीड़ाक्रान्त हाथी मृत्यु के पेट की पूर्ति करनेवाले ग्रास के बराबार के पिण्ड ऐसे हुए ॥५॥ भीषण तोमरों से पीटे गये दरद देश के ही कोई योद्धा रात्रि में अपने रूप से पुरुषों को मोहित करनेवाली पिशाचियों द्वारा उपभुक्त हुए और फिर उन्होंने उनके अंग आपस में बाँट लिये, यों बेचारे रैवतक पर्वत में विलीन हो गये ॥६॥ दशार्णदेश के योद्धा ताल और तमाल से घने पुराने जंगल में सिंहों द्वारा गले में पैर डालकर हृदय चीरकर मार डाले गये ॥७॥ पश्चिमसागर के तटवर्ती देशों के यवनयोद्धा वेलाभूमि में मगरों के झुण्डों से निगल लिये जाने के कारण मर गये ॥८॥ शक लोग रक्तमय बाणराशि को क्षण भर भी सहन न कर सके एवं रमठों के प्राण कमलिनी समूह की भाँति मारे भय के काँप उठे ॥९॥ श्रवण नक्षत्र के संस्थान के (शरीर गठन के) समान तीन शिखराग्रों से युक्त महेन्द्र पर्वत स्वर्ग में जा रहे योद्धा से परिवृत होकर मेघों से परिवृत–सा हो गया ॥१०॥ तंगणयोद्धाओं की सेना, जिसका आकार सुन्दर सुवर्ण के सदृश था, चोरों द्वारा वस्त्रादिलुण्ठनपूर्वक छिन्न–भिन्न की गई, फिर निशाचरों द्वारा एकान्त में चट कर दी गई थी, यों मटियामेट हो गई ॥११॥ तंगणसेना के भक्षण के समय वहाँ का भूमितल चारों ओर घूम रहे उल्मुक (लाठी) लिये हुए अतएव चमक रहे निशाचरों से नक्षत्र–मण्डल से आकाश की नाईं शोभित हुआ ॥१२॥ उक्त विपश्चित् की विजय होने पर जगत्रूपी गृहगुहावाला अन्तरिक्ष लोक मेघों के पृथिवी बिलों में गर्जन की प्रतिध्वनि से गम्भीर घुम्–घुम् ध्वनियुक्त (विपुल मृदंगध्वनि युक्त) होकर मानों उसका प्रचुर यश गाने के लिय उद्यत हुआ ॥१३॥ मछलियों के विहाररूप शेवाल के छोटे से तालाब के भाग्यवश सूख जाने पर (जलशून्य होने पर) बड़ी–बड़ी मछलियों के तुल्य अशरण होकर खड्गों से जर्जर हुए अन्यान्य द्वीपों के योद्धाओं ने अपने प्राणों का परित्याग किया ॥१४॥ जीते हुए सकल द्वीपों के योद्धा सह्याद्रि में छिपकर सात दिन तक विश्राम कर चिकित्सा आदि द्वारा घावों के पूरे होने से स्वस्थ होकर बाणवृष्टियों से क्लेशित होते हुए कठिनाई के साथ धीरे–धीरे अपने देशों को चले गये ॥१५॥ मारे भय के गन्धमादन पर्वत के पुंनाग वृक्षों के झुरमुट में इकट्ठे हुए गान्धार देश के योद्धाओं की विद्याधरकुमारियों ने रक्षा की ॥१६॥ हूण, चीन और किरातों के सिर विपश्चित् से छोड़े गये मुँह में आग से युक्त वेगवान् चक्रों से कमलों की तरह काटे गये ॥१७॥ निलीप नामक देश के योद्धा कमलनाल में उगे हुए निश्चल काँटों के समान विपश्चित के भय के मारे प्रत्येक वृक्ष में वृक्षमय से निश्चल हो चिरकाल तक निवास करते रहे ॥१८॥ मृगों और पक्षियों के विहार के लिये सुन्दर रंगभूमिरूप पर्वत और वनभूमियों में विपश्चित् के आगमनों से या शस्त्रास्त्रों के संपातों से चारों ओर अत्यन्त घबड़ाहट फैल गई ॥१९॥ करंजवन के समान कठोर कण्टक–स्थलनामक

योद्धा दस्युओं के देश में करंज आदिके वनों में छिप गये ॥२०॥ पारसी योद्धा समुद्र के तरंगवेग से परलीपार पहुँच कर, वायु से पाक होकर प्रलयकाल तारों के समान गिर पड़े ॥२१॥ समुद्र को तरंगों के आन्दोलनों द्वारा कूटनेवाले, पत्थरों की मार से पर्वतशिखरों पर चिह्न करनेवाले, सब दिशाओं के वनों को झकझोरकर विनष्ट करनेवाले तथा प्रलय की आशंका पैदा करनेवाले प्रचण्ड पवन बहने लगे ॥२२॥ क्षुब्ध हुए शस्त्रास्त्रों और वायुओं द्वारा मूसलाधार वृष्टि से सम्पन्न होकर कीचड़ और जल से सराबोर, गंभीर घुम्-घुम् शब्द युक्त तथा अदृश्य हो गई ॥२३॥ साँय साँय शब्द करनेवाले वायुओं से महासागर के प्रवाह से बरफ छप-छप शब्द के साथ पृथिवी पर गिरने लगा ॥२४॥ वायु से उड़ाये जा रहे विदूरदेश के रथिक लहरों का-सा चीत्कार करते हुए कमलों से भ्रमरों की तरह रथों से तालाब के जल में गिर गये ॥२५॥ उनकी पैदल सेना तो पास में शस्त्रास्त्र राशि के रहते भी विपश्चित् की चक्रराशि से आँख के अश्रुओं से भर जाने के कारण, मूसलाधार वृष्टि होने पर धूलराशि के समान, भागने में समर्थ नहीं हुई ॥२६॥ हूणदेश के योद्धा उत्तर सागर के रेतीले तट पर सिर तक डूबकर भूमि में गाड़ने के कारण मटमैला हुआ लोहे का शूल जैसे मोरचे (लोहे का जंग) से युक्त होने से क्लेदयुक्त हो जाता है, वैसे ही क्लेद युक्त हो गये अर्थात् सड़ गये ॥२७॥ शकयोद्धाओं को पूर्वसागर की तटभूमि की एला (ईलायची) वन श्रेणियों में पहुँचाकर विपश्चित ने उन्हें एक दिन तक बाँधकर छोड़ दिया, अतएव वे यमलोक नहीं गये, नहीं मरे ॥२८॥ मन्द्रदेश के योद्धा धीरे-धीरे सिसकते-सिसकते द्युलोक के समान ऊँची पर्वत की चोटी से महेन्द्र पर्वत पर गिरे और अपने आश्रम के मृगों की भाँति मुनिवरों ने खान, पान, स्थान आदि प्रदान द्वारा उन्हें आश्वासन दिया ॥२९॥ जो योद्धा सह्याद्रि में प्रविष्ट हुए थे, वे तो मूकाम्बिका के समीप कुटजाढ्य नामक सह्याद्रिशिखर के देवबिल में भाग्यवश प्रविष्ट हुए, उक्त बिल से उन्हें ऐहिक और पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो गई । कभी-कभी भाग्योदय में अचानक अनर्थ से भी अर्थ (पुरुषार्थ) हस्तगत हो जाता है, कारण कि मरने के लिए वे सुरबिल में घुसे थे, किन्तु उन्हें सिद्धियाँ मिल गई ॥३०॥ दाशार्ण देश के योद्धा पुराने पत्ते के समान दर्दुराण्य में पहुँचे। वे मूर्ख विषफल खाकर वहीं पर अपने-आप मर गये ॥३१॥ हैहयदेश के योद्धा हिमालय में काकतालीयन्याय से विशल्यकरणी औषधि को खाकर विद्याधरों की भाँति आकाशचारी होकर अपने घर चले गये ॥३२॥ इसी प्रकार बंग के योद्धा भी हिमालय की औषधियाँ खाकर मनुष्यों की नाईं म्लान (कुम्हलाए) शेखर पुष्पों से युक्त हो बाणों के चुक जाने से केवल धनुषों से युक्त हो अपने-अपने घर आये, मारे भय के आज भी बाहर न निकलने के कारण पिशाचता को प्राप्त हुए जैसे दिखाई नहीं पड़ते ॥३३॥ अंग देश के योद्धा विद्याधरों का पद प्रदान करनेवाले वनफलों के भक्षण से स्वर्ग में विद्याधर होकर वहाँ विद्याधरियों के साथ क्रीडा करते हैं ॥३४॥ पारसी योद्धा ताल और तमाल के समूहों में प्रविष्ट हुए, प्रविष्ट होते ही शत्रुओं ने उनके अंग-अंग काट डाले, अतएव

बेचारे मूर्च्छा को प्राप्त हो गये । वहाँपर भ्रान्तिवश विमानचारी ऐसे हो गये ॥३५॥ हे वत्स, कलिंगों की चंचल और निस्सार हाथियों से युक्त चतुरंग सेना अंग देशवासी योद्धाओं से घायल होकर तंगण देश में पहुँची ॥३६॥ शाल्वदेश के योद्धा बाण, पत्थर और जल से युक्त शत्रुसेना के आक्रमण करने पर अपने प्रभु के साथ धराशायी हो गये, वे आज भी उस देश के ग्रामदेवतारूप प्रतिमा बनकर स्थित हैं ॥३७॥ प्रत्येक दिशा की ओर भाग रहे असंख्य योद्धा तरंगों से व्याप्त नगरों में, लीन हो गये ॥३८॥ केवल सागरों में ही लीन नहीं हुए किन्तु खेतों में, जंगलों में, नगरों में, जलों में, स्थलों में, पहाड़ों में, नदी और समुद्रों के तटों में, नहरों मे, ब्राह्मणों को दिये गये माफी ग्रामों में, नदियों में, समुद्रों में, भृगुओं में, वृक्षों में, कसबों में, खुश्क जगहों में, पर्वतों में, कुओं में, गुहाओं में, गृहों में विनष्ट हुए भगोड़े सैनिकों को बचाने में कौन समर्थ था ? ॥३९॥

एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेरहवाँ सर्ग

शत्रुओं के विनाश से विजय के साधनभूत शस्त्रास्त्रों के विनाश तथा समुद्रों के वैभव का विस्तार से वर्णन।

तदनन्तर इस प्रकार भाग रहे शत्रुओं की सेना का पीछा कर रहे वे चार विपश्चित अत्यन्त दूर चले गये । सर्वशक्तिशाली सब देहों में स्थित एक चेतन ईश्वर से दिग्विजय करने के लिए प्रेरित तुल्य अभिप्रायवाले उन सबों ने दिग्विजय किया ॥१,२॥ नदियों के प्रवाहों की नाईं उन्होंने दूर से अपनी सेनाओं का निरन्तर शत्रु सेना से सम्पर्क रखते हुए समुद्र के तट तक अनुसरण किया । दूर तक बिना विश्राम लिए चलने से विपश्चित के सैनिकों के वे जीवननिर्वाह और युद्ध आदि के साधन प्रतिदिन के व्यय से छोटी-छोटी नदियों के जल की भाँति क्षीण हो गये ॥३,४॥ दौड़ रहे विपक्षियों की, अपनी और दूसरों की दर्शनीय सेनाएँ मुमुक्षु जनों के पुण्य-पापों की तरह पूर्णरूप से मटियामेट हो गई ॥५॥ इसके उपरान्त जैसे अग्नि की ज्वालाएँ दाह्य वस्तुओं के (लकड़ी आदि के) अभाव से शान्त हो जाती है वैसे ही अपना कार्य सम्पन्न कर चुके दिव्यास्त्र भी आकाश में लीन हो गये ॥६॥ तरकस, म्यान आदि अपने निवास गृहों में, रथों, हाथियों और वृक्षों के समूहों में अस्त्र सायंकाल के समय निद्रालु पक्षियों के समान लीन होकर निश्चेष्ट हो गये ॥७॥ उक्त आयुध, जैसे लहरें जल के अन्दर विलीन हो जाती हैं, जैसे कुहरा बादल में विलीन हो जाता है, जैसे बादल वायु में विलीन हो जाते हैं वैसे ही तरकस, म्यान आदि में विलीन हो गये ॥८॥ शून्यरूपी जल से भरा निर्मल आकाशरूपी एकार्णव प्रलयकाल में प्रसिद्ध एकमात्र अतः विस्तृत सागर बन गया, क्योंकि उसके अस्त्र-शस्त्ररूपी जल जन्तु मूसलाधार वृष्टि से हुए कीचड़ में विलीन होकर शान्त हो चुके थे, चक्ररूपी सैकड़ों आवर्तों से वह रहित था अतः निर्मल सौम्यता उसमें चारों ओर विराजमान थी, बाणरूपी जलकणों की वेगवती वृष्टि और कुहरा उससे हट चुका था, बादलों के घटाटोप से हुई

तरंगों की भाँति ऊँची ऊँची जलधाराएँ उसमें शान्त हो चुकी थीं, नक्षत्रोंरूपी रत्न-राशि अन्दर छिप चुकी थी तथा सूर्यरूपी बडवाग्नि उसके एक देश में स्थित थी ॥९-११॥ एकार्णव-सा विस्तृत आकाश, जो विस्तृत (फैले हुए) सूर्यप्रकाश से गम्भीर अतएव कान्तियुक्त और धूलिपटल से रहित अतएव प्रसन्न था, महात्माओं के मन की भाँति सुशोभित हुआ । महात्माओं का मन भी आत्मज्ञान से गम्भीर होने से प्रकाशमय तथा रजोगुण से रहित होने के कारण प्रसन्न रहता है ॥१२॥ तदुपरान्त उक्त चार विपश्चितों ने आकाश के छोटे भाइयों के सदृश विस्तारयुक्त निर्मल आकारवाले, सम्पूर्ण दिशाओं तक फैले हुए चार समुद्रों को देखा ॥१३॥ उनमें लहरों के खण्डों और कल्लोंलो से चारों ओर महान गुड़-गुड़ शब्द हो रहा था, प्रचुर जलकणरूपी कुहरे को हरनेवाले मेघों से उनका कलेवर बड़ा रमणीय प्रतीत होता था, रोगाकुल पुरुषों की भाँति वे अपनी काया को पसारे हुए थे, वे वायु से पीड़ित (आन्दोलित) थे, अतएव उनका कलेवर चंचल था और वे तरंगरूपी बाहुओं को बार-बार ऊपर उठा रहे थे (🜁) ॥१४,१५॥ वे संसार की नाईं जड़ होते हुए भी चेष्टामय थे, कल्लोलरूपी टेढ़े-मेढ़े खोडरों से भरे थे, (🜂) चक्राकार आवर्तरूप (जलभ्रमिरूपी) दशाओं से व्याकुल तथा विस्तीर्ण थे । रत्नों की राशियों को धारण करनेवाले तटों की जगमगाहट से उदय समय में मानों वे सूर्य को विशाल बना देते थे । शंखों केझुण्डों में प्रवेश कर रहे वायु का शब्द ही मानों उनकी तर्जन ध्वनि (डाँट-डपट की हुँकार) थी । बड़ी-बड़ी लहरों की परम्पराओं की ध्वनियों से वे मेघों की गड़गड़ाहट से पूर्ण आकाश के आडम्बर से युक्त थे, उनके गोल-गोल आवर्तों के विस्तार में मूँगे के वृक्ष जोर से घूम रहे थे, मगरों के झुण्डों के घर-घर शब्द ही उनके पेट की गुड़गड़ाहट थी, व्हेल मछलियों की पूंछों के अगले भाग की मार से फटे हुए अतएव डूब रहे जहाजों के कोलाहल से भरे जा रहे थे, ऊनी वस्त्र पहने हुए नरकिन्नरों को ऊपर गर्दन निकाले हुए कछुए और मगर निगल रहे थे, हजारों लहरों में प्रतिबिम्बित सूर्यों से वे जिसमें सहस्र सूर्य उदित हुए हों ऐसे आकाश के तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥१६-२०॥ माल से लदे हुए तथा तने हुए पाल पर फर-फर ध्वनि करनेवाले वायुओं के कारण चल रहे जहाजों की कतार ऊपर को उछल रही थी, लहरों में उलझी हुई रत्नराशियों के गिरने के धक्के से उनमें झँकार ध्वनि हो रही थी, विविध जलों से युक्त सेनाओं की बाहुओं द्वारा अनायास सूर्यमण्डल का स्पर्श कर रहे थे (या विविध समुदायों से पूर्ण तरंगरूपी बाहुओं से वे अनायास सूर्यमण्डल का स्पर्श कर रहे थे) ऊपर को छिटक रही किरणों से युक्त मणिमाणिक्यों के समूह उनमें डूब और उतरा रहे थे, फाँदने से फेनवाले आवर्तों में (जलभ्रमियों में) मगरों के झुण्ड के झुण्ड घूम-फिर रहे थे, चक्कर लगा रहे थे, कहीं पर हाथियों

(🜁) रोगाकुल के पक्ष में - साँस रोग से पीड़ित अतएव चंचलशरीर तथा पीड़ा के मारे बार-बार भुजाओं को ऊपर उठा रहे ।

(🜂) संसारपक्ष में छः उर्मियों से (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से) कुटिल जलाशयों से पूर्ण।

के सूँडों को ऊपर करने से वे क्षणभर के लिए बाँस के बन से बनाये जा रहे थे, हाथियों की पूँछ उनमें लहरियों की बौर–सी मालूम पड़ रही थी, हाथियों की पीठरूपी पंक्तियों में सटी हुई फेनराशि से वे पुष्पित बसंत जैसे प्रतीत हो रहे थे। कहींपर (श्वेत द्वीप आदि में) मालूम पड़ता था कि मानों बसंत अपने परिवार के साथ उनके अन्दर विश्राम कर रहा है, उनके एक स्थान पर असंख्य नाना प्रकार के सुर और असुरों के आवास बने थे, फेन आदिरूप तारों से युक्त नूतन तरंगराशियों से वे आकाश का परिहास कर रहे थे, गुफा में स्थित मच्छर की नाईं पातालरूपी गड्ढे में प्रविष्ट होकर बाहर निकलने में भयभीत पर्वत उनमें मूलाशाखा से (जड़ों की शाखा के तुल्य) प्रतीत हो रहे थे, वे अपनी तरंगराशियों से तटवर्ती पर्वतों को छोटे बना रहे थे (तटवर्ती पर्वतों की अपेक्षा तरंग राशियाँ बहुत ऊँची थीं, अतः वे छोटे दिखाई दे रहे थे ।) ॥२१–२६॥ उन्होंने (चार सागरों ने) आकाशरूपी खेत में बहुत से रत्न किरणरूपी अंकुर लगा रक्खे थे, स्वच्छ सीपों के मुँह से गिरे हुई मोतियों से उनके बालूमय तटप्रदेश आच्छन्न थे, विविध प्रकार के रत्नों की किरणरूपी रेशमी सूत्रों से उनका कलेवर चित्र–विचित्र हो रहा था, प्रविष्ट हो रही नदियाँ ही उनके तुरी में प्रविष्ट किये (लपेटे) जा रहे तन्तु (सूत) थे, दशा (किनारा) रूपी दिशाओं के द्वारा इधर उधर वे चारों ओर फैलाये गये थे, अतएव बुने जा रहे वस्त्रों के तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥२७–२८॥ कहीं पर वे इन्द्रनील मणियों के तटों से, जिसमें इधर उधर बिखरी हुई मोतीवाली सैकड़ों सीपें जड़ी थी, अपनी नख शोभा को सैकड़ों सुन्दर (पूर्ण) चन्द्रमाओं युक्त सी दिखला रहे थे ॥२९॥ वे रत्नों की किरणराशियों का सन्देह करानेवाली तरंगों में प्रतिबिम्बित तटभूमि की विकसित ताल की वनपंक्तियों को तरंगों के परिवर्तनों से परिवर्तित कर रहे थे, तीरभूमि के वनों की लताओं से घिरे हुए इलाइची, लौंग, कंकोलों के फलों को लेने की इच्छा करनेवाले जलजन्तु उनमें बार–बार आ जा रहे थे, आम, भूकदम्ब, कदम्ब की चोटियों पर बैठे हुए पक्षियों को जिनकी जल में परछाईं पड़ी थी, भक्ष्य मांस आदि के प्रदर्शन के व्याज से लहर के समीप लाकर खा रहे जलजन्तु उनमें चुटकी बजाने की सी ध्वनि कर रहे थे, नभचर जन्तुओं के प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण इधर–उधर दौड़ रहे जलजन्तु उनमें प्रति क्षण बड़े–बड़े (पुल) तोड़ रहे थे और बाँध रहे थे । उन्होंने चार दिशाओं में चार समुद्रों को देखा । वे अमूर्त थे किन्तु प्रतिबिम्बि से सारा त्रैलोक्य को हृदय में धारण किये हुए और आकाश के समान व्यापक नारायण के समान थे ॥३०–३४॥ अत्यन्त गम्भीरता, निर्मलता और विस्तार के वैभव से अपने में प्रतिबिम्बित आकाश को मानों हृदय से निकाल कर दिखला रहे थे, वे जलचर पक्षियों के आकाश सहित प्रतिबिम्ब को रत्नराशियों की किरणों से कर्बुरित अपने हृदयों से धारण कर रहे थे, अतएव कोश के बीज में स्थित भँवरों को धारण करनेवाले पद्मों के सदृश दीख रहे थे, तरंगों से चंचलतापूर्वक उछले हुए वायुओं के झोंकों से आकाश तल पर आघात कर रहे थे, मध्यवर्ती पर्वतों की कन्दराओं के गाम्भीर्यों से वे प्रलयकाल के मेघों के निवासरूप थे,

गुहाओं में आवर्तों की गुड़गुड़ाहट ध्वनियों से वे वज्र की भाँति भीषण थे, अपने को पी डालनेवाले अगस्त्यों को और बड़वानलों को अपने गुहारूपी उदरों में खूब ग्रसे हुए दर्शा रहे थे, जलरूपी वनों को आकाश में पहुँचे हुए दर्शा रहे थे, जिनमें प्रचुर जलकण ही पुष्प थे, तरंगराशियाँ ही वृक्ष थे, छोटी लहरें ही मंजरी (बौर) थीं, उड़े हुए मछली आदि जीवजन्तुओं से युक्त चल रही तरंग-राशियों को आकाश के शस्त्रों से कटने पर खण्ड रूप से नीचे गिरे हुए टुकड़े से दर्शा रहे क्षार समुद्रों को उन्होंने देखा ॥३५-४०॥ आकाश तक पहुँचे हुए पर्वतों के शिखरों पर तटों के आगे पूर्ववर्णित रीतियों से तरंगों द्वारा स्वागत कर रहे क्षार-सागर के तट पर विपश्चित् सेना के पहुँचने पर चारों ओर इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवला, तमाल, हिंताल और ताड़ के पत्तों के ताण्डवों से विभक्त भँवरों के समान काली वनपंक्ति शोभित हुई ॥४१॥

एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

पार्श्ववर्ती द्वारा विपाश्चितों के दर्शाये गये वन, वृक्ष, सागर, शैल और वनचरों का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, इसके पश्चात् विपश्चितों के पार्श्ववर्ती मन्त्री आदि ने वहाँ पहुँचने के बाद वहाँपर भाँति-भाँति के वन, वृक्ष, सागर, पर्वत, मेघ और वनेचर कौतुक के लिए विपश्चितों को दिखलाये ॥१॥ महाराज ! तलहटी, मध्यभाग तथा चोटी के क्रम से आगे पाषाणमयता को प्राप्त (अत्यन्त पथरीले) इस पर्वत की आकाश से बातें करनेवाली अतएव प्रचुरवायु से पूर्ण (अथवा क्रीड़ाविहार कर रहे गन्धर्व आदि से भरी हुई) शिखर-भूमि को आप देखने की कृपा कीजिये ॥२॥ देव, मौलसिरी, केसर, नारियल के वृक्षों से भरी हुई इन वनस्थलियों पर भी कृपया दृष्टिपात कीजिये जो विविध सुगन्धियों से पूर्ण वायुओं को बहा रही हैं ॥३॥ यह महासागर लहरीरूपी हँसियों से तराई को (पर्वत के पास की सम भूमि को) और पर्वत पर शोभित शिलाओं को काटता है और चोटी से लेकर जड़ तक फलों और पल्लवों से लदी हुई वनपंक्तियों को भी काटता है ॥४॥ जैसे कोई बालक अपने घर की धूम्र-पंक्तियों को पंखे से कम्पित करता है वैसे ही यह सागर वायु से हिलाई गई वृक्ष और लतारूपी भुजाओं के अभिनय से नाच रही, स्वादतुल्य अपने जलकणों से व्याप्त, पर्वतों की ऊपर की भूमि पर बैठी हुई मेघपंक्ति को कम्पित करता है, कृपया देखिये ॥५॥ पूर्णिमा के दिन चन्द्रोदय के समय वृद्धि को प्राप्त समुद्र के प्रवाहों से जिनकी शाखाओं में शंख उलझ गये थे, ऐसे ये तटवृक्ष चन्द्रबिम्ब के समान अमृत रस से भरे और सफेद फलों से पूर्ण कल्पवृक्ष से शोभित हो रहे है, तनिक दृष्टिपात कीजिये ॥६॥ लतारूपी धर्मपत्नियों से युक्त ये वृक्ष, जिनके लाल पल्लवरूपी हाथ रत्नों के तुल्य पुष्पों से भरे हैं, अपने घर में प्राप्त अतिथिरूप आपकी मानों पूजा करते

हैं ॥७॥ यह ऋक्षवान् नाम का पर्वत लहरों में उलझे हुए मगरों को अपने ग्रसनेवाले सफेद पत्थररूपी दाँतों से युक्त गुहारूपी मुखों से भालू के समान घुर–घुर शब्द करता है ॥८॥ जैसे बलवान् युद्ध–कुशल योद्धा शत्रुओं को जड़ वचनों से ललकारता है वैसे ही यह महेन्द्र पर्वत ऊपर से गरज रहे मेघों को नीचे से गम्भीर गर्जनाओं द्वारा सामने डाँट–फटकार रहा है ॥९॥ चन्दन के वृक्षों से व्याप्त, अतिशय शोभाशाली, अति उन्नत यह मलय पर्वत–रूपी मल्ल (पहलवान) प्रतिमल्लरूपी सागर की लहररूपी भुजाओं की लपेट को जीतने के लिए उद्यत–सा हो रहा है ॥१०॥ चारों ओर से रत्न–मिश्रित तरंगों से निरन्तर व्याप्त समुद्र को आकाशचारी जीव, भूमि के रत्नकंकण की भ्रान्ति से देखते हैं ॥११॥ वनसमूहों से भरे हुए छोटे–छोटे पर्वत, जिनके शिखरों पर रत्न विराजमान हैं वायुवश वन के कम्पित होने पर नीची ऊँची गतियों से चलनेवाले बनकर सर्पों की भाँति सरकते हैं ॥१२॥ तरंगों के शिखरों पर घूम रहे समुद्री मगर और जंगली हाथी तरंगशिखरों के निकलने और प्रविष्ट होने पर एक दूसरे के ग्रहण के लिए सूँड़ों और खोले हुए मुँहों से बादलों से अनुद्रुत जलकण गिरानेवाले मेघों की भाँति कौतुक देखनेवालों का मन हरते हैं ॥१३॥ उनमें से एक हाथी भाग्यवश अगाध जल में भँवरों की पकड़ में आकर जलकणों की मूसलाधार बौछारों से दिशाओं को व्याप्त कर डूबने के कारण जल से भर जाने से सिर उठाने में असमर्थ हो सूँड़ ऊपर कर मर रहा है, जरा दृष्टिपात कीजिये ॥१४॥ जैसे सागर विविध प्राणियों से पूर्ण, जल से भरे हुए तथा पर्वतों से ऊँचे नीचे विषम हैं वैसे ही सब द्वीपभूमियाँ भी हैं ॥१५॥ जैसे ब्रह्म अपने से अभिन्न होते हुए भी भिन्न से प्रतीत होनेवाले, दिखाई देते हुए भी असद्रूप, जड़ होते हुए भी चलनेवाले, शान्त होते हुए असीम जगत् को धारण करता है वैसे ही जलधि अपने से अभिन्न होते हुए भी भिन्न से मालुम पड़नेवाले दिखाई देते हुए भी चंचल, विनाशशील होते हुए भी अन्त रहित असीम आवर्तों को धारण करता है ॥१६,१७॥ जैसे इन्द्र असुरों से रक्षा करते हुए मणियों को अपने अन्दर रखते हैं वैसे ही मन्थन के समय देवता और असुरों द्वारा हृत–सर्वस्व सागर मन्थन के समय देवताओं से परिरक्षित जिन बहुत सी मणियों को अपने अन्दर रखता है और महातेजरूप अतएव पाताल से भी भलीभाँति दिखाई दे रहीं जिन मणियों को प्रतिबिम्बरूपसे असत्य सी बनाकर अन्दर छिपाकर रखता है, उन मणियों में से एक जिस मणि को प्रतिदिन पश्चिम सागर में रखने के लिए आकाश में फेंकता है, उससे दिन होता है, ऐसी मेरी मति है ॥१८–२०॥ जैसे यात्रा में लोगों का कलकल ध्वनि से युक्त परस्पर समागम होता है वैसे ही विविध दिशाओं और देशों के जलों का कलकल शब्द से मिश्रित परस्पर समागम होता है ॥२१॥ युद्ध में उत्साह रखनेवालों में जलचर ही श्रेष्ठतम होते हैं, ऐसा मेरा तर्क है, क्योंकि पूर्व और पश्चिम सागर के संगम में इनका सदैव परस्पर आस्फालनवश कभी भी युद्ध शान्त नहीं होता ॥२२॥ रतिखेद से श्रान्त हुई मछलियों के लहरों की चोटियों

पर नाचने में जो आवर्तों का सा (जलभ्रमियों का-सा) विलास हुआ उसको उड़ाये हुए जलकणरूपी या जलकणसहित पारितोषिकरूप मोतियों से वेष्टित करता हुआ प्रभु की भाँति यह वायु आ रहा है, देखिये ॥२३॥ नदीरूपी मोतियों की मालाओं के बीच-बीच में गुँथे हुए मेघरूपी उत्तमोत्तम चंचल रत्न सागर के कण्ठ में सबसे बढ़कर लम्बमान होने से आपस की टक्कर से खनखना रहे हैं ॥२४॥ महेन्द्र पर्वत की अरतिकारिणी (उदास) भूमियों में पहुँचकर उनमें अभिरुचि न होने से गुहारूपी गृहों में रति के लिए समुद्री मार्ग से लौटे सिद्ध और साध्यरूप देवयोनियों के रतिश्रम को हटाने से सुखकारी यह वायु बह रहा है ॥२५॥ यह मन्दराचल पर्वत कन्दराओं से निकले हुए वायु के झोकों से आकाश में पुष्पवर्षी मेघों का विस्तार कर रहा है अर्थात् शिखर पर छाये हुए मेघों को फूलों से पूर्ण कर रहा है, देखिये ॥२६॥ ये बिजलीरूपी चंचल नेत्रवाले मेघरूपी हरिण आम, धूलिकदम्ब और कदम्बों से परिपूर्ण गन्धमादन की कन्दराओं में प्रवेश कर रहे हैं ॥२७॥ हिमालय की गुफाओं से निकले हुए, मेघों और समुद्र की तरंगों को छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा लताओं को नचा रहे मन्द-सुगन्ध शीतल पवन बह रहे हैं ॥२८॥ हे देव, आम और कदम्ब की शाखाओं की चोटियों के सम्पर्क से सुगन्धवाले गन्धमादन पर्वत के ये वायु सागर की तरंगों को वेष्टित कर रहे हैं ॥२९॥ अलकापुरी (कुबेरनगरी) के अलक (बालों की जुल्फें) बने हुए मेघों को वेष्टित कर रहा तथा वनश्रेणियों में पुष्पमेघ की रचना कर रहा वायु इधर ही आ रहा है ॥३०॥ कुन्द और मन्दार (पारिजात) की पुष्पराशियों की सुमधुर सुगन्धि के भार से मन्दगति वाले अतएव तुषारकणों से संयुक्त जैसे वायुओं का इस गन्धमादन पर्वत पर स्पर्श कीजिये ॥३१॥ नारियल वृक्षों तथा मल्लिका आदि लताओं को नचाने से क्रमशः उनकी तीक्षण मद्यगन्ध और सुगन्ध को प्राप्त पवन पारसीक पुरी में गिरते हैं, देखिये ॥३२॥ भगवान् शिवजी के विकसित प्रमदवन के केले के कर्पूर से सुरभित, मेघों को कँपा रहे और कैलास के कमलाकरों को हिला रहे वायु बह रहे हैं ॥३३॥ गजेन्द्रों के गण्डस्थल से चू रहे मदजल से मन्थर मूर्तिवाले ये विन्धयाचल के तोतों के साथ निकलने से उनके रंग से हरे से प्रतीत होते हैं ॥३४॥ शबरियों के शरीरों में वस्त्रों की कल्पना द्वारा जीर्णशीर्ण पत्तों के ढेरवाले मलयाचल पर्वतपर पत्ते पहननेवाले शबरों से तथा बाणों से पूर्ण अतएव थोड़े से अवशिष्ट मृगों पक्षियों से युक्त मलयवनराजियाँ नगर-सी मालूम पड़ती हैं ॥३५॥ ये दिशाएँ जिनके सागर, पर्वत, नदियाँ, मेघ, वनपंक्तियाँ अवयव हैं, आपके प्रताप से परिपुष्ट हुई सूर्य की किरणों से मानों हँसती है ॥३६॥ इस प्रदेश में पर्वत तथा वनवीथियों के समीप रति के लिए विद्याधरों द्वारा रची गई पुष्पशय्याएँ महावर की छाप से युक्त दोनों बाजुओं में स्पष्ट रीति से उठे हुए चरण चिह्न से पुरुष के रति श्रान्त होने पर अधोदेश से व्यावृत्त हुई मुग्धवनिता के पुरुष आचरणों को सूचित करती हैं ॥३७॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

चारों दिशाओं में वन, पर्वत, वृक्ष, नदी, समुद्र, वायु, पशु-पक्षी, मेघ आदि का वर्णन।

पार्श्वचरों ने कहा : हे उदाराशय, जिनकी ललनाएँ विहारक्रीडाओं में सदा आसक्त रहती हैं, ऐसे किन्नरगण उत्कट संचारिभावों और संभोगसिंगार से दिवस चेष्टाओं को भूलकर इस पर्वतपर लतानिकुंजों में अस्फुट मधुर तानवाले गीत गाते हैं और सुनते हैं॥१॥

अत्यन्त ऊँचे भी पर्वत दूर से दिखाई देने के कारण बहुत छोटे मालूम होते हैं ऐसा कहते हैं ।

महाराज, देखिये, हिमालय, मलयाचल, विन्ध्याचल, सह्याद्रि, क्रौंचाद्रि, महेन्द्र, मधु, मन्दर, दर्दुर आदि ये सफेद मेघरूपी वस्त्रों से ढके हुए पर्वत दूर होने के कारण दर्शकों की दृष्टि में सुखे हुए पत्तों से वेष्टित ढेलों की रूपरेखा को धारण करते हैं ॥२॥ राजन्, देखिये, ये कुलशैल, दूर से देखने पर जिनके मध्यवर्ती मार्गसमूह दूसरों को नहीं दिखाई देते, परस्पर सटे होने से चारों ओर नगर के प्राकार (चहार दीवारी) जैसे प्रतीत होते हैं । सागरों में प्रवेश कर रहीं प्रवेशत्वरा से लड़खड़ाती हुई नदियाँ वस्त्र के भीतर लगी हुई महीन सफेद सूत की किनारी-सी लग रही हैं ॥३॥ हे राजन्, सामने दसों दिशाएँ, जिन्होंने चारों ओर पहाड़ों की चोटियों पर मेघों को फैला रक्खा है, जिनकी मेघ के सदृश श्यामल आकृति है, पक्षियों के कलरव ही जिनके वार्तालाप हैं, जिनकी वन-श्रेणिरूपी भुजलताएँ लताओं से वर्षाए गये फूलों से अलंकृत हैं, आपके अन्तःपुर की रानियों को हँस रही सा मालूम पड़ती हैं ॥४॥ ताड़, तमाल, मौलसिरी के पेड़ों से भरे हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों से युक्त दूर से शिखरों के सदृश प्रतीत हो रहे शैलों में एकाकार तथा वायु से चंचल वन सागर की तरंगो से आकुल तीरभूमि से सटा हुआ सेवारसमूह सा मालूम हो रहा है ॥५॥ इसमें भगवान् शेषशायी सोते हैं, इसमें उनके शत्रुओं का (असुरों का) निवास है, इसीमें इन्द्र के भय से शरण में आये पर्वत निर्भय होकर सोते हैं, इसीमें वडवानल भी प्रलयकालीन मेघों के साथ वास करता है । ओह ! सागर का शरीर कितना विस्तीर्ण, कितना बलवान् और कितना भारसहिष्णु है । शायद ही इसके समान विस्तृत, बली और भारसह दूसरा हो ॥६॥

कोई दूसरा पार्श्वचर उत्तर दिशा की ओर मुड़े हुए विपश्चित् से मेरु की तराई में सुवर्णमय जम्बूनदी के तटों को दिखलाता हुआ कहता है ।

ये जम्बूनदी के तट, जिनमें सब गाँव, वन, नगर, उपवन, पर्वत, वृक्ष,ठूँठ और विप्रों को दिये गये ग्राम सुवर्णमय हैं, सूर्य की किरणों से व्याप्त होकर चारों ओर जगमगाते हैं । तथा ज्वालाओं की पंक्तियों से वेष्टित आकाश में पहुँचकर चारों ओर दीप्तियों की बौछार करते हैं । हे महाराज, यहाँ पर इस प्रकार की यह सारी भूमि देवताओं के उपभोग योग्य है, मनुष्यों के आवास योग्य नहीं है ॥७॥ इस पर्वत की मेघसदृश कदम्बवनरूपी कम्बल को धारण कर रही सूर्य के मार्ग को चूमनेवाली

शिखर भूमियाँ शोभा पा रही हैं । अतः इन भूमियों में मेरी भूमि की तरह ही ये भी भूमियाँ ही हैं ऐसी आपकी बुद्धि हो, ये सूर्य को ढकने वाली आकाशस्थ मेघराशियाँ हैं, ऐसी शंका आप न करें ॥८॥

दूसरा पार्श्वचर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थित विपश्चित् से मलयाचल का वर्णन करते हुए बोला ।

महाराज, समीप में दिखलाई दे रहा यह मलयाचल है, इसके प्रभाव का क्या बखान करें, श्रेष्ठ लवलीनलताओं से विभूषित चन्दन-वृक्षों की प्रचुर मनोहर सुगन्धि से इसके और वृक्ष के भी चन्दन बन जाते हैं, देवता, असुर और मनुष्य उनका मुखकमल में भृंग के तुल्य तिलक लगाते हैं और इसकी मनोहर सुगन्धि से भगवान् शिवजी के कपोलों में गर्मी पैदा करनेवाले ताण्डव नृत्य में उत्पन्न हुए गरम स्वेदबिन्दु स्त्रियों के सुरतश्रम से उत्पन्न स्वेदबिन्दुओं की भाँति अत्यन्त शीत बनाये जाते हैं ॥९॥ इस मलयाचल पर्वत ने, जिसके सागर से धोये गये सुवर्णमय तटों पर उगे हुए चन्दन-वृक्ष साँपों से परिवेष्टित रहते हैं, विद्याधर स्त्रियों के वदनकमल के कान्तिपुंज से सकल शिलाओं को सुवर्णमय बना दिया है ॥१०॥ यह क्रौंचाचल पर्वत है । इसमें रहनेवाले कौए निकुंजों, शिलामय प्रदेशों (पथरीली भूमियों), गुफाओं और नदियों की तालध्वनियों से युक्त बज रहे बाँसों के गीतों को सुनने की तीव्र इच्छा से चुपचाप हो गये हैं । इसमें इधर-उधर उड़ रहे मयूरों की केकाध्वनियों से भयभीत हुए साँप खोखलेवाले पुराने वृक्षों के तनों में अपने शरीर को छिपाये रहते हैं ॥११॥ हे राजन्, यहाँ इस क्रौंचाद्रि के तटपर कोमल कनकलता से निर्मित निकुंज में कान्त के साथ क्रीडा कर रहीं ललनाओं के रत्यवस्था में चंचल कंकणों से किया हुआ कानों के लिए अतिमधुर होने से रसायनपान के तुल्य दूर तक फैले भूषणशब्द को आप सुनिये ॥१२॥ हाथियों के गण्डस्थलों से चुए हुए मदजलों से मिश्रित अतएव चंचल भ्रमर-वृन्द द्वारा चबाया हुआ सा पीड़ित कणसमूह सागर में मानों रोता है ॥१३॥

कोई पार्श्वचर सागर में प्रतिबिम्बित चंचल चन्द्रबिम्ब को दर्शाते हुए कहता है ।

हे राजन्, अमृत-मथने से उत्पन्न हुए नवनीत के सदृश स्वयं निर्मल चन्द्रमा वैसी ही सुन्दर शरीरवाली सुन्दरियों से परिवृत्त होकर क्षीरसागर में प्रतिबिम्बित हो पिता की गोद में जलक्रीड़ा करता है ॥१४॥

दूसरा कोई पार्श्वचर मलय पर्वत पर राजा को लतानृत्य दिखलाता है ।

निर्मल मलयपर्वत शिखर में बाललताएँ नाचती हैं देखिये, मतवाले कोकिलों की मीठी तान ही इनका पंचमस्वर है, चंचल भ्रमरवृन्द ही इनके नयन हैं, नूतन कमलरूपी हाथों में उन्होंने फूल ले रक्खे हैं और वसन्तोत्सव के विलासरूप पुष्पपरागों का तिलक लगा रक्खा है ॥१५॥

कोई तीन उत्तम मोतियों की खानों और उनमें से उत्तम मोतियों की उत्पत्ति का वर्णन करता है ।

पर्वतों में विशेष बाँसो की गाँठ के छेद में और सागर में जलाकांक्षिणी सीपों के भीतर स्वाति नक्षत्र में जो वर्षाबिन्दु प्रविष्ट होते हैं, वे मोती का रूप धारण करते हैं एवं मोतियों की ये तीन प्रसिद्ध जातियाँ स्थानशुद्धि होने पर स्थूलतारूपी उत्कृष्ट गुण से भी उत्तम गुणवाली होती हैं ॥१६॥

इसी प्रकार रत्नों की भी विभिन्न आगारों में (खानों में) उत्पत्ति और विभिन्न गुण और कार्यसिद्धि रत्नशास्त्र में प्रसिद्ध है, यह कहते हैं ।

हे प्रभो, पर्वत में, सागर में, पुरुष में, पृथिवी में, मेघ में, मेढक में, पत्थर में और हाथी में विविध आकारवाली मणियाँ होती हैं । कृपया आप उनके काम सुनिये, संतापनिवृत्ति, शत्रुओं का उच्चाटन, मारण, ज्वर, भीति, भ्रान्ति, अन्धता, खेद, उत्तापन तथा अपने स्वामी के प्रति व्यवहित (छिपी हुई) तथा दूरस्थित वस्तुओं को प्रकाशित करना, दूर गमन की शक्ति पैदा करना या भूमि में छिपकर गमनशक्ति, आकाशगति उत्पन्न करना, अतीत और भविष्य को दिखाना, रोग तथा दुर्भिक्ष का शमन करना, दूसरों द्वारा प्रयुक्त विष, कृत्या, यन्त्र, मन्त्र आदि का प्रतीकार करना आदि ॥१७॥

कोई दूसरा पार्श्वचर चन्द्रोदय के समय नगर में हर्षवश हुए खिड़की आदि से जनघोष और मन्दर पर्वत में गर्त आदि के घोष के उपमानोपमेय भाव से उत्प्रेक्षा करता है ।

इस प्रदेश में नगर, चन्द्रमा के उदित होने पर खिड़की, झरोखे, दरवाजे आदिरूपी मुँहों से अमृतसिन्धुभूत चन्द्रमा की ऐसे ही स्तुति करते हैं जैसे कि मन्दराचल गर्त, मेघ, गुफा, बनैले बाँसों के छिद्रों से अमृतसागररूप चन्द्रमा की स्तुति करता है ॥१८॥

कोई हिमालय के तटों से मेघों की उड़ान में पवन द्वारा किये गये शिखरहरण की तथा भूमि से उठे हुए आकाश–पाताल को तोलने के खम्भे की उत्प्रेक्षा करता है ।

आकाश और पाताल की गुरुता और लघुता के परीक्षार्थ तोलने के लिए भूमि के वज्रस्तम्भ की नाईं हिमालय की तटवनभूमियों से मेघ ऊपर उड़ता है । ऊपर की ओर मुँह की हुईं मुग्ध (भोली) सिद्धांगनाओं द्वारा बड़े आश्रय के साथ देखा गया वायु मानों इस पर्वत के शिखर ले जाता है क्या ? ॥१९॥ हे राजन्, गंगातरंग और हिम–कणों से शीतल महेन्द्र पर्वत के तटों को देखिये । इनके सुन्दर शिलातलों पर विद्याधर लोग बैठे हैं और इनके पुष्पित वन फूल और मेघों से व्याप्त हैं ॥२०॥

पुण्यतम प्रदेश, वन, तीर्थ आदि के दर्शन से दुर्भाग्यनिवृत्तिरूप महान् फल है, ऐसा कहते हैं ।

देश–देशान्तरों में फैले हुए अन्यान्य वनों, पुष्पवाटिकाओं, उपवनों तथा नगरों को और तीर्थों में पवित्र स्थानों और जलों को देखकर दुर्भाग्यभीति बड़े वेग से दूर भाग जाती है ॥२१॥ दिशाओं के मध्यवर्ती अवकाश को पाट देनेवाले, मेघ, गुफा और निकुंजों से परिपूर्ण आकाशतुल्य पर्वतशिखरों को तथा निर्मल सेतुबन्धादि तीर्थों को देखकर बड़े–बड़े ब्रह्महत्या आदि पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥२२॥ राजन्, मलयाचल में चन्दनवृक्षों की मनोहर श्रेणियाँ हैं, विन्ध्याचल में मतवाले हाथी हैं, कैलास में श्रेष्ठ सुवर्ण है, महेन्द्राचल में चन्द्र (हीरा) है, हिमालय मे दिव्य औषधियाँ हैं, सब स्थानों में रत्न हैं, किन्तु भाग्यहीन पुरुष उनको न देखकर अन्धे चूहे की तरह जीर्ण–शीर्ण घर में वृथा दिन बिताता है ॥२३॥ मेघरूपी अन्धकार से आवृत ये दिशाएँ प्रलय काल में जल से व्याप्त अन्तरिक्ष लोक तक भरे जगद्रूपी एक तालाब–सी मालूम पड़ती हैं और उनमें चंचल बिजलियाँ तालाबों में मछलियाँ–

सी फुरती हैं ॥२४॥ स्वयं हिमकणों से लदे हुए, भूमिस्थित तुषारपंक्ति को शोषण द्वारा हल्की बनानेवाले जलधारा वर्षानेवाले तथा मेघों को मतवाले बना रहे शीतस्पर्श से शरीरों में प्रचुर रोमांच पैदा करनेवाले ये वर्षाऋतु के वायु साँय साँय बहते हैं ॥२५॥ अहा, नीले बादलों का पीछा करनेवाला यह धीर वायु बह रहा है । यह पेड़ों के पल्लव और फूलों के गुच्छों को बिखेर रहा है, अंकुर और पेड़-पौधों के वनों के अन्दर संचार से भला लगता है एवं मूसलाधार वृष्टि के जलकणों से अत्यन्त ही सुहावना है ॥२६॥ जैसे स्वर्ग से च्युत हुए जीव पूर्व पुण्यवासना के लेश को धारण करते हैं वैसे ही सुरत से क्लान्त (श्रान्त) कान्ताओं के निश्वासों से वायु वृद्धि और सुगन्धि को धारण करते हैं ॥२७॥ भूमण्डल के कमलों को खिलाने और पुष्पलताओं को खोलने में सचेष्ट, मेघरूपी वस्त्रों की चीरफाड़ (छेदन-भेदन) में दक्ष तथा उपवनों को कम्पित करनेवाले ये मन्द सुगन्ध शीतल पवन बहते हैं ॥२८॥ जैसे फूलों की विविध विचित्र पंक्तियों से सुसज्जित (फूलों से सजाये गये) राजा के आँगन में मन्त्री आदि श्रेष्ठ सेवक फूलों को कुचले बिना जतन से चलते हैं वैसे ही ये वायु गगनतल में मन्द-मन्द कम्पन के साथ सान्ध्य मेघों के समीप जाते हैं ॥२९॥ ये पर्वत-शिखर के वायु कहींपर फूलों की सुगन्धि से भरे हैं तो कहीं पर विविध कमलों की भीनी-भीनी गन्धवाले हैं, कहींपर सुन्दर केसरराशि से लदे हैं तो कहींपर बर्फ से सफेद हैं और कहींपर हरे, पीले और काले पर्वतीय धातुओं से हरे, पीले और काले रंग के हैं । ये सुरत में क्लान्त लोगों के स्वेदबिन्दुओं को दूर करते हुए बह रहे हैं ॥३०॥ कहींपर सूर्य मूर्खों की कुसंगति में पड़े पुरुष की नाईं सेवकों की भाँति आज्ञाकारी सूर्यकान्तमणियों से गुफा आदि में जलाये जा रहे प्राणियों के हुँकार और चीत्कार पूर्ण रोंदनों से युक्त अंगारों को अपनी किरणों से (हाथों से) फेंक रहा है ॥३१॥ पुरुषरूप (संगम द्वारा आस्वादनीय) रसायन में अतृप्त अतएव मदवश लज्जारहित महिला द्वारा शरीर से आलिंगित पुरुष की सुरत की समाप्ति के लिए आवश्यक अन्यान्य कार्य वर्णन रूप वंचनोक्ति विषविमूर्च्छना से हुई अपनी मृत्यु के समान नहीं सही जाती है ॥३२॥ कमलों की सुगन्धि से परिपूर्ण, शीतल जलकणों से लदे हुए, चन्द्रकिरणों के समूह की तरह स्वच्छ लहरियों को छिन्न-भिन्न करनेवाले सामने बह रहे ये वनभूमि के स्वच्छ शत्रु विरहिणी नारियों के लिए अग्निपूर्ण के तुल्य संतापकारी होते हैं ॥३३॥

हे राजन्, इस पूर्वसागर के तटरूप निचली भूमि में काँसे के कड़े पहनी हुई बड़े-बड़े पत्ते रूपी वस्त्रवाली शबरस्त्रियाँ, जो नवीन मदरूप आसव को पैदा करनेवाले यौवन से युक्त हैं, देखिये कैसे चल रही हैं ॥३४॥ यह महिला विलक्षण सुरतानन्द को देनेवाले मदसंभोग से युक्त रात्रि के बीतने के भय से दुःखी होकर सामने दिखाई दे रही साँपों से वेष्टित चन्दनलता की तरह द्रवित हुए अपने पति को जरा भी नहीं छोड़ती है ॥३५॥ नौबतखाने में बजी हुई प्रातःकाल की शहनाई से कोलाहलयुक्त दिवसों द्वारा डाँटी-डपटी गई अतएव विदीर्ण हृदय-सी नारी अपने पति के वक्षःस्थल में विलीन हो गई है ॥३६॥ यहाँ दक्षिण महासागर के तीरपर इस वनपंक्ति को, जिसमें किंशुक के पेड़ फूले हैं,

अतएव जो जली हुई सी दिखाई देती है, सागर अपनी जलतरंगों से बार–बार सींचता है, देखने की कृपा कीजिये ॥३७॥ फूले हुए किंशुकवृक्षों से भरी हुई इस वनपंक्ति से धूम्र के समान काले–काले ऊपरी भाग से युक्त मेघधूम के समान निकलते हैं। किंशुक के फूल अंगारों की भाँति निकलते हैं और पक्षी तथा भँवर बुझे हुए अंगारों की तरह निकलते हैं ॥३८॥

जिसमें सच्ची आग नहीं थी, किन्तु किंशुक फूलरूप कल्पित आग थी, ऐसी वनपंक्ति को दिखलाकर उस ओर सच्ची आगवाली वनराजि को कोई पार्श्वचर दिखलाता है।

महाराज, यहाँ से दूर पर्वत की चोटी पर उत्तर दिशा की ओर सच आग से जल रही ऐसी ही वनपंक्ति वायु द्वारा आकाश में कँपाई जाती है, कृपया दृष्टिपात कीजिये ॥३९॥ राजन्, क्रौंचाचल की भूमि में मन्द–मन्द चलनेवाले मेघवृन्द के गंभीर और तेज गर्जनों से नाच रहे मयूरों से पूर्ण तथा तेज वृष्टि और वायु से गिरे हुए फूल फल और पल्लवों से पटे हुए ऊँचे वनसमूह को कृपया देखिये ॥४०॥ यह सूर्य का रथ अस्ताचल पर्वत में ऊँचे नीचे सुवर्ण मय शिखरों की नोकों से टकराने के कारण सुन्दर जोड़ों में जर्जरित हो पहियों की घरघराहट से तीक्ष्णतर कूवरध्वनिवाला होकर नीची भूमि में उतर रहा है ॥४१॥ भुवनरूपी भवन के प्राकार (प्राचीर) रूप उदयाचल पर्वत के शिखरपर चन्द्रमारूपी मांगलिक फूल मंगलसूचक होने से अमंगल से भयभीत हो चारों ओर कान्ति से विकसित हुआ। उस प्रकार के मंगलमय फूल के समीप भी अमंगलकारी विधि द्वारा प्रेरित हुआ कलंकरूपी भ्रमर प्राप्त हो ही गया। ऐसी परिस्थिति में इस भुवन में ऐसी श्रेष्ठ वस्तु कोई भी नहीं है, जिसे कलमुँहा विधि क्षणभर में कलंकित न कर दे। भाव यह कि पृथ्वी का स्पर्श न कर पर्वतशिखराकाश में चलने वाले चन्द्रमा की जब यह दशा है, तब और की तो कथा ही क्या है? ॥४२॥ यह चन्द्रमा की चाँदनी प्रदोषकाल में नाच रहे त्रिभुवन संहारकारी शिवजी का अट्टहास है या भुवनरूपी महाभवन की चूने आदि से होनेवाली सफेदी है या आकाशरूपी समुद्र के दुग्धरूपी जल का स्वच्छ प्रवाह है ॥४३॥ सन्ध्या के धातुरोगों से मिश्रित प्रदोषमय मन्दर से मध्यमान चन्द्रमारूपी क्षीर सागर उछले हुए दुग्धतरंग खण्ड ऐसे फैल रहे प्रभाजालों से, जो शिवजी द्वारा छोड़ी गई गंगाजी के फैल रहे प्रवाह जैसे स्वच्छ हैं, परिपूरित अवयव वाली दिशाओं को देखिये ॥४४॥ हे अनुपम, ताल के वृक्षों के तुल्य कराल वेतालों के बच्चों से परिवृत ये गुह्यकगण रात्रि के समय शान्तिपाठ, स्वस्तिवाचन आदि मंगलाचरणों से रहित अतएव उत्पातों से पीडित आपके शत्रु हूणेश्वर के नगरवासियों को खाने के लिए जाते हैं॥४५॥ आकाश में पूर्ण चन्द्रमा तभी तक शोभा पाता है जबतक कि वधू का मुँह घर के बाहर खुले आँगन में नहीं आता। घर के बाहर के आँगनरूपी आकाश में वधूमुखरूपी चन्द्रमा के उदित होने पर तो उसकी सुन्दरता के सामने फीके पड़े चन्द्रमा और सफेद बादल के टुकड़े में कोई अन्तर नहीं रह जाता है ॥४६॥

कोई अन्य पार्श्वचर चन्द्रकिरणों से व्याप्त हिमालय के शिखरों का वर्णन करता है।

ये हिमालय पर्वत के विशाल हिमाच्छन्न शिखर हैं। ये चन्द्रकिरणरूपी नूतन वस्त्र पहने हैं,

गंगा के प्रवाह से इनकी शिलाएँ हिल रही हैं तथा बड़ी-बड़ी लताएँ इनकी जटा-सी मालूम हो रहीं हैं ॥४७॥ पारिजात के वृक्षों से विभूषित यह मन्दराचल, जिसका पवन झूल रही अप्सराओं के गीतों को फैलाता है और जो कहीं पर मणियों की प्रभा से विचित्रस्वरूप है, अति ऊँचा होने के कारण आकाश में दिखाई देता है ॥४८॥ खिले हुए और फूलों से भरे हुए कुकुरमुत्तारूप पुष्पपूर्ण अर्घ्यपात्रों को धारण करनेवाले महान् पर्वत तेज मेघनिर्घोषों से गंभीर कन्दराओं नक्षत्रों से पूर्ण आकाश की शोभा धारण करते हैं ॥४९॥ यहाँ से उत्तर की तरफ प्रसिद्ध कैलासपर्वत पर दृष्टिपात कीजिये जिसके चारों ओर व्याप्त हुए विस्तृत प्रभाव से आकाश नीचे की तरफ भगवान् शिवजी के पुत्र श्रीस्वामी कार्तिकेय का मोती के चूर्ण से बना क्रीडागृह जैसा शोभित हो रहा है । ऊपर की तरफ जैसे क्षीरसागर में डूबा चन्द्रमा शोभित होता है वैसे ही शोभित होता है ॥५०॥ राजन्, कौतुकी इन्द्र कुल्हाडों से जिनकी शाखाएँ कट गईं हैं ऐसे ठूँठ और अग्नि द्वारा जिनकी छप्पर आदि शाखाएँ नष्ट हो गई ऐसी मिट्टी की दीवार, जो एक दूसरे से दूर हैं -दोनों में वृष्टिसेक से अंकुर पैदा कर दोनों को खुली शिखावाले-से बनाकर वायु द्वारा मानों परस्पर बाँधने के लिए इकट्ठा करता है ॥५१॥ महाराज, देखिये ये विविध प्रकार के कदम्बों और कुन्दों से सुगन्धित वायु मकरन्द की (फूलों के रसकी) वर्षा से खूब घन, भ्रमरराशि से काले और मेघ के सदृश बनकर तथा सब तरही की सुगन्धियों से सनकर जैसे मेघ आकाश को व्याप्त करते हैं वैसे ही लोगों की नाक को व्याप्त कर रहें हैं ॥५२॥ वर्षा ऋतु में कलियों की विकसित पँखुड़ियों से सुशोभित वनस्थलियों में छायादार वृक्षों के झुण्डों तथा हरी-हरी दूब से आच्छन्न मैदानों से मनोहर जंगलों में एवं कतारबद्ध खड़े फलवाले पेड़ों से भरे हुए गाँवों मे लक्ष्मी अतिशय शोभा देखने के कारण रहने के लिए अपने आप बस जाती है ॥५३॥ यह सामने के गाँव, जिसके आँगन झरोखों तक आई हुई लताओं से वेष्टित महान् घरों के मध्य में तोरई के फूल और केसरों को ला रहे वायुओं से घुटने तक फूलों से भरे हैं, वनदेवताओं के नगर-से मालूम पड़ते हैं ॥५४॥ महाराज, देखिये ये पर्वत के रमणीय ग्राम हैं, इनमें खिली हुई निर्मल चम्पक वृक्षों की लता के झूलों में ललनाएँ क्रीड़ा कर रही हैं, झरने का जल झर झर ध्वनि कर रहा है, सीमाओं में चारों ओर ताड़ के वृक्ष फूले हैं, विकसित चटकीली मंजरियों से अलंकृत लतागृहों में मयूर नाच रहे हैं तथा चारों ओर ऊँचे-ऊँचे प्राचीर या वृक्षों पर मेघ लटके हैं ॥५५॥ वायुवश हिल रहीं लाल, पीले और हरे पत्तोंवाली छोटी-छोटी लताओं से इनके हरे-भरे मैदान भरे हैं, गौरिया, कोक और कुक्कुट चहचहा रहे हैं, शबरों की स्त्रियाँ गा रही हैं, बालकों द्वारा पालित होने से इनमें बछड़े आनन्दमग्न हैं यानी उनमें किसी प्रकार की घबड़ाहट नहीं है और बालक तथा अव्याकुल बछड़े दही, शहद, दूध और घी पीने से खूब तगड़े हैं । इस प्रकार के पर्वतग्राम ब्रह्म के विश्राम के लिए निर्मित मण्डप-से लग रहे हैं ॥५६॥

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

संग्राम, आकाश, वियोगी, पर्वतग्राम, पर्वत-गुफा के मेघ और कौओं का वर्णन ।

अनुचरों ने कहा : महाराज, यहाँ पर युद्धरत सीमाप्रान्त के राजाओं के अस्त्र-शस्त्रों की राशियाँ चमचमा रही हैं । चतुरंगिणी सेना विलक्षण रीति से इधर-उधर चल रही है, कृपाकर देखें ॥१॥ महाराज, देखिये, देखिये, अप्सरायें वीरों द्वारा संग्राम में अभिमुख मारे गये हजारों वीर योद्धाओं को चढ़ा-बढ़ाकर विमानों द्वारा आकाश में जा रही हैं ॥२॥ रण में शत्रुओं का संकट उपस्थित होने पर बलवान् विजेता से धर्म के बिना उसका वध शोभा नहीं देता, किन्तु युवावस्था में धर्मयुक्त (विहित) सुरत के समान धर्म से युक्त युद्ध ही शोभा देता है ॥३॥ लोगों के द्वारा अनिन्दित लक्ष्मी, श्रीयुक्त आरोग्य, धर्मयुक्त और दूसरे के लिये जीवन-ये ही जीवन के उत्तम फल हैं । लोकनिन्दित सम्पत्ति आदि जीवन के फल नहीं हैं ॥४॥ जो युद्ध में सामने आये हुए योद्धा को धर्म के अविरोध से योद्धा के अनुरूप (🔔) मारता है, वही शूर स्वर्गगामी होता है, दूसरा नहीं ॥५॥ हे राजन्, उद्यत शस्त्रास्त्ररूपी भूषणों से भासुर इस शूरवीर पुरुष में संग्राम लक्ष्मी के हाथ में स्थित श्रेष्ठ तलवारूपी नील कमलों की माला से श्याम, घोड़ों के खुरों से उठी घनी धूलि से हुआ अन्धकाररूपी यह निशागम संग्राम भूमि में कैसे क्रमण करता है । आशय यह कि क्या लक्ष्मी इसको इस रात्रि के समयरूप स्वयंवर में बरती है या नहीं, यह कौतुक देखिये ॥६॥ बाण, शक्ति, गदा, बन्दूक, त्रिशूल, तलवार, भाले, तेज तोमर, चक्र आदि हथियारों से लदे हुए ये योद्धा इधर-उधर घूम रहे केशरूप तिनके और काठों से चंचल पर्वत पर प्रज्वलित वनाग्नि की तरह चमकते हैं । और उनपर शर, शक्ति आदि के समूह सागर के देह के कम्पित होने पर पृथिवी पर फैले हुए वहाँ के सर्पादिसमूह जैसे चमकते हैं ॥७॥ महाराज, बलवान्, मेघरूपी सागर से भरे हुए आकाश को देखिये, चंचल तारेरूपी लम्बे हार से युक्त आकाशपर दृष्टिपात कीजिये, खूब घने अन्धकार के तुल्य काले आकाश को देखिये तथा निर्मल शुभ्र चन्द्रकिरणों से धवलित आकाश को देखिये ॥८॥ जिस आकाशतल में सुर और असुरों के अनेक विमान तारों के सदृश मालूम पड़ते हैं, जो अश्विनि आदि नक्षत्रों का निवासस्थान है, जो रात-दिन चलनेवाले महोन्नत सूर्य, चन्द्र आदि का भी स्थान है, उस चौगिर्द भरे हुए भी आकाश में मूर्ख जनों की 'शून्य' ऐसी प्रतीति आज तक नष्ट नहीं हुई । जहाँ पर इस प्रकार का विशाल और शक्तिशाली आकाश अज्ञों द्वारा लगाये गये अपवाद को मिटाने में समर्थ नहीं हुआ वहाँ दूसरा कौन पुरुष लोकापवाद को मिटाने में समर्थ

(🔔) योद्धा के अनुरूप का तात्पर्य यह है कि यदि योद्धा एक हो तो एक ही उससे लड़े, यदि किसी सवारी पर हो तो सवारीवाला ही, धनुषसहित हो तो धनुषयुक्त ही, खड्गयुक्त हो तो खड्गयुक्त ही, आयुधरहित हो तो आयुधरहित ही बाहुयुद्ध करता हुआ लड़े, अन्यथा नहीं।

होगा ? ॥९॥ मेघों के अगणित आडम्बरों से, प्रलयकाल की असंख्य अग्नियों से, पर्वतों के क्रोधपूर्ण पंखों के आघातों से, तारों के वृन्दों से तथा देवता और दैत्यों के संग्रामों से आकाश आज तक भी प्रकृति–विकृति को प्राप्त नहीं होता है। सचमुच जिनके स्थिराशयतारूप गुण हैं, उन्हीं की महिमा का अन्त नहीं दिखाई देता ॥१०॥ हे साधो, हे आकाश, तुम सूर्य को निरन्तर अपनी गोद में झुलाते हो, केवल सूर्य को नहीं, भगवान् नारायण, उनके अनुचर अन्यान्य देवता, चन्द्रमा, अन्यान्य ग्रहों तथा चमकीले बिजली आदि तेजों को भी अपनी गोद में झुलाते हो, फिर भी अपने अन्दर के अन्धकार का (कालिमा का) त्याग नहीं करते, यह महान् आश्चर्य है ॥११॥ हे आकाश, तुम मलिन हो, जहाँपर चन्द्रबिंब छिद्ररूप तुमसे व्याप्त हो काजल के तुल्य काला हुआ वहाँपर कलंक के बहाने मैला सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में तुम अपने सम्पर्क से सम्पूर्ण चन्द्रबिम्ब को जो काला नहीं करते यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। अथवा मलिन के संसर्ग से जिसके अन्दर भी मैल हो, वही बाहर भी मलिन किया जाता है जो अन्दर निर्मल है उसे कौन मलिन कर सकता है ? ॥१२॥

अथवा भले ही मलिनता आदि भी दोष तुममें हों फिर भी निर्विकारिता के बलपर भी दोषयुक्त सब अनर्थों से विहीनतारूप सुख तुम्हें सुलभ है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यद्यपि आकाश जगत् के सम्पूर्ण दोषों से भरा है फिर भी सदा अविकारी आकाश को तत्त्वज्ञानी के समान सर्व अनर्थ की शून्यतारूप सुख है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥१३॥ हे उदारमते, हे आकाश, तुम अपनी उन्नति चाहनेवाले प्रलयकालीन मेघों, वृक्षों और लताओं के अवकाश प्रदान द्वारा उन्नति के कर्ता हो, सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, किन्नर, वायुस्तरों और देवताओं को धारण करते हो (आधार हो), सम और निर्मल स्वभाववाले तुम्हारे सब कार्य रमणीय ही हैं, सुन्दर ही हैं, लेकिन अग्नि और सूर्य के प्रज्वलन को अवकाश देने के कारण तुममें जो सन्तापकता है तुम्हारा यह काम हमारे खेद के लिए है, सुख के लिए नहीं है। *यह वनाग्नि और सूर्य के सन्ताप से सन्तप्त पुरुष की उक्ति है* ॥१४॥ हे आकाश, तुम अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ, चमकदार और उन्नत होने के कारण उत्तम देवता आदि के उत्तम आधार भी हो, किन्तु अवकाशयुक्त तुम्हारा आसरा लेकर यह ओले बरसानेवाला बादल लोगों को ओलों से घायल करता है, उसके दोष से तुम अत्यन्त अपकृष्ट हो गये हो ॥१५॥ हे आकाश, मैं तुम्हें सोने के समान कसौटी के पत्थर पर घिसना बहुत अच्छा समझता हूँ। कसौटी के पत्थर के सिवा दूसरी तुम्हारी परीक्षा लेने की जगह नहीं है। क्योंकि तुम शून्य होते हुए भी बादलों, तारों, विमानों, सूर्य, चन्द्र और वायुओं को धारण करते हो, चमकते हो और निष्प्रयोजन भी नहीं हो। सोने के सब गुण तुममें विद्यमान हैं, अतएव तुम्हारे गुणों की परीक्षा के लिए भी सोने के गुणों की परीक्षा लेने का स्थान समुचित है, यह भाव है ॥१६॥ हे आकाश, तुम दिन में सूर्य के ताप से चमकदार रहते हो, रात में सन्ध्या की लालिमा

से तुम्हारा कलेवर लाल हो जाता है, रात्रि में तुम काले बन जाते हो । अथवा सदा कुछ भी सद् वस्तु को धारण नहीं करते हो, इसलिए सकल वस्तुओं से रिक्त हो अतः तत्त्वज्ञानीरूप तुम्हारे चरित्र को कोई नहीं जानता है ॥१७॥ हे आकाश, तुम अकिंचन हो तुम्हारे पास कुछ नहीं है, फिर भी विपुल बुद्धिवाले तुम सब कार्यों को, अवकाश प्रदान द्वारा, सिद्ध करते हो, अन्तःशून्य हो फिर भी सबकी उन्नति के कारण हो ॥१८॥ आकाशमार्ग में पथिक के विश्राम के साधन न तृण हैं और न जल है, गाँव तो है ही नहीं, कसबे और नगर की तो तनिक भी संभावना नहीं है, पत्तों की राशियों से सूर्य आकाशमार्ग में प्रतिदिन यात्रा करते हैं । सच है, सात्त्विक पुरुष प्रारब्ध किये हुए कामको छोड़ते नहीं हैं, चाहे वह कितना ही कठिन क्यों न हो ॥१९॥ रात्रि आकाश को अन्धकाररूपी वस्त्र से, चन्द्रमा कर्पूर के प्रवाह के तुल्य शुभ्र किरणों से, दिन सूर्य की धूपरूपी नूतन वस्त्र से, द्युलोक रात्रि के तारा समुदायरूपी पुष्पराशियों से और सब ऋतुएँ मेघ, बरफ तथा जलरूपी पुष्पों से भूषित करती हैं । ये सभी मिलकर समय और कलात्मक त्रिभुवन के स्वामी सूर्य और चन्द्रमा के विहारस्थल आकाश को भूषित करते हैं ॥२०॥ आकाशरूपी आँगन धूप, बादल, धूलिपटल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, तारावृन्द, विमानराशि, गरुड़, पर्वत,सुर और असुरों के क्षोभों से भी अपनी प्रकृति का (पूर्वावस्था का) त्याग नहीं करता है, कारण कि महाशय पुरुष की स्थिति आश्चर्यमय तथा उन्नत दिखाई देती है ॥२१॥

कोई दूसरा पार्श्वचर त्रिभुवन का एक जीर्ण–शीर्ण गृह के रूप में वर्णन करता है ।

देव, इस त्रिभुवनरूपी जीर्ण गृह को देखने की कृपया कीजिये, जो दिशारूपी दीवारों पर खड़ा है, अन्तरिक्ष लोक जिसकी छत है, भूमि जिसका निचला भाग है, मेघ, नगर और पर्वत जिसके बड़े–बड़े बर्तन आदि गृहोपकरण हैं, विद्याधर, देवता तथा महान् नाग जिसमें मकड़ी नाम के कीड़े हैं एवं जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकार के प्राणिवर्गरूपी चींटियों की बारात से भरा है ॥२२॥ जैसे माली और मालिन–पति–पत्नी विकसित (फले–फूले) बाग की रक्षा करते हैं वैसे ही इस प्रकार के इस त्रिभुवनरूपी भवन की काल और क्रियारूपी पति–पत्नी चिरकाल से रक्षा करते हैं । यद्यपि काल और क्रिया इसकी रक्षा नहीं करते, अपितु प्रतिदिन इसके नाश की ही आशंका करते हैं तथापि यह आजतक नष्ट नहीं हुआ । नष्ट होता भी है तो प्रवाह से फिर उग जाता है । अहा नष्ट होता हुआ भी नष्ट नहीं होता, यों विरुद्धधर्मवान होने से यह इन्द्रजाल के सदृश है ॥२३॥ आकाश वृक्ष आदि वृद्धिशील वस्तुओं की अधिक उन्नति को रोकता है, उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता ।

शंका : आकाश में कोई निरोधक व्यापार नहीं , अतः वह निरोध का कर्ता है ही नहीं, इसलिए उसमें विरुद्ध निरोधकर्तृत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् आकाश में कर्तृता महिमा से ही उदित

होती है ॥२४॥ जिसमें लाखों जगत् विलीन होते हैं और जिससे उत्पन्न होते हैं उस आकाश को शून्य कहा जाता है, आकाशशून्यतावादी के ऐसे प्रौढ़ पाण्डित्य की बलिहारी है ॥२५॥ आकाश में सब भूत विलीन होते हैं, आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही स्थिर रहते हैं, इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः' यह शास्त्रसिद्ध ईश्वरलक्षण आकाश में ही दीखता है, इसलिए आकाश ही ईश्वर है। आकाश ईश्वर से भिन्न है, ऐसा भेद उन्मत्तता को प्राप्त (पागल) वादी ने किया है ॥२६॥

यदि अग्नि से चिनगारियों की तरह आकाश से ही जगत् के जन्म, स्थिति और लय मानते हो तो आकाश जड़ नहीं है, किन्तु चिद्व्योमरूप मैं ही हूँ, 'मुझमें ही सब उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही स्थित है और सब मुझमें ही लय को प्राप्त होता है। वह अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ, इस आशय की भगवती श्रुति से मैं ही ईश्वर हूँ, यों तटस्थ ईश्वर पक्ष खण्डनार्थ है, ऐसा कोई तत्त्वज्ञानी वहाँ पर कहता है।

जिसमें सृष्टियाँ अग्नि से उत्पन्न हुई चिनगारियों की नाईं उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती है, लीन होती हैं और आविर्भूत होती हैं, आदि, मध्य और अन्तशून्य एक निर्मल आकाश मैं ही हूँ, ईश्वर नामका नैयायिकों का अभिमत तटस्थ कारण दूसरा नहीं है ॥२७॥ जिसमें यह जगद्भ्रान्ति का उदय और अस्त होता है, जो निस्सीम आकाश अपने शरीर में अशेष वस्तुओं को धारण करता है तथा त्रैलोक्यरूपी मणियों का विस्तृत आधार है वह आकाश ही चिन्मय पर ब्रह्मरूप है ऐसा मेरा विश्वास है ॥२८॥

कोई पार्श्ववर्ती पर्वत पर विशेष कौतुक दिखलाता हुआ कहता है।

पर्वत के शिखर पर वनभूमि में वनेचर सुन्दर कामी पेड़ के रमणीय झुरमुट में जो गीत गाता है, नीचे मार्ग में चल रहा यह वियोगीपुरुष उस गीत को सुनकर सिंगार रसाकुल हो ऊपर देखता है ॥२९॥

दूसरा अनुचर वैसा ही दूसरा कौतुक दिखाता हुआ कहता है।

हे नाथ, पर्वतशिखर के ऊँचे पेड़ के कमलपुटसदृश निकुंज में वियोगवश दुःखी उत्सुक विद्याधरों की स्त्री ने लंबी साँस लेकर रुँधे हुए कण्ठ से जो गीत गाया उसके नीचे चल रहा राही उच्छवासपूर्वक उसे सुनकर झूले की नाईं झूल रही चंचल बुद्धि से न आगे जाता है और न उसके अनुगामी ही उसे बुलाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है ॥३०॥ सामने पर्वत-शिखर के वृक्ष में पत्तों की आड़ में वियोगिनी अतएव बार-बार आँसू गिरा रही वह विद्याधरी साँस छोड़कर बिना कोई तिलक लगाये ही मधुर स्वर से हे नाथ, मैंने आपके गोदरूपी घर में चिबुक पकड़कर हँसते हुए आपके चुम्बन का स्मरणकर बार-बार उसका आस्वादन कर यहाँ पर इन कलमुँहे वर्षों को क्लेश से बिताया इस आशय के गाने गाती है ॥३१॥

क्यों वह वहीं पर बैठी है, ऐसी आशंका होने पर कहता है।

इसके युवक सुन्दर पति को (विद्याधर को) मुनि ने किसी अपराधवश शाप से बारह वर्ष तक के लिए वृक्ष बना दिया है, उन्हीं वर्षों को गिन रही यह यहीं पर बैठी है। उत्कण्ठित होकर उसी अपने पतिरूप वृक्ष के आश्रित होकर गाती है। हे राजन् मार्ग में वियोगी पथिकों के मुँह से यह

खबर मुझे मिली है ॥३२॥ हे राजन् हमारा यहाँ आना और हमारा दर्शन होना यही मुनि ने इसके शापान्त की अवधि की थी, देखिये यह वृक्षभूत विद्याधर हम लोगों के दर्शन से ही शापमुक्त हो गया है, अतः वृक्षता का त्यागकर युवती विद्याधरी का शाखाओं के बहाने उन्हीं बाहुओं से खूब आलिंगन करता है। खिले हुए फूल ही उसके हास बन गये हैं ॥३३॥

दूसरा अनुचर पर्वतों का वर्णन करता है ।

पर्वतरूपी हाथियों के वृक्षरूपी खड़े हुए रोंगटों में पुष्पराशि शिखरों में बसन्त ऋतु के हिमकण के सदृश आकाश से च्युत तारों की लीला से शोभित हो रही है ॥३४॥ अहा, पुष्परूपी शुभ्र वस्त्र ओढ़ी हुई कावेरी बड़ी भली लगती है, जो मछलियों की तेज उछालों से फटी हुई जल लहरियों में खेल रही शब्दायमान कुररियों से भयंकर है तथा जिसके तट और जलमय प्रदेश निःशंक मृगकुल से भरे हैं ॥३५॥ हे राजन्, इस सुवेलपर्वत शिखर पर सूर्य चमचमा रही पूरी सोने की शिला तटप्रदेश में चंचल सागर की तरंगराशियों से व्याप्त बड़वानल के कण को तरंग मालुम पड़ती है ॥३६॥ राजन्, पर्वतों पर अहीरों की टोली के घरों की शोभा देखिये । इनके हर एक घर निकटवर्ती मोटे–मोटे मेघों से ढके हैं। घरों की आस पास की भूमियों में वनवृक्ष फूले हैं, ढाक के पेड़ों के झुरमुटों से इन्होंने आकाश को पाट रखा है ॥३७॥ खिले हुए फूलों से अत्यन्त शुभ्र पुष्पवाटिकाओं से भरे हुए ये गाँव जिनमें मन्दार के वृक्षरूपी बहुत से फूलों के बर्तन हैं और नाना प्रकार के मयूरों के नाचने के स्थानरूप ठण्डे प्रदेश हैं, प्रपातों की (बड़े–बड़े झरनों की) जलराशियों के विलास ही जिनमें मयूरों के नाच के बाजे का काम करता हैं । एवं प्रतिध्वनियों से गूँज रही गुहाओं से पूर्ण जंगलो में जिनकी जनता गाना गाती है, स्वर्ग से भी बढ़कर हैं ॥३८॥ इस पर्वतीय ग्राम के झुण्डों के बीच में तुरन्त खिली हुई कलियों की पँखुड़ियों के अन्दर छिप–छिपे गुंजन कर रहे मदोन्मत्त भँवरों के दर्शन से कामोद्रेकवाले, पर्वतगुफा में रहनेवाले पामर लोगों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह श्रेष्ठ आनन्द नन्दनवन में विहार करनेवाले देवताओं को भी सुलभ नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥३९॥ मृगों द्वारा झूलने के लिए झूला बनाई गई लताओं से हलचल वाले जंगल के अन्दर गुफाओं में गा रही शबरियों के मुँहों पर सतृष्ण टकटकी लगाये हुए अतएव श्रृंगारिक चेष्टावाले किरात सुन्दर भोले–भाले मृगों को शत्रु की तरह कैसे मारते हैं ? ओहो, अन्यत्र दृष्टि लगाये और अन्यमनस्क शबरों की चंचलनिशाने को वेधने की चतुराई तथा ऐसे अवसर पर भी र्निदयता विस्मय पैदा करती है । अथवा मृगों से कम्पित लताओं के सदृश पुलिन्द–ललनाओं के नेत्रों की सुन्दरता हरण और लतापल्लव भोजनरूप धर्म का उनमें परिज्ञान होने से उन्हें शत्रु समझ रहे किरात दयायोग्य समय में भी उन्हें र्निदयता पूर्वक मारते हैं क्या ? यों उत्प्रेक्षा है ॥४०॥ पर्वतराज के वनों के मध्य में स्थित ये गाँव जिन्होंने भाँति–भाँति के फूले हुए फूलों की राशियों से शीतलता, सुगन्धि, पराग आदि सार को प्राप्त वायु के लतापत्रों के परिचालनों से पथिकों के अंगों

को शीतलता पहुँचाई है, जिनमें जल के गुण शीतलता से प्रख्यात वायुओं के प्रसार से जलाशयों में लहरियाँ तैर रही हैं, सुगंध के गुण की अधिकता से चन्द्रमण्डल को जीत रहे हैं। चन्द्रमण्डलस्थ देवताओं की अपेक्षा ग्रामवासियों को अधिक सुख है, यह भाव है ॥४१॥ स्वर्गस्थ चन्द्रनगरके उपवनों के भाग जैसे ये मनमोहक पर्वतीय गाँव, जिनमें झरनों का जल अविरत कलकलध्वनि कर रहा है, चौगिर्द ताड़ के पेड़ खिले हैं, जिनका आकाश स्वाभाविक उल्लाससे युक्त और पल्लवों से लदी हुई लताओं के वितानों से आच्छन्न है और जिनमें आसपास के ऊँचे-ऊँचे साल के पेड़ों पर मेघमण्डल लटका है, चन्द्रामृत को चूआनेवाले अश्वत्थ से युक्त ब्रह्मलोक को मात करते हैं ॥४२॥ ये पर्वत-ग्राम, जिनमें बिजली वेष्टित गँभीर गर्जन-तर्जनवाले निकटवर्ती बादलों के गर्जन से नाच रहे मयूरों के अभिनव नृत्यों से बिखरे हुए मयूरों के झुण्डों के नये-नये मोरपंखों से चन्द्ररूपी मणिराशियाँ उड़ी हैं, दिव्य बनकर ब्रह्मलोक को अपने सन्मुख फीका बना रहे हैं ॥४३॥ एक बगल में चल रहा चन्द्रमण्डल ही जिनका आभूषण है, जल से भरे मेघरूपी हाथी जिनमें आराम करते हैं ऐसे पर्वतशिखरों पर बसे हुए इन ग्रामों में जो अतिशय सौन्दर्य है, वह अतिशय सौन्दर्य वैभवपूर्ण ब्रह्मा के राज्य में कहाँ सुलभ है ? ॥४४॥ अपनी मनोहारिणी सुगन्धि से नन्दनवन के केन्द्र की तरह सुन्दर कल्पवृक्ष के फूलों के गुच्छों का परिहास करनेवाली निकुंजों से भरी हुई पर्वत कंदराओं में, जो पुष्पित होने के कारण गंभीर गुंजन करनेवाले भँवरों से व्याप्त नीम के पेड़ों से पटी हैं, मुझे बड़ा आनन्द मिलता है ॥४५॥ हरिणियों के निनाद से रमणीय, मनोहर हारीत पक्षियों से सुन्दर पर्वत-ग्रामों में काम के नगरों में जैसी लोगों की प्रीति है ॥४६॥ राजन्, स्फटिक के खम्भों की राशियों की तरह रमणीय झरनों के जलों से सुशोभित इस ग्रामरूपी कन्दरा में देखिये, ये मयूरियाँ नाचती हैं ॥४७॥ राजन् देखिये, झरझर शब्द कर रहे झरनों के जल से सुहावने इस ग्राम में निकुंज में विलासवती मयूरियाँ और फूलों से लदी होने के कारण झुकी हुई लताएँ नाचती हैं ॥४८॥ पर्वत-कन्दराओं से अपनी गोद में छिपाये गये ग्राम के मैदानों में, जिनमें बगीचों के पेड़ हारीत पक्षियों से मनोहर और हरे हैं और बावड़ियों के आसपास हंस,सारस आदि की कूजनरूप निर्मल मधुर तान सुनाई देती है, मालूम होता है काम स्वेच्छा से आनन्द के साथ मौज लेता है ॥४९॥ हे श्रीमानों के स्वभाव के समान महाउदार स्वभाववाले, हे महाशय, हे सन्तापहारिन्, अत्यन्त उन्नत और गंभीर आकृतिवाले हे मेघ, तुम पर्वतों के शिरोभूषण हो और खेत, पवन आदि की समृद्धि के कारणभूत जल के एकमात्र आश्रय हो। यों हजारों गुण तुममें हैं फिर भी हर्ष से बरस रहे तुमने जो अपात्रभूत ऊसर प्रदेश, तालतलैया,कंटीले पेड़ आदि में सुन्दर उपजाऊ खेतों के समान जलविभाग का क्रम अपनाया है, यह तुम्हारा सत्-असत् पात्र का अपरिज्ञान सज्जनों के मन को काँटे की तरह बेधता है। यदि तुम्हारे ऐसे सुपात्रों के उत्कृष्ट गुणों का आदर न करेंगे, तो कौन करेगा ? *(यहाँ से लकर प्रायः सर्ग की समाप्ति तक के सब श्लोक अन्योक्ति से भरे हैं । मेघ के बहाने किसी दानी महाशय*

के प्रति भी जो पात्र–अपात्र का विचार नहीं रखता है, यह उक्ति लागू होती है) ॥५०॥ हे मेघ, तुम नित्य समुद्र, गंगा आदि सुतीर्थों की जलराशि से स्नान करते हो, ऊँचे स्थान पर बैठकर सब जीवों को जल देते हो, शुद्ध होकर मुनियों का–सा व्रत लेकर वनभूमि में निवास करते हो एवं शरत्काल में यद्यपि तुम खाली हो जाते हो फिर भी तुम्हारे शरीर पर अतिउत्कृष्ट धवलकान्ति ही शोभा पाती है । यों सर्वथा श्रेष्ठ होने पर भी तुम जलदान के लिए उठकर जो बिजली और अग्नि के साथ कटुशब्द करते हो यह तुम्हारा आचरण कैसा है ? सर्वथा अनुचित है ॥५१॥ अनुचित स्थान पर पड़ी हुई सुन्दर वस्तु भी असुन्दर हो जाती है । दुष्ट मेघरूप अयोग्य स्थान को पाकर स्वच्छ मधुर जल भी काला और क्षार हो जाता है ॥५२॥ अहा ! मेघ ने जल बरसाया, अहा ! जल से पृथिवी आप्लावित हो गई, अहा ! जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन–हीन मित्र को धन–दौलत से पुष्ट करते हैं वैसे ही जलों ने भूमि में मुरझाये हुए धान आदि को पुष्ट किया है ॥५३॥

कोई पार्श्वचर दया, उदारता आदि गुणों के वर्णन के सिलसिले में उनसे विपरित निर्दयता, अनुदारता आदि दुर्गुणों से युक्त मूर्खों की, कुत्ते के गुणों से अदला बदली के सन्देह प्रदर्शन द्वारा, निन्दा करता है ।

निर्दयता, अस्थिरता,अशुद्धता, गलियों में मारे मारे फिरना, सर्वथा निन्द्यता आदि दुर्गुण कुत्तों से मूर्खों ने सीखे या मूर्खों से ही कुत्ते ने लिये इसका मुझे सन्देह है, निश्चय नहीं है ॥५४॥

यदि मूर्ख सर्वथा निन्दनीय ही हैं, तो नरेश आदि उनको अपने पास क्यों रखते हैं ? इस संशय पर कहते हैं ।

यद्यपि मूर्खजन दोषों के भण्डार होते हैं फिर भी जैसे कोई कुनृपति कुत्तों को पालते हैं वैसे ही कुत्ते के सदृश कतिपय शूरता, सन्तोष, स्वामिभक्ति आदि गुणों के कारण ही कोई कुनरपति आदि मूर्खों को अपने पास रखते हैं ॥५५॥ भोग–परम्पराओं में संलग्न (विषयलम्पट) मूर्ख धतूरा खाने से उन्मत्त हुए, मदिरा आदि पीने से मदमत्त हुए, प्रमाद और क्रोधावेशादिवश कुएँ में गिरने के लिए उद्यत हुए, भूतावेश से इधर उधर दौड़ रहे तथा तत्त्वज्ञान के उत्कर्ष से देहादि के परिच्छेद की विस्मृतिवश 'मैं ब्रह्म हूँ' यों सर्वोत्कृष्ट प्रमा की प्रतिष्ठा होने से षष्ठ आदि भूमिका में आरूढ़ हुए पुरुषों को अपने में अभिज्ञता के आरोप से जो तृणतुल्य समझता है, हे तृणलवाग्र, उसे तुम्हीं देखो। यह इस विषयलम्पट पुरुष की इच्छासत्ता है या जड़ता है इस रहस्य का तुम्हीं विचार करो । यदि इच्छासत्ता है, तो वही कुत्तों के तुल्य है, यदि जड़ता है तो विषयलम्पटता आदि दोषों की अधिकता से वह स्वयं तृणलव से भी नीच है, अतः विचार करने पर उसकी तृण समानता भी दुर्लभ है, यह अर्थतः सिद्ध हो जायेगा । ऐसी अवस्था में उन्मत्त आदि से भी वह अधिक नीच है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥५६॥ यद्यपि सिंह और कुत्ता दोनों में पशुता समान है यानी दोनों तिर्यग् योनि के जीव हैं, तथापि मेघगर्जन आदि के कोलाहल को सिंह बिना क्षोभ के अनादरवश आँखें मूँदकर सहते हैं, किन्तु कुत्ते क्षुब्ध हो भयवश

आँखें मूँदकर सहते हैं यही दोनों की परस्पर विलक्षणता है ॥५७॥ हे नित्य अपवित्र, अपने प्रियजन के प्रति हू-हू करने में प्रवीण, गली-कूचों में घूमने में सारा समय बितानेवाले अरे कुत्ते, मालूम होता है जैसी मेरी चित्तवृत्ति है वैसी ही इसकी भी है यह देखकर तुम्हें अपने गुणों की शिक्षा का पात्र समझ रहे किसी मूर्ख ने नित्य अशुचिता आदि अपने गुण तुम्हें सिखाये हैं। ऐसी परिस्थिति में शिष्य की अपेक्षा गुरु में गुण की अधिकतादर्शन उपपन्न होता है ॥५८॥ कर्मों की विषमतावश अत्यन्त विषम जगत् की रचना कर रहे विधाता ने अपने दौहित्र (सरमा नाम की देवशुनी के पुत्ररूप) इस कुत्ते में अनुरूप सब धर्मों के दर्शन के लिए वक्ष्यमाण सभी कुछ समान रूप से बना डाला । वह सब कुछ है, कूड़े करकट के स्वनिर्मित गड्ढे में निवास, पुरीष और पीव भोजन, सड़क आदि खुली जगहों में चिरकाल तक ग्रन्थिरूप कुत्सित मैथुन में दुरिच्छा तथा सर्वनिन्दनीय शरीर ॥५९॥ तुमसे बढ़कर अधम कौन है ऐसा पूछनेवाले के प्रति हँसते हुए कहा : जो अज्ञान, अपवित्र देहादि में अभिमान, विचारदृष्टिशून्यता का सेवन करता है, वह मुझसे बढ़कर अधम है । किन गुणों से तुम मूर्ख की अपेक्षा श्रेष्ठ हो यह पूछने पर उसने कहा : शूरता, नैसर्गिक स्वामिभक्ति, अल्प में ही सन्तोष ये जो मेरे गुण हैं, मूर्ख में वे गुण लाखों प्रयत्नों से ढूँढ़ने पर भी नहीं पाये जा सकते ॥६०॥ कुत्ता सदा अपवित्र वस्तु खाता है, अति अपवित्र विष्ठा के ढेर में ही खेलता है, बेचारे जीवित नेउर, चूहे आदि को भाग्यवश पाकर बड़े चाव से खा डालता है, निर्बल बकरी, बछड़े आदि को बिना किसी अपराध के काट खाता है, कुतियों के साथ सटने पर सब लोग उसे मारते हैं । सचमुच ब्रह्मा ने अत्यन्त असमर्थ कुत्ते को लोक में जन्मभर दुःख भोगने के लिए ही रचा है ॥६१॥

कहीं पर नदी के किनारे निर्माल्य, अक्षत आदि खाने के लिए शिवलिंग के ऊपर काँव-काँव कर रहे कौवे को देखकर कोई अनुचर उसके काँव-काँव करने के आशय की उत्प्रेक्षा करता है ।

शिवलिंग के ऊपर काँव-काँव करता हुआ कौवा अपने को दृष्टान्तरूप से दर्शा रहा है, हे लोगों, अधोगति के हेतुभूत सब पातकों में से शिवस्वभक्षण के लिए शिवलिंग के आश्रयरूप सर्वोत्कृष्ट पातक को प्राप्त हुए प्रत्यक्ष काकरूप मुझे देखो ॥६२॥

दूसरा अनुचर तालाब में काँव-काँव करते हुए घूम रहे कौए के प्रति कहता है ।

अरे निन्द्य कौए, अरे अपनी कर्णकटु काँव-काँव से हंस, सारस आदि के सुगुणों को मटियामेट करनेवाले, तालाब में कीचड़ में घूमता हुआ तू सुन्दर भ्रमरों की गुँजार को अपनी कर्णकटु काँव-काँव से जो तिरोहित करता है, इससे मेरे सिरपर शल्यकी-सी वेदना पैदा होती है ॥६३॥

अपने मित्र के प्रति कोई कहता है ।

कौआ नाना प्रकार की अपवित्र वस्तुओं को खाता है, मृणाल की डण्डी को, जो प्राप्त है, छोड़ देता है, इस विषय में आपको आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्यसन होने के कारण खूब आदत पड़ी रहती है, तो निन्दनीय वस्तु भी बड़ी स्वादिष्ट लगती है जैसे कि लहसुन मिश्रित

खटाई निन्दित वस्तुएँ अभ्यस्त लोगों को अच्छी लगती हैं ॥६४॥ विविध वनपुष्पों के केसर से धवल देहवाले कौए को लोगों ने हंस समझा। बाद में जब उसे सड़े-पड़े कीड़े मकोड़े निगलते देखा तब जाना कि यह कौआ है ॥६५॥ समान रंग के (एक से) पंखवाली कोयलों में हिलेमिले कौए को कौन पहचानता यदि वह स्वयं काँव-काँव न कर बैठता ॥६६॥ महाअरण्य की मिट्टी की बनी पुरानी दीवार के ऊपर बैठा हुआ यह कौआ जैसे रात्रि के समय लोगों के सो जाने पर चोर श्मशान वृक्ष पर चढ़कर दसों दिशाओं की ओर झाँकता है वैसे ही चारों ओर देखता है ॥६७॥ वेग से उड़ रहे या कलियों के आस-पास मँडरा रहे सारसों द्वारा चटचट खिल रहे कमलों के मकरन्द से (पुष्परस से) मनोहर इस तालाब में कौआ कैसे क्रीड़ा करता है, जिसके कन्धे कूड़े करकट की उड़ रही धूलि से धुमैले हैं ? *उसका यहाँ क्रीड़ा करना अनुचित है, यह भाव है*॥६८॥ हे राजन्, खिले हुए कमलों के आकार स्वानुरूप स्थानरूप सरोवर में तैर रहे राजहंसों के साथ थप्पड़ खाने योग्य कुरूप मुँहवाला पिशाचतुल्य यह कौआ (जिस सुन्दर सरोवर में राजहंस विहार करते हैं उसमें विहार के अयोग्य यह काला-कलूटा कौआ) इस कीचड़पूर्ण तलैया में घुसकर राजहंसों की नकल उतारने के लिए विविध लीलाएँ करता है, यह बड़े खेद की बात है, कृपया देखिये ॥६९॥

वंचना, चोरी आदि से मुझे प्राप्त होने वाले धनादि भाग को न्याययुक्त उपाय से कोई सज्नन न ले जाय, इस आशंका से सन्त के खण्डन के लिए राजसभा में अवांछनीय कर्णकटु प्रलाप कर रहे खल के प्रति अन्योक्ति द्वारा कोई कहता है।

अरे कौए, अरे कठोररव सुननेवाले के कानों के चीर डालनेवाले काँव-काँव शब्दरूपी आरा ही तुम्हारा एकमात्र लक्षण है । मेरे भाग को कौए से भिन्न कोई न खा जाय इस आशंका से तुम सदा कौओं का आह्वान करते हुए काँव-काँव की रट लगाते रहते हो, तुम्हारा आज ऐसी शंका करना कहाँ चला गया ? तुम्ही मेरे एकमात्र बच्चे हो, तुम चिरकाल तक जीओ इस आशा से कोकिल के बच्चे को तुम व्यर्थ पालते हो । तुम एकमात्र कटु बोलनेवाले, पुत्रभ्रान्तिसे तुम्हारा सुस्वरवाले कोयल के बच्चों को पालना भी मनोरथसिद्धि के लिए नहीं होगा, अपितु उपहासास्पद ही होगा ॥७०॥ कमलवन में विविध क्रीडाएँ कर रहे कलंकसदृश कौए को जोर जोर से काँव-काँव कटुशब्दों के श्रवण से दुःखवश भौचक्का होकर जो नहीं रोता उस आदमी को आरे के तुल्य कटु वचनों से तुम्हें चीर डालना चाहिये, मैं तो वैसा नहीं हूँ, अतः क्योंकर मेरे सामने काँव-काँव करते हो ?॥७१॥

खलों की सभा में खल ही योग्य हैं। वहाँ पर एक भी साधु का रहना ठीक नहीं है, यों अन्योक्ति द्वारा कोई कहता है ।

इधर-उधर घूम रहे हिंसक जलजीवों से पूर्ण बगुले, जलकाक आदि से पटे हुए छोटे से कीचड़मय तालाब में यदि चंचल उल्लू और कौए रहें, तो यह तालाब की सभा अपने योग्य सदस्यों से सम्पन्न हो ॥७२॥ रंग, शरीर को ढकनेवाले पंख और शरीर की गठन से कौओं के झुण्डों के

तुल्य कोयल, मूर्खों की सभा में पण्डित के सदृश वाणी द्वारा व्यक्त होता है ॥७३॥ फूलों की लता कोकिल के धीरे-धीरे फूलों की पँखुरियों के छेदन को भले सहन कर सकती है, किन्तु चील, गीध, जलकाक, बगुला, मुर्गा और कौए के छेदन को कदापि नहीं सह सकती ॥७४॥ हे मधुरकण्ठ हे कोयल, यहाँ पर कानों के लिए उत्सवरूप तुम्हारे कलरव को कौन सुनता है ? जो रतिरूपी विग्रह का सन्धिदूत है। क्योंकि यहाँ नीम के झुरमुट में उल्लुओं के साथ सदा कलह करनेवाले कौओं ने काँव काँव के कोलाहल से सबके कान बहरे कर दिये हैं ॥७५॥ उपवन में तान सुनने के प्रेमी लोगों के आगे कोयल का मनोहर बच्चा कोमल वाणी से महोत्सवतुल्य कथा कर अनायास सब लोगों का ज्योंही मनोरंजन करता है त्योंहीं कौए ने आकाश से बाग में उतर कर यह मेरा बच्चा है, मैं ने पाला है, यों काँव-काँवरूपी रूक्ष वाणी से सब श्रोताओं को निरुत्साह कर दिया ॥७६॥

अयोग्य श्रोताओं के बीच अनवसर में अयोग्यों को योग्य समझकर भ्रान्ति से अपने गुणों का प्रदर्शन करने के लिए उत्सुक किसीके प्रति कोई दूसरा अन्योक्ति से कहता है ।

हे कोयल, तुम श्रोताओं की योग्यता आदि का विचार किये बिना ही अपने गुणों के प्रख्यापन की उत्सुकता से उत्पन्न हर्ष से जल्दी-जल्दी क्यों कूकते हो ? गलेरूपी कोटर से हर्षवश हो रहे कुहकने के उल्लास को अपने अन्दर प्रवेश करा दो, मौन हो जाओ। यह गुणों के प्रख्यापन का अवसर है और ये श्रोता की योग्यता रखते हैं ऐसी भ्रान्ति तुम्हें न होनी चाहिये । यह फूलों की बहार से पटा हुआ वसन्तऋतु का उन्मेष नहीं है, किन्तु हेमन्त ने इन पेड़ों को पाले की वर्षासे सुखा डाला है । इनके बीच तुम्हारी वाणी सफल न होगी ॥७७॥ रंग-बिरंग के नये-नये अंकुरों से भरे हुए चैत्र के महीने में जो वियोगिनी नायिका है, वह कहती है-हे नित्य प्रशंसनीय आकृतिवाले, हे कुहक रहे कोयल, यह चैत्र महीना किसका है ? इस तरह के मेरे प्रश्न के उत्तर में तुमने अपने मधुर स्वर से जो मीठी वाणी की है, खेद है, यह दुःखदायी का (मेरा) वसन्त नहीं है, किन्तु अपनी सहचरी के साथ गा रहे तुम्हारा ही वसन्त है । ऐसी परिस्थिति में तुम्हें 'मम मम' (मेरा मेरा) कहना चाहिये, 'तव तव' इस तरह का तुम्हारा असत्य वचन मुझे पीड़ित करने के लिए ही है ॥७८॥ कौओं के झुण्ड में मौन, चेष्टा, पंखादिचालनरूप व्यवहार, वर्ण, रंग और आकार एक-सा होने पर भी यह कान्ति से मनोहर कोयल है, कौआ नहीं है, यों कोयल मूर्ख लोगों के बीच में पण्डित की तरह दूर से पहचाना जाता है । अपनी आकृति से अपना उत्तम गुण सूचित करनेवाले सभी पुरुष अपने अनुरूप हृदय चमत्कार से, भले ही वह गुप्त हो, विख्याति को प्राप्त होते हैं ॥७९॥ अरे भाई कोयल, कर्णकटु काँव काँव कर रहे कौओं के झुण्ड से भरा हुआ वह शिशिर का समय है, वसन्तरूपी उत्सव नहीं है। इस समय कुहकने से उत्तम गुण (प्रशंसारूप गुण) प्राप्त नहीं होता,अतः कुहकने की आवश्यकता नहीं है । कहीं विशाल वृक्ष के खोखले में, जो गिरे हुए पत्तों से ढका है, चुपचाप बैठे रहो ॥८०॥ यह कोयल का बच्चा अपनी कौवी माता को छोड़कर जो चला गया, वह

एक आश्चर्य है । उसके बाद यह कौवी माँ इस कोयल बच्चों को चोंच और पंजों से घायल करती है, यह दूसरा आश्चर्य है, यों क्षणभर जब मैं सोचने लगता हूँ तब तक कोयल का बच्चा भी उत्साह से अपनी माँ के सदृश बढ़ने के लिए तत्पर हो गया, यह तीसरा आश्चर्य है । सचमुच भाग्यवान् पुरुष जिस दिशा को आता है, वही दिशा उसकी महिमा बढ़ाती है ॥८१॥

एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

कमल, कुईं तथा नीलकमल से सुशोभित तालाब का वर्णन और
उसके सिलसिले में कमल, भौंरे, हंस, सारस आदि का वर्णन।

पहले तेरह श्लोकों द्वारा सरोवर का ही मुख्यरूप से वर्णन करने के लिए कोई भूमिका बाँधते है ।

साथियों ने कहा : हे राजन्, यहाँ सामने पर्वतशिखर पर, जो सरोवर की शोभा बढ़ाने के कारण कामोद्दीपक होने से काम का प्रधान सेवक–सा (दाहिना–हाथ सा) है, लाल कमल, श्वेत कमल और नीले कमलों के समूहों की डंडियों में मृणाल के लिए विचर रहे भाँति–भाँति के कलरव करनेवाले पक्षियों से व्याप्त, अतएव नक्षत्र (तारे) और पक्षियों के साथ प्रतिबिम्बित हुए आकाश के तुल्य सरोवर को देखिये ॥१॥ इन्द्रनील के पीढे के सदृश भ्रमरों, सारस, क्रौंच आदि पक्षियों और ब्राह्मणों द्वारा सेवित उक्त सरोवर भूमि में आया हुआ ब्रह्मा का घर–सा मालूम पड़ता है जिसमें खिले हुए और ऊपर ऊठे दण्डवाले विविध कमलों के कोशस्थलों में बैठे और उनकी शोभा को धारण करनेवाले राजहंस बैठे हुए हैं ॥२॥ राजन्, इस सरोवर को देखिये । यह चारों ओर बिखरे हुए सीकरों से (जलकणों से) दिशाओं के मध्यभागों को बर्फमय बना रहा है, खिले हुए नीलकमल और साधारण कमलों की राशियों के बीच के पुष्पराग से चारों ओर पीला बना है, सुगन्धि से मस्त हुए भौंरों और सारस, क्रौंच आदि पक्षियों तथा ब्राह्मणों द्वारा गीतों से इसका यश गान किया जाता है, ऊपर तने हुए चँदवे के समान आकाशस्थ बादल और कुहरे को परछाँई के व्याज से धारण कर रहा है ॥३॥ देखिये, कहीं पर इसमें लम्बी लहरें तैर रहीं हैं, कहीं पर भँवरे अधिक मस्ती से आपस में लड़ते हुए गुनगुना रहे हैं, कहीं पर यह गहरे और स्वच्छ जल से–निश्चलतावश– सोया हुआ सा है एवं कहीं पर कमलों और कुमुदों से सोखा हुआ–सा आच्छन्न है ॥४॥ मोती – जैसे छोटे–छोटे जलबिन्दुओं से यह लोगों के सन्ताप की निवृत्ति करता है, तटभूमि में सिंह की प्रतिबिम्बरूप अन्य सिंह की आशंका से जल पीने में होनेवाली झिझक को वृक्ष की चोटी से लेकर जल तक लटकी लताओं द्वारा प्रतिबिम्ब के दर्शन में रुकावट डालकर भलीभाँति निवृत्त करता है, तरंगों ने इसके आसपास के पत्थरों और कीचड़ से भरे दलदलों को साफ–सुथरा बना दिया है एवं यह असंख्य

बादलों से अनन्त कच्छवाला (जलप्राय देशवाला) आकाश ही मानों भूतल में उतरा है ॥५॥ मेघों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले वायु से कम्पित कमलों की राशियों से गिरे हुए परागपुंज की आभा से इसका मध्यभाग बिजली के प्रकाश से पूर्ण-सा मालूम होता है, इसलिए एक ओर जलकणों से भरा हुआ तथा दुसरी ओर अन्धकारपूर्ण यह सरोवर संध्याकाल के आकाश की तरह चारों ओर प्रकाशवाला या अल्प प्रकाशवान है ॥६॥ अपने बच्चों के लिए घोंसलों में ले जाये जा रहे कमल-नाल, कमल-कन्दरूपी ग्रासों के भार से थके कन्धेवाले हंसों से, जो काल द्वारा इकट्ठे किये गये चन्द्रबिम्ब जैसे है, घिरकर मन्दता, सुगन्धि, शीतलता आदि गुणों से रहित केवल वायुयुक्त भी यह वायु से जिसके शरत्काल के मेघ छिन्न-भिन्न किये गये ऐसे आकाश की तरह शोभ रही है यदि यह मन्दता, सुगन्धि, शैत्य आदि गुणों से सम्पन्न वायु से युक्त होता तो फिर इसकी शोभा का क्या ठिकाना था ? ॥७॥ इस तालाब की लहरी, सुगन्धि के भार से मानों मन्दगामी तथा पुष्परस के संसर्ग से नम वायुओं द्वारा कम्पित जलमिश्रितपंकभाग के पंक को नीचे दबाकर जल से पृथक करने की चतुराईवश जिससे शीघ्रता से पट-पट शब्द हो रहा है, अपनी ध्वनि से खिन्न होकर उड़े हुए पक्षियों की निवासभूत लताओं द्वारा छोड़ी गई पुष्पवृष्टि का विस्तार करती है ॥८॥ राजन्, इस सरोवर का राजा का सा ठाट-बाट है । देखिये न, वायुवश हिल रहे महाकमल और पल्लवरूपी पंखों से यह संवीजित (झला गया) है, सुन्दर फेन ही इसके डुलाये गये चँवर हैं, भौंरे और कोयल अपने गीतों से इसका गान करते हैं तथा कमललतारूपी सुरूप, सुडौल, सच्चरित्र तथा सुन्दरी अनेक ललनाओं से यह घिरा है ॥९॥ भँवररूपी श्रेष्ठ सत्पात्र मनोहर गुणियों का इसमें मनोज्ञ गाना होता है, इसका जल कमलपरागों के सम्पर्क से व्याप्त अतएव सुनहला है और इसने तटवर्ती उपवन की मस्तकअलंकारभूत पुष्पराशि को फेनपिण्डों के समान सफेद कमलराशि से सुशोभित कर रक्खा है ॥१०॥ पवित्र हृदय के समान निर्मल कमलों से भरा हुआ हृदय को अत्यन्त आनन्द देनेवाला जलपूर्ण यह मधुर सरोवर पवित्र (निर्मल) हृदयकमलवाले, हृदय को अत्यन्त आह्लादित करनेवाले, प्रीतिपूर्ण तथा अत्यन्त मधुर सत्संग के तुल्य है ॥११॥ हे सौम्य, जैसे ब्रह्माकार वृत्ति से (चरम साक्षात्कारवृत्ति से) महात्माओं का निर्मल मन शोभित होता है वैसे ही यह निर्मल सरोवर अपने में प्रतिबिम्बित मरुदेशवत् निर्जल आकाश से शोभित है ॥१२॥

हेमन्त ऋतु में इस सरोवर की कैसी दशा होती है ? इस प्रश्न पर कहते हैं ।

हेमन्त ऋतु में सुन्दर सारसों से पूर्ण यह सरोवर हेमन्त ऋतु के मेघों की तरह शोभित होता है, कुहरे से चारों ओर घिरे रहने के कारण कुछ-कुछ दिखाई देता है; कुहरा इसे अपने रंग में रंग लेता है, अतएव इसकी कालिमा चली जाती है और जलबिन्दुओं से इसकी हवा अति कठोर बन जाती है ॥१३॥ हे राजन्, जैसे विकारादिशून्य यह जगत् कूटस्थ नहीं है, किन्तु ब्रह्ममात्र ही है, तथापि ब्रह्म में पृथक्-सा प्रतीत होता है । वैसे ही जल में तरंग आदि

जलमात्र ही हैं फिर भी पृथक् से मालूम होते हैं ॥१४॥ जैसे अपने ही जल से बहाये जा रहे तथा चक्राकार भँवर बनानेवाले जलाशयों के कल्लोलों की परम्परा बड़ा आश्चर्य पैदा करती है वैसे ही अपने अज्ञान से ही संसार के प्रवाह में बहाये जा रहे सत्असत्कर्मरूप भँवरों की रचना करनेवाले जड़ लोगों के मनोरथों की परम्पराएँ आश्चर्य में डालती हैं ॥१५॥

जैसे कुआँ, बावड़ी, तालाब और सागर आदिरूप उपाधि के भेद से जल में तारतम्य की (उत्कर्ष–अपकर्ष की) प्रतीति होती है, वैसे नारी, पुरुष आदि के शरीर के उत्कर्ष से उनकी आत्मा में उत्कर्ष और अपकर्ष के तारतम्य की प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं।

कुआँ, बावड़ी सरोवर और सागर के जल में उपाधि भेद से जैसा अन्तर दृष्टिगोचर होता है वैसा ही अन्तर नारी, पुरुष, बालक आदि के शरीर के (उपाधि के) उत्कर्ष से उनकी आत्मा में भी उत्कर्ष और अपकर्ष का तारतम्य समझना चाहिए ॥१६॥ जल में उत्पन्न होनेवाले कमल, सेवाल आदि के संसर्ग से जीर्ण हुए इस सरोवर के विविध योनियों के सम्बन्ध से जीर्ण हुए जीव के मन की तरह कमल आदि की (तत्–तत् देहों की) जर्जर दशापर्यन्त लहरियों के (भोगोत्साहों के) भ्रम से अत्यन्त व्याप्त हुए आवर्तों के सदृश इच्छा, द्वेष आदि वृत्तियों के परिवर्तनों की भाँति अनगिनत कमलों के गिनने में कौन समर्थ है अर्थात् कोई भी नहीं ॥१७॥

यहाँ से पद्मों का वर्णन आरम्भ करते हैं।

अहा ! यह आश्चर्य की बात है कि जिस कमल की लोक में सौन्दर्य, सुगन्धि आदि सद्गुणों की खान के रूप से प्रसिद्धि है, वह भी मुकुलितावस्था में जो सुगन्धि, सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुणों को दोषों की तरह गले में निगलकर अन्दर छिपाता है और कुरुप काँटों को बाहर सबको दिखलाता है, यह जल की (जड़–मूर्ख की) संगति की बलिहारी है । यदि मूर्ख की संगति न होती तो ऐसा क्यों करता ? *(यहाँ से लेकर प्रायः सभी श्लोक अन्योक्तिमय हैं)* ॥१८॥

जो कमल के गुणशब्द से पुकारे जानेवाले तन्तु हैं उनके तुल्य दोष–युक्त गुणों की सर्वत्र उपेक्षा ही करनी चाहिये, यों प्रसंगवश कहते हैं।

जो गुण कमल के गुणों के (तन्तुओं के) तुल्य छेदवाले (सदोष), कच्चे, ऐसे सूक्ष्म कि मालूम भी न पड़े, छिपाये हुए, जड़तापूर्ण, थोड़े और निस्सार (तुच्छ) हों उनकी सर्वथा उपेक्षा करना ही ठीक है । वे कदापि उपादेय नहीं हैं ॥१९॥ सुगन्धि, सुन्दरता आदि से शोभित होनेवाले बड़े–बड़े उत्कृष्ट कमलों के (यशरूपी सुगन्धि से अपने कुल को प्रख्यात करनेवाले महान् पुरुषों के) प्रभाव का बखान करने की सामर्थ्य शेषनाग में भी नहीं है ॥२०॥ भगवान् श्रीहरि के वक्षःस्थल में निवास करनेवाली सकल सौन्दर्यों की अधिदेवी लक्ष्मीदेवी जिस कमल को शोभा के लिए ही अपने हाथों में धारण करती हैं, उसकी इससे बढ़कर दूसरी प्रशंसा क्या हो सकती है ? ॥२१॥ कमल और नीलकमल की केवल सफेद और काले रूपों से ही परस्पर विलक्षणता है, किन्तु इनकी जल से जड़

(अचेतन) चन्द्रसूर्यद्वेषरूप मूर्खतास्वरूप वृत्ति समान है ॥२२॥ तालाबों में खिले हुए कमलों की नवोदित शोभा की फूले हुए पारिजात वन से तुलना नहीं की जा सकती, तारों से भरे हुए आकाश से और अनेक चन्द्रबिम्बों से भी उनकी बराबरी नहीं हो सकती है ॥२३॥ यदि उसकी बराबरी हो सकती है, तो नाच रही बहू के चाँद के टुकड़े जैसे मन्द मुस्कान युक्त मुखशोभा से ही हो सकती है ॥२४॥ फूल और लताओं को छोड़कर अन्यत्र कभी भूलकर भी मन न लगानेवाले जिन भँवरों की लम्बी आयु फूल और लताओं का ही आस्वाद लेने में बीती, सचमुच वे ही सौभाग्यशालियों में श्रेष्ठ हैं *(या 'सुभग उत्तमा' दो पृथक् पद भी हो सकते हैं। वैसी स्थिति में हे सुभग, वे भृंग ही उत्तम हैं, ऐसा अर्थ है।)* जो भ्रमर और कोयल आम की सुगन्धि, मकरन्द और पल्लवों का कषाय रस चखते हैं, उन्हींका जीवन चमत्कारपूर्ण है, औरों का तो केवल आयु बिताना है या योनि भोगमात्र है ॥२५॥

पद्मों के मकरन्द को चखनेवाले भ्रमर पद्म से अतिरिक्त वनों में आसक्त भ्रमरों का मानों परिहास करते हैं, ऐसा कहते हैं ।

जो भ्रमर कमलमधुमद से उत्पन्न आनन्द से मस्त होकर कमलों पर गूँजते हैं, वे मानों अन्य फूलों के आस्वादों से सन्तुष्ट भँवरों का परिहास करते हैं ॥२६॥ जो भ्रमर शरदादि ऋतुओं में चन्द्रमा के कोटर के तुल्य कोमल (सुन्दरतम) कमलों के अन्दर रहा, खेला, सोया और गूँजा, हाँ खेद है, वही यह बेचारा भ्रमर शिशिर ऋतु के आने पर अन्य नीरस वृक्षों से कैसे प्रीति करेगा ? ॥२७॥ मालती की कहीं से भी तनिक भी न फूली हुई शूलसदृश कठोर कली के ऊपर बैठा हुआ भ्रमर कालरुद्र द्वारा शूलपर पिरोया हुआ अन्धकार-सा मालूम पड़ता है ॥२८॥ अरे भ्रमर, तुम भाँति-भाँति के फलों के रस चखते हुए सब पर्वतों के निकुंजों में नित्य चक्कर लगाते हो, आज तक तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ ? पुष्परसलम्पट होने के कारण सचमुच तुम्हारा आशय शुद्ध नहीं है । मालुम पड़ता है, आज तक तुम्हें वनों से सार प्राप्त नहीं हुआ । यदि सार वस्तु तुम्हें मिल जाती, तो तुममें असन्तोष न रहता और तुम्हारे इस तरह भटकने की भी संभावना न रहती ॥२९॥ कमलवनों में मकरन्द चखने में प्रवीण हे भ्रमर, तुम कमलों से भरे सरोवर में जाओ मकरन्द से परिपुष्ट अपने शरीर को बेरों की झाड़ियों में काँटेरूपी आरों से मत चीरो ॥३०॥ जैसे पण्डित पुरुष अपने अनुरूप प्रभु, समाज आदि न मिलने पर विद्वान प्रभु की प्राप्ति के लिए अयोग्य (मूर्ख) प्रभु के समीप भी बस जाता है, किन्तु किरातों के बीच में वास नहीं करता वैसे ही हे भ्रमर, जिन ऋतुओं में हेमन्त, शिशिर आदि में – तुम्हें कमल नहीं मिलते उन ऋतुओं में भी अपने रंग से मिलते जुलते अलसी के फूलों में, नीलकमल समूह में तथा फूले हुए तमाल में यथाअवसर प्राप्त हुए मधु से अपनी गुजर करो, जीवन निर्वाह करो ॥३१॥

कोई पार्श्वचर हंसश्रेणी का वर्णन करता हुआ उसे राजा को दिखलाता है ।

राजन्, देखिये, सरोवरों की नाभिरूप नलिनियों के उपयुक्त केसरों से उनके समान कान्तिवाले शोभा से पालित यह हंसश्रेणिरूपी सुन्दर लता है, इसकी ध्वनि सामगायन के समान

गंभीर है ॥३२॥ राजन् देखिये, आकाश में हंसी का पीछा कर रहा हंस इस सरोवर के मध्य में प्रतिबिम्बित, झूले के सदृश कमलरूप घोंसले में स्थित हंसो को देखकर उसके गिरने और डूबने की आशंका से मूर्च्छित हो गया है ॥३३॥

हंस की–सी स्त्रीव्यसनिता की (स्त्रीलम्पटता की) कोई अनुचर निन्दा करता है।

हे राजन्, अत्यन्त स्त्रीलम्पटता किसी की भी न हो । देखिये न, तालाब में प्रतिबिम्बित इस हंसी का अनुसरण कर रहे (पीछा कर रहे) बेचारे हंसने प्राण गँवा दिये ॥३४॥ राजन्, राजहंस ने अनायास जो मनमोहक मधुर कूजन (ध्वनि) किया, उसे बगुला पुरे सौ वर्षों में भी बोलना नहीं सीख सकता ॥३५॥ राजहंस और हंस का जन्मस्थान, आकृति, जाति, चेष्टा, आहार, नाम और रंग सब कुछ समान है । फिर भी साधारण हंस और राजहंस में महान् अन्तर है, महान् अन्तर है । राजहंस सुवर्ण पद्मों में विचरते हैं, समुद्र में गोता मारकर मोती चरते हैं एवं जहाँ किसी भी पक्षी की पहुँच नहीं है ऐसे आकाश के ऊपरी भाग में उड़ते हैं, साधारण हंसों में यह बात कहाँ है ? यह भाव है ॥३६॥ सफेद डैनों से आकाश में स्थित तथा कुमुदाकर की शोभा बढ़ानेवाला हंस उदित हुए चन्द्रमा के समान लोगों के चित्तों को आह्लादित करता है (🔔) ॥३७॥ ऊपर को उठे हुए नालदण्डवाली नलिनियों के नालरूपी कदलीस्तम्भों से भरे हुए कमलवन में विहार कर रहे हंसों की शोभा को कौन दूसरा पक्षी पा सकता है ? यह सरलार्थ है । योग से जिसके नाल ऊपर को की गई है ऐसी हृदयकमलरूपी नलिनी के प्राणायामअभ्यास से विकासवश कदलीस्तम्बवत् स्तम्ब से व्याप्त हृदय कमलत्रयरूप वन में त्रिविधतापहारी निरतिशय आनन्द के आस्वाद से सदा विहार कर रहे यतियों की जीवन्मुक्तिसुख साम्राज्यरूप सम्पत्ति को कौन देवता पा सकता है, यह गूढार्थ है ॥३८॥ यह सरसी (तालाब) जैसे नारी नूपुरों से विराजमान होती है वैसे ही हंस के बच्चों से सुशोभित हो रही है । तरंग ही इसके कंकण हैं, चंचल जलकणराशि ही इसका हार है, कुईं, नीलकमल, लालकमल आदि फूलों के संभार से यह सुन्दर है, भंवर ही इसके चंचल कुन्तल हैं, कूज रहे सारस ही नूपुर हैं, गोल भँवर ही नाभि है तथा चंचल तरंग ही नेत्र हैं, यह मनोरथ को पूर्ण करनेवाले (जल के प्रवाह को बढ़ानेवाले) पर्वतरूपा पति को देख रही है ॥३९–४१॥ हे हंस, जलकाक, बगुला, कौआ आदि हिंसकों से भरे तालाब में सदा अकेले मत रहो, क्योंकि इस आपत्ति में भी समान शील, अवस्था और बोलीवाले अपने वर्ग के साथ संगति से अच्छा ही फल होता है ॥४२॥ अपने पैरों से गजराज के मस्तकपर आक्रमण करनेवाले एकमात्र पद्माकर में रहनेवाले तथा रक्तकमल, नीलकमल, कुन्द और चम्पकलताओं के भोगरूप सौभाग्य से युक्त यह भँवर भी भाग्यवश हेमन्त और शिशिर ऋतु में ढेले और पत्थर चाटता हुआ स्थल में रहनेवाले बगुले के तुल्य आचरण करता है । अहा ! विपत्ति के समय महान् पुरुष भी दीनता में मन लगाते हैं, दीन–हीन बन जाते हैं ॥४३॥ हे राजन्, मैंने हंस

(🔔) चंद्रमा भी शुक्लपक्ष में आकाश में स्थित होता है व कुमुदाकर को खिलाता है, यों दोनों का साम्य है।

के पंखों से चीरे गये कमलवन में प्रविष्ट होकर देदीप्यमान कमल के अन्दर बैठे हुए हंस के बच्चे की अपने पिता के प्रति निकल रही जो जोर की चीत्कार थी, उसका स्मरण किया । उसका वह वचन था, हे तात ! कमलिनी जैसे सफेद मोती के तुल्य जलबिन्दुओं की वृष्टि करती है वैसे ही आकाश जल बिन्दुओं की राशि बरसाता है,ऊपर सिरपर दोपहर के समय में भी खूब जवानी को पहुँचे हुए बर्फ को प्रत्यक्ष देखिये ॥४४॥ हे राजन्, इस सरोवर में, आकाश में चन्द्रमा की तरह प्रसन्न (स्वच्छ) जल में चुपचाप चिरकाल तक तैर रहे हंस के पंखों से प्रताडित कमलनालों के संवलनरूप निष्कम्प टंकाघातों से ब्रह्म के आसनभूत कमलपुट के समान कमलपुट से जो जलबिन्दु इसके ऊपर गिरे, उन्हें मछली आदि जलचर बड़ी प्रसन्नता से गंगाजल के तुल्य शीघ्र पीते हैं ॥४५॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अठारहवाँ सर्ग

बगुले, जलकाक, मोर, वियोगीपथिक मछली और चातकों के चरित्र का वर्णन।

सहचर और सहचरियों ने क्रम से कहा : देखिये, यह बक यद्यपि प्रायः निर्गुण है तथापि इसमें एक गुण है, वह यह कि प्रावृट्-प्रावृट् कहता हुआ यह पावृट् का (वर्षा ऋतु का) स्मरण कराता है ॥१॥ अरे बगुले, तालाब में बैठा हुआ तू रंग से (सफेद पंखों से) हंस-सा मालूम पड़ता है। कौओं के साथ मित्रता, क्रूरता (मछलियों पर निर्दय प्रहार करना) और कटु वाणी का त्यागकर तू सच (असली) हंस बन जा ॥२॥ हे चतुरश्रेष्ठ, मछलियों को मारने में अत्यन्त प्रवीण जिन जलकौओं ने जलजीवों से परिपूर्ण गम्भीर जल के अन्दर बार-बार प्रवेश कर पहले (निगलने के समय) मछलियों से चोंचें भर कर मछलियाँ खाई, वे ये कौए जिनके गले में भाग्यवश किसी कारण मरी हुई 'तिमि' जाति की मछलियों के भक्षण से रोग उत्पन्न हो गया है, अत्यंत क्षुधासमय में (आक्रमण के समय में) तीर में कतार बाँधकर स्थित हुए भी, पंगु होने के कारण, अपने सामने तटपर आई हुई, अनायास पकड़ में आने योग्य मछलियों पर आक्रमण नहीं करते, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥३॥

दुर्जनों ने लोकहिंसा से स्वार्थसिद्धि करना जल के कौओं से सीखा, ये प्रकारांतर से कहते हैं।

इसी तरह (जलकौए के समान ही) अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए लोगों का गला घोटना उचित है, इस बात को दर्शाता हुआ जलकौआ मेरा गुरु बन गया है, यों दुष्टजन कौए की प्रशंसा करते हैं ॥४॥ आकाश में यह सामने खड़ा बगुला, जिसने सुन्दर गर्दन ऊँची कर रक्खी है और सफेद सुन्दर पंख फैला रक्खे हैं, हंस ही है यों लोगों द्वारा निर्णीत हुआ, जब यह भूमि में कीचड़ से भरी छोटी तलैया में मछलियाँ पकड़ता है, तब लोग यह बगुला है, ऐसा निश्चय करते हैं ॥५॥ कीचड़ से भरी छोटी-सी तलैया में मछलियों को पकड़ने के लिये चिरकाल तक चंचलता दिखला चुके इसी सरोवर में तपका ढोंग बाँधे हुए बगुलों को देखकर धूर्तों के चरित्र

को भलीभाँति जाननेवाली कोई तीरप्रदेशस्थित महिला बगलों के समान ही अन्यत्र चिरकाल तक विषयलम्पटतावश चंचलतावश चंचलतावाले यहाँ पर तपस्या का ढोंग बाँधनेवाले रात्रि की प्रतीक्षा कर रहे धूर्तों को देखकर आश्चर्य में पड़ गई ॥६॥

पथिक की स्त्री कमल तोड़नेवाली महिलाओं को देख रहे अपने पति के (पथिक के) प्रति कहती है।

हे प्रियतम, इस जल में शीत को कुछ भी न गिननेवाली ग्रामीण स्त्रियों को देखो, ये सफेद कमलों को ले जाती हैं। तुम इनका अनुगमन करना चाहते हो इसलिये मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ, अतएव मैं जाती हूँ ॥७॥ हे नरनाथ, पूर्वोक्त वचन कहनेवाली रूठी हुई अपनी प्रिया को मनाने के लिए यह बटोही मार्ग के पुष्पलता निकुंजों से भरे क्रीडातट वन में बड़े जतन से अपनी प्रेयसी का अनुनय विनय करता है, कृपया आप देखिये ॥८॥

कोई पार्श्वचर इसी पथिक जोड़े के (स्त्री–पुरुषों के) चरित्र को ढिठाई के साथ कह रही वेश्या को राजा के लिये दिखलाता है।

हे राजन् हाव, भाव, विलास, शरीर को मटकाना, कोप,कटाक्ष, और हास कर रही वेश्या उक्त पथिक जोड़े का चरित्र कहती है, कृपया आप देखें ॥९॥ बगुला, जलकाक और दूसरों पर घात करनेवाले मछुए आदि नित्य एक ही जगह रहते हैं, फिर भी मूर्ख और विद्वानों की बुद्धि के समान इनकी बुद्धि का आपस में मेल नहीं है ॥१०॥ खंजन की चोंच में पतंगा पंख फड़फड़ाता है, काँपता है। उसका पंख फड़फड़ाना क्यों है मानों वह पूर्वजन्मसंचित पाप की ऊँची जगह में पताका है ॥११॥ छोटी तलैया के तट के वृक्ष पर उल्लास के साथ वह चपल बगुला जब जोर से बोलता है तब थोड़े से जल से गीले तलैयारूपी गोखुर में पूर्णशक्ति से प्रेम से प्रियतम की छाती में जैसे भय से चिपट रही बिचारी मछली ने मरकर भी अपने शरीर की रक्षा की । इस संसार में महा आपत्ति प्राप्त होने पर हृदय फटने से हुई मृत्यु से बढ़कर दूसरा सुखपद शरण नहीं है । मरकर भी जो उसने अपने शरीर की रक्षा की, वह भी उचित ही किया ॥१२॥ बगुला, अजगर और जलकाक के पेट में बिना चबाये निगले हुये मछली आदि प्राणियों की जो चित्तस्थिति है, मैं समझता हूँ वह सुषुप्ति–सी (गहरी नींद–सी) या मूर्छा–सी होती होगी ॥१३॥ जलचर मछली आदि जीवों को समीप में जलकौआ, बगुला, चील, बिल्ली, साँप देखने से जो भय होता है उस भय के आगे वज्रपात से हुआ भय तृण के समान नगण्य है। यह रहस्य बात जातिस्मरण (पूर्वजन्म के ज्ञान) से मछली आदि जलजीवों की योनियों के दुःख का स्मरण करनेवाले विद्वान् पुरुषों द्वारा अनुभूत है, इसे असत्य नहीं समझना चाहिये ॥१४॥ हे राजन्, फूलों की राशि से सुशोभित यहाँ सरोवर के तट के पेड़ के नीचे सामने भ्रमर रहने पर नयन और कानों को शोभा से नूतन नील कमल और केतक बिखेर रहे भोले–भाले सुन्दर मृगों को प्रिया को दिखलाइये ॥१५॥ मोर क्षुद्राशय न होने के कारण इन्द्र से जल माँगता है, अत्यन्त उदार इन्द्र

अक्षुद्रचित्तत्वरूप गुण से सन्तुष्ट होकर मोर की प्रसन्नता के लिये सारी पृथ्वी को जल से पूर्ण कर देता है ॥१६॥ ये मोर बछड़े की तरह मेघों के पीछे-पीछे चलते हैं, मलिन मलिन का ही बच्चा है, ऐसा अनुमान होता है ॥१७॥ पथिक मृगों को देखकर सामने की वस्तुओं में प्रिया के नेत्रों का चिन्तन करता हुआ कलसे चलनेवाली गुड़िया-सा बन गया है ॥१८॥ मोर भूमि का जल तक ग्रहण नहीं करता, किन्तु साँपों की जबरदस्ती खा डालता है, यह सर्प की दुरात्मता है अथवा मोर की दुष्टता है, यह मैं नहीं जानता ॥१९॥ मोर सज्जनों के हृदय के समान स्वच्छ महान् सरोवर को छोड़कर मेघ द्वारा थूका हुआ जल पीता है, मालूम पड़ता है उसका मेघ का जलपान सरोवर को नमस्कार करना पड़ेगा, इस भय से है ॥२०॥ हे राजन् देखिये, ये मयूर वर्षा ऋतु के बच्चों की नाईं नाचते हैं, जिनके पंखरूपी मेघ चमक रहे हैं जो पिच्छ (पंखों के चन्द्रक) रूपी चन्द्रमा को कँपा रहे हैं ॥२१॥ यहाँ पर मोतियों को देने के कारण सागर ही सुन्दर वन में वन के वायु से फैलनेवाले तथा चंचल चन्द्रकरूपी सुन्दर तरंगों से युक्त मयूरों को नचानेवाला होता है, मेघ नचानेवाला नहीं है, देखिये ॥२२॥ हे चकित चातक, तुम्हारा वनभूमि में गर्मी के दिन अग्नि से दुषित (सदा अग्नि की संभावनावाले) सूखे पेड़ के खोखले में निवासके आग्रह से सूचित अति अभिमानिता सुख के लिए नहीं है । तुम केले के वन के समीपवर्ती शीतल हरे तिनकों को चरो, नहर आदि में जल पीओ एवं केले के वन में विश्राम लो ॥२३॥ हे मयूर, यह सागर के जल से भरा हुआ अतः आकाश में चढ़ने की इच्छावाले मेघ नहीं है, यह तो पर्वत से उठी हुई वनाग्नि से जले हुए वनवृक्षों के खोखले की अग्नि की धूम्रराशि है ॥२४॥

अनावृष्टि के समय भूमि का जल न पीनेवाले मयूर के आशय का कोई अनुचर वर्णन करता है ।

जिस मेघ ने शरत् ऋतु में भी मयूर को जलधाराओं से तृप्त किया वह वर्षाऋतु में भी तालाब को न भरे ऐसा उसका जो चरित्र है, वह बालजनोचित (क्षुद्रोचित) है, उस महान् के योग्य नहीं है । उदारता के समय में भी की गई इस अनुदारता को देखकर पामरों द्वारा किये गये उपहास से वह सज्जन दुःखी होगा, यह सोचकर मयूर सदा के लिए अपनी प्यास ही न बुझाने के लिए तैयार हो गया ॥२५॥

शंका : तो क्या मयूर अनुचितकारी है ?

समाधान : नहीं, मेघ के पेट से निकला हुआ, स्फटिकसा स्वच्छ जल पीकर मोर प्यास से पीड़ित होकर भी फिर मार्ग में गिरा हुआ कीचड़वाला जल नहीं पीता ।

शंका : तब तो वह मारे प्यास के मर जाता होगा ?

समाधान : नहीं, नहीं, वह मेघ का स्मरण कर हर्षित होता है और मरता भी नहीं । क्योंकि गुणवान् पुरुष पर आशा बाँधे हुए लोगों का परिश्रम भी सुखकारी होता है, दुःखद नहीं होता ॥२६॥ यहाँ पर ये पथिक लोग बरसात में कथा-वार्ता के आलाप द्वारा मार्ग में होनेवाली शोचनीय दशा को (वियोग को) वैसे ही बिताते हैं जैसे कि प्रायः मूर्खजन अपना जन्म यापन करते हैं । कान्ताविरही पथिकों का वर्षा ऋतु में कहीं पर कथालाप आदि से कष्टपूर्वक वैसे

ही समापन होता है जैसे कि आत्मज्ञानशून्य मूर्खों का जन्मयापन होता है, यह भाव है ॥२७॥ हे राजन्, यहाँ पर तालाब से कमल, नीलकमल, कुईं,सफेद कमल, भसींड, कमलनाल, रक्तकमल, पत्ते और जल के बोझ को लेकर युवतियाँ चलीं ॥२८॥ इसके बाद इन कमल आदि के बोझों को क्यों ले जाती हो, यह पूछने पर उन्होंने पूछनेवाले को (मुझको) यह उत्तर दिया– हे पथिक, हम लोग वियोगरूपी दुःख के ज्वर से सन्तप्त नायिका की बालसखियाँ हैं और उसके उपचार के लिए कमल आदि के बोझों को ले जाती हैं ॥२९॥ तदुपरान्त प्रेमपूर्ण हृदयवाली, स्तनों के भार से नत (झुकी हुईं) तथा विविध हावभावों से मनोहर अंगोवाली वे ललनाएँ देख रहे पथिकों को उनके घर की प्रियाओं का बार–बार स्मरण कराती हैं ॥३०॥

वहाँ पर कोई पथिक अपनी प्रिया का स्मरण कर कहता है ।

वह मेरी प्रिया जल से भरे मेघरूपी अन्धकार से काले आकाश को चिकने तथा मेघ और अन्धकार के समान काले शून्यवन को देखकर प्रलाप करती होगी, भूमिपर गिरती होगी तथा चलते–चलते ठोकर खाती होगी ॥३१॥ हाय, भ्रमरश्रेणी तथा नीलकमलों से परिवेष्टित कमलरूप पानपात्र से (पीने के बर्तन–कटोरे से) उँडेले जा रहे कमलिन के मधु को पीने से मस्त हुआ और तट भूमि पर उगे हुए वृक्ष, लता आदि के पल्लवों के नृत्य से प्राप्त हुई मधुर गंभीर शब्द राशि से प्रख्यापित शीतलता, मृदुता, सुगन्धि आदि गुणों से पूर्ण वायु बहता है ॥३२॥

एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग

पथिक का अपनी प्रिया से भेंट होने व उसके आगे उसके वियोग से हुई अपनी मरणान्त दशा का वर्णन।

सहचरों ने कहा : राजन्, देखिये, मन्दर की झाड़ी में यह पथिक चिरकाल के पश्चात् प्राप्त हुई अपनी प्रिया के आगे भूतपूर्व अपनी विरह–कथा कहता है ॥१॥

प्रिया के आगे उससे वर्णित विरह कथा का वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधता है ।

हे प्रिये, तुम्हारे वियोग की अवस्था में मेरी एक दिन हुई आश्चर्यपूर्ण दुर्घटना को सुनो । तुम्हारे समीप अपना समाचार भेजने के लिये दूत का विचार करते–करते विचारमग्न हुए मैंने यह कहा ॥२॥ इस महाप्रलयकाल के तुल्य वियोग में (विरहरूप महती आपत्ति में) यहाँपर स्थित मुझे समाचार पहुँचाने द्वारा उससे (मेरी प्रिया से) संमानित करने के लिये जो मेरे घर जाय ऐसा दयालु दूत कौन होगा ? जो दूसरे के दुःख की निवृत्ति के लिये प्रेम से सरलतापूर्वक सदा प्रयत्न करे, ऐसा पुरुष संसार में है नहीं ॥३॥ हाँ याद आई, सामने पर्वत शिखर पर यह दिखाई दे रहा मेघ प्रेम से सदा परदुःख को निवृत्त करना आदि गुणों से युक्त है ? यह कामदेव के घोड़े के समान शीघ्र मेरे घर जा सकता है । परोपकार में परायण यह बिजली की रेखारूप विलासवती नायिका से वेष्टित हो स्थित है ॥४॥ अरे

भाई मेघ, तुम्हारे गले में गुण है यानी तुम गुणवान् हो । गुणशाली अपने योग्य इन्द्रधनुष को लेकर, हे सुन्दर आकाशमार्गचारी, तुम मेरी प्रिया के समीप जाकर जिनसे जल की बूँदे गिर रही हों ऐसे अपने वायुओं से पहले उसे ढाढस देना फिर मेरा सन्देश पहुँचाने के लिये धीरे-धीरे गर्जना, क्षणभर के लिये दया करना, कारण कि तुम्हारे गंभीर गर्जन को मेरे वियोग दुःख से अश्रुपूर्णमुखी बालकमलनाल के सदृश कोमल शरीरवाली कृशांगी मेरी प्रिया सहने में असमर्थ है ॥५॥ हे मेघ, उस प्रिया का चित्तरूपी तूलिका से हृदयरूपी आकाश पर चित्र लिखकर मैंने आलिंगन किया, अभी ही न मालूम वह यहाँ से कहाँ चली गई ॥६॥ हे कृशांगि, इस तरह मेघ से कहकर तुम्हारी चिन्ता से पराधीन बुद्धिवाले मेरे मन का व्यापार भीतर ही भीतर लीन हो गया, अतएव तुम्हारे ही साथ मेरी स्मृति (पूर्वपर के अनुसन्धान की शक्ति) भी गुम हो गई । तदुपरान्त स्मृतिनाश से मेरा शरीर बेकाबू हो गया और मेरे सब अवयव काष्ठलोष्ठ के समान निश्चेष्ट हो गये। भला वियोगदुःख से उत्पन्न पराभव को कौन सह सकता है ? ॥७॥ तदनन्तर मेरी वैसी अवस्था देखकर एकत्र हुए जनसमूह में महा हाहाकार मचा और देखने के लिये आ रही पथिक महिलाओं का भी छाती पीटना भूलकर अहा बेचारा पथिक मर गया ऐसा कोलाहल हुआ। वहाँ पर किन्हींने दुःखभार से रुँधे हुए स्वरवाले दीनतापूर्ण आलापों से मेघ की निन्दा की ॥८॥ उसके पश्चात् पथिक लोगों ने यह मर गया है, ऐसा निश्चय कर आँखों में आँसू भर कर शवोचित पूजा (चन्दन, माला आदि से सजावट) की तथा लकड़ियाँ उद्वेजक तथा अत्यन्त भीषण श्मशान में ले गये ॥९॥ हे कमलाक्षि, वहाँ पर अश्रुपूर्ण नेत्रराजिवाले कुछ पथिकों ने मुझे चितारूपी शय्यापर रक्खा। वहाँ पर चारों ओर लोकपंक्तियों की तरह जिसकी पंक्ति बँधी थी, धूम्रराशि के उद्गार से निरन्तर जटायुक्त (व्याप्त), मदोन्मत्त मृत्यु के मस्तक पर उत्तम चूड़ामणि के सदृश प्रकाशमान अग्निरूप सोने के थोड़ी-बहुत दृश्य होने पर नीलकमललता के समान कोमल, गरम, काली दीर्घता के संकोच से कुबड़ी, धूम्रपंक्ति कोमल गले के सूराख और नासिकारन्ध्र में, नेवले से भयभीत हुई बालसर्पिणी छोटे भूमि के छेद में जैसे प्रवेश करती है वैसे ही प्रवेश करने के लिए प्रवृत्त हुई॥१०,११॥ हे प्रिये, मैं तुम्हारे आकाररूप अमृत से कवचावृत था, अतएव कवचावृत मुझको उक्त धूम्रपंक्ति ने वैसे ही पीड़ा नहीं पहुँचाई जैसे कि वज्रांग ब्रह्माजी को जोर से छोड़ी गयी मृत्यु के भालों की श्रेणी ने पीड़ित नहीं किया और हृदयरूपी गृहसमीपवर्तिनी कामनदीरूप तुम में गोते लगा रहे मुझको अग्निदाह से भी मर्मच्छेद होने पर उत्पन्न हुई पीड़ा मालूम न होती केवल धुएँ से तो क्योंकर पीड़ा होती ? ॥१२॥ हे कृशांगि, मूर्च्छावस्था में इतने कालतक अपने हृदय में तुम्हारे साथ मैंने लीलामनोहर जिस सुख का अनुभव किया, वह अभूतपूर्व था। अमृत के कुण्ड में गोते लगाने से जैसा सुख होता है वैसा ही वह सुख था । उस सुख का अनुभव होने पर यह प्रसिद्ध त्रैलोक्यराज्य के आधिपत्य से होनेवाला सुख भी पूर्ववर्णित मर्मच्छेदन दुःख के समान तुच्छ ही है, ऐसी मेरी राय है ॥१३॥ हे प्रिये, तुम्हारी वह केवल स्वानुभव से ज्ञेय निरतिशयानन्दरूप अनुपम लीला, वैसे ही भौंह मटकाना

आदिरूप विलास, वैसा ही आनन्दमय वचन, वैसा ही मुस्काना, वैसे ही कटाक्ष तथा वही प्रधान अलंकाररूप मणिमयी एकावली रहित आभ्यन्तरिक आनन्द के उचित आलिंगन, वैसी ही नखक्षत आदि चेष्टाएँ, वैसा ही रतिकूजित, वैसे ही हँसना, चलना चित्तविक्षोभ आदि थे । इनमें से जिसका स्मरण हृदय में अमृत रसाह्लाद न करे ऐसा कोई न था सभी हृदय में आह्लाद पैदा करते ही थे ।।१४।। हे मुग्धे, उसके पश्चात् मैं तुम्हारे संगम से अतितृप्त होने के कारण थकने से शिथिल होकर वहाँ पर कोमल शय्या पर लेट गया, जो शरत् ऋतु में शीतल किरणों से युक्त चन्द्रबिम्ब जैसी स्वच्छ थी ।।१५।। इस बीच में एकाएक मैंने जैसे चन्दनपंक के सदृश शीतल विशाल चन्द्रबिम्ब से मेघनिर्घोष के साथ वज्र निकले वैसे ही अत्यन्त असंभावनीय अपनी शय्या से निकली अपनी देह से स्पृष्ट शब्दयुक्त चिता के नीचे जली हुई अग्नि को क्षीरसागर के बड़वानल के समान देखा ।।१६।। सहचरों ने कहा : राजन्, उक्त प्रिय के ऐसा कहने पर कहा 'मैं मरी' कहती हुई वह मुग्धा नायिका मुग्धतावश महान् प्रलय की आशंका से मूर्च्छित हो गयी ।।१७।। मूर्च्छित अपनी प्रिया को यह बेचारा पति नलिनी के पत्तों के पंखे से तथा जल से कैसे प्रकृतिस्थ करता हुआ मूर्च्छित प्रिया को गले लगाकर यहाँ मन्दराचल के निकुंज में बैठा है ।।१८।। फिर प्रिया के पूछने पर देखो यह उसी कथा को पास में बैठी हुई अपनी प्रिया से उसकी ठुड्डी पकड़कर कहता है ।।१९।। हे प्रिये, मुझे जब आग की लपटों से कुछ पीड़ा हुई तो ज्योंही मैंने घबराहट के साथ 'अरे अरे आग' कहा त्योंही झटपट आनन्द में मग्न हो रहे पथिकों ने खड़खड़ (चटचट) शब्द से व्याप्त वह चिता सब लाठियों को हटाकर क्षणभर में शान्त कर दी ।।२०।। तदुपरान्त मरे हुए के पुनः जी जाने से उत्पन्न हुए हर्षवश पथिक लोग चंचल तालियों के विलासरूपी बाजे के साथ मुझे चिता से उठाकर बहुत सी मांगलिक वृक्ष मंजरियों से मेरे शरीर को विभूषित कर, मुझे गले लगाकर, सब मेरे चारों ओर खड़े हो गये । मेरे पुनरुज्जीवन के हर्ष से सबने अट्टहास किया, गाया, सब खिलखिलाये और नाचे एवं घर को आये ।।२१।। इसके पश्चात् मैंने संहारकारी रुद्र के शरीर के समान भीषण श्मशान देखा, वह अति विकट नायकहीन पिशाच आदि के लिये सुखकारी था, राख, माँस और मुर्दों की खोपड़ियों के ढेरों से व्याप्त था तथा चन्द्रमा के सदृश सफेद हड्डियाँ और कपाल उसमें बिखरे थे । संहाररुद्र का शरीर भी विकट विनायक आदि गणों को सुखदायक है, विभूति, सर्पहार और शवकपालों से व्याप्त है और चन्द्रकिरणों से शुभ्र मुण्डमालाएँ भी उसमें हैं ।।२२।। भगवान शंकर के आभूषण योग्य हड्डियों के टंकार से कठोर शब्द करनेवाले वायु वहाँ पर बहते थे, वे समीपवर्ती वन की हरियाली को राख उड़ाकर हर रहे थे, गल रहे सड़े–पड़े नर कंकालों की दुर्गन्ध को फैला रहे थे, प्रचुर भस्मराशि से गाढ़ तरकस में चन्द्रमा से गिरे हुए बाणों का–सा उनका आकार था ।।२३।। वह श्मशान भूमि, जिसके वृक्षों के पत्ते धधकती हुई अग्निवाली चिताओं के प्रवाहरूप से निकल रहे धुएँ और चिनगारियों से पूर्ण मुरझाकर सूख गये थे, अग्नि, वायु और शनैश्चर की क्रीड़ा के योग्य घर के तुल्य लक्षण धारण करती है ।।२४।। मैंने वैसा श्मशान देखा, जो असंख्य भीषण आधे

जले नरककंकालों से अत्यन्त दुर्गन्धिपूर्ण था और मतवाले सियारों, कौओं, चीतों, गीधों, पिशाच और वेतालों की चिल्लपों से भयंकर था ॥२५॥ वहाँ पर जलाने के लिये लाये गये नाना मुर्दों के बन्धु-बान्धवों के रोने-धोने से उसके दिगन्त और झाड़ियाँ गूँजती थी, उसमें कौए, चील आदि से खींची गयी गीली अँतड़ियों से अधजले पेड़ और लताएँ बँधी थीं ॥२६॥ कहीं पर चिताओं के संचालन से महान् प्रकाश हो जाता था, कहीं पर बहुत बड़ी केशराशि द्वारा वहाँ बादल के समूह से बनाये गये थे, कहीं पर पृथिवी तल रुधिरधारा से लथपथ था, अतएव रात्रि के समय शैलशून्य वह गरज रहे मेघ-सा शब्द करता था ॥२७॥एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बीसवाँ सर्ग

वायु, वृक्ष, भ्रमर, वनराजि, देवांगना, समुद्र की लहर, सुवर्णचुड़ पक्षी आदि का वर्णन।

सहचरों ने कहा : हे कमलनेत्र इस तरह का वियोग कालिककथाएँ कह रहा यह स्त्री-पुरुष का जोड़ा इस समय उत्तम आसवपान करने के लिये प्रवृत्त है, इसे आप देखिये ॥१॥

कोई सहचर विविध वायुओं का वर्णन करता है ।

केले के गोफों के सुन्दर गुच्छों को फुलाने में पण्डित तथा फूलों के परागों से विभूषित ये अनेक प्रकार के वायु बहते हैं॥२॥ वनों से निकली हुई भाँति-भाँति की सुगन्धियों से हृष्टपुष्ट, स्वेदबिन्दुओं का पान करनेवाले तथा ललनाओं के इधर उधर बिखरे हुए कुन्तलों को (मुँह की ओर लटके केशों को) नचानेवाले वायु बहते हैं ॥३॥ कुछ पर्वतों के गुफारूपी गृहों में पैठकर घुमने में उद्योगी सिंहों की तरह क्षार समुद्र के वायु, राक्षसों के-से सुमेरु शिखराक्रमण के उद्योगों से बहते हैं ॥४॥ तमाल और ताड़ के पेड़ों में चंचल बच्चों की तरह क्रीड़ा के झूलनों से झुलाये गये, जलतरंगों से उछलकर वृक्षाग्रों के कोमल पल्लवों पर आक्रमण करनेवाले तथा नाच रही नवीन लताओं से निकली हुई पुष्पधूलियों से धूसर वायु उद्यानों में राजाओं की तरह मन्दगति से चलते हैं ॥५,६॥ बाँसों के वन में विश्राम लेता हुआ यह वनवायु हस्तिनापुर की नारियों से सिखलाया गया हुआ-सा मीठा गाना गाने के लिए तैयार हुआ है ॥७॥ जब से कर्णिकार ने सुगन्धि, पराग आदि न देकर वायु का तिरस्कार किया तभी से भ्रमर भी इसका (कर्णिकारका) दूर से त्याग करते हैं, इसके समीप नहीं जाते हैं ॥८॥ ताड का पेड़ खम्भे की तरह सीधा होता है, अतः उसपर कोई चढ़ नहीं सकता । इसीलिए वह किसी अर्थी को न फल देता है और न पल्लव ही देता है। इनकी अति उन्नत भी आकृति अर्थियों की अभिलाषा की पूर्ति के बिना शोभा नहीं देती ॥९॥ उदारता आदि गुणों से रहित मूर्खों की वस्त्र, अलंकार आदि के आडम्बर से शरीर की सजावट ही शोभा के लिए होती है, अन्य कुछ नहीं। राजन्, यह फूला हुआ पलाश का पेड़ फूलों की सजावट से ही राजा के तुल्य मालूम पड़ता है ॥१०॥ आओ, यह सुगन्धिरहित कर्णिकार विषादरूप चित्तविकार का ही पात्र है, व्यर्थ ही हमने इसका आश्रय लिया है। निर्गुण जीव

के तुल्य इसके अनुसरण से क्या लाभ है ? ॥११॥ चंचल मंजरीराशिरूपी बिजली के संग से युक्त तथा काला तमालवृक्ष चातक को व्यर्थ ही मेघ की भ्रान्ति कराता है ॥१२॥ ये ऊँचे बाँस उन्नत कुल के समान हैं। उन्नत कुल के लोग पर्णों से (वाहनों से -रथ, हाथी, घोड़े, आदि से) विभूषित होते हैं तो ये पर्णों से (पत्तों से) विभूषित हैं। उन्नत कुलों का संघ दुर्भेद्य होता है तो उनका भी संघ दुर्भेद्य है, उन्नत कुल के जन सज्ञनों के उपकार के लिए राजाओं का आश्रय स्वीकार करते हैं, तो इन्होंने उत्तम छायाओं से पर्वतों को आच्छादित कर रक्खा है । उन्नत कुल के जन सन्मान आदि महान् गुणों के योग्य होते हैं, तो ये (बाँस) धनुषअवस्था में प्रत्यंचारूप गुणों के योग्य हैं। यों इन बाँसों की उन्नत कुलों के साथ पूर्णरूपेण समता है ॥१३॥ जैसे सुवर्णमय शिखररूप आसन पर बैठनेवाला अतएव अग्नि में स्थित होनेवाला वायुरूप व्याधि से युक्त ओर-छोरवाला यह मेघ बिजली से पीले आकाश को क्षुब्ध करता है वैसे ही सुवर्णमय शिखरों के तुल्य आसन पर बैठनेवाले, सर्वश्रेष्ठ, वात व्याधि से (उद्धव से) युक्त सन्निधिवाले उत्कृष्ट ऐश्वर्यसम्पन्न हरि चमचमा रहे बिजली के सदृश पीताम्बर को धारण करते हैं यों हरि और मेघ की समानता है ॥१४॥ प्रवेश और निर्गम में उतावलीवाले पक्षी और भ्रमररूपी बाण जिसमें संचार कर रहे हैं ऐसा यह फूला हुआ पलाश का वृक्ष रुधिर से लथपथ वीर के तुल्य मालुम पड़ता है ॥१५॥ महेन्द्रपर्वत के शिखर पर मन्दारमंजरियों की राशियों की राशियों से पीले मेघरूपी मन्दिर में ये कामी गन्धर्व मद्यपान से मत्त होकर सोये हैं ॥१६॥ हे राजन् देखिये, कल्पवृक्षों के वन की शीतल छाया में विश्राम कर रहे, उत्तम वीणा आदि बाजों से युक्त ये सिद्ध और विद्याधर गाते हैं ॥१७॥ महाराज देखिये, इस कल्पद्रुम के वन में पल्लव पर बैठी हुई (विश्राम कर रहीं) देवांगनाएँ गाती हैं और हँसती हैं ॥१८॥ सुन्दर-सुन्दर मन्दिरों से भरे हुए मन्दराचल पर मन्दपाल मुनिका यह मन्दिर है, जिस उदार मन्दपाल की वह प्रसिद्ध जरिता नाम की गृधी भार्या है ॥१९॥ राजन्, ये मुनिजनों के आश्रम, जिन पर जाति वैर का परित्याग कर आपस में गाढ़ा स्नेह रखनेवाले सिंह-हाथी, नेवला-साँप आदि प्रेम-क्रीड़ा करते हैं तथा ये सब ऋतुओं में फूल देनेवाले वृक्षों से पूर्ण हैं, देखिये ॥२०॥ मूँगों के वृक्षों से उलझी हुई सागरतट की लताओं के पल्लवों पर जलबिन्दु, जिन पर सुर्य का प्रतिबिम्ब है, शोभित होते हैं ॥२१॥ रत्न और मणियों की खानों में लहरें बार-बार परिवर्तनों द्वारा वैसे ही क्रीड़ा करती हैं जैसे कि हाव-भाववाली युवतियाँ अपने विलासी पतियों के वक्षस्थलों पर बार-बार परिवर्तनों से क्रीड़ा करती है ॥२२॥ राजन् सुनिये, नागलोक और इन्द्रलोक की स्त्रियों के गमनागमन से होनेवाला मनोहर आभूषण-झंकार आकाश से सुनाई देता है ॥२३॥ ऐरावत के गण्डस्थल से गिरे हुए मदजल से मस्त हुई भ्रमरियों की गुंजारध्वनियों से ऐरावत के स्नान स्थानरूप पर्वत की गुफाएँ मानों गाती हैं ॥२४॥ कृष्णपक्ष में दिनपर दिन घट रहे अतएव कृशकाय सागर की कृष्णान्तरेखारूप पंक्तियाँ निवास स्थानरूप वेलातट पर दिखाई देती हैं ॥२५॥

कोई सहचर दो श्लोंकों से वनों का ही विलासिनी के (स्त्री के) रूप से वर्णन करता है।

वनरूपी विलासिनी धन्य है। वन की मनोहर गन्ध ही इसका सुगन्धित निश्वास है। सुन्दर घनी छाया ही शीतल अंग है, यह (वनभूमि) एकान्त में भगवदाकार को दिखलानेवाली है (और नायिका एकान्त में अपने रूप को दिखलानेवाली है)। भाँति-भाँति के आभूषणरूप पुष्पों से भरी है, वृक्षों का निबिड़ विन्यास ही इसके वस्त्र है । निर्झर (झरना) ही निर्मल हास है एवं इसने फूलों की सेज बिछाई है। (वनभूमि और विलासिनी दोनों में सब विशेषण लगाने चाहिये) ॥२६,२७॥ उदारमति देववृन्द आदि नन्दनवन में वैसा आनन्द नहीं लेते जैसा कि सूनसान (शब्दशून्य) शुद्ध वनभूमियों में आनन्द लूटते हैं ॥२८॥ अत्यन्त विरक्त मुनि के चित्त को और अनुरक्त विषयी पुरुष के चित्त को मनोहर निर्जन वनभूमियाँ एक-सा आनन्द देती हैं ॥२९॥ सागर के तटवर्ती पर्वतों के, जिनके तट जलतरंगों से धोये साफ सुथरे हैं, पाद (तलैटियाँ) समुद्रीय रत्नराशियों से नूपुरों के समान शोभित होते हैं और शब्द करते हैं ॥३०॥ पुंनाग के वृक्षों पर विश्राम कर रहे सुन्दर सुवर्णकी-सी कान्तिवाले हेमचूड़ नाम के पक्षी (एक प्रकार का पीला पक्षी) स्वर्ग में देवताओं के समान शोभा पाते हैं ॥३१॥ भ्रमर और मेघरूपी धुएँ से पूर्ण फूले हुए चम्पकों के वन जब वायु से हिलते हैं तब जल रहे पर्वत से मालूम पड़ते हैं, देखिये ॥३२॥ उत्कण्ठित कोयल (मादा) कनेर के पेड़ की ऊपर की शाखारूपी झूले में झूल रहे अपने प्रिय कोयल का आलिंगन कर मधुर गाना गा रही है ॥३३॥ हे राजन्, कलकलध्वनिपूर्वक उपायन (भेंट) हाथ में लिये हुए राजाओं से पूर्ण क्षीरसमुद्र की इन तटभूमियों को देखिये ॥३४॥ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर क्षारसागर तक इस जम्बू द्वीप में भीषण युद्ध में बचे हुए नरपतियों को अपने चरणों के आसन बनाइये अर्थात् उनके मस्तक पर पदार्पण द्वारा उनपर अनुग्रह कीजिये । और तत्-त्त मण्डलों की पृथिवी का प्रत्येक दिशा में चिरकाल तक रक्षा के लिए शास्त्रानुसार (नीतिशास्त्र में वर्णित प्रकार से) समाधानपूर्वक शान्त बुद्धि से शासन दिजिये, उसके पश्चात् अस्त्र-शस्त्र दिजिये और उसके पश्चात् विशाल सेना दीजिये ॥३५॥

एक सौ बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग

मण्डलमर्यादा की स्थापना कर अग्नि की शरण में गये हुए विपश्चितों का अग्नि के वरदान से दिगन्तों के दर्शन का उद्योग।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुनायक, इसके बाद उन समुद्रतटों पर भूमिपर बैठ कर चारों विपश्चितों ने पहले मन्त्रियों द्वारा निवेदित मण्डलमर्यादास्थापनरूप सारा राज्य प्रबन्ध किया ॥१॥ उस समय पद के क्रम के अनुसार निवासभूमि बनाकर उन्होंने वहीं पर निवास किया और मजबूत मण्डलमर्यादा की स्थापना की ॥२॥ इसके बाद श्रीमान् सूर्य मानों उनके (विपश्चितों के) प्रताप का वर्णन करने के लिए समुद्र के अन्दर प्रवेश कर अन्य लोक को (ज्योतिषियों के मत से पाताल लोक को और पौराणिकों के मत से मेरुपर्वत के उत्तर भाग में स्थित दूसरे वर्ष को) चला गया ॥३॥ मेघपंक्ति के समान काली

रात्रि विस्तार को प्राप्त हुई और वे विपश्चित सारे दैनिक कृत्य पूर्ण करके सोने के लिए शय्याओं पर आरूढ़ हुए ॥४॥ दूर से नदियों के प्रवाह के समान समुद्र तक पहुँचे हुए अतएव आश्चर्य में डूबे हुए उन्होंने नीचे कही जानेवाली बातों पर विचार किया ॥५॥ ओहो ! हम लोग देवाधिदेव अग्नि के प्रताप से बिना किसी क्लेश–आयास के बहुत दूर मार्ग में आ पहुँचे हैं ॥६॥ यह चारों ओर फैली हुई दृश्य शोभा कितनी विस्तृत होगी । यहाँ से जम्बूद्वीप के बाद क्षार समुद्र है, क्षार के बाद फिर प्लक्षद्वीप–भूमि है, उसके बाद फिर महान् (क्षार समुद्र से दुगुना बड़ा) इक्षुरस का समुद्र है, इक्षु–समुद्र के बाद कुशद्वीप है, कुशद्वीप के बाद सुरा का सागर है । इस तरह क्रम से सात समुद्र और सात द्वीपों के बाद अन्त में क्या होगा ? फिर उसके बाद क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया कितनी बड़ी और कैसी विचित्र वस्तुओंवाली होगी ? ॥७,८॥ यह सब देखने के लिए हम श्रीअग्निदेव की प्रार्थना करें, उनके वरदान से इन सब दिशाओं को बिना परिश्रम के अन्त तक देखें । चार सागरों के तटों पर बैठे हुए उन सबने यह विचार कर एक ही साथ भगवान् का आह्वान किया ॥९,१०॥ इसके अनन्तर भगवान् अग्नि उनके सन्मुख आकार धारण कर दृश्यमान हुए और उन्होंने उनसे कहा : 'हे पुत्रो, वर माँगो' ॥११॥ विपश्चितों ने कहा : हे देवाधिदेव, पंचभूतरूप इस दृश्य का अन्त–जहाँ तक इस शरीर से जाना संभव हो इस शरीर से, इस शरीर से अगम्य स्थान में वैदिक मन्त्रों के प्रभाव से संस्कृत इसी शरीर से, उससे अगम्य स्थान में मन से प्रत्यक्ष के योग्य सब पदार्थ, अनुमानगम्य सबपदार्थ तथा श्रुति आदि गम्य सकल पदार्थ (या सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच, सकल सूक्ष्म प्रपंच और सकल कारण प्रपंच) । जैसे हम देखें, हे नाथ, वैसा उत्तम वरदान हमें दीजिये ॥१२,१३॥ हे प्रभो, योगप्रभाव से गम्य मार्गतक के दृश्य को हम इस देह से देखें इसके पश्चात् योगियों द्वारा योगप्रभाव से अगम्य दृश्य को मन से ही देखें ॥१४॥ योगियों के योगप्रभाव से गम्य मार्ग में चल रहे हम लोगों की मृत्यु न हो, जिस मार्ग में देह का संभव नहीं यानी दक्षिणायन तथा उत्तरायण मार्गरूप मर कर ही जाये, जा सकने योग्य पथ में हमारा मन ही गमन करे ॥१५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वर माँगने के पश्चात् बड़वानलरूप से समुद्र में प्रवेश करने के लिए त्वरा कर रहे अग्निदेव 'ऐसा ही हो' कहकर क्षणभर में सहसा चले गये ॥१६॥ इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये, तदनन्तर रात्रि आई वह भी कुछ देर ठहरकर चली गई, तदुपरान्त सूर्य भगवान् आये और उनकी विशाल सागर को लाँघने की इच्छा भी आई ॥१७॥

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बाईसवाँ सर्ग

सागर के तरंगों में पैरों से चल रहे विपश्चित् तरंगरूपी मगरों को चीरकर समुद्र पार गये, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, तदुपरान्त प्रातःकाल मन्त्रियों के न चाहने पर भी जबरदस्ती नीतिशास्त्र के अनुसार पृथिवी के राज्यविभाग, राज्य–परिपालन के उपायों का उपदेश, मर्यादास्थापन

आदि की भलीभाँति व्यवस्था कर दिगन्त के दर्शन की उत्कट उत्कण्ठा से ग्रह, भूत आदि के आवेश से युक्त तथा साक्षात् निषेध न कर सक रहे श्रेष्ठ मन्त्रियों द्वारा इशारे से रोके जा रहे वे चारों विपश्चित् रो रहे अतएव अश्रुपूर्ण मुखों से युक्त सब परिजनों को निवृत्तकर, स्नेहशून्य होने के कारण अभिमान, डाह, लाभ, शत्रुओं के पराभव की इच्छा, राज्य, स्त्री, पुत्र आदि की इच्छा का त्यागकर हम लोग समुद्रपार में दिगन्त को देखकर शीघ्र ही आते हैं यों परिजनों की तसल्ली के लिए कहते हुए गये। अग्निदेव की प्रसन्नता से प्राप्त मन्त्र की सामर्थ्य से ही भूमि, जल आदि भूतों पर विजय पाने से उत्तमता को (सिद्धता को) प्राप्त हुए उन्होंने उस समय पैरों से ही समुद्र में प्रवेश किया ॥१-३॥ वे चारों विपश्चित् स्नेह की अधिकता से प्रत्येक दिशा में समुद्र में प्रवेश कर रहे बहुत से प्रजाजनों (पालनीय लोगों) तथा सेवकों से अनुगम्यमान होते हुए स्थल के समान जल में भी पैरों से ही गये ॥४॥ भूमितल के समान जल के अन्दर तरंगराशियों में भी पैर रखकर अकेले ही उद्यत हुए वे चारों विपश्चित अपनी सेना से अत्यन्त वियुक्त हो गये ॥५॥ चरणों के विन्यास से ही महासागर के अन्दर प्रविष्ट हुए उन्हें तट पर खड़े हुए लोगों ने तब तक देखा जब तक कि वे शरत्काल के आकाश में प्रविष्ट हुए मेघखण्ड के समान अदृश्यता को प्राप्त हुए ॥६॥ दृढ़निश्चय से पादगामी उन सभी ने उस समुद्र मार्ग को ऐसे पार किया जैसे हाथीवान से प्रेरित हाथी ॥७॥ पर्वत के सदृश उतार और चढ़ाव से ऊँची और जलतरंगों की शोभा को स्वयं भी उसका ग्रहण करने से, हर रहे अतएव भगवान् श्रीहरि की मूर्ति के तुल्य (📖) मूर्तिवाले उन्होंने मस्त मेघ-घटा में प्रविष्ट हुए चन्द्रमा के समान अपने प्रवेश से शोभायुक्त हुए आवर्तों में (जलभँवरों में) किसी प्रकार के भय-विस्मय के बिना चिरकाल तक तृणों के समान भ्रमण किया ॥८,९॥ वे मन्त्र, विद्या, बल और तेजस्विता से दुर्जय थे तथा हाथ में शस्त्र लिए हुए थे, अतएव कहीं पर मस्त मगरों ने पहले उनके शरीरों को निगला फिर पचाने की शक्ति न होने से उगल दिया ॥१०॥ जलतरंगों में विश्राम ले रहे वायुओं से गेंद की तरह उछाले गये शरीरवाले वे एक ही क्षण में सौ-सौ योजन पहले पहुँचाये गये फिर वापस लाये गये ॥११॥ जलतरंगरूपी हाथियों द्वारा की गई अपूर्व चमत्कार कारिणी तुंगदेहता (उन्नतशरीरता) से वे अपने राज्य में हाथियों की पीठ की सवारी की शोभा धारण कर रहे थे ॥१२॥ बड़ी विस्तृत तरंगराशिरूपी घटाओं को तोड़ने और उलटने में पटुताओं से, वायुओं से उद्दीपित बिजलियों की तरह जलरूपी मेघ से (निकलना) दिखला दिया ॥१३॥ यद्यपि वे तैर रहे चंचल गजों की तरह तरंगराशियों से विघटित (धक्का-मुक्की से पीड़ित) हुए थे तथापि उन्होंने तीरभूमि के प्रसिद्ध सुन्दर पथरीले तटों के समान अपना धैर्य नहीं खोया ॥१४॥ बड़ी-बड़ी लहरों में मोतियों और मणियों की राशियों में प्रतिबिम्बित हुए वे एकाकी होने पर भी चारों ओर पुरुषों के समूह से परिवृत जैसे मालुम होते थे ॥१५॥ शीघ्रता से सफेद फेन

(📖) हरिमूर्ति ने भी मन्दराचल से मन्थन काल में जलतरंगों के आरोह और अवरोह से उन्नत-अवनत लक्ष्मी को हरा ऐसी प्रसिद्धि है।

के पिण्डों पर पैर रख रहे उन्होंने सफेद कमलों पर चढ़े हुए राजहंसों की शोभा धारण की ॥१६॥ मेघ के गर्जन की ध्वनि के सदृश भयंकर सागर के घुम–घुम शब्द से, जो कि तटभूमि में टकराने से और तेज हुआ था, वे राजा होने के कारण (卐) बिलकुल नहीं डरे ॥१७॥ आकाश को छूनेवाले जलमय पर्वतराजों के उछलने और गिरने से धक्कामुक्की में पड़े हुए वे क्षणभर में पाताल पहुँचते थे और क्षणभर में सूर्यमण्डल में पहुँच जाते थे ॥१८॥ अचानक ऊपर गिरे हुए जलप्रवाहरूपी वस्त्र से ढके हुए वे उत्पातों की प्राप्ति होने पर गिर रहे मेघरूपी चँदवे से ढके हुए से मालूम पड़ते थे ॥१९॥ विशाल मेघों से प्रकट और अप्रकट किरणराशिवाली घूम रही मणियों और मोतियों की राशियों से तथा बीच में जलमय वृक्षलतातुल्य तरंगों के जलकणों से फूलों की तरह अपने शरीर को विभूषित कर रहे, बड़े–बड़े बली मगर और केकड़ों से व्याप्त तरंगों में चारों ओर से घिरे हुए तथा मगर ही हैं सहचर (मित्र) जिनके ऐसे वे विपश्चित् समुद्र में पैरों से चले ॥२०॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेईसवाँ सर्ग

द्वीप और समुद्र में गये हुए विपश्चितों की पश्चिम की ओर गये हुए क्रम से विविध दशाओं का वर्णन।

इस रीति से समुद्र और द्वीपों में जानेवाले वे चार विपश्चित् पैदल दृश्यरूप अविद्या के अन्त के विचार में प्रवृत्त हुए ॥१॥ शरीर के छेद–भेद से रहित विपश्चितों ने समुद्र से द्वीप को, द्वीप से समुद्र को इस प्रकार द्वीप, पर्वत और वन को शीघ्रता से लाँघा ॥२॥ उन चार विपश्चितों में से पश्चिम दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित् को अपने को अमर समझने वाली विष्णुमीन कुल में उत्पन्न मछली निगल गई, जिसका वेग अत्यन्त शीघ्र बहनेवाली व्यास नदी की नौका के सदृश अत्यन्त तीखा था ॥३॥ उसे पचाना सरल न था, अतएव उस मछली ने क्षीरसागर में पहुँचर उसे उगल दिया। तदनन्तर क्षीरसागर को लाँघकर वह दूर दिगन्तर को गया ॥४॥ दक्षिण दिगन्त को देखने के लिये प्रवृत्त विपश्चित् को इक्षुरस सागर में स्थित दक्ष नगर में वशीकरणविद्या की शिक्षा में निपुण यक्षिणी ने देखकर अपने विद्याबल से अपनी ओर आकृष्ट कर अपना प्रेमी बना लिया ॥५॥ पूर्व दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित् ने गंगा के हजार मुहानों को एक–एक करके देखते हुए जब कहीं पर मगर को, जो उसे निगलना चाहता था, खींचकर उसके उद्धार के लिए उसे गंगा में ले जाकर चीर डाला, तब गंगाजी ने उसे पीछे वापस लाकर कान्यकुब्ज नगर (कन्नौज) में छोड़ दिया ॥६॥ उत्तर दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित् ने उत्तर कुरुदेश में श्रीदेवीजी के साथ लीला कर रहे भगवान् की आराधना कर अणिमा, महिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त किया। अतएव उक्त विपश्चित् को ऐश्वर्य के प्रताप से दिगन्त

(卐) भूभृत् शब्द श्लिष्ट है इसके राजा और पर्वत दो अर्थ हैं, पर्वत समुद्र की तरंगों से भयभीत नहीं होता भूभृत् होने से वे भी नहीं हुए।

में व्याप्त मरणप्रयुक्तभय दुःख नहीं देते अर्थात् वह अमर हो गया ॥७॥ उक्त अणिमा आदि ऐश्वर्य के प्रताप से ही मगर और जलगजों द्वारा पहले निगली फिर उगली गई मूर्तिवाला वह अनेकानेक द्वीप-द्वीपान्तर के कुलशैलों को लाँघ गया ॥८॥

फिर पश्चिम दिगन्त की ओर प्रवृत्त विपश्चित् के वृत्तान्त का वर्णन करते हैं।

पश्चिम की ओर चले विपश्चित् को, जिसकी अंगशोभा कुशकी-सी थी, पक्षिराज गरुड़ ने अपनी पीठ पर बैठाकर वेग से कुशद्वीप और अनेक सागरों को पार कर दिया ॥९॥

फिर पूर्व विपश्चित् का समाचार कहते हैं।

क्रौंचद्वीप पर्वत पर वन में राक्षस पूर्व विपश्चित् को निगल गया। तदनन्तर उस राक्षस को विपश्चित् ने आँतड़ियों के छेदने द्वारा चीर डाला ॥१०॥

फिर दक्षिण विपश्चित् का वृत्तान्त कहते हैं।

शाकद्वीप में दक्षिण की ओर चला हुआ विपश्चित् दक्ष के शाप से एक क्षण में यक्ष बन गया एक वर्ष तक यक्ष बने रहने के बाद उसकी मुक्ति हुई ॥११॥

फिर उत्तर की ओर चले विपश्चित् का वृत्त कहते हैं।

उत्तर विपश्चित् वेग से बड़े-बड़े और छोटे-मोटे नदी-नाले तथा समुद्र पार कर स्वादिष्ट जलवाले महासागर के आगे प्रसिद्ध सुवर्णभूमि में सिद्ध के शापसे शिला बन गया ॥१२॥ तदुपरान्त एक सौ वर्ष बाद अग्निदेव के अनुग्रह से वहाँ उसी सिद्ध ने उसे शाप से मुक्त कर दिया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥१३॥

फिर पूर्व विपश्चित् का वृत्तान्त कहते हैं।

परम धर्मात्मा पूर्व विपश्चित् कान्यकुब्ज देश से उत्तर की ओर गया। वहाँ आठ वर्ष तक प्रधानरूप से नारियलों की उत्पत्तिवाले देश में रहनेवाले लोगों का राजा बन गया। तदुपरान्त उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो गया ॥१४॥ नारियल के फलों पर निर्वाह करनेवाला वह मेरुपर्वत के उत्तर तरफ स्थित कल्पवृक्ष वन में दश वर्ष तक अप्सरा के साथ रहा ॥१५॥ पश्चिम विपश्चित् पक्षियों की वशीकरण विद्या में पारंगत था, अतएव पहले उसे गरुड़ ने पीठ पर बैठाकर समुद्र पार किया था। वह शाल्मली द्वीप के शाल्मली पेड़ पर पक्षी के घोंसले में उसके साथ क्रीडावश दस वर्ष तक रहा ॥१६॥ कोमल लताओं से भरे हुए मन्दराचल पर, मन्दार वृक्षों के निकुंजरूप गृहों में मन्दरी नाम की किन्नरी ने उस पश्चिम विपश्चित् का एक दिन तक सेवन किया ॥१७॥ इसके उपरान्त पूर्व विपश्चित् नारियल के वन से क्षीरसागर के तट पर गया। वहाँ की कल्पवृक्ष के वनों की पंक्तियों में नन्दनवन की देवियों-अप्सराओं के साथ कामाकुल इसने सत्तर वर्ष बिताये ॥१८॥

एक सौ तेईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौबीसवाँ सर्ग

एक जीव का देहभेदों से विभिन्न व्यवहार का समर्थनपूर्वक
द्वीपों में विभिन्न शैलों में विपश्चितों के विहार का वर्णन।

चारों विपश्चितों की एक ही देह थी और एक ही जीव था। ऐसी अवस्था में उनमें भिन्न-भिन्न इच्छाएँ कैसे हुई ? श्रीरामचन्द्रजी ऐसी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर एक साक्षिचैतन्यमय तथा एक ही शरीर के चार विभाग होने से एक शरीरवाले वे सब विपश्चित, जिनका एक ही जीव था, जीवभेद के बिना एक ही समय विविध इच्छावाले कैसे हो गये ? ॥१॥

एक जीव की भी अविद्यावश स्वप्न में नाना शरीर कल्पना देखी जाती है और उनमें शत्रुता, मित्रता और उदासीनता की कल्पना होने पर विभिन्न इच्छाएँ दिखाई देती हैं तथा सर्ग के आदि में ब्रह्मरूप जीव में जाग्रत अवस्था में भी नाना शरीर कल्पनारूप कर्म ही है, अतः सब कुछ सम्भव है इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे स्वप्नावस्था में चित्त अपने में ही गिरि, समुद्र, नदी आदि के रूप से नाना-सा होता है वैसे ही केवल साक्षिचैतन्य घनाकाश सर्वव्यापी अनाना (अखण्ड) ब्रह्म ही मायावश नाना-सा (भिन्न-सा) बन गया है। जैसे अतिस्वच्छ दर्पण के उदराकाश में गिरि, नदी आदि के साथ महाकाश प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही संवित्मय आकाश के (साक्षिचैतन्य के) दर्पण के समान अतिस्वच्छ होने के कारण, नानात्मता को जैसा प्राप्त हुआ आत्मा स्वयं ही अपने में प्रतिबिम्बित होता है। उस प्रकार अतिस्वच्छ संवित्मयआकाश के जगदाकार होने में दर्पण की-सी अतिनिर्मल स्वच्छता ही कारण है ॥२,३॥

जगत् भी वस्तुतः चित् ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में चित् का ही चित् में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेगा ऐसी यदि कोई शंका करे तो उस पर दृष्टान्त सुनो, ऐसा कहते हैं।

जैसे एकमात्र लोहे के बने हुए दर्पणों का आपस में एक दूसरे पर प्रतिबिम्बि पड़ता है वैसे ही परमार्थतः चिद्रूप भी ये पदार्थ आपस में प्रतिबिम्बित होते हैं। मायारूप उपाधि की शक्ति अचिन्तनीय (विचारसीमा के परे) है, अतः गन्धर्वनगर, स्फटिक की दीवाररूप आकाश में चन्द्रमा, सूर्य और मेघ सहित महाकाश का भी प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, यह भाव है ॥४॥

अतएव अध्यस्त भोग्य जगदाकार ब्रह्म विषय और इन्द्रियों का संयोग होने पर बुद्धि अवच्छिन्न जीव के प्रति अप्रिय विषय भोग के आकार से प्रतिबिम्बित होता है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए जब जिसकी जो-जो भोग्य वस्तु, एकमात्र चिद्घनस्वभाव होने से, इन्द्रियसन्निकर्ष को प्राप्त होती है-बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है- उस वस्तु से वह उसके भोग के लिए समर्थ होता है। यदि भोग्यवस्तु बुद्धि में प्रतिबिम्बित न हो तो भान ही न हो, यह भाव है ॥५॥

एक ही वस्तु नाना और अनाना दोनों हो यह विरुद्ध है, माया द्वारा भी वह नाना और अनाना कैसे होगी ? इस पर युक्ति कहनी चाहिये, ऐसा कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

यदि नानात्वमात्र का निषेध किया जाय तो यह अनाना (नियत एकरूप) ही है। यदि नानारूप का निषेध न किया जाय तो नाना भी है और अनाना भी है। वास्तव में तो न नाना है और अनानात्व धर्म का भी निषेध होने के कारण न अनाना ही है। तथा अनानात्व धर्म का निषेध होने से नाना भी हो सकता है। यही नाना और अनाना के अविरोध में युक्ति है ॥६॥

इसी कारण विपश्चितों के नाना दिशाओं में भोगयोग्य पदार्थों के एक ही समय भोग देनेवाले कर्म का परिपाक होने पर एक ही देह चार प्रकार की हो गई तथा तत्-तत् देश के विषयों का तत्-तत् बुद्धि में प्रतिबिम्ब भी पड़ गया, इस आशय से कहते हैं।

इस कारण जिस विपश्चित् के सामने जो वस्तु आई उससे वह संवित्मयता को प्राप्त होकर उसके वश में हो गया ॥७॥

जब अगस्त्य आदि योगियों का भी, जो मलय आदि नियत प्रदेश में नित्य रहते हैं, नाना देशों में अतीत, अनागत आदि कालों में योगबल से संन्निधान द्वारा सब वस्तुओं का अनुभव करना प्रसिद्ध है तब भिन्न देशों के प्रति चले हुए विपश्चितों का वह हुआ इसमें क्या आश्चर्य है ? इस आशय से कहते हैं।

एक देश में स्थित योगी तीनों कालों में सर्वत्र होकर एक ही समय में सब काम करते हैं, सबका अनुभव भी करते हैं ॥८॥

विभिन्न-विभिन्न प्रदेशों में एक ही समय में एक की भिन्न क्रियाकारिता में तत्-तत् देशों में व्याप्ति ही उपयोगी है, जीवभेद का कोई उपयोग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे धूप से पीड़ित लोगों को सुख पहुँचानेवाला मेघ भी महान् होने के कारण ही नाना नगर, पर्वत, नदी, खेत आदि में व्याप्त होकर एक ही काल में महलों को धोना, तटों को तोड़ना, नदी का जल बढ़ाना, धानों को पुष्ट करना आदि विभिन्न व्यापार तत्-तत् भाग से करता है। तद्अभिमानी जीव (मेघका अधिष्ठाता जीव) भी मैंने ये क्रियाएँ की ऐसा अनुभव करता है वैसी ही यहाँ पर भी उपपत्ति समझनी चाहिये यह भाव है ॥९॥ अणिमा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति से ईश्वरतुल्य हुए योगी एक ही समय में असंख्य कर्मपूर्ण जगतों का निर्माण करते हैं और उनका अनुभव भी करते हैं ॥१०॥

एक ही विष्णु भगवान् अपनी चार भुजाओं से अथवा अपने विभिन्न शरीरों से कहीं पर योगनिद्रा, कहीं पर तपस्या, कहीं पर इन्द्र के अनुज होने से उनकी सहायता, कहीं पर (वैकुण्ठ) विविध भोग-यों विविध क्रियाएँ करते हुए जगत् की रक्षा करते हैं, वारांगनाओं का उपभोग करते हैं एवं उनका अनुभव भी करते हैं ॥११॥ अनेक भुजाओंवाला पुरुष दो हाथों से जब दो वस्तुओं का ग्रहण करता है, तब फिर अवशिष्ट अनेक बाहुओं से उसे सदा संग्राम करना पड़ता है। दसों दिशाओं में स्थित वे विपश्चित् यद्यपि एक साक्षिचैतन्यवाले थे, फिर भी उन्होंने वैसे ही व्यवहार किया और सुख, दुःख आदि प्राप्त किया। उन्होंने भूमिशय्याओं में शयन किया, विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों में सुख-दुःख का उपभोग किया, वनश्रेणियों में विहार किया और मरुभूमि में भ्रमण किया। पर्वतपंक्तियों में निवास किया, सागरों के गर्भ में भ्रमण किया, विविध द्वीपों में विश्राम लिया और मेघमाला से भरे हुए पर्वतशृंगारों पर छिपकर रहे व सागर पंक्तियों में आविर्भूत हुए एवं उन्होंने आँधियों में, सागर की तरंगों में, पर्वत और

समुद्रों के तटों में तथा नगरियों में क्रीड़ा की। पूर्व दिशा को प्रस्थित विपश्चित् शाकद्वीप में प्रख्यात उदयपर्वत के तटपर दलरहित स्नुहीवृक्ष के वन के अन्दर यक्ष द्वारा मोहिनी विद्या से मोहित होकर सात वर्ष तक सोया रहा। पूर्व विपश्चित् ही इस पर्वत पर कहीं पत्थर बना देनेवाला जल पीकर जबर्दस्ती पत्थर बनकर भूमि के अन्दर सात वर्ष तक रहा। पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थित विपश्चित् शाकद्वीप में अस्ताचल पर्वत के शिखर पर मेघपूर्ण गुहारूपी गृह में पिशाचरूपी अप्सरा ने एक महीने तक अपना कामुक बना डाला। पूर्व विपश्चित् शान्तमय नाम के वर्ष (सप्त द्वीप) में जलधार नाम के महापर्वत पर किसी मुनि के शाप से हरीतकी के वन में हरीतकी वृक्षता को प्राप्त होकर लोगों की दृष्टि में अदृश्य बनकर रहा। शिशिर नाम के वर्ष में रैवत नामक पर्वत पर पूर्व विपश्चित् यक्ष के वश में पड़कर दस रात्रियों तक सिंह हुआ। यहाँ पर पिशाचों की माया से छलित होकर सुवर्णपर्वत (सुमेरु) आदि की गुफाओं में मेढ़क बना हुआ वह दस वर्ष तक रहा। उत्तर की ओर प्रस्थित हुआ विपश्चित् कौमार वर्ष में पहुँचकर शाकद्वीप में नीलगिरि के तट पर अन्धे कूप में अन्धा मेढक बनकर सौ वर्ष तक रहा। पश्चिम की ओर चले हुए विपश्चित् ने मरीबक वर्ष में विद्याधरता प्राप्त करानेवाली विद्या से चौदह वर्ष तक विद्याधरता प्राप्त की ॥१२–२३॥

जिस वस्तु का अवलम्बन कर उसने विद्याधरता प्राप्त की, उसे कहते हैं।

सुरत में होनेवाले परिश्रम से श्रान्त भगवान् शिवजी की अत्यधिक शोभा से चंचल अंगों के–क्रम से उत्पन्न हुए–स्वेदबिन्दुओं से संमिश्रित तथा इलायची की लताओं के आलिंगनों से सुगन्धित तटवन की वायु का अवलम्बन कर उक्त विपश्चित् ने विद्याधरता सम्पादित की ॥२४॥

एक सौ चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचीसवाँ सर्ग

इस विपत्ति में विपश्चितों का आपस में एक दूसरे का उपकार करना तथा
जीवन्मुक्तों की सर्वत्र अर्थक्रिया का वर्णन।

विभिन्न दिशाओं में भ्रमण कर रहे विपश्चितों की आपस में एक दुसरे की खोज और विपत्तियों में परस्पर सहायता करता है या नहीं इस प्रकार की श्रीरामचन्द्रजी की आशंका को इंगित से ताड़कर उसका निराकरण करने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी पहले पूर्व विपश्चित् की शान्तमय वर्ष में हरीतकी वृक्षतारूप आपत्ति में पश्चिम विपश्चित् द्वारा अनुग्रह किया गया, यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : शान्तमय नाम से प्रसिद्ध वर्ष में जलधारावाले पर्वतपर हरीतकी के वन में हरीतकी–वृक्ष बने हुए कैंचीरूप यन्त्र के सदृश भूमि के अन्दर के पाषाण सम्बन्धी जल को जड़ों से पीते हुए पूर्व विपश्चित् को पश्चिमी विपश्चित् ने उसके वृतान्त को जानकर, वहाँ आकर, शाप देनेवाले मुनि को प्रसन्न कर उससे दी गई विद्यारूपी आरी से वृक्षता का मानों छेदन कर सत्तर वर्षों में वृक्षता से मुक्त किया। पश्चिम दिशा को प्रस्थित विपश्चित् को, जो शिशिर वर्ष में पिशाचपति के शाप से पाषाणता को प्राप्त हुआ था, दक्षिण दिशा को प्रस्थित हुए विपश्चित् ने वहाँ पहुँचकर गोमांस आदि के प्रयोग से पिशाचपति को प्रसन्न कर शीघ्र मुक्त किया। अस्ताचल पर्वत के परले पार स्थित शिवनामक वर्ष में

गोरूप पिशाची द्वारा वृषभरूप पिशाच बनाये गये पश्चिम विपश्चित् को दक्षिण विपश्चित ने वहाँ पहुँचकर मुक्त किया। यहीं पर (शाकद्वीप में) क्षेम वर्ष में आम्बिकेय पर्वत पर दक्षिण विपश्चित् यक्षता-को प्राप्त हुआ पश्चिम विपश्चित् से प्रसादित यक्षपति ने उसे मुक्त किया। शाकद्वीप में ही वृषक वर्ष में केसर नामक पर्वत पर पूर्व विपश्चित् सिंहता को प्राप्त हुआ, पश्चिम् विपश्चित् ने आकर उसे छुड़ाया।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, एक देश में स्थित योगी तीनों कालों में चारों ओर व्याप्त होकर सब कर्म (अनुग्रह, निग्रह आदि) कैसे करते हैं, इसमें कृपया उपपत्ति आपको कहनी चाहिये ॥१-७॥

योगियों की दृष्टि से सारा प्रपंच मनोमात्र है और मानस कर्मों में मन का सर्वत्र एक साथ व्यवहार होने में कभी निरंकुश स्वातन्त्र्य की हानि नहीं देखी जाती अतः सब क्रियाओं की उपपत्ति है इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत् में अज्ञानियों की दृष्टि में जो भूत, भौतिकादि स्थूल वस्तु है उससे हम ज्ञानियों का कोई वास्ता नहीं है। हम उसकी उपपत्ति की चिन्ता क्यों करें ? ज्ञानियों की दृष्टि से जो मनोमात्र वस्तु है, वह सर्वत्र अर्थक्रियाकारी जैसे हो सकती है वैसा कहता हूँ, सुनो ॥८॥

चिन्मात्र ही वस्तु, इस मुख्य पक्ष में सर्वेश्वर की ही सर्वत्र सर्वार्थक्रियोपपत्ति है, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञों की दृष्टि से चिन्मात्रसत्तासामान्य के बिना दूसरा जगद्रूप निःस्वरूप है। दृश्य के अत्यन्त अभाव का ज्ञान होने पर सृष्टि और प्रलय की दृष्टि का क्षय होने के पश्चात चिन्मात्रसत्तासामान्य में निरन्तर विश्रान्त हुए सर्वेश्वर की यहाँ पर सदा सर्वता सर्वात्मता ही है। भला बतलाइये तो उसका कौन कैसे कहाँ पर क्योंकर निरोध कर सकता है ? सर्वगामी और सर्वात्मा का जब जहाँ पर जैसे भान होता है तब वहाँ पर वैसा भान होता है। सर्वात्मा में क्या वस्तु नहीं है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत्, का त्याग न कर रहे सत्तासामान्यस्वरूप सर्वात्मा में सदा स्थित ही हैं, ऐसा आप जानें। माया से उल्लास को प्राप्त हुआ प्रपंच न तो उत्पन्न हुआ और न विनष्ट हुआ, विज्ञानघन ही ज्यों-का-त्यों स्थित है। इसलिए ये तीनों जगत् विज्ञानघनरूप ही हैं। आकाशता का त्याग न करता हुआ (अपनी सत्ता से उसपर अनुग्रह करता हुआ) सर्वात्मा ही आकाशरूप से स्थित है। भाव यह कि अविकृत सच्चिदात्मा की ही आकाश आदिरूप से स्थिति है ॥९-१५॥

मायाशबल ही जगदात्मक है, वही द्रष्टा और दृश्य के रूप से जगद्रूप में उदित हुआ है। जो वस्तु विश्वात्मा का (मायाशबल का) दृढ़मात्ररूपशरीरवाली है उसका किससे, कैसे कब क्या होगा ? शुद्ध में परिणाम, विवर्त आदि नहीं हो सकते, यह भाव है।

हे तत्त्वज्ञानी, साध्य और असाध्यरूपी मायाशबल की कौन वस्तु दुःसाध्य है जरा बतलाइये तो ? कुछ भी दुःसाध्य नहीं है, इसलिए सदा सब जगह सर्वार्थक्रिया की उपपत्ति है, यह भाव है। इसलिए सदा एकरूप इस विपश्चित्-राजासंवित् को, जो प्रबोध की ओर अग्रसर है और परमपद को प्राप्त नहीं हुई तथा एक होती हुई भी अनेकरूप है, सब जगह सब कुछ सम्भव है ॥१६-१८॥ बोध और अबोधरूप शबल परमात्मा में क्या असाध्य है। परमबोध को प्राप्त न हुई संवित् की पदार्थ-आकुलता उचित है ॥१९॥

योगियों को ऐच्छिक अर्थक्रियासामर्थ्यरूप सिद्धि होने पर भी उपपत्ति कहते हैं।

किंचित् बोध को प्राप्त हुई संवित् की वह सिद्धता भी उचित ही है। कारण कि जैसे–जैसे बोध में उत्कर्ष होता है वैसे–वैसे अकामहतत्त्वप्रयुक्त आनन्द के उत्कर्ष से होने वाले ऐश्वर्यप्रकर्षक्रम की भी उपपत्ति होती है, यह भाव है। इस तरह सम्पूर्ण दिशाओं में स्थित वे (विपश्चित्) आपस में सब कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं और शीघ्र विपत्तिरूपी रोग की चिकित्सा करते हैं ॥२०॥

प्रबुद्ध लोगों के प्रति सब वस्तुएँ मनोमात्र ही हैं, इस पक्ष में तो सब जगह सर्वार्थ–क्रिया मनोराज्य की भाँति अत्यन्त उपपन्न है, इस आशय से कहते हैं।

बोधाकाश (चिदाकाश) जब अपने स्वरूप से थोड़ा च्युत–सा होता है तब शीघ्र ही मनोभावलक्षण किंचित् च्युतिरूप देश से ज्यों–का–त्यों सुस्थित होता हुआ भी अन्यता को (जगद्रूपता को) ग्रहण करता है ॥२१॥

विपश्चितों के प्रसंग में योगियों और ज्ञानियों की एक साथ सर्वार्थक्रियोपपत्ति का वर्णन होने पर विपश्चित् भी ज्ञानी थे, यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, यदि विपश्चित् ज्ञानी थे, तो वे दिशाओं में सिंह, बैल आदि कैसे बने, कृपया मेरे बोध के लिए यह शीघ्र कहिये। भाव यह है कि ज्ञानी जन सर्वार्थक्रिया में स्वतन्त्र होते हैं, अतः विपश्चितों को परतन्त्रतावश होने वाले सिंह, बैल आदि के शरीररूप संकट प्राप्त नहीं हो सकते, अतः उन लोगों ने परस्पर एक दूसरे पर अनुग्रह किया, यह कथन असंगत है ॥२२॥

श्रीरामजी, आपने मुझसे पूछा कि योगी व्याप्त होकर कैसे विविध काम करते हैं ? मैंने यहाँपर प्रबुद्ध योगियों का वर्णन किया है, विपश्चित् तो प्रबुद्ध योगी नहीं थे, यों वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामजी, मैंने आपके प्रश्न के समाधान के लिये विपश्चितों के सिलसिले में जिन योगियों का वर्णन आपसे किया है, वे प्रबुद्ध थे, किन्तु विपश्चित् प्रबुद्ध नहीं थे ॥२३॥ हे महाबाहो, वे विपश्चित् अत्यन्त प्रबुद्ध न थे, वे बोध और अबोध के बीच में दोलायमान–से स्थित थे। अर्धप्रबुद्ध उनमें मोह के चिह्न भी और चारों ओर बन्धन के चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। पूर्वोक्त दोलायित धारणा से विपश्चित् परम ब्रह्म को प्राप्त योगी न थे, किन्तु अग्नि की प्रसन्नता से सिद्धि प्राप्त होने के कारण धारणायोगी थे, जिनमें अविद्या का विनाश हो गया, ऐसे ज्ञानयोगी न थे ॥२४–२६॥ हे कमलनेत्र श्रीरामजी, जो परम ज्ञान को प्राप्त हो चुके और जिनमें अविद्या का नाम–निशान नहीं है ऐसे ज्ञानयोगी वे विपश्चित् होते तो वे अविद्या को क्यों देखते ? अविद्या दर्शन की इच्छा ही इनके अविद्या के अनुच्छेद में हेतु है। धारणा के पुष्ट होनेपर अग्निदेव के प्रसाद से जन्य वर से प्राप्त सिद्धिवाले वे विपश्चित् धारणायोगी थे। उनमें अविद्या विद्यमान थी, अतएव वे आत्मविचार विहीन थे ॥२७,२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, और भी सुनिये, जीवन्मुक्तशरीरवाले ज्ञानयोगियों को व्युत्थानकाल में ही अन्य पदार्थ की प्रतीति होती है। भाव यह कि जीवन्मुक्तों को व्यवहार काल में ही देहादिभान होता है, समाधि में तो विदेह कैवल्यसमता ही रहती है, यह विपश्चितों से उनमें विलक्षणता है। मोक्ष भी चित्त का धर्म है, वह चित्त में ही रहता है, देह में नहीं रहता। जो बँधा रहता है, उसके बन्धन की निवृत्ति मोक्ष है। चित्त ही बद्ध रहता है आत्मा नहीं, अतः मोक्ष भी चित्त का ही धर्म है, अतः समाहितचित्त में ही वह मोक्ष रहता है

देहभावापन्न व्युत्थित पुरुष में मोक्ष नहीं रहता। जो देहधर्म है–देहाधीन व्यवहार है वह जीवन्मुक्त के भी शरीर से नहीं हटता, अतः अन्य पदार्थ की प्रतीति की उपपत्ति होती है। तब तो जीवन्मुक्त का चित्त भी देहभाव प्राप्त होने पर बन्धन को प्राप्त हो जायेगा ? नहीं सो बात नहीं है। निर्मुक्त चित्त (भलीभाँति मुक्त हुआ चित्त) फिर कभी भी बन्धन में नहीं पड़ता। वृक्ष से गिरे हुए फलको प्रयत्न से भी कौन बाँध सका ? जीवन्मुक्त पुरुषों का भी शरीर धर्मों से अनुगत रहता है, किन्तु शरीरगत उनका चित्त अविचल रहता है उसमें देहधर्म व्याप्त नहीं होते। भाव यह कि मुक्त और अमुक्त पुरुषों में देह धर्मानुवृत्तिसमान है चित्त धर्मानुवृत्ति उनकी एक सी नहीं है ॥२९–३२॥

इसी कारण उन्हें अन्य लोग ये जीवन्मुक्त है यों नहीं पहिचान पाते हैं, किन्तु धारणा से सिद्ध हुए योगियों की तो उन्हें पहचान होती ही है यह जीवन्मुक्त ज्ञानियों और योगियों में दूसरी विलक्षणता है, ऐसा कहते हैं।

धारणा आदि वश प्राप्त योग की तरह मोक्ष अन्य पुरुषों द्वारा ज्ञातव्य नहीं है यानी जैसे अन्य लोग धारणावश प्राप्त योग को पहचान लेते हैं वैसे वे मोक्ष की पहचान नहीं कर सकते जैसे शहद आदि की मिठास से उत्पन्न सुख का वर्णन कोई नहीं कर सकता उसका सुख केवल आत्मसंवेद्य है वैसे ही मोक्ष भी केवल आत्मसंवेद्य ही है।

शंका : मन का धर्म मोक्ष आमसंवेद्य कैसे है ? समाधान–बन्ध के समान मनोगत मोक्ष की साक्षिरूप स्वानुभव से ही सिद्धि है ॥३३॥

यदि बन्ध और मोक्ष मन के धर्म हैं, तो 'आत्मा बद्ध है आत्मा मुक्त हुआ' यों शास्त्र में कैसे व्यवहार होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

स्वानुभवप्रदान करनेवाला आत्मा मन के धर्म सुख–दुःखों से युक्त होकर जीवरूप से बन्धन की अनुभूति करता है, वही उसकी (मन की) मुक्ति होने पर शास्त्र में मुक्त कहा गया है ॥३४॥

यदि यह बात है तो देह आदि भी मन के धर्म सुख–दुःखों से बद्ध और मुक्त माने जायेंगे ? इस आशंका पर कहते हैं।

जिसका अन्तरात्मा आह्लादयुक्त हो वही मुक्त कहा जाता है और जिसका अन्तरात्मा सन्तप्त हो वह बद्ध कहलाता है, अतः मनके धर्म सुख–दुःखवश देह के बन्धन और मोक्ष नहीं हैं। भाव यह कि आभ्यन्तर आनन्द और सन्ताप का आन्तर ही चिदात्मा में अध्यास अनुभवसिद्ध है, अतः उसी में उसे मानना उचित है, बाह्य देह आदि में उसे मानना ठीक नहीं है ॥३५॥

जैसे शरीर संयोगी मन में शरीर के धर्मों की प्राप्ति होती है वैसे ही मनोधर्म मोक्ष की भी शरीर में प्रतीतिप्रसक्ति हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

शरीर के टुकड़े–टुकड़े किये जायें अथवा उसे राज्यसिंहासन पर बैठाया जाय दोनों अवस्थाओं में रो रहे अथवा हँस रहे जीवन्मुक्त पुरुष के अन्दर न तो कुछ शरीरस्थित दुःख होता है और न सुख होता है ॥३६॥

यदि किसीको शंका हो कि काँटा चुभने से पैर में मुझे कष्ट है ओर देह में मेरे चन्दनलेप प्रयुक्त सुख है, यों लोग मन के धर्म सुख–दुःख आदि का देह में ग्रहण करते हैं। इसलिए मनोधर्मों का आत्मा में ही

अध्यास कैसे ? तो इस पर कहते हैं।

अवच्छेदकता सम्बन्ध से देह में सुख–दुःख आदि का अनुभव कर रहे मनुष्य को 'अहं सुखी अहं दुःखी' यों आत्मा में ही उसका पर्यवसान है, अतः आत्मा में ही यह सुख–दुःख आदि की कल्पना है, बाह्य देह आदि में नहीं है। इसीलिए आत्मा में अध्यास का अंगीकार न करनेवाले देहादि में आत्मा का अभिमान करने से रूपान्तर को प्राप्त हुए चार्वाक, नैयायिक, सांख्य, बौद्ध, कणाद आदि पण्डित मोक्ष के उपाय की प्राप्ति न होने से पराभूत दिखाई देते हैं अथवा जल्पकथा (शास्त्रार्थ) में वेदान्तियों द्वारा पराजित दिखाई देते हैं।

सुख–दुःख आदि रूप बन्ध का भले ही देह में भी कदाचित् अनुभव हो, किन्तु मोक्ष का तो देह में कदापि अनुभव नहीं होता। जीवन्मुक्त पुरुषों को समाधि में और देहभाव अवस्था में इस बात का स्पष्ट अनुभव तथा मन्द और मध्यम ज्ञानियों को भी व्युत्थान काल में देहभान होने पर उसका अनुभव होता है, इस आशय से कहते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुषों के देह आदि नित्य अशरीर आत्मस्वभाव से कदापि पृथक् नहीं है, जीवन्मुक्त महोदय मरकर भी नहीं मरता, रोता हुआ भी नहीं रोता और हँसता हुआ भी नहीं हँसता है।

भगवती श्रुति भी है – 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥' इसलिए वह मरणादि धर्मों से युक्त नहीं होता है। मानस धर्मों से भी उनका सम्बन्ध नहीं है, यह कहते हैं॥३७–३९॥

तत्त्वदर्शी लोग वीतराग होने पर भी अनुरक्त जैसे, कोपविहीन होने पर भी कोपयुक्त जैसे तथा मोहरहित होने पर भी मोहयुक्त जैसे दीखते हैं। यह सुख है यह दुःख है, ऐसी कल्पनाएँ तो उनसे इस प्रकार अत्यन्त दूर रहती हैं जैसे कि आकाश से अंकुर दूर रहते हैं अर्थात् जैसे आकाश में अंकुरों का संभव नहीं है वैसे ही उनमें सुख दुःख कल्पनाओं का संभव नहीं है। जगत् का स्वरूप और तन्मूलक अज्ञान जिसकी दृष्टि में है ही नहीं केवल एक आनन्द स्वरूप (सत्) ही जिसकी दृष्टि में सब कुछ है उस जीवन्मुक्त पुरुष को भी सुख दुःखादि होते हैं, यह कहना आकाश की भी शाखाएँ होती हैं यह कहने की तरह व्यर्थ है। 'सर्वत्र एकत्व की प्रतीतिवाले उस जीवन्मुक्त को शोक मोह कहाँ हो सकते हैं ? इस श्रुति वाक्य के अनुसार शोकमोह को जीतनेवाले अतएव शोकमोहविहीन ही जीवन्मुक्त शोक करते हैं। तत्त्वदर्शी लोग शिर आदि अंगों का छेदन होने पर भी अच्छिन्न हो अद्वितीय आत्मा में परायण देखे जाते हैं॥४०–४३॥ ऊँचे स्वर से सामगायन में तत्पर ब्रह्माजी के शिर को भगवान् शंकर ने अपने नख से कोमल कमल के समान काट डाला। समर्थ होने पर भी ब्रह्माजी ने उस सिर को (पंचम सिर को) फिर उत्पन्न नहीं किया। ब्रह्म तो आकाशसम है, अतः मिथ्यारूप पाँचवे सिर से उनको क्या प्रयोजन है॥४४,४५॥

तो उनका चार मुखों से वेदोपदेश करने का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

न तो उनका यहाँ कर्म से कोई प्रयोजन है और न अकर्म से कोई प्रयोजन है। जो वस्तु प्राणियों के कर्मवश जैसे सम्पन्न हो गई वह वैसे ही रहे अन्य से क्या प्रयोजन है ? देखिये न ईश्वर का भी प्राणियों के कर्मानुसार ही व्यवहार है, अपने लिए नहीं। भगवान् श्रीशंकरजी, अनुगृहीत कामदेव से हरिणाक्षी

देवी को अपने अर्धांग में ऐसे ही धारण करते हैं जैसे क्षीरसागर अपने अन्दर गुप्त चन्द्रमा की कला को धारण करता है, कामदेव का निग्रह होने से उपद्रवविहीन समाधि में प्रवृत्ति होने के कारण अपने शरीर में वैसे आनन्दाश्रु धारण करते हैं जैसे समुद्र अपने अन्दर चन्द्रकला को धारण करता है ॥४६,४७॥ उत्तम आशयवाले ये भगवान् शंकरजी समर्थ होते हुए भी रागिता का त्याग नहीं करते हैं, कामदहन के समय उनके नीरागता आदि गुण देखने में आये हैं ॥४८॥ न तो उनका कर्म से कोई प्रयोजन है और न अकर्म से ही कोई प्रयोजन है। उनका सकल भूतों में कोई भी प्रयोजन लाभ नहीं है ॥४९॥ उनकी यह रागिता ही रहे अथवा यह रागिता मत रहे। अरागिता से उनका कौन लाभ है या कौन क्षति है। जीवन्मुक्त भगवान् श्रीविष्णु असुरनिग्रह आदि काम स्वयं जोर शोर से करते हैं और इन्द्र आदि द्वारा कराते हैं। अवतार की समाप्ति होने पर मृत्यु स्वीकार करते हैं, मृत्यु स्वीकार के अनुकूल शरभ शिकारी आदि द्वारा मारे जाते हैं। समय-समय पर रामआदिरूप से उत्पन्न होते हैं और अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं। सर्वथा समर्थ होते हुए भी भगवान श्रीहरि प्राणियों के कर्मवश प्राप्त व्यवहार व्यग्रता का त्याग नहीं कर सकते। उनका प्राणिकर्मवश प्राप्त व्यवहार व्यग्रता के त्याग से न किसी प्रयोजन की सिद्धि है और न उसके ग्रहण से ही किसी प्रयोजन की सिद्धि है। वह यहाँ यथास्थित ही रहे, ज्यों-का-त्यों ही रहे। शुद्धचिन्मात्ररूपधारी इच्छारहित (निष्काम) हरि भगवान् वासनाविहीन ही रहते हैं ॥५०-५३॥

इच्छाविहीन सूर्य आदि भी प्राणियों के कर्मानुसार ही अपने-अपने अधिकार का पालन करते हैं, ऐसा कहते हैं।

भगवान् श्रीसूर्य जगत्रूपी घर के आकाशरूपी आँगन में काल की गेंद बनी हुई अपनी देह को नित्य निरन्तर घुमाते रहते हैं ॥५४॥ दिननायक सूर्य अपने शरीर को रोकने के लिए समर्थ नहीं हैं सो बात नहीं है। फिर भी निष्काम जीवन्मुक्त सूर्य पूर्व से बँधी हुई अपनी मर्यादा के अनुसार ही रहते हैं, सदा भ्रमण करते रहते हैं। चन्द्रमा कल्पान्त तक रहनेवाले राजयक्ष्मा का, जो कभी नष्ट नहीं होता, व्यर्थ ही अनुभव करता है जीवन्मुक्त होने के कारण बिना किसी दुःख-पीड़ा के जैसी मर्यादा बँध गई वैसे ही स्थित है, उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करता है। राजा मरुत्त के यज्ञ में लगातार बारह वर्ष तक हाथी की सूँड-सी मोटी निरन्तर गिर रही घी की धारा आदिरूप हविष के भक्षण से उत्पन्न हुए अजीर्ण से तथा स्वामी स्कन्द की उत्पत्ति के सिलसिले में भगवान् शंकर का भगवती पार्वतीजी के समागम के समय देवताओं द्वारा विघ्न करने पर अपने स्थान से विचलित हुए वीर्य को ब्रह्मा के कहने-सुनने से निगलने के कारण हुए अन्तर्दाह आदि से अग्नि खिन्नता को धारण करता है। पूर्व बँधी हुई स्थिति का (मर्यादा का) कदापि त्याग नहीं करता। देवगुरु और असुरगुरु, बृहस्पति तथा शुक्राचार्य यद्यपि जीवन्मुक्त हैं तथापि भाँति-भाँति की परस्पर विजयेच्छाओं से कृपण जैसे (अज्ञानी जैसे) रहते हैं। जीवन्मुक्त मुनि ऐसे राजा जनक जगत् में भीषण-भीषण युद्धों में अपने शरीर को क्षत-विक्षत करते हुए राज्य करते हैं। महाराज नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुष आदि यद्यपि जीवन्मुक्त थे, फिर भी उन्होंने आकुलित ऐसे हो चिरकाल तक राज्य किया। व्यवहार में जैसे ही अज्ञानी है, हूबहू वैसे ही ज्ञानी भी है। वासना और अवासना ही बन्धन और मोक्ष में कारण है। राजा बलि, प्रह्लाद, नमुचि, वृत्रासुर, अन्धकासुर, मुर

आदि जीवन्मुक्त थे, वीतराग थे फिर भी उन्होंने रागियों का–सा व्यवहार किया था ॥५५–६२॥

इससे जीवन्मुक्त लोगों में राग, द्वेष आदि के आभास का दर्शन होने पर भी मुक्ति के संदेह का खण्डन किया गया, यह दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

जीवन्मुक्त चिदाकाश के प्रति राग और द्वेष का क्षय या उदय होने पर सुचरित्रता सत्ता और दुश्चरित्रता का अभाव होनेपर आविर्भूत स्वरूपवाले मोक्ष में तनिक भी संशय नहीं है ॥६३॥

'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसी भेदबुद्धि रहने पर ही मुक्ति में संशय होगा, वही उनको नहीं है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्माकार के तुल्य शुद्ध चरम साक्षात्कार वृत्तिरूप ज्ञान से जो असंग, अद्वितीय पूर्ण ब्रह्मभाव से आकाश सदृश धर्मों को (देह, मन, प्राण आदि को धारण करनेवाले जीवों को) प्राप्त करते हैं उन जीवन्मुक्तों में भेदभ्रान्ति में हेतुभूत अज्ञान के नष्ट होने से फिर भेदबुद्धि कैसे हो सकती है ? ॥६४॥

तत्त्वसाक्षात्कार से जीवजगत भेद कैसे बाधित होता है, ऐसी यदि किसी को आशंका हो तो वह केवल भ्रान्ति से सिद्ध है इस आशय से उसकी अवास्तविकता को दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं।

जैसे शून्य (☙) इन्द्रधनुष नाना–सा प्रतीत होता है वैसे ही यह दृश्यरूप भ्रम आभासमात्र है, वास्तविक नहीं है ॥६५॥ जैसे निस्स्वरूप इन्द्रधनुष में भाँति–भाँति के रंग प्रतीत होते हैं वैसे ही आकाशरूपी आँगन में शून्यभूत ही ब्रह्माण्डरूपी परमाणु भासित होते हैं ॥६६॥ आकाश में शून्यत्व की तरह प्रकटता को प्राप्त हुआ, न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट हुआ यह असत् जगत् सत्–सा प्रतीत होता है। जगत् सादि और सान्त होने पर भी अनादि और अनन्त, अशून्य होने पर भी शून्य, उत्पन्न होने पर भी अनुत्पन्न और नष्ट होने पर भी अनष्ट ही है। नित्य, कूटस्थ, असंग, अद्वितीय वस्तु के जगत्रूप ग्रहण करने पर उसमें आदि–अन्त की (जन्मनाश आदि की) प्रसक्ति नहीं है, यह भाव है ॥६७,६८॥

जगत्भाव के समान जगत् के जन्मनिरोधभाव की भी ब्रह्म में कल्पना से ही उपपत्ति है, ऐसा यदि कहो तो इष्टापत्ति है, क्योंकि कल्पनामात्र से उसकी कूटस्थता की क्षति नहीं हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ है, यों ब्रह्माकाश ही प्रतीत होता है जैसे काष्ठमयस्तम्भ काष्ठ ही है और जैसे स्तम्भ के एक हिस्से में बनाई गई प्रतिमा भी काष्ठ ही है वैसे ही ब्रह्म में कल्पित यह ब्रह्म ही है। समस्त कल्पनाओं से रहित, निद्राशून्य, सम केवल आत्मरूप से अवस्थितिरूप जो चिदाकाश है, समाधिदृष्टि से तन्मात्र ही जगत् को जाने। यानी समाधिदृष्टि से कल्पनाविहीन जगत् ब्रह्म ही है यों अनुभव में बैठाये ॥६९,७०॥

असमाधिकाल में भी शाखाचन्द्रदर्शन में बुद्धिवृत्ति के शाखाप्रदेश से चन्द्रदेशप्राप्ति में बीच में जो निर्विषय वृत्तिअभिव्यक्त संवित् का स्वरूप है तन्मय जगत् को जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

एक प्रदेश से अन्य प्रदेश की प्राप्ति होने पर मध्य में निर्विषय चिदाकाशरूप जो संवित् का स्वरूप है तन्मय जगत् को जानना चाहिये। उक्त प्रकार के चिदात्मा में जो विशेषरूप द्वैत और सामान्यरूप ऐक्य प्रतीत होता है वह भी उक्त चिदाकाशस्वभाव से ही है ही नहीं ऐसा मैं मनन से निश्चय करता हूँ।

(☙) मेघघटा में स्थित सूर्यकिरण ही इन्द्रधनुष के रूप में दृष्टिगोचर होती है, यह प्रसिद्ध है।

वह केवल शून्य है ऐसी जो प्रतीति होती है वह भी है ही नहीं, क्योंकि उस पूर्णानन्दैकरस में शून्यता का भी सम्बन्ध नहीं है। शून्यता और पूर्णता जैसी सप्रतियोगिक लोक में प्रसिद्धि है, जैसे कि जल से शून्य घड़ा या जल से पूर्ण घड़ा, उसका आत्मा में सम्भव नहीं है, किन्तु यह जगत् जगत्भाव के अन्यत्र अप्रसिद्ध होने से, आकाशरूप ही है। इस प्रकार आत्मा ही आत्मा में स्थित है, यों अन्यनिरपेक्ष पूर्णता है। जैसे भावी नगर वर्तमान काल में प्रतियोगिनिरपेक्ष शून्यरूप से दृष्ट होता है जैसे विशाल दिशा, काल आदि प्रतियोगिनिरपेक्ष पूर्णरूप से देखे जाते हैं वैसे ही यह भी है ॥७१-७३॥ हे आकाश के कोष के सदृश निर्मल आशयवाले श्रीरामचन्द्रजी, जो सम्पूर्ण दृश्यसमूह शिलाघनरूप शान्त मौनरूप स्थित है, उसका आत्मा ही जगत् यह नाम धारण कर मोहित-सा स्थित है, अहो माया आश्चर्यभूत है ॥७४॥

एक सौ पचीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग

मरे हुए सब विपश्चितों का अपने अन्दर संसारभ्रम का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, इसके बाद पूर्वोक्त पूर्व आदि दिगन्तों में सात द्वीप, सागर, वन और पर्वतों में गये हुए वे विपश्चित् क्या करते रहे ? ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, ताड़ और तमाल के वृक्षों की पंक्तियों से पूर्ण द्वीप, पर्वत और वनों में विचरनेवाले उन विपश्चितों का वहाँ क्या हाल हुआ, उसे आप सुनिये। उन विपश्चितों से एक विपश्चित् क्रौंच द्वीप में प्रसिद्ध वर्ष (सप्तद्वीप) के सीमारूप पर्वत के पश्चिम किनारे पर हाथी द्वारा पर्वततटवर्ती वप्रशिलापर गण्डस्थल तथा दाँतों से चूर-चूर किये जाने से मर गया (♨) दूसरे विपश्चित को राक्षस ने युद्ध में क्षतविक्षत देह कर आकाश मार्ग से ले जाकर समुद्रवर्ती बड़वाग्नि में झोंक दिया वहाँ उसमें भस्म हो गया ॥२-४॥ तीसरे विपश्चित को कोई विद्याधर इन्द्र सभा में ले गया, वहाँ प्रणाम न करने से क्रुद्ध हुए देवराज इन्द्र के शाप से वह भस्म बन गया ॥५॥ चौथे विपश्चित् के, जो कुशद्वीप पर्वतवर्ती नदी के दलदल में सतर्कता से चल रहा था, जबर्दस्त मगर ने आठ टुकड़े कर दिये अतएव बेचारा मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस प्रकार दिगन्तों में व्याकुल बुद्धिवाले वे चारों राजा (विपश्चित्) ऐसे ही मृत्यु को प्राप्त हुए जैसे कि कल्पान्त में चारों दिशाओं में आकुलबुद्धिवाले लोकपाल विनाश को प्राप्त होते हैं। मरने के अनन्तर आकाशरूपी उन विपश्चितों की संवित् ने आकाशात्मा बनकर पूर्वजन्म के संस्कार से आकाश में पृथ्वीमण्डल पूर्वजन्म की भाँति देखा ॥६-८॥

जैसा भूमिमण्डल उन्होंने देखा उसीका वर्णन करते हैं।

सातों द्वीपों के समुद्र ही उसके कंकण थे, नगर और उपनगर उसके विविध आभूषण थे, सुमेरुपर्वत उसका शिर था, सुमेरु पर्वत पर स्थित ब्रह्मलोक उसका शिरोरत्न था, चन्द्रमा और सूर्य के बिम्ब उसके दो नेत्र थे, तारे मोतियों की लड़ थे, चंचल मेघ उसके वस्त्र थे, भाँति-भाँति के (विविध) वन

(♨) वर माँगने के समय सिद्धों द्वारा गम्य (गमनयोग्य) मार्ग तक हमारी मृत्यु न हो यों सीमा बाँधी थी, उसके आगे का मार्ग सिद्धों द्वारा अगम्य था, यह बात यद्यपि कहीं पर कही नहीं गई है तथापि अनुमानतः ज्ञात होती है। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये।

उसके रोंगटे थे, प्रलय की समाप्ति तथा सृष्टि के आरम्भ में जैसे प्रथम सर्जे गये प्रजापति विशाल दिगन्तों को पूर्वकल्प के सदृश ही देखते हैं वैसे ही उक्त संवित् ने विपश्चितों के चारों शरीरों को पूर्ववत् देखा ॥९–११॥ चिदात्मा में ही आकाशताप्रतीतिरूप आकाशात्मकता को प्राप्त हुए उन विपश्चितों ने मानसिक प्रतिभासमात्र के विषय प्रातिभासिक देह में आधिभौतिक देहताप्रयुक्त स्थूलता, जड़ता आदि भावों को सामने देखा ॥१२॥ इस तरह निश्चित् देह के अज्ञानात्मक होनेपर यह दृश्य पृथिवी आदिरूप अविद्या कितनी बड़ी होगी यह देखने के लिए पूर्वसंस्कारवश वे प्रस्तुत हुए ॥१३॥ दृश्य और दर्शन में से पृथिवीमण्डलरूप अनुभवाकार अविद्या का इतनी बड़ी है यों परिच्छेद को (परिमाण को) देखने के लिए द्वीप द्वीपान्तरों में भटके। पश्चिम विपश्चित को सात महासमुद्रों के साथ सात द्वीपों को लाँघकर भाग्योदय वश पूर्व–वर्णित स्वर्णमय भूमि में क्रीड़ाकर रहे भगवान् श्रीविष्णु के दर्शन हुए। भगवान् श्रीविष्णु से अनुपम ज्ञान (ब्रह्मविद्या) प्राप्तकर उसी स्वर्णभूमि में पाँच वर्ष तक वह समाधि में रहा ॥१४–१६॥ देहभाव का परित्याग कर वीतहव्य के उपाख्यान में वर्णित रीति से चित्त के सन्मात्ररूपता को प्राप्त होने पर *(असत्ता ऐसा छेद करने पर चित्त के विलीन होने पर यों अर्थ करना चाहिये)* वह विपश्चित् वैसे ही परम निर्वाण को (कैवल्य मोक्ष को) प्राप्त हुआ जैसे कि उसका प्राण आकाशता को (शून्यता को) प्राप्त हुआ। *यह षोडष कलाओं का उपलक्षण है, क्योंकि 'गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठाम्' ऐसी श्रुति है* ॥१७॥ पूर्व दिशा की ओर चला हुआ विपश्चित् पर्व में (पूर्णिमा के दिन) पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब के पास अपने शरीर का चिरकाल तक (जब तक उसमें चन्द्रत्व की प्राप्ति नहीं हुई तब तक) चन्द्रमा के समान ध्यान कर पूर्वशरीर के नष्ट हो जाने से चन्द्रलोक में स्थित हुआ ॥१८॥

शंका – यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चारों शरीरों में एक ही विपश्चित्–जीव जैसे योगी का एक ही जीव कायव्युहों में विभक्त होकर रहता है वैसे ही विभक्त होकर स्थित था, उसकी पश्चिम विपश्चित्–शरीर में विष्णु भगवान् की प्रसन्नता से मुक्ति होने पर कौन दूसरा पूर्व विपश्चित् शरीर में चन्द्र की उपासना द्वारा चन्द्रलोक को जायेगा, एक ही जीव की कहीं पर मुक्ति और कहीं पर बन्धन एक ही साथ किसी प्रकार सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से मुक्तिरूप फल पाक्षिक और परिच्छिन्न हो जायेगा। यह भी सम्भव नहीं है कि एक जीव यदि चार शरीर धारण करे तो उसके चार जीव हो जायेंगे अथवा अन्य जीवों की उत्पत्ति हो जायेगी, क्योंकि प्रथम पक्ष में यानी चार विभाग मानने पर पूर्व जीव के नाश की आपत्ति आयेगी। दूसरे पक्ष में नये उत्पन्न हुए जीवों को काम, कर्म, वासना आदि बीज के अभाव में संसारप्राप्ति नहीं होगी। यदि कहो कि जैसे भोगवैचित्र्य का कर्मों द्वारा या माया से बिना किसी विरोध के निर्वाह हो सकता है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्रथम तो मोक्ष कर्माधीन नहीं है, दूसरे मोक्ष में सकलमायानिवृत्ति का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति से विरोध आयेगा।

समाधान : ठीक है, यहाँ पर भगवान् श्रीवसिष्ठजी का ऐसा आशय प्रतीत होता है कि जीव ब्रह्माकाश से अतिरिक्त कुछ नहीं है। ब्रह्म ही अन्तःकरणरूप उपाधियों में माया द्वारा विभक्त होकर अन्तःकरणगत काम, कर्म और वासना के अनुसार संसारी–सा मालूम पड़ता हुआ जीव कहा जाता है। अन्तःकरण दीपक की तरह बहुतों को मिलाने से एक और विशाल होता है। एक ही अन्तःकरण योग, देवता आदि

के अनुग्रह आदि निमित्त से एक ही काल में विरुद्ध अनेक प्रदेशों में भोगने योग्य कर्मों का उद्गम होने के कारण अनेक भी हो सकता है। जब बहुत से जीवों का समान देश और काल में भोगने योग्य एक समान काम, कर्म और वासना का उदय होता है तब भोग के लिए मेल न होने पर एक जीवत्व ही होता है जब तक विरुद्ध देश में भोग के कारण कर्म का उदय न हो तब तक लाघव से भोगायतन (भोगस्थान) एक ही शरीर रहता है। जैसे युधिष्ठिर-जीव धर्म और इन्द्र के मेल से एक जीव रहा, जैसे भीम-जीव वायु और इन्द्र के मेलन से एक जीव रहा, जैसे अर्जुन-जीव इन्द्र और नर के मेलन से एक जीव हुआ, जैसे नकुल-सहदेव का इन्द्र और अश्विनी कुमारों के मेलन से एक जीव हुआ तथा जैसे द्रौपदी का नारायणी, लक्ष्मी और गौरी के अंशों के मेलन से एक जीव हुआ यह बात पंचेन्द्रोपाख्यान आदि के पर्यालोचन से प्रसिद्ध है। अथवा जैसे अग्नि और वायु का इन्द्र के शापवश अगस्त्य अवतार में मेलन से एक जीव हुआ इत्यादि और भी अनेक घटनाएँ हैं। एक जीव की, अनेक उपाधियों में विभाग होने से, अनेकजीवता भी सम्भव है। कश्यप से अपने गर्भ में इन्द्रविनाशक पुत्र को पाकर अपवित्रता के साथ सोई हुई दिति के एक जीववाले एक शरीर के गर्भ के पहले सात टुकड़े करने पर सात जीव हुए तदुपरान्त एक-एक टुकड़े के सात-सात खण्ड करने पर उत्पन्न हुए उनचास मारुतों के उनचास जीव हो गये। बरगद, ईख, दूब आदि के काण्ड, शाखा और टहनियों में से प्रतिशाखा और प्रतिकाण्ड पनप उठते हैं, इससे ज्ञात होता है कि एक जीव का नाना जीवरूप से औपाधिक विभाग खूब प्रसिद्ध है ही। इस प्रकार प्रकृत में भी चार जीवों के जब तक समान (एक से) काम, कर्म और वासना आदि रहे तब तक उन्होंने एक देह से राज्य का पालन किया। जब विरुद्ध भिन्न देश में भोगने योग्य काम, कर्म आदि का उद्भव हुआ तब उनका देह आदि के विभागपूर्वक भिन्न-भिन्न दिगन्तों में भ्रमण हुआ ऐसी कल्पना करने में अथवा एक ही विपश्चित् जीव के उपाधिविभाग से उनचास मरुतों की भाँति चार जीव हुए ऐसी कल्पना में भी एक की मुक्ति होने पर सब की मुक्ति का प्रसंग नहीं होगा।

यदि कोई कहे कि बहुत जीवों के मेलन से एक जीव का आरम्भ होने पर उस नवीन जीव को कर्मों के अभाव में संसार प्राप्ति न होगी यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आरम्भवाद से नवीन जीव की उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। गंगा और यमुना के जल को मिलाने से दोंनों के एक होने पर नूतन गंगा की बुद्धि न होने से वही यह गंगा है ऐसी प्रत्यभिज्ञा में कोई बाधा नहीं आती। इसी प्रकार एक जीव के चार जीव बन जाने पर प्रत्यभिज्ञा से दो उपाधियों के मिलकर एक हो जाने पर उपहितों का भी मिलकर एक हो जाना सकल प्रतीतिसिद्ध है। एक होने से भी प्राक्तन कर्मभोग हो सकता है। इस प्रकार एक जीव के चार जीव बन जाने पर प्रत्यभिज्ञा से चारों का प्राक्तन जीव के साथ अभेद होने से उसके काम, कर्म और वासनाओं का चार प्रकार से विभाग से व्यवस्था होने के कारण उनके संसार की उपपत्ति तथा एककी मुक्ति होने पर भी दूसरे को ज्ञान न होने से संसार-प्राप्ति होती है। इस प्रकार मुक्तिरूप फल वैकल्पिक तथा परिच्छिन्न ठहरेगा। जैसे व्यष्टि जीवों की मुक्ति होने पर भी समष्टि हिरण्यगर्भरूप जीव की अधिकार की समाप्ति में मुक्ति होती है वैसे ही यहाँपर भी व्यवस्था उपपन्न है। समष्टि जीवरूप हिरण्यगर्भ का तत्त्वज्ञान व्यष्टि जीवों की मुक्ति न होने पर वैकल्पिक तथा परिच्छिन्न मोक्षरूप फलवाला नहीं माना जाता है। जहाँपर व्यष्टि और समष्टि के अभेद के

रहते भी मुक्तिसंकर नहीं है वहाँपर वर्तमान जीवभेद होने पर केवल प्राचीन जीव के अभेदमात्र से मुक्तिसंकर की आपत्ति का अवसर ही कहाँ है । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (स्वात्मज्ञानप्राप्तिकाल में सुख, दुःख मोहरूप सकल प्रपंचरूप माया की निवृत्ति हो जाती है) यह श्रुति भी तत्–तत् जीवों की उपाधिभूत सकल बीजों की निवृत्ति का प्रतिपादन करती है । अन्यथा एक की मुक्ति से ज्ञानविहीन सकल जीवों की मुक्ति का प्रसंग प्राप्त होगा और 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (देवताओं में जो जो आत्मज्ञानी हुआ वह वह ब्रह्म (मुक्त) हुआ, ऋषियों में जो जो प्रबुद्ध हुआ वह मुक्त हुआ और मनुष्यों में जो जो आत्मज्ञानी हुआ वह मुक्त हुआ), 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (बहुत से लोग ज्ञानरूपी तपस्या से पवित्र होकर मत्स्वरूपता को प्राप्त हुए हैं) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायेगी। यदि कोई कहे कि तब तो आधुनिक मन्द अधिकारी भावी अनेक जन्मों से प्राप्त होने वाले मोक्ष की आशा से साधनों का अनुष्ठान नहीं करेगा, क्योंकि उसे यह आशंका रहेगी कि मुझ एक जीव के अनेक जीव होने से कहीं पर मोक्ष होनेपर भी कहीं पर बन्धनानुवृत्ति की निवृत्ति न होगी ऐसी स्थिति में अनिर्मोक्ष शंका की निवृत्ति न होगी। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षसाधन के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है, स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (इस धर्म का थोड़ा भी अंश महान् भय से रक्षा करता है), 'नहि कल्याणकृत् कस्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति', 'अनेकजन्मसंसिद्धरततो याति परां गतिम्' (अनेक जन्मों में सिद्धि को प्राप्त होकर तब परम गति को, मुक्ति को प्राप्त होता है), इस स्मृतिरूप प्रमाण के अनुरोध से आनेवाले जन्मों में नाना जीव रूप से अविभाग का अथवा विभाग होनेपर भी साधन संस्कारों के साथ ही विभाग से सर्वत्र क्रमशः अवश्यमेव ज्ञानोदय का अनुमान होने से साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति की उपपत्ति होती है । उसी प्रकार भिक्षुजीवटोपाख्यान के साधनानुष्ठानवाले भिक्षु के प्रमादवश हुए संकल्पों से प्राप्त नानाजीवता के अन्त में शतरुद्रभाव होने पर उसके विभागरूप सब जीवों की ज्ञानप्राप्ति और मुक्ति का वर्णन है। यदि कोई कहे इस प्रकार सर्वजीवों की मुक्ति की अनापत्ति हो जायेगी, यह इष्टापत्ति ही है ; क्योंकि मायादृष्टि से माया की अनन्तता की 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् ।' इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध है । तत्त्वदृष्टि से तो जीव ही नहीं है, ऐसी अवस्था में किसकी मुक्ति की अनापत्ति होगी ? यदि कहो कि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुति से विरोध आयेगा सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस श्रुति की केवल एक व्यक्ति की आर्ति से भी उपपत्ति हो जायेगी। प्रवाह की अनन्तता में भी कोई विरोध नहीं आयेगा चरम व्यक्ति का नाश ही प्रवाहनाश है। सर्वजीव रूप संसार का चरम व्यक्ति ही प्रसिद्ध नहीं है, उसके नाश की प्रसिद्धि कहाँ से होगी ? प्रस्तुत में एक ही पश्चिम विपश्चित् को भगवान् की भक्ति के परिपाक से उत्पन्न हुए भगवान् के प्रसाद से ज्ञानप्राप्ति हुई औरों को नहीं हुई, इस कारण केवल उसीकी मुक्ति हुई। इसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है।

तदुपरान्त दक्षिण विपश्चित् ने क्या किया ? इस संशय के उत्तर में कहते हैं।

राजन्, दक्षिण दिशा को प्रस्थित विपश्चित् अपने शत्रुओं को मटियामेट कर आज भी शाल्मली द्वीप में राज्य करता है, कारण कि परमार्थ सत् वस्तु के लाभ से बाह्य पदार्थों का निश्चय उसे विस्मृत

नहीं हुआ। उत्तर की ओर प्रस्थित विपश्चित ने चंचल तथा आकाश की ओर उछलने वाली कल्लोलों से पूर्ण स्वादूदक सागर में एक हजार वर्ष तक मगर के पेट में निवास किया। मगर के पेट के मांस से अपनी गुजर करनेवाला वह मगर के मरने के बाद सागर से और मगर के पेट से मगर के समान बाहर निकला। तदनन्तर हिम के समान स्वच्छ जलवाले स्वादूदक सागर के अवशिष्ट अस्सी हजार योजन पारकर विशाल उदरवाली दस हजार योजन की सुवर्णमय महाभूमि में जहाँ देवता लोग विहार करते हैं, प्राप्त हुआ वहींपर उसकी मृत्यु हो गई ॥१९-२३॥ उस भूमि के बीच में मरकर वह विपश्चित् वैसे ही देवत्व को प्राप्त हुआ जैसे अग्नि के मध्य में पड़ा हुआ काठ क्षणभर में अग्निता को प्राप्त हो जाता है ॥२४॥ उक्त विपश्चित् देवश्रेष्ठ बनकर पूर्वजन्म की दिगन्तभ्रमण की वासना से वहाँ से लोकालोक पर्वत को गया, जो इस भूमण्डलरूपी वृक्ष का (📖) आलबाल-सा (थाला-सा) है ॥२५॥ उक्त लोकालोक पर्वत पचास हजार योजन ऊँचा है, उसका एक हिस्सा सूर्य के प्रकाश से लोगों के व्यवहार से परिपूर्ण रहता है और दूसरा हिस्सा लोकव्यवहार से शून्य रहता है ॥२६॥ लोकालोक पर्वतपर चढ़कर उसकी चोटीपर पहुँचे हुए तारों के लोक में स्थित उस देवभूत विपश्चित् को नीचे के लोगों ने ऊँचे नक्षत्र की आशंका से देखा ॥२७॥ उस जगह से वह लोकालोक महापर्वत के दूसरे भाग में गया, जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है चारों ओर परिखाकार बड़ा भारी गड्ढा है जो आकाश के समान सब प्राणियों से शून्य तथा अनेक योजन विस्तृत है ॥२८॥ उसके बाद यह कन्दुकाकार (गेंदाकार) भूगोल समाप्त हो गया। उसके बाद अन्धकार से परिपूर्ण महापरिखाकार प्राणियों से शून्य आकाश है ॥२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस परिखा में भँवरे के समान, काजल के समान और तमाल के समान आकाश के बीच में अन्धकार है। न पृथिवी है, न स्थावर जंगम प्राणी हैं और न आश्रय है। और न कभी किसी भी वस्तु का सम्भव ही है, ऐसा आप समझिए ॥३०॥

एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग

भूमि, नक्षत्रमण्डल आदि की स्थिति उसके पश्चात् आकाश तदनन्तर ब्रह्माण्ड के दो खप्परों का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यह निराधार भूगोल कैसे स्थित है, नक्षत्र मण्डल, जिसका कोई आधार नहीं है, कैसे भ्रमण करता है तथा आपने जिस लोकालोक पर्वत का वर्णन किया वह कैसा है यानी उसकी उक्त संज्ञा का क्या कारण है ? ॥१॥ **श्रीवसिष्ठजी ने कहा :** वत्स श्रीरामजी, जैसे बालक के संकल्प से परिकल्पित कन्दुक (गेंद) आकाश में रहता है वैसे ही हिरण्यगर्भरूपी बालक द्वारा परिकल्पित भूमि भी आकाश में टिकती है, गिरती नहीं है ॥२॥

अथवा मिथ्या होने से ही उसके पतन की शंका नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे तिमिररोग से पीड़ित नेत्रवाले रोगी को आकाश में केशचन्द्र आदि का (केशों के गोलों का-सा) दर्शन होता है वैसे ही चिदाकाश को सृष्टि के आदि में पृथिवी आदि का दर्शन होता है ॥३॥ जैसे संकल्पनगर किसी आधार से धार्यमाण नहीं दिखाई देता। यद्यपि संकल्पनगर काल्पनिक स्तम्भ,

(📖) सुमेरु पर्वत के शिखरों तक ऊँचा होने के कारण भूमण्डल वृक्षरूप कहा गया है।

दीवार आदि के आधार में रहता है तथापि काल्पनिक स्तम्भ आदि के अवास्तविक होने से उनसे धारण किया हुआ नहीं है, वही दशा पृथिवी आदि की भी है ॥४॥

अथवा सब वस्तुओं के स्वभाव की सिद्धि चित् के अधीन है किसी से धारण न की गई गोल आकारवाली भूमि का, जो चित् से सिद्ध है, वैसे ही स्वभाव का अनुमान करना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

चित् होने से स्वभावतः चित् में जिस वस्तु का जिस प्रकार से जबतक भान होता है सर्वत्र उस वस्तु का उस प्रकार का स्वभाव उतने समय तक प्रतीत होता है ॥५॥

'केशचन्द्र आदि का दर्शन' यहाँपर केशदर्शन का स्पष्टीकरण करते हैं।

जिस पुरुष के नेत्रों में तिमिररोग होता है उसे जिस प्रकार आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला दिखाई देता है वैसे ही चिन्मात्र को जो भूगोल की (पृथिवीरूपी गेंद की) प्रतीति हुई वह भ्रान्तिरूप से ही स्थित है ॥६॥

नदी आदि का नीचे की ओर बहना आदि स्वभाव से विपरीत स्वभाव का भी यदि कहीं चित् द्वारा अवभास होता तो उसके भी अस्तित्व की ही प्रतीति होती असत्त्व की प्रतीति नहीं होती जैसे कि स्वप्न में जाग्रत से विपरीत स्वभाव की प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं।

यदि सृष्टि के आदि में चित् में ऊपर को प्रवाहित होनेवाली नदियों की तथा नीचे की ओर ज्वालावाले अग्नि की प्रतीति होती, जैसे कि स्वप्न में प्रतीति होती है, तो वह विपरीत प्रतीति आज भी वैसे ही स्थित रहती ॥७॥

इसी कारण तत्–तत् वादियों की भूमि का निरन्तर नीचे गिरना, ऊपर जाना, घूमना, तैरना आदि कल्पनाएँ भी तत्–तत् वादियों की बुद्धि में अवच्छिन्न चित्सत्ता से सत्य ही हैं, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

कोई वादी मानते हैं पृथ्वी गुरु होने से निरन्तर महाकाश में गिरती है। आकाश के अधःप्रदेश की अवधि न होने से इसका गिरना कहींपर भी नहीं रुकता, बहुत बड़ी होने से उसका पतन हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता है। ज्योतिश्चक्र (ज्योतिर्मण्डल), जो दोनों ओर से मेरुपर्वत पर जुड़े हुए दक्षिण और उत्तर ध्रुव में बँधा है, पृथ्वी के साथ ही गिरता है। वह अत्यन्त हलका होने के कारण गिरने से ही अनादिकाल से घूमता है। कोई लोग यह मानते हैं कि 'योऽप्सु नावं प्रतिष्ठितां वेद प्रत्येव तिष्ठति' इस श्रुति के अनुसार भूमि का आधार सागर है यानी भूमि सागर पर आधारित है। उसमें कहींपर न बँधी हुई भूमि नाव की नाईं घूमती रहती है और प्रलयकाल में सागर में डूब जाती है एवं सृष्टि के समय जल में फेंकी हुई तुम्बी की तरह ऊपर आ जाती है। दूसरे लोग यह मानते हैं कि भूमि के ऊपर, नीचे और अगल–बगल अगाध जल ही जल है। उसके अन्दर छिद्रों में भूमि के सात लोक हैं, जिनका कि मध्यभाग वायु से पूर्ण है। उनके मध्यभाग में स्थित वायु के अतीव हलका होने के कारण जलमग्न तुम्बी के समान सातों लोक सदा ऊपर की ओर जाते हैं। और लोग मानते हैं कि भूगोल के चारों ओर आकाश ही आकाश है। उसके असीम और गुरु होने के कारण मेरुपर्वत पर स्थित देवताओं की दृष्टि से दक्षिण भाग ही अधोभाग है, अतः दक्षिण से ही वह सदा

गिरता है। दूसरे असुरपक्षीय वादी पातालदेश को ही ऊर्ध्वप्रदेश मानते हैं। देवता जिसे ऊर्ध्वदिशा मानते हैं, उसको वे अपनी कपोल-कल्पना से अधोभाग मानकर गुरुतर भूमि का उत्तर से ही गिरना निश्चित करते हैं। इसी रीति से पूर्व और पश्चिम से भूमि के गिरने की कल्पना करते हैं। कोई वादी कहते हैं ज्योतिर्मण्डल (सौरपरिवार) नहीं घूमता, किन्तु पृथिवी ही अपनी जगह पर घूमती है। भूमि का चलना हम लोग नहीं देख पाते। जैसे नाव में सवार हुए लोग पेड़ों का चलना देखते हैं वैसे ही हम ज्योतिर्मण्डल का घूमना देखते हैं। अन्य लोग कहते हैं भूमि ही सबकी अपेक्षा नीची है। उसके चारों ओर स्थित लोगों की दृष्टि से उनके शिरःप्रदेश से उपलक्षित सकल दिशाएँ ऊर्ध्व दिशाएँ हैं। उन दिशाओं में गुरुतावश जिस दिशा में पृथिवी के पतन की संभावना की जाय वह दिशा ही निश्चित नहीं है, विनिगमक कोई न होने से पृथ्वी कहींपर भी नहीं गिरती है, अपनी जगह पर ही निश्चल रहती है। पूर्वोक्त सभी वादियों की स्वबुद्धि में अवच्छिन्न चित् की सत्ता से सब कुछ सत्य है। वास्तविक में कुछ भी सत्य नहीं है, यह अभिप्राय है ॥८॥ यदि पृथिवी का बुद्धि अवच्छिन्न चैतन्य में यह निश्चल है, यों भान हो तो वह निश्चल ही प्रतीत होगी। जो प्राणी रात-दिन अप्रतिहत नेत्र हैं, उनकी दृष्टि में यह सदा प्रकाशवाली है तथा जन्मान्ध लोगों की दृष्टि में सदा ही प्रकाशशून्य है ॥९॥

इसी प्रकार सत्वादी तथा असत्वादियों का चिद्भान के अनुसार सौरपरिवार तथा पृथ्वी मण्डल वैसे ही (सत् अथवा असत्) है, ऐसा कहते हैं।

केवल चिद्भान के अनुसार यह सारा का सारा नक्षत्र-मण्डल तथा पृथिवी असत् ही अथवा सत् ही प्रतीत होती है ॥१०॥

दो प्रश्नों का उत्तर हो चुकने पर तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

यह पृथिवी लोकालोक पर्वत तक व्याप्त है। बस इतना ही इसका परिमाण है उसके अनन्तर वलयाकार (गोल)गड्ढा है और उसमें एकमात्र समुद्राकार महान् अन्धकार स्थित है। कहीं-कहीं पर (लोकालोक पर्वत के दो शिखरों के मध्य में) थोड़ा बहुत धूप का भी प्रवेश है ॥११॥

उस पर्वत का लोकालोक नाम पड़ने में निमित्त कहते हैं।

परिखा के चारों ओर रहनेवाले नक्षत्रमण्डल के अतिदूरदर्शी होने तथा पर्वत के पर्यन्त किसी भाग में अन्धकार रहता है और किसी भाग में प्रकाश रहता है, इसलिए वह लोकालोक (लोक-अलोक) है ॥१२॥ लोकालोक पर्वत के परले पार स्थित आकाशमण्डल से अतिदूर चारों ओर नक्षत्रमण्डल परिभ्रमण करता है ॥१३॥

नक्षत्र मण्डल नीचे और ऊपर कहाँतक विस्तृत है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं।

पाताल से लेकर द्युलोक तक वह नक्षत्र मण्डल आकाश में बँधा है। सबसे ऊँचे स्थित ध्रुव को छोड़कर और सारा नक्षत्रमण्डल चारों ओर भ्रमण करता हुआ दशों दिशाओं में संचार करता है ॥१४॥ यह नक्षत्रमण्डल लोकालोक पर्वत के शिखरपर पाताल सहित सारी पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है और वह चित् की कल्पना से अतिरिक्त नहीं है ॥१५॥ लोकालोक पर्वत सहित भूलोक से दुगुने आकाशमण्डल के अनन्तर पके हुए अखरोट के कड़े छिलके के समान नक्षत्रमण्डल स्थित है ॥१६॥ भूलोक से दुगुने

आकाश से नक्षत्रमण्डल का अन्तर्दलविस्तार दुगुना है दिशाओं में घुमने की स्थिति बेल के छिलके के समान है ॥१७॥ शबल ब्रह्म का सत्य संकल्पात्मक जिस प्रकार का कथन है, वही इस प्रकार के संनिवेश से यानी ब्रह्माण्ड और उसके अवयवरूप से जगत् की स्थिति है ॥१८॥ उसके बाद नक्षत्रमण्डल से दुगुना पूर्वोक्त आकाश से दूसरा आकाश है और वह कहीं पर प्रकाश से जगमगाता है और कहींपर गाढ़ अन्धकार से व्याप्त है ॥१९॥ उस आकाश के आखिरी छोरपर ब्रह्माण्डकपाल है। उनमें एक कपाल ऊपर है और एक नीचे है। इन दोनों के बीच में आकाश है ॥२०॥ एक अरब योजन विस्तीर्ण वज्र के समान कड़ा और मजबूत कल्पनामात्रस्वरूप परमार्थरूप में आकाश का विकार पंचीकृत भूतकार्यरूप आकाश चिदाकाश ही है, उससे पृथक् नहीं है, वह आकाश में स्थित है ॥२१॥ महागोलाकार आकाश में ज्योतिर्मण्डल सभी ओर व्याप्त रहता है। ऐसी परिस्थिति में इस ज्योतिश्चक्र में क्या ऊपर है, क्या नीचे है, क्या पूर्व है, क्या पश्चिम है ? यदि है तो सभी ऊपर है, सभी नीचे है सभी पूर्व तथा पश्चिम है ॥२२॥ सब वस्तुओं का गिरना, उड़ना, तिरछे चलना तथा एक जगह खड़ा रहना जो प्रतीत होता है वह सब प्रत्यगात्मा का अवभासन ही है, वह वास्तविक नहीं है यानी वस्तुतः वस्तुओं का न गिरना है, न उड़ना है, न गमन है, न आगमन है, न स्थिति है। कुछ भी नहीं है, पतनादि होने में अद्वैतविरोध होगा, यह भाव है ॥२३॥

एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग

अन्धकारपूर्ण गड्ढे को तथा ब्रह्माण्ड के आवरणों को पारकर विपश्चितों का अविद्या में भ्रमण का वर्णन।

यदि श्रीरामजी की ओर से यह आशंका हो कि ज्योतिश्चक्र तथा उसके विस्तार आदि का परिज्ञान आपको किस प्रमाण से हुआ तो इस पर कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, हमारे सदृश योगी जनों को योग ज्ञानाभ्यास से शोधित जो शुद्ध तत्त्वबोध यानी सर्वजगत् तत्त्वसाक्षात्कार है, तद्रूप आतिवाहिक शरीर से इन सबका प्रत्यक्ष होता है। आधिभौतिक स्थूलरूप से प्रत्यक्ष या अनुमान नहीं होता है। यह जो मैंने लोका-लोक, ज्योतिश्चक्र आदि का अवयवसंगठन आपसे कहा, वह स्वयं दृष्ट जगत्स्वप्न में प्रसिद्ध है अन्य लोगों द्वारा दृष्ट जगत्स्वप्नों में प्रसिद्ध मैंने नहीं कहा। अन्यान्य ब्रह्माण्डान्तरों के जगत्स्वप्नों में भी ऐसी ही स्वभावतः स्थिति (अवयवसंघटना) है और कहींपर इससे विलक्षण भी है ॥१,२॥

यदि श्रीरामजी कहें कि यदि अन्याय ब्रह्माण्डों का स्वरूपगठन विलक्षण है, तो उसे भी कहने की कृपा कीजिये, इस पर कहते हैं।

अन्यान्य जगत्स्वप्नों के अवयवसंगठन के वर्णन से यहाँ क्या प्रयोजन है ? बुद्धिमान् पुरुषों को उपयोगी बातों के सिवा और बातें नही रूचतीं ॥३॥ हे पण्डित लोगों, उस उत्सर्ग से सब ब्रह्माण्डों के मध्य में सब द्वीप और सागरों की उत्तर दिशा में मेरु पर्वत है, लोकालोक पर्वत दक्षिण दिशा में है। इस प्रकार समस्त भूतसमूह के विषय में जिनकी जिज्ञासा है, उनका अनुमान हो ॥४॥

जो अवान्तर विशेष हैं, उनका वहाँ के रहनेवाले लोग ही प्रत्यक्ष करते हैं यहाँ के रहनेवालों को

उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

वहाँ पर जो और और जगद्भ्रम हैं, उनका वहाँ के निवासियों को प्रत्यक्ष होता है। उस तरह की अपनी अवयवरचना से शोभित होनेवाले वे हम लोगों के प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। सब द्वीप और सागरों के उत्तर में मेरु पर्वत है और दक्षिण में लोकालोक पर्वत है, ऐसा निश्चय सात द्वीपों में रहनेवालों का ही है, ब्रह्माण्ड से बाहर रहनेवालों का ऐसा निश्चय नहीं है ॥५,६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अब आप प्रस्तुत विषय को सुनिये। ब्रह्माण्ड के दो खप्पर जिनका कि विस्तार पूर्वोक्त एक अरब योजन है, उनसे बाहर दसगुना जल (जलावरण) स्थित है। वे ब्रह्माण्ड के खप्पर ही पार्थिवभाग होने से अपनी आकर्षणशक्ति से जल को ऐसे ही नित्य धारण करते हैं जैसे कि तृणचुम्बकमणि अपनी आकर्षणशक्ति के स्वभाव से तृणों को धारण करती है अथवा जैसे कल्पवृक्ष अर्थियों से वांछित रत्नों को धारण करता है ॥७,८॥

तब तो मेघों से गिरे हुए जलबिन्दु, ओले आदि समुद्र, नदी आदि में नहीं गिरेंगे, कारण कि जल में आकर्षणशक्ति का अभाव है, किन्तु दूर से भी तीरभूमि में आकर वहीं गिरेंगे, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

जैसे कल्पवृक्ष रत्नों का आधार है, वैसे ही सदा सभी पदार्थों का आश्रय पार्थिव भाग ही है, इसलिए ये जलवृष्टि आदि पृथिवीपर प्रचुरमात्रा में गिरते हैं ॥९॥ पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड के आवरणभूत जल से बाहर जल से दसगुना आकाश के समान देदीप्यामान इन्धनशून्य तेज स्थित है ॥१०॥ ब्रह्माण्डआवरणभूत तेज से बाहर दसगुना विस्तारयुक्त वायु स्थित है, वायु से बाहर दसगुना निर्मल आकाश स्थित है। उसके बाद परमशान्त असीम ब्रह्माकाश (अविद्याशबलित ब्रह्माकाश) है, वह अविनाशी, न प्रकाश है और न अन्धकार है, महाविज्ञानघन सुषुप्तितुल्य है ॥११,१२॥ आदि, मध्य और अन्त से (जन्म, स्थिति और विनाश से) शून्य महाचित् नामवाले, सर्वात्मक लोहघन के समान छिद्रशून्य निर्वाणरूपी उस ब्रह्ममहाकाश में दूर–दूर वैसे करोड़ों ब्रह्माण्ड बार–बार उत्पन्न होते हैं और विलीन होते हैं ॥१३,१४॥

वह कौन कारण है, जो करोड़ों ब्रह्माण्डों को विकसित करता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

कचनरूपी सम ब्रह्म में करोड़ों ब्रह्माण्डों को विकसित करनेवाला कोई भी नहीं है, किन्तु कचनस्वभाव वह ब्रह्म ही अपने में अविद्यावश तादृशरूप से स्थित है ॥१५॥

प्रश्नों के उत्तर का उपसंहार कर अब प्रस्तुत विषय सुनाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह दृश्यानुभव क्रम आदि से अन्त तक सारा का सारा मैंने आपसे कहा अब आप लोकालोक पर्वतपर विपश्चित् का जो हाल हुआ उसे सुनिये ॥१६॥ खूब अभ्यस्त पूर्व संस्कार से (दिगन्तदर्शनउद्योग के संस्कार से) सम्पन्न उस प्रकार के सजीव निश्चय से प्रेरित विपश्चित् लोकालोक पर्वत के शिखर से परे पूर्वोक्त अन्धकार गर्त में प्रविष्ट हुआ ॥१७॥ वहाँपर उसने अपने देवशरीर को पर्वतशिखर के सदृश अत्यन्त महान् गीध आदि द्वारा नोच–नोचकर खाया गया देखा। तदुपरान्त अपने पूर्वचिन्तित दिगन्त दर्शन में अपने मनोमय देह को ही प्रवृत्त देखा ॥१८॥ जहाँपर उसकी मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश पुण्यमय था यानी स्थूल देह के विषय संस्कार के उद्‌बोधक चार प्रकार के प्राणिसमूहों से शून्य था, उस देश की महिमा से निर्मल आशयवाले विपश्चित् को आतिवाहिक शरीर में आधिभौतिकता

की प्रतीति नहीं हुई अर्थात् उसे आतिवाहिकता का विस्मरण नहीं हुआ ॥१९॥ उक्त विपश्चित् जिसका ज्ञान स्थूलदेह से अतिरिक्त केवल आत्मा को विषय करता था, उससे अधिक स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से अतिरिक्त शुद्ध चिन्मात्र आत्मा को विषय करनेवाले बोध को प्राप्त नहीं हुआ था, इससे दिगन्तदर्शनरूप कार्य को असमाप्त समझकर गमन स्वभाव के अनुकूल हुआ यानी दिगन्तदर्शनरूप कार्य से विरत नहीं हुआ ॥२०॥

देहविहीन चित्त बाहर कैसे जाता है ? देह के बिना चित्त का बाहर संचार स्वीकार करने पर भी पहले विपश्चित् की देवता के शरीर से भी आकाशमार्ग में अप्रतिहत गति रही। देवशरीर का नाश होने पर भी मनोमय देह से आकाशमार्ग में चल रहे उस विपश्चित् का पूर्व देवशरीर से मनोमात्र देह में क्या विशेष हुआ ऐसा श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्वर, यह चित्त शरीर के बिना कार्य में कैसे गमन करता है ? यदि शरीर के बिना भी गमन मान लिया जाय तो भी आतिवाहिक देह से मनोमय देह में अधिक बोध कैसा होता है ? ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी उक्त प्रश्नों में से पहले प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे अन्तःपुर में निवास करनेवाले का यह मन संकल्परूपी पथिक के रूपमें बाहर गमन करता है वैसे ही इसका मन बाहर प्रसृत हुआ। भाव यह कि संकल्प को मार्गगमन में देह की अपेक्षा नहीं होती है ॥२२॥ भ्रान्ति में , स्वप्न में, मनोरथ में, मिथ्या ज्ञान में तथा औपन्यासिक कथाओं के श्रवण में जैसे मनका संचार होता है वैसे ही उस मन का प्रसार हुआ ॥२३॥

दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जिस शरीर में भ्रम, स्वप्न, मनोराज्य आदि का प्रसार होता है, वह शरीर आतिवाहिक है। उस आतिवाहिक देह में ही कालवश आतिवाहिकता के विस्मरण से आपकी आधिभौतिकताबुद्धि उत्पन्न होती है ॥२४॥

कब आधिभोतिकता की निवृत्ति से आतिवाहिकता का शेष होता है, इस प्रश्नपर कहते हैं।

विचार से सर्परज्जु–भ्रान्ति के तुल्य यह आधिभौतिक शरीर जब अन्तर्हित हो जाता है तब आतिवाहिक शरीर अवशिष्ट रहता है ॥२५॥

आतिवाहिक शरीर की निवृत्ति से चिन्मात्र का शेष होने में भी विचार ही साधन है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, इस आतिवाहिक देह का 'तेजसा सोम्य शुंगेन सन्मूलमन्विच्छ' (हे सौम्य, तेजरूपी मूल से सन्मूल की खोज करो) इस श्रुति द्वारा प्रदर्शित तत्त्वज्ञान के उपाय से भली–भाँति तब तक विचार कीजिये जब तक कि इसमें चिन्मात्र से अतिरिक्त कुछ नहीं है यह प्रतीति न हो ॥२६॥

निर्विषय चिन्मात्र प्रसिद्धि का तो पहले अनेक बार वारण किया ही जा चुका है, इस आशय से पहले अनेक बार उक्त आधे श्लोक को पुनः कहते हैं।

एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति होने में मध्य में जो संवित् का शरीर है एकरूप असीम इस चिन्मात्र का वह रूप प्रसिद्ध ही है ॥२७॥

उसमें द्वैतरूपी विषय और विषयप्रयुक्त राग, द्वेष आदि का प्रसंग ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

भला बतलाइये तो सही उसमें कहाँ द्वैत है, कहाँ द्वेष है और कहाँ राग आदि है सब कुछ शिव आदि अन्तविहीन परम बोधरूप ही है ॥२८॥ मनके मनन से शून्य शान्त जो अवस्थिति है वही उत्तम बोध है, आतिवाहिक देह में स्थित विपश्चित् उस बोध को प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु उसे केवल आतिवाहिक देह में आत्मप्रतीति हुई थी अतएव उसने अपने मन को आगे चलते हुए देखा। आतिवाहिक देह से उसने गर्भवास के तुल्य अन्धकार देखा। तम के अन्त में उसने ब्रह्माण्ड खप्पररूप भूमि के खण्ड को (दो खप्परों के सम्पुट भागों के सन्धिभूत भूखण्ड को) पाया जो वज्र के समान दृढ़, सुवर्णमय और करोड़ों योजन विस्तीर्ण था। ।२९-३१॥ उसके अन्त में उसे उस भूखण्ड से आठगुना जल मिला। वह द्वीप के अन्त में ब्रह्माण्डखप्पर भूमि के ही समानान्तर में सागर के पृष्ठ के समान स्थित था। जल का निराधार रहना सम्भव नहीं है, अतः वह ब्रह्माण्डकपालखण्ड का अवलम्बन कर उसी के समान विभक्त होकर स्थित था, यह भाव है ॥३२॥ उक्त जल को लाँघकर उसके बाद वह सूर्यों के समूह की नाईं भीषण प्रलयाग्नि की घनघोर ज्वालाओं के पिण्डीभूत कोटर के समान चमकीले तेज को प्राप्त हुआ। आशय यह कि तैजस आदि आवरणों को जल की तरह आधार की अपेक्षा नहीं है, इसलिए सन्धि का विभाग न होने से पिण्डकोटर के तुल्य देदीप्यमान यह कथन है ॥३३॥ तैजस आवरण में भ्रमण कर रहे उस विपश्चित् ने दाह, शोक आदि से मुक्त मनोमय देह से उसके उत्तरवर्ती वायुरूप आवरण में गमन जाना ॥३४॥

उसका उक्त गमन प्रायः स्वप्न की कल्पना के तुल्य रहा वास्तविक नहीं रहा यह 'बुबुधे' पदका तात्पर्य बतलाते हैं।

पहुँचाये जा रहे उस विपश्चित् ने आतिवाहिक आत्मा को जाना और चित् मात्ररूप मेरा कौन-सा वहन होगा यह भी जाना ॥३५॥ इस बोध से उक्त धीरात्माने उस वायुसागर को पार किया और उसके बाद वह उससे दस गुने विस्तृत आकाश में पहुँचा ॥३६॥ आकाश को लाँघकर वह असीम अविद्याशबल ब्रह्माकाश में पहुँचा। जिसमें सब कुछ विलीन होता है, सब कुछ जिससे आविर्भूत होता है जो कुछ भी नहीं है। वहाँ पर मनोमय देह से भ्रमण करता हुआ वह संस्कारवश अत्यन्त दूर तक गया। उसने उसमें पृथिवी, जल, तेज, वायु और जगत् देखा। फिर संसार की रचनाएँ देखीं, फिर सृष्टियाँ देखीं और दिशाएँ देखीं। फिर पर्वत देखे, फिर आकाश देखा , फिर देवता देखे, फिर मनुष्य देखे, फिर पंचमहाभूतों के पर्यन्त में अत्यन्त घन ब्रह्म देखा, फिर उसमें खूब जगत् देखे, फिर सृष्टियाँ देखीं, फिर दिशाएँ देखीं, मायाशबल ब्रह्माकाश देखा। उसके बाद फिर दूसरी अवस्थित सृष्टियाँ देखीं। इस प्रकार दीर्घकाल तक विहार करता हुआ वह आज भी विहार कर रहा है। चिरकाल से अभ्यस्त अपने जगत्सत्यतानिश्चय से वह विरत नहीं होता है। अविद्या का अन्त है ही नहीं, सत्य स्वभाव की आलोचना की जाय, तो वह ब्रह्म ही है। वस्तुतः परिपूर्ण ब्रह्म में अविद्या नहीं है। यह दृश्य है यह अविद्या है यह विकसित आत्मा है। जो ब्रह्म आपने जाग्रत में और स्वप्न में जैसी वासना के आविर्भाव से पहले देखा, इस समय देखते हैं और आगे भी देखेंगे वह ब्रह्म वैसा ही था, है और रहेगा ॥३७-४४॥

इसीलिए यह जगत् सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय ही है, ऐसा कहते हैं।

यह था, है और होगा इस प्रकार का क्रमयुक्त जगत् का भान अविद्यामात्र ही है। बन्द किये गये नेत्रों में तैमिरिक चक्र के समान महान् प्रतीत होता है। वह केवल चिन्मात्ररूपसे सत् नहीं है, प्रतिभास्वरूप इस अज्ञदृष्टि प्रसिद्धि से तो असत्आकार नहीं है, इसलिए दोनों दृष्टि के प्रमाण होने पर अनिवर्चनीय ही है ॥४५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वह विपश्चित् आज भी तत्त्वज्ञान न होने के कारण उन पूर्वदृष्टों में ही और उनके सदृश अन्य वासनामात्र होने से अत्यन्त सूक्ष्म विराटों के अन्दर प्रसिद्ध जगतों से वनभागों में मृग के समान अपनी वासना की उत्कटता से बार–बार घूमता है ॥४६॥

एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उनतीसवाँ सर्ग

बचे हुए दो विपश्चितों के वृत्तान्त का वर्णन तथा उनमें से
एक की मृगता के अन्त में श्रीरामचन्द्रजी से भेंट का वर्णन।

एक विपश्चित् भगवान श्रीविष्णु के अनुग्रह से ज्ञान पाकर मुक्त हो गया और दूसरा आज भी अविद्या में भ्रमण कर रहा है यह सुनकर बचे हुए दो विपश्चितों का समाचार श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजी से पूछते हैं।

चन्द्रलोक में और शाल्मली द्वीप के राज्य में रोके हुए तथा भोगों की असारता को जाननेवाले उन दो विपश्चितों के (पूर्व और दक्षिण दिशा को प्रस्थित विपश्चितों के) पीछे पूर्वोक्त वृत्त के अनन्तर आगे दिगन्तदर्शन वरका क्या हाल हुआ ? ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : उनमें से एक विपश्चित् चिरकाल से अभ्यस्त वासना से विवश होकर विविध शरीरों से भिन्न–भिन्न द्वीपों में भ्रमण करता हुआ उत्तर विपश्चित् की पद्धति को (ब्रह्माण्डों के जलादि आवरणों के लंघन द्वारा शबल ब्रह्म में करोड़ों संसारों में भ्रमणरूप पदवी को) प्राप्त हुआ। परमाकाशरूपी खोखले में उसी प्रकार (उत्तर विपश्चित् की ही तरह) ब्रह्माण्ड के आवरणों को एक के बाद एक छोड़कर करोड़ों संसारों को देखता हुआ आज भी उसी अवस्था में स्थित है। उनमें से 'दूसरा यानी पूर्व को प्रस्थित विपश्चित् चन्द्रमा के समीप में स्वयं अभ्यस्त चन्द्रमृग में अतिशय प्रेमरूप आसक्ति के कारण चन्द्रमा के साथ प्रतिभास अत्यन्त भ्रमण कर रहे अपने शरीरों से युक्त होकर उनका त्याग कर चुकने के बाद आज मृग बनकर पर्वत पर स्थित है ॥२–४॥

राजा विपश्चित् के अन्तःकरण और शरीर का चार प्रकार से विभाग होने पर भी एकरूप वासना का विभाग अथवा अधम और उत्तम फलका भेद संभव नहीं है, यों श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

हे गुरुवर, चारों विपश्चितों की एक ही वासना जो सदा उचित थी, वह अधम और उत्तम फल देने वाले भेद को कैसे प्राप्त हुई ? दिगन्तदर्शनरूप उत्कट अभिलाषा सबकी एक ही थी फिर भी किसी की मुक्ति हो गई, कोई अविद्या में लगातार चक्कर लगा रहे हैं, तथा कोई मृग बन गया ऐसा भेद कैसे हुआ ? यह आशय है ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी प्राणी की खूब अभ्यास को प्राप्त हुई वासना देश, काल और कर्म वश कोमल और अत्यन्त परिपाक से बद्धमूल होती है। कोमल वासना भेद को प्राप्त होती है पर परिपाकवश बद्धमूल वासना भिन्न नहीं होती है ॥६॥

वासना की एकता और विभाग में क्या हेतु हैं ? उस पर कहते हैं।

देश, काल, कर्म आदि की एकता वासना की एकता है यानी जब भोग्य फल के अनुकूल देश, काल, कर्म, प्रयत्नरूप सामग्रियों की एकता होती है, तब उनके अनुकूल समान विषय वासनाएँ भी एक होती हैं जब पूर्वोक्त सामग्रियों में भेद होता है तब वासनाएँ भी भिन्न होती हैं। लेकिन जब समान देश, काल, कर्म और फलवाली कोई वासना और भिन्न देश, काल, कर्म और फलवाली दूसरी वासना हो यों दो वासनाएँ उद्भूत हों तब उनके बीच में जो बलवती होती है, उसीकी जीत होती है ॥७॥ इस रीति से ये विपश्चित् एक साथ उत्पन्न विरुद्ध देश, काल आदि में भोग्य वासना के विभाग से उत्पन्न शरीर–भेद से चार होकर रहे। उनमें से आदि दो अविद्या के लिए वासनाओं से आकृष्ट हुए, एक मृग बनकर वासना का शिकार बना और एक की मुक्ति हो गई ॥८॥ भ्रान्तिपूर्ण बुद्धिवाले उन तीन विपश्चितों को आज भी अविद्या का अन्त प्राप्त नहीं हुआ। हजारों अज्ञानों से वृद्धि को प्राप्त हुई यह अविद्या निस्सीम है। इसका अन्त पा जाना कोई खिलवाड़ नहीं है ॥९॥ ज्ञानरूपी उजाला प्राप्त होने पर वह थोड़े से समय में शान्त हो जाती है, सूर्योदय होनेपर अन्धकारशोभा की नाईं निःशेष नष्ट हो जाती है ॥१०॥

इस समय पश्चिम विपश्चित् की जिस वृत्तान्त से मुक्ति हुई, उसको पुनः सुनाते हैं।

हे श्रीरामजी, अब विपश्चित् का अपनी वासना से कल्पित ब्रह्माण्ड में हुए वृत्तान्त का श्रवण कीजिये, ब्रह्माण्ड में अत्यन्त दूरवर्ती स्वादूदक सागर के परले पार स्थित स्वर्णभूमि प्रदेश में, किसी संसारभ्रान्ति में, ब्रह्मरूपी महाकाश में अध्यस्त किसी दृश्यमण्डल में, जो दृश्यरूप से प्राप्त हुआ था, वास्तव में ब्रह्मरूप ही था, वह पश्चिम दिशा को प्रस्थित एक विपश्चित् शान्ति, दान्ति भगवद्भक्ति आदि गुणों की प्राप्ति से जीवन्मुक्तों के बीच में जा पहुँचा, वहाँपर दृश्य को यथार्थ रूपसे पहचानकर पूर्णरूप से ब्रह्मत्व को प्राप्त हो गया (मुक्ति को प्राप्त हो गया)। उसकी वह जगदाकार अविद्या और वह क्षुद्र शरीर दोनों ही ज्ञान होने से वहीं पर मृगतृष्णाजल के समान शीघ्र ही बाधित हो गये, कारण कि वे दोनों रागमूलक थे, ज्ञानवश राग के नष्ट होनेपर वे विलीन हो गये। भगवती श्रुति ने कहा है : जब इसके हृदय में स्थित सभी काम मुक्त हो जाते हैं, छूट जाते हैं, उसके बाद मनुष्य अमर हो जाता है, यहीं पर मुक्तिरूप सुखका अनुभव करता है ॥११–१४॥

प्रस्तुत कथा का उपसंहार करते हैं।

इस प्रकार विपश्चितों का चरित्र आदि से अन्त तक सारा का सारा स्पष्ट रीति से मैंने आपसे कहा। इस प्रकार यह अविद्या कारणब्रह्म के तुल्य–सकल दिशाओं में विपश्चितों को इसका अन्त न मिलने के कारण–अनन्त है, कारण कि यह कारणब्रह्ममयी है ॥१५॥

अविद्या की कल्पना करनेवाले अज्ञातचित् की अनन्तता से अविद्या की अनन्तता है, यों ब्रह्मवत् (कारणब्रह्म की तरह) इस दृष्टान्त के कथन का तात्पर्य कहते हैं।

जो चित् करोड़ों वर्षों तक जहाँपर जाता है वहाँ वहाँ स्वभावतः कुछ न कुछ उसे दिखाई देता है ॥१६॥

'तन्मयी' इस कथन का भी तात्पर्य कहते हैं।

वह ब्रह्म ही अपरिज्ञात होकर शीघ्र मिथ्या, अविद्या आदि शब्दों से कहा जाता है, परिज्ञात होकर

शान्त और ब्रह्म कहा जाता है ॥१७॥

यदि शंका हो कि 'अविद्या' और 'ब्रह्म' यों भेद होनेपर वही है, यों अभेद कैसे ? इस पर कहते हैं।

यह भेद भेद नहीं है, क्योंकि यह भेद अविद्यामय ही है और अविद्या ब्रह्मरूप ही है। चिद्भास्य होने के कारण भी भेद चित् से पृथक नहीं है। वह ब्रह्म ही चिदाभास है, भिन्नता चिद्रूप ही है ॥१८॥

ज्ञानविहीन उत्तर विपश्चित् को सैकड़ों युगों में भी अविद्या का अन्त नहीं मिला, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड मण्डप के अन्दर भटक रहे अज्ञानी विपश्चितों को सैकड़ों युगों में भी अविद्या का अन्त नहीं मिला ॥१९॥

उत्तर विपश्चित् का ब्रह्माण्ड खप्पर के जोड़ के आकाशमार्ग से बाहर निकलना कैसे हुआ ? ब्रह्माण्डभंग का कोई हेतु कहा नहीं है, ऐसी परिस्थिति में ब्रह्माण्डआकाश का ही सम्भव नहीं है, इस अभिप्राय से श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, क्या विपश्चित् को ब्रह्माण्डकपाट ही नहीं मिला। हे वाग्मिवर, उसे तोड़कर जैसे वह बाहर निकला यह आपने मुझसे क्यों नही कहा ? ॥२०॥

श्रीवसिष्ठजी ब्रह्माण्ड के दो खप्परों के विभाग में पाषाणोपाख्यानोक्त कारण की याद दिलाते हैं।

पुराने जमाने में उत्पन्न होते ही श्रीब्रह्माजी ने अपनी दोनों भुजाओं से ऊपर और नीचे की ओर ब्रह्माण्डमण्डल को विदीर्ण किया ॥२१॥ उससे ऊपर का एक भाग ऊपर की ओर बहुत दूर तक चला गया और नीचेवाला भाग नीचे की ओर अत्यन्त दूर तक चला गया ॥२२॥ जल आदि ब्रह्माण्डआवरण ब्रह्माण्डखप्परों की तरह विभक्त होकर उन्हीं के आधार में स्थित हैं। खप्पररूप आधारवाले वे जल आदि आवरण उनमें स्थित होकर लटकते हैं। *अवलम्बनकर स्थिति तो सबकी समान है, विभाग केवल जलावरण का ही है, ऐसा पहले उपपादन कर चुके हैं* ॥२३॥ इन ब्रह्माण्डखप्परों के मध्य में अपार (पारिवाररहित) नीला-नीला-सा जो यह दिखाई देता है उसे आकाश कहते हैं। आकाश को अपार कहना अन्य भूतों की अपेक्षा विशालता के प्रतिपादन के लिए है। अन्यथा बाह्यआकाशावरण के पूर्वावरण की अपेक्षा दसगुने परिमाण की उक्ति की अनुपपत्ति हो जायेगी। उसके आगे ब्रह्माण्डाकाश का वर्णन भी न हो सकेगा ॥२४॥ उक्त आकाश में जल आदि आवरणों का स्पर्श नहीं होता है और वे उसमें हैं भी नहीं वह निर्मल जीवशून्य प्रलयपर्यन्त अन्य भूतों का आधार है ॥२५॥ अविद्या का आर पार देखने के लिये मोक्ष होने तक उक्त विपश्चित् नक्षत्रमण्डल की तरह आकाशमार्ग से गया ॥२६॥

तब तो दृढ़तर पुरुषप्रयत्न के अटूट रहने से अविद्या का अन्त उसने क्यों नहीं देखा ? ऐसी यदि किसी को आशंका हो तो अविद्या के अवास्तविक अनन्त ब्रह्मरूप होने से ही नहीं देखा, ऐसा कहते हैं।

अनन्तरूपा यह अविद्या ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्ममयी है। जब तक उसके तत्त्व का परिज्ञान नहीं होता तभी तक उसकी सत्ता है। तत्त्वज्ञान होने पर उसका अस्तित्व नहीं रहता है। इस प्रकार वे विपश्चित् ब्रह्माकाश में अत्यन्त दूर पहुँचकर अविद्या के जगत्‌रूप कतिपय अन्यान्य स्वरूपों में भ्रमण करते हैं। एक तो उनमें मुक्ति पा गया, एक मृग बना है, कोई दो प्राक्तन दृढ़ प्रबल संस्कार से विवश होकर आज भी कहींपर भ्रमण करते हैं ॥२७-२९॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्वर, यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो वे विपश्चित् किस प्रकार के कितने दूरवर्ती जगतों में भ्रमण करते हैं, यह मुझे

बतलाने का अनुग्रह कीजिये। हे मुनिश्वर, कितने मार्ग में वे संसार हैं, जिनमें वे उत्पन्न हुए, यह महान् आश्चर्यमय वृत्तान्त है, जो कि आपने हमसे कहा ॥३०,३१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जिन जगतों में वे दोनों विपश्चित् स्थित हैं वे जगत् प्रयत्न से विचार करने पर भी हमारी बुद्धि के विषय नहीं हुए। हाँ, तीसरा विपश्चित् जहाँपर मृग योनि को प्राप्त होकर स्थित है, वह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अनन्त संसार के साथ संभवतः हमारी बुद्धि के विषय में स्थित है ॥३२,३३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे महामते, मृगता को प्राप्त हुआ विपश्चित् जिस जगत् में स्थित है, वह जगत् कहाँ है ? यथार्थरूप से मुझ से उसका वर्णन करने की कृपा कीजिये ॥३४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : परब्रह्माकाश में अत्यन्त दूर जाकर मृग बना विपश्चित् जिस जगत् में रहता है, उस जगत् को आप सुनिये ॥३५॥ वही यह जगत् आप जानिये जिसमें वह मृग विपश्चित् स्थित है, वही परमाकाश है जिसमें अत्यन्त दूर तक जगत् स्थित है ॥३६॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वह विपश्चित् इसी जगत् से उस दिगन्तदर्शनरूप गति को गया। यहीं पर आज वह मृग बना है, यह कैसे युक्तियुक्त है ? जब तक वह लौटकर आये नहीं, तब तक उसका यहाँ मृगजन्म संभव नहीं है, यह भाव है ॥३७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : जैसे अवयवी सदा सकल अवयवों को जानता है वैसे ही ब्रह्मात्मा में स्थित सकल ब्रह्माण्डों को मैं जानता हूँ। भाव यह कि यह दूर है, यह अत्यन्त दूर है, यह सब विचार आत्मा को परिच्छिन्न माननेवालों में ही सम्भव है। आत्मा को अपरिच्छिन्न जाननेवालों की दृष्टि में अवयवी की दृष्टि में अवयवों की भाँति सब कुछ अति समीप में ही है, यह मैं अपने अनुभव से कहता हूँ, यह सारांश है ॥३८॥

अन्य लोकों की दृष्टि में जो अत्यन्त अतीत है वह भी ब्रह्मदृष्टि से अत्यन्त समीपवर्ती ही है कालतः भी किसी की दूरता नहीं है, इस आशय से वसिष्ठजी ब्रह्माण्डों को विशेषण विशिष्ट कहते हैं।

आगे चिरकाल में उत्पन्न होनेवाले होने से इस समय अनुत्पन्न, पूर्व काल में प्राप्त हुए संहार से युक्त विविध आकारवाले (अत्यन्त विलक्षण) परस्पर एक दूसरे से अदृश्य होते हुए भी एक चित् में अध्यस्त होने के कारण परस्पर अनुस्यूत अतएव पृथ्वी विकाररूप वस्त्र, तन्तु आदि के समान स्थित बहुत से ब्रह्माण्डों को मैं देखता हूँ। उन ब्रह्माण्डों से किसी के अन्य मार्ग में इस ब्रह्माण्ड के मार्ग के समान स्थित होने पर जो घटना हुई उसको मैंने आपके लिए इस ब्रह्माण्ड की-सी बनाकर यहींपर विपश्चित् के जन्म, राज्य आदि थे, यों वर्णन किया है क्योंकि तत्त्वतः और प्रकारतः अन्य ब्रह्माण्ड और यहाँ की घटनाओं में कोई विभेद नहीं है। विपश्चित् लोग अनन्ताकाश में अपनी-अपनी वासना से कल्पित अन्यान्य संसारों में उसी तरह के शरीरों से पूर्वोक्त उन उन दिगन्तरों में घूमे, एक में ही नहीं। उनमें से पूर्व विपश्चित्, जिसकी मति संसारभ्रमण से तब तक खिन्न नहीं हुई थी, अनेकानेक जगद्भ्रान्ति का भ्रमण कर काकतालीयन्याय से इसी ब्रह्माण्ड में किसी एक पर्वतगुफा में मृग हो गया। वह जगतों में भ्रमण करता हुआ जिस दूरवर्ती सृष्टि में विद्यमान है, वह यह सर्ग काकतालीयन्याय से ब्रह्माकाश में स्थित है ॥३९-४३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यदि ऐसी बात है, तो वह किस दिशा में, किस मण्डल में, किस पर्वतपर और किस वन में मृग बनकर स्थित है ? क्या करता है, सस्यश्यामला भूमि में निवास करनेवाला

वह किस प्रकार दूब चरता है ? बुढ़ापे के समान शिथिल ज्ञानवाला वह कब अपने पूर्व विपश्चित्–जन्म का स्मरण करेगा ? ॥४४,४५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : त्रिगर्त देशाधीश्वर ने जो मृग भेट में आपको दिया है वह अजायबघर में विद्यमान हैं उसे ही आप विपश्चित् जानिये ॥४६॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : उस सभा में यह बात सुनकर रामचन्द्रजी के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने मृग को लाने के लिए झुण्ड के झुण्ड बालकों को भेजा। इसके बाद बालकों द्वारा लाया गया वह भोला–भाला मृग विशाल सभा में प्रविष्ट हुआ। उस तगड़े और प्रसन्न मृग को सब सदस्यों ने आँखें फाड़–फाड़ कर देखा। वह अपने काले शरीर में सफेद बिन्दुओं से तारा रूपी बिन्दुओं से युक्त आकाश की शोभा मात कर रहा था, दृष्टिपातरूपी नील कमलों की लगातार वृष्टि से सुन्दरियों का भी तिरस्कार कर रहा था तथा उसके दर्शनों के लिए लालायित सभा का भी अनादर करने वाले सुन्दर सभय कटाक्षवीक्षणों से सभा के खम्भों पर जड़े हुए मरकतों की हरे रंग की कान्तियों को हरे तिनके समझकर खाने के लिए इधर–उधर चंचलता से दौड़ रहा था। कान, नेत्र और गर्दन ऊपर उठाकर अपने अस्थिर अनिवार्य चंचल वेगों से सभी सभासदों को देखने की उत्सुकता से या भागने की आशंका से व्याकुल कर रहा था। उस मृग को देखकर राजा, मुनि और मन्त्रियों के साथ सभी लोग भगवान की माया अनन्त है, यों कहते हुए आश्चर्यसागर में डूब गये। सब सभासदों के अवलोकनरूपी घनी नीलकमलों की वर्षा से नील से रँगे हुए से और सभाभवन के खम्भों में जड़े हुए रत्नों की किरणों से व्याप्त मृग को देख रही वह भरी सभा, जिसके सबके सब सदस्य आश्चर्यमय वृत्तान्त के पुनः पुनः आस्वादन से अति विस्मययुक्त थे, चित्रलिखित कमलिनी–सी (कमल से पूर्ण तालाब–सी) हो गई थी ॥४७–५३॥

एक सौ उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तीसवाँ सर्ग

मृग का श्रीवसिष्ठजी के ध्यान से उत्पन्न अग्नि में प्रवेश तथा
विपश्चित्–शरीर की प्राप्ति से पूर्वजन्म की स्मृति का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे मुनिवृन्द, इसके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजी से बोले : हे मुनिवर, किस उपाय से विपश्चित् देह के पुनः आविर्भाववश और ज्ञान द्वारा वास्तविक आत्मा के आविर्भाववश इस विपश्चित् का दुःखान्त होगा ? ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जिस पुरुष की जिस चिरकाल उपासित देवता से बार–बार अभिलाषासिद्धि पहले कही गई है, उस पुरुष की उस देवता के बिना अभिलाषा की सिद्धि नहीं होती। यदि घुणाक्षरन्याय से कदाचित् हो भी जाय तो वह शोभा नहीं पाती, कदाचित् शोभा भी पा जाय पर सुखदायी नहीं होती, कदाचित् सुखदायी भी हो जाय पर परलोक हितकारी सत्फलप्रद कदापि नहीं होती। *इस विषय में भगवती श्रुति भी है – 'यः स्वां देवतामतियजति प्रस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति' (जो अपने इष्टदेव का अतिक्रमण करके यज्ञ करता है वह च्युत होता है, परम गति नहीं पाता, अत्यन्त पापिष्ठ होता है।) वृद्धों का भी कथन है – त्वामतियजेत भगवन्यः कुलदैवं द्विजातिकुलजातः। उभयभ्रष्टो नश्येदभ्युदयोपांशु–याजवत्स जड़ः। अर्थात् भगवन्, द्विजातिकुल में उत्पन्न हुआ जो पुरुष कुल के*

इष्टदेव आपका उल्लंघन कर यज्ञ करता है वह जड़ इस लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है। अग्नि ही विपश्चित् की इष्टार्थ प्रदान द्वारा रक्षा करनेवाला है, उसमें प्रवेश करने से यह मृग निर्मल सुवर्ण जैसे पूर्व जन्म के विपश्चित् शरीर को प्राप्त होगा। यह सब मैं अभी करता हूँ। आप लोगों को तमाशा दिखलाता हूँ। यह मृग अभी–अभी आप लोगों के सामने अग्नि में प्रवेश करता है ॥२–४॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : पुण्यकर्मा मुनिवर श्रीवसिष्ठजी ने यह कहकर, वहाँपर अपने कमण्डल के जल से विधिपूर्वक आचमन कर इन्धनहीन ज्वालापुंजस्वरूप अग्नि का ध्यान किया। श्रीवसिष्ठजी के ध्यान करने से सभा के बीच से अग्नि की ज्वालाएँ धधक उठीं। उन ज्वालाओं में अंगारों का नाम निशान न था, लकड़ियों का उनसे कोई सम्पर्क न था, न धुआँ था और न कालिख ही थी। वे सोने सी स्वच्छ ज्वालाएँ धप–धप दहक रही थीं। उनकी अति सुन्दर कान्ति निखर रही थी, उनका पुंज सोने के मन्दिर के सदृश दर्शनीय था, फूले हुए पलाश की–सी आकृतिवाली ज्वालाराशि सन्ध्या समय के मेघ के समान उदित हुई थी। सभासद ज्वालाराशि से दूर हट गये थे। उस ज्वालाराशि को पूर्व जन्म के भक्ति भाव से आदर सहित देख रहे मृग को उसके दर्शनों से बड़ी प्रसन्नता हुई। उस वह्नि को देख रहा वह निष्पाप मृग प्रवेश करने की इच्छा से छलाँगे भरता हुआ सिंह की नाईं पीछे की ओर दूर तक हटा ॥५–१०॥ इसके बीच में मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने ध्यान में विचार कर अपने दृष्टिपातों से मृग को क्षीणपाप करते हुए वह्नि के प्रति कहा : भगवन् अग्निदेव, इसकी पूर्व जन्म की भक्ति का स्मरण कर इस मनोहर मृग को दयावश विपश्चित् बना दीजिये ॥११,१२॥ राजसभा में मुनि महाराज के ऐसा कहते ही जैसे वेग से छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्य में प्रविष्ट होता है वैसे ही मृग दूर से दौड़कर अग्नि में प्रविष्ट हो गया ॥१३॥ ज्वालाओं के मध्य में प्रविष्ट हुआ वह दर्पण में प्रतिबिम्बित–सा तथा सन्ध्याकाल के मेघ में विश्रान्त हुआ–सा लोगों को साफ–साफ दिखलाई पड़ा ॥१४॥ वह मृग सभासद लोगों के देखते देखते जैसे आकाश में हरिण–सा बादल का टुकड़ा दूसरी शक्ल का (मनुष्य की शक्ल) बन जाता है वैसे ही ज्वालाओं के मध्य में मनुष्य के आकार को प्राप्त हो गया ॥१५॥ इसके उपरान्त ज्वालाओं के अन्दर सुवर्णकी–सी कान्तिवाला, रमणीय अंग प्रत्यंगों से मनोहर पुण्याकृति पुरुष दिखलाई दिया। सूर्यबिम्ब में सूर्य की तरह, चन्द्रबिम्ब में चन्द्रमा की तरह, महान् जलराशि में वरुण की तरह अथवा सान्ध्यकालीन मेघखण्ड में चन्द्रमा की तरह, आँखों की पुतली के मध्य में, दर्पण में, जल में और मणि में प्रतिबिम्बत के समान अग्न्याधार भक्ति ही मानों पुरुषरुप हो सूर्य के समान कान्तिवाला पुरुष दिखाई दिया ॥१६–१८॥ तदनन्तर वायु से बुझे हुए दीपक के समान वह ज्वालापुंज सभा के बीच से कहीं ऐसे ही विलीन हो गया जैसे कि आकाश से सन्ध्याकाल का मेघ कहीं विलीन हो जाता है। देवालय कुटी की दीवारों के टूट–फूटकर धराशायी होनेपर उनके मध्य में स्थित भगवान् विष्णु आदि देवता की प्रतिमा की तरह तथा पर्दे के अन्दर से बाहर निकले हुए नट की तरह वहाँ वह पुरुष खड़ा रह गया ॥१९,२०॥ उसने रुद्राक्ष की माला ले रक्खी थी, सुवर्णमय यज्ञोपवीत पहना था और अग्निदाह से निर्मल हुए वस्त्र धारण कर रक्खे थे। वह शान्त और तुरन्त उदित हुए चन्द्रमा के समान कान्तिमान् था। अहा इसकी प्रभा (छवि) ! इस प्रकार सभासदों की उक्ति द्वारा उसके वेष के प्रकाशन से सूर्य के

तुल्य महाकान्ति वह भास नाम से प्रख्यात हुआ। मूर्तिमान् आभास–सा यह भास नाम से प्रसिद्ध होगा, कतिपय सदस्यों ने ऐसा कहा, इस कारण वह भास कहलाता है ॥२१–२३॥ इसके उपरान्त ध्यानमग्न उस भासने वहींपर बैठकर अपने शरीर में अपने पूर्वजन्म के संपूर्ण वृत्तान्त का स्मरण किया ॥२४॥ जब कि सभासद जन अपने अन्दर उत्पन्न हुए आश्चर्य से निश्चल बैठे थे, भास मुहूर्त–भर में अपना सारा का सारा वृत्तान्त देखकर पूर्व जन्मों से लौट आया, ध्यानलोक से जाग गया। उसने उठकर मुनि, राजा, सामन्त आदि के क्रम से सभापर दृष्टिपात किया। उसने श्रीवसिष्ठजी के निकट जाकर प्रसन्नता के साथ उन्हें प्रणाम किया और हे ज्ञानसूर्यरूपी प्राण देनेवाले ब्रह्मन्, आपको नमस्कार है, यह कहा ॥२५–२७॥ श्रीवसिष्ठजी ने उसके सिरपर अपने हाथ फेरते हुए उससे कहा : हे राजन्, आज चिरकाल से दृश्यमान तुम्हारी अविद्या का क्षय हो ॥२८॥ इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी के प्रति जय जयकार करते हुए प्रणाम कर रहे उससे श्रीदशरथजी ने आसन से कुछ उठकर हँसते हुए कहा ॥२९॥ राजा श्रीदशरथजी ने कहा : हे राजन्, आपका स्वागत हो, आप इस आसन पर बैठिये। हे अनेक जन्म जन्मान्तरों से भ्रमणशील, यहाँपर विश्राम कीजिये ॥३०॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : महाराज दशरथ के यों कहनेपर भास नामधारी विपश्चित् विश्वामित्र आदि मुनियों को प्रणाम कर आसन पर बैठ गया ॥३१॥ श्रीदशरथ ने कहा : खेद है, जैसे जंगली हाथी चिरकाल तक बाँधने के खूँटे से दुःख पाता है वैसे ही विपश्चित् ने अविद्या से चिरकाल तक दुःख पाया है ॥३२॥ अहा, असमीचीन बोध से उत्पन्न हुई दुर्दृष्टि की बड़ी विषमगति है। उक्त दुर्दृष्टि आकाश में ही सृष्टि का आडम्बर भ्रम दिखलाती है। यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि सर्वव्यापक आत्मा में इन समस्त बिखरे हुए कितने ही जगतों में चिरकाल तक विपश्चित् ने भ्रमण किया ॥३३,३४॥ आश्चर्य है चिदात्मा का आवरण करनेवाले मायास्वभावरूप विभव की, जो कि वस्तुतः शून्य है, कैसी महिमा है। जो महिमाशून्य होती हुई भी परमात्मघन के अन्दर इस तरह के विविध विचित्र जगत् बनकर प्रतीत होती है ॥३५॥

एक सौ तीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इकतीसवाँ सर्ग

वटधाना राजपुत्र की कथा सुनाकर श्रीविश्वामित्रजी द्वारा
प्रेरित विपश्चित् का अपनी भ्रान्ति का विस्तार से वर्णन।

श्रीदशरथ ने कहा : इन विपश्चित् ने दिगन्त भ्रमणरूप अपुरुषार्थभूत अविद्या के उद्देश्य से जो अनेक कष्ट झेले, उस सबको मैं आत्मज्ञानविहीन इसकी भ्रान्तिरूप निरर्थक चेष्टा समझता हूँ, क्योंकि मिथ्यारूप दिगन्तदर्शन आदि कौतुक में 'इसे मैं अवश्य करूँगा' इस प्रकार का दुराग्रह क्लेशप्रद होता ही है ॥१॥

महाराज दशरथ के वचन सुनने से श्रीविश्वामित्रजी को वटधाना राजपुत्रों का वृत्तान्त संस्कार उद्‌बुद्ध हो गया। प्रस्तुत विपश्चित्वृत्तान्तवर्णन प्रयोजन को दृढ़ करने में हेतुभूत होने से उक्त वृत्तान्त को अनुपेक्षणीय समझकर वाल्मीकिजी कहते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : उस अवसर में वहाँ राजा दशरथ के समीप बैठे हुए श्रीविश्वामित्रजी

ने प्रसंगप्राप्त वाक्य कहा : राजन्, आपने बहुत ठीक कहा, कारण कि जिन्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनकी दृष्टि में इस प्रकार के विचित्र भ्रान्तिज्ञान से वेद्य वासनामय अनन्त कोटि जगत्रूप बहुत से पदार्थ उत्पन्न होते ही रहते हैं । आगे कही जानेवाली भूमि में वटधाना नाम के राजकुमार विपश्चित् के समान ही आज तक लगातार सत्रह लाख वर्ष से घूम रहे हैं । आज भी वे भूमि का अन्त देखने के लिए किसी प्रकार के उद्वेग से रहित होकर प्रवृत्त हैं, वे वैसे ही उससे निवृत्त नहीं होते, जैसे कि नदियाँ बहने से निवृत्त नहीं होतीं ॥२-५॥ यह पाताल, भूमि आदि चौदह लोकों से बना हुआ महान् लोक (भूवनों की समष्टि) भूलोक के समान ही गोल अन्तरिक्ष लोकों से गोलाकार होकर भूमि के चारों ओर आकाश में स्थित है । यह हिरण्यगर्भ का निश्चय संकल्प ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है । यह ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध भूगोल, चौदह भुवन के लोग जिसके आधारपर रहते हैं, बालक के संकल्प-वृक्ष के समान आकाश में निराधार स्थित हैं कारण कि यह भी ब्रह्मा का संकल्प निश्चय ही है ॥६॥

यह निराधार महान् लोक जनाधार कैसे है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जैसे आकाश में टिके शहद से सने हुए गेंद में चारों ओर चींटियाँ घूमती हैं वैसे ही उसमें तदाश्रित प्राणी नित्य चारों ओर घूमते हैं ॥७॥ भूगोल के नीचे की ओर के जो अंग हैं और ऊपर की ओर के जो अंग हैं उनमें प्रवेश कर जहाँपर जो जीव जब रहते हैं, तब वे वहाँपर भ्रमण करते हैं ॥८॥ अन्तरिक्ष लोक में बहनेवाली मन्दाकिनी आदि नदियाँ सौरपरिवाररूपी चन्द्र, सूर्य आदि युक्त नक्षत्रमण्डल का और उस भूगोल का दूर से वायु बन्धनवश अवलम्बन कर, उनका स्पर्श किये बिना ही सदा खूब भ्रमण करती हैं ॥९॥ ज्योतिश्चक्र सहित (नक्षत्रमण्डल सहित) पृथ्वी को चारों ओर से घेरकर द्युलोक इसी भूलोक में स्थित है । आकाश उसके सब ओर ऊपर को ही है और पृथ्वी तल सबके नीचे की ओर है ॥१०॥

यदि किसी को शंका हो कि भूगोल के नीचे स्थित आकाश ऊपर कैसे और नीचे के आकाश की अपेक्षा पृथिवीतल नीचे की ओर कैसे ? इस पर कहते हैं।

उस पृथिवीतल के नीचे जो पदार्थ घूमते हैं वे उसके चौतर्फा तत्-तत् प्रदेशों में पहुँचते हुए संचार करते हैं । जिस आकाश में पक्षी आदि उड़ते हुए जाते हैं वह उसके ऊपर कहा जाता है नीचे अथवा तिरछा नहीं कहा जाता ॥११॥ हे राजन्, उस भूगोल के किसी एक भाग में वटधाना नाम के देश अथवा उनके अधिपति हैं । उनके वंश में तीन राजकुमार प्राचीन काल में उत्पन्न हुए । वे राजकुमार विपश्चित् के समान ही दृश्य भूमि आदि जगत् का अन्त कौन होगा ? उसको हम देखेंगे, यों दृढ़ निश्चयकर उसके दर्शन के लिए घर से निकले । द्वीप और समुद्र के विभाग से फिर जल फिर भूमि इस क्रम से द्वीप और समुद्र को चिरकाल तक लाँघ रहे मर कर फिर नये शरीर को प्राप्त हुए उनका दीर्घकाल बीत गया । स्वच्छ गेंद में लगी हुए दीमकों की भाँति भूगोल में निरन्तर घूम रहे वे जगत् के अन्त को न पा सके, बल्कि उन्हें दूसरे दूसरे देश प्राप्त होते गये ॥१२-१५॥ हे राजन्, आकाश में रुके हुए गेंद में घूम रही चींटियों की नाईं आज भी वे घूमने में व्याकुल हैं और थकते भी नहीं हैं । इस भूगोल के नीच के ऊपर अथवा अगल-बगल के जिस किसी प्रदेश में वे पहुँचते हैं वहाँ यहीं की तरह अच्छी तरह ऊपर, नीचे और दिशाओं को देखते हैं ॥१६,१७॥ हे महाराज, तब वे कहते हैं कि हम लोगों को उद्योग करनेपर भी

भूमि का अन्त प्राप्त नहीं हुआ। इसके बाद हम आगे बढ़ें ॥१८॥

कथा का उपसंहार कर उसकी प्रकृत में योजना करते हैं।

यह ब्रह्मा का संकल्पआडम्बर वास्तव में कुछ भी नहीं है। चित्संकल्प स्वप्न दृश्य के समान असीम और अज्ञान है ॥१९॥

संकल्प–कल्पना का अधिष्ठान चित् ही है इसलिए केवल चित् ही तत्त्व है, यह दूसरे ढंग से दृढ़ करते हैं।

संकल्प–कल्पना परम ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। संकल्प–कल्पना ही परम ब्रह्म है। इन दोनों में वैसे ही कोई अन्तर नहीं है जैसे कि शून्यत्व और आकाश में कोई भेद नहीं है। जैसे जल के प्रवाह में हुए आवर्त, तरंग और बुद्‌बुद जल ही हैं वैसे ही यहाँ जो कुछ प्रतीत होता है वह सब चिन्मात्र ही हैं। अन्य वस्तु का अत्यन्त असम्भव होने से असदृश वह अन्यसदृश कैसे होगा ? आवर्त आदि में नाभिगर्त आदि का सादृश्य होने से कदाचित् उसमें अन्य–तुल्यता हो सकती है, किन्तु इसमें तो सदृश और असदृश अन्य वस्तु का अत्यन्त असम्भव होने से अन्यतुल्यता कैसे होगी, यह भाव है ॥२०,२१॥ यह जगत् सृष्टि के आदि में अभावरूप था अतः शून्य ही था, अतः उस समय परमाकाश (ब्रह्माकाश) ही था यह बात तो बिलकुल निर्विवाद है। और वही स्वयं ब्रह्माकाश इस समय जगत् सा मालूम पड़ता है। इस दृष्टि में प्रलय और सर्ग भिन्न नहीं है। वह चिद्रूप काम, कर्म और वासना के अनुसार जैसे–जैसे कल्पना करता है वैसे ही वहाँपर आसक्त होकर दृष्टादृष्ट–वेद्यावेद्य–जड़ चिद्रूप अन्योन्य में तादात्म्यअध्यासवाले स्व–संसारों से परे था, वैसे ही आगे भी चिरकाल तक रहेगा ॥२२,२३॥

उनकी दृष्टादृष्टरूपता का विवरण करते हैं–दूसरे की अक्षयता दिखलाते हैं।

आकाशात्मक (शून्यरूप) शिलामध्य में आकाशात्मक स्वच्छ शिलाओं की तरह चित्–अणु के मध्य में तत्–तत् आकारवाली वासनाओं से अवच्छिन्न सकल जगत् अनुभव हैं ॥२४,२५॥

किन्तु शुद्ध चिदणु के मध्य में जगत् अनुभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आवृत आत्मस्वरूपभूत उक्त जगत् अनुभव अव्याकृतात्मा में ही स्थित है, किन्तु अविद्याविहीन चैतन्य में तो वे रहते ही नहीं हैं, क्योंकि उसमें व्यावर्त्य अन्यरूपों के प्रसिद्ध न होने से उक्त जगद्अनुभव अत्यन्त अभिन्न ही रहते हैं ॥२६॥ हे सुनिपुण आशयवाले श्रोताओं, चूँकि परम पद में सकल जगत् अनुभव व्यावर्त्य अन्यरूपों के अप्रसिद्ध होने के कारण–अत्यन्त अभिन्न हैं, इसलिए मैंने पूर्वापर का भली–भाँति विचारकर वही सर्वव्यापक ज्योति–स्वरूप ब्रह्म जगत् है, यह कहा ॥२७॥ इस प्रकार शुद्ध चित् के एक होनेपर अपने परमपद से च्युत हुए बिना भी यह जीव द्वैतबुद्धि से 'मैं जीव हूँ' यों भिन्न होकर जो मलिन होता है, दुःखी होता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥२८॥

इस प्रकार वसिष्ठजी द्वारा वर्णित विपश्चित् के चरित की अपनी उक्ति द्वारा पुष्टि कर भास के मुख से भी उसकी पुष्टि कराने के लिए विश्वामित्रजी ने कहा।

हे राजन्, हे विपश्चित् अपर नामक भास, तुमने कितना दृश्य देखा, कितना भ्रमण किया उसमें कितने की तुम्हें याद है संक्षेप में थोड़ा–बहुत कहो ॥२९॥ भास ने कहा : हे मुनिवर, मैंने बहुत दृश्य देखे, बिना थकावट के बहुत भ्रमण किया तथा बहुत बार बहुत–सा अनुभूत वृत्त मुझे खूब याद भी

है ॥३०॥ हे राजन्, उस असीम महाकाश में पहुँचकर विविध शरीरों से बड़े-बड़े सुखों और दुःखों का चिरकाल तक मैंने अनुभव किया और दूर-दूर के बड़े-बड़े जगत् देखे ॥३१॥ हे महात्मन्, भगवान् अग्निदेव के वर से दिगन्त देखने के लिए दृढ़निश्चय होकर मैंने वर और शापवश प्राप्त हुए विचित्र शरीरों से अनन्त दृश्य देखे। यद्यपि मैं प्रत्येक ब्रह्माण्ड में विभिन्न देह से घूमता था तथापि पूर्व जन्म के दृढ़ निश्चय का स्मरण रहने के कारण दृश्यात्मक पृथिवी आदिरूप अविद्या का अन्त देखने के लिए मैं सदा जोर-शोर से प्रयत्नशील रहा। तदनन्तर मुझे मृत्यु के समय चित्त के वृक्षदर्शन-जनित संस्कार के वेग से देह धारण करने की अभिलाषा हुई, अतएव मैं एक हजार वर्ष तक वृक्ष बना रहा। वृक्षावस्था में बाह्यप्रवृत्ति में निमित्तभूत प्राणचेष्टा न होने से मेरा चित्त भीतर ही रहता था बाहर नहीं जा सकता था, वृक्षशरीराभिमानी मेरा जीव दुःख का भोग करता था और पूर्वापर विचार में कारणभूत चित्त के बिना ही मैं पुष्प, फल आदि को उत्पन्न करने में कन्द के समान भूमि के रस और वसन्त-ऋतु आदि काल के अधीन रहा। सौ वर्ष तक मैं मेरुपर्वतपर मृग हुआ। मृगावस्था में मेरी दूब के तिनके चरने और गीत सुनने में अत्यन्त आसक्ति रही सोने के समान मेरा रंग रहा और पेड़ के पत्ते के तुल्य कान रहे। वनवासी सकल जीवों में मैं सबसे छोटा था, अतः किसी पर वार नहीं करता था ॥३२-३५॥ मैं पचास वर्ष तक क्रौंच पर्वत की सुवर्णमय गुफाओं में शरभ जाति का मृग हुआ। उक्त मृगावस्था में मेरी पीठ आठ टाँगों से युक्त थी (卐) तथा मरने का समय निकट आनेपर गरज रहे मेघ से जो ओले और मेघ की बूदें मेरे ऊपर गिरी उनके कारण मेघ के साथ लड़ने के लिए मैं पर्वत शिखर से छलांगें भरने लगा। उसी क्लेश से मैंने आत्महत्या कर डाली ॥३६॥ तदुपरान्त मुझे विद्याधर योनि प्राप्त हुई। उस योनि में मैंने मलयपर्वत के शिखरपर और मन्दराचल पर काले अगरु के पेड़ों की लताओं द्वारा आलिंगित अतएव मन्द सुगन्ध शीतल वायु के साथ विद्याधरियों के सुरतों में उनकी विविध कलारूप सुधा का अनुभव किया ॥३७॥ तदनन्तर मैं ब्रह्माजी के वाहन हंस का बच्चा बना। हंस के जन्म में मैंने सुमेरु के ऊपर बहनेवाली मन्दाकिनी के दोनों तटों के बीच में विहार करते हुए सुवर्णकमलों के मकरन्द से पीले-पीले जलों का पन्द्रह सौ वर्ष तक पान किया ॥३८॥ सौ वर्ष तक मैंने क्षीरसागर के तीरस्थित वन के मन्द सुगन्ध शीतल वायु से चंचल नील अलकावलीवाली माधव (कृष्ण) भगवान् की दिव्य रमणियों के शोक और बुढ़ापे को हरनेवाले मधुर गीत सुने ॥३९॥ उसके बाद मैं कालंजर पर्वत पर फूले हुए कंजे और घुँघची के वन में सियार की योनि को प्राप्त हुआ। वहाँपर किसी हाथी ने अपने पंजे से मुझे चूर-चूर कर दिया। उस अधमरी दशा में मैंने मुझे कुचलने वाले हाथी को सिंह के हाथ मरा देखा ॥४०॥ सियार की योनि से छुटकारा पाने के पश्चात् किसी दूसरे लोक में सन्तानक के (कल्पवृक्ष भेद के) झुरमुट से सुशोभित सह्याचल के शिखर पर कल्पवृक्ष के निकुंजगृह में सिद्ध के शाप से एकाकिनी (अकेली) चन्द्रमुखी अप्सरा के रूप में आधे सत्ययुग तक मैं रहा। उसके उपरान्त मैंने सह्याचल के जलप्राय (दलदल) प्रदेश में उगे हुए कनइल की शाखा के मध्यवर्ती घोंसलों में सदा शब्द करने वाले वाल्मीक नामक पक्षी के रूप

(卐) ऐसी प्रसिद्धि है कि शरभ जाति के मृग में पीठ के बल भी चार चरणों से चलने की सामर्थ्य है। उस अवस्था में पेट भी पीठ माना जा सकता है इसीलिए यहाँपर जिसकी दो पीठें आठ चरणों से युक्त हैं ऐसा कहा है।

में निश्शंक हो सौ वर्ष बिताये। जब मेरे स्त्री–पुत्र आदि के साथ ही कनइल का पेड़ नष्ट हो गया तब दूरवर्ती लोक में महेन्द्रपर्वत पर वियोगजन्य दुःख से अत्यन्त पीड़ित हुए मैंने अपनी आयु के शेष दिन अकेले बिताये। इस प्रकार उक्त दो जन्मों के बाद सिद्ध के शाप से छुटकारा पाने पर सिद्ध के ही अनुग्रह से सिद्धि को प्राप्त हुए मैंने महेन्द्रपर्वत के ही छायायुक्त चन्दनवनों से वेष्टित अन्य शिखर पर लताओं के झूलों पर फलों की नाईं लटक रहीं एक से एक बढ़कर विलासवाली स्त्रियाँ देखीं। यद्यपि उनका हृदय सिद्ध पथिकों द्वारा हर लिया गया था, तथापि मैंने उनका उपभोग भी किया। तदनन्तर विवेकविहीन होने से मेरा चित्त अविद्या के अन्तदर्शन के लिए उत्पन्न हुई दुराग्रहरूपी महामारी से विवश था, अतएव मेरी बुद्धि को ग्लानि हो गयी थी, इस कारण मैंने अन्दर विरक्ति प्राप्तकर महेन्द्र पर्वत के मध्यवर्ती जलप्राय प्रदेश में तपस्वी बनकर दिन बिताये ॥४१–४४॥

इस प्रकार अपनी जन्मपरम्पराओं के वर्णन के बीच में उसे अकस्मात् आश्चर्यमय कतिपय अन्य वृत्तों का स्मरण हो आया। उन्हें वह बड़ी उत्सुकता से कहना आरंभ करता है।

हे मुनिवर, दूसरी एक अत्यन्त आश्चर्यमय वस्तु है, उसे सुनिये। वह अनन्त ब्रह्माण्डों से भरी है, उसके निखिल दिशाओं में रहनेवाले प्राणी जलचरों के तुल्य हैं, अतएव उसमें तेज, आकाश और वायु के अस्तित्व में सन्देह है। उसकी भूमि की आकृति जल में प्रतिबिम्बित भूतकी–सी है। उक्त आश्चर्यमय वस्तु थोड़ा–बहुत व्याकृत नामरूपवाला ब्रह्म ही है। (*वह आश्चर्य और चाँदी की शिला के अनुसार स्त्री–शरीर आदि सकल पदार्थों में भी सकल जगत् रूप गर्भ प्रत्येक में है ऐसा एक दूसरा आश्चर्य मैंने वहाँ देखा यह कहने के लिए किसी स्त्री का उदाहरण देता है।*) एक जगह मैंने एक स्त्री देखी। उसके शरीर में सुन्दर शीशे के अन्दर प्रतिबिम्बित हुए जैसे आकाश, पर्वत आदि सहित दिशा, काल, प्राणी आदि से पूर्ण तीनों जगत् शोभित होते हैं, यह अत्यन्त आश्चर्य है। तदुपरान्त मैंने उससे पूछा : हे सुन्दरी, तुम कौन हो, तुम्हारा यह शरीर त्रिजगत्घटित कैसे है ? तब उसने मुझसे कहा, हे जीव, इस वस्तुसमूह में जो शुद्ध सर्वावभासिका चित् है, वह मैं ही हूँ। ये महाजगत् मेरे अंग हैं, मूर्त–अमूर्त शरीर हैं, *क्योंकि 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ' (ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त) 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' जिसके सब भूत शरीर हैं) इत्यादि श्रुतियाँ हैं* ॥४५–४७॥ हे जीव, जैसे मैं जगत् घटित होने के कारण तुम्हारे लिए विस्मयावह हूँ वैसे यह सब स्तम्भ, घट आदि वस्तुएँ भी सर्वजगत् घटित होने से अति आश्चर्यमय ही हैं। *शंका – यदि सभी वस्तुएँ जगत् घटित हैं यानि प्रत्येक वस्तु के अन्दर सकल जगत् विद्यमान हैं तो अन्य लोगों को भी ऐसा क्यों नहीं दिखाई देता ?*

समाधान – जब तक प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वभाव ज्ञात नहीं होता, तब तक वे नहीं देखते जब एकमात्र आतिवाहिकभाव के बद्धमूल (दृढ़) हो जानेपर प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वभाव ज्ञात हो जायेगा तब वे भी अवश्य ही जानेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥४८॥

यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मुझे अपने देह का सर्वजगत्घटित रूप से अनुभव नहीं होता। यदि कहो कि देह के अन्दर चक्षु आदि का प्रवेश न होने से उसमें तुम्हें जगत्का दर्शन नहीं होता तो उसमें स्थित वेद, शास्त्र आदि कानों से श्रवण भी नहीं होगा ऐसी मेरी असंभावना का अनुमान कर उसको संभव बतलाने के लिए उसने मुझसे कहा।

तुम और तुम्हारे सरीखे अन्य प्राणी जिसे अवेदशास्त्र मानते हैं, देहान्तर्गत जगत् में स्वदेहभवनरूप दीवार के एकदेशरूप कर्णशष्कुलीप्रदेश से नित्य अनाहत नाद स्वतः सुनाई देता ही है, जो सकल वेद शास्त्रादि शब्दसामान्य ध्वनि है। उसीके गर्भ में नित्य नैमित्तिक कर्म का तथा शम, दम आदि ज्ञान के साधनों का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये ये सब विधियाँ निहित हैं तथा कलंज (एक पक्षी) का भक्षण नहीं करना चाहिये यह सकल निषेधक वेदशास्त्र उसके अन्दर निहित हैं। उसके श्रवण से ही उसके अन्तर्गत विधि निषेध शास्त्र के समान उसका अर्थभूत जगत् भी देह में है, ऐसी आप संभावना कीजिये, यह भाव है॥४९॥

उक्त न्याय से खम्भे, घड़े आदि में भी सकल जगत् का अस्तित्व है ऐसी संभावना करनी चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

जैसे अनाहत नाद शब्दसामान्यस्वभाव है वैसे ही सकल पदार्थों में अनुगत पदार्थसत्ता भी सर्वजगत् घटित सामान्य स्वभाववाली ही है, क्योंकि इस जगत् में प्रसिद्ध दीवार, पर्वत आदि भी ब्रह्मसत्ता रूप ही हैं। दीवार आदि बोलते नहीं अतः अचेतन हैं, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वे जैसे स्वप्न आदि में प्रसिद्ध भाषा में बोलते हैं वैसे ही मेरे सम्मुख भी बोलते हैं। जब अत्यन्त जड़ रूप से प्रख्यात दीवार आदि में सर्वजगद्घटित चेतनता असमंजस (अयुक्त) नहीं है तब प्रायः चेतनरूप आप लोगों के शरीरों में तो सुतरां असमंजस नहीं है ॥५०॥

स्त्रीसंवादरूप आश्चर्य का आँखों देखा वर्णन कर भास वैसा ही दूसरा आश्चर्य कहता है।

एक समय में ऐसे लोक में जा पहुँचा जहाँ स्त्रियों का नामनिशान भी न था। मैंने वहाँ के सब प्राणियों को स्त्रीसम्बन्ध की अभिलाषा से रहित देखा।

शंका : तब वहाँ पुत्र-पौत्र आदि सन्तति विस्तार और पूर्वजों का मरण कैसे होता है ?

समाधान : वहाँपर बहुत से प्राणी एक भूत से निकलते हैं, प्रकट होते हैं और बहुत से प्राणी एक भूत में प्रविष्ट होते हैं, विलीन होते हैं, इस प्रकार वहाँ नवीन सृष्टिका आविर्भाव और प्राचीन सृष्टि का तिरोभाव होता है, यह तात्पर्य है ॥५१॥ मैंने उत्पात आदि से कोई वास्ता न रखनेवाले दूसरे बादल आकाश में देखे। गर्जनवश शस्त्रास्त्रों के आपस में टकराने की सी ध्वनि से उनमें झंझनाहट होती है, उनसे वृष्टि द्वारा जो बिजली आदि जल के समान गिरते हैं वे अपने टुकड़ों द्वारा लोगों के आयुध (हथियार) होते हैं ॥५२॥ दूसरी जगह मैंने दूसरा आश्चर्य देखा, वह है इस जगत् में जितने ग्राम-गृह हैं वे सबके सब अन्धकार से बेकाम हुई दृष्टि से ही आकाशमार्ग से जाते हैं, दूरवर्ती दिगन्त में प्रविष्ट होते हैं। वह आपका गाँव जो यहाँ था वही मुझे अन्यत्र मिला यह आश्चर्य है ॥५३॥ एक जगह मैंने ऐसा आश्चर्य देखा कि स्वर्ग, भूमि और पाताल लोकों के जीवों में ये देवता हैं, ये मनुष्य हैं, ये नाग हैं इस तरह का अवान्तर विभाग नहीं है अतएव सब एक-से हैं। आकाश से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है और आकाश में ही वे लीन होते हैं। दूसरी जगह मैंने जो बड़ा अचम्भा देखा वह यह है-न उस लोक में चन्द्रमा है और न तारे ही हैं फिर भी वहाँ अन्धकार का नामनिशान नहीं है, कारण कि वहाँ के निवासी सभी प्राणी स्वयंप्रकाश है। अत्यन्त रमणीय उस अलौकिक जगत् का जो ज्वाला के मध्य के समान प्रकाशमय और दिन-रात्रि से रहित है मुझे फिर-फिर स्मरण हो आता है। एक दो नहीं असंख्य महा जगतों का मुझे स्मरण होता है, जिनमें दैत्य-दानव, नाग, नर, सुर आदि जीव विलक्षण हैं, पेड़, नगर

अपूर्व हैं, उनमें अन्य लोकों के व्यवहारों से विलक्षण व्यवहार होते हैं ॥५४–५६॥ जिसमें मैंने विहार नहीं किया वह दिशा नहीं है, जो देश मैंने नहीं देखा वह देश नहीं है, जिस कौतुक का मैंने अनुभव नहीं किया वह कौतुक नहीं है और मेरे विमर्श से (अनुभवरूप सर्वसाक्षी से) अतिरिक्त अन्य में रहनेवाला कोई विमर्श भी नहीं है। अमृतमंथन के लिए क्षीर सागर में घुमाये गये मन्दराचल के रत्नमय शिखरों की तीखी धारों के अग्रभागों से छिलने पर झनझन शब्दवाले भगवान् श्री हरि के बाजूबंदों की ध्वनि का मुझे स्मरण हो रहा है, जिसे सुनकर लोगों को मेघ की गर्जना की आशंका हुई थी ॥५७,५८॥

एक सौ इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बत्तीसवाँ सर्ग

भास द्वारा पुनः अपनी विविध जन्मभ्रान्तियों का,
महान् आश्चर्यों का तथा संसार की असारता का वर्णन।

भास आश्चर्यमय घटनाओं से व्यवहित अपने जन्मों की परम्पराओं के वर्णन की कथा का पुनः अनुसन्धान करता है।

पर्वत के मध्यभाग के कदम्बों के झुरमुट में तपस्विता के अनुभव से बहुत दिन बिताने के कारण मुझे सिद्धि प्राप्त हो गई, अतएव मन्दराचल में मनोहर मन्दार के निकुंजरूपी मन्दिर के अन्दर मन्दरा नाम की अप्सरा का आलिंगन कर मैं सोया था। मुझे अपने वेग में गिरे हुए तिनके के समान आगे कही जानेवाली नदी बहा ले गई। इसके उपरान्त जल में घबड़ाई हुई मन्दरा को आश्वासन देकर मैंने उससे पूछा : 'प्रिये यह क्यों हुआ ?' यानी हम दोनों अकस्मात् नदी में क्यों बह गये ?' उस चंचलनयना ने मुझसे कहा : प्रियवर, इस प्रदेश में चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रकान्तमणिमय पर्वत के मध्यभागों से निकली हुई ये नदियाँ चन्द्रकान्त मणियों से निकले हुए जलस्रोतों से वैसे ही मतवाली हो जाती हैं जैसे कि रात्रि के समय अपने प्रियतम के साथ स्त्रियाँ कामवासना से मतवाली हो जाती हैं ॥१–३॥

तो नींद आने के पूर्व ही यह बात तुमने मुझको क्यों नहीं बतला दी, इसपर वह कहती है।

आपके समागमजनित आनन्दातिरेक से मैं आपसे यह कहना भूल गई। यह कह कर जैसे पर्वत के शिखर पर गंगा के स्वर्णकमल में बैठी हुई भँवरी अपने सहचर भ्रमर को लेकर उड़ती है वैसे ही वह मुझे लेकर आकाश में उड़ गई। उस जल से पीड़ित हुआ मैं तदनन्तर सात वर्षतक उसके साथ कीचड़ के स्पर्श से रहित निर्मल मन्दराचल के शिखर पर रहा ॥४,५॥

उसके बाद दूसरे जन्म में आश्चर्यपूर्ण जगत् के अन्तदर्शनका वर्णन करता है।

दूसरे जन्म में मैंने दूसरा जगत् देखा, जो ज्योतिश्चक्र से (सौरपरिवार से) शून्य था तथा केले के छिलके के समान गर्भ के गर्भ में स्थित एक से स्वप्रकाश लोगों से आकीर्ण था ॥६॥

तो वहाँपर लौकिक और वैदिक व्यवहार कैसे चलता था ? इस प्रश्नपर कहता है।

उसके बाद मैंने अपने से ही प्रकाशमान वैसा जगत् देखा, जहाँपर न तो पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं का भेद था, न दिन थे, न मर्यादास्थापक शास्त्र ही थे, न वेदवाद थे और न दैत्य आदि, सुर आदि विभेद ही था ॥७॥

तदनन्तर दूसरे जन्म का वृत्त कहता है।

समुद्र तीर के निकटवर्ती विद्याधर और देवताओं के विहार के लिए विमानों की भूमिरूप गगनचुम्बी पर्वतों के मध्यभाग में अमरसोम नाम का निर्द्वन्द्व गन्धर्व मैं चौदह वर्ष तक तपस्वी हुआ ॥८॥ तदुपरान्त मैं अग्निदेव के वर के प्रभाव से जगत् में चारों ओर अविद्या को देखने की इच्छा कर पवन के समान लगातार गमनयुक्त क्रम और संन्निवेशवाले रंग-बिरंगे अच्छी जाति के घोड़े और मेघों के समान आकारवाले लोगों से तथा हाथी,मृग, सिंह, वृक्ष और लताओं से एवं अन्यान्य मृग,पर्वत, सर्प और पक्षियों से व्याप्त अनन्तकोशवाले आकाश में पृथ्वी से जाकर गरुड़ के समान वेग से आगे बढ़ा ॥९,१०॥ कहीं पर मैं जगत् से निकलकर एकमात्र महार्णव के समान विस्तृत आकाश में गिरा, वहाँपर निवास करनेवालों के तुल्य नक्षत्रसमूह में बँधकर मैंने दिन, रात, मास, ऋतु आदि समय का अनुभव किया तथा दिशाओं में पतन का (गमन का) भी अनुभव किया। पूर्वोक्त प्रकार से आकाशकोश में गमन का अनुभव करना ही मेरी एकमात्र वृत्ति थी तथा चिरकाल के गमन से मैं थक कर चूर हो गया था, अतएव इसके बाद निद्रा देवी ने मेरे हृदयपर अड्डा जमाया। उस प्रकार के यानी सब लोगों में प्रसिद्ध सुषुप्त शरीर को लेकर स्थित हुए मुझे इसके बाद स्वप्नात्मक जाग्रत में अपने अन्दर ही सारा विश्व प्राप्त हुआ। वहाँ पर भी पुनः दिगन्त, भुवन आदि गमनवश प्राप्त हुई चंचलता से मैं वैसे ही चंचल बनाया गया जैसे कि जिसमें वायु का वेग क्षीण न हुआ हो उस लता द्वारा पक्षी चंचल बनाया जाता है। उक्त चंचलता को प्राप्त हुआ मैं पूर्व संकल्पित दृश्य परिच्छेदरूप जगद्गुफाओं में गिरा। चक्षु जहाँ तक विषयाशा विस्तृत है वहाँतक मैं एक क्षण में चला गया। फिर उसी प्रकार देखता हुआ विषयदर्शन के कौतुक से फिर दृश्य को प्राप्त हुआ। इस प्रकार जाग्रत अवस्था में और स्वप्नावस्था में दृश्य और अदृश्य विषय के उद्देश्य से गम्य और अगम्य देश को वेग से लाँघ रहे मेरे बहुत वर्ष बीत गये। किन्तु दृश्यनामक अविद्या का अन्त मुझे वैसे ही नहीं मिला जैसे कि मिथ्या ही हृदय में जमी हुई पिशाची का अन्त बालक को प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि वह सत् नहीं है, यह सत् नहीं है इस प्रकार के विचारानुभव में मैं स्थिर रहा तथापि यह सत्य है, यह असत्य है, यों प्रत्येक विषय में मेरी दुर्दृष्टि निवृत्त नहीं हुई, क्योंकि चिरकाल से अभ्यस्त द्वैतसत्यता का मेरा संस्कार प्रबल था। यद्यपि मैं विचार से दुर्दृष्टियों का निवारण करने का यत्न करता था फिर भी वे प्रतिक्षण प्राप्त हुए सुख, दुख,भिन्नदेश, भिन्न काल तथा इष्ट और अनिष्ट लोगों के समागमों से नदियों के जल की भाँति नई नई आ जाती हैं और चली जाती हैं। ताड़, तमाल, मौलसिरी आदि से अनुपम उन्नत एक शिखर की मुझे याद आ रही है, उसमें वायु का वेग खूब साँय-साँय शब्द करता है। यद्यपि वह सूर्य आदि से रहित है तथापि अपनी कान्ति से जगमगाता है। सारा का सारा विश्व उस श्रृंग के स्थावर और जंगम पर्वत तटों से युक्त चोटी स्थानीय है यानी सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही यहाँपर आश्चर्य श्रृंग कहा गया है। जो यह शिखर एकान्त में विहार करनेवाले तत्त्वज्ञानियों के मन को हरनेवाला, स्वच्छन्द एक तथा विकार की शंका से परे है, त्रिविध परिच्छेद से शून्य है, उसे मैंने वहीं सुन्दर जगतों में (ब्रह्मवित्मण्डलियों में) देखा। देवराज इन्द्र की और ब्रह्मा की लक्ष्मी भी उसकी बराबरी नहीं कर सकती ॥११-२०॥

एक सौ बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तैंतीसवाँ सर्ग

कहींपर भास ने जो अत्यन्त अचम्भा आकाश से सातद्वीपों के बराबर शवका गिरना देखा, उसका वर्णन।

इस अविद्याउपाख्यान में अत्यन्त अचम्भों के वर्णन के सिलसिले में शवोपाख्यान का भास के मुख से वर्णन कराने के लिये भूमिका बाँधते हैं।

विपश्चित् ने कहा : हे मुनिवर, इस जगत् से भिन्न किसी दूसरे अपूर्व जगत् में मैंने आगे कहा जानेवाला क्या अचम्भा देखा, उसे आप सुनने की कृपा कीजिये। वह ब्रह्महत्या आदि महापातकों के कारण प्राप्त होनेवाले रौरव आदि नरकों के वृत्तान्त वर्णन के समान अत्यन्त ही बीभत्स था फिर भी अविद्या से अन्धे बने हुए मुझे वह्निदेव की वरप्राप्तिवश उसका अनुभव करना पड़ा ॥१॥ कहीं आकाश में, जहाँ आप लोगों की पहुँच नहीं है, एक जगत् है। वहाँ जगमगा रही सूर्य और चन्द्र की कान्ति से विचित्र सृष्टि है। यद्यपि वह जगत् रूप-रेखा से इस ब्रह्माण्ड के सदृश ही है तथापि इस ब्रह्माण्ड की दृष्टि से शून्य होने के कारण इससे भिन्न ही है। जैसे कि स्वप्न में दृष्टिगोचर हुआ नगर यद्यपि रूपरेखा से जाग्रत अवस्था में दृष्ट नगर के समान ही रहता है तथापि जाग्रत की दृष्टि से शून्य होने के कारण चित्त में जाग्रतदृष्ट नगर से भिन्न ही प्रतीत होता है। उस जगत् में निवास कर रहे मैंने अपनी वांछित वस्तु (अविद्या का अन्त) दिगन्तों में खोजने के लिए दिशाओं की ओर आँखें फेरीं। दिशाओं में कौतुक देखने के लिए ज्योंही मैं प्रवृत्त हुआ त्योंही मैंने पृथ्वीपर भँवरों के झुण्ड की नाईं काली-काली पहाड़-सी बड़ी छाया घूमती देखी। उसके बाद अति विशाल होने के कारण अति आश्चर्यरूप यह छाया करनेवाला क्या हो सकता है यों विचार करते हुए मैंने ज्योंही ऊपर की ओर दृष्टि डाली त्योंही झटपट आकाश से चक्कर काटकर नीचे गिर रही पर्वत-सी पुरुषाकृति मुझे दिखाई दी। पर्वत के तुल्य महान् यह पुरुष ब्रह्मा है अथवा ब्रह्माण्डशरीर विराट् पुरुष है ? ऊपर से फेंके हुए पर्वत के समान इसका शरीर गिर रहा है। महान् तो यह इतना है कि इसने अपने शरीर से तमाम आकाश को ढक दिया है। प्रसिद्ध भगवान् सूर्य भी, इससे दिनशोभा के सर्वथा लुप्त होने के कारण, शोभा नहीं पा रहे हैं। मैं अपने मन में इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि अकस्मात् आकाश से भगवान् सूर्य-प्रलय कालीन वायुओं से उखाड़े हुए ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व कपाल के गिरने में जैसा घनघोर शब्द हो वैसे घनघोर शब्दवाले वेग के साथ-पृथ्वी पर गिरे। भयानक स्वरूपवाली जिसकी देहका पारावार नहीं था ऐसी पुरुषाकार वस्तु के गिरने और सातद्वीपवाली पृथिवी को एक क्षण में ढक लेनेपर मुझे उसके दबाव से द्वीप और लोकों के साथ अपने शरीर के अवश्यम्भावी विनाश की आशंका हुई। तदनन्तर मैं पास में स्थित अग्नि में प्रविष्ट हो गया। सैकड़ों जन्म जन्मान्तरों में मैंने भगवान् अग्नि की पूजा कर रक्खी थी, अतएव उन्होंने चन्द्रमा के समान शीतल शरीर बनकर मुझको ढ़ाढस दिया, मत डरो कहा। हे देव, आपका जय जयकार हो, आप हमारे प्रत्येक जन्म में परम आश्रय हैं। हे प्रभो, अनवसर में ही यह प्रलय प्राप्त है, अतः आप मेरी रक्षा कीजिये ॥२-१०॥

इस प्रकार अग्नि की प्रार्थना करने पर अग्नि ने पुनः मुझे ढाढस देते हुए मत डरो कहा और यह

भी कहा हे अनघ ! उठो हम दोनों अपने अग्निलोक को जाते हैं, तुम आओ किसी प्रकार का सोच मत करो। यह कहकर तदनन्तर भगवान् अग्नि अपने वाहन तोते की पीठपर मुझे बैठा कर पूर्वोक्त गिरे हुए शव के शरीर का एक हिस्सा जलाकर उसमें से निकलने के लिए एक छिद्र बनाकर आकाश में उड़ गये। तदुपरान्त आकाश में पहुँचकर मैंने वह पूर्वोक्त शवपतनरूपी महोत्पात देखा, जो अतिभयानक कष्टप्रद आकृतिवाला था। उक्त महाशव जब पृथिवीपर गिरा तब सारी पृथिवी सागर, पर्वत, वन, नगर और जंगलों के साथ काँप उठी, उससे बह रही नदियों का प्रवाह रुक गया, अतएव उसने गिरिनदियों के दोनों तटोंपर मार्गान्तर में जल बहने के कारण दो जलप्रपात बना डाले। वेग से गिर रही जलराशि ने भीषण गर्त बना डाले, जो मनुष्य विरचित बावड़ी, कुएँ और तालाबों से विलक्षण थे। उसके गिरनेपर भूमि में चीत्कार हुआ, उत्तर दिशा, पूर्व दिशा, दक्षिण दिशा और पश्चिम दिशाओं में हाहाकार मचा, आकाश में तुमुल ध्वनि हुई। पर्वत और प्राणियों के साथ सारे जगत् ने प्रलय की भ्रान्ति से भयभीत होकर विविध प्रकार के चीत्कार रोदन, हाहाकार आदि किये। गिरे हुए शव के धारण करने में पृथिवी से कोलाहलपूर्ण ध्वनि निकली। उसके कोलाहलपूर्ण वेग के आटोप से समस्त दिगन्तों का कोलाहल दब गया। आकाश से भी अत्यन्त तेज होने के कारण अन्य ध्वनियों से न दब सकनेवाली घुंघुम ध्वनि निकली। यदि अनेक गरुड़ भय से भागे तो उनके भयपूर्वक तेजी से भागने में जैसी प्रचण्ड ध्वनि होती है ठीक वैसी ही वह ध्वनि थी। पर्वतों की गुफाओं को खूब तोड़ने फोड़ने से पैदा हुआ घनघोर शब्द, भीषण भय के लिए तथा कान, हृदय आदि का भेदन करने के लिए चारों ओर से पैदा हुआ। उक्त शब्द उत्पातों के कारण भयंकर वेगवाले अतएव जालों की नाईं अपनी ओर खींचने वाले प्रलय–वायुओं से कुपित हुए प्रलयकालीन मेघों के निर्घोष को अपनी तीक्ष्णता के सामने मात करता था। उस शव के वेग से गिरने पर पृथ्वी कोलाहलपूर्ण हुई। दिशाओं के मारे कोलाहल के गूँज उठने से पृथिवी में सौगुना अभिघात हुआ। पृथिवी पर अभिघात होनेपर कुल पर्वतों के महातट मटियामेट हो गये और हिमालय के शिखर पाताल को चले गये। मेरुपर्वत की शिला के समान रूपरेखावाले शव के गिरने से पर्वतों के शिखर तहस–नहस हो गये, पृथिवी के टुकड़े–टुकड़े हो गये, समुद्रों में ज्वारभाटा आ गया, पहाड़ रसातल चले गये, सकल प्राणियों को क्लेश हुआ, प्रलय चाहनेवाले रुद्र आदि गणों का खिलवाड़ हुआ, सूर्य पृथिवीपर गिर पड़ा, द्वीपसमूह आच्छन्न हो गये, पहाड़ों का चूरा चूरा हो गया और पृथ्वीमण्डल छिन्न–भिन्न हो गया। उस शव को आकाशचारी देव, गंधर्व आदि ने महान् आकार से दूसरा भूतल–सा, ब्रह्माण्ड का दूसरा अर्ध भाग–सा, गिरा हुआ आकाश–सा देखा। इसके पश्चात् जब मैंने गौर से उसे देखा, तो वह मांसमय पर्वत निकला। उसका एक अंग भी सप्तद्वीपा पृथिवीपर नहीं समा सकता था। उसे देखकर मैंने अपने ऊपर सदा अनुग्रह करनेवाले भगवान् अग्निदेव से पूछा : भगवन्, यह क्या है ? वह मांसमय शरीर कैसे गिरा, उसके साथ आकाश से सूर्य कैसे गिरा और पर्वत, वन और जलधिसहित भूमितल में यह क्यों नहीं समाता है ? ॥११–२५॥ भगवान् अग्नि ने कहा : वत्स, जब तक शव के गिरने से उत्पन्न हुआ उत्पात पूर्णरूप से शान्त नहीं हो जाता तब तक त्वरा का त्याग कर तुम क्षणभर प्रतीक्षा करो उसके बाद मैं तुमसे सब कहूँगा ॥२६॥ इसके पश्चात् अग्निदेव ऐसा कह ही रहे थे कि दसों दिशाओं से उन जगतों की जातिवाले

आकाशचारी सिद्ध, साध्य, अप्सराएँ, दैत्य, गन्धर्व, नाग, किन्नर, ऋषि, मुनि, षोडष मातर, यज्ञ, पितर देवता आदि आ गये। उन सबकी वेष–भूषा आकाशोत्पन्न थी। उन आकाशचारी सिद्ध आदि ने भक्ति से सिर नवाकर, शरीर झुकाकर रक्षा करने में समर्थ सर्वेश्वरी कालरात्रि देवी की स्तुति की ॥२७–२९॥ आकाशचारियों ने कहा : जो देवी महाप्रलय में संहार को प्राप्त भगवान् ब्रह्माजी की कपिल जटाओं को अपने खट्वांग की चोटीपर बाँधकर, अपने वक्षस्थल में दैत्यों के मस्तकों की माला बनाकर, गरुड़ के पंखों से मुकुट बनाकर तथा समस्त प्राणियों का संहार कर पर्वतभूतलरूप इस जगत् का पान करती है। इस प्रकार सारे जगत् का ध्वंस करने पर भी जिसे तनिक भी दोषों से स्पर्श नहीं होता अतएव ज्यों कि त्यों शुद्ध चिन्मात्रस्वभाव है, हम लोगोंपर अनुग्रह करने के लिए शरीर धारण करनेवाली वह देवी अवश्य पालन करने योग्य हम लोगों का पालन करे ॥३०॥

एक सौ तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौंतीसवाँ सर्ग

आविर्भूत हुई देवी कालरात्रि के शरीर का वर्णन तथा गणों द्वारा
उस शव का भक्षण, जिसका कि रक्त श्रीदेवी पी चुकी थी।

इस बीच में जब देवगण देवी की स्तुति कर रहे थे, उस पूर्वोक्त गिर रहे पुरुष ने अपने शरीर से सारे भूतल को आच्छादित कर दिया था, उसको मैंने शवरूप (निर्जीव) जाना। जिस शवभागने सप्तद्वीपा भूमि को पूर्णतया आच्छादित कर दिया था, सम्पूर्ण भूमि में न समा रहे शव के उसी पर्वततुल्य महान् उदरभाग को मैने देखा ॥१,२॥

वह शव इतना महान् था तो दूरस्थित उसकी भुजाएँ, जंघाएँ और सिर तुमने कैसे जाने ? ऐसी आशंका होनेपर वह कहता है।

भगवान् अग्नि ने उसकी अनन्त भुजाओं, जंघाओं और सिर के विषय में मुझसे कहा था, जो कि उसके भुजा आदि अवयव मनुष्यों की पहुँच के परे लोकालोक पर्वत के परले पार गिरे थे। इसके बाद आकाशचारी सिद्धादिवृन्द के आदरपूर्वक देवी की स्तुति करनेपर देवी आकाश से प्रकट हुई, चूँकि वह आकाश से प्रकट हुई थी, अतएव स्वयं शुष्का (रक्तहीना) थी। भूत–प्रेतों के दल के दल उसके पीछे–पीछे चल रहे थे, षोड़श मातर उसकी आवभगत में (सेवा–शुश्रुषा में) संलग्न थीं, कूष्माण्ड, यज्ञ, वेतालों के झुण्डों से उसने आकाश को तारामण्डल से मण्डित–सा बना दिया था तथा नसों के जल से पूर्ण बड़े–बड़े भुजदण्डों से आकाशतल को वन बना दिया था, दिशाओं में दाह की वृष्टि करनेवाले अपने दृष्टिपातों से वह सूर्यो को बिखेर रही थी, चमचमा रहे विविध हथियारों के आकारों से हो रही झण झण ध्वनि के साथ आकाशरूपी खोड़रे में पक्षियों के झुण्ड को सैकड़ों हिस्सों में बाँट रही थी। शरीर की ज्वालाओं और नेत्रवर्ती अग्नि की उष्णता से परिपूर्ण शरीर के अवयवों से बहुत लम्बे बाँसों के वन के आकारवाली करोड़ों योजन की कान्तियाँ बिखेर रही थी। चाँदनी जैसी दन्तकान्तिरूपी दूध से उसने दिशाओं को धो डाला था, अपने (दुबले) पर अतिविस्तृत शरीर से आकाश आच्छन्न कर दिया था, उसका न तो कोई आधार था और न स्थान ही था, अतएव

वह निराधार आकाश में फैली हुई सन्ध्याकाल की मेघपंक्ति-सी थी। परम ब्रह्म में आविर्भूत हुई वह प्रेतासन पर बैठी थी। जगमगा रही, उज्ज्वल रूपवाली वह सन्ध्याकाल के मेघ के समान लाल थी, अतएव आकाशरूपी सागर में बडवानल की शोभा धारण कर रही थी। पूरे शवों से, शवों के अवयवों से, मूसल, प्रास, तोमर, मुद्गर, आसन, ऊखल और हलों से बनी चंचल मालाओं को इधर-उधर बिखेर रही थी। जैसे वर्षा ऋतु का पर्वत पत्थरों की माला को झर-झर ध्वनिवाले झरनों से अपने शरीर में धारण करता है वैसे ही वह दाँतों के कट-कट शब्द के आडम्बर से युक्त प्रजाओं के शरीर की माला को आकाशरूपी आँगन में धारण कर रही थी ॥३-१३॥ देवताओं ने उस देवी से कहा : हे देवि ! अम्बिके ! इसे हमने आपको भेंट कर दिया है, कृपया अपने परिवार के साथ शीघ्र इसका भोग लगाइये ॥१४॥ देववृन्द के यों प्रार्थना करनेपर देवी, स्वयं सर्वप्राणशक्ति रूप होने से तथा प्राणों के रक्तपर आश्रित होने से, प्राणवायु से ही उसका रक्तरूपी सार अनायास खींचने लगी। जैसे सन्ध्याकाल का मेघवृन्द मेरु की गुफा के अन्दर प्रविष्ट होता है वैसे ही प्राणवायु द्वारा खींचा जा रहा उस शव का रक्त भगवती के मुँह में प्रविष्ट हुआ। आकाश में स्थित भगवती कालरात्रि ने प्राणवायु द्वारा खींचा गया रुधिर तब तक पीया जब तक कि पहले सूखी लकड़ी-सी वह चण्डिका तृप्त होकर मोटी तगड़ी न हो गई। तदुपरान्त रुधिर से मोटे तगड़े शरीरवाली वह जैसे वर्षा ऋतु में बिजलीरूपी चंचल नेत्रवाली मेघमाला रक्तवर्णा होती है वैसे ही बिजली की तरह चंचलनयना और लाल हो उठी। रक्त पीने से भगवती की तोंद बाहर निकल आई। लम्बी तोंदवाली वह विषैले साँपरूपी आभूषणों से विभूषित थी, रक्तरूपी मदिरा के नशे में चूर थी तथा सब हथियार उसने धारण कर रक्खे थे। पूर्वोक्त देवी ने अपने आधे शरीर से आच्छन्न आकाश में नाचना आरंभ किया। आस-पास के लोकालोकपर्वत की श्रेणी के शिखरों पर बैठे हुए देवगण उसका नाच देखने लगे। उसके पश्चात् पिशाच, कूष्माण्ड, रूपिका आदि महागणों ने उक्त शव को चारों ओर से ऐसे घेर डाला जैसे कि मेघमाला हिमालय पर्वत को घेर डालती है। कूष्माण्डों ने उक्तशवरूपी शैल को कमर की ओर से पकड़ा, रूपिकागणों ने पेट की तरफ से उसे पकड़ा और यक्षों ने हाथी के-से अपने दाँतों से क्षतविक्षत अवशिष्ट पीठ और अगल-बगल की ओर से उसे पकड़ा। चूँकि उसके जो भुजा, जंघा, कन्धे आदि अन्य अवयव थे, वे बहुत बड़े थे और ब्रह्माण्ड के परले पार जा पड़े थे, अतएव पूर्वोक्त भूत, प्रेत, पिशाच आदि दूर दिगन्तर में पड़े हुए उन्हें नहीं पा सके, किन्तु वे वहींपर काल से अपने-आप गल गये। जबकि चण्डिका आकाश में नाच रही थीं, सबके सब भूत-प्रेत शवपर लपटे थे, देववृन्द पर्वत के शिखरपर बैठकर देवी का नृत्य देख रहा था, उस समय सारे भुवन की जो स्थिति हुई वह बड़ी दयनीय थी। उसकी सब दिशाएँ खण्ड-खण्ड करके खाये जा रहे, ले जाये जा रहे दुर्गन्धिपूर्ण मांस, वसा आदि से व्याप्त थीं, रक्त से सने हुए मेघखण्डों से खैर और अग्नि के समान सारा भुवन लाल दिखाई देता था।

माँस चबाने की जल्दी से चारों ओर चब् चब् शब्द हो रहा था, लता जैसी लम्बी-लम्बी नसों और हड्डियों के टुकड़े करने से आकाश में कट-कट शब्द फैला था, भूतों के एक जगह इकट्ठा होने और अलग-अलग होने के कारण चारों ओर भीषण ध्वनि हो रही थी, सारा भुवन हिमालय और विन्ध्य पर्वत

जैसे बड़े–बड़े हड्डियों के पहाड़ों से भरा था। देवी के मुँह से निकल रही अग्नि की ज्वाला में खूब पके हुए माँस से सारा–का–सारा भूतल व्याप्त था और रुधिर–कणरूपी ओस की बूँदों से सभी दिशाएँ सिन्दूर से सनी हुई सी हो गई थी। चारों ओर से देखनेवाले देवताओं से दिगन्तर चहारदिवारी से घिरा–सा हो गया था। कुछ पहाड़ तो चोटी तक पृथ्वी के अन्दर धँस गये थे और बचे खुचे शेष सबके सब हड्डियों से चोटियों तक छिप गये थे, अतएव भुवनों के सभी पर्वत अत्यन्त तिरोहित हो गये थे। दिशारूपी नायिकाएँ रुधिर से सने हुए मेघमण्डल से रक्तवस्त्र से ढकी हुई–सी मालूम पड़ती थी। गोल–मटोल और चंचल भुजाओं से घुमाये गये विविध हथियारों से आकाश सारा का सारा पट गया, नगर गाँव और कसबे सबके सब ध्वस्त हो गये थे, केवल उनकी स्मृति ही शेष रह गई थी। भुवन में सारे चराचर जगत् का रूप ही अत्यन्त असंभव हो गया था, सारे जगत् में सर्वत्र कूष्माण्ड और पिशाचिनियों का ही एकमात्र समाज हो गया था। पिशाचों द्वारा ताने बाने बनाये गये आँतड़ीरूपी तन्तुओं से, जो नाचने में जी जान से लगे हुए भूत, प्रेत और पिशाचों के अभिनयशील हाथों के आकार के (अभिनयशील हस्तरूपी) पक्षियों को फँसाने के लिए फैलाए हुए जाल के समान और आकाश में द्वितीय जगत् की रचना कर रहे ब्रह्मा के नापने के सूतों के जैसे भूमि से लेकर सूर्य मार्ग तक ऊपर नीचे और दस दिशारूपी झाड़ियों से तिरछे लगे थे, ब्रह्माण्ड के उदरगत विमान के समान त्रैलोक्य हो गया था। भूतपूर्व पृथ्वीपर जमी हुई रुधिरधाराओं से समुद्राकार बने हुए अतएव पूर्वोक्त उपद्रव से विक्षुब्ध जगत् की वैसी हालत देखकर सात द्वीपों के छोर पर उक्त शव के कुत्सित अंगों से अस्पृष्ट लोकालोक पर्वत के शिखरपर बैठे हुए देवगण अति खिन्न हुए ॥१५–३७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जिस शव के अतिविशाल हस्त, पाद आदि अवयव ब्रह्माण्ड से भी बाहर, पहुँच गये, उसने लोकालोक पर्वत को कैसे नहीं ढका ?॥३८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उस शव का उदरोपलक्षित मध्यशरीर सात द्वीपों के बीच में रहा है। सिर, खुरोपलक्षित पैर और बाहु आदि अवयव ब्रह्माण्ड के बाहर रहे। हाँ, यह जो भासने कहा वह सत्य ही है तथापि शव के दोनों बगल, जंघाओं के मध्य से, कमर के दो भागों से और सिर और कन्धों के दो मध्य भागों से शिखरों के न ढकने के कारण वह लोकालोक पर्वत ऊपर दिखाई देता ही है ॥३९,४०॥

इस तरह प्रश्न का उत्तर कहकर कथा का अवशिष्ट अंश भी श्रीवसिष्ठजी ही कहते हैं, जो कि भासको ज्ञात न था।

वहाँ शिखरों की चोटियोंपर बैठे हुए अत्यन्त शुद्ध कान्तिवाले देवता शरदऋतु के सूर्य की धूप से निर्जल हुए शुभ्र मेघों के समान दिखाई देते हैं। जब भूतप्रेतों का दल सब अंग–प्रत्यंग छोड़कर (फैलाकर) मुँह के बल गिरे हुए उस शव को खा रहा था और सोलहों मातृकाएँ (देवियाँ) खूब नाच रही थीं, रुधिर के पनाले बह रहे थे, वसा की दुर्गन्ध फैल रही थी, प्रत्येक देवताने दुःखी होकर यह विचार किया ॥४१–४३॥ हा खेद है, पृथिवी कहाँ चली गई, सागर कहाँ चले गये, जनता कहाँ चली गई और पर्वतराशि कहाँ चली गई ? ॥४४॥ हाय, चन्दन और मन्दार और कदम्ब के वृक्षों के वनों से अलंकृत तथा विविध पुष्पों की राशियों का मण्डप–सा वह सुन्दर मलयाचल कहाँ चला गया ? ॥४५॥ रुधिर ने हिम से सम्पादित शुक्लता के प्रति मानों द्वेषवश उसको नष्ट करने के लिए

हिमालय के ऊँचे स्वच्छ विशाल भूभागों को अपने कीचड़ से शीघ्र लथपथ कर रँग डाला। क्रौंचद्वीप में क्रौंचनामक पर्वतपर जो विशाल कल्पवृक्ष था, जिसकी शाखाएँ ब्रह्मलोक तक फैली हुई थीं, उसका भी चूरा-चूरा हो गया है ॥४६,४७॥ हे कल्पवृक्ष, लक्ष्मी, चन्द्रमा और अमृत को पैदा करनेवाले, हे क्षीरसागर, हे दधिसागर, जिसके कि नवनीत से भरे हुए पर्वतों पर वेलावन उगा है, जिसके तीरस्थित नारियल के वृक्षों की बहुतायतवाले सुन्दर दर्शनीय पर्वतपर योगेश्वरियाँ निवास करती हैं, ऐसे हे मधुसागर आप सब शोचनीय हैं। आप लोग इस समय कहाँ चले गये, अथवा स्फटिक आदि रत्नशिलाओं से देवांगनाओं और दिशाओं की दर्पणता को कहाँ प्राप्त हुए ? ॥४८॥ हे क्रौंचद्वीप, जिसमें कल्पवृक्ष और निर्मल कांचनलताओं से निरवच्छिन्न घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला क्रौंचाचल है, हे पुष्कर द्वीप, जिसका चौगिर्द ब्रह्माजी के वाहनभूत हंसों और नलिनियों से ठसाठस भरा है और जो कदम्ब के वनों की गुफाओं में विश्राम करनेवाले विद्याधरियों की रतिक्रीड़ाओं के जानकार नागरिकों और देवताओं का अड्डा है, तुम दोनों यहाँ से कहाँ चले गये ? स्वादुजलवाले समुद्र के तथा उसके वनों के, जो कि उग्र ताप को हटानेवाले तथा पुष्पों से आच्छन्न हैं और पृथ्वी को पवित्र करनेवाले हैं, गोमेध द्वीप, उसके कल्पवृक्षों के और वहाँ की सुवर्णलताओं के तथा उनसे सुन्दर गुफाओं के और कल्पवृक्षों के वनों से वेष्टित तथा कल्पवृक्षों के फूलों से सफेद शाकद्वीप के साथ उसके पर्वतों के स्मरण से ही मनुष्यों को स्वर्ग सुखप्रद पुण्य होता है। जिनकी दसों दिशाएँ मन्द-मन्द वायु के हिलोरों से चंचल पत्तोंवाली लताओं से वेष्टित कल्पवृक्षों से लहलहाती थीं वे सबके सब वन हाय ध्वस्त हो गये मेरी समझ में नहीं आता अब हमारे सदृश लोग कैसे विश्राम लेंगे। इक्षुसागर के किनारे मिश्री की चट्टानवाले पहाड़ों से विभूषित पृथ्वीपर उन घने जंगलों को तथा उन अतिमधुर मोदकों को फिर कब देखेंगे ? खांड के बने हुए खिलौनों को भी कब देखेंगे ? ताड़ और तमालों के वनों से युक्त उस पर्वत के कदम्ब और कल्पवृक्ष से शीतल सुवर्णमय गृहों में बैठकर पहले अनेक बार अनुभूत चन्दनलिप्तसर्वांगवाली सुन्दरियों का (या चन्दनलतारूपी सुन्दरियों का) नृत्य कब देखेंगे ? हा, जम्बूद्वीपवर्ती जम्बूवृक्ष के हाथी के बराबर तथा जाम्बूनद सुवर्ण की उत्पत्ति के हेतु होने से अति प्रसिद्ध अग्रफल स्मरणीय हो गये हैं उन्हीं फलों के रससे बनी नदी को यह जम्बूद्वीपरूप पृथ्वी धारण करती है, अन्यान्य द्वीप और समुद्र उसकी मेखला रूप है। कुकुरमुत्ता (एक प्रकार की बदबूदार वनस्पति, मशरूम) से चारों ओर भरे हुए पहाड़ों की गुफाओं में मदिरा मद से मतवाली स्त्रियों द्वारा किये गये संगीत नृत्य की चहलपहलवाले सुरासागर के तीरका स्मरण कर प्रातःकाल में जैसे कमल की पँखुरियाँ दर दर एक के बाद एक विदीर्ण होती है तथा जैसे इस समय पृथ्वी विदीर्ण हुई है वैसे ही मेरा हृदय विदीर्ण होता है ॥४९-५५॥

हे मित्र, जरा आकाश की ओर देखो, लाल जलवाले नूतन सागर के ऊपर सुवर्णमय मेरु आदि सैकड़ों पर्वतों के शिखरों की चोटियाँ उत्तर आदि दिशाओं में सूर्योदय और सूर्यास्त के निकट की भूमियों की प्रातः और सायं संध्या से लाल हुई कुछ कुछ उदित चन्द्रकलाओं की तरह अपनी कान्ति से शोभित हो रही हैं। हाय हमारी प्यारी भूमि, जिसके पूर्ववर्णित सागररूप जलराशि कंकण के तुल्य है, जो विभिन्न द्वीपों से अलंकृत है तथा स्तनसदृश उन्नत पर्वतों पर बैठे हुए मेघरूपी नीलकमलों

की माला से सुशोभित है, जो वृक्ष, पल्लव, अंकुर आदि भूषणों से युक्त है, जिसके सोते, नदियाँ, जंगल, वीरों से भयानक नगर, ग्राम, अग्रहार (ब्राह्मणों को दान दिये गये ग्राम) वस्त्र हैं, इस समय न मालूम कहाँ चली गई है ? ॥५६,५७॥

एक सौ चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पैंतीसवाँ सर्ग

भूत, प्रेतों के झुण्ड द्वारा शव का खा लेने और रुधिर पी लेने के
अनन्तर वसा से पृथिवी की रचना हुई और बचे हुए रुधिर से मदिरा का सागर बनाया गया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : उन्मत्त भूत–प्रेतों के झुण्ड ने खाने के बाद शव को जब थोड़ाबहुत बचा दिया तब दिशाओं में स्थित लोकालोक पर्वतपर बैठे हुए देवराज सहित देवताओं ने यह कहा : देवी के गणों ने वसा से सनी हुई अतएव वायुवश उड़े हुए निर्मल मेघखण्डों से व्याप्त आकाश के समान बड़ी–बड़ी आँतड़ियाँ विद्याधर और देवताओं के विहार के साधन विमानों की संचारभूमि में (आकाश में) भी सुखाने के लिए फैलाई हैं। देखिये, भूतों ने सातों द्वीपों में वसा का जल बहाया है, मांस खा डाला है और रक्त पी लिया है, इसलिए इस समय भूमि कुछ दर्शनीय हो गई है। सब प्राणियों को आनन्द प्रदान करनेवाली पृथिवी हाय इस समय वसारूपी वस्त्रों से सारी ढकी है और सबके सब वन वसा के बने हुए शरत्कालिक मेघसमूहों से धूसर कम्बलों से ढके हुए से मालुम पड़ते हैं। देखिये, उस शवकी इन हड्डियों ने महापर्वतों का रूप धारण कर लिया है। ये दिशा–तट को ढककर हिमालय की चोटियों के समान खड़े हैं ॥१–५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भास, जब कि देवगण आपस में उक्त वार्तालाप कर रहे थे, वे देवी के गण तृप्त होकर खाने पीने से बचे हुए वसा से पृथिवी को लीप–पोतकर उन्मत्त हो आकाश में नाचने लगे। भूतों के झुण्ड के आकाश में नाचने पर देवताओं ने पृथिवी का अवशिष्ट रुधिर अपने संकल्प से रचित एक नाले से एक सागर में भर दिया। देवताओं ने निश्चय कर उसी सागर को मदिरा का सागर बनाया। तबसे लेकर आज तक वह मदिरा का सागर बना है। वे भूत आकाश में नाचकर उस सागर की मदिरा का पान करते हैं और आनन्द मन्दिर आकाश में फिर नाचते हैं। उन भूतों की भाँति आज–कल के भूत भी उस मदिरासागर से मदिरा पीते हैं और योगेश्वरी के गणों के साथ आकाश में नाचते हैं। उन भूतों के पीने से शेष रही वह वसाराशि पृथिवी में फैलकर सूख गई है, इसी कारण पृथिवी का मेदिनी नाम पड़ा है ॥६–११॥

इसी तरह देवताओं ने सूर्य को भी पहले की नाईं अपने पदपर प्रतिष्ठित कर दिया, पर्वत आदि की रचना भी पहले की तरह कर डाली यह सूचित करते हुए कहते हैं।

इस प्रकार के क्रमसे शव के क्षीण होने पर सूर्य के अपने पदपर प्रतिष्ठित करने और मेरु आदि पर्वतों का उद्धार करने के कारण दिन और रात्रि के क्रम के पुनः चालू होनेपर फिर प्रजापति ने नई–नई प्रजाओं की सृष्टि की। इस भूमि में वह सृष्टि पूर्ववत हुई ॥१२॥

एक सौ पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छत्तीसवाँ सर्ग

भास के पूछने पर अग्नि द्वारा आदि से लेकर शव के वृत्तान्त का
उसकी असुर, मच्छर, मृग और व्याध योनियों का - वर्णन।

भास ने कहा : राजन्, इसके बाद तोते के पंखों की जड़ के कोनेपर बैठे हुए देवाधिदेव भगवान् अग्नि से मैंने यह पूछा, सुनिये : हे भगवन्, हे सकल यज्ञों के ईश्वर, हे स्वाहादेवी के अधिपति, हे अग्निदेव, जिसका इस समय 'शव' नाम पड़ा है वह पहले किस कारण से हुआ ? ॥१,२॥ अग्नि ने कहा : हे राजन् सुनो, मैं त्रैलोक्य में प्रकाशमान असीम शवका सारा का सारा वृत्तान्त आदि से अन्त तक तुमसे कहता हूँ ॥३॥ सर्वव्यापक, निराकार चिन्मय परमाकाश है, जिसमें ये असंख्य जगत्‌रूप परमाणु हैं। उस सर्वव्यापक, सर्वात्मक, शुद्ध, चिन्मात्रआकाश में कहींपर अपने आप विषयाकारमय संवित् उद्‌भूत हुई। वेदनारूप स्वभाव होने के कारण ही उसने अपने में तेजःपरमाणुभाव वैसे ही देखा जैसे कि तुम पथिक की भावना करते हुए सोकर स्वप्न में अपने को ही पथिक रूप से देखते हो। अज्ञानावृतचैतन्य होने के कारण परमाणु ने कमल में उत्पन्न पराग के कण के समान खूब चमक रही संकल्परूप अपनी अणुता स्वयं देखी॥४-७॥ चमक रही उस अणुता ने बढ़कर अपनी वृद्धि की (फुलाव की) भावना करते हुए चक्षु आदि इन्द्रियों का अनुभव किया फिर वे इन्द्रियाँ शरीर में संलग्न हैं, ऐसा अनुभव किया। आगे चक्षु आदि ने अपने स्वभाव से शब्द, स्पर्श आदि गुणों का आधारआधेय सम्बन्धवाला भूतमय जगत्, स्वप्न के नगर के समान, देखा ॥८,९॥ वेदन से लेकर विषयपर्यन्त अध्यारोपरूप कार्य-करणों के मध्य में असुर नाम का कोई प्राणी था, वह असुर स्वभाव से ही बड़ा अभिमानी हुआ।

शंका : क्या उसके माता, पिता और पितामह नहीं थे ?

उत्तर : थे, किन्तु विदूरथ के पिता, माता आदि के समान असत्यप्रतिभास-स्वरूप थे। वह मारे घमण्ड के फूला न समाता था, अतएव उसने वहाँपर किसी महामुनिका सुखशान्तिमय आश्रम मटियामेट कर डाला। तब मुनिने उसे शाप दिया-अरे अधम, विशालकाय होने के कारण तूने मेरा यह आश्रम तहस-नहस कर डाला है, इस कारण तू मरकर अतिक्षुद्र मच्छर हो। इसके उपरान्त मुनि के शापरूपी अग्नि ने उसी क्षण में उस असुर को जैसे बड़वानल जल को भस्म कर देता है वैसे ही वहाँ भस्म कर दिया ॥१०-१३॥

उस समय वह आसुर चेतन कैसा था, इस पर कहते हैं।

आकाशमण्डल के तुल्य निराकार निराधार चैत्यभिन्न आसुर चेतन सुषुप्त मूर्च्छित चित्त के समान था। वह अव्याकृतस्वरूप आसुर चेतन, समानता होने के कारण, भूताकाश के साथ एकता को प्राप्त हुआ और तदनन्तर वह भूताकाश अपने में प्रतिष्ठित वायु के साथ एकता को प्राप्त हुआ। चेतनावायुरूप (प्राण रूप) वही, जिसका कि देहप्राप्ति होनेपर 'प्राणी' नाम पड़ेगा, अणुरूप पार्थिव भाग, अणुरूप जल भाग, अणुरूप तेज भाग और अणुरूप आकाश भाग से व्याप्त हुआ। उस पंचतन्मात्रामय अणुरूप चिन्मात्रलेश में आकाश में वायुलेश के समान स्वभावतः क्रियाशक्ति का आविर्भाव हुआ ॥१४-१७॥

क्रियाशक्ति से लिंगदेह में ज्ञानशक्ति के आविर्भाव को कहते हैं।

तदुपरान्त जैसे वर्षा ऋतु, पूर्वी वायु, वर्षा आदि का जल – इन सबसे अंकुर पैदा करने में सक्षम भूमि में बोया हुआ बीज फूलकर जाग्रत होता है वैसे ही उसका वायु के अन्दर स्थित वह चेतन उद्बुद्ध हुआ। महामुनि के शाप को जाननेवाली, मच्छर की योनि को प्राप्त होनेवाली उक्त अन्तःकरण में स्थित असुर की चिति उक्त संस्कारों से विद्ध होकर मच्छर के पंख, पैर आदि अंगों को जानकर स्वयं मच्छर हो गई ॥१८,१९॥

स्वेदज आदि चतुर्विध भूतयोनियों में उसने कौन योनि पाई और कितने काल तक की उसकी आयु हुई ? इस पर कहते हैं।

अतिक्षुद्र शरीरवाले उस स्वेदज मच्छर का शरीर अति हलका होने से फूँक मारने से उड़ जाता था, उसकी केवल दो दिन की परमआयु हुई ॥२०॥

आपने स्वप्नसंसार के समान ही जाग्रतसंसार भी है, यह एक दो नहीं, सैकड़ों बार कहा है। स्वप्न–देह का तो योनि से जन्म नहीं दिखाई देता, जाग्रतदेह का योनि से जन्म दिखाई देता है, उसके दृष्टान्त से जाग्रत–देह के समान ही स्वप्नदेहका भी जन्म सर्वत्र योनि से ही है अथवा दूसरे प्रकार से भी हो सकता है यों संशय में पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी प्रसंगतः श्रीवसिष्ठजी से पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : प्रभुवर, यहाँ सभी प्राणियों का योनि से ही जन्म होता है अथवा अन्य प्रकार से भी हो सकता है ? ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, ब्रह्माजी से लेकर तिनके पर्यन्त सब भूतों की दो प्रकार की उत्पत्ति होती है–एक ब्रह्ममय और दूसरी भ्रान्तिज। इन दोनों को आप सुनिये। पहले की योनि के अनुभव से बद्धमूल पहले के शरीरतादात्म्य की दृढ़ भ्रान्ति से तत्–तत् भूत और भूततन्मात्राओं के अनुरागवश तदाकार से प्राणियों का जो जन्म होता है वह भ्रान्तिज जन्म कहा गया है, क्योंकि वह दृश्य के संग से होता है। इस विषय में 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु–विनश्यन्ति' 'यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति' इत्यादि भगवती श्रुतियाँ हैं। नित्यमुक्त ब्रह्मा को पहले कभी भी ध्यान में न आई हुई जगद्भ्रान्ति होनेपर सृष्टि के आरम्भ में विर्वतवश हो रहा चतुर्विध जीव रूप से ब्रह्म का जो जन्म है वह ब्रह्ममय जन्म कहा गया है, वह योनिज जन्म नहीं है ॥२२–२४॥

ब्रह्ममय जन्म का अनुभव जन्मतः सिद्ध कपिल, सनक आदि महामुनियों को ही होता है, अज्ञानी मच्छर आदि का ब्रह्ममय जन्म नहीं हो सकता अतएव प्रस्तुत मच्छर–जन्म भ्रान्तिज ही था, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी परिस्थितिमें वह मच्छर जगद्भ्रान्तिवश जन्मा था, ब्रह्मविवर्तवश नहीं जन्मा था। अब आप उसकी क्रमिक चेष्टाओं को सुनिये। पृथ्वीपर ईख के झुरमुटों, घनी घास के तिनकों, काश, मूँज आदि के अम्बार में गूँजनेवाले मच्छरों में स्वयं भी गूँज रहे और क्रीड़ा कर रहे उस मच्छर ने दो दिन की अपनी पूर्णायु का आधा हिस्सा (एक दिन) भोग लिया ॥२५,२६॥

आधी आयु (एक दिन) बीतने के उपरान्त दूसरे दिन की उसकी चेष्टा का वर्णन करते हैं।

उस मच्छर ने बाल–क्रीड़ावश स्वयं हरीघास के मध्यरूप झूले में चिरकालतक अपनी पत्नी मच्छरी के साथ झूलना आरम्भ किया। झूलने की थकान से थका हुआ वह ज्योंही कहीं विश्राम करने लगा

त्योंहीं ऊपर हरिण के खुराग्रभागरूप पर्वत के गिरने से चूर हो गया। उसने हरिण की आकृति के दर्शन से प्राण त्यागे थे इस कारण पहले मच्छर की देह ग्रहण करने में जो क्रम कहा गया है उसी क्रम से बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का ग्रहणकर तदनन्तर वह हरिण हो गया। अरण्य में इधर उधर भटक रहे हरिण को व्याध ने धनुष से मार डाला। मरते समय उसकी दृष्टि व्याध के मुखपर पड़ी, अतएव अगले जन्म में वह व्याध ही हुआ। विविध वनों में भटक रहा व्याध अकस्मात् मुनि के वन में जा पहुँचा। वहाँपर उसने विश्राम किया। उसके सत्संगलाभरूप सौभाग्य से मुनि ने उसे ज्ञानोपदेश दिया : अरे व्याध, तुम भ्रम में पड़े हो। इस क्षणभंगुर जगत् में दीर्घ दुःख के लिए मृगों को धनुष बाण से क्यों मारते हो ? महाफल देनेवाली अहिंसा, अभयदान आदि शास्त्रमर्यादा का क्यों पालन नहीं करते ? ॥२७-३२॥

देखो न इस संसार की असारता ! आयु वायु से टकराए हुए मेघमण्डल में लटक रहे जल के समान क्षण में नष्ट होनेवाली है, भोग मेघराशि के मध्य में कौंध रही बिजली के समान चंचल हैं। यौवनविलास जलके वेग के सदृश चंचल है। शरीर क्षणभंगुर है। हे पुत्र, इसलिए पारलौकिक अनर्थरूप संसारवश त्रास को प्राप्त होकर अभयदान, अहिंसा आदि उपायों से आत्यन्तिक अनर्थनिवृत्ति से युक्त नित्य निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म की गुरु तथा शास्त्ररूप उपाय द्वारा खोज करो ॥३३॥

एक सौ छतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सैंतीसवाँ सर्ग

व्याध के पूछने पर मुनि का धारणा के अभ्यास से परकायप्रवेश द्वारा देखे गये उसके स्वप्न का वर्णन।

व्याध ने कहा : हे मुनिजी महाराज, यदि हिंसादि कार्य दुःखका हेतु है तो दुःख के विनाश में कारणभूत व्यवहार, जो न कठोर है और न कोमल है, कैसा है ? कृपया उसे मुझसे कहिये ॥१॥ मुनिजी ने कहा : इसी समय बाणों के साथ धनुष का सर्वदा के लिए त्यागकर मुनिजनों के यम, नियम, विचार आदि आचरण की दीक्षा लेकर निर्द्वन्द हो यहाँपर निवास करो ॥२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : उक्त मुनि के यों उपदेश देनेपर धनुष और बाणों का परित्याग कर वहींपर उसने मुनिजनों के-से आचरण अपनायें और अयाचित जो कुछ मिल जाता था उससे अपनी गुजर करे लगा। तदुपरान्त मुनियों के से आचरणवाले उसके हृदय में थोड़े ही दिनों में सारासार विवेकशीलता ने वैसे ही प्रवेश किया जैसे फूल अपनी कली के विकास आदि क्रमसे होनेवाली मनमोहनी सुगन्ध से लोगों के हृदय में प्रवेश करता है ॥३,४॥ हे शत्रुतापन महाराज दशरथजी, इस प्रकार हृदय में विवेक का अंकुर पैदा हो जाने के बाद एक दिन उस व्याध ने महामुनि से पूछा : भगवन्, प्राणियों के अन्दर स्थित स्वप्न जाग्रत की तरह बाहर कैसे दिखाई देता है ? बाहर स्थित यह जगत्-प्रपंच स्वप्न बनकर प्राणियों के अन्दर कैसे दिखाई देता है ? प्राणियों के अन्दर स्थित स्वप्न किस साधन से दिखलाई पड़ता है ? इस तरह बाहर और भीतर स्थित स्वप्नरूप प्रपंच कैसे दिखाई देता है और यदि प्रपंच स्वप्न ही है तो भीतर बाहर दो प्रकार से स्थित कैसे दिखाई देता है ? इस प्रकार अनेक संशयों से गुँथे हुए एक-साथ पाँच प्रश्न किये ॥५॥

प्रचुर तर्कों से गर्भित प्रश्न को सुनकर प्रारम्भिक भूमिका की अवस्था में जब कि मेरा विवेक प्रौढ़ नहीं हुआ था, मेरे मन में भी ऐसे ही अनेक वितर्क उठे थे। मैंने योगधारणा के अभ्यास से स्वयं परकायप्रवेश

द्वारा उसके स्वप्न आदि का पुनः पुनः अवलोकनकर अन्वय–व्यतिरेक से बार–बार परीक्षा करके तथ्य तक पहुँचकर उनका समाधान किया था, यह विस्तारपूर्वक कहने के लिए तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि उपक्रम करते हैं।

मुनि महाराज ने कहा : हे साधो, पहले आरम्भअवस्था में जबकि मेरा विवेक कोमल था, मेरे मन में भी अपने–आप न जाने कहाँ से ऐसा ही वितर्क आकाश में बादल के टुकड़े के तुल्य उठा। उसके बाद उसका पता लगाने की इच्छा से मैंने योग–क्रिया का खूब अभ्यास किया, जिससे मैं अनायास परकाय प्रवेश कर सकूँ। पद्मासन बाँधकर सब प्राणियों की आत्मभूत सर्वप्रसिद्ध संवित् में ही स्थिर हुआ यानी चित्तसमाधि लगाई। जैसे सूर्य सायंकाल के समय बिखरे हुए अपने प्रकाश को अपने मण्डल की कान्ति से बटोरता है वैसे ही उक्त संवित् में समाधिस्थ हुआ मैं उसी संवित् से दूर विक्षिप्त अपने चित्त को अपने हृदय में लौटा लाया। मैंने प्राण के अन्तर्गत चित्त की प्रेरणा से योगशास्त्र में प्रसिद्ध प्रयत्न से, जो प्राण के साथ जीव के बाहर निकलने में सहायक है, जीवोपाधि चित्त के साथ प्राण को शरीर से बाहर रेचक द्वारा निकाला। बाहर आकाश में स्थित जीवोपाधि चित्त से युक्त बाहर रेचित अपने प्राणवायु को मैंने अपने सामने स्थित किसी जीव के (छात्र के) मुख के अग्रभाग में स्थित प्राण में मिला दिया। मेरे प्राण से संमिश्रित उस प्राणी का जो प्राण था, उसने मुझे उसके हृदय के भीतर वैसे ही पहुँचाया जैसे कि भालू बिल में मुँह डालकर मुँह के वायु से अपने आहारभूत साँप को जबर्दस्ती बाहर खींच मुँह में डाल कर मारकर अपने पेट में पहुँचाता है। उसके हृदय में प्रविष्ट होने के बाद प्राणरूपी घोड़े से परस्पर मिले हुए उक्त दोनों प्राणों का अनुगमन कर मैं उसके देह मध्य में प्रविष्ट हो अपनी बुद्धि से संकट में फँस गया जैसे बाह्य प्रदेश में सिंचाई के लिए छोटी बड़ी बहुत–सी नहरों का जाल बिछा रहता है वैसे जीवगृह में रसवाहिनी बहुत सी नाड़ियों का जाल फैला हुआ था। उक्त जीवगृहरूपी शरीर पसलीरूपी पिंजड़े, प्लीहा, यकृत, रुधिर आदि के पिण्डों से ठीक वैसे ही संकटाकीर्ण था जैसे कि भाँड़े, बर्तन आदि के अम्बारों से घर संकटाकीर्ण होता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में तपी हुई लहरों से सागर व्याप्त रहता है वैसे ही उदराग्नि में उबलने से शल् शल् शब्द कर रहे गरम गरम सब अवयवों से जीवगृह शरीर घिरा था। जीवन के लिए चित्त और प्राण आदि वायुओं द्वारा निरन्तर खींचे गये बाहर के नूतन नूतन शैत्य के नासिका के अग्रभाग के भीतर प्रवेश होने के कारण वह जीवगृह चेतनामय था। रुधिर को नाड़ियों द्वारा बाँटनेवाले अन्नरस, कफ आदि के बहाव से वह अत्यन्त बिछलर था, उसमें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था, गर्मी भी कम न थी, अतएव नरक के तुल्य महान् संकटाकुल था। बहत्तर हजार नदियों में कहींपर रुधिर, रस, कफ और पित्त के उदय से कहींपर विभिन्न अंगों में चिपकने से तथा कहींपर संचार के सौकर्य से व्यक्त और कहींपर मार्ग में रुकावट होने से व्यक्त न हुए प्राण आदि वायुओं की लीलाओं से सात धातुओं की सत्ता और विनाश की विषमतावश वह जीवमन्दिररूप शरीर आनेवाले रोगोंकी स्वप्न आदि में सूचना देता था ॥६–१८॥ वेग के साथ खुल रहे अपान आदि वायुओं के छिद्रों में निकले हुए वायु से उसमें शब्द होता था तथा हृदयकमलनाल के छेद के अन्दर सागर में बडवाग्नि की तरह जठराग्नि निरन्तर जल रही थी। *महोपनिषद् में कहा है –'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्' 'इत्युक्रम्य 'तस्याग्रे सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्व प्रतिष्ठितम्।* कोष के तुल्य हृदय का मुँह नीचे को होता है। इस प्रकार

आरम्भ कर उसके अन्त में छोटा-सा छेद है। उसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। उसके बीच में अग्नि की छोटी-सी लूर स्थित है ॥१९॥ चारों ओर से एकत्र हो रहे वासनामय पदार्थों से वह ऐसा ठसाठस भरा बँधा था, साक्षीभूत आत्मा के स्वभाव से अत्यन्त विशद भी था, चित्तवृत्ति के भेदों से तथा प्रदेश भेदों से कहींपर वैसे ही क्षुब्ध था जैसे कि रात में चोरों द्वारा नगर क्षुब्ध होता है और कहींपर अत्यन्त शान्त था॥२०॥ कोष्ठगत अन्नरस में गुड़-गुड़ शब्द पैदा करने में तत्पर अतएव नाड़ी मार्गों में गा रहे विद्याधर पथिक के सदृश इधर उधर संचार कर रहे तथा द्विमात्र एकमात्र और अर्धमात्र युक्त गतिवाले वायुओं से घिरा था ॥२१॥ मैं प्राणी के अत्यन्त उबड़ खाबड़ तथा भीड़-भाड़वाले उस हृदय में वैसे ही प्रविष्ट हुआ जैसे कि श्रेष्ठ पुरुष पुरुषों के अवयवों से ठसाठस भरे नर-समूह में प्रविष्ट होता है। उसके बाद तेज स्वरूप मैं उसके हृदय के मध्य में उदराग्निरूप तेज के सार को, जो समीपस्थ होनेपर भी विविध नाड़ीमार्ग से प्राप्य होने के कारण दूर स्थित-सा था, प्रयास से वैसे ही प्राप्त हुआ जैसे कि रात्रि में सूर्यप्रभा चन्द्रमा को प्रयत्न से प्राप्त होती है ॥२२,२३॥

यदि कोई कहे कि वह ओज तेजः सार कैसे है ? तो इस पर कहते हैं।

चूँकि उसके अन्दर त्रैलोक्य का भान होता है, अतः वह त्रैलोक्य का दर्पण है, त्रैलोक्यस्थित पदार्थों का वह दीपक के समान प्रकाशक है, सब पदार्थों के अस्तित्व का (सत्ता) सम्पादक है तथा जीव (जीववेशधारी परमात्मा) उस तेज में रहता है। भगवती श्रुति ने भी कहा है-उसके मध्य में उत्पन्न सूक्ष्म अग्नि की लूर है उस लूर के बीच में परमात्मा बैठा है, वह ब्रह्म है, वह शिव है, वह अविनाशी है, वह परम स्वराट् है ॥२४॥

यदि कोई शंका करे कि 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यादि श्रुतियों में जीव की सकलदेह व्यापकता सुनने में आती है, ऐसी स्थिति में वह तेजोधातु में (ओज में) ही कैसे स्थित है ? इसपर कहते हैं।

जैसे यद्यपि सूर्य द्वारा विकसित पुष्प में उसकी सुगन्धि और शीतलता सर्वत्र विद्यमान है फिर भी केसर से युक्त उसके मुँह में सुगन्धि और शीतलता विशेषरूप से रहती है वैसे ही यद्यपि सर्वव्यापी आत्मा जीव बनकर नख से लेकर शिखा तक सर्वत्र प्रविष्ट हुआ तथापि तेजोधातु में (ओज में) वह विशेष रूपसे स्थित है ॥२५॥ जैसे घड़े आदि से ढकी हुई दीपज्योति की घड़े के छोटे छोटे छेदों से प्रविष्ट हुए वायुओं से रक्षा होती है क्योंकि यदि छेद बिलकुल बन्द कर दिये जाय तो दीपक बुझ जाय, वैसे ही चारों ओर इन्द्रियाभिमानी देवताओं द्वारा चारों द्वारोंपर सुरक्षित उक्त जीवाधार ओज में (तेजोधातु में) मैं चुपचाप बिना किसी के जाने बूझे प्रविष्ट हो गया। उसके उपरान्त मैं साक्षात् उक्त जीव के उपाधिभूत मनोमय विज्ञानकोश से परिवृत आनन्दमय कोश में जो आनन्दमय कोश द्वितीया के चन्द्रमा के किरणों के (चाँदनी के) सदृश स्वच्छ था, सफेद बादल के टुकड़े के समान मनोहर था, मक्खन के गोले के समान कोमल और दूध के बुद्बुद् के समान सुन्दर था ऐसा प्रविष्ट हुआ जैसे कि मनोहर गन्ध वायु में प्रविष्ट होती है ,जैसे सूर्य चन्द्रमा में प्रविष्ट होता है अथवा जैसे दूध मिट्टी के पात्र में प्रविष्ट होता है। पूर्व स्थानों में प्रवेशवश जो थकान मुझे हुई थी वह यहाँ बिलकुल नहीं हुई। जैसे अपने हृदय में स्थित ओज में मैं स्वस्थ रहता था वैसे ही वहाँपर भी स्वस्थता के साथ रहते हुए

मैंने अपने स्वप्न जगत् की भाँति उसका स्वप्नरूप जगत् भी पूरा का पूरा देखा। उसके स्वप्न जगत् में भी सूर्य थे, पर्वत थे, सागर थे, देवता, राक्षस और मनुष्य थे, नगर थे विशाल जंगल थे, अन्यान्य लोक थे, दिशाएँ थी, सातों द्वीप, सातों सागर, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल और इन्द्रियों के क्रम सब विद्यमान थे, प्रलय, क्षण सब ऋतुएँ स्थावर जंगम सब कुछ विद्यमान था। वहाँपर वह स्वप्नदर्शन अनादि प्रवाह स्थित तथा प्रसिद्ध जगत् के तुल्य रहा। मैं निद्रा के बाद जाग्रत अवस्था में अतिशयेन स्थित ही रहा, क्योंकि जाग्रत् के अन्त में निद्रा आई ही नहीं ॥२६–३२॥ हे व्याध, मुझे नींद नहीं है तथापि मैं क्या स्वप्न देखता हूँ यों विचार कर रहे तदनन्तर प्रबोध को प्राप्त हुए मैंने यह जाना। वह यह कि इस चिद्धातुरूप प्रत्यगात्मा का यह ऐश्वर स्वरूप है। यह ईश्वर आकाशरूप अपना घट रूपसे पट रूपसे अथवा जगत–रूप से या जीवरूप से जैसा ही नाम या रूप रखता है स्वयं तत्–तत् स्वरूप धारण कर जगत् नाम रख लेता है। यह चिद्धातुरूप प्रत्यगात्मा जहाँ जहाँ है वहाँ वहाँ सर्वत्र अपने वास्तविक रूप का त्याग किये बिना ही जगद्रूप अपने शरीर को देखता है। इस प्रकार स्वचित् विकासमात्र जो यह जगत् दिखलाई देता है, इसी को लोग स्वप्न कहते हैं, हाय यह आज मेरी समझ में आया ॥३३–३६॥

यदि वास्तविक विचार किया जाय तो जाग्रत भी स्वचिद्विकासमात्र ही ठहरता है उससे अतिरिक्त नहीं, ऐसा कहते हैं।

चिद्धातु का जो स्वविकास है वही कुछ तो स्वप्न कहलाता है और कुछ जाग्रत, और स्वप्न कोई भिन्न पदार्थ नहीं है ॥३७॥

परस्पर की दृष्टि से ये दोनों ही हैं और अपनी अपनी दृष्टि से दोनों जागरण ही हैं, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न में जाग्रत तो स्वप्न ही है। जाग्रत में स्वप्न स्वप्न ही है। स्वप्न तो अपनी दृष्टि से जाग्रत ही है जब इस प्रकार स्वदृष्टि से दिखाई देता है तब जाग्रत ही दो तरह से स्थित है ॥३८॥

तब मृत्यु, स्वप्न और जाग्रत से अतिरिक्त क्या है ? इसपर कहते हैं।

हे महामते, मृत्यु नामकी कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि पुरुष चिन्मात्र है। वह हजारों शरीरों के मरने पर भी कब मरा, किसका मरा, कैसे मरा ? यों तीनों प्रकार से वह प्रसिद्ध नहीं है ॥३९॥

कल्पना करके शरीर और उसके मरने की बात कही, वास्तव में न शरीर है और न उसका मरण ही है, ऐसा कहते हैं।

वह चिन्मात्र आकाश ही है। असीम और अखण्ड वह भ्रान्तिवश देहवत् विकास को प्राप्त होकर मूर्तअमूर्तआकार से स्थित है ॥४०॥ अमूर्तआकारस्वभाव नित्य अनन्त उदित चिद्रूप परमाणु का सार ही भ्रान्तिवश जगत् कहा गया है ॥४१॥ चिदाकाश के उदर में सकल अनुभवाणु वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे कि अवयवी के विचित्र रूपरेखावाले अवयव प्रतीत होते हैं ॥४२॥ जाग्रत का भोग करानेवाले कर्म के क्षीण होनेपर बाह्य से (जाग्रत से) निवृत्त होकर जीवाधार हृदय में स्थित हुआ जीव बाह्य संस्कार के अनुरोध से अपने स्वरूप को ही यह बाह्य स्वप्नसृष्टि है, ऐसा समझता है ॥४३॥ जिस समय चित्त बहिर्मुख होता है उस समय यह जीव अपने जाग्रत् संज्ञक विकसित रूप को देखता है। जब चित्त अंतर्मुख होता है तब यह जीव अपने रूपको स्वप्नरूप से देखता है ॥४४॥ एकात्मक ही जीव बाहर और

भीतर अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशा के रूपसे व्याप्त होकर स्थित है ॥४५॥ जैसे सूर्य सूर्यमण्डलमें स्थित होकर भी अपनी आभा से यहाँ भी स्थित है, वैसे ही जगद्रूप जीव बाहर और भीतर स्थित है ॥४६॥

अतएव सर्वात्मता के वास्तविक होने के कारण उसी के परिज्ञान से ही यानी 'मैं सर्वात्मक हूँ', इस प्रकार के ज्ञान से ही मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

चिदात्मक मैं ही भीतर स्वप्न और बाहर जाग्रत् हूँ, यदि ऐसा यथार्थ बोध हो जाय, तो क्रमशः प्रथम, द्वितीय आदि भूमिकाओं के परिपाक से वासनाविहीन होकर मुक्त हो जाता है ॥४७॥ यद्यपि यह जीव अच्छेद्य है (छेदन-भेदन के योग्य नहीं है) और अदाह्य है (जलाने के योग्य नहीं है) तथापि अपने को अन्यथा जानता हुआ द्वैतसंकल्परूपी यज्ञ से बालक के समान मोह को प्राप्त होता ही है ॥४८॥ अन्तर्मुख जीव अन्तरात्मरूप अपने को अन्तर्जगत्रूप में देखता हुआ स्वप्न और बहिर्मुख जीव आत्मा को बाहर जगत्रूप में देखता हुआ स्वयं ही जाग्रत् होता है। वे ही इसके स्वप्न और जाग्रत हैं ॥४९॥

प्रसंगतः सुषुप्ति और तुरीयका तत्त्व, जो पूछा नहीं गया था, कहते हैं।

इस तरह जाग्रत और स्वप्न के तात्त्विक स्वरूप का विचार कर रहे मेरे मन में सुषुप्ति का क्या स्वरूप होगा ? ऐसी मति उदित हुई। इसलिए मैं सुषुप्ति की खोज में प्रवृत्त हुआ ॥५०॥ दृश्य के दर्शन से मेरा क्या मतलब, मैं चिरकाल तक चुपचाप चित्तव्यापाररहित होकर स्थित रहूँ, अन्दर इस तरह की शान्तिरूप संवित् जब तक रहती है तबतक सुषुप्ति है। सुषुप्ति का इससे अतिरिक्त दूसरा स्वरूप नहीं है ॥५१॥

सुषुप्ति में चित्त की व्याप्ति न होने से चित् की अभिव्यक्ति न होनेपर घट आदि के समान जड़ता की आशंका कर विशेषरूप से अहन्तारूप से विदित न होनेपर भी नख, केश आदि के समान सामान्यतः विदित होने से विदितअविदितात्मक उक्त सुषुप्ति जो कि जड़ भी है और जड़ नहीं भी है, चेतनात्मक सुषुप्ति साक्षी में स्फुरित होती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे इस शरीर में विशेषतः अहन्तारूप से, अविदित होने से सामान्यतः विदित होने से विदितअविदितस्वरूप जड़ और अजड़ नख, केश आदि इस शरीर में स्फुरित होते हैं वैसे ही चेतनरूप साक्षी में सुषुप्ति स्फुरित होती है ॥५२॥ जाग्रत और स्वप्नों के भ्रमण से मैं बहुत थक गया हूँ। मुझे विशेष संवित् से क्या करना है। मैं कुछ कालतक मन के व्यापार से रहित शान्त रहूँ, इस प्रकार का संकल्प होने पर एकमात्र गाढ़ निद्राकार परिणाम ही सुषुप्ति है, उससे अतिरिक्त सुषुप्ति नहीं है ॥५३॥

यदि चिन्तन का सर्वथा परित्याग किया जाय तो जाग्रत पुरुष में भी सुषुप्ति हो सकती है, ऐसा कहते हैं।

'मैं कुछ भी चिन्तन न करूँ, शान्त होकर बैठा रहूँ', इत्याकारक गाढ़ निद्रारूप सुषुप्ति जाग्रत् अवस्था में भी अपने आप हो सकती है। यह अवस्था जब खूब घन (गाढ़) हो जाती है तब सुषुप्ति शब्द से पुकारी जाती है जब शिथिल रहती है तब तो स्वप्न शब्द से पुकारी जाती है। इस तरह सुषुप्ति के स्वरूप का निश्चय कर परम बुद्धि से युक्त उद्योगशील मैं तुरीय के स्वरूप की खोज करने के लिए तत्पर हुआ। जैसे अन्धकार के बिना प्रकाश का स्वरूप नहीं पहचाना जा सकता, वैसे ही शुद्ध सम्यक्

ज्ञान के बिना तुरीय का पूर्णरूप तनिक भी समझ में नहीं आता। यह यथास्थित विश्व सम्यक् ज्ञान से विलीन हो जाता है, अतः सम्यक् ज्ञान ही तुरीय है, सम्यक् ज्ञान में विलीन हुए विश्व की आत्यन्तिक अविलीनता यथास्थित रहती है यानी विश्व अपने यथार्थ रूप में हो जाता है कुछ विलीन भी नहीं होता ॥५४–५८॥ इसलिए यथास्थित जगत् के साथ स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ तुरीय में अन्तर्भूत हैं, वास्तव में ये कुछ भी नहीं हैं ॥५९॥ जगत् कारण से उत्पन्न नहीं है, किन्तु शान्त अजन्मा ब्रह्म ही इस प्रकार जगद्रूप से स्थित है, यह बोध ही तुरीयता है ॥६०॥

उक्त का ही पुनः वर्णन करते हुए प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

अद्वितीय ब्रह्म में सृष्टि के जन्मकारणों का संभव न होने से सृष्टि अतिरिक्तरूप से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु चित् के जगताकार चेतनने ही स्वभावतः स्वयं सर्ग संवित् वैसे ग्रहण की है जैसे कि जल द्रवता ग्रहण करता है ॥६१॥

एक सौ सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अड़तीसवाँ सर्ग

प्राणी के जीवका और मेरे जीवका संमेलन होनेपर मैंने दुगुना विश्व देखा और एकता होनेपर एक विश्व देखा, यों मुनि द्वारा वर्णन।

महामुनि ने कहा : इस प्रकार जाग्रत से लेकर तुरीयपर्यन्त अवस्थाओं का रहस्य विचार कर मैं उस प्राणी के चिदाभासरूप जीव के साथ एकीभाव को प्राप्त करने के लिए वैसे ही प्रवृत्त हुआ जैसे कि फूले हुए आम्र–वृक्ष की सुगन्धि वायु द्वारा कमलों के तालाब में पहुँचकर वायुस्थित कमल की सुगन्ध के साथ एकता को प्राप्त होने के लिए प्रवृत्त हो। मैंने उस प्राणी के चिदाभास में प्रवेश करने के लिए ज्योंही पूर्वोक्त तेजधातु का (ओज का) परित्याग किया, त्योंही मेरी सकल इन्द्रियरूप संवित् बहिर्मुख व्यापार में बलात् प्रवृत्त हो गई। तदुपरान्त बहिर्मुख व्यापार में प्रवृत्त हुई सकल इन्द्रियों का अन्तःव्यापार में उन्मुख प्रयत्न से जबर्दस्ती निग्रह कर रहा मैं एक क्षण में वैसे ही भीतर भी फैल गया जैसे कि तैल बिन्दु जल में फैलता है। इस प्रकार उपाधि में व्याप्त होकर मैं ज्योंही उस प्राणी के चिदाभास संवित् में मिलने से परिणत हुआ उसी समय उसकी वासना और मेरी वासना दोनों के अन्दर भासने से सारा भुवन मुझे दुगुना दिखाई पड़ा। सब दिशाएँ दुगुनी हो गई, दो सूर्य तपने लगे, दो भूमण्डल बन गये और द्युलोक भी दो हो गये, जैसे दर्पण के अन्दर प्रतिबिम्बित मुख के दो प्रतिबिम्ब भासते हैं वैसे ही मिश्रित (मिले हुए) वे भासे उससे जगत् द्विगुण हो गया। दो चेतनरूपी तिलों में तेल की नाईं विज्ञानकोश में जो भान होते हैं उन संमिश्रित उपाधियों में स्थित दो चिदाभासों में द्विगुणभूत तत्–तत् जगत् उस प्रकार मिश्रित प्रतीत होता है। चिदाभास रूप दो जीवों के विज्ञानमय कोष में स्थित तथा मिश्रित होने पर भी वासनाओं के मिश्रित न होने के कारण अमिश्रित वे दोनों जगत् दूध और जल के समान एक से प्रतीत हुए। मैंने देखते ही उस प्राणी के चिदाभासरूप जीवको अपने जीवसे परिच्छिन्न कर दो उपाधियों में एकता के स्थापन द्वारा वैसे ही अपने में मिला लिया जैसे कि दूसरी ऋतु पहले की ऋतु को अपने में मिला लेती है, जैसे बड़ी नदी छोटी नदी को आत्मसात् कर लेती है, जैसे वायु सुगन्धिको अपने में मिला लेता है और

जैसे मेघ धूम्रपंक्ति को अपने में मिला लेता है। जैसे नेत्र में विकार होने से दुर्दृष्टिवश दो स्वरूपों में दिखाई देनेवाला चन्द्रमा विकार की निवृत्ति होने से सुदृष्टिवश एक हो जाता है वैसे ही पहले वासनाओं के अमिश्रणवश जो जगत् मुझे द्विगुण दिखाई पड़ता था वासनाओं के भी मिश्रण द्वारा एकीकरण से संवित् के अत्यन्त अभिन्न (एक) होनेपर वह भी आज एकता को प्राप्त हो गया। उसके पश्चात् जब कि मैं उस प्राणी के चिदाभास में स्थित हो चुका था और अपना निजका पूर्वापर विचार भी मैंने छोड़ा न था, उस अवस्था में उस प्राणी की संकल्पानुसारिणी स्थिति को पहुँचा हुआ मेरा संकल्प स्वल्प हो गया यानी घटते घटते नाममात्र रह गया। उसके अनन्तर वहाँपर उस प्राणी की चित्तवृत्ति से ही उसके भोग्य शब्द आदि विषयों का अवलोकन कर रहे मैंने उसके हृदय का परित्याग न करते हुए उस प्राणी के जाग्रद्व्यवहाररूप दिनचर्या का अनुभव किया। तदनन्तर सायंकाल के समय जैसे कमल संकोच को प्राप्त होता है वैसे ही वह प्राणी अन्न खाकर, जल पीकर तथा दिन के कार्यों से थककर स्वेच्छा से ही धीरे धीरे निद्रादेवी की गोद में चला गया। निद्रा के आरम्भ में उसके प्राण ने बाहर दसों दिशाओं में फैले हुए रूपादि विषयों के दर्शन में संलग्न अपने चित्त को जैसे सूर्य सायंकाल के समय अपनी आभा को बटोर लेते हैं वैसे ही बटोर लिया। उसके बाद चित्त के साथ सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ संकुचित होकर कछुए के अंगों की नाईं हृदयकोश में प्रविष्ट हो गई। चक्षु आदि इन्द्रियाँ संकोच को प्राप्त होकर हृदयपद्माकार हो गई। मृत्यु होनेपर पथराई हुई-सी वे चित्रलिखित की तरह व्यापारशून्य हो गई। उसमें स्थित मैं उसके चित्त का अनुगामी था, अतएव उसकी चित्तवृत्ति के साथ ही उसकी इन्द्रियों का सहसा त्यागकर उसकी नाड़ियों के द्वारा उसके हृदय में प्रविष्ट हो गया। बाहरी अनुभव को हटाकर भीतर ही शय्या के समान कोमल उसके ओज में (पूर्वोक्त तेज के अन्दर स्थित आनन्दमय कोश में) शून्यरूप सुषुप्ति का मैंने क्षणभर अनुभव किया। उस समय समान नाम का वायु छिद्रयुक्त अत्यन्त घनी नाड़ियों में श्रान्ति से तथा बहुत से अन्नजलरस के विकारों से यत्र तत्र रुकावट पड़ने से बाहर तो निकलता ही नहीं, फिर भी अतिमन्द गति से संचार करता है ॥१-२०॥

जब इस प्रकार की सुषुप्ति होती है तब यह प्राण इन्द्रिय सहित चित्त को क्या करता है ? इस पर कहते हैं।

जब इस प्रकार की सुषुप्ति होती है तब प्राण प्राणरूप अद्वितीय संप्रसन्न जो आत्मा केवल उसमें परायण होकर पुरीतत् नाड़ी में प्रवेशकर अपने साथ स्थित चित्त को ग्रसकर अपने आधीन कर लेता है, क्योंकि प्रत्यगात्मरूप परमार्थ या पुरुषार्थ का ऐसा ही स्वभाव है। उक्त स्वभाववश परिशेषरूप सुखविश्रान्ति में वह आसक्त रहता है, यह भाव है ॥२१॥

वह स्वार्थ में आसक्त रहे, फिर भी उसे मन, इन्द्रिय आदि दूसरों का कार्य भी करना चाहिये, सो क्यों नहीं करता, इसपर कहते हैं।

चूँकि निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वार्थसत्ता में (सुषुप्ति में) यही निरतिशयानन्दस्वरूप विकसित होता है, विक्षेपदुःख का लेश भी उस समय नहीं रहता, इसलिए उसके अन्दर स्वार्थमात्र परकृत्य नहीं करता है ॥२२॥

प्राण चित्त को ग्रस कर अपने आधीन कर लेता है, ऐसा जो कहा, उसपर श्रीरामचन्द्रजी

आशंका करते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे महामुने, मन इस समय में भी प्राणवश ही मनन आदि व्यापार करता है । यदि प्राण द्वारा स्वायत्तीकृत होकर मनन आदि व्यापार नहीं करता है तो इस समय में भी क्यों नहीं करता, क्योंकि प्राण से पृथक् किये हुए मन का कुछ स्वरूप नहीं है, इसलिए प्राणविनिर्मुक्त मन क्या है ? यानी कुछ नहीं है ॥२३॥

अधिष्ठानमात्र से पृथक् करनेपर देह, प्राण आदि जगत् का कुछ भी स्वरूप नहीं टिकता, उससे अपृथक् करनेपर तो उसकी सत्ता से सब कुछ है ही । ऐसी स्थिति में प्राण से पृथक्कृत अकेले मन का अस्तित्व नहीं है, ऐसी आपने जो शंका की, वह छोटी शंका है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं ।

स्वानुभूत भी यह अपना शरीर वास्तव में है ही नहीं, क्योंकि जैसे स्वप्न में मन अपने अन्दर ही पर्वत की कल्पना करता है वैसे ही यह शरीर भी मन की कोरी कल्पना है । इसलिए मन से पृथक्कृत शरीर का अस्तित्व नहीं ॥२४॥

इसी प्रकार चित्त भी चेत्य पदार्थों से निरूपणीय है, अतः चेत्य पदार्थों का अभाव होनेपर चेत्यपृथक्कृत चित्त का स्वरूप नहीं है, यह भी सुख से कहा जा सकता है, ऐसा कहते हैं ।

चेत्य पदार्थों का अभाव होने के कारण उक्त चित्त का भी अस्तित्व है ही नहीं । यदि कहो कि पूर्व पूर्व चेत्य चित्त–निरूपक होगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में कारण का अभाव होने से दृश्य की उत्पत्ति ही नहीं है ॥२५॥

ब्रह्म सर्वात्मक है इस कारण यदि उसकी सत्ता से मन आदि का अस्तित्व कहिये, तो मन आदि सब वस्तुएँ हैं ही, ऐसा कहते हैं ।

अतः यह सब ब्रह्म है । जब ब्रह्म सर्वात्मक है तब यह विश्व चारों ओर यथार्थतः है ही । चित्त, देह आदि सब कुछ है ही । ब्रह्मज्ञों की दृष्टि से यह सब ब्रह्म ही है । जो ब्रह्मवेत्ता नहीं है, उनकी दृष्टि में यह चित्त, देह आदि जैसा है वह हम तत्त्वज्ञानियों की समझ के बाहर की बात है ॥२६,२७॥ हे राजकुमार श्रीरामजी, जैसे यह त्रिजगत् ब्रह्म ही है और जैसे यह विविध रूप है इस विषय में आगे कहा जा रहा अध्यारोप क्रम आप सुनिये ॥२८॥

पहले अधिष्ठान का निर्देश करते हैं ।

निर्मल, अनन्तआकाशस्वरूप, सनातन और सर्वस्वरूप चिन्मात्र ही है, न जगत् है और दृश्यता है ॥२९॥ सर्वज्ञ होने के कारण उक्त चिन्मात्र ने मानसिक पीड़ा से शून्य अपने शुद्ध बुद्ध स्वरूप का त्याग किये बिना ही (🔔) स्व में मनस्त्व का अध्यारोप किया ॥३०॥ मन से उसने जो अपने संचरण की कल्पना की, हे श्रेष्ठतम वेदज्ञ, उसे आप प्राणवायु जानिये ॥३१॥ जैसे इस प्राणता को वह कल्पित सी जानता है, वैसे ही इन्द्रिय, देह आदि और दिशा, काल आदि को भी कल्पित से ही जानता है ॥३२॥ इस प्रकार यह सारा का सारा विश्व चारों ओर केवल चित्त ही ठहरता है, उससे अतिरिक्त नहीं, चिदधिष्ठित चित्त तो ब्रह्म ही है, इससे सिद्ध हुआ कि यह विस्तृत जगत् ब्रह्म ही

(🔔) इससे अधिष्ठान का अन्यथाभाव नहीं हुआ, यह बतलाया ।

है उससे अतिरिक्त नहीं है ॥३३॥ निराकार, अनादि, अनन्त, निर्दोष शान्त सन्मात्र, चिन्मात्र ब्रह्म ही जगद्रूप स्थित है। चूँकि ब्रह्म सर्वशक्ति है, अतः वह प्राथमिक मनःशक्ति से पूर्वसिद्ध अपने स्वरूप का ही यत्र तत्र जाग्रत या स्वप्न में जगत् के रूप से अनुभव करता है ॥३४,३५॥ संकल्पात्मक मन ही कार्य ब्रह्म है वह जैसे भू आदि लोकों की और अन्यान्य वस्तुओं की कल्पना करता है वैसा ही अनुभव करता है, यह बात बालकों तक को ज्ञात है। हे श्रीरामजी, आकाशस्वरूप चेतनात्मा आदि पुरुष ने अपने स्वरूप को पहले चित्त से ही प्राणी बनाया, उसी तरह उसे देही बनाया, पर्वत बनाया और त्रिभुवनरूप किया, स्वप्नों में कल्पित अपने अपने शरीरों में यह बात सबको अनुभूत है, इसे ही उक्त अर्थ में उदाहरण समझना चाहिये ॥३६,३७॥

एक सौ अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उनतालीसवाँ सर्ग

प्राण की अपेक्षा चित्त की प्रधानता का वर्णन और सुषुप्ति अवस्था से स्वप्नअवस्था में आनेपर मुनिका विस्तारपूर्वक प्रलयदर्शन वर्णन।

चित्त सदा ही प्राण के अधीन है यह स्वीकार कर अध्यारोप क्रम से चित्त की प्रथम उत्पत्तिमात्र से जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में चित्त और प्राण दोनों की प्रधानता है, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में प्राण की ही प्रधानता है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान पहले किया जा चुका। इस समय प्राण आदि सकलजगत् के निर्माण में चित्त की ही, स्वतन्त्रता होने से, चित्त ही प्रधान है, लेकिन सुषुप्ति के आरम्भकाल में चित्त श्रान्त होने के कारण चेष्टा करने में असमर्थ रहता है, अपनी विश्रान्ति के लिए ही वह प्राण की प्रधानता स्वीकार करता है, इस आशय से उसका समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, वास्तव में चित्त ही जगत् का रचयिता है। वह जिसका–चाहे वह असत् (मिथ्या) हो, चाहे सत् (व्यावहारिक सत्) हो, चाहे सत्असत् (प्रातिभासिक) हो–जैसा संकल्प करता है, वह उसके सामने वैसे ही खड़ा होता है। चित्त ने प्राण का संकल्प किया, प्राण ही मेरी गति (मेरे सकल व्यवहारों का निर्वाहक) है और उसके बिना मैं नहीं टिक सकता, यह भी उसने कल्पना की, इसी कारण चित्त प्राणाधीन कहलाता है ॥१,२॥

स्वप्न, मनोरथ आदि के शरीरों में प्राण के अभाव में भी मनका व्यापार दृष्टिगोचर होता है, अतः 'उसके बिना मैं नहीं टिक सकता', यह संकल्प व्यभिचरित हो गया, ऐसी शंका कर कहते हैं।

सचमुच मैं प्राण के बिना टिक नहीं सकता हूँ, किन्तु स्वप्न, मनोराज्य आदि की देहों में कुछ काल के लिए प्राण के बिना भी अवश्य रह सकता हूँ, ऐसी भी उसने कल्पना की ॥३॥ हे रामजी, जहाँ जहाँ मन ने प्राण के साथ शरीर की कल्पना की, वहाँ–वहाँ सर्वज्ञ तुरन्त माया से कल्पित नगर के समान विस्तृत इस जगज्जाल को क्षणभर में उदित हुआ वह देखता है ॥४॥ देह और प्राण की कल्पना करने के बाद मैं फिर कभी भी देह और प्राण से वियुक्त होकर नहीं टिक सकता, अन्दर ऐसा दृढ़ निश्चयवाला वह जीव हो जाता है किन्तु मैं चिन्मात्र स्वभाव हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चयवान् फिर नहीं होता ॥५॥

इसलिए अल्प विचारवश उत्पन्न हुए संशयप्राय अज्ञान से निस्तार पाना कठिन हो जाता है,

क्योंकि विपरित दृढ़ निश्चय की यथार्थ दृढ़ निश्चय के बिना निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

सन्देहवश झूले की भाँति कभी एक पक्ष में कभी दूसरे असत्पक्ष में डोलनेवाला कुत्सित निश्चयों से दूषित चित्त दुःखी रहता है। इस तरह का इसका अत्यन्त दृढ़ यह भ्रान्तिज्ञान तत्त्वज्ञान के सिवा विकल्प से कदापि नहीं हटेगा ॥६॥ जिस पुरुष का यह मैं हूँ इस प्रकार का भ्रान्तिज्ञान है, उसका वह भ्रान्तिज्ञान आत्मज्ञान के सिवा अन्य किसी साधन से शान्त नहीं हो सकता है ॥७॥

दृढ़तर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए यह ग्रन्थ ही उत्तम उपाय है, ऐसा कहते हैं।

मोक्ष–प्राप्ति के उपायभूत शास्त्र के विचार के बिना अन्य से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए यत्नपूर्वक मोक्ष के उपायभूत इस शास्त्र का निरन्तर विचार करना चाहिये ॥८॥ 'अहम्' (मैं) 'इदम्' (यह) यह दुविधा (द्वैत) ही अविद्या है, इससे अन्य अविद्या कहीं भी नहीं है, उक्त अज्ञान (अविद्या) मोक्षउपाय के सिवा अन्य किसी भी साधन से नहीं हटता (नहीं विनष्ट होता) ॥९॥ मन ने जैसा अभ्यास किया वैसा ही उसको प्राप्त हुआ। प्राण ही मेरा जीवन है परम प्रिय है इस तरह मन में खूब अभ्यास किया था, इसलिये मन प्राण की अधीनता में स्थित है ॥१०॥

इसी तरह मन देह के अधीन भी है ऐसा कहते हैं।

देह के सौम्य रहनेपर देहगत सौम्यता को प्राण में देख रहा मन मनन करता है। देह में क्षोभ होने पर देहगत क्षोभ को प्राण में देख रहे मन को अन्य कुछ या आत्मतत्त्वविवेक नहीं दिखाई देता ॥११॥

अतएव प्राण निरोध के अभ्यास के बिना कदापि आत्मज्ञानोन्मुख नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

जब प्राण स्पन्दरूप अपने कार्य में खूब व्यग्र रहता है तब मन के ईहितों (इतस्ततः संचारों में) व्याकुल हुआ प्राण आत्मज्ञान के लिए उद्योगशील नहीं हो सकता। ये प्राण और मन परस्पर रथ और सारथी हैं। कौन ऐसे रथ और सारथी हैं जो कि परस्पर एक दूसरे का अनुसरण नहीं करते अर्थात् जैसे रथ और सारथी एक दूसरे का अनुसरण करते हैं वैसे ही मन और प्राण भी आपस में अनुसरण करते हैं ॥१२,१३॥

मन और प्राण एक दूसरे का अनुसरण क्यों करते हैं। इस प्रश्नपर कहते हैं।

यों परस्पर एक दूसरे का स्वभावतः अनुसरण करने वाले प्राण और मनका रूप धारण किये हुए परमात्मा ने सृष्टि के आदि में इसी तरह आत्मा का संकल्प किया। इस कारण अज्ञानियों की यह प्रकृति आज भी निवृत्त नहीं होती है। परम पद में आरूढ़ न हुए यानी अव्युत्पन्न मन, प्राण और जीवों के देहों में देश, काल, कर्म और द्रव्यों से प्राप्त हुए विविध व्यवहार प्रवृत्त होते हैं ॥१४,१५॥ प्राण और मन जबतक समानरूप से अपना कार्य करते रहते हैं तब तक समान व्यवहाररूप जाग्रत चलता है, जब प्राण इन्द्रियों को प्रेरित करने से विरत होकर विषमता को प्राप्त होता है तब विषम स्वप्न नामका केवल मानस व्यवहार चलता है और मन के शान्त होनेपर सकल विक्षेपों की शान्तिरूप सुषुप्ति चलती है ॥१६॥

कब मन शान्त होता है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उसपर कहते हैं।

नाड़ियों के अन्नरस, पित्त आदि द्वारा रुद्ध होनेपर संकुचित प्राण जब मन्दगति होकर कहींपर शान्त होकर रहता है तब मन शान्ति से सुषुप्ति का उदय होता है ॥१७॥ नाड़ियों के अन्नरस आदि से पूर्ण होने अथवा श्रमवश कमजोर हो जानेपर जब प्राण गतिरहित हो जाता है तब सुषुप्ति का उदय होता है ॥१८॥

मर्दनवश नाड़ियों में मृदुता आने एवं बाण के घाव, व्रण आदि से पूर्ण होने से भी सुषुप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

मर्दनवश नाड़ियों के कोमल होने से अथवा बाण की चोट, घाव, व्रण, रुधिर आदि से भर जाने से प्राण के कहीं विलीन होनेपर निस्पन्द सुषुप्ति होती है ॥१९॥ महामुनि ने कहा : तदुपरान्त जिसके हृदय में मैं प्रविष्ट हुआ था, वह रात्रि के समय आहार से खूब तृप्त होकर सुषुप्ति के समान घनी निद्रा से सम्पन्न हुआ। वहाँपर मैंने उसके चित्त के साथ सुषुप्ति की खूब गाढ़ी नींद का अनुभव किया। इसके पश्चात् उस प्राणी के उदरस्थ अन्न पच जानेपर नैसर्गिक नाड़ीमार्ग में स्पष्ट हुए प्राण का जब संचार होने लगा तब सुषुप्ति (गाढ़ी नींद) कुछ हलकी हुई। सुषुप्ति के हलकी होनेपर मैंने सूर्य आदि से युक्त भुवन को वहींपर देखा, जो हृदय से प्रादुर्भूत हुआ-सा था। उस भुवन को मैंने प्रलय काल में क्षुब्ध हुए महासागर से निकली हुई जलराशि से पूर्यमाण देखा। वह जलराशि ऐसी वैसी न थी, प्रलय काल के मेघों द्वारा मूसलाधार वृष्टि से छोड़ी हुई-सी थी, उसमें आकाश को छूनेवाली बड़ी-बड़ी तरंगें उठ रही थीं, उसके प्रवाह में पर्वत बहे जा रहे थे, बड़े बड़े आवर्तों (भँवरों) से महान् कोलाहल हो रहा था, बही जा रही वनराजिरूप तृणराशि से पूर्ण पर्वत चारों ओर बिखेरे थे, वृक्ष और पर्वतों तक को उखाड़कर फेंक देनेवाली आँधी से तथा अग्नि की ज्वाला से पहले ही जलकर खाक हुई त्रिलोकी के बड़े बड़े खण्डों से, जो आकाश में स्थित देवताओं के नगरों, पर्वतों और भूमि के भग्नवशेष थे, वह चारों ओर भरी हुई थी। वहींपर मैं क्या देखता हूँ कि मैं किसी एक देश में किसी नगरी में किसी घर में बहू के साथ बैठा हूँ, उक्त जलने मुझे स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, नौकर-चाकर, साज-सामान, घर-बार के साथ बहा दिया। वह घर और वह नगर प्रलयकाल की जलराशि द्वारा बहाया जा रहा था, पेड़ के आकार की ऊँची-ऊँची लहरें उसे लाँघ रही थीं, जलराशि उसे चारों ओर से भर रही थी, उसमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था। अतएव वह (घर और नगर) सागर को जीतने के लिए कटिबद्ध-सा मालूम पड़ता था। उस घर के निवासी लोग अत्यन्त उत्पीड़ित थे, और तो और अपने बाल-बच्चों की भी किसी को सुधि न थी। आवर्तों से वह बहाया गया था, रोने चिल्लाने के साथ-साथ छाती कूटने में संलग्न लोगों से तथा कीचड़ से वह बड़ा भयावना लगता था। ढह रही दीवारों, फूट रहे काठों और टूट रही कीलों का उसमें घोर शब्द हो रहा था, छप्पर और खिड़कियोंपर बैठी हुई स्त्रियों के मुँह इधर-उधर गिर रहे थे ॥२०-३२॥

इस प्रकार का तमाशा क्षणभर देख रहा, बहाव के चपेटे में पड़ा हुआ मैं ज्यों ही दीनहीन होकर रोने लगा त्योंही घर की दीवारों के चारों ओर से ढहने के कारण बालक, बूढ़े और स्त्रियों से पूर्ण वह सारा का सारा घर पत्थर पर गिरे हुए झरने के समान तरंगों में पड़कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। तदनन्तर प्रलय की जलराशि में मैं उतराने लगा। स्त्री आदि किसी का भी मुझे स्मरण तक न रहा, अपने प्राण बचाने की ही मुझे चिन्ता थी। तरंगों ने एक योजन से सैकड़ों योजन दूर मुझे फेंक दिया। जल में तैर रहे वृक्षों की चोटियों में धधक रही अग्निज्वालाओं के भीतर पड़ने से मेरा शरीर जर्जर हो गया। काठ, दीवार, तट, तख्ते आदि की असह्य टक्कर लगने से मेरा शरीर क्षत-विक्षत हो गया। मैं कभी आवर्तों के भ्रमण में पड़कर पाताल पहुँचकर बहुत देर बाद ऊपर उतराया। प्रचुर

तरंगवाली जलराशि में, जिसके चलने, रुकने, आने और हटने से खूब गुड़–गुड़ ध्वनि होती थी, मैं बार–बार डूबता और उतराता था। मैं जलके आघात से ढहे हुए ऊँचे पर्वत से कीच–कीच हुए जल में, दल–दलवाले पोखरे में हाथी के समान, क्षणभर डूबा,किन्तु दैववश प्राप्त हुए स्वच्छ जलने मेरा निस्तार कर दिया। समुद्र के गाज और पहाड़ के ढोंकेपर बैठकर ज्योंही मैं सुसताने लगा त्यों ही शत्रु की तरह महाजलराशि ने आकर मुझे लथेड़ दिया। चढ़ना, उतरना, आना, जाना, घूमना आदि विविध क्रियाएँ करनेवाली तरंगों से पूर्ण उक्त जलराशि के चक्कर में फँसे हुए अतएव दुःखित चित्तवाले मैंने जो दुःख नहीं झेला वह दुःख ही नहीं है यानी सभी दुःख मुझे झेलने पड़े ॥३३–४१॥ हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, (ॐ) इतने में उस समय वहाँपर जन्मभर का चिरकालिक अभ्यास होने और चित्त के अत्यन्त खिन्न होने के कारण मुझे समाधिमय अपने पूर्वस्वरूप का स्मरण हो आया। अरे अन्य जगत् में मैं तपस्वी था। किसी दूसरे प्राणी का स्वप्न देखने की इच्छा से उसके हृदय में प्रविष्ट होकर मैं स्वप्न में यह भ्रम देख रहा हूँ। उसके बाद स्वप्न प्रपंच के दृढ़ अभ्यास के कारण पैदा हुए मिथ्या ज्ञानमय देह में तरंगों द्वारा बहाये जाते हुए भी मैंने सुख की साँस ली। प्रलय–काल के समुद्र की यह चहल–पहल सब मैंने मिथ्या ही देखी, जिसमें पर्वत, नगर, गाँव, भूभाग और पेड़ बह रहे थे, देवता, सर्पराज, नर–नारी तथा आकाशचारी बह रहे थे तथा महान् आरम्भवाले लोकपालों के नगर और गृह बह रहे थे। इसके बाद पहाड़ों से मिश्रित जलकल्लोलों की पहाड़ों से बार–बार टक्करों का निरीक्षण कर रहे मैंने यह विचार किया। आश्चर्य है यह भगवान् त्रिनयन भी समुद्र में जीर्णशीर्ण पत्ते की तरह बहाये जा रहे हैं। हाय, दुष्ट दैव का कुछ भी अकर्तव्य नहीं है, वह सब कुछ कर सकता है। जैसे प्रातःकाल जल में सूर्यकिरणें विकसित (खिले हुए) कमल दिखलाती है वैसे ही ये घर भी चारों तरफ की दीवारों के ढह जाने से प्रकटाशयता की शोभा को दिखा रहे हैं। विविध विलासों से विभूषित परागों से सफेद बने हुए भँवरों की पंक्ति ऐसे हार धारण कर रहीं तथा मुख, हाथ, चरण आदि रूप कमलवाली ये गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, देवता और नागों की नारियाँ बहुत से आवर्तों से युक्त, परागधवल भ्रमरपंक्तिरूपी हार धारण कर रही तथा कमलवती नदियाँ ही है। प्रसिद्ध नदियाँ न तो सारी की सारी निर्मल ही हैं और न जंगम ही हैं, ये तो उनसे विलक्षण हैं, अतएव तरंगराशियों में विचित्ररूप से उल्लसित होती है ॥४२–५१॥ प्रलय–काल की जलराशि में देवता, दानव, और नागों के महलों की दीवारों के हिस्से, स्वर्णमय नौकाओं के समूह की नाईं घूम रहे हैं जिनके मणिनिर्मित झरहरे झरोखों की शोभाएँ विद्याधरों की रमणियों की भुजलताओं से परिवेष्टित चन्द्रकान्त मणियों में मंजिल विभाग जैसी मालूम पड़ रही हैं ॥५२॥ ढह रहे मणिमय महल के अन्दर बैठे हुए ये देवराज इन्द्र इस प्रलय–काल की जलराशि में फँसकर कुंकुम–केसर से अंकित मदोन्मत्त हाथी के कुम्भ के समान विशाल इन्द्राणी के स्तनमण्डल में रतिजनित खेद से थककर रतिखेद को दूर करने के लिए मानों जलक्रीड़ा सुख के लिए तरंगरूपी झूले में झूलते हैं। खेद है, नक्षत्ररूपी

(ॐ) 'तामरसेक्षण' इस पाठ में महामुनि (तापस) के वाक्य का अनुवाद कर रहे श्रीवसिष्ठजी का रामचन्द्रजी के लिए सम्बोधन है। 'तामसेक्षण' इस पाठ में साक्षात् महामुनि का व्याध के लिए सम्बोधन है।

कम्पितकुसुमों को बिखेर रहे ये वायु, जलों के वेष्टन से आकाश को वेष्टितकर जिसमें देवताओं के विमान गिर रहे हों ऐसे सुमेरु पर्वत के उद्यान की खोह में हुए और मंगल के लिए अक्षत सहित फूलों की वृष्टि कर रहे जनों की भाँति बह रहे हैं। पर्वत के समान भयानक उमड़ी हुई लहरों की चोटियों द्वारा ऊपर आकाश में फेंका गया, यन्त्र से आकाश में फेंके गये सोने के ढेले के तुल्य यह जलका रूप ब्रह्मलोक में पंखुरियों से वेष्टित ब्रह्मा के आसनभूत कमल तक, जिसके बीच में ब्रह्मा समाधिस्थ है, पहुँचकर लौटता है, बीच से नहीं लौटता। ये भयानक लहरें आकाश में मेघों की तरह घूमती हैं, जिनका रूप हाथी, घोड़े, सिंह, सर्प, वृक्ष, पर्वत, बन और खेतों के तुल्य है। ये अत्यन्त कठोर घुम्-घुम् शब्दरूपी गर्जन से भयानक हैं और बह रहे सुवर्णमय नगर ही इनमें बिजली-से कौंध रहे हैं। इधर से उधर बह रहे प्रलय-सागर में पैदा हुई अलसी के फूल के सदृश काली लहरों में यह यम भी जलवेगरूपी दूसरे यम से मानों ले जाया जाता है। ये लाखों सकल लोकपाल और दिग्गज अपने-अपने आश्रय मेरु आदि पर्वतों और नगरों के साथ जल में डूबते हैं। निधि-आदि लक्ष्मी के आकाररूप पर्वतमध्यवर्ती गुफाओं में पैठे हुए जलप्रवाह को लौटाने के लिए निकल रहे, वायु की बुड़-बुड़ ध्वनियों से उनके स्थानों की पूर्ति की प्रतीति हो रही है। पाताल, भूतल, आकाश और दिगन्तों में अपार दुर्निवार जलराशि के व्याप्त हो जानेपर इन्द्र, यम, यक्ष, देवता और दानवों के झुण्ड के झुण्ड अपने ग्राम, नगर, विमान और पर्वतों के साथ मछलियों की तरह घूमते हैं। हाय, प्रलय-जल द्वारा इधर उधर बहाये जा रहे, भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र का जलरूपी शरीर ही उसी प्रकार बन्धन बन गया है जैसे कि दुहने के समय प्यारी माता की जंघा बछड़ों के लिए बन्धन बन जाती है ॥५३-६०॥ हा, परस्पर एक दूसरे पर लिपट रहे दैत्य और दानवों का अपने लिए या अपनी स्त्रियों के लिए किये गये हल्ले से भरा हुआ बुड़-बुड़ शब्द सुनाई देता है। हाहाकार चीत्कार से पूर्ण देवता और दानवों के उत्तम-उत्तम नगरों के वेग के साथ गिरने के कारण क्षुब्ध हुई जलराशि से चारों ओर परिवेष्टित दसों दिशाएँ मानों घूम रही मेघराशि से आच्छन्न सी हो गई हो उनमें जलकी साफ दीवार खड़ी दिखाई देती है ॥६१,६२॥ हाय, खेद है, सर्वजन प्रसिद्ध सूर्य को जलराशि भँवरों के चक्कर में लपेटकर वेग से बहुत नीचे ले गई है। ये कुबेर, यम, नारद, इन्द्र आदि जलराशि और मेघमण्डल से पीड़ित (जीवन के अयोग्य) होकर प्राण-त्याग रहे हैं। पूर्ववर्णित प्रकार के ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु भगवान् के नगरों के खंडहरों से संकटपूर्ण जल की टक्कर लगने से कठोर आघात का प्रत्यक्ष करनेवाले लोगों में जो तत्त्ववेत्ता हैं वे जल में बह रहे मृत अतएव जड़ अपने शरीर को अहंभाव से विरहित होकर धारण करते हैं। इसलिए शरीर के छेदन-भेदन, आघात आदि का दुःख उन्हें नहीं होता है ॥६३,६४॥ हाय ! खेद है, अधकुचला हुआ स्त्रियों का झुण्ड यहाँपर आता है। पृथिवी में अतिमूर्ख रूपसे प्रख्यात इसे (स्त्रीसमूह को) बचाने की सामर्थ्य दूसरे किसमें है। जब यह समूह, जो यमराज की काल की) दाढों से चबाया जा रहा है, आपस में एक दूसरे को बचाने में समर्थ नहीं है। पर्वतों को मटियामेट करनेवाले तथा साँपों की तरह सरकनेवाले ये विशाल जलकल्लोल इधर से उधर बहते हैं। इनमें देवताओं के नगर पहले स्वरूप को नाव की तरह ऊपर उतराकर फिर नीचे डूब जाते हैं। खेद है, जलराशि से खूब लथेड़े हुए आलूनमूल कमलों की तरह द्वीप, महापर्वत,

देवता, दैत्य, सर्प, मनुष्य, नाग, अप्सराएँ और चारणों से व्याप्त काल द्वारा उखाड़कर मिट्टी में मिलाया हुआ त्रिभुवन एकमात्र सागररूपी तालाब के रूप में स्थित है। हाय ! प्रचुर समृद्धिवाले जगतों के अधिपति इन्द्र देवता न मालूम कहाँ चले गये ॥६५–६७॥

एक सौ उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चालीसवाँ सर्ग

प्रलय–सागर हटना, गाँव में मुनि की ब्रह्माण्डरूप से स्थिति, प्राणी के शरीर से बाहर निकलना आदि वर्णन।

व्याध ने कहा : महामुने, ज्ञानयोग सिद्ध आपके सदृश पुरुष भी पूर्ववर्णित नाना प्रकार की प्रलयजल स्रवन आदि विविध भ्रान्तअवस्था को कैसे प्राप्त हुए ? अतीत और अनागत सकल वस्तुओं के दर्शन में उपायभूत ध्यानरूप योगांग के प्रयोग से आपकी सकल भ्रान्तियों की निवृत्ति क्यों नहीं हुई ? ॥१॥ महामुनि ने कहा : हे व्याध, आकाश में भ्रान्तिज्ञानरूप ये सकल जगत् कल्पान्तों में भ्रान्तिरूप नाना प्रकार के विनाशों से विनष्ट होते हैं ॥२॥

क्रमिक प्रलय में योग द्वारा भूत और भावी पदार्थों के पर्यालोचनका अवसर रहता है, किन्तु आकस्मिक प्रलय में तो मुझे इसका मौका ही नहीं मिला, यों उत्तर देने के लिए प्रलय द्विविध होता है, ऐसा कहते हैं।

कभी कल्पान्त में क्रमशः नाश होता है, कभी सातों समुद्रों की सहसा एकाकाररूप विकृति हो जाने से अकस्मात् विनाश होता है। उक्त जल जब इस प्रकार झटपट विकृत हुआ, तब तो जबतक ब्रह्माजी से निवेदन करने के लिए देवगणों ने ब्रह्माजी के पास जाना चाहा, इतने में ही उन्हें जलराशि ने बहा डाला। जिस सहसा हुए प्रलय के विषय में देवता भी चूक जाते हैं उसके विषय में मेरा चूकना कौन बड़ी बात है ॥३,४॥

अथवा काल की प्रबलतावश उस समय मेरी ध्यान–धारणा फुरित नहीं हुई, ऐसा कहते हैं।

हे वनाधिपति व्याध, यह काल सर्वविनाशक है, किसी को भी नहीं छोड़ता। जिस समय में जो अवश्यम्भावी होता है उस समय में वह हो कर ही रहता है चाहे कोटि उपाय क्यों न किए जाय। विनाश का समय आनेपर महान् लोगों के भी बल, बुद्धि और तेज सर्वत्र सर्वथा विपरीत हो जाते हैं ॥५,६॥

दूसरी बात यह भी है कि स्वप्न में अन्य के चित्त का अनुगमन करते मैंने यह सब देखा था, स्वप्न में तो महात्माओं का भी विवेक कुण्ठित हो जाता है यह सर्वविदित है, यों परिहारान्तर कहते हैं।

हे वनाधीश, मैंने आपसे यह स्वप्न में देखा वृत्तान्त कहा है। स्वप्न में क्या संभव नहीं है ? क्या यह बात सब लोगों को विदित नहीं है ? ॥७॥ व्याध ने कहा : प्रभो, यह यदि असत् है, केवल स्वप्नदृष्ट भ्रान्तिरूप ही है तो हे कल्याणों के वेत्ता महामुने, इसके वर्णन से क्या लाभ है ? ॥८॥

कल्याणों के विशेषज्ञ आपमें निरर्थक वाक्यवक्तृता का सम्भव नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'कल्याणकोविद' सम्बोधन दिया है। अपनी कल्याण विशेषता प्रकट करते हुए मुनि उत्तर देते हैं।

हे मतिमन्, यह मेरा स्वप्नदृष्ट–वर्णन निष्फल नहीं है, इसमें तुमको बोधित करना महान् प्रयोजन है। जिससे कि वर्णित स्वप्नप्रपंच की तुलना से तुम परिदृश्यमान प्रपंच को भी केवल

भ्रमरूप समझो। दृश्यमात्र में भ्रमत्व सिद्ध हो जानेपर दृक्स्वरूप इस कथांश को तुम मुझसे सुनो। इसके बाद पागल जैसे उस एकमात्र सागर के वेग में उक्त प्राणी के ओज में पैठे हुए भ्रम-परम्पराओं से परिपूर्ण मैंने स्वप्न में भ्रान्ति देखी। जब वह सारा का सारा प्रलयजल कुपित वज्र से भयभीत हुए पंखवाले महापर्वतों के समूह की तरह कहीं जाने के लिए तैयार हुआ तब प्रलयजलराशि में उतरा रहे मुझे भाग्यवश पर्वतशिखर के छोर की तरह एक तट मिला। मैं उसके सहारे ठहर गया। इसके उपरान्त एक क्षण में वह सारी प्रलयराशि, जिसने लहरों की चोटियों के छितराये हुए जलकणों के सदृश नक्षत्र आदि देवताओं से आकाश को तारकित (तारों से पटा हुआ) बना डाला था, जो प्रवाहवश पाताल में पहुँचे हुए कुछ तारों से मणिमय गर्भवालीसी लगती थी, भँवरों में पड़कर अधोमुख हुए पर्वतीय पुराने तृणों से प्रचरता को प्राप्त हुई थी, सुवर्णद्वीप के तुल्य विशाल देवनगर और मन्दिरों से व्याप्त थी, यहाँ-वहाँ उतरा रही देवांगनारूप छिपी हुई कमलराशि से मायायुक्त थी, जिसके बीच में प्रलयकालीन मेघ के समान काला सेवाल का अम्बार इधर से उधर चक्कर लगा रहा था, जो बिजलीरूपी गोरोचनासदृश परागवाले प्रलयकालीन मेघरूप नीलकमलों से भरी-पुरी थी, जिसके चौगिर्द जलकणों की झड़ी लगा रहे कुहरे, मेघ और पहाड़ों ने तट बना डाला था, जिसमें आकाश का स्पर्श करनेवाली चंचल ऊँची-ऊँची लहरों में कल्पवृक्षों के बहने का सन्देह होता था, सम्पूर्णतया कहीं चली गई। इसके पश्चात् वह एकमात्र सागर का साँचा केवल सूखा गड्ढा रह गया। उसमें कहींपर सह्याचल गला पड़ा हुआ था, कहींपर जीर्णशीर्ण हो जाने के कारण यह मन्दराचल है या अन्य कोई दूसरा पर्वत है, यों मन्दराद्रि संशययोग्य अवस्था में पड़ा था, कहींपर चन्द्रमा, यम, इन्द्र और तक्षक कीचड़ में आकण्ठ डूबे थे, कहींपर कल्पवृक्षों के समूह की नीचे की शाखाएँ कीचड़ में डूबी थीं, कहींपर लोकपालों के सिर और हाथ कमलों की तरह बिखरे थे, कहींपर कमलों की तरह विश्राम ले रहे खून के तालाबों से वह लाल था, कहींपर आकण्ठ कीचड़ में डूबी हुई विद्याधरियाँ कराह रही थीं, कहींपर मानों स्वप्न में मरे हुए हाथी जैसे विशालकाय यमवाहनरूप भीषण भैसों से घिरा था, कहींपर महाकाय गरुड़रूप सुमेरु पर्वत अवसाद को प्राप्त होकर पड़ा था, कहींपर उसमें भूमिपर पड़े हुए यम के दण्ड से अकिचिंत्कर (मत्त की नाईं जल के निरोध में असमर्थ) महासेतु बना था, कहींपर मरे हुए ब्रह्मा के वाहनभूत हंस से पंकमय भूमि मन्दहास युक्त-सी लगती थी, कहींपर देवराज इन्द्र के ऐरावत का आधा शरीर कीचड़ में फँसा था ॥९-२३॥

इसके पश्चात् तटवर्ती पर्वत के शिखर पर पहुँचकर थक जाने के कारण किसी मुनि के आश्रम में जब मैंने विश्राम लिया तब मुझे खूब नींद आई। उसके अनन्तर उस वासना से युक्त हुए मैंने अपने ओज में स्थित होकर भी सुषुप्ति के बाद प्राप्त हुई निद्रा के अन्दर उस कल्पान्त को जैसा उक्त प्राणी के ओज में स्थित होकर देखा था वैसा ही देखा। चिरकाल तक उस दुगुने दुःख का अनुभव कर व्याकुल हुआ मैं जब जागा तो मैंने उस प्राणी के हृदय में स्थित उसी पर्वत शिखर को देखा। इसके बाद दूसरे दिन मैंने वहाँपर भगवान् भास्कर के उदय से मनोहर भुवन को लोक, आकाश, भूमि और पर्वतों के साथ देखा। द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब जैसे शाखा से पत्ते उत्पन्न होते हैं वैसे ही मेरे चित्त से उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् पूर्वानुभूत विषय

को भूलकर पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टिपात हुए भूलोक में तत्–तत् पदार्थों से व्यवहार करने के लिए मैं प्रवृत्त हुआ। आज मुझे पैदा हुए सोलह वर्ष हो गये हैं, ये मेरे पिता हैं, यह मेरी माँ है, यह मेरा घर है, ऐसी मेरी व्यवहारप्रतिभा उत्पन्न हुई। मैंने एक छोटा–सा गाँव देखा, उसमें एक ब्राह्मणाश्रम देखा, एक घर देखा, वहाँपर किसी आश्रम में मेरा कोई बन्धु हुआ। इसके बाद ग्राम्य घर में बन्धु–बान्धवों के साथ निवास कर रहे मेरे एकके बाद एक दिन–रात बीतने लगे। वहाँ जाग्रत आदि अवस्थाओं का अनुभव कर रहे मेरा वही ग्राम आदि बाह्य विकास यथार्थ–सा हो गया ॥२४–३२॥ उसके बाद समय बीतने पर धीरे–धीरे मेरी पूर्वजन्म की बोधबुद्धिविस्मृत हो गई। जैसे पूर्ववर्णित दामव्यालकटाख्यान में वासनाशून्य कटकी–मछलियों के साथ सहवास का अभ्यास होने से–पूर्वबोधविस्मृति द्वारा मत्स्यता हो गई थी वैसे ही मेरी भी ग्रामवास्तव्यता सम्पन्न हो गई। इस प्रकार उस समय मैं ग्रामवासी ब्राह्मण बन गया। मेरी एकमात्र शरीर में आसक्ति बद्धमूल हो गई। विवेक–भूमि मुझसे कोसों दूर चली गई। मैं केवल शरीर को आत्मा समझता था, केवल स्त्री ही मेरे मनोरंजन की सामग्री थी, केवल वासना ही मेरा स्वभाव था और केवल धन के उपार्जन में ही मैं जी–जान से लगा रहता था। एकमात्र बूढ़ी गाय ही मेरी सम्पत्ति थी, घर के आँगन में छाया के लिए मैंने सेम की लता लगा रक्खी थी, अग्निहोत्रार्थ अग्नि, जीविकार्थ दो एक बीधा खेत और गौ आदि पशु मैंने जोड़ रक्खे थे, धातुओं की वस्तुओं में एकमात्र कमण्डलु का मैंने उपार्जन किया था, स्वल्प काल तक रहनेवाले तुलसी आदि के पेड़–पौधों में मेरा बड़ा प्रेम था। मैं सदा लोकाचार में (नगर–ग्राम के आचार–विचारों में) निरत रहता था। घर के निकटवर्ती हरे–भरे मैदान में अकसर उठा–बैठा करता था। प्रायः शाक और शाक से भरे बागों को सजाने–सँवारने में मेरे दिन बीतते थे। छोटी–मोटी नदियों, झीलों, गंगा आदि पुण्यनदियों, तीर्थों और तालाबों में स्नान करने के लिए मैं सदा तत्पर रहता था। गोहरी, अन्न, जल, आग–लकड़ी और ईंट–पत्थर का क्लेश से संचय करता था। यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इस प्रकार के जालों से जकड़ा था। इस प्रकार वहाँ जीवननिर्वाह कर रहे मेरे सौ वर्ष बीत गये। एक समय दूर से कोई आत्मज्ञानी अतिथि मेरे घर आया। मैंने बड़े भक्तिभाव से उसका सत्कार किया। उसने स्नानकर मेरे घर में विश्राम किया और भोजन किया, रात्रि के समय शय्यापर बैठकर उसने कथा कही। किसी कथाप्रसंग में, जो अनेक दिशाओं, देशों, पर्वतों के रीति–रिवाजों से बड़ा मनोहर था तथा जिसमें अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्म ही यथास्थित रहकर भी जगत् के रूप से विकसित है, यों समझाया। इससे केवल एकमात्र बोधमयता को प्राप्त हुए मुझे अपनी धारणा शक्ति से प्राणी के शरीर में प्रवेश करना आदि अपना पहले का सारा वृत्तान्त याद हो आया ॥३३–४४॥ अपने पूर्ववृत्त की याद आने के पश्चात् जिसके पेट में बैठा था, उस प्राणी को सकल जगत् की अपेक्षा वृद्ध होने के कारण विराट्रूप समझकर मैंने उसके उदर से बाहर निकलने का उद्योग किया। प्राणी के उदर में भूमि, सागर, पर्वत और नदियों से पूर्ण विस्तीर्ण भुवन में जब मुझे बाहर निकलने के लिए द्वारभूत उसके मुँह का पता नहीं लगा, तब तो मैं बन्धु–बान्धवों से पूर्ण उस प्रदेश का परित्याग न करते हुए बाहर निकलने के लिए उसके प्राणवायु में प्रविष्ट हुआ। यहाँपर स्थित विराट्रूप इस प्राणी का बाह्य दृश्य और अन्य विराट् में उत्पन्न आभ्यन्तर दृश्य सब

मैं देखूँ, इस बुद्धि से तदनुकूल उसके प्राणों में अहंभाव धारणा बाँधकर मैंने उस देश का त्याग किया। जैसे फूलों से सुगन्धि वायु के साथ बाहर निकलती है वैसे ही मैं उसके प्राणों के साथ बाहर निकला, पवन के कन्धेपर सवार होकर उसके मुख द्वारपर आकर वायुरूपी रथ से बाहर आया, बाहर आकर मैंने यह बातें देखीं। कहीं पर्वत-गुफा में शिष्यों से संरक्षित मुनि का आश्रम है, वहाँपर पद्मासन लगाया हुआ मेरा शरीर पहले की तरह ही ज्यों का त्यों बैठा है ॥४५-५१॥ मेरी रक्षा करने में तत्पर मेरे सामने बैठे हुए शिष्यों का केवल एक मुहूर्त ही समय बीता था ॥५२॥ जिस प्राणी के हृदय में मैं प्रविष्ट हुआ था वह भी किसी उत्सव में प्राप्त हुए अन्न से तृप्त होकर पीठ के बल सुख से सोया था ॥५३॥ वह आश्चर्य देखकर मैंने किसी से कुछ नहीं कहा। कौतुकवश मैं पुनः उसी के दृश्य में प्रविष्ट हो गया ॥५४॥ मैं पूर्ववासना से युक्त होकर उन स्वबन्धुओं को देखने के लिए उस प्राणी के हृदय के अन्दर पूर्व अनुभूत ओजःप्रदेश में जब पहुँचा, तब तक वहाँ अति भीषण युगान्त (प्रलय) हो चुका था, उक्त भुवन धर्मअधर्ममर्यादा के साथ सर्वथा बदल गया था। अब वहाँ पर पहले से विलक्षण ही पर्वत खड़े थे, पहले से विलक्षण पृथिवी थी, दिशाएँ भी दूसरी थीं, लोक की बनावट में भी अन्तर हो गया था। वे मेरे बन्धु-बान्धव, वह गाँव, वह भूमिखण्ड, वे दिक्तट, सबके सब वायु द्वारा बटोर कर उड़ाये गये से न मालूम कहाँ लीन हो गये थे। मैंने उस समय सारे भुवन को पहले से विलक्षण स्थिति में देखा, उसके सब अवयव अपूर्व थे मानों वहाँपर वह पूर्व जगत् के स्थान में दूसरा ही जगत् उदित हुआ था। वहाँपर बारह सूर्य तपते थे, दसों दिशाएँ जलती थीं, ठण्डक से जमे हुए जल की तरह सबके सब पर्वत बलात् गलने की तैयारी में थे। प्रत्येक पहाड़ पर प्रत्येक दिशा में वनपंक्तियाँ जलती थीं, समस्त मणि, रत्न आदि सम्पत्तियाँ जलकर राख हो गई थीं। उनकी केवल स्मृति ही शेष रह गई थी। सभी सागर सूख गये थे, आँधियाँ सामने की ओर उठी थीं, सम्पूर्ण भूमिमण्डल अँगारों का ढेर बन गया था। पहले पाताल से, उसके बाद भूमिमण्डल से, फिर दिशाओं से ज्वालाएँ निकलने लगीं, शीघ्र ही सारा विश्व एक ही ज्वालामय मण्डल बनकर सन्ध्या समय के मेघों की तरह लाल हो गया। सुवर्ण-कमल के अन्दर प्रविष्ट हुए भृंग के समान उस ज्वालामय घर के अन्दर प्रविष्ट हुए मुझे फतींगे की तरह यद्यपि देह प्राप्त था, फिर भी दाह विकार दुःख नहीं हुआ, क्योंकि मेरा शरीर केवल आतिवाहिक है ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय था। वायु की धारणा से वायुरूप बना हुआ मैं उस ज्वालामय प्रलय जलप्रवाह में बिजली की तरह बखूबी घूमता था। ज्वालाओं की धधकों में चंचल शरीर होकर मैंने स्थलकमलोंपर घूम रहे भँवरों के तुल्य शोभा धारण की ॥५५-६५॥

एक सौ चालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इकतालीसवाँ सर्ग

वह्निज्वाला से व्याकुल लोक में प्रचण्ड आँधी का उठना तथा
अंगारों की वर्षा करनेवाले ज्वालामय मेघ का वर्णन।

मुनि ने कहा : हे व्याध, स्वप्न में मुझे यह स्वप्न है यह भलीभाँति ज्ञात था, अतएव अग्नि की ज्वालाओं में गिरकर खूब झुलसने पर भी मुझे कष्ट नहीं हुआ। ज्वालाओं के नये उड़ने के तरीकों से

सारे आकाश में अलातचक्र के समान मैंने सुन्दरता के साथ भ्रमण किया। आकाश–भ्रमण से मैं कुछ–कुछ श्रान्त हो गया, किन्तु तत्त्वज्ञानी होने के कारण मेरी बुद्धि में तनिक भी खेद नहीं हुआ था। मैंने ज्योंही उक्त दावाग्नि का विचार करने की ठानी त्योंही आँधी आ गई। उसमें आग को फूँकने में जैसा शब्द होता है वैसी ही साँय–साँय तथा अति गंभीर मेघ के कड़कने की–सी ध्वनि हो रही थी और उड़ रहे पत्थर, लाठी, धूलि, राख, पत्ती आदि जगत् के सब पदार्थों से वह भरी थी। उक्त आँधी ने प्रबल सरसराहट और गड़गड़ाहट के वेग से वन में मेघों को दुगुना बना दिया था, जल–प्रवाह में बह रहे और लौट रहे बारह सूर्यों के साथ अलातचक्रों को मिश्रित कर दिया था। ज्वालारूप सान्ध्य मेघों की राशियों ने उस आँधी में सैकड़ों बड़ी–बड़ी अग्निनदियाँ बहा रक्खी थीं। उस आँधी में पहाड़ों से भी दुगुने भूभाग (ढेले) और देवदानवों के नगर उड़ते थे। उस आँधी ने आकाश में घुमाये जा रहे भूतों से पूर्वोक्त सैकड़ों अग्निनदियों के पत्तों के अम्बार को दुगुना बना दिया था। खूब जली हुई, कुछ जली हुई तथा आधी जली एक दूसरे के ऊपर आकाश से नीचे गिर रही देवांगनाओं से उसमें अग्नि की ज्वाला दुगुनी हो रही थीं। नीचे गिर रहे अंगाररूप उसके मूसलाधारों से तथा आग की चिनगारीरूपी जलकणों से वह दँतुला–सी मालूम पड़ती थी। उक्त आँधी बिना राख के अंगारों की भीषण राशिवाली अपनी अलातरूपी बिजलियों को कँपा रही थी तथा धूम्ररूपी अन्धकारों से मलिन हुए ऊपर की दिशाके मुँह को आच्छादित करती थी। भूमि से, आकाश से और दिशाओं से वे पूर्वोक्त ज्वालारूप सान्ध्य मेघ उमड़े, जिन मेघों से देवमण्डली के साथ सातों लोक केवल ज्वालामय पर्वतपिण्ड बन गये। उक्त प्रचण्ड आँधी ने तब तो कालाग्निरुद्र के समान नाचना शुरू कर दिया। ऊपर उछलने से फैले हुए अग्निकण ही उसकी कपिल रंगकी सुन्दर केशराशि थी, नीचे पादाघात से मानों उसने दीवारों को उड़ा डाला था, उससे बार–बार कर्णकटु शब्द हो रहा था, उसके सबके सब अंग भस्म से लथपथ होने से शुभ्र थे, मध्यभाग में चारों ओर गिर रही ज्वालारूपी वस्त्रराशि को मजबूती से पकड़कर वह धारण किये थी। कालरुद्र में भी इन विशेषणों की योजना समानरूप से कर लेनी चाहिये ॥१–११॥

एक सौ इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बयालीसवाँ सर्ग

स्वप्नादि जगत् का तत्त्व ब्रह्म है यह वर्णन करते हुए तत्त्वदृष्टि से जगत्बीज कर्म के अभाव का साधन।

मुनि महाराज ने कहा : हे व्याध, संभ्रान्त लोगों को भी भ्रम में डालने वाले वर्तमान उस महान् कष्ट में आँधी द्वारा इधर–उधर बहाया जा रहा मैं अत्यन्त खेद को प्राप्त हुआ। तदुपरान्त खेद से मैंने सोचा कि दूसरे प्राणी के हृदय में निवास कर रहे मेरा यह स्वप्न है, इसलिए मैं व्यर्थ में दुःस्वप्नदुःख क्यों देखूँ ? दुःस्वप्नप्रदर्शन का त्याग कर जाग्रत द्वारा आनन्द क्यों न लूँ ? ॥१,२॥

स्वप्न का क्या रहस्य है यह निश्चय करने के लिए परकाय में प्रविष्ट हुए आप क्या निश्चय करके निवृत्त हुए, यों व्याध प्रश्न करता है।

व्याध ने कहा : हे मुने, स्वप्न का तत्त्व क्या होगा इस प्रकार के सन्देह की निवृत्ति के लिए आप उसके हृदय में प्रविष्ट हुए थे, सो क्या आपने स्वप्न का निश्चय कर लिया था ? भगवन्, यह आपने क्या

देखा ? हृदय में महासागर कहाँ रह सकता है, पेट में प्रलयकाल का वायु कैसे और हृदय में प्रलयकाल की अग्नि का कैसे संभव है ? द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ आदि रूप जगत् का हृदय में कैसे संभव है, इन सबका यथार्थ तत्त्व, जो आपने निर्णय किया है, मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥३-५॥

इस प्रकार अपने और दुसरे के स्वप्नों को देखने से अन्वय-व्यतिरेकगतः परिक्षित शब्दार्थरूप जगत् का बाधदृष्टि से त्रैकालिक असत्ता ही तत्त्व है, और परिशिष्ट अधिष्ठानभूत, ब्रह्मदृष्टि से ब्रह्म ही तत्त्व है इस आशय से श्रीमुनि उत्तर देते हैं।

मुनि ने कहा : हे व्याध, सृष्टि का कारण कूटस्थ है या विकारी है ? कूटस्थ तो कारण हो नहीं सकता, कारण कि व्यापार न कर रहे कूटस्थ में क्रियाजनकत्वरूप कर्तृत्त्वका सम्भव नहीं है, कार्यसम्बन्धयोग्य भी वह नहीं है, उसके उदासीन से अतिरिक्त रूप का निरूपण कहीं नहीं है और उसमें उदासीनातिरिक्त स्वभाव की उत्पत्ति भी श्रुत या दृष्ट नहीं है, अतएव उसका कारण होना तो किसी प्रकार संभव नहीं है। विकारी अनिर्णीत नाना अंशों से घटित होता है। उसका कौन-सा अंश कारण है ? घटादि विकारयुक्त मिट्टी के पिण्ड से हट रहा पिण्डाकार कारण है या आ रहा घटाकार कारण है, अथवा दोनों आकारों से अनुगत मिट्टी आदि आकार कारण है ? प्रथम तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि जो अपनी भी रक्षा करने में असमर्थ हो, कार्यकाल में रह न सके और कार्य के अर्थ हुए व्यापार का जो आधार न हो उसके कारण होने की सम्भावना तक नहीं है। दूसरा भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घट से अन्य कार्यका निर्देश नहीं है, अतः स्व में स्वकारणता का प्रसंग हो जायेगा। तीसरा भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि मिट्टी आदिरूप अनुगताकार को अक्रियाशील मानो तो कूटस्थतावश उसमें कारणता नहीं है, क्रियाशील मानो तो घटों की अनन्तता का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् सदा घटोत्पत्ति होगी, क्योंकि मिट्टी आकारमात्र सदा अस्तित्व है। कार्योत्पादन में समर्थ को सहकारी की आवश्यकता न होने से एक साथ सब कार्यों की प्राप्ति होगी, पिण्ड, घड़ा, कपाल, चूर्ण आदि की युगपत् प्राप्ति होगी। अन्य सहकारी के सम्बन्ध की व्यवस्था से व्यवस्था हो जायेगी, ऐसा यदि कहो तो बताओ कि अन्य सहकारी का संबंध मिट्टी-जन्य है या अन्यजन्य है ? यदि मिट्टीजन्य मानो तो घट आदि के समान वह भी मिट्टीआकार मात्र से ही उसी समय उपपाद्य होगा। ऐसी स्थिति में जैसे मिट्टीआकारमात्र को कारण मानने पर घटादि की उत्पत्ति युगपत् होगी, यह दोष दिया था सहकारिसम्बन्ध के भी मिट्टीआकार मात्रजन्य मानने में घटादि की उत्पत्ति युगपत् ही होगी, क्योंकि मिट्टीआकारमात्रजन्य सहकारिसम्बन्ध के सदा रहने से घटादि की युगपत् उत्पत्ति का प्रसंग ज्यों का त्यों रहा। इसलिए सहकारी के सम्बन्ध से कोई व्यवस्था न हुई। यदि अन्य सहकारिसम्बन्ध मिट्टी से भिन्न से जन्य है, तो मिट्टी भिन्न भी 'समर्थस्य कालक्षेपायोगः' इस न्याय से युगपत् सर्वकार्यजनक है, इसलिए प्रस्तुत सहकारिसम्बन्ध को भी उसने अपनी उत्पत्ति के बाद ही पैदा किया, अतः घटादि की युगपत् उत्पत्ति प्रसक्ति ज्यों की त्यों ही रही। यदि कहो मिट्टी से भिन्न भी अन्य सहकारिसम्बन्ध को उत्पन्न करने के लिए सहकारिविशेष की अपेक्षा करता है, ऐसी स्थिति में अन्य सहकारिसम्बन्ध कादाचित्क (कभी होनेवाला) ही होगा, अतः वह व्यवस्थापक हो सकेगा। तब भी मिट्टी से भिन्न में सहकारिविशेषसम्बन्ध

जिससे उत्पादनीय है, उससे वह 'समर्थस्य कालक्षेपायोगः' इस न्याय से अपनी उत्पत्ति के बाद ही पैदा किया गया, अतः प्रस्तुत अपेक्षित उपार्जनसम्पत्ति से घटादिकी युगपत् उत्पत्ति का निवारण होना असम्भव है। पिण्ड, कपाल, घट, चूर्ण आदि बहुत से कार्योत्पादन में समर्थ मिट्टी आदि आकार के किसी एक कार्य की जनकता में कोई विनिगमक नहीं है, सहकारिसम्बन्ध की विनिगमकता का खण्डन तो हो ही चुका है, इसलिए सब कार्यों की युगपत् प्रसक्ति होगी। यदि इसके परिहार के लिए एक कार्योत्पत्ति को दूसरी कार्योत्पत्ति में प्रतिबन्धक मानो तो परस्पर प्रतिबन्धक–प्रतिबन्ध्यता से कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा, इससे सर्ग आदि निष्कारण हैं, यह पक्ष ही अवशिष्ट रहा। अतः सर्ग शब्द और अर्थ सर्वथा है ही नहीं, यह तत्त्व निर्णीत हुआ ॥६॥

तब लोक में सर्ग शब्द और अर्थ कैसे प्रसिद्ध हैं ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

ये सर्ग शब्द और अर्थ परमात्मा में यथार्थरूप से अज्ञात होकर ही प्रसिद्ध है अर्थात् अज्ञात परमात्मरूप ही सर्ग शब्द और अर्थ हैं।

शंका : अज्ञात यदि होते तो जबकि जगत् अज्ञानमात्र होता, किन्तु वह अज्ञात आत्मपद शबल होने के कारण अज्ञान–ज्ञानरूप है।

समाधान : हाँ, ऐसा ही होता जबकि जगत अज्ञानमात्र होता, किंतु वह अज्ञात आत्मपद शबल होने के कारण अज्ञान–ज्ञानरूप है। अज्ञानांश को लेकर सर्ग शब्द और अर्थ अज्ञात हैं और ज्ञानांश को लेकर प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहना समुचित है ॥७॥

यदि सर्ग शब्द और अर्थ प्रसिद्ध हैं तो सर्ग शब्द और अर्थ हैं ही नहीं यह आप कैसे कहते हैं, ऐसा व्याध की ओर से प्रश्न उठनेपर कहते हैं।

हे सौम्य, जिस स्वप्न आदि जगत् के यथार्थरूप को तुम जानना चाहते हो, उसके यथार्थरूप से समझ में आ जानेपर अज्ञान की निवृत्ति हो जानेपर परमसिद्धान्तरूप परम पवित्र ब्रह्मरूप पद में आरूढ़ होकर मैं यह (सर्ग शब्द और अर्थ ही नहीं हैं यह वाक्य) कहता हूँ। मूर्ख लोगों की बुद्धि में जो सर्ग शब्द और अर्थ का अस्तित्व बद्धमूल है, उसका किसी प्रकार भी संभव न होने से मुझे कुछ भी पता नहीं है, ज्ञानांश और अज्ञानांश से उत्पन्न प्रतीत हो रहा यह जगत् केवल चिन्मात्र का ही विकास है ॥८,९॥

सिद्धान्तपक्ष में शरीर आदि की प्रसिद्धि ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ जल आदि है, कहाँ बोध है, कहाँ बोधविनाश है कहाँ जन्म, मरण आदि हैं ॥१०॥

तब सिद्धान्त में क्या है, ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं।

सिद्धान्त पक्ष में वह अति निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसके सामने अत्यन्त सूक्ष्म आकाश भी वैसा ही स्थूल लगता है जैसा कि परमाणुओं के सामने पर्वत ॥११॥

ईश्वर का और तत्त्वज्ञानियों का जगत्दर्शन कैसा है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

वह चिदाकाश (चिन्मात्र) स्वभावतः आकाशरूप अपने शरीर का कुछ विचार से जो चिन्तन करता है उस आकाश को ही जगद्रूप से जानता है ॥१२॥ जैसे स्वप्न में एकमात्र चित् का ही नगररूप से भान होता है वहाँपर वास्तव में नगर आदि कुछ भी नहीं है वैसे ही आत्माकाश में शान्त अखण्ड

अभान इस चिन्मात्र का ही जगत्-रूप से भान होता है। (*शंका- तब मेरे सदृश अल्पज्ञों या अज्ञानियों की दृष्टि में जगत् का भान कैसे होता है ?)* समाधान-जैसे दृष्टि में तिमिर रोग होनेपर प्रकाशमय आकाश में बालोंका-सा गोला दृष्टिगत होता है वैसे ही तुम्हारी चिद्रूप दृष्टि में अज्ञानरूप तिमिर रोग होनेपर यह जगत्-भान होता है। हमारी दृष्टि में तो न भान है, न प्रातिभासिक जगत् है, न व्यवहारिक जगत् है और न भूताकाश है केवल निराकार अनादि अनन्त (अविनाशी) चिदाकाश ही है। जिस कारण से केवल त्रिपुटी रहित (द्रष्टा, दर्शन, दृश्य रहित) शुद्ध द्रष्टा का ही बिना किसी कारण के नगर आदि के रूप से स्वप्न में भान होता है, यह स्वप्न में निर्णय किया गया है, उस कारण से जाग्रत में भी कारण के अभाव का पहले उपपादन किया गया है, अतः जाग्रत् में भी न द्रष्टा है और न दर्शन है यानी द्रष्टाआदि त्रिपुटी है ही नहीं। स्वयं स्पष्टरूप से अनुभूत होनेपर भी कुमारी के सुख की तरह जिसका वर्णन करना असंभव है, अनादि अनन्त एक (अद्वितीय) द्वैत और ऐक्य से शून्य उस शुद्ध चिन्मात्र का ही जगत्रूप से भान होता है ॥१३-१७॥

द्वैत और ऐक्य से शून्य की द्वैत और ऐक्य से स्थिति क्या कहीं देखी गई है ? ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं।

जैसे एक काल प्रलय और सृष्टि दोनोंरूप है अथवा जैसे बीज अंकुर, पौधा, पेड़, डाली, पत्ती, पल्लव और फलस्वरूप से स्वयं ही स्थित होता है वैसे ही ब्रह्म भी सर्वात्मक-द्वैत-ऐक्य से युक्त है ॥१८॥

तब तो ब्रह्म द्वैत और ऐक्य युक्त ही है, द्वैत और ऐक्य से वर्जित नहीं, इसपर कहते हैं।

जो एक की दृष्टि में महान दीवाररूप है, वह दूसरे की दृष्टि में निर्मल आकाश रूप है यह बात चिरस्थायी स्वप्न, मनोरथ, भ्रान्ति आदि में देखी गई है। यदि ब्रह्म परमार्थरूपसे द्वैत और ऐक्य युक्त होता तो सबके प्रति वैसा दिखाई देता, किन्तु सब उसको वैसा देखते नहीं, यह भाव है ॥१९॥ जैसे आत्मा एक स्वच्छ चिन्मात्रआकाश होकर भी स्वप्न में जाग्रत् के समान प्रतीत होता है वैसे ही जाग्रत्मय स्वप्न में भी प्रतीत होता है, अणुमात्र भी स्वप्न से जाग्रत में अन्यथा नहीं प्रतीत होता, उसी तरह इस समय में भी उसकी अद्वितीयता ही है ॥२०॥

यदि प्रश्न हो कि प्रलय और सुषुप्ति में इसका जगत् स्थित नहीं रहता, इसलिए यह सदा एकत्वभाव है, यह कैसे ? केवल अदर्शनमात्र से जगत् उस समय नहीं रहता यह निर्णय नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं।

जैसे नेत्रों से अदृश्य वायु में अदृश्य सुगन्धि स्थित है, यह घ्राणज अनुभूति से प्रतीत होता है वैसे ही अमूर्त होने से प्रतिघात के अयोग्य चिन्मात्र में अमूर्त जगत् स्थित है सुषुप्ति और प्रलय का अनुभव करनेवाले पुरुष द्वारा अदृश्य भी जगत् अन्य पुरुषों की दृष्टि से दृश्य ही है ॥२१॥

मन द्वारा मनन का त्यागकर यदि देखा जाय तो कहींपर कभी भी न जगत् था, न है और न होगा इस प्रकार निरन्तर ही आत्मा अद्वितीय सुस्थिर है, ऐसा कहते हैं।

समस्त मनन का (मनोव्यापार का) त्याग करनेपर तो तुम वस्तुतः जो निरामय सन्मात्र हो, वही हो। बाहर भीतर सर्वत्र अनन्त आत्मरूप से निरन्तर स्थित हो ॥२२॥

तब तो प्राक्तन कर्मों के अनुसार ही मन मनन करता है, अन्यथा नहीं करता, इसलिए अन्तोगत्वा

कर्म ही संसार का बीज ठहरता है, जिनका कर्म निश्शेषरूप से नष्ट हो चुका हो उनका समस्त मननत्याग सिद्ध होता है ऐसा समझ रहा व्याध उक्त कर्म किनका है, किनका नहीं है, यों पूछता है।

भगवन्, यहाँ प्राक्तन कर्म किनका है और किनका नहीं है। जिनका प्राक्तन कर्म नहीं है, उनके प्राक्तन कर्म के बिना भी मनन और मननत्याग कैसे होते हैं ? ॥२३॥

जिनका अधिकार दिलानेवाले उपासना फल के अन्तर्गत ही 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस न्याय से तत्त्वज्ञान स्वाभाविक (उत्पत्तिकालिक) ही है उनका कर्म नहीं है, ऐसा मुनि उत्तर देते हैं।

ब्रह्मा, सनक, कपिल आदि जो स्वयम्भू (अपने-आप होनेवाले) सृष्टि के आदि में स्वयं भासित होते हैं वे ज्ञानमात्रदेहवाले हैं, उनके जन्म और कर्म नहीं होते हैं॥२४॥ उन महात्माओं का न संसार है, न द्वैत है और न उनमें विविध कल्पनाएँ ही हैं। विशुद्ध ज्ञानरूपदेहवाले वे आत्मा होने के कारण ही सर्वात्मा हैं और सदा ज्यों के त्यों बने रहते हैं॥२५॥

कर्मशून्य वे महात्मा ब्रह्मा आदि कर्मवान के आत्मा कैसे हैं, ऐसी आशंका उपस्थित होनेपर उस समय किसी का भी कर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में यहाँ किसी का भी कर्म नहीं रहता। सृष्टि के आरंभ में ब्रह्म ही इस तरह सृष्टिरूप से विकास को प्राप्त होता है। जैसे सृष्टि के आरम्भ में परब्रह्मरूपी ब्रह्मा आदि भासित होते हैं वैसे ही सैकड़ों और हजारों अन्यान्य जीव भी भान को प्राप्त होते हैं॥२६,२७॥

जिनकी दृष्टि से कर्म रहता है, उनको कहते हैं।

जो लोग अज्ञानावृत होकर अपना ब्रह्मत्व नहीं जानते यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं जानते किन्तु 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' यों ब्रह्म से अपने को भिन्न समझते हैं वे असात्त्विक (केवल सत्त्व गुण के परिणाम से विलक्षण रजोगुण तमोगुण मिश्रित सत्त्व के परिणाम से उत्पन्न हुए) जीव अचित् (अचेतन) नामक द्वैत को सत्य जानकर उस वासना से वासित अन्तःकरणवाले होकर ही पहले मरे उनका कर्म सहित जन्म उत्तर काल में दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अचेतन देहात्मरूप होकर परमार्थ वस्तु को भूलकर अवस्तु को अपनाया। जिन महापुरुषों को बोधरूप महान् आत्मा में ब्रह्म से भेद का कदापि बोध नहीं हुआ, कर्मबन्धनरूप दोष से रहित वे ये ब्रह्मा, विष्णु, हर आदि हैं। सर्वात्मरूपसंवित् की स्वच्छता स्वाभाविक है, सर्वात्म ब्रह्म स्वस्वभाव में ही स्थित है। वह कहीं मलिन उपाधि में स्वयं अपना जीववत् भान देखता है॥२८-३१॥

ब्रह्म में अविद्या भी जीवउपाधि के अवच्छेद से ही है, शुद्ध में नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जहाँपर उसे अपने जीवत्व का भान होता है वहीं अविद्या रहती है, वहींपर आत्मा अपने यथास्थित स्वरूप को संसार नाम से धारण करता है। काल पाकर स्वयं ही अपने असली स्वरूप को जानकर स्वयं स्वरूपस्थ ब्रह्म ही हो जाता है, *कारण कि 'ब्रह्म वा इदमग्र.' (यह पहले ब्रह्म ही था, उसने आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जाना इससे वह सर्वात्मा हो गया) और 'ब्रह्म वेद' (जिसे ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं।* जैसे द्रवरूप होने से जल अपने अन्दर आवर्तरूपता को (भँवररूपता को) मानों प्राप्त होता है वैसे ही ब्रह्म भी चित् होने से सर्गरूपता को मानों प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्म का सर्ग स्वभाव है। यह सर्ग (सृष्टि) ब्रह्मभान है।

न स्वप्न है और न जागरण है। किसकी कौन सर्गता है तथा कौन किस प्रकार से अथवा कितने कर्म ही हैं। वास्तव में कर्म है ही नहीं, न अविद्या है और न सृष्टिबुद्धि ही है, किन्तु स्वसंकल्पवश यह असत् ही यों प्रथित होता है। सर्वशक्तिमान् और सत्यसंकल्प होने के कारण ब्रह्म ही सृष्टि, भूतस्वरूप, कर्म और जन्म ऐसी कल्पनाएँ करता हुआ स्वयं ही कल्पित पदार्थों के रूप से भासित होता है ॥३२-३६॥ सृष्टि के आरम्भ में किसी जीव के कर्म का सम्भव ही नहीं है। पीछे अविद्या में स्थिति की कल्पना के बाद चिद्रूप वह जीव देह आदि द्वारा स्वकर्म को स्वयं निष्पन्न कर उसका भोग करता है। भला बताइए तो जलावर्त का (जलके भँवर का) क्या शरीर है, क्या कर्म है ? जैसे भँवर केवल जल ही है वैसे जगत् केवल ब्रह्ममात्र ही है। आदि में शुद्ध देखे गये मनुष्यों का प्राक्तन कर्म नहीं होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में शुद्ध सात्त्विक शरीर में चिन्मात्र स्वरूपवाले जीवों के कर्म नहीं रहते ॥३७-४०॥

क्यों नहीं होते ? इसपर कहते हैं।

सृष्टि के सृष्टिरूप से बद्धमूल होनेपर प्राक्तन कर्मों की कल्पना होती है। उसके बाद ये जीव कर्मपाश से विवश होकर नाना योनियों में भ्रमण करते हैं अर्थात् शुद्ध सात्त्विक शरीरों में कर्म इसलिए नहीं रहते कि उनकी सर्गता बद्धमूल नहीं होती ॥४१॥ जहाँ यह सृष्टि सृष्टि ही नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही इस प्रकार सृष्टि के रूपसे स्थित है वहाँ कर्म कहाँ ? वे क्या अथवा किसके कहे जा सकते हैं ? ॥४२॥

कर्म जब है ही नहीं तब कर्मयुक्त बन्धन कहाँ ? अर्थात् नहीं है, किन्तु अज्ञानप्रयुक्त ही बन्ध है, भले ही आप उसे कर्मबीज कहें पर वह अज्ञान से अतिरिक्त नहीं हैं ऐसा कहते हैं।

परमात्मा का जो स्वयं अपने स्वरूप का अपरिज्ञान है वही यह कर्म बन्धनका कारण है अपना परमात्मस्वरूप जिसे ज्ञात है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है ॥४३॥

इससे सिद्ध हुआ कि कर्म भी अविद्यारूप ही है इसलिए ज्यों ज्यों ज्ञानप्रकर्ष होता है त्यों त्यों कर्म का क्षय होता है, ऐसा कहते हैं।

ज्यों ज्यों पण्डित का ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों उसका बन्धन में डालनेवाला कर्म बराबर क्षीण होता है ॥४४॥

केवल ज्ञान से वस्तु (कर्म) का नाश कैसे संभव है ऐसी शंका उठने पर कर्म वस्तु ही नहीं है, यों परिहार करते हैं।

जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके नाश में कौन-सी कठिनाई है ? बन्ध परमार्थ के सिवा कुछ है ही नहीं अर्थात् अज्ञानवश परमार्थ में वह कल्पित है। जब तक पाण्डित्य प्राप्त न हो जाय तभी तक माया संसाररूप बन्धन का भय उत्पन्न करती है, वास्तव में पाण्डित्य भी वही है, जिससे फिर भवसागर में पतन नहीं होता। शुष्क तर्कादि पाण्डित्य का यहाँपर कुछ भी उपयोग नहीं है। इसलिये निरन्तर निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण पाण्डित्य के लिए श्रवण, मनन आदि प्रयत्न करना चाहिये। इसके सिवा दूसरे उपाय से आपका संसारभय कदापि शान्त नहीं हो सकता ॥४५,४६॥

एक सौ बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तैंतालीसवाँ सर्ग

पाण्डित्य की प्रशंसा तथा चिन्मात्रदर्शन ही पाण्डित्य है यह कथन-पूर्वक चित् ही जगत् है, इसका युक्ति द्वारा पुनः समर्थन।

श्रीमुनि ने कहा : हे व्याध, कमलों को खिलाने के निमित्त जैसे सूर्य आकाश का अलंकार है वैसे ही सम्पूर्ण धर्मों के निर्णय में, धर्म से अविरुद्ध लौकिक कर्मों के निर्णय में तथा धर्म और सत्कर्मों के फलभूत ऐहिक और पारलौकिक सुखों के तारतम्य के निरूपण में सन्देह रूपी ग्रन्थि को सुलझाकर श्रोता की बुद्धि को विकसित करनेवाला पण्डित (ज्ञानी) ही सभा का अलंकार है ॥१॥

सकल पारलौकिक सुख भी पण्डित को प्राप्त होनेवाले आत्मसुखरूपी महासागर में जलकण से भी लघु है, ऐसा कहते हैं।

गन्तव्य परम धामरूपी ब्रह्म को जाननेवाले आत्मज्ञानी पण्डित जिस परम गति को प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्र का महान् ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण पत्ते के टुकड़े की तरह नगण्य है। पाताल में, भूतल में और स्वर्ग में जो कुछ सुख अथवा ऐश्वर्य मैं देखता हुँ, वह सब मिलकर भी पाण्डित्य की बराबरी नहीं कर सकता। सत्-शास्त्र के विचार से उत्पन्न हुए ज्ञान से परिपूर्ण पण्डित की परमार्थ वस्तुरूप दृष्टि स्वात्मा में वैसे ही आह्लाद का अनुभव करती है जैसे कि शरत् काल की पूर्णिमा के अखण्ड निर्मल मण्डलवाले चन्द्रमा में, जिससे बादलों का कोई सम्पर्क न हो, लोगों की दृष्टि आह्लादित होती है। जैसे ज्ञान होनेपर माला में कल्पित सर्पता तुरन्त शान्त हो जाती है वैसे ही विद्वान् की दृष्टि में यह अज्ञानरूप सर्गादि दृश्य क्षणभर में ब्रह्म बन जाता है ॥२-५॥

तो क्या देहसर्गादि-शान्ति ब्रह्म स्वभाव से अतिरिक्त उत्पन्न होती है, इस पर नहीं ऐसा कहते हैं।

ब्रह्म स्वतत्त्वज्ञान से ही ब्रह्मरूप स्वभाव में जो स्थित है उसी की स्वयं उसी ने स्वस्वभावरूप देह-सर्ग-क्षयादि संज्ञाएँ की हैं, यह परमार्थ है ॥६॥

ऐसा क्यों होता है ? इस शंकापर चूँकि परिशिष्ट ब्रह्म दृश्यक्षय नामका धर्मकर्म से शून्य है, ऐसा कहते हैं।

जिसमें यह सृष्टि नाममात्र को भी नहीं है उसमें सृष्टि के धर्म, कर्म और उनके बोधक पद, वाक्य आदिरूप अक्षरमालिका कहाँ से होगी, अर्थात् नहीं है ॥७॥

दृश्य का न तो भूतकाल में अस्तित्व था, न वर्तमान में है और न भविष्य में रहेगा, यों त्रैकालिक असत्ता होने से ही उसकी सकारणकता का निरास हो गया, ऐसा कहते हैं।

पृथिवी आदि के अस्तित्व का संभव होता तो उसका कारण भी होता, जहाँपर पृथिवी आदि का अस्तित्व ही नहीं है, वहाँपर उसका कारण क्या होगा ? ॥८॥ ब्रह्म का जो प्रतिभास (झलक) है, वह यह जगत् कहलाता है। इसी से समझ लीजिये कि वे पृथिवी आदि कहाँ हैं और इनका कारण कहाँ ? क्या कहीं प्रातिभासिक घट के लिए दण्ड, चक्र आदि कारणकलाप की आवश्यकता पड़ती है ? यह भाव है ॥९॥ जैसे स्वप्न देखनेवाले दिखाई देनेवाले स्वप्नलोक के मनुष्यों के पिता आदि कारण काल्पनिक हैं वास्तविक नहीं है, वैसे ही जाग्रतरूप स्वप्न में भी दृश्य लोगों के पिता आदि

कारण काल्पनिक ही हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥१०॥

पिता आदि की तरह उनके कर्म आदि भी अवास्तविक ही हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्नलोक के पुरुषों के पुरुषादि रूप में उत्पन्न होने में निमित्तभूत प्राक्तन कर्म नहीं हैं, वैसे ही यहाँ भासित हो रहे जाग्रतरूप स्वप्न के मनुष्यों के भी प्राक्तन कर्म नहीं हैं। जीव जैसे सृष्टियों में सकल स्वप्नपदार्थों को परस्पर देखता है, वैसे ही अपनी वासना के अनुसार मिथ्याभूत सकल व्यवहार में प्राक्तन कर्म के अस्तित्व को, जो सर्वथा मिथ्या है, अपनी वासना के अनुसार ही देखता है। जीव भूत, भुवन आदि की सृष्टि से लेकर देहसिद्धि पर्यन्त संसार में स्वप्नपदार्थों की तरह ही अपने संकल्प के अनुसार परस्पर प्रतीत होते हैं, इसलिए स्वप्न पदार्थों की तरह संवेदनांश में विद्यमान भी वे अन्य अंश में अविद्यमान ही हैं। भावना कर रहे पुरुष को सब पदार्थ अपने संकल्प के अनुसार अपनी आत्मा में प्रतीत होते हैं और जाग्रत के समान स्वप्न में भी परस्पर अर्थक्रिया में समर्थ होते हैं। जैसे स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी आपकी भोजन आदि की संकल्प संवित् ही पाक आदि संवित् के क्रम से मुँह में कौर डालने के रूप से तृप्तिरूप फल प्राप्त कराती है वैसे ही जाग्रत–संवित् भी है। स्वप्न अस्फुट है लोकनिष्ठता से जाग्रत स्फुट है, यही जाग्रत और स्वप्न में अन्तर है। स्वभाव में स्थित भास्वर शुद्ध संवित् स्फुट हो चाहे अस्फुट, जो भी होकर स्वयं भासित होती है उसके उस भाव के जाग्रत और स्वप्न दो नाम लोक में रखे गये हैं। भूत, भुवन आदि की सृष्टि से लेकर देहसिद्धि पर्यन्त जिस वेदन का जैसे भान होता है वह मोक्षपर्यन्त प्रवाहरूप से जैसा का तैसा रहता है। वही यह सर्ग कहलाता है। जाग्रत् और स्वप्न में प्रसिद्ध की और अमूर्त होने के कारण अप्रतिघातरूप उनकी संवित् की वैसे ही भिन्नता नहीं है, जैसे कि प्रकाश और आलोककी भिन्नता नहीं है, जैसे अग्नि और उष्णता की भिन्नता नहीं है और जैसे तरंग के साथ द्रव और जलकी भिन्नता नहीं है अथवा जैसे शीतलता और वायु की भिन्नता नहीं है। 'नेति नेति' इस श्रुति द्वारा निषिद्धयमान होने के कारण निषेधार्थक नञ् (न) से और उसके अर्थ प्रतियोगिता से युक्त असद्रूप सम्पूर्ण जगज्जाल अधिष्ठानभूत चित्स्वभावतावश अमूर्त चिन्मय होने के कारण प्रतिघातसह शान्त सन्मय ही है। ब्रह्म जगद्रूप से उत्पन्न होकर और प्रलयरूप से मरकर दृश्यानुभवरूपी होने से सर्वात्म व्यवहार में दृश्यानुभवरूप है, किन्तु परमार्थ में अजर, अमर, शान्त, एक चिन्मात्र ही स्थित है ॥११–२१॥ जैसे पुरुष ने नगरी के अन्दर मिट्टी, घड़ा आदि पदार्थों की कार्य–कारणता की कल्पना कर रक्खी है वैसे तो ब्रह्मा ने आकाश, वायु आदि पदार्थों की दृश्य में जो कल्पना कर रक्खी है वह वैसे ही रहे। यह शास्त्र नियमभंग के लिए नहीं है, किन्तु उसकी सत्यता, भिन्नता आदि के विनाश के लिए है, यह भाव है ॥२२॥

जगत् की सत्यता का भंग होनेपर स्वाप्न वस्तुओं की प्रकृति के समान जगत् का चिन्मात्र में ही पर्यवसान होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे तुम्हारे हृदय में स्वप्ननगरी है वैसे ही ब्रह्मा के हृदय में यह सृष्टि है जैसे स्वाप्नी कार्यकारणता मैंने तुमसे कही है वैसी ही कार्यकारणता उसमें है ॥२३॥ जैसे तुम अपने स्वप्ननगर की कल्पना करते हो वैसे ही ब्रह्म ने सृष्टि के आरम्भ में कार्यकारणता का संकल्प किया था। संकल्पमय इस सृष्टि में वैसी कार्यकारणता आज भी स्थित है ॥२४॥

तुमने भी अपने संकल्पनगर में स्वेच्छानुसार कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था कर रक्खी है, यों सिद्धवत् मानकर कहते हैं।

तुमने अपने स्वप्ननगर में जैसी कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था स्थापित कर रक्खी है सृष्टिरूपी स्वप्ननगर में संकल्परूपिणी चिति ने भी वैसी ही कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था बाँध रक्खी है ॥२५॥ संकल्पनगर और उसकी अन्दरूनी व्यवस्था केवल चिदाकाश का विकास ही तो है, यह बात अपने अनुभव से सिद्ध है। यह परिदृश्यमान सृष्टि भी हिरण्यगर्भ के संकल्प से उद्भूत होने के कारण संकल्प–सृष्टि के अन्तर्भूत ही श्रुति, पुराण आदि में कही जाती है, उससे पृथक् नहीं है ॥२६॥ हृदय में स्थित संकल्प–नगर में चिदादित्य की (चित्सूर्य की) स्वप्रकाशतारूप अवस्था सदैव रहती है वही यह कार्यकारणता सृष्टि के पदार्थों में उत्पन्न स्वभावसिद्ध है ॥२७॥ 'स भूरिति व्याहरत्' (उसने 'भू' उच्चारण किया और भुवन की सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार हिरण्यगर्भ के (ब्रह्मा के) हृदय चैतन्य में सृष्टि के आरंभ में ही वर्तमान है। उस प्रकार से स्थित उसी की स्वभाव (पृथिवी का गन्ध तथा काठिन्य स्वभाव, जलका द्रवत्व स्वभाव, तेज का उष्ण और प्रकाश स्वभाव, वायु का गमन और सूक्ष्मता स्वभाव इत्यादि रूप से), काल (अतीत, अनागत आदि काल के रूप से) तथा देश आदि से (पूर्व, पश्चिम आदि देशों के रूप से) तत्–तत् संज्ञाएँ की गई हैं ॥२८॥

इसी प्रकार गऊ घड़ा आदि सबमें समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जो चिदाकाश की शून्यता झटपट जिस वस्तुरूप में भासित होती है उस वस्तुता से वैसे ही कार्यकारणभाव का आश्रय किया गया है। जैसे कि गऊ दूध का कारण है और घड़ा दूध के धारण का कारण है ॥२९॥

जिसका मन से ध्यान करता है, उसका वाणी से उच्चारण करता है, इस श्रुति के अनुसार पहले रूपकल्पना की गई, उसके पश्चात् नाम की कल्पना हुई, ऐसा कहते हैं।

संकल्परूपी सृष्टि–सा मालूम पड़नेवाले इस एकमात्र चित्चमत्कार में पहले पदार्थों की सृष्टि होती है उसके पश्चात् सृष्टि आदि नाम पड़ते हैं ॥३०॥ हे सौम्य, जैसे वायु में स्थित स्पन्दसत्ता का वायु से अतिरिक्त स्वरूप नहीं है उससे अभिन्न ही है वैसे ही चिदाकाश में स्थित जो त्रिजगत्रूप शून्यता है उसका चिदाकाशसे पृथक स्वरूप नहीं है, वह चिदाकाश से अभिन्न ही है ॥३१॥

इससे सिद्ध हुआ कि चिद्घनताका ही भ्रान्त लोगों की दृष्टि में जगत् के रूप में स्फुरण होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में घना अवकाश ही नीलरूप से स्थित है वैसे ही चित् में चैतन्य की घनता ही सर्गरूप से स्थित है ॥३२॥

कब ब्रह्म में सृष्टि का अभाव ज्ञात होता है ? ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं।

जब कठिनाई के साथ साधनों के अभ्यास से देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत–त्रिविध परिच्छेद से शून्य चिन्मात्र का स्वभावतः ज्ञान होता है तब जाकर इस सृष्टि में विसर्गता (सृष्टि का अभाव) प्रतीत होती है जैसे कि रज्जुसर्प का यह सर्प नहीं है, रज्जु है, यों ज्ञान होनेपर फिर रज्जुका रूप ज्ञात होता है ॥३३॥

ऐहलौकिक सृष्टि के समान पारलौकिक सृष्टि भी ऐसी ही है, ऐसा कहते हैं।

वह मरकर स्वप्न की तरह सम्पूर्ण जगत् को पृथक् देखता है, उसके बाद होनेवाली पारलौकिक अन्य देह का वह सारा जगत् अमूर्त चिदाकाश ही है ॥३४॥ व्याध ने कहा : हे मुनिवर, इस देह के छूट जाने के बाद अन्य देह कैसे उत्पन्न होती है ? उसका कौन उपादान कारण है और कौन निमित्त और सहकारी कारण है ? ॥३५॥

जो लोग यह मानते हैं कि धर्माधर्म ही स्वभोगार्थ करते हैं, उनके मत में कर्मनिर्मित की ज्ञान से निवृत्ति न होने के कारण मोक्ष के अभाव की आपत्ति प्राप्त होगी, ऐसा कहता है।

यदि धर्म और अधर्म देह आदि का निर्माण करते हैं। देहादिभाव से स्थित इसका नित्य मोक्षनामकरूप कर्म करते हैं यह कथन असमंजस है, क्योंकि जो कर्म निर्मित होता है उसका पिण्ड अनित्यता नहीं छोड़ती, यह भाव है ॥३६॥

संस्काररूप से विहित और निषिद्ध के आचरण धर्म और अधर्म कहलाते हैं; संस्कार-पुँज ही मन है, चिदाभास से व्याप्त मन ही जीव है और जीव प्राणादि चेष्टाप्रधान होने से कर्मात्मा है और वही अपनी वासना के अनुसार देह आदि का संकल्प करता हुआ जीवात्मा सा बनता है, इसलिए ये चित् के प्रतिभास विशेष ही हैं, इस आशय से दूसरे प्रश्न का उत्तर मुनि कहते हैं।

धर्म-अधर्म, वासना, कर्म, आत्मा, जीव यह सब पर्यायवाची शब्दों की राशि की कल्पना है, किन्तु अर्थभेद इनमें तनिक भी नहीं है ॥३७॥

चिदाकाश ने कोई दृश्यदेहादिप्रपंच भी है यों चित्त द्वारा कल्पित चिदाभासरूपसे अपने चिदाकाश स्वरूप में स्वयं ये धर्म, अधर्म आदि, इनके फल सुख, दुःख आदि नाम रखे हैं ॥३८॥

जीवात्मा जैसे स्वप्न और मनोरथ में पहले से अविद्यमान देह को विद्यमान-सा जानता है वैसे ही मरकर भी अविद्यमान आकाशरूप देह को चित् होने से स्वयं चिदाकाश में विद्यमान-सा जानता है ॥३९॥

मरने के बाद का समय और देह आदि की कल्पना स्वप्न के समान ही है, ऐसा कहते हैं।

मरे हुए को परलोकबुद्धि स्वप्न के समान अपने-आप भासित होती है मरकर वह चिर कालतक परलोक को देखता है, किन्तु स्वप्न के समान उसमें सत्यता नहीं है ॥४०॥

पिता आदि अथवा ईश्वर मरे हुए का पुनः निर्माण करते हैं, इस युक्ति का खण्डन करते हैं।

यदि कोई दूसरा-पिता अथवा ईश्वर-मृत की सृष्टि करता है, तो वही यह है ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? क्योंकि 'तत्सृट्वा तदेवानुप्राविशत्' (उसकी सृष्टिकर उसी में प्रवेश कर गया) इस श्रुति से निर्माणकर्ता के ही प्रवेश का श्रवण है। यदि कहो कि इष्टापत्ति है, तो उसकी स्तनपान आदि प्रवृत्ति के अनुरूप स्मृति कैसे होगी ? पूर्वसिद्ध आत्मा का ही अवलम्बन करके उत्पन्न हुए में जो चेतनत्व प्रसिद्ध है वह भी शून्य ही है। इससे सिद्ध हुआ कि मृत्यु होने के बाद फिर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु केवल चित्त से ही यहाँपर यह मैं इस प्रकार उत्पन्न हुआ हूँ यों जन्मादि विकारशून्य आत्मा में कल्पना द्वारा जानता है ॥४१,४२॥

उसी भाव की अभ्यासवश जब स्पष्ट प्रतीति होती है तब लोक और वेद में उसीमें जन्मव्यवहार होता है, लेकिन वह वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

अभ्यस्त स्वभाव का ही चिरकालतक अनुभव कर रहा जीव उसमें दृढ़ प्रतीति कर लेता है, अतएव उसे सर्वथा सत्य ही समझता है ॥४३॥ आकाशात्मा उसी में आकाशरूप स्वप्नतुल्य दृश्य का अभ्यास करता हुआ फिर स्मरण की कल्पना करता है, पुनः जन्म की और पुनः जगत् की कल्पना करता है। इस तरह चिदाकाश में अलीक (असत्य) परम्परा को देख रहा जीव व्यष्टिभाव को प्राप्त होकर अलीक जगज्जाल को जाग्रत और स्वप्न में देखता है, अपनी सन्निधिमात्र से स्व में अध्यस्त कार्यकारणों को विषयों में प्रवृत्त कराता है एवं सुषुप्ति,प्रलय और मोक्ष में जगत् का भक्षण करता है। लेकिन वास्तव में न तो कुछ किसी का भक्षणीय है और न कोई भक्षक ही है ॥४४,४५॥ इस प्रकार कोटि कोटि जगत् हैं। यदि उनका रहस्य तत्त्व जान लिया जाय तो वे सब ब्रह्मरूप ही हैं अन्यथा (तत्त्व ज्ञात न हो तो) वे केवल एकमात्र दृश्य ही हैं ॥४६॥ उक्त कोटि–कोटि जगतों द्वारा किसी का कुछ भी आवृत नहीं हुआ। वास्तव में वे हैं ही नहीं। उन जगतों में प्रत्येक जीव यही केवल एक जगत् है अन्य जगत् नहीं है, ऐसा जानता है। उक्त कोटि–कोटि जगतों के पृथिवी आदि पंचभूत और जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार के प्राणी तत्–तत् जीवों के अभीष्ट जगत् में वैसे ही (उस जगत् के अनुरूप ही) हैं उसके अनुकूल नहीं हैं। वे सबके सब असत्य व्यवहार दृष्टि से सत्य है, सत्य परमार्थ दृष्टि से अजन्मा ब्रह्मरूप ही हैं ॥४७,४८॥

इसलिए ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में सत्य और असत्य परस्पर विपरीत है यानी जिसको ज्ञानी सत्य समझता है उसे अज्ञानी असत्य और जिसे ज्ञानी असत्य समझता है उसे ज्ञानी सत्य, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञाता की दृष्टि से जो (पर ब्रह्मरूप वस्तु) सत्य है वह अज्ञ की दृष्टि में कभी निवृत्त न होनेवाला असत्य है और जो ज्ञानी की दृष्टि में असत् है वह अज्ञानी की दृष्टि में अतिस्पष्टरूप से सत्य है ॥४९॥

अथवा सत्य और असत्य दोनों ही परमार्थ सत्य चित् में भानरूप होने से सब कुछ सत्य ही है, अतः ज्ञानी और अज्ञानी में परस्पर अविपरीतता ही है, ऐसा कहते हैं।

चूँकि परमार्थ सत्यचिति का जो जो भान जैसा–जैसा होता है वह वह सब सत्य है, इसलिए ये सब भूत परस्पर सत्य ही हैं ॥५०॥

अथवा जिसके प्रति जब जिस जगत् का भान होता है, उसके प्रति तब वह सत्य है, यह सत्यता की व्यवस्था है, ऐसा कहते हैं।

जिस–जिस जगत् का जिस–जिस संवित् के प्रति भान होता है वह वह उस संवित् के प्रति नित्य सत्य है, क्योंकि जगद्रूप सत्य है अथवा असत्य है इस बात का अपनी सत्य संवित् से ही निर्णय करना चाहिये। वह भगवती संवित् 'सत्य है' ऐसा निर्णय करती है, तो दूसरा कौन उसके निर्णय को विपरीत सिद्ध कर सकता है, क्योंकि उसका निर्णय अमोघ है। यदि यह सब संविद्–मात्र से निर्णय है तो जहाँ जैसा संवित् को भासता है, वैसा ही है। संवेदनानुसार प्रतीत हुई वस्तुराशि में क्या भेद है क्या अभेद है ? क्या द्वित्व और एकत्व की ही कथा है ? यह ज्ञेय ज्ञानरूप ही है यों ज्ञान और ज्ञेय का अभेदज्ञान होने से यह दृश्यसमूह ज्ञान ही हो जाता है, इसीसे सकल द्वैत की निवृत्ति होने के कारण चिद्–अद्वैत सिद्ध हुआ, यह भाव है।

शंका : ज्ञान के अपलाप द्वारा ज्ञान ही ज्ञेय रूप हो यों ज्ञेयमात्र का ही परिशेष क्यों नहीं मानते हो ?

समाधान – हाँ ठीक है, ज्ञान ही ज्ञेय है यों दृश्यका परिशेष तभी सम्भव है जब कि ज्ञप्ति (ज्ञान) असत्य हो। और यदि ज्ञान को असत्य मानो तो ज्ञप्तिरहित ज्ञेय की सिद्धि ही नहीं होगी, यह भाव है ॥५१-५३॥ इसलिए परिशेष रहने से यदि ज्ञान ही ज्ञेय है तो यह प्रपंच ज्ञान से अतिरिक्त स्थित नहीं है। इस प्रकार सकल वस्तुओं के ज्ञानरूप सिद्ध होनेपर यह द्रष्टा आत्मा के अज्ञान से ही अपने ज्ञप्तिस्वभाव से च्युत होता है, वस्तुतः नहीं ॥५४॥ इसलिए जो ज्ञान है वही ज्ञेय है, क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय का संभव नहीं है, अतः ज्ञान ज्ञेय जगदात्मता का अपने से ही विस्तार करता है ॥५५॥ जिनकी पृथक् सत्ता नहीं है ज्ञानरूप से ही जो सत्तावाले हैं ऐसे सर्गों को देख रहे तत्त्वज्ञानी के रूपादि का ग्रहण कर रही चक्षु आदि सृष्टियाँ और उनसे मिल रही रूपादि सृष्टियाँ भी ज्ञान से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, यही तत्त्व है, किन्तु मूर्खजनों को ज्ञात जो सृष्टियाँ हैं, उनके विषय में मैं कुछ नहीं जानता, क्योंकि उनका दृष्टिकोण ही दूसरा है। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में ज्ञानवश घट, पट आदि सकल पदार्थ एक चिन्मात्र चिदाकाश ही हैं, उससे अतिरिक्त उनका कुछ अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु अज्ञ जीवों की दृष्टि में द्वैतज्ञानवश चिन्मात्र चिदाकाश ही सहस्रों रूप धारण करता है ॥५६,५७॥ देखिये न, एक चिन्मात्र ही स्वप्न में लाखों लाखों रूप बनकर रहता है स्वप्न से सुषुप्ति में जाकर वह लाखों रूपवाला एक चिन्मात्र हो जाता है। चिदाकाश में जो स्वप्न संवित् है वही जगत् कहलाता है, चिदाकाश के विषय में जो सुषुप्ति है वही प्रलय है, इसलिए यही न्याय उत्तम है। एक ही संवित् भोग्यरूपसे विविधता तथा भोक्ता के रूप से लाखों मनुष्यों के रूप में वैसे ही प्रकट होती है जैसे कि स्वप्न और संकल्प में एक ही संवित् पदार्थों के रूप में और शून्यता के रूप में व्यक्त होती है। वैसे ही अमूर्त होने के कारण प्रतिघात करने योग्य यह सब एकमात्र शुद्ध ज्ञान ही है, जहाँपर जैसा भान हो जाता है वहाँपर वैसा होता है। एक ही संवित् सृष्टि के आदि में अग्नि, जल, आकाश आदि होती है, सृष्टि की सिद्धि के लिए वही स्वप्न और संकल्प की तरह पृथिवी आदि होती है ॥५८-६२॥ चूँकि संवित्, जो आकाशरूप ही है, पृथिवी आदि नामवाली प्रतीत होती है, इसलिए यह संविद्रूप ही 'जगत्' रूप से भासता है ॥६३॥ संवित् विनाशी मूर्त पदार्थ की तरह भासती है और अविनाशी अमूर्त की तरह भी वही भासती है। वस्तुतः तो नाश भी नहीं है, क्योंकि वह प्रतिघा (नाश) भी अन्त में निवृत्त हो जाती है, केवल संवित् का ही परिशेष रहता है ॥६४॥ हे व्याध, तुम मन से पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा को चिरकाल तक जाते हो, वहाँपर दृष्ट, श्रुत और अनुमित पदार्थों का लाभ करते हुए अपने को जानते हो, वहाँ संवित्रूप तुम्हारा नाश है ही नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि संवित् कहींपर भी विनाशिनी है ही नहीं ॥६५॥

यदि शंका उठे कि बहुत से जीवचित् के संकल्प मोघ (निष्फल) देखे जाते हैं, वही संवित् का विनाश ठहरा। इससे संवित् की विनाशिता हो गई, तो इसपर कहते हैं।

दृष्ट (प्रमाण से सिद्ध) और संकल्पित वस्तु का जो पुरुष निरन्तर चिरकालतक अभ्यास करता है वह उसे अवश्य प्राप्त करता है यदि थककर मध्य में ही उससे विरत न हो जाय। इससे सिद्ध हुआ कि संकल्प की मोघता निर्बलतावश ही है। कमजोर संकल्प कार्यक्षम नहीं होता इससे चित् में विनाशित्व

नहीं है, चित् में विनाशिता मानने से सर्वत्र विनाशिता का प्रसंग प्राप्त होगा ॥६६॥

अदृढ़ (निर्बल) संकल्प अदृढ़ ही मनोरथमय दिगन्तगमन और वहाँ के पदार्थों का दर्शन आदि करता है और दृढ़ संकल्प दृढ़ मनोरथमय दिगन्तगमन और वहाँ के पदार्थों का दर्शन करता है, इससे अदृढ़ संकल्प भी मोघ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

तुम मन से पूर्व और पश्चिम दिशा को जाते हो वहाँपर वहाँ के तरह तरह के पदार्थों का चिरकालतक अनुभव करता हुआ जो संकल्पकर्ता है वह संकल्पित दिशा में गमन तथा वहाँ के पदार्थों के अभेद को अपने संकल्प के अनुसार प्राप्त होता है, अन्य पुरुष तो संकल्प का त्यागकर अन्य दिशा को मन से भी नहीं जाता। इसी अन्तर से वहाँपर चित् अविनाशी है। संकल्पित अमुक पदार्थ मैं होऊँ इस प्रकार संकल्प से अविचल निश्चयवाले पुरुष का संकल्पित अभीष्ट पदार्थ पहले प्रातिभासिक फिर संकल्प की दृढ़ता होनेपर व्यावहारिक दोनों ही होता है यह बात ऐन्दवोपाख्यान में देखी गई है। दूसरे पुरुष का जो कि संकल्प नहीं करता है भले ही वह स्वात्मा में अथवा अन्य विषय में अडिग निश्चयवाला हो, उसके दोनों ही प्रातिभासिक और व्यावहारिक नष्ट हो जाते हैं यानी नहीं दिखाई देते। इसी प्रकार मैं दक्षिण देश उत्तर दिशा को जाऊँ यों अडिग निश्चयवाले संकल्पयिता पुरुष के मानसिक और शारीरिक दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं, लेकिन अन्य के असंकल्पयिता के भले ही वह अडिग निश्चयवाला हो, दोनों का पूर्व पश्चिम दिग्गमन का नाश हो जाता है। मैं आकाश में नगर बनूँ, और भूमि में मृग होऊँ इस तरह के अविचल निश्चयवाले के दोनों संकल्प सिद्ध हो जाते हैं और इसके अतिरिक्त दोनों का नाश हो जाता है, क्योंकि उन दोनों का जगत् भिन्न भिन्न है। प्रबोधवश सब कुछ एक अखण्ड चिन्मात्र आत्माकाश ही है अज्ञानवश अनेक (द्वैत) ज्ञान से एकमात्र अखण्ड चैतन्य अज्ञानी जीवों की दृष्टि में अनन्त हो जाता है ॥६७–७१॥

यदि चित् ही शरीर आदि के आकार से विद्यमान है तो शरीर के विनाशी या साकार होने से चित् में भी विनाशित्व अथवा साकारता की प्राप्ति हुई, ऐसी शंका उठनेपर कहते हैं।

शरीर चाहे विनाशी या साकार हो चाहे अविनाशी या निराकार हो यह स्वप्नात्मक संसार इस लोक में और परलोक में जीव का ही है चित् का नहीं है। भाव यह है कि चिद्रूप से शरीर अविनाशी ही हो अथवा अन्यरूप से विनाशी हो इससे चित् में कोई भी आँच नहीं आ सकती, कारण कि मिथ्या पदार्थ के गुण–दोषों से अधिष्ठान में कुछ भी दूषण नहीं आ सकता ॥७२॥

यदि किसी को यह शंका उठे कि शरीर का नाश होनेपर उसके साथ जीव नष्ट नहीं हुआ यह कैसे मालूम होता है, इस पर प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण से यह ज्ञात होता है, ऐसा कहते हैं।

म्लेच्छ आदि देशों में मरे हुए जो लोग पिशाच की देह से पिशाच यहाँ आये उनका यह सब भूतविद्या के विशेषज्ञ प्रत्यक्ष देखते हैं वे भी अपने पूर्वजन्म की घर–गृहस्थी, व्यापार आदि का स्मरण कर स्वयं कहते हैं इससे भी यह सब विषय प्रत्यक्ष अनुभूत होता है ॥७३॥ जो म्लेच्छ देशों में मरे और जलकर राख हो गये वे यहाँ आकर अपना वृत्तान्त कहकर फिर चले जाते हैं, वे अविनाशी ही हैं इसमें कहना ही क्या है ? ॥७४॥

पिशाच को देखना उसके साथ बातचीत करना यह सब जीवित भूतवैद्य का ही धर्म है आगमन या

संभाषण मरे हुए का धर्म नहीं है इस तरह की चार्वाक-कल्पना का खण्डन करते हैं।

पिशाचदर्शन, उसके साथ संभाषण आदि यदि जीवित भूतवैद्य का धर्म है तो जो वस्तुतः मरा नहीं पर जिसके मरने का असत्य समाचार प्राप्त हो गया उसके विषय में इस प्रकार का दर्शन, संभाषण आदि व्यवहार क्यों नहीं होता ? जीवधर्म वह भ्रम यदि सत्य है तो मृतधर्म वह संभाषण आदि भ्रम क्यों सत्य नहीं है ? पदार्थ की सिद्धि में अनुभव को ही श्रेष्ठ प्रमाण माननेवालों का जीवित में जैसा अनुभव है, मृत में भी वह समान ही है। इस प्रकार दोनों न्यायों के समान होने पर दोनों में कौन-सा अन्तर है ? इस तरह अनुभव को यदि पदार्थसिद्धि में प्रमाण मानो तो जाग्रत और स्वप्न के अनुभव जब तक बाध न हो समानरूप से अर्थसाधक हैं प्रबोध द्वारा केवल अनुभव ही अवशिष्ट रहता है इस प्रकार स्वप्न के समान जाग्रद्-भान है ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की गई है वह अक्षुण्ण है। इससे विद्वानों के अनुभवों की और वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (विकार वाचारम्भण नाम-मात्र है मृत्तिका ही सत्य है) इत्यादि शास्त्रों की एकवाक्यता है, परस्पर संवाद से ऐकमत्य है। जैसे चन्द्रमण्डल को देख रहे बहुत से लोगों की दृष्टियाँ आपस में एक दूसरे के दर्शन में बाधा नहीं डालती यानी परस्पर प्रतिघातशून्य हैं वैसे ही किसी की दृष्टि में सत् और किसी की दृष्टि में असत्-इस प्रकार का यह जगत् भी वैसे ही परस्पर प्रतिघातशून्य है। चिदाकाश में सन्मात्र के ही अंशों का अनुगमन करनेवाला निर्मल अनुभवमात्ररूप एकमात्र भावस्वरूप अर्थरहित होनेपर भी सर्वार्थरूप सकल जगत् अविनाशी शान्त अद्वितीय चिन्मात्ररूप ही है। निष्क्रिय निर्विकार वह आत्मा में अपने रूपसे ही स्थित है। अचल संवित् ही जैसे जैसे मन को स्थिर करके रहती है वैसे वैसे ही शीघ्र हो जाती है क्या असत् है अथवा क्या सत् है ? विविध शरीर, कर्म, दुःख और सुख जो कि यथास्थित हैं आयें, जायें किसका कौन विषय है और किसका कौन ग्रहण है ? इस प्रकार यह सत् हो अथवा अन्यथा हो चाहे नहीं हुआ हो चाहे हो इस विषय में कौनसा आदर है ? तुच्छ फल में अवश्य फल देनेवाले यत्न का त्याग करो। तुम्हें बोध हो चुका है अब भटकने से क्या लाभ है ? ॥७५-८३॥

एक सौ तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौवालीसवाँ सर्ग

जैसे चित् का ही जगत्रूप से भान होता है और जैसे जगत् ही चित् है,
इस विषय में युक्तियाँ तथा ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, इसका समर्थन।

सम्पूर्ण दृश्य जब चिन्मात्र ही है तब बन्धमोक्ष चिन्ता से भी पिण्ड छूटा, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न अनुभवरूप सकल भाव और अभाव पदार्थों के सर्वथा नित्य अविनाशी चिद्रूप होनेपर कौन बद्ध है और कौन मुक्त होता है ? जैसे आकाश में दृष्टियों की किरणों का ही उड़ते हुए हंसों, मोतियों और केशों के गोलों के रूप में स्फुरण होता है वैसे ही यह जगत् निरन्तर प्रतिक्षण के परिणाम से बदलता जाता है, अधिष्ठान-विवेक के अज्ञान से स्थिर मालूम पड़ता है। जैसे अतिप्रसिद्ध नगर की बनावट चिरकाल में दूसरी बनावट को (दूसरी रूपरेखा को) प्राप्त होती है वैसे ही जगत् भी जल के आवर्त

विवर्त के समान अन्य रूपता को प्राप्त होता है। जिसी समय भूमि, जल, आकाश, शैल आदि यह जगत् क्षणभर में असत् होता है उसी क्षण, लव, त्रुटि आदि अवयवों के वृत्तान्तों से विद्वानों ने युग, कल्प आदि संज्ञाएँ की हैं ॥१–४॥ यह सम्पूर्ण जगत् असत् होता हुआ भी स्वप्न के समान अनुभव में आता है। यदि जगत् नहीं है ऐसा जगत् का अपलाप कीजिये तो सम्पूर्ण चित् ही इस तरह विकास को प्राप्त होता है ॥५॥ हम लोगों का प्रसिद्ध यह जगत् जैसा है वैसे ही आकाश में हजारों लाखों जगत् अन्य मनुष्यों के हैं ऐसी आप संभावना कीजिये, किन्तु उनको परस्पर का अनुभव नहीं होता। तालाब में रहनेवाले, सागर में रहनेवाले और कुएँ में रहनेवाले मेढकों का अपने अपने निवासभूत तालाब आदि में अन्योन्य का अनुभव देखा गया है वे अपने आश्रय से अन्य दृश्यादि नियति का आपस में कहीं भी अनुभव नहीं करते हैं ॥६,७॥ जैसे एक नगर में सैकड़ों स्वप्ननगरों का भान होता है और नहीं भी होता वैसे ही आकाश में जगतों का भान होता है और नहीं भी होता। किन्हीं के (अज्ञानियों के) अनुभव में आने से वे हैं और किन्हीं के (ज्ञानियों के) अनुभव में न आने से नहीं है। जैसे सैकड़ों लोगों के स्वप्न–नगर एक घर में विकसित होते हैं और नहीं भी होते इसी प्रकार आकाश में जगत् हैं भी और नहीं भी हैं ॥८,९॥ चित् का चमत्काररूप दृश्य स्वात्मा के निज अंगों की तरह अभिन्न है। (अद्वितीय है) एक की दृष्टि में साकार भी वह दूसरे की दृष्टि में निराकार है। एककी ही दृष्टि में एक समय साकार भी वह अन्य काल में निराकार है। तात्त्विक दृष्टि से वह सदा ही निराकार है। इसी प्रकार एककी दृष्टि में सकारण (कारणसहित) भी यह अन्य की दृष्टि में अकारण ही है। एककी ही दृष्टि में एक काल में सकारण भी अन्य काल में अकारण है। वास्तव में यह अकारण ही है ॥१०॥ जीवों के ये जगत्संस्कार क्या देह में हैं या चित् में हैं ? यदि चित् में हैं तो वे सबके लिए दृश्य होंगे।

यदि देह में हैं तो देह का नाश होनेपर उनका भी विनाश हो जायेगा, ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं।

ये जगत्संस्कार न तो केवल चित् के हैं और न देह के ही हैं, किन्तु तत्–तत् विभिन्न दृश्याकार के परिणाम को धारण कर रही तथा चिदाभास की व्याप्ति से चित्स्वभाववाली बुद्धि के ही संस्कार आदि नाम किये गये हैं। बुद्धि के ही प्रभाव से प्रभावशाली देहप्रतिमा से संस्कार आदि अलग नहीं हैं ॥११॥

यदि जगत् के संस्कारों को धारण करनेवाली बुद्धि का ही परिणाम जगत् है तो संकल्प–पदार्थ अनुभव स्मृति ही होंगे, इसपर कहते हैं।

संकल्पपदार्थअनुभव यद्यपि पूर्वदृष्ट पदार्थों के तुल्य हैं तथापि उनकी स्मृति ही अपूर्व होने से यानी पूर्वानुभूत तत्तांश के त्याग से स्वप्न होती है मगर अपनी मृत्यु के अनुभव आदि इस जन्म में अनुभूत होते हुए भी अन्य जन्मों में अनुभूत ही है, इसलिए वे उनके संस्कार से युक्त बुद्धि में अध्यस्त होते हैं, यह उनमें विशेषता है ॥१२॥ यह जाग्रतसृष्टिरूप जगत् भी सृष्टि के आरंभ में चिदाकाशरूप स्वच्छ स्वप्नप्रतिभा के समान विकास को प्राप्त होता है, यह जगत् उससे अतिरिक्त कुछ सिद्ध नहीं होता ॥१३॥

'सर्वथा भावाभावेषु' इत्यादि विविध प्रकार से कही गई उक्तियों के सिद्धान्तभूत निष्कर्ष को इकट्ठा कर कहते हैं।

इन शक्तियों से ब्रह्म ही जगत् के रूप से भासित होता है, यह उक्ति सिद्ध होती है। वह नवीन

भासित यानी पहले नहीं भासित हुआ किन्तु अनादिभारूप यानी उससे अभिन्न जगत अनादि ब्रह्म ही है, यह तात्पर्य निष्पन्न हुआ ॥१४॥ वह परमात्मा ही कारण और कार्य भी कहा गया है, क्योंकि वही पूर्ववर्ती सामान्यरूप कारण है और वही विशेषरूप कार्य है। कार्य संस्कार का आधार यह आत्मा ही 'कारणं सम्यक् करोतीति कार्यम्' इस व्युत्पत्ति से संस्कार कहा गया है 'सम्यक् करणं संस्कारः' व्युत्पत्ति से कृतिरूप संस्कार भी आत्मा ही कहा जाता है ॥१५॥ स्वप्न आदि में जाग्रत्पदार्थों से विलक्षण और जाग्रत्पदार्थों का दृष्टान्तभूत जो पदार्थ प्रतीत होता है, वही सूक्ष्म होने से संस्कार, वासना, राग, द्वेष, इच्छा आदि नाम से कहा गया है। उससे अन्य कोई संस्कार नामक बाह्य पदार्थ चित्त में स्थित नहीं है। वह संस्कार नाम की वस्तु स्वप्न में दृष्टिगोचर होती है, जाग्रत में नहीं होती। अदर्शनमात्र से जाग्रत् में वह नहीं है, ऐसा समझना भूल है, क्योंकि चित्ताकाश में जैसे चेतना सदा रहती है, वैसे ही वह भी (संस्कार नाम की वस्तु भी) सदा रहती है। वह शून्यस्वरूप होती हुई भी साक्षिस्वभाववश स्वप्न में प्रतीत होती है और जाग्रत में दृष्ट पदार्थों की तरह अत्यन्त विस्तार को प्राप्त होती है ॥१६,१७॥ वही शम, दम आदि साधनसम्पत्ति सम्पन्न श्रवण, मनन आदि द्वारा निश्चित अद्वितीय प्रत्यग्ब्रह्मरूप वेदान्तवाक्यों का अर्थ होकर पहले से प्रसिद्ध द्वैतसृष्टि का बाधक हो अपने यथास्थित (यथार्थ) स्वभाव में प्रवृत्त होता है। इसके इस तरह के स्वभाव का निर्णय कर ज्ञानीजन परम पुरुषार्थ की शिष्यों में भी सिद्धि हो इस अभिमान से पहले अज्ञात आत्मा ही जगत् का आधारस्तम्भरूप सार है ॥१८॥

अब अन्य द्वारा निर्धारित स्वप्नदर्शन के प्रकार का अनुवाद कर खण्डन करते हैं।

स्वप्न में जो जाग्रत् का संस्कार है, वह जाग्रत् द्वारा किया हुआ अपूर्वरूप है उस अजाग्रत्रूप जाग्रत्आभास को जाग्रत्-अनुभव ने बनाया ऐसा कोई स्वप्नस्वरूपवेत्ता कहते हैं ॥१९॥ उनका उक्त कथन ठीक नहीं है, कारण कि जैसे वायु में चारों ओर स्पन्द स्वतः स्थित है वैसे ही चित्त में स्वप्नरूप पदार्थ स्वतः ही स्थित है। वे स्वतः स्वप्न के आकार में ढलते हैं, अतः उनमें जाग्रत्संस्कारकर्तृत्व कैसा ? ॥२०॥

चित्त में सब पदार्थ स्थित हैं, यह कैसे ज्ञात होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

देखिये न, स्वप्न में एक ही चिन्मात्र लाखों रूपों में स्थित होता है, स्वप्न में स्थित लाखों रूपों से सुषुप्ति में जाकर एक ही हो जाता है, इससे चित्त में सब पदार्थ स्थित हैं यह स्पष्ट है ॥२१॥ चिदाकाश में जो स्वप्न प्रतीति है वही जगत् कहलाता है, चिदाकाश में जो सुषुप्ति है वही प्रलय कहलाता है, इसलिए यही न्याय समुचित है ॥२२॥ एक ही चिदाकाश अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप का त्याग किये बिना ही जो स्वप्न की तरह साकारता और अनेकता धारण करता है, वह जगत् है ॥२३॥ इस उपपत्ति से जैसे स्वप्न अथवा जैसे दर्पण में देखे गये मुख, वन, पर्वतादि अनन्य है वैसे ही चित्परमाणु के अन्दर स्थित विस्तारयुक्त यह जगत् चित्त से अभिन्न ही है। परमाणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तारयुक्त, आदि, मध्य और अन्तरहित संविन्मात्र जो चिदाकाश है वही जगत् कहलाता है ॥२४,२५॥ इसलिए जहाँपर असीम अविनाशी चिदाकाश निरन्तर स्थित है वहाँपर वह जगत्भान स्थित है, जो कि उसके अवयवी की तरह उससे अभिन्न है, यह सिद्ध हुआ ॥२६॥ चिन्मात्र में ही भुवन स्थित है, 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् चिन्मय ही है, इस तरह गुरु, शास्त्र आदि द्वारा उक्त युक्तिसमूह से जन्य

ज्ञान से कभी उत्पन्न न हुआ जगत् परमाणु के अन्दर तक चला जाता है यानी अपनी स्थूलता का परित्याग कर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है ॥२७॥

गुरु और शास्त्र द्वारा उक्त युक्तियों से कैसा ज्ञान होता है, यह पूछनेपर उसको अपने अनुभव कथन द्वारा समझाते हैं।

मैं समस्त जगताकार परमाणुरूप हूँ, इसलिए मैं सर्वत्र ही और तो क्या परमाणु के अन्दर तक स्थित हूँ॥२८॥ चिदाकाशरूप मैं चिन्मात्र परमाणु होकर भी जगद्रूप से स्थित हूँ और जहाँ चिदाकाशरूप मैं रहता हूँ वहीं त्रिलोकी को देखता हूँ॥२९॥ चित्परमाणुरूप (शोधित त्वं पदार्थरूप) मैं चित्परमाणु के (शोधित तत्पदार्थ ब्रह्म के) साथ उसके ज्ञान से वैसे ही एकभावापन्न हुआ हूँ जैसे जल जलके साथ *एकभावापन्न होता है, क्योंकि भगवती श्रुति कहती है – 'यथा जलं जले क्षिप्तम्' ('जैसे जल में छोड़ा गया जल, दूध में छोड़ा गया दूध और घृत में छोड़ा गया घृत अपनी पृथक् सत्ता का त्याग कर देता है वैसे ही परमात्मा में मिला हुआ जीवात्मा अपना पृथक् अस्तित्व छोड़ देता है* ॥३०॥

इस प्रश्नोत्तर के सिलसिले में आत्मज्ञान का तत्त्व बतलाकर प्रस्तुत कथा का अवलम्बन करके पुनः कहते हैं।

अपने अन्दर तीनों जगतों को धारण करनेवाला मैं उस प्राणी के तेजोधातु में (ओज में) प्रविष्ट होकर उस प्राणी के अन्तर्गत वासनामय जगत् के अनुभव की तरह वैसे ही स्थित हुआ जैसे कि कमल के अंकुर में सूक्ष्म रूपसे स्थित भावी बीज अपने अन्दर होनेवाली हजारों विचित्रताओं को छिपाकर रहता है। वहाँ मेरी अन्तरात्मा में ही तदीय, मदीय और अन्यदीय सब वासनामय त्रिजगत् प्रत्यक्चैतन्य में विकास को प्राप्त हुआ। उक्त जगद्रूप कुछ भी बाहर नहीं रहता, क्योंकि उससे बाहर का प्रदेश ही अत्यन्त अप्रसिद्ध है। जब जहाँ जहाँ स्वप्न में चाहे जाग्रत में जो जगत् का भान होता है वह बाह्य और आभ्यन्तर सहित दृश्य निज चिद्भान ही है। जब स्वप्न में जन्तु के बिखरे हुए जगदानन्द का भान होता है वह आत्मरूप चिदणु का ही स्वप्नस्थानरूप से भान है। व्याध ने कहा : भगवन्, यह जगत् अकारण है तो इसकी सिद्धि कैसे है ? क्योंकि अकारण खरगोश के सींग आदि की स्वरूप सिद्धि नहीं दिखाई देती। यदि जगत् सकारण है तो स्वप्न में घटादि की सृष्टि में कारणभूत दण्ड, चक्र आदि के न रहने से सृष्टिबुद्धि किस कारण से होती है, यों सन्देह में पड़े हुए व्याध का प्रश्न है ॥३१-३५॥

अन्त में ब्रह्मअद्वैत की सिद्धि द्वारा अकारण पक्ष का ही समर्थन कर रहे मुनि उत्तर देते हैं।

आरम्भ में यह सृष्टि बिना कारण के ही प्रवृत्त होती है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में सकल कारणों का अभाव है, अतः चिदाकाश ही सृष्टिरूप है ॥३६॥ इस सृष्टि में निष्कारण पदार्थों का अत्यन्त असंभव होने से अकारण किसी स्थूल सर्ग की कहींपर भी किसी प्रकार संभावना नहीं है। हाँ, प्रातिभासिक मिथ्याभूत सर्ग में वह सकारण ही हो, ऐसा नियम नहीं है ॥३७॥ चित्स्वभाव होने से जन्मविनाशशून्य यह ब्रह्म ही इस प्रकार देदीप्यमान सर्ग आदि शब्दों के पयार्यरूप से भासता है ॥३८॥ इस प्रकार सृष्टि के खरगोश के सींगवत् अत्यन्त असंभावित सिद्ध होनेपर वह ब्रह्मरूपी ही है अनानारूप (अद्वैतरूप) उसमें परमात्मा के मायाप्रतिबिम्ब चैतन्य में नित्य आत्मा के औपाधिक अवयवरूप से नानात्व (द्वैत) अत्यन्त अयुक्त है। ब्रह्मरूप होने पर अब्रह्मरूपी निराकार होनेपर भी साकार रूपसे बेरोकटोक प्रतिभास

होनेपर निराकार वह ब्रह्म ही चिद्रूप होने से प्रकट शरीरवाला साकार सा स्वरूप धारण कर देवर्षि, मुनि आदि स्थावर जंगमरूप जगत् को रचता है और क्रमसे सम्पूर्ण नियति, विधि, निषेध, देश, काल, क्रिया आदि करता है ॥३९–४२॥ भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर सभी व्यभिचरित होते हैं, किन्तु नियति ब्रह्मकृत होने के कारण सर्वास्तमयरूप मोक्ष तक कभी व्यभिचरित नहीं होती। जब से नियति कल्पना हुई तब से लेकर नियतिविशेषरूप कार्य–कारणता के बिना पदार्थों का वैसे ही संभव नहीं है जैसे कि बालू से तेल का संभव नहीं है। नियति और नायक (भोक्ता जीव) ये दोनों, जो कि ब्रह्मा के दो हाथों की तरह अंगभूत हैं, ब्रह्म से अपने आप प्रवृत्त हुए हैं। ब्रह्म अपने अंगभूत एक से दूसरे का, एक हाथ से दूसरे हाथ की तरह, नियन्त्रण करता है। अतएव जीव का इसी तरह जाग्रत् तथा स्वप्नरूप सर्ग (सृष्टि) अबुद्धिपूर्वक तथा अनिच्छा से काकतालीय न्याय के तुल्य वैसे ही होता है, जैसे कि स्पन्दवश जल में बिना किसी प्रयत्न और इच्छा के आवर्त (भँवर) विशेष ढंग से उत्पन्न होते हैं। कार्य में कारण से उत्पन्न संगठन का नियम ही नियति है, उक्त संगठन नियम के बिना अज्ञात ब्रह्म वैसे ही क्षणभर भी नहीं टिक सकता जैसे कि मिट्टी, चूर्ण, पिण्ड, घट,कपाल आदि में से किसी एक रूपरेखा के बिना नहीं टिक सकता, उक्त रूपरेखा धारण, जिसका ज्ञान से सर्वात्मतारूप आत्यन्तिक विनाश होता है, मोक्ष तक रहता है। इस प्रकार यानी नियति की कल्पना से सदा सारा दृश्यमण्डल सकारण उसी के प्रति है, जिसके प्रति जिस काल से नियति जिसकी सृष्टि में प्रवृत्त हुई अन्य पुरुष के लिए और अन्य काल में होनेवाले पदार्थ के लिए नहीं है ॥४३–४८॥ अविद्वान् की दृष्टि में अकारण ब्रह्म का सृष्टिरूप से भी भान होता है और उसी के प्रति यह कार्यकारण दृष्टिरूप भ्रान्ति भासित होती है ॥४९॥ विवेकी पुरुष की दृष्टि में तो काकतालीय के समान स्थित इस सृष्टि में केवल पूर्वापरभाव का नियम देखने से यह घट आदि दण्ड, चक्र, मिट्टी आदि सामग्री से उत्पन्न हुआ, यह वस्त्र आदि तुरी, वेमा आदि से इस प्रकार का उत्पन्न हुआ इस तरह पर्यालोचन से नित्यवेद के पद, वाक्य, व्याकरण आदि के नियम से समान यह नियति स्थित है। जन्य पदार्थों में पूर्वापरक्रम अवश्यम्भावी है, इसलिए वे कारणयुक्त ही हैं, ऐसा जो मानता है उसके मतानुसार जाग्रत और स्वप्न में दिखाई देनेवाले अकारण पदार्थों का संभव नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति दोनों में से एक के बाद हुए जाग्रत प्रपंच की उत्पत्ति में भी कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार जाग्रत् और सुषुप्ति–इन दोनों के बाद हुए स्वप्न प्रपंच की उत्पत्ति में भी कारणों का निरूपण नहीं हो सकता। इसलिए उनके मत में स्वप्नप्रपंच का भी संभव नहीं है ॥५०,५१॥ जैसे प्राणी के ओज में स्थित मैंने स्वप्न में सारी पृथिवी को डूबो रहे जलके संक्षोभ से प्रलयभ्रान्तियाँ देखी, भला बतलाओ तो वहाँपर कोई कारण तुम देखते हो अथवा श्रुति प्रमाण से कोई कारण सुनते हो, या अन्य प्रमाण से किसी कारण का अनुभव करते हो ? ब्रह्म और प्रपंच के अभेद का प्रतिपादन करनेवाली युक्तियाँ सकल वस्तुओं के विषय में बुद्धिमानों को अपने आप वैसे ही सदा स्फुरित होती है, जैसे कि स्फटिक मणियाँ अथवा सीपियाँ प्रकाश रहनेपर अपनी चमचमाहट से स्वयं ही स्फुरित होती हैं, इसलिए सब निर्णयों में शास्त्रअनुसारिणी युक्तियों का भावनाअनुभव ही सब तत्त्वों के निर्णय में शक्तिमान् और सब प्रमाणों को जीवनप्रदान करनेवाला है, अतः सर्वोत्कृष्ट है ॥५२,५३॥

एक सौ चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पैंतालीसवाँ सर्ग

कफ, पित्त और वायु से भरे हुए जीव के ओज में (तेजोधातु में)
कल्पित स्वप्नभेदों का तथा इन्द्रियों से बाहरी भ्रमों का वर्णन।

मुनिजी ने कहा : हे व्याध, यह जीव बाहरी इन्द्रियों से बाहर ही स्वप्न को जानता है तथा भीतरी इन्द्रियों से आभ्यन्तर स्वप्न को जानता है, लेकिन बाहर और भीतर के व्यवहार की सिद्धि के लिए अत्यन्त तीव्र वेगवाली बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों से बाह्य और आभ्यन्तर-दोनों स्वप्नों को जानता है ॥१॥

जब वह बाहरी इन्द्रियों से बाहरी व्यवहार करता है तब क्या आभ्यन्तर व्यवहार बिल्कुल ही नहीं होता, इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं।

जिस समय इन्द्रियाँ बाह्य व्यवहार में व्यग्र रहती हैं, उस समय मनोरथतुल्य आभ्यन्तर व्यवहार का अनुभव अवश्य होता है, किन्तु धुँधला होता है, स्वप्न के समान उसका साफ साफ अनुभव नहीं होता है। किन्तु जिस समय सब इन्द्रियाँ केवल अन्तर्मुख रहती हैं उस समय जीव अपने शरीर में वासनामात्र होने से सूक्ष्मरूप से विद्यमान स्वप्न-जगत्को अति स्थूल-सा देखता है, वही उसका स्फुटअनुभव है। बाह्य अथवा आन्तर कोई भी जगत् वास्तव में कदापि स्थूल नहीं। जीव के दर्शन में कारणभूत इन्द्रियों की स्थूलता की कल्पना में अप्रतिरुद्ध जो दृष्टि है, वही स्थूल जगत् है ॥२-४॥

इसलिए बाहर अथवा भीतर जहाँ कहीं भी इन्द्रियों का प्रसार होता है वहाँ पर स्थूल जगत् दृष्टि में आता है, ऐसा कहते हैं।

जब जीव की नेत्र आदि इन्द्रियाँ अत्यन्त बाह्यमय (बहिर्मुख) होती हैं तब जीव चित्त में बाह्य जगत् का अनुभव करता है ॥५॥ कान, त्वचा, नेत्र, नाक, जीभ, इच्छाप्रधान अन्तःकरण चतुष्टय का संघातरूप और पंच प्राणों से युक्त आतिवाहिक शरीर ही कूटस्थ चिदाभास से संवलित होकर जीव कहलाता है ॥६॥

तथोक्त जीव स्ववासनामय जगत् को भले ही देखे, लेकिन बाहर तो वासना न होने से वह वासनामय जगत् कैसे देखता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

बाहर कूटस्थ चित् ही चिदाभास समष्टि व्योममय होकर सब जगह सब काल में सर्वेन्द्रियमय स्थित है। इस कारण वह सर्वत्र सब कुछ देखता है अर्थात् सब वासनाओं के आधाररूप उसमें बाह्य जगत् का अध्यास किसी हालत में अनुपपन्न नहीं है, उपपन्न ही है ॥७॥

अन्दर स्वप्नभेद-वैचित्र्य देखने के लिए ओज में प्रविष्ट हुए जीव का श्लेष्मआदि अन्नरस आदि से पूर्ण नाड़ियों में प्रवेश ही उसमें निमित्त है, यह विस्तार से बतलाते हैं।

जिस समय तुम्हारा जीव अपने सम्पूर्ण कारणों का उपसंहार कर अणुरूप बनकर हजारों हिस्सों में विभक्त केश के समान महीन नाड़ियों के अन्दर संचार के योग्य हो नाड़ियों के अन्तर्गत कफरूप अन्नरस से भर जाता है, उस समय तत्-तत् इन्द्रियाणु में नाड़ी के अन्दर ही निम्न निर्दिष्ट स्वप्न भ्रमों को देखता है। उक्त जीव स्वयं क्षीरसागर में उड़ा हुआ-सा बनकर चन्द्रोदय से जगमगा रहे आकाश

को देखता है, लाल कमलों से वेष्टित तालाबों को देखता है, जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिले हैं और आकाश में प्रकट हुए उद्यानों को देखता है, जो ऋतुराज वसन्त के अन्तःपुर जैसे मनोहर हैं, पुष्पमय दिव्य मेघों के प्रतिनिधिस्वरूप हैं तथा जिनमें भ्रमर कलगुंजन करते हैं। सन्मंगलों की परम्परा से पूर्ण बड़े बड़े उत्सवों को देखता है जिनमें ललनाओं के झुण्ड के झुण्ड लीला विलासों से चंचल हैं और घरों के आँगन भक्ष्य, भोज्य अन्न-पान से खूब भरे हैं। फूलों की मालाओं से अलंकृत, फेनरूपी हासवाली, मस्तयौवनवाली तथा चंचल नयन हैं ऐसी नदियाँ विलास से अपने स्वामी सागर के समीप जाती हैं, ऐसा देखता है। हिमालय के ऐसे सफेद शिखरवाले, अत्यन्त ठंडक से भरे हुए, चूने से खूब सफेद दीवारवाले और चन्द्रमा से बने हुए जैसे निर्मल फर्शवाले महलों को देखता है। शीतल जलकणों से ढके हुए, हेमन्त ऋतु की बरफ से आच्छादित तथा वर्षाऋतु के बादलों से आवृत्त एवं नीलकमलों की लताओं तथा हरी-हरी घास से ढके मैदानों को देखता है। चिकने-चिकने पत्तोंवाले वृक्षों की मनोहर छायावाली तथा फूलों के अम्बार से आच्छन्न नगरों की उपवनभूमियों को, देखता है, जिनमें हरिण और पथिक विश्राम करते हैं। कदम्ब, कुन्द, और मन्दार के शहद के बिन्दुरूपी चन्द्रमा की कान्तियों से भासमान फूलों के बगीचे देखता है, जिनकी बनावट-सजावट आसन के सदृश जगमग जगमग करती है। मेघनिर्मुक्त निर्मल आकाश के सदृश मनोहर नीली वनश्रेणियों को देखता है, जिनमें चारों ओर कमलों के तालाबों का जाल-सा बिछा रहता है और जो सुन्दर फूलों से भरे हुए भूखण्ड को धारण करती हैं। वायुवश नाच रहे सुन्दर लीलापल्लवों से रमणीय पर्वतमालाओं को देखता है, जिन्होंने केले के गोफ, कुन्द और कदम्ब का मुकुट धारण किया है ॥८-१८॥ लीलाविलासपूर्ण ढंग से लपेटी हुई चोटियों से मुक्त अतएव जिनकी शाखाएँ फैली हों ऐसी मालती लता की नाईं नाच रही तन्वंगी बालांगनाओं को पाता है। फूले हुए सफेद कमलों के तालाब के तुल्य राजसभा को प्राप्त करता है, जो सैकड़ों सुन्दर सुन्दर चँवर, फूलदान, चँदवा आदि से पूर्ण है। लताओं के फैलाने के विलास से चारों ओर घिरी हुई वनपंक्तियों को प्राप्त करता है, जो चंचल जलराशि की नहरों में पक्षियों के कलरव से मधुर मालूम होती हैं। जलकण और बर्फरूपी हार को अपने उदर में धारण करनेवाली दसों दिशाओं को प्राप्त करता है, जिनके सब पर्वत वृष्टि द्वारा पृथिवी को भरने के लिए अति विकरालरूपवाले मेघों से व्याप्त हैं ॥१९-२२॥

कफपूर्ण नाड़ी के दृश्यों का विस्तार से वर्णन कर अब पित्तरसपूर्ण नाड़ी के दृश्यों का वर्णन करते हैं।

जब जीव अन्दर पित्तरस से भर जाता है तब अणुरूप जीव ओज के अन्दर इन सब निम्न निर्दिष्ट पदार्थों को प्राप्त करता है ॥२३॥ कमल की उजली-उजली पँखुड़ियों के समान सुन्दर ज्वालाओं को देखता है, जो वायु के लहराने से फूले हुए ढाक के पेड़ों की तरह भली लगती है, गरम बालूओं के सेकों से नदीरूपी नसों को सवाष्प (भापयुक्त) बनाती हैं और वनाग्नि की लपटों के काले धुएँ से दिङ्मण्डल को काली बनाती हैं। तलवार की धार के समान तेज कान्तिवाली और अग्नि की तरह असह्य तेजवाले अनेक सूर्यों को देखता है, जिनसे वनाग्निरूपी विष से पहले से आक्रान्त तालाब विशेष रूपसे व्याप्त होते हैं। सागर को गरम कर देनेवाले भाप को, भाप से गीले हुए त्रैलोक्य को

तथा शिलाजीत आदि क्षार को चूआनेवाले और झाड़ियों से दुर्गम अरण्यों को भी देखता है। बह रहे मृगतृष्णा जलों में तैर रहे सारसों से शोभायमान जल को देखता है, पहले कभी दृष्टिगोचर न हुए मैदानों को देखता है, जिनमें पेड़-पौधे पहले से जमे थे। भयवश मार्गों में भाग रहे तथा गरम धूलि से धूसर हुए अपने को देखता है, दूर से अमृत के तुल्य दिखाई दिये ठण्डी छायावाले मार्ग के वृक्ष को देखता है। संताप से अतिग्रस्त आकारवाले तथा अग्नि के तुल्य परितप्त भुवनको देखता है। धूलिकणों से जिनके देश छिप गये ऐसी दिशाओं को और धूलितिरोहित आकाश को देखता है। घर, गाँव, सागर, पहाड़, नदी-तालाब,वन और आकाश में जहाँ दृष्टि पहुँचती हैं वहीं जल रही अग्नि से पूर्ण दिशाएँ देखता है, अग्नि की वर्षा करनेवाले असंख्य मेघों की घनघोर घटाओं से भीषण शरद्, ग्रीष्म और वसन्त ऋतुओं को देखता है, सन्ताप देनेवाले सूर्यातपों को देखता है एवं तिनकों, पत्तों, लताराशियों और लू की लपटों से आच्छादित भूमिप्रदेशों को देखता है। अग्निव्याप्त होने के कारण आकाश, भूतल और दिङ्मुखों को सुवर्णमय जैसे देखता है। बहुत से तालाबों और हिमालयपर्वत के विविध प्रदेशों को संतप्त हुए देखता है॥२४-३३॥ कफ, पित्त आदि अन्नरसों से रिक्त केवल वायु से ही भरे हुए नाड़ीप्रदेशों में प्रविष्ट हुआ अणुमात्ररूप जीव जब वायु से पूर्ण होता है तब नाड़ी में पूर्वोक्त ओज के अन्दर ही निम्ननिर्दिष्ट स्वप्न देखता है। उक्त जीवकी संवित् वायु से क्षुब्ध हो जाती है, अतएव वह पृथ्वीतल को पूर्वदृष्ट से हुआ विलक्षण देखता है। नगर, गाँव, नदी-नाले, सागर और वनों को अपूर्व (पूर्वदृष्ट से विलक्षण) देखता है। अपने को उड़ता हुआ सा देखता है, शिलाओं तथा पर्वत के टीलों को उड़ते हुए-से देखता है, देशों को मेघों के गर्जन-तर्जन से शब्दयुक्त देखता है और कुम्हार के चक्के के बिना ही घड़ों का घूमना आदि देखता है। घोड़ा, ऊँट, गरुड़, बादल, हंस आदि सवारियों पर चढ़ना देखता है और यक्ष, विद्याधर आदि का दूर से आना और जाना या अपने स्थान में संचार देखता है। सागर के बुलबुलों की तरह पहाड़, अन्तरिक्ष, भूमि, समुद्रों के साथ वृक्षों, ग्रामों, नगरों, दिशाओं तथा भयभीत मनुष्यों की कँपकँपी देखता है। अपने को अंधे कुएँ में गिरा हुआ या महान् संकट में पड़ा हुआ अथवा गगनचुम्बी पेड़ और पर्वतपर चढ़ा हुआ देखता है॥३४-३९॥

कफ, पित्त और वायु में एक एक द्वारा पूर्ण नाड़ी में दिखाई देनेवाले विविध स्वप्नों को दिखलाकर कफ, वात, पित्त-इन तीनों से पूर्ण नाड़ी से दिखाई देनेवाले स्वप्नों को दिखलाते हैं।

वात, पित्त, कफ से पूर्ण नाड़ीप्रदेशों में प्रविष्ट हुआ अणुमात्ररूप जीव जब वात, पित्त और कफ से पूर्ण होता है तब वायु के वशीभूत हुए भागों से पीड़ित होकर निम्नलिखित स्वप्नों को देखता है। ऊपर से गिर रही पर्वतों की वृष्टि देखता है, बड़ी-बड़ी शिलाओं की वृष्टि से संकटाकीर्ण फट रहे महलों, पर्वत के मध्यभागों के (टीलों के) घनघोर शब्द से घूम रही वृक्षराशि को देखता है। इधर उधर भ्रमण कर रही वनश्रेणियों से मिश्रित मेघों से भीषण और सिंह, हाथी और वर्षा ऋतु के बादलों से निरन्तर (निरवकाश) दिगन्तराल को देखता है, जो ताड़ तमाल, हिन्ताल के पेड़ों की पंक्तियों में आग से व्याप्त, गुफाओं के घुन्घुम ध्वनि के साँय साँय से खूब घरघराहट युक्त है। मन्दररूपी मथनी के गम्भीर शब्द के संसर्ग से मनोहर, तोड़ने फोड़ने के लिए अनिवार्य परस्पर की टक्कर से टकराई हुई गुफा को देखता है। पर्वत के दो शिखरों के बीच में प्रवाह-ध्वनियों से दो शिखरों की टक्कर के सदृश, चकवा-

चकवी के करुण क्रेंकरों से कठोर तथा मोतीमालाओं के तुल्य अगल-बगल से गिरने से आकाश को माला सहित सा बनानेवाली नदियों को देखता है ॥४०-४५॥

मैंने जो प्रलयसमुद्र को दिखानेवाला स्वप्न देखा था, उसमें भी यही कारण था ऐसा सूचित करते हुए कहते हैं।

शिलाखण्डों से भरी हुई जलराशि से आकाश को पूर्ण करनेवाले महासागर को देखता है, जो बह रहे वनों और मेघों के आघातों से (धक्कों से) सप्तर्षिलोक में टक्कर मारता है। परस्पर लहरों द्वारा सींचने से धोई हुई दसों दिशाओं के दृष्टिगोचर होने से मानों जो हँसता-सा है, दिशाओं को आच्छादित कर रहे कटकट शब्द के साथ फूट फूटकर धराशायी हो रहे पर्वतशिखरों से मानों जिसपर घन के प्रहार की ध्वनि होती है, जिसपर वायु द्वारा कँपाई गई वायु का अनुसरण करनेवाली लताओं का ताण्डव होता है, शब्दायमान अपने से हुए पत्थर के चूर्णों से धूमैले या मटमैले कमल, सेवाल आदि को जो धारण करता है, समुद्र का आक्रमण होने से पहले युगान्त में हुए शूरवीरों की परस्पर की मारकाटों से मानों अद्भूत हुए ताड़ आदि के वनों की मरमर ध्वनियों से, जो क्रूर प्राणियों के रोदन ध्वनि के तुल्य लगती हैं, विराजित ऐसा त्रिजगत् उसे मालूम पड़ता है ॥४६-४९॥ कफ, वात और पित्तरूप त्रिधातु से पूर्ण नाड़ियों में पूर्वोक्त प्रकार के सर्वजन विदित उन पत्थरों, मिट्टी-धूलि से युक्त वायुओं से अथवा सैनिकों से घिरकर स्वप्न में जड़ बनाया गया जीव जब परिपीड़ित ही रहता है तब वह पुरीतत् नाड़ीरूप पिंजड़े में प्रविष्ट होता है, जो सब पसली की हड्डियों के सिरों से बनी हृदय की हड्डी ग्रन्थि से युक्त है। आगे चलने फिरने के लिए छिद्रका संभव न होने से प्राणवायु प्रयुक्त स्पन्द से रहित होकर ऊँची ऊँची पसली की हड्डियों से बिल में पत्थरों की राशि से निरुद्ध की तरह, कोई भी व्यापार करने में असमर्थ हो मिट्टी के अन्दर दबे हुए कीड़े की तरह, चट्टान के भीतर छिपे मेढक की तरह, बीज के अन्दर स्थित अंकुर की तरह, पिण्डीभूत द्रव्य के अन्दर के परमाणु की तरह तथा खंभे के अन्दर प्रतिमा के देह के तुल्य निबिड़ तेजोधातु नामक ओज के अन्दर ही शिला के आकाश की तरह गाढ अज्ञान होने से अन्धकूप के उदर के तुल्य सुषुप्ति का स्वयम् अनुभव करता है ॥५०-५४॥

सुषुप्ति से स्वप्न में कैसे प्राप्त होता है, इस प्रश्नपर कहते हैं।

जब खाया हुआ अन्न परिपाकवश पच जाता है और अन्नरस द्वारा किये गये गमनागमन मार्ग के निरोध की निवृत्ति हो जाने से अवकाश हो जाता है तब जीव प्राणसंचार द्वारा पुरीतत् नाडी से निकलने का यत्न कर प्राण द्वारा अवबोधित हो स्वप्न देखता है। जब शरीर में परिणत हो रहे अन्नरस जिस प्रदेश में जीव के साथ नाड़ी भागों से दूसरे नाड़ी भागों में जाते हैं तब ओज के अन्दर पर्वतों की वर्षा का अनुभव करता है। प्रचुरतम उदराग्नि से व्याप्त वात-पित्त आदि के सम्बन्ध से बाहर भीतर बहुत से भ्रम देखता है, अल्पतम उदराग्नि से व्याप्त वात आदि के सम्बन्ध से अल्प भ्रम देखता है। वात-पित्त आदि से क्षुब्ध हुए थोड़े से अन्नरसों से बाहर भीतर देखता है वैसे ही बाहर भी ज्ञानेन्द्रियों से जानता है अथवा कर्मेन्द्रियों से गमन करता है। वात, पित्त, कफ आदि से क्षुब्ध हुए थोड़े से अन्नरसों से बाहर भीतर थोड़ा-सा दृश्य भ्रान्तिवश देखता है, सम अन्नरसों से सम दृश्य देखता है और अत्यन्त क्षुब्ध हुए अन्नरसों से अत्यन्त भ्रमपूर्ण दृश्य देखता है। सन्निपात

तथा मणि, मन्त्र, औषध आदि निमित्तों में कुपित हुए अन्नरसों से आवृत्त हुआ यह जीव बाहर भूमि, पर्वत और आकाश में हलचल देखता है अथवा अग्निराशि से उनका जलना देखता है। अपना आकाश में उड़ना देखता है, चन्द्रमा, उदयाचल, हिमालय आदि पर्वतों को देखता है, वृक्ष और पर्वतों की भीड़ देखता है और जलों का आकाश में उछलना देखता है। अथवा सागर में अपना डूबना और उतराना देखता है, सुरलोक में अप्सराओं के साथ संगम देखता है और शैल, उपवन, शुभ्रमेघों के आसनों में बैठना तथा शुभ्रमेघों की राशि देखता है। बड़े-बड़े आरों द्वारा अपना चीरा जाना देखता है, नरकों के अनुभव की भ्रान्ति देखता है और आकाश में ताड़, तमाल और हिन्ताल के (छोटी जाति के खजूर के) पेड़ों का जमघट देखता है। अपना चक्कर काटकर आकाश से नीचे गिरना और फिर तुरन्त आकाश में उड़ना देखता है, निर्जन स्थान में जनता की भीड़ लगी देखता है और मैदान में भी समुद्र में डूबना देखता है। और भी विचित्र विपरित व्यवहारों को देखता है जैसे अधरात में दिन की तरह सूर्य का प्रकाश देखता है और दिन में गाढ़ अन्धकार देखता है। आकाश में पर्वतों के साथ पृथिवी को देखता है, दीवार पर विशाल स्थल को देखता है, आकाश में अटारियाँ देखता है, और शत्रु में मित्रता देखता है। आत्मीय लोगों को परकीय समझता है तथा दुर्जन को सज्जन मानने लगता है एवं गड्ढे को समथर भूमि और समथर भूमि को गड्ढा (गर्त) समझता है। प्रतिध्वनि हो रही गानध्वनि से मनोहर, चूने से पोतकर स्वच्छ किये हुए, भाँति भाँति के चित्रों से सजेसजाये, स्फटिक या चाँदी से बने हुए या नवनीतमय (मक्खन के बने हुए) पर्वतों को देखता है। कदम्ब, धूलिकदम्ब, जंबीर के पत्ते के गुच्छों से सुशोभित घरों में अप्सराओं के साथ वैसे ही अपना विश्राम करना देखता है जैसे कि कमलों में भ्रमर भँवरियों के साथ विश्राम करता है। निद्रा में निमीलित (बन्द हुई) इन्द्रियवृत्तियाँ धातुओं के वैषम्य से भ्रान्तियों को देखती हैं, किन्तु जाग्रत में उन्मीलित (खुली हुई) ये बाहर इन्द्रजाल आदि में इन भ्रान्तियों को देखती हैं ॥५५-७०॥

विषम वात, पित्त धातुवाले पुरुष इस प्रकार के अनेक दृश्यों को स्वप्न की तरह बाहर ही देखते हैं और अनुभव करते हैं ॥७१॥ विषम धातुवाले जीवों को बाहर और भीतर अति भीषण अनेक विपरीत कार्य दिखाई देते हैं ॥७२॥ वात, पित्त आदि धातुओं के सम होनेपर यह जीव तेजोधातु के मध्य में स्थित होकर ही इस सम लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार मर्यादा का स्वयं अनुभव करता है तथा यथास्थित नगर, गाँव, कसबे और जंगल की श्रेणी का अनुभव करता है। निश्चल जल और वृक्षछायावाले प्रदेशों में बटोही के रूप से गमनागमन, आनन्ददायक प्रकाशवाले चन्द्रमा, सूर्य, तारा, रात्रि और दिन से विभूषित इस प्रकार का असद्रूप यह जगत् सद्‌रूप-सा प्रतीत होता है। जैसे पवन में स्पन्दन है वैसे ही चित् तत्त्व में जो यह दृश्योपलम्भ है वह असत् होता हुआ भी सत् सा प्रतीत होता है, अभिन्न होता हुआ भी भिन्नवत् स्थित है। निष्प्रपंच ब्रह्म से शून्यभूत सम्पूर्ण जगत् उदित है, अतएव निष्पप्रपंच ब्रह्मरूप वह उससे तनिक भी अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार परिदृश्यमान रूप से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए आकाशसदृश अनन्त चिति के शरीर में प्रतिभासमात्र जगत् इस तरह अनन्त रूपों में प्रतीत होता है, वास्तव में उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है ॥७३-७७॥

एक सौ पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छियालीसवाँ सर्ग

प्रस्तुत स्वप्नदर्शन के बाद मुनि महाराज का स्वसुषुप्ति वर्णनपूर्वक
स्वप्न के प्रसंग से ब्रह्मअद्वैत का विस्तार से वर्णन।

प्रसंगप्राप्त स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत्–भेद को सुनकर फिर अवशिष्ट पूर्वकथांश को ही व्याध पूछता है।

व्याध ने कहा : हे मुनिवर, यथार्थ में भ्रान्तिरूपी नामतः उस हृदय में उस प्राणी के ओज में बैठे हुए आपका उसके उपरान्त कैसा स्वप्नदर्शन आदि वृत्तान्त सम्पन्न हुआ उसे कृपया बतलाइये ॥१॥ मुनि महाराज ने कहा : हे व्याध, उसके बाद उस प्राणी के ओज में बैठे हुए तथा उसके जीव से मिश्रित लिंग देहवाले मेरा वहाँपर उस समय जो वृत्तान्त हुआ उसे तुम सुनो ॥२॥

उस समय जब कि अति भयानक प्रलय का आडम्बर अपनी पूरी शक्ति के साथ कदम उठाये थे, महान् पर्वतों को तिनकों के समान उड़ानेवाला प्रलयवायु बह रहा था झटपट कहीं से पर्वतवृष्टि आ गई। ऐसी वृष्टि कि जिसमें बड़े–बड़े वन, पर्वत, शिखर, गाँव, नगर उड़ रहे थे। जब मैं उस प्राणी के ओज के अन्दर उसके जीवरूप से परिणत हुआ, उस समय सूक्ष्म परमाणुरूप मैंने वहीं पर्वतवृष्टि देखी। उस प्राणी की नाड़ियों के भीतर स्थित अन्नरस के अन्तर्गत अन्न के कणरूपी पर्वतराशि से निश्चेष्ट हुए मैंने अज्ञानतारूप अन्धता से मिश्रित गाढ़ सुषुप्ति का अनुभव किया। तदुपरान्त कुछ समय तक सुषुप्ति का अनुभव कर जब प्राण के गमनागमन के मार्ग में बाधा डालनेवाला अन्न पच गया तब प्रातःकाल में कमल के तालाब की तरह धीरे–धीरे मैं बोध की ओर अग्रसर हुआ। अन्धकार में बन्द की हुई दृष्टि जैसे चिरकाल में तेजोराशि के आभासरूप से भासित होती है वैसे ही वहाँ पर सुषुप्ति ही आत्मस्वरूप स्वप्नता को प्राप्त हुई। सुषुप्तिरूपी विश्राम से मैं स्वप्न निद्रा को प्राप्त हुआ। जैसे समुद्र तरंग, बुद्बुद आदि हजारों विक्षेपों से व्याप्त अपनी मूर्ति देखता है वैसे ही मैंने भी उस समय उस प्राणी के ओज के अन्दर हजारों विक्षेपों से युक्त दृश्य देखा। वह चिदाकाशकोशात्मक दृश्य ठीक वैसे ही मुझे प्राप्त हुआ जैसे कि स्पन्दरहित वायु के अन्दर वायु से अभिन्न स्पन्द प्राप्त होता है। जैसे अग्नि आदि में उष्णता अग्नि आदि से अभिन्न है, जैसे जल आदि में स्थित तरलता जल आदि से अभिन्न है और जैसे मिर्च आदि में स्थित तीक्ष्णता मिर्च से अभिन्न है वैसे ही चिदाकाश से जगत् अभिन्न है। चारों ओर फैला हुआ एकमात्र चित्स्वभावरूप होने के कारण स्वप्नजगत्रूपी दृश्य सुषुप्तिरूपी माँ के उदर से बालक की तरह उत्पन्न हुआ है ॥३–१२॥

सकल दृश्य का विलय होनेपर ही सुषुप्ति होती है सुषुप्ति में भी 'तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्' दृश्य के अस्तित्व का कथन सुनकर उसको असंभव समझ रहा व्याध पूछता है।

व्याध ने कहा : महाराज, आप 'तत्सुषुप्तामनः यों तत्शब्द से और दृश्य पद से दृश्य का व्यपदेश करते हैं, इसलिए सुषुप्तदृश्य कुछ है, ऐसा आपका अभिप्राय ज्ञात होता है, सो कृपया सुषुप्तदृश्य का क्या स्वरूप है, यह मुझे समझाइये ॥१३॥ क्या जिस प्राणी के हृदय में आप प्रविष्ट हुए थे उस प्राणी के सुषुप्तिदृश्य से और आप के सुषुप्तिदृश्य से भी जन्य जगत्रूप दृश्य दूसरा

उत्पन्न होता है ? अन्यता का प्रयोजक जन्म क्या है, अथवा सर्वदृश्यप्रलय में अन्य सुषुप्ति क्या है ? इसे कृपया आप समझाइये ॥१४॥

दृश्य और उसके जन्म आदि क्या वास्तविक हैं, ऐसा तुम पूछते हो या व्यवहारतः उनका क्या रूप है, यह पूछते हो ? प्रथम पक्ष में दृश्य आदि के असत् होने से वे कुछ भी नहीं हैं, ऐसा उत्तर श्रीमुनि महाराज देते हैं।

मुनि ने कहा : दृश्य आदि वास्तव में कुछ नहीं है। घट आदि और जगत् आदि उत्पन्न होते हैं, विकसित होते हैं, यह सब द्वैत से संतप्त हुए मूर्खों की कपोलकल्पनारूप प्रलाप का मैंने अनुवाद किया है, यह कोई तात्त्विक वाद नहीं है ॥१५॥

पण्डितों के विचार में तो जात आदि शब्दों का सन्मात्र ही अर्थ है, दूसरा कोई अर्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

'जात' शब्द केवल 'सत्' का पर्याय कैसे है, यह तुम सुनो मैं इसका उपपादन करता हूँ। 'जन्' धातु 'जनी प्रादुर्भावे' यों पाणिनि आदि द्वारा प्रादुर्भाव अर्थ में कहा गया है। उसमें प्रादुः अन्य धात्वर्थ की प्रकटता को द्योतित करता हुआ अप्रधान है। भूधातु का सत्तामात्र अर्थ ही प्रादुर्भाव का प्रधान शरीर है ॥१६॥

हो ऐसा, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

सत्तार्थक भू धातु 'भू सत्तायम्' यों पाणिनि आदि से कहा गया है, इसलिए 'प्रादुः' उपसर्ग युक्त भावशब्द से संजात (उत्पन्न) प्रकट यानी 'सन्' अर्थ कहा जाता है। वह नित्यसिद्ध स्वप्रकाश चिदात्मा ही है। यदि 'प्रादुः' शब्द का 'सर्ग' अर्थ मानो तिसपर भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सर्ग शब्द का भी सृजधातु से भाव में प्रत्यय होनेपर घञ्के अर्थ सत्तारूप भाव में सृज्य अर्थ का अभेद से अन्वय होनेपर सत् ही सर्गशब्द से कथित होता है ॥१७॥

ऐसी परिस्थिति में विद्वानों की दृष्टि से अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध जन्म आदि किसी वस्तु की भी सिद्धि नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी हम लोगों की दृष्टि में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और कुछ नष्ट भी नहीं होता सब कुछ शान्त, अजन्मा सन्मात्र है ॥१८॥

इस प्रकार सर्वसत्तात्मक ब्रह्म में अस्तित्व और नास्तित्व का अथवा विधि और निषेध का अवकाश नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सर्वसत्तात्मक ब्रह्म है, सर्वसत्तात्मक जगत् है जरा बतलाओ तो सर्वसत्तात्मक ब्रह्म में कौन–सी विधियाँ और कौन से प्रतिषेधों का संसर्ग हो सकता है ? ॥१९॥

तब 'अस्ति' (है) 'नास्ति' (नहीं है) इस लोकप्रसिद्ध व्यवहार का कौन विषय है ? इस प्रकार उक्त व्यवहार के विषय को दर्शाते हुए द्वितीय पक्ष में कहते हैं।

जो अनिर्वचनीय मायाशक्ति है वही 'अस्ति' इस लोकव्यवहार का विषय है, चूँकि ब्रह्म मायाशबल होने से अज्ञानियों की दृष्टि में मायात्मक है। जैसे जैसे मायाशक्ति उत्कर्ष को प्राप्त होती है वैसे ही सर्वशक्ति घटित स्वरूपवाला वह तदात्मक कहा जाता है ॥२०॥

तत्त्वज्ञानी तो सदा तुरीय पद में प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव उनकी जाग्रत् आदि अवस्थाएँ ही नहीं हैं, विधि, प्रतिषेध तो दूर रहे, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञान सम्पन्न विद्वानों की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ नहीं हैं, उनके लिए सब कुछ यथास्थित ब्रह्म ही है ॥२१॥

प्रत्यक्षतः अनुभवारूढ़ वस्तुओं का अपलाप करना किसी प्रकार भी संभव नहीं है, इस शंका का दृष्टान्तों द्वारा निरास करते हैं।

यद्यपि स्वप्न और संकल्प के नगर अनुभवारुढ़ होते हैं फिर भी जैसे उनका वास्तविक रूप कुछ भी नहीं है वैसे ही सर्ग के आदि में जगत् का तनिक भी स्वरूप नहीं है ॥२२॥

तब तो जैसे स्वप्न और मनोरथ में प्राणादिमान् जीव द्रष्टा है वैसे ही सर्गादि में भी प्राण आदि युक्त ही ब्रह्म की सिद्धि होती है, निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता, इस पर कहते हैं।

स्वप्न और मनोरथ जीवोपाधिसृष्टि के उत्तरकालवर्ती हैं, अतएव इस स्वप्नदृष्टि का द्रष्टा प्राणादिमान् जीव हो सकता है, किन्तु चेत्यभिन्न (चेत्यसंसर्ग शून्य) चित् सृष्टि के आदि में आकाश से भी अधिक स्वच्छ है अतएव सृष्टि के आरम्भ में प्राणादिमान् ब्रह्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु निर्विशेष ही है, यह सिद्ध हुआ ॥२३॥

सर्ग को स्वीकार कर उसका द्रष्टा शुद्ध है यह कहा है। वास्तव में तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी सम्पूर्णतया इस शुद्ध में निवृत्त होती है, ऐसा कहते हैं।

न यहाँ द्रष्टा है और न भोक्ता है यहाँ सब कुछ चिदेकरस ही है, जो कुछ न होता हुआ भी कुछ है और जो मौन ही अतिशयित वाणीवाला भी है ॥२४॥

सृष्टि के आरम्भ में चित् ही सकल पदार्थ रूपसे विकास को प्राप्त हुआ है प्रलयपर्यन्त वैसे ही रहता भी है, ऐसा कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में कारण का अभाव होने से चित् में जो रूप जैसे विकसित हुआ है स्वप्न और मनोरथ के नगर के समान वह रूप प्रलय तक ज्यों का त्यों रहता है। जैसे कि बालक अपने शरीर पर चित्रित बाघ, सर्प आदि के चित्रों से भयभीत होता है, लेकिन वयस्क पुरुष उनसे भयभीत नहीं होता। वैसे ही अज्ञानता में द्वैतवश अन्य की भ्रान्ति से जीव आत्मभूत चेतन से ही भय खाता है, बोध होनेपर भयभीत नहीं होता। तात्त्विक रूप से जन्म, स्थिति, विनाशशून्य असीम अत्यन्त निर्मल ब्रह्म ही यथास्थित हो भ्रान्ति से अतिविकारी और नाना होकर अवभासित होता है। प्रकाशमान अशान्त भी यह जगत् वास्तव में प्रबोध परिशान्त ही है ॥२५–२७॥

एक सौ छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सैंतालीसवाँ सर्ग

दृष्टान्तपूर्वक सुषुप्ति से स्वप्न में निर्गमनक्रमका और स्वप्न में
पूर्वदृष्ट कुटुम्ब आदि के दर्शन के रहस्य का वर्णन।

महामुनि ने कहा : हे महाबाहो, इसके पश्चात् जब मैं सुषुप्ति से बाहर आया तब स्वप्न में मेरा

यह जगत् दृश्य सागर से लहर, मणि, मोती आदि की तरह बाहर निकला, जैसे छेनी आदि औजारों से तराश कर पत्थर से प्रतिमा प्रकट होती है वैसे ही आकाश से मानों यह प्रकट हुआ था, पृथिवी से मानों निकला था, चित्त से मानों उदित हुआ था, अथवा दृष्टि से मानों प्रादुर्भूत हुआ था, वृक्षों से मानों फूला था। सृष्टि पहले से ही स्थित थी, न कि उस समय उत्पन्न हुई ऐसा मालूम पड़ता था, किनारों के निकटवर्ती सागर की तरंगराशि-सा प्रतीत होता था अथवा दृष्टियों का केशों के गोले, द्विचन्द्र आदि रूप से कमल की तरह विकसित था, आकाश से मानों आया हुआ था, दिशाओं से मानों उदित हुआ था, पर्वतों से मानों प्रतिमा आदि की तरह गढ़कर प्रकट हुआ था, पृथिवी से मानों निकला था, हृदय से मानों बाहर आया था, मेघों द्वारा आकाश में मानों प्रविष्ट किया गया था, वृक्षों से मानों पैदा हुआ था, पृथिवी से धान आदि की तरह उगा था, अंगों से मानों निकला था, इन्द्रियों द्वारा मानों दिशाओं में लिखकर (चित्रित कर) बनाया गया था, पर्दे के भीतर से मानों बाहर आया था, मन्दिर से मानों निकला था, कहीं से आकर आकाश से उड़कर मानों गिरा था, प्रजावर्ग द्वारा राजा के सन्मुख रखी हुई भेंट-सा था, इस लोक में संचित पुण्य जैसे परलोक में अपने आप उपस्थित होता है वैसे ही उपस्थित हुआ था अथवा खोदने आदि उपायों से हाथ लगी भूमि की निधि की तरह हाथ में आया था, ब्रह्मरूपी वृक्षका समयपर लगे फूल की तरह समय पर उपस्थित हुआ था, चित्रूपी खंभे में तोड़ने तराशने के बिना ही प्रकट हुई सुन्दर प्रतिमा था, आकाशरूप मिट्टी से बनी हुई असंख्य दीवारों से युक्त आकाशनगर था, मनका मत्त गजमय विलास था, बिना दीवार और बिना रंग के आकाश में चित्रित चित्र था, जीवका मिथ्या सर्वस्व था, माया करने में चतुरशिरोमणि अविद्यानामधारी किसी ऐन्द्रजालिक का उत्तम जादू था, महाविस्तार और चिरस्थायी दिखाई देने से देशकाल से रहित था, वह नाना से (भेदसे) युक्त होता हुआ भी अद्वैत था, विभिन्न रूप होता हुआ भी कुछ न था, शून्य था, अवास्तविक होने के कारण गन्धर्वनगर आदि असत् दृष्टान्तों के तुल्य था, जो भ्रम होता हुआ भी रज्जुसर्प, मृगतृष्णाजल आदि जाग्रत में दिखलाई देते हैं उनके भी सदृश था, केवल चित्प्रभारूप होने से आरम्भ न किया गया भी वह आरम्भ किये गये की तरह स्थित था, देशकाल, कर्म और द्रव्य की सृष्टि और संहार से युक्त था, देवता, असुर, नर आदि से युक्त त्रैलोक्याधार गर्भों से और उनके गर्भों से केले के खम्भों के समान मनोहर था। उनमें भी अवान्तर गर्भों में अनन्त ब्रह्माण्डों की कल्पना होने से कोष्ठ में स्थित बीजराशि से भरा हुआ दाडिम के फल की तरह था ॥१-१४॥ चाँदी की शिला के सदृश नदी, पर्वत, वन आदि में प्रतिबिम्बित आकाश, तारा और बादलों से वह ठसाठस भरा, गर्ज रहे सागर की ध्वनि से युक्त था और वायु की सरसराहट से पूर्ण था। वह दृश्यमण्डल मैंने देखा, तदनन्तर वही गाँव, जो कि मैंने पहले स्वप्न प्रवेश के समय देखा था, उसमें वह घर मुझे दिखाई दिया। उन्हीं सब बन्धुबान्धवों को, उन्हीं पुत्रों को, उसी पत्नी को और उसी घर को, जिनकी अवस्था, उम्र, रूपरेखा, बनावट आदि जैसी पहले देखी थी हूबहू वैसी ही थी, मैंने देखा ॥१५-१७॥ जैसे महासागर में लहर तट में स्थित नष्ट-भ्रष्ट हो रहे अपने प्राक्तन अंग को लाती है वैसे ही बन्धुबान्धव, स्त्री-पुत्र, घरद्वार ने मेरी पहले की ग्रामीण घर-खेल, पुत्र-बन्धु आदि में अभिमानवासना जबरदस्ती ला दी। उसके बाद उनमें आत्मीय वासनावाला मैं

वहाँपर उनके (बन्धुबान्धव, पुत्र, स्त्री आदि के) आलिंगन से अत्यन्त सुखी हुआ, मेरी पहले की सारी स्मृति विस्मृत हो गई ॥१८,१९॥

प्रसंगतः मलिन और स्वच्छ चित् के स्वभाव का उल्लेख करते हैं।

जैसे लौकिक दर्पण जो जो वस्तु आगे आती है उसका प्रतिबिम्ब अपने आप स्वभावतः ग्रहण कर लेता है वैसे ही चित्‌रूपी आदर्श भी वासना द्वारा उपस्थित किया गया जो जो पदार्थ अव्यवहित पूर्व में रहता है, स्वभावतः तत्–तत् आकार धारण कर लेता है ॥२०॥

लेकिन स्वच्छ चित् का ऐसा स्वभाव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

किन्तु जिस चित्‌रूपी दर्पण को यह सब चिन्मात्रआकाश ही है ऐसा ज्ञान हो चुका, वह यहाँ वासनामय द्वैत से (प्रतिबिम्ब ग्रहण आदि से) पीड़ित नहीं होता, वह केवल चिन्मात्ररूप से स्थित रहता है ॥२१॥

जिसकी बोधशालिनी अतएव निर्मल स्मृति नष्ट नहीं होती, उसे यह द्वैतरूपी पिशाच तनिक भी दुःखी नहीं कर सकता ॥२२॥ जिन सत्पुरुषों को अभ्यास से साधु–सन्त और सत्‌शास्त्रों के संग से बोध हो जाता है, वह बोध जो एक बार उदित हो गया तो फिर कदापि अपने उदय को नहीं भूलता सदा ही ब्रह्मानुसन्धानरूप से रहता है, उन्हें यह द्वैत बाधा नहीं पहुँचाता ॥२३॥

आप तो तत्त्वज्ञ थे फिर आपको उस समय कैसे व्यामोह हुआ ? इस पर कहते हैं।

उस समय मेरा वह बोध प्रौढ़ नहीं हुआ था, इसलिए बन्धु–बान्धवों की वासना द्वारा वह तिरस्कृत हो गया। अब तो मेरा बोध अत्यन्त प्रौढ़ हो गया है आज तो किस दुर्वासनाजाल में उसे डिगाने की सामर्थ्य है ? ॥२४॥ हे व्याध, तुम्हारी बुद्धि भी सत्संग रहित होने से अब भी शान्ति को नहीं प्राप्त होती है। किन्तु आगे कहे जानेवाले तपस्या, शरीरवृद्धि, मरण, जन्मान्तर, राज्य आदि के कष्ट द्वारा द्वैत को समझकर बड़ी कठिनता से साधना के अभ्यास और परिश्रम से ज्ञान प्राप्त करके शान्ति को प्राप्त हो जायेगी ॥२५॥

मुनि महाराज के कथन का अनुमोदन करता हुआ व्याध बोला।

व्याध ने कहा : हे मुनिवर, आपका कथन सोलह आने सत्य है इस प्रकार के पवित्रतम आपके बोधउपदेशों से भी मेरा मन परमलक्ष्य सत्पदपर नहीं टिक रहा है। ऐसा है या नहीं है, इस तरह का संशय–जाल इस स्वानुभूत वस्तु के विषय में भी शान्त नहीं होता है ॥२६,२७॥ अभ्यास से अत्यन्त बद्धमूल हुई इस अविद्या का पार पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि यह अविद्यमान ही है और शान्त ही है तथापि शान्त नहीं होती ॥२८॥

तुम्हारी बुद्धि सत्संगतिशून्य है, ऐसा जो मुनिमहाराज ने कहा था, उसका भी अनुमोदन करता हुआ कहता है।

सत् (ज्ञानप्रद) शास्त्र, उत्तम गुरुसम्प्रदाय और उत्तम विचार आदि से सर्वांग मनोहर सत्संगतियों से उत्पन्न हुई पदपदार्थ विवेकबुद्धि के अभ्यास से उत्पन्न तत्त्वबोध से क्रमशः यह जगत्‌भ्रम शान्त हो जाता है, इसके सिवा दूसरे किसी उपाय से इसकी शान्ति नहीं हो सकती, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ॥२९॥

एक सौ सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अड़तालीसवाँ सर्ग

स्वप्न की सत्यता तथा असत्यता का हेतु तथा चित् की सर्वात्मता,
एकता और शुद्धि से युक्त जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का वर्णन।

व्याध ने कहा : हे मुनिनायक, वासना के अनुसार चित् का वेदन ही स्वप्न है और जाग्रत् भी स्वप्नविशेष ही है ऐसा यदि सिद्धान्त है तो प्रातःकाल में देखा गया हाथीपर सवार होना इत्यादिरूप कोई स्वप्न लाभ आदि फलका सूचक होने से सत्य है, उससे अन्य अरण्य में जाना, घूमना आदिरूप स्वप्न किसी प्रकार के फल का सूचक न होने से असत्य है, यों स्वप्नदर्शनों की सत्यता और असत्यता की कैसे उपपत्ति होगी ? इसी प्रकार हिरण्यगर्भ के मनोरथ से कल्पित सृष्टि अर्थक्रियाकारी होने से सत्य है हमारे मनोरथ से कल्पित सृष्टि असत्य है यों जाग्रत जगत् के विषय में भी मेरा यह महान सन्देह है ॥१॥

अधिष्ठान चित् की सत्यता से अध्यस्त में सत्यता स्वतः असत्यता दोनों जगह तुल्य ही है, तो इस विषमता का क्या कारण है, यह भाव है।

श्रीमुनिजी ने कहा : हे व्याध, जो स्वप्नसंवित् स्वप्नेश्वरीदेवी के निकटवर्ती देश में, रात खुलते समय तड़के, देवता की आराधना, तप, व्रत आदि कर्मों और हविष्य अन्न भोजन, कुशमय बिस्तर आदि द्रव्यों द्वारा शास्त्र प्रमाणों से 'इस तरह के स्वप्न का इस प्रकार का फल अवश्य होता है' यों निश्चित उदित होती है वह संवित् उन शकुनों की तरह जिनका कि फल काकतालीय है, उत्तरकाल में अवश्य फललाभ होने के कारण सत्य स्वप्न नामवाली होती है ॥२॥ लेकिन मणि, मन्त्र और औषधियों से होनेवाली स्वप्नसंवित् मणि, मन्त्र आदि के योग्य पुरुषों में अव्यभिचारिणी होती है और मणि आदि के अयोग्य पुरुष में सव्यभिचारिणी होती हुई भी शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन न करने से दोनों में सत् स्वप्नात्मिका ही कही गई है ॥३॥

वहाँ दोनों जनों में ही काकतालीय न्याय ही एकमात्र आसरा है दृष्ट किसी भी नियामक का निरूपण नहीं किया जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जब लोगों में सत्यस्वप्नों की स्थिति इस प्रकार की है तब यह काकतालीय न्याय के सिवा अन्य कुछ नहीं है ॥४॥

हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदि की संवित् पूर्वजन्म की प्रबल उपासना के परिपाक से जन्य होने के कारण सत्यसंकल्परूप दृढ़ निश्चयवाली होकर जिस जिस निश्चय को अपनाती है वैसी वैसी अवश्य हो ही जाती है, ऐसा कहते हैं।

हिरण्यगर्भ की दृढ़ निश्चयात्मिका संवित् जिस जिस निश्चय को ग्रहण करती है पूर्वजन्म की उपासना के फल के प्रभाव से उत्पन्न स्वभाव से वह वैसी वैसी हो जाती है ॥५॥

यदि प्रश्न हो कि हिरण्यगर्भ की उक्त संवित् भी दूसरे पुरुष के उससे विरुद्ध सत्य संकल्प से क्यों तिरस्कृत नहीं होती ? इस पर कहते हैं।

हिरण्यगर्भ की संवित् के सर्गादि निश्चय को कोई दूसरा अगर तिरस्कृत करता है तो उसमें पूर्वजन्म

की उपासना के समय 'मैं जगत् का सर्जनहार हूँ' ऐसा प्रौढ़ निश्चय मृत्यु के समय में उद्भूत होकर ''तद्वैतल्लोकजिदेव'' इस श्रुति से सिद्ध स्वलक्ष्य फलवाला कैसे होगा ? इससे सिद्ध है कि हिरण्यगर्भ की संवित् के अविरोध से ही अन्य सिद्ध जनों का संकल्प उदित होता है, उसके विरुद्ध नहीं होता ॥६॥

ऐसी स्थिति में संवित्स्वतन्त्रता अक्षुण्ण ही है, ऐसा कहते हैं।

कोई घट, पट आदि पदार्थ न कहीं भीतर हैं और न कहीं बाहर हैं केवल सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एकमात्र संवित् जैसी इच्छा करती है वैसे ही जगत् के रूपों से स्थित होती है। 'यह स्वप्न सत्य है' इस प्रकार के शास्त्र आदि प्रमाणों द्वारा किये गये निश्चय से अन्दर सत्य उदित हुई स्वप्नादिसंवित् तुरन्त सत्य ही हो जाती है और 'सत्य है या नहीं है' इस प्रकार के सन्देह से संशयग्रस्त हो जाती है ॥७,८॥

स्वप्न संवित् की सत्यता काकतालीयवत् है ऐसा जो पहले कहा था, उसका उपपादन करते हैं।

यह स्वप्नद्रष्टा जीव अन्य उपाय से भी प्राप्त हुए फल को, स्वप्न में सत्यत्व की कल्पना से, यह फल स्वप्न द्वारा ही सूचित है, ऐसा समझता है ॥९॥

इसी प्रकार जाग्रत् में प्रसिद्ध घट, पट आदि की संवित् भी काकतालीय ही है, क्योंकि उनमें भी देश और समय के भेद से अन्यथाभाव देखने में आता है, ऐसा कहते हैं।

त्रैलोक्य में तत्-तत् (विभिन्न) पुरुषों की अपनी निज संवित् द्वारा चिर अभ्यस्त अर्थक्रिया आदि से बद्धमूल घटादिस्वभाववाले भी सभी पदार्थ शीघ्र या चिरकाल में देश, काल तथा मुद्गर के आघातादि प्रयत्न से अन्यथाभाव को प्राप्त होते हुए व्यभिचरित होते हैं, पूर्वनिश्चत स्वभाव का त्याग करते हैं ॥१०॥ सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश का अविनश्वर भान ही जगत् है। अतएव सूक्ष्म चिति ही वस्तुसत्ता का यथेष्ट विस्तार करती है ॥११॥

इसलिए केवल सन्मात्र ही नियत सत्तावान् है उससे अतिरिक्त सबकी सत्ता अनियत हैं, ऐसा कहते हैं।

केवल सन्मात्र ब्रह्म को छोड़कर और सबको तुम सदा सत्य-असत्य, नियत-अनियत रूप से स्थित समझो ॥१२॥ अतः एक सद् ब्रह्म ही सर्वात्मक (सर्वरूप) है उससे अन्य कुछ नहीं है, इसलिए उससे अतिरिक्त सत्य या असत्य क्या होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१३॥

इस प्रकार विचार करने पर स्वप्न भी कहीं किसी काल में सत्य और कहीं किसी काल में असत्य भी संवित्रूप से सत्य और अन्य रूपसे असत्य है, ऐसा कहते हैं।

इन अज्ञानियों के लिए कहींपर स्वप्न सत्य और कहींपर असत्य ही है, किन्तु ज्ञानवान् जनों के लिए न असद्रूप है और न सन्मय है ॥१४॥ जगत् नामक आकारवती यह संवित्रूप भ्रान्ति भासित होती है यह स्वयं मैं भ्रान्ति हूँ, ऐसा कहती है, इसमें यथार्थ संवित् कौन है ? चिति ही चित्त बनकर जल में द्रव की तरह जो अपने में जगमगाती है साभास स्फुरित होती है, वही यह जगत् है ॥१५,१६॥

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति जमे हुए और कुछ पिघले हुए घृत के समान अभिन्न ही हैं, यह उपपादन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जैसे स्वप्न देखकर सुषुप्ति का अनुभव होता है वैसे ही जाग्रत का अवलोकन कर निद्रा का अनुभव किया जाता है ॥१७॥

हो ऐसा, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

जैसे जमा हुआ कड़ा घी ही कुछ पिघलता है कुछ पिघला हुआ ही जमकर फिर कड़ा हो जाता है यों दो घृतों में परस्पर भेद नहीं है क्योंकि वही यह घृत है ऐसी प्रत्यभिज्ञा दोनों अवस्थाओं में होती है, हे महामते, वैसे ही तुम जाग्रत् ही यह स्वप्न है ऐसा जानो और स्वप्न को जाग्रत् जानो, ये दोनों एक अविनाशी ब्रह्म ही हैं ॥१८॥

इस प्रकार अविद्याकृत चिन्मात्ररूप एक सुषुप्ति ही घृतवत् सदा द्रष्टव्य है। सभी नामरूप के भेद उसी के पयार्य हैं ऐसा निष्कर्ष निकला, यह कहते हैं।

अचेत्य चिन्मात्र भानरूप एक यह आकाश ही चारों ओर व्याप्त है। यहाँ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि उसी के नामान्तर (पर्याय) हैं ॥१९॥

स्वप्न आदि के फल का नियम और अनियम भी उससे पृथक् नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यहाँ न नियति है और न अनियति है। जरा बतलाओ तो मिथ्याभूत स्वप्नसंवित् में नियम और अनियम का ही कैसे संभव हो सकता है, यानी मिथ्या होने के कारण भी नियम और अनियम अविद्यावृत चिन्मात्र से पृथक् नहीं है, यह भाव है ॥२०॥ अज्ञान से आवृत अनियन्त्रित चिति जाग्रत् और स्वप्न है, परिश्रम आदि निमित्त से नियन्त्रित हुई वह सुषुप्ति है तथा प्रयत्न से नियन्त्रण में लाई गई उक्त चिति समाधि है। अज्ञान का विनाश हो जानेपर वही मुक्ति कहलाती है। ऐसी परिस्थिति में जाग्रत् के निरोध से मनोव्यापारमात्ररूप अन्य शोक है। जब तक संवित्–भान का नियन्त्रण रहता है तब तक सुषुप्ति में आत्मा ही सर्व शोकान्तर है ऐसा जानकर शोकरहित समाधि सुखरूपी विश्राम चाहनेवाला पुरुष नियमन ही करें ॥२१॥

यदि कोई शंका करे कि संवित् का पवन के समान नियमन करना अति दुष्कर है। उक्त संवित् का स्वप्न आदि के आकार में स्फुरित होने का नियम है, इस पर कहते हैं।

वायुलेखा की तरह स्वच्छन्द स्फुरित हो रही संवित् का विषयाकार में स्फुरण होना स्वभाव नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में उसका विषयाकार स्फुरण नहीं दिखाई देता। और स्वप्न में संवित् के विषयाकार स्फुरण में किसी कारण का भी निरूपण नहीं किया जा सकता, जिसको कि निमित्त मानकर नियति हो, इसलिए नियति कौन और कैसी ? ॥२२॥

यदि कोई कहे कि बाह्य, घट, पट के आकार ही संवित् से अपना सम्बन्ध होनेपर संवित् की स्वाकारता में कारण हों, इस पर कहते हैं।

घट, पट आदि का आकार संवित् के स्वाकार में परिणत होने में तब कारण माना जा सकता है जबकि सृष्टि में किसी दूसरे कारण का निरूपण करना संभव होता। लेकिन जब पूर्वोक्त युक्ति से सृष्टि अकारण (कारण के बिना ही उत्पन्न) है तब चित् से अनन्य (अभिन्न) आकार आदि चित् के घट आदि के आकार में परिणत होने में कदापि कारण नहीं हो सकता ॥२३॥

तो क्या सारा का सारा नियतिरूपी महल ढह गया ? ऐसी आशंका होनेपर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

यहाँ जो चिति जब जैसे स्फुरित होती है वह वस्तु तब वैसी पारमार्थिक, व्यावहारिक या प्रातिभासिक

होती है इस प्रकार की ही नियति व्यवहारपर्यन्त रहती ही है अन्यथा नहीं होती है ॥२४॥

स्वप्न की सत्यतानियति तो सर्वत्र शास्त्रानुसार होती है, इसलिए काकतालीयवत् ऐसा हमने कहा है, ऐसा कहते हैं।

नियति के अभाव से ही स्वप्न में कभी कभी सत्यता और कभी असत्यता होती है, इसलिए स्वप्नसत्यत्व काकतालीय ही है ॥२५॥

मणि, मन्त्र, औषध आदि रूपसे प्रयुक्त स्वप्नसत्यता-नियति तो जाग्रत् प्रतीति में भी तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

मणि, मन्त्र और औषधिरूप स्वात्मा से स्वप्न आदि की जो सत्यता नियत है वह सत्यता तो जाग्रत में भी दिखाई देती है ॥२६॥ जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही केवल चित्भान ही हैं, अतएव इनमें विभिन्नता कैसी ? जाग्रत और स्वप्न के नगर अनुभव से सदृशस्वरूप ही हैं अर्थात् उनका वेद्य स्वरूप अथवा वेदन स्वरूप अनुभवतः तुल्य ही है ॥२७॥

अतएव निद्राविहीन आत्मा में जाग्रत् और स्वप्न दोनों का ही व्यभिचार होने से अभाव ही है, ऐसा कहते हैं।

निद्राविहीन आत्मा में जाग्रत का कदापि संभव नहीं है। जो जाग्रत के नाम से प्रसिद्ध रूप है, वह स्वप्न ही है। निद्राविहीन आत्मा में स्वप्न का भी संभव नहीं है, जो स्वप्न नाम से प्रसिद्ध है वह सुप्त और जाग्रत् एकरूप ब्रह्म की ज्ञानरूपता ही है ॥२८,२९॥

ऐसी स्थिति में निद्राविहीन आत्मा की सुषुप्ति भी है ही नहीं, इस अभिप्राय से कहते हैं।

निद्राविहीन आत्मा के वे जाग्रत्, स्वप्न आदि कोई कदापि नहीं है एवं दृश्य का आत्यन्तिक अदर्शनरूप अथवा आत्मा का उच्छेद आदिरूप मृत्यु भी है ही नहीं, क्योंकि अविलुप्त चित्सत्ता मृत्युभ्रम के अनन्तर तुरन्त ही दृश्य को देखती है ॥३०॥ जैसे जलकणों की लहरें, मेघ और दिग्भ्रम होने पर दिशाएँ ये सब अनन्य होते हुए भी चिरकाल तक निरन्तर सर्वथा अन्यवत् प्रतीत होते हैं, वैसे ही अभिन्न परम ब्रह्म में शिला के अन्दर की रेखाओं की तरह सृष्टियाँ स्फुरित होती हैं। उनमें जाग्रत, स्वप्न आदि का कैसे संभव है ? ॥३१,३२॥ हे व्याध, यह आत्मस्वरूप, जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति स्वरूपवाला और उनसे विपरीत तुरीयावस्था स्वरूपवाला तथा आकार रहित होकर भी रूप शरीर धारण करता हुआ शून्य इस चिद्वपु से और शून्यरूप ही दृश्य से आकाशरूप छिद्र को व्याप्तकर स्थित है तथापि आकाशात्मक चिन्मात्र यह अपने शुद्ध चिन्मात्र रूप से तनिक भी भिन्न नहीं है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, अन्यान्य लोक, मेघ आदि भूत भौतिक सहित दृश्य (जगत्) सृष्टि के आदि में भी दूसरे किसी भी कारण का प्रमाणों द्वारा अनुभव न होने से केवल हिरण्यगर्भचित्तात्मक है। चित्तरूप मनोरथरूप इसके नामरूपों का अस्तित्व न होने से यह नाम से वर्जित (रहित) ही है बोधशरीरवाले मन के साक्षी से संयुक्त ही है। अन्त में मन का विलय होनेपर सारा का सारा दृश्य वेदनमात्र ही है, अन्य वस्तु नहीं है ॥३३,३४॥

एक सौ अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उनचासवाँ सर्ग

पूर्वोक्त स्वप्न वृत्तान्त के सिलसिले में घर में आये हुए किसी अन्य मुनि के मुँह से श्रुत बहुत से लोगों के तुल्य (एक से) सुख, दुःख आदि के निमित्त का मुनि द्वारा कथन।

व्याध ने कहा : हे महामुनिजी, आपके प्रलय आदि सैकड़ों महावृत्तान्तों के साथ अनेक सृष्टियाँ (संसार) शान्त हो चुके थे ऐसे आपका जब गृहस्थाश्रम में पुत्र-भार्या, बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्रों के साथ समागम हुआ तब वहाँपर अनुभव में आ रहे जगत् का क्या हाल हुआ, उसका तत्त्व कृपया मुझसे कहिये ॥१॥ मुनि ने कहा : हे सदाचार में स्पृहा रखनेवाले, हे साधो व्याध, उसके पश्चात् उस प्राणी के हृदयस्थित ओज में उस समय जो अपूर्व वृत्तान्त हुआ, उसे तुम सुनो। उक्त ओज में बैठने से मेरा आत्मज्ञान का सारा वैभव विस्मृत हो गया। ऋतु, वर्ष आदिरूप समय चक्कर काट काटकर बीतने लगा। स्त्री-बच्चों पर अतिअनुराग रखनेवाले तथा आत्मा का कभी मनन न करनेवाले मेरे वहाँपर गृहस्थाश्रम में सोलह वर्ष बीत गये ॥२-४॥ इसके बाद किसी समय महातपस्वी आत्मज्ञानी मननशील कोई संमान्य विद्वान अतिथि के रूप में मेरे घर पधारे। मैंने उनका खूब आदर सत्कार किया, उससे प्रसन्न होकर उन्होंने भोजन किया और तदनन्तर आराम किया। मैंने बहुत से लोगों के तुल्य सुख-दुःख के क्रम का विचार कर उनसे यह पूछा : हे भगवन्, चूँकि आप महाज्ञानी हैं, जगत् की सब गतिविधियाँ जानते हैं, क्रोध का तो आपमें नामनिशान भी नहीं है तथा विषयसुख-लेश में आपकी तनिक भी आसक्ति नहीं है। जैसे शरद् ऋतु में फलार्थी किसानों को धान आदि अन्न प्राप्त होते हैं, वैसे ही कर्मशाली जीवों के शुभ अशुभ कर्मों से सुख और दुःख प्राप्त होते हैं। तो क्या ये सभी लोग साथ ही अशुभ कर्म करते हैं जिससे कि इन सबके भक्ष्य और अभक्ष्यों को हड़प जानेवाले दुर्भिक्ष आदि दोष साथ ही आते हैं ? दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, उल्कापात आदि उपद्रव, जो सब भक्ष्य, अभक्ष्य आदि को हड़प जाते हैं, सब लोगों के साथ ही होते हैं, तो क्या संपूर्ण जनराशि का समान ही दुष्कर्म फलित होता है ? ॥५-१०॥ मेरा यह प्रश्न सुनकर, मेरी ओर देखकर, विचारकर मुस्करा रहे उन मुनि महाराज ने अन्यमनस्क से होकर अमृत के झरने के समान मनोहर श्लाघ्य वचन कहा ॥११॥ समागत अन्य मुनि ने कहा : हे साधुवर, अन्तःकरण के यह चित् है, यह अचित् है, ऐसे विवेक से सम्पन्न होनेपर इस दृश्य का जो सत् या असत् कारण है उसे आप भलीभाँति जानते हैं। उसे किससे जानते हैं, यह आप मुझसे कहिये ॥१२॥

उक्त विषय में विवेक की सामर्थ्य न होने से मुझे चुप हुए देखकर उन मुनि महाराज ने पूर्वजन्मों के सब वृत्तान्तों के साथ उनके साक्षी आत्मा का स्मरण कीजिये, यह कहा, ऐसा कहते हैं।

आप कौन हो और कहाँ पर स्थित हो, सम्पूर्णतः आत्मा का स्मरण कीजिये कहाँपर हूँ यह दृश्य क्या है क्या यह सारभूत वस्तु है और क्या असार ही है ? ॥१३॥ हे मुने, अलीक (मिथ्या) यह सब केवल स्वप्नमात्र का भान है ऐसा आप क्यों नहीं जानते, क्योंकि मैं आपके लिए स्वप्न नर हूँ और आप भी मेरे लिए स्वप्न पुरुषतुल्य हैं ॥१४॥ यह जगत् निराकार, नामरहित, आदिरहित, कल्पनाशून्य चिन्मात्ररूप काँच की चमक रूप से (जगमग रूप से) स्थित है ॥१५॥

सहज चिन्मात्ररूप स्वाध्यस्त में वेदनानुसार सत्त्वादि का निर्वाहक है, ऐसा कहते हैं।

सर्वव्यापक इस चिन्मात्र का ऐसा स्वाभाविक रूप है कि जहाँपर यह जैसा जानता है वहाँ पर वैसा ही हो जाता है ॥१६॥

इसीलिए सब वस्तुएँ सकारण हैं अथवा अकारण हैं इत्यादि वादों की भी उसकी कल्पना के अनुसार ही व्यवस्था है, ऐसा कहते हैं।

जब यह सब वस्तुएँ सकारण हैं ऐसी कल्पना करता है तब सब कुछ सकारण है जब यह सब अकारण ही है ऐसी कल्पना करता है तब सब अकारण ही है ॥१७॥

समष्टि व्यष्टिभाव की कल्पना ही हमारे चित् के अधीन है, ऐसा कहते हैं।

जिस प्राणी के हृदयवर्ती ओज में हम लोग स्थित हैं वह इन प्रजाओं का यानी हमारा विराट आत्मा है। वह हमारी चित् की कल्पना से ही विराट्भाव को प्राप्त हुआ है। अपनी कल्पना से तो औरों के समान व्यष्टि ही है ॥१८॥ इस प्राणी के समान दूसरा भी प्राणी अन्य प्रजाओं का विराट आत्मा होगा ऐसी संभावना होती है। उस देह में वही सुख-दुःख, सम्पत्ति, विपत्ति, पुण्य-पापरूप कर्म आदि का भोक्तारूप से कारण है ॥१९॥

सब लोगों के दुर्भिक्ष, अनावृष्टि आदि सर्वसाधारण दुःख तो जो जिसका स्थूल समष्टिरूप विराट है उसका धातुविकार भेद ही निमित्त है, ऐसा कहते हैं।

विराट के विषम स्पन्द आदिवाले धातुविकार से विराट के अंग के अवयवरूप इस जनसमूह का समान दुर्भिक्ष, अनावृष्टि और प्रलय आता है अथवा शान्त होता है, क्योंकि विराट् की जो सत्ता है वही इस सर्ग की सर्गता है ॥२०,२१॥

उन प्राणियों का एक ही समय में परिपाक को प्राप्त हुआ दुष्ट कर्म भी उसमें है, ऐसा कहते हैं।

हे सत्पुरुष, विराट् में सब प्राणियों के कुछ दुष्कर्मों के रहनेपर जैसे अनेक पेड़ोंपर वज्र गिरता है वैसे ही अनेकों पर एकसाथ दुःख आदि का पहाड़ गिरता है ॥२२॥

वैसा कर्म यदि चिति से ही पहले कल्पित होता है, तो चिति उक्त कर्मफलभागिनी होती है अन्यथा नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

कर्म-कल्पना से चिति कर्मफलभागिनी होती है यदि चिति कर्मों की कल्पना से निर्मुक्त हो तो कर्मफलभागिनी नहीं होती ॥२३॥ जहाँ पर जो जो कल्पना थोड़ी या घनी जैसी उदित होती है वहाँ वह वह कल्पना वैसी ही सहेतुककी कल्पना से सहेतुक और अहेतुककी कल्पना से अहेतुक होती है ॥२४॥

केवल सहेतुक मानने से ही स्वप्न में घड़े आदि की सहेतुकता नहीं हो जाती इसलिए निर्हेतुक जगत् की सिद्धि न होने से परमार्थतः चिन्मात्र ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न के नगर में सहकारी कारण आदि कोई कारण नहीं है, इसलिए वह (स्वप्ननगर) आदि अजर चेतन मंगलमय परम ब्रह्म ही है ॥२५॥ यह स्वप्नभ्रम कोई तो बिना कारण के ही प्रतीत होता है चूँकि सत् असत् रूप है, अतएव शून्य (मिथ्याभूत) है ॥२६॥

स्वप्नजगत् में उक्त न्याय तुल्य प्रतीति होने के कारण ही जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न की सकल प्रतीतियों का काकतालीय के समान भान होता है उन्हींके तुल्य होने के कारण

यह विस्तृत जगत् चित् या स्वप्न से भिन्न नहीं है ॥२७॥

यहाँ जिसकी सकारण रूप से प्रसिद्धि है वह सकारण कहा जाता है और जो अकारण रूप से प्रसिद्ध है वह अकारण कहाता है ॥२८॥ स्वप्न में कार्य–कारणरूप क्रम से उदित वस्तु केवल चिति का भान ही है ऐसा निर्णय जाग्रत्नामक स्थूल प्रपंच का भी समान ही है। इस कारण ब्रह्मवेत्ताजन सारा–का–सारा प्रपंच परम ब्रह्म ही है, ऐसा जानते हैं ॥२९॥

यदि कोई शंका करे कि सत्य ब्रह्म ही सब पदार्थों का कारण हो, सत्य कारण से उत्पन्न होने के कारण वे भी सब सत्य हों। ऐसी अवस्था में सब कुछ ब्रह्म ही कैसे अथवा ब्रह्मअद्वैत कैसे ? इस पर कहते हैं।

हे महामते, उक्त शंका का उत्तर आपसे कहता हूँ, आप सुनें। वे पदार्थ कौन हैं जिन्हें आप सत्य कारणवाले मानते हैं ? स्वभावों के सत्य कारण से आप का क्या मतलब है ? क्या सत्य स्वभाववालों का सत्य कारण आपको अभीष्ट है या मिथ्या स्वभाववालों का सत्य कारण ? क्या सजातीयों का सत्य कारण आपको अभीष्ट है या विजातीयों का सत्य कारण ? प्रथम दोनों पक्षों में ब्रह्म से ब्रह्म ही उत्पन्न होगा न कि जगत्। दूसरे दोनों पक्षों में ब्रह्म से उत्पन्न की सत्यतासिद्धि न होगी, यों जगत् की अकारणता ही सिद्ध हुई फिर आपने क्या सिद्ध किया ? पूर्वोक्त सभी पक्षों में हम आपसे पूछते हैं। यहाँ आकाश का क्या कारण है ? प्रथम दोनों पक्षों में आकाशपदवाच्यता अवच्छेदक विलक्षणता की असिद्धि है दूसरे दोनों पक्षों में उसकी सत्यता की असिद्धि है ॥३०॥ तथा पृथिवी आदि घनपिण्डरूप सृष्टि का क्या कारण है ? अविद्या का क्या कारण है और ब्रह्म का क्या कारण है ? सृष्टि के आदि में वायु का, जल का क्या कारण है, तेज का क्या कारण है ? वेदन से अतिरिक्त इनका कोई दूसरा स्वरूप न होने से ये वेदनमात्ररूप वाले हैं। कोई साधन न होने से ही ये असिद्ध है, अतएव आकाशात्मक (शून्यरूप) हैं। और मरे हुए लोगों का पिण्डग्रहरूप देहप्राप्ति में क्या कारण है ? सब सृष्टियाँ पहले से इसी तरह अकारण होती चली आ रही हैं ॥३१–३३॥

इससे सिद्ध हुआ कि सकल सृष्टियाँ अकारण और भ्रमरूप है, ऐसा कहते हैं।

जगत् में सकल सृष्टियाँ यों ही होती चली आ रही हैं। चिरकाल तक देखने से भ्रान्तिदृष्टि से जैसे आकाश में केशों के गोले घूमते दिखाई देते हैं वैसे ही ये सृष्टियाँ जगत् में राशि–राशि रूपसे चक्कर काटती हैं ॥३४॥ इसी तरह प्रवृत्त हुई हिरण्यगर्भरूपी सृष्टिने पीछे पृथिवी आदि रूपवाले अपने स्वरूप की ही पृथिवी आदि संज्ञाएँ की। अतएव पहले सृष्टियाँ चिदाकाश में वायु के स्पन्द की तरह तथा मनोराज्य की तरह अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्रतीत होती हैं चिरकाल के अभ्यास से स्थूल बनकर देह, कर्म आदि कारणों की कल्पना करती हैं ॥३५,३६॥ प्रथम कल्पना में जिस पदार्थ की जैसी कल्पना की जाती है वह वैसा शरीर धारण करता है वही नियति बनती है। चूँकि कल्पित चिति का ऐसा यह निज स्वभाव है। अपने से कल्पित पदार्थों में यह बात अनुभवसिद्ध है, यह भाव है ॥३७॥

जिस जिस भानरूप स्वरूप का सृष्टि के अनुकूल हिरण्यगर्भ की चिति ने पहले चित् में ही अपने आप 'मैं ही अमुक हूँ' ऐसा संकल्प किया वह आज भी वैसा ही स्थित है ॥३८॥

आदि कल्पना को उलटना महान् पुरुषों के महान् प्रयत्नों से कदाचित् हो सकता है, ऐसा कहते हैं।

फिर उससे उत्कृष्ट तपस्या आदि महान अन्य प्रयत्नों से वही चिति उसको उलटने में समर्थ

होती है ॥३९॥

कहीं पर जैसे कि दूध आदि में दधिभाव की प्राप्ति के लिए जमावन, समय, गर्मी आदि कारण की कल्पना की जाती है, वायु आदि के घनीभाव, तरलता आदि के लिए उसकी कल्पना करना शक्य नहीं हैं ऐसा कहते हैं।

जहाँ पर विद्वान द्वारा कारण की कल्पना की जाती है वहाँ पर कारणरूप सार है जहाँपर कारण की कल्पना नहीं की जाती वह अकारण है ॥४०॥ अज्ञानवश विस्मृत यह जगत् असत् होता हुआ ही पहले आँधी के बवंडर की तरह प्रकाश में आया। जैसे प्रकाश में आया वैसा ही अद्यावधि स्थित है ॥४१॥

जो मैंने महामुनि से यह पूछा था कि क्या ये सब लोग एकसाथ ही अशुभ कर्म करते हैं ? इसी का उत्तर देते हुए उपसंहार करते हैं।

कोई जीव साथ मिल-जुलकर भी शुभ-अशुभ पुण्य-पाप कर्म करते हैं उसका फल भी वे मिलजुलकर ही पाते हैं। लेकिन कोई हजारों जीवन्मुक्त पुरुष (मैं कर्ता हूँ) इस प्रकार के अभिमान से शून्य होने के कारण अकर्ता होने पर भी जैसे पर्वतशिखर के पत्थर पाप किये बिना ही वज्रपात का अनुभव करते हैं वैसे ही अकारण ही दुःख पाते हैं ॥४२॥

एक सौ उनचासवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचासवाँ सर्ग

मुनि के वचनों से आत्मज्ञान, मुनि के साथ अपनी स्थिति,
पूर्व देह में गमन की अशक्ति का प्रश्न होने पर देह के दाह आदि का वर्णन।

मुनि महाराज ने कहा : हे व्याध, उस समय इस तरह की युक्ति से उन मुनिजी द्वारा यह मैं उस भाँति बोधित हुआ जिससे कि ज्ञेय तत्त्व मेरी समझ में आ गया ॥१॥ उसके पश्चात् मैंने उनका पल्ला नहीं छोड़ा। चिर प्रार्थना, भक्ति, अनुगमन आदि गुणों से वशीभूत हुए उन मुनि महाराज ने आत्मविचारशून्य होने के कारण एक तरह से मृततुल्य (⚘) मेरे घर में मेरी तरह ही निवास किया ॥२॥ जिन मुनि महाराज ने चन्द्रोदय के समान सुन्दर यह वचन मुझसे कहा था, देखो वे ये मुनि तुम्हारी बगल में ही बैठे हैं। मेरे अज्ञान को छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा दृश्य के पूर्वापर का ज्ञान रखने वाले इन्हीं मुनि महाराज ने, जो मूर्तिधारी मेरे यज्ञादि पुण्य के समान हैं, प्रार्थना के बिना यह उत्तम वचन मुझसे कहा ॥३,४॥ अग्नि ने कहा : हे विपश्चित्, उस समय मुनि का वह वचन सुनकर बेचारा व्याध स्वप्न में उद्भूत आपको उपदेश देनेवाले मुनि महाराज इस समय मेरे प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं ? ऐसी असंभावना से मारे आश्चर्य के अप्रतिम हो गया ॥५॥

व्याध अपनी असंभावना को स्पष्टतया कहता है।

व्याध ने कहा : हे मुनिवर, महान आश्चर्य की बात है, संसार-दुःख का विनाश करनेवाले आपने

(⚘) वृद्धों ने कहा है - 'गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा। न विचारपरं चेतो यस्याऽसौ मृत उच्यते ॥' चलते-रुकते अथवा सोते-जागते जिस पुरुष का चित्त तत्त्वविचार परायण नहीं रहता है वह मरा हुआ कहा जाता है।

यह अत्यन्त आश्चर्य आज मुझसे कहा है, जो कि मेरे मन में नहीं बैठ रहा है ॥६॥ हे मुनिवर, स्वप्न में अपने उपदेशकरूप से जिनका आपने मुझसे वर्णन किया था उनकी आप जाग्रत में प्रत्यक्षता कह रहे हैं और मैं भी प्रत्यक्षतः देखता हूँ यह विचित्र बात मेरी समझ में नहीं आ रही है ॥७॥ हे मुनिनायक, बालक के वेताल की तरह यह महान् स्वप्नपुरुष जाग्रत अवस्था में भी कैसे स्थिर हो गया ? इस तरह का आश्चर्यमय यह सारा आख्यान कृपया आद्योपान्त मुझसे कहिये। इस समय स्वप्नपुरुष का यह दर्शन किस निमित्त से हुआ, यह दर्शन किसका है अथवा यह स्वप्न है या जाग्रत है ? ॥८,९॥ मुनि महाराज ने कहा : हे महाभाग, तदुपरान्त यहाँ मेरी क्या आश्चर्यमय घटना हुई उसे सुनो। मैं संक्षेप में उसका वर्णन करता हूँ। तुम सहसा जल्दबाजी न करो। तुम्हारे समीप बैठे हुए इन मुनि महाराज ने वहाँपर उस समय मुझको प्रबुद्ध बनाने के लिए यह वाणी कही। इन महात्मा की उस सुन्दर वाणी से मैं तुरन्त प्रबुद्ध हो गया। तदुपरान्त इनकी उक्त वाणी से मुझे अपने अनादिसिद्ध सन्मात्ररूप निर्मल स्वभाव का वैसे ही स्मरण हो गया है जैसे कि हेमन्तऋतु के बीतनेपर आकाश को अपने निर्मल स्वभाव का स्मरण होता है ॥१०–१२॥

उसके बाद मुझे अपने पहले के मुनिभाव का स्मरण हो आया, ऐसा कहते हैं।

तदनन्तर अहा यह मैं पहले मुनि था, ऐसा मेरा ख्याल हो आया फिर तो जमे हुए प्रचुर आश्चर्यवश हृदय से स्नान किया हुआ–सा मैं आर्द्र हो गया ॥१३॥

अपनी उस गृहस्थाश्रम अवस्था पर शोक करते हैं।

अहो, जैसे थकावट से चूर चूर हुआ प्यासा अज्ञानी पथिक जल के लिए भटकता हुआ मिथ्याभूत मृगतृष्णा से दुःखी होता है, वैसे ही विषयभोग की आसक्ति से मैं इस अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ॥१४॥ ओह, जैसे केवल भ्रमरूप वेताल से बालक छला जाता है वैसे ही दृश्य की उपलब्धि से, जो कि केवल भ्रान्तिमात्र है, ज्ञानवान् भी मैं छला गया हूँ, यह कम दुःख की बात नहीं है। ओह, विस्तार को प्राप्त हो रहे इस सर्वार्थशून्य (तुच्छातितुच्छ) मिथ्याज्ञान से (भ्रान्तिसे), मैं किस दशा को पहुँचाया गया हूँ, यह महान् आश्चर्य की बात है ॥१५,१६॥ अथवा जो 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस तरह की प्रत्यभिज्ञा का विषय तत्ता, अहन्ता आदि है, वह भी केवल भ्रान्ति ही है, सत्मय नहीं है। इस स्थिति में किसका आश्चर्य ऐसा नहीं कहना चाहिये। फिर भी जिस साक्षी द्वारा असद्रूप का स्वांग किया जाता है, उसमें सैकड़ों आश्चर्य हैं ही ॥१७॥ न तो मैं हूँ, न यह स्त्री है, न यह घर है और न यह भ्रम है – यह सब मिथ्या है फिर भी सत् की तरह स्थित है। यही महान् आश्चर्य है ॥१८॥ इस समय यहाँ मुझे क्या करना चाहिये। मेरे बन्धन को तोड़ डालनेवाला आभ्यन्तरिक ब्रह्माकारवृत्तिरूप अंकुर है। लेकिन वह भी तो छेद्य ही है, इसलिए तब तक उसी का परित्याग करता हूँ॥१९॥

जगद्भ्रान्ति तो अविद्या होने से विद्यावृत्ति से ही उच्छिन्न हो ही गई, अतः वह इस समय त्याज्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह जगद्भ्रम मिथ्यारूप अविद्या ही है इससे क्या हानि है। इस असद्भ्रान्ति का विद्यावृत्तिरूप भ्रान्ति से मैं अभी त्याग कर ही चुका हूँ॥२०॥ यहाँ ये उपदेशक मुनि महाराज भी केवल भ्रान्तिरूप ही हैं। ये उपदेश देनेवाले मुनिजी मुझ शिष्य की तरह ब्रह्मरूप ही हैं, यानी ब्रह्म ही गुरु, शिष्यरूप से

प्रतीत होता है, अतः यहाँ त्याग करने योग्य अन्य वस्तु नहीं है। यह सब दृश्य दिन में देखे गये पुरुषाकार मेघ के समान क्षणभंगुर है ॥२१॥ इसलिए, ज्ञानसम्पन्न महामुनिजी से ऐसा सब मैं कहूँगा यह सोचकर मैंने वहाँ उन मुनिजी से यह कहा ॥२२॥

हे मुनिवर, मैं आश्रम में स्थित अपने मुनि–शरीर को और जिस प्राणी के शरीर को देखने के लिए प्रवृत्त हूँ उसे भी देखने के लिए बाहर जाता हूँ ॥२३॥ ऐसा सुनकर उन मुनिनायक ने उस समय हँसते हुए मुझसे कहा : वे दोनों शरीर कहाँ हैं ? वे दोनों दाह से भस्म होकर बहुत दूर चले गये हैं ॥२४॥ हे वृत्तान्तअज्ञ, अथवा जाओ, स्वयं जाकर अपने आप ही उस वृत्तान्त को देखो। जैसी घटना हुई है उसे देखो, देखकर अन्त में जान जाओगे ॥२५॥ मुनि महाराज के यह कहनेपर अपने पुराने शरीर का खयालकर वहाँ जाने के लिए मैं तैयार हुआ। वहाँ जाने की इच्छा से मैंने स्वप्नभूत सत्ता से पार्थिव शरीर ही मैं हूँ यों कल्पना से प्राप्त रूप का त्याग कर प्राणों से उपहित चिदात्मरूप अपने जीव को प्राण द्वारा पवन से संयोजित किया ॥२६॥ हे मुनिमहाराज, जब तक मैं अपने पुराने शरीर को देखकर लौटता तब तक आप कृपया यहीं रहें, यह कहकर मैं वायु में प्रविष्ट हुआ ॥२७॥ इसके बाद वायुरूपी रथपर सवार होकर फूलकी सुगन्ध की तरह मैंने आकाश में चिरकालतक त्वरा से भ्रमण किया। अन्त को न प्राप्त होकर फिर मैंने चिरकालतक भटककर निरन्तर चलते चलते बाहर निकलने का मार्ग उस प्राणीका गले का छेद या अन्य द्वार नहीं पाया। तब वाताशय में बैठा हुआ मैं खेद को प्राप्त हुआ। तदुपरान्त अपने बन्धनस्तम्भरूप स्वगृह में फिर आये हुए मैंने इन उत्तम अपने गुरु मुनि को अपने आगे पाया। तदुपरान्त सावधान होकर घर में मैंने गुरुजी से यह पूछा : हे पूर्वापर जानने वालों में श्रेष्ठ गुरुवर, आप ज्ञानचक्षु से जैसा हुआ हो वैसा ही उत्तम रीति से देखते हैं, इसलिए कृपया कहिये कि यह क्या हुआ ? जिसके शरीर में प्रविष्ट हुआ था, वह प्राणी और मेरा शरीर वे दोनों कहाँ गये ? क्यों मुझे प्राप्त नहीं हुए ? मैंने स्थावरपर्यन्त अपने विस्तारपूर्ण संसारमण्डल में चिरकाल तक भ्रमण किया फिर भी बाहर निकलने का मार्ग गले का छिद्र मुझे नहीं मिला ? ॥२८–३४॥ यह सब मैंने मुनि के समीप जाकर उनसे पूछा। महाशय मुनि महाराज ने मुझसे कहा : हे कमलनयन, शरीर का वृत्तान्त मुझसे उपदिष्ट उपाय के बिना ही तुम स्वयं अपनी बुद्धि से कैसे जान गये ? ॥३५॥

तो उसके दर्शन का क्या उपाय है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

यदि तुम योग से एकाग्र बुद्धि से इसका स्वयं अवलोकन करते हो तो ज्ञानदृष्टि से इसे हाथ में स्थित कमल के समान सम्पूर्णतः देखते ही हो। फिर भी यदि मेरे वचन से इसे सुनने की तुम्हारी इच्छा है तो सुनो, जैसी घटना घटी है उसे आद्योपान्त सम्पूर्णतया तुमसे कहता हूँ ॥३६,३७॥

पहले तुम अपने जीवतत्त्व को समझो, उसके बाद मैं तुम्हारे पूर्वशरीर का वृत्तान्त कहूँगा। ऐसा सोच रहे मुनिजी व्यष्टिजीवभाव मिथ्या है समष्टिजीवभाव ही सत्य है यह 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुति से प्रदर्शित न्याय का अवलम्बन कर कहते हैं।

तुम जैसा कि अपने को समझते हो वैसे व्यष्टिजीवरूप नहीं हो, किन्तु सकल प्राणियों के तपरूपी कमलों को विकसित करने में सूर्यरूप, सकल कल्याणों के (मानुष आनन्द से लेकर प्रजापत्य आनन्दपर्यन्त सुखों के) कमलाकर के समान समष्टिरूप हरि भगवान् के नाभिकमल की कर्णिका यानी

कर्णिका में आरूढ़ सर्वजीव समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही हो ॥३८॥

तो मेरा व्यष्टिभाव कैसे हुआ और उसमें (व्यष्टिभाव में) ये सकल भ्रान्तियाँ कैसे आई ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

व्यष्टिभावरूप स्वप्न को देखने की इच्छा से किसी समय मनोरथरूप तप में बैठे हुए तुम आश्रम में तपस्वी हुए। वहाँ पुष्ट हुई व्यष्टिभावबुद्धि से अन्य के शरीर के अन्दर स्वप्नादि–कौतुक को देखने की इच्छा से किसी जीव के हृदय में प्रविष्ट हुए ॥३९॥ तुमने जीव के हृदय में प्रविष्ट होकर वहाँ यह विस्तारयुक्त त्रिभुवन देखा था, जिसका पृथिवीलोक और स्वर्गलोक महान् उदर है। इस रीति से जब तुम परकीय शरीर के अन्दर स्वप्न देखने में व्यग्र थे तब तुम्हारे शरीर में और उस महावन में सोये हुए उस प्राणी के शरीर में, जिसके अन्दर तुम प्रविष्ट थे, भयंकर आग लग गई। उस आग का क्या कहना था, धुएँ से धुमैले मेघरूपी वस्त्रों को ओढ़ा हुआ आकाश ही उसका चँदवा था, चमक रहीं और जोर से घूम रही लाठियों के चक्करों से उसने अनेक सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल बना डाले थे। नीले आकाशखण्ड और दिशाओं की आचरण द्वारा रक्षा करनेवाले जले हुए मेघोंपर भस्म से भरे हुए धूम्र के मेघरूपी काले कम्बलों द्वारा, उक्त अग्नि ने आकाश को आच्छन्न कर दिया था ॥४०–४३॥ अग्नि से गुफारूपी घर से बाहर निकले हुए सिंहों की दहाड़रूपी डाँट–फटकारों तथा साफ–साफ सुनाई दे रहे चट–चट शब्दों से उसने दिगन्तरालों में रहनेवाले लोगों को बहरा बना दिया था ॥४४॥ चारों ओर से आग से घिरे होने के कारण अग्निवृक्ष से बने हुए ताल, तमाल आदि वृक्षपंक्तियों के तड़ातड़ गिरने से तथा उत्पात अग्नि के समान और उत्पात मेघ के समान उनके फटने के कोलाहल से वह अग्नि निबिड़ हो गई थी ॥४५॥ दूर देशों में स्थित लोगों ने उक्त अग्नि को यह स्थिर बिजली है ऐसा देखा। वह आकाश को गलाए हुए सोने के रससे लीपे हुए फर्शसा दिखलाती थी। निकल रही चिनगारियों से आकाश के तारों को दुगुना बना रही थी और उन्हीं चिनगारियों से आकाश में वक्षस्थल में स्थित ज्वालारूपी बालवनिता के नयनों को आनन्द देनेवाले कटाक्षों से आनन्द देती थी ॥४६,४७॥ ज्वालाओं के धाँय धाँय शब्दों से आकाश के मध्यभाग को उसने गुँजा दिया था और गुफारूपी गृह से निकले हुए निद्राविहीन वनचरों को भ्रम में डाल दिया था ॥४८॥ आधे जले हुए सिंह, बाघ और पक्षी उसमें इधर–उधर भाग रहे थे, तालाब और नदियों के खौलते हुए जल में उसने उत्कट वनचरों को पका डाला था ॥४९॥ चारों ओर से घेर रही ज्वालाओं से जल रहीं बालचमरियों से वह बड़ी भली दिखाई देती थी। जल रहे वन्य जीवों की वसा की गन्ध से उसने बादलों को आवृत्त कर दिया था। प्रलयाग्नि के समान भीषण फैल रही पूर्वोक्त वनाग्नि ने रेंग रहे साँप की तरह आपके आश्रम के साथ आपका शरीर और उस प्राणी का शरीर जला डाला ॥५०,५१॥ व्याध ने कहा : हे मुनिवर, वहाँपर उक्त अग्निदाह का क्या कारण उपस्थित हुआ ? वह वन और वे आपके शिष्यगण सबके सब एक साथ कैसे नष्ट हो गये ? ॥५२॥ मुनि ने कहा : हे व्याध, जैसे संकल्प के नाश और उदय में संकल्प करनेवाले पुरुष का मनस्पन्द ही कारण है, वैसे ही त्रिजगत्का संकल्प करनेवाले विधाता का तुरन्त प्रवृत्त हुआ मनस्पन्द ही त्रिजगत् है। उसके विनाश और उदय में भी उसका मनस्पन्द ही हेतु है। जैसे लोक में हृदय में भय आदि वश क्षोभ, अक्षोभ (शान्ति) आदि में तुरन्त प्रवृत्त हुआ मन का स्पन्द

ही कारण है वैसे ही तीनों जगतों के क्षोभ और अक्षोभ में (शान्ति में) वही (हिरण्यगर्भ का मनस्पन्द ही) हेतु है। चूँकि यह जगत् विधाता स्वप्ननगर ही है अतएव उनके मनका स्पन्द ही प्रजा जनों के उदय, क्षय, क्षोभ, वृष्टि, अनावृष्टि आदि का कारण है ॥५३-५५॥ ब्रह्माजी का मानस संकल्प ही इस समष्टि त्रिलोक का कारण है। वह समष्टि त्रिलोक भी अन्य चिदाकाश में कल्पित है तथा वह भी दूसरे चिदाकाश में कल्पित है, इस प्रकार मायाशबल चिदाकाश की कल्पना की परम्परा का अन्त नहीं है। निष्कृष्ट दर्शन में तो चिदाकाश में चिदाकाश की शोभा ही विकसित होती है यों विद्वानों की निर्मल दृष्टि है लेकिन मूर्खों की आपात दर्शनरूप यह दृष्टि जैसी भासती है तन्मयी ही है परमार्थ में वह सत् नहीं है यानी अलीक (मिथ्या) ही है ॥५६,५७॥

एक सौ पचासवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्यावनवाँ सर्ग

मुनि के आश्रम के साथ पूर्वोक्त दोनों शरीर भस्म कर चुकी अग्नि और भस्म की वायु द्वारा शान्ति तथा स्वप्न में जाग्रत् की स्थिति का वर्णन।

अन्य मुनि ने कहा : मुने, वहाँपर वे दोनों शरीर, आश्रम, नगर, वे सब घर और सब पेड़ सबके सब अग्नि द्वारा सूखे हुए तिनके के समान झटपट राख बन गये ॥१॥ और अत्यन्त सन्ताप से जिसकी शिलातक चटक गई थी ऐसे उस आश्रम में विद्यमान तुम्हारे सोये हुए दोनों शरीर भस्म हो गये। सम्पूर्ण वन को पूर्णरूप से जलाकर वह आग जैसे सारे समुद्र को पीकर अगस्त्यजी विरत हुए वैसे ही पहले अंगारमात्र शेष होकर शान्त हुई तदुपरान्त अदृष्ट हो गई ॥२,३॥ उक्त अग्नि के अदृश्य होनेपर वायु पहले दीप्त फिर शीतल हुई भस्मराशि को पुष्पराशि की तरह कण कण करके सबकी सब उड़ा ले गया ॥४॥ उसके उपरान्त न मालूम वह आश्रम कहाँ गया और यह भी नहीं मालूम होता है कि वे दोनों शरीर कहाँ गये। बहुत से लोगों का पिटारीरूप निवासस्थान वह नगर जाग्रत्पुरुष के स्वप्ननगर की तरह न मालूम कहाँ चला गया ॥५॥ जब इस तरह आपका तथा उस प्राणी का शरीर अभाव को प्राप्त हो गया तब आप स्वप्न के भ्रम से ग्रस्त थे और अब स्वप्नमय शरीररूपसे आपकी संवित् स्फुरित होती है। इसलिए (जलने के कारण) कहाँ बाहर निकलने का द्वारभूत उसका गले का छिद्र, कहाँ आपका वह विराट् पुरुष प्राणी क्योंकि ओज के साथ ही जले हुए उसका ओज सहित ही तुच्छ शरीर जलकर राख हो गया ॥६,७॥ हे मुने, इस कारण आपको वे दोनों शरीर प्राप्त नहीं हुए। आप जिसका कोई पारावार नहीं है ऐसे स्वप्नसंसाररूपी इस जाग्रत् में स्थित हैं ॥८॥

जाग्रत और स्वप्न का भेद नहीं है, ऐसा जो पहले कहा था, उसका हमने स्पष्ट निर्देश कर दिया इस आशय से कहते हैं।

हे सुन्दर आचरणवाले मुनिजी, इस तरह आपका यह स्वप्न ही जाग्रत् बन गया। यहाँ हम सब लोग आपके स्वप्नपुरुष हैं। आप हमारे स्वप्नपुरुष है और हम आपके स्वप्नपुरुष हैं। यह चिदाकाश ही सर्वदा (तीनों अवस्थाओं में)अद्वितीय स्वभाव में स्थित है ॥९,१०॥ पहले स्वप्नपुरुष होते हुए भी जबसे आपको मैं जाग्रत्पुरुष हूँ ऐसी प्रतीति हुई तब से जाग्रत पुरुष बनकर गृहस्थाश्रम में स्थित

हैं ॥११॥ जैसे घटना घटी थी वह मैंने आद्योपान्त सम्पूर्ण आपसे कही। यदि मेरे कथन पर सन्देह हो तो आप भी ध्यान से इस अनुभूत दृश्य को स्वयं पूर्ण रूप से देखेंगे। इस तरह आदि मध्य रहित अनन्तरूप यह संवित्–घन चिन्मयात्मा ही अपनी विकसनशक्ति के उछाल से चंचल शरीर होकर अपने में दुष्कर्मों के फलरूप खराब, सत्कर्मों के फलभूत उत्तम और मिश्रित कर्मों के फलभूत मिश्रित विकासरूप सृष्टियों द्वारा आकाश में सुनहले प्रकाश की भाँति विकसित होता है, अन्य नहीं॥१२,१३॥

एक सौ इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बावनवाँ सर्ग

अन्य मुनि द्वारा मुनिजी की स्वप्नपदार्थों की सत्यता–शंका का निवारण।

मुनि ने कहा : हे व्याध, यह कहकर रात्रि के समय वह मुनिमहाराज अपने बिस्तर पर चुप हो गये। तदुपरान्त मारे आश्चर्य के मैं भी आँधी के बवण्डर में पड़ा हुआ–सा हो गया। तदनन्तर बहुत देर बाद सन्नाटा भंग करते हुए मैंने कहा : हे मुनिप्रवर, हे विभो, तब तो इस प्रकार सारा स्वप्न यथार्थ है ऐसा मैं समझता हूँ। *'मे मतिः' कहने से असंभावना द्वारा आश्चर्य प्रकट किया*॥१,२॥ अन्य मुनि ने कहा : हे मुने, यदि जाग्रत् वस्तु सत् होती तो यह स्वप्नादि सत् है यों आश्चर्य होना ठीक था। किन्तु जहाँपर यह जाग्रत् दृश्य ही मिथ्याभूत है वहाँपर स्वप्न की सत्यता का क्या कहना है अर्थात् वह तो नितांत मिथ्याभूत है॥३॥ जैसे स्वप्न का भान होता है वैसे ही आदि में इस जाग्रत् दृश्य का भी भान होता है। यह जाग्रत् पृथिवी आदि से रहित होनेपर भी पृथिवी आदि से युक्त प्रतीत होता है॥४॥ हे व्याधमहागुरो (♨) इस प्रकार दृश्यमान आज के हम लोगों के स्वप्न से भी जाग्रत् के नाम से प्रसिद्ध सर्गरूपी स्वप्न निर्मल चैतन्यमात्रस्वरूप है यानी स्वप्न के बराबर भी उसका अस्तित्व नहीं है। हे कमलनयन (🕮) इस विषय में आप उपपत्ति सुनिये॥५॥ जाग्रतकाल में देखे गये पद और उसके अर्थ द्वारा बुद्धि में अपना संस्कार डालने से स्वप्नवाले आपको रात्रि में स्वप्न में स्वाप्निक शब्द और उसके अर्थकी प्रतीति हुई। संस्कार आदि की सामग्री होने से भले ही स्वप्न सत्य हो सकता है, किन्तु सृष्टि के आदि में प्रसिद्ध सर्गरूप स्वप्न पूर्वदृष्ट अर्थवाला होकर ही आकाश में विराजमान होता है। यानी चिरप्रलय का महान् व्यवधान होनेपर पूर्वानुभव संस्कार आदि का सर्वथा उच्छेद हो जाने से यह सर्गस्वप्न स्वप्न की अपेक्षा भी अति तुच्छ ही है। उसके बराबर भी इसका अस्तित्व नहीं है, यह उपपत्ति है, यह भाव है॥६॥ इस प्रकार जाग्रत्–प्रपंच के अधिक मिथ्या होनेपर हे विभो, सारा स्वप्न सद्रूप है, यथार्थ है ऐसा मेरी समझ में आता है यों मतिपद से संदिग्धता–सी सूचित करते हुए क्यों कहते हो? स्फुटरूप से अनुभूत इस स्वगृह का अनुभव कर मेरे उपदेश से फिर स्वप्नध्यान में आपका उद्यम कैसे हुआ? क्योंकि कोई स्वप्न देखनेवाला यह स्वप्न मिथ्या है, ऐसा स्वप्न देखते समय नहीं जानता, यह तात्पर्य है॥७॥

(♨) 'व्याधमहागुरो' यह सम्बोधन आपकी अपेक्षा भी मन्दबुद्धि व्याध को समझाने के समय आपको उपपादन श्रम ज्ञात होगा, यह सूचित करने के लिए है।

(🕮) 'पुष्करपत्राक्ष' (कमलनयन) यह सम्बोधन केवल नेत्र के सौन्दर्य से यह विषय नहीं जाना जा सकता, यह सूचित करने के लिए दिया गया है।

जगत् का सत् रूप से ही अनुभव कर रहे आपके जगत् असत् है या नहीं इस सन्देह में कोई बीज भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे मुने, जब आप इस प्रकार इस विस्तारयुक्त स्वप्न जगत् का स्पष्टरूप से यह सत् ही है, ऐसा अनुभव करते हैं तब उसमें 'है या नहीं है' यह सन्देह कैसे हो सकता है ? इसके बाद यह सब कह रहे उन मुनि महाराज के वचन-प्रवाह को एक दूसरा प्रश्न उपस्थित कर मैंने बीच में रोक दिया और उनसे पूछा : महाराज, मेरी व्याधगुरुता कैसे है, यानी मैं व्याध का गुरु कैसे हूँ कृपया मुझे बतला दीजिये ॥८,९॥ अन्य मुनिने कहा : हे महामते, मेरे इस आख्यान को सुनिये, मैं दूसरा आख्यान आपसे संक्षेप से कहता हूँ। मेरे विस्तारयुक्त व्याख्यान का तो अन्त मिलना भी कठिन है ॥१०॥ हे मुने, मैं दीर्घ तपस्वी हूँ और आप अत्यन्त धार्मिक हो। मैं जब तक आप व्याधगुरु होओगे तब तक यहीं पर हूँ, आप भी यह मेरा सत्य वचन सुनकर यहीं अपने घर पर ही रति को प्राप्त होओगे ॥११॥ यहाँ पर स्थित हुए मुझे अनुगमन, भक्ति आदि सत्कार से आप नहीं छोड़ेंगे मैं भी आप लोगों के साथ यहाँ पर रहूँगा, यह निश्चय है ॥१२॥ हे साधो, तदनन्तर कुछ वर्षों के बीतनेपर यहाँ तुम्हारे सब बन्धुबान्धवों का दुर्भिक्ष से विनाश हो जायेगा। उसी समय वैर, बल आदि से उन्मत्त हुए सीमाप्रान्त में स्थित छोटे-मोटे राजाओं के आपसी युद्ध से इस गाँव के अधिकांश प्राणी मर जायेंगे, बचे-खुचे थोड़े से जीव भी गाँव छोड़कर भाग जायेंगे उसके बाद आपस में एक दूसरे से आश्वासित अतएव दुःख का नाम निशान न जाननेवाले, शान्त विदितवेद्य (ज्ञातज्ञेय) होने के कारण दोनों एक से तथा सकल पदार्थों में निस्पृह, समान आचरणवाले हम दोनों यहीं एक निर्जन जगह में कहीं पेड़ों के झुरमुट के बीच चन्द्रमा और सूर्य के समान निवास करेंगे। हमारे निवास करने से इस अरण्य में समय बीतनेपर लता, वृक्षों का उत्तम वन उग जायेगा। वह शाल, ताल, लता के समूह से सारे भूतल को वेष्टित कर लेगा ॥१३-१७॥ उस वनका क्या वर्णन करूँ ? वह ताड़, तमाल के पत्तों के नाच से दिशाओं को अलंकृत करेगा, उसमें खिले हुए कमल वनों द्वारा नीचे चरणों को पकड़ने (छूने) के कारण वन्दनीय से वृक्ष फूलों से विकसित रहेंगे और मधुर ध्वनि कर रहे चकोरों के झुण्डों से उसके लता-निकुंज अत्यन्त मनमोहक रहेंगे। अधिक क्या कहूँ वह वन स्वर्ग से उतरा हुआ नन्दनवन-सा स्थायी होगा ॥१८॥

एक सौ बावनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरपनवाँ सर्ग

व्याध के आगमन आदि की उक्ति से मुनि में व्याधगुरुता का समर्थन तथा
समय पर विवेक से सर्वैकात्म्यरूप विज्ञान का वर्णन।

अन्यमुनि ने कहा : हे मुनिवर, हम लोग उस वन में चिरकाल तक तप करते रहेंगे, तब मृगों का पीछा करने से थका हुआ व्याध आयेगा। उसे आप स्वभावतः पवित्र विविध कथाओं द्वारा उपदेश देंगे। वह विरक्त होकर उसी वन में तपस्या करेगा। तपस्वियों की चर्याओं के अभ्यास से शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति के बाद वह व्याध आत्मज्ञान जानने की इच्छा से आत्मज्ञान की भूमिका के रूप से स्वप्न जिज्ञासु होकर स्वप्न कथा पूछेगा। उसके पश्चात आप स्वप्न के प्रसंग से उसके लिए अखण्ड

आत्म–ज्ञान का उपदेश देंगे। उसे ग्रहणकर वह योग्य हो जायेगा। इस प्रकार से आप उसके गुरु होंगे। इस कारण हे मुनिवर, मैंने आपको 'व्याधगुरो' इस सम्बोधन से पुकारा है। जिस प्रकार यह संसार भ्रम है, जैसा मैं यहाँपर हूँ और जैसे आप यहाँपर हैं एवं जो आगे आपका होनेवाला है वह सब मैंने आपसे कहा ॥१–६॥ इस प्रकार कहनेपर विस्मय से व्याकुल हुई बुद्धि से इस दृश्यजगत का विचार कर मैं और भी आश्चर्य को प्राप्त हुआ। इसके बाद रात्रि खुलनेपर प्रातःकाल के समय उन मुनि महाराज का मैंने ऐसा आदर सत्कार किया कि जिससे वे मेरे घर पर ही रह गये। उसके बाद तो उस अरण्यस्थित घर में और पूर्वजन्म के उस गाँव के घर में परस्पर प्रचुर प्रीतिवाले स्थिरबुद्धिसम्पन्न हम दोनों रहे। तदनन्तर ऋतु, वर्ष आदि रूप काल के बीतने पर जैसे पर्वत वनाग्नि, वृष्टि आदि का ग्रहण और त्याग करता है, वैसे ही मैं भी अनिष्ट, इष्ट और इष्टअनिष्टमिश्रित भावों का ग्रहण और त्याग करता हुआ स्थित हूँ। न तो मैं मरण की इच्छा करता हूँ और न जीवन की अभिलाषा करता हूँ। जैसे स्थित हूँ वैसे ही बिना सन्ताप के रहता हूँ। तदुपरान्त मैंने वहाँपर दृश्यमण्डल के विषय में विचार किया 'यह क्या है, क्या इसका कारण है ? और यह आत्मा इसको चित्त से क्या जानता है ?' एकमात्र चिदाकाशस्वरूपी स्वप्नसदृश जगत् में यह पदार्थसंघात क्या है और क्या इसका निमित्त कारण है ? चिदेकघन स्वभाव में स्थित चिन्मात्रआकाशरूप ही ये द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, विविध पर्वत, अनेक नदियाँ, दिशाएँ सबके सब विकास को प्राप्त है ॥७–१४॥ चित्रूपी चन्द्रिका चारों ओर जिस अवभास (प्रकाश) का विस्तार करती है वह यह जगत्रूप चित्र, जो कि स्थूल न होने के कारण प्रतिघात के योग्य स्वभाववाला नहीं है, आकाश में भासित होता है ॥१५॥

यदि कोई कहे कि पर्वत आदि स्थूल होने से प्रतिघात के योग्य हैं, वे अप्रतिघातस्वभाव कैसे होंगे ? इसपर कहते हैं।

न ये पर्वत हैं, न यह भूमि है, न यह आकाश है, न मैं ही हूँ ? यह सब केवल चिन्मात्रआकाश के स्फुरण का भान है ॥१६॥

यदि यह चिन्मात्र–कचन (स्फुरण) ही है तो इस पदार्थराशि का कोई कारण नहीं है, क्योंकि इसके शरीर ग्रहण और उसके हेतु अप्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

इस पदार्थराशि का शरीर ग्रहण में क्या कारण हो सकता है ? कारण के बिना भला किसी वस्तु का संभव हो सकता है ? ॥१७॥

तब यह भ्रान्ति ही हो, ऐसी आशंका कर भ्रान्तिपक्ष में भी निमित्त, द्रष्टा आदि का निरूपण संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यदि इसको केवल भ्रान्ति ही मानो, तो भ्रान्ति का क्या कारण है, उस भ्रान्ति का कौन द्रष्टा है, कौन मनन करनेवाला है, वह कैसा है और कहाँ है ? ॥१८॥ संविन्मात्ररूप मैं जिसके शरीर में प्रविष्ट होकर दृश्यवर्ती ओज में रहा वह प्राणी मेरे शरीर के साथ ही पूर्णतया भस्म हो गया ॥१९॥ इसलिए उसका शरीर, मेरा शरीर आदि का अस्तित्व न होने के कारण यह सब आदि अन्त शून्य चित् की आभारूप आकाश ही है। कर्ता, कर्म, और करण से विहीन क्रमशून्य यह चिद्घन ही है। यह घट, वस्त्र, दीवार आदि सब चिदाकाश का स्फुरण है। अतः घट, पट आदि स्पष्ट आकार धारण

करनेवाले कहाँ से हो सकते हैं ? ॥२०,२१॥

'यह चिन्मात्र का स्फुरण है' यह बुद्धि भी 'राहुका सिर' इस कथन के समान केवल विकल्पमात्र ही है, क्योंकि षष्ठीतत्पुरुष समास के प्रयोजक भेद और सम्बन्ध की प्रसिद्धि नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यह चिन्मात्र का स्फुरण भी नहीं है, केवल चिन्मात्रआकाश है। उसका स्फुरण क्या और कैसा ? क्या आकाश का भी स्फुरण होता है, भला उसका स्फुरण कैसे होगा ? ॥२२॥ यह जगत् समुद्र के फेन की तरह चिद्रूप सागर का फेन है। इसका नवीन स्फुरण क्या होगा ? यह अनन्त चिद्घन परमात्मा स्फुरणस्वभाववाला ही स्थित है ॥२३॥ शुद्ध चिन्मात्र-स्फुरण वृद्धि को प्राप्त चिद्घन ब्रह्म ही इस जगत् के समान अवभासित होता है, ऐसी अवस्था में कहाँ दृश्य है और कहाँ द्रष्टृता है ? ॥२४॥ कालतः आदि अन्त से शून्य, असीम, देशतः आदि-मध्यहीन वस्तुतः एक अद्वितीय अतएव कारणरहित, कार्यरहित और कार्यकारण के अधीन प्राणियों से रहित, स्वतःसत्ताप्रधान स्वसत्ता से ही भुवन आदि की सत्ता का निर्वाह करने के कारण नाना अनानारूप-सा वाणी और मन का अगोचर जो विभु चेतन है, वही सब कुछ है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है ॥२५॥

एक सौ तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौवनवाँ सर्ग

मुनि द्वारा विचार से उत्पन्न अपनी जीवन्मुक्त स्थिति तथा
अभ्यासहीन व्याध की परम पद में अनवस्थिति का वर्णन।

मुनिजी अपने विचार की फलभूत जीवन्मुक्तस्थिति का विस्तार से वर्णन करते हैं।

मुनि ने कहा : हे व्याध, इस प्रकार निर्णय करके मैं इस दृश्य में सन्तापरहित, वीतराग (आसक्तिरहित), शंकारहित, अहंकाररहित, निर्वाण (मुक्त) स्वरूप स्थित हूँ ॥१॥ अद्वैत होने के कारण न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसी का आधार हूँ, अभिमानरहित, आश्रयविहीन, निज चित्स्वभाव में स्थित, स्वयं शान्त सर्वथा उदित सृष्टिरूप मैं स्थित हूँ ॥२॥ व्यवहारतः यथाप्राप्त कृत्य का कर्ता हूँ, किन्तु यथार्थतः कभी भी कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि जो स्वयं ही निष्क्रिय आकाश है, उसका कर्तृत्व कैसा ? ॥३॥ द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, विविध पर्वत, नदियाँ दिशाएँ आदि सकल भूत सब जीवों के एकमात्र चित्स्वरूप सत् चिदाकाश ही हैं ॥४॥ हे व्याध, मैं शान्त हूँ, चारों ओर से आनन्दसागर में मग्न हूँ, दुःखसम्पर्कशून्य केवल आत्मसुख में स्थित हूँ, न मेरे लिए कोई विधि है और न निषेध ही है। न मेरे लिए कुछ बाह्य है और न कुछ आन्तर है ॥५॥ हे व्याध, इस प्रकार जैसी स्थिति है उसके अनुकूल यहाँपर स्थित हुए मेरे सामने आज काकतालीय के समान तुम प्राप्त हुए हो ॥६॥ इस प्रकार मेरे पास प्राप्त होकर मुझसे पूछ रहे तुमसे जैसा स्वप्न है, जैसे हम लोग हैं, जैसा जगत् है, जैसे तुम हो, जैसा यह दृश्य है, जैसे तुम इस प्रपंच के द्रष्टा हो, जैसा यह देह, इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आभ्यन्तरिक) दृश्य है, जैसा यह सामने दिखाई दे रहा भौतिक दृश्य है, उनमें जैसे राग, द्वेष, त्याग, ग्रहण आदि भाव हैं, जैसा ब्रह्म है और जैसी यह सामने दृश्यमान जनता है यह सब पूर्वोक्त वर्णन के

अनुसार मैं कह चुका हूँ। हे लुब्धक, इन सबको मिथ्या जानकर तुम शान्त होओगे, क्योंकि यह चिदाकाशरूपिणी आत्मसत्ता शान्त ही है अशान्त नहीं है। अथवा आत्यन्तिक दृश्यशान्ति ही आत्मशान्ति है ॥७–९॥

स्पष्ट रीति से प्रतीत हो रहे मनुष्य, देवता, पशु–पक्षी, पर्वत, पेड़ आदि की स्वप्नतुल्यता अत्यन्त असम्भव हैं इस बात को व्यंग्य से सूचित करता हुआ लुब्धक कहता है।

व्याध ने कहा : हे मुनिजी, यदि ऐसी बात है तो मैं, आप और सब देवता सबके सब आपस में स्वप्नपुरुष होने से सत् होते हुए भी असत्मय हो जायेंगे ॥१०॥ मुनिजी ने कहा : हे व्याध, जैसा तुम कहते हो वैसा ही यह सब परस्पर स्वप्न के समान स्थित है। यह अपने में सत् तथा अन्य लोगों में असत् प्रतीत होता है, क्योंकि वैसा ही इसका सबको अनुभव होता है ॥११॥ दृश्य को जिसने जैसा जाना वैसा वह उसका अनुभव करता है। दृश्य वस्तु नाना है और एक भी है, जैसे एक घड़ा नाना कपाल, कपालिका आदि उनकी अवयवपरम्परा से परमाणु पर्यन्त नाना वस्तुरूप और एकत्व की प्रतीति से एकवस्तुरूप भी है जो नानात्व (भेद) दर्शी हैं उनके लिए उन दोनों में से एकत्व असत् है और जो एकत्त्वदर्शी हैं, उनके लिए नानात्व असत् है। भेदाभेद दर्शियों के लिए दोनों विकल्प से सत् और दोनों असत् हैं। तत्त्वज्ञानियों के लिए तो जाग्रत में स्वप्ननगर के सदृश तथा पहले कभी दृष्टिगोचर न हुए दूर देशस्थ दृश्यमान नगर के तुल्य वेदनमात्र होने के कारण एक भी नहीं है ऐसा अनुभव से सिद्ध है, अतएव यह न एक है, न सत् है, न असत् है और न सत्असत् है। हे व्याध इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ कह दिया, निरन्तर सदुपदेशों से तुम्हें बोधित किया है। तुम भी स्वयं ज्ञानवान् हो सब कुछ जानते हो, इसलिए जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो ॥१२–१४॥ हे व्याध, प्रकृष्ट बोधवाले यद्यपि इस प्रकार तुम पूर्णरूप से बोधित हुए हो तथापि तुम्हारी बुद्धि स्वाभिमत जगत्सत्यत्वभ्रम में ही विश्राम को प्राप्त हुई है, परमपद में क्षण–भर भी विश्राम को प्राप्त नहीं हुई ॥१५॥ यह बोध अभ्यास द्वारा अत्यन्त परिपक्व हुए बिना हृदय के अन्दर वैसे ही प्रविष्ट नहीं होता जैसे कि जलधारण कार्य के निमित्त छीलने–तराशने आदि से निर्मित कमण्डलु के आकार में परिणत हुए बिना काठ के अन्दर जल नहीं प्रविष्ट होता ॥१६॥

अभ्यास से बोध की चरमविश्रान्ति सिद्ध होने पर चित्त को ही चरमविश्रान्ति का अनुभव रखनेवाले पुरुष निर्वाण कहते हैं, ऐसा कहते हैं।

एकमात्र गुरु और शास्त्र के सेवनरूप अभ्यास से बोध के परमपद में विश्रान्त होनेपर द्वैत और अद्वैत दृष्टियों की शान्ति होने पर चित्त निर्वाण कहलाता है ॥१७॥

अपने द्वारा उक्त अर्थ में भगवद्वचन की संमति दिखलाते हैं।

अन्दर अभिमान और मोह से रहित और बाहर संगदोषोंपर विजय पाये हुए, अन्दर और बाहर नित्य आत्मा में लीन, चारों ओर आनन्दरूप आत्मा का पूर्ण ज्ञान होने से सकल कामनाओं से विहीन तथा प्रिय–अप्रिय आदि द्वन्दों से, जिनसे सुख–दुःख का भलीभाँति ज्ञान होता है, सर्वथा निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी लोग विष्णुभगवान् के निर्वाणनामक परमपद को प्राप्त होते हैं ॥१८॥

एक सौ चौवनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचपनवाँ सर्ग

व्याध की मूढ़ तपस्या से प्रसन्न भगवान् के वरदान से आकाशगति, कायवृष्टि और मृत्यु का वर्णन।

अग्नि ने कहा : हे वत्स, यह सुनकर वह व्याध उस समय उस वन में इसके पश्चात् चित्रलिखित की तरह मारे आश्चर्य के स्तब्ध हो गया। अपने अभ्यास के बिना उसके चित्त को परमपद में विश्राम नहीं मिला, अतः वह बेचारा मारे आश्चर्य के उद्भ्रान्त-सा समुद्र में बहाया जा रहा-सा हो गया। वह चक्र में चढ़ा हुआ-सा अथवा किसी सिद्ध द्वारा अपने तपोबलरूपी चक्रवात से (आँधी से) हरा गया-सा तथा मगर द्वारा आक्रान्त-सा विवश हो गया, उसमें किसी प्रकार की शक्ति नहीं रह गई। क्या यह निर्वाण होगा अथवा अन्य निर्वाण होगा ? इस सन्देह से उस मूर्ख को नवयौवनवान् के समान शान्ति नहीं मिली। चूँकि यह जगत् अविद्या ही है, यह बात हृदय में भलीभाँति नहीं ठहरती है, इसलिए यह जगत् अविद्या नामकी ब्रह्मशक्ति द्वारा उत्पादित सत्य ही है ऐसा चिन्तन करता हुआ मैं इस दृश्य का कहाँ अवसान होगा यह बात तपस्या द्वारा शरीर प्राप्त कर, पृथ्वी से आरम्भ कर, दूर होने के कारण ऊँचे शरीर से जाकर देखूँगा। भाव अभाव स्वरूप इस दृश्य के अवसान में (असंसारप्रदेश में) मैं सुख-से रह सकूँगा, इसलिए जहाँपर आकाश भी नहीं है वहाँ मैं जाता हूँ। ऐसा हृदय में विचार कर वह कोरा मूर्ख ही रहा। मुनिजी ने बड़े विस्तार के साथ अनेक दृष्टान्तों और उपपत्तियों से युक्त जो उपदेश दिया था, वह अभ्यास के बिना भस्म में किये गये हवन के तुल्य व्यर्थ चला गया। उसके पश्चात् तभी से उक्त निर्णयवश ही व्याधता को छोड़कर वह मुनियों के साथ तपस्या करने के लिए उद्यत हुआ। तपस्वियों के लोक में तपस्वी लोगों में प्रसिद्ध भावनाओं से सदा तपस्वियों के साथ निवास करते हुए उसने अनेक हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की ॥१-१०॥ तपस्या करते हुए उसने किसी समय फिर उन मुनि महाराज से प्रश्न किया : हे मुने ! मेरी आत्मा में विश्रान्ति कब होगी ? इस पर मुनिजी ने उससे कहा ॥११॥ हे व्याध, मैंने तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, वह पुरानी लकड़ी के अन्दर स्थित थोड़ी-सी आग के समान तुम्हारे हृदय में स्थित है। इस समय उसने जलाने के योग्य भी दृश्यरूप अनर्थपर आक्रमण नहीं किया है। 'जीर्ण लकड़ी के अन्दर स्थित थोड़ी-सी अग्नि के समान' इस कथन से जन्मान्तर में वह उद्बुद्ध होगा, यह सूचित किया है। अभ्यास न होने के कारण तुम कल्याणकारी तत्त्वज्ञान में विश्रान्त नहीं हुए हो। किन्तु अभ्यास से समय आनेपर तुम पूर्णरूप से ज्ञान में विश्रान्ति को प्राप्त होओगे ॥१२,१३॥ हे व्याध, अब तुम निर्णय का वर्णन कर रहे मुझसे अपना यह भावी वृत्तान्त सुनो। वह कानों के लिए भूषणरूप है तथा भूतल में कोई भी मन से भी उसकी सम्भावना नहीं कर सकता, अतः अद्भूत है ॥१४॥ तुम आत्मा को जानने के लिए प्रस्तुत तो हो, किन्तु प्रसिद्ध ज्ञानरूपसारता से तुम्हें उसका बोध नहीं हुआ, अतएव तुम्हारी बुद्धि झूले की तरह डोल रही है, अतः न तुम मूर्ख ही हो और न पंडित ही हो। यह विस्तारयुक्त अविद्यारूपी जगत् कितना विशाल होगा ऐसी केवल अपने मनोरथ की कल्पना से तुम तपस्या करने के लिए उद्यत हुए हो। जिस तरह तुम इस समय तप कर रहे हो इसी प्रकार सैकड़ों युगों तक (सैकड़ों युगों तक व्याध का जीवन असंभव होने से अनेक जन्मों तक यह अर्थ अर्थतः प्राप्त होता है) तुम्हें बड़ी-कड़ी तपस्या करनी होगी। तदनन्तर ब्रह्माजी तुम्हारे ऊपर

प्रसन्न होकर देवताओं के साथ तुम्हारे समीप आयेंगे ॥१५–१७॥ हे श्रेष्ठ, तुम वर देनेवाले ब्रह्माजी के समक्ष अपनी सहज उद्दण्डतावश निज मनोरथ से कल्पित संशयराशिरूप यह वर माँगोगे – 'हे ब्रह्माजी, इस दृश्यरूप अविद्याभ्रम के ज्ञात होनेपर दर्पण के तुल्य स्थित ब्रह्म में प्रतिबिम्बरूप मल से रहित कोई प्रदेश नहीं है, जहाँपर पहुँचकर मेरी विक्षेपशून्य स्थिति हो सके। चूँकि परमाणु के तुल्य अत्यन्त सूक्ष्म आकारवाले अन्दर स्थित इस चिदाकाशरूपी दर्पण में यत्र तत्र (सर्वत्र) यह जगद्रूप दृश्य प्रतिबिम्ब होता है, अतएव इसमें प्रतिबिम्बरूप मल से रहित कोई प्रदेश नहीं है। हे ब्रह्माजी, अतः साविद्य (अविद्यासहित) चिति की यह स्थिति है, इसलिए यह अविद्याप्रयुक्त अनर्थकारी दृश्य कहाँतक (कितनी दूरीतक) होगा, उस दृश्य के बाद (परली पार) अनन्त निरविद्य (अविद्या रहित) ब्रह्म कितनी दूरी तक होगा, आकाश की तरह संसारशून्य उस ब्रह्म को मैं जाकर अवश्य ही देखूँगा ॥१८–२१॥ हे देवाधिदेव, इस प्रकार की वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए यह निम्ननिर्दिष्ट वर आपसे चाहता हूँ। हे विधे, उसे आप बिना किसी विघ्नबाधा के शीघ्रातिशीघ्र मुझे दीजिए। यह मेरा शरीर चिरकाल तक निरोग रहे, इसकी मृत्यु स्वाधीन हो, यह गरुड़ के सदृश वेग से युक्त होकर आकाशगामी हो। इसका प्रत्येक अंग प्रतिक्षण एक योजन बढ़े, बढ़ते बढ़ते समय–क्रम से तीनों लोकों के बाहर जाय और आकाश के तुल्य विशालरूप हो ॥२२–२४॥ हे परमेश्वर, इस प्रकार आकाश सहित इस असीम दृश्य का अन्त मुझे प्राप्त हो, यही परम वर मुझे मिले ॥२५॥ हे सज्जन, ऐसी जब तुम प्रार्थना करोगे तब देवाधिदेव प्रभु ऐसा ही हो यों तुम्हें वर देकर अन्तर्धान हो जायेंगे ॥२६॥ स्वर्गाधिपति देवाधिदेव श्रीब्रह्माजी के देवताओं के साथ चले जानेपर तपस्या से कृश हुआ तुम्हारा शरीर चन्द्रमा के समान कान्तिमान् हो जायेगा ॥२७॥ उसके बाद मुझसे पूछकर नमस्कार कर उसी समय दिव्यशरीरधारी तुम चित्त में स्थित त्रिलोक का अन्त देखने की उत्कट इच्छा से मेरे आश्रम से आकाश में चढ़े हुए दूसरे बड़वानल–से उड़ जाओगे। तदनन्तर दृश्य जगत् तथा आकाश के अन्त तक पहुँचने के लिए गरुड़ के सदृश वेग से दौड़ रहा तुम्हारा शरीर, जो कि उन्मत्त प्रलयसागर की तरह अपार आकाश की निरवकाशता को पूर्ण करनेवाला होगा, नदियों के अन्त की तरह त्रैलोक्य के अन्त में निरन्तर बढ़ता ही जायेगा ॥२८–३१॥ महाकाश में निरन्तर बढ़ रहे अतएव विशालकाय हुए तुम रोक–टोक के बिना ही आधारभूत अनन्त आकाश में चढ़ने से परमार्थभूत महाकाश की शून्यता से उत्पन्न हुई आँधियों के सदृश सृष्टियों को देखोगे जो अज्ञाततास्वभावरूप द्रवता की वृद्धि से आविर्भूत चित्समुद्र के तरंगरूप हैं। जैसे संवित्घन स्वप्न में शून्यरूप नगर आदि प्रकाश में आते हैं वैसे ही उस समय बिना रोक–टोक के अनेकों सृष्टियाँ तुम्हारे दृष्टिगोचर होगी। जैसे क्षोभित आँधियों से पत्तों की राशियाँ आकाश में छितरा जाती हैं वैसे ही महाकाश में छितराई हुई अनन्त सृष्टियों को अक्षीण संकल्पवाले तुम देखोगे। जैसे महलों के अन्दर बैठी हुई महिलाओं को चित्र विचित्र झरोखों से बाहर स्थित नृत्यसभा का सत्यत्व दर्शन रुचता है और जिनको नहीं रुचता है ऐसी स्त्रियों के लिए विचित्र वातायन सत् होते हुए भी प्रायः असत् है वैसे ही चिदाकाश में रहता हुआ भी असद्रूप ही है। भूमि में स्थित सब लोगों को धुआँ, कुहरा, धूलि आदि का समूह चन्द्रमण्डल से सटा हुआ–सा दिखाई देता है लेकिन चन्द्रमण्डल में स्थित लोगों की दृष्टि से वह जैसे अत्यन्त असत् है ठीक वैसे ही जगत् भी आत्मा के अभेद को प्राप्त हुए तत्त्ववेत्ता में अत्यन्त असत्

है। फिर सृष्टि फिर आकाश, फिर सृष्टि फिर आकाश इस प्रकार देखते देखते तुम्हारा लम्बा समय वहाँ बीत जायेगा। तदनन्तर दीर्घकाल के बाद महामहिमाशाली अव्यक्त आकाश में, जिसमें सृष्टिरूपी पत्ते इधर उधर स्फुरित होते हैं, तुम स्वयं ऊब जाओगे। तदनन्तर तपस्या के फल का अनुभव करते हुए तुम उद्वेग को प्राप्त होगे तब तुम अनन्त आकाश को भर डालनेवाले अपने विशाल शरीर को देखोगे और कहोगे : यह मेरा कुत्सित शरीर भी क्या है ? जिसमें लाखों मेरु आदि महापर्वत भी तृण के तुल्य लघु हैं, यह मेरे लिए भारभूत-सा हो गया है। मेरा यह शरीर बेप्रमाण हो गया है मैंने इससे सारे आकाश को व्याप्त कर दिया। आज भी मैं आकाश को भरता जाता हूँ, किन्तु आगे क्या होगा यह मेरी भी समझ में बिलकुल नहीं आता है ॥३२-४२॥ हाय, मुझे यह दृश्यरूप अविद्या भीषण और असीम प्रतीत होती है। कोई भी सम ब्रह्मज्ञान के बिना इसका आरपार नहीं पा सकता ॥४३॥ सम्पूर्ण अवकाश को ढक चुके इस शरीर का मैं अवश्य त्याग करता हूँ। इस अतिविशाल कुशरीर से मैं साधुसंगति, सत्शास्त्र का अभ्यास अथवा अन्य मोक्षसाधन कुछ प्राप्त नहीं कर सकता ॥४४॥ असीम ओर-छोर रहित और आकाश में निराधार स्थित यह मेरा शरीर भी क्या है जिससे कि तत्त्वज्ञानियों का संगम दुर्लभ है ॥४५॥ ऐसा विचारकर तुम प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालने वाली योगधारणा कर जैसे पक्षी खाये हुए फल से बचे हुए नीरस छिलका, गुठली आदि हिस्से का त्याग करता है वैसे ही उस शरीर का त्याग करोगे ॥४६॥ शरीर का त्यागकर वायु से भी सूक्ष्म तुम्हारा जीव प्राणवायु से युक्त होकर वायु की तरह उस आकाश में स्थित होगा ॥४७॥ जिसके पंख कट चुके हों ऐसे महान् मेरु की तरह तुम्हारा महान् शरीर गिरेगा। भूलोक के पर्वत आदि सबको चूर-चूर करेगा ॥४८॥ तब पूर्वोक्त रक्तरहित भगवती काली मातृमण्डल के साथ उस शरीर को पूर्ववर्णन के अनुसार गणोंसहित खा जायेगी, इससे भूमि निर्दोष हो जायेगी ॥४९॥ हे सुव्रत, इस तरह तुम सारा आत्मवृत्तान्त सुन चुके हो, तालीवन में तपस्याकर जैसा चाहते हो वैसा करो ॥५०॥

आगे आनेवाले अपने दृढ़संकल्प-फलको सुनकर उससे खिन्न हुआ व्याध उसके प्रतीकार का कोई उपाय है, या नहीं यह पूछता है।

व्याध ने कहा : हे भगवन्, क्या मुझे यह अक्षय दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा ? हाय मैंने क्लेश भोगने के लिए पुरुषार्थ के भ्रम से व्यर्थ दुःख का ही संकल्प द्वारा समर्थन किया। हे श्रेष्ठतम मुनिजी, यह भावी वस्तुस्थिति आपने मुझसे कही। यह भवितव्यता जिस युक्ति से टल जाय वैसी भी कोई युक्ति है या नहीं है, कृपया यह मुझसे कहिये ॥५१,५२॥ मुनिजी ने कहा : हे व्याध, अवश्यंभावी अर्थ को कोई कदापि टाल नहीं सकता, क्योंकि वह आधुनिक प्रयत्नों से नष्ट नहीं हो सकता। जैसे पुरुष को अपने शरीर में भी बाएँ अंग को दाहिना और दाहिने को बायाँ तथा सिर को पैर और पैरों को सिर बनाकर अदल-बदल करने की सामर्थ्य नहीं है वैसे ही उसे भावी अर्थ को अन्यथा करने की भी सामर्थ्य नहीं है ॥५३,५४॥

ज्योतिषशास्त्र आदि में उक्त उपायों से उसका ज्ञानभर हो सकता है उसको उलटना शास्त्रों की भी सामर्थ्य के बाहर की बात है, ऐसा कहते हैं।

ज्योतिषशास्त्र के परिज्ञान से भावी पदार्थ का ज्ञान होता है, किन्तु शास्त्र इससे कुछ अतिरिक्त अपूर्व कार्य कदापि नहीं कर सकते ॥५५॥

तब तो पूर्वजन्म के दृढ़संकल्पजनित कर्मों के अनन्त होने से कदापि मोक्ष नहीं होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

जो पुरुषश्रेष्ठ पूर्वकृत सुकृतों से आधुनिक शम, दम आदि साधनों को प्राप्त कर ब्रह्मज्ञान करानेवाले श्रवण, मनन आदि उपायों द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्तकर ब्रह्मरूप से ही सो गये जगत्–दर्शन के लिए जागे नहीं वे प्राक्तन सब कर्म और दुष्ट संकल्प आदि का, भले ही वे अत्यन्त दृढ़ क्यों न हो, उच्छेदकर उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं, लोगों के वन्दनीय होते हैं, अन्य नहीं ॥५६॥

एक सौ पचपनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छप्पनवाँ सर्ग

वायु में स्थित व्याध का जीव राजा सिन्धु बनकर विदूरथ को मारकर
अपने मन्त्री के मुँह से अपना तत्त्व सुनेगा, यह वर्णन।

देह का त्यागकर प्राणयुक्त वायु से भी सूक्ष्म तुम्हारा जीव वायु की तरह उस महाकाश में रहेगा ऐसा जो मुनि महाराज ने पूर्व सर्ग में कहा था, उसे सुनकर व्याध उसके बाद का अपना भविष्य पूछता है।

व्याध ने कहा : हे भगवन्, उसके बाद जब कि मेरा शरीर नीचे पृथिवीपर गिर जायेगा तब विस्तीर्ण आकाश में बसनेवाले मेरा क्या हाल होगा ? ॥१॥ मुनिजी ने कहा : हे सौम्य, तुम्हारे उस विशाल शरीर के विनष्ट होनेपर उस अव्याकृत आकाश में तुम्हारा क्या होगा, यह तुम ध्यान देकर सुनो। उक्त शरीर के नीचे गिरनेपर प्राणयुक्त तुम्हारा जीव उस अत्यन्त विशाल अव्याकृताकाश में वायु का लेशरूप होगा। उसी वायु के लेश में तुम्हारा चित्त हृदयस्थ (वासनामय) सामने स्थित विशाल भूतल आदि जगत् को वैसे ही देखेगा जैसे कि तुम स्वप्न में देखते हो। तदनन्तर महती चित्तवृति (महामना) होने के कारण या चित्तवृत्ति के ही जगत् के आकार से महान् होने के कारण तुम्हारा जीव वहाँपर 'मैं राजा हूँ' यह देखेगा, इस प्रकार भूतल में संकल्पित अर्थ का भागी होगा। वहाँपर उसकी एकाएक शीघ्र ऐसी प्रतिभा अपने आप उदित होगी कि मैं सामन्तों द्वारा अत्यन्त सत्कृत श्रीमान् सिन्धुनाम का राजा हूँ। पिताजी तपस्या करने के लिए जब वन को चले गये तब पिता द्वारा दिया गया चार समुद्रवाली पृथिवी का राज्य आठ वर्ष की अवस्थावाले मुझे प्राप्त हुआ। सीमा के अन्त में विदूरथ नाम से प्रसिद्ध राजा मेरा शत्रु है। जिसे बिना प्रबल प्रयत्न के परास्त करना कठिन है। यह राज्य करते मेरे सौ वर्ष बीत गये हैं। अहा मैंने अपने स्त्री–पुत्र नौकर–चाकरों के साथ खूब सुख –भोग किया। दुःख है, यह मेरे सीमान्त का राजा कोष, बल आदि में बढ़ा–चढ़ा है इसके साथ मेरा घोर संग्राम उपस्थित है। यह चिन्तन कर रहे तुम्हारा वहाँपर राजा विदूरथ के साथ चतुरंगिणी सेना का विनाश करनेवाला तुमुल युद्ध होगा। तुम रथरहित होते हुए भी तलवार से विदूरथ की जंघाओं को काटकर उसे महान् युद्ध द्वारा धराशायी करोगे। तदनन्तर चार सागरों से परिवृत्त भूतलपर तुम्हारा निष्कंटक राज्य होगा, लोकपाल भी भयभीत होकर तुम्हारे शासन का आदर करेंगे। वह तुम सिन्धु नामक राजा बनकर सकल भूमण्डल को स्वायत्त कर पंडित और मन्त्रियों के साथ निम्न लिखित कथाएँ करोगे। मन्त्री कहेगा : महाराज, यह अत्यन्त आश्चर्य की

बात है जो महाराज ने विदूरथ को युद्ध में यों परास्त किया और यमलोक पहुँचाया ॥२-१५॥ तुम कहोगे : हे मन्त्रिवर, मैं धनवान् हूँ और प्रलयकाल के समुद्र के समान मुझमें बल है, ऐसी अवस्था में भला बताओ तो शत्रु राजा विदूरथ मेरे लिए क्यों अजेय होगा। मन्त्री कहेगा : महाराज, उसकी लीला नामकी पत्नी है उसने घोर तपस्या द्वारा निर्विकार जगन्माता देवी सरस्वती को अपनी माँ के रूप से स्वीकार किया है। भुवनों को पैदा करनेवाली देवी सरस्वती पुत्री के रूप से स्वीकृत लीला के मोक्ष आदि महान् कार्यों को भी अनायास क्रीड़ा से ही सिद्ध कर देती है। वह भगवती देवी केवल शाब्दिक वर से ही जगत् को भी क्षणभर में अजगत् बना डालती हैं आपका विनाश (तिरस्कार) करने में भला उन्हें क्या क्लेशरूप असामर्थ्य हो सकती है ? ॥१६-१९॥ राजा सिन्धु कहेगा : मन्त्रिवर, तुमने बहुत उचित कहा। यदि ऐसा है तो विदूरथ को परास्त करना मुश्किल ही था, अतः युद्ध में जो वह मारा गया यह तो बड़ा ही आश्चर्य का विषय है। इस प्रकार के भगवती देवी के प्रसाद से युक्त राजा विदूरथ उस युद्ध में क्यों विजयी नहीं हुआ ? ॥२०,२१॥

मन्त्री कहेगा : हे कमलनयन, कभी भी खेद को न प्राप्त होनेवाले उसने सदा भगवती देवी की यही प्रार्थना की थी कि संसार से मेरा मोक्ष हो। इस कारण सत्य संकल्पवाली भगवती सरस्वती ने उसे मोक्ष दिया, अतएव उसने युद्ध में स्वयं पराजय का वरण किया ॥२२,२३॥ सिन्धु कहेगा : मन्त्रिवर, यदि ऐसा है तो मैं भी सदा ही देवी की पूजा करता हूँ। फिर वह परमेश्वरी मुझे मोक्ष क्यों नहीं देती ? ॥२४॥ मन्त्री कहेगा : महाराज, वैखरीपर्यन्त सब शब्दों की बीजभूत संविद्रूप भगवती सदा सबके हृदय के अन्दर रहती है वही सरस्वती कही गई है। आत्महितैषिणी उक्त भगवती की जो जो जैसी प्रार्थना करता है, उसके लिए वह स्वयं ही वैसा वर प्रदान करती है। उस वरप्रदान से उसकी सत्यसंकल्पवती चिति ही वर-फल के रूपसे अनुभूत होती है। हे शत्रुतापन, आपने मोक्ष के लिए उसकी प्रार्थना नहीं की, किन्तु आपने आत्महितैषिणी संविद्रूप उक्त भगवती की शत्रुनाश के लिए प्रार्थना की है ॥२५-२७॥ राजा सिन्धु कहेगा : मेरी तरह विदूरथ ने भी राज्य के लिए शुद्ध संविद्रूप उसकी प्रार्थना क्यों नहीं की ? अथवा विदूरथ की तरह मैंने मुक्ति के लिए उसकी प्रार्थना क्यों नहीं की ? ॥२८॥

आपकी स्वेच्छानुसारिणी प्रवृत्ति के विषय में मेरे प्रति यह प्रश्न उचित नहीं है, ऐसी आशंका कर उसका तात्पर्य प्रकाशित करते हैं।

हे मन्त्रिवर, मेरे चित्त में बैठी हुई यानी मेरी आत्मभूत भी सद्रूप यह भगवती सरस्वती मुझे मोक्ष की इच्छारूप विज्ञप्ति देकर साधनसम्पत्ति द्वारा मेरे मोक्ष के लिए क्यों चेष्टा नहीं करती ? ॥२९॥ मन्त्री कहेगा : हे प्रभो, शत्रुनाश करनेवाले महाराज का पूर्वजन्म का अशुभ अभ्यास है, इसलिए आपने देवी को प्रणाम कर मुक्ति के लिए देवी की प्रार्थना नहीं की ॥३०॥

देवता स्वतन्त्ररूप से अनुग्रह नहीं करते, किन्तु भक्त की चित्तवृत्ति के अनुसार ही अनुग्रह करते हैं, इस विषय में 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्' श्रुति प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं।

जिसका चित्त जैसा होता है, वह जीव वैसा प्रलयपर्यन्त रहता है। जो बात आबाल प्रसिद्ध है, उसे कौन उलटा सकता है ? ॥३१॥ जो पुरुष निर्मल संवित् से अपने चित्त में निर्मलरूप जिस किसी को

चाहे वह राज्य हो, चाहे मोक्ष हो, चाहे अन्य कुछ हो दृढ़अभ्यास बनाकर जानता है वह सत् हो, चाहे उस समय में असत् हो या चाहे सत्असत् विलक्षण हो वही अन्य सब वासनाओं को कुचलकर बिना किसी विघ्नबाधा के स्वयं ही अवश्य हो जाता है, दूसरा कोई भी तत्फलभूत नहीं है ॥३२॥

एक सौ छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्तावनवाँ सर्ग

सिन्धु के तामसतामस जन्म का वर्णन तथा
विवेकवश राज्य का त्याग कर रहे सिन्धु की अन्त में मुक्ति का वर्णन।

इसके पश्चात् सिन्धु कहेगा : हे आर्य, मैं मन्दमति पूर्व जन्म में किस अनार्य योनि में पैदा हुआ था, जिसके कारण मेरे पूर्वजन्म के कुसंस्कार ने मुझे संसारसागर में पटका ? मन्त्री कहेगा : हे राजन्, क्षणभर सावधान चित्त होकर पूर्वजन्म का रहस्य सुनिए। आज मेरे द्वारा प्रेरित होकर अज्ञान का विनाश करनेवाले मेरे वचन को आप हृदय में धारण करेंगे ॥१,२॥

पूछी गई सिन्धु के जीव की प्राक्तन स्थिति का वर्णन करने के लिए ब्रह्म ही उपाधि के संसर्ग से जीवभाव को प्राप्त होता है यह कहने की इच्छा से आद्य ब्रह्मरूप स्थिति को दिखलाते हैं।

आदि–अन्तरहित निर्विकार ब्रह्मशब्दवाच्य मन और वचन का अगोचर सत् ही तुम, मैं इत्यादिरूप से स्थित है यानी सर्वात्मा है ॥३॥ वह ब्रह्म मैं चित् हूँ, इसलिए चेतूँ ऐसी संकल्पसंवित् को स्वयं ही प्राप्त होकर समष्टि–व्यष्टि चित्त बनकर चित्तरूप उपाधि में, उपाधि का त्याग न करता हुआ, जीव–सा होकर रहता है ॥४॥

वह शरीर (उपाधि) कौन है जिसका त्याग न करता हुआ जीवात्मा को प्राप्त हुआ है ? इस पर उस शरीर को ही कहते हैं।

आकाश के समान निर्मल चित्त को तो आप आतिवाहिक शरीर जानिये।*(शंका – तब यह स्थूल शरीर क्या है ?)* समाधान – केवल चित्तरूप आतिवाहिक शरीर ही है उससे अतिरिक्त आधिभौतिक आदि शरीर यहाँ नहीं हैं ॥५॥ वह चित्त ही परलोक, इहलोक आदि तथा स्वप्न, जाग्रत, जीवन, मरण, भोग, मोक्ष आदि संकल्पों से निराकार होकर भी साकार जगत् की तरह स्थित है ॥६॥

इस रहस्य का ज्ञान तत्त्वज्ञानियों को ही हो सकता है, उनसे अन्य को नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

जैसे तत्त्वज्ञ लोग ही जो वायु है वही स्पन्दन है यह जानते हैं वैसे ही अनाकार चित्त को यह महान् जगत् है, ऐसा जानते हैं ॥७॥ जैसे आकाश और शून्यता दोनों एक ही हैं वैसे ही जगत् और चित्त दोनों एक ही हैं (अभिन्न ही हैं) अप्रतिघरूप जगत् के आकार की कल्पना में निरंकुशसामर्थ्यवाले चित्त में तनिक भी भिन्नता (द्वितीयता) नहीं है। मिथ्या होने के कारण अकिंचित् हृदयस्थ वासनारूप जगत्–जाल बाहर की तरह कुछ–सा स्थित है। जगत् को आप निराकार जानिये, क्योंकि उसका सर्जनहार चित्त ही वास्तविक नहीं है। प्रथम सृष्टि के समय सात्त्विक देवताओं से रचितरूप होने के कारण सत्त्वरूप हिरण्यगर्भ का समष्टिशरीर ब्रह्मपद से उदित हुआ। यह समष्टिरूप ही व्यष्टिभाव

में तामस विषयोंपर आसक्तिवश पहले उत्पत्तिप्रकरण में उक्त रीति के अनुसार राजस, सात्त्विक आदि तेरह विभागों के क्रम से आज आपका तामस-तामस जीव हो गया है ॥८-१०॥ सिन्धु कहेगा : हे महाभाग ! तामस-तामस क्या कहा जाता है ? यह कृपया मुझसे कहिये। परमपद में ये संज्ञाएँ पहले की ही किसने ? ॥११॥

अपरिच्छिन्न आत्मा की हिरण्यगर्भरूप से माया द्वारा परिच्छिन्नता करने पर हिरण्यगर्भ ही सब संज्ञाएँ करता है, ऐसा कहते हैं।

मन्त्री कहेगा : जैसे यहाँ सावयव जन्तु के हस्त आदि अवयव हैं, वैसे ही अवयवविहीन आत्मा की आतिवाहिकता है। फिर आत्मा में यानी स्वव्यष्टि जीवों में वह समष्टिरूप आत्मा ही नाना संज्ञाएँ करेगा। और आतिवाहिक समष्टिभूत स्वदेह के पंचीकरण द्वारा आधिभौतिक नाम धारण करनेपर उनके अवयवों में पृथिवी आदि संज्ञाएँ करेगा। वही आत्मरूपी संकल्प से स्वप्नतुल्य यह जगत्‌भान होनेपर नाम-रूप की कल्पना कर आत्मरूप व्यष्टिभाव से स्वयं ही व्यवहार करेगा। व्यवहार में व्यष्टिभावकल्पना होनेपर तुम्हें लक्ष्य कर सृष्टिसंकल्परूप से (व्यष्टिभाव से) जो हिरण्यगर्भ 'यह महात्मा है' यों स्फुरित हुआ इसी कारण तुम्हारी आतिवाहिकाकार जाति तामस-तामसी नामसे प्रसिद्ध की गई ॥१२-१५॥

केवल यही एक संज्ञा नहीं हुई, किन्तु ब्रह्म का जीवभाव होनेपर मित्र उपाधियों के गुणों के अनुसार राजस, सात्त्विक आदि तेरह संज्ञाएँ की हैं, ऐसा कहते हैं।

हे प्रभो, निर्विकार ब्रह्म के विकारी से होकर जीवभाव को प्राप्त होनेपर विविध नाम की जातियों की कल्पनाएँ की गई ॥१६॥

मुक्ति की शीघ्रता और विलम्ब में प्रयोजक चित्त के गुण और दोषों के कारण ही जीवों के जातिभेदों की कल्पना हुई, यह दिखलाते हुए उनमें पाँच जातियों को विभाग कर दिखलाते हैं।

यदि कल्प के आदि में सर्वप्रथमतः ही ब्रह्म जीवता को प्राप्त हो तो उसी जन्म में स्वाभाविक ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त बुद्धि से विषयभोग करनेवाला जीव उसी जन्म में मुक्तिलाभ करता है। उसकी जाति सात्त्विकसात्त्विकी होती है, जैसे कि सनक, सनन्दन आदि की ॥१७॥ हे सम्मानप्रद, कुछ समय तक जन्म के हेतु अज्ञान के रहने पर उसी जन्म में ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सुन्दर गुणों से युक्त होकर यदि मुक्ति होती है तो वह जाति की जानकारी रखनेवालों में श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा केवल सात्त्विक जाति कही जाती है। जो जाति कल्पादि में नूतन रूपसे प्रकट होकर बहुत जन्मों द्वारा भोगों के भोगनेपर क्रमशः मोक्षभागिनी होती है, जातिज्ञ विद्वान् उस जाति को राजस राजसी जाति कहते हैं ॥१८,१९॥ पाँच दश जन्म के परवर्ती काल तक उस कल्प में विवेक आदि उत्तम गुणों से रहित जो जाति बहुत से जन्मों के बाद विवेक आदि उत्तम गुणों को प्राप्त करती है, वह केवल राजसी जाति है। कल्पादि से लेकर अति प्रचुर स्थावर, कीट, पतंग आदि योनियों से अन्त में मोक्षभागिनी हो तो जाति जाननेवाले सज्जन उस जाति को तामसतामसी कहते हैं। अनुत्कृष्ट (तुच्छ) राक्षस, पिशाच, शूद्र आदि अनेक जन्मों से यदि मोक्षभागिनी हो तो जातिविशारद उस जाति को केवल तामसी कहते हैं ॥२०-२२॥ हे सत्कारकारिन्, इस क्रम से जातियों के अनेक भेदों

की कल्पना है उन जातियों में से आप इस तामस–तामसी जाति में उत्पन्न हुए हैं ॥२३॥ महाराज, आपके अनेक जन्म व्यतीत हो चुके हैं। हे वीर, उन विविध विचित्र जन्मों को मैं जानता हूँ, आप उन्हें नहीं जानते। इसी भेद से महाशव शरीरवाले तथा असीम आकाशगामी आपने यह समय व्यर्थ बिताया है। इस प्रकार जब आप तामसतामस जन्म से उत्पन्न हुए हैं, तब आपका इस संसाररूपी गर्त से छुटकारा पाना दुर्लभ है ॥२४–२६॥ सिन्धु कहेगा : यह प्राक्तन अधम तामसतामसी जीवजाति किस उपाय से दबाई जा सकती है। हे आर्य, उस उपाय को कहिये। यदि वैसा कोई शोधक प्रकार होगा तो मैं जीवनभर उसी प्रकार से रहूँगा। अतएव कृपया उसे कहिये ॥२७॥

मन्त्री कहेगा : हे महामते, इस त्रिलोकी में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उद्वेग रहित (निर्वेदरहित) पुरुषप्रयत्न से उपलब्ध न हो सके। जैसे आज के सत्कर्म से कल का दुष्कर्म शोभनता को प्राप्त होता है, मिट जाता है वैसे ही आप उसी पौरुष प्रयत्न से प्राक्तन अधम जाति पर विजय पाकर सत्कार्यवान् होइए। जो जिस पदार्थ की अभिलाषा करता है उसके लिए वह वैसा ही प्रयत्न करता है यदि वह थक कर बीच में ही निवृत्त न हो जाय तो उसे अवश्य प्राप्त करता है। मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है और तन्मय होकर जैसी भावना करता है और जैसा होने की इच्छा करता है वैसा ही होता है अन्यथा नहीं होता है ॥२८–३१॥

मुनि ने कहा : इसके बाद मन्त्री द्वारा इस प्रकार उक्त वह राजा सिन्धु राज्यभारविहीन बुद्धि से उसी समय वहीं पर सारे राज्य को तिलांजलि दे देगा। दूर वन में चला जायेगा, मन्त्रियों के बहुत अनुनय–विनय करनेपर भी फिर निष्कंटक उस विशाल राज्य को नहीं अपनायेगा। साधुओं के बीच में सत्संग कर रहे सिन्धु में उनकी विचारपूर्ण ज्ञानमय कथाओं से फूलों के संसर्ग से सुगन्ध की तरह विवेक उत्पन्न हो जायेगा। उसके पश्चात् कैसे यह जन्म हुआ, कहाँ से संसार आया, यों निरन्तर विचार करने से वह जीवन्मुक्त हो जायेगा। वह राजा सिन्धु सत्संगतिवश नित्य विचारनिमग्न होकर परम पावन उस मोक्षपद को प्राप्त होगा जिस मोक्षपद में हिरण्यगर्भ तक का ऐश्वर्य वायु से उड़ रहे सुखे पत्ते की तरह उपादेय नहीं होता, किन्तु तुच्छ ही होता है ॥३२–३६॥

एक सौ सतावनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठावनवाँ सर्ग

मुनिजी का वचन सुनकर व्याध का तप करना,
ब्रह्माजी के वरदान से आकाश में उड़ना तथा शव होकर भूमि पर गिरना आदि का वर्णन।

मुनिजी ने कहा : हे व्याध, यह सब भविष्य में होनेवाली घटनाका अतीत की तरह मैंने तुमसे वर्णन किया। इस समय जैसा तुम चाहते हो वैसा सोच समझकर भलीभाँति करो। अग्नि ने कहा : हे विपश्चित्, मुनि के पूर्वोक्त वचन सुनकर मारे आश्चर्य के घबड़ाया हुआ व्याध एक क्षण सोचकर शीघ्र स्नान करने के लिए गया और मुनिजी भी स्नानार्थ गये। बिना किसी कारण के आपस में मित्र बने हुए व्याध और महामुनि दोनों ने इस प्रकार शास्त्रचिन्तन करते हुए तपस्या की ॥१–३॥ इसके अनन्तर मुनिजी तो थोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त हो गये। वे आयु के अवसान में अपनी पंचभौतिक

देह छोड़कर परम पद में लीन हो गये। (📖) तदुपरान्त सौ युगरूप चिरकाल में व्याध की मनोकामना को पूर्ण करने के लिए भगवान् ब्रह्मा आये। बेचारा व्याध अपनी वासना का वेग रोक नहीं सका, अतएव मुनिजी द्वारा पहले व्यर्थरूप से वर्णित वर को जानते हुए भी उसने वही वर ब्रह्माजी से माँगा। श्रीब्रह्माजी 'ऐसा ही हो' यों वांच्छित वर उसे देकर अपने लोक को सिधारे एवं व्याध अपनी तपस्या का फल भोगने के लिए पक्षी की तरह आकाश में उड़ा। उसने पर्वत की तरह वर के अनुसार निरन्तर बढ़ रहे शरीर से त्रैलोक्य से ऊपर अव्याकृत आकाश को बड़े वेग से अगणित समय में पूर्ण कर दिया। गरुड़ के से महावेग से तिरछे, ऊपर और नीचे आकाश को पूर्ण करने में उसका बहुत समय व्यतीत हुआ। इसके अनन्तर जब चिरकाल में उसे अविद्यारूप भ्रमका अन्त प्राप्त नहीं हुआ तब तो उसका अन्त देखने के विषय में उसने अपनी हार मान ली, उसे वैराग्य हो गया। तदनन्तर वैराग्य होने के कारण प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालनेवाली योगधारणा बाँधकर उसने आकाश में प्राणों का त्याग किया और नीचे भूमितल में शवभूत अपने शरीर का त्याग किया। उसका प्राणवायु से युक्त चित्त उसी अव्यक्तआकाश में सम्पूर्ण पृथिवी का पालन करनेवाली तथा राजा विदूरथ की शत्रुभूत पूर्वोक्त सिन्धुता को प्राप्त हुआ॥४-१२॥ सैकड़ों मेरु पर्वतों के से आकार का उसका शरीर महाशव सा हुआ। दूसरी पृथ्वी के सदृश विशालकाय वह आकाश से वज्र की भाँति नीचे गिरा। ब्रह्मा के किसी जाग्रत भ्रमरूप किसी आकाश में केशों के गोले के समान प्रतीत हुआ, जो गिरने के पहले पृथिवी में उतरने की सीढ़ी के समान और गिरने के बाद पृथिवी के विशाल ढकने के समान स्थित था। उस शव ने अपने आकार से सारी पृथिवी और पर्वतों को आच्छन्न कर दिया। हे श्रेष्ठ विपश्चित्, यह मैंने उस महाशव का तुमसे वर्णन किया। जिस भूतलरूप जगत् में वह शव गिरा वही हम लोगों की स्वप्ननगरी के समान जगत् के रूप में स्फुरित हुआ। उसी महाशव का भक्षण कर पहले तिनके की तरह सूखी हुई भगवती चंडिका देवी भरी पूरी होकर बड़ी तोंदवाली तथा रुधिर और अँतड़ियों से पूर्ण होकर लाल हो गई। इस शव के ही हिमालय पर्वत के समान प्रचुर मेद से पूर्ण हुई पृथिवी मेदिनी नाम से प्रख्यात हो गई। तभी यह महामेदा मिट्टी बन गया फिर समय पाकर यह पृथिवी उत्पन्न होकर मिट्टी की हो गई। महाशव के गिरने से पहले के वन आदि विनष्ट हो चुके थे, अतः फिर से वन उगे, फिर से नगरों के साथ गाँव बसाये गये। पहले चूर-चूर हुए पर्वत फिर से जैसे पहले थे उसी रूपरेखा में पाताल से बाहर निकले। तदुपरान्त लोगों का कारोबार चलने लगा॥१३-२०॥

एक सौ अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

(📖) समाधि में मुनि को दीर्घतर काल के भी अल्प प्रतीत होने से 'अल्पेनैव कालेन' कहा है। यद्यपि यहाँपर यथाश्रुत ग्रन्थ के अनुसार पहले मुनि का शरीरत्याग, उसके अनन्तर चिरकाल के बाद व्याध की मनोकामना पूर्ण करने के लिए ब्रह्माजी का आगमन प्रतीत होता है तथापि पूर्व सर्ग में मुनिजी ने जो भविष्यवाणी की थी उसमें व्याध के वर पाने के बाद ''मामापृच्छन्नमस्कृत्य'' यानी मुझे पूछकर नमस्कार कर उसी क्षण में वह 'तुम चित्त में वासनारूप से स्थित पदार्थ को देखने की इच्छा से आकाश में उड़ोगे', ऐसा मुनि ने कहा है, अतएव व्याध के ऊपर जाने के समय मुनिजी का जीवन था ही उसके पीछे ही उनका देहत्याग हुआ ऐसा समझना चाहिये।

एक सौ उनसठवाँ सर्ग

अग्नि का विपश्चित् से अपना इन्द्रलोक गमन कहना तथा
बहुत से आश्चर्यों का वर्णनकर अन्त में ब्रह्मतत्त्व का वर्णन करना।

अग्नि ने कहा : हे श्रेष्ठ विपश्चित्, तुम स्थिर होने से फिर प्रस्तुत व्यवहार से सम्पन्न भूतल में पहुँचकर स्वाभिमत दिशा को जाओ। प्रजावर्ग के स्वामी देवराज इन्द्र सौवाँ यज्ञ करने को प्रस्तुत हैं, उन्होंने उसमें मन्त्र द्वारा मुझे निमन्त्रित किया है, अतः हे गतिकोविद, मैं वहाँ जाता हूँ॥१,२॥ भास ने कहा : भगवान् अग्नि यह कहकर मूर्तिरूप से वहीं पर अन्तर्हित हो गये तथा अग्नि के रूप से विद्युत (बिजली की) अग्नि की तरह निर्मल आकाश में गये। और मैं भी चित्त में अपने प्राक्तन अविद्या के अन्त-दर्शनविषयक संस्कारों को स्वयं धारण करता हुआ फिर अपना दिगन्तगमनरूप कर्म करने के लिए आकाश में घूमने लगा। फिर मैंने आकाश में असंख्य जगतों को देखा। उन सबके भिन्न-भिन्न आचार-विचार थे और भिन्न-भिन्न रूपरेखाएँ थीं॥३-५॥ हे महाराज दशरथ, कहींपर परस्पर मिले हुए (एकत्र हुए) छत्रमय अंगवाले प्राणी भासते थे, उनमें चेतना थी, वे मन्द मन्द गति से चलते थे और दर्शकों के हृदयों को हरते थे॥६॥ हे रघुकुलतिलक, कहींपर पर्वत के से आकारवाले सब प्राणी पार्थिव देहधारी प्रतीत होते थे, उनमें चेतना थी और वे मन्द मन्द गति से चलते थे। कहींपर काष्ठमय देहवाले जीव शोभा पाते थे, तो कहींपर पाषाणमय शरीरवाले अनेक प्राणी थे। कहींपर जीवनभर प्रस्तर प्रतिमा के समान सब एक ही जगह स्थित रहते थे। उनका परस्पर संभाषण आदि द्वारा केवल वाणीमात्र का व्यवहार होता था, गमन आगमन आदि व्यवहार उनमें नहीं था। इन सबको मैंने स्वचित्ताकाश में देखा। इस प्रकार चिरकाल तक देख रहा स्वप्न की तरह मनोमात्र देह होने के कारण नष्ट हो रहा मैं अविद्या का अन्त न पाकर अविद्या तथा दृश्यवर्ग के विषय में निर्वेद को प्राप्त हो गया। इस प्रकार निर्वेद को प्राप्त हुआ मैं किसी एकान्त स्थान में जाकर मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मतत्त्वालोचनरूप तपस्या करने के लिए तत्पर हुआ। तदनन्तर इन्द्र ने मुझसे कहा : हे विपश्चित्, चित्ताकाश में मेरी और तुम्हारी मृगरूप दूसरी योनि उपस्थित है, इसलिए यह आत्मतत्त्व विचार का अवसर नहीं है। मैं अल्पपुण्य हूँ, अतएव कदाचित् मुझमें मृगयोनिप्रापक दुष्कृत की संभावना हो सकती है, आप तो महापुण्यशाली हैं आपकी मृगयोनि में गमन की संभावना कैसे हो सकती है ? मेरी इस आशंकापर उन्होंने कहा : प्राक्तन अभ्यास से विवश हुआ मैं भी स्वर्गभोगयुक्त संमोह में (दुर्वासाजी के अपराध में) प्रवृत्त हूँ। आकाश में मन्दारवन में घूम रहे मेरी उस मोह में प्रवृत्ति हो गई॥७-१२॥ उनके (देवराज इन्द्र के) यह कहने पर मैंने उनसे निवेदन किया : देवाधिदेव, मैं संसार से ऊब गया हूँ, अतः शीघ्र मुक्त होना चाहता हूँ। मेरा यह कथन सुनकर उन्होंने मुझसे कहा। शीघ्र मुक्ति तो 'मैं तीन अवस्थाओं से और मूर्त-अमूर्त रूपसे रहित विशुद्ध आत्मा ही हूँ' इस तत्त्वज्ञान से ही होती है। यह तुमने पहले व्याध मुनि संवाद वर्णन के प्रसंग से अग्निदेव के मुखारविन्द से सुना ही है। इसलिए तुम दूसरा वर माँगो ऐसा इन्द्र के कहनेपर मैंने उनसे अन्य यानी मृगता के बाद मेरा आगे क्या होगा यह परिज्ञानरूप वर माँगा॥१३,१४॥ इन्द्र ने कहा : हे विपश्चित्, तुम्हारी यह चिति चिरकाल से मृगयोनि तक ही संसार में आना चाहती है। मैंने

तुम्हारा यह अवश्यम्भावी वृत्तान्त देख लिया है। मृग होकर तुम राजा दशरथ की महापुण्यसभा में पहुँचोगे। वहाँ मेरे द्वारा कहा गया वह अखण्ड ज्ञान तुम्हारी समझ में आ जायेगा ॥१५,१६॥ संसार से खिन्न हुए तुम उस पृथिवी तल में हिरन बनो। इस क्रम से सभा को प्राप्त होकर वसिष्ठजी के अनुग्रह से यह सारा व्यर्थ आत्मवृत्तान्त तुम्हारे स्मृतिपथ में आरूढ़ होगा ॥१७॥ तुम्हारा उक्त वृत्तान्त स्वप्न की तरह, सारा का सारा मनोरथों द्वारा निर्मित-सा और परलोक में अनुभूत अर्थ के कथाप्रवाह में पतित अर्थ के तुल्य निष्फल है ॥१८॥

क्या मैं मृग-देह से यह सब स्मरण करूँगा ? इस प्रश्नपर 'नहीं' कहते हैं।

जब तुम मृगयोनि से मुक्ति पाकर पुरुष होओगे तब ज्ञानाग्निद्वारा देह के दग्ध होनेपर हृदयस्थ आत्मतत्त्व तुम्हें स्फुरित होगा। आत्मतत्त्व के स्फुरण से चिरकाल से हृदय में स्थित अविद्यानामक भ्रान्ति का त्यागकर स्पन्दशून्य वायु के समान निश्चल हुए तुम निर्वाण को प्राप्त होओगे ॥१९,२०॥ उक्त देवराज इन्द्र के यों कहनेपर उसी क्षण में 'यह मैं इस वन में हिरन हूँ' ऐसी मेरी निश्चित (व्यावहारिक अर्थक्रिया में समर्थ) प्रतिभा उद्भूत हुई ॥२१॥ तब से लेकर वहीं पर्वतपर मैं मन्दार के वन के भीतरी कोनों में तिनके और दूब के अंकुर चरनेवाला हिरन हो गया। तदुपरान्त किसी एक समय शिकार खेलने के लिए आये हुए सीमावर्ती सामन्त को देखकर मारे डरके मैं चौकड़ी मारकर भागा ॥२२,२३॥ हे रघुवर, तदनन्तर उसने मुझे पकड़कर घर ले जाकर तीन दिन अपने घर रक्खा, फिर वह आपकी क्रीड़ा के लिए मुझे यहाँ लाया ॥२४॥ हे निष्पाप, मैंने आपसे अपना यह सारा वृत्तान्त कह दिया है, जो संसार में प्रसिद्ध ऐन्द्रजालिक की माया के तुल्य विविध आश्चर्यों से पूर्ण है। इस प्रकार नाना शाखा-प्रशाखाओं से युक्त यह अविद्या अनन्त है, इसका आरपार नहीं है यह आत्मज्ञान के सिवा अन्य किसी उपाय से शान्त नहीं हो सकती ॥२५,२६॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : जब विपश्चित् यह कहकर वहाँ पर क्षणभर चुप हुआ तब श्लाघ्यमति श्रीरामचन्द्रजी ने उससे यह कहा ॥२७॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : अन्य का संकल्पभूत यह मृग यदि हम लोगों का दृष्टिगोचर हुआ है तो ऐसी स्थिति में असंकल्प पुरुष भी अन्य के संकल्परूप सृष्टि में वस्तुएँ देख सकता है, यह अर्थ सिद्ध हुआ। भला यह कैसे हो सकता है ? कृपया कहिये ॥२८॥

महामुनि, देवता आदि के वरदान, शाप आदि से अन्य संकल्पित भी पदार्थ संकल्परहित अन्य लोगों के दर्शन आदि व्यवहार के योग्य होता है यों श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर कहने के लिए पूर्वोक्त शव के पतन का ही अन्य निमित्त से वर्णन करने के लिए विपश्चित् प्रस्ताव करता है।

जिस जगत् में भूतल पर वह महाशव गिरा, शव गिरने से पहले उस भूमि की ओर मन्दारवन में स्वकृत यज्ञों की यजमानता के घमण्ड से अन्धे की तरह चल रहे इन्द्र ने यह मुनि हैं यह ज्ञान न होने के कारण यह मुर्दा है यों तिरस्कार से आकाश में ध्यान में बैठे हुए दुर्वासा ऋषिजी को पैर से ठोकर मार दी, इस कारण ऋषि क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा : अरे इन्द्र, तुम जिस भूमितल में जाना चाहते हो उसे ब्रह्माण्ड के तुल्य महा भीषण शव शीघ्र ही चूर चूर कर डालेगा ॥२९-३१॥ शवबुद्धि से तुमने मेरा जो यह तिरस्कार किया है इस कारण मेरे शाप से उस पृथिवी को तुम शीघ्र प्राप्त होओगे ॥३२॥ उन मुनि श्रीदुर्वासाजी ने विपश्चित् के साथ इन्द्र की मृगता के लिए भी 'तथा

देवमृगश्च त्वं तुल्यकालं विपश्चिता' (जितने समय तक विपश्चित् मृग रहेगा उतने ही समय तक तुम भी देवमृग रहोगे) इस वाक्य द्वारा जैसे विपश्चित् के मन से संकल्पित मृगत्व अन्य लोगों के दर्शन आदि अर्थक्रियाकारी है वैसा ही तुम्हारा भी हो यों उसे शाप दिया, इसलिए इन्द्र–शाप की कथा से ही मुनिजी के वचन के बल से यद्यपि विपश्चित् की मृगता संकल्पवश हुई थी फिर भी वह आप सरीखे सब लोगों की दृष्टियों की सदा विषय हुई है ॥३३॥

इस प्रकार जगत्प्रसिद्ध दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान कर तत्त्वदृष्टि से उसका समाधान करते हैं।

वस्तुतः विचार (व्यवहारिक जगत्) सत् है यह बात भी नहीं है और दूसरा (संकल्पित जगत्) असत्य है यह बात भी नहीं है। दोनों तुल्य हैं क्योंकि वह प्रतिभा ही वैसे (व्यावहारिक अथवा संकल्पितरूप से) उदित होती है। इसलिए उनमें क्या सत् है और क्या असत् है ? ॥३४॥

ब्रह्म के सर्वशक्ति और सर्वात्मक होने से भी कोई विरोध नहीं है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, युक्तियों के इस सिलसिले में स्पष्ट समझ में आने के लिए आप और भी दूसरी युक्ति सुनिये ॥३५॥ हे महाभाग, जिसमें सब कुछ है, जिससे सबका आविर्भाव हुआ है, जो सर्वात्मक है, सर्वव्यापक है उस सर्वशक्ति सर्वात्मक ब्रह्म में क्या नहीं हो सकता है ? संकल्प से उत्पन्न पदार्थ आपस में मेल नहीं खाता है यह भी उसमें उपपन्न है और संकल्पजनित परस्पर मेल खाता है, इसकी भी उसमें उपपत्ति है ॥३६,३७॥ सर्वात्मा में संकल्प से उत्पन्न पदार्थ परस्पर मिलता है, यह बात मृगदर्शन आदि में प्रत्यक्ष है। इस विषय में यह उपपत्ति भी लोक में है जहाँपर छाया है वहींपर धूप भी है। यदि ऐसा न हो तो वह सर्वात्मा ही कैसे होगा ? इसलिए सर्वस्वरूप ब्रह्म में संकल्पनगर परस्पर नहीं मिलता है यह सत् है, संकल्पनगर परस्पर मिलता है, यह भी सत् है। सर्वात्मा में सर्वत्र सब प्रकार से सर्वदा माया अघटितघटनापटीयसी होने से अति आश्चर्यमयी है, इसलिए भी सब कुछ घटना संभव है ॥३८–४०॥ अहा ! मन को मोह में डालनेवाली माया अति विषम है। जिसके कारण विधियाँ और निषेध दोनों एक जगह स्थिति को प्राप्त हुए ॥४१॥

केवल माया का ही नहीं ब्रह्मसत्ता का भी ऐसा ही माहात्म्य है, ऐसा कहते हैं।

यह ब्रह्मसत्ता भी ऐसी ही है यह अपने से अपना विविध रूपों में सर्जन करती है। उस ब्रह्मसत्ता से अविद्या अनादि और सादि भी अनूभूत होती है। यदि तीनों भुवन केवल ज्ञप्ति के (ज्ञान के) विकासरूप न होते तो महाप्रलय में नष्ट हुए भवनों का अनायास पुनः सर्जन कैसे होता ? कैसे अग्नि का अस्तित्व होता, कैसे वायु का अस्तित्व होता और कैसे भूमि की सत्ता होती, इसलिए स्वभाव–स्फुरण के सिवा जगत् अन्य नहीं है। महाकल्पपर्यन्त ही पृथिवी आदि का अस्तित्व है ऐसा माननेवाले जिन लोगों के लिए वेदान्त आदि, शास्त्र, विद्वानों के अनुभव और लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त प्रमाणभूत नहीं हैं उन निन्द्य–मतियों के साथ सज्जनों को संभाषण आदि नहीं करना चाहिये। इस चिद्विलासदृष्टि से सब कुछ क्षणभर में प्रमाण हो जाता है, अन्य दृष्टि से यह सब प्रमाण नहीं होता, किन्तु तुच्छ ही होता है, इसलिए विद्वान् पुरुष ज्ञानदृष्टिसिद्ध वस्तु को ही सारभूत समझते हैं। जैसे स्पन्दन से वायु की शोभा स्फुरित होती है वैसे ही शुद्ध ज्ञप्तिरूप ब्रह्मसत्ता 'मैं अविद्या हूँ' ऐसे चिन्तन से जगत्रूप में स्फुरित होती है। न

यहाँ कोई मरता है और न कोई उत्पन्न होता है। मैं मरा हूँ और यह मेरा जन्म है यह केवल चिदात्मक प्रतिभा ही है। मृत्यु अत्यन्त विनाश है। उसमें यदि दृश्यदर्शन हो तो वह सुषुप्ति सुखोपम निद्रा है फिर यदि दृश्य की प्राप्ति हो तो वह जीवित ही है। इसलिए यहाँ पर न मरण है और न जीवन ही है। एक चिन्मात्र स्फुरण जीवन-मरण दोनों ही हैं अथवा दोनों ही नहीं है। यदि चिन्मात्र में जीवन-मरण दोनों चेतित हो तो दोनों ही है यदि चेतित न हो तो दोनों ही नहीं है। चेतित एक ही है, अतः द्वैत की सत्ता और असत्ता की साक्षी चितिका सदा ही श्रेय है। भला बतलाइए तो चिन्मात्र से पृथक् जीवन ही क्या है? अक्षय होने के कारण वह दुःखलेशशून्य है, अतः किसको कहाँ दुःख है? जिस तत्त्वदृष्टि में वाचक सहित सब वाच्य (रूप) केवल चिदाकाश मात्र है उस तत्त्वदृष्टि में वह भिन्न है और वह अभिन्न है, ऐसी एकता और द्विता कैसे? जैसे जल में आवर्त, तरंग, बुद्बुद् आदि जलरूप हैं, वैसे ही परमात्मा में शरीर आदि परमात्मसत्तासन्निवेशभूत कारण से अभिन्न आकाशरूप ही हैं। केवल चिद्भानमात्र शान्त अनाकार या निर्दोष आकाश ही जगत् है। जो चिद्भान सुघन, अशान्त, द्रव्य और साकार के रूप में स्थित है यही महान् आश्चर्य है। वह जैसे अतीत में प्रतीतिका विषय नहीं है वैसे ही वर्तमान में भी अनुभूतिका विषय नहीं है। वर्तमान अनुभूति में यह शून्यात्मा ही दृश्यरूप पिशाच बन कर प्रतीत होता है, ऐसा आप समझिए। जैसे यह दृश्यमान आकाश है वैसे ही यह चिदाकाशरूप आकाश है, क्योंकि यह चिदाकाश ही आकाशरूप से प्रतीत आकाश होकर स्थित है॥४२-५७॥ वैसे ही यहाँ से नीचे के प्रदेश में भूमि, यहाँ से अन्य प्रदेश में वायु, आकाश आदि भूत, यहाँ से दिशा-विदिशाओं में अन्य अनेक आकारों में यों परमाकाश ही भासित होता है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह अर्थ है। जो ही चिद्भान है वही जगत् है। न यहाँपर एकता है और न द्वैत है और न कोई साकारता है और न निराकारता है। यथार्थभूतार्थदर्शी के लिए (यथार्थदर्शी के लिए) सारा का सारा दृश्य निराकार ही है॥५८,५९॥

पूर्णदृष्टि होनेपर तत्त्वज्ञता और अज्ञता का भेद भी नष्ट हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

पूर्णदृष्टि होनेपर ज्ञानिता और अज्ञानिता तथा सत् और असत् का भेद कुछ नहीं है पूर्णरूप सत्ब्रह्म में सत् और असत् तुल्य हैं। इसलिए सब कुछ काष्ठवत् मौन है। यानी चिद्रूप है॥६०॥

इस प्रकार सारा दृश्य ब्रह्मरूप ही सिद्ध हो गया, ऐसा कहते हैं।

जो दृश्य है वही ब्रह्मता है वही अनन्त है वही परमपद है। इस प्रकार यह सब केवल ब्रह्म ही स्थित है। जिस चिदाकाश का निराकाररूप यह स्फुरण जगत् है वह यह चिदाकाश अपने स्वरूप में इस प्रकार स्फुरित होता है। असंख्य मृत जीवों के सभी जगह अंगुल-अंगुल भूमि में असंख्य सृष्टि आदि हैं जो परस्पर अदृश्य और आघातशून्य हैं॥६१-६३॥ उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर सिद्धलोक अपने निज स्वरूप को प्राप्तकर ब्रह्म में संयुक्त है (卐) और परस्पर ओतप्रोत होकर स्थित हुए भी वे आपस में एक दूसरे

(卐) बृहदारण्यकउपनिषद् में गार्गी के प्रश्न में यह वर्णित है -'यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं चेति कस्मिन् खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन् खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्ष लोकेषु गार्गीति' अर्थात् यह सब जल में ओत और प्रोत है। जल किसमें ओत प्रोत है? हे गार्गि, जल वायु में ओत और प्रोत है। वायु किसमें ओतप्रोत है? हे गार्गि, वायु अन्तरिक्ष लोकों में ओत और प्रोत है इत्यादि से।

को नहीं देखते हैं ॥६४॥

वास्तव में तो आत्मा से अतिरिक्त कोई द्रष्टा ही प्रसिद्ध नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

चूँकि वह शून्यरूप दृश्यशोभा आत्माकाश ही है, इसलिए अन्य से अदृष्ट चिद्रूपा है जैसे स्वप्न का द्रष्टा आत्मा ही है वैसे ही इसका द्रष्टा भी आत्मा ही है, अन्य नहीं।

यह केवल चिदाकाशस्वरूपा है इसीलिए परिज्ञात होते ही चिदाकाशाकार हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि यह परिज्ञान होकर अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित होती है तथापि केवल प्रकाशमय निर्वाण स्वरूप होनेपर भी अज्ञानवश रात्रि खुलने के समय के अन्धकार की आकृति के तुल्य आकृतिवाली होकर दृश्यरूपा–सी भासती है ॥६५,६६॥

यदि यथास्थित वस्तु अशेष विशेषों से शून्य होकर स्थित हो तो ज्ञान से बाधित होनेवाला जगत् चाहे सत् हो चाहे असत् हो कोई भी हानि नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यथार्थ तत्त्व अशेष विशेषों से विहीन होकर स्थित हो तो जगत्समुदाय चाहे सत् हो चाहे असत् हो, ज्ञान से शान्त हो जाता है ॥६७॥

अच्छा, हो जगज्जाल इस तरह का, किन्तु जगत् में बद्ध जीवों की ब्रह्म में कैसे स्थिति है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जैसे समुद्र और जलबिन्दुओं का क्षण में विश्लेष और क्षण में संश्लेष होता है यानी उनकी अंशांशिभाव से स्थिति होती है वैसे ही ब्रह्मरूपी महासागर में परस्पर स्फुरित हो रहे चिद्अणुभूत जीवों की जबतक अज्ञान रहता है, अंशांशिभाव से स्थिति होती है ॥६८॥

सृष्टि के आदि में सृष्टिशोभा कैसे भासित होती है ? इस पर कहते हैं।

चिदाकाशमयी सृष्टि भी सृष्टि के आदि में स्वप्न की तरह भासित होती है, अतः यह सारा दृश्य शान्त ब्रह्म ही है, यह उपपन्न होता है ॥६९॥ मैंने अनन्त वैभववाले अनेक जगतों को देखा, अपने कर्मों के परिपाक से प्राप्त हुए सुख–दुःख फलों का भोग किया तथा बहुत युगोंतक दिशाओं में भ्रमण किया, किन्तु ज्ञान के बिना दृश्यरूप दोष का विनाश नहीं हो सकता है ॥७०॥

एक सौ उनसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ साठवाँ सर्ग

सायंकाल के समय सभा का उठना तथा दूसरे दिन प्रातःकाल फिर पहले की नाईं लगना एवं भास की जीवन्मुक्तता और अविद्या का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे वत्स, जब विपश्चित् यह कह रहा था तब सुने गये विपश्चित् के वृत्तान्त को मानों अपनी आँखों से देखने के लिए सूर्य दूरतक फैली हुई किरणों के साथ या लम्बे लम्बे किरणरूपी पैरों से दूसरे लोक को गया ॥१॥ सायंकाल की सूचना देनेवाली दुन्दुभिध्वनि सन्तुष्ट हुई दसों दिशाओं से की गई जयजयकार ध्वनि की तरह दिशाओं को पूर्ण करती हुई उठी ॥२॥ महाराज दशरथ विपश्चित् के लिए राज्य के अनुरूप क्रमशः घर, गृहस्थी, धन आदि का

समर्थन करते हुए आसन से उठे ॥३॥ महाराज दशरथ, श्रीरामन्द्रजी, महामुनि श्रीवसिष्ठजी आदि गणमान्य पुरुष आपस में एक दूसरे को क्रमानुसार बिदाकर, नमस्कार आदि से सत्कार कर अपने अपने घरों को गये ॥४॥ स्नान और सायंसन्ध्या से निवृत्त होकर, भोजनकर और रात्रि में विश्राम कर प्रातःकाल में वे फिर सभास्थलपर आये जिस तरह वह सभा पहले बैठी थी उसी तरह बैठ गई। इसके पश्चात् जैसे चन्द्रमा अमृत की वर्षा करता है वैसे ही अपने मुखमण्डल की प्रभा से आह्लादित करनेवाले वचन कह रहे मुनि महाराज उक्त प्रस्तुत कथा क्रम से कहने लगे : हे राजन्, यह अविद्या नहीं है। असत् होती हुई ही यह सत् के समान स्थित है। विपश्चित् इस प्रकार के महान् प्रयत्न से भी इसका निर्णय नहीं कर सका, इसका पार नहीं पा सका। जब तक अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप से इसका विज्ञान नहीं होता तभी तक यह कालतः चिरकाल तक, देशतः और वस्तुतः अनन्त मालूम होती है, किन्तु यह केवल अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप है ऐसा जब इसका परिज्ञान हो जाता है तब यह मृगतृष्णा नदी के समान रहती ही नहीं है ॥५-८॥

हे महामते, भास नामधारी इस विपश्चित् का इतिहास आपने स्वयं ही देखा है और इसके उन मन्त्रियों ने भी देखा है। इसके पश्चात् इन कथाओं से तत्त्वज्ञान से सम्पन्न हुआ, यह अविद्या के नष्ट होनेपर आप लोगों के सदृश जीवन्मुक्त हो जायेगा। चूँकि ब्रह्म ने अपने में अपनी सत्ता से 'मैं अविद्या हूँ' ऐसी संवित् धारण की, इसलिए भ्रान्ति से ही इसका अविद्यमान भी स्वरूप सत् के तुल्य दिखाई देता है। जब यह अविद्या ब्रह्मस्वरूपा ही है ब्रह्म से अन्यस्वरूपा नहीं है तब यह अधिष्ठानब्रह्ममात्रत्वेन परिज्ञात होकर तो यह उससे पृथक् अस्तित्व नहीं रखती है। इस प्रकार विविध प्रकार की सृष्टियों से शोभित होनेवाली यह अविद्या अनन्त है। मोहरूपी वसन्त में खिली हुई मंजरीसी यह जड़, रमणीय और आसक्तिमयी है। वसन्त में खिली हुई मंजरी (बौर) भी विविध फलों से शोभित होती है। जड़ आसक्तिमयी यह अविद्या वन के बाँस में उत्पन्न हुई लम्बी शाखा की भाँति अन्त (सीमा) रहित हैं, चिद्अचिद् ग्रन्थिवाली है, सरसरी दृष्टि से चिकनी चुपड़ी मालूम होती है किन्तु अनुभव के समय इसके सुन्दर सुन्दर अंकुर सब काँटे बन जाते हैं। यह अविद्या अकाल में उत्पन्न हुई उत्पातसूचक पुष्पराशि की तरह मनोहारिणी है, अतएव अऋतु में उत्पन्न पुष्पराशि की तरह इसमें व्यर्थ भी फल की आशंका होती है किन्तु है यह निपट निष्फल, इसलिए प्रशंसनीय अभिज्ञ जन कदापि इसकी ओर आकृष्ट नहीं होते। यद्यपि इसका कोई स्वरूप नहीं है तथापि यह इतनी विशाल है कि नाना भुवनों को भर देती है, अतएव प्राणियों से भरी हुई अज्ञान पूर्ण यह अविद्या भूतों से भरी हुई अन्धकारपूर्ण लम्बी रात्रि के समान है। यह आकाश में मिथ्या ही दिखाई दे रही तथा विचित्र ग्रन्थियों से वेष्टित केशों के गोलों की भ्रान्ति के तुल्य है, किन्तु तत्त्वदृष्टि से वास्तव में न दिखाई दे रही यह अस्तित्वशून्य है। विविध रंगों में रंगी हुई, गुणरहित, आकाश में फैली हुई अज्ञानकर्मरूप विविध उपद्रवों से पूर्ण यह अविद्या आकाश में फैली हुई, वृष्टि के उत्पात को सूचित करनेवाली, प्रत्यंचारहित रंगबिरंगी इन्द्रधनुषलता के समान है। अज्ञानरूपी कल्लोलों से आकुल, पाप प्रकर्षरूपी फेन से भरी, चक्राकार भँवरियों के तुल्य भ्रान्तियों की आवासभूत यह अविद्या जलकल्लोलों से भरी हुई मलिनता की वृद्धि से फेनयुक्त चक्र की नाईं घूम रहे भँवरों से व्याप्त चौमासे की नदी की तरह है। यह रजोगुणी रूक्ष अविद्या बीहड़ श्मशानभूमि की तरह है,

जिसमें निरन्तर शून्य जगत्‌रूप सैकड़ों मृगतृष्णानदियाँ बहती हैं। श्मशानभूमि भी धूलिराशि से भरी हुई और रूक्ष रहती है एवं उसमें भ्रमवश शून्यरूपी सैकड़ों मृगतृष्णानदियाँ बहती दिखाई देती हैं। जैसे स्वप्ननगर में चिरकाल तक विचरण कर रहा पुरुष उसका अन्त नहीं पाता वैसे ही इस जाग्रत् नाम के स्वप्नपुर में भ्रमणकर रहा पुरुष इसका अन्त नहीं पाता। जो एक दृश्यजाल में (प्रपंच में) स्थित देहों का त्यागकर चुके तथा मरण के समय में जिनके चित्त इस जगत् के आकार से दृढ़ थे ऐसे जीवों के दृढ़ीभूत संकल्प ही इस जगत् के शरीर के आकार से स्थित हुए हैं। वे चिदाकाश के कोशरत्नरूप संकल्पसमूह इस प्रकार स्थिररूप विमान् नगर, भूमि आदि के आकार से सविकास (बिना संकीर्णता के) स्थित हैं। वे ही असंख्य सिद्धलोक होकर आकाश में भासित होते हैं। वे अदृष्ट होते हुए भी सत्तावान् हैं। भलीभाँति दृष्ट होनेपर भी असत् हैं। उन सिद्धलोकों की भूमि सुवर्णमय, मणिमय, माणिक्यमय और मुक्तामय थी। वे सबके सब भक्ष्य, भोज्य, अन्न–पान आदि से पूर्ण थे और रसायनों के तालाब के तालाब उनमें भरे थे। उन सबमें शहद, आसव, दही, दूध और घी की नहरें चारों ओर बहती थीं। वे सब सिद्धलोक चन्द्रमा की–सी आह्लादक आकृतिवाली महिलाओं से परिपूर्ण थे। उनमें सब ऋतुओं में प्रसिद्ध फल, फूल पल्लवों से लदे हुए वन और नदियों के प्रवाह प्रचुरमात्रा में थे, हाव–भावों से विशेष मनोहर ललनाओं से उन लोकों के घर भरे थे तथा केवल संकल्प करने मात्र से पूर्णरूप से उत्पन्न हुए सब विभवों की राशियों से वे सदा पूर्ण रहते थे। उनमें से कोई सिद्धलोक हजारों चन्द्रबिम्बवाले और सैकड़ों सूर्यमण्डल वाले थे, कोई सुवर्ण–से और अमृत–से स्वच्छ वेषवाले जलमय भूतों के आवास थे। उनमें स्वेच्छा से अन्धकार और प्रकाश होता था, वे सबके सब नित्यानन्दमय थे। उनमें से कोई थोड़ी–सी रुई के समान हलके थे, अतः वायु उन्हें जहाँ चाहता था वहाँ उड़ा ले जाता था। कोई अपनी कल्पना के कारण क्षण में उत्पत्ति और विनाशवाले थे यानी अपनी इच्छा से क्षण में दर्शन और अदर्शनवाले थे। उनमें अन्न और पानका कोई पारवार न था एवं वे जरा और मरण से विहीन थे। उनकी रूपरेखा (बनावट) अचम्भा में डालनेवाली थी, उनका वैभव भी आश्चर्यमय था, सभी ऋतुओं के गुणों से वे सुरम्य थे तथा सकलकाममय थे। वे संकल्पसमूह शास्त्रीय सत्कर्म और उपासना से सत्कर्म और उपासना के फल के आकारवाले तत्–तत् लोकों में उनके भोग्य फलों के आकार से स्थिर मनों की परिणतिरूप हैं। वह परिणति इस प्रकार स्थूल भित्ति कैसे होगी। केवल ब्रह्ममात्रस्वरूप जगत् में ब्रह्म से अन्य किसी का भी संभव नहीं है। हे भद्र, यदि प्रकारान्तर हो तो जगत् किंमय है कृपया कहें अर्थात् मनोरथ आदि में मन के परिणामों का अस्तित्व, चिन्मात्ररूप होने से ही, देखा गया है इसलिए जगत् के ब्रह्ममयात्मक होनेपर यह जो मैंने कहा है उसकी उपपत्तिपूर्वक सर्वथा संभावना है। यदि दूसरा कोई प्रकार हो तो यह जगत् किंमय है यह वादी को कहना चाहिये ॥९–३३॥

यद्यपि इस समय यह जगत् भूतमय (भौतिक) है, ऐसा कहा जा सकता है तथापि सृष्टि के आदिकाल में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्' (हे सौम्य, पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था) इत्यादि श्रुति से ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरे किसी कारण की संभावना ही नहीं की जा सकती, अतः अकारण जगत् को ब्रह्म से अतिरिक्त मानो तो वह अत्यन्त असत् है, यह कहते हैं।

सृष्टि के आदि काल में ही यह सृष्टि आदिकारण का अभाव होने से, कुछ भी नहीं था, अतः

यह जगत् किंमय हो ॥३४॥

यदि जगत् अत्यन्त असत् है तो उसका भान कैसे होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

जैसे जैसे अनन्त जगतों का संकल्प किया जाता है वैसे वैसे चिति में उनका भान होता है। कहिये इसमें कौनसी विचित्रता है ? अत्यन्त असत् खरगोश के सींग, आकाशपुष्प आदि का संकल्पवश भान होना चिरदृष्ट है, कोई नई बात नहीं है ॥३५॥

तब हम लोगों के संकल्प आदि मोघ (निष्फल) क्यों हैं ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो तीव्रवेग न होने के कारण ही हम लोगों के संकल्पों में मोघता है। यदि हमारे संकल्प में तीव्रवेग हो जाय तो तुम या और कोई भी लोग आकाश में नगरों का निर्माण करते ही हैं और एकरसाभ्यास से ऐन्दवोपाख्यान में उक्त न्याय से उन्हें प्राप्त भी करते हैं, ऐसा कहते हैं।

हे साधो, इस समय भी तुम चाहे और कोई लोग भी इसी तरह आकाश में तीव्र संवेगवाले संकल्पों से नगरों का स्वेच्छा से निर्माण कर सकते हैं एकरस आसक्ति से इस शरीर का त्यागकर थोड़े ही समय में उन्हें प्राप्त कर सकते हैं ॥३६,३७॥ जो पुरुष पूर्वसिद्ध और उपासना से कल्पित-दोनों प्रपंचों का दृढ़ संकल्प से 'यह अवश्य है' इस बुद्धि से अनुसरण करता है वह पुरुष जैसे यज्ञ आदि सत्कर्मकारी स्वर्ग आदि अवश्य प्राप्त करता है वैसे ही क्रमशः दोनों को ही प्राप्त करता है। जो इनमें से एक ही सत्य है एसी दृढ़ बुद्धिवाला है वह एक को ही प्राप्त करता है ॥३८॥

सिद्धलोक में उक्त न्याय नरक आदि पाप-फलों की कल्पनाओं में भी तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अन्तःकरण की कल्पनावश सिद्धलोकों का सदा भान होता है वैसे ही कल्पनावश नरक आदि दुःखप्रद लोकों का भी भान होता है। दोनों में इतना अन्तर है कि उपासना का फल आस्तिकता और अनुष्ठान के रहते अभ्यास के बिना सत्यरूप से दृढ़ होता है। पाप का फल आस्तिकता और अभ्यास के अभाव में भी केवल पापाचरणमात्र से 'सत्य है' यों दृढ़कल्पनावाला हो जाता है ॥३९॥

संकल्प की अनुसारिता सर्वत्र समान है, ऐसा कहते हैं।

जिस किसी का जैसे संकल्प किया जाता है उसका, चाहे देह रहे या न रहे, वैसे ही अनुभव होता है कारण कि शरीर तो सभी कल्पनामय ही हैं ॥४०॥

इसलिए मन के अनुसार ही एक शरीर का त्याग कर जीव शीघ्र दूसरे शरीर का ग्रहण करता है, ऐसा कहते हैं।

जीव जिस भाव से एक देहमयी बुद्धि का त्याग करता है उसभाव से ही दूसरी देहमयी बुद्धि को शीघ्र देखता है। शुभ (पुण्यकारिणी) जीव-संवित् शुभ लोकों को देखती है और अशुभ (पापी) संवित् अशुभ लोकों को देखती है और शून्य संवित् शून्यात्मक लोकों को देखती है एवं चिरकालतक उनका अनुभव भी करती है। जो जीव-संवित् कर्म और उपासना से शुद्ध है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म दूसरे के सिद्धनगरों को ही देखती है और अपने सिद्धपुरों का अनुभव करती है। पापाचरण से अशुद्ध जो चिति है वह नरकों में दूसरों के भीषण दुःखों को देखती है और अपने घोर दुःखों का अनुभव करती है ॥४१-४३॥

पापी जीव नरक में जिन दुःखों को देखता और अनुभव करता है उनका विस्तार से वर्णन करते हैं।

निरन्तर घूम रहे गेहूँ आदि पीसने के दो चक्कों से पीसा जाना देखता है और जिससे कदापि पुनः उद्धार न हो ऐसे अन्धकूप में गिरना देखता है। भयानक शीत से शरीर को जमकर पत्थर बना हुआ देखता है तथा भूतों (पिशाचों) और अंगारों से पटे हुए असीम निर्जल (रेगिस्तानी) मार्ग में चल रहे पथिक के रूप में अपने और दूसरों के शरीरों को देखता है। राखरहित अंगारमय मेघों से बरस रहे अँगारों की वह वृष्टि देखता है जो तपाये हुए बाणों की राशि की तरह तीक्ष्ण और वेगयुक्त होने से अतिभीषण होती है। जिसमें पत्थर, चक्र और तलवारों की नदियाँ बहती हैं ऐसे आकाश में अपना संचार देखता है और छातियोंपर गिराये गये बादल से काले कुल्हाड़ों के आघात से छातियों को फोड़ना देखता है। तपाकर लाल किये हुए लोहे की मूर्ति और त्रिशूल का आलिंगन करना और छप्–छप् शब्द के साथ डूबना देखता है तथा बड़े भारी कट–कट शब्द के साथ शस्त्रयन्त्र में खूब जोर से दबाना देखता है। चक्र, वज्र, गदा, भाले, बल्लम, तलवार और बाणों की वृष्टि देखता है, काँटेदार शाल्मली से (सेमर के पेड़ से) आलिंगन, पाश में बाँधना और खराब–खराब सैकड़ों शक्तियों से छेदना देखता है। जलती हुई बालू की राशियों में गिरना, पाताल में डूबना, दीये के रूप में प्रच्छन्न (छिपी हुई) लाठी से भय तथा बड़े–बड़े कौओं के द्वारा नोचना देखता है। बाहर निकलने के मार्ग से रहित बड़े–बड़े अँगारों से भरे हुए बड़े भारी घर में घुसना तथा बाण, शक्ति, गदा, भाले, बन्दूक और तलवार से बेंधना देखता है। मारे भूख से झूँझलाये हुए अतः क्रूर हुए प्रेत–पिशाचों द्वारा आपस में अंगो का चबाना तथा ताल से भी अधिक ऊँचे स्थान से कठिन शिलातलोंपर पटकना देखता है। रुधिर के घृणित कीचड़ से अंकित पीब आदि की नदियों की भीड़–भाड़ देखता है और शिलाओंपर शस्त्ररूपी घोड़े और हाथियों के पैरों तथा पत्थरों द्वारा पीसना देखता है। गड्ढ़े के सदृश प्रदेशों में उल्लूओं द्वारा देह का नोचना देखता है, जनसमूह द्वारा मुसलों से पीटना देखता है। और सिर, हाथ, पैर आदि के टुकड़े–टुकड़े करने के लिए उत्सुक गीधों को देखता है। इस कुकर्म से यह फल होता है, इस प्रकार की भावना से (शास्त्रीय निर्णय से) जो पहले बहुत बार इस प्रकार के देशों में अनुभव द्वारा दृढ़ हो चुकी, स्वात्मा ही तत्–तत् नरकरूप से विस्तृत होकर अपनी भावना से मिलता जुलता नारकीय दृश्य इस प्रकार देखता है ॥४४–५५॥ जिस किसी भी चेतन देह आदि का कभी चित्ताकाश में भान हुआ अथवा (भावी का (भविष्य में होनेवाले का) भी स्वप्न में भान देखने से) जिसका कभी भान नहीं हुआ अथवा जो अपूर्व ही हो उसका भी संकल्पभ्रान्तिरूप कल्पनावश भान होता है। वह सब मनोमय ही है। वह उस भावना से स्वेच्छा से ही चलता है सैकड़ों प्रयत्नों से कभी वह नहीं चलता, यह सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥५६॥

एक सौ साठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इकसठवाँ सर्ग

जगद्रूप चित्र का ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है यह चिन्मात्रप्रतिभारूप है।
अज्ञानवश ही इसका भान होता है, ज्ञान होनेपर यह ब्रह्म ही है, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, मुनि और व्याध का भास द्वारा वर्णित सैकड़ों सुख–दुःखआदि दशाओं से युक्त जो यह वृत्तान्त है यह क्या प्रतिदिन दिखाई दे रहे स्वप्न आदि के समान अन्य कारण

से शून्य है अथवा जैसे लवण, गाधि आदि के चाण्डालता आदि ऐन्द्रजालिक तथा भगवान के वरदान आदि निमित्त से हुए थे वैसे ही किसी अन्य निमित्त से हुआ है ? ॥१॥

उसमें कोई अन्य निमित्त हो अथवा न हो, अज्ञात आत्मा में मोक्ष होने तक इस प्रकार की भ्रान्तियाँ सदा ही होती रहती हैं, ऐसा श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स, स्वात्मरूप परमात्ममहासागर में इस प्रकार के शून्यात्मक प्रतिभाआवर्त (भ्रान्तियाँ) अपने आप निरन्तर होते रहते हैं। जैसे पंखा आदि अन्य निमित्त रहे चाहे न रहे स्पन्दात्मक वायु से निरन्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दलेश सदा ही निकलते रहते हैं वैसे ही सच्चित्परमात्मा से पदार्थाकार प्रथा चिदाकाश में निरन्तर उदित होती ही है। सच्चित् परमात्मा से अपनी अवयवभूत जो पदार्थाकारप्रथारूपी प्रभा जैसी उदित होती है वह यहाँ तब तक ज्यों कि त्यों वैसी ही रहती है जबतक कि वह अन्य आकारान्तर प्रतिभा से नष्ट नहीं की जाती जैसे कि मिट्टी का पिण्डादि आकार घटादि अन्य आकार में परिणति द्वारा नष्ट किया जाता है ॥२-४॥

उन अनन्त पदार्थाकार प्रतिभासों में अधिष्ठानभूत सन्मात्ररूप ब्रह्म शाखाप्रशाखाओं में वृक्ष की तरह अनुगत रहता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे यहाँ एक ही अवयवी वृक्ष आदि नाना अवयवों में (शाखा-प्रशाखा आदि में) अनुगत रहता है वैसे ही एक सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रतिभात्मक जगदाकाश में अनुगत है। जैसे देह की पिण्ड, हाथ, पैर आदि अवस्थाएँ चिरकालतक रहने के कारण स्थायी हैं और निमेष, उन्मेष आदि अवस्थाएँ क्षणिक होने के कारण अस्थिर हैं वैसे ही ब्रह्म की भूमि, अन्तरिक्ष, दिशा आदि कोई अवस्थाएँ चिरकाल स्थायी रहने के कारण स्थिर हैं और कोई अन्य अवस्थाएँ प्रतिभात अर्थ के तुल्य क्षणिक होने से अस्थायी हैं। स्वअवयवभूत उन सबमें ब्रह्म स्थित है ॥५,६॥ निज आत्मा में स्वप्ननगर के समान यह चितिचमत्कार केवल भान ही है उसमें सारभूत है या निस्सार है ऐसा आग्रह क्या ? अथवा सत् है या असत् है ऐसा भी आग्रह क्या ? ऐसा आग्रह मूढजन वृथा ही करते हैं, यह भाव है ॥७॥ इसका जब यथार्थरूप में परिज्ञान हो जाता है तब यह केवल चिदाकाश मात्र है। जब आप सरीखे अज्ञानियों से ज्ञप्त होता है तब यह 'जगत्' दृश्य है। अतः न तो यह सत् है और न असत् है, इसे क्या कहा जाय ? ॥८॥ हे तत्त्वज्ञ लोगों, संसार चिदाकाश का विकासमात्र है, अतः सर्वतः (सब प्रकार से) सत्य शिव सुन्दर में आस्था, अनास्था आदि (आदर, निरादर आदि) क्या ? आप लोग यथास्थित स्वरूप का अवलम्बन कर स्थित रहें। जैसे सागर से तरंगें अपने आप उठती हैं, वैसे ही देदीप्यमान सच्चिदानन्द आत्मा से कार्यकारण दृष्टि से प्रतिभानात्मक स्वात्मभूत पदार्थ उदित होते हैं। चिदाकाश का स्वसंकल्प-सा और स्वसृष्टि-सा जो अति विशाल प्रतिभान है उसीको उसने 'जगत्' समझा है। ऐसी स्थिति में यहाँपर पृथिवी आदि कौन हैं और कहाँ से आये ? यह आभास ऐसे प्रतिभासित होता है और कुछ भी नहीं ही भासता है, ब्रह्ममें ही ब्रह्म स्थित है। अविद्या नामधारी जगत् का स्वतः भान होता है अन्य कारण से उसका भान नहीं होता। यहाँ चिद्घन से ही घनता है अन्य पृथिवी आदि से घनता (निबिड़ता) नहीं है। सारा जगत् चिदाकाश ही है। यही परमबोध है, इसका भूमिका के अभ्यास से जो दृढ़ीकरण है वह मुक्ति है। शून्यता के (आकाशता के) रूप की (नीलता की) तरह स्थित अज्ञान का अवलम्बन कर भ्रम व्याप्त है। वास्तव में

यह निराकार शान्त चिदाकाश ही जगत् के रूप में भासित होता है ॥९–१४॥

यह सब ध्यान लगानेवाले विज्ञ पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

निर्विकल्प समाधि की प्रतिष्ठा से जिसका देहभान उच्छिन्न हो चुका ऐसे विज्ञ पुरुष के ध्यान में साक्षिचिन्मात्ररूप के क्षणभर स्थित होनेपर जगद्दर्शन–सामर्थ्य क्या होगी ? कहिये इसलिए अज्ञानदृष्टि से ही जगद्दर्शन–सामर्थ्य हो सकती है ॥१५॥

इससे ब्रह्म का अज्ञानी पुरुष के चित्तरूप उपाधि में जगत् के रूप में भान होता है अन्यत्र चिन्मात्ररूप से ही भान होता है, ऐसी व्यवस्था कहते हैं।

जिस चित्धातु के आकाशभाग का यानी चिदाकाशांश का जहाँपर जैसे जैसे भान होता है वह वहाँपर वैसे वैसे मुक्ति पर्यन्त इस तरह बोध और अबोध स्वभाव से रहता है। यद्यपि यह दृश्यभ्रम आकाशमय (शून्य) है फिर भी जैसे जन्मतः तिमिर रोग से पीड़ित नेत्रवाले व्यक्ति का आकाश में एक चन्द्रमा के बदले दो चन्द्रमा दिखाई देना यह दोष शान्त नहीं होता वैसे ही अविचारवान् (अज्ञानी) पुरुष का यह भ्रम शान्त नहीं होता ॥१६,१७॥

ब्रह्मभावापन्न जगत् का तो विनाश नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

जो यह कुछ दिखाई देता है वह निर्दोष, आदि अन्त विहीन चिदाकाश ही है तो उसका क्यों और कैसे नाश होगा ? ॥१८॥

अज्ञानदशा में भी जगत् स्वप्नवत् चित् का विवर्तमात्र ही है, ऐसा कहते हैं।

अपने स्वच्छ संकल्पमय रूपका परित्याग न कर रहे अपना जो स्वप्न के तुल्य विकास है वही यह जगत् है। वेदान्त आदि शास्त्रों के निर्णयों से, तीक्ष्ण बुद्धि से और परस्पर ऊहापोह से आत्मा को सोया हुआ–सा बनाकर प्रबुद्ध पुरुष द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह आत्मा है। जो यह व्यभिचरित न होनेवाली संवित् अविद्या नाम से आप लोगों में प्रसिद्ध है वह नदियों में धूलिमय भूमि की तरह हम लोगों की दृष्टि में है ही नहीं। जैसे स्वयं भलीभाँति अनुभूत होनेपर भी स्वप्न में भूमि का अस्तित्व है ही नहीं वैसे ही अपने द्वारा अनुभूत भी असत्मयी (मिथ्याभूत) यह दृश्यता नहीं है। जैसे स्वप्न में रूप आदि अर्थ की तरह और रूप को प्रकाशित करनेवाले तेज की तरह केवल चिदाकाश ही भासता है वैसे ही जाग्रत में जाग्रत् का साक्षी का स्वप्रकाश ही पदार्थाकार से दिखाई देता है। सत्य वस्तु में (परमार्थ सत् वस्तु में) 'यह स्वप्न है, यह जाग्रत् है' ऐसी जो भिन्नता भासती है अनुभव से तुल्यस्वरूपवाले उनमें वह है ही नहीं। जैसे प्रबोध से (जागने से) स्वप्न की प्रतीति 'यह ऐसी नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधित होती है वैसे ही परलोक में (अन्य शरीर में) प्रबुद्ध हुए, गर्भ में स्थित तथा पूर्व जन्म का स्मरण रखनेवाले पुरुष की जाग्रत में प्रसिद्ध प्रतीति भी 'यह ऐसी नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधित होती है ॥१९–२५॥

जब स्वप्न और जाग्रत दोनों समान ही हैं तब लोगों का उनमें असाम्य प्रत्यय क्यों होता है ? इस प्रश्नपर काल की अल्पता और अधिकता से उनमें असाम्यप्रतीति होती है, अनुभव से नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

यहाँ स्वप्न और जाग्रत् ऐसी बुद्धि क्रमशः स्वल्प समय और दीर्घ समय तक होती है उन दोनों में

वर्तमान अनुभव में साम्य है, अतः दोनों तुल्य हैं ॥२६॥ जाग्रत् बाहर में रहता है और स्वप्न अन्दर रहता है यह अन्तर भी दोनों में नहीं है, क्योंकि स्वप्न भी बाहर में रहता है। अतः स्वप्न जाग्रत के तुल्य ही है। सब वस्तुओं में स्वप्न और जाग्रत काल में पूर्णरूप से गुणसाम्य का अनुभव होता है, अतः स्वप्न और जाग्रत में जुड़वें भाइयों के समान कोई भी बड़ा नहीं है ॥२७॥ जो ही जाग्रत् है वही स्वप्न है और जो स्वप्न है वही जाग्रत है, क्यों कि दोनों में कालान्तर में 'यह ऐसा नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधबुद्धि तुल्य है। जैसे जीवनपर्यन्त सैकड़ों स्वप्न बिना किसी नियम के होते हैं वैसे ही निर्वाण प्राप्त न हुए जीव के महा अज्ञानरूपी स्वप्न में सैकड़ों जाग्रत् भी होते हैं। जैसे लोगों को उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले अनेक स्वप्नों का स्मरण होता है वैसे ही पूर्व जन्म की स्मृति करानेवाले यौगिक चमत्कार से सम्पन्न प्रबुद्धजनों को एक नहीं सैकड़ों जन्मों का स्मरण होता है। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत दोनों का पूर्णरूप से साम्य होने और दोनों के अनुभवरूप होनेपर यह सिद्ध हुआ कि स्वप्न के तुल्य ही जाग्रत् का स्फुरण है और जाग्रत के तुल्य स्वप्नअनुभव का स्फुरण है। जैसे दृश्य और जगत्–दोनों ही नित्य एकार्थ हैं उनके अर्थ में जरा भी भेद नहीं है वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न–दोनों शब्द एकार्थवाले कहे गये हैं यानी दोनों के अर्थ में रत्ती भर भी भेद नहीं है ॥२८–३२॥

जाग्रत् में स्वप्न–समानता का प्रतिपादन करने का मतलब दिखलाते हैं।

इस प्रकार जैसे विशालतम स्वप्ननगर चिन्मय आकाश ही है वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी चिन्मयाकाश ही है, इसलिए अविद्या कहाँ है और उसका दर्शन ही कैसे हो सकता है ?

यदि 'स हि स्वप्नो भूत्वा' इत्यादि श्रुति जैसे स्वप्नशब्द से ब्रह्म ही कहा जाता है वैसे ही अविद्या शब्द से भी ब्रह्म ही कहा जाता है, तो शब्द में हमें विवाद नहीं हैं किन्तु सकल भ्रमों की शान्ति होनेपर जो ही है वही मैं हूँ। पहले स्वकल्पनारूप ही बन्धभ्रान्ति रही, यही हमारा अभिमत अर्थ है वह सिद्ध हो गया, यह भाव है ॥३३,३४॥

यदि ऐसा है तो नित्यमुक्त आत्मा में बन्धनभ्रान्ति ही नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं।

इसलिए इस प्रकार अबन्ध (बन्धन अयोग्य) चिन्मय का यह बन्धन ही न कीजिये। निर्मल आकाश और निराकार चिन्मय में कौन–सा अन्तर है जिससे आकाश नहीं बाँधा जा सकता लेकिन चिदात्मा बाँधा जा सकता है ऐसा कहा जा सके। क्योंकि अमूर्तता, अलेपकता, सूक्ष्मता आदि से दोनों में अत्यन्त समता है। इस दृश्य नामधारी अविद्यासंज्ञक चिन्मय आकाश का स्फुरण होनेपर निराकार चिन्मयका बन्ध अथवा मोक्ष कहाँ और किससे होगा ? जब अविद्या नहीं है तब किसी का बन्धन बन्धन नहीं है और किसी का मोक्ष भी मोक्ष नहीं है। क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त 'है' 'नहीं है' यों व्यवहार के योग्य वस्तु ही अत्यन्त दुर्लभ है। विद्या अथवा अविद्या का अस्तित्व है ही नहीं। यह आकाशआकृति की चिति ही स्वप्न की तरह सर्गाकार स्वदेहवाली होकर स्फुरित होती है ॥३५–३८॥ एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की प्राप्ति होनेपर मध्य में निर्विषय जो संवित् का स्वरूप प्रसिद्ध है वही स्वप्न और जाग्रत् में प्रसिद्ध दृश्य का परमार्थिक रूप है, ऐसा ही निश्चय करना चाहिये ॥३९॥ बाह्य दृश्य में और आभ्यन्तर दृश्य में इन्द्रिय, मन, उनके विकार आदि में प्रकाश करने के लिए सदा जागरूक अद्वितीय स्वयंज्योति आत्मा का जो स्वरूप है वही जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों का तात्त्विक रूप है। इसीलिए जाग्रत् और

स्वप्न के भेद की प्रतीति की कल्पना को भी उन दोनों के साक्षीरूप ही आप जानिये न कि चिद्भेद, क्योंकि तीनों अवस्थाओं में अनुगत साक्षिभूत चिति का अन्त दूसरे किसने देखा है जो कि चित् में भेद देखेगा ? चिदाकाश ही अभेदबुद्धि है और चिदाकाश ही भेदबुद्धि है ऐसा होनेपर द्वैत और अद्वैत दोनों ही अखण्ड शान्त एक ही हैं। जैसे ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द रूप अंशों में सत् अंश बोधमय और बोध से (ज्ञान से) ग्राह्यमय–दोनों में अभिन्न है वैसे ही द्वैत और द्वैतज्ञान दोनों एक ही हैं, इसलिए चिदंश भी अभिन्न है। क्योंकि जो ही दृष्ट हैं यानी दृष्टियों के विषयीकृत हैं वे ही 'दृश्य' कहे जाते हैं। कोई भी चित्तादात्म्य से अतिरिक्त विषयविषयिभाव का निरूपण नहीं कर सकता ॥४०–४३॥ एक सद् वस्तु का ही सकल द्वैतरूप से (सर्गरूप से) जब प्रतिभास है तब ब्रह्म ही द्वैत–अद्वैत और अद्वैताभिन्न भी है, उससे अतिरिक्त कुछ भी सिद्ध नहीं होता, यह भाव है ॥४४॥

तो क्या ब्रह्म को द्वैत–अद्वैतसमुच्चयरूप ही समझना चाहिये ? इस प्रश्नपर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

पहले सर्गरूपी ही परम ब्रह्म द्वैत और अद्वैत है यों मूर्तअमूर्त प्रपंच की ब्रह्मरूपता का निर्णय कर पीछे 'नेति नेति' श्रुतिवाक्य से सकल द्वैत के निषेध द्वारा चारों ओर से सकल द्वैत का त्याग कर चौगिर्द से आविर्भूत इस प्रत्यगात्मरूप चिदाकाश में उत्तरोत्तर भूमिका के अभ्यास से सैन्धव घन के समान आनन्दैकरसघन शिला बनकर आप स्थित होइये। हे सुभग, इस प्रकार सुचिन्मय ब्रह्म में परमपदरूप शिला बने हुए निश्चिन्त निष्क्रिय हुए आप क्रमशः अपने वर्ण और आश्रम के धर्मों का उल्लंघन किये बिना और लोकमर्यादा का उल्लंघन किये बिना अपने वित्तानुसार अभीष्ट देश में जाइये, पीजिये, खाइये और अपने इष्टमित्रों को खिलाइये ॥४५,४६॥

एक सौ इकसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बासठवाँ सर्ग

समस्त द्वैत का ब्रह्ममात्रत्व वर्णन द्वारा अविद्या का निराकरण करना।

सकल दृश्य का चिदाकाश के लिए ही स्फुरण होता है, इसीलिए भी चिन्मात्र परिशेष है, ऐसा कहते हैं।

सकल पदार्थ चिदाकाश के भोग के लिए हैं अतएव जैसे गाय आदि के उपभोग्य तृण आदि गाय आदिरूप से ही अवशिष्ट रहते हैं वैसे ही बाहरी रूप लोक और आभ्यन्तर मनन के साथ बाह्य और आभ्यन्तर यथास्थित यह जगत् केवल चिदाकाशरूप से ही अवशिष्ट रहता है ॥१॥

चिद् के भोग्य की चिन्मात्रशेषता किस दृष्टान्त से आप सिद्ध करते हैं ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर कहते हैं।

चूँकि स्वप्न में नगर का भोग करनेवाली चिति के ही नगररूप होने से चिति से अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिए जाग्रत्–जगत् भी आकाश की तरह शान्त है। यहाँपर नाना (भेद) कुछ भी नहीं है ॥२॥

यदि नाना (द्वैत) नहीं है तो जो नाना–सा मालूम पड़ता है वह क्या है ? इस पर कहते हैं।

चित् का चारों ओर भान अनाना होता हुआ भी नाना–सा मालूम होता है। जो नाना है वह –

जैसे स्वप्ननगरों और गन्धर्वनगरों में पदार्थ निस्स्वरूप ही है पर वह स्वसाक्षी आत्मा से अपने को दर्शाता है वैसे ही-निस्स्वरूप है यानी उसका कोई स्वरूप नहीं है वह स्वसाक्षी आत्मा से अपने को दर्शाता है ॥३॥

उसकी समता को ही और अधिक स्पष्ट करते हैं।

सृष्टि के पूर्व की (प्रलयकाल की) तरह इस समय भी चिदाकाशरूप जगत् का स्वप्ननगर और गन्धर्वनगर के समान भान ही हुआ है और उसी तरह वह असत्य भी है इसलिए स्वप्ननगर और गन्धर्वनगर के पदार्थ से उसकी समता है, यह अर्थ है ॥४॥

चन्द्रमा की प्रादेशिकता यानी चन्द्रमा केवल बित्ताभर है यह जैसे चन्द्रमण्डल के विस्तार को जाननेवालों के अनुभव से मेल न खाने के कारण असत् है वैसे ही ज्ञानियों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण भी जगत् असत् है, ऐसा कहते हैं।

सत्य-असत्यमय सर्ग (सृष्टि) तत्त्वज्ञानियों द्वारा जैसा ज्ञात है वह मूर्खों की दृष्टि में असत् है एवं मूर्खों द्वारा जैसा ज्ञात है वह तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में असत् है । अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिये - मूर्खों और तत्त्वज्ञानियों के अनुभव का अनुसरण कर प्रपंच की व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि उन दोनों में परस्पर विसंवाद होने से-जमीन आसमान सी विपरीतता होने से-उन दोनों को ही वह अज्ञात है ॥५॥

ऐसा कैसे ? ऐसा कोई कहे तो इस पर कहते हैं।

चूँकि तत्त्वज्ञानी केवल अन्तर्दृष्टि हैं और अज्ञानी केवल बाह्यदृष्टि है, अतएव उन दोनों की बुद्धिवृत्ति में स्थित प्रपंचस्वरूप को ये दोनों स्वयं समझने तथा तुमको अथवा आपस में एक दूसरे को समझाने के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥६॥

उक्त अर्थ का ही उपपादन करते हैं।

सर्ग शब्द का अर्थ जैसा स्वबुद्धि में स्थित होता है वैसा ही स्फुरित होता है उससे अन्य नहीं, यह निर्विवाद बात है । उसमें पागल और भले चंगे स्वस्थ मस्तिष्कवाले की तरह भ्रान्त और अभ्रान्तरूप इनके परस्पर के तत्-तत् प्रपंच का रूप आन्तरबुद्धि में स्थित होने के कारण अन्तःस्थ है । विद्वानों की बुद्धि सदा स्थिरता में जाग्रत रहती है इसलिए वह स्थिर आत्मतत्त्व को देखता है और अविद्वान् की बुद्धि अस्थिरता में जाग्रत रहती है इसलिए वह अस्थिर बाह्य को ही देखता है । बुद्धिगत प्रपंचस्वरूप न तो अत्यन्त आन्तर है और न अत्यन्त बाह्य है, इसलिए दोनों को ही उसका ठीक परिज्ञान नहीं है, यह अर्थ है ॥७॥

जब भ्रान्त और अभ्रान्त दोनों से प्रपंच का दीखना संभव नहीं है, तो प्रपंच अस्तित्व कैसे प्राप्त हुआ ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

जैसे तरंगें नदी के जल में जलद्रव के रूपसे स्थित होती हैं वैसे ही सृष्टिरूपी तरंगें अज्ञात चित् स्वभाव का ही अवलम्बन कर आत्मसत्ता से ही चित् में स्थिति को प्राप्त हुई हैं । जो केवल चित्चमत्काररूप है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, वही जगत् के रूप से स्थित है जैसे स्वप्ननगरों में अदृश्य भी वस्तुजात दृश्य-सा प्रतीत होता है वैसे ही यह भी अदृश्य होता हुआ ही दृश्य-सा मालूम

होता है। यह चित् की प्रभा ही जगत् नाम से स्फुरित होती है। यह अमूर्त (निराकार) होती हुई ही दर्पण में घट, पट आदि पदार्थों की छाया के समान मूर्तिमती-सी होकर व्याप्त है ॥८-१०॥

देह में आत्मभ्रान्ति ही सब दुःखों का मूल है, ऐसा कहते हैं।

यह केवल तुच्छ शरीर एकमात्र भ्रान्तिरूप असत्यमय है। पिशाचभ्रम दर्शन की भाँति यह अत्यन्त दुःखदायक है। जो मनोराज्य की तरह असत्य है, जो पत्तों के छोर पर लटक रहे जलबिन्दु की तरह चंचल (क्षणभंगुर) है और पूर्वोक्त विद्वान और अविद्वानों की अनुभूति द्वारा भी विचारा जा रहा जो असत् है उसमें आत्मता का प्रसंग क्या ? यानी उसमें कदापि आत्मता का संभव नहीं है ॥११,१२॥

तब मैं राम हूँ, आप वसिष्ठजी हैं इत्यादि देहात्मव्यवहार, शब्द और अर्थ कैसे हैं ? इस संशयपर कहते हैं।

जैसे पृथिवी में मोटा बाँस का डंडा चीरनेपर उसके अन्दर पहले से स्थित शब्द बाहर निकलता हुआ-सा मालूम पड़ता है किन्तु उसके अन्दर शब्द न तो था और न निकला वैसे ही जल में तरंगों से, अग्नि में ज्वाला आदि से, आकाश में प्रतिध्वनि शब्द और वायु से कण्ठ, तालु आदि प्रदेशों में वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट निकले हुए से मालूम पड़ते हैं लेकिन वे उनके अन्दर पहले से नहीं हैं वैसे ही वासनामय पदार्थ भी अग्नि से चिनगारियों की तरह जाग्रत और स्वप्न में आत्मा से निकले हुए से प्रतीत होते हैं लेकिन वे उसमें हैं नहीं। सृष्टि के आरम्भ से स्वात्मचित् ही स्वप्न के पर्वत के समान स्फुरित होता है वास्तव में तो न शब्द है, न अर्थ है और न दृश्यता ही है। जो यह है और जो भासित होता है वह सब परमार्थ सत् ही है। सत् से अतिरिक्त रूप तो सृष्टि के आदि में ही, कारण का अभाव होने से, उत्पन्न ही नहीं हुआ ॥१३-१५॥

इसलिए सदा ही एकरूप चिदाकाश ही मैं हूँ यों अपने को आप परम शान्त निर्वृत्तिरूप जानिये ऐसा कहते हैं।

शब्दभेदार्थ विहीन अखिलार्थमय चिदाकाशस्वरूप मैं परमशान्ति को प्राप्त होता हूँ परम निर्वाण को प्राप्त होता हूँ, ऐसा आप जानिये ॥१६॥ एकमात्र शुद्ध बोधरूप आत्मविश्रान्ति द्वारा जीव में प्रसिद्ध मनोविक्षेप का त्याग कीजिये, जो अपने आप मिथ्या ही उदित हुआ है ॥१७॥

अतएव आत्मविचार से अपना उद्धार कीजिये, ऐसा कहते हैं।

निस्सन्देह जीव आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु हैं। अपने से अपनी रक्षा न की गई तो फिर उसकी रक्षा का दूसरा उपाय नहीं है। जब तक आपकी यह तरुणाई है तभी तक विशुद्ध बुद्धिरूपी नाव से इस संसार नामक सागर के परले पार चले जाइए। जो कल्याण है उसे आज ही कर डालिए। वृद्ध होकर क्या करेंगे ? बुढ़ापा आनेपर अपने अंग भी भारभूत हो जाते हैं यानी अपने अंग भी नहीं संभाले जाते हैं। शैशव (बाल्यवस्था) और वृद्धता को आप क्रमशः पशुता की भाँति ज्ञानकी असाधक और मृत्युरूप ही समझिए। यदि विवेकसम्पन्न हो तो यौवन ही जीवन है यदि यौवन अविवेकपूर्ण रहा तो वह पशुता से भी गया गुजरा है। विजली के कौंधने के समान चंचल इस संसार को पाकर सत्शास्त्रों के अभ्यास और सज्जनसंगति द्वारा अज्ञानरूपी कीचड़ से आत्मा का उद्धार करना चाहिये। ओह ! खेद है, मनुष्यों की निष्ठुरता का कोई ठिकाना नहीं है। जो स्वयं कीचड़ में

गलेतक मग्न होनेपर भी शास्त्रप्रतिपादित उपायों से अपने उद्धार का उपाय नहीं करते उन बेचारों की कौनसी गति होगी ? जैसे मिट्टी के बने हुए वेतालों की (पिशाचों की) सभा ग्रामीण पुरुष को, जो ये मिट्टी के बने हैं यह नहीं जानता किन्तु असली वेतालों की सभा मैंने देखी यों भ्रान्ति है अतः भय, ज्वर आदि दुःखदायक होती है और जिसकी दृष्टि में यह मिट्टी के वेतालों की सभा है यों यथार्थज्ञान से वेतालसभा मिट्टी की ही होती है उसे भय, ज्वर आदि दुःख नहीं होते वैसे ही ब्रह्ममयी यह दृश्यशोभा अज्ञानी को, जो इसे ब्रह्ममय नहीं देखता है, भय, क्लेश आदि देती है ॥१८-२५॥ यह दृश्य ब्रह्म ही है, यों यथार्थ विज्ञान होनेपर यह भय, क्लेश आदि नहीं देती।

यह दृश्य यथार्थज्ञान होने से पर कोई क्लेश आदि क्यों नहीं देता इस प्रश्न पर कहते हैं।

यह दृश्य यथार्थ ज्ञान होने पर अशान्त होता हुआ ही शान्त हो जाता है, स्थित होता ही हुआ विलीन हो जाता है और दिखाई देता हुआ भी नहीं दिखाई देता ॥२६॥

यदि कोई कहे कि स्पष्ट अनुभव होने के कारण सत्यता को प्राप्त हुए जगत् की ज्ञानमात्र से कैसे असत्त्वापत्ति हो सकती है ? इसपर कहते हैं।

जैसे अपने स्वप्नसमय में स्पष्टरूप से अनुभव में आया हुआ भी स्वाप्न जगत् प्रबोध से (जागने से) असत्य ही हो जाता है वैसे ही चिदाकाश में अनुभूयमान भी यह सर्गसंवित् तत्त्वज्ञान से केवल शून्य ही रह जाती है ॥२७,२८॥

वह तत्त्वज्ञान मन के साथ इन्द्रियोंपर विजय पाये बिना नहीं प्राप्त हो सकता, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

जन्म के ज्वररूप काम, क्रोध आदि वनाग्नि से जले हुए जीवनरूप जंगलों में मृगों के सदृश कभी तृण, पत्ते आदि इष्ट का लाभ होने और कभी इष्ट का लाभ न होने से शिथिल हुए मतवाले मन और प्राणवायु के बाहर संचरण से युक्त इन इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान द्वारा अविद्यापर विजय प्राप्त कीजिये। अविद्यापर विजय द्वारा मुक्ति पाकर पुनर्जन्म का निवारण कीजिये ॥२९॥

एक सौ बासठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरसठवाँ सर्ग

इन्द्रियों पर विजयप्राप्ति का उपाय तथा अद्वितीय चित् में चित्तावरोध और शास्त्राभ्यास इन बोधहेतुओं का वर्णन।

'इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान द्वारा अविद्यापर विजय प्राप्त कीजिये और पुनर्जन्म का निवारण कीजिये' यों इन्द्रियजय की आवश्यकता जो श्रीवसिष्ठजी ने बतलाई है उसका श्रीरामचन्द्रजी उपाय पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, इन्द्रियोंपर विजय पाये बिना यह अज्ञानिता नष्ट नहीं हो सकती है, इसलिए कृपया बतलाइये कि इन्द्रियोंपर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है ? ॥१॥

आपने बहुत उचित प्रश्न किया यों श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का अनुमोदन कर रहे श्रीवसिष्ठजी राम के प्रश्न को पुष्ट करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स, मन्द नेत्रज्योतिवाले पुरुष के सामने दीप भले ही जलता हो पर वह

उसके सूक्ष्म पदार्थनिरीक्षण में उपयोगी नहीं होता, क्योंकि नेत्रज्योति होने पर ही दीपक उपयोगी होता है वैसे ही प्रचुर भोगों में आसक्त हुए, अपने पुरुषार्थ का उत्कर्ष बढ़ाने में संलग्न तथा जीवन के उपायभूत धनदौलत के उपार्जन में दत्तचित्त पुरुष के शास्त्र आदि साधन ब्रह्मसाक्षात्कार में उपयोगी नहीं होते उसी तरह इन्द्रियोंपर विजय न की जाय, तो भी वे उपयोगी नहीं होते। इसलिए इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने की अति आवश्यकता है। इन्द्रियजय में उपयुक्त इस युक्ति को आप आद्योपान्त सुनिये। मुझसे आगे कही जानेवाली इस युक्ति से थोड़ी भी साधनसम्पत्ति स्वयत्न से मोक्षफलरूप सिद्धि को प्राप्त होती है। चिन्मात्र पुरुष, को आप चित्त से प्रापित अर्थ का प्रकाशक होने से यानी चित्त के अधीन होने के कारण जीवनायक जानिये। वह जीव अपने अन्दर जिसे चित्तवृत्ति से व्याप्तकर प्रख्यात करता है, क्षण में तन्मय हो जाता है यानी उसमें आसक्त हो जाता है ॥२–४॥

ऐसी परिस्थिति में चित्त के प्रत्याहार प्रयत्न से अन्दर आकर्षण द्वारा बाह्याकारता का निरोधकर ब्रह्माकारता के प्रबोधन का अभ्यास करनेपर पंगु बनी हुई इन्द्रियाँ स्वतः जीती जा सकती हैं, ऐसी युक्ति कहते हैं।

चित्त के प्रत्याहार प्रयत्न द्वारा अन्तर्मुख करने से ब्रह्माकारताबोधनरूप चोखे अंकुशों के आघातों से मदोन्मत्त मनरूपी मतंग को जीतकर ही जीव इन्द्रियोंपर विजय पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥५॥ चित्त को इन्द्रियसेना का सेनापति कहते हैं यानी वह इन्द्रियों का स्वामीरूप से संचालक और निरोधक है, इसलिए उसपर विजय पा लेने से इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जाती है। जिसके पैर चर्ममय जूते आदि से सुरक्षित होते हैं उसके लिए सारी पृथ्वी चर्मावृत हो ही जाती है ॥६॥

तब मन की शान्ति का कौन उपाय है ? इस शंकापर मन की शान्ति का उपाय बतलाते हैं।

चित्तावच्छिन्न संविद्रूप जीव को संविदाकाश में (ब्रह्ममें) एक करके निज आत्मा में स्थित पुरुष का मन शरद ऋतु के कुहरे की तरह अपने–आप शान्त हो जाता है। हे श्रीरामजी, पूर्ववर्णित जीवसंवित् का जतन के साथ ब्रह्म में एकीकरण से जैसा चित्त शान्त होता है वैसा शान्त तपस्या, तीर्थसेवन, विद्या, यज्ञानुष्ठान आदि से नहीं होता। जिस जिसका बलात् स्मरण होता है उस उसका अधिष्ठान ब्रह्मसंवित् में प्रविलापन संवित् से (एकीकरण संवित् से) निश्चय विस्मरण किया जा सकता है यानी उसके संस्कारों के उच्छेद से पुनः स्मरण के अयोग्य किया जाता है। उक्त उपाय से भोगहेतु विषयोंपर विजय प्राप्त होती है। निरन्तर अभ्यासरूप प्रयत्न से यदि चित्तवृत्ति विषयरूपी मांस से ब्रह्म में कुछ संरोपित हो उस उपाय से तत्त्वज्ञानियों का अनुभवसिद्ध स्वराज्यपद प्राप्त हुआ ही समझिये ॥७–१०॥

इसी प्रकार एकमात्र स्वधर्मनिष्ठता की दृढ़ता भी वैराग्यसिद्धि द्वारा इन्द्रियजय की हेतु होती है, ऐसा कहते हैं।

स्व–वर्णाश्रमधर्म के आचरण द्वारा जो पद प्राप्त होता है वही मुझे रुचता है उससे अन्य नहीं, उसी पद में आप वज्र के समान दृढ़ होइये ॥११॥ स्वधर्मविरुद्ध देहयात्रा हेतु अन्न आदि में इच्छा का त्याग करता हुआ एवं शम और सन्तोष का उपार्जन करता हुआ जो स्थित रहता है वही विजितेन्द्रिय है ॥१२॥ जिसका मन अन्दर संवित् में रसिकता और बाहर नीरसता के अभ्यास में

कभी निर्वेद को प्राप्त नहीं होता, ऊबता नहीं है, उसका मन शान्त होता है ॥१३॥ संवित् का प्रयत्नपूर्वक ब्रह्म में आरोप करने से मन विषयों के पीछे दौड़ने के दुर्व्यसन का त्याग कर देता है। वही मन की चंचलता है। मन चंचलता से छुटकारा पाकर विवेक की ओर अग्रसर होता है ॥१४॥ विवेकवान् महाशय कहा जाता है। वह वासनारूपी तरंगों के वेग से संसारसागर में क्लेश नहीं पाता ॥१५॥ उदार पुरुष इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर निरन्तर साधु-सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों के अनुशीलन से जगत् को सत्य ब्रह्ममात्र देखता है। सत्य वस्तु के दर्शन से मरुभूमि में मिथ्यावस्तुओं में दौड़ने से दुःखदायी को जलज्ञान की तरह संसारभ्रान्ति शान्त हो जाती है। चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही इस जगत्रूप से स्थित है इस प्रकार के सत्यबोधवाले की (यथार्थज्ञानी की) बन्ध-मोक्षदृष्टियाँ किससे होगी ? जैसे सूर्य की गर्मीवश शोषण द्वारा क्षीण होकर अनाकार (अमूर्त) हुआ जल फिर बहता नहीं है वैसे ही अकारण (जिसका कोई कारण नहीं है) दृश्य तत्त्वज्ञान से छिन्नमूल होकर फिर पनपता नहीं है। आकाशमात्ररूपवाला वेदन ही अपनी अविद्यावश 'त्वम्' (तुम), 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूप धारण करता है, इसलिए अपने में अध्यस्त 'अहम्' इत्यादिरूप इस जगत् को ज्ञान द्वारा मिटाकर अध्यस्त से भिन्न अधिष्ठानमात्र हो जाता है ॥१६-२०॥ 'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि जगत् अविद्यामात्र (भ्रममात्र) ही है। यह मिथ्या होने के कारण स्वतः ही शान्त अतएव केवल शून्यमात्र शरीरवाला है, इसलिए चिदाकाश में (अपने तात्त्विक रूप में) ही स्थित है। चिदाकाश में चित्प्रभा का ही इस जगत् के रूप में भान होता है। यह चित् जगत्रूपी शून्य से शून्य भी शून्य ही है यह निश्चय (सिद्धान्त) है ॥२१,२२॥

अभयशून्यता कहाँ प्रसिद्ध हैं ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उस पर कहते हैं।

यहाँपर स्वप्नदर्शन दृष्टान्त का कौन निवारण कर सकता है। 'स्वप्न असत्मय है' इससे स्वप्न में शून्यता है 'स्वप्न अनुभूत होता है' इससे उसमें शून्यशून्यता भी है। अनुभूत की असत्मयता में भी स्वप्न ही दृष्टान्त है। कारण कि स्वप्न स्वानुभूत होने पर भी असत्मय है ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वप्नसंवेदनमात्रस्वरूपवाला चिदात्मा स्वप्न में जो जो राज्यादि वैभव होकर प्रतिष्ठित होता है, वह सब चित् का ही रूप है क्योंकि वह रूप कर्ता, कर्म, करण आदि कारणों से निरपेक्ष होने से चिद्रूप ही है ॥२४॥ जो-जो कर्ता, कर्म, करण आदि से निरपेक्ष होता है वह सब चिद्घनमात्ररूप मैं ही हूँ। सृष्टि के प्रारम्भ में इस जगत् के भी कर्ता, कर्म, करण आदि का निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा हम पहले उपपादन कर चुके हैं, इसलिए यह जगत् मेरा स्वप्रकाश आत्मरूप ही है ॥२५॥

स्वप्न में अपने मरने की तरह और मरुभूमि में मृगतृष्णा नदी की तरह प्रतीतिवश विद्यमान रहती हुई भी ज्ञान से बाधित हुई अविद्या है ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्नों में अनुभूत भी स्मरण मिथ्या है और जैसे मरुभूमि में विद्यमान भी जलभ्रान्ति असत् है वैसे ही प्रतीतिवश विद्यमान भी यह अविद्या नहीं है ॥२६॥ चिदाकाश ने सृष्टि के आरम्भ में अपने चाकचक्य का (झलक या चमत्कार का) अपने स्वरूप में संकल्प किया वही बिना कारण का जगत् के नाम से काकतालीय के समान स्थित है। यह जगत् अकारण ही स्फुरित होता है स्फुरण को प्राप्त न हुआ भी यह स्फुरित-सा प्रतीत होता है। चूँकि यह जगत् चित्प्रकाश से देदीप्यमान होकर प्रख्यात

हो रहा है इसलिए विद्वान लोग इसे वही परम पद जानते हैं ॥२७,२८॥ इसमें जो यह जीव आदि का स्फुरण होता है, वह भी परमपद ही है क्योंकि शून्यता आकाश ही है और आवर्त, तरंग, बुद्‌बुद् आदि जल हैं ॥२९॥

अथवा अवयव–अवयवी भाव की कल्पना के द्वारा जीवादि की ब्रह्मैकता समझनी चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जैसे अवयवी का सावयव एक रूप होता है वैसे ही वास्तव में निरवयव कल्पना द्वारा जीवादिरूप अवयवयुक्त ब्रह्म एक ही है ॥३०॥

अथवा स्फटिक शिला के अन्दर वन, पर्वत, नदी आदि के आभास की तरह ब्रह्म में जगत् का आभास है, यह समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

आभासरूप दृश्य शान्त अविनाशी स्वच्छ चिन्मात्ररूप से ही स्थित है। उसका स्वच्छता स्वभाव ही जगत् के रूप से भासित होता है, इसलिए अपने स्वभावभूत इस दृश्य में क्या विचार किया जाय यानी इसमें द्वैत या अद्वैत का विचार करना व्यर्थ है ॥३१॥ परमपद में आदि अन्त और मध्य की कोई कल्पनाएँ नहीं हैं। यह दृश्यरूपा अविद्या परमपदरूप ही है। अतः अविद्या नाम का पृथक् पदार्थ यहाँ कोई नहीं है ॥३२॥ स्वप्न से जाग्रत् में प्रवेश करता हुआ और जाग्रत् से स्वप्न में प्रवेश करता हुआ जीव प्रबुद्ध हो चाहे अप्रबुद्ध हो एक रूपसे स्थित है। प्रबोध और अप्रबोध अवस्था में केवल भानरूप से ही वह स्थित है। जाग्रत् और स्वप्न में सुषुप्त (अज्ञानावृत आत्मा) और तुर्य (शुद्ध आत्मा) भ्रान्तिनिर्मित सर्प के अन्दर अज्ञानरज्जु और केवल रज्जु के तुल्य सदा स्थित है, किन्तु प्रबुद्ध पुरुष जाग्रत् और स्वप्न को एक तुर्य (शुद्ध आत्मा) ही जानता है। तत्त्वज्ञानवान् पुरुष के लिए जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सबकुछ तुर्य ही है। तत्त्वज्ञानी की अविद्या नहीं है अतः वह द्वैतस्थ होनेपर भी अद्वय ही है ॥३३–३५॥ यह द्वैत और अद्वैत तथा 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) ऐसी कोई भी कल्पना अविद्याविहीन पुरुष को कैसे हो सकती है, उससे शून्य भी कैसे ? ॥३६॥ अप्रबुद्ध बालक द्वैत, अद्वैत आदि भेदों से युक्त वाक्यरचना के विलासों से क्रीड़ा करते हैं, ज्ञानवृद्ध पुरुष उनको हँसते हैं ॥३७॥

तब ज्ञानी लोग भी शास्त्रों में द्वैतअद्वैतविवादों की क्यों इच्छा करते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

द्वैत और अद्वैत में विवाद की इच्छा हृदयाकाश में आरोपित शिष्यप्रबोधरूप फलवाली मंजरी है। उसके बिना यहाँ प्रबोधाकाश का संमार्जन नहीं होता है ॥३८॥

अतएव मैंने भी सुहृद्‌भाव से कल्पना द्वारा द्वैतअद्वैतविचारणा की है। जब इसका कार्य सम्पन्न हो जायेगा तब घर के झाड़ू के समान इसका त्याग कर दिया जायेगा, ऐसा कहते हैं।

मैंने आप लोगों का मित्र बनकर विवाद से द्वैत–अद्वैत का विचार किया है। यह हृदयरूपी घर के अन्दर अज्ञानरूपी भस्म का मार्जन करनेवाली (बुहारी) है ॥३९॥ अविद्यारूपी भस्म का संमार्जन होनेपर अधिकारी लोगों का चित्त ब्रह्म में रम जाता है, प्राण उसमें लीन हो जाते हैं यों वे ब्रह्मचित्त और ब्रह्मगतप्राण होकर आपस में एक दूसरे को बोधित करते हुए और उसके स्वरूप का निरूपण करते हुए

प्रसन्न होते हैं, प्रमुदित होते हैं। इस प्रकार भजन कर रहे और निरन्तर विचार में निमग्न हुए उन अधिकारियों का यह मेरे द्वारा उपदिष्ट बुद्धियोग (ज्ञानयोग) समय पाकर दृढ़ हो जाता है जिससे वे मेरे उस मोक्ष नामक पद को प्राप्त होते हैं ॥४०,४१॥

'सततयुक्तानाम्' यानी निरन्तर विचार में निमग्न हुए इस प्रयत्नातिशय की उक्ति के तात्पर्य का उद्घाटन करते हैं।

तृणमात्र के भी सर्दी, गर्मी, पशु आदि से रक्षण में उपाय यदि यत्नतः किया जाय तो वह उपकारी होता है उपेक्षा से उपाय किया जाय तो वह कामयाब नहीं होता एक दो त्रिलोकियों का नहीं अपितु कोटि कोटि त्रिलोकियों का ब्रह्मतापादन द्वारा आत्यन्तिक रक्षणरूप तत्त्वज्ञान तो बिना प्रयत्न के कैसे सिद्ध हो सकता है ? ॥४२॥ जिस निरतिशय आनन्दरूप उत्तम स्थिति का मानुष आनन्द से लेकर ब्रह्मानन्द पर्यन्त उत्तरोत्तर सौ गुने उत्कृष्ट सुखोपभोग के लिए चौदहों भुवनों में अतएव अध्यात्मव्यसन से रहित सम्पूर्ण जीवसंघ तुच्छ भोगों में आसक्त होने के कारण उपहासास्पद है वह उत्तम स्थिति क्योंकर प्रयत्न के योग्य न होगी ? ॥४३॥ मन का अंकुररूप (मन का संकल्पस्वरूप) राज्यादि जो सुख है, वह भी कोई सुख है ? तत्त्वज्ञान में पूर्णतया विश्रान्ति होनेपर इन्द्रपद भी तृण की तरह तुच्छ लगता है। दृश्य में (विषयभोग में) रमे हुए पुरुष जैसे सोकर या जागते हुए दृश्य को देखते हैं वैसे ही दृश्य में विरक्ति रखनेवाले शान्त ज्ञानी पुरुष उस परमपद को देखते हैं। अथवा अज्ञाननिद्रा में सोये हुए और विषयभोग में निरत लोग जैसे दृश्य को अत्यन्त आसक्ति से देखते हैं वैसे ही दृश्य में अरत (सुप्तप्राय) शान्त सन्त तत्त्वज्ञानी उस निरतिशयान्द पद को प्रबुद्ध होकर देखते हैं, यह अर्थ करना चाहिये ॥४४,४५॥

इस प्रकार का नित्य अपरोक्ष निरतिशयान्दरूप मोक्षपद अतिशय प्रयत्न के बिना कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसलिए उसके लिए प्रयत्न के अभ्यास की आवश्यकता है, ऐसा कहते हैं।

निरतिशयानन्दरूप परम पद निरन्तर बार बार यत्न किये बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप मोक्षरूप परम पद को महान् अभ्यासरूपी वृक्ष का फल समझिये ॥४६॥

इसलिए मैंने आप लोगों का अभ्यास दृढ़ हो इस बुद्धि से पुनः पुनः प्रकारान्तर से, दूसरी दूसरी युक्तियों से और कथा, आख्यान आदि के विस्तार से यही एक ही बात बहुत बार कही है। हजारों पुनरुक्तियों से विस्तार को प्राप्त किये गये इस ग्रन्थ से और इस अभ्यास के श्रम से क्या प्रयोजन है यों अश्रद्धारूप दुर्मति का आश्रय नहीं करना चाहिये। अतिकुशाग्रबुद्धिवाले किसी एक आधको ही अभ्यास की अपेक्षा नहीं होती लेकिन मन्दबुद्धि तो यों विस्तारपूर्वक बार-बार कहे गये उपदेशवाक्य से भी इस दुर्बोध आत्मतत्त्व को हृदय में धारण नहीं कर सकता। अतः उसके लिए पुनः पुनः आवृत्तिरूप अभ्यास आवश्यक है ॥४७॥

अतएव मन्द और मध्यम अधिकारियों को जब तक ज्ञान का उदय न हो तब तक इस ग्रन्थ का पुनः पुनः श्रवण आदि की आवृत्ति द्वारा आस्वादन करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

यदि मेरे द्वारा उक्त इस शास्त्र का पुनः पुनः आवृत्ति द्वारा चिरकाल तक आस्वादन किया जाय, यह पुनः पुनः सुना जाय और कहा जाय, तो अज्ञानी भी तत्त्वज्ञानी हो सकता है। जो आदमी एक बार इसका अवलोकन कर मैंने इसे देख लिया है यों ही उपेक्षा से त्याग कर दे उस अधम के हाथ

अध्यात्मशास्त्रों से भस्म भी नहीं लगती है, यानी जो पुनः पुनः अभ्यास नहीं करता उसे इसके फलभूत मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, यह भाव है। इस योगवासिष्ठरूप उत्तम आख्यान का वेद की तरह सदा विधिपूर्वक अध्ययन करना चाहिये और व्याख्यान करना चाहिये क्योंकि यह वेदवत् पूजनीय है तथा परमपुरुषार्थभूत मोक्षरूप फल देनेवाला है ॥४८–५०॥ जो परमपद इस शास्त्र से प्राप्त होता है वही वेद से भी प्राप्त होता है। इस शास्त्र के ज्ञात होनेपर क्रिया यानी पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) और ज्ञान यानी उत्तर काण्ड (ज्ञानकाण्ड) दोनों ही पवित्रता को प्राप्त होते हैं यानी अशुद्धि का आत्यन्तिक निरास करते हैं ॥५१॥ इस शास्त्र के ज्ञात होनेपर, समझ में आनेपर, वेदान्तों में महर्षि श्रीवेदव्यास आदि द्वारा प्रदर्शित तात्पर्य के निर्णय के अनुकूल उपक्रम, उपसंहार आदि लिंगवाले तर्कों से व्यवस्थित सिद्धान्त समझ में आ जाता है। यह उत्तम आख्यान सकल शास्त्रदृष्टियों में श्रेष्ठरूपसे प्रख्यात है ॥५२॥ मैं यह आप लोगों के उपर कृपा करके कहता हूँ किसी प्रकार के छल–कपट से नहीं कहता हूँ। आप लोग प्रयत्न से विचारित इस शास्त्र से इस दृश्यसंघात को माया यानी मिथ्या समझ सकते हैं, इसलिए आप लोग इस शास्त्र का चिन्तन करें ॥५३॥ विचारे गये इस श्रेष्ठतम शास्त्र से जो बोध उत्पन्न होते हैं उन बोधों से अन्य शास्त्र ऐसे रुचिकर लगते हैं जैसे कि लवण से व्यंजन रुचिकर होते हैं, इसलिए यह शास्त्र सकल शास्त्रों का उपजीव्य है ॥५४॥ यह आख्यान काव्य होने के कारण अनुपादेय है यों इसका अनादर कर भोगों में आसक्तबुद्धि वाले अतएव आत्महत्या करनेवाले यानी बार–बार मृत्युपरम्परा प्राप्ति में हेतुभूत मोहरूपी गड्ढे में गिरनेवाले उससे पुनः पुनः संसार भागी (जन्मभागी) आप लोग न हों ॥५५॥

हमारे कुल में हमारे पुरखों ने तप और कर्म में ही निष्ठा उपार्जित की, ब्रह्मनिष्ठा का उन्होंने उपार्जन नहीं किया। हमारे पूर्वज कर्ममीमांसक थे हमारे पूर्वज तार्किक थे, हमारे पूर्वज सांख्य थे, हमारे पूर्वज तान्त्रिक थे, मन्त्रसिद्ध, योगसिद्ध तथा औषध और रसायन में सिद्धहस्त थे, हम लोग भी उनके वंशज हैं, अतः उनके अनुसृत मार्ग का ही अवलम्बन करेंगे, अध्यात्ममार्ग का अवलम्बन नहीं करेंगे ऐसा कह रहे जनों का उपहास करते हुए श्रीवसिष्ठजी मुमुक्षुओं की उस मार्ग में प्रवृत्ति का निवारण करते हैं।

यह हमारे पूर्वजों का कुआँ है अतः हम इसी का खारा जल पीएँगे यों कह रहे पुरुष निकटवर्ती जाह्नवी (गंगा) के स्वच्छ जल का निरादर कर खारा जल पीते हैं वैसे ही आप भी अज्ञता की प्राप्ति के लिए यानी पुनः पुनः जन्मपरम्पराओं के हेतुभूत एकमात्र मूर्खता के ही लाभ के लिए निरन्तर विरुद्ध विविध विचारवाले मत होइये ॥५६॥

एक सौ तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौसठवाँ सर्ग

जीवभाव और जगद्भाव के मार्जन द्वारा ब्रह्मभाव के उद्‌गम से जीव और जगत् में ब्रह्मसमरसता का प्रसाधन।

उनमें सर्वप्रथम जीवभाव को मिटाने के लिए श्रीवसिष्ठजी आरम्भ करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चारों ओर से परिपूर्ण चिद्रूपी सूर्य के मण्डल का अन्दर

स्फुरण होनेपर जगत् में प्रसिद्ध सकल जीवाणु चिद्रूपसूर्य के तुल्य हैं यानी अग्नि और स्फुल्लिंगों की तरह समान प्रकाशन स्वभाववाले हैं। इस कारण चिद्रूपी सूर्य की अनवयवात्मता सिद्ध हुई। हाथ, पैर आदि अवयव परस्पर विलक्षण आकारवाले हैं और उनका स्वभाव भी भिन्न दिखाई देता है और उधर अवयवी की रूपरेखा (बनावट) अवयवों से भिन्न होती है अतः उनमें परस्पर भेद और अवयव-अवयविभाव लोग में प्रसिद्ध है किन्तु जीव ब्रह्म के अत्यन्त तुल्य होनेपर उनमें न तो भेद है, न लोकसिद्ध अवयव-अवयविभाव ही है ॥१॥

यदि ऐसी बात है तो नक्षत्रों का भी आकाश में समानप्रकाशनस्वभाव दिखाई देता है अतः उनमें परस्पर अभेद तथा तेज की भी निरवयवता क्यों न होगी ? यदि उनके भिन्नदेशस्थ होने और प्रकाश में कमी-बेशी होने के कारण उनकी परस्पर अभेदापत्तिका परिहार करो तो वह परिहार जीवों में भी समान है, इस शंका पर कहते हैं।

नक्षत्रों के भेद के समान जीवों का भेद नहीं है, किन्तु घड़े, मटके आदि के आकाश के भेद के तुल्य औपाधिक भेद है। वह भेदक अन्तःकरण आदि उपाधिभूत वस्तु 'मैं अखण्डाकार अपरोक्ष ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान को प्राप्त कर अपने उपाधिरूप और उपाधिकृत भेद का त्याग कर देती है। उपाधिभेद के हट जानेपर प्रतिज्ञात अर्थ की (जीवब्रह्मअभेद की) सिद्धि हो जाती है। अथवा पहले जीवों की अविद्या से परस्पर विरुद्धधर्मता दिखला कर ब्रह्मैकवाक्यता के विच्छेद से भेदसा, बन्धसा, अनर्थसा हुआ। इस समय विद्या से अविद्या का निरासकर विरुद्ध धर्म की निवृत्ति द्वारा फिर ब्रह्मैकवाक्यता के सम्पादन से अवयवअवयविभाव आदि दूसरा भेदक क्या होगा यानी कुछ नहीं ॥२॥

तो क्या अविद्या, अन्तःकरण, देह आदि से भेदावस्थाओं में पहले जीव भिन्न ही थे, इस समय विद्या द्वारा ब्रह्मैक्य को प्राप्त किये गये ? इस शंकापर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

तत्त्वज्ञों का विषयभूत जो परम निर्मल ब्रह्म है वह तो इन सभी अवस्थाओं में भेद आदि मल से रहित एकरस ही है। उसमें कदापि किंचित् भी द्वैतरूपी मलका अस्तित्व नहीं है ॥३॥

यदि ऐसा है तो पहले 'अहन्त्व' आदि मल का उसमें दर्शन कैसे हुआ ? इसपर कहते हैं।

जो अज्ञानी की विषयभूत मलिन वस्तु है उसको वही (अज्ञानी ही) जानता है। हम तो न 'अहम्' को जानते हैं, न 'त्वम्' को जानते हैं, न अज्ञ को जानते हैं और न अज्ञ के विषयभूत उस मलिन वस्तु को ही जानते हैं ॥४॥

क्यों नहीं जानते ? इसपर कहते हैं।

यह वह है, यह मैं हूँ, यह सत्य है इत्यादि भेदबुद्धियाँ अज्ञानी में ही होती हैं, तत्त्वज्ञानी में कदापि नहीं हो सकतीं। भला बतलाइये तो सुमेरु में कहीं मृगतृष्णा हो सकती है ? क्योंकि प्यासे पुरुष की थकी-माँदी दृष्टि से मृगतृष्णा की प्रतीति होती है, स्वर्गभूत सुमेरु में किसी को प्यास, थकान आदि नहीं होते, अतः वहाँ उसकी प्रतीति क्योंकर होगी ? यह भाव है ॥५॥ जैसे यह ठूँठ ही है, यह सीप ही है यों जिस पुरुष को एकरूप द्रव्य का यथार्थ निश्चय है, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, उसमें उससे विपरीत यह ठूँठ है या पुरुष है ऐसा संशयज्ञान और यह चाँदी है ऐसा भ्रान्तिज्ञान नहीं होता वैसे ही परमतत्त्व के निश्चित हो जानेपर यानी तत्त्वतः ज्ञात हो जानेपर अन्य

भेदभ्रमज्ञान नहीं टिक सकते हैं ॥६॥

इस प्रकार जीवभाव को मिटाकर जगत्भाव को भी मिटाने के लिए उपक्रम करते हैं।

यह दृश्य न पहले था, न उत्पन्न हुआ, न वर्तमान काल में है और न आगे भविष्य में होगा। इस प्रकार जगत् का मार्जन होनेपर यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही होकर स्थित है। इस प्रकार मार्जन द्वारा पहले जगद्रूप से ज्ञात चिदाकाशकी झलक स्वरूपभूत शुद्धब्रह्मभाव में ही स्थित होती है। उस अवस्था में जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा चिदाकाश की झलक ही जगत् है यह बात उसके ज्ञानसे ही जानी जाती है। जगत् जड़रूप कुछ नहीं है। जैसे स्वप्नों में और मनोरथ द्वारा कल्पित नगरों में केवल एक निर्मल चिन्मात्र के सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसे ही इस समय जाग्रत् नामक जगत् में चिन्मात्र के सिवा कुछ भी उपाधिस्वरूप नहीं है। इस प्रकार उपाधि का मार्जन करने से अरूप हुए जीवों में अन्य रूप नहीं है, यों चिदेकरूपता सिद्ध हुई ॥७-९॥ 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सौम्य, सृष्टि के पूर्व यह एक अद्वितीय सत् ही था) इस श्रुति के अनुसार जिसमें सृष्टि के पूर्व में न परिणामी या उपादान कारण है और न सहकारी और निमित्त कारण ही है उससे जगत् उत्पन्न होता है, यह उक्ति कैसी ? अतः यह कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, जो उत्पन्न हुआ-सा मालूम पड़ता है वह अनादि ब्रह्म ही है चित्स्वभाव होने से वह स्वयं ही जगत्-सा मालूम पड़ता है, यह सिद्ध हुआ ॥१०॥

इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए पुनः स्पष्ट कहते हैं।

इसलिए सृष्टि के आरम्भ में कोई भी अपने-आप उत्पन्न नहीं होता, अतएव अज्ञानियों द्वारा ज्ञात ब्रह्मा आदि व्यष्टि और समष्टि स्वयम्भू (ब्रह्मा) और यह प्रपंच ब्रह्म से शून्यरूप में ही फैला है। चिदाकाश ही स्वचित् से वैसा (जगत्-सा) प्रतीत होता है, यह सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥११॥

एक सौ चौसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पैंसठवाँ सर्ग

परस्पर में प्रवेश और परस्पर से उत्पन्न होने से जगत् की चिन्मात्रता
सुदृढ़ करने के लिए जाग्रत् और स्वप्न की एकता का कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये आपस में एक दूसरे में प्रवेश करने से तीन प्रकार के हैं। जैसे जाग्रत-जाग्रत, जाग्रत स्वप्न, जाग्रत सुषुप्ति, स्वप्नजाग्रत्, स्वप्न-स्वप्न, स्वप्न-सुषुप्ति, सुषुप्ति-जाग्रत्, सुषुप्ति-स्वप्न और सुषुप्ति-सुषुप्ति। उत्पत्तिप्रकरण में इनका उदाहरणों द्वारा विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है, विशेष वहीं देखना चाहिये। उन भेदों में से जाग्रत्स्वप्न में मनोरथ में पदार्थों के इन्द्रिय व्यापार निरपेक्ष होने से केवल मनोमय होने के कारण स्वप्नसाम्य से स्वप्न ही जाग्रद्भाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्वप्न में भी इतने समय तक मैं सोया रहा इस समय जाग रहा हूँ ऐसी प्रतीति के दर्शन से प्रसिद्ध स्वप्नजाग्रत् में तो अनुभवसिद्ध जाग्रत् ही स्वप्नभाव को प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥१॥

परस्पर में प्रवेश की तरह इनमें परस्पर निमित्तता भी है, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न जाग्रत में प्रवेश करता है और जाग्रत् स्वप्न से निकलता है। इसलिए आत्मा स्वप्नरूपी ही

जाग्रत से जागकर जाग्रत्‌रूप स्वप्न में ही प्रवेश करता है ॥२॥

इनमें (स्वप्न और जाग्रत् में) परस्पर व्यपदेशसंकरता भी दिखाई देती है, ऐसा कहते हैं।

जाग्रतस्वप्नवान् पुरुष जाग्रत् को ही 'स्वप्न' कहता है और स्वप्नजाग्रत् पुरुष स्वप्न को ही 'जाग्रत्' कहता है यों जाग्रत् में स्वप्न का व्यपदेश और स्वप्न में जाग्रत् का व्यपदेश दिखाई देता है। अतः इन दोनों में व्यपदेशसांकर्य स्पष्ट है ॥३॥ स्वप्न भी जाग्रत् यहाँ जाग्रत् के जगत् की तरह अनुभव से जाग्रत् ही है स्वप्न कदापि नहीं है इसी प्रकार जाग्रत्स्वरूप मनोराज्य में जाग्रत् अनुभवतः स्वप्न ही है न कि जाग्रत् ॥४॥

स्वप्न की जो स्वल्पकालता है और जाग्रत् की जो दीर्घकालता है वह परस्पर में परस्पर का प्रवेश होनेपर विपरीत हो जाती है, यह कहते हैं।

सदा ही जाग्रत् में स्वप्नकाल लघुकालात्मक है और वैसे ही स्वप्नकाल में जाग्रत् सदा ही लघुकालात्मक है ॥५॥

इस प्रकार परस्परसंकरता होनेपर जो सिद्ध हुआ, उसे कहते हैं।

इसलिए जाग्रत् और स्वप्न में कदापि कोई भी भेद नहीं है। दोनों में भी एक का अन्य में अनुप्रवेश युक्ति से सत्मय नहीं है ॥६॥

यदि कोई कहे स्वप्न प्रबोधकाल में निवृत्त हो जाता है और स्वप्न पदार्थ भी जाग्रतकाल में शून्य हो जाते हैं, लेकिन जाग्रत् इस प्रकार निवृत्त नहीं होता और न जाग्रत् पदार्थ असत् दिखाई देते हैं यों जाग्रत् में स्वप्नवैधर्म्य की शंका का निराकरण करते हैं।

यह अतिभास्वर जाग्रद्‌रूप स्वप्न मृत्यु के समय परलोक के उदय काल में और आत्यन्तिक द्वैतनिवृत्तिरूप स्वप्नपदार्थ-बोधकाल में और सुषुप्तिकाल में भी शून्य ही रहता है, इसलिए जाग्रत् का स्वप्न के साथ साधर्म्य ही है, वैधर्म्य नहीं है ॥७॥

यदि कोई कहे आज के स्वप्न पदार्थ कल के स्वप्न में असत् ही हैं लेकिन आज के जाग्रत्पदार्थ कल के जाग्रत् में रहते हैं यों जाग्रत् और स्वप्न में वैधर्म्य है ही इस आशंका का अन्यान्य जन्मों में जाग्रत्पदार्थों की अनुवृत्ति के अदर्शन द्वारा परिहार करते हैं।

जाग्रद्रूप स्वप्नसमय में जीवित पुरुष को-मृत्यु हुए बिना मरने के उपरान्त दिखाई देनेवाले दृश्यों का अभाव होने से परलोकरूप जाग्रत् तनिक भी नहीं दिखाई देता, इसलिए आज के जाग्रत् के पदार्थों की कल के जाग्रत् में अनुवृत्ति नहीं दिखाई देती यह सिद्ध हुआ, इसलिए जाग्रत् में उक्त वैधर्म्य भी नहीं है ॥८॥ ऐसी परिस्थिति में आज के इस स्वप्न में, जो जीवन आदि सकल स्वाप्नपदार्थों से शून्य होनेपर भी भ्रान्ति से ही नानामयात्मक मालूम होता है, 'मैं जीता हूँ' यों जीवन आदि का बोध होनेपर आगे आनेवाले दिनका (कलका) तथा बीते हुए दिनका (कलका) स्वप्न परलोकसदृश ही है, इसलिए उसमें का कोई पदार्थ यहाँ (इस स्वप्न में) अनुवर्तमान नहीं दिखाई देता यह अर्थ है ॥९॥ जैसे स्वप्न में तीनों जगत् केवल चित्‌चमत्काररूप ही हैं वैसे ही सृष्टि से लेकर ही त्रिजगत् का अन्तःकरण में केवल चित्-चमत्काररूप से स्फुरण होता है ॥१०॥

जाग्रत् की स्वप्न के साथ एकता होनेपर जाग्रत् के पृथिवी आदि की स्वाप्न पृथिवी आदि पदार्थों

की भाँति निराकारता और असत्यता स्पष्ट है, ऐसा कहते हैं।

विपुल कलेवर (विस्तीर्ण) दिखाई देनेवाले जाग्रत् पदार्थ असत्यभूत ही हैं, वास्तव में जैसे स्वाप्न पृथिवी में आकारवत्ता नहीं है वैसे ही जाग्रत् में भी यह आकारवत्ता है ही नहीं। जैसे स्वप्न में नानारूप से देदीप्यमान होनेपर भी जगत् (स्वाप्न जगत्) शून्य ही है वैसे ही जाग्रत् में भी यह सारा जगत् चिदात्मक आकाश ही है ॥११,१२॥ चिदाकाश में जो यह जगत् स्फुरित होता है यह सूर्य आदि के तेज की प्रभा के समान चिदाकाश का स्वभाव है। चिदाकाश में इस प्रकार विराट्‌रूप से उसी का स्फुरण होता है। चिति की यह जगत् नामक स्वाभाविकी चमत्कृति है। यह आकाश में, दीवार में, परमाणुओं में, जल में और स्थल में खूब चमकती है ॥१३,१४॥ यह मिथ्या (असत्यस्वरूप) भ्रान्ति, जिसका शरीर केवल भ्रान्तिमात्र है, सत्य वस्तु की नाईं सामने खड़ी है। इस जगद्‌भ्रान्ति के प्रति कौनसा आग्रह है, इसके प्रति आग्रह करना अनुचित है, यह अर्थ है ॥१५॥ ग्रहीता (ग्रहण करनेवाला), ग्रहण और ग्राह्यरूप जगत् असत् ही है। उक्त जगत् अधिष्ठान सत्ता से सत् हो अथवा असत् ही हो इस विषय में एकतर पक्ष के व्यवस्थापन में दुराग्रह का क्या प्रयोजन है ? यह भाव है ॥१६॥ अज्ञानवश एक पक्ष में अभिमानभ्रान्ति होती है। इस समय इसका तत्त्व आपको यथार्थरूप से ज्ञात हो ही चुका है। यह इस प्रकार का हो, अन्य प्रकार का हो अथवा नहीं हो, इस विषय में कौनसा भ्रम है और इस तुच्छ भोगमें फलका आग्रह ही क्या है ? इसलिए विविध विकल्पों से कोई प्रयोजन नहीं है ॥१७॥

एक सौ पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छासठवाँ सर्ग

आत्मख्याति की विशेषता, अन्य ख्यातियों की स्थिति तथा
प्रश्नोत्तरयुक्त ब्रह्मनीलशिला के आख्यान का वर्णन।

‘चिति की यह जगन्नामधारिणी चमत्कृति खूब स्फुरित होती है’ ऐसा जो पहले कहा है, उसके विषय में विभिन्न वादियों द्वारा स्वीकृत अख्याति, असत् ख्याति, अन्यथाख्याति, आत्मख्याति नामकी चार ख्यातियों में से किस ख्याति से वह विद्वानों को स्फुरित होती है ऐसी रामचन्द्रजी की जिज्ञासा को चेष्टा द्वारा ताड़कर विद्वानों की दृष्टि से तो विभिन्नवादियों द्वारा स्वीकृत चार प्रकार की ख्यातियाँ खरगोश के सींग की तरह ही असत् हैं अतः आगे उनका खण्डन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी विद्वत्संमत पाँचवीं अलौकिक आत्मख्याति को समझाने के लिए उपक्रम करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वाच्यार्थ सहित ‘आत्म’ शब्द से और ‘ख्याति’ शब्द से रहित यानी अखण्डार्थवाले आत्मा और ख्यातिरूप दो पदों की लक्ष्यार्थरूप इस आत्मख्याति को आप आगे कही जानेवाली शिला के मध्य के समान घन (ठोस) जानिये ॥१॥

आत्मा ही, ख्याति यों दो पदों का समानाधिकरणता से अन्वय करनेपर आत्मा कौन है वह ख्याति किंविषयिणी है किसको विषय करती है–ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं।

आदि सृष्टि से ही चिदाकाश ही इस प्रकार से (जगत् के रूपसे) फैला है। उसकी सर्गता आत्मा में स्फुरित होती है। चूँकि आत्मा ने आत्मा में ही अपने चैतन्यबल से सर्गता का प्रख्यापन किया है,

इसलिए यह आत्मा ही सर्गता को विषय करनेवाली ख्याति है ॥२॥

आत्मशब्द के व्याख्यानभूत चिद्व्योम शब्द में 'व्योम' शब्द का अर्थ प्रपंचशून्यता ही है, इसलिए प्रपंच और उसकी ख्याति आत्मा ही है, ऐसा 'एव' का अर्थ दिखलाते हैं।

न यहाँ नदियाँ बहती हैं और न यहाँ उन्मज्जन और मज्जन (उतराना और डूबना) हैं। निष्क्रिय चिद्रूप आकाश का ही आकाश में इस प्रकार (जगत् के रूप में) स्फुरण होता है ॥३॥ विद्वान लोग ख्याति शब्द और उसके अर्थ के बिना स्वप्रकाश आत्मा को शब्द से रहित समग्र रूप से प्रख्यापक होने से कचन (स्फुरण) वाचक ख्याति शब्द से रहित समग्र रूप से कल्पनाशून्य आत्मख्याति कहते हैं ॥४॥

इस प्रकार सृष्टि के चिन्मात्ररूप होनेपर विभिन्न वादियों को अभिमत अख्याति आदि शब्दों की असंगति है, ऐसा कहते हैं।

जब यह सारा जगत् आत्मा ही है और वह स्वप्रकाशस्वरूप ही है यानी उसमें कोई भी ख्याति नहीं है तब वह कदापि भी कहींपर भी अपने से अतिरिक्त ख्याति से ख्यापित है यह कथन और अख्यात है यह कथन उसमें संभव नहीं हो सकता। भावार्थ 'क्तिन्' प्रत्ययान्त अख्याति पद की भी उसमें योजना नहीं की जा सकती है ॥५॥

भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्ययान्त अख्याति पद की योजना उसमें क्यों नहीं की जा सकती ? इस प्रश्न पर कहते हैं। 'ख्या' धातु का प्रथा अर्थात् प्रसिद्धि अर्थ है 'क्तिन्' प्रत्यय का 'भाव' अर्थात् 'सत्ता' अर्थ है। यों ख्याति शब्द का अर्थ हुआ ख्यानात्मक सत्ता (प्रसिद्ध्यात्मक सत्ता)। उस प्रकार का आत्मा ख्याति ही है। 'अख्याति' के 'नञ् के अर्थ के साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता, इसलिए उसमें अन्याभिमत 'अख्याति' कथन अवास्तव है। शंका-तब हेनुमत् ण्यन्त ख्या धातु से क्तिन् प्रत्यय हो। वहाँ भी 'णि' का लोप होनेपर 'ख्याति' रूप सिद्ध हो जायेगा। जिसमें ख्याति यानी ख्यापन नहीं है वह अख्याति है इस व्युत्पत्ति से आपका अभिमत अर्थ सिद्ध हो जायेगा।

समाधान-जब सर्ग को जड़ मानते हैं तब वहाँपर अन्य द्वारा किया गया ख्यापन और अख्यापन उपयुक्त हो सकता है। जब स्वप्रकाश आत्मा ही सर्ग है, तब जैसे एक दीपक में दूसरे दीपक से प्रख्यापन या अप्रख्यापन कोई मतलब नहीं रखता वैसे ही उसमें प्रख्यापन और अप्रख्यापन अकिंचित्कर है। इसलिए वादी का अभिमत अर्थ किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता। इससे असत्ख्याति और अन्यथाख्याति का भी, जिन्हें अन्य वादी मानते हैं, निराकरण हो गया; क्योंकि अर्थ के समान असत् और अन्यथा शब्दों के अर्थों का भी ख्याति पदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता, यह भाव है ॥६॥

यदि वादी लोग स्वप्न मनोरथ आदि के अन्य दृश्यों की तरह कल्पना मात्ररूप अख्याति आदि को चित्-चमत्काररूप ही मानें तो वैसा मानें इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

उस अवस्था में अख्याति, अन्यथाख्याति, असत्ख्यातिरूप दृश्य चिन्मात्ररूप सूर्य की चित् चमत्कारभूत प्रभाएँ ही हैं जैसे जैसे जब जो जो चिन्मात्रआकाशरूप सूर्य से निर्मल चिद्रूप किरणें अग्नि से चिनगारियों के समान स्फुरित होती हैं तब वैसी वैसी वे बन जाती हैं ॥७,८॥

ऐसी परिस्थिति में आपकी अभिमत वे अख्याति आदि मेरी आत्मख्याति की विभूतियाँ ही है, ऐसा कहते हैं।

आत्मख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति ये सब चित्चमत्काररूप होने से मेरी आत्मख्याति की विभूतियाँ ही है ॥९॥

पूर्व वर्णित आत्मख्याति का उपसंहार करते हुए पहले जो 'शिलाजठरनिर्घनाम्' –शिला के अन्दर के समान ठोस ऐसा पद कहा था उसकी शिलोपाख्यान द्वारा व्याख्या करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

आत्मा और ख्याति पद के वाच्य अर्थ से विरहित, आत्मा और ख्याति के लक्ष्यार्थ आदि अन्त से शून्य, वाणी का अविषय यह आगे कहा जानेवाला एकमात्र ठोसरूप से स्थित आत्मख्यातिपद का अर्थ है ॥१०॥ इस विषय में कर्णविभूषण यह महान् आख्यान आप सुनिये। यह आख्यान द्वैतदृष्टियों को नष्ट करनेवाला है और ज्ञानरूपी सूर्य को चमकानेवाला है ॥११॥ चारों ओर नीला आकाश ही यदि दीवार या चट्टान बने उसके समान कठिन निर्मल और विशाल एक शिला है, जिसका विस्तार हजारों करोड़ योजन है ॥१२॥ उस शिला में कहींपर भी सन्धियों का जोड़ नहीं है, वह अत्यन्त निबिड़ (ठोस), वज्र के समान मजबूत, महान् विस्तारवाली, अत्यन्त पुष्ट और कठोर उदरवाली तथा आकाश के समान निर्मल है ॥१३॥ असंख्य कल्पों तक उसका नाश होनेवाला नहीं है, वह अत्यन्त निबिड़ अंगवाली है, सुन्दरता में भी वह अपना जोड़ नहीं रखती और निर्मलता में तो वह आकाशसी दिखाई देती है ॥१४॥ उसकी सजातीय अन्य कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, अतः उसकी विशिष्ट यानी विजातीय से व्यावृत्त जाति को कोई भी नहीं जानता। उसके देश, काल, प्रकार को यानी वह कैसी है, किस देश में है और किस कालमें यह भी कभी किसी ने नहीं जाना। वह शिला अत्यन्त घनी, असीम, कठोर, वज्र के समान दृढ़ और अविनाशिनी है। भूतों यानी महाभूतों और चतुर्विध जीवों से विरहित उसके उदर के अन्दर उसकी स्वरूपभूत रेखारूप बहुतसी कमलराशियाँ शंख, गदाएँ, चक्र आदि वैसे ही विद्यमान हैं जैसे कि स्फटिक शिला के अन्दर स्वरूपभूत बहुतसी रेखाएँ रहती हैं। वहाँ (शिला के अन्दर) आकाश, वायु, जल, तेज आदि जगत् था ही नहीं, किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टिगत हो रहीं अपनी रेखाओं की ही उसने आकाश, वायु, जल, तेज, पृथिवी आदि संज्ञाएँ रख लीं ॥१५–१८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वह शिला है, शिला अचेतन होती है यह सारा संसार जानता है। फिर उसको चेतनता कहाँ से प्राप्त हुई ? यह मुझे बतलाने की कृपा कीजिये। यदि वह अचेतन ही है तो उसने आकाश, वायु आदि नाम कैसे रक्खे ? नाम रखना तो किसी चेतना का ही काम है ॥१९॥

'जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित्' इस उक्ति से ही इस प्रश्न का उत्तर हो चुका है, यों श्रीवसिष्ठजी रामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : प्रिय रामजी, विशाल तथा देदीप्यमान वह शिला न चेतन है और न जड़ है। उसकी जाति को कौन जान सकता है ? उसमें दूसरा है भी कौन जो उसकी जाति को जानेगा ? यह भाव है ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यदि उसमें कोई दूसरा नहीं है तो आपने जिन आकाश, वायु आदि के आकारवाली उसके उदर में स्थित रेखाओं का वर्णन किया है उन्हें कैसे देखता है ? अथवा किसने कब उसके अन्दर विचित्र रेखाओं के आकार में हथौड़ी आदि से उन्हें गढ़ा ? और अन्दर हथौड़ी आदि का प्रवेश न हो सकने के कारण कैसे किसने उन्हें फिर विनष्ट किया ? यह मुझे

बतलाने की कृपा कीजिये ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, वह अत्यन्त दृढ़ शिला तोड़ी नहीं जा सकती और न कोई तोड़नेवाला ही है। अपारपर्यन्त यानी अतिविशाल कायावाली उसीने सब कुछ व्याप्तकर रक्खा है। उसके अन्दर रेखारूप असंख्य वृक्षराशियाँ, पर्वतश्रेणियाँ, नगर और ग्राम हैं। उसमें रेखारूप ही सूक्ष्म, स्थूल, निराकार और साकार, देव, दानव आदि नामधारी जीव प्रतिमाओं की तरह विद्यमान हैं। उसमें आकाश नामकी विशाल रेखा है तथा उसके भीतर चन्द्र और सूर्य नामकी अन्यान्य उपरेखाएँ भी हैं ॥२२-२५॥

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, वहाँ पर उन रेखाओं को किसने देखा है, वे किस तरह की है और अति निबिड़ पत्थर के अन्दर स्थित वे कैसी देखी जा सकती है। कृपया यह कहिये ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके अन्दर उस तरह की वे रेखाएँ मैंने देखी हैं। यदि आपको उन्हें देखने की इच्छा हो तो आप भी उन रेखाओं को समाधि द्वारा देख सकते हैं ॥२७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, उस तरह की वज्र से भी मजबूत वह शिला तोड़ी नहीं जा सकती, फिर भी आपने उसके गर्भ में स्थित रेखाएँ कैसे देखीं ? ॥२८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं भी (वसिष्ठशरीर भी) इसके गर्भ में स्थित रेखारूप ही हूँ, इस कारण वहाँपर स्थित मैं सब रेखाओं को पूर्णतया देखता हूँ। उसके अन्दर स्थित हुए मैंने अन्दर स्थित सब रेखाओं को देखा, नहीं तो उस शिला को तोड़ने-फोड़ने की किसमें सामर्थ्य है ? ॥२९,३०॥

अब तत्त्वतः उस शिला को और वसिष्ठजी को जानने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : वह शिला कौन है, और आप कौन हैं, कहाँपर स्थित हैं। यह शिलानामक किसको आप कहते हैं और क्या आपने वह शिला देखी है ? कृपा करके यह सब यथार्थरूप से मुझसे कहिये ॥३१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, इस शिलाख्यानवाचोयुक्ति (वचनभंगी) से मैंने आपसे परमात्म महासत्ता का वर्णन किया है। यह विशाल शिला नहीं है। उस परमात्ममहासत्तारूप शिला के छिद्ररहित गर्भ में ये हम लोग उस शिला के मांस जैसे ही (स्वरूपभूत ही) स्थित हैं ॥३२,३३॥

सारा जगत् उस शिला का अंग ही है, यह विस्तार से कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, आकाश को आप उस शिला का अंग जानिये। वायु आदि पाँच महाभूत उसके अंग हैं, यह समझिये, क्रिया, शब्द आदि यानी वायु, आकाश आदि सब भूत-भौतिकों के धर्म, वासना आदि मनके धर्म और पक्ष, मास, वर्ष आदि काल की कल्पनाएँ उस शिला के अंग हैं ॥३४॥

उक्त को ही स्पष्टरूप से कहते हैं।

भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये सब उस शिला के अंग कहे गये हैं ॥३५॥ ये सब हम लोग भी उस परमात्ममहासत्तारूप शिला के मांस की तरह स्वरूपभूत ही हैं। उक्त परमात्ममहाशिला से अभिन्न होते हुए भी भ्रमवश अपने को उससे भिन्न समझते हैं ॥३६॥ जो यह चिन्मात्रैकस्वरूप अतिमहती शिला है यदि उससे पृथक् कोई है तो वह कहाँ पर है और वह कौन है यह बतलाइये ॥३७॥

यदि कोई कहे पृथिवी, घड़ा, गड्ढा, वस्त्र आदि ही उससे पृथक्‌रूप से प्रसिद्ध हैं, तो इसपर 'नहीं' कहते हैं।

ये भूतल, घट, पट आदि शुद्ध संवेदनरूप ही हैं जैसे स्वप्न में केवल संवेदनरूप घट, पट आदि का भान होता है और जैसे जलका ही तरंग, आवर्त, बुद्‌बुद् आदि रूप से भान होता है वैसे ही इनका भी भान होता है॥३८॥ तत्त्वज्ञ लोग घट, पट आदि सकल भूत–भौतिक पदार्थों को सर्वतः व्याप्त परमार्थघन एकरस शान्त चिन्मात्रघन ब्रह्म ही जानते हैं। महाचित् में सारा जगत् ब्रह्मशिला का गर्भ ही है और वह छिद्रों से रहित असीम तथा आदि, मध्य और अन्त से शून्य है। उक्त प्रकार के ब्रह्मात्मा ने अपने आप ही सृष्टि, जगत्, भुवन आदि पर्यायवाली दृश्यनामधारिणी यह कल्पना की है॥३९,४०॥

एक सौ छासठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सड़सठवाँ सर्ग

विभिन्न वादियों की उक्त चार ख्यातियों का तत्त्वज्ञ की दृष्टि से निराकरण और तीनों अवस्थाओं से निर्मुक्त आत्मतत्त्व का निरूपण करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञ के प्रति शब्दार्थदृष्टिरूप आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति खरगोश के सींगों की तरह असत् हैं॥१॥

यदि जगत्ख्याति होती तो वह आत्मख्याति है या असत्ख्याति है या अख्याति है इत्यादि विकल्पों का अवसर होता, जब जगत्ख्याति ही नहीं है तब किसकी चतुर्विधता होगी ? इस आशय से कहते हैं :

हे रामजी, इन ख्यातियों का कदापि संभव नहीं है। निश्चेष्ट (ख्याति आदि कल्पनाओं के मूलभूत चित्त की चेष्टाओं से रहित) शान्त अव्यपदेश्य ज्ञाता (द्रष्टा) ही केवल है॥२॥ ये आत्मख्याति आदि भ्रान्तिदृष्टियाँ चिन्मात्र से उदित होती हैं और चिन्मात्र परमार्थरूप से अत्यन्त शुद्ध (कल्पनाशून्य) आकाश है। अतः मैं सारी कल्पनाओं को तन्मयी ही देखता हूँ, *क्योंकि 'तद्यदिदमयोऽदोमयः सर्वमयः' (जो यह इदंमय, अदोमय, सर्वमय है वह सब ब्रह्म ही है) ऐसी श्रुति है*॥३॥ यह आत्मा है, यह ख्याति है, यह अन्तःकरण की कल्पनाभ्रान्ति ही है, अतः इसका संभव नहीं है। इसलिए शब्द का त्यागकर आप परमार्थभाजन होइए। इसीलिए हमने 'सार्थकेनाऽऽत्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झिताम्' यानी सार्थक आत्मशब्द से और ख्यातिशब्द से परित्यक्त (विरहित) ऐसा कहा है॥४॥ इस परमार्थदर्शन से चल रहा, ठहर रहा और खा रहा सारा जगत् शान्त, आकाश के समान मौन, निर्मल, निरवच्छिन्न तथा अप्रवृत्तिमान् ही प्रतीत होता है॥५॥

उक्त अर्थ का विशदरूपसे प्रतिपादन करते हैं।

उक्त परमार्थदर्शन से नाना महाशब्दों से भरा हुआ भी यह जगत् शिलावत् मौन स्थित है। निरन्तर चलता हुआ भी आकाश के समान तथा पर्वत के समान अचल (स्थिर) है॥६॥ भाँति–भाँति के अनेक आरम्भों से (कर्मों से) पूर्ण भी यह महाशून्य तथा अनाकृत है। पंचभूतात्मक होनेपर भी अलब्ध पंचभूतवाले आकाश के समान स्थित है॥७॥ विविध पदार्थों से परिपूर्ण भी यह शून्य संवेदनमात्र है। स्वप्न में देखे गये महासागर के समान दिखाई देनेपर भी निर्मल चिन्मय है। संकल्पनगर के समान

आरम्भयुक्त होनेपर भी आरम्भशून्य है और स्वप्न-स्त्रीसंगम के तुल्य भ्रान्तिरूप अतिशून्य है। दर्पण में प्रतिबिम्बित या चित्रलिखित अंगना के समान अनुभूत होनेपर भी व्यर्थ है। उसमें नाना भुवनों का निर्माण होनेपर भी वह वस्तुतः वस्तुशून्य है॥८-१०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यदि अविद्यमान ही जाग्रत् और स्वप्नरूप जगत् केवल वासना से दृष्टिगोचर होता है तो स्मृति से ही वह दृष्टिपदारूढ होता है, ऐसा मैं समझता हूँ, यानी मेरी समझ में जगत् के भान में स्मृति ही कारण है भ्रान्ति कारण नहीं है क्योंकि स्मृति अधिष्ठान, दोष, सादृश्य आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं करती केवल अविद्यमान पदार्थगोचर है॥११॥

जाग्रत-स्वप्न जगत् के अविद्या, निद्रा आदि दोष जनित होने के कारण तथा स्वप्रकाश चेतन में संप्रयोजन का उपयोग न होने के कारण यह जगद्भान चिदधिष्ठानवाली भ्रान्ति ही है, स्मृति नहीं है। जैसे वर्तमान अनुभव को स्मृति मानते हैं वैसे ही पूर्व पूर्व अनुभवों में भी स्मृतित्वापत्ति होने से स्मृति के मूलभूत अनुभव की अप्रसिद्धि होने का भय है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

चिदाकाशस्वरूप तथा पदार्थों का सत्तामात्र जो यह चित् के चाकचक्य से प्रतीत होता है वही यह काकतालीय के समान आकस्मिक शरीरधारी बिना दीवार के चित्र-सा जगत् है। वह यह अविनाशी शान्त जल में तरंगों की नाईं परमात्मा में सर्वत्र सदा विद्यमान रहता है। सर्वात्मक निर्वाणरूप आकाशरूप निराकार परमात्मा में स्वरूपभूत यह बिना निमित्त के ही जिस किसी दोष से जब जब जैसा अन्दर भासित होता है वास्तव में कुछ न होता हुआ भी न सदा या न कदाचित् यत्र तत्र वैसा प्रतीत होता है॥१२-१५॥

तब किसकी यह भ्रान्ति है और किसने ये जगत् आदि नाम किये हैं? इसपर कहते हैं।

इस प्रकार अपने स्वभाव का त्याग न कर रहे उसी ब्रह्म ने चित् होने के कारण स्वयं स्वभावभूत स्वच्छ उसी ब्रह्मभान के ही यह जाग्रत्, यह स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य ये नाम, ब्रह्म अथवा आत्मा ये नाम अपने में किये हैं॥१६,१७॥ वास्तव में तो न स्वप्न है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, न तुर्यावस्था है और न उनसे अतिरिक्त किन्तु सब कुछ शान्त परमाकाश ही है॥१८॥ अथवा चित् में कदापि स्वप्न न होने से यह सब कुछ सदा ही जाग्रद्रूप है या केवल भ्रान्तिमात्र होने से सदा ही स्वप्न है अथवा अविद्याआवरणमात्र होने से सुषुप्त है अथवा स्वयं ही सदा तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण करने से सदा ही यह सब तुर्य ही है, ऐसा कहा जा सकता है। तीन अवस्थाओं की असिद्धि होने से तुर्य का अन्त (असत्त्व) या निर्विकल्प में वह है या यह इत्यादि विकल्प को भी आशान्तरूपी हम नहीं जानते हैं। जैसे शून्यतारूपी जल में यह फेने है या कुछ नहीं है, यह बुद्‌बुद् है अथवा कुछ नहीं है यह विकल्प व्यर्थ है वैसे ही चिदाकाशरूपी महासागर के महागर्भ में यह जाग्रत है या यह स्वप्न है अथवा यह सुषुप्ति है यह विकल्प व्यर्थ है॥१९-२१॥

कल्पनावेदनदृष्टि से जिसने जब जैसा जाना उसको तब यह ऐसा ही है, यों सन्तोष करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जिस समय जिसका जिसको जैसे स्मरण होता है सत् हो चाहे असत् उसका उसको उस समय वैसा अनुभव होता है आपके स्वप्न की तरह चिति चिदाकाश में ही सत्असत् पदार्थों का अनुभव

करती हैं। यह संवित् का स्फुरण रूप ही चिद्रूप आकाश सर्वव्यापक चिद्रूप आकाश में भान के अनुसार भासता है। और चिदाकाश की मज्जारूप (वसारूप) वह संवित् सर्वदा ऐसी ही है। न कभी अस्त को प्राप्त होती है और न कभी उदित होती है, यह जगत् उसका अंगरूप है। महाप्रलय, सृष्टि आदि काल–विभाग और उसमें महाप्रलयरूपी रात्रियाँ और सृष्टिरूपी दिन केश, नख आदि के समान उसीके अवयवभूत हुए हैं। उसका वह चिद्रूप भास्वर भान अथवा मायारूप अभान वायु के स्पन्द के समान महाचैतन्य का स्वभाववत् है। अन्य (भिन्न) नहीं है। ऐसी परिस्थिति में क्या जाग्रत् होगा, क्या स्वप्न होगा, क्या सुषुप्ति होगी, क्या तुरीयअवस्था होगी, क्या स्मृति होगी और क्या इच्छा होगी ? ये सबकी सब जाग्रदादिदृष्टियाँ कुदृष्टियाँ हैं। चूँकि अपना आभ्यन्तर संवेदन ही बाह्य पदार्थ के रूप से प्रतीत होता है अतः कहाँ द्वैत है और कहाँ पदार्थशोभा है ? ऐसी स्थिति में स्मृति भी कहाँ से होगी ? भेदशून्य जो यह अपने से भासित होता है वह स्वभान (स्वरूपभूत ही भान) है, स्वभिन्न नहीं है। जैसे सूर्य का निराश्रय आकाश में भूतरहित प्रभारूप ही भान है वह किसी भास्य की अपेक्षा नहीं करता वैसे ही यह भूतविवर्जित चिद्भान ही है उससे अतिरिक्त नहीं है। यदि बाह्य पदार्थ सद्रूप होता तो उसके अनुभव से उत्पन्न स्मृति सर्ग के आदि काल की जगत्स्थिति की कारण हो सकती, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में उपपादन, निमित्त, सहकारी आदि कारणों का अभाव होने से पंचमहाभूतों का अत्यन्त असंभव है, अतः यह बाह्य अर्थ है ही नहीं। यह बाह्य अर्थ का वैसे ही अस्तित्व नहीं है जैसे कि खरगोश के सींगों का अस्तित्व नहीं है और जैसे आकाश वृक्ष का अस्तित्व नहीं है। जैसे वन्ध्या का पुत्र नहीं है और जैसे काला चन्द्रमा नहीं है ठीक वैसे ही सृष्टि के आदि में अज्ञानियों को प्रतीत हो रहा जगत् आदि, 'अहम्' आदि पदार्थ तत्त्वदृष्टि से न देखा जाय तो है यदि तत्त्वतः देखा जाय तो कुछ भी नहीं है। जैसे अज्ञानियों के प्रति महाकाय है वैसे ही तत्त्वज्ञानियों के प्रति मूर्तअमूर्तरूप से रहित चिन्मात्रएकघन अखंडित ही है ॥२२–३४॥

संवित्घन चिदाकाश की मज्जाभूत संवित् यद्यपि नित्य ही उदित है तथापि जब–जब जैसे उदित होती है तब तब व्यवहार में उपचार से (गौणीवृत्ति से) उसमें अस्त और उदय की कल्पना की जाती है। अज्ञानी जब जब अज्ञान से व्यर्थ ही आकाश में पृथिवी आदि रूप से उसे जानता है तब तब वह उस अपने भान में ही पृथिवी की कल्पना करता है। अजन्मा (जन्म आदि विकाररहित) आकाशरूप महाचिति स्वभान का ही पीछे पृथिवी आदि नाम से व्यवहार करती है। जैसे मूर्ख मनोरथनगर में यह नगर है ऐसी संवित् करता है वैसे ही अविनाशी चिन्मात्र आकाश में ही 'यह पृथिवी है' ऐसी संवित् धारण करता है। यदि वह चिन्मात्र ही है तो उसका जगदाकार में भान क्यों होता है और अभान भी क्यों होता है ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये, क्योंकि आकाश में वायु के समान उसे आप स्पन्द और अस्पन्द स्वभाववाला जानिये। प्राणशक्ति से वह स्पन्दस्वभाववाला है और चित्–शक्ति से अस्पन्दस्वभाववाला है, ऐसा जानिये, यह भाव है ॥३५–३९॥ चिदाकाश जैसे जैसे वासना के उद्भव से स्फुरित होता है वैसे वैसे यह जगत्रूप से भासित होता है। आकाश में निराकार आकाश ही है, यह पृथिवी आदि कहींपर भी सत् नहीं है ॥४०॥ इसलिए जिस प्रकार इस जगत् का भान होता है वैसा ही भान हो। भान होनेपर भी वह चिदाकाशरूप होने से न सर्वथा सत् है और न असत् ही है, वह प्रपंचरूप कुछ भी नहीं है, किन्तु

अनिर्वचनीय ही है ॥४१॥ यथास्थित यह जगत् ऐसा है और ऐसा नहीं है, सत् है अथवा असत् है इस लोकपर्यायवृत्तान्त को तत्त्वज्ञ ही जानता है, अन्य (अज्ञानी) नहीं जानता ॥४२॥ चूँकि वह प्राज्ञ (तत्त्वज्ञ) ही सबके हृदयाकाश में आत्मरूप से रहता है, अतः आत्मरूपसे ही स्फुरित हो रही दृश्य संवित् से यह आभ्यन्तर (शरीर) है, यह बाह्य ब्रह्माण्ड है इत्यादि भेदकल्पनाओं द्वारा नाम किया गया है। इस प्रकार क्या यहाँपर बाह्य है अथवा क्या आभ्यन्तर है, क्या दृश्य है और क्या इसकी दृश्यता है ? शिव, शान्त और अशान्त सब कुछ ॐकारूप प्रणवमात्र है यों अभेदकल्पना द्वारा प्रविलापन कर शान्त होइये ॥४३,४४॥

जब तक विचार करना हो तब तक लोकनीति के अनुसार वाच्यवाचकभाव, चाहे वह असत् ही क्यों न हो, स्वीकार करके ही श्रवण, मनन आदि विधियाँ प्रवृत्त होती हैं, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

वाच्यवाचकभाव के बिना शास्त्रार्थविचार नहीं हो सकता। और वह शास्त्रार्थविचार 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। प्रयोजनं च पंचांगं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः।' शास्त्र में विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष (सिद्धांत) और प्रयोजन इन पाँच अवयवोंवाला अधिकरण कहा गया है। यों प्रसिद्ध पंचावयव विकल्प से किया जाय तो सिद्धि के लिये होता है। जैसे रात्रि में दीपक के बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता वैसे ही उक्त विचार के बिना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥४५॥ इसलिए सम्यक् विचार से निर्मल हुई बुद्धि से अन्दर संकल्पकरणरूप प्रचुर विकल्पों को हटाकर मनको सकल शास्त्रों के निष्कर्षसिद्ध महार्थभूत सच्चिदानन्द अद्वितीय आत्मा में संलग्न कर यानी आत्मनिष्ठ होकर आप इस संसार से उड़कर मोक्षरूप उत्तम पद को प्राप्त होइये ॥४६॥

एक सौ सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अड़सठवाँ सर्ग

अबुद्धिपूर्वक सृष्टि के अध्यारोप का वर्णन और
विचार से उसकी चिन्मात्रस्वरूपता तथा चित् के अधिकारी होने से सर्ग का अपवाद।

सृष्टि को मिथ्या सिद्ध करने के लिए सृष्टि की अबुद्धिपूर्वकता का विविध दृष्टान्तों द्वारा समर्थन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वृक्ष अबुद्धिपूर्वक ही यानी 'मैं विचित्र शाखाओं की रचना करता हूँ' यों बुद्धिपूर्वकता के बिना ही शाखाओं की विचित्रता का निर्माण करता है वैसे ही जन्मादि विकाररहित परमात्मा आकाश सदृश अपने स्वरूप में शून्यरूप विचित्र प्रपंचअध्यासों की सृष्टि करता है ॥१॥

शंका : 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' (उसने विचार किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ), 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (उसने कामना की 'मैं बहुत होऊँ मैं उत्पन्न होऊँ'), 'स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' (उसने तपस्या की, तपस्या करके उसने इस सब चराचर की सृष्टि की), 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमुपजायते' (स्रष्टव्य (सर्जनीय) प्रपंच के आलोचनरूप तपसे ब्रह्म

'मैं एक हूँ बहुत होऊँ' यों इच्छावाला होता है तदनन्तर इच्छावान् ब्रह्म से ईश्वरोपाधिभूत अव्याकृत उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतियों में सृष्टि बुद्धिपूर्वक की गई है ऐसा डिंडिमघोष है। फिर आप सृष्टि अबुद्धिपूर्वक है ऐसा प्रत्यक्ष और श्रुति के विपरीत कैसे कहते हैं ?

समाधान : सुनिये, जैसा आपने ऊपर प्रतिपादन किया है वैसा ही होता, यदि श्रुति का तात्पर्य सृष्टि आदि के प्रतिपादन में होता। लेकिन भगवती श्रुतिका तात्पर्य सृष्टि आदि के प्रतिपादन में है नहीं, क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि के ज्ञान से किसी प्रयोजन की सिद्धि श्रुति में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। अद्वितीय ब्रह्मात्मज्ञान ही सप्रयोजन है अतः सकल श्रुतियों में विस्तार से वर्णित है। फलवान् (सप्रयोजन) अद्वितीय ब्रह्मात्मज्ञान के समीप में श्रुत अफल (निष्प्रयोजन) सर्ग आदि किमर्थ है ऐसी आकांक्षा होनेपर वह फलवान् ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अंग हो जाता है। और वह शांडिल्य विद्या के अंगभूत शमविधि परक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस वाक्य में चूँकि यह सारा जगत् उससे उत्पन्न होता है, अतः 'तज्ज' है, उसमें लीन होता है, अतः 'तल्ल' है, उससे जीवित रहता है, अतः 'तदन्' है, उत्पत्ति, स्थिति और लय में ब्रह्माधीन सत्तावाला होने के कारण यह सब ब्रह्मरूप ही है यों ब्रह्मअद्वैत बतलाने में उपायभूत है, इस कारण श्रुति ने स्वयं श्रीमुख से सर्ग की ज्ञानांगता का सिद्धवत् कीर्तन किया है, अन्य प्रकार से उसकी संगति नहीं बैठ सकती। 'तदनन्यत्वमारम्भरणशब्दादिभ्यः' इत्यादि सूत्र, भाष्य आदि द्वारा बतलाई गई सैकड़ों युक्तियों से, स्मृति, पुराण आदि हजारों वेदोपबृंहणों से अध्यारोप और अपवाद द्वारा निष्प्रपंच ब्रह्मात्मतत्त्व के प्रतिपादन में सब श्रुतियों का तात्पर्य निश्चित होनेपर रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, मरुमरीचिका, स्वप्न आदि अध्यारोपों में अबुद्धिपूर्वकता ही देखी गई है, कहींपर भी अध्यारोप में बुद्धिपूर्वकता नहीं देखी जाती यों भगवान् श्रीवसिष्ठजी सृष्टि में किसी को अनारोपितत्व शंका न हो इसलिए सृष्टि की अबुद्धिपूर्वकता की सिद्धि करते हैं। रह गई श्रुतियों में ईक्षण आदि पूर्वकत्व के कथन की बात। उसका प्रयोजन तो ब्रह्म की सर्वज्ञता, चिदेकरसता आदि के लाभ से सांख्य आदि के अभिमत अचेतन प्रधान आदि की उपादानता के निराकरण में है, क्योंकि 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों से ऐसा ही श्रुति का तात्पर्य दिखलाया गया है; 'तस्य त्रय अवस्थास्त्रयः स्वप्नाः अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन स्वप्न उसके तीन स्थान हैं। 'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्' (जैसे जीवित यानी चेतनरूप से प्रसिद्ध पुरष से अचेतन केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही ब्रह्म से सृष्टिकाल में निखिल जगत् उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतिदृष्टान्त के अनुरूप है; भगवान् के ईक्षण, कामना, संकल्प आदि के, जो बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति से पहले के हैं, केवल मायावृत्तिरूप होने से सृष्टि के ईक्षण, कामना और संकल्पपूर्वक होनेपर भी काम, संकल्प आदि धर्मवान् में अबुद्धिपूर्वकता की उपपत्ति होती है; त्वंपदार्थनिष्ठ ही अध्यारोप के अपवाद द्वारा निरास में मुक्तिरूप फलता उपपन्न होती है, इसलिए तत्पदार्थ में जगत् के अध्यारोपप्रतिपादन का कोई प्रयोजन नहीं है; प्रपंच स्वनिष्ठ अविद्या का कार्य है, अतः स्वविद्या से उसकी निवृत्ति हो सकती है और अपने में अबुद्धिपूर्वक ही तीन अवस्थाओं के अध्यारोप का अनुभव होता है, इस आशय से मुनि ने यहाँ अबुद्धिपूर्वकता का समर्थन किया है, यह समझना चाहिये।

जैसे सागर अबुद्धिपूर्वक ही आवर्त, तरंग, बुद्‌बुद् आदि की रचना करता है वैसे ही निराकार सर्वेश्वर परमात्मा आकाश में जगत्-प्रतिभासों को (जगत् स्फुरणों को) बनाता है। तदनन्तर वह उन जगदाकार स्वसंविदों की ही स्वयं मन, बुद्धि, अहंकार इत्यादि विविध संज्ञाएँ करता है। जैसे समुद्र से तरंग आदि स्वतः होते हैं वैसे ही चित् से बुद्धि आदि की सिद्धि होने तक दृश्यरूप आरम्भ अबुद्धिपूर्वक स्वतः ही होता है, लेकिन बुद्धि की सिद्धि होने के बाद संकल्प्यमान जो आरम्भ है वह बुद्धिपूर्वक होता है। जैसे सागर से आवर्त (भँवर), जलकण, बड़ी बड़ी लहरें और लहरियाँ निकलती हैं वैसे ही चिन्मात्र से मन, बुद्धि आदि उत्पन्न होते हैं ॥२-५॥ जैसे केवल दिखाई देनेवाला चित्रलिखित जगत् केवल दीवारमात्र है वैसे ही चित् में आभासमात्र (स्फुरणमात्र) यह जगत् चिदाकाशमात्रस्वरूप ही है ॥६॥ जैसे पूर्वोक्त वृक्ष, सागर आदि के वृत्तान्त में अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त हुआ भी शाखा, आवर्त आदि कार्य नियतिवश तुल्य देह की गठनवाला होता है वैसे ही चित् में सृष्टिरूपी कार्य भी तुल्य शरीर संगठनवाला होगा, इसलिए उसके वास्ते भी बुद्धिपूर्वकता की आवश्यकता नहीं है, यह अर्थ है ॥७॥ जैसे वृक्ष में पत्ते, फूल, गुच्छे आदि के नाम वृक्ष से अन्य रखता है वैसे ही समष्टिबुद्धिरूप हिरण्यगर्भ के अनन्तर जन्मे हुए चिद्‌रूप वृक्ष के पुष्प आदिरूप पृथिवी आदि का चित् से अन्य बुद्धिसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ आदि ने नामकरण किया, ऐसा समझना चाहिये ॥८॥ जैसे पत्ते, फूल, फल आदि महावृक्ष से अभिन्न (अपृथक) है वैसे ही चिदाकाशरूप परमात्मा से यह जगत् अभिन्न ही है। जैसे वृक्ष के अवयवभूत पत्र, पुष्प, फल आदि के विविध नाम वृक्ष से अन्य रखता है वैसे ही चिदाकाश अपने में अन्यसा (व्यष्टिजीवसा) होकर स्वपुत्र आदि के तथा अन्यान्य सकल कार्यों के विविध नाम रखता है ॥९,१०॥

इस प्रकार नाम और रूपके अध्यारोप का विस्तार से वर्णन कर अब उनका अपवाद आरम्भ करते हैं।

चिद्रूप वृक्ष के चित् होने के कारण ही उसकी पल्लवरूपी सृष्टियाँ सर्वथा नहीं है। किन्तु वह चिद्रूपी वृक्ष ही स्वप्न के समान स्वयं कार्य और कारणसा प्रतीत होता है ॥११॥ यदि सृष्टि आदि है ही नहीं तो चित्को परलोक में व्यर्थ ही उसका अनुभव होता है यह मानना पड़ेगा यह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्ग का अभाव माननेपर वह विहित-निषिद्ध कर्मों का फल रहा नहीं, फिर परलोक में सर्ग आदि का अनुभव कैसे होता है ? ऐसा यदि आप आक्षेप करें तो स्वप्न आदि में तथा इन प्रसिद्ध रज्जुसर्प, मरुमरीचिका आदि अनुभवों में कौन व्यर्थता का निवारण कर सकता है, क्योंकि उनमें भी तो स्वाप्न आदि भोग देनेवाले कर्म की सफलता है तो वह प्रकृत में कहो कि वहाँपर भोगाभासमात्र देखने से कर्म की सफलता है तो वह प्रकृत में भी समान है यानी प्रकृत में भी भोगाभासमात्र से वह सफलता क्यों न होगी ? यह भाव है ॥१२॥

साकारअध्यास में वृक्ष आदि से चित् में यह विशेषता है कि साकार में वे सब साकारअध्यास हैं लेकिन निराकार चित् में साकार जगत् का अध्यास है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे आकारवान् वृक्ष में यह शाखादिकल्पना की गई है वैसे ही निराकार चित् में यह जगत्‌रूप कल्पना की गई है ॥१३॥ जैसे फूल में सुगन्ध आदि हैं, जैसे आकाश में शून्यता है तथा जैसे वायु में स्पन्द आदि है वैसे ही परमात्मा में बुद्धि आदि हैं ॥१४॥ जैसे फूल में गन्ध आदि है, जैसे आकाश में शून्यता आदि है और जैसे वायु में स्पन्द आदि है वैसे ही चित् में ये पृथिवी आदि भी हैं। जैसे आकाश की

शून्यता, वायु के स्पन्द और फूलों की गन्ध का अनुभव होनेपर उनसे पृथक् करनेपर वे शून्यरूप हैं यानी आकाशादि से पृथक् शून्यता आदि का अस्तित्व नहीं है (वैसे ही) चित् में सर्गस्थिति अनुभूत होनेपर भी चित् के बिना शून्यरूप है ॥१५,१६॥

उक्त विषय का ही विशदरूप से प्रतिपादन करते हैं।

जैसे शून्यता आकाश से अतिरिक्त नहीं है, द्रवता जल से पृथक् नहीं है, गन्ध पुष्प से पृथक् नहीं है, स्पन्द वायु से अलग नहीं है उष्णता अग्नि से अलग नहीं है और शीतलता हिम से (बरफ से) विलग नहीं है वैसे ही निर्मल चिदाकाश स्वरूप ईश्वर से जगत् अतिरिक्त नहीं है। सृष्टि के आदि में जो आकाश में दृष्टिगोचर होता है, स्वप्न से जो हृदयप्रदेश में दृष्टिगोचर होता है वह अकारण जाग्रत् तथा स्वप्न जगत् चिदाकाश से कैसे अतिरिक्त हो सकता है ? प्रतिदिन देखा गया स्वप्न ही इस विषय में दृष्टान्त है, उसपर विचार कीजिये। जरा बतलाइये तो सही स्वप्न में चिन्मात्र से अतिरिक्त क्या सार है ? ॥१७–२०॥ यदि कहे कि स्वप्न स्मृति ही है। अन्य स्मृतियों में, जो संस्कारजन्य तथा विषयशून्य होती हैं, 'सोऽयं' यों तत्ता भासित होती है। किन्तु स्वप्न में निद्रारूपी दोष से इदन्तागोचरत्वांश में संस्कार का उद्बोध होने से तत्तांशका अपहरण हो जाता है, अतः इदन्ता भासित होती है। इसलिए यह बुद्धिजन्यसंस्कार दृश्य दोनों ही जगह एक ही वस्तु है इत्यादि शंका तो ठीक नहीं है। क्योंकि तत्ता इदन्ता कैसे होगी ? अपरोक्ष में (प्रत्यक्ष में) इदन्ता प्रसिद्ध है, लेकिन स्मृतिमें तो असन्निकृष्ट (दूरवर्ती) परोक्ष ही है, इसलिए यह कैसे घट सकता है, कहिये, यह अर्थ है ॥२१॥ यदि कहो कि स्वाप्न–स्मृति के समय वन आदि में देखा गया बाघ आदि स्वप्नदेश में निद्रा द्वारा निकट में लाया जाता है, यों यदि इदन्ता उसपर होगी तो उस वन में वह बाघ आदि अन्यों द्वारा अनुभूत न होगा। निद्रा द्वारा एक ही बाघ दो तरह से स्थापित किया जाता है यह कहो, तो एक की ही दो प्रकार से स्थिति कैसी ? ॥२२॥

इसलिए स्वाप्नबोध की अनुभवरूपता का अपलाप न हो सकने से दृष्टान्त है ही, अतः जो मैंने कहा, वह सिद्ध हुआ यों उपसंहार करते हैं।

इसलिए समुद्र आदि में आवर्तों की तरह काकतालीय के समान अकस्मात् चित् में जो यह जगत् स्फुरित होता है उसी में जाग्रत् और स्वप्न के अनुभव की सिद्धि के बाद स्वप्न आदि की कल्पना होती है ॥२३॥ समुद्र में तरंग आदि की तरह अबुद्धिपूर्वक उत्पन्न सृष्टि में स्वप्न आदि की अनुभवसिद्धि के अनन्तर सन्निवेश और स्थिति सम्पन्न होती है ॥२४॥ जो कारण के बिना उत्पन्न होता है वह उत्पन्न हुआ भी अनुत्पन्न ही है इसलिए अजात (अनुत्पन्न) वही आद्य जात–सा (उत्पन्न–सा) स्थित है ॥२५॥ जैसे रत्न, मणि, माणिक्य आदि की कान्तियाँ अबुद्धिपूर्वक ही उत्पन्न हुई हैं वैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जगतों के वेष से फुरती है ॥२६॥ यथाकथंचित् यानी अनिर्वचनीय मायारूप कारण के बल से ही सृष्टि के आरंभ सागर में आवर्त की भाँति यह जगत् उत्पन्न होता है पीछे अपने में अर्थक्रियाकारितारूप सत्यता का ग्रहण करता है। चिदाकाश में विविध स्वप्न परम्पराओं की तरह चिदाकाश में चिद्रूप जगत् अत्यन्त शून्य से शून्य होनेपर भी धाराप्रवाहरूप से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं यानी आविर्भूत होते हैं और तिरोभूत होते हैं। तदुपरान्त सकल पदार्थ चिरकाल तक परस्पर कार्यकारणभाव को प्राप्त होते

हैं। उनके ईश्वर (◬) आदि पदार्थ शून्यात्मक ही हैं ॥२७-२९॥ यह दृश्य शून्य ही उत्पन्न होता है, शून्य ही यह बढ़ता है और शून्यता से अत्यन्त अविद्यमान ही विनष्ट होता है ॥३०॥ शून्य दृश्य सा विकास को प्राप्त होता है, इस विषय में यानी असत् के विकास में स्वानुभूत स्वप्नस्वरूप दृष्टान्त का जो अपलाप करता है वह कुमति भेड़िया द्वारा अपने अपहरण का भी अपलाप करेगा ॥३१॥ सुकृत्रिम भ्रान्तिमात्र यह दृश्य मिथ्या ही प्रतीत होता है चित् की चमत्कृति ही इसका वास्तविक स्वरूप है। तत्त्वज्ञ की दृष्टि में तो यह अकृत्रिम सन्मात्र ही है ॥३२॥ यह प्रपंच चिरस्थायी मनोरथरूप ही है, सृष्टि और प्रलय की भ्रान्ति इससे अतिरिक्त नहीं है। उसके वास्तविक स्वभाव का स्फुरण ज्ञान है और भ्रान्ति के आकार से इसका स्फुरण अज्ञान है, ऐसा समझना चाहिये ॥३३॥ जैसे दृश्यशून्य आत्मा में सुषुप्तिके बाद स्वप्न देखा जाता है वैसे ही माया से उपहित ब्रह्मात्मा तुरन्त ही दृश्य बनकर बिना कारण ही आविर्भूत होता है यों देखा गया है। पीछे वह अर्थक्रियाव्यवस्था द्वारा कार्यकारणभावादि नियति को प्राप्त होता है ॥३४॥

अकस्मात् दृश्य के स्फुरण में निमित्त की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे सागर में आवर्त आदि काकतालीय न्याय से अकस्मात् अपने-आप प्रकाशित होते हैं वैसे ही चित् में दृश्य काकतालीयन्याय से अकस्मात् अपने-आप ही चित्स्वभावता के कारण स्फुरित होता है ॥३५॥

चित् के स्वभाव का ही स्पष्टीकरण करते हैं।

आकाशमात्ररूप (शून्यरूप) यह चित्धातु ऐसा ही है जो कि चित्स्वरूप होनेपर भी यह इस प्रकार जगत् के रूप से स्फुरित होता है ॥३६॥ पहले अबुद्धिपूर्वक दृश्याकार का भान होने से दृश्यभूत उस चिदात्मा ने पीछे अपने में अतीतरूपसे प्रतीत में स्मृति आदि की कल्पनारूप, वर्तमान के रूपसे स्फुरित में पृथ्वी आदि और पृथ्वी आदि बुद्धि की कल्पनारूप अनेक संज्ञाओं की कल्पना की। ऐसी परिस्थिति में अविभक्त तात्कालिक प्रतिभास में वह सम्पूर्ण बुद्धि आदि विभाग कल्पनामात्र ही हैं ॥३७॥

यदि तात्कालिक प्रतिभासों में ही विभागसंज्ञारूप भेदकल्पनामात्र ही जगत् है केवल प्रतिभास क्षण में रहनेवाला जगत् अप्रतिभासकालमें नहीं ही है यह फलित हुआ। ऐसी अवस्था में प्रतिभासक के उत्तर क्षण में प्रतिभासका विनाश होनेपर जगत् का भी नाश होने से क्षणभंगवाद की प्राप्ति होगी। हो क्षणभंगवाद, उस तरह के मायामय जगत् में स्थायिता सिद्ध करने में ब्रह्मवेत्ता का कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि लोक में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि पूर्वानुभूत की ही होती है ऐसा नियम है। स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के अधीन वेदशास्त्रादि के प्रामाण्य का भंग होने से ब्रह्मवाद की जड़ उखड़ जायेगी, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

गुरुवर, आपके कथनानुसार जगत् के तात्कालिक कल्पनामात्र होनेपर प्रामाणिक अनुभव से उत्पन्न संस्कार से पूर्वोत्पन्न बुद्धि की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा होती है यों सर्वशिष्टानुभवसिद्ध नियम कैसे प्राप्त होगा ? क्या आप स्मृति और प्रत्यभिज्ञान को पूर्वानूभूत विषयिणी नहीं मानते ? यह मुझसे कहने की

(◬) ईश्वरता भी मायासापेक्षस्वरूप है।

कृपा कीजिए ॥३८॥

भगवान श्रीवशिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी की आशंका की प्रशंसा करते हुए समाधान की प्रतिज्ञा करते हैं।

भगवान् श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मैं आपके प्रश्न के (आक्षेप के) ऐसे ही टुकड़े कर डालता हूँ जैसे कि सिंह छोटे से कमजोर हाथी के टुकड़े–टुकड़े कर डालता है तथा जैसे भगवान् सूर्य तिमिरराशि का उच्छेद कर एकमात्र प्रकाश की स्थापना करते हैं वैसे ही मैं एकमात्र अद्वैत की स्थापना करता हूँ ॥३९॥

यह आपके द्वारा लगाया गया दोष तब होता जब हम पहले असत् ही जगत् क्षणिक प्रतिभास के साथ उत्पन्न होता है ऐसे बौद्ध सिद्धान्त को स्वीकार करते। लेकिन हम वैसा स्वीकार नहीं करते, हम यह स्वीकार करते हैं कि नित्य ब्रह्मसत्तारूप ही जगत् है वह नित्य चिदात्मक ही प्रतिभास से सदा अभिव्यक्तियोग्य है अविद्या की आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति की विचित्रता के चमत्कार से कभी आविर्भूतसा, तिरोहित सा, घट, पट आदि के आकारसा, छिन्नसा, भिन्नसा, कारणों द्वारा उत्पादितसा, अपरोक्षसा, एकसा, नानासा, भिन्नअभिन्नसा, क्षणिकसा, स्थायीसा, अतीतसा, वर्तमानसा, भविष्यत्सा नाना चमत्कारों से, जो नियत, अनियत, सदृश, असदृश हैं, एकसे नहीं हैं, अवभासित होता है। उसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि सब कुछ उपपन्न ही होता है, इस आशय से समाधान का आरम्भ करते हैं।

यह जगदात्मक दृश्य वैसे ही चिन्मात्र के गर्भ में विद्यमान है जैसे कि वृक्ष में बढ़ई द्वारा काट छाँटकर न गढ़ी गई वन में स्थित प्रतिमा वृक्ष के अन्दर रहती है ॥४०॥ काठ की प्रतिमा को तो वृक्ष से छील–तराशकर यानी उसका आवरण करने वाले काठ के अवयवों को हटाकर बढ़ई निकालता है (प्रकट करता है), किन्तु अद्वितीय चिद्रूपी स्तम्भ से उस जगत्रूपी प्रतिमा उससे अन्य कौन गढ़ता है यानी कारक के अधीन न होने से काष्ठप्रतिमा की तरह उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, यह अर्थ है ॥४१॥ काष्ठप्रतिमा जड़ स्तम्भ में (खम्भे में) बिना छीलेतराशे प्रकट नहीं हो सकती, किन्तु चित् में भीतर स्थित वह (जगत्रूप प्रतिमा) उसके अधिष्ठानभूत चित् के आवरण की निवृत्ति होनेपर चित् के प्रभाव से चिदात्मा में ही पूर्णरूप से प्रकट होती है ॥४२॥

तब प्रलय और सुषुप्ति में भी उसका भान क्यों नहीं होता, यह यदि कहो तो सत्तासामान्यरूप से उस समय भी उसका भान होता ही है, ऐसा कहते हैं।

प्रलय और सुषुप्ति में तो शून्यरूपा जगत्रूप प्रतिमा बिना गढ़े ही सत्तासामान्यरूप से भासमान चिन्मात्ररूप से अच्युत होकर ही चिदात्मा में स्थित है ॥४३॥ सृष्टि के आदि में भी पहले पूर्वोक्त निर्विकल्प कल्पनावती होकर पीछे भोगकर्ता के अदृष्ट के अनुसार उत्पन्न हुए मनोविकल्पों से स्वयं परमचिदाकाशरूपिणी वह चिति अपने आकाशरूप हृदय में चित्र विचित्र सृष्टिरूप प्रतिमाओं की कल्पनाएँ अपने में स्वभावतः वैसे ही करती है जैसे स्वप्न में उत्पन्न कल्पनाओं की करती है ॥४४,४५॥

चिति सृष्टि के आदि में कैसे विशेष विभागों का संकल्प करती है? इसका विस्तार से वर्णन करते हैं।

यह ब्रह्मकला सत्तासामान्यरूप जगत्बीजस्वरूप है। इस ब्रह्मकला में ही चिन्मात्र कल्पना यानी सदा अनावृत स्वभाववाली यह प्रतिबिम्ब चिति है, यही प्राण आदि से युक्त होने से जीव है तथा अभिमानवृत्ति की प्रधानता होने से यही अहंकार है ॥४६॥ अध्यवसाय (निश्चय) प्रधान होने से यही

बुद्धि है, यही चित्त है, यही काल है, यही आकाश है, यही मैं हूँ, यही क्रिया है, यही पंचतन्मात्राएँ हैं ॥४७॥ यही इन्द्रियों का संघात है, यही पुर्यष्टक कही गई हैं, यहाँपर यही आतिवाहिक शरीर तथा आधिभौतिक शरीर है। मैं ब्रह्मा हूँ, मैं शंकर हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं सूर्य हूँ, यह बाह्य है, यह आभ्यन्तर है, यह सृष्टि है, यह जगत् है इत्यादि कल्पनाजाल अतिनिर्मल चिदाकाश ही है। इसलिए ये अज्ञानियों द्वारा कथित पदार्थ राशियाँ कहाँ ? स्मृति कहाँ और द्वैत तथा अद्वैत कहाँ ? ॥४८-५०॥ इस रीति से यह विस्तारयुक्त जगत् बिना कारण का ही है। सृष्टि के आरम्भ में स्वप्न के तुल्य चिदाकाश में चिदाकाश ही विकारयुक्त-सा प्रतीत होता है ॥५१॥ चिन्मय आकाश में ही जो चिन्मय आकाश स्फुरण है उसी ने उसे ही जगत् जाना, बोध होने के उपरान्त वह जगत् कहाँ है ? ॥५२॥

जब मात्र चिदाकाश ही है तो प्रपंचित विभागों का अस्तित्व नहीं है यह निष्कर्ष निकला, यह कहते हैं।

कहाँ स्मृति है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ दिन, मास, संवत्सर आदि काल विभाग हैं, कहाँ विविध सृष्टि कल्पनाएँ हैं ? यह शान्त चिद्भान ही आकाश में शून्यरूप जगत्सा मालूम पड़ता है। जो चिद्घन के अन्दर है यानी चिद्घन की अन्तर्गत जो सत्ता है वह बाह्यता को प्राप्त हुई है वास्तव में तो सन्मात्र के सिवा न वह बाह्य है और न आभ्यन्तर है। अरे अन्धे वादी लोगों, जो वस्तु अवयवशून्य निर्विकार निराकार से प्रकट होती है, वह अकारण कैसे उत्पन्न होगी और वह कूटस्थ ही अन्यथा (सविकार) कैसे होगा ? ॥५३-५५॥

इसलिए भ्रमवश ज्ञात जगत् के जाड्यादि स्वभाव का त्यागकर जगत् चिन्मात्रस्वभाव है ऐसा स्वीकार करो इसी में कुशल है, ऐसा कहते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा परम ब्रह्म है वैसा ही यह जगत् भी चिन्मात्रस्वभाव ही है, क्योंकि जो चिदाकाश है वही स्वप्न में स्वप्ननगर है उसमें कोई अन्तर नहीं है ॥५६॥ शून्यरूप यह दृश्य तनिक भी कुछ नहीं है। पूर्णसागर में धूलि (बिना भीगा रजकरण) कहाँ ? वैसे ही परमाकाश में दृश्य का अस्तित्व कहाँ ? ॥५७॥ अथवा जो यह दृश्य-सा कुछ स्फुरित होता है वह चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही है। चेत्य रहित होने से अपने से भिन्न दूसरे को प्रकाशित न करता हुआ ही शान्त वह स्वमात्रप्रकाश होकर अपने स्वरूपमें इस प्रकार का स्थित है ॥५८॥

उक्त अर्थ में 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस श्रुति का स्मरण कराते हैं।

पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण भी अनुद्धृत भी उद्धृत सा यह परमात्मरूप भी भान, जो भावरूप ही है, भासित होता है, स्फुरित होता है ॥५९॥

इतने विस्तार के साथ प्रतिपादित प्रतिदिन दुहराये तिहराये गये उपदेश से भी कुछ मन्दअधिकारियों को अप्रबुद्ध जानकर भगवान् श्रीवसिष्ठजी उनके लिए शोक प्रकट करते हैं।

यद्यपि मैं अपने अनुभव में आ रहे आत्मतत्त्व को इस प्रकार विशदरूप से बार-बार ऊँचे स्वर से प्रकट कर रहा हूँ, फिर भी मन्दअधिकारी लोगों के हृदय में बद्धमूल मूढ़ता (अज्ञान) स्वप्नतुल्य जगत् में यह जाग्रत् सत्य ही है ऐसी बुद्धि का त्याग नहीं करती है, यह महान् खेद का विषय है। जानता हुआ भी अधिकारी शीघ्र उसका त्याग नहीं करता। मोह की प्रबलता की बलिहारी है ॥६०॥

एक सौ अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उनहत्तरवाँ सर्ग

विश्रान्त चित्तवाले जीवन्मुक्त के प्रचुर लक्षणों का तथा आत्मवान् की सदा सुप्ति का कथन।

यदि आपने मन्द अधिकारियों का अज्ञान मुखविकारादि चिह्नों से ताड़ लिया तो अज्ञान की निवृति किन लक्षणों से जानी जा सकती है यों मुक्त के लक्षणों की जिज्ञासा करनेवाले श्रीरामचन्द्र आदि से श्रीवसिष्ठजी मुक्त के लक्षणों का वर्णन करते हैं।

जिस नित्य अन्तर्मुख बुद्धिवाले परमात्मा में आसक्त मतिवाले ज्ञानी पुरुष के सुख के साधनभूत विषय सुख के लिए नहीं हैं और दुःखसाधन दुःख के लिए नहीं हैं, वह मुक्त कहलाता है। जैसे अज्ञानियों की बुद्धि बिखरे हुए विषयों पर आसक्त होकर उनसे विचलित नहीं होती है वैसे ही चिदाकाश में अचल (अटल) निष्ठावाले जिस पुरुष की बुद्धि उससे विचलित नहीं होती है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसका निश्चल चित्त चिन्मात्ररूप परमात्मा में विश्रान्त होकर उसी में रति को प्राप्त हो गया वह जीवन्मुक्त कहलाता है। परमात्मा में विश्रान्त हुआ जिसका चित्त उससे हट कर फिर इस दृश्य में रति को प्राप्त नहीं होता वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥१-४॥

श्रीरामचन्द्रजी पूर्वोक्त प्रथम श्लोक द्वारा कथित लक्षण के जड़, उन्मत्त और मूर्च्छितों में व्यभिचार की आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, जिसका सुखसाधन विषय समुदाय सुख के लिए नहीं है और दुःखसाधन दुख के लिए नहीं है उस अचेतन मनुष्य को तो मैं जड़ ही समझता हूँ॥५॥

वहाँ पर 'अन्तर्मुखमतेः' इस विशेषण से ही उक्त व्यभिचार का निवारण हो जाने से कोई दोष नहीं है, इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी उसके तात्पर्य को विशद करते हुए उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : जो शुद्धबोधात्मा चिदाकाश में अत्यन्त संलग्न होने के कारण प्रयत्न के बिना सुख को नहीं जानता है, वह विश्रान्त कहा जाता है। विवेक द्वारा जिसके सब पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाले सभी सन्देह वास्तव में क्षीण हो गये वह परम पद में विश्रान्त है, सकल सन्देह अज्ञानमूलक हैं अतः मूलअज्ञान के विनाश से सकल सन्देहों का विनाश हो जाता है, यह भाव है। *(इस विषय में भगवती श्रुति भी है — 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' अर्थात् परात्पर परमात्मा के दर्शन होने पर चिद्अचिद्अविवेकरूप हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सब सन्देह मिट जाते हैं। व्यवहार करते हुए भी जिसके अन्दर किसी भी वस्तु में कहीं पर भी अनुराग नहीं है, वह विश्रान्त कहा गया है।)* प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल गया उससे निर्वाह कर रहे जिसके समस्त कार्य कामना और संकल्प से शून्य हैं, वह परम पद में विश्रान्त कहा गया है ॥६-९॥ जिस महापुरुष ने विश्रामशून्य निराधार और लम्बे संसाररूपी मार्ग में चिन्मात्र के दर्शन से आत्मा में विश्राम पा लिया, वह सर्वश्रेष्ठ है, सर्ववन्दनीय है ॥१०॥ जो लोग चिरकाल तक बीहड़ संसारमार्ग में भटककर परमपद में विश्राम पा चुके वे लोकव्यवहार में निरत होने पर भी विषयों के पीछे दौड़ने से (भटकने से) उत्पन्न खेद को निवृत्त करने के लिए सोये हुए से दिखाई देते हैं। विषयों के पीछे न दौड़ना ही उनका विश्राम पा जाने का स्पष्ट लक्षण है ॥११॥ वे शुद्धचिद्रूप भास्कर चैत्य और चिदाकाश से यानी दृश्य

और द्रष्टा से शून्य स्वचित्ताकाश में नित्य उदित होकर दीप्त होते हैं, संसार में कहीं पर नहीं रहते ॥१२॥ उत्तम पुरुष सदेह होते हुए तथा व्यवहार में निरत होते हुए भी सोये हुए से, विदेह से और मूढ़ से दिखाई देते हैं वास्तव में वे जड़ (मूढ़) नहीं हैं ॥१३॥

'सुप्ताः' इस पद के तात्पर्य का विवरण करते हैं।

जो लोग इस स्वप्ननगर में शय्याओं में सोये हुए हैं, वे सुप्त (सोये हुए) कहे जाते हैं, किन्तु वे जड़ता को प्राप्त नहीं हुए है, निद्रापरवश नहीं हुए हैं ॥१४॥

तब किस अंश से उसकी सुप्त से समता है यह पूछो तो विश्रान्ति और मौन से है, ऐसा कहते हैं।

दीर्घमार्ग में परिभ्रमण से निवृत्त होकर श्रम से रहित हुआ जो पुरुष वाक्य मुख से बाहर नहीं निकालता वह सुख मौनस्थ कहा जाता है, न कि जडाकृति कहलाता है ॥१५॥ अविद्यारूपी अन्धकार में विविध व्यवहार कर रहे अतएव उल्लू के तुल्य सकल भूतों की जो अविद्या की अस्तमयरूप रात्रि है वह परम बोध है, परम शान्ति है। उसमें ज्ञानी एकरसरूप से स्थित रहता है ॥१६॥ इस दुःखदायक जिस दृश्य में सब भूत जाग्रत् रहते हैं उसमें सदा सुप्त है यानी वह सुखी उसे नहीं देखता है। भगवान् ने गीता में 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागृति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

इस श्लोक से दो लक्षण दिखलाये हैं ॥१७॥

सर्वकर्मसंन्यास भी उसका लक्षण है, ऐसा कहते हैं।

हे रघुद्वह, जो सकल कर्मों का अनादर कर (त्याग कर) स्वात्मा में ही स्थित रहता है वह आत्माराम (अपने में ही क्रीड़ा करनेवाला) कहा गया है, वह जड़ नहीं है ॥१८॥ जन्म, जरा आदि संसारक्लेश से निर्मुक्त होकर इस संसार-सागर के पार पहुँचा हुआ उत्तम पुरुष निरन्तर विश्रान्ति सुख का अनुभव करता हुआ आत्मा में स्थित रहता है ॥१९॥

'धावित्वा ये चिरं कालम्' (जो चिरकालतक परिभ्रमण कर) इसके अर्थ का विस्तार करते हैं।

दीर्घसंसाररूपी मार्ग में भ्रमण से थका हुआ, वंचना में चतुर देशोपद्रवों की नाईं भोग-सामग्री का अपहरण करनेवाले विषयों द्वारा चिरकाल तक भोगसाधन पदार्थों से व्याकुल होकर संसारमार्ग में चला है, जरारूप (बुढ़ापारूप) हिमपात और वज्रपात उसे बार बार व्यवहार के अयोग्य बनाते हैं, व्यर्थ व्यग्रतापूर्वक विहार करनेवाला जन्मरूपी जंगल का मृगरूप वह पथिक नाना दुःखरूपी काँटों से आकीर्ण सुदुर्लभ सुखरूपी छायावाले संसारमार्ग में असहाय (अकेला) ही चला है ॥२०-२२॥ पाप से उपार्जित धन से संबल बनाकर पद पद पर गिरते ठोकर खाते अर्थ अनर्थ मार्गरूपी संकटों से विवश हुआ जीव यों थककर भाग्यवश साधन-सम्पत्ति द्वारा सत्-शास्त्र और सद्गुरु के अनुग्रहवश तत्त्वसाक्षात्कार से प्रबुद्ध होकर संसाररूपी सागर के परले पार पहुँच कर आत्मज्ञानवान् हो शय्या के बिना भी सुखपूर्वक सोता है। आश्चर्य की बात है कि आत्मवान् पुरुष ऐसे सुख से सोता है जिसमें शयनार्थियों द्वारा अपेक्षित घर, द्वार, महल, पलंग आदि की जरूरत नहीं रहती,न स्वप्न रहता है, न सुषुप्ति रहती है और प्राण आदिकी कोई चेष्टाएँ भी नहीं होती हैं आत्मस्वरूप में पूर्णरूप से जागरुकता रहती है तथा स्वरूप से बहिर्भूत निद्रा नाम की वस्तु का उसमें नाम-निशान नहीं रहता। जैसे उत्तम नस्लका घोड़ा खाते, चलते, टिकते सदा ही सोता है केवल युद्ध में जागा रहता है वैसे

ही जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष खाते, चलते, साँस लेते और बोलते महाअरण्यरूप लोक में सुखपूर्वक सोता है, यह महान् आश्चर्य है ॥२३–२६॥ तत्त्वज्ञानियों की वह गाढ़ी नींद कोई अलौकिक ही है जो प्रलयकालीन मेघों के गर्जनों से तथा अंगों के छेदन–भेदनों से भी नहीं टूटती है ॥२७॥ तत्त्ववेत्ताओं की वह कोई अपूर्व (अनूठी) ही गाढ़ी नींद है जो चिन्मात्र के दर्शन में प्रबुद्धों की (जागरूकों की) भी बाह्येन्द्रियों को बन्द कर देती है अथवा व्यवहार में जागरूकों की भी बाह्येन्द्रियों के रूपादि दर्शन को दर्शन आदि के विषय में बन्द कर देती है ॥२८॥ जिसका नेत्रों को बन्ध किये बिना ही सारा विश्व विलीन हो जाता है, वह परमार्थ से पागल (न कि मद के नशे से पागल) आत्मज्ञानी सुखपूर्वक सोता है, यह आश्चर्य है ॥२९॥ अहा ! सारे जगत् को निगलकर परम पूर्णता को प्राप्त हुआ आत्मवान् पुरुष तृप्तिपर्यन्त (खूब छककर) अपरिच्छिन्न (असीम) आनन्दरस का पान कर सुखपूर्वक सोता है ॥३०॥ अहा, विषयजन्य (वैषयिक) आनन्द के अभाव में भी निरतिशय आनन्द से महान् आनन्दवाला अक्षय अद्वैत सुख का अनुभव कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष जिसके अन्य आलोकों से (प्रकाशों से) अप्रकाश्य आत्मा में महान् प्रकाश है, सुखपूर्वक सोता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिरूप अन्धकार से रहित होने के कारण आत्मा के महाप्रकाश में आसक्ति को प्राप्त हुआ तथा अमूर्त आनन्दरस में अतिशय आस्वाद युक्त आत्मवान् पुरुष सुख से सोता है ॥३१,३२॥ आत्मवान् का ऐसा सुखशयन है जिसमें असीम दुःखानुभव के विषय में विरति रहती है, वर्णाश्रमोचित व्यवहार में लोकसंग्रह के लिए अविरति रहती है, बाह्य पदार्थों में अनासक्ति रहती है और आभ्यन्तर सुख का निरन्तर भोग रहता है ॥३३॥ अत्यन्त अणुओं में (सूक्ष्मों में) सबसे अत्यधिक अणुतम (सूक्ष्मतम) तथा अत्यन्त स्थूलपदार्थों में सबसे अत्यधिक स्थूलतम' आत्मा को चिदाकाशरूपी शय्या में स्थिति (चिदाकाशनिष्ठ) कर आत्मवान् पुरुष सुख से सोता है ॥३४॥

अहा ! सूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त अणु तथा व्यापक होने के कारण अतिस्थूल चिद्देह में प्रत्येक परमाणु में अनन्त कोटि जगतों को धारण कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है । अनेक संहार (प्रलय) और सृष्टियाँ कर रहा वास्तव में कुछ न कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष परम प्रकाशरूपी शय्या पर सुखपूर्वक सोता है ॥३५,३६॥ संसारसमूहरूप स्वप्न को, ज्ञान प्राप्त कर, प्रकट दिशाओं की तरह अपरिच्छिन्न सुषुप्तता को प्राप्त कर रहा ज्ञानी पुरुष सुख से सोता है ॥३७॥ सम्पूर्ण जगत्पदार्थों की 'घटः सन् पटः सन्' इस प्रकार सत्‌रूप से सर्वत्र अनुगम होने के कारण सत्तासामान्यता को प्राप्त हुआ आकाश से अधिक व्यापक (☙) आत्मज्ञानी पुरुष सुख से सोता है ॥३८॥ पहले प्रविलोपन द्वारा आकाशता को प्राप्त जगत् को अव्याकृत आकाश से भी निर्मल चिदाकाश बनाकर आत्मवान् पुरुष शब्द और श्वास–प्रश्वास रहित सुखपूर्वक सोता है । स्वयं प्रत्यगात्मभूत चिदाकाश के एक कोने में स्वप्न के तुल्य इस हमारे जगत् को देख रहा चिदाकाशकोशस्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥३९,४०॥ लोकप्रवाहानुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोहर तृणराशि निर्मित चटाई पर विश्राम को प्राप्त हुआ आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥४१॥ जैसे जागरूक (जागे हुए) पुरुष,जिसने गाढ़ी नींद में स्वप्न का अनुभव

(☙) 'ज्यायानाकाशात्' (आकाश से बड़ा विशाल) ऐसी श्रुति है ।

किया है, नींद में अनुभूत स्वप्न का बड़े प्रयत्न से स्मरण करता है वैसे ही आत्मविचाररूप सुषुप्ति में सोनेवाला आत्मज्ञानवान् पुरुष अन्य के अथवा अपने अत्यन्त प्रयत्न से बहिर्मुखवृत्ति होकर बाह्यपदार्थ के परिज्ञान से आपाततः (सरसरी) शरीरधारणादि व्यवहार ऐसे ही करता है जैसे कि निरवकाशस्थान में रहने में असमर्थ आकाश दूसरे जैसे कल्पित आकाश से आकाशस्वरूप में सत्ता धारण करता है ॥४२॥ परम चिदाकाशको प्राप्त आत्मज्ञानी पुरुष आकाश के सदृश विशाल स्वरूप के ज्ञान से अत्यन्त असत् होने के कारण आकाशतुल्य (शून्यरूप) जीव-जगत् रूप धर्मों को प्रयत्न से देखता है, उनका ज्ञाता बनता है ॥४३॥

इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष का अज्ञानी की दृष्टि का स्वप्न कह कर परमार्थ दृष्टि में सदा वह प्रबुद्ध है, ऐसा कहते हैं ।

तत्त्वज्ञानी पुरुष इस प्रकार सदा सुप्त होता हुआ भी लोक में प्रसिद्ध जाग्रत और स्वप्न में लोक की तरह ही प्रबुद्ध और सुप्त होकर जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों के भोग में सहायभूत आगे कहे जानेवाले मित्र के साथ सदा रमता है । उसके पश्चात् सुषुप्त होकर उसके साथ ही सुषुप्ति को प्राप्त हुआ ॥४४॥

जब तक प्रारब्ध का भोग रहता है तब तक उस मित्र के साथ क्रीड़ा कर उसके पश्चात् उसकी जीवन्मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं ।

जीवन्मुक्त पुरुष अन्यान्य जन्मों में एकता द्वारा चिरकालतक सहवास से उत्पन्न प्रेम से मानों अपनी सारी विषमता त्यागकर समचित्त से तथा शम, दम, तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य और सन्तोष की अनुवृत्ति से मधुर आगे कहे जानेवाले चिरकाल के मित्र के साथ आयु के शेष दिनों को आगे कही जानेवाली क्रीड़ा के साथ परम पद में (निरतिशयानन्द विदेह कैवल्यपद में) विश्राम को प्राप्त होगा ॥४५॥

एक सौ उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्तरवाँ सर्ग

पुत्र, स्त्री और सेवक से युक्त कर्मनामक मित्र तथा
उसके गुणों का वर्णन और उसके साथ आनन्ददायक क्रीड़ा का वर्णन ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जीवन्मुक्त का कौन मित्र है, कृपया मुझसे कहिये जिसके साथ यह (जीवन्मुक्त) क्रीड़ा करता है । उस मित्र के साथ जो वह क्रीड़ा करता है उसका क्या स्वभाव है ? वह स्वात्मस्वरूप में अवस्थिति ही है अथवा रमणीय भोगस्थानों में विहारप्रयुक्त प्रीतिरूप है ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी,सहज स्वकर्म, लोकसंग्रह के लिए कृत शास्त्रीय स्वकर्म और अपने प्रयत्न से अभ्यस्त सत्-शास्त्रों के अभ्यास, विचार,सत्संगति, शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य,बाह्य और आभ्यन्तर शौच, सन्तोष, ईश्वर-ध्यान, संयम आदि स्वकर्म यह त्रिविध अनिषिद्ध कर्म एक ही है, उपाधिभेद से तीन नामों द्वारा पुकारा जाता है । उक्त त्रिविध कर्म ही जीवन्मुक्त पुरुष का एक मात्र मित्र है ॥२॥

उस मित्र के गुणों का वर्णन करते हैं।

वह पिता के समान ढाढस देनेवाला है, स्त्री के समान अकार्यों के विषय में लज्जा द्वारा नियन्त्रण करता है और दुर्निवार्य संकटों में सदा साथ रहता है, कभी बिछुड़ता नहीं है। उसके सेवाआदि व्यवहार में किसी प्रकार की शंका का नाम–निशान नहीं है, वह निर्वाणरूप परम सुख का सम्पादन करता है तथा क्रोध के अवसरों में स्वयं कोपरहित होने के कारण शान्ति से समाधानरूपी अमृत का प्रदान करता है ॥३,४॥ दुर्गम जंगलों में उबड़–खाबड़ मार्गों में और अनिवार्य वैर, झगड़ा–झंझट में फँसने पर उनसे उद्धार करने के लिए सदा कटिबद्ध रहता है, सब विश्वासरूपी रत्नों की तिजोरी है तथा अनेक जन्मों के अभ्यास से अनुगत होने के कारण बाल्यावस्था से ही साथ रहता है। बाल्यकाल में उसने उसके साथ धूलि के खेल खेले हैं, बाल्यावस्था से ही वह संगी–साथी बना है, अनेक दुश्चेष्टाओं का निवारण किया है तथा उसके रक्षण में पिता के समान सदा तत्पर रहा है ॥५,६॥ वह अग्नि की उष्णता के समान, फूल की सुगन्ध के समान और सूर्य के निर्मल दिन की तरह सदा अविनाभावी (विलग न होनेवाला) है यानी जैसे अग्नि से उष्णता पृथक् नहीं होती, फूल से सुगन्ध नहीं बिछुड़ती तथा सूर्य से दिन अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही वह भी उससे बिछुड़ता नहीं है ॥७॥ नित्य लाड़ करने में निरत, पालन करने में सर्वथा कटिबद्ध वह सकल संकटों की प्राप्ति होने पर रक्षा करने में सदा कमर कसकर तैयार रहता है ॥८॥

जैसे अग्नि सुवर्ण को शुद्ध कर देती है वैसे ही सभी अवस्थाओं में स्थित देह की वह शुद्धि करनेवाला है तथा यह त्याज्य है यह ग्राह्य है इस प्रकार के विवेक में सदा तत्पर रहता है। वह नगरनिवासी चतुर पुरुष के समान अनिन्दनीय (अश्लील आदि दोषों से रहित) कथाओं से आह्लादित करनेवाला है तथा वचन, मन और शरीर की सुन्दर चेष्टारूपी मणि, माणिक्य आदि रत्नों की राशि का भण्डार है। जैसे सूर्य दूर से ही अन्धकार को हटा देता है वैसे ही वह सत्कर्मरूपी मित्र अप्रिय वस्तु को दूर से ही हटा देता है,समीप में नहीं आने देता तथा अनुरागयुक्त स्त्री की नाईं सदा प्रिय वस्तु ही दिखलाता है यानी प्रिय वस्तु को ही समीप में आने देता है। अपने सम्पर्क में आये हुए जनको प्रिय बोलनेवाला बना रहा तथा सदा प्रिय ही कर रहा वह मित्र कोमल, मधुर,स्नेहमय, क्षोभरहित और अप्रमादी है। अपने सम्पर्क में आये सत्पुरुषों की सेवा–शुश्रुषा करता है, पूजनीय है, स्मितपूर्वक बोलता है, कामना से रहित है अतएव सज्जनों के रूप के समान रूपवाला है तथा परमार्थ का (मोक्षका) एकमात्र कारण है। दैवात् अज्ञानी लोगों के साथ हुए युद्ध में पहले प्रहार करने में उद्यत रहता है यानी अत्यन्त शूर है तथा लोकोत्तर क्रीड़ा, हास्य आदि कौतुकों के निर्माणों द्वारा लीला और लाड़–प्यारों से विलास करानेवाला है। सुशीलसम्पन्न नारियों का तथा कुल का पालन करनेवाला है और आधिव्याधि से परिपूर्ण चित्त का अमृत के समान जीवनौषध के तुल्य है एवं चित्त के राग को हटानेवाला है। विशेषरूप से विद्वता और वादों द्वारा प्रभु, गुरु आदि संमाननीय उत्कृष्ट लोगों का मनोरंजन करता है यानी उनके मन में कौतुक उत्पन्न करता है। कहीं पर समान कुल और शील होने के कारण विभाग से द्विधाभाव में (द्वैत में) स्थित–सा है। उत्तम राजा, व्यापारी आदि को अनुरक्त बनाकर सदा दानवीर बना रहा वह सदा यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थयात्रा और न्याय के लिए प्रेरणा करने में तत्पर रहता है।

उससे पुत्र, पत्नी, द्विजाति (ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य), दास, दासी और बन्धु जनों के सहित सुन्दर भोजनपान के योग्य उत्तम पुरुषों के साथ संगति होती है। भोग आदि में दुःखदायी बद्धतृष्णता का (अतितृष्णा का), सदा निवारण कर रहा वह मित्र स्नेहमय सुन्दर कथा-वार्ता में अत्यन्त दक्ष है और समाश्वासन का (ढाढस बाँधने का) उत्तम स्थान है। इस तरह के स्वकर्मनामक सपत्नीक अपने मित्रसे संयुक्त पुरुष स्वभाव से ही रमता है न कि किसी से प्रेरणा पाकर ॥९-२०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, उसके इस मित्र के स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्ग कौन हैं और उनके कैसे गुण हैं ? यह मुझसे संक्षेपतः ही कहने की कृपा कीजिये ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महामते श्रीरामजी, इसके स्नान, दान, तप और ध्यान नाम के चार महात्मा पुत्र हैं। उनके सद्‌गुणों से सारी प्रजा उन पर खूब अनुरक्त है। चन्द्रकला के समान दर्शनसे ही लोगोंको आह्लादित करनेवाली, कभी पृथक् न होनेवाली (सदा साथ रहनेवाली), अनुरागमयी,नित्य सन्तुष्ट (मुदिता), दयावश चारों ओर धन बाँटनेवाली, मनोहारिणी, आनन्द देनेवाली सदा साथ रहनेवाली वयस्या (सहचरी) समता नामकी इसकी भार्या है। वह सदा प्राणों से भी इसे प्रिय है। हे साधो, धैर्य और धर्म के विषय में सदा आकृष्ट बुद्धि इसकी द्वारपालिका है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहती है और सुख देने में तत्पर रहती है। यह धीर धन्य उत्तम पुरुष जहाँ जाता है वह उसके आगे आगे दौड़ती है। इस महातेजस्वी राजारूप मित्र की विषयरूपी शत्रुओं पर विजयपाने के विषय में मन्त्र (सलाह) देनेवाली मैत्री नाम की दूसरी स्त्री सम होने के कारण सदा ही कन्धे से कन्धा सटाकर रहती है। माननीय इसको आर्यमर्यादारूपी सब कार्यों के विषय में अतिचातुर्य पूर्वक उपदेश देनेवाली सत्यता इसकी धनाध्यक्षा है। इस तरह के उत्तम परिवारवाले मित्र और मन्त्रीरूप अपने कर्म के साथ सर्वत्र लोकव्यवहार कर रहा जीवन्मुक्त पुरुष लाभ होने पर न तो हर्षित होता है और न हानि होने पर कुपित ही होता है। निर्वाण में (मोक्ष) निरत मनवाला मननशील ज्ञानी पुरुष युद्ध आदि व्यवहार कर रहे चित्रलिखित योद्धा के समान लोक में निरन्तर व्यवहार करता हुआ भी यथास्थित (ज्यों का त्यों) ही रहता है। वह वस्तुशून्य (अतात्त्विक)वादों में शैल प्रतिमा की (पत्थर की मूर्ति की) तरह मूक रहता है एवं निष्प्रयोजन (बेमतबल के) शब्दों के प्रति अत्यन्त बहरा रहता है। लोकाचार से विरुद्ध सभी कर्मों में मुर्दे के समान निश्चेष्ट रहता है, सदाचार के विवेचन में सहस्रजीभवाले शेषनाग अथवा देवगुरू बृहस्पति के समान वाग्मी और पवित्रकथावाला है तथा अपने और दूसरों के कुटिलता आदि दोषों को ताड़ लेनेवाला, दुरूह (कठिन से भी कठिन) सन्दिग्ध वस्तुओं का पलक भर में निर्णय करके वक्ता तथा विविध सदुपदेशों का उपदेष्टा है। वह सब जीवों पर समदृष्टि रखनेवाला, अत्यन्त उदार, दानवीर, सबको बाँटनेवाला, कोमल, स्नेहमय और मधुर स्वभाववाला, सुन्दर तथा पुण्यचरित है। ये पूर्ववर्णित गुणगण ज्ञानी लोगों के स्वभावसिद्ध ही हैं। वे प्रयत्न से ऐसे उत्तम गुणगणवाले नहीं होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि किसी अन्य की प्रेरणा से प्रकाशमय नहीं होते, किन्तु स्वभावतः ही वे प्रकाशमय हैं वैसे ही प्रबुद्ध पुरुषों के उक्त गुणगण स्वाभाविक ही हैं ॥२२-३५॥

एक सौ सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इकहत्तरवाँ सर्ग

जीवन्मुक्ति की सिद्धि तथा सकल संशयों की निवृत्ति के लिए
फिर तत्त्वोपदेश द्वारा दृश्य का परिमार्जन करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यह चिदाकाश का स्फुरण ही जगत् के रूप से प्रतीत होता है। वास्तव में तो न जगत् है, न जगत् की आभा है, न शून्य ही है और न वृत्ति संवित् ही हैं। जैसे शून्यता आकाश से अतिरिक्त नहीं है वैसे ही जो यह जगत्नामक चिदाकाश का भान है, यह अज्ञानी जनकी दृष्टि में चिदाकाश से भिन्न रूप से स्थित होने पर भी उससे (चिदाकाश से) भिन्न नहीं है। निर्विषय ही चैतन्य जो एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर बीच में प्रसिद्ध है वही दृश्य के रूप से स्फुरित होता है। यह दृश्य उससे अतिरिक्त नहीं है ॥१-३॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवलः, इत्यादि श्रुतियों में पहले केवल सन्मात्रशेषरूप महाप्रलय होने पर उसके पश्चात् आदिसृष्टि होती है यह सुना गया है।

उसमें 'सदेव' (सत् ही था) ऐसा अवधारण करने से अधिकारी परमात्मा से अन्य कारण का अभाव होने पर इस दृश्य की कहाँ से उत्पत्ति हो सकती है ? उस समय अणुमात्र भी दृश्य के बीज का (कारण का) अस्तित्व नहीं, जिससे कि फिर यह मूर्त दृश्यचक्र प्रवृत्त होता। भाव यह कि उस समय, पूर्वोक्त श्रुति से विरोध होने के कारण, परमाणु आदि अन्य कारणों की कल्पना का तनिक भी अवकाश नहीं है ॥४,५॥ इससे यह सिद्ध हुआ कि यह मूर्त जगत् वन्ध्यापुत्र की नाईं उत्पन्न ही नहीं हुआ, अतः दृश्यबुद्धि सर्वथा नहीं है। सृष्टि-श्रुतियों का तात्पर्य अनुत्पत्ति का प्रतिपादन करने में ही है, यह अर्थ है ॥६॥

तब प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर हो रहे जगत् की क्या गति होगी ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जो यह चारों ओर स्थित 'दृश्य' नामका कुछ प्रतीत होता है, स्फुरित होता है, श्रुतियों के तात्पर्य को जाननेवाले पुरुष उसे चिन्मात्र निर्मल आकाशरूप परम पद ही जानते हैं ॥७॥

जैसे स्वच्छ (निर्मल) चिन्मात्र निर्विकार अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ आत्मा ही सुषुप्ति से स्वप्न में जाता हुआ अनवस्थिति को (अन्यरूप के समान स्थिति को) प्राप्त होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में चिदाकाशरूप आत्मा ही अपने से अपने में चिदाभासरूप दृश्यसा स्फुरित होता है यानी आत्मा का सुषुप्ति से स्वप्न में गमन की नाईं प्रलय से सृष्टि में गमन भी समझना चाहिये। जैसे संकल्प से मन्द हुआ मन मनोरथ आदि में नगर के रूप से स्फुरित होता है वैसे ही चिदाकाशरूप परमात्मा सृष्टि के आदि में दृश्य-सा स्फुरित होता है। जैसे वायु स्पन्दरूप होता हुआ अपने में ही आँधी, बवंडर आदि की तरह चेष्टा करता है वैसे ही चिदाकाश अज्ञात होकर अपने में ही दृश्यरूप से स्थित होता है। अतएव यदि वह ज्ञात हो जाय तो त्रिजगत्रूप दृश्य कदापि भासित न हो, अपने स्वरूप में इस प्रकार (जगत् के रूप से) स्थित केवल परम ब्रह्म का ही भान हो। मूर्त पृथिवी आदि का अस्तित्व किंचिन्मात्र भी त्रिकाल में भी है ही नहीं। चाहे वह अज्ञानी की दृष्टि में मूर्त अथवा ज्ञानी की दृष्टि में अमूर्त हो, वास्तव में ब्रह्म

ही उस तरह से (दृश्यरूप से) विराजमान है। जैसे जागरण के समय में (जाग्रत्काल में) स्वप्न का पहाड़ निःस्वरूप आकाश ही है यानी शून्य ही है वैसे ही प्रबोधकाल में (आत्मज्ञानकाल में) यह त्रिजगत् शान्त चिन्मात्र आकाश ही है। प्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि में यह जगत् अखण्ड परम ब्रह्म ही है। हम लोग विचार करने पर भी यह अप्रबोध (अज्ञानरूप दृश्य) कैसा है यह नहीं जानते ॥८-१५॥

सब भूतों का निर्विषय चिन्मात्र ही निज स्वभाव है, ऐसा कहते हैं।

एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर मध्य में प्रसिद्ध जो निर्विषय चैतन्य है वह परमात्मपद ही भूतों का निज स्वभाव है। एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर मध्य में प्रसिद्ध जो निर्विषय चैतन्य है वही यह परमाकाश है। इसीमें सब कुछ प्रतिष्ठित है यानी निर्विषय चैतन्य ही सर्वाधिष्ठान भी है ॥१६,१७॥

अधिष्ठान के अनुरूप ही यह अध्यास है, ऐसा कहते हैं।

जैसे यह परमपद है वैसा ही यह सत्असत्रूप प्रपंच भी है, क्योंकि पंचभूतों से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जैसे स्व से अतिरिक्त स्वकार्यशून्यता ब्रह्म में है वैसे ही इसमें भी है। इसी अंश से इसमें अधिष्ठानअनुरूपता है। श्रुतियों के तात्पर्य को जाननेवाले लोग रूपालोक यानी बाह्य इन्द्रियों से जन्य विषयाभास तथा मनस्कार यानी आभ्यन्तर इन्द्रिय मन के अधीन विषयाभास ये सभी चिन्मात्ररूप परम ब्रह्म ही हैं, ऐसा जानते हैं। ये सब महासागररूपी उक्त पद की द्रवता के (जल के) आवर्त हैं ॥१८,१९॥

इससे निर्विषय चिन्मात्र से अतिरिक्त जगत्ता नहीं है यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

संवित् की एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति होने पर मध्य में निर्विषय जो चैतन्य प्रसिद्ध है उससे अतिरिक्त जगत्ता कोई नहीं है। राग, द्वेष आदि भाव तथा जगत् की भाव-अभाव दृष्टियाँ ये सब सद्रूप और भानरूप का त्याग न करते हुए इसके अंगरूप से स्थित हैं। शाखाचन्द्रदर्शन में पूर्वकोटि (शाखा) और अन्यकोटि को (चन्द्रको) छोड़कर बीच में जो संवित् का निर्विषय शरीर प्रसिद्ध है, वह उसका परम स्वभाव है। वही जगद्रूप मरुमृगतृष्णा के जलमें अधिष्ठानसंज्ञक है ॥२०-२२॥

इसी अभिप्राय से मैंने बार-बार निर्विषय विस्तृत अपरोक्ष चैतन्य की सर्वसाधारण प्रसिद्धि के प्रदर्शक 'देशाद्देशान्तरप्राप्तौ' इस श्लोक की घोषणा की है, इस आशय से कहते हैं।

कूटस्थ होने के कारण ही स्वरूप से अप्रच्युत संवित् का जाग्रत् से स्वप्न की प्राप्ति होने पर मध्य में (सुषुप्तिदशा में) जो स्वरूप है, पूर्वसृष्टि से पुनः सृष्टिप्राप्ति होने पर मध्य में (प्रलय में) जो संवित् का स्वरूप है तथा इस लोकरूप प्रदेश से परलोकरूप प्रदेश की प्राप्ति में मध्य में (मूर्च्छावस्था में) जो संवित् का स्वरूप है वह वैसे ही सदा रहता है। उसीका अज्ञानी लोगों ने जगत् यह दूसरा नाम कपोल कल्पना से रक्खा है ॥२३॥ आदि सृष्टि से ही दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ। जो यहाँ प्रतीत होता है वह मायारूपी ऐन्द्रजालिक का आडम्बर-मात्र है ॥२४॥ खेद है, जो दृश्य है ही नहीं वह अस्तिरूप से स्थित है। जो परम ब्रह्म है उसकी नास्ति है इससे बढ़कर दुःख क्या होगा ? मूढ़ों को अभाग्यवश ही, मणि नहीं है, काँच है, इस भ्रान्ति की तरह यह विपरीतता का भ्रम हुआ है, यह भाव है ॥२५॥ मैं तो ब्रह्मभाव से शून्य अतएव विपरीत जगत् को कहाँ पाऊँ। मूढ जनता ने असत् दृश्य को सत् कहा है वह भी ब्रह्म को ही प्राप्त होती है न कि दृश्य को, क्योंकि असत् वस्तु प्राप्ति योग्य ही नहीं है, यह अर्थ है ॥२६॥ यह न

तो कभी कुछ उत्पन्न हुआ है और न उसका भान ही होता है। जो यह स्फुरित होता है वह स्वयं चिदाकाश का ही स्फुरण है ॥२७॥ जैसे मणि अपने से अभिन्न अपनी आभा से स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश अपने से अभिन्न सृष्टिरूप से स्फुरित है ॥२८॥

यह कैसे जाना जाय यह यदि कहो तो सूर्य आदि जगत् का सद्रूप से ही सत्सामान्य के प्रायः एकदेशरूप से (अंगरूप से) सबको अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं।

उसी शान्त पद में यह भगवान् सूर्य तपते हैं और उसी के अवयवभूत ही हैं। सूर्य उससे अतिरिक्त कदापि नहीं हैं ॥२९॥

जैसे सूर्य आदि का प्रकाश ब्रह्म के अधीन है वैसे स्वप्रकाश ब्रह्म सूर्य आदि के अधीन प्रकाशवाला नहीं है, ऐसा कहते हैं।

उस परमपद में स्थित होकर भी न सूर्य प्रकाश करता है और न चन्द्रमा ही प्रकाश करता है यह देव (देदीप्यमान) चिदाकाश सूर्य को प्रकाशित करता है, सूर्य उस ईश्वर को प्रकाशित नहीं करता है। इस विषय में भगवती श्रुति है –'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' अर्थात् उस परम पद में न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा और सितारों का, ये बिजलियाँ भी वहाँ प्रकाश नहीं करती हैं, इस अग्नि का तो भान कहाँ से होगा ? प्रकाशमान हो रहे उसके बाद ही सबका भान होता है उसकी आभा से इस सारे जगत् का भान (प्रकाश) होता है ॥३०॥ अहो ! यह दृश्यमण्डल उसकी प्रभा से भासित होता है। वह सब चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थों का प्रदीपक (भासक) है ॥३१॥ वह साकार है, निराकार है इस तरह की शब्दार्थ–कल्पना, जो आकाश कुसुम के समान असद्रूप है, तत्त्वज्ञानियों को नहीं होती ॥३२॥ जगत् को देख रहे जीवभूत इस सूर्य के तेज में उसी का अंगभूत परमाणु जैसे झरोखे आदि में भासता है वैसे ही असीम चित्प्रकाशवाले ब्रह्म में ये सूर्य आदि परमाणु भासते हैं अथवा नहीं भी भासते। जो सूर्य आदि से संयुक्त सृष्टियाँ चिन्मात्रआकाशरूप महारत्न की दीप्तियाँ हैं, जरा कहिये तो वे उससे व्यतिरिक्त कैसे होगी ? रत्न से उसकी कान्ति कदाचित् भिन्न नहीं हो सकती, यह सर्वत्र पूर्ण होने के कारण शून्यता से भी रहित, सकल पदार्थों के सिद्ध होने के कारण सबसे रिक्त, कल्पित सब पदार्थों का अधिष्ठान होने के कारण सब पदार्थों से युक्त है। उस चिद्रूप परमपद में कल्पित पृथिवी आदि सभी भूत–भौतिक पदार्थ हैं ही पर वास्तव में कोई भी नहीं है। उसमें कल्पित चिदाभासरूप से निखिल जीव जीवित रहते हुए भी वास्तव में स्वरूप से कोई नहीं हैं। उस चित्प्रकाश में दो अवयवों के संगठन से उत्पन्न स्थूलता का त्याग न करते हुए ही ये सूर्य आदि परमाणु ही (निरवयव अणु ही) हैं। यथार्थ में स्वसत्ता का त्याग न करता हुआ द्वैत अथवा अद्वैत (एकत्व) इस चिद्रूप में कुछ नहीं है ॥३३–३७॥ इस चित्प्रकाश में कुछ है कुछ नहीं है, न किंचित् है और न किंचन है यानी किंचित्, अकिंचित् आदि कल्पना इस शुद्ध निर्विषय चिद्रूप से अत्यन्त दूर है। व्यवहारमात्र का निरास होने पर विरोध और अविरोध का भी उसमें निरास हो गया है, यह भाव है। अखण्ड, निरवकाश, असीम, निरन्तर अपने रूप से अत्यन्त विस्तृत चिन्मात्र आकाशसत्ता ही निजरूप में जगत् के नाम से स्थित है। एक यानी चैत्य को त्याग कर चुकी और अन्य चिन्मात्ररूप को प्राप्त न हुई चिति का जो निर्विषय रूप है नानात्मक इस

जगत् का भी वही रूप है। नाना अद्वितीय यह चिदाकाश ही स्वप्न में जीव चैतन्य की भाँति पंच महाभूत रूप से विस्तृत नानासा (भिन्नसा) होकर स्थित है। जैसे सुषुप्ति से स्वप्न में प्रवेश कर रहे जीव की सुषुप्ति में स्थित चिति ही ज्यों की त्यों (बिना कोई अन्तर पड़े) स्वप्नता को प्राप्त होती है वैसे ही चिति ही प्रलय से सर्गता को प्राप्त है। जैसी सुषुप्ति है स्वप्न भी वैसा ही है, यह जाग्रत् भी वैसा ही है और तुर्य भी वैसा ही है इससे सिद्ध हुआ कि जगत् आकाशतुल्य है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सबके सब तुर्यरूप ही स्थित हैं। ब्रह्मवेत्ताओं के सम्प्रदाय के विषय में निपट मूढ़ पामर पुरुष जिसे जगत् के रूप से जानता है, उसे मैं नहीं जानता हूँ। जड़ यानी जगत् और अजड़ यानी जीवरूप सकल पदार्थों के अन्दर स्थित होकर अन्तर्यामिता से दुर्लक्ष्य जगत् को दर्शानेवाला मन, बुद्धि आदि से शून्य जो ईश्वर है वही शोधित जीव चैतन्य का पारमार्थिक रूप है। वे सब जगत्पदार्थ भी तन्मय हैं। वे सद्रूप नहीं हैं। किन्तु वही जगत् के आकार से स्थित हैं ॥३८-४६॥

यदि कोई कहे पृथ्वी आदि पदार्थ चिद्रूप ही हैं चिद्रूप से अतिरिक्त नहीं हैं तो अन्तर्यामीरूप से चित् में उनका साक्षी होना तथा उन्हें प्रेरित करना कैसे घट सकता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामजी, उपदेश के लिए लौकिक परिणाम आदि को स्वीकार कर प्रवृत्त हुई उक्तियों में परमार्थतः परिणामपरता की गन्ध भी नहीं है। पृथिवी आदि में अन्तर्यामी होकर परमात्मा सबका साक्षी तथा परिणाम का प्रेरक है, इत्यादि उक्तियाँ लौकिक व्यवस्था को मानकर उपदेशार्थ प्रवृत्त हैं। वास्तव में वे परिणामपरक नहीं हैं, यह भाव है ॥४७॥

तब उनका तात्पर्य किसमें है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

आदि सृष्टि से ही एकमात्र चिन्मात्र परमाकाश महासत्ता रूप से अपने में स्थित है, इस विषय में तत्त्ववेत्ताओं के सर्वथा परिपूर्ण आत्मा में अनुभव प्रमाण है। वही अनुभवरूप सर्वव्यापिनी चिति सर्वत्र स्थित है। उसीने निज आत्मा में अज्ञानियों के लिए जगत, जीव आदि संज्ञाएँ की हैं ॥४८,४९॥

प्रबोधकाल में जिस तरह का शुद्ध आत्मा शेष रहता है, उसको स्वीकार करने से जो जो जगत्-कौतुक अनुभूत हुआ वह सब सुख ही होता है अप्रबोधकाल में उसका अंगीकार न करने से दुःखयुक्त जन्म, मरण, रोग आदि जो जो अनुभव में आता है वह सब दुःख ही होता है। स्वप्न में प्रबोध, अप्रबोध आदि के समान, यह कहते हैं।

जैसे 'यह स्वप्न है' यों स्वप्न का परिज्ञान होने पर स्वप्न में जो कुछ भी अनुभव में आया वह सब सुख ही हो जाता है। यदि स्वप्न का 'यह स्वप्न है' यों परिज्ञान नहीं हुआ तो दुःखयुक्त सब वृत्त दुःखप्रद ही होते हैं वैसे ही प्रबोधकाल में (ज्ञानकाल में) जिस प्रकार के निष्कल निरंजन आत्मा का शेष रहता है उसका अंगीकार करने से अनुभूत जगत् आदि कौतुक क्षणभर में सुखकारक ही होता है, अज्ञानकाल में उसका अंगीकार न करने से दुःखपूर्ण जन्म, जरा, मरण आदि दुःखदायक ही होते हैं ॥५०॥

अतएव आत्मज्ञानी पुरुष में दुःखदायी विक्षेप न होने से, सदा समाधि-सुख ही रहता है, ऐसा कहते हैं।

शान्त, तत्त्वज्ञानी पुरुष में चलते, टिकते, जाते और सोते सदा एक समाधिसुख ही रहता है। द्वैत

में भी अद्वैतनिष्ठ, दुःख में भी सुख स्थितिवाले, बाहर संसार में रहते भी मुक्त होने के कारण उसमें नहीं ही रहनेवाले ज्ञानी के लिए कौन-सी वस्तु साध्य या हेय शेष रहती है ? बाहर के कार्य में व्यवहार कर रहा भी तत्त्वज्ञ पुरुष हृदय से न कुछ त्याग करता है और न कुछ ग्रहण करता है, किन्तु अकार्य में (ब्रह्म में) ही स्थित रहता है। जैसे हिम की शीतलता है और अग्नि की उष्णता है वैसे ही इस तरह का उसका स्वभाव ही हो जाता है वह उसका प्रयत्न द्वारा संपादनीय गुण नहीं है। किन्तु जिसका ऐसा स्वभाव न हो वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। आत्मा से अतिरिक्त विषय की इच्छा होना ही अज्ञता का लक्षण है ॥५१-५५॥ जो अज्ञानावरणशून्य विद्वान् है उसका अन्तःकरण सदा समाधिसुख का अनुभव करता है, यह शत्रु है, यह मित्र है आदि विकल्पों की उसमें गन्धतक नहीं रहती, आत्मसुखरूपी सार वस्तु ही उसमें प्रचुरमात्रा में रहती है और वह सदा परमशान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है ॥५६॥

एक सौ इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बहत्तरवाँ सर्ग

विधाता केवल मनरूप है, उसका संकल्प जगद्भ्रान्ति हैं।
उसका न शरीर है और न उसे स्मृति हो सकती है, यह कथनपूर्वक स्मृतितत्त्व का वर्णन।

यदि कोई कहे कि श्रुतियों में यह जगत् विधाता द्वारा रचित सुना जाता है - 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (विधाता ने सूर्य और चन्द्रमा की पूर्वकल्पनानुसार सृष्टि की। द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्षलोक और स्वर्ग की भी पूर्ववत् सृष्टि की)। ऐसी परिस्थिति में जगत् स्वप्न की भाँति चिन्मात्रस्फुरण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का निवारण करने के लिए विधाता के संकल्प और संकल्पमय जगत् चिन्मात्र ही हैं, यह वर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनादिकाल से जीवन्मुक्त होने के कारण ही आदि प्रजापति पृथिवी आदि से रहित निरावरण चिदाकाश ही है। उसे मैं केवल मन की समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही समझता हूँ और मन संकल्पवृक्ष के समान चित्स्फुरणमात्र ही है, यह प्रसिद्धि है, यों उसकी चिन्मात्रता में कोई सन्देह नहीं रहा, यह भाव है ॥१॥

कैसे उसकी चिन्मात्रता की प्रसिद्धि है ? इस पर कहते हैं।

मननाकार की कल्पना के पूर्व वह चिन्मात्र ही था। मननाकार कल्पना के बाद 'मन' इस नाम से उसके चित्तादात्म्यअध्यास की कल्पना हुई। जैसे कि जल में ही आवर्त के (भँवर के) विवर्त के आकार से स्वयं उठकर उसने आवर्तता की कल्पना की ॥२॥

इसलिए उसके बुद्धि आदि भी चित् से पृथक् नहीं हैं, यह कहते हैं।

केवल सत्तामात्रस्वरूप प्रजापति के बुद्धि आदि कहाँ से हो सकते हैं ? यदि पृथिवी आदि का ही अस्तित्व न हो तो अनन्त (असीम) आकाश में धूलि कहाँ से होगी ? ॥३॥

इसी प्रकार उसके देह आदि भी नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

उसके न देह, चित्त आदि हैं, न इन्द्रियाँ हैं और न वासनाएँ ही हैं। व्यवहाराभास के निर्वाह के

लिए आपाततः(सरसरी दृष्टि से) उसके देहादि का अस्तित्व होने पर भी परमार्थरूप से देह आदि कुछ भी नहीं हैं ॥४॥

क्यों नहीं हैं ? यह यदि पूछो तो आदि सृष्टि के आरंभ में कारण ही कोई नहीं है, इसलिए नही हैं। यदि कहो कि प्राक्तन (पहले का) प्रजापति ही आगे के प्रजापति का कारण है, सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह द्विपरार्धरूप अपनी आयु के अन्त में मुक्त हो गया, ऐसा कहते हैं।

हे महामते, प्राक्तन प्रजापति के मुक्त हो जाने के कारण पुनः देह, बुद्धि आदि के ग्रहण में कोई कारण नहीं है। इस कारण नूतन प्रजापति को जगत् की रचना में सहायक न पूर्व स्मृति होती है और न उसकी उत्पत्ति का ही संभव है ॥५॥ संसार में स्थित तथा आवागमन के चक्कर में पड़े हुए जीवों की तरह विदेहमुक्त पुरुषों के संसारस्मृति तथा पुनः देहलाभ नहीं ही होते, क्योंकि उनकी अन्य देश में अथवा अन्य काल में पुनरावृत्ति ही नहीं होती है। इस विषय में 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' तथा 'न स पुनरावर्तते' अर्थात् मुक्त पुरुष, इस मनुष्य जनमरूपी आवर्त में नहीं पड़ते हैं। उसकी फिर यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती, इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं ॥६॥ अथवा यदि प्रजापति की पूर्वकल्प में की गई प्रबल उपासना से उत्पन्न हिरण्यगर्भ में अहंभाव विषयक संस्कार के बल से उसी तरह की स्मृति से उसके देहादि कुछ होगा तो वह केवल उपासनारूप मन की कल्पना से जन्य होने के कारण केवल मानसिक अपृथ्वी आदि से उत्पन्न अतितुच्छ संकल्पनगर के सदृश मिथ्याभूत ही होगा न कि सत्य होगा। इस तरह भी हमारे ही सिद्धान्त की सिद्धि है, यह भाव है ॥७॥

यदि कोई शंका करे कि पृथिवी आदि से रचा हुआ दिखाई दे रहा ब्रह्माण्डरूप विराट् शरीर पृथिवी आदि से रहित कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे मनोरथ के पर्वत का भलीभाँति दिखाई दे रहा, अनुभव में आ रहा, रूप पृथिवी आदि से रहित है वैसे ही उसके विराट शरीर का रूप भी पृथिवी आदि से रहित है ॥८॥

यदि कोई कहे कि पहले उदाहरण के रूप में प्रदर्शित श्रुति में 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' यों विराटशरीर पृथिवी आदि से रचित ही सुना गया है और वह 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस वचन से पूर्व कल्प की स्मृतिपूर्वक ही रचा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में आपका पूर्वोक्त कथन कैसे घट सकता है ? इस पर कहते हैं।

प्रजापति को आदि सृष्टि में पहले का कोई अनुभव न होने के कारण स्मृति होती ही नहीं है। जो यह स्मृति श्रुतिवचन बल से प्रतीत होती है उसका श्रुति ने जगत् को सत्य माननेवाले अज्ञानियों की बुद्धि से अनादि सिद्ध कर्मकाण्ड प्रवाह के प्रवर्तन के लिए परबुद्धि के अनुसार बोधन किया है। तत्त्वज्ञानी प्रजापति की बुद्धि से तो वह (स्मृति) नहीं है ॥९॥

इस प्रजापति को पूर्वकल्प में, जब कि वह उपासक था, पृथ्वी आदि का अनुभव था ही। यदि उस समय उसे पृथिवी आदि का अनुभव न होता तो 'मैं पृथिवी आदि से रचित विराट शरीरवाला हूँ' ऐसी उपासना कैसे करता ? उसके अनन्तर यह उक्त अनुभव के बल से निर्माण सामर्थ्य प्राप्त कर उसकी स्मृति से सृष्टि का निर्माण करेगा। स्मृति के बिना ही उसका निर्माण करने पर तो 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस श्रुतिवचन द्वारा बोधित पूर्वकल्प के ब्रह्माण्ड की सारी गुणराशि की इस ब्रह्माण्ड

में कैसे सिद्धि होगी, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे स्मृतिमानों में सर्वश्रेष्ठ गुरुवर, हे गुणराशि के भंडार, इनकी स्मृति क्यों नहीं होती और स्मृति के अभाव में पूर्वकल्प के गुण इस कल्प के ब्रह्माण्ड में कैसे आये ? ॥१०॥

ठीक है, हम कल्पनारूप भ्रान्ति से जन्य निरर्थक स्मृति का खंडन नहीं करते परन्तु सत्य पदार्थों के अनुभव जन्य संस्कार से उत्पन्न स्मृति का खंडन करते हैं। यदि उक्त स्मृति हो तो पूर्व अनुभव के विषय सत्य पदार्थों में स्वविषय अनुभव के संस्कार से जन्य स्मृति द्वारा इस कल्प के पदार्थों के प्रति अन्वय व्यतिरेकवश कार्यकारणभाव के सिद्ध होने पर अपने निर्माता की सत्ता से सत्तावान् जगत् के सत्य होने पर ब्रह्मअद्वैत सिद्धान्त को बाधा पहुँचेगी, यों श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पृथिवी आदि दृश्य के परमार्थतः सत् होने पर अन्वयव्यक्तिरेकवश सम्पन्न (सिद्ध) हुई स्मृतिमूलक यह (लौकिकन्याय सिद्ध) कार्यकारणता हो सकती है, किन्तु द्वारभूतस्मृति का ही सम्भव नहीं है ॥११॥

स्मृति का क्यों संभव नहीं है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ भेद कुछ भी नहीं है), 'एकमेवाद्वितीयम्' (सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद शून्य ब्रह्म ही है), 'अथात आदेशो नेति नेति' (नेति नेति 'यह नहीं यह नहीं' ऐसी श्रुति का आदेश है) 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' (जहाँ पर दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता और दूसरे को नहीं जानता, द्वैतज्ञान नहीं रहता वह भूमा है), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्य मयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (वह यह ब्रह्म जो आत्मा है, इसका न कोई कारण है, न कार्य है, न इसके मध्य में कोई अन्यजातीय है और न इसके कोई बाहर है, यह आत्मा ही निरन्तर ब्रह्म है जो कि सामान्यरूप से सबका अनुभव करता है), 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (विकार वाचारम्भण नाममात्र है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा सकल प्रपंच का निषेध होने तथा वैसी ही तत्त्वज्ञानियों की अनुभूति होने से जहाँ ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त दृश्य कुछ भी नहीं है वहाँ पर स्मृति का सम्भव कैसे, किस प्रकार का और कहाँ से होगा ? ऐसी स्थिति में 'सह सिद्धं चतुष्टयम्' इस स्मृतिवचन द्वारा प्रदर्शित प्राक्तन स्वाभाविक प्रपंच तत्त्वज्ञानी विराट् के तत्त्वज्ञान से बाधित होकर मिथ्या ही हो चुका, अतएव वह प्रजापति की पूर्वस्मृति का आधान करने और उसके द्वारा सत्य सृष्टि के प्रति कारण होने के लिए समर्थ नहीं है, यह भाव है ॥१२॥ परमार्थरूप से उत्पन्न होकर विद्यमानता को प्राप्त हुई वस्तु का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुभव कर कालान्तर में उसका जो स्मरण है उसे ही शास्त्रज्ञ लोग स्मृति कहते हैं। जहाँ दृश्य ही नहीं है वहाँ ये स्मृति आदि कल्पनाएँ कहाँ से हो सकती हैं ? इस दृश्य का निश्चय रूप से सर्वदा अत्यन्त अभाव ही है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्म ही है, इत्यादि सत्यार्थक श्रुतियाँ हैं। ऐसी परिस्थिति में स्मृतिकल्पनाएँ कैसे हो सकती हैं या स्मृति की सत्यार्थक कल्पनाएँ कैसे हो सकती हैं यों'सत्यार्थः' का कल्पना में अन्वय करना चाहिये। या पूर्वोक्त अनुवाद के अनुसार 'सर्वं ब्रह्मेति सत्यार्थाः श्रुतयः सन्ति' यों योजना करनी चाहिये। असत् भ्रान्तिकल्पित और तत्त्वज्ञान से बाधित की स्मृति नहीं हो सकती है, यह भाव है ॥१३,१४॥

पूर्वोक्त आशय को ही पुनः सूचित करते हुए समाधान का उपसंहार करते हैं।

इसलिए प्रजापति की आद्य स्मृति कदापि नहीं हो सकती है। शुद्धज्ञानरूप प्रजापति की साकारता (मूर्तता) ही कहाँ से होगी ? ॥१५॥ पूर्वजन्म में उपासनारूप अपनी जगत् देहत्वभावना के द्वारा उपासना फल की सिद्धि के लिए मैं जगत् देह हूँ ऐसा प्रजापति को अवश्य स्मरण करना चाहिये। लोक में प्रसिद्ध जो स्मृति है (वह मेरी माँ है वह मेरी लड़की है इत्यादि स्मृति है) उसकी तरह वह स्मृति पदार्थ प्रमाजन्य है ही नहीं, क्योंकि अन्य का लौकिक स्मृत्यर्थ माता, पुत्री आदि घर में है, किन्तु मनोराज्यतुल्य उपासना का विषय नहीं है यह विषमता है। कैसे नहीं है, इस अर्थ को सुनिये ॥१६॥ अतीत पदार्थ का संस्कारवश अन्तःकरण में स्मरण लोक में स्मृति कही जाती है। प्रजापति का तो कल्पादि में न विद्यमान पदार्थ ही है, न भूत ही पदार्थ है और न कोई आगे होनेवाला पदार्थ ही है, जिसकी कि उन्हें स्मृति होगी, यह भाव है ॥१७॥ इस प्रकार चूँकि यह दृश्य आदि, मध्य और अन्तशून्य कूटस्थ परम ब्रह्म ही है, इसलिए स्मृति आदि कैसे हो सकती हैं ? ॥१८॥ चिदाकाश का स्फुरण सर्वात्मक होने से स्मृत्यात्मक भी है, ऐसा यदि कहो तो ठीक है। इसी अभिप्राय से मैंने भी पहले 'यदि वापि भवेत् किंचित्स्मृत्या देहादि तस्य तत्' इस श्लोक में व्यहार में पूर्ण रूप से शान्त भी उस ब्रह्म को स्मृति नाम से कहा है ॥१९॥ अज्ञात ब्रह्म के स्वभाव का परोक्षरूप से ही जो स्फुरण है वही यह स्मरण है। तदनन्तर मैं ब्रह्म हूँ इस उपासना से पुनःपुनः अभ्यास करने से ब्रह्मारूप आत्मा ही उपासना का फलभूत बाह्य अर्थ सा होकर उपासना से कल्पित आकार के समान भासता है ॥२०॥ जीव द्वारा अज्ञानउपहित ब्रह्म जिस जिस स्वरूप से ज्ञात होता है भ्रान्ति से अथवा स्मृतिपरम्परा से उसके स्वभाव का ही अवलम्बन कर उसकी स्वभावत्वेन भावना करता हुआ वह स्वरूप कालान्तर में उस आकार से 'वही यह है' यों तत्ता से युक्त पदार्थ सा अवभासित होता है, उसकी ही जीवने अपने में स्मृतिरूप से कल्पना की है ॥२१॥ जैसे भ्रमयुक्त अनुभव में (भ्रमज्ञान में) विद्यमान भी दृश्य (रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि) भासित-सा होता है वैसे ही स्मृति में भी व्यवस्था समझनी चाहिये। देखिये न अविद्यमान भी सर्वथा असत् भी मृगतृष्णा उदितसी भासित होती ही है। इसका सबको अनुभव है ॥२२॥

सत्य सर्वात्मा में स्थित जो संवित् स्फुरित होती हैं वे ही भ्रान्त अभ्यास की दृढ़ता से बद्धमूल होकर भ्रान्त अनुभव के समानविषयत्वरूप सादृश्य से स्मृतियाँ कही गई हैं।

सर्वात्मा ब्रह्म में काकतालीय के समान आकस्मिक उद्बोधक वश जिन संविदों का (चिद्वृत्तियों का) भान होता है चित् की अवयवभूत सी विषयतः परोक्ष होने के कारण विकृत भी स्वतः अपरोक्ष होने से अविकृत वे ही स्मृति के नाम से विख्यात की गई हैं। सर्वात्मा का स्वांगभूत सद्रूप स्वतः अनुभव में जिस जिस रूप से स्फुरित होता है वह उस अभ्यास में आये हुए पदार्थ से सादृश्य होने के कारण विद्वान् लोगों द्वारा 'स्मृति' कहा जाता है। जैसे वायु का स्पन्दन व्यंजन (पंखा) आदि हेतु के प्राप्त होने पर भी तथा न प्राप्त होने पर भी होता है वैसे ही उद्बोधक कारण के प्राप्त होने पर अथवा प्राप्त न होने पर भी वे अनुभववृत्ति से उपलक्षित ही संवित् कालान्तर में स्मृति नाम से ख्यात की गई ॥२३-२६॥

यदि संवित् सर्वात्मा की अंगभूत हैं तो वे उसके समान ही सदैव क्यों स्फुरित नहीं होतीं ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जो संवित् काकतालीय के समान कभी स्फुरित होती हैं उनका स्मृति नाम रक्खा गया क्योंकि

उद्‌बोधक सामग्री सदा नहीं रहती कदाचित् ही रहती है। जैसे कि आपके ये हस्त, पाद आदि अंग जब मन उनकी ओर आकृष्ट होता है तो स्फुरित होते हैं और जब उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता तब स्फुरित नहीं होते हैं। सर्वात्मक सब संवित् वैसे ही आत्मा में ही स्थित हैं जैसे कि स्वप्न, इन्द्रजाल आदि में मिथ्याभूत घट, पट आदि पदार्थ स्थित रहते हैं। उक्त प्रकार के भ्रमभूत स्मृति पदार्थ के मूल का क्या विचार करते हैं। दृश्य का संभव न होने से अभ्रान्त तत्त्वज्ञानी प्रजापति को वास्तव में स्मृति होती ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी प्रजापति पूर्व की तरह निर्विकार ही रहता है। जगत् की स्थिति उसकी दृष्टि से एकरस चिदाकाश स्वरूप है। किन्तु अज्ञानी की दृष्टि में इस समय यह दृश्य यथास्थित ही है। न मैं अज्ञ के लिए मोक्षोपाय की कथा करता हूँ और न अज्ञानी के निश्चय के अनुसार तत्त्वज्ञानी की स्थिति ही जानता हूँ लेकिन यह अवश्य जानता हूँ कि वह भाग्यवश साधन चतुष्टय को प्राप्त कर सन्देह से जब जिज्ञासु होता है, गुरु द्वारा तब तक उसके लिए मोक्षकथा कही जाती है जब तक कि उसका दृश्यप्रपंच, स्मृति और संस्मृति शान्त नहीं होती। जैसे अज्ञानी तत्त्वज्ञों की स्थिति को नहीं जानते वैसे ही हम ज्ञानी भी अज्ञों के निश्चय को नहीं जानते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञानियों में अविद्या, मूर्खता तथा विमोह का अत्यन्त अभाव है। अज्ञानी के अन्दर स्थित निश्चय कदापि भी हम तत्त्वज्ञानियों की बुद्धि का गोचर नहीं हो सकता जो जिसकी बुद्धि के गोचर नहीं है, उसका उसे कदापि अनुभव नहीं हो सकता। भला बतलाइये तो सही रात्रि का अनुभव सूर्य को कैसे हो सकता है ? ॥२७–३३॥

अब स्मृति के कारणभूत संस्कार का खण्डन करने के लिए संस्कार का स्वरूप बतलाते हैं।

अन्तःकरणउपहितचिन्मात्र में बाह्यवस्तुस्वरूपभूत जो कुछ भी भासित होता है उसका यदि बारबार व्यवहार द्वारा अभ्यास किया जाय तो उसके सदृश पदार्थोंके सादृश्य से वासित चित्त उसका संस्कार कहा गया है ॥३४॥ चिन्मात्र में परिकल्प्यमान तथा तत्त्वज्ञान से आत्मस्वभावभूत हुए सब बाह्य अर्थों का बाधितानुवृत्ति से जले हुए वस्त्र के समान अवभास होने पर भी वास्तव में अवस्थिति न होने से उनके सादृश्य का चित्त से मार्जन होने से तत्त्वज्ञों का संस्कार नहीं हो सकता है ॥३५॥

ऐसी स्थिति में फलितार्थ कहते हैं।

इस प्रकार कदापि किंचित् भी जगत् का संभव है ही नहीं जगत् मृगतृष्णा के जल की भाँति अज्ञानवश दृष्टिगोचर हुआ है न कि परमार्थरूप से ॥३६॥

ऐसी स्थिति में हमारी प्रतिज्ञा की सिद्धि में कौन कसर रही, ऐसा कहते हैं।

जब यह अर्थ सिद्ध हुआ तब स्वप्न में और सृष्टि के आदि में परम चिदाकाश का ही भान होता है वही 'सर्ग' (सृष्टि) यह दूसरा नाम रखकर आत्मा में स्थित है। अपने स्वरूप से च्युत हुए बिना सद्रूप चिदाकाश ही अपनें में अपने से ही जगद्रूपसा स्थित होकर भासित हुआ है। सृष्टि के आदि में स्फुरित हुए परमब्रह्म में मिथ्या स्फुरित होता हुआ सा यह दृश्य स्थित है अतः इसमें कहीं पर हेय और उपादेय का भास कैसे हो सकता है ? कारण का अभाव होने से यह दृश्य न तो कहीं कुछ आकारवान् (साकार) है और न स्मृतिरूप ही है केवल परमात्मा का स्वरूप ही दृश्यरूप से भासता है ॥३७–४०॥

इसकी आकारवत्ता का खण्डन कीजिये पर स्मृतिरूपता का क्यों खण्डन करते हैं ? वादी के इस कथन पर कहते हैं।

दृश्य की आकारवत्ता में (साकारता में) जो दुःख है स्मृति में भी वही दुःख है क्योंकि भार्या, पुत्र आदि के मरण–स्मरण से भी दुख होना दिखलाई देता है। वे दोनों असत् हैं, इसलिए बन्धन का सर्वथा अभाव है ॥४१॥ भूताकाश के समान व्यापक शून्य चिदाकाश में भुवन, सूर्य,पर्वत आदि रूप यह सारा दृश्य अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ जीवन्मुक्तों के जीवन पर्यन्तव्यवहार के योग्य होकर स्थित है। यथास्थित विशाल दिशाकालवाला जगत् अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ ही अपने तात्त्विक स्वरूप का त्याग न कर रहे चिदाकाश के उदर में स्थित है ॥४२,४३॥ एकमात्र स्वानुभवरूप स्वरूपवाला प्रमाता का स्वप्न अपृथिवीवाला है। भला बतलाइये तो सही वहाँ पर पृथिवी आदि कहाँ से आ सकते हैं ? ॥४४॥ इसलिए वैसे ही केवल शान्त चिदाकाशका ही अपने स्वरूप में भान होता है। सृष्टि के आदि में और स्वप्नकाल में पृथिवी आदि की उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है ? ॥४५॥ जगद्रूप ब्रह्मसत्ता अपने से अपने में मानों उत्पन्न सी होकर पीछे सत्य अर्थ देनेवाली–सी पृथिवी आदि संज्ञाएँ करती है ॥४६॥ जगद्रूप दृश्य न स्मृतिरूप है और न साकार ही है, क्योंकि पृथिवी आदि का अत्यन्त असंभव है। इसी तरह वह न भ्रान्ति है और न विवर्त, परिणाम आदि ही है। एकमात्र ब्रह्मरूप ही है। चारों ओर सुन्दर जगत्स्वरूप ब्रह्म का ही स्फुरण है और वह स्फुरण और अस्फुरण में यानी सृष्टि और प्रलयकाल में निज आत्मा में (अविकृतस्वभाव में) स्थित है। वह एकरूप ही दृश्यवत् स्फुरित होकर भी निर्मल आकाश ही है, किन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में अनादिकाल से प्रलय और सृष्टि के उदयरूप से उदित है ॥४७,४८॥

एक सौ बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिहत्तरवाँ सर्ग

जैसे चित् का भी देहादि जड़ पदार्थों में अहन्ता का आग्रह है और
जैसे उसकी सर्वात्मकता है, उसका प्रतिपादन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, यदि स्वप्रकाश चित् का चमत्कार ही जगत् है तो तुल्य होने के कारण चित् का सब जगह अहन्ताग्रह उचित है फिर सर्वानुभवरूपसर्वात्मक असीम आत्मतत्त्व का देह में ही यह अहन्ताग्रह है अन्यत्र नहीं यह नियम कैसे ? यह पहला प्रश्न हुआ। इसी प्रकार चित् का अचिद्रूप पाषाण, काठ आदि के भाव में आग्रह कैसे? क्योंकि चिद्भाव का त्याग नहीं किया जा सकता और अचिद्रूप का स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह दूसरा प्रश्न है। इसी प्रकार चित् ही सर्वात्मक है ऐसी अवस्था में यह पाषाण, काठ आदि अचिद्वर्ग नास्तित्व को (असत्ता के) कैसे प्राप्त होता है क्योंकि चित् का अपलाप किया नहीं जा सकता। यह तीसरा प्रश्न है। इसी प्रकार सर्वात्मक चिद् विपरीत अचिद्रूप पाषाण, काठ आदि है कैसे ? जिससे कि वह सर्वात्मक हो। यह चौथा प्रश्न है ॥१,२॥

सारे शरीर की अहन्ता से प्रतीति तुल्य होने पर हाथ में ही हस्तत्वाहंभाव है पैर में ही पादत्वाहंभाव है अन्यत्र नहीं है इस प्रकार जाति, कर्म, स्थान आदिका जैसे व्यवस्था–ग्रह अनादि तत्तदाकार संस्कार की व्यवस्था से ही है, उसका अन्य कोई हेतु नहीं है वैसे ही देह में देहत्वअहन्तादि में आग्रह समझना चाहिए, इस आशय से विविध दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक पहले प्रथम दो प्रश्नों का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, सकल देह की अहन्ता से प्रसिद्धि समान होने पर भी जैसे देही का हस्त में ही हस्तत्वाहंभाव में आग्रह है वैसे ही सर्वात्मा चित् का देह में देहत्वाहंभाव में आग्रह है। जैसे वृक्ष का पत्र में ही पत्रत्वाहन्ता में आग्रह है वैसे ही सर्वात्मा चित् का वृक्ष में वृक्षताहन्ता में आग्रह है ॥३॥ जैसे आकाश का शून्य में शून्यताहन्ता में आग्रह है वैसे ही सर्वात्मा का द्रव्य में (मणि, मोती, सुवर्ण आदि धन में) द्रव्यता में (प्रयत्न से उपार्जनीयरूप भव्यता में) आग्रह है। जैसे स्वप्नभोक्ता का अरूप चित्तरूपी उपादान से उत्पन्न होने के कारण अरूप होने योग्य स्वप्ननगर की साकारता में आग्रह है वैसे ही सर्वात्माका स्वप्न, जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं की साकारता में आग्रह है। पर्वतराज में, नगर में विद्यमान पत्थर, वृक्ष, जल आदि में वह ऐसा प्रसिद्ध आग्रह है वैसे ही पर्वत आदि के अभिमानी सर्वात्मा का पर्वतता, नगरता आदि में आग्रह है ॥४–७॥

अन्तिम तीसरे और चौथे दो प्रश्नों का भी समाधान करते हैं।

जैसे चेतनरूप से अभिमत शरीर का केश, नख आदि में अचेतनत्वाग्रह है वैसे ही चिद्रूप सर्वात्मा का भी काष्ठ, पत्थर आदि में अचेतनत्वाग्रह है। चिति चित्त्व का त्याग नहीं कर सकती है तथा अचितत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकती है, इस शंका का मायागत आवरण और विक्षेप शक्ति से अघटित की घटना होने से परिहार करना चाहिये, यह भाव है ॥८॥

चित् के चित्विरुद्ध अचित्त्व की तरह निरवयव चित् की सावयवता भी स्वप्न के अनुभव के बल से ही होती है, यह स्वीकार करना चाहिये ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न में चित् से ही काष्ठभाव, पाषाण भाव आदि होते हैं वैसे ही सृष्टि के आदि में चिदाकाश की अवयव आदि रूपता होती है ॥९॥

मायाशबल चेतन और अचेतन उभय स्वरूप एक वस्तु है, अतः उसमें चेतन और अचेतन उभय व्यवहार प्रवर्तकता विरुद्ध नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे पुरुष का नख, केश, जल, आकाश, धर्मवाला आकारवान् एक शरीरचेतन–अचेत दोनोंरूपवाला है वैसे ही सर्वात्मा का स्थावर जंगमरूप एक शरीर चेतन और अचेतन दोनों स्वरूपवाला है, किन्तु वह नित्य निराकार है ॥१०,११॥

अतएव तत्त्वतः ब्रह्मज्ञान होने से सब विरुद्ध धर्म हट जातेहैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे 'यह स्वप्न हैं' यों स्वप्न के ज्ञाता पुरुष का स्वप्न में देखा गया पदार्थभ्रम शान्त हो जाता है वैसे ही सम्यग् ज्ञानवान् पुरुष का यह जगत् ज्यों का त्यों शान्त हो जाता है, विलुप्त हो जाता है। स्वप्नद्रष्टा (स्वप्न देखनेवाले) पुरुष की जो प्रातः काल के समय प्रसिद्ध प्रबुद्धता है वही प्रबुद्धता, न द्रष्टा है न दृश्यता है किन्तु यह सब मौन चिन्मात्राकाश ही है, ऐसा निश्चय करने में पूर्णरूपेण समर्थ है ॥१२,१३॥ सागर में जल के भँवरों की तरह चिदाकाश में हजारों करोड़ कल्पों तक वे ही या अन्य सृष्टियाँ आती हैं जाती हैं। हजारों करोड़ रूप से आए गये हुए अध्यासों से अधिष्ठान की एकरूपताकी क्षति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥१४॥ जैसे जल समुद्र में तरंग आदि में भासमान आवर्त, बुद्बुद्आदि नाना स्वरूप बनाता है वैसे ही मायाशबल चेतन अपने चेतनमें सृष्टि आदि नाना संज्ञाएँ करता है। अतत्त्वज्ञ जनता के निश्चय के सिवा तत्त्वज्ञानी के प्रति यह यथास्थित विश्व सदा निर्विकार ब्रह्म ही है।

यानी तत्त्वज्ञ इस सम्पूर्ण प्रपंच को निर्विकार ब्रह्म ही जानता है मगर अज्ञानियों का निश्चय इससे विपरीत है ॥१५,१६॥ मैं तरंग नहीं हूँ बल्कि जल ही हूँ, ऐसा युक्तिपूर्वक जिस तरंग ने समझ लिया फिर उसकी तरंगता कैसे रह सकती है ? अचेतन में भी चेतनता के आरोप से यह कथन है, यह समझना चाहिये। चूँकि जल की तरंगता के समान इस परम ब्रह्म की जगत्ता का भान है अतएव तरंगत्व-अतरंगत्व यानी तरंग के सदृश जगत्ता और अजगत्ता ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं ॥१७,१८॥ हे श्रीरामजी, अपने वास्तविक रूप का त्याग न कर रहे चिदाकाश का स्वप्नकी तरह अन्योन्य के धर्मों के आदान-प्रदान से व्यत्यस्त चेतनतावाला, मन की समष्टि से उपहित जो रूप है वह मन, ब्रह्मा, पितामह इत्यादि शब्दों से कहा गया है ॥१९॥ इस तरह आदिम प्रजापति निराकार निर्विकार तथा चिन्मात्रस्वरूप संकल्पनगर के तुल्य कारणविहीन है ॥२०॥ जिस सुवर्णमय अंगद ने (बाजूबन्द ने) अंगदत्व नहीं है (सुवर्ण ही सत्य है विकारभूत अंगदत्व नहीं है) यह निश्चयपूर्वक जान लिया उसकी अंगदता कैसे हो सकती है ? उसकी विशुद्ध सुवर्णता ही है ॥२१॥ चिन्मात्रआकाशस्वरूपी जन्मादिविकारविहीन परम ब्रह्म में (अहम्) (मैं) , त्वम् (तुम), जगत् इत्यादि संकल्पमात्ररूप जो भान हुआ है वह ब्रह्मरूप ही है। यानी समष्टि के चिन्मात्ररूप सिद्ध होने पर उसके व्यष्टिरूप हम लोगों का अनुक्त भी चिन्मात्रत्व स्वयम् सिद्ध हो गया, यह भाव है ॥२२॥ चिदाकाश में जो शून्यतारूप चित् के चमत्कार स्फुरित होते हैं वे ही ये सृष्टि, प्रलय और स्थिति के भ्रमज्ञान हैं। चिन्मात्रआकाश का स्वयं ही स्वप्न तुल्य चित्ततारूप जो निर्मल स्फुरण है वही यह पितामह (ब्रह्मा) है। जैसे समुद्र में तरंग निरन्तर उसी रूप से (अपने पूर्वतनरूप से) अथवा उससे विलक्षणरूप से फुरता है वैसे ही चिदाकाश में आदि और अन्त रहित सृष्टि और प्रलय का विभ्रम भी निरन्तर फुरता है। चिदाकाश का मनोहर स्फुरण विराट के नाम से प्रसिद्ध है, उस विराट का मनरूप ब्रह्मा भी जो कुछ भुवन, भूत आदि रचेगा वह भी संकल्पनगरवत् ही काल्पनिक होगा न कि सत्य ॥२३-२६॥ वह विराट ही सृष्टि है वही स्वप्न है, स्वप्न ही जाग्रद् व्यष्टि समष्टि स्वरूप बन गया। जैसे घनी सुषुप्ति निद्राधिक्यरूप अन्धकार से स्वप्न होती है। वैसे ही प्रलय में अविद्यारूपी अन्धकार से आवृत आत्मा ही जगद्रूप होता है ॥२७॥

सकल जगत् का विराट के अंगरूप से वर्णन करते हैं।

अवान्तर प्रलयरूपी ब्रह्मा की रात्रि विराट्रूपधारी परमात्मा के केशरूप से उदित है, दिन और रात्रि काल और क्रिया नाम की उसके शरीर की सन्धियाँ (जोड़) हैं, अग्नि उसका मुँह है, द्युलोक मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथिवी उसके चरण हैं, चन्द्र और सूर्य दो नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, इस तरह से मन की कल्पना ही विराट के आकार से परिपुष्ट हुई है ॥२८,२९॥ इस प्रकार भली भाँति दृष्टिगोचर हो रहा विस्तृतआकृति वास्तव में शून्यात्मा अतएव हमारे मनोरथ से कल्पित पर्वत के तुल्य विराट स्वप्न के आकार से स्थित है वास्तव नहीं है। यों उसकी हमारे स्वप्न से तुल्यता ही सिद्ध हुई, अतः निष्प्रपंचता ही परमार्थ है, यह आशय है ॥३०॥ जो चिदाकाश में चेतनस्वरूप जीवभाव को प्राप्त होकर स्वयं अत्यन्त प्रदीप्त होता है वही यह जगत् है, इस प्रकार वह अपने स्वरूप का (आत्माका) ही अनुभव करता है। चारों ओर व्याप्त (असीम) चिन्मय आकाश का ही इस प्रकार पर्वत, वृक्ष, गज आदिरूप स्वभाव-स्वप्ननगरतुल्य विराट् के रूप से भान होता है अथवा इस तरह निरीक्षण करने पर

विराट्रूप चिन्मय आकाश ही प्रतीत होता है ॥३१,३२॥ जैसे स्वप्न में प्राप्त हुआ नट अपने को ही अपने से अतिरिक्त नाट्यदर्शक समाज से भरा स्वप्नदेश मानकर वहाँ पर अपना अभिनय स्वयं ही देखता है वैसे ही अनुभव करनेवाला चिदात्मा ही अनुभवैकरस सत्य स्वरूप को भी माया के आवरण से असत्–सा बनाकर परिच्छिन्न प्रपंचरूप से देखता है ॥३३॥

इसी अर्थ में सकलवादियों के मत का अविरोध है और इसी से सबके वांछित फल की सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं।

वेदान्तियों यानी शुद्ध ब्रह्मपरायणों, सर्वज्ञेश्वरपरायणों और उपासनानिरतों, दिगम्बरों, सांख्यों, योगियों और बौद्धों को (सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक चारों प्रकार के) गुरुजन वेदव्यास, अरिहंत (जैन), कपिल,पतंजलि और बुद्ध एवं पशुपति या भैरव (आगमशास्त्रविशेष के निर्माता), वैष्णव, हैरण्यगर्भ आदि आगमशास्त्र के निर्माता विष्णु आदि द्वारा भलीभाँति वर्णित (अपने अपने आगम शास्त्रों में प्रतिपादित) जो दृष्टिकोण हैं उनका रूप धारण कर हमारा अभिमत ब्रह्म ही तत् तत् वासनारूप उनके स्वरूप से स्फुरित हुआ है और उन वादियों के आत्मसंवित् के (अपने अपने निश्चय के) अनुरूप स्वर्ग (पारलौकिक सुखरूप) और ऐहलौकिक सुख, सकल फल वह ब्रह्म ही बनता है, क्योंकि तदात्मक ही फल तत्–तत् द्वारा वैसे वैसे हों यों आशा की जाती है। इस ब्रह्म की ऐसी ही महिमा प्रसिद्ध है, क्योंकि मायाशबलरूप ब्रह्म सर्वात्मक है ॥३४॥

एक सौ तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौहत्तरवाँ सर्ग

प्रबोध (जागरण) द्वारा स्वप्न के मार्जन की भाँति ज्ञान द्वारा दृश्य का परिमार्जन करने पर अवशिष्ट रहे एक चिदात्मा का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि सृष्टि के आदि में केवल चिति ही स्वप्न की संवित् से जगत् के रूप में अवभासित होती है यह सिद्ध किया जा चुका है अतः तीनों जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा बोध होने पर कैवल्य सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥१॥ सृष्टियाँ ब्रह्मरूपी सागर की तरंग हैं, उनमें संवित् ही द्रव (जल) है। अज्ञानियों में प्रसिद्ध दुःखरूपी सृष्टि का बोध द्वारा परिमार्जन हो चुका। किन्तु उसके अनन्तर भी जीवन्मुक्त पुरुषों के व्यवहार के लिए जो जगत् प्रसिद्ध है, वह आनन्द–सत्–चित् स्वरूप होने से दूसरी ही सृष्टि है, उसमें द्वैत, ऐक्य आदि असुखरूप किस निमित्त से होगा, यह अर्थ है ॥२॥ जैसे स्वप्न और सुषुप्ति केवल निद्रारूप ही हैं वैसे ही दृश्य और अदृश्य स्वरूप आकाश चिदाकाश का ही एक रूप है। जैसे स्वप्न में सुषुप्ति और स्वप्न में भेद का आभास होने पर भी दोनों में एकमात्र निद्रारूपता का व्याघात नहीं होता वैसे ही विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्ति में भेद का आभास होने पर भी उन दोनों में सुखैकरसता का व्याघात नहीं होता, यह भाव है ॥३॥ जाग्रत् में जैसे स्वप्ननगर है वैसे ही यथार्थतः परिज्ञात यह जगत् है इसमें विवेकी पुरुष की आस्था कैसे हो सकती है ? ॥४॥ जाग्रत् में स्वप्ननगर का जैसे बाध हो जाता है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में सृष्टिसंवित् के यथार्थतः ज्ञात होने के कारण जगत् भी बाधित हो जाता है ॥५॥ जैसे विविध प्रकार की स्वप्ननगर वासनाएँ स्वप्नकाल में

सत्यरूप से प्रतीयमान होती हुई भी जाग्रत् में सत्य नहीं हैं वैसे ही जाग्रत् के भोगाभास के लिए आविर्भूत वासनाएँ भी सत्यरूप से प्रतीत होने पर भी सत्य नहीं हैं। यानी दग्ध वस्त्र के समान वासनामात्र से उनकी स्थिति दुःख देने में समर्थ नहीं है, यह तात्पर्य है ॥६॥

यदि किसी को शंका हो कि जगत् के भ्रान्तिरूप होने से तत्त्वज्ञान द्वारा उसके मूलभूत अज्ञान का मूलोच्छेद होने पर बाध हो जायेगा। किन्तु प्रधान, परमाणु आदि अन्य कारणों द्वारा अन्य प्रकार से उसकी उत्पत्तिवश भ्रान्तिता की कल्पना न करने पर बाध न होगा। इसलिए उससे दुःख होगा ही, इस आशंका पर कहते हैं।

अन्यथा उपपादन करके यदि जगत् के कारण की कल्पना करते हो तो स्वप्न जगत् में प्रसिद्धतर होने तथा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि विविध श्रुतियों द्वारा बोधित होने के कारण कारणान्तर की कल्पना की अपेक्षा निकटतम इसकी भ्रान्तिमात्रता की ही कल्पना क्यों नहीं की जाय, यह भाव है ॥७॥ वाचारम्भण श्रुति द्वारा प्रदर्शित न्याय से पर्यालोचना करने पर मृत्तिका,तन्तु आदि से अतिरिक्त घट, पट, आदि का अदर्शन होने से उनके विषय में स्वप्न जगतों की तरह अपनी यह भ्रान्ति प्रत्यक्ष ही अनुभूत होती है। प्रत्यक्षानुभव की अपेक्षा अनुमान कहाँ बलवान् देखा गया जिसके बल से प्रधान, परमाणु आदि कारणों की सिद्धि होगी, यह अर्थ है ॥८॥ जगत् स्वप्नपर्वत की तरह अन्दर भ्रान्तिरूप ही हैं। इस विषय में प्रत्यक्ष हेतु भी है वह यह कि यह जन आत्मा में इष्ट की ही सृष्टि करने और अनिष्ट की सृष्टिका निवारण करने के लिए समर्थ नहीं है। उसके द्वारा पहले से विचारित ही अर्थ निश्चय रूप से देखने में नहीं आता, अकस्मात् ही कोई भी अतर्कित अन्य पदार्थ दृष्टिगोचर हो जाता है। सृष्टि को अन्य कारण के (प्रधान, परमाणु आदि के) अधीन मानने पर तो उक्त कारण सम्पत्ति से साध्य इष्ट का ही लोग सर्जन करेंगे और अनिष्ट का निवारण करेंगे, आकस्मिक दृश्य को न देखेंगे। उक्त तीनों हेतुओं की अन्यथानुपपत्ति से जगत् स्वप्नपर्वत के समान भ्रान्तिरूप ही है, यह सिद्ध हुआ ॥९॥

अतएव जगत् के बाध के बिना निर्विकल्प समाधि पर्यन्त ध्यानमात्र से आत्मोद्धार माननेवाले योगियों का भी निराकरण हो गया, ऐसा कहते हैं।

योगियों का अभिमत आत्मा आनन्दचिद्रूपविहीन है। उसका साक्षात्कार होने पर भी वह पुरुषार्थरूप नहीं है। इसलिए उसके साक्षात्कार की कल्पना में कोई प्रयोजन नहीं हैं, अतः नित्य अनुमेयरूप तथा मीमांसकों के ज्ञान के तुल्य अपरोक्षभूत उसमें जड़ता ही परिशिष्ट रहती है। उसमें हुई चित्त की निर्विकल्प समाधि केवल जड़ता ही है, उसमें हुई सविकल्प समाधि तो संसार ही है। इस कारण योगियों का ध्यान और उससे सम्पन्न हुई समाधि भी नहीं के बराबर है। कुछ भी पुरुषार्थरूप नहीं है, यह अर्थ है ॥१०॥

उक्त का ही स्पष्टीकरण करते हैं।

चेत्ययुक्त ध्यान संसार है और चेत्यरहित ध्यान पत्थर की – सी स्थितिवाला है, इसलिए योगियों की सम्मत निरानन्दरूप मोक्ष अवस्था में परिशेष रहनेवाला ज्ञान मोक्ष (पुरुषार्थरूप) नहीं है, क्योंकि पत्थर के तुल्य भान मोक्ष नहीं है, क्योंकि वह तो बन्धनतुल्य ही है। इससे आत्मा की ज्ञानस्वभावता न माननेवाले वैशेषिकादि के सम्मत मोक्ष का भी निराकरण हो गया ॥११॥

योगियों के अभिमत समाधि के अभ्यास से आपका अभिमत मोक्ष क्यों प्राप्त नहीं होता ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

पत्थर के सदृश निर्विकल्प समाधि द्वारा सांख्यों के अभिमत मोक्ष के सिवा हमारा अभिमत मोक्ष यदि प्राप्त हो तो स्वनिद्रा से भी वह प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि चित्त की चंचलता की निवृत्ति और अज्ञानरूप आवरण की अनिवृत्ति निद्रा और उक्त योगियों की सम्मत निर्विकल्प समाधि में तुल्य हैं, यह भाव है ॥१२॥

इसलिए वादियों के अभिमत पक्षों में मोक्षअभावरूप दोष से छुटकारा न मिलने के कारण जगत् केवल भ्रान्तिमात्र है निरतिशयानन्द सच्चिदेकरस ही आत्मा है इस तत्त्वज्ञान से भ्रान्तिजन्य अज्ञानआवरण के विनाश से भ्रान्तिक्षय होने पर परिशेष रहनेवाला परमपुरुषार्थ है यह हमारा पक्ष ही सबके लिए शरणरूप है, यों उपसंहार करते हैं।

इसलिए सम्यक् ज्ञान से विवेकी पुरुष की दृष्टि में सृष्टि का अत्यन्त असंभव होने से जगत् भ्रान्तिमात्र है। जो जीवन्मुक्तता का उदय है वही निर्विकल्प समाधि है वही वेदान्तशास्त्र में अनन्त निर्वाण कहा जाता है। यथास्थित, विक्षोभ रहित, सर्वप्रकाशक वह आसन (स्थिति) अनन्त सुषुप्त नामक है,वही तुरीय कहा गया है। वही निर्वाण कहा गया है और वही मोक्ष कहा गया है ॥१३–१५॥ जो यह सम्यक् ज्ञान की एकमात्रघनता (सम्यक्ज्ञानैकरसता) है वह ध्यान कहा गया है। 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' इत्यादि श्रुतियाँ और तत्त्ववेत्ता जिसमें दृश्य का अत्यन्त असम्भव हो उस बोध को ही परमपद कहते हैं। वह गौतम और कणाद आदि की सम्मत मुक्ति की तरह पत्थर के समान जड़ नहीं है, हिरण्यगर्भ सम्मत प्रकृति–प्रलय के तुल्य सुषुप्तोपम नहीं है, पातंजलों की सम्मत मुक्ति की तरह निर्विकल्पतामात्र नहीं है, पाशुपत, पांचरात्र आदि की सम्मत मुक्ति की तरह सविकल्पक नहीं है और बौद्धों की अभिमत मुक्ति की तरह असत् (नैरात्म्यरूप शून्य) भी नहीं है ॥१६,१७॥

तब मुक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिसमें दृश्य का अत्यन्त असम्भव है 'सब कुछ ब्रह्म ही है' और 'वही शुद्ध चिद्रूप ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार का निर्मल ज्ञान ही मुक्ति है। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहंब्रह्मास्मीति' 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इन श्रुतियों के अनुसार अधिष्ठानरूप से वह सब कुछ है और 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति' इत्यादि श्रुति से अध्यासरूप से कुछ नहीं है वैसे ही वह जानता है ॥१८॥ सम्यक् ज्ञान से वह परम निर्वाण कहा गया है, निर्वाण में यह यथास्थित सारा विश्व अत्यन्त प्रलय को प्राप्त होता है ॥१९॥ उसमें न भेद है और न अभेद है, न कुछ है और किंचित् है वह सब सद् असद् भावों की चरम सीमा कहा गया है। जैसे पट सत् है या असत् इस कल्पना की सीमा तन्तु (सूत) है, तन्तु सत् है या असत् है इस कल्पना की अवधि कपास है, कपास सत् है या असत् है इस कल्पना की सीमा कपास का बीज है, कपास का बीज सत् है अथवा असत् इस कल्पना की सीमा मिट्टीरूप पृथिवी है, पृथिवी सत् है अथवा असत् इस कल्पना की सीमा जल है, जल की सद्असद्भावकल्पना की सीमा तेज है, तेज की सद्असद्भावकल्पना की सीमा वायु है, वायु के सद्असद्भाव की कल्पना की सीमा

आकाश है, आकाश की सद्असद्भावकल्पना की सीमा अव्याकृत है और अव्याकृत की सद्असद्भावकल्पना की सीमा केवल चिदात्मा ही है, इस तरह वह सीमान्त कहा गया है ॥२०॥ जिसमें दृश्य का अत्यन्त असंभव है, शुद्ध बोधोदयस्वरूप, सकल विक्षेपों से रहित परमशान्त निरतिशयानन्दरूप से जो स्थिति है उसे ही आप परमपुरुषार्थ जानिये ॥२१॥

उसकी प्राप्ति में मोक्षोपाय नाम का यह ग्रन्थ ही उपाय है, ऐसा कहते है।

उत्पन्नमति (बुद्धिमान्) पुरुष को वह शुद्धबोधरूप उत्तम ध्यान पदपदार्थज्ञाता को बोधित करनेवाले इस शास्त्र से प्राप्त होता है ॥२२॥ मोक्षोपाय नामक इस ग्रन्थ का निरन्तर पारायण कर रहे पुरुष को विशुद्ध अध्यात्मशास्त्रजनित ज्ञानरूप उपाय से वह परमपद प्राप्त होता है अन्य किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये' इत्यादि श्रुतियाँ हैं। वह न तीर्थ सेवन से प्राप्त होता है, न दान से, न स्नान से, न विद्या से (ब्रह्मविद्या से अतिरिक्त विद्या से), न ध्यान से, न योग से, न तपस्याओं से और न यज्ञयागों से ही प्राप्त होता है। भ्रान्तिमात्र अनिर्वचनीय यह विश्व सत् की तरह प्रतीत होता है। निद्रारहित चिदाकाश में स्वप्नरूप यह जगदाकार आकाश (शून्य) ही है। भ्रान्ति की तप, तीर्थ आदि से कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती, तपस्या, तीर्थ आदि से विविध स्वर्ग प्राप्त होते हैं किन्तु मुक्ति नहीं मिलती है। भ्रान्ति की निवृत्ति उत्तम (शुद्ध) बुद्धि से विचारित आत्मज्ञानमय मोक्षउपायभूत इस शास्त्र से ही होती है, अन्य उपाय से नहीं होती है। जैसे रात्रि की आत्यन्तिक निवृत्ति सूर्योदय से ही हो सकती है, वैसे ही सम्पूर्ण भ्रान्ति की आत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञानप्रकाश उत्पन्न करनेवाले निर्मल इस शास्त्रार्थ से ही हो सकती है। वायु में स्पन्दन की तरह, जल में द्रवत्व की तरह चिदाकाश में सृष्टि, प्रलय और स्थिति के स्फुरण का भान होता है। जैसे वटबीज आदि द्रव्य के अन्दर सदा अपनी रमणीय वटवृक्षाकार धारणचमत्कृति स्थित है जैसे वायु के अन्दर अपनी मनोहर स्पन्दचमत्कृति स्थित है वैसे ही मायाशबल चिदाकाश के अन्दर यथास्थित यह जगत् की सृष्टि और उसकी स्थिति भी अनन्यरूपवाली है और उसीमें यह लय को प्राप्त होगी ॥२३-३०॥

एक सो चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचहत्तरवाँ सर्ग

जब तक अज्ञान रहता है तब तक चिति ही बिना किसी कारण के जगत् की तरह प्रतीत होती है। शास्त्र द्वारा अज्ञता के हटने पर वह मुक्त हो जाती है, यह वर्णन।

यह सृष्टि और उसकी अस्तिता अभिन्न है इस कथन से सृष्टि चित् की देह ही है ऐसी प्राप्त हुई शंका का निराकरण करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, आदिम चिदाकाश अपनी अविद्या से स्वप्न तुल्य बनकर जीवरूप से आवागमन के चक्कर में पड़कर 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि तत्-तत् देहों में तादात्म्य के अध्यासों का काम, कर्म, वासना आदि द्वारा कारण होता है, किन्तु जीवोपाधि की सिद्धि के पहले महाप्रलय में स्वप्न तुल्यता की प्राप्ति होने पर दृश्यरूप अन्यता का संभव न होने से निमित्त की असिद्धि वश उस चिद्व्योम का दृश्य सृष्टिरूप शरीर किस कारण से होगा ? यह अर्थ है ॥१॥

स्वप्नसंवित् के रूप से ही जीवत्वसमकालिक सृष्टि आदि की सिद्धि होती है अन्य निमित्त से नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टि के आदि में न स्वप्नसंविद्रूप दृश्यमान सृष्टि की सिद्धि होती है और न परलोक की ही सिद्धि होती है ॥२॥

चिदाकाश का जीवभाव अथवा जगद्भाव वास्तविक नहीं है, जिससे कि जगत् उसका शरीर होगा, ऐसा कहते हैं।

अनुभव करनेवाला (अनुभवैकरस) चिदात्मा इस प्रकार स्वप्नअंगना के संग की तरह निपट असत् जगत् बनकर अपनी अविद्या से जगत् के रूप से भासित होता है। परमार्थतः वह केवल शान्त चिदाकाश है ॥३॥

तो क्या अनुभव भी असत् है ? इस पर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

इस तरह जो जगत् के रूप से अवभासित होता है वह जगत्–शून्यस्वरूप अत्यन्त निर्मलरूप आदि–अन्तविहीन स्वच्छतम चिद्धातु ही है ॥४॥ यह परमात्मा ही जब तक अज्ञात रहता है तभी तक यह अविद्यारूप मल भासता है। अविद्याअवस्था में संसारी हो रहा जीव–सा पृथक् होता है किन्तु ज्ञात होकर वह मल परम निर्मल ब्रह्म ही है, क्योंकि 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (जो उस परम ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। ब्रह्मभाव में मल का प्रसंग ही नहीं है। अनादिनिधन परमाकाश में मल कहाँ से हो सकता है, क्योंकि प्रबोध से स्वप्न की तरह ज्ञान होने से मल का बाध हो जाता है ॥५॥

कारण का संभव न होने से दृश्य की स्वप्नतुल्यता बार–बार सिद्ध की जा चुकी है, उसी को दृढ़ करने के लिए पुनः अनुवाद करते हैं।

जो यह शुद्ध संवित् है वही स्वप्ननगर है और वही सृष्टि के आदि में जगत् है, अतः पृथिवी आदि का संभव कैसे हो सकता है ? ॥६॥ आकाशभूत चिदाकाशात्मा के स्फुरण की सृष्टिरूपधारिणी पृथिवी आदि कल्पना की गई है तथा मन, बुद्धि आदिरूप कल्पना की गई है ॥७॥ जल में आवर्त की (भँवर की) तरह और वायु में स्पन्दन की तरह चिदाकाश में बिना भीत का जो जगद्भान होता है, उसके अन्तर जीवभाव से उसमें प्रवेशकर मैं हिरण्यगर्भ भुवनस्रष्टा हूँ यों अपने ऐश्वर्य का बखान करनेवाले परमात्मा ने ही स्वयं जगद्भान की ही बुद्धि आदि, पृथिवी आदि नामरूपव्याकरणरूप सत्असत्मय मूर्तअमूर्तप्रचुर या सत्यानृतमिथुनीकरणरूप कल्पना की ॥८,९॥ स्वच्छ से भी अत्यन्त स्वच्छ जो यह महाचिति है वह स्वयं ही जगत् के रूप से स्फुरित होती है इसीका नाम सृष्टि है अतः जगत् चिदाकाश ही है उससे भिन्न नहीं है ॥१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारदृष्टि से तो कुछ भी स्फुरित नहीं होता है, क्योंकि यह महाचिति अत्यन्त स्वच्छ कही गई है, चिन्मात्ररूप जो अद्वितीय ही ब्रह्म है, केवल उसकी कल्पना ही इस प्रकार (जगत्रूप से) निज आत्मा में विस्तृत है ॥११॥ शुद्ध संवित् आनन्द स्वरूप चिदाकाश ही चिदाकाश में निर्विकार रूप से ज्यों का त्यों स्थित होकर भी अज्ञात होने से स्वप्न की तरह चित्त–सा दृश्य–सा अवभासित होता है। सद् कारण के अभाववश अन्य प्रकार से हजारों वादी भी सृष्टि का उपपादन नहीं कर सकते हैं, अतः सृष्टि के आदि में आत्मा ही दृश्य का रूप धारण कर स्वयं चिदाकाशरूप दृश्य को

देखता है ॥१२,१३॥ स्वप्न के समान निर्धर्मक वह अपने अधिष्ठान से तनिक भी भिन्न नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूप से परिशिष्ट वह आकाश से शून्यता के समान चिदाकाश से भिन्न नहीं है। जो ही सकलरूपों से विवर्जित अद्वितीय पर ब्रह्म है वही अपने सच्चिदानन्दघन अद्वितीय रूप से ही स्थित हो स्वमायाशक्ति से सकल जगद्रूप से स्थित है ॥१४,१५॥ स्वप्न में अकारण ही इस दृश्यसृष्टि का सकल जीवों को अनुभव होता है स्वप्न में तो आत्मा ही स्वप्न के सकल पदार्थों का रूप धारणकर भासित होता है, अतः जाग्रत् में भी एक ज्ञानरूप निर्मल ब्रह्म ही जगद्रूप से (नानापदार्थों के रूप से) भासता है। ब्रह्म ही चिद् होने से आत्मा में मानों जीवत्व की कल्पना करता हुआ और अपने निर्मल सच्चिदानन्दघन स्वरूप का त्याग न करता हुआ मनस्त्व को जैसे प्राप्त होता है ॥१६,१७॥ स्वयं चिदाकाश ही वह मन की समष्टिरूप से आकाशात्मक ही इस सकल जगत् का विस्तार करता है और स्वयं अविकारी होता हुआ भी विकारी जगद्रूप-सा प्रतीत होता है। मन ही हिरण्यगर्भ है वह सृष्टि के हृदय में स्थित होकर सबका निरन्तर निर्माण करता है और निरन्तर सबका संहार भी करता है ॥१८,१९॥ पृथ्वी आदि से रहित समष्टिमनरूप ब्रह्मा अवयवरहित जिस जगत् के हृदय में स्थित है उससे भिन्न के तुल्य त्रिजगत् के रूप से भासता है जैसे कि स्वप्न में निराकार चिदात्मा स्वाप्न पदार्थ के रूप से भासित होता है ॥२०॥ एक निराकार परब्रह्म होकर भी अपनी अविद्या से पूर्ण सच्चिदानन्द भाव से च्युत हो मनोभाव को प्राप्तकर समष्टिमनरूप ब्रह्मा अहंकारस्वरूप से तथा शरीर और जगत् के रूप से अनन्तरूप होकर जड़ और चेतन जगत्रूप में स्थित है ॥२१॥ यथार्थतः न यहाँ (चित् में) पृथिवी आदि हैं, न शरीर है, न चित् से भिन्न कुछ दृश्यरूप ही है, किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही कल्पित समष्टि मनोरम हो जगद्रूप में अतिशयरूप से स्फुरित हो रहा है। और सूक्ष्म विचारदृष्टि से यह जगत् का स्फुरण भी कुछ नहीं है एकमात्र अत्यन्त घन चिन्मात्र ही अपने आप अपने स्वरूप में भासता है। जिससे वचन निवृत्त हो जाते हैं यानी जहाँ मन और वाणी की पहुँच नहीं है उस निरतिशय आनन्द की प्राप्ति से तूष्णींभाव (आत्मस्वरूप निश्चलता) शेष रहता है। वह निश्चलता व्यवहारकाल में भी नहीं हटती। शुद्ध सच्चिदात्मा संसार के व्यवहारों में निरत रहने पर भी निश्चल आत्मस्वरूप से ज्यों का त्यों मूकवत् स्थित रहता है ॥२२-२४॥ वह प्रबुद्ध (ज्ञानवान्) पुरुषश्रेष्ठ निश्चल होकर अनन्त अपार चिन्मात्ररूप परम इष्ट (परमप्रेमास्पद निरतिशयानन्दघनतारूप) हो जाता है। अथवा ज्ञानरूप अग्नि में परिपाकवश दृढ़ होने से ब्रह्मरूप ईंट स्वयं बन जाता है, ऐसा अर्थ है ॥२५॥

इस प्रकार मुक्ति को प्राप्त हुए पुरुषश्रेष्ठ के फिर कालान्तर में सृष्टि आदि से बन्धन-प्रसंग का वारण करने के लिए सृष्टि की अज्ञानपूर्वकता दिखलाते हैं।

जैसे जल में द्रव से अबुद्धिपूर्वक ही (अज्ञानपूर्वक ही) आवर्त, बुद्‌बुद् आदि होते हैं वैसे ही अविद्यावृत ब्रह्मा ने अज्ञानपूर्वक ही चित्त, बुद्धि आदि जड़ पदार्थों का निर्माण किया है। अविद्यावृत चैतन्य ही जलादि बनकर आवर्त आदि विकल्पों का भाजन होता है, अतएव जलादि की दृष्टान्तता है ॥२६॥ जैसे वायु द्वारा अपने से अभिन्न स्पन्द का अबुद्धिपूर्वक ही निर्माण किया जाता है वैसे ही परमात्मा द्वारा अपने से अभिन्न बुद्धि आदि जगत् का अबुद्धिपूर्वक ही निर्माण किया जाता है ॥२७॥ जैसे वायु का अविनाशी स्पन्दन वायु से अभिन्न है वैसे चिदाभासरूप सब जीव प्रत्यग्रूप परमात्मा से अभिन्न है ॥२८॥

अतएव जीव भी ब्रह्म के पर्यायरूप ही हैं, ऐसा कहते हैं।

हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, चिद्व्योम, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति, महान्, परमात्मा इन सबको आप पर्यायवाची जानिये ॥२९॥ अविद्यावृत ब्रह्म नेत्र के समान उन्मेष निमेषरूप है अथवा वायु के समान स्पन्दअस्पन्दरूप है । उसका जैसा प्रलयरूप निमेष है वैसा ही सर्गात्मक उन्मेष जगत् है ॥३०॥

जैसे उन्मेष और निमेषकाल में एक–सा नेत्रगोलक एक ही है उसी में निमेष उन्मेष का लय होता है वैसे ही प्रलय और सृष्टि में एक–सा ब्रह्म एक है उसी में उनका लय होता है, ऐसा कहते हैं।

दृश्य ब्रह्म का उन्मेष है और दृश्य का अभाव (प्रलय) निमेष है दोनों अवस्थाओं में निराकार यह एक ही है, क्योंकि उन दोनों का ही इसी में लय होता है ॥३१॥ परब्रह्म परमात्मा निमेष और उन्मेष–दोनों अवस्थाओं में एकरूप ही रहता है। अतः चिति से ही दृश्य का 'अस्ति' (है) और 'नास्ति' (नहीं है) यों स्फुरण होने से दृश्य सत्–असत् है, किन्तु चिति सदा सत्तैकरूप ही है ॥३२॥

उन्मेष और निमेष भी उन्मेष और निमेष के हेतु पलक सहित नेत्र स्थानीय शबलब्रह्मरूप से परस्पर अभिन्न ही हैं, ऐसा कहते हैं।

निमेष उन्मेष से अतिरिक्त नहीं है और उन्मेष भी निमेष से भिन्न नहीं है वैसे ही मायाशबल ब्रह्म से उन्मेष–निमेषरूपी सर्ग और प्रलय भिन्न नहीं है ॥३३॥

इस दृष्टि से जो सिद्ध हुआ, उसे कहते हैं।

हे सौम्य श्रीरघुनायक, इस कारण निमेष और उन्मेष में साधारण (एक समान) ब्रह्मरूप से एकरस यथास्थित इस जगत् को आप अनुत्पन्न, अजर, अमर, शान्त चिदाकाश ही जानिये ॥३४॥ जैसे आकाश अपने में अध्यस्त नीलरूपता से स्फुरित होता है वैसे ही चिति भी अचित्यात्मकरूप से (अचेतन दृश्य जगत्रूप से) स्फुरित होती है, इसलिए जो कुछ यह जगत्रूप से भासता है,वह जगत् शरीरधारी चिन्मात्र ब्रह्म ही है ॥३५॥ न तो दृश्य कभी उत्पन्न हुआ है, न नष्ट होता है और न यथार्थतः अनुभव में ही आता है केवल एकमात्र चिति ही अपने स्वरूप में स्वयं दृश्यरूप चमत्कार करती है । जैसे सूर्य से निकली हुई सूर्य की दीप्ति से सूर्य की उष्णता भिन्न–सी मालूम होती हुई भी भिन्न नहीं है वैसे ही दृश्य नाम की चिदाकाशरूपी महामणि की प्रभा भी अपने उद्गम स्थान (आकर–स्थान) महामणि से भिन्न–सी प्रतीत होती हुई भी उससे अभिन्न ही है। जैसे सुषुप्ति ही स्वप्न–सी प्रतीत होती है यानी स्वप्नरूप में भासती है वैसे ही ब्रह्म ही सृष्टि के समान स्फुरित होता है, इसलिए नानारूप के समान स्फुरित होता हुआ भी यह सारा जगत् एक, शान्त, शिवरूप ब्रह्म ही है ॥३६–३८॥

चिदाभास द्वारा जब जिस जिसका जिस प्रकार से–भाव अथवा अभाव रूप से जैसा संकल्प किया जाता है उसका उस प्रकार से चाहे वह सत् हो चाहे असत् वैसे ही अनुभव किया जाता है ॥३९॥ जगत् की जड़ता की अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने के कारण उसके अनुरूप प्रधान, परमाणु आदि रूप कारण की कल्पना करो तो स्वप्न में प्रतीत होनेवाले प्रपंच का प्रधान, परमाणु आदि द्वारा कदापि निर्वाह नहीं हो सकता, आतएव आत्मा का ही जगद्भाव मानने पर तो उसी न्याय से सृष्टि के आदि में भी ब्रह्म ही जगत वेष धारण करेगा । इससे प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना

ठीक नहीं है, यह भाव है ॥४०॥

ऐसा मानने पर जगत् की, प्रमाणों के अविषय ब्रह्म में अध्यासवश स्वप्न की तरह, अनिर्वचनीयतारूप प्रमाणअविषयता भी सिद्ध होगी यों अद्वैत का अविरोध होने से दूसरी अनुकूलता हमारे पक्ष में हुई, ऐसा कहते हैं।

चूँकि ब्रह्म से अभिन्न यह विश्व प्रमाणों के अगोचर परम ब्रह्म से आविर्भूत है इसलिए प्रमाणों का अगोचर यह कुछ भी उदित नहीं हुआ ॥४१॥

इसलिए ब्रह्मरसिक लोगों का चित्त जगत् को ब्रह्म ही देखता है यों उन के अनुभव का अनुसरण भी हो गया, यह कहते हैं।

जिसका चित्त जिस ओर रसिक रहता है उसका चित्त वैसा ही अनुभव करता है इस कारण एकमात्र ब्रह्म में रसिक तत्त्वज्ञचित्त जगत् की ब्रह्मता का अनुभव करता है। जिस मनुष्य के चित्त-प्राण सदा जिस पर अनुरक्त रहते हैं, लगे रहते हैं, वह उसको वास्तविक (सत्य) प्रतीत होता है अतएव उसी का स्पष्टरूप से वह अनुभव करता है। जो मन एकमात्र ब्रह्म में रसिक होता है वह क्षणभर में ब्रह्म बन जाता है अतः जिसका मन जिसमें रस पाता है उसने उसी पदार्थको यथार्थ (सत्) जाना है ॥४२-४४॥ जिस जीव का चित्त दृढ़ निश्चयवश जिसमें विश्रान्त हो चुका, उसके लिए वही परमार्थ (सत्य) है, इसलिए ब्रह्मज्ञानी और नास्तिक अपने निश्चित मार्ग से अतिरिक्त जो याग, दान आदि कर्म करते हैं वह केवल सदाचार से लोकसंग्रहार्थ व्यवहार के लिए बिना इच्छा के मानों जबर्दस्ती करते हैं ॥४५॥ मेरे द्वारा निर्दिष्ट इस उपाय से (युक्ति से) यदि जगत् का भलीभाँति अवलोकन कीजिये तो यह सब आपको सत्तामात्र ही प्रतीत होगा। यह दृग (चित्) ही है इस चित् में द्वित्व, एकत्व की कल्पना कोई नहीं है। जिनकी ज्ञानदृष्टि में दृश्य, सत्, असत्, मूर्त, अमूर्त सब कुछ ब्रह्म ही है, उनकी दृष्टि में यहाँ अथवा कहीं न कर्ता अथवा भोक्ता जीव ही हैं और न उनका अभाव ही है, क्योंकि उन्हींका ब्रह्मरूप से शेष रहता है। जैसे अज्ञानी पथिकों के चोरों के सन्देह, भ्रान्ति आदि के योग्य वनमार्ग में स्थाणु ही चोर आदि के रूप से स्थित होता है वैसे ही आदि अन्त विहीन सर्वतः शान्त जगत्पर्यायवाला ब्रह्मैकघन (चिन्मात्रघन) यह ब्रह्म ही इस प्रकार (जगद्रूप से) आत्मा में स्थित है। जो ही बुद्धि समष्टि हिरण्यगर्भ आदिरूप जगत् है उसी को आप निरंजन (निर्विकार) ब्रह्म जानिये जैसे कि जो ही प्रशान्त आकाश है वही शून्य है। जैसे आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला, नीलता आदि, जो सद्असद्रूप हैं, आकाश से भिन्न से प्रतीत होते हैं, वैसे ही परम ब्रह्म में सद्असदात्मक बुद्धि आदि भिन्न से प्रतीत होते हैं। जैसे आकाश में घट, पट आदि के सब अभाव आकाश से अनन्य हैं, वैसे ही सर्वसामान्यसत्तारूप ब्रह्म में बुद्धि आदि, देह आदि अनुभव आदि अनेकरूप प्रतीत होने पर भी ब्रह्म से अभिन्न ही हैं। एकमात्र निद्रारूप सुषुप्ति से स्वप्न में प्रवेश कर रहे स्वप्न-सृष्टि में स्थित जीवात्मा का न तो द्वित्वरूप से निर्वचन होता है और न एकत्वरूप से ही होता है क्योंकि वहाँ व्यावर्त्य कोई प्रसिद्ध नहीं है वैसे ही एकमात्र निद्रारूप प्रलय से सृष्टि में प्रवेश कर रहे अज्ञ दृष्टि से सर्गस्थ भी ब्रह्म का द्वित्वरूप से अथवा एकत्व रूप से निर्वचन नहीं हो सकता। हे श्रीरामजी, महाचेतन की यह अपनी निर्मल कान्ति अथवा अविद्या ही जगत् के

रूप से स्फुरित होती है। वास्तव में तो निर्मल छाया इस प्रकार स्थित है कुछ भी स्फुरित नहीं होती है। चिदाकाश में चिदाकाशरूप ही यथास्थित (ज्यों–का–त्यों) निज स्वच्छ विग्रह चेत्य–सा दृश्य–सा प्रतीत होता है जैसे कि स्वप्नों में यथास्थित चिदात्मा ही स्वप्न पदार्थों के रूप से स्फुरित होता है। हजारों वादियों द्वारा भी सद् वस्तु से अतिरिक्त का उपपादन न हो सकने तथा सत्यकारण का अभाव होने से चिद्व्योम स्वयं अपने को दृश्यरूप से देखता है, यही पक्ष सिद्ध हुआ। सृष्टि के आरम्भ में निराकार चिदाकाश परमात्मा का ही दृश्य के रूप में भान होता है और वह भान स्वप्न, संकल्प और मिथ्याज्ञान में हुए भ्रम के तुल्य भ्रम ही है। दृश्य स्वप्न के समान सकल धर्मशून्य चिदाकाश ही है, क्योंकि उसमें तनिक भी धर्म का अस्तित्व नहीं है। वस्तुभूत (परमार्थभूत) चिदाकाशका विकारी भी तथा धर्मवान् भी आकार अविद्यारूप मल से प्रतीत होता है। वास्तव में उसमें आकार, विकार और धर्म नहीं हैं। स्वप्ननगर के तुल्य दृश्य प्रतीतितः साकार होता हुआ भी वास्तव में निराकार है और प्रतीतितः धर्मवान् होता हुआ भी निर्धर्मक है। अधिष्ठानरूप सन्मात्र से अभिन्न भी वह अज्ञजनों की दृष्टि से इस प्रकार जगत् के आकार से निरन्तर ही स्थित है ॥४६–५८॥ स्वप्नपर्वत के तुल्य स्वच्छ दृश्य स्वाधिष्ठान चिन्मात्र से रंचभर भी भिन्न नहीं है, इसलिए चिदाकाशमात्ररूप से परिशिष्ट चिदाकाश की आकाश की अपेक्षा भी अतिसूक्ष्मता सिद्ध हुई, यह अर्थ है ॥५९॥ सकल रूपों से विरहित सच्चिदानन्दघन जो परम ब्रह्म है वही अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूप से रंचभर भी च्युत न हो यथास्थित ही सृष्टि के रूप से स्थित है ॥६०॥ स्वप्न में दृश्य का सबको अनुभव होता है। स्वप्न में आत्मा ही नगर आदि के रूप में भासता है।

शंका : स्वप्नकाल में सत्य नगरादि का जीव द्वारा निर्माण हो, क्योंकि 'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते स हि कर्ता' (स्वप्नकाल में जीव रथों की तथा रथयोग्य मार्गों की सृष्टि करता है) ऐसी श्रुति है।

समाधान : स्वप्न में जीव द्वारा सत्य नगर आदि की रचना नहीं होती है, क्योंकि 'न तत्र रथा रथयोगा पन्थानो भवन्ति' (न वहाँ रथ होते हैं और न रथयोग्य मार्ग होते हैं) 'मायामात्रं तु कात्यसेर्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (स्वप्न की सृष्टि शुक्ति रजत, रज्जुसर्प आदि के समान मायामात्र है, क्योंकि उसका स्वरूप देश, काल आदि सम्पूर्ण धर्मों से अभिव्यक्त नहीं होता) इत्यादि श्रुति और सूत्रों ने स्वप्न में सृष्टि का निषेध किया है और उसे मायामात्र कहा है॥६१॥

यदि कोई कहे कि 'स एवायं देवदत्तः' (वही यह देवदत्त है) 'तदिदं पूर्वदृष्टमेव मद्गृहम्' (यह वही पूर्वदृष्ट मेरा घर है) इत्यादि अबाधित प्रत्यभिज्ञा आदि से स्वप्न में भी पदार्थ सत्य हों ? इस शंका पर कहते हैं।

स्वप्न में 'वही यह रेखा है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का विषय हो रहे गृह आदि पदार्थ का हृदय, कण्ठ, नाड़ी छिद्र आदि प्रदेश में किसी प्रकार भी संभव न होने से प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, पदार्थ का संभव न होने के कारण इन तीनों का त्याग कर ब्रह्मसंवित् का ही निद्रा आदि दोषों से स्वाप्न पदार्थ के रूप से अन्यथाभान होता है उसी में जाग्रत्–दृष्ट पदार्थों की तुल्यता की कल्पना कर अनुभव के व्यवहाराभास की तरह स्मृति आदि के सादृश्य की भी कल्पना कर उसमें स्मृत्यादिता भी मूढ़ों ने मानी है, ऐसा समझना चाहिये ॥६२,६३॥

सादृश्य से भी वही यह लहरी है, वही यह दीपशिखा है इत्यादि प्रत्यभिज्ञाभ्रम लोक में प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

जिसी जल में जैसे लहरी एक बार आती है उसी जल में वैसे ही अभिन्न लहरी पुनः पुनः आती है वैसी अवस्था में 'सैवेयं लहरी' (यह वही लहरी है) ऐसा प्रत्यभिज्ञाभ्रम होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में कल्पनाधिष्ठान परम ब्रह्म में जगत् को भी भ्रमरूप समझना चाहिये ॥६४॥

केवल कल्पनामात्र होने के कारण ही ब्रह्म में 'स दाधार पृथिवीं घ्यामुतेमाम्' (उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया), 'यस्मिन् द्यौः पृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष सब प्राणों के साथ मन ओत-प्रोत हो केवल उसी को आत्मा जानो) इत्यादि जगत् की विधियाँ और 'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ भेद कुछ भी नहीं है) इत्यादि जगन्निषेध समानरूपसे समावेश पाते हैं, ऐसा कहते हैं।

परस्पर सदा ही सभी विधियाँ और निषेध अलग अलग (विभक्त) होकर और मिलकर परम ब्रह्म में हैं और नहीं भी हैं ॥६५॥ इसलिए सद् ब्रह्म सर्वात्म है, इसमें क्या नहीं है ? वह ब्रह्मसत्ता ही सर्वात्म है इस कारण यह सब कुछ ब्रह्मसत्तात्मक (सदात्म) और सर्वात्मक है ॥६६॥

इस कारण उसमें सकलवादियों की सभी कल्पनाओं का अविरोध से समावेश और कल्पनाविहीन पुरुष का मोक्ष भी उपपन्न होता है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

क्रीड़ा के लिए भ्रमण कर रहे बालक की दृष्टि में वृक्ष, पर्वत, नदी आदि के समूह के साथ भूमि का भ्रमण होता है अन्य लोगों की दृष्टि में भूमि भ्रमणशील नहीं है। दोनों ही दृष्टियाँ सदात्मक हैं। भ्रमावस्था में भूमि नहीं घूमती है ऐसा ज्ञान रखनेवाले भी बालक को जब तक स्थिरता का अभ्यास नहीं होता तब तक पहले गृहीत भूभ्रमणदृष्टि शान्त नहीं होती है वैसे ही भ्रमावस्था में जगद्भ्रान्ति दृष्टि भी स्थिरता के अभ्यास के बिना शान्त नहीं हो सकती है ॥६७॥

प्रकृत में दृश्यभ्रम की निवृत्ति का उपयोगी कौन अभ्यास करना चाहिये, यह बतलाते हैं।

तत्त्वज्ञानी गुरु को सेवा आदि द्वारा प्रसन्न करके उनके द्वारा इस मोक्षउपायभूत शास्त्र का व्याख्यान कराकर जो उसके श्रवण का अभ्यास है, उसके बिना दृश्य की निवृत्ति के लिए न कोई दूसरा मार्ग हुआ है और न होगा ॥६८॥

यदि कोई यह शंका करे कि इस शास्त्र के अभ्यास से क्या करना है, योगशास्त्र में प्रसिद्ध चित्त के निरोध से ही दृश्यविलोपरूप इष्ट सिद्धि हो जायेगी ? तो इस पर कहते हैं।

हाँ ऐसा होता यदि चित्त का निरोध शक्तिसाध्य होता। चित्त-निरोध का ही संभव नहीं है। चित्त का स्वरूप संसार से अविनाभावी (पृथक् न होनेवाले) है, अतः जाग्रत् और स्वप्न में जीवित अथवा सुषुप्ति में लय होने के कारण मरे हुए चित्त का प्रयत्नपूर्वक निरोध करने पर भी उसका संसार से निरोध नहीं हो सकता है, किन्तु इस शास्त्र के अभ्यास के अधीन बोध होने से ही बाधित होकर यह संसार को नहीं देखता है, इसलिए इस शास्त्र का अभ्यास ही दृश्यनिवृत्ति का उपाय है, यह भाव है ॥६९॥ जैसे चित्त सदा ही संसार से अविनाभावी है वैसे ही दृश्यरूप संसार भी चित्त और शरीर दोनों से अविनाभावी। वे दृश्य और शरीर इस शास्त्र के अभ्यास से प्रतिबन्ध न होने पर इसी जन्म

में तत्त्वबोध होने पर निवृत्त हो जाते हैं, प्रतिबन्ध रहने पर अन्य जन्म में प्रतिबन्ध का नाश होने पर बोध होने से निवृत्त होते हैं। *इस विषय में भगवान् वेदव्यासजी का सूत्र है – 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेत द्दर्शनात्' (प्रतिबन्ध का अभाव होने पर इस जन्म में विद्या की उत्पत्ति हो सकती है और प्रतिबन्ध होने पर अन्य जन्म में भी होती है इसी जन्म में विद्या उत्पन्न हो ऐसा नियम नही है, क्योंकि श्रुतियों में ऐसा देखा जाता है* ॥७०॥ जैसे कारण के अभाव से (शुक्रास्त, शुक्रोदयआदि कारण न होने से) वायु, स्पंदन और उनसे होनेवाले मेघसैन्य शान्त हो जाते हैं वैसे ही बोध से चित्त, दृश्य और शरीर तीनों निवृत हो जाते हैं ॥७१॥

तो चित्त, दृश्य और शरीर इन तीनों का कारण क्या है ? इस प्रश्न पर उसे कहते हैं।

चित्त, दृश्य और शरीररूप त्रिक का कारण अज्ञान (ब्रह्मात्मभाव का आवरण करनेवाली अविद्या) ही है। और कुछ ही संस्कृत मतिवाले पुरुषों का उक्त त्रिक पढ़े गये इस शास्त्र से ही शान्त हो जाता है ॥७२॥

यदि कोई कहे कि केवल पढ़ने मात्र से इसका सकल अर्थ कैसे अवगत होगा ? इस पर कहते हैं।

यदि पदपदार्थ ज्ञानवान् पुरुष बीच में ही थककर इसके पढ़ने से विरत न हो तो पहले पहले समझ में न आया हुआ (अबुद्ध) ग्रन्थ का उत्तर ग्रन्थ से (आगे के ग्रन्थ से) बोध होता है ॥७३॥ इसलिए भ्रम की निवृत्ति में इसी शास्त्र को असाधारण उपाय आप जानिये। ऐसा ही ज्ञानियों द्वारा इसका अनुभव किया जाता है ॥७४॥ इसलिए इस महाशास्त्र से दो भागों का (पूर्व और उत्तर दो भागों का) अथवा एक भाग का (आधे ग्रन्थ का) अपनी शक्ति के अनुसार अनुशीलन करना चाहिये। उससे अवश्य दुःख की निवृत्ति होगी ॥७५॥ यह ऋषि–प्रणीत शास्त्र स्मृतिरूप है और स्मृति का मूल (उद्‌गम) श्रुति है। इसलिए श्रुति का ही क्यों विचार न करें इस बुद्धि से प्रमादवश यदि यह शास्त्र किसी को रुचिकर न हो तो वह किसी अन्य श्रुतिरूप (उपनिषद्, भाष्य आदि रूप) आत्मज्ञानप्रद शास्त्र का ही विचार करे। अध्यात्मशास्त्र के विचार से विमुख न हों, इसी में हमारा तात्पर्य है। इसी शास्त्र का अनुशीलन करें इसमें हमारा आग्रह नहीं है ॥७६॥ मनुष्य अविचाररूप अनर्थ से अपनी जिन्दगी बरबाद न करे। श्रवण आदि उपाय से उत्पन्न तत्त्वबोध से सम्पूर्ण दृश्य को आत्मसात् करना चाहिए, बाधपूर्वक आत्मा द्वारा ग्रास करने योग्य बनना चाहिये। *यहाँ पर 'देये त्रा च' इस सूत्र से साति प्रत्यय है जैसे कि 'ब्राह्मणसादिदमन्नं कर्तव्यम्' यहाँ पर है* ॥७७॥

आत्मज्ञान के विषय में आलसियों को प्रोत्साहित करते हैं।

आयु के बीते हुए एक क्षण को भी यदि कोई चाहे सुवर्ण आदि की राशि के साथ सकल रत्नों से लौटाना चाहे, वापस पाना चाहे तो पा नहीं सकता। ऐसी दुर्लभ आयु को जो वृथा गँवाता है उसके प्रमाद का क्या ठिकाना है। उसके लिए खेद है, महाखेद है। प्रत्येक्ष अनुभूत भी, अन्तःकरण से उपहित भी तथा स्वप्न में दैवात् दृष्ट अपने मरण पर चारों ओर बान्धवों द्वारा किये गये विलाप की तरह सत्–सा स्फुरित भी यह दृश्य सत् नहीं है, निपट मिथ्या ही है। ऐसा ब्रह्मअद्वैत का दिग्विजय का डिंडिमघोष है ॥७८,७९॥

एक सौ पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छिहत्तरवाँ सर्ग

सृष्टि के आरम्भ में चिदणु में स्वप्न की तरह ब्रह्माण्डों का भान होता है
इस विषय में ब्रह्माजी द्वारा उक्त ब्रह्माण्डाख्यान का वर्णन।

यदि 'दृश्य असत् है' यों दृश्य के बाध द्वारा चिन्मात्र का परिशेष ही पुरुषार्थ है तो अज्ञान सहित वर्तमान ही दृश्य जगत् के बन्धनरूप होने से उसी की निवृत्ति करना उचित है। अतीत तथा अनागत (भविष्यत्), प्रतीत न हो रहे तथा अवर्तमान जगतों का परिमार्जन तो प्रकृतोपयोगी नहीं है। क्योंकि वे तो अप्रतीतिवश ही बन्धनभूत नहीं हो सकते हैं, इसलिए शास्त्र में उनके जिक्र का कोई मतलब नहीं है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, अतीत (भूत) और भविष्यत् असंख्य जगत् हैं उनके वृत्तान्तों से आप मुझे क्यों प्रबुद्ध करा रहे हैं यानी मुझे बोध कराने के लिए उनका उल्लेख उपयोगी नहीं है॥१॥

केवल वर्तमान दृश्य का ही शास्त्र में उपन्यास करना चाहिये अतीत अनागत अन्य किसी जगत् के उपन्यास की आवश्यकता नहीं है, यह आपके आक्षेप का निचोड़ निकलता है। वह ठीक नहीं है। पद और पदार्थ का सम्बन्ध, व्याप्ति ग्रह तथा दृष्टान्तसिद्धि आदि अतीत व्यवहार के अधीन हैं, अतीत जगत् के उपन्यास के बिना विचारात्मक शास्त्र में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। इसलिए अतीत, आगे होनेवाले ब्रह्माण्डों का तथा वर्तमान अन्य ब्रह्माण्डों का, शब्द-अर्थ के सम्बन्ध ग्रह आदि में उपयोग न होने के कारण, उपन्यास नहीं करना चाहिये इतना ही आक्षेप करना उचित हो तो कीजिये यों अनादर से उसका स्वीकार कर रहे से भगवान् श्री वसिष्ठ जी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शास्त्र में जगत्रूप स्वप्नों में शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभावसम्बन्ध क्या आपको ज्ञात नहीं हुआ ? इसलिए इस शास्त्र को सुनाने के लिए नियुक्त पुरुष ने उनका कथन व्यर्थ नहीं किया॥२॥ जो कथा सुनिश्चित वाक्यवाचकभाववाले शब्द-अर्थों द्वारा कही जाती है वही हृदयंगम होती है, वही यहाँ व्यवहार में उपयोगी होती है अन्य नहीं, ज्यों केवल लौकिक बुद्धि के अनुसार आलोचन करने पर आपने बहुत ठीक आक्षेप किया, यह अर्थ है॥३॥

यदि तत्त्वज्ञानियों में प्रसिद्ध त्रिकाल में निर्मल दर्शनवाले तत्त्व का पर्यालोचन करोगे तो सर्वज्ञ अपने ही दृष्टा होने के कारण अतीत, भविष्यत्, व्यवहित (व्यवधान में स्थित), अतिदूरवर्ती अनन्त ब्रह्माण्डों की वर्तमान इस ब्रह्माण्ड से रंचमात्र भी विशेषता न होने के कारण आपका यह आक्षेप उठ ही नहीं सकेगा, इस आशय से कहते हैं।

जब आप ज्ञात-ज्ञेय होकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में निर्मल दृष्टिवाले होगे तब उन सबको (अतीत, अनागत, व्यवहित, अतिदूर के ब्रह्माण्डों को) प्रत्यक्ष ही जानेंगे॥४॥

तत्त्वज्ञानी की वर्तमान अन्यान्य ब्रह्माण्डों तथा भविष्यत् ब्रह्माण्डों में पुनरावृत्ति शंका का निवारण करने के लिए पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड भी स्वप्न प्रपंचतुल्य होने से मूलअज्ञान के बाध से बाधित होते हैं, यह प्रतिपादन करने के लिए उनका भी शास्त्र में उदाहरण देना आवश्यक ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न में आद्य चिन्मात्र का (परब्रह्म परमात्मा का) ही स्वयं जगत् के रूप से भान होता है वैसे

ही अतीत, अनागत आदि सकल सृष्टियों के आदि में चिन्मात्र का ही जगद्रूप से भान होता है, केवल इतना अंश ही उनका उपयोगी है अन्य उनकी अनन्त विचित्रता प्रकृत के उपयोगी नहीं है ॥५॥

उनकी अनन्त विचित्रता क्यों प्रकृतोपयोगी नहीं है ऐसा यदि प्रश्न हो तो असंख्य होने के कारण उनकी विचित्रता की इयत्ता का शास्त्र में वर्णन करना दुष्कर है, इस आशय से कहते हैं।

आकाश में परमाणु परमाणु में असंख्य जगत् हैं, अतः उनके उन अनन्य व्यवहारों का पूर्णरूप से वर्णन करने की किसमें क्षमता है ? ॥६॥ 'अणु अणु में असंख्य जगत् हैं' इस विषय में कमल के पराग से व्याप्त शरीरवाले मेरे पिता श्रीब्रह्माजी ने जो आख्यान पहले कभी मुझसे कहा था उसे मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। पहले किसी समय मैं श्री ब्रह्माजी से पूछ बैठा कि 'भगवन्, यह जगज्जाल कितना विशाल है और कहाँ पर इसका भान है यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये।' ॥७,८॥ इस पर श्रीब्रह्माजी ने कहा : हे मुने, ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत्‌रूप से भासता है। ज्ञानियों की दृष्टि में ब्रह्मसत्ता से यह अनन्त है और अज्ञानियों की दृष्टि में भी जगद्रूप से अनन्त है। कानों के लिए आभूषण स्वरूप मेरे इस सुन्दर आख्यान को, जो ब्रह्माण्ड पिण्ड और ब्रह्माण्डाख्यान इन यथार्थ नामों से प्रसिद्ध है, सुनो ॥९,१०॥ आकाश में शून्यत्व के समान और वायु के शुद्ध स्पन्दन के तुल्य आकाश से अभिन्नस्वरूप चिदाकाश–परमाणु है। उसने (चिदाकाश–परमाणु ने) अपने तात्त्विकस्वरूप के अदर्शनरूप निद्रावश स्वप्न की तरह अपने आत्मा में अपने से समष्टिजीवत्व वैसे ही देखा जैसे आकाश अपने में स्व से अभिन्न शून्यरूप देखता है या जैसे वायु अपने में स्पन्दन देखता है ॥११,१२॥ तदुपरान्त अपनी अविकारिता, असंगता, पूर्णता और सूक्ष्मता का त्याग न कर रहे उस जीव ने आकाशरूप अहंकाररूप से अपना स्वरूप देखा। उस अहंकाररूप ने अपने में 'मैं बुद्धि हूँ' यों अपने को बुद्धिरूप से देखा। वह बुद्धि एक निश्चय निर्माणमयी (निश्चयात्मिका) असत् पदार्थों की भ्रान्ति उत्पन्न करने के कारण माया की अनुरूपिणी है ॥१३,१४॥ विकल्पाभासों के आरोपण द्वारा अविकल्प आत्मा को स्वयं निम्न स्तर पर पहुँचा रही बुद्धि ने स्वप्न में 'मैं मन हूँ' यों अपने को असत्मयमन रूप देखा ॥१५॥ तदनन्तर उक्त निराकार मन ने स्वप्न में देहवर्ती पाँच ज्ञानेन्द्रियों को वैसे ही देखा जैसे कि अज्ञानावृत जीव–चैतन्यस्वप्न में निराकार आत्मचैतन्य को घनाकार स्वप्नपर्वत के रूप में देखता है। उस मन देह चिदाकाश परमाणु ने इस प्रकार समष्टिरूप होकर भित्तिशून्य (भेदशून्य) होते हुए भी भित्तियों से पूर्ण (भेदपूर्ण) विस्तृत त्रिभुवनस्वरूपविराट शरीर को देखा, जो अनेकों भूतों से वेष्टित, विविध स्थावर–जंगमजीवों से युक्त, कल्पना और काल से व्याप्त तथा परस्पर अनेकों के संग की कल्पना करनेवाला है ॥१६–१८॥ इस स्वप्न में प्रत्येक व्यष्टि जीव दर्पण में प्रतिबिम्बित ऐसे, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, भोक्ता, भोग्य, भोग, कर्ता, कार्य और क्रिया इन तीन त्रिपुटी रूप नौ रंगों से मनोहर त्रैलोक्यरूप नगर को देखता है। तदनन्तर स्वप्न के समान इस जाग्रत् में भी प्रत्येक व्यष्टि जीव दर्पण तुल्य हृदय में प्रतिबिम्बित ऐसे, पूर्वोक्त त्रिपुटीरूपी नौ रंगों से मनोहर इस त्रिजगत् का अनुभव करता है। इस प्रकार जीव–भेदों से विभिन्नरूप सब चित्परमाणुओं के अतिसूक्ष्म उदर में भी इस प्रकार (वर्णित रीति से) कल्पित महान् जगत् विद्यमान हैं। और वे जीवसमूहों और पृथिवी आदि के संघातों से निबिड से हैं। अविद्यारूप से ज्ञात, यह सब स्वतत्त्वज्ञानरूपा अविद्या ही है। ब्रह्मरूप से परिज्ञात यह निर्मल ब्रह्म ही हो जाती है। इस प्रकार

ब्रह्मरूप से देखने पर तो जो जगत्स्वप्नजाल का दृष्टा है वह भी कुछ नहीं है। यहाँ पर कौन दृष्टा है, कहाँ से दृश्य है, कहाँ द्वैत है और कहाँ द्वैत का कारण है ? केवल आकाशरूप पूर्णरूप से प्रशान्त आदि अन्त-वर्जित स्वच्छ भेदशून्य ब्रह्म ही सकलरूप से चारों ओर भासित हो आत्मा में स्थित है। जैसे समुद्र में बड़ी बड़ी तरंगों के अनिवार्य वेगवश चंचल हुए जल के असंख्य परमाणुसमूह स्थित होते हैं वैसे ही जब तक अज्ञाननिद्रा है तब तक लाखों ब्रह्माण्डों की राशियाँ नित्य अनन्यरूप (अभिन्नरूप) परमात्मा में भली भाँति स्थित हैं ॥१९-२५॥

एक सौ छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सतहत्तरवाँ सर्ग

कल्पना से कारण सहित किन्तु वस्तुस्थिति से (वास्तविकता से)
अकारण यह जगत् अज्ञान से स्वप्नतुल्य है और ज्ञान से ब्रह्म ही है, यह वर्णन।

यह स्वप्नतुल्य सृष्टि अकारण ही है, ऐसा पीछे अनेक बार जो कह आये हैं उस पर श्रीरामचन्द्रजी गेहूँ, धान आदि कार्य की भी कृषि, वृष्टि आदि कारण के बिना ही उत्पत्ति होगी यों उत्पत्ति-प्रसंग पर आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यदि परमपद से यह जगद्रूप ब्रह्म स्वप्न, संकल्प आदि के समान निष्कारण ही प्रवृत्त होता है तो अकारण ही सकल इच्छित पदार्थों की सिद्धि होने पर अन्य गेहूँ, धान आदि किसानों की कोई वस्तुएँ कभी, बीज, जोतने आदि के कारण के बिना ही क्यों नहीं होती ? ॥१,२॥

हम बीज और अंकुर आदि की कल्पनाप्रसूत कार्य-कारणता का निवारण नहीं करते, जो व्यवहार की व्यवस्था करनेवाली है, किन्तु जगत् में सत्यता के स्थापन से तत्त्वज्ञान की व्यर्थता का प्रतिपादन करनेवाले ब्रह्मातिरिक्त प्रधान, परमाणुआदि अश्रौत (श्रुति द्वारा अप्रतिपादित) कारण, जिसकी विभिन्न वादियों ने कपोल कल्पना कर रक्खी है उसका निराकरण करते है जिससे कि जगत् की एकमात्र ब्रह्मविवर्तता की सिद्धि से तत्त्वज्ञान से बाध होने पर कैवल्यसिद्धि हो इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उक्त शंका का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनादि व्यवहार में जिसने जिस जिस पदार्थ की जैसे दृढ़ाभ्यास से अटल (कल्पित कार्यकारणभाव बद्ध) कल्पना की वह उसको वैसे ही कार्य या कारणरूप से देखता है। अन्यथा कल्पित कार्यकारणभाव को तोड़ने से व्यवहार में भी व्यावहारिक नियमों का अपलाप होने पर कोई कल्पना ही नहीं होगी, अतः अभ्यास के बिना सबकी मुक्ति का प्रसंग आयेगा ॥३॥

अतएव कल्पना करनेवाले पुरुष की बुद्धि के अनुसार से व्यवस्थित ही वस्तु अनुभव में आती है, ऐसा कहते हैं।

जिस पुरुष ने मन से इस दृश्य की जिस तरह की कल्पना की वह उसको वैसा जानता है और दूसरे ने जिस तरह की कल्पना की वह वैसा अन्यरूप जानता है। अतएव भाट्ट वार्तिक में कहा है 'परिवाट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनो। कुणपः कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विडम्बनाः।' अर्थ : एक ही

शरीर में परिव्राजक की 'शव' बुद्धि, कामी पुरुष की 'कामिनी' बुद्धि और कुत्ते की 'भक्ष्य' बुद्धि यों तीन विडम्बनाएँ होती हैं ॥४॥

तो क्या बिना किसी आलम्बन के ही कल्पना होती है ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं।

जैसे कल्पनात्मक चेतनपुरुष केश, नख आदि अचेतन युक्त प्रतीत होता है वैसे ही कल्पनात्मक स्वभाव एक ब्रह्म ही यह जगत् है यानी ब्रह्म में अचित् अंश कल्पित और चित् अंश अकल्पित है ये दोनों मिले अंश ही जगत् हैं ॥५॥ अतएव वास्तविक दृष्टि से अकारण पदार्थता और कल्पना दृष्टि से सकारण पदार्थता दोनों का ही ब्रह्म में अविरोध से अस्तित्व है, क्योंकि वह सर्वशक्ति स्वरूप है ॥६॥

यदि ब्रह्म उभयात्मक (सकारण पदार्थरूप और अकारण पदार्थरूप) है तो आपने अकारण पदार्थता पक्ष की ही क्यों स्थापना की ? इस आशंका पर कहते हैं।

यदि अज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म से अन्य (भिन्न) कहीं पर कुछ भी कदाचित् प्रतीयमान हो तो कारणों के विकल्प से उसका संयोग ठीक है, मेरे उसका प्रतिपादन न करने में यही भाव है कि तत्त्वज्ञान ही सप्रयोजन है। एकमात्र तात्त्विक दृष्टि में पक्षपात से मैंने उसकी (अकारण पदार्थता पक्ष की) स्थापना की है दूसरा रहस्य कुछ नहीं है ॥७॥ जहाँ पर तत्त्वदृष्टि से नाना अनानारूप सब कुछ आदि–अन्तरहित शान्त अद्वितीय ब्रह्म ही भासता है वहाँ पर कौन किसका कारण है ? न तो तब ज्ञानकाल में कुछ प्रवृत्त होता है और न कुछ निवृत्त होता है, एक अद्वितीय आदि अन्त विहीन चिदाकाशात्म ब्रह्म ही केवल निज स्वरूप में स्थित है। जब यथार्थ में अकारणता ही है और कारण की केवल कल्पना ही है तब कौन किसका किससे किस प्रयोजन के लिए किस अधिकरण में कारण होगा अथवा कौन किसका किससे किसलिए किसमें कारण न होगा ? ॥८–१०॥ इस ब्रह्म में शून्यता और अशून्यता दोनों का अभाव है, क्योंकि अशून्यता शून्य की अपेक्षा से होती हैं अतएव न शून्य है, न अशून्य है, न सत् है, न असत् है और न सत्असत् है। महाशून्य में 'ननेति ननेति' यों कथन होता है ॥११॥

सकल जगत् की ब्रह्मैकघनता से शून्यता है, शून्यैकरसता से शून्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो कुछ नहीं है, शून्य है, अथवा कुछ है; जो है अथवा नहीं है ऐसे इस जगत् को आप ब्रह्म ही जानिये,क्योंकि वह ब्रह्म अध्यारोप में सबसे अनुगत होने के कारण वैसा ही है और अपवाद में सबसे व्यावृत्त होने के कारण वैसा है ही नहीं ॥१२॥

जैसे अध्यारोप और अपवाद अज्ञों की दृष्टि से हैं तत्त्वज्ञानी पुरुष अज्ञानियों को प्रबुद्ध करने के लिए उनका अंगीकार करते हैं वैसे ही अज्ञानियों के संमत प्रधान, परमाणु आदि से जन्य कारण–भाव का संभव भी वे ज्ञानी क्यों नहीं स्वीकार करते, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, अज्ञानियों के ज्ञानगोचर पृथिवी, जल, तेज, वायु आदिरूप कार्य में उनके अवयवों की परम्परा की चरम सूक्ष्मतारूप परमाणु और सत्त्व आदि गुणरूप कारणों का संभव होने पर जन्य पदार्थ अकारण क्यों है, अथवा अद्वितीय ब्रह्म का परिशेष कैसे है ? हे प्रभो, यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१३॥

हाँ, ऐसा होता, यदि ब्रह्म से भिन्न प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना करनेवाला कोई अज्ञानी सिद्ध होता जब 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इस श्रुति द्वारा

प्रदर्शित रीति से ब्रह्म ही अपने स्वरूप के अज्ञान से अज्ञ होता है उसी के तत्त्वज्ञान में उपयोगी शास्त्र तब अध्यारोप और अपवादरूप युक्ति से ही तत्त्वज्ञान में उपयुक्त होता है न कि प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना से यों दोनों में विषमता है इस आशय से श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजी के प्रश्न का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : 'वत्स, तत्त्वज्ञानी जनकी दृष्टि में अज्ञानी कोई अतिरिक्त है ही नहीं। ऐसी स्थिति में असत् आकाश वृक्ष के विषय में विचार करना कैसा ?॥१४॥

तत्त्वज्ञानी के प्रति अज्ञानी क्यों नहीं है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी लोग एक बोधमय, शान्त विज्ञानघनरूपी हैं, क्योंकि 'तद्यथासैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा विज्ञानघन एव प्रज्ञानघन एव' (जैसे नमक के ढेले का न कुछ बाहर है न भीतर है वह सारा का सारा रसघन है वैसे ही यह आत्मा विज्ञानघन ही है प्रज्ञानघन ही है) ऐसी श्रुति है। इसलिए उनकी असत् पदार्थ के विषय में विचारणा कैसे संभव है ? ॥१५॥

ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्वज्ञानी नहीं है ऐसी संभावना कैसे करते हैं, क्योंकि तार्किक और पामरजन 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' 'मैं ब्रह्मज्ञानी नहीं हूँ' यों अपने में ब्रह्मभिन्नता और अब्रह्मज्ञता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, ऐसी स्वयं आशंका कर उक्त अनुभव से ही तार्किक और अज्ञों की ब्रह्मता का समर्थन करते हैं।

अज्ञान आदि सकल जगत् के आरोप का अधिष्ठान जो चिन्मात्र है वही ब्रह्म है। और उसका 'मैं अज्ञ हूँ' यों अनुभव करनेवाले तार्किक की आत्मा में वारण कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञता प्रबोधरूप आत्मा के अन्दर भासित होती है। यदि वैशेषिकों द्वारा कल्पित यह आत्मा जड़ है तो वह आत्मा में अज्ञान का अनुभव कैसे करेगा ? अतः आत्मा अज्ञान का अधिष्ठान चिद्रूप है यह इसी अनुभव से सिद्ध है। और जगत् केवल अज्ञानात्मा ही है इसलिए उसका अंग है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति दोनों निद्रा के अन्दर निद्रांगता को प्राप्त हुए केवलनिद्रारूप ही हैं उनका स्वरूप निद्रा से भिन्न नहीं है वैसे ही जगत् का स्वरूप भी अधिष्ठान चिद्रूप से अतिरिक्त नहीं है। ज्ञानस्वभाव आत्मा में स्वभावविरुद्ध अज्ञान आरोप के बिना नहीं रह सकता, इसलिए अज्ञान आदि जगत् के आरोप की अधिष्ठानता आत्मा में इसी अनुभव से सिद्ध है, यह अर्थ है ॥१६॥

यदि अज्ञानादि जगत की अधिष्ठानतारूप सर्वात्मकता ब्रह्म का लक्षण हो तो ज्ञान से उसकी निवृत्ति होने पर यह अब्रह्म ही होगा, ऐसी आशंका उठने पर कहते हैं।

यद्यपि अज्ञानादि जगत की अधिष्ठानतारूप सर्वात्मकता ही ब्रह्म का लक्षण है तथापि मूर्ख जनता को बोधित करने के लिए मूर्ख बुद्धि का अनुसरण कर शुद्ध ब्रह्म को समझाने के लिए मैंने यह ब्रह्म का तटस्थलक्षणरूप अज्ञनिश्चय कहा है। ब्रह्म का शुद्ध निरामय आनन्दैकरस स्वरूप स्वरूपलक्षण तो अतिसूक्ष्म होने से अज्ञानियों की समझ में नहीं आ सकता है ॥१७॥

अज्ञानी की बुद्धि के अनुसार जगत् को अन्यसा मानकर सृष्टि के आदि में कारण है ऐसा स्वीकार करने पर भी यक्ष के अनुरूप बलि होती है इस न्याय के अनुसार मिथ्याभूत प्रपंच की मिथ्या माया ही कारण होगी फिर भी वास्तविक अद्वैत की क्षति नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

शुक्तिरजत, मरुनदी, रज्जुसर्प आदि पदार्थ अकारण ही हैं। संवित् द्वारा उनका कारणजन्यत्वेन कल्पना करने पर वे सकारण हैं, अन्यथा कल्पना करने पर अकारण हैं यों मिट्टी से निर्मित गौरी और

गणेश की मातृता और पुत्रता के तुल्य कल्पना के अनुसार ही उसकी व्यवस्था है। संवित् की जैसे कल्पना की जाती है वैसी ही अकारणता या सकारणता की प्राप्ति होती है ॥१८॥

तत्त्वदृष्टि से सदा अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म ही है कदाचित् भी अणुमात्र भी इसमें हेरफेर नहीं है इसलिए सृष्टि के कारण का (परमाणु आदि का) कोई निरूपण नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं।

सकल कारणों की निवृत्ति होने पर सकल तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में सृष्टि का कोई कारण नहीं है। इससे सृष्टि अकारण है ॥१९॥ इस प्रकार के स्वप्न, गन्धर्वनगर, मरुमरीचिका सदृश जगत् में सत्यता सिद्ध करने के आग्रह से वैशेषिक आदि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध मायाउपहित ब्रह्म से भिन्न तटस्थ ईश्वर, प्रधान, परमाणु कुछ कारण की कल्पना करते हैं पर वह प्रत्यक्ष श्रुति और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने और वेदान्त शास्त्र में विविध युक्तियों से निराकृत होने के कारण कडुवा, सृष्टि करनेवाले ईश्वर अथवा भोग करनेवाले जीव का पुरुषार्थप्रद न होने से निरर्थक, अतएव ज्ञानियों का अहृदयंगम (अरुचिकर) वृथा कण्ठशोषण करनेवाले वाग्जाल (वाग्विलास) ही है ॥२०॥

ज्ञानबाध्यता की अन्यथा उपपत्ति न होने के कारण भी जगत् स्वप्नतुल्य ही है, इसलिए उनके लिए कार्यकारण–कल्पना का अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

ज्ञानबाध्यता का अन्यथा संभव न होने से ही कल्पना के सिवा दृश्य की स्वप्नतुल्य स्थूलाकाररूप कोई दृश्यता नहीं हैं ॥२१॥

उसी बात का विस्तृतिकरण करते हैं।

अप्रबुद्ध (सुप्त) पुरुष के स्वप्न के पृथिवी आदि पदार्थों के अनुभव में क्या कारण है ? चित्स्वभाव के सिवा स्वाप्न पदार्थ क्या है ? कहिये ॥२२॥ स्वाप्न पदार्थ जब तक अज्ञात रहता है यानी यह स्वप्न है वास्तव नहीं है यों ज्ञात नहीं होता है तभी तक महामोहराशि का प्रदान करता है जब यह स्वप्न है यों ज्ञात हो जाता है तब मोह नहीं करता वैसे ही सर्ग भी जब तक उसकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता तभी तक मोहप्रद है उनकी असत्यता का ज्ञान होने पर मोह नहीं करते हैं। शुष्क तर्क के दुराग्रह से अनुभव में आरूढ़ न होनेवाला जो यत् किंचित् कारण (प्रधान, परमाणु आदि) कल्पित होता है, वह मूर्खतावश एकमात्र दूराग्रह ही है ॥२३,२४॥ अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता, सकल तेजों की प्रकाशता जैसे स्वभाव है वैसे ही ज्ञात ब्रह्म का स्वभाव ही सब पदार्थों का कारण है। भाव यह कि यदि कारण अपेक्षित है तो अज्ञानउपहित आत्मा का स्वभाव ही कारण हो ॥२५॥

मनोरथ से कल्पित नगर की तरह ध्याता के भेद से व्यवस्थित आकारवाला होने के कारण भी इसका सर्वसाधारण एक कारण नहीं कहा जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

सैकड़ों ध्यानकर्ताओं द्वारा प्राप्त हुए एक ध्येय का (ध्यानयोग्य का) क्या कारण है ? और गन्धर्वनगर, स्वप्नपुर और भित्तियों में क्या कारण है ? ॥२६॥

धर्म–अधर्म तो अमूर्त होने के कारण ही मूर्त देह आदि के उपादान कारण नहीं हो सकते हैं यों कर्ममीमांसकों के पक्ष का भी निराकरण करते हैं।

अमूर्त (निराकार) होने के कारण धर्म आदि परलोक में मूर्त साकार देह के कारण नहीं हैं फिर स्वर्ग

आदि का भोग करनेवाले शरीर का क्या कारण होगा ? ॥२७॥

विज्ञानवादी के मत में भी अमूर्त और क्षणिक विज्ञान में मूर्त अक्षणिक की कारणता दुर्वच है, ऐसा कहते हैं।

विज्ञानवादी का ज्ञान भी विशाल भित्ती आदि और अभित्तियाँ उनसे विलक्षण परमाणु आदिरूप मुहुर्मुहुः उत्पन्न होकर ध्वंस होनेवाले अनन्त पदार्थों का उपादान कारण नहीं है ॥२८॥

स्वभाववादी चार्वाक के मत का निराकरण करते हैं।

अंकुरादि स्वभाव का काल, खेत, जलादि सहित स्वभाव कारण है ऐसी चार्वाकों की उक्ति है। बीज और स्वभाव इन दो पदों के अर्थ में पार्थक्य न होने से 'अकुंरस्वभावस्य' इस स्वभावपद में षष्ठ्यर्थ का सम्बन्ध प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए दोनों के पर्याय होने के कारण दोनों का साथ प्रयोग नहीं हो सकता अतः यह कल्पना व्यर्थ है ॥२९॥

इससे परिशेषात् हमारा सिद्धान्त सिद्ध हुआ, यों दिखलाते है।

इसलिए सब पदार्थ और उनके कारण ये सब अज्ञानी में निष्कारण भ्रान्ति ही है। तत्त्वज्ञ में तो सन्मात्ररूप से स्थित ही कार्य सन्मात्ररूप कारण से ही चित् के चमत्काररूप से आविर्भूत होता है और तिरोहित होता है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह भाव है ॥३०॥

अतएव ज्ञानी को अकृत करोड़ों अपराधों से भी मन में दुःख नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न में डाकुओं द्वारा किया गया वध, बन्धन आदि प्रबुद्ध पुरुष को स्वप्न मिथ्यात्व का ज्ञान होने से दुःखदायी नहीं होता वैसे ही तत्त्वज्ञान के अनन्तर जीवन भी दुःखप्रद नहीं होता ॥३१॥ सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं हुआ यह दृश्य चिदाकाशस्वरूप स्वप्न के तुल्य भासता है, इसलिए इसमें अन्य (दुःख) और दुःख के कारण की उपपत्ति नहीं होती है। इस युक्ति के सिवा और कोई कल्पना युक्तियुक्त नहीं दिखाई देती, इसलिए यह जगत्कल्पना ब्रह्मानुभूति ही है, यह अर्थ है ॥३२,३३॥ जैसे शुद्ध जलराशि में लहर, भँवर, द्रवता आदि भासते हैं वैसे ही ब्रह्म में यह सर्गपर्याय (सर्गापरनामक) ब्रह्म भासता है ॥३४॥ जैसे निर्मल वायु में स्पन्दन, आवर्त, विवर्त आदि भासते हैं वैसे ही ब्रह्मरूपी वायु में सृष्टिरूपी स्पन्द भासता है ॥३५॥ जैसे महाकाश में अनन्तता, छिद्रता, शून्यता आदि धर्म हैं वे सब आकाशरूप हैं वैसे ही सृष्टि भी परात्पररूप है उससे भिन्न नहीं है। जैसे निद्रा आदि में स्पष्टरूप से उपलब्ध भी ये सब पदार्थ असत्मय ही हैं वैसे ही ये सृष्टि के पदार्थ सत् से अनन्यरूप ही हैं। जैसे निद्राघन में स्वप्न और सुषुप्ति है वैसे शुद्ध सौम्य चिद्घन आत्मा में सृष्टि, प्रलय और स्थिति हैं। जैसे मनुष्य एक स्वप्न से अन्य स्वप्न में स्थित होता है वैसे ही अजन्मा परमात्मा स्वसत्ता में एक सर्ग से अन्य सर्ग के रूप में स्थित होता है। जैसे स्वप्नानुभवों में पृथिवी आदि से रहित स्वाप्नपदार्थ पृथिवी आदि से युक्त-सा प्रतीत होता है वैसे ही पृथिवी आदि से रहित भी यह निर्दोष ब्रह्माकाश पृथिवी आदि से युक्त-सा प्रतीत होता है। जैसे अनन्तरूप इस साम्प्रतिक परमात्मा में वर्तमान घट, पट आदि शब्द उनके अर्थ स्थित हैं वैसे ही अनन्य महाचैतन्य में भूत और भविष्यत् सृष्टियाँ स्थित हैं ॥३६-४१॥

जब अनन्य है तब शब्द और उनके अर्थभूत सर्ग ब्रह्म में हैं इस उक्ति का 'पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती तिष्ठति' यों अभिन्न ही पश्यन्ती में भेदोपचार से औपचारिक आधाराधेय भाव में पर्यवसान होता है,

ऐसा कहते हैं।

जैसे साम्प्रतिक अनन्यभूत परमात्मा में सृष्टिरूप परमात्मा का भान होता है वैसे ही चित् में चिन्मय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गों का चित् से ही भान होता है ॥४२॥

जब शब्द और उनके अर्थभूत सर्ग चिन्मय ही हैं तब वहाँ कार्य कर चुका शास्त्र भी जिस पर शासन किया जाय ऐसे व्यक्तिविशेष के अभाव में मोक्षरूप फल के पृथक् न होने से और निराकरणीय प्रपंचरूप बन्धन न रहने से निवृत्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

वहाँ पर शास्त्र का क्या प्रयोजन है ? वहाँ कथाओं के विचार से भी क्या प्रयोजन है ? क्योंकि शास्त्रफल निर्वासनिक (वासनाशून्य) जीवनरूप मोक्ष सिद्ध हो चुका, पूर्वोक्त रीति से अकारण होने के कारण सृष्टि का अभाव होने से नाना प्रपंच रचना प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी कुछ नहीं है यानी पूर्णतया मार्जित हो जाती है। और यहाँ वासना के नाम से प्रसिद्ध जो यह प्रपंच के बीजरूप से भासित होती है वह भेदरहित बोधसत्ता ही भेदरूप से भासित होती है जैसे कि स्वप्न में चिदात्मा ही नगर आदि के रूप से भासित होता है ॥४३,४४॥

एक सौ सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अठहत्तरवाँ सर्ग

इस सर्ग में अमूर्त (निराकार) चित् द्वारा समूर्त (साकार) जगत् के परिचालन में युक्तिवर्णनपूर्वक ऐन्दवाख्यान से जगत् अमूर्त चिन्मात्र ही है, यह सिद्ध किया गया है।

'धर्म आदि अमूर्त होने के कारण परलोक में मूर्त देह के कारण नहीं हो सकते यह कथन सुनकर अमूर्त चिदात्मा द्वारा मूर्त देह आदि के चालन में युक्ति की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी उसकी अनुपपत्ति दिखलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, त्रैलोक्य में मूर्त और अमूर्त भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं जिनमें से कुछ सप्रतिघ (आपस में टकरानेवाले) हैं और कुछ अप्रतिघ (आपस में न टकरानेवाले) हैं। भाव यह कि यहाँ पर मूर्त अमूर्त ब्रह्मरूप से दिखलाया गया विभाग अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रतिघात की योग्यता और प्रतिघात की अयोग्यतारूप उपाधि द्वारा कृत विभाग अभिप्रेत है ॥१॥

फूल, कपास (रुई), मक्खन आदि अत्यन्त कोमल पदार्थ कठिन शिलाओं की नाईं प्रतिघात के (टक्कर के) योग्य नहीं हैं, अतः उनमें कोई अमूर्तता न समझ जाय इसलिए सप्रतिघ, अप्रतिघ आदि विशेषणों के तात्पर्य का अलग अलग लक्षणों से उद्घाटन करते हैं।

यहाँ अप्रतिघ उन्हें कहते हैं, जो परस्पर टकराते नहीं है और सप्रतिघ उन्हें कहते हैं जो परस्पर टकराते हैं ॥२॥

इसी बात को लोकप्रसिद्धि से स्पष्ट करते हैं।

लोक में सप्रतिघ पदार्थों का तो परस्पर टकराना दिखलाई देता है, किन्तु अप्रतिघरूप किन्हीं पदार्थों का किंचित् भी आपस में टकराना नहीं दिखाई देता ॥३॥ उनमें संवेदन नाम से प्रसिद्ध जो पदार्थ है वह अप्रतिघ ही है। क्योंकि चन्द्रमा का निरीक्षण कर रहे पुरुष के यहाँ से नयन–रश्मियों का

अनुगमन करनेवाले चित् के साथ चित्तउपहित संवेदन चन्द्रमण्डल में बिना आघात के (टक्कर के) ही गिरते हैं, इसलिए वे अमूर्त हैं। यह सभी चन्द्रदर्शियों द्वारा अनुभूत होता है ॥४॥

यदि कहिये कि आपका यह आक्षेप प्रबुद्ध दृष्टि से है अथवा अप्रबुद्ध दृष्टि से है ? प्रथम पक्ष में तो मूर्त प्रसिद्ध ही नहीं है और दूसरे पक्ष में अमूर्त चिति देह आदि को प्रवर्तित करती है यह अप्रसिद्ध है, क्योंकि देह से लेकर अहंकारपर्यन्त सम्मिलित समुदाय का ही व्यवहारी लोगों को आत्मरूप से अनुभव होता है ऐसी शंका उठाकर कहते हैं।

अर्धप्रबुद्ध लोगों के (दूसरी तीसरी भूमिका के बीच के लोगों के) संकल्प विकल्परूप द्वैत से कल्पित इस जगत् को मानकर मैं आक्षेप करता हूँ, बोधदृष्टि से परिशिष्ट चिन्मात्र मानकर आक्षेप नहीं करता हूँ ॥५॥ यद्यपि आशय में स्थित मूर्त प्राणवायु ही प्रवेश और निर्गमरूप वृत्तियों से क्षुब्ध होकर देह को प्रवृत्त करता है यह कहा जा सकता है तथापि हे प्रभो, उसमें प्रवेश-निर्गममय क्षोभ कौन पैदा करता है ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥६॥

यदि कहा जाय कि जीवरूप चिदाभास ही प्राणवायु का क्षोभ पैदा करेगा, तो उस पर कहते हैं।

जैसे बोझ ढोनेवाला बोझ को ढोता है, परिचालित करता है, वैसे ही अमूर्त चिदाभास समूर्त प्राण आदि देहपर्यन्त इस भार को परिचालित कैसे कर सकता है ? यदि अमूर्त संवेदनमात्र चिदाभास प्राणादि देहान्त मूर्त पदार्थ को व्याप्त कर संचालित कर सकता है, तो पुरुष के केवल संकल्प संवित् से पर्वत क्यों नहीं चलता ? ॥७,८॥

जैसे बाहर का वायु लोहार की धौंकनी में भीतर प्रवेश करने और बाहर निकलने से धौंकनी को चलाता है वैसे ही प्राणवायु में भी कण्ठनाली के छिद्र के संकोच और विकास से अनुमित अपने प्रवेश और निर्गम से देह आदि का चालकत्व प्रत्यक्ष है हृदय आदि प्रवेश में भी यों ही उसकी संचालकता समझनी चाहिये यों श्रीवसिष्ठजी गूढ अभिप्राय से समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, देह में, हृदय में स्थित नाड़ी जब संकोच और विकास को प्राप्त होती है तब प्राण गले के छेद से बाहर आता है और भीतर जाता है। जैसे छिद्र में रहनेवाले यानी छिद्रवान् सकल द्रव्यों के अन्दर संचार करनेवाला वायु बाहर स्थित लोहार की आजीविका की साधनभूत धौंकनी में प्रवेश करता है और बाहर निकलता है वैसे ही वायु प्रवेश और निर्गम से हृदय में स्पन्दन पैदा करता है। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जैसे बाहर स्थित धौंकनी को लोहार उसके संकोच और विकासों से युक्त करता है वैसे ही भीतर स्थित नाड़ी को कौन परिचालित करता है ? भाव यह है कि यद्यपि वायु परिचालन करता है तथापि लौहार आदि चेतन से अधिष्ठित धौंकनी में ही वह उस तरह स्पन्द पैदा करता है अन्यत्र नहीं करता इसलिए चेतन को ही अचेतन के नियत व्यवहार चेष्टा में निमित्त अवश्य कहना चाहिये ॥९-११॥

यदि प्रश्न हो कि 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' ('एक सौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं') इस श्रुति में चारों ओर फैली हुई सौ नाड़ियाँ सुनी जाती हैं। एक सौ नाड़ियों की प्रत्येक शाखा से बहत्तर बहत्तर नाड़ियाँ निकली हैं यों हजारों नाड़ियाँ होती हैं, उनमें 'व्यान' नामक वायु का संचार होता है। उन सकल नाड़ियों में व्यान वायु के संचार को देहादि के संचलन में निमित्त मानें तो सदा ही सर्वांग का

संचलन होना चाहिये एक एक हस्त, पाद आदि का व्यापार नियत नहीं होना चाहिये। यदि कहिये एक अंग का उद्यम न होने में सौ की सौ नाड़ियाँ उस अंग में एक हो जाती हैं, सर्वांग का संचलन उपस्थित होने पर एकाकार भी सौ नाड़ियाँ सर्वांग व्यापिनी हो जाती हैं, तो उस पर भी कहते हैं।

समय विशेष पर यानी एक एक अंग के चालन के समय सौ नाड़ियाँ कैसे एक हो जायेगी और समय विशेष पर यानी सर्वांग के चालन के समय कैसे एक नाड़ी सौ हो जायेंगी तथा दूसरी बात यह भी है कि अमूर्त चैतन्य का संश्लेष देह में भी नहीं है। आध्यासिक सम्बन्ध तो काष्ठ, लोष्ट आदि में भी तुल्य है, इसलिए उन्हें भी सचेतन कहना चाहिये। और वह कैसे संभव है ? लोक में जंगम पदार्थ ही क्यों स्पन्दयुक्त होते हैं ? वृक्ष, लता, काष्ठ, पाषाण आदि स्थावर वस्तु यदि चेतन है, तो उसमें स्पन्दन क्यों नहीं होता ? वह देह के समान भोग के उपयोग से चमत्कृत भी क्यों नहीं होती, नियन्त्रण करनेवाले कुलाल (कुम्हार) आदि से अधिष्ठित चक्र आदि की तरह नियतकाल में ही स्पन्दनवाली क्यों होती है ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१२,१३॥

कार्य–कारण की स्वामिनी भोग करनेवाली जीवसंवित् का जिसमें अनादि प्रवाह से प्राप्त काम, कर्म और वासना से प्रयुक्त तादात्म्यअध्यास है, उसके चालन में आध्यासिक स्वतादात्म्यशाली प्राण के संश्लेष से वह स्वतन्त्र है अन्य जगह परतन्त्र है इस तरह की व्यवस्था है, यों गूढ अभिप्राय से वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

जैसे बाहर लोहार धौंकनी को संचालित करता है वैसे ही जीव संवित् अन्दर आन्त्रवेष्ठन को (हड्डी–समूह को) संचालित करती है, उसके अनुसार ही लोक में सब लोग बाहर चेष्टा करते हैं ॥१४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, शरीर में स्थित वायु, अँतड़ी आदि सब कुछ सप्रतिघ (साकार) है उसको अप्रतिघ निराकार जीवसंवित् कैसे संचालित करेगी ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये। यदि अप्रतिघाकार संवित् सप्रतिघरूप देह आदि का संचालन करेगी, तब तो दूर स्थित भी जल प्यासे पथिक की इच्छा से स्वयं ही आ जायेगा। यदि सप्रतिघ और अप्रतिघ पदार्थों का परस्पर संश्लेष हो तब तो इच्छा ही बाहर बोलना, लेना, देना, विहार आदि करेगी फिर कर्मेन्द्रियों से कहाँ पर क्या होगा ? हे मुनिवर, जैसे सप्रतिघ (प्रतिघातयोग्य) और अप्रतिघ का (प्रतिघात के अयोग्य का) बाहर श्लेष (संपर्क) नहीं है वैसे ही भीतर भी उनका श्लेष नहीं है ऐसा मैं मानता हूँ। अर्थात् बाहर उनका श्लेष न होने पर भी भीतर श्लेष हो ऐसा मेरा मत नहीं है। इस प्रकार आपसे समाधान में दी गई युक्तियों का खण्डन हो जाने पर अन्य युक्तियाँ आप दीजिये। खंडित युक्तियों को ही बार–बार मत दुहराइये। अथवा आप योगिराज हैं आपको स्वयं जैसे इसका (अमूर्त का ही मूर्त से सम्पर्क का), जो लोक में अत्यन्त अप्रसिद्ध है, योगबल से जिस उपाय से अनुभव होता है उसे मुझसे शीघ्र कहने की कृपा कीजिये ॥१५–१९॥

इस प्रकार श्रीरामजी की ओर से आक्षेप होने पर श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त गुढ़ाभिसन्धिवाला उत्तर भी वासनाओं को बाहरी और भीतरी परिच्छेदरूप भ्रान्तिमूलक होने से वह अनवस्थाग्रस्त, सूक्ष्म विचार करने पर न टिकनेवाला है यों श्रीरामचन्द्रजी उसे समझ गये हैं पुनः मैं उनको दुहराऊँगा तो श्रीरामचन्द्रजी उसका अवश्य खंडन करेंगे यों सोचते हुए उस उत्तर की उपेक्षाकर सिद्धान्त के अवलम्बन से ही एक उक्ति से सबका समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सकल सन्देहरूपी वृक्षों की जड़ तत्त्व वस्तु का अज्ञान ही है, अतएव सब वस्तुओं के एकतानुभवरूप तत्त्वसाक्षात्कार की अनुभूति के लिए उक्त सन्देहरूपी वृक्षों की जड़ खोदनेवाला कानों को भूषणों के समान आनन्द देनेवाला यह वचन आप सुनिये ॥२०॥ श्रीरामचन्द्रजी, आपने जो अनेक आक्षेप किये हैं वे लागू हो सकते यदि हम प्रपंच को सप्रतिघ और यथार्थ मानते। हमारे मत में यहाँ कहीं पर भी कोई वस्तु सप्रतिघ है ही नहीं। यह सभी कुछ प्रपंच सदा शान्त अप्रतिघ ही सब ओर व्याप्त है। स्वप्न और संकल्पों की तरह पृथिवी आदि सब पदार्थराशि शुद्ध संवित्मय शान्त अप्रतिघरूप है। कारण का अभाव होने से यह सब प्रपंच आदि में और अन्त में नहीं है, जैसे स्वप्न में स्थित चित् का पर्वत, नदी, नगर आदि के रूप में भान होता है वैसे ही वर्तमान सृष्टि भी भ्रान्तिरूप ही है। इसलिए तत्त्ववेत्ता लोग विवेक, वैराग्य, त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि प्रयत्न से साध्य कारणों से वासना सहित मूर्ताकार को हटाकर द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, दिशा आदिरूप जगत् को अप्रतिघ बोधमात्र ही जानते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अन्तःकरण, भूत आदि तथा मिट्टी, काठ, पत्थर आदि सबको शून्य और चेतन को अशून्य समझिये चेतन के सिवा अन्य अशून्य नहीं है ॥२१-२५॥

चिन्मात्र ही सर्व जगत् है, मूर्त कुछ भी नहीं है, इस विषय में पूर्वोक्त ऐन्दवाख्यान को पुनः सुनाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

इस विषय में कानों को भूषित करनेवाले इसी प्रकार के ऐन्दवाख्यान को आप सुनिये। मैंने पहले उत्पत्ति प्रकरण में मनोमात्र ही जगत् है यह दिखलाने के लिए वह आख्यान कहा था यहाँ पर चिन्मात्र ही जगत् है यों निर्वाण-निष्कर्ष के लिए उसे कहता हूँ ॥२६॥

प्रस्तुत प्रश्न के पूर्णतया समाधानरूप प्रयोजनभेद से भी इसकी पुनरुक्ति दोषावह नहीं है, यह कहते हैं।

प्रस्तुत प्रश्न के बोध के लिए फिर भी उसे आप सुनें। जिससे कि यह सब पर्वतादि जगत् अमूर्त चित् ही है इस प्रश्न का समाधान आपको विदित हो जायेगा ॥२७॥ उत्पत्ति-प्रकरण में वर्णित ही आकार-प्रकार से युक्त किसी जगज्जाल में तपस्या और वेद-प्रतिपादित आचार-विचार का आधारभूत 'इन्दु' नाम से प्रख्यात कोई ब्राह्मण हुआ। उसके ब्रह्माण्डोदरवर्ती आकाश के दस दिक्तटों की तरह महानों और सज्जनों के आस्पदभूत (आश्रयभूत) महात्मा महाशय दस पुत्र हुए। जैसे दसों के मध्य में ग्यारहवें भगवान् रुद्र महाप्रलय में अन्तर्धान को प्राप्त होते हैं वैसे ही उन दसों का पिता इन्दु कालवश अन्तर्धान को प्राप्त हो गया। उसकी अनुरागवती भार्या ने वैधव्य के कष्टों से जैसे तारारूपी चंचल नेत्रवाली अनुरागवती (लालिमापूर्ण) सन्ध्या दिन का अनुगमन करती है वैसे ही उसका अनुगमन किया ॥२८-३१॥ उनके वियोगजन्य दुःख से व्याप्त हुए उनके उन पुत्रों ने उनका और्ध्वदैहिक संस्कार कर लोकव्यवहार का परित्याग कर समाधि के लिए वन का मार्ग पकड़ा ॥३२॥ धारणाओं में से (विषयविशेष आकारित मन की स्थिरतारूप धारणाओं में से) किंविषयिणी (किसमें बाँधी गई) धारणा उत्तम सिद्धि देनेवाली होगी। हम लोग यन्मय (यत्स्वरूप) होकर सबके अधिपति हो जायेंगे। ऐसा विचार कर उन दसों ने वहाँ निर्विघ्न कन्दरा के मध्य में पद्मासन बाँधकर यह विचार किया। ब्रह्मा से

अधिष्ठित सकल जगत् की धारणा से (ब्रह्मा से अधिष्ठित सकल जगत् के आकार से आकारित मन की स्थिरतारूप धारणा से) स्थिर (निश्चल) हुए हम लोग बिना किसी विघ्न बाधा के ब्रह्माधिष्ठित जगद्रूप हो जायेंगे। यह सोच विचार ब्रह्मयुक्त जगत् की धारणा से निमीलित नेत्र कमलवाले वे चिरकाल तक चित्रलिखित ऐसे बैठे रहे। इसके पश्चात् जब पूरे अठारह महीने तक ब्रह्मासहित जगत् की धारणा में बँधे हुऐ चित्तवाले वे मन के अन्यवृत्तिधारण द्वारा उससे च्युत न होकर स्थित रहे तब उनके शरीर सूखकर हड्डी हड्डी हो गये, मांसाहारी जीव नोच नोचकर उनके अवयवों को खा गये अतएव प्रकाश द्वारा नष्ट किये गये छायाभाग की तरह उनके शरीर वहाँ पर नष्ट हो गये। मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यह जगत् हूँ, मैं यह भुवनों से पूर्ण सृष्टि हूँ यों ध्यान कर रहे उनका महान् काल व्यतीत हुआ। उसके पश्चात् ध्यान के परिपाक से देहरहित वे दस चित्त पृथक् पृथक् दस ब्रह्माण्डरूप जगत् बन गये, क्योंकि जैसा पुरुष का ध्यान होता है वैसा ही बन जाता है यह बात तत्क्रतुन्याय से प्रसिद्ध है। इस प्रकार ऐन्दवों की चित् ही इच्छा बनकर सम्पूर्ण जगत् बन गई। आकार से रहित अत्यन्त निर्मलरूप ही वह स्थित रही यानी अपने स्वभाव के कुछ त्याग से जगत् नहीं बनी किन्तु निर्मल चित्स्वभावरूप से ही स्थित रही। यों सब जगतों की संविद्रूपता सिद्ध हुई। जगतों के संवित्रूप होने से उनके वे भूमि, पर्वत, नदी आदि सभी को आप चिदात्मक ही जानिये। यदि उनका दस प्रकार का त्रिजगज्जाल चिदात्मक नहीं है तो क्रियात्मक है ? आप ही कहिये। वह संविदाकाश शून्यत्वमात्र ही है उससे अन्य नहीं है। जैसे तरंग जल के सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसेही अचल आदि संवित्तत्त्व के सिवा अन्य कुछ नहीं है ॥३३–४४॥

ऐन्दव जगतों की तुल्यता प्रस्तुत जगत् में भी समझनी चाहिए, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में चिन्मय ये ऐन्दव जगत् हैं वैसे ही इन प्रस्तुत जगतों में भी काठ, ढेले, पत्थर आदि चिन्मय ही हैं। जैसे ऐन्दवों के संकल्प जगत्ता को प्राप्त हुए वैसे ही ब्रह्मा का यह संकल्प भी जगत्ता को प्राप्त हुआ है। इसलिए ये पर्वत, पृथिवी, वृक्ष, बादल, आकाशादि पंचमहाभूत ये सब कुछ चिन्मात्रमय ही विस्तृत हैं। जैसे उन ऐन्दव जगतों मे सब कुछ चित् ही था वैसे यहाँ पर भी वृक्ष चित्, है, पृथिवी चित् है, द्युलोक चित् है, आकाश चित् है और पर्वत चित् हैं, कहीं पर भी अचित् संभव नहीं है ॥४५–४८॥ चिन्मात्रआकाशरूप कुम्हार द्वारा अपने शरीररूपी चंचल (घूम रहे) चाक में अपने शरीररूपी मिट्टी से इस सृष्टि की रचना निरन्तर क्यों की जाती है। *'कुतः' यों असम्भावना की उक्ति सृष्टि का मिथ्यात्व जताने के लिए है ॥४९॥*

इस कथन से 'कथं सचेतना एते काष्ठलोष्टोपलादयः' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया, इस आशय से कहते हैं।

संकल्प से विरचित सृष्टि में यदि पत्थर चेतन नहीं हैं, तो इस सृष्टि में ढेले, पत्थर, चट्टान आदि क्या हैं यह कहिये ? ॥५०॥ अनुभव, स्मृति और स्मृतिजनक संस्कार, इच्छा और कृति ये सब संविद्विशेष अर्थ विषयक हैं। इनके अन्दर अर्थ प्रतीत होता है और ये अपने अन्दर अभिव्यक्त चिन्मात्र को ही धारण करते हैं। जड़ अर्थ को धारण नहीं करते, इसलिए अर्थ चिद्रूप ही हैं। हम इस बात पर पहले ही विचार कर चुके हैं कि अर्थशून्य कल्पनाओं की अन्य ही स्थिति है और तत्त्व के अवगाहन के चमत्कार से शोभित होनेवाली कल्पना आदि का अन्य ही चमत्कार है।

अथवा यों दूसरा अर्थ करना चाहिये – यदि कोई कहे लोहा आदि की अनुभव, स्मृति और स्मृतिजनक संस्कार में एकरूपता है, इसलिए लोहा आदि अचिद्रूप ही हैं फिर उनको सचेतन कैसे कहते हैं, तो इस प्रश्न पर कहते हैं।

कलन (अनुभव) आदि चिन्मात्र लौह, शैल आदि तत्त्व को अपने उदर में धारण करते हैं, किन्तु उसका अवगाहन नहीं कर सकते, क्योंकि वह कल्पना आदि के उत्थान से पहले से ही है, इस विषय का हम पहले परामर्श कर चुके हैं। अज्ञात विषय में चक्षु आदि से अनुभव होता है ज्ञात विषय में स्मृति और संस्कार होते हैं। इसलिए इनसे पहले अज्ञात विषय की सिद्धि अवश्य माननी होगी। अचित्‌रूप तृण, काष्ठ, शैल आदि अज्ञात नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जड़ों में अज्ञानरूपी आवरण का कोई प्रयोजन नहीं है, अतएव जड़ों से अन्य ही ब्रह्मसत्ता तृण आदि की तत्त्वभूत है। उसी का कलन, स्मृति और संस्कारों से जड़त्वरूप से विमर्श होता है ॥५१॥

इस कारण भी काष्ठ, लोहा आदि सचेतन हैं, ऐसा कहते हैं।

चूँकि वह परम चिद्धाम ही सर्वात्मक संवित्–धाम समष्टिव्यष्टि चित्त में मणियों की राशि में मणि की तरह देदीप्यमानरूप से भीतर स्थित होकर किसी तृण, काष्ठ, शैल आदि अर्थ की तरह उदित होता है क्योंकि 'तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' ऐसी भगवती श्रुती है। इस कारण भी तृण, काष्ठ आदि सचेतन हैं, चूँकि ये (तृण, काष्ठ आदि) कार्यकारणरहित ब्रह्म की सृष्टि हैं। जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य की स्वभावभूत ही है अप्रकाशरूप नहीं है, इसलिए ये भी ब्रह्म के स्वभावभूत ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। जब भिन्न नहीं हैं तब यह सब सचेतन ब्रह्मरूप ही है यह निश्चय हुआ ॥५२,५३॥ जैसे ढालू जमीन पर प्रवृत्त हुआ जल परात्मीयरूप अन्यकारण के बिना अपने ही अतितीव्र यत्न से स्वतः ही आवर्त, प्रवाह, तरंग आदि की विचित्रता से बहता है वैसे ही सृष्टि के उन्मुख चिति भी परात्मीयरूप अन्य कारण के बिना अपने ही अतितीव्र यत्न से स्वतः ही सृष्टिरूप से बहती है। जैसे पाद्मकल्प में भगवान की नाभिकमल–लीला ही जगतों की तरह स्फुरित होती है, इसलिए भी वे ब्रह्म से तनिक भी भिन्न नहीं हैं। इसलिए यह जगत् अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, सन्मात्र, शान्त, भाव और अभाव दोनों का ही मार्जन होने से उनका मध्यरूप, चिदाकाशभूत, चिद्भानमात्र है ॥५४–५६॥

अतएव तृण, काष्ठ, शैल आदि को अचेतन समझनेवाले मूढ़ों का विद्वान् लोग उपहास करते हैं, ऐसा कहते हैं।

जो संवित्मय (चिन्मात्र) पर्वत आदि जगत् में स्थित हैं उनको अचिन्मय कहनेवाले अज्ञ का अभिज्ञों द्वारा उपहास किया जाता है ॥५७॥

ब्रह्मा के संकल्प से जन्य होने के कारण भी अपने मनोराज्य के तुल्य जगत् की चिन्मात्रता का अनुमान करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जैसे आत्मा संकल्पमय इन जगतों को आकाश में चिदाकाशात्मक जानता है वैसे ही ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न यह जगत् भी चिदाकाशात्मक ही है ॥५८॥

आप इसी एक दृष्टि का अन्यान्य प्रकारों से पुनः पुनः क्यों समर्थन करते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

यह प्रपंचदृष्टि दृढ़ की गई दिग्दृष्टि से ज्यों–ज्यों देखी जाती है त्यों–त्यों यह दुःख शीघ्रातिशीघ्र मिट जाता है। ज्यों–ज्यों यह प्रपंचदृष्टि चिन्मात्ररूप से चिरकाल तक नहीं विचारी जाती त्यों–त्यों यह प्रपंच–क्लेश अत्यन्त घन होता जाता है। महापापों से मूर्ख हुए अतएव इस दृष्टि को न देख रहे लोगों का यह संसार वज्र के तुल्य दृढ़ हो जाता है, कदापि शान्त नहीं होता है ॥५९–६१॥

अतएव महाफलवती होने के कारण इस दृष्टि को दृढ़ करना चाहिये, यों सर्ग का उपसंहार करते हैं।

इस जगत् में न आकृति है, न संसार है, न असंसार (मोक्ष) है, न जन्म है, न नाश है, न दूसरा कोई भावविकार है और न उसका अभाव है, परमार्थ चित्स्वभाव आत्मा में इस तरह परम शान्त ब्रह्म का स्फुरण होता है अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त स्फुरण भी यहाँ सर्वथा नहीं है ॥६२॥

यदि कोई कहे कि स्फुरण के भी अभाव में ब्रह्म कैसे स्थित रहता है ? तो इस पर कहते हैं।

यद्यपि वह ब्रह्म स्फटिक के स्तम्भ की नाईं आकाशरहित अनेकों सृष्टिरूपी पुतलियों की राशि से भरा हुआ है तथापि उसमें जगत्‌रूपी लताएँ, उनकी चोटियाँ, उनकी जड़, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ों का भूमि में प्रवेश ये सब अलभ्य हैं वह आदि–अन्त विहीन है, काल से भी उसके जन्म और नाश नहीं होते, वह पूर्णरूप से अत्यन्त निर्मल है ऐसा वह चिदानन्दैकघन नित्यकैवल्यरूप स्थित है ॥६३॥ यही जब अमुक्तरूपी संसारी था तब इसके असंख्य हाथ चारों ओर से भरे थे, असंख्य आँख, कान, सिर, कण्ठ, उदर, पैर आदि अंग थे। मुक्तरूप तो आत्माकाशरूप, सुस्तम्भरूप, सन्मात्र अज मौन यह मैं ही हो गया, इसलिए फिर विकल्पों से कोई प्रयोजन नहीं है ॥६४॥

एक सौ अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उन्नासीवाँ सर्ग

अतः सारा विश्व निराकार चिन्मात्ररूप से स्थित है अतः पूर्वोक्त शंका का अवसर कहाँ है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार त्रिलोकी केवलशुद्ध चिन्मात्र सत्त्व ही है। इसमें अज्ञानियों द्वारा मूर्तरूप से ज्ञात भूतों का संभव ही नहीं है। इसलिए कहाँ से शरीर आदि हो सकते हैं और कहाँ से समूर्त वस्तु हो सकती है ? जो यह कुछ दिखाई देता है वह अमूर्त ब्रह्म ही व्याप्त है। चिदाकाश में चिदाकाश स्थित है, सकल विषमता से मुक्त शान्त ब्रह्म शान्त ब्रह्म में स्थित है, आकाश आकाश में स्थित है, ज्ञान ज्ञान में स्फुरित है। जैसे जाग्रत् काल में स्वप्न संविन्मय शान्त अमूर्ताकार रहता है वैसे ही सब कुछ संविन्मय (चिन्मात्र) शान्त होकर अमूर्ताकार से स्थित है। आपके द्वारा कही गई यह सप्रतिघ स्थिति कहाँ है ? जहाँ पर कि यह आपकी शंका अग्रसर हो, यह अर्थ है ॥१–४॥

देह, उसके अवयव आदि प्रबुद्ध (जागे हुए) पुरुष की दृष्टि से स्वप्न शरीर के समान चिन्मात्र ही हैं इसलिए उनमें समूर्तता की शंका अज्ञानी की दृष्टि से ही हो सकती है तात्त्विक दृष्टि से नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

देह के अवयव कहाँ है, कहाँ आँतड़ियाँ हैं, कहाँ अस्थिपंजर (कंकाल) है आकाश के समान अमूर्त देह को आप स्वप्नदेह के समान समूर्त जानिये ॥५॥

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध मूर्त शरीर आदि का अपलाप केवल साहस ही है यह समझना ठीक

नहीं, ऐसा कहते हैं।

हाथ संवित् (चिन्मात्र) हैं, सिर संवित् है, सब इन्द्रियाँ संविद्रूप हैं सब कुछ शान्त अमूर्त है, समूर्त कुछ भी नहीं है। सहेतुक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध भी मूर्तता अहेतुक प्रमाणवाली और सकारण भी अकारण है, क्योंकि 'तस्य त्रय आवस्थास्त्रयः स्वप्नाः', 'नेह नानास्ति किंचन', 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति', 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से ही जगत् का अपलाप किया जाता है ॥६,७॥ कारण के बिना कार्य नहीं होता है, ब्रह्म निर्विकार और अद्वितीय है अन्य कारण कोई है नहीं, अतः जगत् की अनुत्पत्ति ही है। तत्त्वदृष्टि से यों जगत् के अपलाप की उपपत्ति होती है। अज्ञानी की दृष्टि से तो सृष्टि के अनादि होने से कारण परम्परा का संभव होने के कारण तथा ब्रह्म की प्रसिद्धि न होने से उत्पत्ति आदि सबकी उपपत्ति होती है। इसलिए जिसने जैसा निर्णय किया उसको वह वैसा प्रतीत होता है यों अपने अपने निश्चय के अनुसार दोनों की उपपत्ति होती है ॥८॥

युक्तिदृष्टि से तो कारण के बिना उत्पन्न संवित्रूप लब्ध यह जगत् न तो अत्यन्त असत् है और न अत्यन्त सत् है किन्तु सद्वत् है, यह कहते हैं।

कारण के बिना कार्य सद्वत् सिद्ध होता है। संभावना के अनुसार ही अर्थ को संवित् निस्सन्देह प्राप्त करती है। जैसे स्वप्न में चिन्मय आत्मा के सर्वरूप होने से सब कुछ का सर्वत्र सर्वथा संभव है वैसे ही जाग्रत् में भी चैतन्मय होने से ब्रह्म की सर्वात्मरूपता का संभव है ॥९,१०॥

मायावाद में तो सब अविरुद्ध है, यह कहते हैं।

नाना और अनानारूप सर्वात्मक ब्रह्मपद में यथार्थ में बिना कारण के कार्यों की सत्ता स्थित है और कल्पितरूप से कारणजन्य भी सत्ता है। एक भी सहस्र हो जाता है जैसे कि ये ऐन्दव संकल्पजनित जगतों के समूहों के साथ लाखों भूत बन गये वैसे ही हजारों संवित् भी एक हो जाती हैं क्योंकि सायुज्य मुक्ति में सब सृष्टियों के साथ विष्णु आदि का (आदि से ब्रह्म, रुद्र, चन्द्र, इन्द्र, सूर्य आदि ग्रहण करना चाहिये) एक शरीर होता है ॥११-१३॥

भिन्नसत्तावाली वस्तुओं में सत्ता की ऐक्य प्राप्ति तो लोक में भी प्रसिद्ध है यह कहते हैं।

सैकड़ों नदियों से भिन्न होता हुआ भी समुद्र एक ही है, ऋतु, संवत्सर आदि से भिन्न भी काल एक ही है ॥१४॥

वैसे ही एक ही आत्मा भ्रान्ति से देहादि नानात्व को प्राप्त हुआ जैसा प्रतीत होता है, यह कहते हैं।

यह संविदाकाश ही स्वप्न में उदित देह की तरह प्रकट हुआ है, स्वानुभूति से स्फुट भी स्वप्नपर्वत की तरह निराकार है। पूर्वोक्त अनुभव से जगत् संवित्रूप ही है वह संवित् ही द्रष्टा और दृश्य की दृष्टि से (अर्थात् भ्रान्ति से उनको पृथक् पृथक् मानकर) अनअनुभवात्मिका (जगत्रूप) प्रतीत होती है, इसलिए जगत् एकमात्र चिदाकाश ही है। जिस प्रकार एक ही निद्रा, स्वप्न और सुषुप्ति में क्रम से वेदनात्मिका और अवेदनात्मिका हो जाती है। जैसे वायु और स्पन्द अभिन्न है वैसे ही चित् और जगत् अभिन्न हैं, इसलिए यह जगत् एकमात्र चिदाकाश ही है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप से सर्वपदार्थशून्य चिद्भान परमार्थाकाश ही स्वप्न की भाँति प्रतीत होता है, इसलिए यह जगत् एक चिदाकाश ही है। चूँकि प्रथम सर्ग से ही ईश्वर में भ्रान्ति से प्रतीत हुआ जगत्त्व असत् ही है इसलिए स्वप्न में प्राप्त

व्याघ्रादि के भय की तरह परिज्ञात होते ही यह सम्पूर्ण तथा शान्त हो जाता है। एक ही संवित् का स्वप्न में जिस प्रकार अनेकरूप से भान होता है उसी प्रकार सृष्टि के आदि में एक ही संवित् का चिदाकाश में नाना पदार्थरूप से भान होता है ॥१५–२०॥

अनेक दीप प्रभाओं के एकवद् भान की तरह एक ही मायाशक्ति का अनेकधा भान हो सकता है, यह कहते हैं।

जैसे बहुत दीपकोंवाले घर में बहुत–सी छायाएँ (कान्तियाँ) एकवत् प्रतीत होती हैं वैसे ही सर्वशक्ति परमात्मा की एक शक्ति (माया) भी अनेकरूप प्रतीत होती है। आकाश में भ्रान्ति से वृक्ष–समूह के स्फुरण की भाँति इस ब्रह्मरूप समुद्र में जो सीकर–स्फुरण है वही यह सृष्टि है। अन्तर केवल इतना ही है कि आकाश में जो वृक्ष–समूह है वह आकाशधर्म शून्यता से अनुविद्धरूप से स्फुरण न होने के कारण अत्यन्त भिन्नरूप है और ब्रह्म समुद्र में यह स्फुरित हो रहा सर्गबिन्दु किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं है ॥२१,२२॥

एक सौ उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अस्सीवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी द्वारा वर्णित कुन्ददन्तोपाख्यान में पर्वत पर
वृक्ष में लटके हुए तपस्वी के वरप्राप्तिपर्यन्त वृत्तान्त का वर्णन।

स्वयं प्रबुद्ध राम चिरकाल तक तत्त्वजिज्ञासा से अपने आश्रय में स्थित कुन्ददन्त नामक द्विज को प्रस्तुत उपदेश के श्रवण से तत्त्वबोध हुआ या नहीं इस अपने सन्देह को गुरुमुख से परिमार्जित करने की इच्छा से आश्चर्यभूत उसकी कथा की भूमिका रचते हुए गुरु से प्रार्थना करते हैं।

हे भगवन्, जिस प्रकार संसार की समग्र वस्तुओं के रूप की सम्यक् अनुभूति के लिये सूर्य अन्धकार का नाश करता है उसी प्रकार आप मेरे इस संशय का नाश कीजिए ॥१॥

सन्देह का बीज दर्शाने के लिए आख्यान प्रारम्भ करते हैं।

किसी एक समय जब कि मैं विद्यामन्दिर में विद्वानों की सभा में स्थित था उस समय कोई द्विजश्रेष्ठ ने प्रवेश करके शीघ्र ही चारों ओर देदीप्यमान द्युतिवाली द्विजसभा को प्रणाम किया और आसन ग्रहण किया हमने भी खड़े होकर उसका अभिवादन किया। तब प्रकरणप्राप्त अपने अधीयमान वेदान्त, सांख्य आदि के सिद्धान्तों के वादों को बन्द करके सुखपूर्वक विश्राम करने के अनन्तर बैठे हुए उस श्रेष्ठ ब्राह्मण से मैंने पूछा : हे विद्वानों में श्रेष्ठ, दीर्घमार्ग में चलने से थके हुए आप किसी अर्थ को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील मालूम पड़ते हैं। कहिये कहाँ से आपका आगमन हुआ ॥२–६॥ ब्राह्मण ने कहा : हे महाभाग, यह ठीक है, कि मैं किसी विशेष अर्थ के लिए महाप्रयत्नशील हूँ, मैं यहाँ जिसलिए आया हूँ उसका निर्णय सुनिये ॥७॥ इस पृथिवीमें, आकाश में स्थित स्वर्ग के प्रतिबिम्ब की तरह, वैदेह नाम का सर्वसौभाग्यों से युक्त देश है ॥८॥ उसी वैदेह देश में ब्राह्मणवंश में मैं उत्पन्न हुआ और विद्या प्राप्त करके स्थित रहा। कुन्दपुष्प की तरह चमकीले दाँत होने से कुन्ददन्त नाम से मेरी प्रसिद्धि हुई ॥९॥ इसके उपरान्त हृदय में वैराग्यवान् हुआ मैं भ्रान्ति से उत्पन्न संसार क्लेशों की निवृत्ति के लिए देवता,

द्विज और मुनीन्द्रों के स्थानों में भ्रमण करने में प्रवृत्त हुआ। इसी प्रकार घूमता हुआ मैं कभी श्रीपर्वत पर जा पहुँचा और वहाँ चिरकाल तक मृदु (अतीक्ष्ण) तथा दीर्घकालीन तपस्या करता हुआ अखण्ड चेष्टापूर्वक रहा। उस श्रीपर्वत में तृणवनआदि से विहीन एक ऐसा वन प्रसिद्ध है जो भूमि में तेज, तम, बादल आदि से रहित (अर्थात् केवल शून्य) आकाश-सा है। उस वन के मध्य में एक कोमल पल्लवोंवाला छोटा-सा वृक्ष इस प्रकार स्थित है जैसे शून्य आकाश में मन्दकिरण सूर्य स्थित हो। उस वृक्ष की शाखा में एक पवित्र आकृतिवाला पुरुष रस्सी से बँधा हुआ लटक रहा था मानों भानु ही अपनी रश्मियों से पैर बाँधकर लटकता हो। मूँज की रस्सी के ऊपर की ओर बाँधे हुए पैरोंवाला नित्य नीचे को लटके सिरवाला वह बड़ी बड़ी गाँठोंवाले शाल्मलिवृक्ष की अष्ठीलता को (लम्बायमान पर्वग्रन्थिता को) धारण करता हुआ-सा स्थित था। भ्रमण करते करते उस देश को प्राप्त हुए मैंने वक्षस्थल में अंजलि बाँधकर प्रणाम करते हुए उस पुरुष को देखा और उसके निकट जाकर विचार किया ॥१०-१६॥

उसी विचार को स्पष्ट करते हैं।

तो यह ब्राह्मण अभी तक जीवित तो है, क्योंकि बराबर आहताकृति होकर, श्वास लेता है और तत्तत्समयजन्य शीत, वात, धूप आदि स्पर्शों को जानता है। इसके अनन्तर उस पुरुष को मैंने बहुत दिनों तक दिवस की धूप सहकर नाना प्रकार की उपचर्या से धीरे-धीरे अपने प्रति विश्वस्त कर लिया। फिर पूछा कि 'हे भगवन्, आप कौन हैं और हे विशालाक्ष, जिसमें जीवन चिरकाल के दीर्घ उच्छवासों से लक्ष्य और अलक्ष्य हो रहा है ऐसा दारुण तप क्यों कर रहे हैं ? ॥१७-१९॥ तब उस पुरुष ने कहा : हे तापस, इस मेरे कुल, देश, तपस्या आदि को जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है, क्योंकि शरीरियों की अत्यन्त विचित्र इच्छाएँ किसी प्रयोजन से ही होती हैं निष्प्रयोजन व्यर्थ की जिज्ञासा नहीं होती ॥२०॥ इतना कहने पर मैंने प्रयत्न से तथा विनयपूर्ण आग्रह से जब पूछा तब उस तपस्वी ने मुझे यह उत्तर दिया : मैं मथुरा में उत्पन्न हुआ और पिता के घर में ही वृद्धि को प्राप्त हुआ, बाल्यावस्था और यौवन के मध्य में (अर्थात् कुमार अवस्था में) ही पद (शब्दशास्त्र) और पदार्थ (अर्थशास्त्र) का ज्ञाता बन गया ॥२१,२२॥ उन शास्त्रों में मैंने सुना कि राजा समग्र भोगसामग्री का आश्रय होता है अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य का उपभोक्ता होता है। नवयौवन भोग का इच्छुक होता ही है। ऐसा सुनने के अनन्तर सप्तमहाद्वीपों में विस्तृत इस पृथ्वी का पति और उदारात्मा (याचकों की सारी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ) होऊँ ऐसी मैं चिरकाल तक इच्छा करता रहा। इसी प्रयोजन से इस देश में आकर के इस प्रकार मैं स्थित हूँ और हे मानद, मेरे यहाँ बारह वर्ष बीत गये हैं। तुम्हारा पूछा हुआ अर्थ मैंने कह दिया, इसलिये हे अकारणमित्र, शीघ्रता से पर्यटन करते हुए तुम अपने अभीष्ट स्थान को जाओ और मैं भी अपनी अभीष्ट-प्राप्ति तक तपश्चर्या में दृढ़ता से संलग्न होता हूँ ॥२३-२६॥ उसके इतना कहने पर मैंने उससे जो कहा सो सुनिये, क्योंकि आश्चर्य वृत्तान्त सुनने में किसी धीमान् का चित्त खिन्न नहीं होता ॥२७॥ मैंने कहा : हे साधो, जब तक तुम अपना इच्छित वर प्राप्त नहीं कर लेते तब तक तुम्हारी रक्षा और परिचर्या के लिए मैं यहीं रहूँगा ॥२८॥

मेरे इतना कहने पर वह जितेन्द्रिय पाषाणमूर्ति की तरह मौन हो गया, उसने आँखें बन्द कर लीं उसका शरीर मृत की तरह हो गया क्योंकि वह बाहर से हिलता डुलता न था। तब उस काष्ठवत्

मौन तपस्वी के आगे वेगरहित होकर कालजन्य शीतोष्णादि वेगों को सहता हुआ मैं छः महीने तक रहा। एक दिन सूर्यबिम्ब से निकलकर उस प्रदेश में स्थित हुए भानु की तरह चमकते हुए किसी पुरुष को मैंने देखा। जब उस तपस्वी ने मन से और मैंने कर्म से (अर्घादि से) उसकी (पुरुष की) पूजा की तब वह अमृतद्रव की भाँति सुन्दर वचन बोला : हे शाखाओं में लटके हुए दीर्घकाल से तपस्या में निरत ब्रह्मन्, देह का संहार करनेवाली इस तपश्चर्या को समाप्त करो और अपना अभिमत वर ग्रहण करो। तुम इसी देह से सप्त समुद्रों से वेष्टित सप्तद्वीपवती मही का सात हजार वर्ष तक धर्मपूर्वक पालन करोगे ॥२९–३४॥ इस प्रकार अभीप्सित वर देकर वह द्वितीय सूर्य–सा पुरुष जहाँ से उदित हुआ था उसी सूर्यमण्डल में अस्त होने के लिए प्रवेश कर गया। उस सूर्य–पुरुष के चले जाने पर मैंने शास्त्रों में जैसा सुना था वैसे ही श्रेष्ठ आदित्य पुरुष को जिसने प्रत्यक्ष देखा था और वरदानव्यवहार से अनुभव किया था ऐसे उस विवेकी शाखातपस्वी से कहा : हे ब्रह्मन्, वृक्षशाखा में लम्बायमान होकर जो आपने तपस्या की थी, उसका फल आपको प्राप्त हो गया, अब आप तप छोड़कर यथाप्राप्त गृहगमनादि व्यापार करें ॥३५–३७॥ यह स्वीकार कर लेने पर उस पुरुष के बँधे पैरों को मैंने वृक्ष से इस प्रकार मुक्त किया जैसे आलान से (बन्धनस्तम्भ से) हाथी के बच्चे के पैरों को मुक्त करते हैं ॥३८॥ स्नान करके पवित्र–हस्त हो अघमर्षण का जप करके तप की सिद्धि के बल से उसी वृक्ष से प्राप्त फलों से मेरे साथ उसने व्रत की पारणा की। उसी के पुण्यप्रताप से प्राप्त हुए वृक्ष के स्वादयुक्त फलों से आश्वस्त हुए हम दोनों तीन दिन तक आराम के साथ वहाँ रहे ॥३९,४०॥

इसी उपरोक्त कथा का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

सप्तद्वीप और समुद्रों से व्याप्त दिशाओंवाली समग्र पृथ्वी का उपभोग करने के लिए वृक्ष में शरीर लटका कर ऊपर की ओर पैर कर कठिन तपस्या करने के अनन्तर सूर्यपुरुष से अपना ईच्छित प्राप्त करके, उसी वृक्ष के नीचे तीन दिन विश्राम कर पादपीड़ादि की निवृत्ति हो जाने पर वह ब्राह्मण मुझ मित्र को साथ लेकर अपने भवन मथुरा को जाने के लिये प्रवृत्त हुआ ॥४१॥

एक सौ अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्यासीवाँ सर्ग

मथुरा जाते–जाते मार्ग भूल जाने से उनका गौरीवन में गमन तथा
वहाँ पर वृद्ध तपस्वी के साथ वार्तालाप का वर्णन।

कुन्ददन्त ने कहा : भगवन्, जैसे चन्द्र और सूर्य इन्द्रपुरी को, जो पूर्व दिशा में हैं, जाने के लिए प्रवृत्त हो सायंकाल में पश्चिम दिशा में आवास लेते हैं वैसे ही प्रसन्नवदन हम लोग भी मथुरापुरी के लिए रवाना हो शाम तक चलकर मध्य में आवास में जाने के लिए प्रवृत्त हुए ॥१॥

क्रम से अपने आवासस्थानों का वर्णन करते हैं।

रोध नामक गाँव में पहुँचकर आम के वनों की अधिकतावाले पर्वत पर विश्राम कर हम लोग दो दिन प्रसिद्ध सालीस नाम के नगर में सुखपूर्वक रहे ॥२॥ दूसरे दिन मार्ग में परस्पर के वृत्तान्तों के श्रवण से आनन्दमग्न चित्तवाले हम लोगों ने अपना बहुत–सा मार्ग लाँघा। शीतल जल के झरनों

तथा ठण्डी छायावाले वनवृक्षों से पूर्ण, नदी तट पर उगी हुई लताओं द्वारा वर्षाई गई पुष्पराशियों से सफेद, तैर रही तरंगों के झनकार रूपी गायन से पथिकों को आनन्दित करनेवाली, स्निग्ध छायावाले वनवृक्षों के तले बैठे मृग और पक्षियों के भाँति भाँति के शब्दों से गूंजित, जिनकी बड़ी-बड़ी हरी घासों की शाखाओं के अग्रभाग में ओस की बूँदरूपी मोती गुँथे हुए थे, कहीं पर जंगलरूप, कहीं पर पर्वतप्राय, कहीं पर गाँव-नगररूप, कहीं पर गर्तरूप और कहीं पर दलदलरूप पृथिवी को तथा नाना नदियों, स्रोतों और सरोवरों को पारकर उस दिन बर्फ से अत्यन्त शीतल केले के घने वन में केले के पत्तों के बिस्तर पर लेटकर हम लोगों ने रात बिताई ॥३-७॥

तीसरे दिन हम लोग कमलराशियों तथा लतानिकुंजों से परिवेष्टित जंगल में पहुँचे जो चारों ओर घास और लकड़ियाँ ले जानेवाले लोगों द्वारा काट-काट कर विभक्त बनाया गया था अतएव बादलों के विच्छेदों से (खण्डों से) विभक्त आकाश-सा था। वहाँ पर प्रस्तुत मार्ग को छोड़कर दूसरे वन में प्रवेशकर रहे उस तपस्वी ने मुझसे वृथा कालविलम्ब द्वारा प्रस्तुत गृहगमनरूप कार्य में विघ्न डालनेवाला अकार्यकरणरूप वचन कहा : हम लोग यहाँ गौरी के आश्रम में चलें, यह आश्रम मुनियों के मण्डल से सुशोभित है। मेरे सात भाई मेरी ही नाईं पृथिवीपति बनने के अभिलाषी होकर यहाँ पर स्थित हैं। हम सब मिलकर ये आठ भाई हैं। पूर्ववर्णित सप्तद्वीपों के राज्यभोग की इच्छा से उत्पन्न अनेक मनोरथों से युक्त होने से हम आठों भाई तपस्या के लिए एक संविन्मय एक ही दृढ़ निश्चयवान् हुए। इस कारण वे शेष सात भाई भी अपने दृढ़ निश्चय का अवलम्बन कर यहाँ गौरीकानन में तपस्या के लिए स्थित हैं। विविध तपस्याओं से उन्होंने अपने सब पाप काट डाले हैं। उन भाइयों के साथ आकर यहाँ गौरी आश्रम में पहले छःमहीने मैं रहा हूँ इस कारण पहले मैंने जो देखा था वही यह गौरी-कानन है ॥८-१३॥ यहाँ पर पुष्पराशि से परिपूर्ण सुन्दर वृक्षों की छाया में सलोने मृगछौने सोये रहते हैं। पर्णशालाओं के छप्परों के किनारे पर बैठे हुए तोते विविध शास्त्रों के सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन करते हैं। इसलिए आओ सर्वविध मंगल के लिए ब्रह्मलोक-सदृश मुनि-आश्रम में चलें। वहाँ पर पुण्यों से हमारा मन, सकल दोषों का विनाश होने से अत्यन्त स्वच्छ हो जायेगा। तत्त्वदर्शन से परिपूर्ण मनवाले महात्माओं के दर्शन के लिए विद्वान्, सुधीर और तत्त्वज्ञानी पुरुषों का भी मन छटपटाता है हमारी तो कौन बात है ॥१४-१६॥ उक्त तपस्वी के यह कहने पर हम दोनों उस मुनि-आश्रम में जब पहुँचे तो हमने उस महावन में आश्रम को प्रलयरूप से रूपवान् यानी शून्य देखा। न वहाँ कोई वृक्ष देखा, न कोई कुटिया देखी, न कोई झाड़ी देखी, न कोई मनुष्य देखा, न कोई मुनि देखा, न कोई बच्चा देखा, न वेदी देखी और न कोई ब्राह्मण देखा। इनके अतिरिक्त और भी वहाँ कुछ न था। वह असीम जंगल केवल अत्यन्त शून्य ही था चारों ओर सूर्य के ताप से सन्तप्त वह भूमि में स्थित आकाश-सा लगता था। इसके पश्चात् उस तपस्वी के हाय यह क्या अनर्थ हो गया यह कहने पर हम लोगों ने चिरकालतक भटक कर एक जगह एक वृक्ष देखा। उस शीतल वृक्ष की छबि आकर्षक थी, छाया अतिघन थी, वह जलपूर्ण मेघ के समान गहरी हरियाली लिये काला था। उसके नीचे एक बूढ़ा तपस्वी समाधि लगाये बैठा था। हम दोनों उस मुनि के आगे छाया में हरी घास से आच्छन्न भूमि पर बैठ गये। जब चिरकालतक प्रतीक्षा करने पर भी

वह तपस्वी ध्यान से निवृत्त नहीं हुआ तब चिरकाल की प्रतीक्षा से उत्पन्न उद्वेगवश अपने चंचल स्वभाव से मैंने 'हे मुने ध्यान से जागिये' यह वचन जोर से कहा। मेरे ऊँचे स्वर से मुनि ध्यान से जाग गये और सिंह के समान मेघ ध्वनि से जंभाई लेकर उन्होंने कहा : हे साधु, आप लोग कौन हैं, यह गौरी–आश्रम कहाँ गया, मुझे यहाँ शून्यवन में कौन लाया और यह कौन काल (युग) है ? ॥१७–२५॥ उस वृद्ध तपस्वी के यह कहने पर मैंने भी कहा : भगवन्, यह सब हम कुछ नहीं जानते इसलिए आप ही जानें। आप सर्वज्ञ होते हुए योग–बल से यह सब स्वयं क्यों नहीं जान लेते ? ॥२६॥ यह सुनकर वह भगवान तपस्वी फिर ध्यान में मग्न हो गये। समाधि द्वारा उन्होंने हमारा और अपना सारा वृत्तान्त जान लिया ॥२७॥ एक मुहूर्त में ध्यान से जागकर मुनि ने कहा : हे कार्यज्ञ आर्यो, आप लोग आश्चर्यभूत इस वृत्तान्त को सुनें ॥२८॥ हे साधु लोगों, मेरा आवासभूत सुन्दरता के कारण इस काननदेवी की चोटी–सा जो यह कदम्बवृक्षरूपी बच्चा आप लोगों को दिखाई देता है यहाँ किसी विशेष कारण से भगवती पार्वतीजी सरस्वती बनकर सकल ऋतुओं से सेवित हो दस वर्ष रहीं ॥२९,३०॥ उनके यहाँ रहने के कारण यहाँ विशाल निबिड जंगल हो गया, यह पुष्पप्रधान ऋतुओं से विभूषित वन गौरीवन के नाम से विख्यात हुआ ॥३१॥ हे सज्जनों, जहाँ पर भ्रमरियों के मनोमोहक गीत विलासों से कोयल चंचल रहते थे, फूलों की वर्षा करनेवाले मेघ सदृश वृक्षों से आकाशरूपी चँदवे में सैकड़ों चन्द्रमा स्थित थे और कमल के पराग–कणों से दिगन्तराल व्याप्त रहते थे। जो मन्दार और कुन्द के मकरन्दों से (पुष्परसों) दिशाओं को सदा सुगन्धित करता था, जहाँ चारों ओर विकसित हो रही (खिल रही) पुष्पराशिरूपी चन्द्रबिम्बों में शोभा व्याप्त थी, सन्तानक (एक तरह का कल्पवृक्ष) के पुष्पस्तवकरूपी हास के विकास से जो अत्यन्त रमणीय था, जहाँ लतारूपी अंगनाएँ सुगन्धित वायु से पूर्ण रहती थीं, ऐसा यह गौरी–वन वसन्तऋतु का नगर–सा सुरम्य था, इसके भँवरों का गाना अपूर्व था, यह गुँजारकर रहीं भँवरियों से व्याप्त पुष्पराशि के मण्डपों से परिपूर्ण था, चन्द्रकिरणराशि के समान चारों ओर से कोमल फूलरूपी झूलों में देवांगनाएँ और सिद्धांगनाएँ यहाँ झूला झूलती थीं ॥३२–३४॥ इस वन का प्रत्येक भाग हारीत, हंस, तोते, कोकिल, चक्रवाक, सारस और गौरिया के झुण्डों से भरा रहता था। भेरुण्ड, गौरिया, तीतिर, राढा, मयूर, बगुला आदि द्वारा की गई विविध क्रीड़ाओं से रमणीय था। यहाँ पर कदम्बवृक्षतलनिवासिनी श्रीसरस्वती देवीजी के चरणकमलों में गन्धर्व, यक्ष, देवता और सिद्ध अपने मुकुटों को रगड़ते थे (प्रणाम करते थे)। यह वन सुगन्ध वायु का आवास था, अतएव इसके सुर्वण के समान रमणीय चम्पकों से सितारों और मेघों ने सुगन्ध ग्रहण की। मन्द वायु से अपने स्थान से हटनेवाले पल्लवों से युक्त छोटी–छोटी नवीन लताओं के विस्तारों से छिपे हुए निकुंजों में सूर्य की रश्मियों के न पहुँचने के कारण यह वन खूब ठण्डा रहता था। कदम्ब, कनेर, नारियल, ताड़ और तमाल के वृक्षों की इसमें इतनी अधिकता थी कि उनके फूलों के कणों से यह सारा वन पीला रहता था। इसमें रक्त कमलों से मिले हुए कुईं और कमलों से पूर्ण तालाब में हंस चकोर आदि जलचर पक्षियों के झुण्डों के साथ अपनी मस्त चाल से चलते थे तथा तालीस, गुग्गुल, चन्दन, निम्ब आदि वृक्षों के अन्दर विहार करनेवाली (रहनेवाली) बड़ी विचित्र सर्व अभिलाषा पूर्ण करनेवाली शक्ति थी ॥३५–३८॥

इस प्रकार के उत्तम वन में भगवान शंकरजी की अर्धांगिनी जगदम्बा भगवती गौरी किसी कारण से भगवान् श्री शिवजी के मस्तक पर विराजमान शशिकला-सी मनोहर प्रसन्न चन्द्रबिम्बवदना कदम्ब सरस्वती बनकर चिरकाल तक रहीं। उनका रहना ही इन वन की अलौकिक सम्पदाओं का कारण था ॥३९॥

एक सौ इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बयासीवाँ सर्ग

कदम्ब वृक्ष के नीचे स्थित तपस्वी द्वारा घर में उसके भाईयों का समागम और वर तथा शापों की हेतुसिद्धि का वर्णन।

वृद्ध तपस्वी ने कहा : हे सज्जनों, भगवती गौरी उसी इस कदम्ब में अपनी इच्छा से दस वर्ष बैठकर शिवजी के वामभागरूप मन्दिर को चली गई ॥१॥ उनके स्पर्शरूपी अमृत से सींचा गया यह कदम्बवृक्षरूपी देवीपुत्र गोद में बैठा हुआ-सा हो, कभी पुराना नहीं होता। उसके अनन्तर भगवती श्रीगौरी के चले जाने के बाद उस प्रकार की विभूतिवाला वह महावन साधारण वनों की तरह जनसाधारण का घास, लकड़ी, फल-फूल आदि आहरण से जीविका का साधन बन गया। मालव नाम का प्रसिद्ध देश है। उसमें मैं राजा था। किसी समय राज्य का परित्याग कर मुनियों के आश्रमों मे घूमता घूमता मैं इस प्रदेश में आ पहुँचा। यहाँ पर आश्रमवासियों का आदर सत्कार पाकर इस कदम्ब के पेड़ के नीचे समाधि लगा कर बैठ गया। इसके पश्चात कुछ समय बीतने पर आप अपने सात भाईयों के साथ तपस्या करने के लिए पहले इस आश्रम में आये। वे आठ तपस्वी उस समय उस प्रकार के तपस्वी बनकर यहाँ रहे जिस प्रकार अन्य जो तपस्वी उस समय थे उनके भी संमान्य (पूज्य) वे हो गये। तदुपरान्त कुछ काल के अनन्तर उनमें से यह आप तपस्या के लिए श्रीपर्वत को चले गये, दूसरा भाई स्वामी कार्तिकेय के समीप क्रौंचपर्वत को गया, तीसरा भाई काशी को गया और चौथा हिमालय को गया। अवशिष्ट चार धृतिमान् भाइयों ने यहीं पर परम तपस्या की। उनमें से सबकी एकमात्र यही अभिलाषा थी कि मैं समस्त द्वीपवाली इस पृथिवी का अधिपति होऊँ। इसके पश्चात् तपस्या से सन्तुष्ट हुए इष्ट देवताओं ने श्रेष्ठतम वरों से उन सभी की वह अभिलाषा पूर्ण की। तदनन्तर आपको तपस्या करते छोड़कर शेष सब भाई जैसे धर्मप्रधान कृतयुग का भूमि में उपभोग कर उसके अन्त में ब्रह्मा ब्रह्मलोक को जाते हैं वैसे ही अपने घर चले गये। उत्तम वरदान के समय आपके उन भाइयों ने वर देने के लिए तैयार अपनी इष्टदेवियों की प्रयत्नतः यह प्रार्थना की ॥२-१३॥ हे देवि, हमारी सप्तद्वीपेश्वरता की स्थिति के समय प्रजाभूत सब लोग झूठे व्यवहार का परित्याग कर दें यानी सच्चे रहें, ये सब आश्रमवासी लोग भी स्वस्वधर्मनिरत रहें तथा सभी सप्तद्वीप निवासी अपने अपने आश्रमधर्म और वर्णधर्म में रत रहें ॥१४॥ वह भगवती इष्टदेवी उनके इच्छित अर्थ को, आदरपूर्वक स्वीकार कर तथा उनसे 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान को प्राप्त हो गयी ॥१५॥ तदुपरान्त वे अपने घर गये। उनके पीछे सभी आश्रमवासी भी गये, केवल एक मैं नहीं गया। मैं अकेले एकान्त में वागीश्वरी कदम्ब के नीचे एकमात्र ध्यान में चित्त लगाकर शिला की नाईं

बैठा रहता हूँ ॥१६,१७॥ इसके बाद इस ऋतु,संवत्सर आदिरूप समय के बीतने पर आसपास में रहनेवाले लोगों ने सम्पूर्ण वन छिन्न–भिन्न कर डाला ॥१८॥ कभी न मुरझानेवाले इस कदम्ब वृक्ष को, इसे वागीश्वरी का मन्दिर समझकर, लोग खूब पूजते हैं। एकमात्र समाधि में मग्न रहनेवाले मुझे भी खूब पूजते हैं ॥१९॥ इसके पश्चात् तो आप दोनों महातपस्वी इस प्रदेश में आये। यह सब ध्यान से देखा गया सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने सकल रूप से आप लोगों से कहा ॥२०॥ इसलिए हे साधुपुरुषों, यहाँ आये हुए आप लोग उठकर घर जायें। वहाँ आपके सब भाइयों का स्त्री–बन्धुओं के साथ समागम हो चुका है। जैसे ब्रह्मलोक में (देवलोक में) आठ वसुओं का भव्य समागम हुआ वैसे ही अपने घर पर आप आठों महात्माओं का भव्य समागम होगा ॥२१,२२॥ हे आर्य सभासदों, उसके यह कहने पर मैंने सन्देह से उस महातपस्वी से यह आश्चर्य वृत्तान्त पूछा, उसे मैं आप लोगों से कहता हूँ : भगवन्, सुनने में आता है कि यह एक ही सप्तद्वीपा भूमि है। ऐसी अवस्था में तुल्यकाल मे आठों सप्तद्वीपा वसुमती के अधिपति कैसे होंगे ? ॥२३,२४॥ कदम्बतपस्वी ने कहा : हे सज्जनों, इन लोगों के सम्बन्ध में यही केवल असंबद्ध वृत्तान्त है यह बात नहीं है यह दूसरा वृत्त भी अधिक असंबद्ध मैं कहता हूँ, उसे आप लोग मुझसे सुनें ॥२५॥ ये आठ तपस्वी भाई देह–नाश होने पर वहाँ घर के अन्दर ही सब सप्तद्वीप के अधिपति होंगे ॥२६॥ ये आठ भाई इन्हीं घरों में इन्हीं महासिंहासनों पर सप्तद्वीपाधिपति राजा होंगे यह मुझसे सुनिये ॥२७॥ इन आठ भाईयों की पूर्व आदि दिशाओं की नियत आठ ताराओं की तरह आठ श्लाघनीय भार्याएँ हैं ॥२८॥ वे आठों पत्नियाँ इनके तपस्या के लिए चले जाने पर चिरकालतक अति दुःखी रहीं, क्योंकि स्त्रियों को वियोग असह्य होता ही है ॥२९॥ पतियों का बार बार स्मरण होने पर दुःखी होकर उन्होंने शतचान्द्रायण रूप घोर तप किया। उससे भगवती पार्वती उनके ऊपर प्रसन्न हुई। अन्तःपुरगृह में पूजा के समय अदृश्य होकर भगवती पार्वतीजी उनसे अलग अलग बोलीं ॥३०,३१॥ देवीजी ने कहा : हे पुत्रि, जैसे गर्मी से मंजरी (बौर) चिरकालतक क्लेश पाती है वैसे ही दीर्घ तपस्या से तुमने क्लेश पाया है अब तुम पति के लिए और अपने लिए वरदान लो। देवी का उक्त वचन सुनकर देवी के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित कर मृदुभाषिणी सौभाग्यवती वधूने मारे आनन्द के विह्वल होकर अपनी वासना के अनुसार भगवती की स्तुति करते हुए जैसे आकाश में स्थित मेघमाला से मयूरी बोलती है वैसे ही आकाश में स्थित देवी से कहा ॥३२–३४॥ सुवासिनी ने (सौभाग्यवती ने) कहा : हे देवि, देवदेव भगवान् श्री शिवजी के साथ जैसा आपका प्रेम है वैसा ही पतिदेव के साथ मेरा प्रेम हो और मेरे वे पतिदेव अमर हों। देवी ने कहा : भद्रे, आदि सृष्टि से लेकर चली हुई ईश्वराज्ञारूप नियति का भंग करना संभव न होने के कारण तपस्या, दान आदि द्वारा अमरता प्राप्त नहीं की जा सकती, इसलिए हे सुव्रते, तुम दूसरा कोई वर माँगो ॥३५,३६॥ सुवासिनी ने कहा : हे देवि, मेरे लिए यह वर अलभ्य है तो जब अपने घर में मेरे पति का देहपात हो तो मेरे मृत पति का जीव घर के अन्दर से एक क्षण के लिए भी बाहर न जाय। हे अम्बिके, 'यह हो' ऐसा वर मुझे दीजिये ॥३७,३८॥ देवीजी ने कहा : हे पुत्रि, ऐसा ही हो, *(उस मूर्खा को उत्तम वर याचना में अकुशल देखकर देवी स्वयं दूसरा वर देती हैं)* और पति का देहान्त होने पर सप्तद्वीपाधिपत्य में स्थित होने पर तुम उसकी प्रिय भार्या होओगी इसमें तनिक

भी सन्देह नहीं है ॥३९॥ जैसे लोक-कल्याण के लिए निर्दोषरूप से उद्यत हुई मेघमाला की ध्वनि बन्द होती है वैसे ही उत्तम कल्याण के लिए उद्यत हुई भगवती पार्वतीजी की वाणी यह कहकर विरत हुई। श्रीदेवी के चले जाने पर कुछ समय के पश्चात् उनके वे सब पति महावर प्राप्त दिशाओं से वापस आये। आज यह (आठवाँ भाई) पति भी अपनी पत्नी के समीप जाय, भाईयों और बन्धुबान्धवों का आपस में समागम हो ॥४०-४२॥ हे साधो, सत्कर्मों के फलों में बाधा डालनेवाली इनकी यह दूसरी असमंजसपूर्ण आश्चर्यकारी दुर्घटना आप सुनिये ॥४३॥ इन आठों भाइयों के तप करते समय इनके दुःखी माता-पिता इनकी बहूओं के साथ तीर्थ और मुनियों के तपोवनों के दर्शन के लिए गये ॥४४॥ वे शरीर सुख की कोई परवाह न कर अपने पुत्रों की कल्याणकामना से प्रसिद्ध कलापग्राम नामक तीर्थ को जाने के लिए प्रयत्नवान् हुए ॥४५॥ जब वे अपने घर से रवाना हुए तो मुनियों के आश्रमों के मार्ग में एक सफेद (वृद्ध) पुरुष उन्हें दीख पड़ा। उसका रंग कपिल (कोहड़े के समान लाली लिये पीला) था, कद नाटा था, शरीर पर भस्म रमी थी और सिर के बाल खड़े थे। वे आठों भाइयों के माता-पिता यह कोई बूढ़ा पथिक होगा, इस आशंका से उस मुनि का अपमान कर (नमस्कार, पूजा, स्तुति आदि आदर न कर) प्रत्युत गमनत्वरा से उसके ऊपर धूलिकणों का प्रक्षेप करते हुए जब आगे बढ़े तब उक्त अपराध से क्रुद्ध हुए उस मुनि ने कहा : हे बहूसहित महामूर्ख, स्त्री के साथ तीर्थाभिलाषी होकर मुझ दुर्वासा ऋषि का अपमान कर मुझे नमस्कार आदि किये बिना जाता है ? ॥४६-४८॥ इस प्रकार जा रहे तुम्हारे बहूओं और पुत्रों की तपस्या से उपार्जित प्राप्त हुए महावर विपरीत (दुःखदायी) हो जायेंगे ॥४९॥ इसके बाद दुर्वासा मुनि के यह कहने के अनन्तर स्त्री और बहूओं के साथ वह मुनि का प्रणाम आदि द्वारा आदर करने के लिए ज्यों प्रवृत्त हुआ त्यों ही मुनि अन्तर्हित हो गये। फिर उनके माता-पिता उनकी बहूओं के साथ अति दुःखी हुए। दुःख के मारे उनका शरीर सूखकर कृश हो गया और मुँह फीका पड़ गया, वे पुत्रों के कल्याण की आशा छोड़कर घर लौट आये। इसलिए मैं कहता हूँ कि उनका एक ही वृत्तान्त असमंजस (दुविधा) नहीं है, अपितु जैसे गले में हुए घेघे (गला सूखने का एक रोग) पर अनेक फोड़े हों और वे फूट जाय वैसे ही उनके लाखों असमंजस हैं ॥५०-५२॥

इस प्रकार अन्यत्र भी (इस मायामय जगत् में भी) लाखों असमंजसों का संभव है, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में उत्पातवश गन्धर्वनगर, धूमकेतु, कबन्ध, उल्का आदि दृश्यों का विकास होता है वैसे ही चिदाकाश के संकल्पभूत सर्वथाशून्य दृश्यरूप इस महानगर में लाखों असमंजस होते हैं ॥५३॥

एक सौ बयासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरासीवाँ सर्ग

परस्पर विरुद्ध वर और शापों में से सारवानों का श्री ब्रह्माजी के वचन से परस्पर अविजय का निरूपण।

कुन्ददन्त ने कहा : हे आर्य सभासदों, तदनन्तर वहाँ पर मैंने उस गौरी आश्रम के तपस्वी से, जिसके बाल बुढ़ापे के कारण धूप से सूखे हुए कुशों के अग्रभाग के समान जर्जर थे, पूछा : भगवन्, जहाँ एक ही सप्तद्वीपवाली पृथिवी है वहाँ वे आठ उत्तम सप्तद्वीपाधिपति कैसे हो सकते हैं ? जिस जीव का

घर से बाहर निकलना ही संभव नहीं है वह सप्तद्वीपाधिश्वररूप से दिग्विजय कैसे कर सकता है ? जिस वरदाताओं ने वर दिये वे वर शापों से विपरीत फलदायकता को कैसे प्राप्त हो सकते हैं, शीतल छाया ग्रीष्म की धूप कैसे बन सकती है ? ॥१–४॥

एक ही फल वर और शाप दोनों का फल हो यह कठिन ही नहीं असंभव है, ऐसा कहते हैं।

वर और शाप की फलतावाले शुभत्व और अशुभत्व धर्म एक ही धर्मी में स्थिति को, जो संभव नहीं है, कैसे प्राप्त होते हैं ?

शंका : यद्यपि वे एक धर्मी के आश्रित नहीं हो सकते तथापि परस्पराश्रित तो हो सकते हैं।

समाधान : आधार ही अपने में आधेयता कैसे कर सकता है ? एक ही का अपने में आधारआधेयभाव का संभव नहीं है, यह भाव है ॥५॥ गौरी–आश्रम के तपस्वी ने कहा : हे साधो, इनका क्या असमंजस देखते हो। इसके बाद इनकी जो घटना घटेगी उसे सुनो। उसीसे तुम्हारे सन्देह का समाधान हो जायेगा। आज के दिन से आठवें इसी दिन के प्राप्त होने पर आप दोनों लोग अपने बन्धु–बन्धवों से पूर्ण उस मथुरा प्रदेश में पहुँचेंगे। मथुराप्रदेश में पहुँचकर कुछ काल तक अपने बन्धुबान्धवों के साथ सुखस्थितिवाले आप लोग सुख से रहेंगे ॥६,७॥ तदुपरान्त क्रमशः वे आठों भाई घर पर मरेंगे। तब उनके बन्धु बान्धव उनके शरीरों को उनके द्वारा आहत अग्नियों में दाह से संस्कृत करेंगे ॥८॥ पृथक् पृथक् स्थित उनके वे जीव जड़ों की नाईं मुहूर्तभर सुषुप्ति में स्थित रहेंगे ॥९॥

कर्मों के विरोध का परिहार कहने के लिए उपक्रम करते हैं।

इसी बीच में उनके वे वरशापरूप कर्म फलों के अवश्यम्भावी स्वभाव से एक जगह आकाश में (तत् तत् चित्तअवच्छिन्न आकाश में) संघटित होंगे। वे कर्म तत् तत् फलप्रद देवतारूप होकर अपने अपने अनुकूल समूहों से घटित संपुट अलग अलग बनायेंगे। इस प्रकार संपुटरूप हुए वर और शाप अलग–अलग वर–शाप–शरीरों का निर्माण करेंगे ॥१०,११॥

वर और शापों का स्वरूप कहते हैं।

यहाँ पर वे वर सुन्दर, कमल हाथ में लिये हुए, ब्रह्मदण्डरूपी अस्त्र से विभूषित, चन्द्रमा के समान शुभ्र शरीरवाले और वे चतुर्भुज होंगे ॥१२॥ वहाँ शाप तीन नेत्रवाले, शूलहाथ में लिये हुए, भयानक, काले बादल से शरीरवाले, दो हाथों से युक्त और मुँह पर भौंह चढ़ाये हुए होंगे ॥१३॥ वह कहेंगे : हे शापों, आप लोग दूर भाग जाओ। यह ऋतुओं की तरह हम लोगों का समय उपस्थित है। उसका कौन उल्लंघन कर सकता है ? ॥१४॥ शाप कहेंगे : हे वरों, आप लोग दूर चले जाओ। ऋतुओं की तरह हमारा समय आ गया है उसे उल्लंघन करने की किसमें सामर्थ्य है ? ॥१५॥ वर कहेंगे : आप लोगों का निर्माण मुनिजी ने (दुर्वासा) किया है और हमारी रचना सूर्य ने की है। भगवान् सूर्य मुनियों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, क्योंकि पहले ब्रह्मा ने भगवान सूर्य की मुनियों से सृष्टि की ॥१६॥ वरों के ऐसा कहने पर क्रोध से झुँझलाये हुए शापों ने, 'आप लोगों की सृष्टि सूर्य ने की और हम रुद्रांश से बनाये गये हैं। देवताओं में रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं और मुनि (दुर्वासा) रुद्रांश से उत्पन्न हैं' यों वरों से कहकर जैसे पर्वत शिखरों को उद्यत करते हैं वैसे ही वरों के प्रति त्रिशूलाग्र उठायेंगे ॥१७,१८॥ शापरूपी शत्रु के त्रिशूल उठाने पर उनका उपहास कर रहे वे सम्यक् विचार द्वारा निश्चित अपने स्वार्थ का निश्चय कहेंगे ॥१९॥ हे शापों, दुष्टता (अनुचितकारिता)

का त्यागकर कार्य का अन्त विचारो। कलह के अन्त में जो कुछ करना है वही पहले कर लेना चहिये यह विचार लेना ठीक है। कलह के अन्त में ब्रह्मलोक में जाकर हमें निर्णय करना ही पड़ेगा इस झगड़े में वही बात पहले क्यों न कर ली जाय॥२०,२१॥ शापों ने वरों का वचन सुनकर 'बहुत अच्छी बात है' यों उनकी सलाह मान ली। चाहे मूढ़ ही क्यों न हो, युक्तियुक्त वचन कौन न मानेगा ? ॥२२॥ तदनन्तर शाप वरों के साथ ब्रह्मलोक में जायेंगे। सदा ही सन्देह की निवृत्ति करने के लिए महानुभाव लोग ही शरण होते हैं ॥२३॥ वे ब्रह्माजी को प्रणाम कर आपस में जो तकरार हुई थी उसे सब ज्यों-की-त्यों कहेंगे। उनका कथन सुनकर ब्रह्माजी कहेंगे॥२४॥ ब्रह्माजी ने कहा : हे वराधिपों और शापाधिपों, जो अन्तः सारवान हैं वे जीतेंगे इसलिए आप लोग आपस मे कौन अन्तःसारवान् हैं यह स्वयं अवश्य अन्वेषण करें। यह सुनकर वरों के हृदयों में शाप और शापों के हृदयों में वर सारता देखने के लिए प्रविष्ट होंगे॥२५,२६॥ वे परस्पर टटोलकर स्वयं हृदय-सारता को जानकर ब्रह्माजी से परस्पर एकमत्यरूप मेल से कहेंगे॥२७॥ शाप कहेंगे : हे प्रजापते, चूँकि हम लोग अन्तःसारवान् नहीं हैं इसलिए हम ही वरों द्वारा जीते गये हैं। वज्रस्तम्भों के समान अचल वर ही अन्तःसारवान् हैं॥२८॥ भगवन्, ये वर और शापरूप हम लोग सदा संविन्मय ही हैं। हमारा स्वरूप संवित् के सिवा दूसरा नहीं है॥२९॥ वरदाता की 'मैंने वर दिया' इस तरह स्थित जो संवित् है वही वर-प्रार्थी में 'मैंने यह वर पाया' यों स्थित होती है॥३०॥ वर का फल सुखभोगायतन देह विज्ञप्तिमात्र स्फुरण ही है, इसलिए वह विज्ञप्ति ही देहाकार बनकर देश, काल आदि की कल्पनारूप सैकड़ों भ्रमों से तत् तत् भोग्य पदार्थों को देखती है, उनका अनुभव करती है और भक्षणीय वस्तुओं का भक्षण करती है। शास्त्रीय तपस्याकालिक दृढ़ निश्चय से अपने वश में किये हुए संवित्स्वरूप वरदाता से गृहीत होने के कारण वरकल्पनारूप चिति फलावस्था में जब पूर्णरूप से परिपुष्ट होती है तब अन्तःसारयुक्त वही दुर्जय होती है। शापजनित चिति अन्तःसारयुक्त नहीं होती है॥३१-३२॥ जब वर देनेवाले और वर प्रार्थी पुरुषों द्वारा वर देनेवालों के वरप्रदान का चिरकाल तक अभ्यास किया जाता है तब वरों की अन्तःसारता होती है॥३३॥ संवित् जिसी का चिरकाल तक अभ्यास करती है तन्मयी वह शीघ्र हो जाती है और वही संसार हो जाता है॥३४॥ शास्त्रीय होने के कारण शुद्ध संविदोंमें से अतिविशुद्ध जो संवित् होती है वही सबसे प्रबल होती है लेकिन अशुद्ध संविदों में अशुद्ध ही प्रबल होती है, इसलिए उनके फल में भी तुल्यता नहीं है॥३५॥

ज्येष्ठ होने के कारण वरसंवित् की प्रबलता है, ऐसा कहते हैं।

क्षणांश से भी जो श्रेष्ठ है उससे ज्येष्ठत्व न्याय की पूर्ति होती है, क्योंकि ज्येष्ठ के उत्पत्ति के समय वह (उसका विरोधी) उत्पन्न नहीं हुआ रहता, इससे वह भलीभाँति बद्धमूल हो जाता है। अप्रमाणजन्य की ज्येष्ठता बाध्य होने में कारण है जैसे कि प्रमाण द्वारा दृढ़ीकृत अर्थ में अनपेक्षित रजतभ्रम ज्ञान की ज्येष्ठता बाध्यता में कारण है यह प्रसिद्ध है। अन्य न्याय शाप की प्रबलता सिद्ध करने के लिए समर्थ नहीं है॥३६॥

अतएव जहाँ पर विरुद्ध कर्मों की अथवा वर और शाप का प्रमाणअभ्यासादि साम्य हो वहाँ पर दोनों का मिश्रित ही फल होता है, ऐसा कहते हैं।

दूधमिश्रित जल की तरह समान बलवाले वर और शाप के विलास से शुभ और अशुभ उभय

कोटिस्थ समानरूप से मिश्रित वस्तु होती है जैसे कि मनुष्य शरीर ॥३७॥

जहाँ पर एक काल में भिन्न देश में भोग्य समान बलवाले वर और शाप होते हैं वहाँ पर विपश्चित् उपाख्यान में वर्णित न्याय से उपाधि के विभाग द्वारा एक ही जीव चिति एक ही समय में देहभेद से दो रूप की हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

अथवा जैसे स्वप्नों में नगरात्मक चिति नगरवासी लोगों के देह–भेद से विभिन्न–सी मालूम होती है वैसे ही जीवचिति एक समय में भिन्न देश में भोग्यसमान बली वर और शापों से अपनी द्विरूपता का स्वयं अनुभव करती है ॥३८॥ श्रीब्रह्माजी के आगे अपनी तात्त्विक बातों का बखानरूप धृष्टता अनुचित है, यह सोचकर कहते हैं : हे प्रभो, जो आपके चरणों के समीप बैठकर आपसे सीखा था उसका आपके सामने ही पुनः पारायण करना धृष्टता का सूचक होने से हमारे अपराध को क्षमा करें अतः आपको नमस्कार है, हम लोग शीघ्र अपने स्थान को जाते हैं ॥३९॥ जैसे दृष्टि तिमिररोग के हट जाने पर आकाश में भ्रान्तिकृत केशों का वर्तुलाकार गोला कहीं चला जाता है वैसे ही स्वयं ही वृथा आयास करनेवाले अपनी मूर्खता प्रकट करनेवाले अपने को लज्जा से शाप देनेवाला वह शापगण यह कहकर कहीं चला गया। इस प्रकार दुर्वासाजी के शापों के चले जाने पर सप्तद्वीपाधिपता के विरुद्ध घर से निर्गमन निरोधक उनकी भार्याओं को गौरी द्वारा दिये गये वरसंघ ने जैसे वैयाकरण–प्रक्रिया में आदेश स्थानी के स्थान की पूर्ति करता है वैसे ही शापों के स्थान की पूर्ति की। शापों के स्थानों पर बैठे हुए वर ब्रह्माजी से कहेंगे : हे देवाधिदेव, अन्धे कुओं से जलों के बाहर निर्गमन की तरह सप्तद्वीपों के अधिपति जीवों का शव गृह से बाहर निकलना हम नहीं जानते हैं, कारण कि उनका बाहर निर्गमन हम लोगों द्वारा अवरुद्ध है। ये श्रेष्ठ वीर वर इन सप्त द्वीपेश्वरों को गृहरूपी द्वीपों में रण में दिग्विजय कराते हैं। हे देवाधिदेव, इसलिए इस तरह अनिवार्य इस विरोध में जो हमें करना चाहिये उसका हमारे कल्याण के लिए हमें आदेश दीजिये ॥४०–४४॥ ब्रह्माजी ने कहा : हे सप्तद्वीपेश्वर बनानेवाले वरों, और हे घर में रोकनेवाले वरों, आप सब लोगों की अभिलाषा पूर्ण हो गई है ॥४५॥

हम सब लोगों की अभिलाषा कैसे सम्पन्न हुई ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

आप लोग इस परस्परअपेक्षता को प्राप्त हो जाओ क्योंकि आप लोगों के इच्छा न करने पर भी वे आठों भाई मरने के उत्तर क्षण में बहुत काल से अपने घर में ही सप्तद्वीपेश्वर बनकर विराजमान हैं ॥४६॥ हे वरों, देह छूटने के बाद ही ये सब लोग अपने घरों में सप्तद्वीपेश्वर बन गये हैं। सब वर कहेंगे : भगवन्, सात द्वीपवाले भूमण्डल कहाँ हैं और उनके विविध ऐश्वर्य कहाँ हैं ? यहाँ एक ही भूपीठ सुना और देखा गया है। उससे अतिरिक्त भूपीठ सुनने और देखने में नहीं आया। किसी एक घर के अन्दर वे सात द्वीपवाले भूखण्ड कैसे रह सकते हैं, छोटे से कमलगट्टे के अन्दर बहुत से हाथी कैसे समा सकते हैं ? ॥४७–४९॥

स्वप्न के समान ही यह अविरुद्ध है, यों उत्तर देते हैं।

ब्रह्माजी ने कहा : हे वरों, चूँकि आप लोग और हम लोग व्यष्टि–समष्टियों से युक्त व्योमात्मक सारे जगत् का, जो सच्चित्परमाणु के अन्दर स्थित है, अन्दर स्वप्नरूप से ही अनुभव करते हैं, अतः वह परमाणु के भी अन्दर स्थित स्वगृह के भीतर जो स्फुरित होकर समाता है वह क्या आश्चर्य है (क्या

अपूर्व है), प्रकृति के क्रम में कौन विस्मय है ? ॥५०,५१॥

जगत् की स्वप्नतुल्यता का प्रदर्शन करते हुए पूर्वोक्त बात को स्पष्ट करते हैं।

मृत्यु के बाद उसी क्षण में शून्यात्मक होता हुआ भी घनाकार यह जगत् ज्यों–का–त्यों स्फुरित होता है। जहाँ सच्चित्–परमाणु में भी जगत् समा जाता है वहाँ उस घर के अन्दर सप्तद्वीपा पृथ्वी स्फुरित होती है, इसमें क्या अनहोनी बात है ? जो यह जगत् का भान होता है वह तत्त्वतः चित्तत्त्व ही है। चूँकि जैसे शून्यरूप से आकाश स्फुरित होता है वैसे ही चिन्मात्र ही जगत्रूप से भासित होता है, इसलिए जगत् कहीं पर मूर्त नहीं है जिससे कि घर के भीतर वह न समा सके। तदनन्तर वरदान देनेवाले श्रीब्रह्माजी द्वारा यों समझाये गये वे वर पहले कल्पित अपने आधिभौतिक भ्रान्तिमय शरीरों का त्यागकर आतिवाहिक शरीरवाले बनकर ब्रह्माजी को प्रणाम कर विरोध न रहने के कारण सब साथ ही तत् तत् के मन से कल्पित सप्तद्वीप में तत्–तत् देवताओं के गृहों को गये, जिनमें विविध जन स्फुरित हो रहे थे। वे आठों भाई उस घर में यज्ञ आदि सत्कर्म और बन्धुजनों से परिपुष्ट तथा आठ जगतों के विभाग से ब्रह्मा के आठ दिनों तक आदि राजा स्वायंभुव मनुओं के कुल में सप्तद्वीपों से युक्त पृथिवी के अधिनायक हो गये। प्रत्येक के मैं भ्रातृसहित हूँ यों कल्पना करने से अन्योन्य बन्धु, सबके भिन्न–भिन्न राज्य होने के कारण आधिपत्य के अंश के विषय में अज्ञ, परस्पर एक दूसरे को राजा न जाननेवाले, अतएव अन्योन्य के अभिमत में हित न कि विरुद्ध चेष्टावाले वे अन्योन्य के भूमिमण्डल में स्थित हुए॥५२–५८॥

उनमें से प्रत्येक के चरित्रभेद की कल्पना कहते हैं।

उनमें यौवन से सुन्दर एक भाई घर के भीतर ही उज्जयिनी नामकी महापुरीरूप राजधानी में सुख से स्थित है। शाकद्वीपनिवासी दूसरा भाई, जो सकल दिशाओं के विजय में उद्योगशील है, नागलोक को जीतने की इच्छा से सागर के गर्भ में विचरण करता है। तीसरा भाई, जिसकी सकल प्रजा निश्चिन्त है और जो सम्पूर्ण दिशाओं का विजय कर चुका है, कुशद्वीप की राजधानी में कान्ता से आलिंगित होकर सोया है। चौथा भाई शाल्मलिद्वीप–पर्वत शिखर पर स्थित नगरी के क्रीड़ासरोवर में विद्याधरियों के साथ जलक्रीड़ा में निरत है। पाँचवा भाई क्रौंचद्वीप में सातों द्वीपों से लाई गई महाऋद्धियों से सुसमृद्ध हेमपुर में ब्रह्मा के आठ दिनों तक बराबर अश्वमेध यज्ञ द्वारा भगवान् का पूजन करने के लिए प्रवृत्त है। छठा भाई शाल्मलि द्वीप में उखाड़े गये दिग्गजों के दाँतों से कुलाचलों को खींचकर दूसरे द्वीप के राजा के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत है। पुष्कर द्वीप में रहनेवाला सातवाँ भाई लोकालोक पर्वत के राजा के दूत के साथ निधि–स्थानों को देखने की इच्छा से अपने घर से गया। गोमेदद्वीप निवासी आठवाँ भाई, कामवश पुष्कर द्वीप के राजा की पुत्री को जीतकर लाने के लिए शत्रुदेशों को रौंद रही सेनावाला हुआ। इस प्रकार स्वगृहाकाश में अलग अलग स्थित हुए इनकी स्वप्रतिभा उचित द्वीपद्वीपाधिपतिता को देखकर वे दोनों प्रकार से वर आतिवाहिक देहाकार में भी आभिमानिक आकार का त्याग कर उन आठों के जीवों के साथ ऐसे ही एकता को प्राप्त होंगे जैसे कि आकाश आकाशों के साथ एकता को प्राप्त होते हैं। चिरकाल में इच्छित सप्तद्वीपेश्वरता को प्राप्त हुए वे आठों भाई भी तुष्टियुक्त राज्य को प्राप्त कर सप्त द्वीपों के

अधिपति बनकर सन्तुष्ट होंगे। विशाल बुद्धिवाले वे जिनका पूर्वोक्त वररूप क्रियार्थ पूर्णरूप से विकसित हो चुका था, पूर्वोक्त प्रकार की सप्तद्वीपाधिपतिता को तपस्याओं द्वारा प्राप्त होंगे। प्रत्येक चैतन्य के अन्दर दृढ़ निश्चयरूप से जिसका स्फुरण होता है वही बाहर उसके अनुकूल तप, जप आदि कर्मों से किसे प्राप्त नहीं हुआ ? ॥५९–७०॥

एक सौ तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौरासीवाँ सर्ग

घर के अन्दर कोटि–कोटि आठ जगतों का संभव है,
क्योंकि अज्ञात चिन्मात्र का ही जगतों के रूप से भान होता है, यह वर्णन।

कुन्ददन्त ने कहा : मेरे यह पूछने पर कि भगवन्, घरों के छोटे से अवकाश में उन पचास करोड़ योजन विस्तारवाले जगतों का कैसे भान हुआ ? कदम्बतलनिवासी उस तपस्वी ने यह कहा : यह चिदाकाश ऐसा ही है। सर्वव्यापी यह प्रपंचशून्य होने पर भी जहाँ–जहाँ रहता है, वहाँ वहाँ अपने स्वरूप को अपने में त्रिलोकी के रूप से अथवा सुषुप्त और तुरीय के रूप से अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूप का त्याग किये बिना ही देखता है ॥१–३॥ कुन्ददन्त ने कहा : भगवन्, अद्वितीय, निर्मल, शान्त, शिव परम कारण में स्वभावसिद्ध (नैसर्गिक) वास्तवी नानाता (भिन्नता) कैसे स्थित है ? एक में नानाता विरुद्ध है यह शंका करनेवाले का भाव है ॥४॥

यह नानाता वास्तविक नहीं है, किन्तु भ्रान्तिजन्य है, वह जैसे चन्द्रमा के एक होने पर भी दो चन्द्रमाओं की प्रतीति होती है वैसे ही अविरुद्ध है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

कदम्बतपस्वी ने कहा : हे मुने, जैसे जलमें दृश्यमान भी आवर्त जल से अतिरिक्त नहीं है वैसे ही यहाँ पर सब कुछ शान्त चिदाकाश ही है वह विस्ताररूप से दिखाई देता भी नाना (भेद) कुछ नहीं है। इन सकलपदार्थों की असत्ता में पदार्थरूप से जो ये भासित होते हैं वह स्वप्न और सुषुप्ति के समान अपने यथार्थ स्वरूप को भूला हुआ निज निर्मल चिदाकाशरूप अज्ञात स्वरूप ही है ॥५,६॥

इसलिए कोई विरोध नहीं है, यह दर्शाते हैं।

स्पन्दसहित होने पर भी वह निस्पन्द है पर्वत होने पर भी पर्वत नहीं है जैसे स्वप्नों में चिद्भाव पदार्थगत है वैसे ही सन्मात्रआत्मा चिद्भाव कल्पितार्थ भी है, यह समझना चाहिये। सर्वात्मा के अनुरूप यानी वास्तविकरूप में न सृष्टि आदि स्वभाव हैं और न सृष्टि स्वभाव से किये गये पदार्थ हैं। सृष्टि के आदि में जो रूप जैसे स्फुरित हुआ वह आज भी वैसा ही स्थित है। परमरूप कचन अकचन स्वरूप (स्फुरण–अस्फुरणरूप) नहीं है द्रव्य रूप से अचित् भी नहीं है। केवल चिदाकाश इस प्रकार से (जगत् के रूप से) स्थित है। जैसे स्वप्न में केवल एकमात्र निर्मल जीवचिति सेनारूपमें लाखों मनुष्यरूपता को प्राप्त हुई सी प्रतीत होती है वैसे ही इस चिति की पदार्थता स्फुरित होती है। चूँकि चिदाकाश स्वच्छतम अपने स्वरूप में अपने आप अतिशयरूप से देदीप्यमान होता है इसलिए उसके द्वारा स्फुरणाकार का जगत्रूप से अनुभव होता है। जैसे स्वप्न में अग्नि के न रहने

पर भी स्वप्नचिति ही उष्णरूप से भासित होती है वैसे ही संवित्मात्ररूप आकाश में असत् भी पदार्थ अपने स्वरूप को भासित करता है ॥७-१२॥ जैसे स्वाप्नाकाश में स्तम्भ के न रहने पर भी जीवचित् की स्तम्भता प्रतीत होती है वैसे ही यद्यपि इस चित् का नानात्व (भेद) इससे अभिन्न है तथापि भिन्नवत् भासता है ॥१३॥

तब अर्थ क्रिया का नियम कैसे है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

आदि सृष्टि में पदार्थता स्वभाव से स्वच्छ ही थी। चिदाकाश ने जिसका जैसे अनुभव किया वह आज भी अपने स्वरूप का वैसे ही लाभ करता है। जैसे फूल, पत्ते, फल और तने में वृक्ष ही व्याप्त है वैसे ही सर्वत्र सारा जगत् सर्वात्मा परब्रह्म ही है। सृष्टि परम्परा परमार्थ आकाशरूपी (चिदाकाशरूपी) सागर में जलरूप है तथा सृष्टिसंवित् परमार्थरूप महाकाश में शून्यतारूप है अर्थात् जैसे जल सागर से अभिन्न है और जैसे शून्यता आकाश से अभिन्न है वैसे ही परम ब्रह्म से सृष्टियाँ अभिन्न हैं। जैसे तरु और वृक्ष पर्यायवाची हैं वैसे ही परमार्थ और सृष्टि पर्यायवाची (अभिन्नार्थ) हैं। बोध होने से इस तरह अद्वैत होता है और बोध न होने से तो केवल दुःख के लिए द्वैत ही है ॥१४-१७॥ इस अध्यात्मशास्त्र के बोध से परमार्थरूप परम ब्रह्म और जगत् यह एक ही है यह निश्चय होता है, वही मुक्ति है। ब्रह्मा संकल्प करनेवाले चिदाकार के संकल्प का स्वरूप है। वही जगत् का रूप है, इसलिए जगत् ब्रह्मस्वरूप है। जिसमें वाणियाँ निवृत्त होती हैं (जहाँ वाणियों की पहुँच नहीं है) अथवा सकल शब्दों के ब्रह्मनिष्ठ होने से जिससे निवृत्त वाणियाँ होती ही है वैसे ही विधियाँ, निषेध और भावअभावदृष्टियाँ जिससे निवृत्त होती हैं अथवा सबके एकमात्र तदाश्रित होने से उक्त विधि आदि जिससे निवृत्त नहीं ही होते हैं। अमौन मौन के मध्य में जीवात्मा की जो पाषाण के समान चिद्घन स्थिति है, जो सत् होते हुए ही असत् के सदृश प्रतीत होता है वह ब्रह्म नाम का कहा जाता है। सर्वात्मा अद्वितीयसुघन निरामय ब्रह्म में ही भाव अभाव आदि वस्तु की क्या सृष्टि होगी और क्या प्रलय होगा ? जैसे एक ही अविचित्र निद्रा में विचित्र-सी अविच्छिन्न सुषुप्ति और स्वप्न की भ्रान्तियों का भान होता है वैसे ही इस अविचित्र चिदाकाशसत्ता में बहुत से विचित्र अविच्छिन्न बीजभूत प्रलयों और सर्गों का भान होता है ॥१८-२४॥

कैसे उनका भान होता है ? यह कहते हैं।

जैसे दही आदि द्रव्य में शक्कर आदि मिला दिया जाय तो मिला हुआ वह दही और शक्कर प्रत्येक गुण की अपेक्षा अन्य गुणको (रुचि, पुष्टि, पित्तनाश आदि करनेवाले गुण को) उत्पन्न करता है वैसे ही प्राणियों के अन्तःकरण में अभिव्यक्त प्रमातारूप चित्सार चक्षु आदि द्वारा बाहर निकलकर घटादि के आकार की वृत्ति के सम्बन्ध से मिलकर घट, पट आदि तत् तत् विषयों के अधिष्ठान चित् के आवरणभंग से परस्पर द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी के स्फुरण को उत्पन्न करता है ॥२५॥

इसलिए घट, पट आदि पदार्थ भी अपने अधिष्ठानभूत चित् की सत्ता और स्फूर्तिवाले होने से चिन्मात्रसार हैं ऐसा कहते हैं।

सदा अमूर्त चिन्मात्रसार सब पदार्थ सृष्टि के आदि में एकमात्रस्वरूप होने के कारण स्फुरित होते हैं ॥२६॥

उनकी स्थिति भी संवित् के अनुसार ही है। स्पन्दशून्य चिदाधिष्ठानवाली होने के कारण सब

द्रव्यशक्तियाँ भी अपने आश्रय से विचलित नहीं होतीं और न उनका ह्रास ही होता है, ऐसा कहते हैं।

एकमात्र चिन्मात्रस्वरूप होने के कारण संविद् के अनुसार स्थित, निश्चल तथा द्वैताकार के ग्रहण से रहित द्रव्यशक्तियाँ स्फुरित होती हैं ॥२७॥

इस प्रकार एकमात्र प्रतिभास के अधीन सर्वस्ववाला यह जगत् प्रातिभासिक ही है, इस आशय से कहते हैं।

यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित यह सारा जगत् अविद्यमान ही है फिर भी स्वप्न की तरह दिखाई देता है और अनुभव में आता है। स्थावर जंगम स्वरूप चित्‌रूपी जलमें हर्ष, क्रोध और विषाद से अत्यन्त विचित्र स्पन्द रीतियाँ दिखाई देती हैं। स्वभावरूप अर्थात् अज्ञातस्वरूपनिष्ठ विक्षेपशक्तिरूप वायु से कँपाये गये, जगत्‌जालाकार चमत्कार से युक्त चित्, की जो सत्त्वगुणरूप प्रकाश से किरणरूप हैं, रजोगुण से धूलिराशिरूप है, आवरण और जाड्यप्रधान तमोगुण से मेघ और कुहरारूप है, आकाश में विस्तारशीलता खेदजनक है अर्थात् किस किस प्रकार के जन्म, मरण आदि करोड़ों अनर्थों के रूप से सम्पन्न है। जैसे रोगाक्रान्त दृष्टिवाले पुरुष को आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला दिखाई देता है वैसे ही अज्ञानावृत्त चिद्‌दृष्टिवाले पुरुष को स्वात्माकाश में इस जगद्‌भ्रान्ति का भान होता है ॥२८–३१॥

उसकी काल और प्रकार की व्यवस्था भी संकल्प के अनुसार ही होती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे संकल्पनगर जब तक संकल्प किया जाय और जिस जिस प्रकार से संकल्प किया जाय तब तक और उस उस प्रकार से स्फुरित होता है वैसे ही यह जगत् भी जब तक तथा जिस प्रकार इसका संकल्प किया जाय तब तक उस प्रकार स्फुरित होता है। जैसे कि संकल्पनगर में संकल्पपर्यन्त सकल स्थिति, जो असद्रूप होने पर भी सत् के समान अनुभव में आती है, अवश्यमेव रहती है। वही ब्रह्मा की संकल्परूप नियति, जो नियत अर्थ का प्रदान करती है आज भी धाराप्रवाहरूप से चलती है आगे भी अवश्य ही चलेगी। उसी से स्थावर और जंगम आदि प्राणिसंघ नियमितरूप से रहता है ॥३२–३४॥

प्राणियों के जन्म, कर्म, स्वभावादि की व्यवस्था भी उसी से होती है यह कहते हैं।

उक्त नियति से ही जिसमें स्फुट जीव है ऐसे जंगम से जंगम की उत्पत्ति होती है और स्थावर से स्थावर की उत्पत्ति होती है, जल नीचे की ओर बहता है और अग्नि ऊपर को धधकती है। उसी नियति के कारण ही सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियाँ देह-यन्त्र धारण करती हैं और तपती हैं। वायु सदा गतिशील रहते हैं और पर्वत आदि स्थिर (अचल) रहते हैं। उसी नियति से ज्योतिर्मय युग, संवत्सर आदि रूप कालचक्र दक्षिणायनरूप से लौटकर वर्षा ऋतु में आकाश को मूसलाधार वृष्टि से व्याप्त करता हुआ चलता है। नियति से ही भूतल में एक के बाद एक सागर और पर्वतों का संनिवेश स्थिर सा होता है तथा भाव, अभाव, ग्रहण त्यागरूप द्रव्य शक्ति भी रहती है ॥३५–३८॥

हम सब लोगों का व्यवहार ब्रह्मा के संकल्परूप नियति से सुव्यवस्थित हो, लेकिन ब्रह्मा की संकल्पव्यवस्था ही पूर्वानुभवजन्य संस्कार से अतिरिक्त हेतुका संभव न होने तथा आदि सृष्टि में पूर्वानुभव के प्रसिद्धि न होने के कारण कैसे सिद्ध हो सकती है, यों कुन्ददन्त शंका करता है।

कुन्ददन्त ने कहा : भगवन्, पहले देखी गई वस्तु स्मृति–पथ में आरूढ़ होती है उसके अनन्तर तदनुसारी संकल्प होते हैं। उक्त संकल्पों से नियत सृष्टि का भान होता है। यह बात द्वितीय, तृतीय आदि कल्पों की सृष्टि में संभव है। किन्तु आदि सृष्टि में किसको पूर्वसृष्टि का भान प्रसिद्ध है जिससे कि ब्रह्माजी पूछें अथवा स्वयं स्मरण करें ॥३९॥

ब्रह्मा का संकल्प स्मरण के अधीन नहीं है किन्तु दिव्य ज्ञान द्वारा अतीत अनागत सकल वस्तुओं के दर्शन के अधीन है, क्योंकि 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत' इत्यादि श्रुति है। उस क्षण में सब अतीत और अनागत जगत् अपूर्वदृष्ट ही दिखाई देता है और दृष्ट की अनुसारिणी चिद् विवर्तरूप सांकल्पिक सृष्टि प्रवृत्त होती है। उसी में यह मैंने 'प्राग्दृष्टम्' (पहले देखा) यों कहीं पर अभ्यास भी किया है इस तरह तपस्वी शंका का समाधान करते हैं।

स्वप्न में स्वमरण के तुल्य अपूर्व ही सब कुछ दिखाई देता है उसी में पहले देखा गया, यों अभ्यासवश ब्रह्मा को स्मृति होती है। चित् होने के कारण जगत्रूपी संकल्पनगर चिदाकाश में स्फुरित होता है। चूँकि वह स्वतः कभी भासित होता है और कभी भासित नहीं होता, इसलिए वह न सत् है और न असत् है ॥४०,४१॥

दर्शन की सामर्थ्य न होने पर स्मृति की कल्पना करनी पड़ती है। स्वप्न में केवल कल्पना से दर्शन में समर्थ चित् की स्मृतिकल्पना नहीं दिखाई देती, ऐसा कहते हैं।

चित् के प्रसाद से आज भी संकल्प, स्वप्न आदि का अनुभव होता है शुद्ध चिदाकाशरूप नगर का (जगत् का) चित् के प्रसाद से कैसे स्मरण न होगा ? ॥४२॥

अतएव गुण, दोष आदि में स्मरण से हर्ष, क्रोधरहित तत्त्वज्ञानी कुम्हार के चाक की तरह प्रारब्ध के वेग से ही भ्रमण करते हैं, ऐसा कहते हैं।

हर्ष, क्रोध आदि से विहीन ज्ञानी चक्रों के समान दुःखपूर्ण हो चाहे सुखप्रद हो प्रस्तुत (प्रारब्ध प्राप्त) मार्ग से ही चलते हैं ॥४३॥

बाधित स्मृति स्मृति नहीं है किन्तु वह अधिष्ठानमात्र का परिशेष है, ऐसा कहते हैं।

निद्रा की समाप्ति होने पर स्वप्ननगर विषयक स्मृति में जैसे अधिष्ठानमात्र का परिशेष रहता है वैसे ही तीनों जगत् के भ्रम को भी परम चिदाकाशात्मक समझो। संवित् का आभासमात्र ही जो 'जगत्' शब्द से कहलाता है उसे भी तुम केवल शान्त चिदाकाश ही जानो अन्य कुछ नहीं ॥४४,४५॥

क्योंकि सब प्रकार शान्त चित् ही सब कुछ है, यह कहते हैं।

जिसमें सब है, जिससे सब है, जो सब है, जो सब तरफ से है वही सर्वात्मा सर्वदा सर्वरूप से सर्वत्र स्थित है। यह ब्राह्मी सृष्टि जिस प्रकार है, आगे जो होगा और जिस प्रकार इस दृश्य जगत् का भान होता है यह सब मैंने आपसे कहा। हे ब्राह्मणों ! अब आप दोनों उठिये, प्रातःकाल होते ही भ्रमर जिस प्रकार कमल पुष्प के पास जाते है वैसे ही अपने अभिष्ट सत्कर्मों का शीघ्र विधान कीजिये। मुझे समाधि से रहित अवस्था में अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिए मैं फिर समाधि में प्रवेश करता हूँ ॥४६–४८॥

एक सौ चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचासीवाँ सर्ग

उन दोनों का गृह-आगमन, वहाँ भाईयों का क्रमशः क्षय और
श्रीरामचन्द्रजी की प्राप्ति से कुन्ददन्त के मोहोच्छेद का वर्णन।

कुन्ददन्त ने कहा : वृद्ध मुनि ने भी इतना कहकर ध्यान से आँखें मुँद लीं। प्राणवायु और मन के स्पन्दनरहित होने से वह चित्रलिखित जैसा हो गया। हम दोनों के विनय और स्तुतिमय वाक्यों से बार-बार प्रार्थना करने पर भी बाह्यवृत्तिशून्य होने के कारण संसार को न जानते हुए उसने फिर उत्तर नहीं दिया। मुनि के वियोग से उदास हुए हम दोनों उस प्रदेश से धीरे धीरे चलकर कुछ दिनों के बाद प्रसन्न बन्धु-बान्धवों से युक्त घर में पहुँचे। इसके अनन्तर घर में कुलदेवता के आराधनादि उत्सव कर नाना प्रकार की प्राचीन कथाएँ कहकर हम तब तक स्थित रहे जब तक वे सातों भाई प्रलयकाल में सप्त समुद्रों की भाँति क्रम से विलीन न हो गये। केवल वह एक मेरा मित्र ही आठवें समुद्र की भाँति विलीन होने से बचा रह गया। फिर कुछ काल के अनन्तर वह मेरा मित्र भी दिन के अन्त में सूर्य की भाँति अस्त हो गया (मर गया) और उसके विरह दुःख से व्याप्त हुआ मैं अत्यन्त दुःखी हुआ। तब दुःखी हुआ मैं उस दुःख का नाश करने के लिए और उस प्राक्तन ज्ञान को आदरपूर्वक पूछने के लिए फिर उसी कदम्बतरू-तपस्वी के पास गया। वहाँ तीन महीने के अनन्तर वह मुनि समाधि से विरत हुआ। नम्रता के साथ मेरे प्रश्न करने पर वह इस प्रकार बोला॥१-८॥ कदम्बतरू तपस्वी ने कहा : मैं समाधि से विरत होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता। मैं फिर शीघ्र ही त्वरापूर्वक समाधि में ही प्रवेश करता हूँ॥९॥ हे निष्पाप, इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यास के बिना तुम्हें नहीं लगेगा, अतः दूसरी युक्ति सुनो और वैसा ही करो। अयोध्या नाम की नगरी है। वहाँ दशरथ नाम के राजा हैं। उनके पुत्र राम नाम से प्रसिद्ध हैं॥१०,११॥ वहाँ तुम उनके पास जाओ, क्योंकि उनके कुलगुरु वसिष्ठनामक मुनिश्रेष्ठ उन श्रीरामचन्द्र के लिए सभा में मोक्षउपाय की दिव्य कथा कहेंगे। हे द्विज, चिरकालतक उसे सुनकर तुम उस पावन परम पद में मेरी ही तरह विश्रान्ति को प्राप्त हो जाओगो। इतना कहकर वह मुनि समाधानरूप औषधि के समुद्र अर्थात् समाधि में प्रविष्ट हुआ और मैं यहाँ आपके पास प्राप्त हुआ हूँ। यही मैं हूँ और यह मेरा वृत्तान्त जैसा हुआ, जैसे देखा और जैसे सुना वह सम्पूर्ण मैंने कह दिया॥१२-१५॥ श्रीरामजी ने कहा : हे गुरुवर, इत्यादि कथाओं को कहने में चतुर वह कुन्ददन्त उस दिन से सदा मेरे समीप ही रहता है। वही यह कुन्ददन्त नामक द्विज मेरे पास बैठा हुआ इस सभा में मोक्षउपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिता को सुनता था॥१६,१७॥

इस प्रकार प्रश्न का उपोद्घात करके अब प्रष्टव्य अंश कहते हैं।

वही यह मेरे समीप बैठा हुआ कुन्ददन्त नामक द्विज है, यही आज संशयरहित हुआ या नहीं यह इससे कृपा कर पूछिये॥१८॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी के इतना कहने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ मुनिप्रवर वसिष्ठजी कुन्ददन्त की ओर देखकर बोले : हे अनघ, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, कुन्ददन्त, कहो मेरे कहे हुए मोक्ष देनेवाले इस शास्त्र को सुनकर तुमने किस ज्ञातव्य को जाना ? कुन्ददन्त ने कहा : भगवन्, सम्पूर्ण संशयों का विनाशक मेरा चित्त ही मेरी विजय के लिए है। मेरे सभी सन्देहों की निवृत्ति

हो गई है, क्योंकि अवश्यज्ञेय अखंडित ब्रह्मतत्त्व मैं जान चुका हूँ ॥१९-२१॥

ज्ञानमात्र से मोह की निवृत्ति हो जाने से अन्य ज्ञातव्य, द्रष्टव्य और लब्धव्य का भी परिशेष न रह जाने से अपनी कृतकृत्यता दर्शाते हैं।

ज्ञातव्य जो अमल था उसे मैं जान चुका, अक्षत द्रष्टव्य को मैंने देख लिया, सम्पूर्ण प्राप्तव्य को मैं प्राप्त कर चुका अब इस ब्रह्मरुप परम पद में विश्रान्त हूँ ॥२२॥ यह आत्मचिति आपसे मैंने जान ली है। यह सब अखण्ड परमार्थघन आकाश में आत्मा से अनन्य जगत्‌रूप से स्फुरित है। सर्वात्मक होने से सर्वरूपी सर्वव्यापी आत्मा का सभी कुछ सब प्रकार से सर्वत्र सर्वदा पूर्णरूप से संभव होता है। सरसों के कण के अन्दर भी सर्वकल्पनाशक्तियुक्त अधिष्ठानभूत चित् का अस्तित्व होने से उसके अन्दर भी मायादृष्टि से अनन्त जगतों का संभव है, किन्तु इस चित् का पूर्णरुप से ज्ञान होने पर तो वास्तविक दृष्टि से कहीं पर भी जगतों का संभव नहीं है। गृह के अन्दर ही सप्तद्वीपा पृथ्वी उत्पन्न होती है और गृह शून्य ही है। यह निःसंन्देह सत्य है ॥२३-२६॥

अब मायासहित ब्रह्मतत्त्व का निष्कर्ष निकालकर उपसंहार करते हैं।

जो-जो वस्तु जब जब जिस प्रकार से भासित होती है और प्राणियों से उसका अनुभव किया जाता है वह वह वस्तु उस उस समय केवल सर्वघन आत्मा ही उस रूप से है अर्थात् सर्वघन आत्मा ही सब प्राणियों के लिये सभी समय सर्व-भाव रूप से बोध का विषय है। अणुमात्र भी उससे भिन्न किसी से कहीं किसी प्रकार अनुभूत नहीं होता। इस प्रकार आदि अन्त से विहीन ब्रह्म ही सब कुछ है ॥२७॥

एक सौ पचासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छियासीवाँ सर्ग

इस सर्ग में 'सब कुछ ब्रह्म ही है' यह सिद्धान्त अटल किया जाता है और ब्रह्माजी के संकल्प से वर और शापों की अर्थसिद्धि अटल की जाती है।

पहले कुन्ददन्त द्वारा वर्णित मायाशबल ब्रह्मतत्त्व को दृढ़कर श्रीवसिष्ठजी मायारहित शुद्ध ब्रह्म का वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए, ऐसा कहते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : कुन्ददन्त के यों कहने पर परम श्लाघनीय भगवान् श्रीवसिष्ठ मुनिजी ने यह परमार्थोचित वचन कहा ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हर्ष की बात है कि इस महात्मा के, शास्त्र के श्रवण से उत्पन्न ज्ञान की पूर्णता हो चुकी है। यह, सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है यह बात हस्तामलकवत् देखता है। केवल भ्रान्तिमात्र स्वरूप यह विश्व जन्मादिरहित ब्रह्म इसे मालूम होता है, अतः भ्रान्ति भी इसे शान्त, एक और निर्विकार ब्रह्म ही प्रतीत होती है ॥२,३॥

शबलब्रह्मनिष्कर्ष-दृष्टि से इसने जो यह वर्णन किया है वह भी उचित ही है, ऐसा कहते हैं।

जो जैसे जिसके द्वारा जिस अधिकरण में जिस प्रकार का जब तक जिस काल में जिससे होता है वह वैसे उसके द्वारा उस अधिकरण में उस प्रकार का तब तक उस काल में शिव, शान्त, जन्मादिरहति, मौन, अमौन, अजर, सर्वव्याप्त, सुशून्य, अशून्य, आदि-अन्तशून्य, अक्षय ब्रह्म ही है ॥४,५॥

मायाशबल चित् के द्वारा जिस जिस अवस्था का संकल्पातिशय किया जाता है वह वह अवस्था

जलसे सींची गई लता की तरह सहस्रों शाखाओं को प्राप्त होती है। ब्रह्माण्ड ही परम अणु है, क्योंकि वह चिदाकाश के मध्य में स्थित है और परमाणु ही ब्रह्माण्ड है, क्योंकि उसमें सारा जगत् व्याप्त है ॥६,७॥

जगत के ही ब्रह्म होने का फल कहते हैं।

इसलिए यह समस्त जगत् चिदाकाश, आदिमध्यरहित, अखण्ड, सौम्य और मोक्षरूप है। अतः जिसका शरीरादिवैचित्र्यरूप बन्धन अस्त हो चुका है ऐसे तुम निरामय आत्मस्वरूप ब्रह्म ही होकर स्थित रहो। व्यवहार में तो ब्रह्म स्वयं दृश्य है, स्वयं द्रष्टा है, स्वयं चेतन है, स्वयं जड़ है, स्वयं सब कुछ है और स्वयं कुछ नहीं भी है, वास्तव में तो वह अद्वितीय स्वप्रकाशानन्द एकरस आत्मा में ही स्थित है ॥८,९॥ यह ब्रह्म जगत्रूप आत्मचिदाकाश में जहाँ जैसा रूप धारण करता है वहाँ अपने स्वरूप को न छोड़ता हुआ वैसा ही हो जाता है। ब्रह्म अपनी माया से दृश्यजगत्रूप में उत्पन्न हुआ इससे ब्रह्म और जगत् यों द्वैत की सिद्धि नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि वह तो यथावत् अविकृत ही है। शून्यत्व और आकाश की तरह ब्रह्म और जगत्–इन दोनों को एक ही समझो। दृश्य जगत् ही परम ब्रह्म है और परम ब्रह्म ही दृश्यता है। यह न तो शान्त है, न अशान्त है, न आकृतिविहीन है और न आकृतिवाला ही है ॥१०–१२॥

प्रतीयमान देहादि आकृति का कैसे अपलाप करते हैं? इस शंका पर कहते हैं।

जिस प्रकार प्रबोध होनेपर (जागनेपर) स्वप्नादि निराकार भासते हैं, वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर यह देह भी निराकृति भासता है, केवल संवित्स्वरूप साकार और स्वानुभूत होनेपर भी जैसे स्वप्नादि असन्मय हैं वैसे ही देह भी असत् ही है ॥१३॥

संवित् का भी जड़स्थावरता में दृष्टान्त देते हैं।

जैसे चेतन स्वरूपवाला (संवित्मय) जन्तु भी निद्रात्मा होकर जड़ हो जाता है उसी प्रकार यह स्थावरनामिका संवित् भी जड़ हो जाती है ॥१४॥

चित् के स्थावरभाव की प्राप्ति के अनन्तर जंगमभाव में अभिव्यक्ति में दृष्टान्त देते हैं।

जैसे सुषुप्तात्मा जीव स्वप्न और जाग्रत् को सैकड़ों जगतों की कल्पनाओं से जाता है वैसे ही चिति स्थावरत्वरूप जड़ से जंगमस्वरूप चित्त्व को प्राप्त होती है ॥१५॥

जीव की कितने समय तक स्थावरत्व और जंगमत्व की स्थिति रहती है? इस प्रश्न पर कहते हैं।

मोक्ष होने तक जीव की यह स्थिति भूमि, जल, वायु, तेज और आकाश में स्वप्नतुल्य आकाशस्वरूप (शून्यरूप) लाखों जगतों के साथ भासती है। जैसे मनुष्य निद्रास्थिति का ग्रहण करता है वैसे ही चिति जड़ता का अपने में आरोप करती है फिर भी उसका चितित्त्व अव्याहत ही रहता है। वह अध्यस्त जड़ता से अपने में जड़ता का आरोप नहीं करती, वास्तव में जड़ता को प्राप्त नहीं होती। जैसे चिति जाड्यवेदनवेत्ता जीव के प्रति स्थावर शरीर बनाती है वैसे ही चिति जाड्यवेदनवेत्ता जीव के प्रति जंगम शरीर भी बनाती है ॥१६–१८॥

वैसा करने पर भी (जीव के प्रति अपने स्थावर और जंगम शरीर बनाने पर भी) चित् का भेद नहीं होता, किन्तु महाचित् का अपने में अध्यस्त सब अचेतन और चेतन नख, पैर आदि के समान अवयवरूप

ही हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे पुरुष के नख, पैर आदि एक ही शरीर हैं (शरीर के अवयव हैं) वैसे ही चित् का स्थावर और जंगम एक ही अमूर्त शरीर है। आदिम सृष्टि में हिरण्यगर्भ का (ब्रह्मा का) प्राथमिक सृष्टि में हेतुभूत संकल्प होने पर चित् का जगत् नाम का जो रूप जिस तरह प्रथा को (प्रसिद्धि को) प्राप्त हुआ वह इस समय भी वैसे ही स्थित है। इस तरह चिरकाल से जड़ के रूप से यद्यपि वह स्थित है तथापि चिन्मय होने के कारण अप्रतिघ (अमूर्त), शान्त, ज्यों-का-त्यों स्वरूप से स्थित, कुछ भी प्रथा को नहीं प्राप्त हुआ, अतः वह अप्रथित है, यों उसके अपवाद द्वारा सृष्टि का अन्त कहा जाता है ॥१९-२१॥

इस प्रकार सृष्टिमात्र की त्रिकाल में असत्ता होने के कारण उसकी आदि और अन्त कल्पना भी मिथ्या है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वाप्नप्रपंच की सुषुप्ति आदि प्रबोधान्तता निद्राकोष्ठ के अन्दर ही कल्पित होती है न कि प्रबोधकोष्ठ के अन्दर वैसे ही सुघन निद्रावाली चिति के सुषुप्ति-स्वप्नकोष्ठ से ही सृष्टि का यह आदि है, यह अन्त है यों आदि-अन्त का भान होता है वास्तव में असत् सृष्टि का आदि और अन्त क्या हो सकता है ? चूँकि मुझ ज्ञानी के प्रति अद्वितीय (अखण्ड), आदि और अन्त से शून्य (जन्म-नाशविहीन) परमार्थघन ही है, अतः सृष्टि, स्थिति और प्रलयों का नाम भी नहीं है, उनके रूप की बात तो दूर रही ॥२२,२३॥ भ्रान्तिवश दिखाई दे रहे सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि का अस्तित्व नहीं है जैसे चित्रलिखित चित्रवधू चित्र से व्यतिरिक्त नहीं है वैसे ही दृश्यमान यह सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप जगत् आत्मा से अन्य नही हैं। जैसे चित्रकार द्वारा बनाई जानेवाली चित्रलिखित सेना बुद्धिस्थ चित्र से भिन्न नहीं है वैसे ही मूर्त सर्गता (सृष्टि) भी स्रष्टा की चित्ततादशा में नाना प्रतीत होती हुई भी अनाना ही है ॥२४,२५॥ यद्यपि चिद्घन निद्रारूप अविद्या विभागहीन है तथापि वह सुषुप्तिरूप आवरण से वास्तविक स्वरूपभूत भी मोक्ष नाम से प्रसिद्ध भाग को चुरा लेती है, यानी उसके अस्तित्व का अपलाप कर देती है इतना ही नहीं करती प्रत्युत चित्त बनकर वह इस जाग्रद्भाग और स्वप्न को दिखलाती है ॥२६॥ यह प्रलय है, यह सृष्टि है, यह स्वप्न है, यह जाग्रत है ये सब प्रज्ञानघनतारूप सुषुप्तिवाले आत्मसूर्य के इस तरह के विभिन्न प्रकाश हैं, स्फुरण हैं। उनमें चित् निद्रा का उद्भूतवासनावाला जो स्वप्नभाग है वही उपाधिरूप अंश की प्रधानता से चित्त कहा गया है, चिदंश की प्रधानता से जीव हो वही देवता, असुर,मनुष्य आदि अधिकारियों के शरीरों का द्रष्टा होकर तत्त्वज्ञान से चित् निद्रा को हटाकर मुक्त होता है। चौथी और पाँचवीं भूमिकाओं में ज्ञात हुआ वही जब छठी भूमिका में स्वयं सुषुप्ति होता है तब सातवीं भूमिका में मुक्ति की अभिलाषा करनेवाले पुरुषों द्वारा 'मोक्ष' कहा जाता है ॥२७-२९॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, देवता, असुर, मनुष्य आदि स्वरूप चित्त देवता, असुर, मनुष्य आदि के भेद से कितना बड़ा है और उसके अवयवों की बनावट कैसी है ? चित् निद्रा कैसी है और उसके पेट में जगत् कितना बड़ा और कितने समय तक रहता है एवं स्वात्मदर्शन कैसे होता है ? ॥३०॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, चित्त को आप मनुष्य, देवता, असुर, स्थावर, स्त्री, हाथी, पर्वत, भूत, प्रेत, पिशाच आदि, पक्षी, कीट, पतंग आदि और राक्षस जानिये। उसका प्रमाण भी आप अनन्त जानिये जहाँ पर परमाणु से लेकर ब्रह्मादिस्थावरात्मक हजारों जगत् समाते हैं ॥३१,३२॥

चित्त के विपुलत्वातिशय को भी अनुभव में आरूढ़ कराते हैं।

ऊपर की ओर दृष्टि फेंकने पर जो यह सूर्यमार्ग से ऊपर ध्रुव, अन्धकारादि प्रदेश में चाक्षुष ज्ञान जाता है इतने बड़े प्रमाणवाला चित्त है यों उसकी निःसीमता और निर्मल आकृति सबके अनुभव से सिद्ध हैं। यह चित् का उग्र (असहनीय संसारदुःखमय होने के कारण उग्र) रूप है इसी समष्टिस्वरूप चिद्रूप के अन्दर भुवनसमृद्धियाँ जब ब्रह्माण्ड आदि की कल्पना द्वारा आती हैं तब सृष्टि होती है उसे हम लोग चित्त से आई हुई कहते हैं। चित्त को ही ज्ञानी लोग 'जीव' जानते हैं, वह आदि अन्तविहीन (व्यापक) है। अतएव वह जैसे आकाश घड़ों में रहता है वैसे ही सकल देहों में रहता है। व्यष्टिरूप से देह से उत्क्रमण होने के कारण ब्रह्मा की इच्छा से देहों में नहीं भी रहता है ॥३३–३५॥ हे वत्स, जैसे नदी का धाराप्रवाह नीचे–ऊँचे भूमिभागों को ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है वैसे ही मन विविध शरीरों को ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है। जैसे यह मरूभूमि है जल नहीं है इस ज्ञान से मरूभूमि में जल की प्रतीति शान्त हो जाती है वैसे ही आत्मा के परिज्ञान से इसकी यह देहादिभ्रान्ति शीघ्र शान्त हो जाती है ॥३६,३७॥

इस प्रकार सकल जगद्गर्भित मन की परमाणुरूपता ही है, ऐसा कहते हैं।

जगत् में जलान्तर्गत सूर्यकिरणों में सबसे छोटे अणु का जो प्रमाण प्रसिद्ध है वही चित्त का परिमाण है। वही जीव है, क्योंकि 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' ऐसी श्रुति है। इसलिए पुरुषों के (जीवों के) अन्दर जगत् स्थित है ॥३८॥

इस प्रकार जीव और जगत् के भेद का भी परिमार्जन हो गया, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्नभूमियों में जो कुछ भी दृश्य है वह सबका सब चित्त ही है वैसे ही जाग्रतजगत् में भी जो कुछ भी दृश्य है वह सम्पूर्णतया चित्त ही है वही जीव है, इसलिए जगत् और जीव में कौन भेद है ? ॥३९॥

जीव और जगत् का अभेद सिद्ध होने पर जगत् की चिन्मात्रता भी अपने आप सिद्ध हो गई, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न में सकल पदार्थसमूह चित् ही हैं और जैसे सुवर्ण में कुण्डल, कटक आदि रूपता सुवर्ण ही है वैसे ही यह सम्पूर्ण पदार्थराशि चित् ही है। यदि इसे चित् से भिन्न मानो तो इसमें सत्ता और स्फूर्ति का लाभ न होने के कारण यह अलीक (मिथ्या) हो जायेगी, इससे व्यतिरिक्त पदार्थता ही सिद्ध न होगी ॥४०॥ जैसे सागररूप एक प्रदेश में एकत्र होकर स्थित हुई ही जलराशि फेन, बुद्बुद्, लहर, आवर्त आदि पृथक् रूप से स्फुरित होती है वैसे ही ब्रह्म में भी नित्यस्थित अभिन्न दृश्यरूप चितियाँ पृथक् रूप से स्फुरित होती हैं ॥४१॥

उनकी ब्रह्म से अभिन्नता में जलद्रवता का दृष्टान्त देते हैं।

जैसे सागर में सागरकुक्षिस्थित जलराशि द्रवरूप से स्फुरित होती है वैसे ही अभिन्न पदार्थ राशियाँ परमब्रह्म में स्फुरित होती हैं। यथास्थित जगद्रूप प्रतिमाओं की अत्यन्त शून्यता को धारण करनेवाला चित्रूपी यह स्तम्भ अटल होकर खड़ा है, जो आदिअन्तविहीन है। स्वप्नभूमि के तुल्य संविदाकाश में यथास्थित यह सारा–का–सारा विश्व अपने शान्त निर्मल स्वरूप का त्याग किये बिना स्थित है ॥४२–४४॥

कैसे शान्त है, कैसे अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता है ? इस आशंका पर कहते हैं।

इन विश्व और संवित् की परस्पर समता, सत्यता, सत्ता, एकता, निर्विकारता पाँच प्रकारों से भेद की प्रतीति न होने के कारण वह शान्त है और आधारआधेयभाव से स्तम्भ और प्रतिमा के तुल्य थोड़ा-बहुत भेद का आभास होने से वह स्वरूप का त्याग नहीं करता यह अर्थ है ॥४५॥

विश्व और संवित् में प्रातिभासिक भेद है वास्तव में तो भेद का अभाव है, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न और संकल्प के संसार की तरह वर और शापसे नन्दी और नहुष के देवत्व और सर्पत्व प्रतिभान दृष्टियों का तालाब, सागर और नदी के जलों की तरह व्यवहारयोग्य भेद है, परमार्थतः भेद नहीं है ॥४६॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, वर और शापरूप अर्थ संवित् में कार्यकारणता कैसे हो सकती है ? उपादान के बिना कार्य हो ही नहीं सकता इसे आप कृपाकर कहें। *नन्दी के मनुष्य-शरीर में देव-शरीर का उपादानभूत चन्द्रामृत नहीं है इसी तरह चन्द्रामृतरचित नहुष के देव-शरीर में साँप के शरीर के उपादानभूत सर्प अंडे आदि नहीं हैं। उपादान के बिना संसार में कहीं पर भी कार्य नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में वहाँ दोनों जगह नन्दी और नहुष में देवता और सर्प के शरीर की सिद्धि कैसे हुई ? यह श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का आशय हैं ॥४७॥*

निरावरण ज्ञानवाले भगवान् श्री शंकर और अगस्त्यादि ऋषियों की सत्यसंकल्पअवच्छिन्न चिति ही वहाँ पर देव और सर्प के शरीररूप से विवर्तित होती है, इसलिए विवर्तवाद में इस आक्षेप का अवकाश ही नहीं हैं, यों उत्तर देने के लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागर में जलराशि का स्फुरण होने पर आवर्तगति होती है वैसे ही अत्यन्त अवदात (निर्मल) यानी तत्त्वज्ञान से खूब विमृष्ट होने के कारण अत्यन्त निर्मल चिदाकाश का सत्यसंकल्पानुसारी जो स्फुरण है वही जगत् कहा जाता है, यह बात मैं अनेक बार कह आया हूँ ॥४८॥ विधाता की आत्मचिति में समुद्र में जलराशि की तरह जगद्भावों का अकस्मात् भान होता है जो चिदात्मस्वरूप ही हैं। उन भानों का 'सोऽकामयत', 'तदैक्षत', 'समक्लृपतां द्यावापृथिवी' इत्यादि श्रुतियाँ और मनीषी ऋषि लोग संकल्प आदि नाम कहते हैं ॥४९॥ दीर्घकाल से, अभ्यास से, विचार से, शत्रुमित्र आदि में समदर्शन से, देवता की जाति की सात्त्विकता से और सात्त्विक निर्मल स्वरूप से सम्यक् ज्ञानवान् अतएव वास्तविक अर्थ को देखनेवाले ज्ञानी पुरुष की बुद्धि द्वैत और ऐक्य से वर्जित चिन्मात्ररूप होती है। निरावरण (आवरणरहित) विज्ञानमयी ब्रह्मरूपिणी चिति का एकमात्र संवित् प्रकाश ही शरीर है उसके अतिरिक्त उसका कोई शरीर नहीं है। आवरणशून्य विज्ञानवाला पुरुष शान्त अपने आत्मस्फुरणरूप सम्पूर्ण संकल्पमात्र को सकल रूप से देखता है उस सबको परमार्थ अभिन्न देखता है, यह उसके संकल्प की सत्यता में उपपत्ति है। जैसे हमारा संकल्पनगर संकल्पमात्र है जैसे स्वप्न का शहर संकल्पमात्र है वैसे ही इस प्रकार के यानी निरावरण ज्ञानवाले ब्रह्मा का चारों ओर दिखाई दे रहा यह सारा जगत् संकल्पमात्र ही है। इस प्रकार दूसरा भी अपने संकल्प में श्रेष्ठ निरावरण आत्मा ही यों जैसे जैसे जिसका संकल्प करता है उसके प्रति वह वैसा वैसा होता है। जैसे बालक संकल्प-नगर में शिलाओं के उड़ाने का, जिसमें स्वाधीन नियन्त्रण है, अनुभव कर शीघ्र ही उसे सत्य समझता है वैसे ही हिरण्यगर्भादि निरावरणात्मा में भी

अपने संकल्परूप इस त्रिजगत् में वर, शाप आदि को अपने से अभिन्न सत्य जानता है । जैसे संकल्पनगर में अपनी कल्पना से बालू से तेल निकलता है वैसे ही यहाँ पर ब्रह्मा के संकल्परूप जगत् में सृष्टि के संकल्पों से कल्पनावश हिरण्यगर्भादि आत्मा से वर, शाप आदि अर्थ की बिना उपादान कारण के सिद्धि होती है । जिसके ज्ञान का आवरण नहीं हटा उसकी भेदबुद्धि शान्त नहीं होती, इसलिए द्वैत के संकल्प से उस अज्ञानी के वर, शाप आदि अर्थ सिद्ध नहीं होते ॥५०–५९॥

निरावरण ज्ञानवालों की कल्पना वैसी दूसरी कल्पना का उदय होने तक नहीं मिटती, यह कहते हैं ।

निरावरण ज्ञानवाले ब्रह्मा की जिस कल्पना की पहले जड़ जमी वह आज भी ज्यों–की–त्यों स्थित है तब तक ज्यों–की–त्यों रहेगी जब तक अन्य कल्पना द्वारा प्रयत्न से परिवर्तित नहीं होगी ॥६०॥

निरवयव निरावरण ज्ञानवाले में उससे विपरीत (सावयव और सावरण ज्ञान) वर, शाप आदि कल्पना कैसे रह सकती है ? इस प्रश्न पर कहते हैं ।

अवयवशून्य ब्रह्म में द्वित्व और एकत्व वैसे ही स्थित है जैसे कि सावयव वस्तु में विचित्र अवयवों का क्रम स्थित रहता है ॥६१॥

तब तो निरावरणज्ञानशून्य केवल उग्र तपस्वियों के वर, शाप आदि मोघ (निष्फल) होंगे ? इस आशय से कहते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, निरावरण ज्ञान से शून्य केवल उग्र तप आदि धर्म करनेवाले तपस्वी जैसे क्रोधवश शाप और अनुग्रह से वर आदि देते हैं वैसा मुझसे कहिये ॥६२॥

उनके भी वर और शाप आदि की सत्यता हो, सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के संकल्प से ही उनकी मोघता (निष्फलता) नहीं होती है यह उत्तर देने के लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, चूँकि आदिम सृष्टि में ब्रह्म ब्रह्म में जिसका संकल्प करता है वह उसीका अनुभव करता है इसलिए सबकी ब्रह्मता है, उसका (ब्रह्मता का) प्रतिबन्धक अन्य नहीं है ॥६३॥ चूँकि यह प्रजापति ब्रह्मा अपने को ब्रह्म जानता है, इसलिए यह ब्रह्म ही है । जैसे – जल से द्रवत्व भिन्न नहीं है वैसे ही यह भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है । श्रुति भी कहती है – तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्' इत्यादि ॥६४॥ यह प्रथम प्रजापति जो जो संकल्प करता है शीघ्र वह वैसा ही हो जाता है । उसीकी कल्पना यह जगत् है ॥६५॥

वह कल्पना कैसी है ? यह बताते हैं ।

आधाररहित, निरालम्ब चिदाकाश ही अपने स्वरूप में जगत्‌रूप से भासमान होता है जैसे कि किसी दूषित दृष्टिवाले पुरुष को आकाश में वर्तुलाकार केशों का गुच्छ या मोतीयों की पंक्ति दीखती है ॥६६॥ उस प्रजापति ने (ब्रह्माने) विविध प्रजा, धर्म, दान, तपस्या, गुण और ज्ञान का उपदेश करनेवाले वेद, शास्त्र तथा पंचभूतोंका संकल्प (सृष्टि) किया है ॥६७॥ उस प्रजापति ने यह भी कल्पना की कि वेदवेत्ता तपस्वी लोग वादों से अथवा स्वाभाविक वृत्ति से जो कहें वह शीघ्र ही हो जाय ॥६८॥

इस प्रकार समग्र वस्तुओं के भिन्न–भिन्न स्वभावों की भी उसी ने रचना की है, यह कहते हैं ।

इस ब्रह्म की चेतनता, आकाश की सच्छिद्रता, वायु की सचेष्टता, अग्नि की उष्णता, जल का द्रवत्व, भूमिका काठिन्य आदि सब उसीने रचा है ॥६९॥

इस प्रकार यह सब कल्पना प्रजापतिरूप चिदाकाश की ही रचना है, यह कहते हैं।

इस चिदात्मा का ऐसा स्वभाव है कि आकाशात्मा भी यह जो जो विचार करता है सत्यसंकल्प होने से उस सबका शीघ्र ही तुम्हारे, मेरे और उसके सदृश अनुभव करता है। वह चिदाकाश जिस वस्तु को जैसा समझता है वह वस्तु पूर्णरूप से वैसी ही हो जाती है, जैसे स्वप्न में तुम हम आदि स्वप्न पदार्थ हो जाते हैं, सद् आत्मा भी वह असद्रूप (जगद्स्वरूप) हो जाता है॥७०,७१॥ जिस प्रकार संकल्पनगर में शिलानृत्य भी सत्य होता है उसी प्रकार ब्रह्मा के अधिकाररूप प्रारब्ध को भोगने के लिए अभीष्ट संकल्पनगररूप यह जगत् भी सत्य है॥७२॥

श्रेष्ठ पुरुष के संकल्प से जन्य वरशापआदि को लोग उसके विपरीत संकल्प से क्यों नहीं उलट सकते ? इस पर कहते हैं।

शुद्ध चित्स्वभाववाले प्रजापति आदि ने जो जाना है और जो जैसा है उसे कीड़े की तरह अशुद्ध कोई पुरुष अन्यथा करने के लिए समर्थ नहीं है॥७३॥

अशुद्ध स्वभाववालों को अस्वतंत्र कल्पनाओं के अभ्यास की दृढ़ता रहती है। इससे भी तद्विरुद्ध कल्पना की स्वतन्त्रता उनमें नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जिसे जाग्रत्काल में 'मैं लोहों की सिकड़ियों से जकड़ा हुआ हूँ' ऐसा दृढ़तर संस्कार है वह जैसे स्वप्न में भी अपने को लोहे की सिकड़ियों में जकड़ा हुआ देखता है वैसे ही वर्तमान जाग्रत् में भी यह सब सत् है यों बारबार अभ्यस्त को ही संवित् देखती है अनभ्यस्त 'यह असत् है' यह नहीं देखती॥७४॥

इसी प्रकार कल्पित त्रिपुटीवेष से स्फुरण होने पर भी चित् का उदासीन साक्षिस्वभाव से भी सर्वदा स्फुरण होता ही है, यह कहते हैं।

चिदाकाश चिदाकाश में स्फुरित हो रहे एक इस अपने द्रष्टादृश्यात्मक स्वरूप को देखता हुआ सर्वदा प्रकाशित होता है। वह उससे भिन्न नहीं है॥७५॥

साक्षिचैतन्य त्रिपुटी की (द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की) व्याप्ति के बल से ही उसकी सत्ता का सम्पादक है, यह कहते हैं।

एक चित्सत्ता के उपजीवी होने से द्रष्टा और दृश्य एक ही है, क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है। इसलिए जो–जो इच्छित पदार्थ जहाँ दीखे वह वहाँ सर्वदा सत् ही है। वायु–शरीरवर्ती स्पन्दन की तरह तथा जलांगवर्ती द्रवत्व की तरह जैसे ब्रह्म में ब्रह्मत्व अर्थात् जगदाकार से परिणत होने में हेतुभूत मायाशक्तिमत्त्व है वैसे ही जन्मरहित इस विराट् के अंग से उत्पन्न यह जगत् है॥७६,७७॥

पहिले तो बारबार ब्रह्म में जगत् अध्यस्त है ऐसा कह चुके हैं अब यह जन्मरहित विराट् का अंगवर्ती है यह कैसे कहते हैं ? इस शंका पर कहते हैं।

विराट्रूप ब्रह्म ही मैं हूँ, विराट्रूप आत्मा का देह ही जगत् है। ब्रह्म और जगत् में शून्यत्व और आकाश की तरह कोई भेद नहीं है। जैसे पर्वत से गिरनेवाले झरने में जल की विचित्र कणपंक्तियाँ गिरती हैं और ऊपर उछलती हैं वैसे ही विचित्र देश और काल भी इस ब्रह्म में ही आविर्भूत और तिरोहित होते दिखाई देते हैं॥७८,७९॥

जैसे कल्पपर्यन्त एक ही धारा से गिरकर जलकण, जो मन, बुद्धि आदि से रहित हैं, सहस्रों

करोड़ भेदों में विभक्त होकर भी फिर अपने एक प्रवाहरूप में ही भासते हैं वैसे ही विचित्र ब्रह्मसंवित् (जगद्भेद) भी आत्मा से निकलकर करोड़ों भेदों में विभक्त होकर फिर स्वात्मा में ही भासती हैं ॥८०॥ केवल इतनी ही विशेषता है कि कणपंक्तियाँ मनोबुद्धिआदि से वर्जित है किन्तु उन ब्रह्मसंविदों ने तो स्वस्वदेहों में मनोबुद्धिआदि की स्वयं कल्पना करके, जलों की द्रवता की भाँति सर्ग की शोभा को भोग्यरूप से स्वीकार किया है ॥८१॥

मनोबुद्धिआदि कल्पना का त्याग होने पर तो जगत् अज्ञानमात्र पर्यवसित होता है, इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार मनोबुद्धि आदिविक्षिप्त अज्ञानस्वरूप दुर्बोध से यह जगत् है। अज्ञान से रहित मेरी दृष्टि में तो यह सारा जगद्रूपी कर्म कारणरहित, द्वैतविहीन अनुत्पन्न (त्रिकाल में अनुत्पन्न) केवल ब्रह्म ही है ॥८२॥ इस शरीर में मृतावस्था जिस तरह मनोबुद्धि आदि रहित ही अनुभूत होती है, पत्थर आदि में जड़ सत्ता जैसी है वैसी ही परमात्मा की भी मनोबुद्धि आदि रहित निर्विक्षेप सत्ता समझनी चाहिए ॥८३॥

इस प्रकार सृष्टि और प्रलय ये दोनों अज्ञाननिद्रा के अवान्तर भेद हैं, यह कहते हैं।

जैसे सुन्दर गाढ़निद्रा में सुषुप्ति और स्वप्न स्थित है वैसे ही सृष्टि और प्रलय के आभास भी ब्रह्म में स्थित हैं ॥८४॥

सृष्टि में तो सूर्यादि–प्रकाश वर्तमान है किन्तु प्रलय तो तमोरूप है अतः परस्पर विरूद्ध ये दोनों एक ब्रह्म में कैसे स्थित हैं ? इस शंका का निराकरण करते हैं।

जैसे एक ही निद्रा में स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में प्रकाश और अन्धकार का भान होता है वैसे ही परब्रह्म में सर्ग और प्रलय का भान भी होता है ॥८५॥

चित् में ही जड़ और अजड़ भेद की कल्पना में भी स्वप्न ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

जैसे मनुष्य निद्रावस्था में निज पाषाण की स्थिति का अनुभव करता है वैसे ही परमात्मा भी इस जड़ पदार्थों की स्थिति का अनुभव करता है ॥८६॥

चेतन में जाड्यानुभव की अप्रसिद्धि का वारण करते हैं।

जैसे विषयान्तर में आसक्तिवाले पुरुष के अंगुष्ठ या अन्य अंगुली से पवन, धूप या धूलि का स्पर्श होने पर उत्पन्न हुआ भी अनुभव अनुत्पन्न प्राय ही होता है यह प्रसिद्ध है। वैसा ही पाषाण आदि में विद्यमान भी अविद्यमानप्राय अनुभव जड़तारूप है ॥८७॥

ऐसे ही जड़ को भी चेतनभाव का अनुभव प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

आकाश, पत्थर, जलादि को जैसे विराट् देहभाव में अथवा तत्तदधिष्ठातृदेवता–देहभाव में अनुभव होता है वैसे ही प्रलयकाल में चित्तादि से रहित हम लोगों को आज यानी सृष्टिकाल में नाना प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं ॥८८॥ अखण्डकाल में ब्रह्मा के दिनभेदरूप जो कल्प हैं, उनमें जैसे हमारे असंख्य दिन रात्रि की प्रतीति होती है वैसे ही परब्रह्म में असंख्य सृष्टि और प्रलय संविदों का भान होता है। जिस प्रकार एकमात्र जलस्वभाववाले समुद्र में स्वभाव से ही आवर्त और तरंग वलय आदि का स्फुरण होता है उसी प्रकार विषयों का दर्शन, उनका मनन, उनका भोगरूप अनुभव और

उनकी एषणा (राग), उनकी प्राप्ति की इच्छा आदि विक्षेपों से निर्मुक्तस्वरूप शान्त परमपद में यह प्रलय और सृष्टि का पुंज भी स्वभाव से ही भासमान होता है प्रमाण से तत्त्वदर्शन हो जाने पर वह स्फुरित नहीं होता ॥८९,९०॥

एक सौ छियासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्तासीवाँ सर्ग

सम्पूर्ण पदार्थों का स्वभाव, नियति (कार्यकारणभाव आदि का नियम) तथा जीवत्व की प्राप्ति के हेतुओं की उत्पत्ति और ब्रह्मशुद्धता का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, विचित्र असंख्य पदार्थों का कार्यकारण भावादि नियमरूप नियति तथा अग्निजलादि का उष्णता, द्रवत्व आदिरूप स्वभाव इस संसार में किस हेतु से एकरूप और अचल होकर स्थित हैं ? क्योंकि स्वप्न, मनोरथ आदि अन्य मिथ्या पदार्थों में तो यह स्थिर नहीं दिखाई देता। असंख्य देवताओं में सूर्य की ही इतनी उग्र प्रभा कैसे हुई और दिवसों की दीर्घता (लम्बा होना) और ह्रस्वता (छोटा होना) किसने की ? ॥१,२॥

आदि सृष्टि में जो जो काकतालीयन्याय से विधाता को जैसा-जैसा प्रतीत हुआ वह वैसा ही अर्थक्रियादि द्वारा नियतरूप से स्थित है, विधाता की इच्छा ही उसके अव्यभिचार में हेतु है यही बात वस्तुओं के स्वभाव के विषय में भी जाननी चाहिए, इस आशय से प्रथम दो प्रश्नों का श्री वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, आदि सृष्टि में उस निश्चल परम ब्रह्म में स्वभाव से ही काकतालीयवत् नियत जो भान हुआ वह जैसा था और जिस प्रकार के कार्यकारणभाव से स्थित था वैसा ही आज भी स्थित वह जगत् शब्द से कहलाता है ॥३॥

नियत ईश्वर शक्ति का अन्यथाभाव तो हो नहीं सकता, इसलिए नियति में कोई व्यभिचार नहीं हुआ, इस आशय से कहते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा को जिस जिस का जैसे भान होता है वह वह वैसे ही सत् है। सत्यसंकल्पसंवित् संवित्सार है उसे जिसका भान होता है वह अभान कैसे होगा ? उक्त संवित्सार सत्यसंकल्पसंवित् हम लोगों के स्वप्न और मनोरथ की संवित् के समान असार नहीं है जिससे उसका भान अभानता को प्राप्त हो ॥४॥ ज्यों-के-त्यों अपने स्वरूप में स्थित ब्रह्म का, चित् होने के कारण, चिरकाल तक जैसा स्फुरण होता है माया के उदर में स्थित उसी का सृष्टिकाल में भान होता है तथा प्रलयकाल में सूक्ष्म होने के कारण वही अभानसदृश हो जाता है। वही अनादि सकल वस्तुओं की अर्थक्रियाशक्ति है और वही नियति है ॥५॥

अथवा नियत सकल अर्थक्रिया में समर्थ ब्रह्म ही जगदाकारता धारण करता है, इसलिए भी नियति प्रतिष्ठा की सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं।

यह इस प्रकार का है और यह इस प्रकार का है यों स्वयं ब्रह्म का ही जो स्फुरण है सृष्टि और प्रलय का रूप धारण करनेवाला वही नियतिनामवाला कहा गया है ॥६॥

अथवा चूँकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अज्ञात आत्मा ही स्वभाव है, इसलिए यथादृष्टि नियति का व्यभिचार नहीं होता है, ऐसा कहते है।

चित् में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का जो स्वतः स्फुरण है अत्यन्त निर्मल वह उससे वैसे ही अभिन्न है जैसे कि जल से द्रवत्व अभिन्न है ॥७॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं की चित्स्वभावता का विविध दृष्टान्तों से समर्थन करते हैं।

जैसे आकाश में शून्यता भिन्न नहीं है, जैसे कपूर में सुगन्धि अतिरिक्त नहीं है तथा जैसे धूप में उष्णता भिन्न नहीं है वैसे ही चित् में जाग्रत् आदि अवस्थाएँ अन्य (भिन्न) नहीं हैं। बीजांकुरन्याय से सृष्टि और प्रलय प्रवाह के अनादि होने से चिन्मात्रआकाशरूप सृष्टि–प्रलयनामक एक ब्रह्मस्वरूप में ही यह एक प्रवाह की अनन्य सत्ता से स्थित है इससे भी नियत अर्थक्रिया की सिद्धि है, यह अर्थ है ॥८,९॥

अतएव चित् के स्फुरण के अनुसार से ही सब नियमव्यवस्था है। क्षण में भी 'यह कल्प है' यों चित् का स्फुरण होने पर उसके अकल्पत्व का साधक दूसरा कुछ नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

क्षणभर जो चित् का स्फुरण है वह यह सर्ग है यों जाना गया है और क्षणभर जो चित् का स्फुरण है वह यह कल्प है यों जाना गया है ॥१०॥

अतएव काल, क्रिया, देश, द्रव्य आदि वस्तुभेद रूप से चित् स्फुरण ही सकल वस्तु का स्वभाव और नियति है, यह कहते हैं।

जो स्वप्न के समान अपने स्वभाव से चित् का स्फुरण है वह काल है, वह क्रिया है, वह आकाश है, वह देश, द्रव्यादि का आविर्भाव है ॥११॥ चिदाकाश में निराकार चित्तता का जो स्वाभाविक स्फुरण है, वह बाह्यपदार्थदर्शन, आन्तरिक पदार्थ मनन, देश, काल, क्रिया आदि है ॥१२॥ जो पदार्थ जिस काल में जैसा चित् से स्फुरित है जिसकी उसी ने वैसी कल्पना कर रक्खी है वह नियति भी आकाशरूप ही है, उससे अन्य नहीं है ॥१३॥

अब 'कथं स्वभावो भावानाम्' इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

कल्पनाम के ब्रह्म के निमेष तक पदार्थों का जो एक रूप से (अति उष्ण, जल शीत आदि रूप से) स्फुरण है उसीको स्वभावतत्त्ववेत्ता मतिमान् पुरुष स्वभाव (प्रत्येक वस्तु में नियम से रहनेवाला स्वभाव) कहते हैं ॥१४॥ जैसे संवित् अंशभूत जीव का सर्वानुगतचित्स्वरूप ही स्वभाव है वैसे ही अपने स्वरूप का त्याग न कर रहे अग्नि आदि एक ही वस्तु का, देश, काल आदि भेद से अनेकता को प्राप्त होने पर भी, जो एक सर्वानुगत उष्णत्व, प्रकाशरूप स्वभाव है वही उसके विविध भेदों में अनुगत स्वभाव है ॥१५॥

भद्र, संविन्मय विभिन्न वृत्तियों में भी जो चिदाभास संविदों का स्फुरण होता है वही उनका स्वभाव है। वृत्तियों के विषय पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि में उन वृत्तिआभास संविदों ने अपने शरीर–तुल्य उन वृत्तिभेदों के मध्य में जिन जिन वृत्तियों की जैसे जैसे आकार की कल्पना की, वह आकार ही उनका स्वभाव है ॥१६॥

विविध आकारों को दर्शाकर उनका पारमार्थिक स्वभाव अधिष्ठानभूत चिदाकाश ही है, यह दर्शाते हैं।

उक्त पृथिवी आदि प्रत्येक अपने अपने कार्यों के आगार (भंडार) हैं। यथा पार्थिव सब वस्तुओं का पृथिवी अनुगत स्वभाव है, जलीय सकल वस्तुओं का जल अनुगत स्वभाव है, तैजस सकल वस्तुओं का तेज अनुगत स्वभाव है, स्पन्द आदि वायवीय सकल वस्तुओं का वायु अनुगत स्वभाव है और शून्यत्वादि आकाशीय सकल पदार्थों का आकाश अनुगत स्वभाव है। उन सबका स्वप्न की तरह मायाशबल ब्रह्म ही आगार (भंडार) है। हे राजन्, उनमें इस कठिन समूर्त भाग का महान् आगार (भंडार) भूमि है वह जनता का आधार और राजा की तरह पालक है ॥१७,१८॥ गंगा आदि प्रधानभूत जलों का सकल स्व स्व विशेषों में अनुगत सागर महान् आगार तथा राजा की तरह जीवनप्रद है, अग्नि आदि तेजों का स्व स्व विशेषों में अनुगत यह सूर्य महान् भंडार तथा राजा की तरह जीवनप्रद है, स्पन्द का स्व स्व विशेषों में अनुगत पवन महान् भंडार तथा जीवनप्रद है तथा शून्यता का स्व स्व विशेषों में अनुगत आकाश महान् भंडार है ॥१९॥ इस प्रकार संवित् के आगार होने के कारण वे पंचमहाभूत ब्राह्मी संवित्‌रूप से ही उदित हैं इस प्रकार ब्रह्म ही उनके अनुगत होकर उनका स्वभाव है। इससे 'स्त्स्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया। स्वभाव–प्रश्न के उत्तर से ही उसका भी समाधान हो गया,अतः सूर्य के प्रति पृथक् प्रश्न नहीं उठता है, यह अर्थ है ॥२०॥ चिति ही संवित् कही गई है। सब कुछ की प्रकाशक होने के कारण सर्वज्ञ सर्वरूप सर्वगामिनी वह स्वप्रकाशतारूप स्वमहिमा से ही सर्वत्र स्वभावरूप परमाकार और नियति रूप से सबके द्वारा अनुभूत होती है ॥२१॥ यह चतुर्मुखनामधारी ब्रह्म–बालक स्वात्मभूत संवित् के स्फुरण आकाशरूप आवरणवाली इस पृथिवी का स्वयं ब्रह्मस्वरूप होने के कारण आकाशाकृति ही होकर अपने में विस्तार करता है ॥२२॥ जब वह मायाशबल सर्वज्ञसंवित् ब्रह्मा की संवित् के साथ स्थूल और सूक्ष्म प्रपंच का अपने में संहार करती है तब चतुर्मुखसंवित् के अंगभूत सूर्य आदि का चंचलरूप उसने उत्पन्न नहीं किया। चूँकि ऐसा है अतः उपसंहार से भक्षक पुरुष ही होता है ॥२३॥

'दीर्घत्वमथ ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किंकृतम्' इस प्रश्न का उत्तर तो ज्योतिश्चक्र में सूर्य के दक्षिणायण और उत्तरायण गति के भेद की प्रसिद्धि से ही हो गया, यों सूचित करते हुए ज्योतिश्चक्र को दर्शाते हैं।

मकड़ी द्वारा संकल्पपूर्वक बाह्य साधनों के बिना ही विरचित मक्खियों को बाँधने के जाल की तरह ब्रह्मा से केवल विविध संकल्पों द्वारा निर्मित ग्रह, नक्षत्र आदि का गृहभूत शिशुमारचक्र ज्योतिषशास्त्र आदि में प्रसिद्ध ही है। सूर्य द्वारा उसी के दक्षिणायण और उत्तरायण मार्गों का अवलम्बन करने के कारण आपसे पूछा गया दिवसों का ह्रस्वत्व और दीर्घत्व जैसे यह चिदाकाश दृश्य के समान प्रतीत होता है वैसे ही प्रतीत होता है ॥२४॥

'सत्स्वनेकेषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इस प्रश्न में जो अनेक देवता कहे गये हैं, उनको ज्योतिश्चक्र में नक्षत्ररूप से स्थित दिखलाते हैं।

उनमें कोई (सूर्य आदि) अत्यन्त भास्वर हैं, कोई (चन्द्र आदि) अल्प भास्वर और कोई (पूर्वोक्त राहु आदि तामस नक्षत्र) अभास्वर हैं। सब पदार्थ विविध रूप से भासित होते हैं ॥२५॥ वास्तव में तो ये सकल पदार्थ न उत्पन्न ही हुए हैं और न दिखाई ही देते हैं। ज्ञानी पुरुष को यह सब स्वप्न

के दृश्य के समान चिदाकाश ही प्रतीत होता है। चिन्मात्रस्वरूप सर्वेश्वर आप, मैं और सबरूप से अत्यन्त दृश्य के समान प्रसिद्ध होकर स्फुरित होता है। वास्तव में न स्फुरित ही होता है और न नष्ट ही होता है। चूँकि चिदाकाश का चिदाकाश में स्वप्नदर्शन की भाँति स्फुरण होता है अतएव चिदाकाशता के सिवा इस जगत् का पारमार्थिरूप क्या हो सकता है ? ॥२६–२८॥ वह पारमार्थिक सद्रूप ही अध्यस्त में जितने समय तक घट आदि की विद्यमानता रहती है तब तक तद्रूप से स्फुरित होता है उसी का स्वभाव, नियति आदि विविध शब्दों से कथन होता है ॥२९॥ वह ब्रह्मसत्ता आकाशरूप प्रथम उत्पन्न अपने अंग के अन्दर शब्दतन्मात्ररूप स्थिति से कुसूल के (कोठिला के) भीतर रक्खे हुए बीजों में आविर्भूत न हुई अंकुरशक्ति के तुल्य वायु आदि जगत् की बीजभूत शक्ति के रूप से अनाविर्भूत होकर रहती है ॥३०॥ उससे यह वायु, तेज, जल, पृथिवीरूप भूत–भौतिक जगत् क्रम से उत्पन्न होता है इस तरह कि जो यहाँ कल्पना है वह अज्ञानी लोगों के तत्त्वबोध के लिए जगत् सृष्टि–प्रतिपादन की इच्छा से श्रुतियों और मुनियों द्वारा की गई है न कि सृष्टि ही तात्त्विकी (वास्तवी) है, यह प्रतिपादन के लिए की गई है। यदि सृष्टि ही वास्तविक है यह प्रतिपादन के लिए हो तो यह सृष्टिकथा मूर्खों द्वारा ही विरचित और व्यर्थ होगी, क्योंकि यह सृष्टि वास्तविक है यह ज्ञान होने पर किसी का न तो कोई प्रयोजन शास्त्रों में सुना गया है और न लोक में कहीं देखा गया है। वह यहाँ कभी न तो अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। शिला गर्भ के समान नित्य शान्त यह सत् भी असत्, है, क्योंकि तात्त्विक ब्रह्मरूप न अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। इस कारण पर सत्ता से सत् भी यह प्रपंचरूप स्वतः असत् है ॥३१,३२॥

अभिन्न सत्तावाला होने पर ब्रह्म के अन्दर जगत् अवयववत् उदय और अस्तरहित ही है, यह सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

जैसे अवयवी के अन्दर अवयव अणु सदा ही न तो अस्त को प्राप्त होते हैं और न उदित होते हैं वैसे ही परमात्मपद में अनन्त जगत् भी न तो अस्त को प्राप्त होते हैं और न उदित होते हैं ॥३३॥

ब्रह्म सत्ता से अतिरिक्त जगत् सत्ता का अपलाप करने पर जगत् शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है, इसलिए इसके उदय, अस्तमय आदि वैचित्र्य का विनाश हुआ, यह कहते हैं।

जैसे आकाश आकाश में रहता है वैसे ही ब्रह्माकाश में जगताकाश रहता है, यों अत्यन्त विशुद्ध जगत् का कैसे विनाश होता है, कैसे उदय होता है ? ॥३४॥

इस तरह जगत् के मूल तत्त्व का विचार करने पर जगत् की ब्रह्ममात्रता का प्रतिपादनकर ब्रह्म ही स्वतात्त्विक (वास्तविक) रूप का विस्मरण होने पर जगद्रूप होता है, यह कहने के लिए भूमिका रचते हैं।

अनन्त प्रकाशरूप उस निस्सीम चिन्मणि का निरन्तर स्वभावतः जो सत्तामात्ररूप आत्मस्फुरण है, अज्ञात अतएव प्रथम अन्यथाभाव होने के कारण उसके अविमर्श का सूचक यानी अतर्कित वह उस रूप से स्वयं कुछ चेत्यता को जैसा प्राप्त होता है। तदनन्तर भावी नाम और अर्थों की कल्पनाओं द्वारा कुछ तर्कित रूपवाला आकाश से भी अणु और शुद्ध वह भावी प्रपंच के पर्यालोचन से उसका सबमें बोध करनेवाला होता है। तदुपरान्त उस किंचित चेत्यता से वह परम सत्ता पर्यालोचित पदार्थ को भलीभाँति चेतन बनाने में तत्पर होकर 'चित्' (चेत्यतीत चित् इस व्युत्पत्ति

के अवसर की प्राप्ति से) नाम के योग्य होती है ॥३५-३८॥

उसके बाद जो होता है, उसे कहते हैं।

घनसंवेदन के बाद जीव नामवाली वह आत्मकल्पना जीवादि रूपों को प्राप्त होती हुई अधिकारी शरीर की प्राप्ति होने पर फिर परमपद (ब्रह्म) हो जाती है ॥३९॥

यदि कोई कहे कि वह सदा ही परम पदरूप ब्रह्म है, उसका अधिकारी देह में ज्ञानप्राप्ति से कौन उत्कर्ष है ? इस पर कहते है।

चूँकि वह परम सत्ता जीवत्वदशा में चिदाकाश का आवरण करनेवाली अविद्या को धारण करके स्थित है अतएव उसका परमपद स्वभाव प्रकट नहीं रहता। इस समय ज्ञान प्राप्ति होने पर अतिविशुद्ध वह परमपद की (ब्रह्म की) अभिन्नरूपिणी (प्राप्त-अभेदवाली) हो जाती है ॥४०॥

उस समय जब कि उसकी अविद्या से आवृत अवस्था रहती है, वह एकमात्र आत्मतादात्म्यअध्यास की भावनारूप सारवाले देह, इन्द्रिय आदि से संसारोन्मुखी होकर निज स्वरूप के विरह से उत्पन्न हुई ग्लानि से होनेवाली विविध चेष्टाएँ करती है। अद्वितीय तथा अन्य वस्तुओं से शून्यस्वरूपवाली ही वह स्वसत्ता सविकल्प चित् की भावना की भ्रान्ति से शब्द आदि गुणों से पूर्ण गर्भवाली होकर होनेवाले आकाश आदि पंचभूतों की प्रवृत्तिनिमित्तभूत सूक्ष्मभूतात्मिका हो गई ॥४१,४२॥

उससे अहंकार प्रधान लिंगदेह-कल्पना होती है, यह कहते हैं।

उसके बाद लिंगदेहवर्ती प्राणक्रिया से होनेवाली कालसत्ता के साथ अहन्ता का उदय होता है। होनेवाले व्यवहार के प्रयोजनभूत वे दोनों (कालसत्ता और अहन्ता) जगत् की स्थिति के बीजभूत हैं। परम चितिशक्ति का स्वस्फुरण असद्रूप यह जगज्जाल उसके चेतन से सत् के समान स्थित है। इस तरह की संकल्परूपी महावृक्ष की बीजभूत वह चिति अपने अन्दर अहन्ता की भावना करती है और क्षणभर में अहन्तास्वरूप हो जाती है। वही यह आज हिरण्यगर्भरूप से समष्टि-जीव नाम को प्राप्तकर उत्पत्ति, नाशरूप भ्रान्तियों से मायाशबल ब्रह्म में वैसे ही भ्रमण करती है जैसे जल में जल लहरियों से भ्रमण करता है ॥४३-४६॥

उसकी जीवसमष्टि हिरण्यगर्भरूप से स्थूल पंचभूतकल्पना को कहते हैं।

इस प्रकार भावनावाली चिति सूक्ष्म आकाशतन्मात्र भावना को धीरे धीरे घनी करके स्वयं स्थूल आकाश की भावना करती है। वह स्थूलाकाशरूप चिति भावी नाम और अर्थरूप शब्दराशिलक्षण महावृक्ष की बीजभूत और पद, वाक्य, प्रमाणों से पूर्ण वेद, शास्त्र के अर्थ की आधारभूत है ॥४७,४८॥

उस वेदरूप शब्दसार से शब्दराशि से निर्मित अर्थों की राशि के परिणाम से विस्तारवाली सम्पूर्ण जगत्-शोभा उदित होगी, क्योंकि 'स भूरिति व्याहरत् भुवमसृजत। एत इति वै प्रजापतिर्देवान्। इन्दव इति पितृन् (प्रजापति ने 'भू' का उच्चारण कर देवताओं की सृष्टि की, 'असृग्' इससे मनुष्यों की सृष्टि की, 'इन्दवः' इसका उच्चारकर पितरों की सृष्टि की) ऐसी श्रुति है ॥४९॥ इस प्रकार के विचित्र संकल्पवाली ब्रह्म चिति ही जीव शब्द से कही जाती है, उससे अन्य नहीं है। वही भावी शब्द और अर्थराशि से भूतसंघरूपी वृक्ष की बीजभूत है। चौदह भुवनों में निवास करने के कारण चौदह प्रकार की भूतराशि और आकाश को व्याप्त किये हुए जगत्रूप जीर्णपत्रों की राशि उक्त समष्टिजीवभूत

हिरण्यगर्भरूप चिति से प्रकट होगी ॥५०,५१॥

उसके स्वनिर्मित भूतभौतिक प्रपंच के भोग के लिए समष्टि त्वचा आदि इन्द्रियों की कल्पना का प्रकार कहते हैं।

उक्त चिति अद्यावधि शब्द व्यवहार और शरीरादि द्वारा व्यवहार को प्राप्त न होकर, जीव होने के कारण, चेतन से काकतालीय के समान स्वयं स्पन्द चिन्मात्र की कल्पना करती है। उक्त चिति वायुसमूहरूप त्वक्स्पर्शरूपी वृक्ष की बीजभूत है, क्योंकि उसमें सब प्राणियों की क्रियारूपी स्पन्द का हेतु वायु उत्पन्न होगा ॥५२,५३॥ उसी तरह पवन स्कन्धभूत उस हिरण्यगर्भ चिति में चिद्विलास के प्रकाश से जो अनुभव होता है वह रूपतन्मात्र है वह भावी तेज आदि भूतों का स्वरूपप्रद है ॥५४॥

प्रकाशानुभव की ही रूपतन्मात्रता का उपपादन करते हैं।

प्रकाश चेतन ही तेज है। तेज अन्यकृत नहीं है, स्पर्श की कल्पना ही स्पर्श है अन्य स्पर्श का कारण नहीं है ॥५५॥ शब्दसंवेदनरूप शब्द स्वतः ही अनुभूत होता है। जैसे आकाश आकाश से ही आकाशरूप कोश में अवकाश पाकर स्थित होता है अन्य से नहीं वैसे ही संवेदन भी आकाशात्मक ही शब्द से शब्दग्राहक है, उससे अन्य नहीं है, यह अर्थ है ॥५६॥

सृष्टि के आदि में समष्टि की तरह इस समय व्यष्टि में भी तत् तत् की संवित् ही अपने में तत् तत् अर्थ के आकार का अध्यास कर जगत्के स्वरूप से भासती है अन्य नहीं भासता है, ऐसा समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

उस अवस्था में दूसरा शब्द कर्ता कौन होगा जैसे उस समय द्वैत और ऐक्य का अत्यन्त असंभव था वैसे ही इस समय भी द्वैत और ऐक्य का अत्यन्त असंभव है ॥५७॥

शब्द में प्रदर्शित न्याय रस आदि में भी समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र की भी स्वप्न के समान कल्पना की जाती है, जो निपट असत्य होते हुए भी सत् के तुल्य हैं ॥५८॥ तेज सूर्य आदि के विकासों से प्रकाशरूपी महावृक्ष का बीजभूत है, उसमें रूपभेद द्वारा संसार की उत्पत्ति होगी ॥५९॥ विकारशून्य आकाश से जैसा आगे होनेवाले उस पंचीकृत अन्नपान आदि का स्वतः माधुर्य–स्वादन होता है वह रसतन्मात्रा कहलाता है। उसके पश्चात् जिसका रूप, संकल्प नाम आगे होनेवाला है ऐसा यह कार्यकारण समुदायरूप जीव संकल्पभूत गन्धादि तन्मात्र की कल्पना करता है। भावी भूगोल के रूप से आधाररूपी महावृक्ष का बीजभूत सकल के आधाररूप उस गन्धतन्मात्र से संसार का प्रसार होगा। वास्तव में अनुत्पन्न ही शब्दस्पर्शरूप आदि तन्मात्राओं का समूह इस प्रकार उत्पन्न हुआ वास्तव में निराकार भी वह कल्पनावश साकार हो गया। यह तन्मात्राओं का समूह काकतालीय के समान जिस प्रदेश से स्वयंरूप को जानता है वह नेत्र कहलाता है, जिस प्रदेश से स्पर्श का अनुभव करता है वह त्वगिन्द्रिय कहलाता है, जिस प्रदेश से रस का स्वाद लेता है वह रसनेन्द्रिय कहलाता है एवं जिस प्रदेश से गन्ध का अनुभव करता है वह घ्राणेन्द्रिय कहलाता है ॥६०–६६॥

पूर्वोक्त द्विविध परिच्छेद की तरह देह पिण्ड में अहंभावप्रयुक्त इसकी दिक्काल के भेद की कल्पना कहते हैं।

नियत आकृति को प्राप्त हुआ यह जीव दिक्काल की कल्पना करता है और असर्वात्मता के दोष से सकल अंग से यानी नेत्र, श्रोत्र, आदि से रस,गन्ध आदि सब कुछ जानता है। इस रीति से प्रत्येक जीव में अनुक्त भी अनन्त सांसारिक कल्पना आत्मा के अन्तर्गत ही अनुमेय है अनन्त होने के कारण प्रत्येक का पृथक् पृथक् कथन अशक्य है और वे अनन्त कल्पनाएँ आत्मा से अभिन्न (आत्मभूत) ही है, इसलिए वे परमार्थरूप से न उदित होती हैं और न नष्ट होती हैं किन्तु पत्थर के गर्भ के समान सच्चिदानन्दैकघन निर्व्यापार ही स्थित हैं॥६७,६८॥

एक सौ सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठासीवाँ सर्ग

जीव ब्रह्म ही है। उसकी यह उत्पत्ति उपचारतः (गौणीवृत्ति से)
लिंग देह की भ्रान्ति से प्रतीत होती है, इस बात का स्पष्टतः निरूपण।

पिछले सर्ग में 'घन संवेदनात् पश्चाद् भाविजीवादिनामिका' इत्यादि से जीव की उत्पत्ति का उपपादन किया गया है। वह उचित नहीं है, क्योंकि नवीन उत्पन्न हुए जीव के संसार के (आवागमन के) हेतु काम, कर्म, वासना आदि के अभाव से संसार की सिद्धि नहीं होगी और घट, पट आदि के समान मिथ्या होने से ब्रह्मात्मभाव न होने के कारण मोक्ष की सिद्धि भी नहीं होगी ऐसी आशंका श्रीरामचन्द्रजी को न हो, इसलिए उक्त जीवोत्पत्तिप्रतिपादन का तात्पर्य भगवान् श्रीवसिष्ठजी स्वयं कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचंद्रजी, इस चिदाभासात्मक जीव की जो वह उत्पत्ति कही है वह चिदाभासात्मक जीव ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा आपको बोध कराने के लिए कही है, किन्तु जीव की उत्पत्ति आदि वास्तव है इस आशय से नहीं कही है॥१॥

किस रीति से जीव परम ब्रह्म से अभिन्न है यह बोध कराने के लिए उसे कहते हैं।

वह कलन (चिदाभास) परब्रह्म का इस प्रकार का औपाधिक अवयव है, अतएव अकृत्रिम है। चेत्य की ओर प्रवण चिदाभास जीवशब्द से कहा जाता है, ऐसी दशा में ब्रह्म से चिदाभास का जो पृथकत्व है वह औपाधिक है, उससे होनेवाले जीव आदि भिन्न-भिन्न नाम परम ब्रह्म के ही हैं जैसे कि आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि भिन्न भिन्न रूप और नाम हैं॥२॥

जीव के औपाधिक प्रवृत्तिनिमित्त और उनके भेदों से जनित विविध नामों को सुनाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस चिदाभासात्मक जीव के बहुत से नाम हैं। चेत्य की ओर प्रवण चिदात्मा के उन विचित्र नामों को आप सुनें॥३॥ जीवन से यानी मुख्य प्राण और कर्मेन्द्रियों के धारण से तथा चेतन से यानी ज्ञानेन्द्रियों के धारण से वह जीव कहलाता है, पहले अनुभव में आये हुए अतीत (भूत) और अनागत (भावी) चेत्यों की ओर प्रवण होने से वह चित्त कहलाता है एवं निकटवर्ती चेत्यों की ओर प्रवण होने के कारण वह चित् कहलाता है॥४॥ यह इस प्रकार का है यों स्पष्टरूप से बोधन के कारण वह यहाँ बुद्धि कहलाता है, संकल्प करने तथा ऊहापोहरूप मनन का ज्ञाता होने के कारण वह मन कहलाता है। अपने अन्दर 'मैं हूँ' यों अभिमान करने से अहंकार कहलाता है। पामर लोगों की साधारण व्युत्पत्ति से

'चित्त' नाम की व्याख्या की जा चुकी है। किन्तु विद्वानों की प्रसिद्धि से 'चिती संज्ञाने' इस धातु-व्युत्पत्ति से स्वतत्त्व चेतना से पूर्ण परमार्थवस्तु आत्मा ही चित्तपद का मुख्य वाच्य है ऐसा शास्त्रों का विचार करनेवाले पुरुषों ने कहा है, यह अर्थ है ॥५,६॥ वह जीव प्रौढ़ संकल्पराशि से पुर्यष्टक (संकल्पादिभिः पूर्यन्ते इति पुर्यस्तासाम् अष्टकम् यानी संकल्प आदि से जो पूर्ण की जाती हैं वे पुरियाँ है, उनका अष्टक यानी आठ पुरियाँ इस व्युत्पत्ति से) कहा गया है। सृष्टि के आदि काल में प्रस्तुत होने के प्रथम होने के कारण वह प्रकृति कहा गया है, तत्त्वदर्शन से औपाधिकरूप से अविद्यमान होने के कारण विद्वानों द्वारा 'अविद्या' कहा जाता है। चिदाभासरूप जीव के इत्यादि अनेक नाम मैंने आप से कहे हैं ॥७,८॥ निराकार निर्विकार यह चिदाभासरूप जीव आतिवाहिक देह के नाम से विद्वानों द्वारा उत्पत्ति नाशवान् कहा जाता है। इस प्रकार स्वप्ननगर और संकल्पपुर के समान यह त्रिजगद्भ्रम भोग और मोक्षरूप अर्थ का कर्ता होने पर भी निस्स्वरूप, शून्य और अमूर्तरूप (प्रतिघात के अयोग्य) प्रतीत होता है ॥९,१०॥ हे देहधारियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार यह आतिवाहिक शरीर चिदाकाशभूत चित्तशरीरवाला और आकाश से भी शून्य कहा गया है ॥११॥ यह आतिवाहिक शरीर मोक्षसंवित्पर्यन्त जगत् में न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है। चौदह भुवनों के निवासी होने से चौदह प्रकार के प्राणियों का एकमात्र यह प्ररोह स्थान है। ऋतु की व्यवस्था से वृक्षों में फलों की तरह लाखों संसार इस चित्तरूपी भूमि में हो गये हैं, होते हैं और होंगे ॥१२,१३॥ यह चित्तमय शरीर अन्दर और बाहर जगतों को वैसे ही धारण करता है जैसे कि दर्पण प्रतिबिम्बों को धारण करता है ॥१४॥ जब महाकल्प में प्राकृत प्रलय के अन्तिम क्षण में सर्वनाश स्थिर हो जाता है, उस समय महाशून्यपद अवकाशदायक प्रौढ़ निरामय (निर्विकार) ब्रह्मात्मा शेष रहता है ॥१५॥ तब चैतन्घन परमात्मा चैतन्य का आवरण करनेवाले अज्ञानरूप निमित्त से पूर्वोक्त क्रम से आत्मा के आतिवाहिक देहतुल्य चिद्भान की स्वतः कल्पना करता है ॥१६॥ वह जीव ही आतिवाहिक देह है, उसका जो जगदालोचनरूप आलोक है उससे प्रवर्तित कोई भाग शास्त्रों में मैं चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ यों और कोई भाग मैं विराट् हूँ यों वर्णित है ॥१७॥ कोई भाग सनातन, सनक, सनन्दन आदि कहा गया है, कोई भाग ईश्वर के नाम से प्रख्यात है, कोई भाग प्रजापति कहा गया है ॥१८॥ जिस जिस भाग में पाँच स्वेन्द्रियसंवितों का काकतालीयवत् भान हुआ वहाँ वहाँ उन इन्द्रियों के विषय वैसे ही व्यवस्थित हुए ॥१९॥ अत्यन्त विस्तारयुक्त इस दृश्य भ्रम के सम्पन्न होने पर कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि यह सब सर्वदृश्यशून्य आत्मा ही विस्तृत है। जन्म, विनाश आदि शून्य परब्रह्म न आविर्भूत है और न तिरोभूत है। आदि-अन्तरहित वही जब स्वरूप साक्षात्कार से विहीन होता है तब सत् (आविर्भूत) और असत्के (तिरोभूत के) आकार से यानी जगद्रूप से स्थित होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म आतिवाहिक देहधारी ब्रह्म के स्वानुभव से यह प्रपंच निरन्तर कान्ता का अनुसन्धान करनेवाले विधुर पुरुष की स्वप्नकान्ता के समान परिपुष्ट हो जाता है ॥२०-२२॥

जगत् से सर्वथा शून्य ब्रह्मा का जगद्रूप से भान होने में दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

स्वप्न और मनोरथ में शून्य भी निराकार भी घटाकार का अनुभव होता है, यही स्वदेह और जगत् के भान में दृष्टान्त है। जगत् प्रपंच चिदाकाशस्वरूप स्वप्नपदार्थ के समान पूर्णतया अर्थक्रियाकारी होता है, आकाशात्मक होता हुआ ही कठिन (ठोस) पदार्थ-सा प्रतीत होता है। यह आतिवाहिक जीव

निराकार, शून्य स्वप्नतुल्य असत् होने पर भी क्रम से अपने देहादि आकार का स्वयं अनुभव करता है। उक्त आतिवाहिक देहरूप जीव अस्थिपंजर से स्थूल, रीढ़, रोम, नसों और नाड़ियों के संनिवेशरूप से स्थित हस्त, पाद आदि अवयवों से युक्त स्थूल शरीर की जो जन्म, कर्म और अभिलाषा का स्थान है और परिणामअवस्था में स्थित है, देश, काल क्रम, शब्द इत्यादि विषयों के भोग के लिए कल्पना करता है और उस स्थूल देह में जन्म-भ्रम की कल्पना करता है। तथा बुढ़ापा और मृत्यु की, गुण, दोष आदि के आधान की, दश दिशाओं में भ्रमण की, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप त्रिपुटी की तथा सब पदार्थों के जन्म, स्थिति और नाश के ज्ञान की भी कल्पना करता है। इस प्रकार आतिवाहिक देहभूत पुराण पुरुष अपने से कल्पित ही व्यष्टिसमष्टि स्थूल शरीर से स्वयं ही पृथिवी, जल, आकाश,सूर्य, जनता-व्यवहार, नगर और शिखररूप होकर पृथिवी आदि मेरे आधार हैं और स्वयं मैं उनका आधेय हूँ इस प्रकार भ्रान्तिरूप संसार स्वप्न को देखता है ॥२३-२९॥

एक सौ अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नवासीवाँ सर्ग

आतिवाहिक देहवाले प्रजापति के मनोरथरूप इस जगत् में आधिभौतिकता भ्रमरूप है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस आद्य प्रजापति का यह आतिवाहिक शरीर चित् होने के कारण 'कश्चित् ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कश्चिद् विराडिति' यों विस्तार से वर्णित रीति से जिस जिसकी जैसी कल्पना करता है काकतालीय न्याय से वह चिरकाल तक वैसे ही स्थित होता है, सत्य संकल्पवती संवित् के स्वभाव से इस विश्व का भान हुआ है। इस जगत् की असत्यता के विषय में क्या आश्चर्य है ? इस कारण केवल भ्रमस्वरूप होने से द्रष्टा, दृश्य और दर्शन रूप त्रिपुटी सत्य है यानी द्रष्टा असत्य है, दृश्य असत्य है और दर्शन (वृत्ति) असत्य है, अथवा उक्त ब्रह्मात्मता के कारण सब कुछ ब्रह्म ही है और सत्य ही है ॥१-३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, इस रीति से उक्त आदि प्रजापति का केवल आतिवाहिक शरीर यदि भ्रान्तिदर्शनमात्र है, वह कठिनता को (शिलादि के तुल्य पुष्टता को) कैसे प्राप्त हुआ ? भला स्वप्न में पारलोकिक फल आदि की अर्थक्रियाकारिता कैसे संभव है ? ॥४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, आतिवाहिक शरीर के भ्रमरूप दर्शन की स्वतः ही अनुभूति होती है। सदा निरन्तर भान से वह चिरकाल के अभ्यास से घनीभूत सा मालूम होता है। जैसे राजा हरिश्चन्द्र आदि के स्वप्न की चिरानुभूत के अनुरूप पुष्टता हुई वैसे ही ब्रह्मा को अपनी आतिवाहिकता अत्यन्त सत्य सी प्रतीत होती है ॥५,६॥ आतिवाहिक शरीर के चिरकालतक स्वानुभव में आरूढ़ होने पर मरुभूमि में मृगतृष्णा के तुल्य उसमें फिर आधिभौतिकताबुद्धि उदित होती है। स्वप्न और भ्रम के सदृश भासित होनेवाला मृगतृष्णा जल के समान स्थित वह जगत् सत्य प्रतीतिकारी होने पर भी असत् ही स्फुरित होता है। आतिवाहिक (संकल्पमय) स्वरूपवाले पदार्थों की आधिभौतिकता असत्य होने पर अविवेकी पुरुषों द्वारा सत्यवत् स्वीकृत की गई है। यह मैं, ये मेरे शरीर आदि, ये मुझसे भिन्न, ये पर्वत, आकाश, दिशाएँ इस प्रकार का मिथ्याभ्रम देदीप्यमान स्वप्नपर्वत के समान प्रतीत होता है। आदि प्रजापति का यह

आतिवाहिक शरीर आधिभौतिक रूप से भावित होकर पृथिवी, शरीर आदिरूप पिंडाकार को देखता है। चिदाकाश 'मैं ब्रह्म हूँ' यह यथार्थ चेतना छोड़कर 'यह मनुष्य आदि शरीर मैं हूँ, यह पृथिवी आदि मेरा आधार है', यों देखता है और उसमें वैसी ही आस्था करता है ॥७-१२॥ असत्य वस्तु में यह सत्य है इस बुद्धि से भावना करने के कारण जीव बन्धन में पड़ता है अपने अन्दर बार-बार भावना करता है उससे नानात्व का (द्वैतका) अनुसरण करता है। पहले वैदिक, लौकिक शब्दों की सृष्टि करता है और उनका जाति आदि तत् तत् उपाधियुक्त अर्थ में संकेत करता है यानी यह शब्द इस अर्थ का वाचक है, ऐसा संकेत करता है। संकेत से संज्ञाएँ और चेष्टाएँ करता है। तदनन्तर ॐ उच्चार करने के उपरान्त शब्द राशिरूप वेदों का गान करता है ॥१३,१४॥ शब्दराशिरूप वेदों से ही शीघ्र इधर-उधर चारों ओर के व्यवहारों की कल्पना करता है, क्योंकि समष्टि मनरूप यह प्रजापति जो कुछ कल्पना करता है निश्चय रूप से वही हो जाता है। जो जिसमें अत्यन्त आसक्तिमान होगा वह उसे क्यों न देखेगा ? यों असत्यरूपा ही जगद्भ्रान्ति प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है। ब्रह्मा से लेकर मच्छर तक यह चिरकालिक स्वप्न-सा और इन्द्रजाल-सा असत् जगत् मिथ्या ही स्फुरित होता है। इस प्रकार आतिवाहिक की आधिभौतिकता (कठिनस्वभावता) उचित ही है, अनुचित नहीं है ॥१५-१७॥ कहीं पर कुछ भी आधिभौतिकता नहीं है। आतिवाहिकता ही अभ्यासवश इस आधिभौतिक भावाना को प्राप्त होती है ॥१८॥ मूलभूत सर्जनहार ब्रह्मा से ही इस प्रकार का यह मिथ्या अनुभवरूप महान् मोह आया है, इसलिए यह जगत्दर्शन भ्रम जब तक प्रारब्ध का क्षय नहीं होता तब तक तत्त्वज्ञों में भी रहता ही है ॥१९॥ चिदेकरस ब्रह्म की इस तरह की दुर्दशा कहाँ संभव है, किन्तु यह सब संसार दुर्दशादि भ्रान्ति ही है। अथवा ब्रह्म ही कौतुक से जगत्, जीव आदि के आकार में स्फुरित हुआ है। अपना आकार अपनी दुर्दशा कदापि नहीं कहा जा सकता, यह अर्थ है ॥२०॥ जगत् का अव्यय सकलकारण-कारण ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है। वह कार्यता के बिना कारण नहीं है। निर्विकार कूटस्थ-चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म में कार्यता-कारणता का कदापि संभव ही नहीं है। इस कारण यह जगदाकार कुछ भ्रान्तिमात्ररूप ही विस्तृत है। वास्तविक नहीं है, यह तात्पर्यार्थ है ॥२१॥

एक सौ नवासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नब्बेवाँ सर्ग

भूत और भावी सकल सन्देहों का युक्तियों से मार्जनकर ज्ञान की ज्ञेयता शान्तिरूप मुक्ति का वर्णन।

'भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाऽऽभातमेव वा'। अर्थात् यह सब ब्रह्म की संसाररूप दुर्दशा भ्रान्ति ही है अथवा ब्रह्म ही कौतुकवश जीव और जगत् के आकार से स्फुरित हुआ है। यों अन्त में जो बन्ध और मोक्ष का निष्कर्ष प्रदर्शन किया उसका परिष्कार कर कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, ज्ञान की ज्ञेयतापत्ति बन्ध कहलाता है और ज्ञान ही ज्ञेयता-शान्ति मोक्ष कहलाता है ॥१॥

यहाँ पर श्रीरामचन्द्रजी जिन शंकाओं का पहले समाधान हो चुका था उनका भी सब के उपकार के लिए प्रश्नोत्तर माला के क्रम से उद्घाटनकर समाधान क्रम को प्रख्यात कराने के लिए उनका

उपाय पहले पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यहाँ पर ज्ञान की ज्ञेयता शान्ति कैसे होती है और उसका दृढ़ाभ्यास होने पर बन्धता-बुद्धि कैसे निवृत्त होती है ? ॥२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, शम, दम आदि साधनों से युक्त सम्यक् ज्ञानरूप प्रबोध से भ्रान्ति हट जाती है। भ्रान्तिरूप स्वप्न के हट जाने पर इस प्रकार की ज्ञेयताशान्तिरूप मुक्ति भूमिका की पुष्टि के क्रम से होती है ॥३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, सम्यक् ज्ञानमय कैवल्यरूप बोध क्या कहलाता है ? जिस बोध से यह जीव बंधन से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। शंका का भाव यह है कि अनेक विशेषताओं से युक्त रत्न आदि की कुछ विशेषताओं का ज्ञान होने पर भी अन्य विशेषताओं के ज्ञान के लिए पर्यालोचन जन्य सम्यक् ज्ञान दूसरा हो, किन्तु ब्रह्मरूप निर्विशेष वस्तु में आपात ज्ञान की अपेक्षा सम्यक्ज्ञान दूसरा क्या होगा जिससे कि जीव के बन्धन की निवृत्ति होगी यह श्रीरामचन्द्रजी की शंका का तात्पर्यार्थ है ॥४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अधिष्ठानभूत चिन्मात्ररूप ज्ञान की ज्ञेयता तीनों कालों में भी नहीं है। अव्यय केवल ज्ञान अवाच्य है, इसलिए सर्वदृश्यबाधपर्यन्त ही तत्त्वसाक्षात्कार कहा गया है। आपात ज्ञान वैसा नहीं है ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, चिदेकरस आत्मा के अन्दर उससे भिन्न ज्ञेयता कौन है यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये। इस ज्ञानशब्द की 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यों भाव में व्युत्पत्ति करनी चाहिये अथवा 'ज्ञायतेऽनेन तत् ज्ञानम्' यों करण में ? ॥६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्र 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यों भाव में व्युत्पन्न ज्ञान केवल बोधमात्ररूप है। पवन और स्पन्द के समान ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं है। श्रीवसिष्ठजी के उत्तर का भाव यह है कि भाव अर्थ में ही ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति करनी चाहिये ज्ञेय जगद्रूपता ज्ञान का ही मायिक भेद है वह ज्ञान की एकरसता का विघातक नहीं है।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे गुरुवर, यदि ऐसी बात है तो ज्ञान, ज्ञेय आदि भ्रम कैसे सिद्ध हुआ ? वह ज्ञान का ज्ञेय जगद्रूपताभूत विकल्प खरगोश के सींगों की तरह है। वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भूत, वर्तमान और भविष्यत् विभागों से व्यवहार योग्य कैसे मालूम होता है ? ॥७,८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, बाहरी पदार्थों की भ्रान्ति से यहाँ पर भ्रमबुद्धि उदित हुई यह जानना चाहिये। बाह्य और आभ्यन्तर किसी भी पदार्थ का संभव नहीं है। भाव यह कि असत्ता अभान अथवा अर्थक्रिया की असामर्थ्य में कारण नहीं है क्योंकि स्वप्न और भ्रान्तिज्ञान में हजारों असत् पदार्थों में भान और अर्थक्रिया सामर्थ्य देखी जाती है, किन्तु बाध ही अभाव और अर्थक्रिया की असामर्थ्य में प्रयोजन है। बाध विचारवानों को प्रत्यक्ष ही है ॥९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, जो यह प्रत्यक्ष दृश्य त्वम्, अहम् आदि भूतादि अर्थ अनुभूत है वह कैसे नहीं है यह मुझसे कहिये यानी लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध पदार्थ का अपलाप कैसे संभव है ? यह कहने की कृपा करें ॥१०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप, आदि सृष्टि में ही विराट् आदिरूप कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं

हुआ, इसलिए ज्ञेय का संभव नहीं है। आदि सृष्टि में जगत् की माया से अतिरिक्त सामग्री कदापि नहीं कही जा सकती, अतएव उस समय मायिक जगत् भ्रान्ति से अतिरिक्त न था यह अवश्य मानना होगा इस समय भी वह वैसे ही भ्रान्तिमात्र ही है यह कहना होगा। रह गई लौकिक प्रत्यक्ष आदि की बात सो वे केवल व्यवहार के अविसंवाद से चरितार्थ हैं, अतः तत्त्वपूर्ण युक्तियों और श्रुतियों द्वारा बाधित हो जाते हैं। *इस विषय में भगवती श्रुति भी है – 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त त्येषा परमार्थता– यानी न विनाश है, न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है और न कोई साधक है एवं न कोई मुमुक्षु है और न मुक्त है यह परमार्थता है*॥११॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में स्थित यह जगत्दृष्टि, जिसका कि प्रतिदिन सबको अनुभव हो रहा है, उत्पन्न नहीं हुई यह आप क्या कहते हैं ? भूत, भविष्यत् आदि अनन्त वस्तु गोचर अनन्त सर्वजनहित प्रत्यक्ष आदि का एक तत्त्वज्ञान से कैसे बाध हो सकता है ? *यह श्रीरामचन्द्रजी की शंका का तात्पर्यार्थ है*॥१२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, स्वप्न पदार्थ, मृगतृष्णा जल, द्विचन्द्र तथा संकल्पित पदार्थों की तरह अहं त्वं आदि मिथ्या जगत् केशोण्ड्रक के समान स्फुरित होता है। उस प्रकार के अनन्त स्वाप्न ज्ञानों का एक जागरण से बाध दिखलाई देता है॥१३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्! अहम्, त्वम्, अयम् इत्यादि पूर्णरूप से अनुभूयमान जगज्जठर सर्ग के आदि में कैसे उत्पन्न नहीं हुआ ?॥१४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा वह उत्पन्न नहीं होता यह ही निश्चय है। प्रलयकाल में सबका विलय होने पर जगतों की उत्पत्ति में कारण नहीं है॥१५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, महाप्रलय होने पर जो जन्म–नाशविहीन परमतत्त्व अवशिष्ट रहता है वह सृष्टि का कारण क्यों नहीं होगा ?॥१६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारण में जो कार्य है वह उससे उत्पन्न होता है किन्तु कारण में असत् कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है, घट से पट की उत्पत्ति कदापि नहीं होती है। भाव यह है कि ब्रह्म चिदेकरस है उसमें जगत् बीज शक्ति नहीं है॥१७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, महाप्रलय होने पर जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में रहता है, वह उससे फिर उत्पन्न होता है। भाव यह कि जैसे सांख्यों के अभिमत गुणों में सूक्ष्मरूप से जगत् रहता है वैसे ही ब्रह्म में सूक्ष्मरूप से जगत् रहे॥१८॥

वसिष्ठजी ने कहा : हे अनघ, महाप्रलय पर्यन्त उस ब्रह्म में स्थित इस सर्ग की सत्ता का कौन अनुभव करता है और हे महाबुद्धे, वह सत्ता कैसी है ?॥१९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : उस ब्रह्म में स्थित ज्ञप्तिरूपा सत्ता का तो ज्ञानियों से अनुभव होता है और वह स्वयंप्रकाश चिद्रूपअभिन्न सत्ता ही उस समय रहती है मायाकाशरूपा नहीं रहती, क्योंकि मायाकाशरूप तो असत् जगत्सत्ता को कैसे प्राप्त हो सकता है ?॥२०॥

वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, यदि इस प्रकार चिद्रूप ही जगत् की सत्ता मानोगो तो ज्ञप्ति (चिद्रूप) ही यह तीनों लोक हैं। फिर विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा के जन्म, मरण आदि कैसे हो सकते

हैं ? ॥२१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, यदि सृष्टि उस ब्रह्म में स्थित नहीं है तो यह भ्रान्ति कहाँ से कैसे आ गई ? यह मुझसे कहिए। अर्थात् यह जगत् का भ्रम क्यों होता है, यह तात्पर्य है ॥२२॥

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, कार्यकारणता का अभाव होने से ब्रह्म में न तो भाव (उत्पत्ति) है और न अभाव (प्रलय) ही, यह जो जगत् भासमान होता है, जिसको भासमान होता है और जिस रूप में भासमान होता है वह (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी) केवल आत्मा ही है ॥२३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन् यह असमंजस है, यन्त्र के सदृश इस अचेतन (कार्यकारणसंघात देहेन्द्रियादि) रूपता को वह चेतिता (चेतना करनेवाला चलानेवाला कैसे) प्राप्त कर सकता है ? चैतन्यरूप सर्वद्रष्टा अचेतन (जड़) दृश्यता को कैसे प्राप्त हो सकता है ? भला काष्ठ जो दाह्य (जलनेवाला) है वह दग्धा (जलानेवाला) होकर अग्नि को दाह्य बनाकर कब और कैसे जला सकता है ? ॥२४॥

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, द्रष्टा दृश्यत्व को नहीं प्राप्त होता क्योंकि दृश्य का सर्वथा असम्भव है, इसलिए केवल द्रष्टा ही सर्वात्मा एक घनाकृतिरूप से भासमान होता है अतः कोई असामंजस्य नहीं प्रत्युत सब असामंजस्यों की निवृत्ति ही हो जाती है ॥२५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सृष्टि के आदि में अचेतित जगत् के भान की सिद्धि नहीं है अतः अनादि अनन्त शुद्ध चिन्मात्र ही सृष्टि के आदि में जगत् का संकल्प करता है तब इस जगत् का भान होता है यह अवश्य मानना पड़ेगा। उस चिन्मात्र में चेत्य का संभव कैसे हो सकता है यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, कारण का अस्तित्व न होने के कारण चेत्य का तनिक भी संभव नहीं है। चेत्य का अभाव होने से चेतन की सदा मुक्तता तथा वर्णनातीतता सिद्ध हुई। उत्तर का भाव यह है कि चेत्य यदि सृष्टि के आदि में उत्पन्न होता तो वह किससे उत्पन्न हुआ इस प्रश्न का अवसर आता। अत्यन्त असंभूत वन्ध्यापुत्र की उपपत्ति-जिज्ञासा से क्या प्रयोजन है ? नित्यमुक्त ही आत्मा को स्वीकार करना चाहिये ॥२७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर, यदि चेतन की नित्यमुक्तता है तो यह अहन्ता आदि चेत्य कहाँ से और कैसे है ? यह जगत् वेदन कैसे तथा स्पन्द आदि का ज्ञान कैसे है ? *शंका का तात्पर्य यह है कि यदि नित्यमुक्तता है तो अहन्ता का प्रतिभास ही कदापि न होगा। इस तरह गुरु, शास्त्र आदि की निष्फलता होगी* ॥२८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारण का संभव न होने के कारण सृष्टि के आदि में कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ। ऐसी परिस्थिति में चेत्य का संभव कहाँ से होगा ? इसलिए सब कुछ शान्त है। सृष्टि तो रज्जु में सर्पत्वभान की तरह सीप में रजतबुद्धि की तरह तथा मरुभूमि में जलभान की तरह भ्रममात्र है ॥२९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, वचनों के अगोचर, चेत्य और चलनादि क्रियाशून्य सदा स्वप्रकाश, नित्यमुक्त, निर्विकार ब्रह्म में भ्रम ही किसको, किस निमित्त से तथा किस तरह का हो सकता है ? इस विषय में मुझे उत्तर दीजिये। अद्वितीय ब्रह्म द्वैतलेश का भी सहन नहीं कर सकता है, यह प्रश्न

का भाव है ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, कारण का अभाव होने से सृष्टिरूप विशिष्ट भ्रम का अस्तित्व ही नहीं है। त्वम्, अहम् इत्यादि सब कुछ अद्वितीय निर्विकार शान्त ब्रह्म ही है। *भाव यह कि शास्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात ब्रह्मतत्त्व की दृष्टि से विभ्रम भी अनुपपन्न हो, इससे कृतकृत्य शास्त्र विफल नहीं कहा जा सकता है, यह उत्तर का आशय है ॥३१॥*

यों वसिष्ठजी द्वारा निरुत्तर किये गये श्रीरामचन्द्रजी प्रबोध की दृढ़ता के अभाव से पूर्णरूप से निस्सन्देह न होने के कारण प्रश्न करने में अपनी अशक्ति ही दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, भ्रान्ति को जैसा प्राप्त हुआ मैं अब और क्या पूछूँ यह नहीं जान रहा हूँ। मैं पूर्णरूप से प्रबोधवान् नहीं हुआ हूँ। इस विषय में अब क्या पूछूँ ? ॥३२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, निरुत्तर करने के कारण केवल अप्रतिभा से प्रश्न करने से विरत न होओ, किन्तु प्रश्न करने में कारणभूत सन्देह बीज के निकषोपल के समान (कसौटी के तुल्य) सार और असार की परीक्षा का स्थान मुझसे तब तक पूछते जाओ जब तक कि कारण का नाश होने से आप निश्शंक न होओ।तब क्रम से प्रश्न के कारणभूत सन्देहों का और उनके कारण अज्ञान का पूर्णरूप से विनाश होने के कारण आप परम स्वभाव में विश्रान्ति को प्राप्त होओगे ॥३३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, कारण का अस्तित्व न होने से पहले सृष्टि के आदि में ही सृष्टि का आविर्भाव नहीं हुआ यह आपका कहा हुआ सिद्धान्त यद्यपि मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ तथापि मेरा यह चेत्यचेतन भ्रम किसको है यह सन्देह नहीं मिट रहा है। इसका क्या कारण है ? ॥३४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारण का अस्तित्व न होने से तथा सर्वत्र शान्त ब्रह्म की सत्ता होने से दृश्य आदि की भ्रान्ति नहीं है। आपको केवल अभ्यास न होने के कारण ही परमपद में विश्रान्ति नहीं प्राप्त हो रही है।

यदि आप मेरे द्वारा वर्णित सिद्धान्त को जानते हैं तो अनभ्यासवश ज्ञान की परिपक्वता न होने से परमपद में अविश्रान्ति ही आपके वृथा विविध सन्देहों की जननी है, यह श्रीवसिष्ठजी के उत्तर का आशय है।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, कहाँ से अनभ्यास होगा, कहाँ से अभ्यास होगा तथा अभ्यासात्मक यह जगद्भ्रान्ति ही कहाँ से उदित हुई है जब कि जगद्भ्रान्ति का कोई कारण ही नहीं है ? ॥३५,३६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, यथार्थतः कोई भ्रान्ति नहीं है। यद्यपि अनन्त (असीम परमब्रह्म) निज माया से अनन्त भासता है उसी में सम्पूर्ण अक्षत महाचिद्घन अभ्यासभ्रान्ति है। भाव यह कि जैसे जीवन्मुक्त पुरुषों की चिद्घनस्वरूप सकल वस्तुओं में व्यवहार–प्रवृत्ति होती है वैसे ही आपकी भी उनसे अभ्यास प्रवृत्ति हो, इसमें क्या क्षति है ? ॥३७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आप सरीखे जीवन्मुक्त पुरुषों के इस सकलजगद्भ्रम के शान्त होने पर इस अध्यात्मशास्त्ररूप शब्दसम्पत्ति से उपदेशयोग्य हम लोगों के उपदेश कायप्रवेश, शक्तिपात आदि द्वारा प्रबोधनरूप व्यवहार में क्या कारण है ? यह कहिये ॥३८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, हमारे सदृश जीवन्मुक्त लोगों के उपदेश आदि सकल व्यवहाररूप

से ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है। बोधात्मा में (चिदात्मा में) न मोक्ष है, न बन्धन है और न बन्धननिवृत्ति के उपाय हैं। यानी भिन्नवत् दिखाई देनेवाले बन्ध, मोक्ष और मुक्ति के उपायों की तत्त्वदृष्टि से अत्यन्त अप्रसिद्धि है ॥३९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, देश, काल, क्रिया और द्रव्य का भेदज्ञान रखनेवाले अज्ञानियों को सबका संभव न होने से यह जगद्दृष्टि कैसे उपस्थित हुई ? भाव यह कि तब अज्ञानियों की दृष्टि में प्रख्यात यह जगत्सत्ता किस कारण से उपस्थित हुई ? ॥४०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जीवन्मुक्ति के पूर्व देश, काल, क्रिया और द्रव्य के भेदज्ञानी अज्ञों की दृश्यसत्ता अज्ञानमात्र से अन्य नहीं है यानी अज्ञान से ही यह जगत्सत्ता उपस्थित है, इसका अन्य कारण नहीं है ॥४१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, तत्त्वदृष्टि से कारण के अभाव में द्वैत और ऐक्य का संभव न होने पर बोध्यबोधकता का अभाव होने से बोधता (ज्ञान) कैसे हो सकती है ? जिसका बोध हो वह कर्म अवश्य होना चाहिये। लोक में अकर्मक बोधशब्द प्रसिद्ध नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, अज्ञात ब्रह्म बोध से अपने अज्ञानविनाशरूप फल का आश्रय होने से बोधता को (बोधकर्मताको) प्राप्त होता है उसी से बोध शब्द भी बोध्यता को (बोधफलवत्तारूप सकर्मकता को) प्राप्त होता है। यह सब अज्ञानवान् जो आप लोग हैं आप लोगों के विषय में ही लागू होता है जीवन्मुक्त हम लोगों में अज्ञान न रहने के कारण बोध की सकर्मकता का निरूपण नहीं किया जा सकता, यह भाव है ॥४२,४३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, 'जीवन्मुक्त हम लोगों में नहीं' यह कह रहे आपने जीवन्मुक्तों में भी अस्मत्-शब्द की प्रवृत्ति में निमित्तभूत अहन्ता प्रदर्शित की है। और वह अहन्ता अबोध का कार्य नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उनमें अबोध की प्रसिद्धि नहीं है। अतः बोध ही अहन्तारूप परिणाम को प्राप्त होता है, यह कहना पड़ेगा। उस अवस्था में उसकी बोधभिन्नता का निवारण करना कठिन ही नहीं असंभव है। यह अहन्ता जब जीवाख्य पुरुष नहीं है तब इसका अनन्त त्रिविध परिच्छेदशून्य निर्मल चिन्मात्र आपमें कहाँ से संभव है ? ॥४४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, एकमात्र बोधस्वरूप हम लोगों की स्वरूपभूत जो बोधता है वही वायु के स्पन्दन की तरह वैकल्पिक व्यपदेश से हम लोगों से अहम् और त्वम् कही जाती है अज्ञानवान् अभिमानप्रधान पुरुष से नहीं कही जाती है ॥४५॥

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, यदि ऐसी बात है तो जैसे शान्त सागर में तरंग आदि अपना आकार धारण करता है वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषों की दृष्टि में स्वरूपमात्ररूप चिन्मय ही अहन्तादि रूप जगत् तथा बोध्य, बोध आदि त्रिपुटी का आकार धारण करता है, यह सिद्ध हुआ ॥४६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, यदि ऐसी स्थिति ही तत्त्व है तो 'द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मन् कारणासंभवे सति।' यों आपने द्वित्व आदि की प्रसक्ति से जिस अद्वैतहानिरूप दोष का उद्घाटन किया वह कैसे होगा और क्या होगा ? इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं है। इस कारण आप शुद्ध अद्वैत का ही अवलम्बन कीजिए ॥४७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, तब शुद्ध अद्वैतपक्ष में पवन के स्पन्द की तरह अहन्ता विकल्प की कल्पनाकर कौन व्यवहार का भोग करता है अथवा भोक्ता ही कौन है जिसके कारण यह अनन्त जगद्भ्रान्ति का उल्लास होता है। जगद्भ्रान्ति विकल्प का भी वैसे निषेध न होने पर फिर बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी होगी ? *यह श्रीरामजी के प्रश्न का आशय है*॥४८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, ज्ञेय अर्थ में सत्यताका आग्रह होने पर पुनः बन्धन की प्रसक्ति होती है। किन्तु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में वह (ज्ञेय) निपट नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से उनका बाध हो जाता है। ज्ञप्ति ही उनके प्रारब्ध के भोग के लिए सकल पदार्थों के आकार से भासती है, इसलिए उनके पुनर्बन्धन आदि की कल्पना का प्रसंग नहीं है॥४९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, ज्ञप्ति सर्वार्थरूपा नहीं है,क्योंकि जैसे प्रकाशक दीपक या नील, पीत आदि रूप या घट, पट आदि अपनी स्थिति को प्राप्त होते हैं वैसे ही ज्ञप्तिवश बाह्य घट, पट आदि पदार्थस्थिति प्रथित होती है अतः प्रत्यक्षरूप से ग्रहण होने से बाह्य पदार्थों की चेतन से पृथक् सत्ता सिद्ध हो गई॥५०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारणरहित बाह्यार्थरूप कार्य की जो यह सत्यता है वह केवल भ्रान्तिरूपी है उसका, भ्रान्तिरूप से अतिरिक्त दूसरा स्वरूप नहीं है॥५१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जब तक रहता है तब तक अर्थक्रियाकारी होने से स्वप्न सत्य हो चाहे प्रबोध से बाध्य होने के कारण असत्य हो, जब तक रहता है तब तक दुःख होता है वैसे ही यह जगद्भ्रान्ति जब तक रहती है तब तक दुःख देती है। इसकी चिकित्सा का (निवृत्ति का) कौन उपाय है ? ॥५२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जैसा स्वप्न है, वैसी ही जगद्–स्थिति है यानी जगत् की स्वप्नतुल्यता है, यह जब सिद्ध हो गया तब जैसे जागरण होने पर स्वप्न के पदार्थों का बाध हो जाता है वैसे ही आत्मज्ञान होने पर जागतिक पदार्थों में पिण्डग्रहता का (साकारता यानी स्थूलता का) बाध हो जाने से दुःख शान्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में पदार्थों की पिण्डग्रहता (स्थूलता) सारी की सारी भ्रान्ति रूप ही है, यह बात अर्थतः कही ही गई है॥५३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, संसार को स्वप्नवत् एकमात्र मिथ्या मानने से आनन्दावाप्तिरूप अभीष्ट कैसे सिद्ध होता है ? केवल मिथ्या ज्ञान से स्वप्न आदि में पदार्थों की पिण्डरूपता (साकारता) कैसे शान्त होती है ? ॥५४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, अध्यात्मशास्त्र के पूर्वापर के विचार से ज्ञानोदय होने पर पदार्थों में साकारता की निवृत्ति होती है और इसी प्रकार स्वप्न के पदार्थों में जाग्रत् होने पर स्थूल भावना निवृत्त हो जाती है।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : जिसकी अध्यात्मशास्त्र के पूर्वापर के पर्यालोचन से जगत्स्थूलता की भावना सूक्ष्मता को प्राप्त हो चुकी वह जीवन्मुक्त पुरुष जगत् को कैसा देखता है ? और उसकी यह संसारगर्तरूपी भ्रान्ति कैसे मिटती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, वासनाविहीन जीवन्मुक्त पुरुष जगत् को उजड़ा हुआ,

असत् के सदृश, गन्धर्वनगरतुल्य और वृष्टि से मिटाये गये चित्र के तुल्य देखता है ॥५५-५७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर, तदुपरान्त वासनाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर स्वप्नतुल्य जगत्स्थितिवाले जिस पुरुष की दृष्टि में जगत् के पदार्थों की स्थूलता विनष्ट हो चुकी उस जीवन्मुक्त का फिर क्या होता है ? ॥५८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्र, जो जगत् को संकल्परूप जानता है उस जीवन्मुक्त पुरुष की वह अतिसूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर भूमिकाओं के परिपाक क्रम से विलीन हो जाती है। इससे वासनाविहीन हुआ वह शीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त होता है।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, अनेक जन्म जन्मान्तरों से बद्धमूल, शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, जन्म-मरणरूपी बन्धन में डालनेवाली भीषण वासना कैसे शीघ्र शान्त हो जाती है ? ॥५९,६०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स रघुवर,केवल भ्रममात्रस्वरूप यह दृश्यचक्र (संसारचक्र) यथार्थ तत्त्वज्ञान से स्थूलाकारता से विमुक्त हो जाता है यानी जले हुए वस्त्र के समान इसका केवल ढाँचा ही शेष रह जाता है। अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के क्रम से उसका भी विनाश हो जाता है ॥६१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, इस संसारचक्र के क्रमशः पिंडग्रहविहीन (स्थूलाकारशून्य) होने पर निर्विक्षेपता का साधक दूसरा क्या है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुपुंगव, साकारताभ्रम के निवृत्त होने पर जब जगत् केवल चित्मात्रता को प्राप्त हो जाता है, विनाशाभावरूप गौरव से उन्मुक्त हो जाता है तब जगत् में भोगों की आस्था का शमनरूप परम वैराग्य हो जाता है ॥६२,६३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, बालक के संकल्पभूत अतितुच्छरूप से स्थित देदीप्यमान इस जगत् में दुःखहेतुभूत आस्था की निवृत्ति कैसे होती है ? अत्यन्त तुच्छ संकल्पवाला बालकरूप नर भी दुःख का अनुभव करता हुआ कैसे दिखाई देता है ? ॥६४॥

अविचार से तुच्छता का ज्ञान न होने के कारण ही बालक को भी दुःख होता है, किन्तु विचार द्वारा तुच्छता का ज्ञान होने पर उसके नाश आदि में दुःख नहीं होता है, यह आप भी विचार कीजिये, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : संकल्पमात्र से सम्पन्न जगत् के नष्ट होने पर दुःख कैसे हो सकता है ? जो जगत् संकल्पमात्र तथा चित्तमात्र है उस चित्त का आप भी विचार कीजिये ॥६५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, चित्त कैसा है ? कैसे उसका विचार किया जाता है ? उक्त चित्त का भलीभाँति विचार करने पर क्या होता है ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥६६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, चित् का जो विषयों की ओर झुकना है वही चित्त कहलाता है। इस समय मेरे सामने आपसे किया जा रहा महारामायण श्रवण ही इसका विचार है। इससे वासना निवृत्त हो जाती है ॥६७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, चित्त के स्थितिकाल में चित्त के निरोध से होनेवाली चित्की अचेत्योन्मुखता (परमात्मा की ओर प्रवण होना) कितने काल तक रहेगी ? यानी बहुत थोड़े समय तक रहेगी, इसलिए निर्वाणपद प्रदान करनेवाली चित्त की अचित्तता कैसे उदित होती है ? यह मुझसे कहिये

यानी चित्त के नाश का ही उपाय मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥६८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चेत्य का जब संभव ही नहीं है तब चिति कैसे और कहाँ से चेत्य की कल्पना करती है। इस कारण चेत्य के अंसभव से चित्तसत्ता नितरां नहीं है। *चेत्य के असंभव के दर्शन से चेत्य का परिमार्जन ही चित्तनाश का उत्तम उपाय है, यह श्रीवसिष्ठजी के उत्तर का आशय है*॥६९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जिस चेत्य का (दृश्यका) सबको अनुभव होता है, उसका कैसे संभव नहीं है ? सकल जनों से और अपने अनुभूत विषय में इस प्रकार का अपलाप आप कैसे करते हैं अर्थात् चेत्य का सर्वथा असंभव है तो लोगों के अनुभव का विषय कौन होगा ? ॥७०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, अज्ञानियों का दृष्टिगोचर जैसा जगत् है वह सत्य नहीं है, ज्ञानियों का ज्ञानगोचर जो है वह अद्वितीय तथा वाणी का अगोचर है। भाव यह कि अज्ञपरिज्ञात भौतिक जगत् का अपलाप करने पर उसकी (अज्ञ की) तत्त्वज्ञानियों द्वारा परिज्ञात नामरूपविहीन तत्त्ववस्तु विषय होगी ॥७१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अज्ञानियों की त्रिलोकी कैसी है और वह सत्य कैसे नहीं है ? और ज्ञानियों का जैसा जगत् है वह वाणी का विषय कैसे नहीं हो सकता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, अज्ञानियों का जो जगत् है वह देश, काल, और वस्तुकृत परिच्छेद से युक्त है किन्तु उस तरह का यानी देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेदवाला जगत् ज्ञानियों की दृष्टि में न इस समय है और न सृष्टि के आदि में ही उसका संभव है, अतएव ज्ञानियों की दृष्टि में वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या है ॥७२,७३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जो जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं हुआ और जिसका कभी संभव नहीं है, जो असद्रूप और आभासशून्य है उसका अनुभव कैसे होता है ? यदि वह अत्यन्त असत् है तो वह अर्थक्रियासमर्थरूप से अनुभूत कैसे होता है, *यह भाव है*॥७४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जाग्रत् जगत् स्वप्न जगत् के समान असत् होता हुआ भी सत्सा प्रतीत होता है इसका कोई कारण नहीं है, यह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है और स्वप्न के समान उद्भूत हुआ यह स्वप्नवत् अर्थक्रियाकारी भी प्रतीत होता है ॥७५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, स्वप्न आदि में और मनोरथ, वितर्क आदि में जो दृश्य का अनुभव होता है वह जगद्व्यवहार के अनुभव से उत्पन्न जाग्रत्रूप संस्कार से होता है, किन्तु यह जाग्रत् किससे अनुभव में आता है ? ॥७६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, संस्कार से स्वप्न में क्या जाग्रत् में प्रसिद्ध अर्थ का ही अनुभव होता है अथवा अन्य अर्थ का वैसे ही स्वप्न और मनोराज्य में जाग्रत् प्रसिद्ध अर्थ का ही अनुभव होता है अथवा अन्य पदार्थ का यह मुझसे कहिये ॥७७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, स्वप्न और मनोराज्य आदि कल्पनाओं में संस्काररूप से जाग्रत् में प्रसिद्ध अर्थ का ही नित्य भान होता है यही बात मनोरथ, भ्रम आदि में भी समझनी चाहिये ॥७८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुनाथ, जाग्रत् के संस्कार से जाग्रत्प्रसिद्ध अर्थ का ही स्वप्न में यदि भान

होता है तो स्वप्न में गिरा हुआ घर प्रातः काल जागने पर कैसे प्राप्त होता है ? क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् के पदार्थों के अभिन्न होने पर स्वाप्न पातन जाग्रत्पातनरूप ही ठहरा, यह भाव है ॥७९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जाग्रत्पदार्थ का स्वप्न में भान नहीं होता, किन्तु अन्य अर्थ ही स्वप्न में भासता है किन्तु वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है यह आपका अभिमत अर्थ मेरी समझ में आ गया है। किन्तु इतना सन्देह अभी शेष है कि वह अन्य पदार्थरूप ब्रह्म जगत् सा कैसे भासता है ? ॥८०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सब कुछ अपूर्व सा भासित होता है ऐसा ही नियम नहीं है, किन्तु कोई अर्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ, चित्त में अपूर्व प्रतीत होता है। कोई तो जिसका पहले अनुभव हो चुका,अपूर्व प्रतीत नहीं होता और वह अनुभव जिस आकार से सृष्टि के आदि, अन्त और मध्य में अभ्यास होता है उस आकार से भासता है। ब्रह्माकारता के अभ्यास के खूब अभ्यस्त होने पर वैसे ही भासेगा, यह भाव है ॥८१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, इस प्रकार से आपसे बोधित हुआ मैं जाग्रत् जगत् भी स्वप्न जगत्स्वरूप ही भासित होता है यों जान गया हूँ स्वप्नवत् ज्ञात हुआ भी यह जगद्रूपी पिशाच क्रूर ग्रह की तरह मुझे दुःख देता है अतः किस तरह उसकी चिकित्सा की जाय यानी निवृत्ति की जाय ? ॥८२॥

उसके कारण की विवेचना द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये इस आशय से श्रीवसिष्ठजी स्वप्न संसार का कारण पूछते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो यह संसाररूपी स्वप्न है इसका कारण क्या है ? कार्य से कारण भिन्न नहीं होता यह बात शतशः देखी गई है, इसीका आप विचार कीजिये। चूँकि कारण चित्त ही है, अतएव स्वप्नज्ञान चित्तरूपी ही हैं वैसे ही आद्यन्त विहीन असार निर्विकार विश्व भी चित्त ही है ॥८३,८४॥ हे महामते श्रीरामजी, चेत्य के उन्मुख चित् ही चित्त है यह बात मैं पीछे अनेक बार कह चुका हूँ। ऐसी स्थिति में चित्त महाचिद्घन ही है और वही जगत् के आकार की तरह स्थित है यह सिद्ध हुआ। अतएव स्वप्न , जाग्रत् आदि कुछ भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है ॥८५॥

जब चित् जगत् है और विषयाभिमुख चित् ही चित्त है तब जैसा शाखा प्रशाखारूप अवयव और वृक्षरूप अवयवी का भेदसहिष्णु अभेद है इसी प्रकार भेदाभेद से ब्रह्म में जगत् स्थित है ऐसा ही क्यों नहीं कहते हैं, स्वप्न आदि कुछ नहीं है यों निषेध क्यों करते हैं ? ऐसी श्रीरामजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जैसे शाखादि अवयवों और वृक्षरूप अवयवी का तादात्म्यरूप एकता (अभेद) भेदसहिष्णु है वैसे ही चित्त और जगत् का भी तादात्म्यरूप अभेद भेद सहिष्णु हो। उस स्थिति में समष्टिचित्तरूप जगत् आदि से अवयवरहित ब्रह्म में एकता हो ॥८६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी कल्पना कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि विचार–विमर्श किया जाय तो सृष्टि के आरम्भ में जगत् कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, इसलिए भासित हो रहा यह सब प्रपंच अजर, शान्त, अजन्मा, अखण्ड परमात्मरूप ही है ॥८७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपके सदुपदेश से मैं यह मानता हूँ कि भ्रान्ति से द्रष्ट्रत्व और भोक्तृत्व आदि सहित सृष्टि के जन्म, नाश आदि भ्रम परमपदरूप ब्रह्म में काकतालीयन्याय से अकस्मात उदित हुए हैं ॥८८॥

इस प्रकार जगत् केवल भ्रान्ति ही है, यों निश्चय कर चुके श्रीरामचन्द्रजी के प्रति जगत् सादि (प्रारंभवाला) है इस भ्रांतिमय दृष्टि का यौक्तिकदृष्टि और तत्त्वदृष्टिमूलक शास्त्रीयविचार से मैं निराकरण कर चुका हूँ, यों श्रीवसिष्ठजी सर्ग का उपसंहार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, लोक में तीन प्रकार की दृष्टियाँ प्रसिद्ध हैं – १. पामर दृष्टि, २. यौक्तिक दृष्टि और ३. तत्त्वदृष्टि। उनमें से प्रथम दृष्टि का दूसरी और तीसरी दो दृष्टियों से खंडन करना चाहिये और अन्त में दूसरी दृष्टि का तीसरी यानी तत्त्वदृष्टि से खण्डन करना चाहिये। इस अभिप्राय से पिछली दो दृष्टियों का अवलम्बन कर मैंने इस समग्र विश्व का यथार्थरूप से अवलोकन किया है। दो दृष्टियोंमें सार में से भी निर्मथन करके मुख्य सारभूत पदार्थ का ग्रहण करने में समर्थ तथा प्रमाण और प्रमेय तत्त्व की परीक्षा करने में कुशल विद्वानों की दृढ़तर विचार करनेवाली अति निष्कर्षभूत होने से अभिनव (नवीन) जो लोकोत्तर दृष्टि है वह पहली है और अध्यात्मशास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के परिपाक से सिद्ध परमतत्त्वरूप अर्थ मात्र का अपरोक्षरूप से जिसमें स्फुरण होता है ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषों में पाई जानेवाली दृष्टि दूसरी है। उक्त दो दृष्टियों का अवलम्बन करके इस शास्त्र में मैंने तब तक निरीक्षण किया है जब तककि सकल दृष्टियाँ, द्रष्टा, जीव तीनों कालों में नहीं रहे, जगत् की शून्यता का भी ग्रहण नहीं हुआ और भ्रम का ज्ञान भी नहीं हुआ एवं जब तक नित्य अपरोक्ष परमानन्दरूप ब्रह्मात्मैक्यवस्तु स्थित नहीं हुई ॥८९॥

एक सौ नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्यानबेवाँ सर्ग

अज्ञान से ब्रह्म का ही जगत्रूप से जैसे भान होता है तथा प्रबुद्धमात्र का
जैसे परमपद स्थिति रूप निर्वाण होता है, इस विषय का भली भाँति वर्णन।

पूर्वसर्ग में वर्णित रीति से प्रबोध को प्राप्त हुए श्रीरामचन्द्रजी सिद्धान्त पक्ष को स्वीकार कर कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, ऐसी यदि बात है तो परतत्त्व विवर्तभूत यह जगत् सदा सर्वपदार्थात्मा ब्रह्म ही है। यह न कभी उदित होता है और न कभी नष्ट होता है ॥१॥ यौक्तिक दृष्टि से जगदाकार दिखाई देनेवाली यह भ्रान्ति (विक्षेपशक्ति प्रधान अविद्या) ही स्फुरित होती है। तत्त्वदृष्टि से तो वह भ्रान्ति भी है ही नहीं, केवल ब्रह्म सत्ता ही है ॥२॥

श्रीरामचन्द्रजी के कथन का अनुमोदन कर रहे श्रीवसिष्ठजी यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, आपने ठीक समझा है। काकतालीय के समान अतर्कनीय अविद्या से अपने में अपने से जिस ब्रह्म का भान होता है जीवभूत उसी ब्रह्म से आत्मा ही (स्वरूप ही) 'जगत्' जाना जाता है ॥३॥

महाप्रलयकाल में अपने अवलम्बनभूत दिग्विभाग के बिना अपरिच्छिन्न चित्प्रकाश की असंभावना कर रहे श्रीरामजी विस्मयपूर्वक पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अविच्छिन्न चित्प्रकाशदिग्विभाग के बिना सृष्टि के आदि में, प्रलयकाल में और मोक्ष में कैसे प्रकाशित होता है, यह महान् आश्चर्य है। आलम्बनरूप दीवार के बिना

भला दीपप्रभा का कैसे भान होता है ? *भाव यह कि आलम्बन के बिना जैसे प्रभा की प्रथा का असंभव है वैसे ही दिग्विभागरूप आलम्बन के बिना परमात्मा की भी प्रथा असंभाव्य है ॥४॥*

अन्यत्र न देखे गये (उदाहरणशून्य) अत्यन्त आश्चर्यभूत इसकी प्रमाणानुभव के बल से संभावना करनी चाहिये यों श्रीवसिष्ठजी संभावना करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यह इस प्रकार का यानी अत्यन्त आश्चर्यरूप ही है, क्योंकि 'विभुं चिदानन्दामरूपमद्भुतम्' (सर्वव्यापक चिदानन्दस्वरूप रूपरहित अद्भुत) ऐसे श्रुति है और 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (कोई इसे आश्चर्य सा देखता है) यों भगवान् का वाक्य है तथापि असंभावना नहीं करनी चाहिये। अन्वय और व्यतिरेकरूप से परीक्षा कर आप देखिये। क्योंकि वही चितिरूप सूर्यादि प्रभा की भी प्रभा अन्धकार काल में अपनेसे ही प्रथित होती रहती है। सूर्योदय होने के बाद प्रकाश आदि के साथ भी वह रहती है ॥५॥ सूर्यादि का प्रकाश भी दीवार आदि में निरपेक्ष स्वभाववाला होकर दीवार में प्रकाशित सा होता है। उसकी प्रकाशता में दीवार का कोई हाथ नहीं है। बल्कि दीवार और दीवार का भासना उसकी स्वप्रकाशता के बल से ही होता है। प्रकाश की स्वरसता से ही दीवार की प्रतीति होती है। वहाँ पर जैसे दीवार आदि के सम्बन्ध से पहले आकाश में प्रकाश दिखाई देता है वैसे सृष्टि के आदि में और प्रलय में भी वक्ता श्रोता इस निर्विषय आत्मा को ही आप देखिये ॥६॥

इस तरह निरालम्ब चित्की संभावना की सिद्धि होने से वही सृष्टि के आदि में जगत् के आकार से सम्पन्न हुई यह आप संभावना कीजिये, ऐसा कहते हैं।

इसलिए न द्रष्टा है और न दृश्य ही है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि त्रिपुटी कुछ नहीं है केवल निर्विकार चिदाकाश ही है। चित् प्रभा ही अपने से भित्ति (मूर्त आलम्बन) तथा उसका भासन आदि रूप धारण करती है ॥७॥

एक रूप ही चित् की द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप त्रिपुटी स्वप्न आदि में भी प्रसिद्धि ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे एक ही चित्प्रभा स्वप्न आदि में द्रष्टा, द्रश्य आदि त्रिपुटीरूप होती है वैसे ही जाग्रत् में भी एकमात्ररूप वह चिति द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी को धारण कर विराजमान होती है ॥८॥ जिस सृष्टिकाल में भासनेयोग्य पदार्थ, भान तथा भासयित्री (भासिका) स्वयंचित्प्रभा ही है उस सर्गादि में सृष्टि के तुल्य भास रही चित्प्रभा ही विराजमान है। एक ही चित्प्रभा द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन यों त्रिपुटीरूप होकर सृष्टि के आदि में सृष्टि के सदृश स्फुरित होती है। इसका (चित् का) यही स्वभाव (मायाशक्ति) है कि यह इस तरह देदीप्यमान रूप में भासित होती है। यह बात जाग्रत् में ही नहीं अपितु स्वप्न, संकल्प (मनोराज्य) और गन्धर्वनगर में भी अनुभव में आती है यानी वहाँ भी एक ही चिति द्रष्टा, दर्शन और दृश्य होकर स्फुरित होती है। प्रथम उदित हुई यह चित्प्रभा इस प्रकार प्रकाशित होती है। अपने चिदाकाशरूप में चिदाकाशस्वरूपा यह इस जगत् के रूप से भासती है। सृष्टिरूप से इसका जो यह आदि-अन्तशून्य भान है वही सृष्टियाँ हैं ॥९-१२॥

अज्ञानियों को ही यह आश्चर्यवत् मालूम होती है हम ज्ञानियों का तो यह स्वभावभूत ही है आश्चर्यवत् नहीं है, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी लोगों को ही यह सृष्टि आश्चर्य के तुल्य प्रतीत होती है, किन्तु हमारे सदृश ज्ञानियों

की दृष्टि में तो यह स्वभावभूत (ब्रह्मरूप) ही है, क्योंकि कदाचित् अकस्मात् इस भास्य–भासक–भानरूप त्रिपुटी के हम लोगों की दृष्टि में प्रतिभात होने पर भी तत्त्वज्ञान के अनुसन्धान से वह शीघ्र ही मिट जाती है ॥१३॥

तत्त्वज्ञान का अनुसन्धान कैसे होता है ? इस प्रश्न पर तत्त्वज्ञान का अनुसन्धान कहते हैं।

उस समय सर्ग के आदि में न दृश्य था, न दर्शक था और न दर्शन ही था। मिथ्याज्ञान के कारण ही जैसे स्थाणु में पुरुष की प्रतीति होती है वैसे ही आत्मा में द्वैत का भान होने के कारण चित्त में भेद का भान होता है। सृष्टि के आदि में भास्य आदि नहीं है, भासक चिदात्मा तो अवश्य है। उस समय कारण का अभाव होने से केवल चिदाकाश ही द्वैत के रूप में भासता है। भला बतलाइये तो सृष्टि के आदि में शुद्ध चेतन में वस्तुतः क्या कारण हो सकता है ? पदार्थ–दृष्टि के अभाव से चिति ही इस प्रकार जगत् के रूप से प्रकाशित होती है। जो यह जगत् का भान है, यह न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है और न स्वप्न है, किन्तु तुरीय चिति ही यों प्रकाशित होती है। दृश्य का कदापि संभव न होने से केवल ब्रह्म ही द्वैत के रूप से भासता है ॥१४–१८॥ जो चिदाकाशस्वरूप परमात्मा अजगत्मय अपने ही स्वरूप को जगत् जानता है वही सृष्टि के आरम्भ में इस प्रकार जगत् के रूप से भासता है। जो यह जगत् है वह परमात्मा ही है। शून्यता और आकाश के भेद विकल्प के विकास के समान जगत् और परमात्मा का भेद विकल्प विकास अज्ञान विकसित है ॥१९,२०॥

वर्णित तत्त्वज्ञान के अनुसन्धान प्रकार का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान के अनुसन्धान के उपाय से तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर जब तक भूमिकाओं के परिपाक के क्रम से यह सुन्दर अनुभव से युक्त हो दृढ़ नहीं होता है तब तक विकल्पमुक्त होकर पाषाण की तरह सकल व्यापारों कों त्यागकर रहना चाहिये। अनादि संसार में बार–बार भोगे हुए इस काल में वैराग्यवश त्यागे हुए बाह्य विषय का अज्ञानी कुपुरुष द्वारा इसका भोग करो यों कहने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥२१॥

एक सौ इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बानबेवाँ सर्ग

प्रबुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजी का अपने प्रबोध को श्रीवसिष्ठजी की
शुभसन्निधि में जैसा यह चिन्मात्र है वैसा विस्तार से कथन।

सकल सन्देहों की निवृत्ति होने से भलीभाँति बुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजी जैसे सोकर जागा हुआ पुरुष स्वप्नभ्रान्ति का स्मरण करता है वैसे ही संसार–भ्रान्ति का आश्चर्यरूप से स्मरण करते हुए कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे गुरवर, महान् आश्चर्य है। हम लोग चिरकाल तक संसाररूप निःसीम आकाश में वर्तमान इस ब्रह्माण्ड के एक प्रदेश में एकमात्र आत्मतत्त्व से अपरिज्ञात होने के कारण भ्रान्ति में पड़े हैं ॥१॥ किन्तु आत्मतत्त्व के परिज्ञात होने पर यह सम्पूर्ण जगद्भ्रान्ति कुछ भी नहीं है। न तो यह कभी हुई, न है और न होगी।

बृहदारण्यवार्तिक में श्रीसुरेश्वाचार्यजी ने कहा है :

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥

अर्थात् 'तत् त्वमसि' इत्यादि वेदान्त वाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान के (तत्त्वबोध के) जन्ममात्र से अपने कार्यभूत जगत् के साथ अविद्या भ्रान्ति नहीं थी, न है और न भविष्य में रहेगी। यह सारा जगत् शान्त, आलम्बन रहित, विज्ञानघन, असीम, कल्पना शून्य, नीराग, अद्वितीय चिद्घनाकाश ही स्थित है ॥२,३॥ हे गुरुवर, यथार्थरूप से अपरिज्ञात यह परमाकाश ही हम लोगों की दृष्टि में संसारसदृश बन गया है, यह महान् आश्चर्य है ॥४॥ अत्यन्त सुनिर्मल चिदाकाश का ही ये लोग हैं, ये पर्वत हैं इस प्रकार द्वैतरूप से भान हुआ है। निर्मल परमाकाश ही अनिर्मलसा होकर द्वैतरूप से स्थित है ॥५॥ हे भगवन्, सृष्टि के आदि में, परलोक आदि में, स्वप्न आदि में, काव्यरचना में तथा मनोराज्यआदि में चित् का ही चेत्यकी भाँति भान होता है। अन्य दृश्य का कहाँ से संभव है ? मैं नरक में स्थित हूँ अथवा स्वर्ग मे स्थित हूँ ऐसी यदि पुरुष को भ्रान्ति हो तो उस भ्रान्ति के कारण ही उसको नरक बन्धन अथवा स्वर्ग बन्धन प्राप्त होता है, अतः स्वर्ग या नरकरूप दृश्य संविन्मय (काल्पनिक) ही है। न यह दृश्य है, न द्रष्टा जीव है, न सृष्टि है,न जगत् है, न चिदाभास है और न जाग्रत्,स्वप्न, सुषुप्ति आदि ही हैं। जो कुछ भी यह अज्ञानियों का दृग-विषय अविद्या अथवा अविद्याकार्य है वह भी सब खरगोश के सींगवत् असत् है ॥६-८॥ हे मुनिनायक, इस भ्रान्ति की कहाँ से उत्पत्ति होती है ऐसी यदि आलोचना की जाय तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति के अभाव का अनुभव होने से यानी भ्रान्ति के असत् होने से उसके कारण का विचार करना कहाँ उचित है ? विकारविहीन तत्त्वज्ञान के आस्पद में भ्रान्ति का कदापि संभव नहीं है। जो कुछ भी यह भ्रमज्ञान है वह भी चित्स्वरूप परमात्मा ही है, उससे भिन्न नहीं है। निरवकाश, आदि-अन्तशून्य (असीम) आकाश में या पर्वत के (चट्टान के) मध्यमें अथवा स्फटिक शिला के गर्भ में और निर्विकार ज्ञानरूप परमपद में भेद की कल्पना करनेवाला अन्य कौन हो सकता है ? ॥९-११॥ ब्रह्मन्, स्वप्न में अपने मरण के अनुभव की तरह भ्रान्ति का अनुभव मिथ्या ही है उक्त भ्रमानुभव अविचारजनित है। विचार करने से इसकी शान्ति हो जाती है ॥१२॥ जैसे मृगतृष्णा जल, गन्धर्वनगर और द्विचन्द्र का भ्रम विचार करने से प्रतीत नहीं होता वैसे ही यह अविद्याजनित भ्रम भी तत्त्वविचारविमर्श करने से शेष नहीं रहता है ॥१३॥ बालक के वेताल की (भूत की) तरह जाग्रतकाल में प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी यह भ्रान्ति यथार्थ नहीं है। अविचार से बद्धमूल हुई यह विचार से शान्त हो जाती है ॥१४॥ हे मुनिवर, यह भ्रान्ति किस कारण से थी यह प्रश्न भी इसके विषय में शोभा नहीं देता। विचार के लिए ही प्रश्न है वह इस विषय में सफल नहीं है, क्योंकि विचार से सत् का ही लाभ होता है असत् का नहीं होता। भ्रान्तिमूलक ज्ञान असत् है उसका निर्णय ही नहीं हो सकता, यह भाव है ॥१५॥

अज्ञान की असत्ता प्रमाणपूर्वक विचार से अलभ्य होने के कारण ही है, ऐसा कहते हैं।

प्रामाणिक विचार से निरीक्षण करने पर जिसकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा यह जगत् का मूलभूत अज्ञान असत् ही है। इसी कारण उसका अनुभव भ्रम है ॥१६॥ श्रुति आदि प्रामाणिक विचारों से सुविचारित होने पर भी जो परिच्छिन्नरूप से प्राप्त नहीं होता वह आकाशपुष्प, खरगोश के सींग की तरह असत् के तुल्य है ॥१७॥ चारों ओर से विचारपूर्वक देखने पर भी जो कहीं से भी नहीं प्राप्त होता,

वन्ध्या के पुत्र के तुल्य उसकी सत्ता कैसे हो सकती है ? इसलिए कदापि किसी भी भ्रान्ति का संभव है ही नहीं। यह निरावरण विज्ञानघन ही सर्वतःव्याप्त है। आज जो कुछ भी जगत्–नाम–धारी यह भासिता होता है वह परम ब्रह्म ही है। निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण परम ब्रह्मस्वरूप में वह पूर्ण परमब्रह्म ही अपनी महिमा में स्थित है ॥१८–२०॥ इस धरातल में कभी कुछ भी न भासित है और न अभासित है यह सुनिर्मल शान्त ब्रह्म ही इस प्रकार जगत् के रूप में स्थित है ॥२१॥

किस प्रकार का वह परमपद स्थित रहता है ? इस प्रश्न पर उसे कहते हैं।

जन्मरहित, मरणशून्य, अन्यलोगों द्वारा रहने के अयोग्य,विद्वान् पुरुषों द्वारा सेवित, अविकारी, निर्दोष, चारों ओर से परिपूर्ण, 'अहम्' ही निरहं (निरहंकार) होकर बोध से उदित सर्वत्र व्याप्त, शुद्ध आवरण–परिच्छेद का नाश होने से विकास युक्त, अनेक और अद्वितीय रूप से परम पद स्थित रहता है ॥२२॥

एक सौ बानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरानबेवाँ सर्ग

प्रबोध से क्षणभर अज्ञानरूपी निद्रा का विनाश होने पर श्रीरामचन्द्रजी ने
निखिल द्वैत से विनिर्मुक्त नित्य आत्म में स्थिति का वर्णन किया, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आदि और अन्त रहित जिस परमपदरूप ब्रह्म को न तो कर्म की उपासना से सिद्धि को प्राप्त हुए देवता लोग जानते हैं और न तपोयोग से सिद्ध ऋषि लोग जानते हैं अथवा यहाँ पर चक्षु आदि बाहरी और आभ्यन्तर करण ही देवता और ऋषि कहे गये हैं। *'ते ह देवा उद्गीथमाजह्नुः। इमावेव गौतमभारद्वाजौ' इत्यादि श्रुति है।* वही यह जगत् के रूप में स्फुरित है, कहाँ जगत् है और कहाँ दृश्यता है ? ॥१॥ द्वैत और अद्वैत का अनुसन्धान करने पर मन में उदित हुआ जो द्वैत और अद्वैत का समुन्मेष है उससे जनित वाक्य व्यवहारों, सन्देहों और विभ्रमों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। *सबसे पहले 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध जो निर्मल परमब्रह्म है, उसीका यह सब कुछ भान है* ॥२॥

इस समय जगद्भान कैसे सम्पन्न हुआ ? इस प्रश्न पर उसे कहते हैं।

जैसे आकाश में केशोण्ड्रक, मोती की माला, गन्धर्वनगर आदिकी अभेद से स्थिति है वैसे ही चिदाकाश में त्रिजगत्रूप आकाश की अभेद से स्थिति है ॥३॥ जैसे आकाश में आकाशत्व अभेद से सामान्यरूप से और आकाशरूप से स्थित है, जैसे पाषाण में पाषाणत्व, जल में जलत्व अभेद से स्थित है वैसे ही चिद्घन ब्रह्म में जगत् अभेद से, ब्रह्मरूप से स्थित है ॥४॥ भगवन्, दिशाओं में और आकाश में असंख्यरूप से विस्तृत भी अहंकारादि सहित त्रिलोकीरूप दृश्यको आप शान्त आकाशरूप शून्यता से उदित महाचेतन का उदर ही समझिये ॥५॥ अपरिच्छिन्न उदयवाले यानी सर्वव्यापी इस परम ब्रह्म का शास्त्राभ्यास तथा गुरुकृपा से साक्षात्कार होने पर अज्ञ जीव की दृष्टि में देदीप्यमान भी यह संसाररूपी पिशाच शान्त हो जाता है ॥६॥ जड़ की (मूर्ख की) भाँति सांसारिक व्यवहार में अत्यन्त लिप्त हुए भी अजड़ की (ज्ञानी पुरुष की) भेदबुद्धि (द्वैतबुद्धि) वैसे ही अवश्य विनष्ट हो जाती है जैसे

कि जल के अन्दर तरंग नष्ट हो जाती है ॥७॥ आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि त्रिविध संताप के आकारभूत अज्ञानरूपी सूर्य के सर्वदा के लिए कहीं विदा होने पर संसारसत्तारूपी दिन सर्वथा अदर्शन को प्राप्त हो जाता है यानी लुप्त हो जाता है वह मोक्षसुख में विश्रामहेतु रात्रिका आगमन है ॥८॥ उत्पत्ति और विनाशयुक्त कार्यों में, जरा, जन्म, मरण आदि में तथा व्यवहार विक्षेपों में वेग से स्थित भी ज्ञानी पुरुष उनमें स्थित नहीं रहता ॥९॥ यहाँ वास्तव में न अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुखोदय है। ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। यथार्थरूप से परिज्ञात यह सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। हम तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में अपरिज्ञात अब्रह्मात्म (ब्रह्मभिन्न) कुछ नही है यानी सब कुछ परिज्ञात होकर ब्रह्मरूप ही है ॥१०,११॥ हे गुरुवर, आपकी कृपा से मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मेरी सकल कुदृष्टियाँ शान्त हो गई हैं। इस प्रकारका (ज्ञानवान्) मैं त्रैलोक्य को शान्त, सकलद्वैत विषमता-शून्य चिदाकाशरूप देखता हूँ। भलीभाँति परिज्ञात यह सारा जगत् केवल ब्रह्म ही है। न मैं पहले कोई दूसरा था और न इस समय कोई दूसरा हूँ। पहले में अज्ञतात्म (जिसने अपने रूप को नहीं जाना) ब्रह्म था इस समय ज्ञात आत्मा में ब्रह्म ही स्थित है। जैसे शून्यत्व, एकत्व तथा नीलता में आकाश एकमात्र है वैसे ही एक अजर अमर ब्रह्म अपने से अतिरिक्त ज्ञानअज्ञाननिर्भास शून्य है। इसलिए ज्ञान होने के कारण मैं निर्वाणरूप होकर स्थित हूँ, अज्ञान की निवृत्ति से ही सकल शंकाओं की निवृत्ति होने के कारण निःशंक होकर स्थित हूँ, सकल अभिलाषाओं की निवृत्ति से मैं निस्पृह होकर स्थित हूँ। विक्षेपशून्य आत्मसुख में ही धाराप्रवाह से चित्तवृत्ति जैसे रहे वैसे मैं स्थित हूँ। यथास्थित नित्य मैं अनेकरूप से स्थित हूँ। इस प्रकार प्रबुद्ध हुआ मैं समस्तात्मरूप ब्रह्म में कैसे स्थित नहीं हूँ, क्योंकि ब्रह्मभाव से प्रच्युति के हेतुभूत मेरे अज्ञान का बाध हो चुका है ॥१२-१५॥ भगवन्, सदा ही सब कुछ एक अनन्त मैं ही हूँ अथवा सब कुछ और कुछ भी नहीं तथा सकल उपद्रवों से रहित एक होकर मैं ही हूँ अथवा देश, काल रूप आधार की अप्रसिद्धि वश मैं कहीं पर नहीं हूँ इस प्रकार की यह निर्वाण नाम की सकलशान्ति अति आश्चर्यरूप है। गुरुवर, जाननेयोग्य परमपुरुषार्थरूप वस्तु को मैं जान चुका हूँ, अज्ञानी पुरुषों को दुष्प्राप्य मोक्षसुख मुझे मिल गया है, संसारअनर्थरूप वस्तु राशियाँ सबकी सब चली गई हैं। चरम साक्षात्कार से उदित बोधरूप वह निज स्वरूप मेरा उदित हो गया है जिस स्वरूप में फिर मृत्यु, तिरोधान, दुःख आदि अनर्थों का नाम-निशान तक नहीं रहता है ॥१६,१७॥

एक सौ तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौरानबेवाँ सर्ग

मोक्षसाधन आत्मतत्त्व और जगत्तत्त्व जिस भाँति रामचन्द्रजी ने जाना, उसका गुरुजी के समीप निवेदन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सब जीवों की सब मनोवृत्तियों में जब जब जिस जिस भोग के लिए जिस प्रकार स्वप्रकाश चिदात्मा का भान होता है यानी विवर्त होता है उस प्रकार स्वयं ही भोक्ता नाना जीवों के रूप से अनुभव करता है यानी द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी बनकर अपनी माया से विवर्तित होता है ॥१॥ एकमात्र निरवयव परम सूक्ष्म ब्रह्म में सब जीवों द्वारा एक ही समय में अध्यासवश प्राप्त हुई भी अनन्त सृष्टियाँ प्रत्येक ब्रह्माण्ड, भुवन आदि भेद से विस्तीर्ण स्वभाव में ही परस्पर

असंलग्न होकर रहती हैं, क्योंकि वे सब जीवसृष्टियाँ इस प्रकार के निरवयव ब्रह्म में तादात्म्यअध्यास से आत्माकृत हैं (परम सूक्ष्म बनाई गई हैं)। अपने स्वरूप में किसी की अनवकाशता अथवा अवरोध नहीं है। जैसे सूक्ष्मतम विभिन्न रत्नों की किरणें एक घर में मिलकर भी अलग अगल रहती हैं वैसे ही ब्रह्म में जीवसृष्टियाँ भी अलग अलग स्थित हैं, यह भाव है ॥२॥ दृष्ट यानी समीपवर्ती (प्रत्यक्ष), देश और काल के व्यवधान से परोक्ष जगद्रूप रश्मियाँ इस परमात्मा में परस्पर सटे बिना (पृथक् पृथक्) वैसे ही प्रवेश करती हैं, संचार करती हैं जैसे कि एक घर में नाना रत्नों की रश्मियाँ ॥३॥

उनमें जिन जीवों का समान कर्मवासनानिमित्त अध्यास होता है उनको आपस में एक दूसरे का अनुभव होता है उनसे अतिरिक्तों को नहीं होता है, इस आशय से कहते हैं।

भगवन्, जैसे जल रहे बहुत से दीपकों का नेत्रवान् लोगों को अनुभव होता है नेत्रहीन लोगों को नहीं होता वैसे ही देदीप्यमान हो रहे बहुत से सर्गों का समानकर्मवासनाजनित अध्यासवाले किन्हीं लोगों को परस्पर अनुभव होता है उनसे अतिरिक्तों को नहीं ही होता। आवर्तों के (भँवरों के) क्रीड़ास्थलभूत सागर में प्रत्येक जलीय भाग में लवण आदि रस जैसे रहता है वैसे ही उस सृष्टिमें भी जर्रे जर्रे में ब्रह्माण्ड हैं तथा उन ब्रह्माण्डों में प्रत्येक अणु में सृष्टियाँ हैं। वास्तविक दृष्टि से न सर्ग है और न सर्गों का क्रम ही है ॥४,५॥ समुद्र में जलपरमाणु के रस के तुल्य सर्वत्र सर्वतः व्याप्त चिद्घन परमात्मा का जो नित्य आत्मवेदन है। सृष्टि के आधारपरम्परारूप उनकी गणना कौन कर सकता है ? जैसे कही पर भी अवयवी से अवयविता शब्दभेद के सिवा भिन्न नहीं है वैसे ही परमब्रह्म परमात्मा में सृष्टि शब्दभेद के सिवा भिन्न नहीं है ॥६,७॥ वास्तव में एकरूप (अद्वितीय) माया से अनन्त रूपवाले परमात्मा की जगत् अधिष्ठानस्वभावता कारण का अभाव होने से न उदित होती है और न अस्त को प्राप्त होती है ॥८॥ जैसे स्फुरित हो रही सूर्य की दीप्ति घट, पट आदि का प्रकाश करती है वैसे ही स्फुरित हो रही अकर्तृरूपा यह ज्ञप्ति ही इस सम्पूर्ण ज्ञेय घट, पट आदि पदार्थों का निर्माण करती है ॥९॥

तब कब और किस उपाय से वह अध्यात्म-व्यसन का त्याग करती है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानवश बाध होने के कारण सकल पदार्थों की निवृत्ति होने से ही स्वयं अक्षयस्वरूप क्षयशील (विनाशी) देहादि के तादात्मअध्यास से उन्मुक्त होता है। इस प्रकार का वह स्वरूप ही सकल विक्षेपों के विनाश से समाधान और निर्वृत्ति (सुख) रूप होने से निर्वाण कहलाता है ॥१०॥

अध्यास परम्पराओं की समाप्ति से ही स्वयं अपना परमपुरुषार्थ अवशिष्ट रहता है, यह कैसे संभव है ? क्योंकि बुद्धि से जिसका अनुभव हो रहा हो वही पुरुषार्थ है। बुद्धि से जो अननुभूयमान है उसमें पुरुषार्थता नहीं देखी जाती है। इसलिए पुरुषार्थता की प्रयोजिका चरमसाक्षात्कारवृत्ति मुक्ति में परमआवश्यक है, इसलिए सर्व पदार्थों की निवृत्ति मुक्ति है, यह मानना ठीक नहीं है ऐसी आशंका पर कहते हैं।

परमपुरुषार्थरूप बोध परमात्मबुद्धि से यानी चरम साक्षात्कार वृत्ति से ज्ञात नहीं होता है, क्योंकि जड़ बुद्धि में बोधशक्ति नहीं है और बोध बुद्धि का विषय नहीं हो सकता।

शंका : तब बोधशक्तिमान् परमात्मा का जैसे सोये हुए राजा का बन्दियों द्वारा बोध कराया जाता है वैसे ही बुद्धि द्वारा बोध कराया जाय।

समाधान : नहीं, बुद्धि द्वारा आत्मा का बोधन नहीं होता, क्योंकि जैसे राजा को सोया हुआ जानकर उसके बोधन के लिए बन्दीजन प्रवृत्त होते है वैसे बुद्धि को सोये हुए बोध का परिज्ञान ही नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें उसके बोधन के लिए वह कैसे प्रवृत्त होगी ?

शंका : तब बोध ही बोध को जाने।

समाधान : बोध भी बोध को नहीं जान पाता, क्योंकि बोध स्वयं बोध्य (बोध-कर्म) कैसे हो सकता है ? क्रिया से जन्य अतिशय का आधार कर्म है। बोध में न तो क्रिया है और न क्रियाजन्य अतिशय की आधारता का ही संभव है। बोध निष्क्रिय, निर्विकार है ॥११॥

इसलिए अध्यासपरम्परा चरम साक्षात्कारबुद्धिपर्यन्त की परिणाम परम्परा से अपने आप ही समाप्त हो जाती है। उसके समाप्त होने पर स्वप्रकाश होने के कारण प्रबुद्ध आत्मा ही कुहरे के आगमन से सोये हुए से मध्याह्न में कुहरे के बिलकुल हट जाने पर सूर्य के समान और सूर्य के ताप के समान प्रबुद्ध होता है। वही जीव का नित्यप्राप्त निरतिशय आनन्दाभिव्यक्तिरूप परम पुरुषार्थ है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे प्रातः काल में कुहरे के आगमन से सोया हुआ सा प्रतीत होनेवाला सूर्य और सूर्य का प्रकाश मध्याह्न में कुहरे के निःशेष होने पर प्रबुद्ध हो जाता है वैसे ही प्रबुद्ध ही बोध देश, काल आदि का अभाव होने पर भी अध्यासवश सुप्त के तुल्य प्रतीत होता है। अध्यास के हट जाने से स्वयं प्रबुद्ध हो जाता है ॥१२॥ बोध होने के कारण ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलों में तृष्णा न रखनेवाले, प्रशान्त इच्छावाले सज्जन पुरुषों को इच्छा न करने पर भी निर्वाण (मोक्ष) अपने आप प्राप्त होता है ॥१३॥ जिसका चिदात्मा मोहरूप निद्रा से जाग चुका है तथा जिसकी बाह्य वृत्तियाँ निरुद्ध हो चुकी हैं इस तरह का महात्मा पुरुष केवल अपने चित् स्वभाव में स्थित होकर न तो कुछ भी ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता है ॥१४॥ व्युत्थान काल में मन के मनन से युक्त भी (लोक-व्यवहारमें तत्पर भी) ज्ञानी पुरुष विषयों में आसक्ति न होने से मन के मनन से रहित है अतएव दीपक के तुल्य प्रकाश करता हुआ भी निष्क्रिय वह यथास्थित स्वरूप ही रहता है ॥१५॥ उस योगी को व्युत्थान काल में विश्वरूपनामक और अन्यत्र (समाधिकाल में) ब्रह्मनामक सृष्टि-असृष्टिरूप चिन्मात्र सर्वत्र भासता है ॥१६॥ जो योगी समाधि से व्युत्थित तथा समाधिस्थ होकर अभिन्नबोधरूप सद्रूपस्वरूपानुभव में ही स्थित हो व्युत्थान और समाधि को उदासीन वृत्ति से देखता है यानी किसी एक में विशेष आसक्ति नहीं रखता, वही संसाररूपी विक्षेप से शान्ति प्राप्त करता है अन्य नहीं ॥१७॥ जैसे आकाश की शून्य से अतिरिक्त दूसरी वास्तविकता नहीं है वैसे ही जगत् के समस्त पदार्थों की केवल बोधमात्र यथार्थरूपता के बिना अन्य वस्तुस्थिति नहीं है, इस प्रकार का जिसमें बोध होता है इस प्रकारकी उस योगी की सद्स्वरूपानुभव में स्थिति है ॥१८॥

अन्य सत्ता क्यों नहीं है ऐसा यदि कहो तो तत्त्वसाक्षात्कार से जगद्रूप का बाध होने पर चिन्मात्रसत्ता का ही परिशेष रहता है, इस आशय से कहते हैं।

पूर्णरूप से प्रबुद्ध यानी अपरिच्छिन्न ब्रह्मावगाहन में खूब प्रसृत होनेवाले बोध से पूर्ण महात्माओं की वह केवल प्रत्यगात्मरूप बोधता भी अपने ब्रह्मसन्मात्र परिशेषरूप अखण्डाकारवाक्यार्थलक्षण दूसरे परिणाम से अखण्डार्थक वाक्य-लक्ष्यता को प्राप्त हो जाती है ॥१९॥ अखण्डार्थक वाक्यलक्ष्यता की

विश्रान्ति होने पर यानी अखण्डार्थक वाक्यलक्ष्यत्व–रूप से स्थिति होने पर अत्यन्त शान्त हुए योगीजनों की जो कोई अवर्णनीय परासत्ता है वह शेष रहती है अथवा नहीं भी रहती है। दोनों ही प्रकारों में वाणियों की भी गोचरता को वह दशा प्राप्त नहीं होती है॥२०॥ जो सत्तासामान्य की पराकाष्ठा (परम अवधि) शोधित तत्पदार्थरूपा है वही बोध की भी शोधित त्वम्पदार्थरूप परम अवधि है। आकाश आदिरूप तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप सृष्टि सत्ताबोधमय ही है, इसलिए सबकुछ शान्त अविनाशी ही है॥२१॥ निर्वाण के लिए, वैराग्य के लिए तथा निर्मल शीतल बोध के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा अन्यान्य प्राणी भी मैं सदा ही रहूँ कदापि मेरा अभाव न हो यों सदा उस सत्ता की स्पृहा करते हैं॥२२॥ सब लोगों का सर्वाधिक स्पृहास्पद वस्तुभूत सकलप्रदेश में, सकल काल में, सकल वस्तु रूप से उदित चेतन स्वतः स्फुरित रूपवाला शुद्ध ही है उसका विनाश (लोप) क्षणभर के लिए भी नहीं हो सकता॥२३॥ संसार निरतिशय दुःखरूप है और निर्वाण आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप है। अतिशीतल निर्वाण ही अस्तित्व है। तप्त यानी निरतिशय दुःखरूप संसार है ही नहीं॥२४॥ जैसे शिल्पी की बुद्धि में न गढ़ी हुई शिला के भीतर स्थित प्रतिमाएँ यथेष्ट रूप से स्फुरित होती हैं वैसे ही भावउपहित अखंडित (अविच्छिन्न) ही ब्रह्म जगत् के रूप में स्फुरित होता है॥२५॥ जैसे जलाशय में स्थित लहरियाँ स्फुरित होती हैं वैसे ही महाचिति स्वयं अन्नमयादिकोश में स्थित तथा ब्रह्माण्डकोश में स्थित चेत्य होकर स्फुरित होती है। अज्ञानआवृत आत्मा के रूप से जड़ तुल्य परमार्थाकाश के (सन्मात्र के) कृत्रिमवेष से युक्त अविभक्त (अद्वितीय) आत्मा की विभक्त ऐसे शान्त अनन्त जिन जिन जीवों ने जैसे जैसे भीतर भावना की और जैसे जैसे संकल्प किया उन उन जीवों के भोग और मोक्ष के भेदों में वह वैसे ही उदित हुआ है॥२६–२८॥ जैसे स्वप्न में अपने बन्धुबान्धव के मरने अथवा जीने पर भी स्वप्न से जागे हुए पुरुष की स्वप्न में सत्यताबुद्धि उदित नहीं होती वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष की सकल दृश्यपदार्थों में सत्यता बुद्धि उदित नहीं होती अतएव उससे उनके लाभ और नाश से हर्ष और शोक की प्राप्ति नहीं होती है॥२९॥ जो दृश्य, द्रष्टा और दर्शन त्रिपुटीरूप है वह सबका सब शान्त शिव सन्मात्र ही है ऐसी भीतर भावना करने और भलीभाँति ज्ञात होने पर फिर भ्रान्ति का उद्भव कैसा ?॥३०॥

ज्ञान होने पर किस क्रम से भ्रान्ति का अनुद्भव होता है। इस प्रश्न पर उसे कहते हैं।

भगवन्, सम्यग् ज्ञान होने पर देह से सम्बन्ध रखनेवाले भोग और भोगों के उपायों में ऐसे ही अवितृष्णा (विरक्ति) हो जाती है जैसे कि यह स्वप्न है यह जानने पर स्वप्न के पदार्थों में विरक्ति होती है॥३१॥ वैराग्य से बोध की अभिवृद्धि होती है और बोध से वैराग्य की वृद्धि होती है। बोध और वैराग्य ये दोनों दीवार और प्रकाश के तुल्य एक दूसरे से प्रगट होते हैं। जिस कारण अवितृष्णा (वैराग्य) अथवा स्त्री, पुत्र, धन आदि तत्त्वाभिनिवेशरूप बोध से ही पूर्णरूप से सम्पन्न है उसका (वैराग्य का) विरोधी अथवा उसका (धन दारादिका) अनुकूल जाड्य भी तत्–तत् में अभिनिवेश के अनुसार ही स्थित है॥३२,३३॥ वैराग्य होना ही बोध की बोधता (सार्थकता) है। वह पंडिताई केवल मूर्खता ही है जिसमें विरक्ति नहीं है॥३४॥ जो वैराग्य और बोध पूर्ण होने पर भी परस्पर से वर्धित न हों वे असत्य ही हैं। चित्रलिखित अग्नि की भाँति स्वकार्य में अक्षम ही हैं। वे नष्ट हैं (लुप्त हैं) ऐसा नहीं समझना चाहिये। बोध और वैतृष्ण्य की निरतिशयसम्पत्ति ही निरतिशय आनन्दरूप होने और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप

होने से भी मोक्ष कही जाती है,क्योंकि अज्ञान ही बन्धनमूल है और तृष्णा ही बन्धन है उन दोनों का विनाश ही मोक्ष है। मोक्षरूप अनन्त शान्त पद में स्थित पुरुष को शोक नहीं होता ॥३५,३६॥

बोध और वैराग्य के परस्पर से परिवर्धित होने के कारण मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं।

मेरी निराकरणीय (खण्डनीय) दृश्यरूपी वस्तु का निराकरण हो चुका है, सम्पादनीय कार्य मैंने कर लिया है, तथा दर्शनीय वस्तु पूर्णतया देख ली है। यह सब मंगलमय, शान्त अद्वितीय चिन्मात्र ही है ॥३७॥ आत्मा में रमण करनेवाले शान्त, निर्वासनिक, अहंकारशून्य ज्ञानी पुरुष की आकाश की निर्मल स्थिति की भाँति संकल्प-विकल्परहित ही स्थिति होती है ॥३८॥ प्रयत्न कर रहे कई हजार लोगों में से कोई बिरला ही बलवान् उत्साही पुरुष जैसे शेर लोहे के पिंजड़े को तोड़ डालता है वैसे ही वासनाजाल के टुकड़े टुकड़े कर डालता है। जैसे शरत् में जो कुहरा जिसे सूर्य आदि का बोध हो गया जिसके भीतर तक प्रकाश पड़ चुका वह अपने आप विलीन हो जाता है वैसे ही वह ज्ञानी पुरुष जिसे पूर्णतया आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका, ज्ञान से जिसका हृदय देदीप्यमान हो चुका वह अपने आप शान्त हो जाता है। जिसको ज्ञातव्य सद् वस्तु का ज्ञान हो चुका, संकल्प-विकल्प जिसके मन में नहीं उठते तथा जिसका हृदय संकल्पों का अतिक्रमण कर चुका ऐसा वासनाविहीन महात्मा पुरुष लोकव्यवहार में वायु की तरह चेष्टा करता है अथवा व्यवहार नहीं करता यानी समाधि में ही विश्राम लेता है। तत्त्व के मनन से स्थिर हुए भ्रान्तिमात्र के निश्चय से (ये केवल भ्रमरूप हैं इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से) जो सब वस्तुओं में शून्यताबुद्धि है, वही निर्वासनिक स्थिति है ॥३९-४२॥ पूर्ववर्णित वासनाविहीन भाव के उदित होने पर और सकल जगत् ब्रह्म ही है यों ज्ञान होने पर एकमात्र निर्वाण में स्थिरमतिवाले शुद्धअन्तःकरण पुरुष में मोक्ष नामक असीम प्रशम उदित होता है ॥४३॥

एक सौ चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचानबेवाँ सर्ग

प्रबुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजी की सुन्दर उक्तियों की प्रशंसा कर
गुरु द्वारा किये गये प्रश्नों का श्रीरामचन्द्रजी द्वारा समाधान।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, बड़े हर्ष की बात है आप प्रबुद्ध हो गये हैं। आपकी यह वाणी अप्रबुद्ध लोगों के पापों का नाश करनेवाली तथा अनुभवसिद्ध अर्थ का अनुवादरूप होने और युक्तियुक्त होने से प्रबुद्ध पुरुषों को प्रहर्ष से प्रसन्नवदन बनानेवाली हो गई है ॥१॥ असत् ही यह जगत् अज्ञान जनित संकल्पवश जो स्फुरित-सा होता है यही बन्धन है और असंकल्प की दृढ़ता से परिपुष्ट तत्त्वज्ञान से शान्त हो जाता है यही मुक्ति साधन है। इसकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही निर्वाण है यही मोक्ष-निष्कर्ष है। वही परमार्थता है ॥२॥

कल्पन और अकल्पनरूप बन्धन और मोक्ष अज्ञात और ज्ञात ब्रह्म के ही रूप हैं यह निष्कर्ष भी फलित हुआ, यह कहते हैं।

वत्स, जैसे स्पन्दन और अस्पन्दन दोनों वायु के ही रूप हैं वैसे ही कल्पन और अकल्पन पर ब्रह्म के ही रूप हैं, अन्य के नहीं ॥३॥ ज्ञानवान पुरुष की ही समाधि अवस्था में अथवा व्यवहार काल में

शिलागर्भ के समान जो स्थिति है वह निर्मल मुक्तता कही जाती है ॥४॥

इस पद में स्थिति ही हम जैसे जीवन्मुक्तों की समाधि और व्युत्थान में तुल्यरूप स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, दुःखविनाशक इस पद में स्थित होकर हम लोग समाधि और व्यवहार में समानरूप से इस तरह स्थित हैं ॥५॥ प्रबुद्ध अतएव प्रशान्तस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि व्यवहार परायण होते हुए भी सदा इसी परमपद में स्थित रहते हैं ॥६॥ शिला के गर्भ के समान विक्षेपशून्य स्थितिवाले हम प्रबुद्ध लोगों का यह निर्दोष पद है। आप भी आज से लेकर हमारे सदृश ही इसे प्राप्त कर इसमें (जीवन्मुक्ति में) विराजमान होइए ॥७॥

इस प्रकार श्रीवसिष्ठजी की उक्ति से जीवन्मुक्तिपद में प्रतिष्ठित श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्त पुरुषों को जैसा जगत् भासता है उसका वर्णन करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जैसे मृगतृष्णा में जल भासता है, जैसे जल में तरंग, आवर्त आदि पृथक् से भासते हैं, जैसे सुवर्ण में कटक, कुण्डल आदि भासते हैं और जैसे स्वप्न और संकल्प का पर्वत भासता है वैसे ही असद्रूप,कभी उत्पन्न न हुआ, उत्पन्न न होने के कारण ही अप्रकाशमान (पृथक् प्रतीत न होनेवाला), आरम्भरहित और आकारशून्य ही यह जगत् ब्रह्म में भासता है ॥८,९॥

अब श्रीवसिष्ठजी महाराज श्रीरामचन्द्रजी को जीवन्मुक्ति-स्थिति का वर्णन करने के लिए वक्ता के सिंहासन पर आरूढ़ कर मैं आपसे शिष्य की भाँति पूछता हूँ आप अपना संशय दूर कीजिये, यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, यदि आप तत्त्वबोध प्राप्त कर चुके हैं तो अपने बोध की अभिवृद्धि के लिए प्रश्नकर्ता के रूप में पूछ रहे मेरा संशय दूर कीजिये। हे श्रीरामजी, भला बतलाइये तो सही, इस प्रकार नित्य अनुभूत भी सिरपर सदा सवार हुआ भी (🕭) अत्यन्त जगमगा रहा यह 'जगत्' नामक आभास कैसे नहीं है ?

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे गुरुवर, यह पहले ही कभी कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ, क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है। अतः वन्ध्यापुत्र के तुल्य इस जगत् का अस्तित्व कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। यदि इसकी सत्ता है तो काल्पनिक सत्ता ही है वास्तविक सत्ता इसकी नहीं है ॥१०-१२॥ इस जगद्भ्रान्ति का कारण ही क्या है जिससे कि इसका आविर्भाव हुआ है ? कारण के बिना कहीं कोई कार्य हो ही नहीं सकता। अविकार अजर अमर ब्रह्म कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्वअवस्था के नाश के बिना यहाँ कोई भी वस्तु कहीं पर भी सविकार नहीं हो सकती ॥१३,१४॥

यदि कहिये कि निर्विकार ब्रह्म ही विवर्तोपादानकारण होकर माया से जगत् के आकार में स्फुरित होता है तो जगत् शब्द का अर्थ सत्य प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

यदि निर्विकार अजर अमर यह ब्रह्म ही विवर्तोपादान कारण है यह कहो तो जगत् शब्दार्थ की यथार्थ प्रतीतियाँ कहाँ पर किसको कैसे होंगी ? ॥१५॥ उस निर्विकार शान्त पद में हिरण्यगर्भ नामधारी

(🕭) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा दृढ़ तथा अर्थक्रिया में अविसंवादी होने के कारण स्पष्टतः सत्य होने से सिर पर चढ़ा हुआ भी, यह अर्थ है।

पहला चेतन द्विपरार्धपरिमित कुछ काल तक विवर्तरूप आतिवाहिक देह धारणकर स्थित-सा होता है इसलिए वही जगत्की भ्रान्ति का विषय सिद्ध होता है ॥१६॥ जैसे आपको स्वप्न में एक क्षण काल में एकवर्ष की प्रतीति होती है वैसे ही उसे भी एक क्षण में वर्ष आदि कालविस्तार की भ्रान्ति होती है उसमें वह काकतालीय के समान चन्द्र, सूर्य आदि को देखता है ॥१७॥ एकमात्र संकल्पस्वरूप उस हिरण्यगर्भ नामक प्रथम चेतन को देश, काल और कर्म से युक्त सम्पूर्ण भुवन एकमात्र चिदाकाश में ही अपने आप खूब भासित होता है। तदुपरान्त यह मिथ्या पुरुष (काल्पनिक पुरुष) हिरण्यगर्भ मिथ्या ही सम्पन्न भुवन में मिथ्या ही भूत, भुवन आदि की सृष्टिक्रिया करता हुआ विवर्तता को प्राप्त होता है। वही हिरण्यगर्भ अनन्त पदार्थों के अनर्थरूपी भ्रम की कल्पना कर सुकृत आदि फल का भोग करने के लिए नीचे से ऊपर जाता है और फिर ऊपर से नीचे जाता है। यदि उसके संकल्प की काकतालीय के समान जैसी पहले स्थिति थी वैसी ही आज भी स्थिति हुई तो उसी से 'वही यह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कर उसने जगत् में भ्रान्ति से सुस्थिर (दृढ़) स्थिति ग्रहण की। इस प्रकार भ्रान्ति से उपस्थित यह मिथ्या जगत् शिलारूपी नायिका वन्ध्यापुत्ररूपी अपने पति के ललाट में आकाश के चूर्ण से तिलक लगाकर शोभा की अभिवृद्धि करती है इत्यादि वाक्यार्थ के समान केवल विकल्प ही है ॥१८-२२॥

यदि अत्यन्त असत् में मिथ्यात्व धर्मकी भी अप्रसिद्धि का अवलोकन करें तो केवल अधिष्ठानमात्र होने से यह सत्य ही है, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, अथवा यह सत्य ही है इसका मिथ्यात्व कहाँसे हो सकता है यदि व्यावर्तन करने योग्य (निवर्तनीय) मिथ्यात्व की अप्रसिद्धि से व्यावर्तक सत्यत्व की कल्पना भी उसमें नहीं घटती ऐसा विचार करते हैं तो निर्वचन वाणी का प्रसार न होने से यह अवर्णनीय कुछ अजन्मा विस्तृत है। यह जगत् आकाशकोश के सदृश निर्मल, शिलागर्भ के समान ठोस और पाषाण के समान मौन शान्त अक्षय (ब्रह्म) ही है। चिदात्मा के मायिक सर्वाकार संकल्परूप विराट् आतिवाहिक देह में संवेदनरूप जो आकाश है वही जगत् के रूप में भासता है ॥२३-२५॥

ऐसा होने पर जो फलित हुआ उसे कहते हैं।

इस प्रकार यह समों से भी सम (सर्वथा विषमतारहित) विग्रहवाला जन्मनाशशून्य अद्वितीय शान्त ब्रह्म महाकाश ही है, जगत्कथा कहाँ है ? ॥२६॥ जैसे जल में लहरियों के उतराने और डूबने से जल में भिन्नता नहीं आती वैसे ही ब्रह्म में अन्य जन्म और विनाशों से यानी सृष्टि और प्रलयों से अन्यता नहीं आती है। जैसे जल में जलबिन्दु एकरस हो जाता है वैसे ही सारअसारविवेकवान् कोई महात्मा पुरुष इस शुद्ध परम पद में एकरसता को प्राप्त होते हैं ॥२७,२८॥ परब्रह्म में परब्रह्म का वेष-सा, कार्य का अथवा अवयव-सा यह अपर का (जगत्जीवरूप का) भान होता है, वास्तविक विचार करने पर यह परब्रह्म ही एक हो जाता है। निर्मल शान्त परब्रह्म में न जगतों का संभव है और न जागतिक व्यवहारों का ही संभव है। स्वप्न के 'यह स्वप्न है'यों ज्ञात होने पर, मृगतृष्णा के 'यह केवल मरु भूमि है' यों परिज्ञात होने पर इसी प्रकार दृश्य के भी ब्रह्मरूप से ज्ञात होने पर फिर उसमें सत्यता बुद्धि की भावना कौन करता है अर्थात् जैसे स्वप्न के 'यह स्वप्न है' यह ज्ञात होने तथा मरीचिका के 'यह केवल मरुभूमि है' यह ज्ञात होने पर फिर उनमें सत्यताबुद्धि किसीको भी नहीं होती वैसे ही दृश्य के ब्रह्मरूप

से परिज्ञात होने पर उसमें सत्यताबुद्धि की किस मूढ़ को भावना होगी ? ॥२९,३०॥ जैसे ब्राह्मण मदिरा के माधुर्य को नहीं जानता वैसे ही प्रबुद्ध पुरुष परमार्थ चमत्कार से अपने अन्दर के अनुभव के बिना अन्य के (अपवित्र प्रपंच के) भोग–रस को नहीं जानता है। *अथवा जैसे ब्राह्मण मदिरा के माधुर्य को नहीं जानता वैसे ही अन्य (अज्ञ) पुरुष अपने अन्दर के अनुभव के बिना अन्य के (प्रबुद्ध के) परमार्थचमत्कार को नहीं जानता है यह अर्थ करना चाहिए। इस अर्थ में 'अन्यस्याऽन्यं न जानाति' पाठ के स्थान पर 'अन्यस्याऽन्यो न जानाति' पाठ मानना पड़ेगा*॥३१॥ यह निजात्मा बाह्यदृष्टि से लौटकर, चेत्योन्मुखता का त्यागकर समाधि में चरम साक्षात्कार वृत्ति से अवलोकित होकर शान्त मुक्तात्मा में स्थित होता है, क्योंकि 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त क्षुरमृतत्वमिच्छन्।' अर्थात् मोक्ष की इच्छा कर रहे किसी धीर महात्मा ने विषयोन्मुखता का त्यागकर (अन्तर्मुख–इन्द्रिय होकर) प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार किया। ऐसी श्रुति है ॥३२॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के श्रीवसिष्ठजी शंका का समाधान करने पर फिर वसिष्ठजी बीजांकुरन्याय से ब्रह्म में जगत्सत्यता की शंका करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, दृश्य कारणभूत ब्रह्म में बीज में अंकुर के समान स्थित है। ऐसी परिस्थिति में यहाँ सर्गादि के अस्तित्व की उपपत्ति क्यों नहीं होती है ?

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यदि अंकुर सत्य हो तो बीज के अन्दर स्थित ही वह बीजपट को तोड़कर बाहर निकलता है यह मानना होगा किन्तु ऐसी बात है नहीं। बीज को फोड़ने पर उसके अन्दर अंकुररूप से स्थित अंकुर दिखाई नहीं देता। बीज के अन्दर जो सूक्ष्म अवयवों का अस्तित्व है वह बीज ही है, अंकुर नहीं है ॥३३,३४॥ ब्रह्म के अन्दर जगत्सत्ता वैसी (बीज में अंकुर के तुल्य) नहीं है किन्तु जगत्ता ही उपलब्ध होती है। यह बीज और अंकुर की अपेक्षा ब्रह्म और जगत् में विशेषता है। यदि कहिये प्रलयकाल में ब्रह्म में जगत् बीज में अंकुर की नाईं ही है तो वह जगत्सत्ता नित्य ब्रह्म ही होगी, क्योंकि ब्रह्म अविकारी है। इसलिए बीजांकुरन्याय की यहाँ पर उपपत्ति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥३५॥ निर्विकार निराकार से विकारवान् और साकार का आविर्भाव होता है यह हमने कहीं लोक में न देखा है और न शास्त्रों में सुना ही है ॥३६॥

इसी प्रकार निर्विकार और निरवयव में साकार और सावयव की (स्थूल की) स्थिति भी प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों से विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं।

निराकार निरवयव ब्रह्म में साकार और सावयव इस दृश्य की स्थिति वैसे ही असंभव है जैसे कि परमाणु के अन्दर अनेक सुमेरु पर्वतों का भासना असंभव है ॥३७॥ पेटी में रत्न की तरह निराकार ब्रह्म में महाकार (विशाल) जगत् स्थित है यह कथन तो उन्मत्त के प्रलाप के तुल्य ही होगा, अतएव अश्रद्धेय है, यह भाव है ॥३८॥ शान्त (सर्व उपरतिरूप) परमब्रह्म साकारजगत् का तादात्म्य से (अभेदसम्बन्ध से) आधार है यह कथन शोभा नहीं देता, क्योंकि साकार पदार्थ अविनाशी है यह कथन कहाँ शोभा पा सकता है ? ॥३९॥

ऐसी स्थिति में अपूर्व स्वप्न के समान बद्धमूल आकारों से क्षणिक बोध ही साकार होता है यह उपपत्तिशून्य है, ऐसा कहते हैं।

बौद्धों की कल्पना से भी अपूर्व स्वप्न के समान बद्धमूल हुए संसारों के रूप से क्षणिक बोध ही साकार होता है, यह बुद्धि उपपन्न नहीं होती ॥४०॥

क्यों उपपन्न नहीं होती ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

क्योंकि यह सर्गरूप स्वप्न अपूर्व (पहले अननुभूत) ही चक्षु आदि प्रमाणों से अनुभूत होता है किन्तु स्वप्न जाग्रत्काल में अनुभूत अर्थवाला संस्कार मात्र से भासमानार्थ है यानी जगत् में खूब अभ्यस्त अर्थ ही स्वप्न में दिखाई देता है ऐसा लोक में सर्वजग प्रसिद्ध है ॥४१॥

इसलिए बौद्ध लोगों का जाग्रत् और स्वप्न के भेद का अभाव कथन भी असंगत ही है, ऐसा कहते हैं।

जो ही जाग्रत् है वही स्वप्न है इस प्रकार का बौद्धाभिमत जाग्रत् और स्वप्न का अभेद यहाँ उपपन्न नही होता, क्योंकि स्वप्न में मरा हुआ श्मशान में ले जाकर जलाया गया पुरुष प्रातःकाल में फिर कैसे दिखलाई देता है ? यदि जाग्रत् और स्वप्न का अभेद होता तो स्वप्न में मरे हुए जलाये गये पुरुष का फिर दर्शन न होता। इसलिए चित् की साकारत्व, क्षणिकत्व आदि की कल्पना से प्रपंच की स्वप्नतुल्यता सकल प्रमाणों से विरुद्ध सिद्ध होती है अतः कूटस्थ ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ही बाध्य होने से प्रपंच की स्वप्न तुल्यता सिद्ध है, यह अभिप्राय है ॥४२॥

चार्वाक के आक्षेप का समाधान करते हैं।

जिसका स्थूल शरीर नहीं होता उसका स्वप्न देखने में नहीं आता है अतः अशरीर प्रत्यगात्मा में तीन अवस्थारूप स्वप्न का आरोप है यह उक्ति उचित नहीं है, यह चार्वाकों का कथन भी ठीक नहीं है,क्योंकि पिशाच आदि स्थूल शरीर रहित होते हैं और उनकी स्वप्नवत् स्थिति रहती है ॥४३॥

इसलिए परिशेष से निर्दोष अपना पक्ष स्थित रहा, यह कहते हैं।

इस कारण जैसे स्वप्न में चिति पर्वत आदि के रूप से आत्मस्वरूप में स्थित रहती है वैसे ही निराकार परमात्मा ही सर्ग आदि नाना आकारों के रूप से संविद्रूप स्वात्मा में स्वप्न के समान स्थित है ॥४४॥

ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान होने पर प्रपंच का स्वप्न की नाईं ही बोध होने से सत्ता और असत्ता से निर्वचन करने के अयोग्य तुच्छता ही परिशिष्ट रहती है, ऐसा कहते हैं।

यदि यह प्रत्यगात्मा सकल बन्धनों से रहित ब्रह्म ही है और यह प्रपंच अज्ञान द्वारा ही स्वप्नवत् कृत है यह सिद्धान्त है तो इस सिद्धान्त में उस प्रकार के ब्रह्मात्मा के उपलब्ध होने पर इस प्रपंच में अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का अनुभव होता ही नहीं तथा इसमें अनुभविता और अनुभव आदि का क्रम भी उपलब्ध नहीं होता ॥४५,४६॥ अतः अनिर्वचनीय यह जगत् परमात्मा के स्वरूप के प्रबुद्ध होने यानी ज्ञानवान् होने पर कदापि अनुभूत नहीं होता। उस समय ब्रह्मस्वरूप ही शेष रहता है। अज्ञानतादशा में भी सत्ता और असत्ता से परिपुष्ट स्वसंवेदनवेद्यरूप यह अनिर्वचनीय ही है ॥४७॥ भाव यानी आत्मा के अस्तित्व, प्रियत्व आदि धर्म अभावरूप तथा अभाव (जगत् के आदि धर्म) भावरूप होकर सबके सब सदा सर्वथा देदीप्यमान हो भासते हैं ॥४८॥ ब्रह्म में ब्रह्म वृद्धि को प्राप्त होता है और आकाश में आकाश वृद्धि को प्राप्त होता है। जगत् के आकार से वृद्धि ब्रह्मरूपी आकाश में (निराकार ब्रह्म में) कुछ भी उपपन्न नहीं हो सकती। द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप यह मैं इत्याकारक सृष्टि आदि का भ्रम शान्त चिदाकाश का ही विस्तार है, यह दीवार आदि (साकार) नहीं हो सकता। जैसे अपना मनोरथकल्पित

नगर सत् नहीं है और उसमें दीवार आदि तो सर्वथा ही असत् हैं वैसे ही यह जगत् भी सुतरां असत् है। यों केवल अद्वितीय निर्विकार ब्रह्म ही यह है। यह सम्पूर्ण प्रपंच परमशान्त, निष्क्रिय, वैषयिक आभासहीन, आदि अन्त शून्य स्वप्रकाश अखण्ड ब्रह्म ही है। जन्म–मृत्युविहीन, शान्त, आदि अन्त रहित, असीम, निरूपाधि, निराकार निज परमात्मपद को मैं जान चुका हूँ ॥४९–५३॥

मेरा यह वाक्य यथार्थ ही है, क्योंकि यह अनुभवमूलक है, यों युक्ति के साथ कहते हैं।

भगवन्, जैसी संवित् (वृत्ति) भीतर स्फुरित होती है वही वाक्यरूप में परिणत होती है, जो बीज भूमि में पड़ता है वही अंकुरता को प्राप्त होता है। शुद्ध ज्ञानमय अद्वितीय आत्मारूप द्वैत और ऐक्य से परिवर्तित मैं द्वैत और ऐक्य की कल्पना का तनिक लेश भी नहीं जानता हूँ। ये सब लोग अपने अज्ञान से जीते हुए भी मेरी दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म होने से मौनमय सकलचेष्टाओं से रहित जीवन्मुक्त ही हैं। जैसे आकाश में शून्यता स्थित है वैसे ही वे भी मौन तथा सकल चेष्टाओं से रहित ही स्थित हैं। उनका भोग्य यह जगत् त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से वेद्य होने पर भी दीवार पर अंकित चित्र की तरह तथा मनोरथ में उदित हुए नगर की तरह चुपचाप स्थित है। पत्थर से गढ़ी हुई प्रतिमा के तुल्य, उपन्यासमयी काल्पनिक कथा में वर्णित वृत्त की भाँति, शम्बर से रचित जैसा यह जगत् आकाश में स्वप्न की तरह उदित है। जो यह जगत् सृष्टि के आरम्भ में ही स्वप्न की तरह ही निराधार (आधारस्तम्भ, भित्ति आदिके बिना) भासता है उसकी भला क्या सत्यता हो सकती है ? ॥५४–५९॥

दृष्टिभेद से जगत् चार प्रकार का सम्पन्न हुआ, यह कहते हैं।

यह जगत् अज्ञानी की दृष्टि में सत्य है, विवेकवान् पुरुषकी दृष्टि में मिथ्या है। इसे ब्रह्मरूप देख रहे पुरुष की दृष्टि में ब्रह्म है तथा पहली, दूसरी, तीसरी भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में आरोहणक्रम से शान्त हुए पुरुष में अन्धकार की तरह क्रम से शान्त होकर अन्त में शून्य ही हो जाता है। स्थावर और जंगम सहित सकल अस्मदादि भावरूप जगत् तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में आकाशरूप ही है ॥६०,६१॥ हे गुरुवर, मैं आकाश हूँ, आप आकाश हैं, चित् आकाश है, आकाश आकाश ही है। आप चिदाकाशरूपता को प्राप्त होकर मेरे कथन की परीक्षा के लिए एकाकाशरूपता का भजन कीजिये ॥६२॥ हे गुरुवर, ब्रह्माकाशभाव से स्थित, आकाशकल्प स्वरूप–ज्ञान से सर्वात्मक चिदाकाश सदृश दो चरणवाले जीवों में सर्वश्रेष्ठ आपको मैं ज्ञेय पूर्णानन्द ब्रह्म के, अभेद से जानने के कारण प्रणाम करता हूँ ॥६३॥ जो सर्वात्मक है वह गगनतुल्य भी यह कथन विरुद्ध है इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं। ब्रह्म के चिद्रूप होने से यह जगत् अकारण ही उसमें उदित होता है और उसी में लीन हो जाता है, इसलिए यह निर्मल परमव्योम ही है ॥६४॥ सकलशास्त्रीय युक्तियों का अतिक्रमण करनेवाला यानी सकल शास्त्रयुक्तियों का अगम्य, सकल पदों से अतीत उस निर्द्वन्द्व पद को प्राप्त कर आप सदा ब्रह्माकाशस्वरूप थे। मैं यानी राम और उसके अवयव पैर, हाथ आदि तथा उसके बाह्य घट आदि प्रसिद्ध जगत् है ही नहीं, क्योंकि सब कुछ निर्मल सूक्ष्म चिदाकाश ही है। यद्यपि यह सकलपदार्थों का अपलाप मेरी माता बाँझ है, मेरे मुँह में जीभ नहीं है इत्यादि वाक्य के समान व्याघात, वैतण्डिकत्व आदि दोषों काआधायक होने से तार्किक लोगों के वादों में निन्दनीय है, इसलिए तार्किकों की सभा में शोभा नहीं पा सकता तथापि बहुत से वादियों द्वारा बहुत प्रकार से उपन्यस्त आत्मज्ञानों में परमपुरुषार्थ

पर्यवसायी ज्ञान कौन होगा ऐसी परीक्षा (विवेचन) करनेवालोंकी सभा में ही शोभा देता ही है। सर्वापह्नव (सर्व का अपलाप) के बिना अनर्थ की आत्यन्तिक निवृत्ति से उपलक्षित निरतिशय आनन्द में प्रतिष्ठा सिद्ध नहीं हो सकती, यह भाव है ॥६५-६७॥ चूँकि काष्ठमौनपर्यवसायी होने सा काष्ठमौनरूप सर्वापह्न वादविवाद में नहीं हो सकता है, इसलिए सर्वापह्नव के न करने से निर्विशेषरूप आत्मा का परिचय न होने के कारण वादों में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता ॥६८॥ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का जो अगम्य है निराकार निर्विकार स्वानुभववेद्य वह ब्रह्म वादविवादों से कैसे प्राप्त (ज्ञात) हो सकता है ? ॥६९॥

उक्त विषय का ही साररूप से संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

सकलशास्त्रों के अर्थो से अतीत, अनुभवमात्रैकगम्य, चिह्न (आकृति) रहित, अतएव नाम और कल्पना से रहित, शुद्ध, चिदात्मक, एक, निर्भय, नामरूप रहित आद्य चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है। उसके मल की शंका के लिए तनिक भी स्थान नहीं है ॥७०॥

एक सौ पचानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छानबेवाँ सर्ग

जिस प्रकार गुरु, शास्त्र आदि से उपदिष्ट उपाय से ब्रह्म की प्राप्ति होती है
वैसे दारू वैवधिकों के आख्यान का संक्षेप में वर्णन।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे महाबुद्धिसम्पन्न भरद्वाज,यह कहकर मुहूर्त भर चुप रहकर परमपद में विश्राम लेकर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी ने, जो परमपद में विश्रान्त हो चुके थे अतः परमतृप्त थे, जानते हुए भी गुरुमुख से सुनने के कौतुक से श्रीवसिष्ठमुनिजी से पुनः पूछा ॥१,२॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, हे मुनिनायक, आपसंशयरूपी मेघ के लिए शरत्काल के सदृश हैं। इस समय मेरे मन में एक हल्का-सा सन्देह उत्पन्न हो गया है। पूर्वोक्त प्रकार से संसाररूपी सागर से पार लगानेवाला यह महाज्ञान सकल वाक् प्रपंच के परे है। यानी वाक् प्रपंच का विषय नहीं है ॥३,४॥ हे सम्मान्य, जो यह सद् ब्रह्म केवल स्वानुभवमात्र ज्ञेय है वह महान् पुरुषों की वाणी से भी अवाच्य है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इस श्रुति से वह शब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्म से रहित है ॥५॥ ऐसी अवस्था में सकल संकल्प-विकल्पों से शून्य परम ज्ञेय ब्रह्म केवल संविद्रूप तीनों अवस्थाओं से अतीत स्वप्रकाशवस्तु से लभ्य है, अतएव जाग्रत् अवस्था के अन्तर्गत गुरु और शास्त्र आदि का अगम्य होने के कारण अतिदुर्गमता को प्राप्त हुआ है ॥६॥ वह प्रतियोगी, व्यवच्छेद और सांख्यभेद माननेवाले वादियोंके तुच्छातितुच्छ यानी क्षुद्रतर प्रतियोगी, व्यवच्छेद आदि की अपेक्षा रखनेके कारण उसका बोध कराने में असमर्थ सविकल्प शास्त्रों से कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? ॥७॥ विकल्परूपी सारवाले शब्द-अर्थवाले शास्त्रों से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, फिर हजारों विकल्पों के अनुसंधान और भ्रान्ति परम्परारूप अनर्थ के लिए गुरु, शास्त्र आदि की कल्पना क्यों की है ? ॥८॥ हे ब्रह्मन्, इसलिए तत्त्व के विज्ञान में गुरु, शास्त्र आदि कारण हैं, अथवा अकारण है ? इस संशय के विषय में मुझसे निश्चय कहने की कृपा कीजिये, क्योंकि आप वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः आप ही मेरे संशय का उच्छेद करने में समर्थ हैं ॥९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, यद्यपि यह शास्त्र ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि

शास्त्र नाना शब्दों और अर्थों का भण्डार है और परमपद अनाम है। यानी शब्दप्रवृत्ति निमित्तशून्य होने और असंस्पृष्ट होने के कारण परमपद न पदार्थ है और न वाक्यार्थ ही है ॥१०॥ हे रघुकुलदीपक, तथापि जैसे यह शास्त्र आदि उत्तम ज्ञान तथा उसके फल मोक्ष के प्रति कारण हुआ है वह संक्षेपरूप में मुझसे सुनिये ॥११॥ कहीं पर चिरकाल से दुर्भाग्य में पड़े हुए बहँगी (काँवर) ढोनेवाले कीरक (कीरक देश के) लोग थे। वे जैसे ग्रीष्म से पुराने वृक्ष सूख जाते हैं वैसे ही दुःख से शेष को (कृशता को) प्राप्त हुए। चिथड़ों की कन्था से ओढ़नी बनवानेवाले दुरन्त दारिद्रय ने वैसे ही उनका मुँह और अन्तःकरण दीन–हीन बना दिया जैसे कि बाँध टूट जाने से निकल गये जल से कमल निष्प्रभ हो जाते हैं। दारिद्रय से अत्यन्त सन्तप्त हुए उन लोगों ने आजीविका के लिए विचार किया कि हम लोग किस युक्ति से अपने उदर की पूर्ति करें। ऐसा विचार कर प्रतिदिन दिनभर के परिश्रम से साध्य लकड़ी के बोझ के विक्रय कार्य से हम अपनी आजीविका करेंगे, यों उन्होंने निश्चय किया। ऐसा निश्चय कर वे लकड़ियाँ काटने के लिए जंगल में गये। जिस वृत्ति से आजीविका चलती है वही वृत्ति आपत्ति में विराजती है। उस दिन की कमाई को उसी दिन खानेवाले वे प्रतिदिन जंगल में जाकर, लकड़ियाँ लाकर और उन्हें बेचकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। जिस वनप्रान्त में वे जाते थे उसमें गुप्त और अगुप्त सम्पूर्ण रत्न, सुवर्ण और लकड़ियाँ थीं ॥१२–१८॥ उन लकड़हारों में से कुछ भाग्यशाली लोग कुछ ही दिनों में वन से उन विविध–रत्नों और सुवर्ण को पा गये। कुछ कीरक लोग चन्दन की लकड़ियाँ, कुछ केवड़े और चम्पा के फूल, कुछ लोग अच्छे–अच्छे फल बेचकर, चिरकाल तक आजीविका चलाते थे। कुछ अभागे और अच्छी चीजों को खोजने में अकुशल जंगली कीरक अच्छी वस्तुएँ न पाकर खराब खराब जलाऊ लकड़ियाँ लाकर, बेचकर जीवनयापन करते थे। लकड़ियाँ बीनने के लिए उद्योगशील वे सबके सब जंगल में पहुँचे। वहाँ जाकर उनमें से कुछ लोग रत्न आदि पाकर सबके सब दारिद्रयरूपी ज्वर से शीघ्र ही उन्मुक्त होकर स्थित हुए ॥१९–२२॥ इस प्रकार जब तक कि वे लोग नित्य उस वन में आते जाते थे इसी बीचमें एक स्थान पर उन्हें मणिश्रेष्ठ चिन्तामणि मिली ॥२३॥ उक्त चिन्तामणि से उन्हें समग्र विभूतियाँ प्राप्त हुई, अतः परम सुखी होकर वे वहाँ सुख से रहने लगे। वे लकड़ियों के पाने के लिए उद्योगशील हुए थे। सब पदार्थों को देनेवाली बहुमूल्यमणि को पाकर जैसे देवता स्वर्ग में सुख से रहते हैं वैसे ही शीतोष्णादि दुःख रहित होकर रहने लगे ॥२४॥ उन कीरकदेशनिवासी बहँगी ढोनेवाले लोगों को लकड़ियों के लिए किये गये उद्योग से ही बहुमूल्य उत्तम मणि मिली। उक्त सकलपदार्थों तथा उत्तमोत्तम धनों से प्राप्त हुई पूर्णतावश भय, मोह, विषाद और क्लेश से रहित हो आनन्दपूर्ण बुद्धिवाले वे अन्य लाभ–हानियों के विषय में समता को प्राप्त होकर रहते थे ॥२५,२६॥

एक सौ छानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सतानबेवाँ सर्ग

वैवधिकाख्यान–तात्पर्य के व्याख्यान क्रम से आत्मज्ञान में गुरु, शास्त्र आदि की स्पष्टतः हेतुता का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, जैसे मैं इस वैवधिकों के (बहँगी ढोनेवाले कीरकों के) क्रम का तात्पर्य भलीभाँति निस्संदेहरूप से समझ जाऊँ, हे सम्मान्य, कृपया आप वैसा स्पष्ट विवरण

कीजिये ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, जिन वैवधिकों का (बहँगी ढोनेवालों का) जिक्र मैंने आपसे किया है, हे महातपस्विन्, उन्हें आप ये भूतलवर्ती मानव जानिये और उनका जो दारिद्र्यदुःख है उसे आप अज्ञान जानिये। जो वह महावन मैंने कहा है उसे आप गुरु, शास्त्र आदि जानिये। जो उन्हें भोजन के लिए उद्यत हुए कहा वह भोगार्थी लोगों की ओर इशारा है। अत्यन्त कृपण पुरुष अन्य कार्यों की उपेक्षा कर मेरी भोगराशियाँ सिद्धि को प्राप्त हों इस बुद्धि से शास्त्रों में (शास्त्र प्रतिपादित उपायों में) प्रवृत्त होता है ॥२-४॥

अत्यन्त कृपण मानव अपने भोगों की इच्छा से ही शास्त्रों में प्रवृत्त होता है तथापि शास्त्र गुड़ जिह्विका के न्याय से इसे पहले फलास्वादों द्वारा (भोगलाभों द्वारा) आकृष्ट कर अन्तमें अपने परम तात्पर्य के विषयभूत परम पद में अवश्य ले ही जाता है, ऐसा कहते हैं।

भोगपरवश भोगार्थी पुरुष पहले भोग के लिए ही शास्त्रों में प्रवृत्त होता है। शास्त्र से पहले भोगरूप फल की प्राप्ति होने पर उनमें क्रमशः दृढ़ विश्वास हो जाने से उनमें वर्णित साधनों के अभ्यास से भिन्न-भिन्न भूमिकाओं के आरोहण के क्रम से चिन्तित शास्त्र के परम तात्पर्य के विषयभूत मोक्षनामक ब्रह्म को परवश होता हुआ भी अवश्य प्राप्त होता है। जैसे सार असार के विचार और अन्वेषणादि युक्त वैवधिक काष्ठ ढूँढ़ने को उद्यत हो वन में गया पर वहाँ उसे मणि प्राप्त प्राप्त हुई वैसे ही पुरुष भोग के लिए शास्त्र को ग्रहण करता हुआ परमपद को प्राप्त करता है ॥५,६॥ पहले शास्त्र और विचारों से क्या होगा इस सन्देह के कौतूहल से पुरुष शास्त्रों में प्रवृत्त होता है पश्चात् उस उत्तम पद को प्राप्त करता है ॥७॥ जिस पुरुष को परमब्रह्मरूप उत्तम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ वह विषयभोग के लिए सन्देह से (इससे विषयभोग की प्राप्ति होगी या नहीं यों संशय से) शास्त्र आदि में प्रवृत्त होता है, फिर उससे परमपद को प्राप्त होता है ॥८॥ अपनी-अपनी वासना के अनुसार शास्त्र के अन्यादृश फल की संभावना करते हुए लोग उसमें प्रवृत्त होते हैं पर जैसे वैवधिक लोगों को मणि मिली थी वैसे ही शास्त्रों से वाणी और मन का अगोचर निर्विषय निरतिशय सुख प्राप्त करते हैं। यानी जैसे वैवधिक लकड़ियों के लिए वन में गये थे और उन्हें मणि मिली वैसे ही शास्त्रों द्वारा लोगों को अन्य परमोत्तम फल प्राप्त हो जाता है ॥९॥

सब लोगों की स्वभावतः सन्मार्गप्रवृत्ति में साधुओं का सदाचार दर्शन ही कारण है, इसलिए साधुओं का लक्षण दर्शाते हुए कहते हैं।

जो निरन्तर परोपकार में प्रवृत्त होता है वह साधु कहा गया है। उसकी चेष्टा सब लोगों के लिए प्रमाण है ॥१०॥ साधुओं के आचार के कारण ही अज्ञानी लोग शास्त्र-फल में सन्देह रहते भी भोगप्राप्ति की आशा आदि से प्रवृत्त होते हैं ॥११॥ भोग के लिए शास्त्र आदि में प्रवृत्त हुआ अज्ञानी पुरुष जैसे काष्ठार्थी वैवधिक को जंगल में चिन्तामणि मिली थी वैसे ही उससे भोग और मोक्ष दोनों पाता है ॥१२॥ जैसे वैवधिकों में से किन्हीं को वन से चन्दन की कीमती लकड़ियाँ मिलीं, किन्हीं को चिन्तामणि नाम की उत्तम मणि मिली और किन्हीं को सामान्य रत्न मिले वैसे ही शास्त्र आदि में प्रवृत्त होनेवालों में से किन्हीं को काम की प्राप्ति होती है और किन्हीं को धर्म, अर्थ और काम तीनों मिलते हैं एवं कोई शास्त्र से पूर्ण मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥१३,१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, शास्त्र आदि में त्रिवर्ग का (धर्म, अर्थ और काम का) मुख्य वृत्ति से (अभिधा से) ही उपदेश है लेकिन ब्रह्मप्राप्ति (ब्रह्मबोध) अवाच्य (अनभिधेय)

होने के कारण ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों में भी पद और वाक्य की मुख्यवृत्ति से नहीं है। जैसे वसन्त आदि काल–शोभा तत्–तत् ऋतुओं के फूल, फल, पल्लव आदि की उत्पत्ति से सूचित होती हुई स्वानुभव से प्रतीत होती है वैसे ही ब्रह्मप्राप्ति केवल सकल वाक्यार्थों से आलंकारिकों के मत में व्यंजनावृत्ति से और अन्यों के मत में लक्षणा वृत्ति से सूचित (ध्वनित) होती हुई स्वयं अपने अनुभव से अवगत होती है ॥१५,१६॥

यद्यपि शास्त्र में मुख्यवृत्ति से (अभिधा से) ब्रह्म–बोधन की सामर्थ्य नहीं है तथापि लक्षणा आदि उपायों से बोधन में सामर्थ्य है ही, इसलिए उससे अधिकारी लोगों को ब्रह्मज्ञान होता ही है अतः शास्त्र व्यर्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्त्रीरत्न में मणि, दर्पण, चन्द्रमा आदि सबकी सुन्दरता को मात करनेवाला निर्मल लावण्य रहता है वैसे ही सकल दृश्यवर्ग अथवा त्रिवर्ग को मातकर सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थित निर्मल ब्रह्मबोध शास्त्र में विद्यमान है ॥१७॥ सब पदों को मातकर उत्कृष्टता को प्राप्त यह परम बोध न शास्त्र से, न गुरुजी के उपदेशवाक्य से, न दान से और न ईश्वर के पूजन से ही प्राप्त होता है यानी इन सबसे ब्रह्मबोध साक्षात् प्राप्त नहीं होता। परम्परा से तो ये उसकी प्राप्ति में साधन हैं ही। हे श्रीरामचन्द्रजी, अकारण ही ये शास्त्र, गुरु–उपदेश आदि एकमात्र परमात्मा में विश्रान्ति में जैसे चित्तशुद्धि आदि साधनों की वृद्धि द्वारा पूर्णतया कारण हुए हैं, यह मुझसे सुनिए ॥१८,१९॥ बार–बार अभ्यास करने से शास्त्र से विशुद्ध हुआ, सकल भोगों की इच्छा से रहित तथा प्रतिदिन अन्तर्मुख होने के कारण प्रत्यगात्मा की ओर झुका हुआ चित्त परम पुनीत ब्रह्मपद का साक्षात्कार करता है ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शास्त्र से अविद्या का सात्त्विक अंश उत्कृष्ट (उन्नत) बनाया जाता है अविद्या के अभ्युन्नत हुए सात्त्विक भाग से तामसिक अंश क्षीण हो जाता है। शास्त्ररूपी जल से मल को धोनेवाला पुरुष अचिन्त्य शास्त्रादि के प्रभाववश ज्ञेय नित्य शुद्ध आत्मवस्तु की सामर्थ्य से परम शुद्धि को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२१,२२॥ जैसे सूर्य और समुद्र का आमना–सामना होने पर उनकी इच्छा न होने पर भी पहले से अदृश्य भी तीसरा (प्रतिबिम्ब) स्वच्छ और प्रकाश स्वभाव से स्वतः हो जाता है। वहाँ पर जैसे केवल अपनी सन्निधि से सत् असत् विशाल अनुभवसिद्ध स्फुरणवाला प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही मुमुक्षु (मुक्ति चाहनेवाले) और शास्त्र का परस्पर सम्बन्ध होने से ही सकल ज्ञानों के विषय से परे आत्मज्ञान होता है ॥२३–२५॥ जैसे सूर्य और समुद्र के दर्शन से देह में उनके वैधर्म्य आदि का बोधरूप विवेक होता है वैसे ही शास्त्रकृत विवेक से भी देह में स्वभावतः सकल उपाधियों से असंस्पृष्ट अद्वितीय ज्ञेय का ज्ञान होता है ॥२६॥

शास्त्रकृत विचाररूप विकल्पों से भ्रान्तिजनित विकल्पों के क्षालन से आत्मनैर्मल्य की प्राप्ति में भी दृष्टान्त देते हैं।

जैसे जल में एक ढेले से दूसरे ढेले को धो रहे बालक को ढेलों के क्षय से हाथ में परम निर्मलता प्राप्त होती है वैसे ही शास्त्रीय विचाररूप अनेक विकल्पों से भ्रान्तिजनित विकल्पों को पुनः पुनः आत्मतत्त्व के परीक्षण से धो रहे विद्वान् को अपने विचार से परम शुद्धता प्राप्त होती है ॥२७,२८॥

ऊपर 'पुनः पुनः आत्मतत्त्व के परीक्षण से' कहा है उस पर किस प्रमाण से कैसे परीक्षण से ? ऐसी

शंका होने पर कहते हैं।

जैसे कोल्हू में पेरने से निकले हुए ईख के रस से स्वादिष्ट मधुर स्वाद अपने अनुभव से प्राप्त होता है वैसे ही सूत्र, भाष्य, उनके विविध व्याख्यान, महारामायण (योगवासिष्ठ) आदि शास्त्र और गुरु के उपदेशरूप उपाय से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थ का साररूप ('तत्' पद और 'त्वम्' पद वाच्य अर्थ के परिशोधन से प्राप्त रसभूत वाक्यार्थ का अपरोक्ष अनुभवरूप) स्वात्मज्ञान प्राप्त होता है ॥२९॥ जैसे यद्यपि आकाश में प्रकाश चारों ओर फैला रहता है तथापि प्रभा और दीवार के संग से ही अभिव्यक्त होकर साफ-साफ अनुभव में आता है वैसे ही नित्य स्वप्रकाशरूप आत्मज्ञान भी महावाक्य के श्रवण और उसके अधिकारी के मिलन से स्पष्टतः अनुभव में आता है ॥३०॥

आत्मज्ञान की प्राप्ति में अन्यान्य (आत्मज्ञान में अनुपयोगी) शास्त्रों के श्रवण अथवा उनकी विद्वत्ता का कदापि उपयोग नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

जिस शास्त्र श्रवण का केवल त्रिवर्ग की (धर्म, अर्थ और काम की) सिद्धि ही फल है मोक्ष फल नहीं है तत्त्ववेत्ताओं की तत्त्वबोधोपाय चर्चा में वह शास्त्र-श्रवण केवल मूर्खता ही है क्योंकि मिथ्याविषयफलवाला होने से वह तुच्छ ही है ॥३१॥ जो शास्त्रश्रवण ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है वही शास्त्र श्रवण है, वही ज्ञान है जिससे समता होती है, वही समता है जिसमें जाग्रत् में भी सुषुप्ति की स्थिति (निर्विकल्पस्वरूप स्थिति) होती है ॥३२॥

पूर्वोक्त सब कुछ शास्त्र के अधीन है, इसलिए शास्त्राध्ययन आवश्यक है ऐसा कहते हैं।

पूर्वोक्त यह सब ज्ञान, समता, निर्विकल्प स्वरूपस्थिति आदि शास्त्र आदि से प्राप्त होता है, इसलिए सकल प्रयत्नों से शास्त्र आदि का अभ्यास करे ॥३३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मलोक पर्यन्त के ऐश्वर्य से भी बढ़ा चढ़ा हुआ परम पवित्र मोक्ष नाम का अनादि सुख गुरुओं की वाणी शास्त्रार्थबोधन द्वारा ही प्राप्त होता है और शास्त्रार्थबोध सन्त पुरुषों की संगति, नियम और शम से प्राप्त होता है ॥३४॥

एक सौ सतानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अठानबेवाँ सर्ग

प्रबुद्ध पुरुषों की निर्विक्षेप सुख स्थिति में सर्वत्र समदर्शन ही हेतु है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, बोध दृढ़ बनानेवाली निर्विक्षेपता की सिद्धि के लिए कुछ कहे जा रहे रहस्य को आप पुनः सुनिये।

शंका : जो बात पुनः पुनः उपशम प्रकरण में कही जा चुकी है उसी का यहाँ क्यों वर्णन करते हैं?

समाधान : जो बात बारंबार कही जाती है वह निपट मूर्ख के हृदय में भी जम जाती है, विद्वान् के हृदय में तो कहना ही क्या है? इसलिए मैं बार-बार कहता हूँ ॥१॥

उत्पन्न हुआ जगत् यों केवल ब्रह्म ही है उत्पत्ति और स्थिति प्रकरण से यह ज्ञात होने पर समदर्शन की प्रतिष्ठा से उपशम प्रकरण में समदर्शन का वर्णन किया। इसी का यहाँ पर जीवन्मुक्तिसुख की प्रतिष्ठा के लिए पुनः वर्णन किया जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे रघुवर, पहले मैंने आपसे स्थिति प्रकरण का वर्णन किया जिससे उत्पन्न हुआ यह जगत् इस

प्रकार केवल भ्रान्तिमात्र है यह ज्ञान होता है ॥२॥ उसके पश्चात् उपशम प्रकरण में वर्णित युक्तियों द्वारा मैंने जगत् में उत्पन्न हुए व्यक्ति को अत्यन्त उपशमवान् होना चाहिये यह बात उपशम प्रकरण में कही है। उस शान्ति प्रकरण में कहे गये उपशम के क्रमों से परमशांति को प्राप्त होकर इस प्रकरण में कहे जानेवाले निर्वाण सुख में सन्तापरहित होकर रहना चाहिये ॥३,४॥ ज्ञातव्य परम ब्रह्म को पा चुके तत्त्वज्ञानी को सांसारिक व्यवहारों में जिस प्रकार व्यवहार करना चाहिये वह थोड़ा–बहुत रहस्य आपको हमारे मुँह से सुनना बाकी है, उसे मैं कहता हूँ, यह अर्थ है ॥५॥

जगत् में जन्म पाकर बाल्यावस्था में ही (आपकी–सी छोटी अवस्था में ही) जगत् की इस वास्तविक स्थिति का परिज्ञान कर आगे कहे जा रहे प्रकार से विक्षेपशून्य होकर रहना चाहिए। हे निष्पाप श्रीरामजी, सबका सौहार्द (मैत्री) उत्पन्न करनेवाली सबको आश्वासित करनेवाली समता का (सकल जीवों में एक आत्मा के दर्शन से गुण–दोष–दर्शनरूप वैषम्यशून्यता, अपने शरीर के समान सबका सुख–दुःखदर्शन और सकल विषमताओं से शून्य ब्रह्मदृष्टि का) पूर्णरूप से अवलम्बन कर इस संसार में विचरण करना चाहिये। समतारूपी सुन्दर लता का सुफल परम पवित्र, सम्पूर्ण बाह्य सम्पत्तियों से मनोहर और सकल कल्याण गुणों का वर्धक है ॥६–८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सकल प्राणियों की हितावह समता से सुन्दर चेष्टावाले प्रस्तुत क्रम पर आचरण कर रहे यानी यथाप्राप्त वर्णाश्रम–व्यवहार कर रहे महापुरुषों की यह सारी–की–सारी जगद्विभूति सेवकता को प्राप्त होती है ॥९॥ समता से जो अक्षय सारभूत सुख प्राप्त होता है वह न तो राज्य से प्राप्त होता है और न कान्ता के संग से ही प्राप्त होता है ॥१०॥

समता से सकल दुःख और उनके हेतुओं का विनाश भी सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप समता को सुख–दुःख, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों की शान्ति की परम सीमा, संशयरूपी ज्वर की विनाशक तथा सकल दुःखरूपी धूप के लिए मेघरूप जानिये। समतारूपी अमृत से ओतप्रोत अतएव समतावश जिसके सकल शत्रु मित्ररूप हो चुके हैं ऐसा यथार्थदर्शी पुरुष त्रिलोकी में दुर्लभ है ॥११,१२॥ प्रबुद्ध हुए स्वचित्तरूपी चन्द्रमा के निष्यन्दरूप सारभूत अमृत से भी बढ़े–चढ़े साम्य का (समता का) आस्वाद लेकर जनक आदि सब तत्त्वज्ञ जीते हैं ॥१३॥ साम्य का अभ्यास कर रहे जन्तु का क्रोध, लोभ आदि स्वदोष भी शान्ति, औदार्य के रूप में परिणत होकर गुण हो जाता है, दुःख नित्य सुख हो जाता है और मृत्यु जीवन बन जाती है ॥१४॥ समतारूपी सौन्दर्य से मनोहर पुरुष को योगशास्त्र में प्रसिद्ध मैत्री, करुणा, उपेक्षा, मुदिता आदि महिलाएँ पति के समागम में व्यसनवती–सी होकर उत्सुकता से आलिंगन करती हैं ॥१५॥ समतारूपी गुण से सम्पन्न पुरुष सदा सकल कल्याण गुणों और सम्पूर्ण सम्पत्तियों से युक्त है तथा समता से युक्त पुरुष सदा चिन्ताशून्य है। इस त्रिलोकी में शायद ही कोई सम्पत्ति होगी जो कि समतासम्पन्न पुरुष को प्राप्त न हुई हो ॥१६॥ स्वकार्य और परकार्य में सम (विषमता रहित) अपराधियों पर भी क्षमा करनेवाले, चिन्तामणि के समान त्यागशील (उदार), परम ब्रह्मावाप्ति में उद्योगशील पुरुष को नर और अमर देवता सभी चाहते हैं ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सदाचार सम्पन्न सब लोगों का हित करनेवाले पूर्णरूपेण मुदित (प्रसन्न) समचित्तवाले पुरुष को न अग्नि जलाती है और न जल सड़ाता है ॥१८॥ जो कार्य जैसे करने के लिए उचित है उसे

वैसे जो करता है तथा आनन्द और क्रोध से रहित जो सब कुछ समरूप से देखता है उस मनुष्य की बराबरी करने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥१९॥ सम्यक्कारी (सदाचार सम्पन्न सर्वजन हितकारी) तत्त्वज्ञानी पुरुष का मित्र, बन्धु-बान्धव, शत्रु, राजा और व्यवहारपरायण महामति सभी विश्वास करते हैं। प्रस्तुत ब्रह्मावाप्तिरूप क्रम में पहुँचे हुए अथवा यथाप्राप्त व्यवहार करनेवाले समदर्शी तत्त्वज्ञानी पुरुष अनिष्ट से (क्लेशप्रद शत्रु आदि से) भागते नहीं यानी घबराते नहीं और इष्ट से (सुखप्रद मित्र आदि से) प्रसन्न नहीं होते। तत्त्वज्ञानी महापुरुष अन्य लोगों द्वारा इष्टरूप से परिगृहीत गृह, क्षेत्र आदि पदार्थों का त्यागकर निर्लोभ सन्तोषरूप वृत्ति को धारण करते हुए दुःखलेशशून्य समता में विराजमान होकर जगत् जंजाल पर हँसते हैं। समता से प्रसन्न चित्तवाले तत्त्वज्ञानी पुरुष निरामय होकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करते हैं और सकल देवताओं द्वारा पूजे जाते हैं॥२०-२३॥ समता से परिपूर्ण आशयवाला जो जन परहित के लिए अपने मुखरूपी चन्द्रमा में यथाप्राप्त व्यवहार से उत्पन्न क्रोध भी यदि धारण करता है तो वह भी अमृत के सदृश ही होता है उससे किसीको क्लेश कदापि नहीं होता॥२४॥ समदृष्टि पुरुष जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, जिस पर आक्रमण करता हैं और अनुचित जानकर जिसकी निन्दा करता है उसके उस सब (कर्म) की जनता नित्य स्तुति करती है॥२५॥ समदृष्टि द्वारा किया गया कार्य चाहे शुभ हो अथवा अशुभ हो, चाहे चिरकाल में किया गया हो अथवा आज किया गया हो उस सबका सब लोग पूर्णरूप से अभिनंदन करते हैं। लगातार घोर महान् सुख-दुःखों के उपस्थित होने पर भी समदृष्टि पुरुषों के चित्त में तनिक भी उद्वेग नहीं होता॥२६,२७॥ राजा शिबि ने इस समदृष्टि के कारण शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा के लिए कबूतर के मांस के बदले में अपना शरीर काटकर प्रसन्न बुद्धि से अपना मांस दे डाला था॥२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विषमता से रहित अन्तःकरणवाले राजा युधिष्ठिर अपने सामने शत्रुओं द्वारा केशपाश और वस्त्रों के आकर्षण द्वारा क्लेशित प्राणों से भी प्रियतम अपनी पत्नी द्रौपदी को देखकर मोह को प्राप्त नहीं हुए॥२९॥ सम बुद्धि से ही त्रिगर्तदेश के अधिपति ने सैकड़ों मनोरथों से प्राप्त अपने एकलौते पुत्र को, जिसे वाग्द्यूत में वह हार चुका था यानी जो राक्षस द्वारा जीता गया था, बिना हिचकिचाहट के राक्षस को दे डाला॥३०॥ उत्सव के सिलसिले में खूब सजाई गई नगरी के जलने पर राजाओं में सर्वश्रेष्ठ महाराजाधिराज जनक सम ही रहे यानी उनमें किसी प्रकार की विषमता नहीं आई। समदृष्टिवाले साल्वराट् ने 'तुम्हें मुँह माँगी दक्षिणा दूँगा' इस प्रतिज्ञावश ब्राह्मण के लिए बेचा गया यानी दिया गया अपना सिर कमल के पत्र के समान तुरन्त काट डाला। राजा सौवीर ने सम बुद्धि से ही कुन्दपुष्पों की राशि के समान शुभ्र कैलास पर्वत-सा ऐरावत हाथी, जिसे उसने इन्द्रविजय से पाया था, यज्ञ में ऋत्विजों के वचन से फिर इन्द्र को दे डाला॥३१-३३॥ अपना देहयात्रा निमित्त व्यवहार समबुद्धि से ही कर रहे कुण्डप नामक शूद्र ने एक गाय को अपनी मजदूरी का पारिश्रमिक बनाकर ब्राह्मण की कीचड़ में फँसी पाँच गउएँ निकालकर अपनी मजदूरी की कमाई हुई गऊ पुष्कर तीर्थ में उस ब्राह्मण को देकर तुरन्त स्वर्ग से आये हुए विमान पर चढ़कर देवत्व प्राप्त किया॥३४॥ कदम्बवन में निवास करनेवाले राक्षस ने प्रचुर साम्याभ्यास से ही सब प्राणियों का विनाश करनेवाली राक्षसी वृत्ति का त्याग किया॥३५॥ बालचन्द्रमा के समान सुन्दर जड़भरत ने समबुद्धि से ही भिक्षापात्र में भैक्ष्यन्याय से प्राप्त अग्नि का गुड़मोदक (लड्डू) के समान

भक्षण किया ॥३६॥ यद्यपि धर्मव्याध मृगवध, मांसकर्तन आदि क्रूर व्यवहार में परायण था फिर भी समदृष्टि होने के कारण वह अपना पांचभौतिक शरीर त्यागकर परम पद को सिधारा। कपर्दन नाम का राजर्षि पुरुष होने के कारण अप्सराओं के संभोग में समर्थ था और अप्सराएँ भी उस पर प्रेम करती थीं परमोद्दीपक नन्दनवन में वह रहता था फिर भी वह समदृष्टि वश सुस्त्रियों में मोहित नहीं हुआ ॥३७,३८॥ वह राजर्षि कपर्दन सम चित्तवाला होने के कारण विस्तृत राज्य को तिलांजलि देकर विन्ध्याचल के दुर्गम जलप्राय प्रदेशों में तथा करीर के वनों में निश्चेष्ट होकर चिरकाल तक रहा ॥३९॥

जो ऋषि, मुनि और देवपूजित सिद्ध पुरुष हैं वे उन तपस्याप्रयुक्त क्लेशों और भोगों में, समदृष्टि होने के कारण ही, उद्विग्न नहीं होते हैं ॥४०॥ शिबि आदि राजाधिराज और दूसरे धर्मव्याध आदि साधारण लोग भी समदृष्टिता का दृढ़ अभ्यास करने से महापुरुषों के भी पूजनीय हो गये हैं ॥४१॥ ऐहिक और पारलौकिक सुखसिद्धि के लिए और मोक्षरूप परम पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने के लिए मतिमान् पुरुष समदृष्टिता से व्यवहार करते हैं ॥४२॥ किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचानेवाला पुरुष मरण की आकांक्षा न करे और जीवन की अभिवांछा भी न करे किन्तु यथाप्राप्त सुंदर व्यवहार करता हुआ विचरण करे। समतावश जो गुण और दोषों को एक से जानता है, जिसकी दृष्टि में सुख–दुःख तथा ऊंच और नीच योनियाँ समान हैं एवं मान और अपमान भी जिसके लिए तुल्य है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष प्राकृत व्यवहारो में भी आसक्ति न होने के कारण पवित्रमूर्ति अतएव प्रकाशमान होकर लोकोपकार के लिए देश–विदेशों में विचरण करता है ॥४३,४४॥

एक सौ अठानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ निन्यानबेवाँ सर्ग

यद्यपि जीवन्मुक्त पुरुषों का न तो कर्मों के अनुष्ठान से कोई प्रयोजन है और न कर्मों के अनाचरण से कोई क्षति है तथापि वे सत्कर्मों का (सदाचरणोंका) अनुवर्तन करते हैं, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, जीवन्मुक्त पुरुष नित्य एकमात्र ज्ञान में तल्लीन रहते हैं तथा आत्मक्रीड रहते हैं अतएव वे कर्मों का परित्याग क्यों नहीं करते हैं ? ॥१॥

खूब अभ्यस्त कर्म करने में मुक्त पुरुषों को कोई श्रम नहीं होता और कर्मत्याग का कोई प्रयोजन नहीं है अतएव लोकानुग्रहवश वे कर्म–त्याग नहीं करते हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जिस महापुरुष की यह हेय है यह उपादेय है यों दोनों हेयोपादेय दृष्टियाँ क्षीण हो चुकीं उसका नित्यनैमित्तिक क्रिया के त्याग से क्या प्रयोजन है अथवा क्रिया के संश्रयण से क्या प्रयोजन है ? यानी उसके लिए कर्मत्याग और कर्मसंश्रयण दोनों समान हैं ॥२॥ जो ज्ञानी को कष्टप्रद हो ऐसी हेय वस्तु यहाँ नहीं है तथा जो तत्त्वज्ञानी का संश्रयणीय हो यानी अवश्य अनुष्ठातव्य हो ऐसी उपादेय वस्तु भी नहीं है क्योंकि 'नेह नानास्ति किंचन' श्रुति के अनुसार उसकी दृष्टि में परब्रह्म के सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं ॥३॥ ज्ञानी पुरुष का न तो कर्म–त्याग से कोई प्रयोजन है और न कर्मों के आश्रय से कोई प्रयोजन है। जो–जो वर्ण और आश्रम के उचितरूप से जैसे स्थित है उसको वह वैसे ही करता है ॥४॥

जीवित-शरीर में चेष्टा होना अवश्यम्भावी होने पर खूब अभ्यस्त सदाचाररूप चेष्टा ही उसके शरीर में होती है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह शरीर आयुपर्यन्त अवश्य ही चेष्टा करता है इसलिए वह यथाप्राप्त चेष्टा बिना हिचकिचाहट के करे। चेष्टा के त्याग से और अन्यथा चेष्टा से क्या करना है ? ॥५॥ जैसे अपना घर निर्दोष है तो अन्य जगह बैठने की क्या आवश्यकता है वैसे ही अन्यत्र अन्य कोई न कोई कार्य करना ही है तो शास्त्रीय और अशास्त्रीय कर्मों के क्रम के समान होने पर भी शास्त्रीय सत्कर्म में (सदाचार में) कौन दोष है जिससे अपने क्रम का त्याग कर अन्यथा आचरण किया जाय ? ॥६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विषमतारूप दोष से निर्मुक्त निर्विकार स्वच्छ बुद्धि से जो कार्य निरन्तर किया जाता है वह कभी दोषाधायक नहीं होता ॥७॥

यद्यपि कर्मों में प्रवृत्त हुए लोगों को द्रव्योपार्जन, ऋत्विजों को प्रसन्न करना आदि तथा अनुष्ठानयोग्य कार्य के निर्णय के श्रमसाध्य होने के कारण बहुत से दोषों की प्राप्ति होती है तथापि समदर्शनता और विचक्षणता के बल से उसका परिहार हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

हे महाबाहो, इस पृथिवी में सकल शास्त्रों तथा लोक का रहस्य जाननेवाले बहुत से विचक्षण पुरुष प्रचुर दोषों में भी अपनी समदर्शनतावश पूर्णरूप से विहार करते हैं। भूलोक में स्थित कुछ गृहस्थ, जीवन्मुक्त गतसंग होने के कारण बुद्धि से यथाप्राप्त वर्णाश्रम की अनुवृत्तिवश व्यवहार करते हैं। जनक आदि तत्त्वज्ञानी राजर्षि तथा आपके सदृश वीतराग और राजा लोग अनासक्त बुद्धि हैं अतएव त्रिविध सन्ताप शून्य होकर राज्य करते हैं। कोई अपने अपने वर्णाश्रमानुरूप प्राप्त वेदार्थ का अनुसरण करनेवाले देव-पितृयज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भोजन करनेवाले नित्य अग्निहोत्र आदि कर्मों में निरत हैं। ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में कोई लोग नित्य ध्यान, देवार्चन आदि स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए विविध चेष्टा से स्थित हैं। कोई महान् आशयवाले महापुरुष अपने अन्तःकरण में फलासक्ति का त्याग कर नित्य सकल नित्य, नैमित्तिक कर्मों में परतन्त्र होकर तत्त्वज्ञानी होते हुए ही अज्ञानी की तरह स्थित हैं। कुछ लोग अत्यन्त निर्जन वनभूमियों में, जिनमें स्वप्न में भी लोगों का दर्शन नहीं होता तथा अत्यन्त रमणीय मृगछौने भरे रहते हैं, ध्यानमग्न रहते हैं। कुछ लोग सदा पुण्यात्माओं से परिवेष्टित पुण्य की वृद्धि करनेवाले शमपूर्ण सदाचारसम्पन्न पुण्यतीर्थ तथा मुनियों के आश्रम आदि में स्थित हैं। कोई समचित्त पुरुष राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए (卐) बन्धुजनावृत्त स्वदेश-का त्याग कर अन्य देश में स्थान बनाकर स्थित हैं। कोई ज्ञानी पुरुष संसार की निवृत्ति के लिए एक वन से दूसरे वन में, एक नगर से दूसरे नगर में, एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वत में घूमते हुए स्थित हैं ॥८-१७॥ महानगरी काशी में, परम पावन तीर्थराज प्रयाग में, सिद्धपुरुषों के निवासभूत श्रीपर्वत तथा बदरिकाश्रम में, महापवित्र शालग्राम में, पवित्रतम मथुरा नगरी में, कालंजर पर्वत पर, महेन्द्रवन की झाड़ियों में, गन्धमादन पर्वत की चोटियों पर, दर्दुर पर्वत के शिखरों पर, सह्य पर्वत की वनभूमि में, विन्ध्याचल के जलप्राय प्रदेशों में, मलयाचल के मध्य में, कैलाश पर्वत के वनों में, ऋक्षवान् पर्वत की गुफाओं में इन तथा

(卐) बन्धुबान्धवों के समागम में नाना प्रकार के रागद्वेष आदि विक्षेपों की प्राप्ति होती है, उनके परित्याग के लिए।

अन्यान्य तपोवनों में, मुनिजनों के आश्रमों में विविध प्रारब्धभोगानुकूल दृष्टिवाले बहुत से तपस्वी निवास करते हैं ॥१८–२२॥ उनमें कुछ लोगों ने संन्यास विधि से अपने पूर्वाश्रम के आचार का परित्याग कर दिया है और कोई ब्रह्मचर्य आदि आश्रमधर्मों में स्थित हैं। कोई लोग प्रबुद्धमति हैं और कोई नित्य उन्मत्तकी–सी चेष्टा करते हैं ॥२३॥ कोई स्वदेश रहित हैं, किन्हीं ने विक्षेपनिवृत्ति के लिए अपने घर–द्वार का त्याग कर दिया है, कोई लोग एक स्थान में (अपने घर में) ही रत (प्रीतियुक्त) हैं यानी सब लोगों की अनुकूलता द्वारा विक्षेपशून्य हैं तथा कोई सदा इधर उधर भ्रमण करते हुए स्थित हैं ॥२४॥

स्वर्ग आदि उर्ध्व लोकों और पातालादि अधोलोकों में भी देव, दैत्य आदि जीवन्मुक्त बहुत हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे महामति रामजी, आकाश में निवास करनेवाले देव आदि तथा पाताल में रहनेवालें दानव आदि इन महात्माओं में से कोई लोक रहस्य को जाननेवाले तथा यथार्थ दर्शन से निर्मल तथा परतत्त्व का साक्षात्कार कर चुके प्रबुद्धमति हैं। कोई अप्रबुद्धबुद्धिवाले अतएव सन्देहवश झूले के समान कभी इस पक्ष में तो कभी दूसरे पक्ष में आन्दोलित चित्तवाले पापाचरण से निवृत्त होकर सज्जन पुरुषों के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए स्थित हैं। कोई अर्द्धप्रबुद्धमतिवाले 'मैं तत्त्वज्ञानी हूँ, निषिद्धाचरण मेरा क्या बिगाड़ सकता है' इस अभिमान से सदाचार का परित्याग कर उभयभ्रष्ट हुए हैं ॥२५–२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार इस विपुल जनसमुदाय में जन्ममरणरूप संसार से छुटकारा पाने की इच्छा करनेवाले बहुविध प्रारब्धभोगानुकूल दृष्टिवाले बहुत से लोग विविध प्रकार से स्थित हैं ॥२९॥

तो क्या उनके द्वारा अनुष्ठित वनवास आदि भी संसार को पार कर जाने में कारण हैं ? इस शंका पर नकारात्मक उत्तर देतें हैं।

न वनवास संसार को पार करने में हेतु है, न स्वदेशनिवास संसार से मुक्ति पाने में कारण है और न कष्टप्रद विविध तपस्याएँ ही संसार निवृत्ति में कारण हैं। न तो कर्म का परित्याग संसारनिवृत्ति में कारण है और न सत्कर्मों के आचरणों से पीछे होनेवाले जो ख्यातिलाभ, ऐश्वर्य, वरशापसामर्थ्यरूप विचित्र फलराशियाँ हैं, वे संसार से छुटकारा पाने के कारण हैं ॥३०,३१॥ संसार से छुटाकारा पाने का एकमात्र हेतु तत्त्वज्ञानरूप स्वभाव यथार्थरूप से स्थित है। उक्त स्वभाव मनकी आत्यन्तिक अनासक्ति से लभ्य है। जिसका मन आसक्ति रहित है वह निश्चय भवसागर से पार हो चुका ॥३२॥

अतएव जीवन्मुक्त को शुभ अशुभ कर्म करने पर भी अनासक्तिवश ही उनका स्पर्श नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

जिसका मन आसक्तिरहित है ऐसा मुनि नित्य शुभ और अशुभ करता हुआ और उनका परिहार करता हुआ भी संसार में नहीं आता। जिसने अपना मन विषयों में छोड़ दिया है ऐसा शठ दुर्मति पुरुष शुभ–अशुभ कर्मों का आचरण न करता हुआ भी संसारसमुद्र में अवश्य ही निमग्न होता है ॥३३,३४॥

यदि कोई शंका करे कि ऐसी अवस्था में मन को ही विषयों से हटाइये और मारिये, तत्त्व से क्या प्रयोजन है ? तो इस पर कहते हैं।

जिसने विषयों का स्वाद चख लिया ऐसी मति, जो अत्यन्त दुःखदायिनी है, शहद के घड़े में फँसी हुई मधुमक्खी की तरह न तो हटाई जा सकती है और न मारी जा सकती है। कभी भाग्यवश

साधनचतुष्टय की प्राप्ति होनेपर काकतालीययोग से अपने चित्त की श्रवण आदि उपायों द्वारा आत्मा के अवलोकन में (आत्मसाक्षात्कार में) स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है। आत्म-साक्षात्कार होने पर निर्मलता को प्राप्त हुआ चित्त अवलोकन से तत्त्व पाकर निर्द्वन्द्व अतएव अनासक्त और अनामय ब्रह्म ही हो जाता है। अचित्तता को प्राप्त हुए सत्त्वरूप चित्त से सम होकर आप पराकाशरूप (ब्रह्माकाश रूप) जो चित्त आदि सकल प्रपंच का अधिष्ठानांश है तद्रूप बनकर सुखपूर्वक स्थित होइये ॥३५-३८॥ हे महात्मन्, हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसे परमार्थ तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो चुका, रागादि दोषों का जो त्याग कर चुके हैं, जिसमें आत्मज्ञान उदित हो चुका ऐसे आप समबुद्धि, शोक रहित महात्मा होकर निःशंक रहिये। क्योंकि जन्म-मृत्युशून्य परम पवित्र वह ब्रह्मपद आप ही हैं। विमल ब्रह्मरूप जगत् में प्रकृतिरूप, मलरूप, विकाररूप, उपाधिरूप, उसका बोधरूप, उसकी इच्छा, प्रयत्न, हानि, उपादान और भोगादिरूप कुछ भी कहीं नहीं है। किन्तु वह स्पष्ट ही अकृत्रिम चैतन्यधाम ब्रह्म ही है, इसलिए आप अपने अनुभव से 'एक मैं ही हूँ' यह मानकर एकाकी निःशंक रहिये ॥३९,४०॥ हे सौभाग्यशाली राघव, आपके ज्ञानबोधन के लिए इससे भिन्न शुभ उपदेशयोग्य कुछ नहीं है, क्योंकि आपका आद्य ज्ञानतत्त्व पूर्णतया उदय हो चुका और आपने अब सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तु जान ली ॥४१॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी यह अन्त में कहकर श्रीरामचन्द्रजी के निर्मल बुद्धि से ब्रह्मपद को प्राप्त होने अतएव सकल एषणाओं से विहीन होने पर और सभा में स्थित सब लोगों के समाधिस्थ-से होनेपर उस सभा में स्वयं ब्रह्मरसायन के आस्वाद में तत्पर होकर वैसे ही चुप हो गये जैसे कि भ्रमर कमल-राशि में गुंजनकर रस पीने को प्रवृत्त होता है ॥४२॥

एक सौ निन्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

दो सौवाँ सर्ग

सिद्धों की ओर से श्रीवसिष्ठजी महाराज का साधुवाद,
नगारों के साथ पुष्पवृष्टि तथा सब लोगों के द्वारा किये गये गुरुपूजा महोत्सव का वर्णन।

निर्वाण प्रकरणपर्यन्त के आत्मोपदेश को सुनकर कृतकृत्य हुए सिद्ध, ऋषि और मनुष्यों की उस सभा में गुरु के (वसिष्ठजी के) पूजामहोत्सव का वर्णन करनेवाले श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, इस प्रकरण के - निर्वाणवाक्यसन्दर्भ के समाप्त होनेपर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ने जब क्रमप्राप्त अन्तिम वाक्य का विराम किया, सकल सभास्थित जन तथा आकाशचारी देवता आदि लोग मुनिमहाराज के वचनों के श्रवण से शान्त स्वच्छ मनोवृत्ति होकर जब निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मैकरसता को प्राप्त हो गये, शास्त्रज्ञानी सब लोगों का निर्विकल्प समाधि के क्रम से प्रत्यक्आत्मा सत्त्वकोटि में-सन्मात्रपराकाष्ठा में पहुँच चुका अतएव परम पावन हो चुका तब आकाशतल में निवास करनेवाले पहले से मुक्त हुए सनक आदि सिद्ध पुरुषों के मुख से निकले आकाशव्यापी साधुवाद से तथा सभामंच में स्थित विश्वामित्र आदि आत्मज्ञानी मुनियों की जोर की वाहवाही से झटपट ऐसा कोलाहल हुआ कि उसने दिङ्मंडल को ठसाठस भर दिया। वह कोलाहलध्वनि वायु

से पूर्ण रन्ध्रवाले कीचकों की (एक प्रकार के बाँसों की) ध्वनि के समान मधुर थी। सनकादि सिद्ध पुरुषों के साधुवाद के (धन्यवाद के) साथ सहसा देवताओं के नगाड़े गहगहाने लगे। उन्होंने अपनी गहरी प्रतिध्वनियों से पर्वतों को पूर्ण कर दिया। देवताओं के नगाड़े बजाने के साथ ही साथ निरवच्छिन्न गिर रहे हिमपात के समान मनोमोहक पुष्पवृष्टि दसों दिशाओं से होने लगी। इतनी प्रचुर पुष्पवृष्टि हई कि उसने दिङ्मण्डल को आच्छादित कर दिया, ढक दिया। साधुवाद सहित देवताओं के नगाड़े, तूरी आदि के शब्द का और फूलों की निरवच्छिन्न वृष्टि की ध्वनि का समुदाय, जिसने फूलों की वृष्टि से सभामंच को खचाखच भर दिया था, शब्दों से पर्वत की गुफाएँ भर दी थीं, फूलों के पराग से आकाश को रँग दिया था और सुगन्ध से पवन में महक भर दी थी, खूब सुशोभित हुआ। पूर्वोक्त शब्दराशि ऊपर की ओर टकटकी लगाये हुए सकल सभासदों की नेत्ररश्मियों से कुछ श्यामरंग की–सी मालूम होती थी, भौंचक्के–से होकर ऊपर को कान उठाये हुए मृग, हाथी, घोड़े, पशु–पक्षी आदि उसे सुनते थे, विस्मय और भय से ऊपर को दृष्टि लगाये हुए बालक तथा स्त्रीजन उसे देखते थे तथा राजा के चाकरवर्ग आश्चर्य से प्रसन्नवदन हो उसपर दृष्टिपात करते थे। पुष्पराशि की निरवच्छिन्न वृष्टि से संमिश्रित, शब्दशोभा से उल्लसित, उत्सव से पृथिवी और अन्तरिक्ष का अन्तराल अपूर्व चमत्कारपूर्ण हो गया। पुष्पवृष्टिरूपी सफेदी से प्रक्षालित, शब्दायमान प्राणियों से पुण्यशब्दयुक्त आकाश बजाये गये सैंकड़ों शंखों से महाराज दशरथ के राजमहल की समता को प्राप्त हुआ ॥१–१४॥ प्रचुर भांकार से भासुर, देववृन्द और चारणों से परिवृत्त, पुष्पराशि से विभूषित, परिपूर्ण उत्सववाला जगत भी महाराज दशरथ के घर के समान सुशोभित हुआ। देवताओं के नगाड़ों की ध्वनियाँ, सिद्धपुरुषों के साधुवाद के शब्द तथा पुष्पराशियाँ धीरे–धीरे वैसे ही दिगन्त में पहुँची जैसे कि सागर में कल्लोल तटवर्ती पर्वत के समीप पहुँचती है। उस समय देवताओं के पुष्पवर्षा के उद्योग के कोलाहल के क्षणभर में शान्त होने पर सिद्ध पुरुषों के ये वाक्य अभिव्यक्त हुए ॥१५–१७॥ सिद्धों ने कहा : सिद्ध पुरुषों के बीच में कल्पपर्यन्त हजारों बार मोक्षोपायों का हमने खूब व्याख्यान किया और दूसरों के मुख से उन्हें खूब सुना, किन्तु उनमें इस तरह के मोक्षोपाय कोई भी न थे। तिर्यग् योनियों कूत्ते, सियार आदि जीव, निसर्गतः जड़ स्त्रियाँ, बालक, सर्प सबके सब भगवान् वसिष्ठजी के इस वचन विलास से परम शान्ति को प्राप्त होते हैं, इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। भगवान् श्रीवसिष्ठजी ने विविध दृष्टान्तों, हेतुओं और युक्तियों से जैसे श्रीरामचन्द्रजी को आत्मावबोध कराया वैसा साक्षात् श्रीअरून्धतीजी को भी आत्मावबोध कराते हैं या नहीं इसमें संशय है। *इस श्लोक से मुख्याधिकारी रामचन्द्रजी में भगवान् श्रीवसिष्ठजी के अतिशय स्नेह की प्रशंसा की गई है।* इस मोक्षउपायभूत सदुपदेश से पशु, पक्षी आदि भी त्रिविधदुःखशून्य हो गये हैं, यदि इसे सुनेंगे तो पृथिवी में कौन मनुष्य मुक्त न होंगे ? हम लोग इस ज्ञानामृत का कर्णरूपी अंजलि से पानकर पूर्ण तथा नूतन हुई सिद्धिवाले होकर परमशोभा को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के सिद्धवचनों को सुनते हुए अयोध्यावासी लोगों ने उस सभा को कमलों के पुष्पों की वृष्टि से परिपूर्ण देखा। उक्त सभा के छत आदि मन्दार आदि के बड़े बड़े फूलों से आच्छन्न थे, उसके आँगन की भूमि कल्पवृक्ष की लता के गुच्छों से ठसाठस भरी थी, पारिजात के फूलों से

सुशोभित भूमितल से वह विराजमान थी, सन्तानक पुष्परूपी महामेघ से सब सभासदों के सिर और हाथ व्याप्त थे। शिरोरत्नरूपी विटंग के अग्रभाग में हरि चन्दन के फूल बिखरे थे। उस सभा में जल से भरे हुए लम्बायमान मेघ के तुल्य चँदवा लटक रहा था। इस प्रकार की अपूर्व सभा का अवलोकन कर रहे अयोध्यावासी लोगों ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रचुर साधुवादों से तथा तत्कालोचित प्रशंसावचनों से उद्युक्त होकर प्रणाम सहित कुसुमांजलि से श्रीवसिष्ठजी की पूजा की। इसके पश्चात जब नृपतियों की प्रणाम परम्पराएँ कुछ शान्त हुई तब हाथ में पूजा सामग्री लेकर राजा दशरथ ने मुनि महाराज की पूजा करते हुए कहा ॥१८-२९॥ राजा दशरथ ने कहा : हे गुरुवर, आपके सदुपदेश से प्राप्त क्षयबुद्धिविहीन बोधमय निरतिशयानन्दरूप आत्मवस्तु से मेरे अन्दर सर्वोत्कृष्ट पूर्णता उत्पन्न हो गई है ॥३०॥ हे गुरुवर, यद्यपि इस प्रकार के निरतिशय परम पुरुषार्थ को प्रदान करनेवाले पूजनीय आपके पूजनयोग्य कोई महावस्तु न तो पृथिवीतल में मनुष्यों के पास है और न स्वर्ग में देवताओं के पास है अथवा न पाताल में नाग लोगों के पास ही है तथापि मैं अपना अवश्य कर्तव्यरूप इस शास्त्र तथा लोक में प्रसिद्ध गुरुपूजाक्रम को सफल बनाने के लिए समयानुसार कुछ प्रार्थना करता हूँ कृपया आप नाराज न हों ॥३१,३२॥ दोनों लोकों में यानी स्वर्ग और भूतल में भोग के लिए जिसका मैंने संचय किया है उस सुकृत से, पुत्रकलत्रसहित अपने शरीर से तथा सम्पूर्ण चाकर और सामन्त सहित सारे राज्य से मैं आपकी पूजा करना चाहता हूँ जिनका मैं आपको समर्पण कर चुका हूँ। हे भगवन्, यह सब मैंने आपको अर्पण कर दिया है। आपके आश्रम की तरह यह आपके अधीन है। आप स्वामी बनकर अपनी इच्छा से मुझे आदेश दीजिये ॥३३,३४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे भूपते, हम ब्राह्मण लोग केवल प्रणाम से सन्तुष्ट है। केवल प्रणाम से ही हमारी तुष्टि होती है और प्रणाम आप कर ही चुके हैं। राज्य की रक्षा करना आप ही जानते हैं और यह आपको ही शोभा देता है। यहाँ यह राज्य आपका ही रहे। तपस्यारत ब्राह्मण कहाँ महीपाल होते हैं ॥३५,३६॥ दशरथजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, इस परम पुरुषार्थरूप मोक्ष के प्रदानरूप महान् उपकार के लिए प्रत्युपकाररूप दीयमान राज्य कौन सी वस्तु है, क्योंकि मानुषानन्द की परम अवधि है निष्कण्टक वित्तपूर्ण निरामय सप्तद्वीप का आधिपत्य। उससे सौ गुना अधिक मनुष्यगन्धर्वों का आनन्द है, इससे भी सौ गुना अधिक देव-गन्धर्वों का आनन्द है इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्टता को प्राप्त हो रहे विषयानन्दों में हिरण्यगर्भ का आनन्द चरम सीमा है। वह सर्वोत्कृष्ट हिरण्यगर्भानन्द भी जिस मोक्षानन्दसमुद्र में सीकर (जलकण) तुल्य है उसके लिए इसकी क्या गणना है, इसलिए हे मुनिवर उसके लिए इसे देने में मुझे लज्जा मालूम होती है, इसलिए हे देव, जैसा आप समझिये वैसा कीजिये ॥३७॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : महाराज दशरथ के यह कह चुकने के बाद गुरु के चरणों पर पुष्पांजलि अर्पित कर रहे श्रीरामचन्द्रजी ने महागुरु श्रीवसिष्ठजी के आगे नतमस्तक होकर यह वाक्य कहा : हे ब्रह्मन्, आपने महाराज को निरूत्तर कर दिया है। मेरे पास प्रणाम को छोड़कर अन्य उत्तम दातव्य वस्तु नहीं है अतएव हे प्रभो, केवल सारभूतवस्तुवाला मैं राम आपके इस चरणों में प्रणाममात्र करता हूँ। यह कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने जैसे वन पर्वत के पादों पर (अधोदेशवर्ती छोटे पर्वतों पर) पल्लवों में लगी हुई ओस की बूँदों को अर्पण करता है वैसे ही शिरसे

वन्दना करते हुए वसिष्ठजी के चरणों पर पुष्पांजलि अर्पण की। आनन्दजनित अश्रुधारा से नीतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजी का वदन भर गया उन्होंने परम भक्ति से बार–बार श्रीगुरुजी को प्रणाम किया। शत्रुघ्न और लक्ष्मण तथा भरत के तुल्य और जो रामचन्द्रजी के अन्यान्य सहचर निकट स्थित थे उन्होंने भी वैसे ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी को प्रणाम किया। जो मुनि, राजा या राजकुमार लोग दूर–दूर बैठे थे, उन्होंने दूरस्थों के योग्य प्रणामों तथा पुष्पांजलियों द्वारा मुनिवर श्रीवसिष्ठजी को प्रणाम किया। इस अवसर पर वहाँ पुष्पांजलियों की वर्षाओं से मुनिमहाराज वैसे ही आच्छादित हो गये जैसे कि हिमवृष्टि से पर्वतराज हिमालय आच्छन्न होता है। इसके उपरान्त जब सभा का कोलाहल और प्रणामपरम्परा समाप्त हो चुकीं तब वसिष्ठजी ने माननीय मुनियों के उन्मुख स्वकृत उपदेशात्मक शास्त्रीय सत्य वस्तु के विषय में बुद्धिमालिन्य के कारण यह सदोष है अथवा स्वच्छ बुद्धि के कारण यह निर्दोष है यों सन्देह करते हुए से अपने चरित्र से लोगों को विनय सिखाने के लिए मुनियों से आगे वर्णन किया जा रहे प्रकार से कुछ प्रष्टव्य का स्मरण करते हुए जैसे सफेद बादलों को फाड़कर चन्द्रमा अपना मुख दिखाता है वैसे ही उस पुष्पराशि को बाहुओं से हटाकर अपना मुख दिखलाया। जब सिद्धों की वाणियाँ, नगाड़ों की ध्वनियाँ, आकाश से पुष्पवृष्टियाँ तथा सभा का कोलाहल शान्त हो गया एवं प्रणाम करने के उपरान्त अपना पूजन करनेवाले यानी अपनी कृतकृत्यता माननेवाले राम आदि लोग शान्तपवनवाले मेघ की तरह सौम्यता को प्राप्त हो गये तब साधुवाद का श्रवण कर रहे मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठजी ने मधुरवचनपूर्वक विश्वामित्रजी से कहा : गाधिजी के कुल में यशरूपी सौरभ उत्पन्न करनेवाले कमलरूप हे मुनिवर, हे वामदेव, हे निमिजी, हे क्रतुजी, हे भरद्वाज, हे पुलस्त्य, हे अत्रे, हे घृष्टे, हे नारद, हे शाण्डिली, हे भास, भृगु, हे भारण्ड, हे वत्सवात्स्यायन आदि ऋषि लोगों, आप लोगों ने मेरा जो यह तुच्छ वचन सुना है जो बात इसमें छूट गई हो, जो अनुचित हो, निरर्थक हो, दुष्टार्थ हो वह आप इस समय शिष्यरहित मुझ पर अनुग्रह कर कृपया कहें ॥३८–५२॥ सभ्य लोगों ने कहा : हे ब्रह्मन्, एकमात्र परमार्थ तत्त्व से सुशोभित होनेवाले श्रीवसिष्ठजी के वचन में कोई अनुचित या दुष्ट अर्थ होता है यह बात आज एकदम नई सुनने में आई है, क्योंकि आज तक इस तरह की बात जगत् में कहीं भी दृष्ट या श्रुत नहीं है। हम लोगों का अनन्त जन्मदोषों से जो पाप संचित था उसका आपने वैसे ही परिमार्जन किया है जैसे कि सुवर्ण के मल का अग्नि परिमार्जन करती है ॥५३,५४॥ हे विभो, जैसे कुमुद ब्रह्मसदृश आकाश में विस्तारित तथा परमामृत से शीतल चन्द्रमा की दीप्ति से विकसित होते हैं वैसे ही हम लोग परम ब्रह्म में विस्तारित परमामृतशीतल आपकी वाणी से विकसित हुए हैं। ये हम लोग सकल प्राणियों को महाबोध देनेवाले मुनिश्रेष्ठ आप गुरु को ही प्रणाम करते हैं, किसी अगुरु को नहीं। *इससे अपराविद्या के गुरुओं की अपेक्षा पराविद्याप्रद गुरु के उत्कर्ष की पराकाष्ठा सूचित की गई*॥५५,५६॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे मुने, मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी से यह कहकर मेघ के सदृश गम्भीर शब्द से एक साथ पुनः पुनः नमस्ते कहते हुए उन मुनिजनों ने आकाश से सिद्धों के साथ स्वयं भी वर्षाये गये पुष्पांजलिसमूहों से वसिष्ठजी को पुनः पुनः वैसे ही आच्छन्न कर दिया जैसे कि मेघ हिमवृष्टि से हिमालय को आच्छन्न करते हैं ॥५७,५८॥ मुनिजनों ने इसी प्रकार राजा दशरथ की प्रशंसा की।

इसके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी का विष्णु के अवतारत्वरूप वृत्त जाननेवाले उन लोगों ने चाररूपवाले भगवान् श्रीहरिरूप श्रीरामचन्द्रजी की प्रशंसा की ॥५९॥ सिद्धों ने कहा : चार स्वरूपवाले दूसरे नारायण के तुल्य स्थित भ्राता सहित श्रीरामचन्द्रजीरूपी जीवन्मुक्त राजकुमार को हम नमस्कार करते हैं ॥६०॥ सिद्धों ने चतुःसागरपर्यन्त भूमिमण्डल के पालक, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में कभी विलय न होनेवाले राजचिह्नों से युक्त महाराज दशरथ की आप रामसदृश पुत्र के पिता होने से अत्यन्त धन्य हैं यों प्रशंसा की तथा मुनिसंघ के स्वामी भूरितेजस्वी अतएव भगवान् सूर्य के समान स्थित मुनिवर श्रीवसिष्ठजी की तथा महायशस्वी तपोनिधि श्रीविश्वामित्र की प्रशंसा की और कहा इन्हीं के महान् प्रभाव से हम सब लोग भ्रान्ति को दूर करनेवाली उत्तम ज्ञानप्रदान करनेवाली वसिष्ठजी की यह वाणी सुन पाये हैं। वाल्मीकिजी ने कहा : ऐसा कहकर सिद्धों ने फिर आकाश से फूलों की वर्षा की तथा सभास्थान में प्रसन्नचित्त होकर चुपचाप बैठ गये ॥६१-६४॥ उसी प्रकार आकाशस्थ सिद्ध पुरुषों ने श्रीवसिष्ठजी की प्रशंसा की, सभास्थित पुरुषों ने भी उन सिद्धों का प्रचुर स्तुतियों के साथ पूजन किया ॥६५॥ आकाश स्थित महर्षि तथा देवताओं ने, भूमि में स्थित ब्राह्मणों तथा राजाओं ने तथा पृथिवी और आकाश में स्थित मुनीश्वरों ने पूर्ववर्णित प्रकार से अपनी अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक पुरुष की पुष्पार्घ्यदान युक्त उच्च जय जयकार वाणी से पूजा की ॥६६॥

दो सौवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ एकवाँ सर्ग

गुरु द्वारा पुनः आदरपूर्वक पूछे गये श्रीरामचन्द्रजी ने पूर्णानन्द में अपनी विश्रान्ति प्रकट की, यह वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : इसके पश्चात् नीचे सभा प्रदेश में जब धीरे धीरे साधुवादों का तांता शान्त हो चुका, ज्ञानोपदेश पाकर राजगण विकसितवदन हो गये, संसार-भ्रान्ति के विलीन होने पर लोग अपनी अज्ञानअवस्था के चरित्र को स्वयं ही तत्त्व की ओर पूर्णतया अग्रसर हुए चित्त से हँसने लगे, सभागत विवेकी लोग चित्तवृत्ति के प्रत्यक्प्रवणपूर्वक चिदेकरसानन्द के सम्यक् आस्वादन में तत्पर हो ध्यानावस्थित की तरह शान्त हो गये, भ्रातृसहित श्रीरामचन्द्रजी गुरु के आगे गुरुजी के दीप्तिमान् मुख पर टकटकी लगाकर हाथ जोड़े पद्मासन बाँधे बैठ गये तथा महाराज दशरथ ध्यानस्थ से होकर अपने अन्दर आदि, मध्य और अन्त में पवित्रता बढ़ानेवाली अलौकिक जीवन्मुक्तिस्थिति का, अनुभव कर रहे थे उस समय मुनि वसिष्ठजी भक्त राजा आदि की पूजा ग्रहण करने के लिए क्षणभर चुपचाप ठहरकर धीरे-धीरे बोले ॥१-६॥ हे राम, आप अपने विशाल कुलरूप आकाश के चन्द्रमा हैं। हे कमलनेत्र आप इससे अतिरिक्त क्या सुनना चाहते हैं ? अपनी इच्छा के अनुसार बतलाइए ॥७॥ हे रामजी, आज इस स्थिति का स्वयं आप कैसा अनुभव करते हैं ? इस जागतिक आभास को आप कैसा देखते हैं ? यह बतलाइये ॥८॥ भगवान् वसिष्ठजी के यह कहने पर गुरु के मुँह को देख रहे राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी ने बिना घबड़ाहट या हिचकिचाहट के मृदु तथा स्पष्ट वचन कहा ॥९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, आपके अनुग्रह से मैं वैसे ही परम निर्मलता को प्राप्त हो चुका हूँ जैसे कलंक से पूर्णतया विरहित चन्द्रमा से सुचिह्नित आकाशतल निर्मल होता है। मेरी संसाररूपी दुःख

प्रदान करनेवाली सभी भ्रान्तियाँ शान्त हो गई हैं। मैं निर्मल आकाश के समान अतिनिर्मल अपने स्वरूप से स्थित हूँ। मेरी चिद्‌अचिद् ग्रन्थि शान्त हो गई है, मेरे सकल विशेषण (उपाधियाँ) विलीन हो चुके हैं तथा ब्रह्मभाव से विशुद्ध जगत् में मेरी बुद्धि स्फटिक के मन्दिर के मध्य में स्थित स्फटिक मणि की तरह निर्मलतम है। मेरा शान्त मन इसके बाद और कुछ उपदेश सुनना तथा कर्म–सम्पादन करना नहीं चाहता है। परम तृप्ति को प्राप्त हुआ वह सुषुप्त के समान स्थित है ॥१०–१३॥ हे मुनिवर, परम शान्ति को प्राप्त हुए मेरे मन के सकल विषयस्मरण शान्त हो चुके हैं, उसका विषयभोग का कौतुक चला गया है तथा उसने विषय संकल्पों का त्याग कर दिया है। मैं जगत् के विषय में मानसिक विषयालोचन रहित जिसमें फिर बोध नहीं है ऐसा ऐन्द्रिक विषयालोचन रहित निरामय होकर सोता सा हूँ, पूर्णरूप से निर्वाण को प्राप्त हूँ, शान्त हूँ। *यहाँ पर इव शब्द सुषुप्तभान के भी मिथ्या होने से तुरीयावस्था में अवस्थिति का द्योतक है।* पूर्व की आशाओं से विह्वलित शरीर में आत्मबुद्धि से स्थिति का उपहासकर देदीप्यमान (फड़क रही) आपकी सूक्तियों से इस समय स्वस्थ होकर निस्सन्देह स्थित हूँ। न उपदेश से, न उपदेशप्रयुक्त अन्य प्रयोजन से, न शास्त्रों से, न बन्धु–बान्धवों से और न इन सबके त्याग से ही मेरा कोई प्रयोजन है। जिसमें केवल प्रत्यगात्ममात्र में चित्त प्रतिष्ठत रहता है ऐसी अविनाशिनी (नित्य) जीवन्मुक्त स्थिति का मैं स्वर्ग में साम्राज्य की असुरादि के क्षोभ से वर्जित जो स्थिति है उसके तुल्य ही अनुभव करता हूँ। मैं बाह्य दृष्टि से जिसमें नेत्र आदि अंग हैं ऐसी स्थिति को प्राप्त होकर भी जगत् को आकाश से भी अत्यंत निर्मल एकमात्र चिन्मात्राकाशरूप ही देखता हूँ। अज्ञानी पुरुष की तरह जगत् को जड़ नहीं देखता। यह जगत् केवल आकाशमात्र ही है ऐसा दृढ़ निश्चयवाला मैं इस जगत् के मोह–निद्रा के साथ बाधित होने पर अक्षय स्वरूप हो सदा ही जागता हूँ। भावी कार्य को यथाकाम, वर्तमान कार्य का यथाप्राप्त तथा पूर्वस्थित कार्य को यथास्थित जो आप कहते हैं उसको मैं फलाभिसन्धि से शून्य होकर अविघ्नतया गुरु तथा शास्त्र के अनुसार करता हूँ। *'यथाकामं यथारम्भं यथाप्राप्तं यथास्थितम्' इस तरह के पाठान्तर में* अपने कार्य के विषय में यथाकाम (यथेच्छ) तथा प्रारब्धानुसार' पर के कार्य के विषय में यथाप्राप्त तथा यथास्थित जो आप कहते हैं उसका मैं गुरु और शास्त्र के अनुसार निर्विघ्न सम्पादन करता हूँ ॥१४–२१॥ इष्ट वस्तु की प्राप्ति से न तो मैं अन्दर मन में सन्तुष्ट होता हूँ और न बाहर शरीर से हर्षित होता हूँ तथा न पुष्ट होता हूँ एवं अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से न रोता हूँ। अवश्यकर्तव्य लौकिक और वैदिक कार्य करता हूँ। मैं केवल एक ही हूँ। मेरा भ्रमजाल दूर भाग चुका है ॥२२॥

इस प्रकार से स्थित हुए मुझे, अज्ञानियों के अभिमत बन्धु, जन, राज्य आदि के नाशों से अथवा, वृद्धि , ह्रास आदि अवस्थाओं से अनर्थप्राप्ति की आशंका नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

चाहे यह सृष्टि उलट जाय अथवा प्रलयकाल के पवन बहें, चाहे देश सोममार्ग के समान जनशून्य हो जाय लेकिन मैं निर्विक्षेपरूप से अपनी आत्मा में स्थित हूँ ॥२३॥ हे मुनिवर, मैं आत्माराम हूँ, बाह्य इन्द्रियों से अलक्ष्य हूँ, मन से भी दुर्लक्ष्य हूँ, निरामय हूँ, आशाओं से मैं वैसे ही बन्धन को प्राप्त नहीं होता जैसे कि मुष्टियों द्वारा आकाश बन्धन को प्राप्त नहीं होता ॥२४॥

देह में अभिव्यक्त का देहातीत रहने में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे वृक्षगत पुष्प में अभिव्यक्त गन्ध आकाश में पहुँचकर पुष्पातीत रहती है वैसे ही मैं देह में

अभिव्यक्त होकर देहातीत सम (यह इस पुष्प का है अथवा इस देह का है यों विशेषण के योग्य न होने से साधारण) रूप से स्थित हूँ ॥२५॥

तो आप आगे कैसे और किस तरह व्यवहार करेंगे ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जैसे ही प्रबुद्ध तथा अप्रबुद्ध सब राजा विविध कामधामवाले राज्यों में व्यवहार करते हैं वैसे ही हर्ष, विषाद और आशा से विरहित, स्थिर, एक, सम दर्शन मैं आत्मा में स्थित होकर निःशंक हो व्यवहार करता हूँ। अप्रबुद्ध, प्रबुद्ध में यही अन्तर है कि अज्ञानी हर्ष, विषाद और आशापाश से बद्ध, अस्थिर तथा विषमदृष्टि रहता है, ज्ञानी हर्षादि से रहित स्थित तथा समदृष्टि रहता है ॥२६,२७॥

हे प्रभो, सकलविषयैश्वार्यानन्द के ऊपर स्थित ब्रह्मानन्द से मैं सुखी हूँ अतएव अपने शरीर में विषयसुख की मुझे इच्छा नहीं है। बाह्य दृष्टि से सर्वसाधारण जनकी तरह मैं स्थित हूँ। मुझे अपनी इच्छा के अनुसार सेवा आदि जिस किसी भी विषय में नियोजित कीजिये। हे सज्जन शिरोमणे, एकमात्र निर्मलब्रह्मरूपलक्ष्य में दृष्टिवाला मैं जब तक मेरा शरीर रहेगा तब तक सांसारिक स्थिति का निःशंक होकर वैसे ही पालन करूँगा जैसे कि बालक अपनी अवस्था के अनुरूप क्रीड़ा का अनुवर्तन करता है ॥२८,२९॥ हे मुनिनायक, मैं भोजन करता हूँ, पीता हूँ, बैठता हूँ, अपने कर्तव्य का पालन करता हूँ। आपके अनुग्रह से मेरी सब शंकाएँ निवृत्त हो चुकी हैं ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बड़े सौभाग्य का विषय है कि आपने आदि, मध्य और अन्त रहित वह महापुण्य सर्वश्रेष्ठ पद पा लिया है जिस पद में स्थित हुए पुरुषों को पुनः शोक-दुःख नहीं रहता। आप अत्यंत सम (विषमतालेशशून्य) शीतल स्वात्मा में जैसे आकाश शान्त आकाश में विश्राम प्राप्त करता है वैसे ही पूर्ण विश्रान्ति को प्राप्त हुए हैं। बड़े हर्ष की बात है आप सर्वथा शोक दुःखशून्य हो गये हैं, बड़े आनन्द का विषय है कि आपको उत्तम स्थिति प्राप्त हो गई है एवं महासौभाग्य की बात है कि आपकी इस लोक और परलोक में दृष्ट, अदृष्ट और श्रुत अनर्थशंका की निवृत्ति हो गई है ॥३१-३३॥ हे पुत्र, हर्ष है कि आपने आत्मतत्त्वज्ञानी होकर बोध से रघुवंशियों की अतीत, वर्तमान और भावी कुलसन्तति को पवित्र कर दिया है। हे रघुनाथ, इस समय आप मुनिनायक श्रीविश्वामित्र की इस यज्ञविघ्ननिवृत्ति की अभ्यर्थना को पूर्णकर पिता के जीतेजी उनकी आज्ञा से राक्षसवध द्वारा पृथिवी का पालनकर स्थित होइये ॥३४,३५॥ हे सौभाग्यशाली राघव, आप सरीखे महापुरुष कुलदीपक से युक्त पुत्र-पौत्र, सेवक, बन्धुबान्धव, पैदल सिपाही, रथ, गज और अश्वसमुदाय के साथ सब रघुवंशी शरीर में नीरोग, निर्भय और घरों में सदा उदयवाले हों ॥३६॥

दो सौ एकवाँ सर्ग माप्त।

दो सौ दोवाँ सर्ग

प्रबोध से यों हर्षित हुए राजाओं का तथा प्रबोध से हर्षित हुए श्रीरामचन्द्रजी का वर्णन तथा श्रीरामचन्द्रजी द्वारा ज्ञाननिर्मल अपनी स्थिति का वर्णन।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, सभा में वसिष्ठजी का यह वचन सुनकर सब राजा तथा अन्यान्य लोग अमृतप्रवाह से सींचे हुए की तरह अन्दर अत्यन्त शीतलता को प्राप्त हुए ॥१॥ कमलनयन

श्रीरामचन्द्रजी अपने मनोज्ञ चन्द्रवदन से ऐसे सुशोभित हुए जैसे कि अमृत से पूर्ण मनोहर चन्द्रमा के उदय से सम्पूर्ण क्षीरसागर सुशोभित होता है ॥२॥ तत्त्वज्ञानविशारद वामदेव आदि सब लोगों ने वाह भगवान् श्रीवसिष्ठजी ने क्या उत्तम ज्ञान का वर्णन किया, यह बड़े सम्मान से कहा ॥३॥ शान्त अन्तःकरणवाले राजा दशरथ प्रसन्नता से अत्यन्त सुशोभित हुए। वे अत्यंत सन्तोष से पूर्णतया रोमांचित शरीर हो एक अपूर्व शोभा को प्राप्त हुए। इसके पश्चात् ज्ञानी पुरुषों में बहुत–सी साधुवाद कथाओं के प्रवृत्त होने पर श्रीरामचन्द्रजी ने, जिनका अज्ञान छूट गया था, पुनः यह वचन कहा ॥४,५॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आप अतीत और वर्तमान के अधिपति हैं, आपने हमारा यह अज्ञान वैसे ही पूर्णतया मिटा दिया है जैसे अग्नि सुवर्ण का मल (अन्यान्य धातुओं की मिलावट) पूर्णतया मिटा देता है ॥६॥ हे प्रभो, हम लोग पहले केवल शरीर में आत्मदृष्टिवाले थे इस समय आपके अनुग्रह से सर्वत्र सर्वात्मदर्शी हो गये हैं ॥७॥ मैं सर्वात्मा होकर सम्पूर्णरूप से स्थित हूँ, नीरोग हो गया हूँ, मेरी सकल आशंकाएँ मिट चुकी हैं। इस समय मैं ज्ञानवान् होकर जागरूक हूँ ॥८॥ कभी खेदवान् न होने के लिए मैं आनन्दित हूँ, चिरकाल के लिए मैं सुखी हूँ, कभी अस्त न होने के लिए मैं स्थित हूँ, मेरे परमपुरुषार्थ का उदय आविर्भूत हो गया है। अहा पवित्रतम शीतल ज्ञानरूपीजल से आपने मुझको सींचा है। अतएव मैं हृदय में शरत्काल के कमल के समान प्रहृष्ट हूँ, विकसित हूँ ॥९,१०॥ आपके अनुग्रह से आज मुझे यह दिव्य साम्राज्यपदवी प्राप्त हो चुकी है जिसमें स्थित हुए मेरे लिए यह सारा जगत् अमृत बन गया है ॥११॥ मेरी मति पूर्णतया प्रसन्न हो चुकी है, मेरा समस्त शोक निवृत्त हो गया है, मैं अलौकिक शान्ति से (सकार्य मूलअज्ञान के नाश से) अमलाशयरूप आत्मा में आनन्द को प्राप्त हो गया हूँ। भलीभाँति परीक्षा करके देखे गये आत्मा से ही स्वतः सिद्ध निर्मलता को मैं प्राप्त हो चुका हूँ अतएव मुझको नमस्कार है ॥१२॥

दो सौ दोवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ तीनवाँ सर्ग

मध्याह्नकाल का सूचक तुरी का घोष, दिनचर्या,
निशा का आगमन तथा प्रातःकाल सभा के सामने श्रीरामचन्द्रजी के सन्देह अभाव का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : इस प्रकार जब भगवान् वसिष्ठजी तथा श्रीरामचन्द्रजी आपस में विचार कर रहे थे उस समय मानों उनके विचारविमर्श को सुनने के लिए भगवान् सूर्य आकाश के मध्य में पहुँचे। इसके पश्चात् दसों दिशाओं में प्रकाश श्रीरामचन्द्रजी की महामति के समान पदार्थ–राशि स्पष्टरूप से प्रदर्शन के लिए जल्दी तेज हो गया। उस समय उद्यान के तालाब विकसित कमलों से विशालकाय होने के कारण प्रफुल्ल–हृदय कमल होने के कारण विकसिताकार वहाँ पर बैठे हुए राजाओं की तरह खूब सुशोभित हुए। मोतियों की घनी झालरवाला स्फटिकमणि का झरोखा जिसमें भगवान् सूर्य का प्रतिबिम्ब संक्रान्त था, आकाश में तैरता हुआ–सा नाचता था। पद्मराग मणियों में संक्रान्त सूर्य की आकाश में फैली हुई तेजदीप्तिवाली किरणें (प्रतिबिम्बित–कान्तियाँ) ऐसी स्फुरित होती हैं जैसे कि स्वच्छ उपदेश ज्ञानकला स्फुरित होती हैं ॥१–५॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि की

मुखकान्तिरूप चन्द्रमा से विकसित से हुए अपने कुल के कैरवभूत (रात को खिलनेवाला सफेद कमल) श्रीरामचन्द्रजी महाराज जब इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त हो गये, जब बड़वानल के तुल्य भगवान् सूर्य, जो तेजःपुंजरूपी देदीप्यमान ज्वालाओं से युक्त तथा बड़वानल के समान ही समग्र रसों का पान करनेवाले हैं, आकाशरूपी महासागर के नाभि के सदृश हो गये यानी मध्य आकाश में स्थित हो गये, जब आकाशरूपी नीलकमल, जो सूर्यरूपी कर्णिका से मनोहर, देदीप्यमान किरणरूपी केसरों से सुशोभित था तथा जिससे रजरूपी पराग गिर रहा था, अत्यन्त सुहावना मालूम होता था, वह आकाशरूपी नीलकमल मानों जगत्-लक्ष्मी का शिर का भूषण था, त्रिलोकीरूपी नायिका का कर्णाभरण (कानों का आभूषण) था। वह कर्णाभरण और शिरोभूषण भीतर जड़े हुए चमकीले सितारेरूपी विविध रत्नों से सुशोभित था, जब दिशारूपी नायिकाओं ने विशाल पर्वतशिखररूपी हाथों से धूप से मिश्रित जल रहित महामेघों को दर्पणों की नाईं पकड़ रखा था तथा जब सूर्यरहित भी आकाश श्रेष्ठतम सूर्यकान्त मणियों से निकली हुई आग से प्रदीप्त होने के कारण सूर्य से भी दुगुना सा जल रहा था उस मध्याह्न समय में समय की सूचना देने के लिए बजनेवाले शंख प्रलय काल की वायु से पूर्ण सागरों की तरह प्रचुर मुखवायु से पूरित होकर बजे। कमलों पर ओस की बुँदों के समान लोगों के मुख मण्डलों पर पसीने की बुँदों ने स्थिति की, जिनका आकार-प्रकार इधर उधर बिखरे हुए मोतियों के समान था। जैसे वृष्टि और नदी का जल सागर को भरता है वैसे ही घर की दीवारों में टक्कर लगने से प्रतिध्वनि के रूप लौटे हुए तथा प्राणियों के कर्मत्वराप्रयुक्त शब्दसंभ्रम से पुष्ट हुए शब्द ने लोगों के कानों को भर दिया। मध्याह्न काल में सुवासिनी (सौभाग्यवती) महिलाओं द्वारा गर्मी की प्रखरता को शान्त करने के लिए उड़ाई हुई सफेद कर्पूरयुक्त जल सींचनरूपी नूतन-मेघमाला उल्लास को प्राप्त हुई॥६-१५॥ महाराज दशरथ सब सामन्तों, भूपालों, अपने अंगरक्षक, चाकर आदि, महामुनि वसिष्ठ तथा श्रीरामचन्द्रजी के साथ सभा से उठे। सब राजा, राजकुमार, मन्त्रिगण, मुनिवृन्द परस्पर पूजा-सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने अपने घर को गये। अन्तःपुर के प्रमुख गृहों में पंखों की वायु से उड़ाई गई कपूर की धूलि से अपूर्व ही मेघमाला उदित हुई। इसके पश्चात् मध्याह्नकाल की तूरियों की ध्वनि दीवारों में टकराकर प्रतिध्वनित हुई तब वाक्यप्रयोग में निपुण मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने ये वाक्य कहे : हे रामचन्द्रजी, आपने श्रोतव्य सब कुछ सुन लिया है और ज्ञातव्य सब कुछ जान लिया है इसके अतिरिक्त उत्तम ज्ञातव्य कुछ भी नहीं है॥१६-२०॥

अब आपको गुरु के उपदेश, वेदान्त आदि शास्त्र तथा स्वानुभव के अविसंवाद के लिए एकार्थनिष्ठतारूप एकवाक्यता करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं।

हे राम, जिस प्रकार मैंने आपको उपदेश दिया है, जिस प्रकार आपने वेदान्तशास्त्रों से जाना है और जैसा आपका अपना अनुभव है उस प्रकार सबकी एकवाक्यता कीजिये। हे महामते, यथाप्राप्त कर्तव्य का पालन करने के लिए आप उठिये। हम लोग मध्याह्नस्नान के लिए जाते हैं। यह हम लोगों का मध्याह्न का समय व्यतीत हो रहा है। हे भद्र, अपनी आकांक्षा की विनिवृत्ति के लिए आपको जो सुन्दर वस्तु पूछनी हो वह प्रातः काल आप पुनः पूछ लीजियेगा॥२१-२३॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी के यह कहने पर श्लाघनीय धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्रजी

के साथ सभा में समुपस्थित उन सकल साधुपुरुषों की, मुनियों की, ब्राह्मणों की, राजाओं की तथा आकाशचारी सिद्ध और देवगणों की श्रीवसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मुनियों द्वारा उपदिष्ट क्रम से मणि–मोती आदि के निष्क्रयरूप धन से, दिव्य फूलों से, मणि–रत्न आदि के प्रदान से, मुक्तामाला के समर्पण से, विनय, प्रणाम, धनसहित कन्याप्रदान, वस्त्र आसन, अन्न, पान, सुवर्ण, भूमि, धूप, गन्ध, माला आदि से यथायोग्य पूजा की। पूजा करने के उपरान्त सभा के बीच से दूसरों का सम्मान करनेवाले महाराज दशरथ वसिष्ठ आदि देवर्षियों के सहित सारी सभा के साथ वैसे ही उठे जैसे कि सायंकाल के समय आकाश से चन्द्रमा उठता है ॥२४–२९॥ वह त्वरायुक्त सभा से उठने का समय अत्यन्त सुशोभित हुआ जिसमें घुटनों तक देवताओं द्वारा वर्षाये गये फूलों से चारों ओर कीचड़ हो गया था, परस्पर घिसने और टकराने से केयूरों (अंगदों) में जड़े हुए रत्नों के चूरे से पृथ्वी लाल हो गई थी, टूटे हुए हारों से स्फुरित हो रही मोतीरूपी तारिकाओं ने रात्रिकाल में प्रसिद्ध नक्षत्रयुक्त आकाश को जीत लिया था, देवर्षि, मुनि, ब्राह्मण तथा राजाओं के इधर उधर संचार, से जो अत्यन्त भीड़भाड़वाला था, व्यग्र सेविकाओं के हाथों में चँवर केशों से चंचल थे, वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के क्रम के मनन आदि द्वारा भूमिका के क्रम से प्रमेयीकरण के लिए ही स्पन्दमान, अन्य स्वार्थत्वरा से नहीं, इस कारण जो दारूण न था, कभी जरा सा धक्का लगने पर भी परस्पर क्षमायाचना के लिए सिर में अंजलि बाँधे हुए आगे और अगल बगल तीनों भागों में देखने तथा क्षमा माँगने के लिए प्रवृत्त नेत्र और जीभवाले सकल जनों से विराजित था, पागल निष्ठुर लोगों से विषम नहीं था, इसलिए वहाँ पर पीड़ा आदि दोषों का लेष भी न था ॥३०–३३॥ मृदु–मधुर वचनवाले सत्कृत दशरथ आदि सब सज्जन पुरुष, जो सातों लोकों के निवासी थे, परस्पर पूछकर इन्द्रपुरी से देवताओं की तरह परस्पर स्नेहपूर्ण हृदय होकर अपने–अपने आश्रमों को गये ॥३४,३५॥ क्रमानुसार प्रेम से एक दूसरे को सत्कार कर उनसे विदा लेकर अपने घर में आकर उन्होंने दिन का कृत्य किया ॥३६॥ इसके पश्चात् श्रीवसिष्ठ आदि तथा दशरथ आदि राजा–सबने दिवस के कृत्य किये। इसके अनन्तर उनके दिवस सम्बन्धी क्रिया करने पर क्रम से आकाश का पथिक सूर्य अस्त को प्राप्त हुआ। उनकी तथा महामति श्रीरामचन्द्रजी की उसी कथा से जागरणवश वह रात्रि शीघ्र व्यतीत हुई ॥३७,३९॥ प्रातःकाल घर में झाडू बुहारी देने की तरह अन्धकाररूपी पांसु तारा रूपी फूलों की राशियाँ जिसमें से हटा दी गई हैं ऐसे जगद्रूपी भवन को घर की तरह साफ सुथरा बना रहे भगवान् सूर्य का उदय हुआ ॥४०॥ इसके अनन्तर करवीर और कुसुम्ब के सदृश किरणों से दिशाओं को लाल बना रहे बाल सूर्य आकाशरूपी सागर में प्रविष्ट हुए। राजा, राजकुमार, मन्त्री लोग तथा श्रीवसिष्ठ आदि मुनिगण फिर महाराज दशरथ की सभा में आये। अपने–अपने क्रम, स्थान, देश और आसन के अनुसार जैसे आकाश में नक्षत्र शोभा प्रविष्ट होती है वैसे ही वहाँ पर वह सभा प्रविष्ट हुई। तदनन्तर दशरथ आदि भूपालों तथा सुमन्त्र आदि मन्त्रियों के आसन पर आसीन मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी की प्रचुर स्तुति करने पर महामुनि वसिष्ठजी तथा अपने पिताजी के सन्मुख कमलनयन श्रीमान् श्रीरामचन्द्रजी ने यह मधुर वचन कहा ॥४१–४५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे सकल धर्मों के ज्ञाता, हे सकल ज्ञानों के महासागर, हे सकल

सन्देहरूपी वृक्षों का उच्छेद करने के लिए परशु (कुठार) रूप तथा हे शत्रुओं के भी शोक और भय की निवृत्ति करनेवाले हे ब्रह्मन्, मेरे लिए अन्य श्रवणीय अथवा ज्ञातव्य क्या शेष है ? जो कुछ भी श्रोतव्य या ज्ञातव्य मेरे लिए अवशिष्ट हो वह सब आप मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥४६,४७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी आपको बोध प्राप्त हो गया है। आपके लिए अब श्रोतव्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं है। आपकी बुद्धि कृतकृत्य हो गई है और यह प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्तकर आत्मा में स्थित है। आप ही अपनी बुद्धि से विचारकर स्वयं कहिये कि आज आप स्वानुभव से कैसे हैं और आपके लिए शेष श्रोतव्य क्या है ? ॥४८,४९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, जैसा आप कहते हैं वैसे ही मैं अपने को कृतकृत्य समझता हूँ, मैं निर्वाण को प्राप्त हो चुका हूँ, प्रशान्त हो चुका हूँ, मुझमें किसी बात की आकांक्षा नहीं है। जो कुछ वक्तव्य था उसे आप कह चुके हैं, मैं सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तु जान चुका हूँ अब कृतकृत्यता को प्राप्त हुई आपकी वाणी विश्राम को प्राप्त हो। मैं जानने योग्य तत्त्व को जान चुका हूँ, यह ज्ञातव्य वस्तु मुझे मिल गई है। सम्पूर्ण जगत् ऐक्य को (ब्रह्मैकरसता को) प्राप्त हो चुका है। जीव ब्रह्म भेदरूपी द्वैत अस्त को प्राप्त हो गया है मेरा दृश्यभेद का भान मिट गया है क्योंकि मैंने खूब विचारविमर्श कर सारी सांसारिता की आस्था का त्याग कर दिया है ॥५०-५२॥

दो सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ चारवाँ सर्ग

श्रीवसिष्ठजी तथा श्रीरामजी का चिदात्मा के परिशोधन के लिए
निष्कृष्ट युक्ति से फिर चित् में दृश्य का परिमार्जन करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर मेरा परम संक्षिप्त (युक्तियों से स्पष्ट तथा दृश्य के परिमार्जन का उपदेशक होने के कारण उत्कृष्ट) वचन सुनिये, क्योंकि बार-बार खूब पोंछने से दर्पण अत्यन्त शोभित होता है ॥१॥

रूप और नाम के भेद से दो प्रकार का दृश्य है। उनमें से पहले के मार्जन का (मिटाने का) उपाय कहते हैं।

चार प्रकार के शब्दों के (जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्दों के) जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छाचार प्रकार के अर्थ होते हैं। जैसे नीली, चंचल भद्रा नाम की गौ। यहाँ पर गौ जातिवाचक शब्द है, नील गुणवाचक, चंचल क्रियावाचक और भद्रा यदृच्छा शब्द है। वे एक ही वस्तु में व्यावर्त्यभेद के अधीन भेदकल्पनारूप शब्द भेद प्रवृत्तिनिमित्तता से कल्पित भ्रान्तिवेदन संकेतरूप ही हैं वास्तविक नहीं। इस प्रकार अर्थ का परिमार्जन हुआ। अब दूसरे के (शब्द के) मार्जन का उपाय कहते हैं। अर्थ के परिमार्जित होने पर निरर्थक शब्द जलध्वनि के समान होकर नामता का त्यागकर अर्थता को प्राप्त हुआ, इसलिए अर्थ के परिमार्जन से शब्द का भी परिमार्जन हो गया यों अर्थ और शब्दरूप दो प्रकार का ही दृश्य स्वप्न के समान चिदाभानमात्र सिद्ध हुआ। ऐसी अवस्था में जगत् की उत्पत्ति कहाँ हुई ? जब जाग्रत् ही मिथ्या है तब जाग्रत् ही संस्कार द्वारा स्वप्नदृष्ट पदार्थ बन जाता

है और स्मरण के समान पदार्थशून्य स्वरूप होकर सामने आता है, इसलिए वह संविद् संवेदनमात्र होकर अन्य आकार की भाँति विस्तृत है उसमें संवित् से अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैसे प्रत्यक् चैतन्यरूप मुझ में स्वप्नजगत्‌रूप निर्मल संविदाकाश सरूप होता हुआ भी नीरूप है वैसे ही त्रिभुवन भी सरूप होता हुआ भी नीरूप है ॥२–४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, चित् में यह भूमि कैसे संपन्न हुई, पर्वत कैसे सम्पन्न हुए, कैसे जल हुआ, कैसे पत्थर हुए, कैसे तेज हुआ, कैसे क्रिया हुई, कैसे काल हुआ, कैसे वायु हो गया और कैसे चिदाकाश हो गया यानी चित् में जड़ता और भूमि आदि विचित्रता कैसे हो गई ? यद्यपि यह सब मैं आपके उपदेश से जान चुका हूँ, मेरे विशद बोध के लिये फिर मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥५–७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, जरा कहिये तो सही स्वप्न में दिखाई दिये महानगर में कैसे वास्तविक रूप से भूमि हो गई, कैसे आकाश हो गया, कैसे जल हो गया, कैसे पत्थर हो गये, कैसे तेज हो गया, कैसे दिशाएँ हो गई, कैसे काल हो गया और कैसे क्रिया हो गई ? उन सबके निमित्त आदि सब कैसे हो गये यह मुझसे कहिये। किसने इस स्वप्न में दृश्यजंजाल का निर्माण किया, किसने इसको जलाया, कौन इसको लाया, किसने इसकी रचना की, किसने इसको विविध पदार्थों से भरा, कौन इसका उत्पादक है, किसने इसे प्रकट किया, इसका क्या स्वरूप है और क्या आकार–प्रकार है ? *यानी स्वप्नदृश्य के समान ही इसकी संभावना करनी चाहिये इस अभिप्राय को मन में रखकर प्रतिवान्दी से स्वयं प्रश्न के ब्याज से श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर दिया ॥८–११॥*

दृष्टान्त के (स्वप्नदृश्य के) समान ही दार्ष्टान्तिक में (जाग्रत् दृश्य में) भी पृथिवी आदि की सम्पत्ति की संभावना कर रहे श्रीरामचन्द्रजी स्वयं भी जगत् की असत्यता का वर्णन करते हैं।

स्वप्नरूप इस जगत् का स्वरूप निराकार निराधार आकाश ही है। भूमि, पर्वत आदि सत्य नहीं हैं ॥१२॥ इसका निराधार निराकार आत्मा ही व्योमरूप है, आकृति के अभाव में इस व्योम का आधार से क्या प्रयोजन है ? ॥१३॥

पृथिवी आदि आकारसम्पत्ति को मानकर यह कहा गया है, वास्तव में पृथिवी आदि सम्पत्ति भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह पृथिवी आदि कुछ भी सम्पन्न नहीं हुए यह संवित् के अतिरिक्त, सत् नहीं हैं। यह जगदाकार चित् का स्फुरण स्वप्न के समान मन ही उस प्रकार (जगत् के रूपसे) स्थित है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥१४॥

और मन भी केवल चित् का स्फुरण है, अतः वही सब कुछ है, ऐसा कहते हैं।

सकल तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में उस प्रकार का बोध होने से यहाँ पर दिशा, काल आदि चित् का भान है, पर्वत आदि चिद्‌भान है, जल आदि चित् है एवं वायु आदि चिदाकाश है। संवित् ही आकाशता को प्राप्त होकर आकाशरूप से स्थित है, काठिन्य से वह पत्थर के रूप से स्थित है और द्रववश वह जल के समान स्थित है। वास्तव में भूमि आदि कुछ भी नहीं है, इसलिए वह सब एक अनन्त चिदाकाश पृथिवी आदि के रूप से स्थित है। प्रसन्न (निश्चल) सागर का जल द्रवरूप होने के कारण ही जैसे तरंग फेन, आवर्त आदि (अभिन्न) होता हुआ ही अपने में नाना होता है। चिति अपने में काठिन्य के संकल्प से

पृथिवी की तरह गिरिता को प्राप्त हुई है, चिति अपने में शून्यता के वेदन से आकाश की तरह अपने को शून्य जानती है। अपने में द्रवत्व के वेदन से जल मानती है, अपने में स्पन्दता के वेदन से वायु जानती है, अधिष्ठान चिद्रूप अपने स्वरूप का त्याग न कर रही चिति उष्णता के वेदन से अग्नि को जानती है। इस प्रकार के स्वभाववाला ही यह आकाशरूप चित्धातु बिना कारण, बिना गुण और बिना क्रम के जो कुछ इस प्रकार स्फुरित होता है उसके अतिरिक्त जगत् का तत्त्व वैसे ही यहाँ कुछ नहीं है जैसे कि आकाश और सागर में शून्यता और जल के सिवा अन्य तत्त्व कुछ नहीं है। 'इदम्' (यह) 'त्वम्' (तुम) और 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् चिदाकाश के अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि उसके बिना कुछ भी संभव नहीं है। इसलिए आप पूर्ण शान्त होकर स्थित होइये। आप जैसे इस घर में स्वप्न, मनोरथ आदि से अग्निपर्वत आदि की बुद्धि करते हुए अग्नि पर्वत न होते हुए भी उसको अग्निपर्वत देखते हैं वैसे ही निराकार चिदाकाश को जगत् के रूप में देखते हैं। सृष्टि के आदि में चिदाकाश ही देहतुल्य प्रतीत होता है तब बिना कारण के असत् से (अज्ञान से) देहाकार चिति उदित होती है, वास्तव में देह उदित नहीं होता है, यह ज्ञानीजनों को विचार करना चाहिए। मन, बुद्धि, अहंकार, पंच महाभूत, पर्वत और दिशाएँ ये सब शिलागर्भ के समान यथास्थित अनिवार्य हैं। इस तरह न कुछ उत्पन्न हुआ है न कुछ नष्ट हुआ है यथास्थित यह जगत्रूप ब्रह्मात्मा में स्थित नामक जो स्वरूप का प्रकर्ष से बृंहण है वही यह जगत् कहा गया है। यथार्थ सम्यक् दर्शन से प्रबुद्ध बुद्धिवाले की दृष्टि से यह जगत्भाव से भान भी अभान ही है यानी वास्तव में शून्य चिदाकाश ही है अप्रबुद्धबुद्धिवाले यानी मूर्ख की दृष्टि से जैसा तैसा हो उसके विचार से क्या प्रयोजन है, यह अर्थ है ॥१५–२९॥

दो सौ चारवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ पाँचवाँ सर्ग

केवल विषयमात्र स्वरूपवाली यह जगत् स्थिति स्वप्नतुल्य है।
न यह कभी उत्पन्न हुई, न स्थित है और न नष्ट हुई यह केवल चिन्मात्र ही है।

इस प्रकार जगत् की स्वप्न के समान पूर्वोक्त विवर्तमात्रता का स्वीकार कर कूटस्थ अद्वितीय चिन्मात्र विवर्त का भी संभव नहीं है, क्योंकि उसका कारण नहीं है, ऐसा श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जैसे परमाकाश स्वप्न में दृश्यरूप होता है वैसे ही यह जाग्रत् में दृश्यरूप होता है इस विषय में यदि सन्देह नहीं है तो यह सर्वश्रेष्ठ महाप्रश्न मुझसे कहने की कृपा कीजिये। अदेह चिति जाग्रत्रूप स्वप्न में सदेहवत् कैसे होती है ? ॥१,२॥

हेतु न होने के कारण आपने विर्वत की अनुत्पत्ति, अनुत्पन्न की स्थिति नहीं होगी अतः शून्यता ही होगी यह सिद्ध करना चाहिए। जगत् की शून्यता इष्ट ही है, अतः आपके प्रश्न में हेतुभूत सन्देह निरुपत्तिक है, यों भगवान् वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, यह दृश्य जाग्रत् और स्वप्न में हेतुशून्य आकाश से उत्पन्न हुआ है, अतः शून्याधार शून्यरूप ही होगा ऐसा ही सिद्ध करना चाहिये। और ख (शून्य) परम ब्रह्म ही है अन्य नहीं, इसलिए उत्पत्ति आदि से शून्य अद्वैत ब्रह्म के अविरोधी विवर्त में अनुपपत्ति का सन्देह

उपपन्न नहीं होता, यह अर्थ है ॥३॥

विर्वत में अनुत्पत्ति का ही उपपादन करते हैं।

समस्त कारणाकारों में अस्तमयरूपवाले सर्गादि में ही कोई भूत उत्पन्न ही नहीं होते यानी उस समय पृथिवी आदि किसी भूतका संभव नहीं है ॥४॥

अदेह चिति जाग्रत् और स्वप्न में सदेहवत् कैसे होती है, यह प्रश्न भी अनुत्पन्न है क्योंकि पृथिवी आदि के अभाव में जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकार के भूतों के शरीर भी असत् ही हैं ऐसा कहते हैं।

इसलिए पृथिवी आदि के अस्तित्व में ही होनेवाला यह शरीर कुछ भी नहीं है। ये भूत ही निश्चय करके देह हैं और उनका सर्वथा अभाव है ॥५॥

अतः विवर्तपक्ष निर्दोष है यह कहते हैं।

इसलिए चिदाकाश स्वप्नवत् प्रतीत होनेवाले स्वरूपमात्रस्फुरणरूप जगदादि आकारवान् जैसे मायागुण से विक्षुब्ध इस दृश्य को देखता है ॥६॥ यह जो चिदात्मा का भानमात्र है वही स्वप्नभान है और वही जगदाकृति चिदाकाशरूप ही स्वप्न विवर्त, जगदादि शब्द से कहा जाता है ॥७॥ चिदाकाश का जो यह वेदन है यह आकाश के समान निर्मल है इस वेदन के अन्दर भासमान चित् का रूप सूक्ष्म होने पर स्वप्न और स्थूल होने पर जगत् के रूप से स्थित है यानी वेदन ही स्वप्न और जगत् के रूप में स्थित है ॥८॥

इस प्रकार रूपप्रपंच के वेदनमात्र होने पर नामप्रपंच भी वेदन का ही एक नाम भेद प्रसिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं।

इसके उपरान्त चारों ओर व्याप्त हुए अपने स्वभावकचन (स्फुरण) में उस चिद्रूप चिदात्मा ने ये पृथिवी आदि पृथक् पृथक् संज्ञाएँ की हैं ॥९॥

अतएव स्वप्न आदि की निवृत्ति होने पर भी वह तत्त्व (भान) कभी शान्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

उक्त चिद्भान ही स्वप्न और जगत् शब्दों से निर्दिष्ट होता है। चित् का भान स्वभाव (तत्त्व) है। वह चिदाकाशरूपी भान कभी शान्त नहीं होता ॥१०॥

उसके (चिद्भान के) सद्भाव से ही उसमें बहुत-से विवर्त हुए हैं, ऐसा कहते हैं।

बहुत-सी भिन्न-भिन्न सृष्टि दृष्टियाँ ब्रह्मरूप ही हैं। जैसे आकाश में शून्यता स्थित है वैसे ही वे ब्रह्माकाश में ही स्थित हैं और प्रवेश करती हैं ॥११॥

कौतुकवश इस ब्रह्माण्ड के स्वरूप को सुनने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न की भूमिका निर्माण करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपने लीलोपाख्यान, भुशुण्डाख्यान आदि में करोड़ों प्रकार की सृष्टियों का वर्णन किया है। उनमें से कुछ ब्रह्माण्डकोश में स्थित हैं, कुछ उससे रहित यानी मन आदि में स्थित हैं, कुछ भूकोश में स्थित हैं, कुछ आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ तेजकोश में स्थित हैं और कुछ वायुकोश में स्थित हैं। कुछ आकाशतल में स्थित गोलाकार भूमिपीठ हैं, उनमें रहनेवाले उर्ध्व तथा अधोभाग में स्थित चिंटियों के समान भूगोल से चिपके हुए देव, असुर आदि हम ही ऊपर हैं हम ही

ऊपर हैं यों विविध निश्चयवाले हैं, क्योंकि सबकी दृष्टि से भूमि के अधोभाग के जन, भूमि के मूलाकाश से जिनके पैर ऊपर की ओर और सिर नीचे की ओर रहता है, ऐसे प्रतीत होते हैं। इस तरह उन लोकों में ऊर्ध्वमूल अधःशाखा और शिखरवाले होने के कारण वन और पर्वत लटके हुए से मालूम होते हैं। कुछ वातमय (वायु शरीरवाले) प्राणियों से परिपूर्ण हैं, कुछ निरन्तर अन्धकार से व्याप्त हैं, कुछ आकाशमय शरीर धारण करनेवाले जीवों से भरे हैं और कुछ सृष्टियाँ गूलर के फल के समान कोटि कोटि कीड़ों से व्याप्त हैं। कुछ आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ सृष्टियाँ शिलाओं के गर्भ में स्थित हैं, कुछ भाण्ड-बर्तन युक्त, मण्डप आदि के कोश में स्थित हैं और कुछ आकाश में पक्षियों के समान स्थित हैं। हे भगवन्, हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ, उनमें से हमारा आश्रयभूत यह ब्रह्माण्ड जिस प्रकार का और जैसा स्थित है, वह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१२-१७॥

यह आपका प्रश्न तत्त्वज्ञानविषयक अथवा तत्त्वज्ञानोपयोगी नहीं है, न इसका कोई प्रयोजन है, न प्रकृत वेदान्त-चर्चा के उपयुक्त है, न अपूर्व है और न नियत (सदा सबके मत से एकरूप) है, क्योंकि मुनियों द्वारा विभिन्न ज्योतिष सिद्धान्तों में भूमि, वन आदि की स्थिति अन्यथा (अन्यान्य प्रकार से) वर्णित है। यह सब मैं पहले दिखला चुका हूँ, अतएव मायामय स्वप्नतुल्य इसके विषय में किसी एक का पक्षपात कर सिद्धान्त कथनों का कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा समझ रहे श्रीवसिष्ठजी यह विषय अन्य शास्त्रों का है, उनसे आपको ज्ञात हो ही चुका है, इसलिए यह विषय प्रश्नयोग्य नहीं है, यों समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जो वस्तु अपूर्व हो (अन्य प्रमाणों का गोचर न हो), जो इष्ट न हो, अनुभूत न हो अथवा श्रुत न हो यानी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द का विषय न हो उसीका गुरु सुन्दर सुन्दर दृष्टान्तों से प्रतिपादन करता है तथा शिष्य श्रवण द्वारा उसीका ग्रहण और मनन द्वारा उसीका ऊहन करता है अन्य का नहीं, यह अर्थ है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस ब्रह्माण्ड का तो ज्योतिष आदि आगमों ने (वेद-शास्त्रों ने) तथा शास्त्र के प्रवर्तक मुनियों तथा देवताओं ने शतशः (अनेक प्रकारों से) वर्णन किया है यह अपूर्व नहीं है और आपको ज्ञात ही है ॥१८,१९॥ जैसा यह आपने जाना है, जैसा आगमों द्वारा वर्णित है वह सब ज्यों-का-त्यों स्थित है इसके विषय में और क्या वर्णन करें ? यानी आपको जो प्रकार ज्ञात है उसीका आपके प्रति कथन अपूर्व नहीं है, इसलिए उसका वर्णन उचित नहीं है ॥२०॥

तो ब्रह्म कैसे ब्रह्माण्डाकार बना, कितने काल तक ब्रह्माण्डाकार रहेगा ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिए, यों श्रीरामचन्द्रजी पुनः प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, चिन्महाकाश यह (ब्रह्माण्ड) कैसे बना, यह कितना विशाल है अथवा कितने काल तक स्थित रहेगा यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२१॥

ब्रह्म कभी साकार नहीं हुआ, न उसका कालिक परिच्छेद ही है किन्तु अज्ञानी जीव जब तक अज्ञान रहता है तब तक सुप्त पुरुष की तरह अपने आत्मा को जगत् के आकार में देखता है, इस आशय से कहते हैं।

यह अविनाशी ब्रह्म आदि-अन्त शून्य नित्य है। परमाकाश में न आदित्व, न मध्यत्व और अन्तत्व

है तथा न विविध आकार हैं। यह ब्रह्माकाश आदि–अन्त रहित, अक्षर सर्वव्यापी है, अतएव ब्रह्माकाशमय आदि–अन्त विहीन यह विश्व चारों ओर फैला है। इस परम चिदाकाश का स्वतः स्वात्मा में जो भान है, उसको उसी ने स्वयं विश्व कहा है, वह मिथ्या है। जैसे पुरुष का स्वप्ननगरदर्शन है वैसे ही नगरवत् उसका यह भान है वही विश्व कहलाता है ॥२२–२५॥

चिदेकस्वभान ब्रह्म में चित्स्वभाव से विरुद्ध पर्वत काठिन्य आदि स्वभाव कैसे सत्य हो सकते हैं, ऐसा कहते हैं।

यहाँ न कठिन पर्वत हैं, न द्रवरूप जल है, न शून्य यह आकाश है और न सबको कवलित करनेवाला काल ही है ॥२६॥

चिति ही भ्रान्त चेतन को तथा उस उस रूप से स्थित–सी प्रतीत होती है वस्तुतः वह उस रूप में नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चिति ने जिस पदार्थ का जिस प्रकार जहाँ पर चिन्तन किया वह उस प्रकार वहाँ चित्तत्त्व में पर्वत, नदी आदि के रूप में पूर्णतया स्थित हैं ॥२७॥ जैसे स्वप्न में अशिला ही शिला होती है, अनाकाश ही आकाश होता है यानी शिला तथा आकाश से अतिरिक्त चैतन्य ही शिला और आकाश होता है वैसे ही यहाँ सर्गादिरूपी स्वप्न में चेतन में दृश्य की (जगत् की) स्थिति है। निराकार शान्त चिति जिस स्वस्फुरण को ही स्वप्न के समान जानती है वह जगत् कहा जाता है, अतः चिद्रूप जगत् निराकार ही है यह बात मैं आपसे शतशः कह चुका हूँ। जैसे वायु के अन्दर स्थित स्पन्द एकमात्र केवल वायु ही है वैसे ही यह ब्रह्म में ब्रह्म है। यह न तो उदित होता है और न शान्त होता है। जैसे जल में द्रवत्व रहता है, जैसे आकाश में शून्यत्व और जैसे पदार्थ में पदार्थत्व रहता है वैसे ही ब्रह्म में यह जगत् है। न तो यह प्रलय में तिरोहित होता है अथवा न सर्गादि में जगत् के अकारण ब्रह्म से निष्कारणक उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मपद में यह जगत् न तो अभिन्न है अथवा न भिन्न ही है। अनादि निराभास निराकार चिदाकाश अन्य (विसदृश, जड़) सर्गदृष्टियों का कारण कदापि नहीं हो सकता है। इसलिए जैसे अवयवी के (अंगीके) अवयव (अंग) केवलस्वात्ममात्र हैं यानी उससे पृथक् नहीं हैं वैसे ही निरवयव (अखण्ड) ब्रह्माकाश में जगत्रूपी आकाश स्थित है ब्रह्माकाश से जगदाकाश पृथक् नहीं है ॥२८–३४॥ सब कुछ दृश्य शान्त, निराधार, निरामय (निर्दोष) ज्ञानमात्र है। यहाँ न जगत् की सत्ता है अथवा न असत्ता है तथा यहाँ किंचित् भी भेद नहीं है। दृश्य के इस अपलाप में 'नेह नानास्ति किंचन' यह श्रुति प्रमाण है ॥३५॥

शान्त निराधार ज्ञप्तिमात्र दृश्य का आभास होने में दृष्टान्त देते हैं।

मनोपंख से कल्पित नगर के तथा स्वप्न में दृष्ट नगर के वृतान्त के समान सारा दृश्य फैला है। वास्तव में विषमताशून्य, शान्त, अजन्मा अविनाशी ब्रह्माकाश ही दृश्य के रूप में स्थित है। परम चिदाकाश स्वच्छ, चमकदार, सारभूत स्वरूप ही चित्स्वभाव होने के कारण भ्रमवश जिस जिस आकार में पूर्णरूप में विकसित होता है –स्फुरित होता है–उसी स्वकल्पित आत्मरूप को प्रलयपर्यन्त उसी ने (चिदाकाश ने ही) जगत् के रूप से जाना है अन्य को नहीं ॥३६,३७॥

दो सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ छठवाँ सर्ग

ब्रह्म ही सत् है जगत् की सत्ता नहीं है इसके निर्णय में कारणभूत कुशद्वीपेश्वर द्वारा कथित प्रश्नों का निरूपण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, श्रीरामचन्द्रजी, बिना कारण के जिस जगद्भान का स्फुरण होता है वह कुछ भी है ही नहीं। वास्तव में परमार्थभूत ब्रह्म ही जगत् के रूप में स्थित है ॥१॥ हे महाबुद्धे, कभी किसी ने मुझसे प्रश्न किये थे। इस विषय में सम्यक् ज्ञान की खूब पुष्टि के लिये आगे कहे जा रहे इस महाप्रश्न को और सुनिये ॥२॥ दोनों ओर से सुरोदक तथा घृतोदकवाले महासागरों से कंकण के तुल्य घिरा हुआ, त्रिलोकी में विख्यात कुशद्वीप नामका द्वीप भूलोक में स्थित है। वहाँ पर पूर्व और उत्तर दिशा के मध्य में इलावती नामकी सुवर्णमय नगरी है, जिसमें कान्तिरूपी ज्वालावलि के खम्भों से भूतल और आकाश गुँथे हुए हैं। उस नगरी में पूर्व भाग में प्रज्ञप्ति नामसे विख्यात राजा हुआ। सब जगत् के प्राणी उस पर अनुरक्त थे, स्वर्ग में दूसरे इन्द्र के समान वह सर्वप्रिय तथा समृद्ध था। किसी समय की बात है कि मैं प्रलयकाल में आकाश से गिरे सूर्य के समान किसी प्रयोजन से उस राजा के समीप में पहुँचा। पुष्प, अर्घ्य और आचमनों द्वारा मेरी पूजा कर वह बैठा। किसी कथा के सिलसिले में उसने बड़े विनय से मुझसे यह पूछा : भगवन्, सारे दृश्य का संहार होने तथा सबके कारणभूत बीज आदि तथा पृथिवी आदि का क्षय होने पर शून्यरूप से विस्तीर्ण नाम के भी प्रवृत्तिनिमित्तभूत जाति, गुण, क्रिया और संस्थान के अभाव से अवाच्य परमाकाश में सृष्टि के आरम्भ का कौन मूल कारण (उपादान कारण) फिर हुआ अथवा कौन सहकारी (निमित्त) कारण हुए ? वे कहाँ से (किस उपादान से) हुए और कैसे (किस उपाय से) हुए ? उत्पन्न हुआ जगत् वास्तव में क्या है ? उसके सृष्टि से लेकर प्रलय-पर्यन्त विकार क्या हैं ? उसमें भी कुछ भूमियाँ नित्य अन्धकार से आच्छन्न रहती हैं, कुछ ब्रह्मलोक आदि आकाश में स्थित हैं तथा कुछ नरकादि भूमियाँ कृमि-कीटों से भरी हैं, कुछ अन्तरिक्ष आदि लोक आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ दैत्य, दानव आदि की नगरीरूप भूमियाँ शिला के गर्भ में स्थित हैं इत्यादि विचित्रता क्या है ? पृथिवी आदि पंचभूत तथा उनमें रहनेवाले जरायुज, अण्डज आदि चतुर्विधभूतसंघ आदि तत्त्वतः क्या हैं ? उनके बुद्धि आदि आध्यात्मिक पदार्थ क्या तथा कैसे होते हैं ? इन सबकी रचना करनेवाला अथवा द्रष्टा कौन है तथा इनकी परस्पर आधार आधेयता क्या है ? यदि कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्डरूप वेद तथा शास्त्रों के अविरोध के लिए जगतों का कभी भी प्रलय नहीं है, किन्तु तत्-तत् प्राणियों के कर्मों के अनुसार सदा ही जगद्-व्यवहार चलते रहते हैं कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था इस निश्चय का समर्थन किया जाय तो जैसा संवेदन होता है वैसी ही अनुभूतियाँ होती हैं इस प्रसिद्धि से संवेदन देह आदि का हेतु है कहा जाय या कुछ और ? प्रथम प्रश्न में वह संवेदन सदा स्थायी है अथवा नश्वर है ? यदि वह सदा स्थायी है तो वह कूटस्थ ही है। वह देह आदि विकार कदापि नहीं होगा। यदि वह नश्वर है तो उसकी उत्पत्ति में कारण कहना चाहिए। उसका निर्वचन होना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि संवेदन के बिना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। हे मुनिनायक, मुझे दूसरी शंका यह है कि आज जम्बूद्वीप आदि देश में अथवा इस कुशद्वीप में मरे हुए तथा अग्नि में जलाये गये देहनाशवालों के नरक स्वर्ग के भोग के लिए देह को उत्पन्न करनेवाले माता, पिता आदि से

शून्य प्रदेश में शरीर के प्रति उपादान कारण कौन होगा अथवा निमित्त कारण कौन होंगे ?

शंका : धर्म और अधर्म ही देह के आकार में परिणत हो जायेंगे ? समाधान–धर्म और अधर्म दोनों अमूर्त हैं। उन अमूर्तों की मूर्तता असमंजस है। अद्रव्य (द्रव्यभिन्न) धर्म और अधर्म द्रव्यों द्वारा (पार्थिवयुक्त) नहीं है। वहाँ माता–पिता आदि का अभाव है, अतः क्या उपादान कारण होगा और बीज के अभाव से उपर्युक्त धर्मअधर्म का देहाकार में परिणाम असमंजस है। धर्म और अधर्म करनेवाले का परलोक नहीं है यह नास्तिक पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सही जन्म (वर्तमान जन्म) पूर्व जन्म की अपेक्षा परलोक है। और यह जन्म संवेदन के अनुसार स्थित है ॥३–१८॥

सम्पूर्ण लोक, वेद आदि का विरोध होने से भी नास्तिक पक्ष ग्राह्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

प्रजाजन राजा की आज्ञा आदि से, जो स्वेच्छा चेष्टा आदि के अगोचर हैं, दूर देशान्तर में हैं, अतएव सम्बन्ध रहित हैं और अमूर्त भी हैं, वध, बन्धन, दण्ड आदि फल पाते हैं इसमें कौन उपपत्ति है ? दूसरी बात यह है कि पत्थर, लोहे आदि का खम्भा देवता, मुनि आदि के वरदान से सुवर्ण की प्राप्ति के लिए गमन, आगमन आदि किये बिना ही जहाँ पर क्षणभर में सोने का हो जाता है वहाँ पर वह सम्पत्ति किस उपपत्ति से है ? यह कहिये। और भी सुनिये, अचेतन होने के कारण प्रयोजनसिद्धिरूप निमित्त के बिना ही प्रवृत्त हो रहे विधि प्रतिषेधरूप शास्त्रों का क्या प्रयोजन है, जो कि प्रचार द्वारा लोक में प्रसिद्ध हैं किसी के द्वारा अनुष्ठान न होने से अप्रसिद्ध हैं, यह बतलाने की कृपा कीजिये ? ॥१९–२१॥ हे ब्रह्मन्, जगत् पहले असत् था पश्चात् सत् हुआ जैसे–'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' (यह पहले असत् ही था), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सौम्य, यह पहले एक अद्वितीय सत् ही था) इत्यादि श्रुतियों की परस्पर संगतार्थता (एकवाक्यता) कैसे हुई यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये। और सुनिये, सृष्टि के आरम्भ में शून्य आकाश से यह ब्रह्म कैसे होगा ? यदि आकाश का ऐसा प्रभाव मानें, तो इस तरह के प्रभाववाले सब प्रदेशों में भिन्न आकाश से सब जगह अन्य ब्रह्म क्यों नहीं पैदा होते ?

हे मुनिश्रेष्ठ, औषधियों के अपने अपने पदार्थों के उष्णत्व आदि स्वभाव कैसे स्थित हैं यह मुझसे अपने बोध के अनुसार कहने की कृपा कीजिये ॥२२॥ भगवन्, एक ही पुरुष के मित्र ने प्रयाग आदि मनोवांच्छित फल देनेवाले क्षेत्र में उसके जीवन की कामना कर मृत्यु का आलिंगन किया और शत्रु ने वहीं पर उसके मरण की कामना कर अन्तिम साँस ली। दोनों के मरण के पश्चात् विरुद्ध स्वभाव वाले कार्य कैसे होंगे यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये। तथा एक ही समय में 'मैं आकाश में पूर्ण चन्द्रमा होऊँ इस कामना से चन्द्रत्व प्राप्त करानेवाली उपासनाविधि के अनुसार ध्यान करनेवाले बहुत से उपासकों द्वारा एक ही काल में प्राप्त अवश्यम्भावी चन्द्रत्वप्राप्तिरूप फलों से आकाश एकसाथ अनेकों चन्द्रों से युक्त क्यों नहीं होता ? तथा एक ही स्त्री का अपनी स्त्री के रूप में प्राप्त करने के लिए जब लाखों पुरुषों ने एक साथ ध्यान किया तब उन पुरुषों के ध्यान की फलभूत वह एक ही स्त्री उन पुरुषों को भिन्न देश में स्थित भिन्न भिन्न घरों में एक ही समय कैसे प्राप्त हुई ? तथा हे महामुनिजी, वह एक ही स्त्री अपनी तपश्चर्या से परम ब्रह्मचारिणी, उनमें से प्रत्येक पति के घर में रहने से प्रत्येक के प्रति तपस्या से साध्वी एवं बहुजन भोग्य होने के कारण

असाध्वी कैसे तथा वह उन सबकी स्त्री कैसे हुई यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२३-२८॥ भगवन्, मैं घर से बाहर नहीं निकलता हुआ भी कल्पनापर्यन्त सप्तद्वीपों का अधीश्वर होकर घर पर स्थित होऊँ यह विरुद्ध है। किसीने वरदान आदि द्वारा जहाँ प्राप्त किया वहाँ घर के भीतर भोग्यवर की वरता कैसे उपपन्न होती है ? ॥२९॥ दान, धर्म आदि तपस्याओं तथा अन्त्येष्टि क्रिया, श्राद्ध आदि कर्मों का अदृष्ट जहाँ क्रिया हुई उसी प्रदेश में यदि उत्पन्न होता है तो यहाँ पर स्थित लोगों को क्रिया का फल परलोक में कैसे होगा, जो उक्त क्रिया की उत्पत्ति से शून्य है ? तथा अदृष्ट मूर्त देह आदि में प्रीतिजनन से सफल है यह कहिये तो परलोक में स्थित देह में अदृष्ट का अस्तित्व कहाँ है ? ॥३०॥ यदि कहिये कि व्यवहार करनेवाला जीव और उसमें समवाय सम्बन्ध से स्थित उसका अदृष्ट जिस जगह उसका भोग होता है वहाँ है। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस लोक के देह आदि मूर्त पदार्थ अन्य लोक तथा अन्य काल में नहीं रहते जिनके आश्रय से व्यवहार करनेवालों को फल हो सकेगा, यह अर्थ है ॥३१,३२॥ इत्यादि असमंजस कैसे समंजस होगा ? मेरे मन में उठे हुए इन सकल सन्देहों को शीतल और उज्ज्वल वाणी से ऐसे काट डालिये जैसे कि चन्द्रमा सायंकाल में होनेवाले अन्धकार को शीतल तथा उज्ज्वल कान्ति से काट देता है ॥३३॥ हे भगवन्, परमात्मा के विषय में उपदेश द्वारा सकल संशयों का विनाश करने से हजारों विरुद्ध फलवाला भी दोनों लोकों में (इस लोक और परलोक में) हितकर तथा अविरुद्ध हो जाता है, इसलिए परमवस्तुबोध (परमात्मबोध) मुझे दीजिये। आपके सदृश महापुरुषों का समागम मेरे सदृश किसी को साधारण फलप्रद नहीं होता है, यह अर्थ है ॥३४॥

दो सौ छठवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ सातवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में राजा प्रज्ञप्ति द्वारा किये गये प्रश्नों के कतिपय
प्रश्नों का क्रम तथा व्युत्क्रम से श्रीवसिष्ठजी द्वारा समाधान।

एक विज्ञान से ही सर्व विज्ञान होता है, अतः सकल सन्देहों का मूलोच्छेद द्वारा परिहार होने के कारण मैं सामान्यरूप से सब प्रश्नों का समाधान करूँगा, यों श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

हे राजन्, जिस प्रकार मैं हथेली में रक्खे आँवले की तरह स्पष्टरूप से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ उसे तुम सुनो। जिससे तुम्हारे सकल सन्देह सर्वथा पूर्णरुप से निर्मूल हो जायेंगे ॥१॥

सर्वप्रथम स्वयंप्रमाण स्व स्व संवेदन का अनुसरण करनेवाले पुरुषों को पदार्थों के तत्त्व की व्यवस्था करने में कहीं भी किसी भी सन्देह की उपपत्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

सभी जगत् के पदार्थ सदा ही असद्रूप हैं और सदा ही ये सद्रूप हैं, क्योंकि इनकी स्थिति संवेदन के अनुसार है। जहाँ पर जिसके अस्तित्व की प्रतीति होती है, जहाँ पर जिसके नास्तित्व की प्रतीति होती है वहाँ दोनों ही स्थलों में भगवती संवित् द्वारा ही उनके अस्तित्व और नास्तित्व रूपका समर्थन किया जाता है, यह भाव है ॥२॥ जिस विषय में यह पदार्थ है, नीला है, पीला है, घड़ा है, वस्त्र है, अथवा नहीं है इस प्रकार का ही है इस प्रकार के अवधारण से (निश्चय से) संवित् से व्याप्त

है उस विषय का वह रूप अवश्य होता ही है। वह सत् हो अथवा असत् हो इस विषय में आग्रह नहीं है ॥३॥ संवित् का ऐसा स्वभाव ही है। उक्त संवित् द्वारा आत्मरूप में शरीर की पहले भावना की जाती है और संवित् की देहधर्मता यों विपरीतता का अध्यास किया जाता है। उस देह से उस संवित् की अभिव्यक्ति होती है यानी देह की आत्मता। *इस प्रकार नरक और स्वर्ग के भोग के लिए देह के उत्पादक माता-पिता आदि से शून्य प्रदेश में देह के प्रति कौन उपादान कारण है और कौन निमित्त आदि कारण हैं ? प्रज्ञप्ति के इस प्रश्न का समाधान किया गया* ॥४॥ इसीलिए लोग स्वप्न और जाग्रत में देह का चेतयिता के (आत्मा के) रूप में ही अनुभव करते हैं अन्य यानी संवित् को चेतयिता का (देहका) धर्म जानते हैं वह स्वयं चेतयित्री है ऐसा नहीं जानते हैं। इसलिए कोई यानी भ्रान्तिरूप संवित् ही शरीरता है उससे अन्य शरीरता नहीं है ॥५॥

आदि के तीन प्रश्नों का भी इसी तरह समाधान करना चाहिये, क्योंकि जगत् की सिद्धि संवेदन के बलपर ही हुई है, इस आशय से कहते हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ में समस्त कारणों का अभाव था, अतएव अवश्य आश्रय लेने योग्य स्वप्नद्रष्टा संविदात्मा ही यों जगत् के रूप में भासता है। ऐसी अवस्था में इस जगत् में स्वप्नवैधर्म्यरूप अन्यता कौन है यानी कोई नहीं है अर्थात् जगत् स्वप्नसदृश ही है। इस प्रकार जो ही ब्रह्मनामक निर्मल संवेदन है, वही इस जगत् के रूप में भासता है, इसलिए जगत् में ब्रह्मभिन्नता कैसी ? ॥६,७॥ इस प्रकार सदा एकरस (कभी विकृत न होनेवाले) ब्रह्म की जगत्रूप से स्थिति होने के कारण जगत् ब्रह्म ही है। विद्वान्, वेद और अध्यात्मशास्त्ररूप प्रमाणों से ऐसा ही हमने अनुभव किया है वही यहाँ पर कहा है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहा है ॥८॥ जगत् नित्य संविन्मात्र ही है, यह बात सब प्राणियों की बुद्धि में बद्धमूल है, दृढ़ अनुभव से सिद्ध है, नित्य संविदात्मा ही सत्तारूप से सर्वत्र पूर्ण है तथा महात्माओं ने अनेक बार यह कहा है फिर भी जगत् की नित्य संविन्मात्रता का अपलाप करके अन्धकूप के मेढक जैसे जो मूढ़ पुरुष आपाततः वर्तमान नाम और रूप के अनुभव को ही प्रमाण मानकर संवित् नित्य नहीं है, किन्तु उसका कारण शरीर ही है वह जड़ोपादान तथा जड़ात्मा की गुण है यों मोह को प्राप्त हुए हैं वे नैयायिक, चार्वाक आदि अज्ञ उन्मत्त ही हैं। वे हम लोगों की ज्ञानचर्चा में भाग लेने के योग्य नहीं हैं। भले चंगे मस्तिष्कवाले पुरुषों तथा पागलों का एवं मूढ़ तथा प्रबुद्धों का परस्पर संलाप (संवाद) कैसा ? किसी भी प्रकार उसका संभव नहीं है। जिस विद्वान् के कथनोपकथन से सकल सन्देहों का विनाश न हो उसे इस लोक में क्या अन्य लोकों में क्या यानी तीनों लोकों में मूर्ख-कथा ही समझना चाहिये ॥९-१२॥ जो मूढ़बुद्धिवाला चार्वाक यह प्रपंच एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाणवाला ही है, प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणोंवाला नहीं है, इसलिए श्रुति आदि से सिद्ध जगत् का ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहता है वह उस युक्तिविहीन, सर्वविरुद्ध तथा अभिज्ञजनों का कर्णकटु होने से पत्थर के समान कठोर अपने वचन से ही सकल विद्वानों द्वारा अज्ञानी तथा अन्धे कुएँ का मेढक कहा गया है, क्योंकि वह पूर्वापर विचारबुद्धि को ताक में रखकर केवल वर्तमानमात्रगोचर प्रत्यक्ष प्रमाण में ही अपनी बुद्धि से पशु के सदृश स्थित है ॥१३,१४॥

चार्वाक आदि की उक्ति से सन्देहों की कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान आदि

प्रमाणों का अंगीकार न करने के कारण उसकी उक्ति युक्तिशून्य है। वेद आदि तो गुरुमुख से पूछे जाने पर सकल सन्देहों की निवृत्ति द्वारा परम पुरुषार्थ के प्रदान में समर्थ हैं, कारण कि वे अपने अनुभव से पूर्ण इस मेरे द्वारा कही हुई दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा कहते हैं।

वेद तथा तत्त्वज्ञानी जन जब पूछे जाते हैं तब अपने अनुभव से परिपूर्ण इस मेरे द्वारा कही गई दृष्टि का ऐसे प्रतिपादन करते हैं जैसे कि ये सब संशय नष्ट हो जाते हैं ॥१५॥ यदि प्रत्यगात्मसंवित् ही देहादि जगत् है तो शव (मृत शरीर) भी संवित् होने से क्यों नहीं चेतता यानी चैतन्य प्राप्त करता है ? ऐसी जिसकी शंका है उस मूढ़ श्रोता के लिए यहाँ पर कहा जाता है, तुम सुनो ॥१६॥ जैसे तुम्हारा स्वप्ननगर विस्तृत होता है वैसे ही हिरण्यगर्भ के वेष धारण किये हुए परमब्रह्म का स्वप्ननगर यह जगद्-भान विस्तृत है ॥१७॥ यद्यपि यह सम्पूर्ण जगद्-भान वास्तव में निरन्तर चिन्मात्रस्वरूप ही है तथापि इसमें जैसे तुम्हें अपने स्वप्ननगर में चेतन भ्रान्ति नहीं होती वैसे ही शवादि जड़ में भी नहीं होती है यह जानना चाहिये। अपने स्वप्न में दसों दिशाएँ, विविध पर्वत, पृथिवी आदि, नगर आदि सब कुछ चिन्मय आकाश ही हैं यह विचार करने पर तुम्हारे अनुभव से सिद्ध है ॥१८,१९॥

वैसे ही जगत् में भी चिन्मयता की संभावना करनी चाहिये, ऐसा कहते है।

ब्रह्म संविदाकाशमय है, उसका संकल्पनगर विराट् है, ब्रह्मा भी एकमात्र संवित्मय ही है वैसा ही उसका बनाया हुआ यह जगत् भी शुद्ध संवित्मय ही कहा जाता है ॥२०॥ जैसे तुम्हारे संकल्पनगर में तुमसे जिस-जिस पदार्थ का जैसा संकल्प किया जाता है वैसा ही तुम्हें उसका अनुभव होता है वैसे ही ब्रह्मा के संकल्पनगररूप इस जगत् में चित् द्वारा जिस जिस का जैसा संकल्प किया जाता है उस उसका वैसा अनुभव होता है। जैसे तुम्हारे संकल्पनगर में जिस-जिस पदार्थ का जैसे संकल्प किया जाता है उस समय वह वैसा रहता ही है वैसे ही इस संकल्पनगर में जिस जिसका जैसे संकल्प किया जाता है वह उस समय वैसा रहता ही है ॥२१,२२॥ इसलिये जैसे जीवित देह की चेष्टा होती है, मृत शरीर की चेष्टा नहीं होती। यों नियत इन स्पन्द (चेष्टा) और अस्पन्द (चेष्टा का अभाव) दोनों की हिरण्यगर्भरूप चित् ने ही कल्पना की है वैसे ही उसने उनका स्वयं अनुभव किया इसलिये शव में चेतना की अभिव्यंजक चेष्टा की प्राप्ति नहीं होती है ॥२३॥

'निर्द्रव्यं कुरुते द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमंजसा' इस प्रश्न का समाधान करने के लिये उसके अभिप्राय को विशद करते हैं।

महाप्रलय के अन्त में पुनः सृष्टि चलती है। लेकिन समस्त कारणों का अभाव होने से वह सृष्टि द्रव्य तो है नहीं। यदि कहिये 'पूर्व कल्प के प्रजापति से निर्मित द्रव्यों का इस (आधुनिक) सृष्टि में उपयोग होगा, अतः वह निर्द्रव्य कैसे ?' यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व कल्प के प्रलय से पहले ही पूर्व कल्प का प्रजापति मुक्त हो चुका इस कारण उसके द्वारा निर्मित जगत् का पूर्ण रूप से प्रलय होने के कारण पूर्व जगत् के प्रकार की स्मृति आदि निमित्तकारण नहीं है, यह तुम्हारा आशय है। लेकिन तुम्हारा यह आशय हमारे सिद्धान्त के अनुकूल ही है, क्योंकि स्वयं ज्योति ब्रह्म ही जगत् के रूप में भासता है। इसलिए ब्रह्मा का पहले हिरण्यगर्भ के रूप में स्फुरण हुआ उसके बाद आकाशरूप उसने स्वयं ही आकाशरूप संकल्पनगर को जगत् जाना। जैसे केवल चिन्मात्ररूप संकल्पनगर का भान होता

है वैसे ही निष्कारण चिन्मात्र उन्मेष जगत् के रूप में भासता है ॥२४–२७॥

इससे 'माता पित्राद्यमावोऽपि' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया, ऐसा कहते हैं।

शरीर हो चाहे मत हो। जहाँ–जहाँ चिदाकाश है वहाँ वहाँ वह द्वैताद्वैतमय जगत्रूप आत्मा को जानता है ॥२८॥

मरण के पश्चात् जगत् के दर्शन में भी यही न्याय जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जैसे चिदाकाश स्वप्ननगर को देखता है, जैसे संकल्पपुर को देखता है वैसे ही मरने के बाद जगत् को देखता है। जैसे सर्ग के आदि से अपृथिवीमय यह जगत् पृथिवी आदिमय–सा भासता है वैसे ही मृत पुरुष का भी सम्पूर्ण जगत् अपृथिवी आदिमय होता हुआ भी पृथिवी–आदिमय भासता है। जैसे तत्त्वज्ञानी के अथवा स्वप्न से जागे हुए पुरुष के स्वप्न के देश और काल जाग्रत् सृष्टि से तनिक भी व्याप्त (सम्बद्ध) नहीं रहते वैसे ही परलोक प्राप्त पुरुष के भी ऐहिक देश–काल वहाँ (परलोक में) व्याप्त नहीं होते ॥२९–३१॥

इसी तरह तत्त्वज्ञानी के विषय में जगत् भी नहीं व्याप्त होता है, ऐसा कहते हैं।

स्पष्टरूप से अपने द्वारा अनुभूत भी यह जगत् प्रबुद्ध के (तत्त्वज्ञानीके) विषय में वैसे ही कुछ नहीं है जैसे कि आकाश के विषय में कारण कुछ नहीं है। जैसे अप्रबुद्ध पुरुष को असत् ही यह जगत् देदीप्यमान मालूम होता है वैसे ही परलोकगत पुरुष को चिदाकाश ही सर्गवत् प्रतीत होता है। परलोकगत पुरुष को अभूतपूर्व चिदाकाश ही द्युलोक, पृथिवी, यम आदि से युक्त पूर्वसिद्ध–सा व्याप्त प्रतीत होता है। यहाँ मैं मरा, फिर नारकीय जीव के रूप में उत्पन्न हुआ, यमलोक में आया और वहाँ पर शुभ–अशुभ कर्मफलों को भोगता हूँ यों मृत पुरुष अतिनिबिड़ भ्रान्ति को देखता है ॥३२–३५॥

उक्त भ्रान्ति मोक्ष के उपायभूत अध्यात्मशास्त्रों के परिशीलन आदि से ही पूर्णरूप से नष्ट होती है उसके विनाश का दूसरा मार्ग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मोक्ष के उपायभूत श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का अनादर करनेवाले पुरुषों का यह मोह (अज्ञान) कदापि शान्त नहीं होता है। बोध होने से वासना के मिट जाने पर यह मोह नष्ट हो जाता है ॥३६॥

इससे धर्म और अधर्म ही जगत् के आकार में परिणत होते हैं यह आस्तिक लोगों का पक्ष भी अनुगृहीत हुआ, इस आशय से कहते हैं।

अप्रबुद्ध पुरुष की जो संवित् है वह धर्म–अधर्मवासना है जो आकाश में ही आकाशरूप भासती है वही यह जगत् के रूप में स्थित है। जगत् का स्वरूप स्वतः शून्यरूप भी नहीं है और सत्स्वरूप भी नहीं है, किन्तु ब्रह्मनाम का चैतन्य ही जगत्स्वरूप है और अज्ञान के कारण ही अनर्थभूत है तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए तो परमकल्याण निरतिशय आनन्दरूप ही है ॥३७,३८॥

दो सौ सातवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ आठवाँ सर्ग

जैसे प्रजा दूर देश में स्थित प्रयत्नों से अन्यत्र वध, बंधन आदि फल पाती है वैसे ही ब्रह्मा की इच्छा का वर्णन।

'अनिच्छतेहितैर्दूरदेशान्तरगतैः फलम्। प्रजा प्राप्नोत्यसंबद्धैरमूर्तैरत्र कः क्रमः ॥' इस प्रश्न का

उत्तर सुनाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : राजन्, प्रजाओं को अमूर्त, दूर स्थित अतएव सम्बंधरहित राजा की आज्ञा आदि से अपने ही घर में जैसे शुभाशुभ फल (निग्रहानुग्रहरूप) प्राप्त होता है उसको सुनो, मैं कहता हूँ ॥१॥ चूँकि ब्रह्म ही अज्ञानवश दृश्यबोध से दृश्य के रूप में प्रतीत होता है और ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म ही है, इसलिए यह जगत् ब्रह्मसंकल्पनगररूप से स्थित है ॥२॥ संकल्पनगर में जिस जिस वस्तु का जिस समय जैसा संकल्प किया जाता है वह वह वस्तु उस समय वैसे ही अनुभूत होती है। जैसे तुम्हारे इस संकल्पमय घर में जो यह प्रजा है वह तुम्हारे संकल्प के अनुसार बनी वैसे ही ब्रह्म के संकल्प से सम्पन्न जगत् में भी यह प्रजा पूर्णरूप से ब्रह्मसंकल्प के अनुसार ही होती है। अपने संकल्पनगर में यह सब जिस प्रकार का तुम्हारा स्थित है। तुम अपने संकल्पनगर में जिसका जैसा संकल्प करते हो उसको वैसा ही देखते हो ॥३–५॥

लेकिन जो जगत् में हमारे संकल्पनगर की विलक्षणता का अनुभव होता है उसे वर–शाप संकल्प के तुल्य समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

मुनियों की यम, नियम आदि के सेवन से शुद्ध हुई संवित् वर और शाप से जैसे तत्–तत् व्यवहारक्षेम यानी निग्रहानुग्रहसमर्थ होती है, ब्रह्मसंवित् भी वैसे ही होती है, यह अर्थ है। जो वर और शाप द्वारा होता है उसे भी तपस्वियों के वर और शाप सिद्ध हों यों ब्रह्म की कल्पना से ब्रह्मसम्बंधी ही सत्यसंकल्प समझना चाहिये ॥६॥ प्रकृत में प्रजाजन विधि–निषेध शास्त्रों द्वारा बोधित धर्म और अधर्म में से एक आस्थावश जो धर्म अथवा अधर्म का फल प्राप्त करते हैं वह भी ब्रह्म के ही इस प्रकार के संकल्पवश ही होता है ॥७॥ इस जगत् में जो जीव है उनके सृष्टिरूप अभिव्यक्ति के पूर्व उपलब्धि न होने के कारण पहले यह जगत् असत् था। सृष्टि के उपरान्त सत्यरूप से इसकी उपलब्धि होती है ॥८॥

असत् जगत् का कुछ काल तक सत्तारूप से जो किंचित् भान होता है वह भी ब्रह्म के सत्यसंकल्प से ही होता है, ऐसा कहते हैं।

राजन्,यह जगत् चिद्रूप ब्रह्म के संकल्प से ही कुछ काल के लिए सत् है, अतः जो ब्रह्म के जगत्रूप से उन्मेष और निमेष हैं वे ही इस जगत् के उदय और प्रलय हैं। राजा ने कहा : भगवन्, यदि जगत् ब्रह्म के संकल्पवश सत् है तो पहले यानी सुषुप्ति और प्रलयकाल में क्यों प्रतीत नहीं होता ? पीछे यानी जाग्रत् और सृष्टिकाल में किसलिए दिखाई देता है ? सदा विकार को प्राप्त हो रहा यह जगत् सुस्थिर (सदा स्थायी) कार्य के समान भासमान कैसे है ? यह मुझे बतलाने की कृपा कीजिये ॥९,१०॥

यह जगत् मायिक है, इसलिए इसका स्वभाव ही ऐसा है, यों श्रीवसिष्ठ जी प्रज्ञप्ति राजा के प्रश्न का उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : राजन्, इस चिदाकाश के संकल्पनगर में स्थित जगत् में इस प्रकार का स्वभाव ही है कि यह सृष्टि में यानी स्वप्न और जाग्रत् में उत्पन्न होकर प्रलय, सुषुप्ति और मोक्ष में आविर्भूत होता ही नहीं है और फिर क्षणभर में आविर्भूत हो जाता है। बालक के संकल्प के नगर के तुल्य तथा आकाश में स्थित केशों के वर्तुलाकार गोले आदि के समान ये सत् असद्रूप सृष्टियाँ चिदात्मा में भासती हैं। तुम संकल्पनगर का निर्माण कर अन्य संवित् से यानी उसके प्रलय संकल्पवश

स्वयं उसी क्षण में उसका विनाश करते हो यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है वैसे ही चिदाकाश के संकल्पनगर में जो उन्मज्जन निमज्जन है, उन्मेष तथा निमेष है वह ब्रह्म का निर्मल स्वभाव कचन (स्फुरण) ही है। इसलिए त्रिजगदाकाश केवल एकमात्र संविन्मय होकर आदि, अन्त शून्य ब्रह्माकाश ही है। चूँकि वह स्वयं ही जगत् है, इस कारण वह परमेश्वर जो जो सोचता है वह करता भी है। आवरण रहित उसके सत्यसंकल्प से हजारों योजनों में बहुत से युगों से व्यवहित भी पुण्य, पाप आदि कर्म परलोक आदि में समीप में विद्यमान की तरह वैसे ही स्वर्ग, नरक, भोग, ऐश्वर्य आदि कार्यकारी होते हैं जैसे कि स्वप्न होता है। जैसे स्फुरित हो रही चमक रही मणि में अपनी दीप्ति से ही कान्ति के उन्मज्जन और निमज्जन का आविर्भाव और तिरोभाव का अनुभव होता है वैसे ही चिदाकाशरूपी मणि में जगतों के सृष्टिप्रलयरूप परिवर्तन तथा नाना कर्मों के विचित्र विविध फलभोगरूप परिवर्तन भी अनुभूत होते हैं ॥११–१८॥

अथवा विधिप्रतिषेधरूप शास्त्रों को सफल बनानेवाली लोकमर्यादा ही ब्रह्म में बद्धमूल है स्थित है अतः वह दूर स्थित कर्मों के भी फल की कल्पना करती है, ऐसा कहते हैं।

विधि शास्त्र और निषेध शास्त्रों का लोकमर्यादा संरक्षण ही एकमात्र प्रयोजन है, लोकस्थिति ही, जो ब्रह्म में उगी हुई है, मरकर परलोक में गये हुए पुरुष को फल देनेवाली है ॥१९॥

वास्तव में तो आत्मा के जन्म और मरण ही नहीं होते हैं, किन्तु आत्मा स्वयं ही भ्रान्तिवश जन्म और मरण की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्म न तो कभी अस्त को प्राप्त होता है और न कभी उदित होता है। ब्रह्मचिदाभास सदा ही आत्मा में स्थित है ॥२०॥ जैसे द्रष्टा, दृश्य आदि जगत् कल्पनानगर एकमात्र कल्पना ही है वैसे वह स्वयं जगत्–सा प्रतीत होता है। उसके जन्म का भी वाणी से व्यपदेश होता है, वास्तव में वह नहीं होता है ॥२१॥

वैसे ही मरण भी पूर्वदेहभ्रान्ति के स्फुरण का उपसंहार ही है और कुछ नहीं है, दृश्य जगत् के आकाश में स्फुरण और अस्फुरण अज्ञानउपहित चित् का स्वभाव ही है, ऐसा कहते हैं।

जब चिदाकाशस्वरूप जीव स्वभावतः स्फुरण का त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होता है तब वह शान्त (मृत) कहा जाता है। जैसे ये स्पन्दन और अस्पन्दन वायु के स्वभाव ही हैं अन्य नहीं हैं वैसे ही ये स्फुरण और अस्फुरण उस आत्मा के निर्मल और अक्षय स्वभाव ही हैं, अन्य नहीं हैं ॥२२,२३॥

मणि, मन्त्र और औषधियों के विविध प्रभाव भी ब्रह्म के सत्यसंकल्पवश ही वैसे होते हैं, इस बात को दृष्टान्त के साथ कहते हैं।

तुम्हारे कल्पनानगर के समान यहाँ जरा, मृत्यु और विनाश करनेवाले मणि, मन्त्र आदि के पृथक् स्वभाव अमुक मन्त्र या औषधि इस प्रकार के प्रभाव से युक्त हों यों ब्रह्म संकल्प से ही उदित होते हैं इस प्रकार ब्रह्म के संकल्परूप त्रिलोकी में सब औषधियों तथा सब पदार्थों के स्वभाव संकल्पवश उदित हैं ॥२४,२५॥

तो क्या प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु की शक्ति, क्रिया आदि भेदों का संकल्प करनेवाले ईश्वर की कल्पना करते हो ? इस प्रश्न पर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

ईश्वर, प्रत्येक अपने संकल्पनगररूप त्रिजगत् में प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु का स्वयं संकल्प करता है ऐसी ईश्वर की कल्पना हम नहीं करते अपितु जैसे बालक अपने खिलौनों का एक ही बार संकल्प करता है वैसे ही ईश्वर अमुक वर्ग का पदार्थ अमुक वर्ग के कार्य को करनेवाला हो, अमुक जाति के पदार्थ इस प्रकार उत्पन्न हों ऐसी कल्पना करता है। उससे ही बीज, अंकुर आदि के क्रम से पूर्व-पूर्व तृण आदि पदार्थ उत्तरोत्तर तृण आदि पदार्थों की कल्पना करता है ॥२६॥ इस चिद्घन का यह स्पष्ट स्वभाव ही है कि यह स्वयं जिस जिसका संकल्प करता है, क्षणभर में ही वहाँ पर वे वे पदार्थ अपने अपने अवयवों के साथ तथा शक्ति, कार्य आदि भेद और कार्य परम्पराएँ एक बार के संकल्प से ही सिद्ध हो जाती हैं ॥२७॥ संकल्पकल्पित पदार्थ स्वभाववश नानारूप से स्थित होने पर भी स्फुरणस्वभाव ब्रह्म में चिदात्मकरूप से भासते हैं इसी प्रकार स्वतः नाना आकारस्वभाववाले होने पर भी सद्रूप से एक तत्त्ववाले (एकाकार) स्थित हैं। उन पदार्थों में से प्रत्येक में अस्ति, भाति और प्रियरूप से ब्रह्मचिन्मात्रता है, क्योंकि चिति सर्वात्मक है जहाँ पर जैसे रहती है वहाँ पर वैसी भासती है ॥२८,२९॥ इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित, अपरिमेयशक्तिशाली ब्रह्म सत्‌असत् दोनों रूप से स्थित है, क्योंकि 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (सत्य परमात्मा सत्य और असत्य हुआ) ऐसी श्रुति है। वह सर्वात्मक है, अतः प्राणियों में, तृण, गुल्म, पेड़-पौधो आदि में जहाँ पर जो वस्तु जिस स्वभाववान् के रूप में प्रसिद्ध है वहाँ पर स्वयं ही तत्स्वभाव (उस स्वभाव का) होकर स्थित है, यह अर्थ है ॥३०॥

दो सौ आठवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ नौवाँ सर्ग

परस्पर विरुद्ध फल देनेवाले कर्मों के भोगों की एक साथ
प्राप्ति होने से अविरोध द्वारा सफलता का युक्ति से साधन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वांछित फल देनेवाले प्रयाग आदि क्षेत्र में एक ही पुरुष के मित्र ने उसके दीर्घजीवन की प्रार्थना कर अन्तिम साँस छोड़ी और शत्रु ने उसके शीघ्र मरण की कामना कर मृत्यु का आलिंगन किया यह दोनों की दीर्घ जीवन और शीघ्र मरणरूप विरुद्ध कामनाएँ कैसे सम्पन्न होंगी ? यहाँ जो तुमने प्रश्न किया था, उसका उत्तर सुनो ॥१॥

राजन्, ब्रह्म ने सृष्टिरूप अपने संकल्पनगर में प्रयागादि सब कामनाप्रद क्षेत्रों तथा सब पदार्थों के फल का, उस अधिकारी पुरुष के लिए, संकल्प से समर्थन किया है। जिसमें (संकल्पनगर में) जिसकी (अधिकारी की) वांछित फल सिद्धि के लिए वांछित फल देनेवाले प्रयाग आदि पुण्यतीर्थ, उनमें किये गये स्नान, दान, तप, यज्ञ आदि पुण्य तथा उन दोनों से पुण्यतीर्थ और स्नानादि पुण्य से संस्कृत शरीर ये तीनों यदि शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाले अधिकारी के हैं तो उसके द्वारा यहाँ पर मेरे द्वारा किये गये पुण्य से मेरा अभीष्ट फल अवश्य होगा यों विश्वास से अनुष्ठित प्रयाग मरण आदि से प्रार्थित फल अवश्य होता ही है ॥२,३॥

पुण्यात्मा पुरुष का ऐसा हो लेकिन जो पापी है, पर श्रद्धा पूर्ण रखता है उसको प्रयाग-मरण आदि

से क्या फल होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

पापी श्रद्धालु पुरुष का प्रयाग आदि पुण्य क्षेत्र के मरण से उत्पन्न चितिशक्तिरूप वह पुण्य ब्रह्महत्यादि महापाप से अंशतः अथवा सम्पूर्णतः जैसा क्षेत्र का माहात्म्य हो, पुरुष को अलगकर स्वयं भी शान्त हो जाता है, क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्म से पाप को नष्ट करता है) इत्यादि श्रुति है ॥४॥ यदि शास्त्रों द्वारा शिक्षणीय (शिक्षाप्राप्तियोग्य) पुरुष में पाप की मात्रा कम हो और तीर्थक्षेत्र में स्नान, दान आदि से होनेवाला धर्म अधिक मात्रा में हो तो वह उस पाप को निःशेष रूप से विनष्टकर श्रुति द्वारा प्रतिपादित फल के विषय में अंशतः असर डालता ही है यानी उसे सिद्ध करता ही है ॥५॥ हे राजन्, लेकिन जहाँ पर शास्त्र द्वारा शिक्षणीय पुरुष का पाप पुण्यक्षेत्रार्जित धर्म के बराबर ही होता है वहाँ पर तुल्यबल होने के कारण उस धर्म से उस पाप की निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए पुण्य और पाप के भोग के लिए उसके दो शरीर और उनके चिदाभास दो भ्रान्ति और प्रतिभात्मक स्फुरित होते हैं ॥६॥ पापों और पुण्यों का महान् फलरूप इस प्रकार का जो जो जैसे ब्रह्म संकल्प से स्फुरित होता है वह वह वैसे ही व्यवस्थित है, उसमें कुछ भी हेर-फेर नहीं हो सकता ॥७॥

ब्रह्म के संकल्प से कचित (स्फुरित) है ऐसा कहा इसमें क्या वह ब्रह्म है, अथवा जगत् उसके संकल्प से कचित कैसे ? यह प्रश्न होने पर कहते हैं।

यह चिद्धातु ब्रह्म कहा जाता है। वही ब्रह्मा आदि समष्टि जीव और अहमादि व्यष्टि जीव कहलाता है। वह जैसे संकल्प करता है समष्टि-व्यष्टि उपाधि में उसका संकल्परूप जगत् भी वैसे ही स्थित है ॥८॥ ब्रह्म के संकल्प के अनुसार ही शास्य (शासनयोग्य) पुरुष की पुण्यक्षेत्रों में उपार्जित पुण्य के अनुसार उसके फलभोगरूप प्रतिभा वैसे ही स्वप्न के समान उदित होती है जैसे कि पुण्यविपरीत पापवाले की नरकादि प्रतिभा उत्पन्न होती है ॥९॥

कैसी-कैसी प्रतिभा उदित होती हैं ? उनका उल्लेखपूर्वक निरूपण करते हैं।

यह मैं आज अकेला ही मर गया, ये मेरे बन्धु-बान्धव सब जीते हैं, ये सब मेरे लिये रोते हैं, मैं यह अकेला ही परलोक में पहुँच गया हूँ ॥१०॥ इसका मरण जैसे प्रतिभारूप है वैसे ही इसके बन्धुओं का भी मरने पर सर्वत्र प्रसिद्ध रोना, शव को ले जाना, श्मशान में जाना, जलाना आदि सब कुछ धातुक्षोभवाले लोगों की (संनिपात से जिनके वायु, पित्त आदि धातु क्षुब्ध हो गये हैं ऐसे लोगों की) तरह वैसी प्रतिभा ही है, यह समझना चाहिये ॥११॥ लेकिन जब मनुष्यों के अति उत्कट पाप अथवा पुण्य होते हैं तब क्षुब्ध हुए अपने पाप अथवा पुण्यों से महात्मा पुरुषों द्वारा निग्रह-अनुग्रह दृष्टि से देखे जाने पर दूसरे पुरुषों द्वारा लक्ष्य (देखने योग्य) अथवा अन्य पुरुषों द्वारा अलक्ष्य (देखने के अयोग्य) पुण्य अथवा पापों के फलभूत शरीर आदि चित्संकल्पवश होते हैं ॥१२॥ वे भी (सर्व साधारण लोग भी) कहीं पर अति उत्कट पुण्य अथवा पापों से शास्य (शासन योग्य) को अचेतन शवरूप में पड़ा मरा हुआ देखते हैं, रोते हैं और उसके बन्धु-बान्धवों के साथ उसे चिता की अग्नि में डालते हैं ॥१३॥ मित्र और शत्रु के पृथक् पृथक् कर्मों से शास्य (शासन योग्य) एक पुरुष स्नेहसंवित्रूप जीव ने यानी मित्र ने प्रयागादि तीर्थक्षेत्र में जैसी प्रार्थना की थी वैसे स्थित जरा और मृत्यु से रहित अपने को दुःखशून्य (सुखी) जानता है ॥१४॥

क्या वह दूसरे शरीर से अपने को जरा-मृत्युहीन और सुखी जानता है ? इस प्रश्न पर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

वह वर्तमान यथास्थित देह से अपनी जीवितावस्था का अनुभव करता है। तब उसके शत्रु का मनोरथ कैसे सिद्ध होगा ? यानी जिसने प्रयाग आदि कामनाप्रद प्रदेश में मृत्यु के समय उसके शीघ्र मरण की कामना की थी उसके संकल्प की सिद्धि कैसे होगी ? यह यदि शंका हो तो सुनो। प्रयाग आदि पुण्यतीर्थ में शत्रु की मृत्यु करानेवाले पुण्य का आचरण करनेवाले शत्रु से जबर्दस्ती मरने के लिए प्रेरित होकर वह दूसरे मित्र, स्वजन आदि से अदृश्य शरीर से उसी समय में मृत्यु का भी अनुभव करता है ॥१५॥ शत्रु द्वारा किये गये अभिचार के (तंत्र, मंत्र, शाप आदि द्वारा मारण के) प्रतीकार से रहित शास्य की संवित् शत्रु की कलुषित संवित् को (मरण आदि को) तुरन्त उसी समय जान जाती है। कवच पहने तथा शस्त्रास्त्र से सजे हुए शत्रु को कवच न पहने हुए शस्त्रास्त्रविहीन विश्वस्त पुरुष के शरीर को बाण, तलवार, भाले आदि से घायल करने में क्या देर लग सकती है ? ॥१६॥ उसके सब बन्धुबान्धव भी उसको वैसे ही अमर देखते हैं इस तरह जीवन और मरण दोनों उसको एक साथ प्राप्त होते हैं ॥१७॥

इसी न्याय से सब विरुद्ध प्रश्नों का समाधान समझना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

यह अप्रतिहतरूप से आविर्भूत त्रैलोक्य केवलमात्र भ्रमरूप है। भ्रान्ति में क्या भ्रान्तिविपरीत नहीं हो सकता। स्वप्न, संन्निपात आदि में लाखों विरुद्ध विरुद्ध बातें एक साथ होती दिखाई देती हैं ॥१८॥ संकल्पनगर और स्वप्ननगर में जो भ्रान्ति मालूम होती है जाग्रत्रूप स्वप्न में उससे अधिक ही यह भ्रान्ति अनुभूत होती है उससे कम अनुभूत नहीं होती ॥१९॥

'धर्म और अधर्म दोनों अमूर्त हैं, उन दोनों की मूर्तता कैसे ?' इस प्रश्न को प्रस्तुत चर्चा के अनुकूल सुधारकर राजा फिर पूछता है।

हे ब्रह्मन्, धर्म और अधर्म ब्रह्म संवित् के कारण कैसे होते हैं ? धर्म-अधर्म दोनों जब अमूर्त हैं मूर्तिमान् नहीं हैं तब उनमें से एक द्वितीय शरीर कैसे बन जाता है ? ॥२०॥

धाता का सत्यसंकल्प अमूर्त को भी मूर्तिमान् बनाने में समर्थ है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महामते, ब्रह्म के संकल्पनगररूप इस जगत् में क्या सत्य (संगत) नहीं हो सकता अथवा क्या असंगत नहीं हो सकता ? ॥२१॥ जैसे हम लोगों के संकल्पनगर में ऐसा कोई नहीं है जो संभव न हो सके वैसे ही इस ब्रह्म के संकल्पनगररूप त्रिलोकी में कुछ भी असंभव नहीं है यानी सब कुछ हो सकता है ॥२२॥ जैसे स्वप्ननगर और संकल्पनगर में एक ही चिति लाखों रूप धारण करती है वैसे ही जाग्रत्स्वप्न में एक ही चिति महासेना के आकार को प्राप्त होती है ॥२३॥ जैसे चिति जाग्रत् में एक से अनेक रूप होती है वैसे ही जहाँ पर लाखों एकरूप होते हैं वह सुषुप्ति भी वही होती है। एक ही चिति अनेकरूप होती है और अनेकरूप से एकरूपता को प्राप्त होती है इस बात का स्वप्न तथा संकल्प में अनुभूत सेना के स्मरण में, समूहरूप की एकाकारता में तथा 'इदम्' के (यह के) स्थान में 'तत्' (वह) कल्पना से अन्यथा अनुभव होता है, इत्यादि संकल्पनगर

और स्वप्ननगर में किसको अनुभूत नहीं है। इसलिए इस जगत्‌रूप चिदाकाशसंकल्प में क्या संभव नहीं है अथवा क्या संभव है ? ॥२४-२६॥ इस प्रकार यह भ्रान्ति देदीप्यमान चिदाकाशमय ही प्रतीत होती है यहाँ पर न कुछ सत् है, न असत् है अथवा न सत् असत् है ॥२७॥ जिस जिसका जैसे अनुभव होता है वह वैसा ही है। तत्त्वदर्शी पुरुष को इस विषय में क्या असमंजस है ? ॥२८॥

धर्म और अधर्म का आचरण करनेवाले लोग भी शास्त्र द्वारा अर्जित अपने अपने निश्चय के अनुसारी स्वर्गों को ही प्राप्त करते हैं, ऐसा कहते हैं।

वहाँ स्वर्ग में देवताओं के उपभोग्य तथा अमृतमय जलवाले झरने, तालाब, फल, फूल आदि से पूर्ण पर्वत हैं। यह शास्त्र से जानकर उसके अनुसार संकल्प होने पर यहाँ धर्म का अनुष्ठान किया जाय तो वहाँ पर पहुँचकर धर्मानुष्ठानकर्ता वैसे पर्वतों को क्या प्राप्त नहीं हुआ यानी उनको प्राप्त हुए स्वात्मा का अनुभव क्यों नहीं करता है ? ॥२९॥

यदि मिथ्या होने के कारण यह असमंजस है, ऐसी आपकी मति है तो यह लोक, इसमें किया गया धर्मादि का अनुष्ठान, उससे परलोक की प्राप्ति और उसमें सुख-दुःखभोग यह सारा का सारा जगत् असमंजस ही है, ऐसा कहते हैं।

इस जगत् में जो कार्य किया जाता है, उसका फलभोग परलोक में प्राप्त होता है। इस प्रकार इस संकल्पनगर में सब कुछ ही असमंजस है ॥३०॥ यदि जगत् में कुछ भी भूत, भुवन आदि वस्तु सत्य हो तो उसमें यह विरोध होता तब यह समंजस है यह असमंजस है इस प्रकार का न्याय सम्पूर्ण अकुंठित होता किंतु सभी द्रष्टा संवित्‌रूप हैं, अतः उनका अपना संकल्प ही दृश्य के रूप से स्थित है, वास्तविक नहीं है। चूँकि जगत् भी ब्रह्मस्वरूप से स्थित चित् के संकल्परूप ही हैं, अतः इस असमंजसता का परिहार करनेवाले न्याय की जो स्वप्न और संकल्प की कल्पनाओं में अनुभव के अनुसार स्थित है, जगतों में भी योजना करनी चाहिये ॥३१,३२॥ जैसे तुम्हारे संकल्पनगर में सकल पदार्थों का असंभव है ही नहीं यानी सकल पदार्थों का वहाँ पर संभव है वैसे ही ब्रह्म के संकल्परूप जगत् में भी किसी पदार्थ का असंभव नहीं है। ब्रह्म के संकल्प में जिसकी जिस प्रकार कल्पना की वह जब तक संकल्प रहता है तब तक उस प्रकार के संनिवेश से युक्त वैसे ही स्वभाव से रहती है ॥३३,३४॥ उस प्रकार से संनिवेश नियम से ही यहाँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सब वस्तुओं का भलीभाँति (ठीक ठीक अविसंवादरूप से) दर्शन होता है तथा कर्मेन्द्रियों के व्यवहार में संकरता भी नहीं होती। चित् के पूर्णप्रयत्न से नियत शरीर-संगठनवाला (आकार-प्रकारवाला) पदार्थ चित् के अन्य प्रयत्न के बिना अन्यथा भी नहीं होता ॥३५॥ ब्रह्म के संकल्प में जैसे जगत् का भान हुआ वैसे ही वह प्रलयपर्यन्त स्थित रहा। फिर प्रलय के बाद अन्य संकल्प के रूप से अन्य ब्रह्मांड प्राप्त होगा ॥३६॥ जैसे स्वप्न में स्वप्ननगर का भान होता है वैसे ही कल्प कल्प में चितिरूप चितिस्वप्न में संकल्परूप जगत् का प्रत्येक जीव के प्रति भान होता है ॥३७॥ हे राजन्, तुम संकल्पनगररूप इस जगत् में जो जो नहीं हो सकता है समझते हो वह कुछ नहीं है यानी इसमें सब कुछ का संभव है। वह सब कुछ कल्पना करनेवाले इस परमब्रह्म चिदात्मा से पृथक् नहीं है, इसलिए तुम सकल जगत् को ब्रह्म ही जानो ॥३८॥

दो सौ नौवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ दसवाँ सर्ग

राजा प्रज्ञप्ति के शेष प्रश्नों के समाधान का निरूपण तथा
तत्त्वदृष्टि से देहादि जगत् की ब्रह्ममात्रता का निरूपण।

खे स्यामक्षयपूर्णेन्दुरिति ध्मायिचितैः फलैः। तुल्यकालमनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नभः॥

मैं आकाश में अक्षय पूर्ण चन्द्रमा होऊँ' इस कामना से ध्यान करनेवालों के संचित एक समय में प्राप्त हुए चन्द्रत्वरूप फलों से आकाश एक साथ अनेक चन्द्रयुक्त क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर पहले सुनाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे राजन्, सैकड़ों ध्यान करनेवाले लोगों द्वारा अक्षय चन्द्रत्वरूप फल प्राप्त होने पर जैसे आकाश सैकड़ों पूर्णचन्द्रों से युक्त नहीं होता उस प्रकार के इस मेरे कथन को सुनो। यद्यपि सत्यचन्द्रबिम्ब का अहंभाव से ध्यान करनेवाले पुरुष प्राप्तव्य चन्द्रत्व में चिरकालीन ध्यान से अन्य भाव का विस्मरण होने के कारण ऐन्दवों के उपाख्यान में उक्त ऐन्दवन्याय से सुस्थित होकर चन्द्रत्व को प्राप्त ही हैं तथापि वे न तो इस आकाशतल में प्राप्त हुए और न इस चन्द्र में प्रविष्ट हुए॥१,२॥

क्यों आकाशतल में प्राप्त नहीं हुए ? इस पर कहते हैं।

दूसरे के संकल्पनगर में दूसरा प्रविष्ट हो यह बात कहाँ देखी गई है यह बतलाओ। संकल्पनगर में पदार्थों की प्राप्ति उसी पुरुष को होगी जिसका कि वह संकल्पनगर है। अन्य के संकल्पनगर में कदापि पदार्थों की उपलब्धि नहीं हो सकती है। अलग अलग अपनी अपनी संकल्पसृष्टि के आकाशों में ही स्थित वे चन्द्रमा, जिनकी कला का कदापि क्षय नहीं होता है, वहीं पर प्रकाशित होते हैं। 'इसी चन्द्रमा में मैं प्रविष्ट होऊँ' ऐसा ध्यान करनेवाला उपासक, जो कि अन्दर आत्मबुद्धिसुख से शून्य है, इसी चन्द्रमा में ही प्रविष्ट होता है॥३–५॥

इसी चन्द्रमा में सबके सब ध्यानकर्ता क्यों प्रविष्ट नहीं हुए, क्योंकि ऐसा करने में लाघव है। इस प्रश्न पर कहते हैं।

मैं चन्द्रबिम्ब के सुख से युक्त होकर चन्द्रमा में प्रविष्ट होऊँ, ऐसा ध्यान करनेवाला पुरुष उस प्रकार के सुख का भागी बनता है, ऐसा निश्चय है। भाव यह कि उन सबने वैसा ध्यान नहीं किया यानी 'एक ही अमुक चन्द्रमा में प्रविष्ट होऊँ' सबने ऐसा ध्यान नहीं किया, किन्तु तुम्हारे प्रश्न के अनुसार 'आकाश में अक्षयपूर्ण चन्द्रमा होऊँ' इस कामना से सबने ध्यान किया॥६॥

यदि कोई प्रश्न करे कि अन्य प्रकार से ध्यान करने पर अन्य प्रकार का फल क्यों नहीं होता ? तो इस प्रश्न पर कहते हैं।

ध्यानकर्ता जैसा दृढ़संकल्प होकर स्वभाव का ध्यान करता है उस स्वभाव का अविनाशिनी साक्षिसंवित् वैसे ही अनुभव करती है उससे विपरीत अनुभव नहीं करती॥७॥

'अन्यच्च ध्यायिनां लक्षैर्ध्यातैका स्त्री यथाक्रमम्। जायात्वेन समं कालम्।' इस प्रश्न का भी पूर्वोक्त युक्ति से ही समाधान करना चाहिये, यों अति देश करते हैं।

जैसे सकल ध्यान कर्ताओं का अपने अपने संकल्पानुसार चन्द्रत्व पृथक् पृथक् भासता है ॥८॥

'साध्व्यसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा।' इस प्रश्नांश में भी यही समाधान है, ऐसा कहते हैं।

जो साध्वी स्त्री ध्यान में लाखों ध्यानकर्ताओं की स्त्री बनी उसकी काल्पनिक अनुभूति उनके अन्तःकरणउपहित साक्षी में स्थित है ॥९॥

घर से बाहर निकले बिना जीव सप्तद्वीप का पति कैसे हुआ ? इस प्रश्न का भी इससे समाधान हो चुका, ऐसा कहते हैं।

जो घर से बाहर न निकला हुआ जीव सप्तद्वीपेश्वर होकर स्थित है उसका भी अपने चिदाकाश में वह कल्पनासिद्ध राज्य भासता है ॥१०॥ जब यह हम लोगों का दृष्टिगोचर जगत् भी सारा का सारा जन्मः सर्वज्ञ ब्रह्म की कल्पनामात्र, शून्य, निराकार और शान्त है तब उपासकों द्वारा कल्पित जगतों में क्या अन्यथा इससे विलक्षण सत्यता होगी जिससे वहाँ असमंजसता होगी, यह अर्थ है ॥११॥

दानधर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम्। इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं प्रेत्याऽस्ति किं फलम् ॥

इस प्रश्न का अनुवाद कर समाधान करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

हे राजन्, दान, अन्त्येष्टि कर्म, तप, जप आदि मूर्तिरहित कर्मों का परलोक में मूर्तिमान् फल कैसे होता है ? यह जो तुमने कहा उसका उत्तर यह कहा जाता है, सुनो। दान आदि से अंकित बुद्धिवाले अमूर्त जीव परलोक में स्वप्न के समान मूर्तिमान् से प्रतीत हो रहे अनुत्पन्न फल को, देखते हैं जिसकी मूर्ति के आकार की कल्पना चित् से ही की जाती है ॥१३॥ हे राजन्, मन और ज्ञानेन्द्रियों से वेदना तथा अवेदनाकार भ्रान्ति होती है, उस भ्रान्ति की विषय-प्राप्ति के लिये वह चिन्मात्र मन सहित कर्मेन्द्रियों से स्पन्द और अस्पन्दरूप होता है। किन्तु उस भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर निर्मल शान्त चिद्रूप आत्मा ही शेष रहता है ॥१४॥ इस लोक में अनुष्ठित (किये गये) दान से परलोक में चित्प्रतिभासस्वरूप तत्-तत् फल प्राप्त होता है। उसको संकल्पस्वरूप जीव प्राप्त करता है, ऐसा विद्वान् जन कहते हैं फिर वह (फल) परलोक में क्यों न मिले ? इस कल्पनामय संसार में अनुष्ठित दान से पूर्वोक्त अकृत्रिम संकल्प ही परलोक में चारों ओर चिन्मात्ररूप भोग, ऐश्वर्य आदि दान-फल हो अथवा अदान से दरिद्रता आदि अदान का फल हो इसमें कोई विरोध नहीं है, यों सब असमंजसों का परिहार हो गया, यह अर्थ है ॥१५,१६॥

सब प्रश्नों का स्वमुख से अथवा अर्थतः समाधान कर जगत् का ब्रह्म ही तत्त्व है, यों उपसंहार करते हैं।

हे राजन्, जैसा तुमने मुझसे पूछा था उसके अनुसार यह सब मैंने तुमसे कहा। यह सारा का सारा निराकार जगत् चिन्मात्र की कल्पना ही है ॥१७॥

देह में ही चित् की अभिव्यक्ति दिखाई देती है, अनभिव्यक्त चित् में भ्रान्ति आदि नहीं दिखाई देते। सृष्टि के आदि में भ्रान्ति की यदि सिद्धि हो ले तो देह की सिद्धि हो और देहसिद्धि से भ्रान्ति की सिद्धि हो यों अन्योन्याश्रय दोष समझ रहे प्रज्ञप्ति राजा ने प्रश्न किया।

राजा ने कहा : भगवन्, सृष्टि के आदि में चिन्मात्र (देहशून्य चैतन्य) और उसके द्वारा की गई देह कल्पना कैसे भासती है ? देह के बिना चित् की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती। क्या कहीं दीवार के

बिना दीपप्रभा प्रकाशती है ? ॥१८॥

जड़ शरीर चित् का अभिव्यंजक नहीं है, यह तत्त्वज्ञानी का पक्ष है, क्योंकि उसकी दृष्टि में जड़ की ही प्रसिद्धि नहीं है। ब्रह्म सर्वज्ञ होने से सदा ही अभिव्यक्त चैतन्यवाले देह आदि सबकी कल्पना करता है, इस अभिप्राय से उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबुद्धे, तुमने देह शब्द का जो अर्थ जाना है वह तत्त्वज्ञानी के प्रति वैसे ही असंभव है जैसे कि आकाश में पत्थरों का नाचना असंभव है। जो ही ब्रह्मशब्द का अर्थ है वही देहशब्द का अर्थ है जैसे अम्बु और अम्भस (नीर) शब्दों के अर्थ का भेद नहीं है यानी दोनों शब्दों का अर्थ एक 'जल' ही है वैसे ही ब्रह्म और देह शब्दों के अर्थों में भी भेद नहीं है ॥१९,२०॥

स्वप्नदेह के सदृश यह शरीर ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं है। *शंका – स्वप्न में भी यह न्याय समान है अतः स्वप्न देह भी इस देह के समान ही ब्रह्मरूप ठहरा ऐसी दशा में 'स्वप्नाभ' यों भेद को सिद्ध सा बनाकर दृष्टान्तोक्ति कैसी ? समाधान : स्वप्न का दृष्टांत तुम्हारे समझने के लिए दिया है वास्तव में स्वप्नदेह भी ब्रह्म ही है ॥२१॥*

स्वप्न का मुझे समझाने में कैसे उपयोग है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

स्वप्न का अर्थ तुम्हें अनुभूत है, इसलिये स्वप्न के द्वारा तुम्हें समझाया जाता है। स्वप्नरूप भस्म के साथ (बाधित अर्थ के साथ) चिद्रूप से भासमान सृष्टि में सादृश्य कदापि नहीं है ॥२२॥ स्वप्न में कौन यह देह है, किसके ये स्वाप्न पदार्थ हैं, अथवा कहाँ स्वप्न बुद्धि है ? ज्ञानी द्वारा अवबुद्ध भ्रमरूप स्वप्न से अज्ञानी को बोध कराया जाता है ॥२३॥ ब्रह्मपदवी में न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है और न अन्य कुछ है किंतु मन, वाणी से अगोचर विराट्, विश्व तथा तैजस सबका प्रलय होने पर अवशिष्ट यानी तुरीयरूप (सबके प्रलय का अधिष्ठान तुरीय) ओंकारलक्षणपरमपुरुषार्थ स्वयं प्रकाश चिदाकाश ही इस तरह विश्व के रूप में भासता है ॥२४॥ जो यह विश्व आज इस प्रकार भासिता–सा दृष्टिगोचर होता है वह नहीं भासता है। सच्चिदानन्दरूप से पूर्व भास हुआ भी वह स्वरूपतः वैसे ही (अभासा ही) है। जाग्रत्, स्वप्न आदि जैसे कदापि हैं ही नहीं अत्यन्त निर्मल ब्रह्म वैसा है ॥२५॥ जैसे संवित् की एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में प्राप्ति होने पर मध्य में (दो प्रदेशों के अन्तराल में) संवित् का स्वरूप निर्विषय रहता है वैसे ही द्वैत, अद्वैत आदि यह सब कुछ निर्विषय चिन्मात्रमय है ॥२६॥ अज्ञानी की दृष्टि से अन्यत्र यानी ज्ञानी की दृष्टि में चिन्मय स्वप्न, द्वैत, अद्वैत, शुभ, अशुभ आदि सब कुछ की आवरणशून्य चिन्मात्र से तुलना की जा सकती है ॥२७॥ शून्य, पदार्थों की उपलब्धि, भान (सृष्टि), अभान (प्रलय), द्वैत, अद्वैत, असत् और सत् सब कुछ परम चिदाकाश ही है ॥२८॥ पूर्ण परम ब्रह्म परमात्मा से पूर्ण जगत् का आविर्भाव होता है। पूर्ण ही यह स्थित है न तो इसका भान हुआ है और न अभान हुआ है, किन्तु स्फटिक शिला के घनीभूत मध्य के समान यह चिन्मात्रघन है ॥२९॥ चूँकि यह जगत् चित् का उन्मेषमात्र (स्फुरणमात्र) है, इसलिए निराकार चिदाकाशमात्र ही है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ जहाँ चिन्मात्र है वहाँ–वहाँ जगत् का रहना उचित ही है। और चिदाकाश सर्वत्र है, सर्वव्यापक है। सब जगन्मय यह है इसलिए 'जगत्' शब्द से कथित होने पर भी यह सब शान्त ब्रह्म ही है ॥३०,३१॥ चिदाकाश के संकल्पनगराकार यथास्थित

विश्व (सारा जगत्) तथोक्त निर्विकार निर्दोष निर्मल ब्रह्म ही है ॥३२॥ इस विषय में अन्य युक्ति का संभव न होने से यही युक्ति सुन्दर है। यहाँ युक्ति तथा स्वानुभव के बिना पुरुषार्थ चाहनेवाले श्रोताओं के सम्मुख उपदेश शोभा नहीं देता। हे राजन्, लोक,शास्त्र, वेदआदि में जो वस्तु युक्ति, प्रमाण और अनुभव से सिद्ध है वह सिद्ध ही है उसका त्याग करना उचित नहीं है। ऐसी परिस्थिति में सद्रूप से वेद आदि में सिद्ध ब्रह्म का सद्रूप से ही स्वीकार करना चाहिये तथा वेदादि में असद्रूप से सिद्ध द्वैत का असत्रूप से स्वीकार करना चाहिये, यह अर्थ है ॥३३,३४॥ जब चरमसाक्षात्कारवृत्तिरूप ज्ञान से सारा का सारा विश्व यथास्थित ही विलीन हो जाता है तब पहले ब्रह्म भिन्नरूप से परिज्ञात विश्व ही इस प्रकार से (ब्रह्मरूप से) परिज्ञात होकर ब्रह्मता को प्राप्त होता है ॥३५॥ 'त्वयाऽर्थो देहशब्दस्य' से लेकर यहाँ तक मेरे द्वारा प्रतिपादित न्याय से जीवन्मुक्ति सहित लोक, वेद आदि सारा जगत् ब्रह्म ही सिद्ध होता है, इसलिए यह मेरे द्वारा प्रतिपादित न्याय परमपुरुषार्थ का साधन होने से ग्रहण करने योग्य है ॥३६॥ इस केवल अपरिज्ञात आत्मरूप संसारवृक्ष में (संसाररूपी पीपल के पेड़ में) परिज्ञात चिदाकाश ही है उससे अणुमात्र भी भिन्न नहीं है। वह परिज्ञात चिदाकाशरूप मैं ही क्रमशः त्रिजगत्रूप बन्धन और मोक्ष हूँ यह निर्णय है। यानी अपरिज्ञात ही त्रिलोकीरूप बन्धन है और परिज्ञात चिदाकाश ही मोक्ष है ॥३७॥

यदि कोई कहे कि चिदाकाश–परिज्ञातमात्र मोक्ष कैसे है ? तो इस पर कहते हैं।

परिज्ञान से यथास्थित यह दृश्य पानी में डाले हुए नमक के ढेले की तरह विलीन हो जाता है। दृश्यरूप से अस्त को प्राप्त हुए ज्ञानी का शिला की तरह मौन यानी वाणी आदि से अगम्य दृक्गमात्रस्वरूप शेष रह जाता है ॥३८॥ लोक में (जीवन्मुक्त पुरुष में), शास्त्र में और वेद आदि में जो वस्तु सिद्ध है वह सिद्ध ही है। सैकड़ों विचारों से परिनिष्ठित (निश्चित) है वही वस्तु स्वानुभव से जानी जाती है। अतः वह परम पुरुषार्थरूप से फल देती है ॥३९॥

उसकी प्राप्ति होने पर अन्य अर्थ के परित्यागमात्र से एकमात्र तन्निष्ठ होना ही उपाय है उससे अवश्य ही उसकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

सकल वस्तुओं के निरास द्वारा जिस जिस वस्तु का चिरकाल तक ध्यान किया जाता है उसकी अवश्य ही प्राप्ति होती है। लौकिक कार्यों में भी अन्य भावित वस्तु वैसे ही अवश्य प्राप्त होती है ॥४०॥

लौकिक कार्य असत्य है लेकिन मोक्ष सत्य है इन दोनों में यह अवान्तर भेद भले ही हो किन्तु साधन के उद्योग और उनके फल का अनुभव दोनों में समान है उनमें कोई अन्तर नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

जो वस्तु जैसे अनुभव में आती है उसकी प्रतीति भी वैसे ही होती है वह सत्य हो जाहे असत्य हो जब तक उसकी उपलब्धि रहती है तब तक ज्यों की त्यों रहती है ॥४१॥ हे महात्मन् इस प्रकार मैंने तुम्हारे महाप्रश्नों का विचार–फल–भूत निर्णयरूप यह समाधान कहा। तुम इस मार्ग के पथिक बनो। इससे शीघ्र ही तुम मन में शान्त, शरीर में नीरोग और इन्द्रियों में निर्व्यसन होकर और अधिक सर्वश्रेष्ठ होओ ॥४२॥

दो सौ दसवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ ग्यारहवाँ सर्ग

सिद्ध, साध्य आदि के विविध लोकों के दर्शनों के उपाय के साथ सकल जगत् ब्रह्म ही है, यह पुनः वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उस राजा के द्वारा पूजे गये मैंने वहाँ कुशद्वीप की इलावती नगरी में बैठकर राजा प्रज्ञप्ति पर अनुग्रह करने का अपना प्रयोजन सिद्ध कर स्वर्ग में जाने के लिए आकाशमार्ग का अवलम्बन किया ॥१॥ हे मतिमानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, आज यहाँ अयोध्या नगरी में विद्यमान हो रहे मैंने आपसे यह कहा। यह सुन्दर दृष्टि रखने से शान्तमन होकर आप चिदाकाश हो जाओगे। कारण वाणी का अगम्य, अज, परमशान्त, आदि, मध्य और अन्त से शून्य है, इसलिए यह सब कुछ निःशब्द ब्रह्माकाश ही है ॥२,३॥ जो चित्स्फुरणरूप कहा गया है, जो 'ब्रह्म' यों कल्पित नामवाला कहा गया है, परात्पर कहा गया है, वह निर्नाम (शब्द की पहुँच से परे) पद है ॥४॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओं के लोक और उनके निवासी लोग कैसे दिखाई देते हैं, यह मुझको बतलाने की कृपा कीजिये ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर, देवताओं तथा अन्यान्य अपूर्व अपूर्व महामहिम प्राणियों के लोकों को प्रत्येक रात में, प्रत्येक दिन में, सामने, पीछे, ऊपर और नीचे चूड़ाला के उपाख्यान में कही गई धारणाओं से देखने से आप देखते हैं और उक्त रीति से न देखने पर नहीं देखते है ॥६,७॥ सिद्धों के लोक दो प्रकार के हैं। एक तो हैं ये महद्लोक, जनोलोक, तपोलोक और सत्यलोक नामधारी, ये बहुत दूर हैं और दूसरे हैं सर्वत्र संचार करनेवाले सिद्धों के संकल्प से (📖) बने हुए। वे संकल्पलोक कहलाते हैं और वे सर्वत्र हैं इनसे सारा विश्व व्याप्त है। उन दोनों प्रकार से सिद्ध लोकों के दर्शन में धारणाभ्यास ही कारण है और वह धारणाभ्यास आपको प्राप्त नहीं है ॥८॥

तो क्या मुझे उनके दर्शन के लिए धारणाभ्यास करना चाहिए ? इस प्रश्न पर नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे लोक निस्सार हैं यों दर्शाते हैं।

जैसे ही सिद्धों के ये काल्पनिक लोक हैं वैसे ही हमारा यह लोक भी केवल कल्पनामात्र सिद्ध है। जैसे काल्पनिक भी वायु सब जगह घूमती है डोलती है वैसे ही वे घूमते हैं भ्रमण करते हैं। हमारे लोक में केवल इतनी विशेषता है, यह वैसा नहीं है। आपको रात दिन जो स्वप्नलोक, संकल्पलोक प्रतीत होते हैं वे ही सिद्ध लोक के रूप से प्रसिद्ध हैं। वैसे ही और और भी लोकों की रचना कर अपने संकल्प से उनको उन्होंने स्थिर किया है। इसी प्रकार आप भी यदि योगधारणा से स्थिरीकृत ध्यान से संकल्पवश प्राप्त हुए लोकों को स्थिर बनाओ तो ये भी शीघ्र बिना किसी विघ्न–बाधा से स्थिर बन जायेंगे। जैसा चाहे उनका विस्तार हो जाता है और जैसी चाहे वैसी उनमें सम्पत्तियाँ हो जाती हैं। यदि पुरुष दृढ़तम संकल्प से यानी अन्य ध्यानकर्ता से बढ़े चढ़े संकल्प से वेष्टित रहता है तो वह सिद्धों के समान ही उन्हें स्थिर देखता है। उन सिद्ध लोगों ने जिस पूर्वजन्म की धर्मसम्पत्तियों से

(📖) 'यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते' अर्थात् वह यदि पितृलोक की कामना करता है तो केवलमात्र कल्पना से ही उसके पितर लोग उपस्थित हो जाते हैं उस पितृलोक से वह सम्पन्न होकर पूजा जाता है है ऐसी श्रुति है।

लोग स्वर्ग में जाते हैं उन साधनसम्पत्तियों से उन लोकों को चिरस्थायी बनाया है यों उनके वे लोक अनायास सिद्ध हैं, किन्तु जिन अन्य लोगों ने अनित्य आधुनिक धारणाभ्यासों से ध्यान विश्राम के विषय में प्रयत्न किया है वे बड़े क्लेश से इन लोकों को स्थिर कर पायेंगे। सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार संशान्त चिदाकाश ही है जिसने जैसा दृढ़ निश्चय किया उसकी दृष्टि से वैसा ही स्फुरित होता है, उससे अन्यथा नहीं होता। अनिश्चित यह जगत् भासता ही नहीं। अनिश्चित जगत् में 'है' या 'नहीं है' इस प्रकार का तर्क ही नहीं उठता। अतएव शून्य, निराकार तथा निरोध न करनेवाला यह जगत् परमाकाश ही है। जो वस्तु दृढ़ निश्चय से भासती है वह चित्स्वभाव होने से भारूप-सी भासमान दिखाई देती है। किन्तु असंविदित इस विश्व में स्वभावतः चित्सत्ता और स्फूर्ति की व्याप्ति नहीं है, इसलिए यह शून्य और निराकार है ॥९-१६॥

कार्यकारण के बल से ही उसकी दूसरी सत्ता होगी, ऐसा तो कदापि संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कार्यकारण भाव से इसकी अन्य सत्ता होगी ऐसा यदि कहो तो उसकी तो यहाँ कथा ही क्या है ? सृष्टि के आदि में प्रलय को प्राप्त हुए आकाश से अनन्त विश्व की उत्पत्ति क्या और कैसे संभव है ? ॥१७॥ आकाश में जो भूत, भुवन आदि वस्तु उत्पन्न हुई सी दिखाई देती है, वह आकाश में आकाश ही उस प्रकार (उत्पन्न हुआ-सा) जँचता है। इसलिए उसमें एकत्व-द्वित्व की कल्पना भी दुर्लभ है कार्यकारणभाव तो बहुत दूर की बात रही, यह भाव है ॥१८॥ वह (ब्रह्म) जैसा ही था ठीक वैसा ही रहता है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता जैसे स्वप्न में चिदाकाश अपने स्वरूप से प्रच्युत हुए बिना स्वप्नपदार्थ का विवर्त अधिष्ठान है वैसे ही चिदाकाश अपने स्वरूप से प्रच्युत या विकृत हुए बिना ही विवर्त अधिष्ठान ही है। न तो कारण है और न विकारी है। संकल्प में चित्त जैसे आकार की कल्पना कर पर्वतलीला से उदित होता है, वास्तव में न वह पर्वत है और न वह आकाश है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की स्थिति है ॥१९,२०॥

अतएव अपनी दृष्टि से व्यापारशून्य भी जीवन्मुक्त पुरुष व्यवहार में तत्पर से प्रतीत होते हैं वास्तव में वे व्यवहारपरायण नहीं रहते ऐसा कहते हैं।

काष्ठ के समान मौन धारण कर रहते हुए भी ये महामति जीवन्मुक्त पुरुष कठपुतली की तरह व्यवहार करते हुए से प्रतीत होते हैं। जैसे जल में जल से अनन्य (अभिन्न) भी तरंग, आवर्त आदि वृत्तियाँ रहती हैं वैसे ही ब्रह्म में अनन्य (ब्रह्म से अभिन्न) सृष्टियाँ स्थित हैं। जैसे वायु में अनन्य (वायु से अभिन्न) तथा अमूर्त स्पन्दन रहता है। और जैसे आकाश में अनन्य तथा अमूर्त शून्यता है वैसे ही ब्रह्म में अनन्य तथा अमूर्त सृष्टियाँ हैं। जैसे संकल्पनगर निराकार होते हुए भी सामने स्थित होता है, साकार होने पर भी निराकार ही है वैसे ही ब्रह्म में स्थित यह जगत् भी निराकार होने पर भी सामने साकार सा खड़ा है यों साकार होने पर भी वास्तव में निराकार ही है। यह त्रिजगत् भले ही चिरकाल से अनुभूत हो और भले ही अर्थक्रियाकारी भी हो तो भी यह स्वप्ननगर के समान निराकार तथा शून्य है। जैसे संकल्पनगर के व्यवहारकाल में जो ही चित्त का संकल्प है वही संकल्पनगर है वैसे ही जो यह निर्मल ब्रह्म है वही यह दृश्यमान संसार है और वही जगत् कहा जाता है। चिरकाल से नित्य अनुभूत भी यह जगद्रूपी पदार्थ वैसे ही कुछ भी नहीं है जैसे कि पुरुष का स्वप्न में अपना मरना स्वयं चिर अनुभूत

होने पर भी कुछ है ही नहीं। जैसे स्वप्न में मरे हुए पुरुष को अपना दाह-संस्कार भी असत् ही दिखाई देता है वैसे ही परब्रह्म में दिखाई दिया जगत् सत् के समान भासमान होने पर भी असत् ही है। जगत्ता और अजगत्ता परब्रह्म के ही निर्मल शरीर हैं। जो अन्य रज्जु आदि वस्तु सर्पादि नामवाली नहीं हो सकती है वह परमार्थरूप से सत् नहीं है ॥२१-२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्ध लोकों को भोग आदि का फल मेरे द्वारा वर्णित रीति से ही कल्पनामात्र हो अथवा अन्य मुनियों द्वारा वर्णित प्रकार से अन्य प्रकार का ही हो अथवा नहीं ही हो तथापि जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुए आपका उनके विषय में कौन आदर है ? सिद्धि आदिरूप तुच्छ फल में आप पुरुषार्थबुद्धि का त्याग कीजिए। क्योंकि आपको ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो चुका है। अतः आपको केवलमात्र मायारूपवाले सिद्ध लोकों के वैभव को जानने के लिए वृथा परिश्रम नहीं करना चाहिये ॥३०॥

दो सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ बारहवाँ सर्ग

ब्रह्म की अहंभाव कल्पना हिरण्यगर्भ है उसका संकल्पमय यह त्रिजगत् है, इसलिए यह ब्रह्म ही है, यह वर्णन।

ब्रह्म में पहले समष्टि-अहंकाररूप हिरण्यगर्भ की-सी कल्पना हुई, तदनन्तर उसके उदर में व्यष्टिजीव जगत् की कल्पना हुई, इसलिए समस्त जगत् ब्रह्मविवर्तमात्र ही है। यह आपातदर्शन से (स्थूल दृष्टि से) सिद्ध है किन्तु परमार्थ दृष्टि से न हिरण्यगर्भ है, न जीव है अथवा न जगत् ही है केवल नित्य निर्मल सच्चिदानन्दैकरस पूर्ण ब्रह्म ही स्थित है, यों सकल वेदान्तों के निर्गलित (निचोड़रूप) अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत होते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माकाश चित् होने से स्वयं ही पहले 'मैं अहंकार समष्टिरूप हिरण्यगर्भ हूँ' यों अपने को जानता-सा है उसका वैसा स्फुरणरूप वेदन ही परमेष्ठिरूपता यानी हिरण्यगर्भता है। उस हिरण्यगर्भ का संकल्प यह त्रिजगत् है ॥१॥

केवल माया के इतने से अपराध से ब्रह्म अब्रह्म नहीं हो सकता अतएव हिरण्यगर्भ आदि कुछ भी अन्य था ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

ऐसी परिस्थिति में न तो ब्रह्मा उत्पन्न हुआ और न यह दृष्टि का विषय जगत् ही उत्पन्न हुआ, अज परम ब्रह्म ही पूर्ववत् ज्यों का त्यों स्थित है ॥२॥

यदि हिरण्यगर्भ आदि कुछ भी नहीं था, तो वह संवित् में कैसे स्फुरित होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

संवित् में जो जगद्रूप भासता है वह प्रातिभासिक ही सत् है उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह मृगतृष्णा के समान मिथ्या ही है। दिखाई देने पर भी असत् ही है ॥३॥ सृष्टिकाल से लेकर शून्य यह भ्रान्ति उदित हुई है अथवा वह भी उदित नहीं हुई है। भ्रान्ति कहाँ से है और क्या है वह जगत् निर्विकार ब्रह्म ही है ॥४॥

भले ही जगत् अनिर्वचनीय ब्रह्मधर्म हो तथापि कोई क्षति नहीं है,यह कहते हैं।

जगत् ब्रह्मरूपी जल का आवर्त है। इसमें एकत्व और द्वित्व कौन ? क्या कहीं आवर्त और जल में

द्वित्व (भेद) है ? और जब द्विता का अभाव है तब एकता कहाँ ? क्योंकि एकता द्वित्व की अपेक्षा करती है ॥५॥ अखण्ड परमशान्त वह ब्रह्मचित् होने के कारण (परस्फुरणस्वभाववश) अहम्' यों अहंकारसमष्टिरूपता को (हिरण्यगर्भता को) जानता हुआ वैसे ही अपने को अर्थ सा चेतता है जैसे कि विस्तृत आकाश अपने अन्दर स्थित अपनी शून्यता को जानता है। जैसे पवन अपने अन्दर स्थित अपने स्पन्दन को जानता है, जैसे अग्नि अपने अन्दर स्थित अपनी उष्णता को जानती है और जैसे पूर्णेन्दु (पूर्ण चन्द्र) अपने अन्दर स्थित अपनी शीतलता को जानता है वैसे ही ब्रह्म अपनी सत्ता को अर्थ सा जानता है ॥६,७॥

यदि आप स्वरूपचैतन्य ही अर्थ के समान स्फुरित होता है यह कहते हैं, तो वह तो सदा ही है इसलिए इस समय सृष्टि के आरम्भ काल से स्फुरित होता है यह क्यों कहते हैं, यों श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, इसने अहम् आदि का कब चेत नहीं किया, क्योंकि यह सदा ही आवरणरहित आदि–अन्त शून्य और नित्य है। यह इस समय यानी सृष्टिकाल से लेकर चेतता है, ऐसा आपने कैसे कहा ? ॥८॥

ठीक है, युक्तिदृष्टि से ब्रह्म सदा ही 'अहम्' आदि तथा निज तत्त्व को चेतता है। तभी तो सृष्टि और असृष्टि–दोनों रूप दोनों ब्रह्मदृष्टियों में प्रमाणसिद्ध होते हैं। तथापि दोनों दृष्टियों में विषय की सत्ता और असत्ता से उत्पन्न महान् अन्तर है, इसलिए प्रमाण्य से वे तुल्य नहीं हैं इस आशय से स्वीकार कर उत्तर देते हैं।

इस प्रकार यह ब्रह्म सदा ही इस स्वरूपस्फुरण तथा अहमादि अहंकार समष्टि को चेतता है, क्योंकि अनादि अजन्मा चिन्मात्र को स्वरूप चैतन्य से (विद्या से) स्वरूपस्फूर्ति में और अविद्या से अहम् आदि के स्फुरण में दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं है। सर्ग और असर्ग आकाशरूप ब्रह्म सर्वत्र और सर्वदा है। अविद्या दृष्टि से यह (ब्रह्म) कदापि ज्ञात नहीं होता और विद्या दृष्टि से यह (सर्ग) कुछ नहीं हैं ॥९,१०॥

तब विद्या–अविद्या–मिश्रदृष्टि में ब्रह्म कैसा चेतता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे पवन और स्पन्दन, चन्द्र और शीतलता, शून्यत्व तथा आकाश अनन्य स्वरूप (अभिन्नरूप) हैं, वैसे ही ब्रह्म तथा अहंकार आदि जगत् अभिन्नरूप है अतः वह कब अपने स्वरूप को नहीं चेतता है ? ॥११॥ चूँकि जगत् निर्विकार आदि–अन्त शून्य ब्रह्मरूप ही है, इसलिए जगत् की सदा ही ऐसी ही सत्ता है कभी भी इससे विलक्षण सत्ता नहीं है, क्योंकि विपश्चित् उपाख्यान में कही गई युक्ति के अनुसार सकल जीवों के संसार के उच्छेद का अवसर प्रसिद्ध नहीं है ॥१२॥

इस मिश्रदृष्टि को भी आप अपने बोध की अनुवृत्ति तक ही शब्द श्रवण इत्यादि आदि व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकार करते हैं, तो स्वीकार कीजिये पर परमार्थरूप से स्वीकार मत कीजिये, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि आपको यह अद्वितीय ब्रह्मबोध प्राप्त हो चुका है फिर भी अज्ञान को स्वीकार कर मेरे उपदेश शब्दश्रवण में आसक्तचित्त हो आप मिश्रदृष्टि से प्राप्त द्वैत को (सप्रपंचनिष्प्रपंचरूपता को) स्वीकार

करते हो तत्त्व दृष्टि से कदापि नहीं करते। मिश्रदृष्टि में तो ब्रह्म सर्वात्मक है, उसके अन्तर्गत कोई जीव जो कुछ चेतता है तो वह उस जीव से अभिन्नरूप ब्रह्म ही चेतता है, यों उसके रूप से सब कुछ चेतता है। किन्तु निर्विशेष ब्रह्मरूप से कोई कुछ भी कभी नहीं चेतता है, क्योंकि उससे अन्यस्वरूपवाला कोई नहीं है अतः कदाचित् नहीं चेतता ॥१३,१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बद्ध की दृष्टि से ब्रह्म सदा त्रिभुवन-सा ही भासता है मुक्त की दृष्टि से यह सब शान्त ब्रह्म ही है उसके अतिरिक्त भेद तनिक भी नहीं है ॥१५॥ जैसे आकाश से वृक्ष, पर्वत आदि कदापि उत्पन्न नहीं होते वैसे ही ब्रह्म से जगत् उत्पन्न नहीं होते हैं यह निश्चय कर आप परम शान्ति को प्राप्त होइए ॥१६॥

जब तक उपदेश श्रवण में प्रवृत्ति है तभी तक मैंने मिश्रदृष्टि को स्वीकार किया है, ऐसा कहते हैं।

यदि सन्देह के अवसर पर उपदेश्य के उपदेश के लिए अल्पमति बनकर जब तक आपको ज्ञानप्राप्ति न हो तब तक भेद मानते हो तो मानों इसमें कोई हानि नहीं है। प्रबुद्ध तत्त्वज्ञानी होने पर ब्रह्मरूप हुए आपके लिए न शास्त्र आदि है, न शब्दबुद्धि है तथा अहंकार और उसके संकल्प जगद्रूप प्रजापति की यह भेदबुद्धि तथा बुद्धि भी आपको न होगी या कुछ भेदबुद्धि शान्त हो जायेगी ॥१७,१८॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, 'एतद्ब्रह्मन् कदा नाम' इत्यादि जो मैंने आपसे प्रश्न किया था उसका हल मैं आपकी उक्ति से पा चुका अब आप कृपा करके प्रस्तुत समष्टि अहंकार आदि के अध्यास का निरूपण कीजिये जिसका कि आपने मेरे बोध के लिए पहले प्रस्ताव किया था। उस परम पद में अहंकार के चेतित होने पर आगे क्या होता है ? आप सर्वज्ञ होने से सब कुछ जान चुके हैं और मैं आपके उपदेश के श्रवण में लालायित हूँ, अतः मुझे तृप्ति नहीं होती ॥१९,२०॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस परमपद में अहंकार का स्फुरण होने पर उसमें आकाश का अध्यास होता है पुनः दिशाओं का अध्यास, काल का अध्यास तथा त्रिविध परिच्छेद का (तथा वस्तुकृत परिच्छेद का) अध्यास होता है ॥२१॥

अहंकाराध्यास परिच्छेदाध्यास का कारण है, यह दर्शाते है।

जब आत्मा को देह आदि में 'अहम्' का भान होता है, तब देह से शून्य स्थल में यहाँ पर मैं नहीं हूँ, इसका भी अवश्य भान होता है। यह देशकृत परिच्छेद है। इसी रीति से स्वात्मा ही नाना प्रकार का परिच्छेद यानी कालकृत परिच्छेद और वस्तुकृत परिच्छेद बिना क्रम के द्वैतरूप होकर आकाश में उदित होता है ॥२२॥

तदुपरान्त परस्पर व्यावृत्ति करनेवाले जाति, गुण, क्रिया आदि प्रवृत्ति निमित्तों के भेद की कल्पना से उत्पन्न नामभेदाध्यास होता है ऐसा कहते हैं।

तदनन्तर इन व्योमात्मक (चिदाकाशमय) पदार्थभेद सत्ताओं के परस्पर भेदक जाति, गुण, क्रिया आदि प्रवृत्ति निमित्त के भेद से नामबुद्धि यानी वाचक शब्दों का अध्यास होता है, पर वास्तव में यह सब चिदाकाश ही है। इस प्रकार निराकार इस परम पदमें अहंभाव से देश, काल आदि की कल्पनाओं के सिद्ध होने पर यानी उस परम पद के देश, काल कल्पनारूप होने पर जो यह दृश्य नामका प्रकाशरूप वेदन भासता है उसमें अहंभाव से जीव-साक्षिचित् में आवरण के अभाव से सर्वत्र स्वाभाविक चित् की अभिव्यक्ति होने से तत्-तत् स्थान में जगत् के आकार से ब्रह्म ही अब्रह्मरूप से (संसाररूप से) विराजमान होता है ॥२३-२५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जीव और जगद्भाव से शून्य शान्त, जन्मरहित,

एक, अविनाशी ब्रह्म ही जीव कल्पना की सी भावना कर (जीवभाव का अध्यास कर) आवरणशून्य जीवसाक्षी चिदाकाश में ही तब तक अत्यन्त विस्तृत दृश्य को देखता है जब तक कि आत्मज्ञान होने से तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है ॥२६॥

दो सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ तेरहवाँ सर्ग

गुरु और शिष्य की कथा से श्रीरामचन्द्रजी के पूर्वजन्म के संवाद का वर्णन।

विस्तारपूर्वक उपदेश देने से हथेली में रखे हुए आँवले के समान साक्षात् कराये गये आत्मतत्त्व को जन्मान्तर में स्वयं उपदिष्ट आत्मतत्त्व का ही फिर मैंने तुम्हें उपदेश दिया है यों स्मरण दिलाकर–स्थूणानिकन्न न्याय से दृढ़ करने की इच्छा कर रहे श्रीवसिष्ठजी जगत् के उपकार के लिए सर्वशास्त्रार्थसंग्रहरूप गुरु शिष्य कथा का शास्त्र के अन्त में मंगलाचरणरूप से उपदेश देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्रजी, जो विषय (आत्मतत्त्व) आज आपने मुझसे पूछा है वही विषय अन्य रामावतार में भी आपने मुझसे पूछा था। उस समय भी मैं गुरु ही था और आप शिष्यरूप से ही स्थित थे ॥१॥ किसी पूर्वकल्प में आप राम थे, मैं वसिष्ठ था, उस समय भी आपको वैराग्य हुआ था, अतः आप मेरे समीप वन में आये थे तथा मुझसे प्रश्न किया था इत्यादिरूप यह चित्प्रतिभा गुरुशिष्यरूप से आज की तरह हुई थी ॥२॥ वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ पर भी मैं गुरु था और आप शिष्य थे। मेरे सामने बैठकर उदारबुद्धिवाले होते हुए भी अबुद्धि की तरह आपने मुझसे यह पूछा था ॥३॥ शिष्य ने कहा : हे गुरुवर, सम्पूर्ण जगत् के विषय में मेरा यह महान् सन्देह है, जिसका मैं आगे आपसे निवेदन करता हूँ, इसे आप निवृत्त करने की कृपा कीजिये। वह यह कि महाकल्प में कौन वस्तु नष्ट होती है और कौन नहीं ? ॥४॥ गुरुजी ने कहा : हे पुत्र, जैसे स्वप्न–नगर सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त हुए आत्मा का आत्मामात्र शेष होकर सम्पूर्णतया शीघ्र विनष्ट हो जाता है वैसे ही प्रलय काल में यह सारा दृश्य चिन्मात्र शेष होकर सम्पूर्णतः विनष्ट हो जाता है ॥५॥ प्रलयकाल में समस्त पृथिवी, सब पर्वत, दसों दिशाएँ, क्रिया, काल और क्रम सब कुछ समान रूप से नष्ट हो जाते हैं, कुछ भी शेष नहीं रहता है ॥६॥ सब भूत नष्ट हो जाते हैं। सकल जगतों के भान के साथ आकाश का भी अव्याकृत में लय होने से नाश हो जाता है, क्योंकि भोग्य की स्थिति भोक्ता की स्थिति के अधीन है, प्रलय काल में भोक्ता का ही सम्भव नहीं है ॥७॥

ब्रह्मा, विष्णु आदि ही उस समय भोग्य के भोक्ता रहेंगे ऐसी किसी को आशंका हो तो उसके निवारण के लिये कहते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि जो कारणों के भी कारण हैं उनका महाकल्प के अन्त में तथा विज्ञानजन्य प्राकृतिक प्रलय में नाम–निशान तक नहीं रहता, अतः वे भोग्य वस्तु के भोक्ता कैसे रहेंगे ? ॥८॥

जगत् आत्ममात्र शेष रहकर विनष्ट हो जाता है, ऐसा जो कहा, उसका उपपादन करते हैं।

अविनाशी चिद्वस्तु के विर्वत के विनष्ट होनेपर चिदाकाश ही अवशेष रहता है ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि अपने में अध्यस्त जगत् के अनुभव में हेतुभूत चिदात्मा से ही सर्वप्रपंचशून्य अवशिष्ट

प्रलयकाल सिद्ध होता है। यदि उसका भी प्रलय में नाश मानो तो निःसाक्षिक प्रलय ही सिद्ध न होगा, यह अर्थ है ॥९॥

सत् जगत् का असत्तारूप अभाव (नाश) ही सिद्ध नहीं होता है, यों शिष्य शंका करता है।

शिष्य ने कहा : हे गुरुवर, असत् पदार्थ की सत्ता नहीं है और सत् पदार्थ का अभाव नहीं है यह नियम है। ऐसी परिस्थिति में यह विद्यमान (सत्) विशाल जगत् कैसे कहाँ चला जाता है ? ॥१०॥

श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति आदि से जगत् का नाश सिद्ध है, अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। इसलिए उक्त श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के बल से आपातदर्शन से (स्थूल दृष्टि से) सत्य प्रतीत का ही अपलाप किया जाता है, यों कोई दोष नहीं है इस आशय से गुरु समाधान करते हैं।

वत्स, तुम्हारा कथन युक्तियुक्त नहीं है, यह जगत् अवश्य विनष्ट होता ही है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सावयव पदार्थों के नाश की प्रसिद्धि है इसलिए वह है ही नहीं अतः असत् इसका अस्तित्व नहीं है यह तुमने अनुकूल ही कहा है और सत् का तो अभाव होता नहीं है। जो वास्तव में है ही वह कभी भी कुछ अभावात्मक असत् नहीं है उसका सद्भाव (अस्तित्व) कैसे असत्ता को प्राप्त हो सकता है ? ॥११,१२॥

केवल आपातदर्शन से जगत् की सत्ता का निश्चय कर लेना उचित नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत, मरुमरीचिका में जल आदि बहुत से आपातदृष्ट पदार्थों की सत्ता नहीं दिखाई देती है, ऐसा कहते हैं।

मृगतृष्णा का (मरुमरीचिका) जल कहाँ स्थिर है यानी अर्थक्रियाकारी है ? (प्यास बुझाने में समर्थ है ?), आकाश में द्विचन्द्र की भ्रान्ति कहाँ स्थिर रहती है यानी वास्तविक है, आकाश में केशों के गोलों का दर्शन कहाँ वास्तविक है, भ्रान्ति का अनुभव कहाँ स्थायी रहता है ? हे पुत्र, यह सारा दृश्य केवल भ्रान्तिस्वरूप अतः असन्मय है। स्वप्न में दृष्ट नगर के समान इसका भान होता है अतः यह क्यों न विनष्ट होगा ? असत् के विनाश में क्या आश्चर्य है ? ॥१३,१४॥

इसको बाध्य सिद्ध करने में जाग्रत् और स्वप्न का परस्पर दृष्टान्तभाव प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

यह सर्वात्मना पूर्णरूप से वैसे ही विनष्ट होता है जैसे कि जाग्रत् में सदा और सर्वत्र स्वप्न विनष्ट हो जाता है अथवा जैसे स्वप्न काल में जाग्रत् विनष्ट हो जाता है ॥१५॥

दृश्य बाधित होकर कहाँ जाता है, कहाँ रहता है यह योगियों को भी ज्ञात नहीं होता, इसलिये उसकी असत्ता ही शरण है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे जाग्रत् काल में बाधित होकर स्वप्ननगर न मालूम शीघ्र कहाँ चला जाता है वैसे ही ज्ञान से बाधित हुआ जगद्रूप दृश्य न जाने शीघ्र कहाँ चला जाता है ॥१६॥ शिष्य ने कहा : भगवन्, यदि दृश्य है ही नहीं तो दृश्य के वेष से कुछ काल तक परमार्थरूप से वस्तु–सा कैसे प्रतीत होता है और वही फिर बोध होने के बाद वैसा प्रतीत नहीं होता है सो किस कारण ? यह किस विस्तृत आकारवाले चिदाकाशरूप वस्तु का रूप है ? ॥१७॥ गुरु ने कहा : वत्स जो यह जगत् प्रतीत होता है वह जैसे शुक्ति (सीप) अपनी चमक–दमक से रजत की (चाँदी की) तरह स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश का अतिशय स्फुरण ही है उससे अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं है ॥१८॥ यह जगत् विस्तृत आकारवाले इस चिदाकाशरूप

वस्तु का रूप है, क्योंकि 'द्वे वाव ब्रह्मणों रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूप हैं) ऐसी भगवती श्रुति है। अपने निर्मल स्वरूप का त्याग न करता हुआ ही चिदाकाश इस प्रकार जगत् के रूप से भासता है ॥१९॥ जैसे अवयवी का स्वरूप अवयव के भेद से भिन्न–सा होता है वैसे ही स्फुरण और अस्फुरणरूप सृष्टि और प्रलय इसके आकाशलक्षण स्वरूप ही हैं ॥२०॥ जैसे स्वच्छ जलवाले तालाब के अन्दर प्रविष्ट हुए यह तुम बिम्ब–प्रतिबिम्ब भेद के क्षय से एक ही हो। तालाब में प्रविष्ट होने के पहले भी बिम्ब–प्रतिबिम्बभाव आदि भेदों के स्फुरणों से भी क्षय और उदय रहित एक ही थे वैसे ही ब्रह्म भी सृष्टि और सृष्टिक्षय में अक्षय एक ही है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति में सदा एक ही अक्षय निद्रा रहती है वैसे ही इस सृष्टि में और प्रलय में चित्स्वभाव अविकारी एक ब्रह्म ही है ॥२१,२२॥ जैसे स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न में प्रसिद्ध जगत् जाग्रत् और सुषुप्ति में बाधित होकर सम्पूर्णतः शान्त हो जाता है वैसे ही यह हमारा जगत् भी ज्ञान से बाधित होने पर शान्त हो जाता है ॥२३॥ हे वत्स, बाधित हुआ अतएव शून्य नामक वह स्वप्नजगत् दूसरे स्थान में वैसे ही रहता है यह बात बोधदृष्टि से हम नहीं जानते। अन्य पुरुषों के जीवाकाश में वह रहेगा ऐसी आशंका तो कदापि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि हमारे चिदाकाश में ही हमारे वासनामय स्वप्न जगत् का संभव है। उसे बाधित न भी मानें तो भी दूसरों के चिदाकाश में उसके गमन का संभव नहीं है, यह अर्थ है ॥२४॥

यदि हमारे अनुभव से सिद्ध सृष्टि प्रबोध से बाधित होकर दूसरे के संविदाकाश में प्रविष्ट हो तो दूसरों को बोध से शुद्ध चिदाकाश का स्फुरण नहीं ही होता है ऐसी कल्पना करनी होगी। उसमें कल्पक कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे बोध से सृष्टि का क्षय होने पर हमारे संविदाकाश का स्फुरण होता है वैसे ही बोध से दूसरे के संविदाकाश में शुद्ध चिदाकाश का स्फुरण नहीं होता है इसमें क्या प्रमाण है ?

शिष्य ने कहा : भगवन्, आपके कथनानुसार हमारी संविद् की विषयभूत सृष्टि का यदि दूसरे की संवित् में भान नहीं होता है तो जैसे स्वप्नद्रष्टा से अन्य यानी जाग्रत् पुरुष दृश्य की बुद्धि से युक्त (दृश्यधीसहित) रहता है वैसे ही प्रलय काल में भी दूसरे पुरुष में जगत् आदि बुद्धि (दृश्यबुद्धि) है यानी दूसरा पुरुष दृश्यबुद्धि है, ऐसा मैं समझता हूँ।

गुरु ने कहा : हे वत्स, हे महाबुधे, जो कहते हो वह ठीक है, इसीलिए प्रलय में भी ऐन्दव जगतों के सद्भाव का दर्शन ब्रह्मा को है, ऐसा पहले हम वर्णन कर आये हैं। यदि जगत् चित् का स्वरूप होता तो वह सर्वसाधारण होता किन्तु जगत् चित् का स्वरूप नहीं है अपितु चित् में अध्यस्त होकर वह द्रष्टाओं को भासता है अन्यों को वैसा ही नहीं भासता, इसलिए तत् तत् पुरुषों के अनुसार उसका स्वरूप व्यवस्थित है। सबको एक–सा प्रतीत नहीं होता है, इसलिए वह न तो तुच्छ है और न कुछ सत् ही है किन्तु तत् तत् जीवों के चिदाकाश का स्फुरण मात्र ही है। उसमें सत् और असत् दृष्टियाँ कैसी ? यदि वह चिदाकाश के रूप से है ऐसा कहो तो ऐसी अवस्था में वह सारा का सारा जगत् सब प्रकार से सब जगह है किन्तु स्वरूप से (जगत्स्वरूप से) वह सारा का सारा कुछ नहीं है, कभी भी और कहीं पर भी उसकी सत्ता नहीं है। चूँकि वह ब्रह्म सत् और असत् स्वरूपवाला है (स्वरूप से सत् वृत्तियों से तिरोहित होने के कारण असत् है) अतएव सारा जगत् भी सदा सत् और

असत् भासता है चूँकि चिदाकाश अविनाशी है अतएव तन्मय जगत् भी अविनाशी ही है। चूँकि वह सत् चिदाकाश ही सृष्टि और प्रलय का रूप धारण करता है। वही स्वरूपतः अपरिज्ञात होने से दुःखदायक होता है यह चिदाकाश है यों ज्ञात हो जाने पर तो सकलदुःखों का क्षय हो जाता है। यह सब चिदाकाश अपने परिज्ञान के अनुसार ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में क्रमशः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा विद्यमान है और सर्वत्र सर्वदा सर्वथा विद्यमान नहीं है ॥२५-३२॥

उसी की सर्वरूप से विद्यमानता का स्पष्टीकरण करते हैं।

यह स्वयंज्योति स्वयंप्रकाश घड़ा, पर्वत, वस्त्र, शब्द, तट, गर्त या वटवृक्ष, तृण, अग्नि, स्थावर, जंगम सब कुछ ही है। अस्ति, (सत्ता) नास्ति (असत्ता), शून्य, क्रिया, काल, आकाश, पृथ्वी, भाव, अभाव, जन्म, विभूति, नाश, शुभ अशुभ कर्म सब कुछ यही है। वह वस्तु है ही नहीं जिसका आदि, मध्य तथा अन्त तीनों कालों में नित्य एक ही चिदाकाश उस तरह का रूप न धारण करता हो। ज्ञानी की दृष्टि में सब कुछ सब प्रकार से सब जगह सदा इसमें है और अज्ञानी की दृष्टि में सब सब प्रकार से सब जगह सदा इसमें नहीं है ॥३३-३६॥ हे श्रीरामजी, जब इस प्रकार ब्रह्मात्मक होने से स्वप्नानुभूत नगर के समान सब कुछ सदा सर्वात्मक ही है तब ब्रह्मरूप होने से तिनका कर्ता है, तिनका भोक्ता है और तिनका विभु है। घड़ा कर्ता है, घड़ा भोक्ता है और घड़ा सब इन्द्र आदि ईश्वरों का ईश्वर है। वस्त्र कर्ता है, वस्त्र भोक्ता है और वस्त्र सब ईश्वरों का भी ईश्वर है। द्रष्टा कर्ता है, द्रष्टा भोक्ता है और द्रष्टा सब ईश्वरों का ईश्वर है। पर्वत कर्ता है, पर्वत भोक्ता है और पर्वत सब ईश्वरों का ईश्वर है। नर कर्ता है, नर भोक्ता है और नर सब ईश्वरों का ईश्वर है। बहुत क्या कहें सब वस्तुओं में से हर एक कर्ता, भोक्ता और परात्पर (श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ) है एवं अनादि (जन्मादिरहित) तथा विनाशशून्य धाता है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्मात्मक ही है। भाव यह कि ब्रह्मभाव से दर्शन करने पर तृण आदि सकल पदार्थ अलग अलग सब कर्ता, सब भोक्ता और सब सर्वेश्वर ईश्वर हैं। ये तिनका, घट, पट आदि प्रत्यगात्मरूप विभुता से विभु हैं। जिस रूप में क्षय और नाश प्रतीत (भासित) होते हैं वैसा सब रूप इस प्रकार की विभुतारूप से ही स्थित है ॥३७-४२॥

उक्त अर्थ में वादियों के अनुभव से संवाद दिखलाते हैं।

जिनके मत में विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य अर्थ है उनके मत में वही कर्ता और भोक्ता है जैसे कि वैशेषिक और सौत्रान्तिकों के मत में प्रसिद्ध है। लेकिन जिन वादियों के मत में विज्ञानमात्र ही बाह्य अर्थ है उन विज्ञानमात्रवादियों के मत में विज्ञानमात्र ही कर्ता और भोक्ता है। शून्यवादियों के मत में शून्य ही कर्ता और भोक्ता है यानी न कोई कर्ता है और न कोई भोक्ता है। पाशुपत आदि के मत में उनकी दर्शनप्रक्रिया से सिद्ध ईश्वर ही कर्ता तथा भोक्ता है। यों मतभेद रहने पर भी वादियों में से कोई भी असम्भव अर्थवादी नहीं है, क्योंकि सर्वोत्तम सर्वशक्तिमान उस सर्वात्मक परमपद में सब कुछ का संभव है। उस पद में तत् तत् वादियों द्वारा अंगीकृत परस्पर विलक्षण पदार्थ प्रक्रिया के साधन, अनुष्ठान, फल आदि की विधियों तथा परस्पर द्वारा किये गये उनके निषेध सभी का बिना विरोध के अलग अलग संभव है। तत् तत् बुद्धिअवच्छिन्न चैतन्य में वर शाप के न्याय से अपने संकल्पानुसार व्यवस्थित विवर्त का संभव है। चिदाकाश शुद्ध स्वात्मा में उन उन वासनाओं के अनुसार दृश्य की भावना कर द्रष्टा-सा

बनकर अपने शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप को जगत् के रूप में देखता हुआ उन उन उपाधियों मे वस्तुतः निज निर्विकार रूप से रहने में समर्थ है ॥४३–४६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सब जीवों की अपने अपने अनुभव से सिद्ध सब पदार्थदृष्टियाँ और सब परस्पर विलक्षण विधिनिषेधदृष्टियाँ तत् तत् संकल्प, तत् तत् अनुभव, तत् तत् वासनासहित तत् तत् काम–कर्मपूर्वक हैं इसलिये तत् तत् व्यवहार में सदा ही तत् तत् विभिन्न अर्थक्रिया में समर्थ होने से सत्यरूप हैं किन्तु आत्मदृष्टि से खरगोश के सींग के तुल्य असत्य हैं, क्योंकि प्रत्यगात्मा का रूप अपने अनुभव के अनुसार जगत् का रूप धारण करता है ॥४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले युग में आपने शिष्य के रूप में स्थित गुरुरूप मेरे मुख से निःसृत इस प्रकार का उपदेश सुना था, उस उपदेश से उस समय आपको बोध नहीं हुआ । उसके उपरान्त अज्ञानरूप दोष से फिर आप पुनर्जन्म से अन्य जगत् का अनुभव कर आज इस त्रेतायुग में महाराज दशरथ के घर में उत्पन्न हुए हैं । जो आपने पहले जन्म में मुझसे पूछा था, उसीको आज पूछते हैं ॥४८॥ हे श्रीरामजी, इस जन्म में भी आपने मेरे द्वारा उपदिष्ट अति उत्तम परमार्थ वस्तु विषयक ज्ञान, जो संसाररूपी लम्बी रात्रि के अन्धकार की (अज्ञान की) निवृत्ति करने के कारण पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब के समान स्थित है, सम्पूर्णतः सुन लिया है उससे आप अज्ञानान्धकार को हटाकर निरतिशय आनन्दरूप परमपुरुषार्थ के लाभरूप अभ्युदयवान् होकर निर्मलबोधरूप हो गये हैं । यों कृतकृत्य हुए आप कुलाचार प्राप्त राज्यपालन आदि कार्य कीजिये ॥४९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सकल दृश्य पदार्थों से मुक्त हो चारों ओर प्रकाशमान सर्वस्वरूप आत्मा में स्थित होते हुए निरतिशय आनन्द में मग्न अतएव शान्त मतिवाले आकाशकोश के समान मनोहर और वितृष्ण होकर धर्म से राज्य का परिपालन कीजिये ॥५०॥

दो सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ चौदहवाँ सर्ग

श्रीवसिष्ठजी के उपदेश की प्रशंसा, श्रोता लोगों की कृतकृत्यता तथा
कथा के अन्त में हुए स्वर्ग में तथा मनुष्य लोक में महान् उत्सव का वर्णन ।

महान् अध्यात्मशास्त्र की समाप्ति होने पर देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा किये गये गुरु, ब्राह्मण, देवता, पितर आदि की वेषभूषा से सजावट, पूजा आदि महोत्सवरूप मंगल का वर्णन करने के लिए वाल्मीकिजी कहते हैं ।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे भारद्वाज, महामुनि श्रीवसिष्ठजी के यह कहने पर उसी समय आकाश से वर्षा करने के लिए जल से भरे हुए मेघ के समान देवताओं के नगाड़े गहगहाने लगे और आकाश से भूमि में हिमवृष्टि के समान पुष्पवृष्टि गिरी । उसने तुरन्त सब दिशाओं के मुखों को चारों ओर सफेद बना दिया ॥१॥ उस पुष्पवृष्टि का लाल लाल केसरपुंज ही सन्ध्याकाल के मेघों के समान लाल अंगराग था, फूलों के अन्दर से निकले हुए कोमल कोमल जलकण ही शीतल अंग थे तथा वायु से हिलाये डुलाये गये सफेद केसर ही स्वच्छ मोती के हार थे, अतएव ऐसा मालूम पड़ता था कि मानों उत्सव देखने के लिए साक्षात् पुण्य–लक्ष्मी ही पुष्पवृष्टि के रूप में स्वर्ग से उतरी है । आकाशस्थित उक्त पुष्पवृष्टि प्रलयकालरूपी बन्दर द्वारा झकझोरी गई सूखी कल्पवृक्षशाखावाले और लोकपालों के नगर और भिन्न

भिन्न लोकरूप शाखावाले स्वर्गरूप वृक्ष से शीघ्र भूमि में गिरे हुए खूब चमकते हुए सितारों का जिन्हें गिराने के लिए दिशाओं के मुखों की ओर संहाररुद्र शीघ्र झपटे, मन्द-मन्द मुसकुराहट के साथ परिहास कर रही थी यानी वह तारों के समान पूर्ण चमक-दमकवाली थी। दर्शन से आनन्द का विस्तार करनेवाली वह पुष्पवृष्टि थोड़ी देर में शान्त हो गई, जिसका दुन्दुभि की ध्वनि से गरज रहा केसरपुंज ही मेघ था तथा जिसने हिम के समान मनोहर पुष्पराशि से सम्पूर्ण सभा भर दी थी। स्थान के अनुसार (☙) क्रम से नीचे बैठे हुए सभासदों ने उन दिव्य फूलों को लेकर वसिष्ठजी के चरणों में पुष्पांजलि देकर वसिष्ठजी को नमस्कार कर फूलों की सुगन्धि, शीतलता आदि के सम्पर्क से स्वेद, दुर्गन्ध आदि से जनित शोकवत्ता, रोग, भूख, प्यास, श्रम आदि से हुई सशोकता (दुःख) और जन्म, मरण आदि सकल क्लेशों से छुटकारा पाया ॥२-५॥ महाराज दशरथ ने कहा : भगवन्, आपके उपदेश से हमारा आत्मा परम पद में सुख से प्रवेश पाने योग्य बन गया है। अतएव संसाररूपी अत्यन्त दीर्घ दुर्गम मार्ग तय करने से चिरकाल से थके हुए हम लोग आपके उपदेश श्रवण से जड़ता और मलिनता से रहित हो परम पद में पूर्णरूप से वैसे ही विश्राम पा चुके हैं जैसे कि जल और कृष्णता (कालिमा) से रहित शरत्काल के मेघ हिमालय आदि पर्वत पर विश्राम पाते हैं ॥६॥ हे मुनिवर, आपके अनुग्रह से आज हमारे पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अवश्य कर्तव्यकर्मों की अवधि पूर्ण हो गई है, यानी हम कृतकृत्य हो चुके हैं आपत्तियों की परम अवधि (सीमान्त) हम देख चुके हैं, हमने ज्ञातव्य तत्त्व पूर्णरूप से जान लिया है तथा आज हम परम पद में विश्राम पा रहे हैं ॥७॥ ध्यान से कल्पित अन्य आकाश में चिरकाल तक विहार आदि की अनुभूति के भ्रमों से, जिनका कि लीलोपाख्यान आदि में विस्तार से प्रदर्शन किया गया है, धारणा से सर्वाधार ब्रह्म में विश्राम से देहत्याग के क्रमों से, संकल्पमय नवीन निर्माणों से, स्वप्न में देखे गये जगत् के दुःखों से, शुक्ति रजतों के अनुभवों से, स्वप्न में अपनी मृत्यु के दर्शनों से, अभिन्नरूप पवन स्पन्दों से, अनन्य जल-द्रवों से, इन्द्रजाल नगरों की राशियों से गन्धर्व-नगर के समूहों से, माया से प्रदर्शित जलपूर्ण महाप्रवाहवाले मृगतृष्णानदी के वेगों से, सृष्टि के उत्तर काल में यानी प्रलय में वर्णित महान् वेगवाले वायु के स्पर्शों से, द्विचन्द्र के अनुभवों के उदयों से, मद से (नशे से) बेहोशी होने पर मालूम पड़ रहे नगर-कम्पनों से, उत्पात आदि से शुभाशुभ सूचन के बिना ही भ्रान्ति से प्रतीयमान भू-कम्पों से, बालक के यक्ष आदि के अनुभवों से, आकाश में केशों के वर्तुलाकार गोलों के दर्शनों से इत्यादि तथा इनसे अतिरिक्त अपने को अनुभूति करानेवाले अन्यान्य दृष्टान्तों से आपने मेरी दृश्यदृष्टि का परिमार्जन कर दिया है। यह मेरे लिये परम सौभाग्य की बात है ॥८-१३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, हे गुरुवर, आपके अनुग्रह से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है, मुझे परमपद प्राप्त हो गया है, मैं अत्यन्त निर्मल बुद्धि हो गया हूँ। मेरे सब सन्देह निवृत्त हो चुके हैं, मेरे अज्ञान का पर्दा हट गया है, मैं स्वभावभूत (स्वात्मरूप) ब्रह्म में स्थित हूँ जैसे आपने मुझे यथाप्राप्त व्यवहार-राज्य पालन आदि - करने के लिये कहा है वैसे ही मैं आपका आदेश पालन करूँगा। अमृत से सींचने के तुल्य परमसुख देनेवाले आपके

(☙) सबसे ऊँचे स्थान में श्रीवसिष्ठजी विराजमान थे। उनके समीप में अन्यान्य मुनिगण, इनके निकट महाराज दशरथ, राजकुमार रामचन्द्र आदि, उनके निकटवर्ती निम्न स्थान में मन्त्री, सामन्त आदि तथा उनके बाद सर्वसाधारण श्रोताजन यों क्रम से नीचे बैठे हुए थे।

वचन का बारबार स्मरण कर पूजे जाने तथा अपमानित होने पर हर्ष, विषाद आदि का उदय न होने से शान्त हुआ भी मैं बार बार हर्षित-सा होता हूँ। आज मेरा यहाँ न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न अकृत से (ज्ञान से) कोई प्रयोजन है फिर भी जैसे पहले व्यवहार में स्थित था वैसे ही स्थित हूँ लेकिन व्यवहार में प्रसक्ति से होनेवाला सन्ताप मुझमें बिलकुल नहीं है ॥१४-१७॥ अहा ! असीम विश्रान्तिसुख भूमि मुझे मिल गई है। जन्म, मरण आदि अनन्त अनर्थों से व्याप्त संसारदशा प्राणियों को अत्यन्त क्लेशदायक है ॥१८॥

लेकिन अब मेरे दुःख के कोई भी कारण नहीं रह गये हैं, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, न मेरा कोई शत्रु है न मित्र है, न मेरा शरीर है और न बाहरी खेत है, न दुर्जन है और न सज्जन है। यह आत्मचिति ही जब तक दुर्बोध थी यानी समझ में नहीं आती थी तब तक दुःखदायिनी यह जगत्रूप हुई किन्तु इस समय तो जगत् का ज्ञान से बाध होने के कारण यह सर्वार्थ सुन्दर हो गई है ॥१९॥ हे भगवन्, आपके अनुग्रह के बिना इस दृष्टि को मनुष्य कैसे जान सकता है ? भला बतलाइये तो सही पुल अथवा जहाज के बिना ही बालक समुद्र को कैसे पार कर सकता है ? श्रीलक्ष्मणजी ने कहा : अहा, अनन्त जन्म जन्मान्तरों में बढ़ी चढ़ी दुर्वासनाओं के कारण उत्पन्न हुए सन्देहों का नाश करनेवाले तथा अनेक जन्मजन्मान्तरों में संचित सैकड़ों पुण्यों को फलोन्मुख बनानेवाले मुनि महाराज के उपदेश से किये गये प्रतिबोधन से विचार के लिए उद्यमशील मेरे मन में आज चन्द्रमा के तुल्य परम आह्लाद देनेवाला परमात्मप्रकाश हो गया है ॥२०,२१॥ भगवन्, आपके सदृश महानुभावों के उपदेश से इस प्रकार की निरतिशयआनन्दप्रकाशरूप आत्मदृष्टि के प्रत्यक्षरूप से दृश्यमान होने पर भी मनुष्य लोग सर्वत्र प्रसिद्ध अपने दुर्भाग्य से महापुरुषों की सेवा शुश्रुषा से वंचित रहकर राग, द्वेष, अहंकार, जन्म, मरण आदि सैकड़ों दोषपूर्ण अवस्थाओं से रात दिन काठ के समान जलते हैं यह महान् आश्चर्य है ॥२२॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा : अहा ! हमारे लिए बड़े हर्ष की बात है कि हमने मुनि महाराज के श्रीमुख से अत्यन्त पुण्यमय ज्ञान सुना है जिसके प्रभाव से हम लोग हजार बार गंगा में स्नान किये हुए से अत्यन्त पवित्र होकर बैठे हैं ॥२३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : सम्पत्तियों के उत्कर्ष में आत्मा चरमसीमा देखा गया है, क्योंकि वह निरतिशय आनन्दरूप है, दृष्टियों की चरमसीमा आत्मदृष्टि देखी गयी है, क्योंकि एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो जाता है, शास्त्रों की चरमसीमा अध्यात्मशास्त्र देखा गया है, क्योंकि वही चरम प्रमाण है। पशु, पुत्र, धन आदि के विनाशरूप विपदाओं की चरमसीमा सर्वसंसारनाश देखा गया है, क्योंकि उसके बाद फिर दूसरा नाश नहीं हो सकता है। काव्य, रस, अलंकार आदि से शोभित वाणियों की चरमसीमा श्रीवसिष्ठजी महाराज की उपदेशोक्ति देखी गई है तथा दृष्ट सुख विश्रान्ति के कारण महल, बाग-बगीचा, पर्वत, नदी, बालूमय तटभूमि आदि प्रदेशों की चरमसीमा परमात्मरूप प्रदेश देखा गया है, क्येंकि वही परम विश्रान्ति हेतु है ॥२४॥

देवर्षि श्रीनारदजी ने कहा : अहा ! जो उत्तम तत्त्व ब्रह्मलोक में सुनने को नहीं मिला, जो स्वर्ग में नहीं मिला तथा अन्यत्र भूतल में भी जो नहीं मिला उस उत्तम तत्त्वज्ञान को सुनकर मेरे कान आज परम पवित्र हो गये हैं ॥२५॥

श्रीलक्ष्मणजी ने कहा : हे मुनिवर, हमारे हृदय का तथा बाहर का अज्ञानान्धकार निःशेष निवृत्त कर चुके आपने हम लोगों के सन्मुख यह सिद्ध कर दिया है कि आप प्रसिद्ध सूर्य की अपेक्षा कई गुना अधिक उत्कृष्ट सूर्य हो गयें है, क्योंकि सूर्य केवल बाहर का ही अन्धकार निवृत्त करता है वह भी उससे आत्यन्तिक निवृत्त नहीं होता किन्तु आपने भीतर बाहर के अन्धकार की आत्यन्तिक निवृत्ति कर दी है ॥२६॥

श्री शत्रुघ्नजी ने कहा : भगवन्, आपके अनुग्रह से मैं निरतिशयआनन्दरूप जीवन्मुक्ति को प्राप्त हो चुका हूँ, अत्यन्त प्रशान्त हूँ, परम पद को प्राप्त हो गया हूँ, सदा के लिए परिपूर्ण (प्राप्तकाम) हूँ, केवल निरतिशय सुखस्वरूप हूँ ॥२७॥

महाराज दशरथ ने कहा : अनेक जन्मों के संचित पुण्यों से परमज्ञानी मुनिश्रेष्ठ इन कुलगुरु महाराज ने हम लोगों को परमपावन तत्त्व अथवा अध्यात्मशास्त्र का उपदेश दिया, जिससे हम लोग परम पवित्र हो गये हैं ॥२८॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, जब राजा दशरथ के साथ सभा स्थित वे सभ्यगण इस प्रकार के प्रशंसा वाक्य कह रहे थे तब भगवान् वसिष्ठजी ने ज्ञान से पावन वाणी से यह कहा ॥२९॥

अब महामुनि श्रीवसिष्ठजी 'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्ति अध्येतारश्च मंगलयुक्ता यथा स्युः' -अर्थात् जिन शास्त्रों के आदि में, मध्य में और अन्त में मंगलाचरण किया जाता है वे लोक में खूब प्रसिद्ध होते हैं उन्हें बनाने तथा पढ़ानेवाले पुरुष वीर और दीर्घजीवी होते हैं, उनका अध्ययन करनेवाले भी वैसे ही होते हैं - भाष्य में भगवान् पतंजलिजी द्वारा उद्धृत श्रुति के अनुसार निर्विघ्न सम्पूर्ण हुए महान् शास्त्र के उक्त फल की सिद्धि के लिए श्रीवसिष्ठजी ब्राह्मण, देवता, पितर, मुनिवृन्द के पूजोत्सव आदिरूप मंगल की औचित्यज्ञापन द्वारा आज्ञा देते हैं।

हे महाराज, हे रघुकुल को आह्लादित करनेवाले चन्द्ररूप, जो मैं कहता हूँ, उसे कीजिये। इतिहास कथा के अंत में द्विजातियों की पूजा करना विधिप्राप्त तथा उचित है, इसलिए आज आप विप्रवृन्दों को उनकी सकल कामनाओं से परिपूर्ण कीजिये इससे आपको अध्यात्मशास्त्र की श्रवणविधि की सांगोपांग निष्पत्ति का अक्षय फल प्राप्त होगा। मोक्ष के उपायभूत कथा की समाप्ति होने पर कीड़े की तरह नगण्य दरिद्र को भी अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणपूजन अवश्य करना चाहिये आप जैसे महाराज के लिए तो कहना ही क्या है ? महामुनि श्रीवसिष्ठजी का यह वचन सुनकर महाराज दशरथ ने दस हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों को दूतों द्वारा निमन्त्रित किया। मथुरा में, सौराष्ट्र देश में, गौड़ देश में जो ब्राह्मण निवास करते हैं उन श्रेष्ठ-श्रेष्ठ ब्राह्मणों के कुलों को सत्कारपूर्वक बुलाकर अधिकाधिक ज्ञानविज्ञानवाले ब्राह्मणों को प्रमुखता देकर राजा ने दस हजार ब्राह्मणों को सविधि भोजन कराया ॥३०-३५॥ उक्त अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल भोज्य, अन्न, दक्षिणा से तथा श्राद्ध, उपहार, मणि, माणिक्य आदि से क्रमशः उन ब्राह्मणों, पितृगणों, देवताओं, राजाओं, नागरिकों, मन्त्रियों, नौकर-चाकरों, दीन, अन्धे, लूले, लंगड़े आदि का यों पूर्ण सत्कार कर संसार की सीमा के अन्त में पहुँचे हुए राजा दशरथ ने सुहृद जनों के साथ उस दिन उत्तम महोत्सव किया। रेशमी वस्त्र, मणि और सुवर्ण से विभूषित अतएव सुमेरु के तुल्य

सुन्दर राजमहल में तथा खूब सजाये गये अतएव सुमेरु सदृश अयोध्या नगरी में विलासवती यौवनमत्त कामिनियों ने घर–घर नाच किया ॥३६–३९॥ उस नाच में बाँसुरियाँ, कांस्यताल, वीणा, पखावज, तबले आदि बज रहे थे, ताण्डव नृत्य से जोर की ध्वनि हो रही थी। उन नाच करनेवाली महिलाओं के शेखर परस्पर विलक्षण केशबंधन के विभिन्न आभूषणों से विरचित थे, इधर उधर नचाये गये विविध अभिनय करनेवाले हाथों के भ्रमणों से उनके आसपास का आकाश तथा उनके वस्त्र पल्लवित से लगते थे, हास्यरस के अभिनय के समय वे दन्तरूपी चन्द्रमा की शुभ्र रश्मियाँ मनोहर अट्टाहासों द्वारा चारों ओर बिखेरती थीं, वीर रस के अभिनय के समय मंदपूर्वक हुँकार करती थीं, करुण, अद्‌भुत आदि रसों के अभिनय की लीलाओं के अवसर पर उनका स्वर चंचल हो उठता था, शृंगार रस में मानके अभिनय के अवसर पर वे एक पैर के तलुवे से लीलापूर्वक धरातल पर आघात करती थीं, मोतीमालाओं या पुष्पमालाओं के फटकारने से नक्षत्रों की तरह बिखर रहे पुष्पों की वृष्टियों से वे सफेद थीं, जलधारा के समान गिराये गये टूटे हुए हारों पर दैवात् पैर रखने से उनके पैर फिसल जाते थे। अपने चंचल आभरणों से कामदेव को मूर्तिमान् सा दिखला रही उन ललनाओं ने जी भर कर नाच किया। ब्राह्मणों ने वेदपाठ किया, वन्दियों ने स्तुतिपाठ किया और उन स्त्रियों ने गीत गाये। उनमें से जो आसव आदि मादकद्रव्य का सेवन करनेवाले द्विजेतर थे उन्होंने आसव आदिका पान किया किन्तु वस्त्र, आभूषण आदि से विभूषित भोजनार्थी विप्रों ने भोजनयोग्य विविध प्रकार के भक्ष्यों के वैचित्र्य से युक्त चार प्रकार का अन्न ग्रहण किया। चूना आदि की पुताई से स्वच्छ बनाई गई गृहभित्तियाँ रामरूपी चन्द्रमा की देहकान्तिरूप चाँदनी से तथा पुष्पोपहार, धूप, अन्योन्य रंगों के लेप से खूब चमक उठीं ॥४०–४६॥

राजा दशरथ के उत्सवरूपी यज्ञ में रंग बिरंग के कपड़े पहने हुए तथा उत्तम उत्तम माला धारण किये हुए परिचर और परिचारिकाएँ, जिनके शरीर से मनोहर गन्ध महक रही थी, इधर से उधर जा रही थीं ॥४७॥ ताण्डव नृत्य करनेवाली स्त्रियाँ कपूर, अगरू, कस्तूरी और कंकोलमिर्च मिश्रित चन्दन लगाकर खूब सजाये गये राजसभा के दूसरे आँगन में गई ॥४८॥ महाराज दशरथ ने अविनाशी परमपद को प्राप्त होकर बोधरूपी सूर्योदय हो जाने के कारण संसाररूपी कृष्णपक्ष की रात्रि का अन्त (विनाश) होने से उत्पन्न हुए हर्ष से लगातार सात रात्रि तक पूर्वोक्त प्रकार का महान् उत्सव किया, जिसमें दान, भोग और सजावट का अटूट बोलबाला था ॥४९॥

दो सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

तुम राम आदि के समान प्रबुद्ध होकर जीवन्मुक्त सुखी होओ यों
श्री वाल्मीकिजी का अपने शिष्य भरद्वाज को उपदेश देना।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे मेरे शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ, हे महामते भरद्वाज, श्रीरामचन्द्रजी आदि पूर्वोक्त रीति के अनुसार ज्ञातव्य परम तत्त्व को जानकर शोक रहित हुए ॥१॥ वत्स, तुम भी इसी निर्दोष पूर्ण ब्रह्मात्मदृष्टि का दृढ़ता से अवलम्बन कर सांसारिक सुखों से विरक्त सन्देहरहित जीवन्मुक्त शान्तबुद्धि होकर सुख से रहो ॥२॥

यह मेरे द्वारा उपदिष्ट संसारनाशक ज्ञान दुष्टजनों की संगति से जिस प्रकार नष्ट न हो वैसे उसकी रक्षा करो, इस आशय से कहते हैं।

हे पवित्रात्मा भरद्वाज, जैसे श्रीरामचन्द्रजी को वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान दुःसंग तथा विषयभोग की आसक्ति से रहित रहा अतएव वह ज्यों-का-त्यों रहा यानी विकृत नहीं हुआ वैसे ही तुम्हारी बुद्धि भी (मदुपदिष्ट ज्ञान भी) यदि दुःसंग और विषयभोगासक्ति से शून्य रही तो घने अज्ञान में पड़ने पर भी तथा विमूढ होने पर भी वह नष्ट नहीं होगी। इसी प्रकार ये महामना दशरथ आदि राजा तथा रामचन्द्र आदि राजकुमार जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त हुए ॥३,४॥ हे पुत्र भरद्वाज, तुम स्वयं अपने विचार से ही रामचन्द्रजी आदि के समान पहले से ही जीवन्मुक्त हो। आज इस मोक्ष संहिता को सुनकर सचमुच मुक्ततर हो गये हो, क्योंकि जिस शंकारूपी पंक की संभावना थी, उसका भी इससे क्षालन हो गया ॥५॥

इस शास्त्र का परम पुरुषार्थरूप फल दृष्ट है, अतः यह सकल शास्त्रों से श्रेष्ठतम है और अभ्यास करने पर मन्द अधिकारियों को मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ देने में समर्थ है, ऐसा दिखलाते हैं।

साक्षात् परब्रह्मानुभूति प्रदान करानेवाले परम पुण्य इन मोक्षोपायों को यदि बालक भी सुने, तो वह भी तत्त्वज्ञानी हो जाय। आप जैसे मुख्य अधिकारी में ये फलोपधायक हैं, इसमें कहना ही क्या है, इसके श्रवण से आप तो अवश्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं, यह भाव है ॥६॥ हे साधो, जैसे श्रीवसिष्ठजी के उपदेशवचनों के हृदय में प्रसार से सकल सन्देहों के साथ अज्ञान का विनाश होने के कारण महानुभाव राम आदि रघुवंशी परम पवित्रतम जीवन्मुक्तिपद को प्राप्त होकर शोकविहीन हो गये वैसे ही तुम्हें भी नित्यसिद्ध ब्रह्मस्वरूप जीवन्मुक्तपद को प्राप्त होना चाहिये तथा शोकरहित होना चाहिये ॥७॥

नित्यसिद्ध ब्रह्मात्मभावरूप जीवन्मुक्तपद की प्राप्ति के लिये और लोगों को भी सत्संगति, सत्सेवा, सन्तों से पूछना आदि उपाय का आश्रय करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

सन्त महात्माओं की सत्शिक्षा से, लोभ, आलस्य, निद्रा आदि से रहित सप्रेम निरन्तर सेवा से तथा बोधोपायभूत कथाओं से भरे हुए उनके सदुपदेश से सावधान सन्मति अधिकारियों को ज्ञातव्य आत्मतत्त्व वैसे ही ज्ञात हो जाता है जैसे कि श्रीवसिष्ठजी की सत्संगति से श्रीरामचन्द्र आदि को ज्ञात हुआ ॥८॥ तृष्णारूपी चमड़े की रस्सी से कसकर बँधी हुई अज्ञानी के हृदय में जमी हुई देह, इन्द्रिय आदि में तादात्म्यअध्यासरूप ग्रन्थियाँ, गृह, पुत्र, कलत्र आदि में ममताग्रहरूप ग्रन्थियाँ तथा सब प्राणियों में एकात्मता के अनुभव से अभेद (ऐकरस्य) न होने के कारण द्वेष आदि की हेतुभूत ग्रन्थियाँ ये सबकी सब ग्रन्थियाँ इस मोक्षशास्त्र कथाओं के विचारविमर्श से जैसे बाल (नवोढा) स्त्रियाँ पहले बाल्यावस्थावश खेलकूद में चित्त रहने तथा रसानभिज्ञ होने के कारण पति के विषय में विशेष दिलचस्पी नहीं रखतीं लेकिन समय पाकर प्रौढ़ होने पर पति के साथ हिलमिल जाती हैं वैसे ही सब भूतों में अभेद को (ऐकरस्य को) प्राप्त हो जाती हैं ॥९॥ हे पुत्रतुल्य कृपाभाजन भरद्वाज, ये मुक्ति के उपाय मन्द अधिकारी पुरुष भी यदि इनका श्रवणाभ्यास करें तो उनके भी अज्ञानान्धकार को हटाने की सामर्थ्य रखते हैं ऐसे महामहिमाशाली इन मोक्षोपायों को गुरुमुख से जो अधिकारी श्रेष्ठ पुरुष सुनेंगे वे तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठतम होकर फिर भवचक्र में कदापि नहीं पड़ेंगे। यह मेरी संक्षिप्त रहस्य उक्ति है, इसके अतिरिक्त

कथन से क्या प्रयोजन है ? ॥१०॥

वक्ता (उपदेश देनेवाले) भी गुरुमुख से विचार कर ही सम्प्रदायतः अर्थ को भलीभाँति जानकर औरों को सुनावें, उपदेश दें, तो उन्हें बोधरूप फल की प्राप्ति हो सकती है औरों को नहीं हो सकती, इस नियम को सूचित करते हुए कहते हैं।

जो सन्त पुरुष इस ग्रन्थ को बहुश्रुत गुरुजनों के सामने स्वयं भलीभाँति विचारकर उनके संवाद से जब यह ग्रन्थ भलीभाँति ज्ञात हो जाय तब पीछे स्वयं भी शुश्रुष (सुनने की इच्छा करनेवाले) लोगों को सम्प्रदायानुसार कहेंगे, उपदेश देंगे, तो वे मूर्खता (मूढ़ता) अथवा पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होंगे अवश्य ही तत्त्वज्ञानरूप फल को प्राप्त होंगे। संप्रदाय के अनुसार न जाने गये वचनों के श्रवण अथवा दूसरों को श्रवण कराने से क्या प्रयोजन है ? ॥११॥

अब अर्थबोध के बिना ही ग्रन्थ के पारायण का, ग्रन्थ लेखन तथा वाचक को वृत्ति देकर व्याख्यान कराने का फल कहते हैं।

जो व्युत्पत्ति न होने के कारण अर्थानुसन्धान के बिना तथा पारायण की दक्षिणा द्रव्य की अपेक्षा न कर यानी निर्लोभ होकर पारायण करायेंगे अथवा जो पुस्तक लिखायेंगे, जो उत्तम तीर्थक्षेत्र में वृत्ति बाँधकर व्याख्या करनेवाले पुरुष के साथ वाचक को नियुक्त करेंगे या केवल ही वाचक को नियुक्त करेंगे वे यदि सकाम होकर ये सब काम करेंगे तो राजसूय यज्ञ के फल से युक्त होकर बार–बार स्वर्ग जायेंगे। यदि निष्काम होकर उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुल में जन्म तथा सद्‌गुरु के मुखारविन्द से सत्‌शास्त्र का श्रवण प्राप्त कर वैसे ही तीसरे जन्म में मोक्ष को प्राप्त होंगे जैसे कि पुण्यवान् पुरुष तीसरे जन्म में लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं ॥१२,१३॥

इस ग्रन्थ का ऐसा महाफल आपको कहाँ से ज्ञात हुआ ऐसी किसी को आशंका हो, तो इस पर कहते हैं।

पुराने समय में अचिन्त्यरूपी ब्रह्मा ने मेरे द्वारा विरचित इस मोक्षमयी संहिता को मुनियों की सभा में आद्योपान्त स्वयं देखकर यह वचन सबके प्रति कहा कि सत्यवक्ता वाल्मीकिजी, वसिष्ठजी तथा मेरे वचन असत्य कदापि नहीं हो सकते तथा पूर्व रामायण में मुझे उन्होंने वरदान दिया था कि 'न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति' यानी इस काव्य में तुम्हारी वाणी तनिक भी असत्य न होगी ॥१४॥

इस शास्त्र की समाप्ति होने पर गृह, अन्न, धन आदि का दान ब्राह्मणों को अवश्य देना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

बुद्धिमान् पुरुषों को मोक्षोपायरूप इस कथाप्रबन्ध की समाप्ति होने पर प्रयत्नतः वक्ता को सुन्दर भवन देकर अभिमत अन्न, पान, दान द्वारा ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिये। दान आदि का कर्ता पुरुष शास्त्रानुसार स्वकृत पुण्य को उसके अनुरूप फलरूप से अवश्य प्राप्त होता है ऐसा समझकर अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें अभीष्ट दक्षिणा आदि देना चाहिये ॥१५,१६॥ हे भरद्वाज, तुम्हारी बुद्धि को बोध देने के लिये सैकड़ों कथाक्रमों से विशाल कलेवर हुआ यह शास्त्र मैंने तुमसे कहा, जिसमें ब्रह्मतत्त्व का विस्तार से वर्णन है तथा जो दृष्टान्तयुक्तियों से सुशोभित है। इसका श्रवणकर जीते जी ही विमुक्ताशय होकर लोकानुग्रह के लिये ज्ञान, तपस्या और कर्मफल से युक्त

प्रारब्ध भोग के सत्कर्मों की फलरूप योग, ज्ञानसिद्धि और ऐश्वर्य की अक्षय शोभा को भोगकर पूर्णरूप से चिरविश्रान्ति को प्राप्त होओ ॥१७॥

दो सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ सोलहवाँ सर्ग

राजा अरिष्टनेमि, सुरुचि अप्सरा, ऋषिपुत्र कारुण्य आदि की कृतकृत्यता का तथा शिष्यों का गुरुजनों के लिए आत्मनिवेदन का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे राजन्, वसिष्ठजी का राम आदि के प्रति तथा अगस्त्यजी का सुतीक्ष्ण आदि के प्रति यह सदुपदेश मैंने आपसे कहा। इस ग्रन्थरूप तत्त्वमार्ग से उस परम पद को आप अवश्य प्राप्त होंगे ॥१॥ राजा (अरिष्टनेमि) ने कहा : भगवन्, आपकी जो कृपादृष्टि मुझ पर पड़ी है वह भवरूपी बन्धन का विनाश करनेवाली है, इसलिये उस कृपामयी दृष्टि से मैं भवसागर से उत्तीर्ण हो गया हूँ॥२॥ देवदूत ने कहा : तदुपरान्त ऐसा कहकर राजा के नेत्र आश्चर्य से विकसित हो गये। उसने मुझसे मृदु स्वर से मधुर वचन कहा ॥३॥ राजा ने कहा : हे देवदूत, तुमको नमस्कार है, हे प्रभो, तुम्हारा कल्याण हो, सज्जन पुरुषों की मैत्री सात कदम साथ चलने से हो जाती है ऐसा सज्जनों का कथन है, उसको आपने सत्य कर डाला है। अब आप देवराज के महल को जाइये, आपका भला हो। इस मोक्षशास्त्र-कथा के श्रवण से सब तापों की निवृत्ति हो जाने के कारण मैं आनन्दमग्न हो गया हूँ निरतिशय हर्ष निर्भर हो गया हूँ। सब प्रकार के तापों से रहित हुआ मैं मुनिजी के मुख से सुने गये अर्थ का चिन्तन करता हुआ यहीं पर रहूँगा। राजा के यों कहने पर उसके विनय सौजन्य आदि गुणों से मैं अन्यन्त आश्चर्य में पड़ गया ॥४-६॥

सत्संग के कारण श्रवणलाभ होने से मैं भी कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं।

पहले कभी मुझे यह ज्ञान सुनने को नहीं मिला था अपूर्व ही यह ज्ञानसार सत्संगवश मुझे सुनने को मिला है। इसी से मेरा अन्तःकरण अत्यन्त प्रसन्न हो गया है। मैं इस समय जिसने अमृत छककर पिया हो उस पुरुष के समान परितृप्त हो गया हूँ॥७॥ हे पापरहित (卐) तदुपरान्त वाल्मीकिजी से आज्ञा लेकर मैं तुम्हारे निकट तुम्हें उपदेश देने के लिए आया हूँ। तुमने जो मुझसे पूछा था वह सब मैं तुमसे कह चुका हूँ। अब मुझे आज्ञा दो देवराज इन्द्र के महल की ओर मैं जाऊँगा ॥८॥

अप्सरा ने कहा : हे महाभाग्यशाली देवदूत, तुमको नमस्कार है, तुम्हारे द्वारा सुनाये गये इस अध्यात्मशास्त्र से मैं परम सुख विश्रान्ति को प्राप्त हो गई हूँ, मुझमें दुःख-क्लेश का नाम-निशान नहीं रह गया है, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ताप मुझसे कोशों दूर भाग गये हैं। हे देवदूत, अब तुम अपनी इच्छानुसार इन्द्र के समीप जाओ। तुम्हारा भला हो ॥९,१०॥

अग्निवेश्य ने कहा : वत्स, तदुपरान्त वह सुरुचि नाम की अप्सरा गन्धमादन के समीप हिमालय के शिखर पर बैठकर देवदूत द्वारा उपदिष्ट उसी ब्रह्मात्मैक्यरूप अर्थ का चिन्तन करने लगी ॥११॥

(卐) 'अनघे' इस सम्बोधन से निष्पाप होने के कारण तुमको अधिकारी जानकर तुमसे यह सब मैंने कहा, यह सूचित किया।

हे पुत्र, क्या तुमने श्रीवसिष्ठजी का उपदेशरूप यह शास्त्र सुना ? मोक्ष का साधन कर्म है अथवा ज्ञान है ? ऐसा तुम्हारा जो सन्देह था, उसका मूलभूत अज्ञान के विनाश से उच्छेद हो गया। अब जैसा तुम चाहते हो वैसा करो ॥१२॥

कारुण्य ने कहा : भगवन्, इस समय तत्त्वज्ञान होने से अतीत, अनागत और असंनिकृष्ट (दूरवर्ती) विषयों में मेरी स्मृति, वाणी व्यवहार तथा वर्तमान विषय में प्रत्यक्ष वैसे ही निर्विषय हो गये हैं जैसे कि स्वप्न में प्रतीत वन्ध्यापुत्र के विषय में निर्विषय होते हैं। जैसे निर्जल मरुभूमि में मरीचिका की स्थिति होती है वैसे ही मेरी सारी सांसारिक स्थिति की गति हो गई है। किसी भी विषय में मेरा अब कुछ सन्देह शेष नहीं रह गया है। अब मेरा इस संसार में न तो कर्म से कुछ प्रयोजन है और न ज्ञान से कोई प्रयोजन है, क्योंकि मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ। फिर भी मैं लोकशिक्षा के लिए श्रीरामचन्द्रजी आदि के समान ही यथाप्राप्त वर्ण और आश्रम के अनुकूल व्यवहार करता रहूँगा जबर्दस्ती कर्मत्याग में कौन आग्रह है ॥१३,१४॥

अगस्ति ने कहा : हे सुतीक्ष्ण, कृतकृत्य हुए अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य ने यह कहकर विवाह द्वारा कर्माधिकारी बनकर यथोचित समय में शास्त्रानुसार वर्णाश्रमोचित स्नान, दान, अग्निहोत्र, अतिथिपूजन आदि कर्म किया ॥१५॥ हे सुतीक्ष्ण, ज्ञान के पश्चात् कर्मानुष्ठान के विषय में कर्म बन्धन का हेतु होगा, ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि संशयवश जीव परमपुरुषार्थरूप स्वार्थ से च्युत हो जाता है, संशयात्मा विनष्ट हो जाता है, ऐसा वृद्धों का अनुशासन है ॥१६॥ सन्देह के विषय विरुद्ध अनेक कोटिरूप सांसारिकपदार्थों का पारमार्थिक ब्रह्मतत्त्वरूप से सकलविरोधों के त्याग से एकता बोधनरूप मुनि अगस्त्यजी का यह वचन सुनकर सुतीक्ष्ण ने समीप में गुरुजी को अत्यन्त विनय से नमस्कार कर गुरुजी से कहा ॥१७॥ सुतीक्ष्ण ने कहा : भगवन्, आपके अनुग्रह से मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया है। मुझे सर्वश्रेष्ठब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान प्राप्त हो गया है। जैसे नाट्यशाला में दीपक के रहने पर उसके प्रकाश के सहारे नट, नर्तक आदि की नाचकूद, अभिनय आदि क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही जिस सबके साक्षी परमात्मा के स्वयं ज्योति होने के कारण नित्य स्फुरित और निष्क्रियरूप से स्थित होने पर सब स्पन्द मूर्तियाँ (सचेष्ट मूर्तियाँ) तथा लौकिक और वैदिक क्रियाएँ होती हैं एवं जैसे कांचन ही कड़ा, बाजूबंद, केयूर और नूपुरों के रूप में स्फुरित होता है तथा जैसे जल में लहरें स्फुरित होती हैं वैसे ही जिससे यह दृश्य स्फुरित होता है, यह सारा जगत् वही है उसमें पूर्णरूप से व्यवस्थित है, उससे रंचभर भी पृथक् नहीं है। ऐसा विचारकर जिस आश्रम में जो व्यवहार जैसा प्राप्त है उस व्यवहार का अनुवर्तन (अनुसरण) करता हूँ, सन्तों के वचन का कौन उल्लंघन कर सकता है ? भगवन्, आपके असीम अनुग्रह से मैं ज्ञातव्य तत्त्व का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त कर स्थित हूँ ॥१८–२१॥ *इस समय गुरु द्वारा किये गये परमपुरुषार्थ देनेवाले ज्ञान के प्रदानरूप परम उपकार का जगत् में प्रत्युपकार न देखकर उनके चरणों में साष्टांग नमस्कार कर अपने को आजीवन उनकी दासता के लिए समर्पित करते हैं।*

हे गुरुवर ! मैं कृतार्थ हो गया हूँ आपके सन्मुख भूमि में दण्डवत् पड़ा हूँ। शिष्य गुरु के उपकार से (ऋण से) किस प्रत्युपकार द्वारा उऋण हो सकते हैं अर्थात् किसी से भी नहीं हो सकते, इसलिए

शिष्यों को चाहिये मन, वचन और कर्म से गुरु के सन्मुख आत्मसमर्पण कर दें। वही उनका गुरु के उपकार से निस्तार है। अन्य किसी भी कर्म से गुरुजी के उपकार से निस्तार नहीं हो सकता ॥२२,२३॥ भगवन्, आपके असीम अनुग्रह से निस्सन्देह हो मैं भवसागर से पार होकर पूर्णानन्दरूप से सम्पूर्ण जगज्जाल को व्याप्त कर स्थित हूँ इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥२४॥

यह ग्रन्थ सकल उपनिषदों के सारभूत अर्थ का उपबृंहणरूप है अतः इसका मुमुक्षु पुरुषों को भी समादर करना चाहिये यह सूचित करते हुए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानिति शान्त उपासीत' अर्थात् यह सारा जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने, ब्रह्म में लीन होने और ब्रह्म में स्थित होने के कारण ब्रह्म ही है यों शान्त होकर उपासना करनी चाहिये इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में प्रदर्शित स्पष्ट उपायसहित ज्ञान से ज्ञात सर्वात्मकसच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का अनुसन्धान कर अन्त में मंगल के लिए नमस्कार करते हैं।

जो ब्रह्म सामवेद में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इस श्रुति द्वारा अधिकारी पुरुषों के लिए हाथ में रक्खे आँवले के समान प्रत्यक्षरूप से परमतात्पर्यतया उपदिष्ट है उस रूपसे अवशिष्ट प्रत्यक् चिदानन्दघन परमात्मा को नमस्कार है। ज्ञानोपदेश द्वारा परमसुखदायक, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, सुखदुःख आदि द्वन्द्वों से रहित, आकाशसदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तमहावाक्यों के लक्ष्यार्थरूप, एक, निर्मल, निश्चल, सकलधीवृत्तियों के साक्षी, भावातीत, त्रिगुणरहित, ब्रह्मानन्दरूप श्रीवसिष्ठजी को हम नमस्कार करते हैं ॥२५-२६॥

दो सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः